॥ श्रीहरिः ॥

1044

कल्याण

वेद-कथाङ्क

तिहत्तरवें वर्षका विशेषाङ्क

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

1044

कल्याण

वेद-कथाङ्क

तिहत्तरवें वर्षका विशेषाङ्क

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय जय दुर्गा, जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवाशिव जानकिराम । गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम । व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम॥

सं० २०७६ दसवाँ पुनर्मुद्रण १,५००
कुल मुद्रण ३४,५००

❖ मूल्य—₹ २२०
(दो सौ बीस रुपये)

कूरियर/डाकसे मँगवानेके लिये
गीताप्रेस, गोरखपुर, 273005
book.gitapress.org
gitapressbookshop.in

वेद-तत्त्वके ज्ञाता अमरता प्राप्त करते हैं

तद् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं
तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदु-
स्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः॥

(श्वेताश्वतर० ५।५)

वे परब्रह्म परमात्मा वेदोंकी रहस्यविद्या-रूप उपनिषदोंमें छिपे हुए हैं, वेद निकले भी उन्हीं परब्रह्मसे हैं। वेदोंके प्राकट्य-स्थान उन परमात्माको ब्रह्माजी जानते हैं। उनके सिवा और भी जिन पूर्ववर्ती देवताओं और ऋषियोंने उनको जाना था, वे सब-के-सब उन्हींमें तन्मय होकर आनन्दस्वरूप हो गये। अत: मनुष्यको चाहिये कि उन सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके अधीश्वर वेदपुरुष परमात्मप्रभुको जानने और पानेके लिये तत्पर हो जाय।

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
web: gitapress.org | e-mail : booksales@gitapress.org | ✆ (0551) 2334721, 2331250, 2331251
गीताप्रेस प्रकाशन gitapressbookshop.in से online खरीदें।

नम्र निवेदन

ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥

(शु० यजु० १६।४१)

'जिन प्रभु से मोक्ष-सुख प्राप्त होता है एवं जिनसे इस लोक तथा परलोकके विविध सुख प्राप्त होते हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है। जो पारमार्थिक अनन्त सुखको प्राप्त कराते हैं तथा जो सर्वप्रकारके सुखोंके दाता हैं, उन परमात्माको नमस्कार है। जो परमेश्वर कल्याणस्वरूप हैं और स्व-भक्तोंके भी कल्याणकर होनेसे परम कल्याणरूप हैं, उन परम शिव परमात्मप्रभुको नमस्कार है।'

वास्तवमें वेद विश्व-वाङ्मयकी अमूल्य निधि हैं। भारतीय संस्कृतिकी गौरव-गाथा वेदोंसे ही प्रारम्भ होती है। अपने जिन उदात्त सिद्धान्तोंके कारण भारतीय संस्कृतिने विश्व-मानवको आकृष्ट किया है, उनके मूल स्रोत वेद ही हैं। वस्तुतः वेदोंके ज्ञाता सब कुछ जानते हैं, क्योंकि वेदमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। जो ज्ञातव्य अर्थ अन्यत्र है या नहीं है, उस साध्य-साधनादि समस्त वर्णनीय अर्थोंकी निष्ठा वेदोंमें है। अतः वेदवाणी दिव्य है, नित्य है एवं आदि-अन्तरहित है—

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्। वेदे हि निष्ठा सर्वस्य यद् यदस्ति च नास्ति च॥

(महा० शान्ति० २७०।४३)

सृष्टिके आदिमें स्वयम्भू परमेश्वरद्वारा वेदका प्रादुर्भाव हुआ है तथा उसके द्वारा धर्म-भक्ति आदिकी समस्त प्रवृत्तियाँ सिद्ध हो रही हैं। इसलिये '**वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम**' कहकर हमारे पूज्य महर्षियोंने वेदोंकी अपार महिमा अभिव्यक्त की है। वेद मानवके ऐहिक और आमुष्मिक कल्याणके साधनरूप धर्मका सांगोपांग विश्लेषण करते हैं। धर्मके साथ-साथ अध्यात्म-मर्यादा, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, शिल्प-उद्योग आदि ऐसा कौन-सा विषय है, जिसका प्रतिपादन वेदोंमें न किया गया हो। आश्चर्य तो तब होता है जब हमें नवीनातिनवीन, अत्याधुनिक कहे जानेवाले वैज्ञानिक आविष्कारोंके सन्दर्भ-सूत्र भी वेदोंमें दृष्टिगत होते हैं। इसलिये वेद सनातन हैं, पूर्ण हैं और सर्वविद् ज्ञान-विज्ञानके आधार हैं।

वेद भारतीय संस्कृतिके मूल स्रोत हैं। वेदोंमें धर्म-दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, योग, संगीत, शिल्प, मर्यादा, लोक-आचरण आदि मानव-जीवनके लौकिक एवं पारलौकिक उत्थानके लिये उपयोगी सभी सिद्धान्तों एवं उपदेशोंका अद्भुत वर्णन किया है। इसीलिये मनीषियोंने वेदोंको अक्षय ज्ञानका सिन्धु तथा समस्त धर्मोंका मूल बताया है। भगवान् मनुने वेदोंको '**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**' कहा है। शास्त्र, उपनिषद्, दर्शन, पुराण आदि सभी धर्मग्रन्थोंके मूल आधार वेद ही हैं। वास्तवमें जीव, जगत्, प्रकृति और परमात्माके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान ही वेदका स्वरूप है। कहा गया है कि जो वेदसे अनभिज्ञ है, वह कुछ भी नहीं जानता। वेदको जान करके सम्पूर्ण पिण्ड-ब्रह्माण्ड और परमात्माको जाना जा सकता है। अतः भारतीय संस्कृतिके प्राण वेदके स्वरूप, महिमा और सिद्धान्तको हृदयंगम करके उसके अनुरूप आचरण करना प्रत्येक भारतीयका पुनीत कर्तव्य है।

वेदोंकी अनन्त महिमा, अगाध ज्ञानराशि एवं वास्तविक स्वरूपसे जन-मानसको परिचित करानेके पवित्र उद्देश्यसे '**कल्याण**' (वर्ष ७३, सन् १९९९ ई०)-के विशेषाङ्कके रूपमें '**वेद-कथाङ्क**' का प्रकाशन किया गया था, जो अत्यन्त ही लोकप्रिय हुआ। इस विशेषाङ्कके प्रारम्भमें वैदिक मंगलाचरणके पवित्र श्रुतियोंके साथ प्राचीन ऋषि-महर्षियों एवं ब्रह्मलीन सन्त-महात्माओंके निबन्ध और वर्तमान सन्त-महात्माओं एवं उत्कृष्ट विचारकोंके द्वारा प्रेषित वेदकी महत्ता एवं उपयोगिताको सिद्ध करनेवाले सुन्दर लेखों को प्रस्तुत किया गया है। परिचयात्मक विवेचन तथा वेदतत्त्व-मीमांसाके रूपमें वेदके विभिन्न अंगोंका विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत

वेदोंमें वर्णित शिक्षाप्रद कथाओंका रोचक शैलीमें प्रतिपादन तथा मन्त्रद्रष्टा ऋषियों एवं ऋषिकाओंके जीवन-चरित्रका सरस विवेचन अत्यन्त ही मनमोहक है। वैदिक-जीवनचर्याके साथ वेदोंमें वर्णित पुरुषसूक्त, श्रीसूक्त, नासदीय सूक्त, शिवसंकल्पसूक्त, श्रद्धासूक्त आदि प्रमुख सूक्तोंका तात्त्विक रहस्य और वैदिक मन्त्रोंकी व्यावहारिक उपयोगिताका सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। इसमें वर्णित सूर, तुलसी, कबीर आदि भक्त कवियोंके साहित्यमें वैदिक मीमांसा, वाल्मीकीय रामायण, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता आदिका वेदोंसे अभिन्न सम्बन्ध, वेद और विज्ञान आदि विषय विशेष रोचक हैं तथा वैदिक-साहित्यका विस्तृत परिचय प्रदान करते हैं। वैदिक स्वर-प्रक्रिया और जटा-शिखा आदि अष्ट विकृतियाँ, राजनीति, गणित, मूर्तिकला, स्थापत्यकला आदिका वैदिक सम्बन्ध, वेदोंमें सदाचार-मीमांसा तथा वेदोंमें राष्ट्रीयता आदि लेख वैदिक विद्वानोंके लिये भी मननीय हैं। अन्तमें वैदिक सिद्धान्तोंके प्रवर्तक स्वायम्भुव मनु, भगवान् शंकराचार्य, शबरस्वामी, कुमारिलभट्ट, मण्डनमिश्र आदिके जीवन-वृत्त एवं स्कन्दस्वामी, आनन्दतीर्थ, आचार्य सायण, माधव, महीधर, रामानन्दाचार्य, स्वामी करपात्रीजी महाराज आदि वैदिक भाष्यकारोंका सुन्दर जीवन-परिचय दिया गया है। निष्कर्षतः इस विशेषाङ्कमें वेदवाङ्मयपर विपुल सामग्री प्रस्तुत की गयी है। इसके स्वाध्यायसे कोई भी पाठक अथवा शोधकर्ता वैदिक ज्ञानमें बहुज्ञता प्राप्त कर सकता है।

प्रस्तुत अङ्कमें सम्पूर्ण वेद-वाङ्मयका परिचय, वेदोंके प्रमुख प्रतिपाद्य विषयोंका विवेचन, वैदिक मन्त्रों, सूक्तों एवं सूक्तियोंका निरूपण, मन्त्रद्रष्टा ऋषि-महर्षियोंका परिचय, ऋचाओंमें भगवत्तत्त्वदर्शन एवं इसके साथ ही वेदोंमें वर्णित कथाओंका रोचक भाषामें प्रतिपादन तथा वैदिक संस्कृति-सभ्यता और जीवनचर्याका दिग्दर्शन करानेका प्रयास किया गया है, जिससे सर्वसाधारणको भारतीय संस्कृति एवं सभ्यताका वास्तविक परिज्ञान प्राप्त हो सके तथा वेदोंमें प्रतिपादित आध्यात्मिक सन्देश एवं सत्प्रेरणाओंसे वे लाभान्वित हो सकें।

'वेद-कथाङ्क' की महत्ता एवं विषय-वस्तुकी लोकोपयोगिताको दृष्टिगत रखते हुए पाठकोंके विशेष आग्रहपर गीताप्रेससे इसका पुस्तकरूपमें प्रकाशन किया गया है। आशा है, पाठकगण, **'कल्याण'** के पूर्व-प्रकाशित अन्य विशेषाङ्कोंकी भाँति **'वेद-कथाङ्क'** का भी संग्रह और स्वाध्याय करके अपने आत्मकल्याणका पथ प्रशस्त करेंगे। **[मूल विशेषाङ्कसे सम्पादित]**

परिवर्धित संस्करणका निवेदन

'वेद-कथाङ्क' के इस परिवर्धित संस्करणमें 'परिशिष्ट' भागके अन्तर्गत लगभग १६० पृष्ठकी अत्यन्त उपयोगी नवीन सामग्रीको समाहित किया गया है। अभीतक यह सामग्री विभिन्न साधारण अंकोंमें प्रकाशित होनेके कारण विशेषाङ्कके साथ अनुपलब्ध थी। जिज्ञासु पाठकोंके आग्रहपर अध्ययनमें सुविधाकी दृष्टिसे इस सामग्रीको भी विशेषाङ्कके बाद [पृ०सं० ५२७ से पृ० सं० ६८८ तक] **'वेद-कथाङ्क'** के साथ एक ही जिल्दमें परिशिष्टभागके नामसे प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है **'वेद-कथाङ्क'** का यह परिवर्धित संस्करण पाठकोंके लिये विशेष लाभप्रद होगा।

—राधेश्याम खेमका

सम्पादक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१- वेदतत्त्व ॐकार-स्वरूप भगवान् विष्णु	११
मङ्गलाचरण—	
२- श्रीगणपति-स्तवन	१२
३- स्वस्ति-वाचन	१३
४- कल्याण-सूक्त	१४
५- मङ्गल-चतुष्टय	१५
६- परम पुरुष (श्रीविष्णु)-स्तवन	१५
७- वैदिक शुभाशंसा	१७
८- वैदिक बाल-विनय	१८
९- वैदिकपन्थानमनुचरेम—	१९—२२
(१) आदर्श वैदिक शिक्षा	१९
(२) वेदोक्त मानव-प्रार्थना	२०
(३) वेदसे कामना-साधन	२१
(४) वेदोंमें भगवत्कृपा-प्राप्त्यर्थ प्रार्थना	२२
१०-राष्ट्र-कल्याणका माङ्गलिक संदेश	२३
११-वेद-कथाका वैशिष्ट्य—एक परिचय (राधेश्याम खेमका)	२४
प्रसाद—	
१२-मन्त्रद्रष्टा आचार्य वसिष्ठ	३१
१३- वैदिक सभ्यताके प्रवर्तक मनु	३६
१४-वेद और वेदव्यास (डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	३७
१५-महर्षि वाल्मीकि एवं उनके रामायणपर वेदोंका प्रभाव	४०
१६-भगवान् आदि शंकराचार्य और वैदिक साहित्य	४३
१७-नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत् (डॉ० श्रीओ३म्प्रकाशजी द्विवेदी)	४४
१८-वेद अनादि एवं नित्य हैं (ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) [प्रेषक—प्रो० श्रीबिहारीलालजी टांटिया]	४९
१९-वेदकी उपादेयता (ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)	५१
२०-वेदकृत वामनरूपधारी विष्णुका स्तवन	५२
२१-वेद ही सदाचारके मुख्य निर्णायक (शृङ्गेरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराज)	५३
२२-वेदका अभेदपरत्व (ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)	५४
२३-'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजी महाराजकी अमृत-वाणी) [प्रस्तुति—श्रीमदनजी शर्मा शास्त्री, साहित्यालंकार]	५५
२४-श्रीअरविन्दका अध्यात्मपरक वेद-भाष्य [श्रीदेवदत्तजी]	५६
२५-वेदान्तकी अन्तिम स्थिति (गोलोकवासी संत पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज) [संकलनकर्ता डॉ० श्रीविद्याधरजी द्विवेदी]	५९
२६-वेदोंकी संहिताओंमें भक्ति-तत्त्व (श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य दार्शनिक-सार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्तण्ड वेदान्तवागीश श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महामण्डलेश्वर पूज्य स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी महाराज)	६१
२७-'तपसा किं न सिध्यति!' (वेद-दर्शनाचार्य म० मं० पू० स्वामी श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी महाराज)	७०
२८-वेदका अध्ययन (गोलोकवासी महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड़)	७१
२९-वेदोंमें भेद और अभेद-उपासना (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	७४
३०-वेदकी ऋचाएँ स्पष्ट करती हैं—'परब्रह्मकी सत्ता' (सर्वपल्ली डॉ० श्रीराधाकृष्णनजी पूर्व-राष्ट्रपति) [प्रस्तुति—पं० श्रीबलरामजी शास्त्री, आचार्य]	८५
३१-वेदोपनिषद्में युगल स्वरूप (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	८६
३२-वेदमें गौका जुलूस	८९
३३-वेदमें अवतारवाद (महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी)	९०
३४-'वेद' शब्दका तात्पर्यार्थ क्या है? (शास्त्रार्थ-महारथी (वैकुण्ठवासी) पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)	९१
३५-गो-स्तवन	९४
आशीर्वाद—	
३६-अपौरुषेय वेदोक्त श्रेयस्कर मार्ग (अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृंगेरी-शारदापीठाधीश्वर	

विषय	पृष्ठ-संख्या

जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज) ९५
३७-अथर्ववेदकी महत्ता और उसकी समसामयिकता (अनन्तश्रीविभूषित द्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज) ९८
३८-श्रुतियोंमें सृष्टि-संदर्भ (अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज) १०२
३९-शुभाशंसा (अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्र सरस्वतीजी महाराज) १०७
४०-वेदोंका परम तात्पर्य परब्रह्ममें संनिहित (अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्द सरस्वतीजी महाराज) १०७
४१-श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य एवं उनके द्वारा वेद-प्रामाण्य-प्रतिपादन (अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज) १११
४२-वैदिक धर्म-संस्कारों एवं संस्कृतिका समग्र जन-जीवनपर प्रत्यक्ष प्रभाव (जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी श्रीश्यामनारायणाचार्यजी महाराज) ११४
४३-वेदकी ऋचाओंमें भगवत्तत्त्वदर्शन (अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपालवैष्णवपीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज) ११५
४४-वेद-कथाका माङ्गलिक स्वरूप (श्रीगोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज) ११८
४५-वेद और श्रीमद्भगवद्गीता (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) १२१
४६-महर्षि दध्यङ् आथर्वणकी वैदिकी कथा (पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय) १२३
४७-सत्संगकी महिमा.. १२५

वैदिक ऋचाओंमें भगवत्तत्त्व-दर्शन—

४८-पृथ्वीकी परिक्रमा [आख्यान] (श्रीअमरनाथजी शुक्ल) १२६
४९-वेदोंमें भगवत्कृपा (आचार्य श्रीमुंशीरामजी शर्मा) १२८
५०-धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे [आख्यान] १३२
५१-वेदोंमें भक्तिका स्वरूप (श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार) १३३
५२-ब्रह्म क्या है ? [आख्यान] १३५
५३-वैदिक ऋचाओंमें भगवत्तत्त्व-दर्शन (श्रीगङ्गाधरजी गुरु, बी० ए०, एल्-एल्० बी०) [प्रेषक—श्रीरवीन्द्रनाथजी गुरु] १३६
५४-मैत्रेयीको ज्ञानोपदेश [आख्यान]........................ १३९
५५-रैक्वका ब्रह्मज्ञान [आख्यान]............................ १४०
५६-वेद और भारतीयताका उपास्य-उपासक एवं मैत्रीभाव (म० म० पं० श्रीविश्वनाथजी शास्त्री दातार, न्यायकेसरी, नीतिशास्त्रप्रवीण) १४१
५७-यमके द्वारपर [आख्यान] (श्रीशिवनाथजी दुबे, एम्० कॉम्०, एम्० ए०, साहित्यरत्न, धर्मरत्न) १४४
५८-वेदोंमें शरणागति-महिमा (स्वामी श्रीओंकारानन्दजी सरस्वती) १४६
५९-शौनक-अङ्गिरा-संवाद [आख्यान] १४८
६०-वेदोंमें ईश्वर-भक्ति (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी सिंह) १५१
६१-वेदोंमें गो-महिमा.. १५२
६२-गो-सेवासे ब्रह्मज्ञान [आख्यान]........................ १५६
६३-'ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना' (श्रीअनुरागजी 'कपिध्वज') १५७

वेद-वाङ्मयका परिचय—

६४-ब्रह्मस्वरूप वेद (पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र) १५८
६५-अर्चनासे बढ़कर भक्ति नहीं १६०
६६-वेदवाङ्मय-परिचय एवं अपौरुषेयवाद (दण्डीस्वामी श्रीमद् दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज) १६१
६७-वेदस्वरूप (डॉ० श्रीयुगलकिशोरजी मिश्र) १६५
६८-वैदिक वाङ्मयका शास्त्रीय स्वरूप (डॉ० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र) १७२
६९-ऋग्वेदका परिचय एवं वैशिष्ट्य (श्रीराम अधिकारीजी, वेदाचार्य) १७८
७०-यजुर्वेदका संक्षिप्त परिचय (श्रीऋषिरामजी रेग्मी, अथर्ववेदाचार्य).. १८१
७१-सामवेदका परिचय एवं वैशिष्ट्य [श्रीराम

विषय	पृष्ठ-संख्या

अधिकारीजी, वेदाचार्य] १८९
७२-सारा परिवार ईश-भक्त हो १९२
७३-अथर्ववेदका संक्षिप्त परिचय (श्रीऋषिरामजी रेग्मी, अथर्ववेदाचार्य) १९३
७४-अथर्ववेदीय गोपथब्राह्मण—एक परिचय (श्रीऋषिरामजी रेग्मी, अथर्ववेदाचार्य) १९७
७५-वेदाङ्गोंका परिचय (डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूडामणि) १९९
७६-वैदिक साहित्यका परिचय 'कल्पसूत्र' (पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी) २०५
७७-वेदके विविध छन्द और छन्दोऽनुशासन-ग्रन्थ (डॉ० आचार्य श्रीरामकिशोरजी मिश्र) २११
७८-वेदोंमें ज्योतिष (श्रीओमप्रकाशजी पालीवाल, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) २१५
७९-वेद-मन्त्रोंके उच्चारण-प्रकार—प्रकृतिपाठ एवं विकृतिपाठ [डॉ० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र] २१६
८०-माध्यन्दिनीय यजुर्वेद एवं सामवेदकी पाठ-परम्परा (गोलोकवासी प्रो० डॉ० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, भूतपूर्व वेदविभागाध्यक्ष वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) २२०

वेद-तत्त्व-मीमांसा—

८१-वेदोंकी नित्यता २३०
८२-व्युत्पत्ति-मूलक वेद-शब्दार्थ (आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)................ २३२
८३-वैदिक ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग (पं० श्रीयोगीन्द्रजी झा, वेद-व्याकरणाचार्य) २३४
८४-वेद-रहस्य (स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती) २३६
८५-वेदोंकी रचना किसने की? (शास्त्रार्थपञ्चानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री) २४२
८६-वैदिक धर्म-दर्शनका मूल प्रणव (ॐ) (डॉ० सुश्री आभा रानी) २४४
८७-भगवान्‌के साक्षात् वाङ्मय स्वरूप हैं 'वेद' (गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी, पिलखुवा) [प्रे०-श्रीशिवकुमारजी गोयल] २४६
८८-वेदोंका स्वरूप और पारमार्थिक महत्त्व (प्रो० डॉ० श्रीश्याम शर्माजी वाशिष्ठ) २४७
८९-वेद-महिमा [कविता] (महाकवि डॉ० श्रीयोगेश्वरप्रसादजी सिंह 'योगेश') २५१
९०-'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्' (डॉ० श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र 'विनय') २५२
९१-श्रीरामचरितमानसमें वेदस्तुति (मानसमराल डॉ० श्रीजगेशनारायणजी 'भोजपुरी') २५८
९२-सर्वाधाररूपा, कल्याणस्वरूपा वेद-कथा (महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीबजरङ्गबलीजी ब्रह्मचारी) २६०
९३-वेद-दृष्टि और दृष्टि-निष्ठा (प्रो०श्रीसिद्धेश्वरप्रसादजी, राज्यपाल—त्रिपुरा) २६३
९४-रूसमें वेदका अध्ययन और अनुसंधान (श्रीउदयनारायण सिंहजी) २६६
९५-वेदविद्या—विदेशोंमें (डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, डी० लिट्०) २६९
९६-तुलसी-साहित्य और वेद (श्रीरामपदारथ सिंहजी) २७१
९७-श्रीगुरुग्रन्थ साहिब और वेद (प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय) २७३
९८-जम्भेश्वरवाणीमें वेद-मीमांसा (आचार्य संत श्रीगोवर्धनरामजी शिक्षाशास्त्री, व्याकरणाचार्य, एम्० ए०, स्वर्णपदकप्राप्त) २७५
९९-वेदार्थका उपबृंहण (पं० श्रीजानकीनाथजी कौल 'कमल') २७७
१००-अनन्ता वै वेदाः (डॉ० श्रीमुकुन्दपतिजी त्रिपाठी 'रत्नमालीय' एम्० ए०, पी-एच्० डी०) २८०
१०१-वेदोंमें राष्ट्रियताकी उदात्त भावना (डॉ० श्रीमुरारीलालजी द्विवेदी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) २८२
१०२-सभी शास्त्र वेदका ही अनुसरण करते हैं (श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री) २८४
१०३-वैदिक आख्यान, लक्षण और स्वरूप (डॉ० श्रीविद्यानिवासजी मिश्र) २८७

वेदोंमें शिक्षाप्रद आख्यान—

१०४-वेद-कथामृत-कुञ्ज (डॉ० श्रीहृदयरंजनजी शर्मा) २९१

विषय	पृष्ठ-संख्या

१०५-'ऐतरेय ब्राह्मण' की कथा (पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र) २९५
१०६-धर्ममें विलम्ब अनुचित २९७
१०७-गुरुभक्तके देवता भी सहायक २९८
१०८-ऐतरेय ब्राह्मणकी एक सदाचार-कथा (डॉ० श्रीइन्द्रदेवसिंहजी आर्य, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, साहित्यरत्न, आर० एम्० पी०) ३०१
१०९-महत्ता गुणसे, धनसे नहीं ३०२
११०-नदियोंका अधिदेवत्व (ला० बि० मि०) ३०३
१११-भगवान्‌की असीम दयालुता (ला० बि० मि०) . ३०४
११२-असुरोंका भ्रम (श्रीअमरनाथजी शुक्ल) ३०५
११३-निर्मल मनकी प्रसन्नता ३०६
११४-सुकन्याका कन्या-धर्म-पालन (ला० बि० मि०) ३०७
११५-मनुष्य होकर भी देव कौन? ३०८
११६-आपद्धर्म ३०८
११७-अग्नियोंद्वारा उपदेश ३०९
११८-पूज्य सदैव सम्माननीय (श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी महाराज) ३१०
११९-संगतिका फल (पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय) ३१३

वेदोंमें देवता-तत्त्व—

१२०-वैदिक मन्त्रोंमें देवताका परिज्ञान ३१७
१२१-देवता-विचार ३१९
१२२-वैदिक देवता—सत्ता और महत्ता (डॉ०श्रीराजीवजी प्रचण्डिया, एम्० ए० (संस्कृत), बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्०डी०) ३२२
१२३-श्रीगणेश—वैदिक देवता (याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य) ३२३
१२४-वैदिक देवता 'अग्नि' (डॉ० श्रीकैलाशचन्द्रजी दवे) ३२६
१२५-वैदिक वाङ्मयमें इन्द्रका चरित्र (श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०) ३२८
१२६-मरुद्गणोंका देवत्व [आख्यान] ३३०
१२७-वेदोंमें भगवान् सूर्यकी महत्ता और स्तुतियाँ (श्रीरामस्वरूपजी शास्त्री 'रसिकेश') ३३१
१२८-वैदिक वाङ्मयमें चन्द्रमा (आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री) ३३३
१२९-वेदोंमें शिव-तत्त्व ३३५
१३०-शुक्लयजुर्वेद-संहितामें रुद्राष्टाध्यायी एवं रुद्रमाहात्म्यका अवलोकन (शास्त्री श्रीजयन्तीलालजी त्रि० जोषी) ३३९
१३१-महामृत्युञ्जय-जप—प्रकार एवं विधि ३४२
१३२-वेदमें गायत्री-तत्त्व (डॉ० श्रीश्रीनिवासजी शर्मा) ३४४
१३३-शुद्ध-हृदयके रक्षक देव [आख्यान] ३४७

वेदोंके प्रमुख प्रतिपाद्य विषय—

१३४-वैदिक संस्कृति और सदाचार (डॉ० श्रीमुंशीरामजी शर्मा 'सोम', डी० लिट्०) ३५०
१३५-सम-वितरण ३५२
१३६-वैदिक कर्म और ब्रह्मज्ञान (श्रीवसन्तकुमारजी चटर्जी, एम्०ए०) ३५३
१३७-वेदोंमें 'यज्ञ' ३५६
१३८-यज्ञसे देवताओंकी तृप्ति ३६५
१३९-वैदिक शिक्षाव्यवस्था एवं उपनयन (श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र) ३६६
१४०-तैत्तिरीय आरण्यकमें विहित वेद-संकीर्तन (श्रीसुब्राय गणेशजी भट्ट) ३७३
१४१-वैदिक वाङ्मयमें पुनर्जन्म (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ३७४
१४२-वेदमें योगविद्या (श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार) [प्रेषक—श्रीबलरामजी सैनी] ३७६
१४३-वेदोंमें पर्यावरण-रक्षा (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ३७८
१४४-वेदोंमें विमान (डॉ० श्रीबालकृष्णजी एम्० ए०, पी-एच्० डी०, एफ० आर० ई० एस०) ३८२
१४५-गोत्र-प्रवर-महिमा ३८३
१४६-शासनतन्त्र प्रजाके हितके लिये [आख्यान] (ला० बि० मि०) ३८४
१४७-वेदोंमें निर्दिष्ट शुद्धि तथा पवित्रताके साधन (श्रीकैलाशचन्द्रजी दवे) ३८५

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः—

१४८-ऋषि-विचार ३८९
१४९-ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः (ऋग्वेद-भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी) ३९३

विषय	पृष्ठ-संख्या

१५०-मन्त्रद्रष्टा ऋषि .... ३९९—४१६
(१) मन्त्रद्रष्टा महर्षि विश्वामित्र ३९९
(२) महर्षि अत्रि ४०१
(३) महर्षि गृत्समद (डॉ० श्रीबसन्तवल्लभजी भट्ट, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ४०३
(४) महर्षि वामदेव ४०५
(५) महर्षि भरद्वाज (आचार्य श्रीदुर्गाचरणजी शुक्ल) ४०८
(६) महर्षि भृगु ४१०
(७) महर्षि कण्व ४११
(८) महर्षि याज्ञवल्क्य...................................... ४१२
(९) महर्षि अगस्त्य ४१३
(१०) मन्त्रद्रष्टा महर्षि वसिष्ठ.............................. ४१४
(११) महर्षि अंगिरा ४१४
(१२) महाशाल महर्षि शौनकका वैदिक वाङ्मयमें विनय एवं स्वाध्यायपूर्ण चारित्र्य (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ४१५
(१३) वैदिक ऋषिकाएँ...................... ४१७—४२२
[१] वैदिक ऋषिका देवसम्राज्ञी शची ४१७
[२] वाचक्नवी गार्गी ४१९
[३] ब्रह्मवादिनी ममता ४२०
[४] ब्रह्मवादिनी विश्ववारा.................... ४२०
[५] ब्रह्मवादिनी अपाला........................ ४२०
[६] ब्रह्मवादिनी घोषा.......................... ४२१
[७] ब्रह्मवादिनी सूर्या ४२१
[८] वैदिक ऋषिका ब्रह्मवादिनी वाक्...... ४२२
१५१-भाषा और धर्म-भेदसे भेद नहीं.......................... ४२२
१५२-भाष्यकार एवं वेद-प्रवर्तक मनीषी .... ४२३—४३७
(१) वेदार्थ-निर्णयमें यास्ककी भूमिका (विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजनसूरिदेवजी) ... ४२३
(२) महान् सर्ववेदभाष्यकार श्रीसायणाचार्य (डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा) ४२५
(३) कुछ प्रमुख भाष्यकारोंकी संक्षिप्त जीवनियाँ ४२९
[१] मध्वाचार्य (स्वामी आनन्दतीर्थ) ४२९
[२] उव्वट ४२९
[३] महीधर... ४३०
[४] वेङ्कट माधव (विद्यारण्य) ४३०

विषय	पृष्ठ-संख्या

[५] प्रभाकर भट्ट ४३०
[६] शबरस्वामिन् ४३०
[७] जयंत भट्ट ४३०
[८] मण्डन मिश्र.............................. ४३०
[९] भागवताचार्य............................. ४३१
[१०] नारायण ४३१
[११] वाचस्पति मिश्र.......................... ४३१
(४) महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड— काशीकी अप्रतिम वैदिक विभूति ४३१
(५) स्वामी दयानन्द सरस्वती ४३४
(६) अभिनव वेदार्थचिन्तनमें स्वामी करपात्रीजीका योगदान (डॉ० श्रीरूपनारायणजी पाण्डेय) ४३४

वैदिक मन्त्रों एवं सूक्तोंकी लोकोपयोगिता—

१५३-वेदके सूत्रोंका तात्त्विक रहस्य ४३८
१५४-पञ्चदेवसूक्त .... ४३९—४४८
(१) श्रीगणपत्यथर्वशीर्षम् ४३९
(२) [क] विष्णु-सूक्त ४४१
[ख] नारायण-सूक्त ४४२
(३) [क] श्री-सूक्त ४४२
[ख] देवी-सूक्त ४४४
(४) रुद्र-सूक्त ४४५
(५) [क] सूर्य-सूक्त ४४६
[ख] सूर्य-सूक्त ४४७
१५५-प्रमुख देवी-देवताओंके सूक्त .... ४४९—४५६
(१) अग्नि-सूक्त ४४९
(२) इन्द्र-सूक्त ४५०
(३) यम-सूक्त ४५१
(४) पितृ-सूक्त ४५३
(५) पृथ्वी-सूक्त ४५४
(६) गो-सूक्त ४५६
(७) गोष्ठ-सूक्त ४५६
१५६-आध्यात्मिक सूक्त........................... ४५७—४६३
(१) तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ४५७
(२) सौमनस्य-सूक्त ४६०
(३) संज्ञान-सूक्त ४६०
(४) नासदीय सूक्त ४६१
(५) हिरण्यगर्भ-सूक्त ४६२

विषय	पृष्ठ-संख्या

(६) ऋत-सूक्त ४६३
(७) श्रद्धा-सूक्त ४६३
१५७-लोकोपयोगी-कल्याणकारी सूक्त .... ४६४—४६७
(१) दीर्घायुष्य-सूक्त ४६४
(२) धनान्नदान-सूक्त ४६५
(३) कृषि-सूक्त ४६६
(४) गृह-महिमा-सूक्त ४६६
(५) रोगनिवारण-सूक्त ४६७
१५८-वैदिक सूक्तोंकी महत्ताके प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण निबन्ध .... ४६८—४७६
(१) पुरुषसूक्त और श्रीसूक्तका दिव्य दर्शनात्मक संदेश (डॉ० श्रीकेशवरघुनाथजी कान्हेरे) ४६८
(२) वैदिक चिन्तनमें कृषि-चर्चा (डॉ० श्रीविश्वम्भरनाथजी पाण्डेय) ४७०
(३) 'नासदीय-सूक्त'—भारतीय प्रज्ञाका अनन्य अवदान (डॉ० श्रीरामकृष्णजी सराफ़) ४७३
(४) ऋग्वेदका 'कितवसूक्त'—कर्मण्य जीवनका सदुपदेश (डॉ० श्रीदादूरामजी शर्मा) ४७४
(५) ऋग्वेदका 'दानस्तुति-सूक्त' (सुश्री अलकाजी तुलस्यान) ४७६
१५९-वैदिक सूक्ति-सुधा-सिन्धु .... ४७८—४८६
(१) वेद-वाणी ४७८
(२) वेदामृत-मन्थन ४८१

वैदिक जीवन-दर्शन—

१६०-वैदिक संहिताओंमें मानव-जीवनका प्रशस्त आदर्श ४८७
१६१-वैदिक गृह्यसूक्तोंमें संस्कारीय सदाचार (डॉ० श्रीसीतारामजी सहगल 'शास्त्री', एम्० ए०, ओ० एल्०, पी-एच्० डी०) ४९३
१६२-वेदोंमें गार्हस्थ्य-सूत्र [प्रस्तुति—श्रीनाथूरामजी गुप्त] ४९४
१६३-वैदिक कालमें सात्त्विक आहार (श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०) ४९६
१६४-नारी और वेद (पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, वेदाचार्य, धर्मशास्त्राचार्य, मीमांसादर्शन-शास्त्री) ४९७

विषय	पृष्ठ-संख्या

१६५-वैदिक युगीन कृषि-व्यवस्था (प्रो० श्रीमाँगीलालजी मिश्र) ४९८
१६६-वैदिक युगमें राष्ट्रध्वज (श्रीयोगेशचन्द्रजी शर्मा) ५०१
१६७-विवाह-संस्कार अनादि कालसे प्रचलित है (महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड) ५०२
१६८-वैदिक जीवन-दर्शनके विविध आयाम . ५०६—५१०
(१) ब्राह्मणवर्चसकी प्राप्तिके उपाय ५०६
(२) जीवनकी पवित्रता ५०६
(३) पवित्रताके बिना उत्तम बुद्धि, उत्तम कर्म और उन्नत जीवन तथा अहिंसा असम्भव है .. ५०७
(४) पाप-निराकरणके उपाय ५०७
(५) वैदिक मेधासे दिव्य गुणोंकी रक्षा............ ५०८
(६) कामना दो प्रकारकी है—भद्र और अभद्र.... ५०९
(७) संसार-ग्राहसे बचनेका उपाय—संसारमें लिप्त न होना ५०९
(८) मन, वाणी और कर्ममें मधुरता ५०९
(९) चेष्टा, स्वाध्याय और वाणीमें माधुर्य ५१०
(१०) जगत्भरके लिये कल्याणेच्छा ५१०

वेदोंमें आध्यात्मिक संदेश—

१६९-वेदमें आध्यात्मिक संदेश ('मानस-रत्न' संत श्रीसीतारामदासजी) ५११
१७०-वैदिक सत्य सुख.. ५१३
१७१-वेदमें परलोक ५१५
१७२-'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ५१६
१७३-वेदोंमें विद्या-उपासना (महामहोपाध्याय पण्डित श्रीसकलनारायणजी शर्मा) ५१८
१७४-जीवेम शरदः शतम् (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, का० व्या० सां० स्मृ० तीर्थ) ५२१
१७५-वैदिक निष्ठा और भूमा (चक्रवर्ती श्रीरामाधीनजी चतुर्वेदी) ५२२
१७६-वेद और आत्मज्ञानकी कुंजी (श्रीअभयदेवजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ५२४
१७७-आचार्यका दीक्षान्त-उपदेश [प्रेषक—श्रीरघुवीरजी पाठक] ५२६

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण
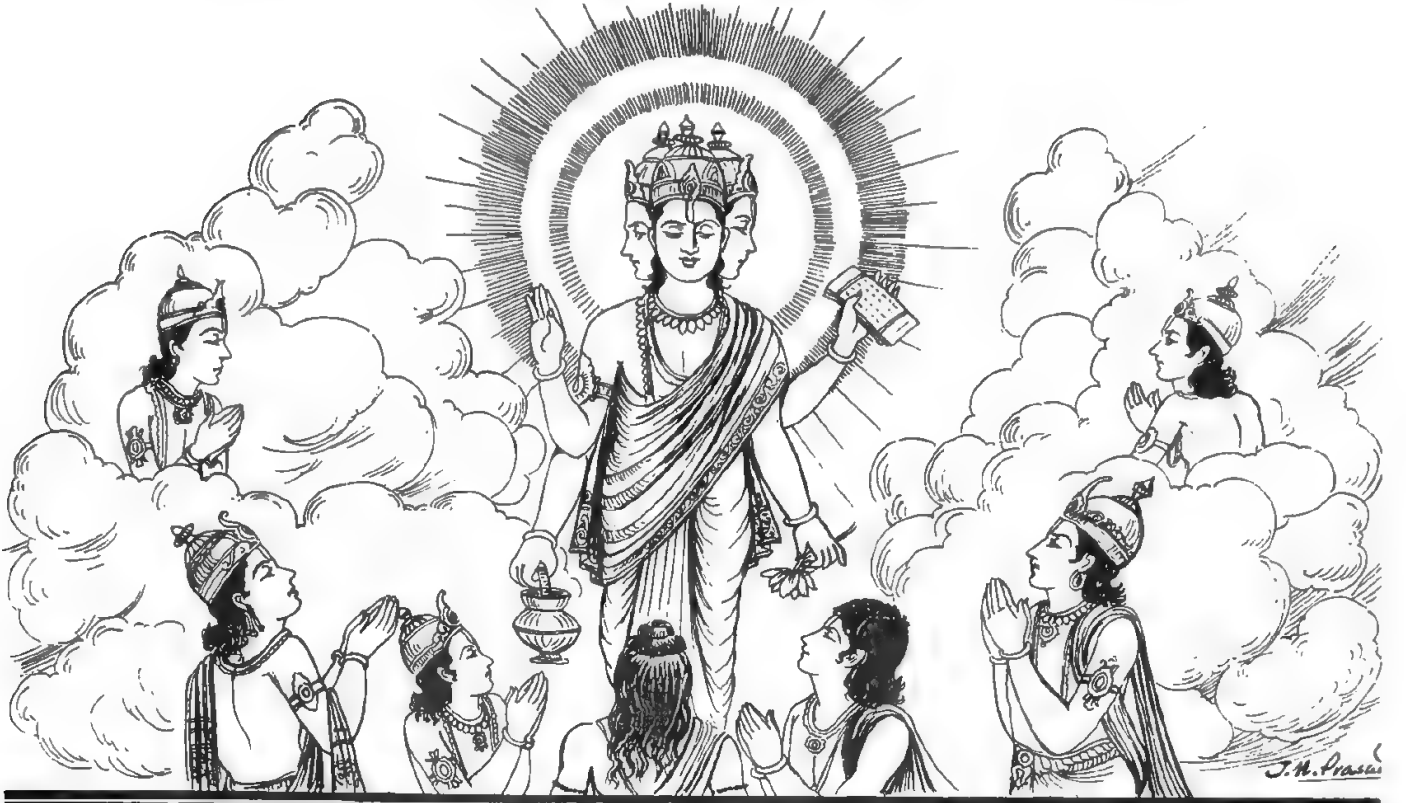
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

वर्ष ७३

गोरखपुर, सौर माघ, वि० सं० २०५५, श्रीकृष्ण-सं० ५२२४, जनवरी १९९९ ई०

संख्या १

पूर्ण संख्या ८६६

वेदतत्त्व ॐकार-स्वरूप भगवान् विष्णु

नमोऽस्तु विष्णवे तस्मै यस्याभिन्नमिदं जगत्। ध्येयः स जगतामाद्यः स प्रसीदतु मेऽव्ययः॥
यत्रोतमेतत्प्रोतं च विश्वमक्षरमव्ययम्। आधारभूतः सर्वस्य स प्रसीदतु मे हरिः॥
ॐ नमो विष्णवे तस्मै नमस्तस्मै पुनः पुनः। यत्र सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वसंश्रयः॥

(विष्णुपुराण १। १९। ८२—८४)

यह जगत् जिनका अभिन्न स्वरूप है, उन श्रीविष्णुभगवान्‌को नमस्कार है, वे जगत्‌के आदिकारण और योगियोंके ध्येय अव्यय हरि मुझपर प्रसन्न हों। जिनमें यह सम्पूर्ण विश्व ओतप्रोत है, वे अक्षर-अव्यय और सबके आधारभूत हरि मुझपर प्रसन्न हों। ॐ जिनमें सब कुछ स्थित है, जिनसे सब उत्पन्न हुआ है और जो स्वयं सब कुछ तथा सबके आधार हैं, उन वेदतत्त्व ॐकार-स्वरूप भगवान् श्रीविष्णुको नमस्कार है, उन्हें बारम्बार नमस्कार है।

मङ्गलाचरण

श्रीगणपति-स्तवन

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत् क्रियते किं चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च॥

(ऋग्वेद १०। ११२। ९)

हे गणपति! आप अपने भक्तजनोंके मध्य प्रतिष्ठित हों। त्रिकालदर्शी ऋषिरूप कवियोंमें श्रेष्ठ! आप सत्कर्मोंके पूरक हैं। आपकी आराधनाके बिना दूर या समीपमें स्थित किसी भी कार्यका शुभारम्भ नहीं होता। हे सम्पत्ति एवं ऐश्वर्यके अधिपति! आप मेरी इस श्रद्धायुक्त पूजा-अर्चनाको, अभीष्ट फलको देनेवाले यज्ञके रूपमें सम्पन्न होने-हेतु वर प्रदान करें।

ॐ गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥

(ऋग्वेद २। २३। १)

वसु, रुद्र, आदित्य आदि गणदेवोंके स्वामी, ऋषिरूप कवियोंमें वन्दनीय, दिव्य अन्न-सम्पत्तिके अधिपति, समस्त देवोंमें अग्रगण्य तथा मन्त्र-सिद्धिके प्रदाता हे गणपति! यज्ञ, जप तथा दान आदि अनुष्ठानोंके माध्यमसे हम आपका आह्वान करते हैं। आप हमें अभय-वर प्रदान करें।

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम।
आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥

(शुक्लयजुर्वेद २३। १९)

गणदेवोंके सेनानी, धन, पुत्र, कलत्र आदि प्रिय पदार्थोंमें अत्यन्त प्रेमास्पद (दिव्य सुख-शान्तिके प्रदाता) तथा अणिमा, गरिमा आदि नव निधियोंके अधिष्ठाता हे परमदेव! हम आपका आह्वान करते हैं। आराध्य-आराधकके मध्य '**ददाति प्रतिगृह्णाति**' की उदात्त भावनाके अन्तर्गत आपके मूल शक्ति-स्रोतकी ऊर्जाको हम धारण करनेमें समर्थ हों।

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो
नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः॥

(शुक्लयजुर्वेद १६। २५)

(हे जगन्नियन्ता परमदेव!) इस सृष्टिमें देव-पितर-गन्धर्व-असुर-मनुष्यरूप प्रधान गणविभाग और उनके गणपतियों, चेतन-अचेतनरूप पदार्थोंके अनेक उपसंघों तथा संघपतियों, तत्तद् विषयगत कलानिधियों एवं उनके प्रमुख प्रवर्तकों तथा सामान्य एवं असामान्यरूप समस्त जीवाकृतियोंके रूपमें मूर्तिमान् आपको कोटिशः नमन है।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे। उप प्र यन्तु मरुत सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा॥

(ऋग्वेद १। ४०। १)

हे मन्त्र-सिद्धिके प्रदाता परमदेव! सत्य-संकल्पसे आपकी ओर अभिमुख हमें आपका अनुग्रह प्राप्त हो। शोभनदानसे युक्त वायुमण्डल हमारे अनुकूल हो। हे सुख-धनके अधिष्ठाता! भक्ति-भावसे समर्पित भोग-रागको आप अपनी कृपा-दृष्टिसे अमृतमय बना दें।

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता। अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः॥

(ऋग्वेद १। ४०। ३)

मन्त्र-सिद्धि-प्रदाता परमदेवकी कृपा-दृष्टिके हम भागी हों। प्रिय एवं सत्यनिष्ठ वाणीकी अधिष्ठात्री देवीकी सत्प्रेरणासे हम अभिसिंचित हों। समस्त देवगण दिव्य ऊर्जायुक्त, जीवमात्रके लिये कल्याणकारी एवं भक्तिभावसे समृद्ध यज्ञ (सत्कर्म)-हेतु हमें प्रतिष्ठित करें।

स्वस्ति-वाचन

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो ऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे॥
तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्।
अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्॥
तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौः।
तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्॥
तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह॥
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥
अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
(ऋक्० १।८९।१—१०)

कल्याणकारक, न दबनेवाले, पराभूत न होनेवाले, उच्चताको पहुँचानेवाले शुभ कर्म चारों ओरसे हमारे पास आयें। प्रगतिको न रोकनेवाले, प्रतिदिन सुरक्षा करनेवाले देव हमारा सदा संवर्धन करनेवाले हों। सरल मार्गसे जानेवाले देवोंकी कल्याणकारक सुबुद्धि तथा देवोंकी उदारता हमें प्राप्त होती रहे। हम देवोंकी मित्रता प्राप्त करें, देव हमें दीर्घ आयु हमारे दीर्घ जीवनके लिये दें। उन देवोंको प्राचीन मन्त्रोंसे हम बुलाते हैं। भग, मित्र, अदिति, दक्ष, विश्वासयोग्य मरुतोंके गण, अर्यमा, वरुण, सोम, अश्विनीकुमार, भाग्ययुक्त सरस्वती हमें सुख दें। वायु उस सुखदायी औषधको हमारे पास बहायें। माता भूमि तथा पिता द्युलोक उस औषधको हमें दें। सोमरस निकालनेवाले सुखकारी पत्थर वह औषध हमें दें, हे बुद्धिमान् अश्विदेवो! तुम वह हमारा भाषण सुनो। स्थावर और जंगमके अधिपति बुद्धिको प्रेरणा देनेवाले उस ईश्वरको हम अपनी सुरक्षाके लिये बुलाते हैं। इससे वह पोषणकर्ता देव हमारे ऐश्वर्यकी समृद्धि करनेवाला तथा सुरक्षा करनेवाला हो, वह अपराजित देव हमारा कल्याण करे और संरक्षक हो। बहुत यशस्वी इन्द्र हमारा कल्याण करे, सर्वज्ञ पूषा हमारा कल्याण करे। जिसका रथचक्र अप्रतिहत चलता है, वह तार्क्ष्य हमारा कल्याण करे, बृहस्पति हमारा कल्याण करे। धब्बोंवाले घोड़ोंसे युक्त, भूमिको माता माननेवाले, शुभ कर्म करनेके लिये जानेवाले, युद्धोंमें पहुँचनेवाले, अग्निके समान तेजस्वी जिह्वावाले, मननशील, सूर्यके समान तेजस्वी मरुद्रूपी सब देव हमारे यहाँ अपनी सुरक्षाकी शक्तिके साथ आयें। हे देवो! कानोंसे हम कल्याणकारक भाषण सुनें! हे यज्ञके योग्य देवो! आँखोंसे हम कल्याणकारक वस्तु देखें। स्थिर सुदृढ़ अवयवोंसे युक्त शरीरोंसे हम तुम्हारी स्तुति करते हुए, जितनी हमारी आयु है, वहाँतक हम देवोंका हित ही करें। हे देवो! सौ वर्षतक ही हमारे आयुष्यकी मर्यादा है, उसमें भी हमारे शरीरोंका बुढ़ापा तुमने किया है तथा आज जो पुत्र हैं, वे ही आगे पिता होनेवाले हैं, इसलिये हमारी आयु बीचमें ही न टूट जाय ऐसा करो। अदिति ही द्युलोक है, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, सब देव, पञ्चजन (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद), जो बन चुका है और जो बननेवाला है, वह सब अदिति ही है। (अर्थात् यही शाश्वत सत्य है, जिसके तत्त्वदर्शनसे परम कल्याण होता है।)

कल्याण-सूक्त

[तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु]

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(यजु० ३४। १—६)

जो जागते हुए पुरुषका [मन] दूर चला जाता है और सोते हुए पुरुषका वैसे ही निकट आ जाता है, जो परमात्माके साक्षात्कारका प्रधान साधन है, जो भूत, भविष्य, वर्तमान, संनिकृष्ट एवं व्यवहित पदार्थोंका एकमात्र ज्ञाता है तथा जो विषयोंका ज्ञान प्राप्त करनेवाले श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका एकमात्र प्रकाशक और प्रवर्तक है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो। कर्मनिष्ठ एवं धीर विद्वान् जिसके द्वारा यज्ञिय पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करके यज्ञमें कर्मोंका विस्तार करते हैं, जो इन्द्रियोंका पूर्वज अथवा आत्मस्वरूप है, जो पूज्य है और समस्त प्रजाके हृदयमें निवास करता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो। जो विशेष प्रकारके ज्ञानका कारण है, जो सामान्य ज्ञानका कारण है, जो धैर्यरूप है, जो समस्त प्रजाके हृदयमें रहकर उनकी समस्त इन्द्रियोंको प्रकाशित करता है, जो स्थूल शरीरकी मृत्यु होनेपर भी अमर रहता है और जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो। जिस अमृतस्वरूप मनके द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्यत्सम्बन्धी सभी वस्तुएँ ग्रहण की जाती हैं तथा जिसके द्वारा सात होतावाला अग्निष्टोम यज्ञ सम्पन्न होता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो। जिस मनमें रथचक्रकी नाभिमें अरोंके समान ऋग्वेद और सामवेद प्रतिष्ठित हैं तथा जिसमें यजुर्वेद प्रतिष्ठित है, जिसमें प्रजाका सब पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाला सम्पूर्ण ज्ञान ओतप्रोत है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो। श्रेष्ठ सारथि जैसे घोड़ोंका संचालन और रासके द्वारा घोड़ोंका नियन्त्रण करता है, वैसे ही जो प्राणियोंका संचालन तथा नियन्त्रण करनेवाला है, जो हृदयमें रहता है, जो कभी बूढ़ा नहीं होता और जो अत्यन्त वेगवान् है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी संकल्पसे युक्त हो।

मङ्गल-चतुष्टय

(१) [ऋग्वेदका आद्य माङ्गलिक संदेश]—
अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

स्वयं आगे बढ़कर लोगोंका हित करनेवाले, यज्ञके प्रकाशक, ऋतुके अनुसार यज्ञ करने तथा देवोंको बुलानेवाले और रत्नोंको धारण करनेवाले अग्निकी मैं स्तुति करता हूँ।

(२)[यजुर्वेदका आद्य माङ्गलिक संदेश]—

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व मघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशः सो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि॥

(हे मानव!) सबको उत्पन्न करनेवाला देव—सविता देव तुझे अन्न-प्राप्तिके लिये प्रेरित करे। सबको उत्पन्न करनेवाला देव तुझे बल-प्राप्तिके लिये प्रेरित करे। हे मनुष्यो! तुम प्राण हो। सबका सृजन करनेवाला देव तुम सबको श्रेष्ठतम कर्मके लिये प्रेरित करे। हे मनुष्यो! बढ़ते जाओ। तुम सभी प्रजा वध करनेके लिये अयोग्य हो। तुम इन्द्रके लिये अपना भाग बढ़ाकर दो। तुम संतानयुक्त, रोगमुक्त और क्षयरोगरहित होओ। चोर तुम्हारा प्रभु न बने, पापी तुम्हारा स्वामी न बने, इस भूपतिके निकट स्थिर रहो। अधिक संख्यामें प्रजासम्पन्न होओ, यज्ञकर्ताके पशुओंकी रक्षा करो।

(३) [सामवेदका आद्य माङ्गलिक संदेश]—
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि॥

हे अग्ने! हवि-भक्षण करनेके लिये तू आ, देवोंको हवि देनेके लिये जिसकी स्तुति की जाती है, ऐसा तू यज्ञमें ऋत्विज् होता हुआ आसनपर बैठ।

(४) [अथर्ववेदका आद्य माङ्गलिक संदेश]—
शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः॥

दिव्य जल हमें सुख दे और इष्ट-प्राप्तिके लिये एवं पीनेके लिये हो तथा हमपर शान्तिका स्रोत बहाये।

परम पुरुष (श्रीविष्णु)-स्तवन

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

उन परम पुरुषके सहस्रों (अनन्त) मस्तक, सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरण हैं। वे इस सम्पूर्ण विश्वकी समस्त भूमि (पूरे स्थान)-की सब ओरसे व्याप्त करके इससे दस अङ्गुल (अनन्त योजन) ऊपर स्थित हैं अर्थात् वे ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए उससे परे भी हैं।

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

यह जो इस समय वर्तमान (जगत्) है, जो बीत गया और जो आगे होनेवाला है, वह सब वे परम पुरुष ही हैं। इसके अतिरिक्त वे देवताओंके तथा जो अन्नसे (भोजनद्वारा) जीवित रहते हैं, उन सबके भी ईश्वर (अधीश्वर-शासक) हैं।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

यह भूत, भविष्य, वर्तमानसे सम्बद्ध समस्त जगत् इन परम पुरुषका वैभव है। वे अपने इस विभूति-विस्तारसे भी महान् हैं। उन परमेश्वरकी एकपाद्विभूति (चतुर्थांश)-में ही यह पञ्चभूतात्मक विश्व है। उनकी शेष त्रिपाद्विभूतिमें शाश्वत दिव्यलोक (वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, शिवलोक आदि) हैं।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥

वे परम पुरुष स्वरूपतः इस मायिक जगत्से परे त्रिपाद्विभूतिमें प्रकाशमान हैं (वहाँ मायाका प्रवेश न होनेसे उनका स्वरूप नित्य प्रकाशमान है) इस विश्वके रूपमें उनका एक पाद ही प्रकट हुआ है अर्थात् एक पादसे वे ही विश्वरूप भी हैं, इसलिये वे ही सम्पूर्ण जड एवं चेतनमय—उभयात्मक जगत्को परिव्याप्त किये हुए हैं।

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥

उन्हीं आदिपुरुषसे विराट् (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हुआ। वे परम पुरुष ही विराट्के अधिपुरुष-अधिदेवता (हिरण्यगर्भ)-रूपसे उत्पन्न होकर अत्यन्त प्रकाशित हुए। पीछे उन्हींने भूमि (लोकादि) तथा शरीर (देव, मानव, तिर्यक् आदि) उत्पन्न किये।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥

जिसमें सब कुछ हवन किया गया है, उस यज्ञपुरुषसे उसीने दही, घी आदि उत्पन्न किये और वायुमें, वनमें एवं ग्राममें रहने योग्य पशु उत्पन्न किये।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

उसी सर्वहुत यज्ञपुरुषसे ऋग्वेद एवं सामवेदके मन्त्र उत्पन्न हुए, उसीसे यजुर्वेदके मन्त्र उत्पन्न हुए और उसीसे सभी छन्द भी उत्पन्न हुए।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥

उसीसे घोड़े उत्पन्न हुए, उसीसे गायें उत्पन्न हुईं और उसीसे भेड़-बकरियाँ उत्पन्न हुईं। वे दोनों ओर दाँतोंवाले हैं।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

देवताओं, साध्यों तथा ऋषियोंने सर्वप्रथम उत्पन्न हुए उस यज्ञ-पुरुषको कुशापर अभिषिक्त किया और उसीसे उसका यजन किया।

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते॥

पुरुषका जब विभाजन हुआ तो उसमें कितनी विकल्पनाएँ की गयीं? उसका मुख क्या था? उसके बाहु क्या थे? उसके जंघे क्या थे? और उसके पैर क्या कहे जाते हैं।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रो अजायत॥

ब्राह्मण इसका मुख था (मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए) क्षत्रिय दोनों भुजाएँ बने (दोनों भुजाओंसे क्षत्रिय उत्पन्न हुए)। इस पुरुषकी जो दोनों जंघाएँ थीं, वे ही वैश्य हुईं अर्थात् उनसे वैश्य उत्पन्न हुए और पैरोंसे शूद्र वर्ण प्रकट हुआ।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥

इस परम पुरुषके मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुए, नेत्रोंसे सूर्य प्रकट हुए, कानोंसे वायु और प्राण तथा मुखसे अग्निकी उत्पत्ति हुई।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥

उन्हीं परम पुरुषकी नाभिसे अन्तरिक्षलोक उत्पन्न हुआ, मस्तकसे स्वर्ग प्रकट हुआ, पैरोंसे पृथिवी, कानोंसे दिशाएँ प्रकट हुईं। इस प्रकार समस्त लोक उस पुरुषमें ही कल्पित हुए।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

जिस पुरुषरूप हविष्यसे देवोंने यज्ञका विस्तार किया, वसन्त उसका घी था, ग्रीष्म काष्ठ एवं शरद् हवि थी।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥

देवताओंने जब यज्ञ करते समय (संकल्पसे) पुरुषरूप पशुका बन्धन किया, तब सात समुद्र इसकी परिधि (मेखलाएँ) थे। इक्कीस प्रकारके छन्दोंकी (गायत्री, अतिजगती और कृतिमेंसे प्रत्येकके सात-सात प्रकारसे) समिधाएँ बनीं।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

देवताओंने (पूर्वोक्त रूपसे) यज्ञके द्वारा यज्ञस्वरूप परम पुरुषका यजन (आराधन) किया। इस यज्ञसे सर्वप्रथम धर्म उत्पन्न हुए। उन धर्मोंके आचरणसे वे देवता महान् महिमावाले होकर उस स्वर्गलोकका सेवन करते हैं, जहाँ प्राचीन साध्य-देवता निवास करते हैं। [अतः हम सभी सर्वव्यापी जड-चेतनात्मकरूप विराट् पुरुषकी करबद्ध स्तुति करते हैं।]

(यजुर्वेद ३१। १—१६)

वेद-विद्याकी अधिष्ठात्री भगवती सरस्वती

वेदोद्धार (हयग्रीवरूपमें भगवान् विष्णुद्वारा वेदोंका उद्धार करके ब्रह्माजीको सौंपना)

वेदतत्त्व ॐकारस्वरूप भगवान् विष्णु

ऋषि-यज्ञ

देव-यज्ञ

पितृ-यज्ञ

मनुष्य-यज्ञ

भूत-यज्ञ

वेदोंके प्रतिपाद्य—पञ्चमहायज्ञ

वेद-संस्कृतिके स्रोत ऋषिकुल

यज्ञानुष्ठानद्वारा देवोपासना

'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'

महर्षि दध्यङ् आथर्वणद्वारा वेदोपदेश

वैदिक शुभाशंसा

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥

(ऋग्वेद ५।५१।१५)

हम अविनाशी एवं कल्याणप्रद मार्गपर चलें। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा चिरकालसे निःसंदेह होकर बिना किसीका आश्रय लिये राक्षसादि दुष्टोंसे रहित पन्थका अनुसरण कर अभिमत मार्गपर चल रहे हैं, उसी प्रकार हम भी परस्पर स्नेहके साथ शास्त्रोपदिष्ट अभिमत मार्गपर चलें।

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥

(ऋग्वेद १।१६४।४१)

उच्चरित की जानेवाली शब्दब्रह्मात्मिका वाणी शब्दका रूप धारण कर रही है। अव्याकृत आत्मभावसे सुप्रतिष्ठित यह वाणी समस्त प्राणियोंके लिये उनके वाचक शब्दोंको सार्थक बनाती हुई सुबन्त और तिङन्त-भेदोंसे पादद्वयवती, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात-भेदोंसे चतुष्पदी, आमन्त्रण आदि आठ भेदोंसे अष्टपदी और अव्यय-पदसहित नवपदी अथवा नाभिसहित उरः, कण्ठ, तालु आदि भेदोंसे नवपदी बनकर उत्कृष्ट हृदयाकाशमें सहस्राक्षरा-रूपसे व्याप्त होकर अनेक ध्वनि-प्रकारोंको धारण करती हुई अन्तरिक्षमें व्याप्त यह दैवी वाणी गौरीस्वरूपा है।

अपामीवामप स्त्रिधमप सेधत दुर्मतिम्।
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥

(ऋग्वेद ८।१८।१०)

'हे अखण्ड नियमोंके पालनेवाले देवगणो (**आदित्यासः**)! हमारे रोगोंको दूर करो, हमारी दुर्मतिका दमन करो तथा पापोंको दूर हटा दो।' सूर्यकी आराधना और प्राकृतिक नियमोंके पालन करनेसे रोग दूर होते हैं, स्वास्थ्य स्थिर रहता है। स्थिर स्वास्थ्यसे सुमति होती है और सुमति पापको दूर हटाती है।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयः स्याम पतयो रयीणाम्॥

(शुक्लयजुर्वेद २३।६५)

हे प्रजापते! तुमसे भिन्न दूसरा कोई इस पृथिव्यादि भूतों तथा सब पदार्थों एवं रूपोंसे अधिक बलवान् नहीं हुआ है अर्थात् तुम्हीं सर्वोपरि बलवान् हो। अतएव हम जिन कामनाओंसे तुम्हारा यजन करते हैं, वह हमें प्राप्त हो। जिससे हम सब धनोंके स्वामी बनें।

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥

(सामवेद १।३।१२)

हे स्तोताओ! यज्ञमें सत्यधर्मा, क्रान्तदर्शी, मेधावी, तेजस्वी और रोगोंका शमन करनेवाले शत्रुघातक अग्निकी स्तुति करो।

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

(अथर्ववेद १९।७१।१)

पापोंका शोधन करनेवाली वेदमाता हम द्विजोंको प्रेरणा दें। मनोरथोंको परिपूर्ण करनेवाली वेदमाताकी आज हमने स्तुति की है। मनोऽभिलषित वरप्रदात्री यह माता हमें दीर्घायु, प्राणवान्, प्रजावान्, पशुमान्, धनवान्, तेजस्वी तथा कीर्तिशाली होनेका आशीर्वाद देकर ही ब्रह्मलोकको पधारें।

वैदिक बाल-विनय

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव॥

(यजु० ३०।३)

दिव्य-गुण-धारी जगके जनक, दुरित-दल सकल भगा दो दूर।
किंतु जो करे आत्म-कल्याण, उसीको भर दो प्रभु! भरपूर॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥

(यजु० ४०।१६)

सुपथपर प्रभु! हमको ले चलो, प्राप्त हो सतत ध्रुव कल्याण।
सकल कृतियाँ हैं तुमको विदित, पाप-दलको कर दो म्रियमाण॥
पुण्यकी प्रभा चमकने लगे, पापका हो न लेश भी शेष।
भक्तिमें भरकर तुमको नमें, सहस्रों बार परम प्राणेश॥

ॐ असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय॥

(शतपथब्राह्मण १४।१।१।३०)

असत्से सत्, तमसे नव ज्योति, मृत्युसे अमृत तत्त्वकी ओर।
हमें प्रतिपल प्रभुवर! ले चलो, दिखाओ अरुणा करुणा-कोर॥

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥

(ऋक्० १।१।७)

दिवसके प्रथम, रात्रिसे पूर्व, भक्तिसे स्वार्थ-त्यागके साथ।
आ रहे हैं प्रतिदिन ले भेंट, तुम्हारी चरण-शरणमें नाथ॥

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे॥

(ऋक्० ८।९८।११)

हमारे जनक, हमारी जननि तुम्हीं हो, हे सुरेन्द्र सुख-धाम।
तुम्हारी स्तुतिमें रत करबद्ध, करें हम बाल विनीत प्रणाम॥

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः। मान्तः स्थुर्नो अरातयः॥

(ऋक्० १०।५७।१)

चलें हम कभी न सत्पथ छोड़, विभवयुत होकर तजें न त्याग।
हमारे अंदर रहें न शत्रु, सुकृतमें रहे हमारा भाग॥

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्।
जेता शत्रून् विचर्षणिः॥

(ऋक्० २।४१।१२)

सर्वदर्शक प्रभु खल-बल-दलन, विभव-सम्पन्न इन्द्र अधिराज।
दिशा-विदिशाओंमें सर्वत्र, हमें कर दो निर्भय निर्व्याज॥

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररभ्मा शवसस्पते। उश्मसि त्वा सधस्थ आ॥

(ऋक्० ८।४५।२०)

निखिल बल अधिपति! मैंने आज, वृद्धकी आश्रय, लकुटि समान।
तुम्हारा अवलम्बन है लिया, शरणमें रखो, हे भगवान्॥

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा। मर्य इव स्व ओक्ये॥

(ऋक्० १।९१।१३)

मनुज अपने घरमें ज्यो रहें, चरें गौएँ ज्यों जौका खेत।
हृदयमें रम जाओ त्यों नाथ, बना लो अपना इसे निकेत॥

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्। मिनीमसि द्यविद्यवि॥

(ऋक्० १।२५।१)

वरुण! हम अविवेकी दिन-रात किया करते हैं जो व्रत-भङ्ग।
समझकर अपनी संतति पिता! उबारो हमें क्षमाके संग॥

यद्वीळाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम्। वसु स्पार्हं तदा भर॥ (ऋक्० ८।४५।४१)

परम ऐश्वर्ययुक्त हे इन्द्र! हमें दो ऐसा धन स्पृहणीय।
वीर दृढ़ स्थिर जन चिन्तनशील बना लेते हैं जिसे स्वकीय॥

आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात्। अग्ने त्वां कामया गिरा॥

(ऋक्० ८।११।७)

उठ रही मेरी वाणी आज, पिता! पानेको तेरा धाम।
अरे वह ऊँचा-ऊँचा धाम, जहाँ है जीवनका विश्राम॥
तुम्हारे वत्सल रससे भीग, हृदयकी करुण कामना कान्त।
खोजने चली विवश हो तुम्हें, रहेगी कबतक भवमें भ्रान्त॥
दूर-से-दूर भले तुम रहो, खींच लायेगी किंतु समीप।
विरत कबतक चातकसे जलद, स्वातिसे मुक्ता-भरिता सीप?

वैदिकपन्थानमनुचरेम

(१)

आदर्श वैदिक शिक्षा

ऋग्वेदकी शिक्षाएँ—

१. **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।** (१। १६४। ४६)
उस एक प्रभुको विद्वान् लोग अनेक नामोंसे पुकारते हैं।

२. **एको विश्वस्य भुवनस्य राजा॥** (६। ३६। ४)
वह सब लोकोंका एकमात्र स्वामी है।

३. **यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति॥** (१। १६४। ३९)
जो उस ब्रह्मको नहीं जानता, वह वेदसे क्या करेगा?

४. **सं गच्छध्वं सं वदध्वम्।** (१०। १९१। २)
मिलकर चलो और मिलकर बोलो।

५. **शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः॥** (१०। १८। २)
शुद्ध और पवित्र बनो तथा परोपकारमय जीवनवाले हो।

६. **स्वस्ति पन्थामनु चरेम।** (५। ५१। १५)
हम कल्याण-मार्गके पथिक हों।

७. **देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम्॥** (१। ८९। २)
हम देवों (विद्वानों)-की मैत्री करें।

८. **उप सर्प मातरं भूमिम्।** (१०। १८। १०)
मातृभूमिकी सेवा करो।

९. **भद्रंभद्रं क्रतुमस्मासु धेहि।** (१। १२३। १३)
हे प्रभो! हम लोगोंमें सुख और कल्याणमय उत्तम संकल्प, ज्ञान और कर्मको धारण कराओ।

यजुर्वेदकी शिक्षाएँ—

१. **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम।** (२५। २१)
हम कानोंसे भद्र—मङ्गलकारी वचन ही सुनें।

२. **स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥** (३२। ८)
वह व्यापक प्रभु सब प्रजाओंमें ओतप्रोत है।

३. **मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥** (४०। १)
किसीके धनपर न ललचाओ।

४. **मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥** (३६। १८)
हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें।

५. **तमेव विदित्वाति मृत्युमेति॥** (३१। १८)
उस ब्रह्म (प्रभु)-को जानकर ही मनुष्य मृत्युको लाँघ जाता है।

६. **ऋतस्य पथा प्रेत।** (७। ४५)
सत्यके मार्गपर चलो।

७. **तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥** (३४। १)
मेरा मन उत्तम संकल्पोंवाला हो।

सामवेदकी शिक्षाएँ—

१. **अध्वरे सत्यधर्माणं कविं अग्निं उप स्तुहि।** (३२)
हिंसारहित यज्ञमें सत्यधर्मका प्रचार करनेवाले अग्निकी स्तुति करो।

२. **ऋचा वरेण्यं अवः यामि॥** (४८)
वेदमन्त्रोंसे मैं श्रेष्ठ संरक्षण माँगता हूँ।

३. **मन्त्रश्रुत्यं चरामसि॥** (१७६)
वेदमन्त्रोंमें जो कहा है, वही हम करते हैं।

४. **ऋषीणां सप्त वाणीः अभि अनूषत्॥** (५७७)
ऋषियोंकी सात छन्दोंवाली वाणी कहो—वेदमन्त्र बोलो।

५. **अमृताय आप्यायमानः दिवि उत्तमानि श्रवांसि धिष्व॥** (६०३)
मोक्षप्राप्तिके लिये तू अपनी उन्नति करते हुए द्युलोकमें उत्तम यश प्राप्त कर।

६ **यज्ञस्य ज्योतिः प्रियं मधु पवते।** (१०३१)
यज्ञकी ज्योति प्रिय और मधुर भाव उत्पन्न करती है।

अथर्ववेदकी शिक्षाएँ—

१. **तस्य ते भक्तिवांसः स्याम॥** (६। ७९। ३)
हे प्रभो! हम तेरे भक्त हों।

२. **एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।** (२। २। १)
एक परमेश्वर ही पूजाके योग्य और प्रजाओंमें स्तुत्य है।

३. **स नो मुञ्चत्वंहसः॥** (४। २३। १)
वह ईश्वर हमें पापसे मुक्त करे।

४. **य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः॥** (९। १०। १)
जो उस ब्रह्मको जान लेते हैं, वे मोक्षपद पाते हैं।

५. **सं श्रुतेन गमेमहि॥** (१। १। ४)
हम वेदोपदेशसे युक्त हों।

६. **यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः॥** (९। १०। १४)
यज्ञ ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको बाँधनेवाला नाभिस्थान है।

७. **ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।** (११। ५। १९)
ब्रह्मचर्यरूपी तपोबलसे ही विद्वान् लोगोंने मृत्युको जीता है।

८. **मधुमतीं वाचमुदेयम्॥** (१६। २। २)
मैं मीठी वाणी बोलूँ।

९. **परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु।** (१८। ३। ६२)
मृत्यु हमसे दूर हो और अमृत-पद हमें प्राप्त हो।

१०. **सर्वमेव शमस्तु नः॥** (१९। ९। १४)
हमारे लिये सब कुछ कल्याणकारी हो।

(२)
वेदोक्त मानव-प्रार्थना

मानवको अपने जीवनमें संसारयात्रार्थ जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है, उन सभी वस्तुओंका वेदोंमें अगाध भंडार है।

जो मनुष्य परमेश्वरको अपना परम प्रिय, परम ध्येय और परम इष्ट मानकर भगवत्प्रार्थना करता है, वही भगवान्‌का परम प्रिय और भक्त बन सकता है। प्रभुका भक्त बननेपर ही परमात्मा अपने भक्तके सर्वविध योगक्षेमका भार स्वयं वहन करते हैं। परमात्मामें विश्वास और उनके प्रति स्वार्पण करनेवाले मानव भक्तको कभी किसी वस्तुकी कमी नहीं रहती। भक्तके इच्छानुसार भगवान् उसे सब कुछ प्रदान करते हैं। प्रभुभक्त सर्वदा निर्विकार, निष्काम और निश्चिन्त रहता है। अत: प्रभुभक्तकी परमात्मासे अपने लिये प्रथम तो कभी किसी वस्तुकी माँग ही नहीं होती, यदि कभी होती भी है तो वह अपने लिये नहीं, किंतु दूसरोंके लिये होती है। प्रभुभक्त मानवकी इस प्रकारकी विश्वकल्याणमयी 'माँग'को 'प्रार्थना' शब्दसे अभिहित किया गया है। वेदोंमें मानवतासम्पन्न भगवद्भक्त मानवद्वारा की गयी विश्वकल्याणार्थ प्रार्थनाके सम्बन्धमें अनेकानेक वैदिक सूक्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनके स्वाध्याय और मननसे विश्वकल्याणकामी मानवके उच्च जीवन, उच्च विचार और उच्च मानवताका सुन्दर परिचय मिलता है। अब हम चारों वेदोंकी कुछ महत्त्वपूर्ण सूक्तियाँ उपस्थित करते हैं—

ऋग्वेदकी सूक्तियाँ

यच्छा नः शर्म सप्रथः॥ (१। २२। १५)

'हे भगवन्! आप हमें अनन्त अखण्डैकरसपरिपूर्ण सुखोंको प्रदान करें।'

पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥ (५। ५१। १५)

'हम दानशील पुरुषसे, विश्वासघातादि न करनेवालेसे और विवेक-विचार-ज्ञानवान्‌से सत्संग करते रहें।'

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्। (१०। २५। १)

'हे परमेश्वर! आप हम सबको कल्याणकारक मन, कल्याणकारक बल और कल्याणकारक कर्म प्रदान करें।'

यजुर्वेदकी सूक्तियाँ

वयꣳ स्याम सुमतौ। (११। २१)

'हमें सद्बुद्धि प्रदान करो।'

विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥ (१६। ४८)

'इस ग्राममें सभी प्राणी रोगरहित और हृष्ट-पुष्ट हों।'

मयि धेहि रुचा रुचम्॥ (१८। ४८)

'हे अग्निदेव! आप मुझे अपने तेजसे तेजस्वी बनायें।'

पुनन्तु मा देवजनाः। (१९। ३९)

'देवानुगामी मानव मुझे पवित्र करें।'

मे कामान्त्समर्धयन्तु॥ (२०। १२)

'देवगण मेरी कामनाओंको समृद्ध (पूर्ण) करें।'

वैश्वानरज्योतिर्भूयासम्। (२०। २३)

'मैं परमात्माकी महिमामयी ज्योतिको प्राप्त करूँ।'

स्योना पृथिवि नः। (३५। २१)

'हे पृथिवी! तुम हमारे लिये सुख देनेवाली हो।'

सामवेदकी सूक्तियाँ

भद्रा उत प्रशस्तयः। (१११)

'हमें कल्याणकारिणी स्तुतियाँ प्राप्त हों।'

जीवा ज्योतिरशीमहि॥ (२५९)

'हम शरीरधारी प्राणी विशिष्ट ज्योतिको प्राप्त करें।'

अस्मभ्यं चित्रं वृषणꣳरयिं दाः॥ (३१७)

'हमें अनेक प्रकारके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला धन दो।'

मदेम शतहिमाः सुवीराः॥ (४५४)

'हम सुन्दर पुत्रोंके सहित सैकड़ों हेमन्त-ऋतुपर्यन्त प्रसन्न रहें।'

कृधी नो यशसो जने। (४७९)

'हमें अपने देशमें यशस्वी बनाओ।'

नः सन्तु सनिषन्तु नो धियः॥ (५५५)

'हमारी देवविषयक स्तुतियाँ देवताओंको प्राप्त हों।'

विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञम्। (६१०)

'सम्पूर्ण देवगण मेरे मान करने योग्य पूजनको स्वीकार करें।'

अहं प्रवदिता स्याम्॥ (६११)

'मैं सर्वत्र प्रगल्भतासे बोलनेवाला बनूँ।'

अथर्ववेदकी सूक्तियाँ

शिवा नः सन्तु वार्षिकीः॥ (१। ६। ४)

'वर्षाद्वारा प्राप्त जल हमारे लिये कल्याणकारी हो।'

पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्॥ (२। १३। १)

'हे भगवन्! जिस प्रकार पिता अपने अपराधी पुत्रकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप भी इस (हमारे) बालककी रक्षा करें।'

विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्यस्मान्॥ (२। ३५। ४)

'हे विश्वकर्मन्! तुमको नमस्कार है, तुम हमारी रक्षा करो।'

तस्य ते भक्तिवांसः स्याम॥ (६। ७९। ३)

'हे प्रभो! हम तुम्हारे भक्त बनें।'

कामानस्माकं पूरय॥ (३। १०। १३)

'हे देवगण! आप अभिलषित वस्तुओंसे हमें परिपूर्ण करें।'

शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः॥ (३। १२। ६)

'हम स्वाभिलषित पुत्र-पौत्रादिसे परिपूर्ण होकर सौ वर्षतक जीवित रहें।'

मा नो द्विक्षत कश्चन॥ (१२। १। २४)

'हमसे कोई भी कभी शत्रुता करनेवाला न हो।'

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक्॥ (१६। २। १)

'हमारी शक्तिशालिनी मीठी वाणी कभी भी दुष्ट स्वभाववाली न हो।'

शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु॥ (१९। ९। १३)

'मुझे कल्याणकी प्राप्ति हो और कभी किसी प्रकारका भय मुझे न हो।'

(३)

वेदसे कामना-साधन

धर्मके आधारस्तम्भ वेदको समस्त जागतिक विद्वानोंने सकल संसारका पुरातन ग्रन्थ स्वीकार किया है। प्राचीन महर्षि वेदके द्वारा ही लोकोत्तर अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त कर पाये थे; इसीलिये तो—वेदाभ्यास और वैदिक उपासनाओंके अतिरिक्त ब्राह्मणके लिये धन कमानेकी कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहा गया है। '**नान्यद् ब्राह्मणस्य कदाचिद्धनार्जनक्रिया।**'

मनु-संहितामें ऋषियोंद्वारा प्रश्न हुआ है कि 'भगवन्! अपने धर्मपालनमें तत्पर मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसारहित वृत्तिवाले ब्राह्मणोंपर काल अपना हाथ चलानेमें कैसे समर्थ होता है'? इस प्रश्नका उत्तर क्या ही सुन्दर दिया गया है—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥

(मनु० ५।४)

मनुभगवान्ने मृत्युके आनेका सर्वप्रथम कारण वेदोंके अनभ्यासको बताया है। पाठकोंके मनमें बड़ा आश्चर्य होगा कि वेदमें ऐसी कौन-सी करामात है, जिससे काल भी उसका अभ्यास करनेवालेका कुछ नहीं कर पाता। पाठकोंको विश्वास रखना चाहिये कि वेद ऐसी-ऐसी करामातोंका खजाना है, जिनका किसी औरके द्वारा मिलना दुर्लभ है। यद्यपि वेदका मुख्य प्रयोजन अक्षय्य स्वर्ग (मोक्ष)-की प्राप्ति है, तथापि उसमें सांसारिक जनोंके मनोरथ पूर्ण करनेके भी बहुत-से साधन बताये गये हैं, जिनसे ऐहिक तथा पारमार्थिक—उभयलोकसिद्धि प्राप्त होती है।

प्रसिद्ध नीलसूक्तके कतिपय मन्त्रोंके कुछ साधन पाठकोंके दिग्दर्शनार्थ यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं—

भूतादिनिवारण

नीचे लिखे मन्त्रसे सरसोंके दाने अभिमन्त्रित करके आविष्ट पुरुषपर डालें तो ब्रह्मराक्षस-भूत-प्रेत-पिशाचादिसे मुक्ति हो जाती है—

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परा सुव॥

(शु० य० १६।५)

निर्विघ्नगमन

कहीं जाता हुआ मनुष्य भी यदि उपर्युक्त (**अध्यवोचदधिवक्ता०**) मन्त्रको जपे तो वह (यथेष्ट स्थानपर) कुशलपूर्वक चला जाता है।

बालशान्ति

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्। मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥ (शु० य० १६।१५)

—इस मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति देनेसे बालक नीरोग रहता है तथा परिवारमें शान्ति रहती है।

रोगनाशन

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किꣳशिलाय च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च॥ (शु० य० १६।४३)

—इस मन्त्रसे ८०० वार कलशस्थित जलको अभिमन्त्रित कर उससे रोगीका अभिषेक करे तो वह रोगमुक्त हो जाता है।

द्रव्यप्राप्ति

'**नमो वः किरिकेभ्यो०**' (शु० य० १६।४६) मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति दे तो धन मिलता है।

जलवृष्टि

'**असौ यस्ताम्रो**' तथा '**असौ योऽवसर्पति**' (शु० य० १६।६-७)—इन दोनों मन्त्रोंसे सत्तू और जलका ही सेवन करता हुआ, गुड़ तथा दूधमें वेतस्की समिधाओंको भिगोकर हवन करे तो श्रीसूर्यनारायणभगवान् पानी बरसाते हैं।

पाठकोंके दिग्दर्शनार्थ कुछ प्रयोग बताये गये हैं। प्रयोगोंकी सिद्धि गुरुद्वारा वैदिक दीक्षासे दीक्षित होकर साधन करनेसे होती है। दीक्षाके अतिरिक्त मन्त्रोंके ऋषि, छन्द, देवता एवं उच्चारण-प्रकार जानना भी अत्यावश्यक है। भगवान् कात्यायनने कहा है—

एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति। अथान्तरा श्वगर्तं वाऽऽपद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति।

भाव यह है कि—'जो ऋषि-छन्द-देवतादिके ज्ञानके हुए बिना पढ़ता है, पढ़ाता है, जपता है, हवन करता-कराता है, उसका वेद निर्बल और निस्तत्त्व हो जाता है। वह पुरुष नरकमें जाता है या सूखा पेड़ होता है—अकाल अथवा मृत्युसे मरता है।'

अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवत्।

जो इन्हें जानकर कर्म करता है, वह (अभीष्ट) फलको प्राप्त करता है। अतः साधकजनोंके लिये वैदिक गुरूपदिष्ट मार्गसे साधन करना विशेष लाभदायक है।

(४)

वेदोंमें भगवत्कृपा-प्राप्त्यर्थ प्रार्थना

भक्ति-शास्त्रोंके अनुसार भगवत्कृपाके बिना मनुष्य सुख-शान्ति या सफलता नहीं प्राप्त कर सकता, अतः भगवत्कृपाका अनुभव करनेके लिये समस्त प्राणियोंमें स्थित रहनेवाले भगवान्‌को सर्वव्यापी एवं सर्वान्तर्यामी जानकर जो मनुष्य सर्वत्र और सबमें देखता है, वही पूर्ण भगवत्कृपाका अनुभव कर सकता है। वह ऐहलौकिक, पारलौकिक—सभी प्रकारके सुख-साधनोंको प्राप्त कर अभ्युदय तथा निःश्रेयसरूपा पूर्णताको प्राप्त कर सकता है।

भगवत्कृपा और भगवान्‌में कोई भेद नहीं है, अतः दोनोंको अभिन्न मानकर भगवदाराधन करना चाहिये। जो मनुष्य श्रद्धा एवं विश्वासके साथ सर्वव्यापी भगवान्‌की आराधना करता है, वह अवश्य भगवान्‌का कृपापात्र बन जाता है। भगवान्‌के सम्मुख होनेके कारण वह सद्धर्म, सत्कर्म और सदाचार आदिके पालनमें तत्पर हो अहर्निश भगवदाराधनमें संलग्न रहता है। पश्चात् वह शुद्ध-बुद्ध अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है। अतः भगवत्कृपाको विशेषरूपमें प्राप्त (अनुभव) करनेके लिये भगवदाराधना आवश्यक है।

वेदोंमें मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंद्वारा अनेक स्थलोंपर भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये प्रार्थनाएँ की गयी हैं ये प्रार्थनाएँ बड़ी ही उदात्त और सत्संकल्पित हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषि सदा भगवदनुग्रहके प्रार्थी रहे हैं, परंतु वे साधारण वस्तुओंके लिये भगवदनुग्रहका आह्वान नहीं करते, प्रत्युत अपने तथा मानवमात्रके सर्वाङ्गीण योगक्षेमके लिये प्रभुकृपाके प्रार्थी हैं।

मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंद्वारा वेदोंमें आत्म-कल्याण और लोक-कल्याणके निमित्त भगवत्कृपा-प्राप्त्यर्थ जो प्रार्थनाएँ की गयी हैं, उनमेंसे कुछ वेद-मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ (ऋक्० १।९०।८)

'हे प्रभो! हमारी गौएँ (इन्द्रियाँ) मधुरतापूर्ण अर्थात् संयम-सदाचारादिके माधुर्यसे युक्त हों।'

अप नः शोशुचदघम्॥ (ऋक्० १।९७।३)

'भगवन्! आपकी कृपासे हमारे समस्त पाप नष्ट हो जायँ।

भद्रंभद्रं क्रतुमस्मासु धेहि॥ (ऋक्० १।१२३।१३)

'हे प्रभो! हमें सुखमय तथा मङ्गलमय और श्रेष्ठ संकल्प, ज्ञान एवं सत्कर्म धारण कराइये।'

सं ज्योतिषाभूम॥ (शुक्लयजुर्वेद २।२५)

'हे देव! हम आध्यात्मिक प्रकाशसे संयुक्त हों।'

स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो अघायतः समस्मात्॥

(शुक्लयजुर्वेद ३।२६)

'हे प्रभो! आप हमें सत्-ज्ञान दीजिये, हमारी प्रार्थनाको सुनिये और हमें पापी मनुष्यों (-के पापाचरण)-से बचाइये।'

अगन्म ज्योतिरमृता अभूम। (शुक्लयजुर्वेद ८।५२)

'हे देव! हम आपकी ज्योतिको प्राप्त होकर अमरत्वको प्राप्त करें।'

देव संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे। तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम॥ (अथर्ववेद ६।७९।३)

'हे देव! आप आध्यात्मिक तथा आधिदैविक एवं आधिभौतिक आदि असंख्य शाश्वती पुष्टियोंके स्वामी हैं, इसलिये आप हमें उन पुष्टियोंको प्रदान करें और उन्हें हममें स्थापित करें, जिससे हम आपकी भक्तिसे युक्त हों।'

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः॥

(अथर्ववेद १९।५१।१)

'हे परमेश्वर! मैं अनिन्द्य (प्रशंसित) बनूँ, मेरी आत्मा अनिन्द्य बने और मेरे चक्षु, श्रोत्र, प्राण, अपान तथा व्यान भी अनिन्द्य बनें।'

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

(अथर्ववेद १९।१५।६)

'हे प्रभो! हमें मित्रसे भय न हो, शत्रुसे भी भय न हो, परिचित व्यक्तियों एवं सभी वस्तुओंसे निर्भयता प्राप्त हो। परोक्षमें भी हमें कभी कुछ भय न हो। दिनमें, रातमें और सभी समय हम निर्भय रहें। किसी भी देशमें हमारे लिये कोई भयका कारण न रहे। सर्वत्र हमारे मित्र-ही-मित्र हों।'

वस्तुतः भगवत्कृपाका अनुभव सर्वभावसे भगवान्‌की शरणमें जानेसे तथा विनम्र होकर भगवत्प्रार्थना करनेसे ही होता है।

राष्ट्र-कल्याणका माङ्गलिक संदेश

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

(यजु० सं० २२। २२)

(अनुवाद)

भारतवर्ष हमारा प्यारा, अखिल विश्वसे न्यारा;
सब साधनसे रहे समुन्नत, भगवन्! देश हमारा।

हों ब्राह्मण विद्वान् राष्ट्रमें ब्रह्मतेज-व्रत-धारी,
महारथी हों शूर धनुर्धर क्षत्रिय लक्ष्य-प्रहारी।
गौएँ भी अति मधुर दुग्धकी रहें बहाती धारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ १॥

भारतमें बलवान् वृषभ हों, बोझ उठायें भारी;
अश्व आशुगामी हों, दुर्गम पथमें विचरणकारी।
जिनकी गति अवलोक लजाकर हो समीर भी हारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ २॥

महिलाएँ हों सती सुन्दरी सद्गुणवती सयानी,
रथारूढ भारत-वीरोंकी करें विजय-अगवानी।
जिनकी गुण-गाथासे गुंजित दिग्-दिगन्त हो सारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ ३॥

यज्ञ-निरत भारतके सुत हों, शूर सुकृत-अवतारी,
युवक यहाँके सभ्य सुशिक्षित सौम्य सरल सुविचारी,
जो होंगे इस धन्य राष्ट्रका भावी सुदृढ़ सहारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ ४॥

समय-समयपर आवश्यकतावश रस घन बरसाये,
अन्नौषधमें लगें प्रचुर फल और स्वयं पक जायें।
योग हमारा, क्षेम हमारा स्वतः सिद्ध हो सारा॥
सब साधनसे रहे समुन्नत०॥ ५॥

वेद-कथाका वैशिष्ट्य—एक परिचय

'देवपितृमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनः'—वेदको देव, पितर एवं मनुष्योंका सनातन चक्षु कहा गया है। मनु महाराजके अनुसार तीनों कालमें इनका उपयोग है और सब वेदसे प्राप्त होता है—

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।

भारतीय मान्यताके अनुसार वेद ब्रह्मविद्याके ग्रन्थभाग नहीं, स्वयं ब्रह्म हैं—शब्द ब्रह्म हैं। ब्रह्मानुभूतिके बिना वेद-ब्रह्मका ज्ञान सम्भव ही नहीं है अर्थात् जिसने वेद-ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया है, वे ही वेदकी स्तुति (अर्थात् व्याख्या)-के अधिकारी होते हैं—**'अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति'** (निरुक्त ७। १। २)। कहते हैं कि वैदिक वाङ्मयमें सम्पूर्ण देवता समाये हुए हैं, जो उन्हें जान लेता है, वह उनमें समाहित हो जाता है। तात्पर्य है कि जिन्हें आर्ष-दृष्टि प्राप्त है, वे ही वेद-ब्रह्मके सत्यका दर्शन कर सकते हैं और वैदिक प्रतीकों एवं संकेतोंको तथा वैदिक भाषाके रहस्यको समझ सकते हैं। इसीलिये वेदकी मूल चार संहिताओं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके साथ ब्राह्मण-भाग भी संलग्न रहता है, जो इन संहिताओं (मन्त्रों)-की व्याख्या करता है। इस ब्राह्मण-भागके बिना इन वेदोंके मूल मन्त्रार्थ स्पष्ट नहीं हो पाते। ब्राह्मणके ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—ये तीन विभाग हैं, जो प्रत्येक संहिताओंके अलग-अलग हैं। मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनोंको वेद ही कहा गया है—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

इनमें ज्ञान-विज्ञानके साथ-साथ आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक समस्त पक्षोंका प्रतिपादन है। वस्तुतः वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंका प्रतिपादन करते हैं। जिनकी व्याख्या वेदाङ्गोंके द्वारा स्पष्ट होती है, अतः इन वेदाङ्गोंका भी अतिशय महत्त्व है। ये वेदाङ्ग छः प्रकारके हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इसके साथ ही चारों वेदोंके चार उपवेद भी हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और स्थापत्यवेद।

सर्वसाधारणके लिये वेदके अर्थ एवं भावोंको अत्यधिक स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे ऋषि-महर्षियोंद्वारा इतिहास एवं पुराणोंकी रचना की गयी—**'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'**। वेदोंका उपबृंहण इतिहास और पुराणोंद्वारा ही हुआ है अर्थात् वेदार्थका विस्तार इतिहास-पुराणोंद्वारा किया गया है। अतः इतिहास-पुराणको पाँचवाँ वेद माना गया है—**'इतिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्'** (छान्दोग्य०)। इतिहासके अन्तर्गत रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थ आते हैं तथा पुराणोंमें भगवान् वेदव्यासद्वारा रचित अठारह महापुराण एवं सभी उपपुराण समन्वित हैं।

वेदोंका प्रादुर्भाव

वेदके प्रादुर्भावके सम्बन्धमें यद्यपि कुछ पाश्चात्त्य विद्वानों तथा पाश्चात्त्य दृष्टिकोणसे प्रभावित यहाँके भी कुछ विद्वानोंने वेदोंका समय-निर्धारण करनेका असफल प्रयास किया है, परंतु वास्तवमें प्राचीन कालसे हमारे ऋषि-महर्षि, आचार्य तथा भारतीय संस्कृति एवं भारतकी परम्परामें आस्था रखनेवाले विद्वानोंने वेदको सनातन, नित्य और अपौरुषेय माना है। उनकी यह मान्यता है कि वेदका प्रादुर्भाव ईश्वरीय ज्ञानके रूपमें हुआ है। जिस प्रकार ईश्वर अनादि, अनन्त और अविनश्वर है, उसी प्रकार वेद भी अनादि, अनन्त और अविनश्वर हैं। इसीलिये उपनिषदोंमें वेदोंको परमात्माका निःश्वास कहा गया है। वेदोंके महान् भाष्यकार श्रीसायणाचार्यजीने अपने वेदभाष्यमें लिखा है—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥

सारांश यह कि वेद ईश्वरका निःश्वास है, अतः उन्हीं परमेश्वरद्वारा निर्मित है। वेदसे ही समस्त जगत्का निर्माण हुआ है, इसीलिये वेदोंको अपौरुषेय कहा गया है। उपनिषदोंमें यह बात आती है कि सृष्टिके आदिमें परमात्मप्रभुने ब्रह्माको प्रकट किया तथा उन्हें समस्त वेदोंका ज्ञान प्राप्त कराया—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
(श्वेताश्वतर० ६। १८)

ब्रह्माकी ऋषि संतानोंने आगे चलकर तपस्याद्वारा

इसी शब्दराशिका साक्षात्कार किया और पठन-पाठनकी प्रणालीसे इसका संरक्षण किया। इसीलिये महर्षियोंने तथा अन्य भारतीय विद्वानोंने ऋषि-महर्षियोंको मन्त्रद्रष्टा माना है—'**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**'। वेदका ईश्वरीय ज्ञानके रूपमें ऋषि-महर्षियोंने अपनी अन्तर्दृष्टिसे प्रत्यक्ष दर्शन किया, तदनन्तर इसे सर्वसाधारणके कल्याणार्थ प्रकट किया।

संहिताके प्रत्येक सूक्तके ऋषि, देवता, छन्द एवं विनियोग होते हैं। वेदार्थ जाननेके लिये इन चारोंका ज्ञान रखना आवश्यक है। शौनककी अनुक्रमणी (११)-में लिखा है कि 'जो ऋषि, देवता, छन्द एवं विनियोगका ज्ञान प्राप्त किये बिना वेदका अध्ययन-अध्यापन, हवन एवं यजन-याजन आदि करते हैं, उनका सब कुछ निष्फल हो जाता है और जो ऋष्यादिको जानकर अध्ययनादि करते हैं, उनका सब कुछ फलप्रद होता है। ऋष्यादिके ज्ञानके साथ ही जो वेदार्थ भी जानते हैं, उनको अतिशय फल प्राप्त होता है।' याज्ञवल्क्य और व्यासने भी अपनी स्मृतियोंमें ऐसा ही लिखा है। ऋषियोंने वेदोंका मनन किया, अतः वे मन्त्र कहलाये, छन्दोंमें आच्छादित होनेसे छन्द कहलाये—'**मन्त्रा मननात्, छन्दांसि छादनात्**' (निरुक्त ७। ३। १२)। जो मनुष्योंको प्रसन्न करे और यज्ञादिकी रक्षा करे, उसे छन्द कहते हैं (निरुक्त दैवत १। १२)। जिस उद्देश्यके लिये मन्त्रका प्रयोग होता है, उसे विनियोग कहा जाता है। मन्त्रमें अर्थान्तर या विषयान्तर होनेपर भी विनियोगके द्वारा अन्य कार्यमें उस मन्त्रको विनियुक्त किया जा सकता है—पूर्वाचार्योंने ऐसा माना है। इससे ज्ञात होता है कि शब्दार्थसे भी अधिक आधिपत्य मन्त्रोंपर विनियोगका है। ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं कल्पसूत्र आदिके द्वारा ऋषि, देवता आदिका ज्ञान होता है।

निरुक्तकारने लिखा है—'**देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा**' (निरुक्त ७। ४। १५)—लोकोंमें भ्रमण करनेवाले, प्रकाशित होनेवाले या भोज्य आदि सारे पदार्थ देनेवालेको देवता कहा जाता है।

वेदोंमें मुख्यरूपसे तीन प्रकारके देवोंका वर्णन मिलता है, जिनमें—(१) पृथ्वीस्थानीय देवता अग्नि, (२) अन्तरिक्षस्थानीय देवता वायु या इन्द्र और (३) द्यु-स्थानीय देवता सूर्य हैं। इन्हींकी अनेक नामोंसे स्तुतियाँ की गयी हैं। जिस सूक्त या मन्त्रके साथ जिस देवताका उल्लेख रहता है, उस सूक्त या मन्त्रके वे ही प्रतिपादनीय और स्तवनीय हैं। इसके साथ ही वे सभी जड-चेतन पदार्थोंके अधिष्ठातृ देवता भी होते हैं। जिस मन्त्रमें जिस देवताका वर्णन है, उसमें उसीकी दिव्य शक्ति अनादि कालसे निहित है। मन्त्रमें ही देवत्वशक्ति मानी जाती है। देवताका रहस्य बृहद्देवतामें प्रतिपादित है। उसके प्रथमाध्यायके पाँच श्लोकों (६१—६५)-से पता चलता है कि इस ब्रह्माण्डके मूलमें एक ही शक्ति विद्यमान है, जिसे ईश्वर कहा जाता है। वह '**एकमेवाद्वितीयम्**' है। उस एक ब्रह्मकी नाना रूपोंमें—विविध शक्तियोंकी अधिष्ठातृरूपोंमें स्तुति की गयी है। नियन्ता एक ही है, इसी मूल सत्ताके विकास सारे देव हैं। इसीलिये जिस प्रकार एक ही धागेमें मालाकी सारी मणियाँ ओतप्रोत रहती हैं और उसे केवल माला ही कहा जाता है। इसी तरह सूर्य, विष्णु, गणेश, वाग्देवी, अदिति या जितने देवता हैं, सबको परमात्मरूप ही माना जाता है।

भारतीय संस्कृतिकी यह मान्यता है कि वेदसे ही धर्म निकला है—'**वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ**'। एक प्रश्न उठता है कि वेदकी नित्यताको प्रत्यक्ष-प्रमाण या अनुमान- प्रमाणसे प्रमाणित किया जा सकता है क्या? परंतु इस सम्बन्धमें अपने यहाँ शंकराचार्य आदि महानुभावोंने प्रत्यक्ष एवं अनुमान-प्रमाणका खण्डन कर शब्द-प्रमाणको ही स्थापित किया है (शारीरकभाष्य २। ३। १)। मानव-बुद्धि सीमित है। क्षुद्रतम मानव-मस्तिष्क 'अज्ञेय' कालके तत्त्वोंका कैसे प्रत्यक्ष कर सकता है और अनन्त समयकी बातोंका अनुमान ही कैसे लगा पायेगा? इसीलिये भगवान्ने स्वयं गीतामें कहा—'**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ**'। कार्य एवं अकार्यकी व्यवस्थिति अर्थात् कर्तव्य एवं अकर्तव्यका निर्णय करनेमें शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हैं। आर्योंके सभी शास्त्र वेदको नित्य, शाश्वत और अपौरुषेय मानते हैं अर्थात् वेदोंको किसी पुरुषके द्वारा निर्मित नहीं मानते। इसीलिये वेदके शब्दोंको हमारे धर्म-कर्म तथा जीवनके मार्गदर्शनका प्रमाण माना गया है।

वेदोंको सार्वदेशिक कहा जाता है, क्योंकि वे किसी देशविशेषकी भाषामें नहीं। जैसे परमेश्वर सर्वसाधारण और सार्वदेशिक हैं, वैसे ही उनके वेद भी सार्वदेशिक भाषामें ही हैं; जबकि अन्यान्य धर्मग्रन्थ भिन्न-भिन्न देशोंकी भाषाओंमें हैं। यह कहा जा सकता है कि वेद भी आर्योंकी संस्कृत भाषामें ही हैं, फिर वे सार्वदेशिक कैसे हैं? परंतु यह कहना संगत नहीं है; क्योंकि संस्कृत भाषा वास्तवमें देवभाषा है और वेद इस भाषामें भी नहीं हैं। कारण, शब्दोंके लौकिक तथा वैदिक दो प्रकारके संस्कार होते हैं। वैदिक मन्त्र शब्द, स्वर और छन्दोंसे नियन्त्रित होते हैं, लौकिक नहीं। वैदिक वाक्योंका स्वरूप और अर्थ निरुक्त तथा प्रातिशाख्यसे ही नियमित है; संस्कृत वैसी नहीं है। अतः वेदभाषा संस्कृत भाषासे भी विलक्षण है, इसीलिये वेदमें किसीके प्रति पक्षपात नहीं है। जैसे भगवान् सर्वत्र समान हैं, वैसे ही उनका वैदिक धर्म भी साक्षात् या परम्परया प्राणिमात्रका परम उपकारी है।

अनन्त वेद

तैत्तिरीय आरण्यकमें एक आख्यायिका आती है—भरद्वाजने तीन आयुपर्यन्त अर्थात् बाल्य, यौवन और वार्धक्यमें ब्रह्मचर्यका ही अनुष्ठान किया। जब वे जीर्ण हो गये, तब इन्द्रने उनके पास आकर कहा—'भरद्वाज! चौथी आयु तुम्हें दूँ तो तुम उस आयुमें क्या करोगे?' उन्होंने उत्तर दिया—'मैं वेदोंका अन्त देख लेना चाहता हूँ, अतः जितना भी जीवन मुझे दिया जायगा, मैं उससे ब्रह्मचर्यका ही अनुष्ठान करता रहूँगा और वेदका अध्ययन करूँगा।' इन्द्रने भरद्वाजको तीन महान् पर्वत दिखलाये, जिनका कहीं ओर-छोर नहीं था। इन्द्रने कहा—'ये ही तीन वेद हैं, इनका अन्त तुम कैसे प्राप्त कर सकते हो?' आगे इन्द्रने तीनोंमेंसे एक-एक मुट्ठी भरद्वाजको देकर कहा—'मानव-समाजके लिये इतना ही पर्याप्त है, वेद तो अनन्त हैं'—'**अनन्ता वै वेदाः**।'

कहते हैं कि इन्द्रके द्वारा प्रदत्त यह तीन मुट्ठी ही वेदत्रयी (ऋक्, यजुः, साम)-के रूपमें प्रकट हुई। द्वापरयुगकी समाप्तिके पूर्व इन तीनों शब्द-शैलियोंकी संग्रहात्मक एक विशिष्ट अध्ययनीय शब्दराशि ही वेद कहलाती थी। उस समय भी वेदका पढ़ना और अभ्यास करना सरल कार्य नहीं था। कलियुगमें मनुष्योंकी शक्तिहीनता और कम आयु होनेकी बात ध्यानमें रखकर वेदपुरुष भगवान् नारायणके अवतार कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यासजीने यज्ञानुष्ठान आदिके उपयोगको दृष्टिगत रखकर एक वेदके चार विभाग कर दिये। ये ही विभाग आजकल ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके नामसे प्रसिद्ध हैं।

प्रत्येक वेदकी अनेक शाखाएँ बतायी गयी हैं। यथा—ऋग्वेदकी २१ शाखा, यजुर्वेदकी १०१ शाखा, सामवेदकी १००० शाखा और अथर्ववेदकी ९ शाखा। इस प्रकार कुल ११३१ शाखाएँ हैं। इन ११३१ शाखाओंमेंसे केवल १२ शाखाएँ ही मूलग्रन्थमें उपलब्ध हैं, जिनमें ऋग्वेदकी २, यजुर्वेदकी ६, सामवेदकी २ तथा अथर्ववेदकी २ शाखाओंके ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। परंतु इन १२ शाखाओंमेंसे केवल ६ शाखाओंकी अध्ययन-शैली ही वर्तमानमें प्राप्त है। मुख्यरूपसे वेदकी इन प्रत्येक शाखाओंकी वैदिक शब्दराशि चार भागोंमें प्राप्त है—(१) 'संहिता'—वेदका मन्त्रभाग, (२) 'ब्राह्मण'—जिसमें यज्ञानुष्ठानकी पद्धतिके साथ फलप्राप्ति तथा विधि आदिका निरूपण किया गया है, (३) 'आरण्यक'—यह भाग मनुष्यको आध्यात्मिक बोधकी ओर झुकाकर सांसारिक बन्धनोंसे ऊपर उठाता है। संसार-त्यागकी भावनाके कारण वानप्रस्थ-आश्रमके लिये अरण्य (जंगल)-में इसका विशेष अध्ययन तथा स्वाध्याय करनेकी विधि है, इसीलिये इसे आरण्यक कहते हैं और (४) 'उपनिषद्'—इसमें अध्यात्म-चिन्तनको ही प्रधानता दी गयी है। इनका प्रतिपाद्य ब्रह्म तथा आत्मतत्त्व है।

वेदोंके शिक्षाप्रद आख्यान

वेदोंमें यत्र-तत्र कुछ शिक्षाप्रद आख्यान तथा आख्यानोंके कतिपय संकेत-सूत्र भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि कुछ आख्यान ऐतिहासिक-जैसे भी प्रतीत होते हैं, जिनके आधारपर कुछ आधुनिक विद्वान् उन इतिहासोंके अनुसार वेदके कालका निर्णय करनेका प्रयास करते हैं, परंतु वास्तवमें ये आख्यान इतिहासके नहीं हैं। कुछ आख्यानोंमें जगत्में सदा होती रहनेवाली घटनाओंको कथाका रूप

देकर समझाया गया है। जो एक प्रकारका जगत्का नित्य इतिहास है। नित्य-वेदमें अनित्य ऐतिहासिक आख्यान नहीं हो सकते। इसी प्रकार वेदमें कुछ राजाओंके तथा भारतीय इतिहासके कुछ व्यक्तियोंके भी नाम प्राप्त होते हैं। इससे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वेद अपौरुषेय हैं, तब इनमें ऐतिहासिक आख्यान तथा ऐतिहासिक व्यक्तियोंके नाम कैसे आते हैं? परंतु वास्तवमें वेदके ये शब्द किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियोंके नाम नहीं हैं, प्रत्युत वेदमें ये यौगिक अर्थमें आते हैं। मन्त्रोंके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थोंके अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं तथा कल्प-कल्पान्तरकी ऐतिहासिक कथाओंका सूत्र या बीज भी इन कथाओंमें रहता है। इस प्रकार ये कथाएँ ऐतिहासिक नहीं, अपितु नित्य और शाश्वत हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियोंके माता-पिताओंने वेदके इन शब्दोंके आधारपर अपनी संततियोंका वही नाम रख दिया था। वेदका इन व्यक्तियोंसे कोई सम्बन्ध नहीं। इन व्यक्तियोंके नामों एवं वैदिक नामोंमें केवल श्रवणमात्रकी समानता है। वेदमें इतिहासका खण्डन करते हुए महर्षि जैमिनिने भी मीमांसा-दर्शनमें यही बात कही है।

वास्तवमें वेदके ये आख्यान हमारे जीवनको प्रभावित करते हैं। हमारे अंदर नैतिक मूल्यों—सुसंस्कारोंको जन्म देते हैं। ये कथाएँ उपदेश नहीं देतीं, प्रत्युत अपनी प्रस्तुतिसे हमारे अंदर एक विचार उत्पन्न करती हैं, अच्छे-बुरेका विवेचन करती हैं और हमें उस सत्-असत्से परिचित कराकर हमारे मन-मस्तिष्कपर अपनी छाप भी छोड़ती हैं। ये कथाएँ केवल देवों-दानवों, ऋषियों-मुनियों एवं राजाओंकी ही नहीं हैं, अपितु समस्त जड-चेतन, पशु-पक्षी आदिसे भी सम्बन्धित हैं, जो हमें कर्तव्य-कर्मोंका बोध कराती हुई शाश्वत कल्याणका मार्गदर्शन कराती हैं।

वेदोंके प्रतिपाद्य विषय

यह सर्वविदित है कि मानवके ऐहिक और आमुष्मिक कल्याणके साधनरूप धर्मका साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण वेदोंमें ही उपलब्ध है। धर्मके साथ-साथ अध्यात्म, मर्यादा, ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, शिल्प-उद्योग आदि ऐसा कौन-सा विषय है, जिसका प्रतिपादन वेदोंमें न किया गया हो? यही कारण है कि मनीषियोंने वेदको कालातीत अक्षय ज्ञानका निधान कहा है। मनुष्य-जातिके प्राचीनतम इतिहास, सामाजिक नियम, राष्ट्रधर्म, सदाचार, कला, त्याग, सत्य आदिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये एकमात्र साधन वेद ही हैं।

वेदमें जो विषय प्रतिपादित हैं, वे मानवमात्रका मार्गदर्शन करते हैं। मनुष्यको जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त प्रतिक्षण कब क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, साथ ही प्रातःकाल जागरणसे रात्रि-शयनपर्यन्त सम्पूर्ण चर्या और क्रिया-कलाप ही वेदोंके प्रतिपाद्य विषय हैं। इस प्रकार वेदका अन्तिम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति ही है। ईश्वरोपासना, योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, विद्याप्राप्ति, ब्रह्मचर्य-पालन तथा सत्संग आदि मुक्तिके साधन बतलाये गये हैं। कर्मफलकी प्राप्तिके लिये पुनर्जन्मका प्रतिपादन, आत्मोन्नतिके लिये संस्कारोंका निरूपण, समुचित जीवन-यापनके लिये वर्णाश्रमकी व्यवस्था तथा जीवनकी पवित्रताके निमित्त भक्ष्याभक्ष्यका निर्णय करना वेदोंकी मुख्य विशेषता है।

कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड—इन तीन विषयोंका वर्णन मुख्यतः वेदोंमें मिलता है। कर्मकाण्डमें यज्ञ-यागादि विभिन्न क्रिया-कलापोंका प्रतिपादन विशेषरूपसे हुआ है। यज्ञके अन्तर्गत देवपूजा, देवतुल्य ऋषि-महर्षियोंका संगतिकरण (सत्संग) और दान—ये तीनों होते हैं। वैदिक मन्त्रोंद्वारा देवताओंकी तृप्तिके उद्देश्यसे किये हुए द्रव्यके दानको यज्ञ कहते हैं—

मन्त्रैर्देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य दानं यागः।

तैत्तिरीयसंहिता (३। १०। ५)-में यह बात आती है कि द्विज जन्म लेते ही ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋणोंका ऋणी बन जाता है। ब्रह्मचर्यके द्वारा ऋषि-ऋणसे, यज्ञके द्वारा देव-ऋणसे और संततिके द्वारा पितृ-ऋणसे मुक्ति होती है। अतः इन ऋणोंसे मुक्तिहेतु तत्तत्-प्रतिपादक अवश्यानुष्ठेय यज्ञोंका सम्पादन करना चाहिये।

यज्ञ नित्य और नैमित्तिक दो प्रकारके होते हैं। जिन कर्मोंके करनेसे किसी फलकी प्राप्ति नहीं होती और न करनेसे पाप लगते हैं, उन्हें नित्य (यज्ञ) कर्म कहते हैं।

जैसे—संध्या-वन्दन, पञ्चमहायज्ञादि। पञ्चमहायज्ञ करनेसे आत्मोन्नतिके साथ-साथ पूर्वजन्मके पापोंसे निवृत्ति भी होती है—

सर्वगृहस्थैः पञ्चमहायज्ञा अहरहः कर्तव्याः।

अर्थात् गृहस्थमात्रको प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करना चाहिये। पञ्चमहायज्ञके अन्तर्गत ये हैं—(१) 'ब्रह्मयज्ञ'—वेदोंके स्वाध्यायको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। (२) 'देवयज्ञ'—अपने इष्टदेवकी उपासना, परब्रह्म परमात्माके निमित्त की गयी पूजा और हवनको देवयज्ञ कहते हैं। (३) 'भूतयज्ञ'—कृमि, कीट-पतंग, पशु और पक्षीकी सेवाको भूतयज्ञ कहते हैं। (४) 'पितृयज्ञ'— परलोकगामी पितरोंके निमित्त पिण्डदानादि श्राद्ध एवं तर्पणको पितृयज्ञ कहते हैं और (५) 'मनुष्ययज्ञ'—क्षुधा-पीड़ित मनुष्यके घर आ जानेपर उसकी भोजनादिसे की जानेवाली सेवारूप यज्ञको अर्थात् अतिथि-सेवाको मनुष्ययज्ञ कहते हैं।

नैमित्तिक कर्म मुख्यतया दो प्रकारके होते हैं—श्रौत और स्मार्त। श्रुतिप्रतिपादित यज्ञोंको श्रौतयज्ञ और स्मृति-प्रतिपादित यज्ञोंको स्मार्तयज्ञ कहते हैं। श्रौतयज्ञमें केवल वैदिक मन्त्रोंका प्रयोग होता है तथा स्मार्तयज्ञोंमें वैदिक, पौराणिक एवं तान्त्रिक मन्त्रोंका भी प्रयोग होता है।

उपर्युक्त सभी प्रकारके यज्ञ सात्त्विक, राजसिक और तामसिक-भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। जो यज्ञ निष्कामभावसे प्रभुकी प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं, उन्हें सात्त्विक यज्ञ कहते हैं। जो यज्ञ सकाम अर्थात् किसी फल-विशेषकी इच्छासे किये जाते हैं, उन्हें राजसिक यज्ञ कहा जाता है और जो यज्ञ शास्त्रविरुद्ध किये जाते हैं, वे तामसिक कहलाते हैं। सात्त्विक यज्ञका अनुष्ठान सर्वोत्तम कहा गया है, शास्त्रोंमें इसका महान् फल बतलाया गया है।

एक प्रश्न उठता है कि यज्ञ-यागादि वैदिक कर्मोंकी फलश्रुतिमें स्वर्गप्राप्तिकी बात कही गयी है। तब जो व्यक्ति स्वर्ग न चाहता हो, मोक्ष ही चाहता हो तो उसके लिये वैदिक कर्मकी आवश्यकता ही क्या हो सकती है? इसका उत्तर बृहदारण्यकोपनिषद् (४। ४। २२)-के वचनसे मिलता है—

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।

ब्राह्मण लोग वेदाध्ययनसे, कामनारहित यज्ञ, दान और तपसे उस ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करते हैं—इस वचनमें '**अनाशकेन**' (**कामनारहितेन**)-पद विशेष अर्थपूर्ण है। इसका यही अर्थ है कि वेदोक्त यज्ञादि कर्म जब आसक्तिसहित किये जाते हैं, तब उनसे स्वर्गलाभ होता है और जब आसक्तिरहित किये जाते हैं, तब काम-क्रोधादिकोंसे मुक्त होकर कर्ताका चित्त शुद्ध हो जाता है तथा वह मोक्षका अधिकारी बन जाता है। यही बात गीतामें भगवान्‌ने कही है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(१८। ५-६)

यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्याज्य नहीं हैं, अवश्य करणीय हैं; क्योंकि वे मनीषियोंको पावन करते हैं। इन कर्मोंको भी आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके करना चाहिये, यही मेरा निश्चित उत्तम मत है। यहाँ उपनिषद्के '**अनाशकेन**' पदको ही गीताके '**सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च**' शब्दोंने विशद किया है।

अतः जो मनुष्य अपना आत्यन्तिक कल्याण चाहता है अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना चाहता है, उसे वैदिक कर्मकाण्डके फलरूप स्वर्गभोगकी इच्छा न रखते हुए निष्कामभावसे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही कर्म करते रहना चाहिये। यह बात मुण्डकोपनिषद् (१। २। ७)-में भी आयी है।

मनुष्यका चित्त अनेक प्रकारके कुकर्मोंसे मलिन हो जानेके कारण, इन सब मलोंको हटानेके लिये सत्कर्मोंका किया जाना आवश्यक है। सत्कर्म कराना ही वैदिक कर्मकाण्डका उद्देश्य है। वेदोक्त कर्मोंके करनेसे चित्त शुद्ध होता है और तब ब्रह्मविद्या अथवा ज्ञानकी बातें श्रवण करनेसे फलवती होती हैं।

वेदोक्त कर्मोंको करनेके लिये वर्णाश्रमधर्मका पालन करना भी अत्यन्त अनिवार्य है। वेदोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंकी व्यवस्था बतायी गयी है। साथ ही इन चारों वर्णोंके कर्तव्योंका

भी निरूपण है। इसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आदि चार आश्रमोंका निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य-आश्रममें ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—द्विज-बालकोंका उपनयन-संस्कार करानेकी विधि है, जिससे वे वेदोक्त कर्म करनेके अधिकारी बनते हैं। इस आश्रममें विद्याध्ययनके बाद गृहस्थाश्रममें अग्नि और देवताके साक्षीमें विवाह-संस्कारका प्रतिपादन किया गया है तथा गृहस्थाश्रमके नियमोंका प्रतिपादन हुआ है। तदनन्तर सांसारिक प्रपञ्चोंसे निवृत्त होकर एकमात्र परमात्मप्रभुकी उपासनामें संलग्न होनेके लिये वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रमकी व्यवस्थाका निरूपण हुआ है।

वेदोंमें सूक्त

वेदोंमें यत्र-तत्र सूक्तरूपी अनेक मुक्तामणियाँ बिखरी पड़ी हैं, जिनमें व्यक्तिकी अभीष्ट-सिद्धिके अमोघ उपादान अन्तर्निहित हैं। निष्ठा एवं आस्थाके द्वारा व्यक्ति अपनी विविध कामनाओंकी पूर्ति इनके माध्यमसे करनेमें समर्थ है। वेदमन्त्रोंके समूहको सूक्त कहा जाता है। जिसमें एकदैवत्य तथा एकार्थका ही प्रतिपादन रहता है। वेदवर्णित सूक्तोंमें इन्द्र, विष्णु, रुद्र, उषा, पर्जन्य प्रभृति देवताओंकी अत्यन्त सुन्दर और भावाभिव्यञ्जक प्रार्थनाएँ हैं। वैदिक देवताओंकी स्तुतियोंके साथ लौकिक एवं धार्मिक विषयोंसे सम्बद्ध तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण अनेक सूक्त हैं, इनमें आध्यात्मिक सूक्त दिव्य ज्ञानसे ओतप्रोत हैं, जिन्हें दार्शनिक सूक्तके रूपमें भी जाना जाता है। वेदके दार्शनिक सूक्तोंमें पुरुषसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त, वाक्सूक्त तथा नासदीयसूक्त आदि प्रसिद्ध हैं। इन सूक्तोंमें ऋषियोंकी ज्ञान-गम्भीरता तथा सर्वथा अभिनव कल्पना परिलक्षित होती है। समस्त दार्शनिक सूक्तोंके बीच नासदीयसूक्तका अपना विशेष महत्त्व है।

नासदीयसूक्तमें सृष्टिके मूल तत्त्व, गूढ रहस्यका वर्णन किया गया है। सृष्टि-रचना-जैसा महान् गम्भीर विषय ऋषिके चिन्तनमें किस प्रकार प्रस्फुटित होता है—यह नासदीयसूक्तमें देखनेको मिलता है। इस सूक्तमें सृष्टिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अत्यन्त सूक्ष्मताके साथ विचार किया गया है, इसलिये यह सूक्त सृष्टि-सूक्तके नामसे भी जाना जाता है।

इस सूक्तके प्रथम भागमें सृष्टिके पूर्वकी स्थितिका वर्णन है। उस अवस्थामें सत्-असत्, मृत्यु-अमरत्व अथवा रात्रि-दिवस—यह कुछ भी नहीं था। न अन्तरिक्ष था, न आकाश था, न कोई लोक था, न जल था। न कोई भोग्य था, न भोक्ता था। सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार था। उस समय तो केवल एक तत्त्वका ही अस्तित्व था, जो वायुके बिना भी श्वास ले रहा था।

द्वितीय भागमें कहा गया है कि जो नाम-रूपादि-विहीन एकमात्र सत्ता थी, उसीकी महिमासे संसाररूपी कार्य-प्रपञ्च प्रादुर्भूत हुआ।

तृतीय भागमें सृष्टिकी दुर्ज्ञेयताका निरूपण किया गया है। समस्त ब्रह्माण्डमें ऐसा कोई भी नहीं है, जो यह कह सके कि सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई। संसार-सृष्टिके परम गूढ रहस्यको यदि कोई जानते हैं तो केवल वे जो इस समस्त सृष्टिके अधिष्ठाता हैं। उनके अतिरिक्त इस गूढ तत्त्वको कोई नहीं जानता।

नासदीयसूक्तकी गणना विश्वके शिखर-साहित्यमें होती है। सूक्तमें आध्यात्मिक धरातलपर विश्व-ब्रह्माण्डकी एकताकी भावना स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त हुई है। भारतीय संस्कृतिमें यह धारणा निश्चित है कि विश्व-ब्रह्माण्डमें एक ही सत्ता विद्यमान है, जिसका नाम-रूप कुछ भी नहीं है। इस सूक्तमें इसी सत्यकी अभिव्यक्ति है।

वेदोंमें आध्यात्मिक संदेश

वेद चाहते हैं कि व्यक्तिके चित्तवृत्तिरूप राज्यमें प्रतिपल पवित्र, वरेण्य एवं उर्वर विचार-सरिता बहती रहे, जिससे अन्तःकरणमें सद्वृत्तियाँ जाग्रत् होती रहें—'**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्**' (ऋक्० ३। ६२। १०)—सच्चिदानन्दरूप परमात्मन्! आपके प्रेरणादायी विशुद्ध तेजःस्वरूपभूत दिव्यरूपका हम अपने हृदयमें नित्य ध्यान करते हैं, उससे हमारी बुद्धि निरन्तर प्रेरित होती रहे। आप हमारी

बुद्धिको अपमार्गसे रोककर तेजोमय शुभ मार्गकी ओर प्रेरित करें। उस प्रकाशमय पथका अनुसरण कर हम आपकी ही उपासना करें और आपको ही प्राप्त हों।

वेदोंकी भावना है कि हम ईश्वरको अनन्य एकाग्रतासे, उपासनासे प्रसन्न करें और वे हमारे योग-क्षेमादिको सर्वदा सम्पन्न करें। 'संसारको धारण करनेवाले भगवन्! हमारी अभिलाषाएँ आपको छोड़कर अन्यत्र न कहीं गयी हैं, न कदापि कहीं जाती ही हैं, अतः आप अपनी कृपाद्वारा हमें सब प्रकार सामर्थ्यसे सम्पन्न करें' (ऋक्० ८। २४। ११)।

ज्ञानकी पराकाष्ठापर भक्तिका उदय होकर भक्तिके सदा परिपूर्ण होनेसे वृत्तिमें मुक्तिकी वासना भी नहीं उठती है—ऐसा जीवन ही वैदिक जीवन-संस्कृतिका आदर्श है—

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥

(अथर्व० १। ५। २, ऋक्० १०। ९। २)

'प्रभो! जो आपका आनन्दमय भक्तिरस है, आप हमें वही प्रदान करें। जैसे शुभकामनामयी माता अपनी संतानको संतुष्ट एवं पुष्ट करती है, वैसे ही आप (मुझपर) कृपा करें।'

वेदमें ईश्वरसे प्रार्थना की गयी है कि वह हमें सन्मार्गपर लाये, हमारे अन्तःकरणको उज्ज्वल कर आत्मश्रेयके सर्वोच्च-शिखरको प्राप्त करा दे—

भद्रं मनः कृणुष्व।

(सामवेद १५६०)

'हे प्रभु! आप हमारे मनको कल्याण-मार्गमें प्रेरित करें।'

वेदोंकी मान्यता है कि तपःपूत जीवनसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है—

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।
यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥

(अथर्व० ४। ३५। ६)

'जो प्रभु-गुण-गान करनेवाली गायत्रीद्वारा अपने जीवनकी आत्मशुद्धि कर स्वामी बन गया है, जिसने सब पदार्थोंका निरूपण करनेवाले ईश्वरीय ज्ञान—वेदको पूर्णतः धारण कर लिया है, वही मानव वेदज्ञानरूपी पके हुए ओदनके ग्रहण-सदृश मृत्युको पारकर मोक्षपद प्राप्त करता है; जो मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य है।'

गायत्रीमन्त्रको वेदका सार-सर्वस्व कहा गया है। यह सम्पूर्ण मन्त्रोंमें सर्वोपरि मन्त्र है। इसमें परब्रह्म परमात्मासे सद्बुद्धि प्रदान करनेकी प्रार्थना की गयी है। कहते हैं कि मात्र गायत्रीमन्त्रके जपसे भी व्यक्तिको वेदके स्वाध्यायका फल प्राप्त हो जाता है, अतः स्नान-संध्याके अनन्तर पवित्रावस्थामें यथासाध्य द्विजको गायत्री-मन्त्रका जप अवश्य करना चाहिये। इस मन्त्रके जपमें भगवती गायत्री अथवा अपने इष्टदेवका ध्यान करना चाहिये।

वेद भगवान्का संविधान है। इनमें अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिनसे शिक्षा प्राप्तकर मनुष्य अध्यात्मके सर्वोच्च शिखरपर पहुँच सकता है। वेदोंमें इस लोकको सुखमय तथा परलोकको कल्याणमय बनानेकी दृष्टिसे मनुष्यमात्रके लिये आचार-विचारके पालनका विधान तो किया ही गया है, साथ ही आध्यात्मिक साधनाके बाधक अनेक निन्दित कर्मोंसे दूर रहनेका निर्देश भी दिया गया है। जैसे—

अक्षैर्मा दीव्यः।

(ऋक्० १०। ३४। १३)

'जूआ मत खेलो।'

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

(यजु० ४०। १)

'पराये धनका लालच न करो।'

मा हिंसीः पुरुषान्पशूंश्च।

(अथर्व० ६। २)

'मनुष्य और पशुओंको मन, कर्म एवं वाणीसे (किसी भी प्रकार) कष्ट न दो।'

देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीरका प्रयोजन सकल दुःख-निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति है। वेदोंके प्रति पूर्ण निष्ठा रखकर और उनके बताये गये मार्गपर चलकर ही मानव इसे प्राप्त कर सकता है।

मानवमात्रके लिये अन्तिम उपदेश है—'सत्यके मार्गपर चलो'—'**ऋतस्य पथा प्रेत**' (यजु० ७। ४५)। यही है वेदका आध्यात्मिक संदेश।

—राधेश्याम खेमका

मन्त्रद्रष्टा आचार्य वसिष्ठ

अध्यात्म-ज्ञान तथा योग, वैराग्य, शम-दम, तितिक्षा, अपरिग्रह, शौच, तप, स्वाध्याय एवं संतोष और क्षमाकी प्रतिमूर्ति आचार्य वसिष्ठके माङ्गलिक नामसे शायद ही कोई अपरिचित होगा। आपको अपनी दीर्घकालीन समाधिरूप साधनामें भगवद्विग्रहरूप वैदिक ऋचाओंका साक्षात् दर्शन हुआ था, इसीलिये आप 'मन्त्रद्रष्टा' कहलाते हैं। आपकी सदाचारपरायणता तथा कर्मयोगपरायणता न केवल निवृत्तिमार्गके साधकोंके लिये ही, अपितु प्रवृत्तिमार्गावलम्बियोंके लिये भी सदासे अनुकरणीय रही है। आपका जीवन-दर्शन आदर्शकी पराकाष्ठाका भी अतिक्रमण कर जाता है, इसी कारण महर्षि वसिष्ठका स्थान सभी मन्त्रद्रष्टा आचार्योंमें अन्यतम स्थान ग्रहण करता है। आपको वेदोंके अनेक सूक्तों एवं मन्त्रोंके प्रत्यक्ष दर्शन हुए हैं। विशेषरूपसे दस मण्डलोंमें विभक्त ऋग्वेदके सप्तम मण्डलके आप द्रष्टा कहे जाते हैं, इसीलिये ऋग्वेदका सप्तम मण्डल 'वासिष्ठमण्डल' कहलाता है।

इस वासिष्ठमण्डलकी विशेषताका वर्णन करनेसे पूर्व महर्षि वसिष्ठजीके दिव्य पावन चरित्रका आख्यान उपस्थित करना आवश्यक प्रतीत होता है। अस्तु, उसे संक्षेपमें प्रस्तुत किया जा रहा है—

महर्षि वसिष्ठजीकी महिमा सर्वोपरि है। वेदों तथा पुराणेतिहास-ग्रन्थोंमें महर्षि वसिष्ठजीका मङ्गलमय चरित्र बड़े ही समारोहके साथ अनुग्रथित है। कहीं-कहीं इनका आख्यान भिन्न-भिन्नरूपसे भी वर्णित हुआ है और इन्हें अत्यन्त दीर्घजीवीके रूपमें गुम्फित किया गया है। सप्तर्षियोंमें आपका परिगणन है। देवी अरुन्धती आपकी धर्मपत्नी हैं। ये पतिव्रताओंकी आदर्श हैं। इनका महर्षि वसिष्ठसे कभी अलगाव नहीं होता। सप्तर्षि-मण्डलमें महर्षि वसिष्ठके साथ माता अरुन्धती भी विराजमान रहती हैं। अखण्ड सौभाग्य और उच्चतम श्रेष्ठ दाम्पत्यके लिये महर्षि वसिष्ठ एवं अरुन्धतीकी आराधना की जाती है।

इनके आविर्भावकी भी अनेक कथाएँ हैं। कहीं ये ब्रह्माजीके मानस-पुत्र, कहीं मित्रावरुणके पुत्र, कहीं आग्नेयपुत्र और कहीं प्राणतत्त्वसे उद्भूत कहे गये हैं। ब्रह्मशक्तिके मूर्तिमान्-स्वरूप तथा तप:शक्तिके विग्रह महर्षि वसिष्ठजीके अतिदीर्घकालीन साधनाओंके प्रतिफलमें उनका अनेक प्रकारसे आविर्भूत होना अस्वाभाविक नहीं, अपितु सहज ही प्रतीत होता है।

जब इनके पिता ब्रह्माजीने इन्हें सृष्टि करनेकी और भूमण्डलमें आकर सूर्यवंशी राजाओंका पौरोहित्य करनेकी आज्ञा दी, तब इन्होंने उस कार्यमें हिचकिचाहट प्रकट की। फिर ब्रह्माजीने समझाया कि इसी वंशमें आगे चलकर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका पूर्णावतार होनेवाला है, तब महर्षि वसिष्ठने इस कार्यको सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसके बाद इन्होंने सर्वदा अपनेको सर्वभूतहितमें लगाये रखा। जब कभी अनावृष्टि हुई, दुर्भिक्ष पड़ा, तब इन्होंने अपने तपोबलसे वर्षा करायी और जीवोंकी अकालमृत्युसे रक्षा की। इक्ष्वाकु, निमि आदि चक्रवर्ती सम्राटोंसे अनेक यज्ञ करवाये। जब अपने पूर्वजोंके असफल हो जानेके कारण गङ्गाको लानेमें राजा भगीरथको निराशा हुई, तब इन्हींकी कृपासे राजा भगीरथ पतितपावनी गङ्गाको पृथ्वीपर लानेमें सफल हुए और तभीसे गङ्गाका नाम 'भागीरथी' पड़ गया। राजा दिलीप संतान न होनेसे दुःखी थे। इन्हींके उपदेशसे नन्दिनीकी सेवाके फलस्वरूप उन्हें महाराज रघु-जैसा प्रतापी पुत्र प्राप्त हुआ। राजा दशरथसे पुत्रेष्टि-यज्ञ करवाकर इन्होंने भगवान् श्रीरामको इस धराधामपर अवतीर्ण कराया और श्रीरामको अपने शिष्यरूपमें प्राप्त कर इन्होंने अपना पुरोहित-जीवन सफल किया। भगवान् श्रीरामके भी ये गुरु रहे हैं, अत: इनकी विद्या-बुद्धि, योग-ज्ञान, सर्वज्ञता तथा आचारनिष्ठताकी कोई सीमा नहीं है। इन्होंने भगवान् श्रीरामको जो उपदेश दिया, वह ग्रन्थके रूपमें 'योगवासिष्ठ' के नामसे प्रसिद्ध हो गया। महर्षि वेदव्यास एवं महाज्ञानी शुकदेव आचार्य वसिष्ठजीकी ही पुत्र-प्रपौत्र-परम्परामें समादृत हैं।

महर्षि विश्वामित्रका क्षात्रबल इनके ब्रह्मतेजके सामने अस्तित्वविहीन हो गया। इनमें क्रोध लेशमात्र भी नहीं है, क्षमा तो इनके जीवनमें सब प्रकारसे अनुस्यूत है। जिस समय विश्वामित्रने इनके सौ पुत्रोंका संहार कर दिया, उस समय भी वे अविचल ही बने रहे, सामर्थ्य रहनेपर भी उन्होंने विश्वामित्रके किसी प्रकारके अनिष्टका चिन्तन नहीं

किया, प्रत्युत क्षमा-धर्मका ही परिपालन किया।

एक बार बात-ही-बातमें विश्वामित्रजीसे इनका विवाद छिड़ गया कि तपस्या बड़ी है या सत्संग। वसिष्ठजीका कहना था कि सत्संग बड़ा है और विश्वामित्रजीका आग्रह था कि तपस्या बड़ी है। इस विवादका निर्णय करानेके लिये अन्तमें दोनों शेषभगवान्‌के पास पहुँचे। सब बातें सुनकर शेषभगवान्‌ने कहा—'भाई! अभी तो मेरे सिरपर पृथ्वीका भार है। आप दोनोंमेंसे कोई एक थोड़ी देरके लिये इसे ले ले तो मैं निर्णय कर सकता हूँ।' विश्वामित्र अपनी तपस्याके घमंडमें फूले हुए थे, उन्होंने दस हजार वर्षकी तपस्याके फलका संकल्प किया और पृथ्वीको अपने सिरपर धारण करनेकी चेष्टा की। पृथ्वी काँपने लगी, सारे संसारमें तहलका मच गया। तब वसिष्ठजीने अपने सत्संगके आधे क्षणके फलका संकल्प करके पृथ्वीको धारण कर लिया और बहुत देरतक धारण किये रहे। अन्तमें जब शेषभगवान् फिर पृथ्वीको लेने लगे, तब विश्वामित्र बोले—'अभी आपने निर्णय सुनाया ही नहीं।' शेषभगवान् हँस पड़े। उन्होंने कहा—'निर्णय तो अपने-आप हो गया। आधे क्षणके सत्संगकी बराबरी हजारों वर्षकी तपस्या नहीं कर सकी।' इस प्रकार महर्षि वसिष्ठजीका माहात्म्य सब प्रकारसे निखर उठनेपर भी उनमें लेशमात्र अभिमान प्रविष्ट नहीं हो पाया था।

महर्षि वसिष्ठ सबके हितचिन्तन एवं कल्याणकी कामनामें लगे रहते हैं। इनका अपना कोई स्वार्थ नहीं, सदा परमार्थ-ही-परमार्थ। भगवद्भक्तोंमें आपकी गणना प्रथम पंक्तिमें होती है। आपकी गोसेवा एवं गोभक्ति सभी गोभक्तोंके लिये आदर्शभूत रही है। कामधेनुकी पुत्री नन्दिनी नामक गौ आपके आश्रममें सदा प्रतिष्ठित रही। अरुन्धतीजीके साथ आप नित्य उसकी सेवा-शुश्रूषा किया करते थे और अनन्त शक्तिसम्पन्न होमधेनु नन्दिनीके प्रभावसे आपको दुर्लभ पदार्थ भी सदा सुलभ रहता था।

महर्षि वसिष्ठ सूर्यवंशी राजाओंके कुलपुरोहित रहे। महाराज निमिने एक यज्ञमें इन्हें वरण किया था, परंतु ये इसके पहले इन्द्रके यज्ञमें वृत हो चुके थे, इसलिये राजा निमिको रुकनेके लिये कहकर ये देवलोक चले गये। वहाँ यज्ञ सम्पन्न कराकर लौटे तो सुना कि अगस्त्य आदिसे निमिने यज्ञ करा डाला। इसपर क्रुद्ध होकर इन्होंने निमिको चेतनाशून्य हो जानेका शाप दे दिया। इसपर निमिने भी इन्हें ऐसा ही शाप दे डाला। अन्तमें ब्रह्माके उपदेशसे ये मित्रावरुणके पुत्रके रूपमें पुनः उत्पन्न हुए और महाराज इक्ष्वाकुने अपने वंशके हितार्थ इन्हें पुनः कुलपुरोहित बनाया। गोत्रकार ऋषियोंमें महर्षि वसिष्ठका गोत्र विशेष महत्त्व रखता है। इस प्रकार महर्षि वसिष्ठका जीवन-दर्शन तथा उनका कृतित्व सभीके लिये मङ्गलकारी है।

वेदोंमें जो उनका चरित्र प्राप्त होता है, उसमें बताया गया है कि महर्षि वसिष्ठ इन्द्रादि देवोंके महान् भक्त रहे हैं और देवताओंसे उनका नित्य साहचर्य रहा है। ये अश्विनीकुमारोंके सदा कृपापात्र बने रहे (ऋक्० १। ११२। ९)। भगवान् अग्निदेवकी स्तुतियोंसे इन्हें बहुत आनन्द प्राप्त होता रहा (ऋक्० ७। ७। ७)। ऋग्वेदमें बताया गया है कि महर्षि वसिष्ठ हजार गायोंके अधिपति और विद्या तथा कर्ममें महान् थे—

इदं वचः शतसाः संसहस्त्रमुदग्नये जनिषीष्ट द्विबर्हाः।

(ऋक्० ७। ८। ६)

इस मन्त्रभागके सायणभाष्यमें लिखा है—'**शतसाः गवां शतस्य संभक्ता संसहस्रं गवां सहस्त्रेण च संयुतः द्विबर्हा द्वाभ्यां विद्याकर्मभ्यां बृहन् वसिष्ठाः द्वयोः स्थानयोर्द्युलोकयोः महान् वा।**'

अग्निदेवके साथ ही इन्होंने इन्द्रदेवकी भी स्तुतियाँ की हैं। ऋग्वेद (७। ३३। २)-में बताया गया है कि भगवान् इन्द्र दूसरेका यज्ञ छोड़कर इनके यज्ञमें आया करते थे। इन्द्रकी कृपासे वसिष्ठ-पुत्रोंने अनायास ही सिन्धु नदीको पार किया था। वसिष्ठ और पराशरके प्राणोंके शत्रु अनेक राक्षस थे, किंतु इन्द्रकी उपासनाके कारण इनकी कोई हानि नहीं हो सकी थी (ऋक्० ७। १८। २१)। इन्हींके मन्त्र-बलसे दाशराज-युद्धमें इन्द्रने सुदास राजाकी रक्षा की थी। तृत्सुनरेश राजा सुदासके पुरोहित महर्षि वसिष्ठ थे और दूसरे दलके नेता महर्षि विश्वामित्र थे, जिसमें दस राजाओंका संघ था। दस राजाओंकी सेना जो महर्षि विश्वामित्रकी शक्तिसे सम्पन्न थी, इस युद्धमें पराजित हो गयी। दस राजा होनेके कारण ही यह युद्ध 'दाशराज-युद्ध' कहलाता है। इसमें राजा सुदासको विजय प्राप्त हुई, जिसके अधिपति महर्षि वसिष्ठ थे। इस विजयगाथाका वर्णन महर्षि वसिष्ठने ऋग्वेदके सप्तम मण्डलके तीन सूक्तों (१८, ३३ तथा ८३)-में बड़े ही ओजस्वी स्वरमें किया है। इस प्रकार जहाँ महर्षि

वसिष्ठ अपरिग्रह और त्याग-वैराग्यके उपासक हैं, वहीं वे युद्धनीति एवं अस्त्रविद्याके भी महनीय आचार्य हैं।

ऋग्वेदादिमें महर्षि वसिष्ठके बारह पुत्रोंका उल्लेख है, जो मन्त्रद्रष्टा भी कहे गये हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—मन्यु, उपमन्यु, व्याघ्रपात्, मृळीक, वृषगण, प्रथ, इन्द्र-प्रमति, द्युम्नीक, चित्रमहाः, कर्णश्रुत्, वसुक्र तथा शक्ति। इनके साथ ही चार प्रपौत्र हैं—वसुकृद् वासुक्र, वसुकर्ण वासुक्र, पराशर शाक्त्य तथा गौरवीति शाक्त्य। ये भी मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं।

महर्षि वसिष्ठके पुत्रोंने योगबलसे समाधि-दशामें वसिष्ठके जन्म-रहस्यका ज्ञान प्राप्त किया था। ऋग्वेदके सप्तम मण्डलके ३३वें सूक्तके द्रष्टा ऋषि वसिष्ठके पुत्रगण हैं। इसमें महर्षि वसिष्ठके आविर्भावके विषयमें उनके पुत्रगण उनकी महिमा निरूपित करते हुए कहते हैं—

हे वसिष्ठ! देह धारण करनेके लिये विद्युत्के समान अपनी ज्योतिका त्याग करते हुए तुम्हें मित्र और वरुणने देखा था, उस समय तुम्हारा एक जन्म हुआ। मूल मन्त्र इस प्रकार है—

विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत् ते जन्मोतैकं वसिष्ठाऽगस्त्यो यत् त्वा विश आजभार॥

(ऋक्० ७। ३३। १०)

इसी प्रकार आगे मन्त्रोंमें कहा गया है कि वसिष्ठ! तुम मित्र और वरुणके पुत्र हो। ब्रह्मन्! तुम उर्वशीके मनसे उत्पन्न हुए हो। यथा—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः।

(ऋक्० ७। ३३। ११)

यज्ञमें दीक्षित मित्र और वरुणने स्तुतिद्वारा प्रार्थित होकर कुम्भ (वसतीवर कलश)-में एक साथ ही शक्ति प्रदान किया था। उसी कुम्भसे वसिष्ठ और अगस्त्यका प्रादुर्भाव हुआ। मन्त्रमें कहा गया है—

सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥

(ऋक्० ७। ३३। १३)

ऋग्वेदका सप्तम मण्डल और महर्षि वसिष्ठ

सम्पूर्ण ऋग्वेद दस मण्डलोंमें विभक्त है। मण्डलोंके अन्तर्गत सूक्त हैं और सूक्तोंके अन्तर्गत अनेक ऋचाएँ समाहित हैं। प्रत्येक मण्डलके द्रष्टा ऋषि भिन्न-भिन्न हैं। तदनुसार सम्पूर्ण सप्तम मण्डलके मन्त्रद्रष्टा ऋषि वसिष्ठ तथा उनके पुत्रगण हैं। सप्तम मण्डलमें कुल १०४ सूक्त हैं, जिनमें देवस्तुतियाँ तथा अनेक कल्याणकारी बातोंका संनिवेश हुआ है। मुख्यरूपसे अग्नि, इन्द्र, वरुण, अश्विनी, मित्रावरुण, द्यावापृथिवी, आदित्य, विश्वेदेव, वास्तोष्पति, सविता, भग तथा ऊषा आदि देवताओंकी स्तुतियाँ की गयी हैं। इन सभी मन्त्रोंके द्रष्टा महर्षि वसिष्ठ ही हैं।

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलके अध्ययनसे कुछ विशेष बातें ज्ञात होती हैं, जिनसे महर्षि वसिष्ठजीके लोकोपकारी भावका परिज्ञान होता है। यहाँ कुछ प्रकरणोंको दिया जा रहा है—

देवता सभीका कल्याण करें

महर्षि वसिष्ठ अत्यन्त उदारचेता मनीषी रहे हैं। उन्होंने अपने अभ्युदयकी प्रार्थना देवताओंसे नहीं की, बल्कि वे सदा समष्टिके हितचिन्तन, समष्टिके कल्याणकी कामना करते रहे। गीताका '**सर्वभूतहिते रताः**' का सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शनमें परिव्याप्त रहा। महर्षि वसिष्ठद्वारा दृष्ट सप्तम मण्डलके अधिकांश सूक्तोंके मन्त्रोंमें एक पद आवृत होता है, जो इस प्रकार है—

'**यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः**'॥

इसका तात्पर्य है कि 'हे देवताओ! आप हम लोगोंका सदा कल्याण करते रहें।' आचार्य सायणने '**स्वस्ति**' शब्दका अर्थ शाश्वत कल्याण किया है—'**अविनाशि मङ्गलम्।**' ऐसा मङ्गल जो अविनाशी हो, कभी नष्ट न होनेवाला हो, क्षणिक न हो। अविनाशी कल्याण तो केवल पारमार्थिक अभ्युदय ही हो सकता है। इसमें लौकिक कल्याणको क्षीण मानते हुए भगवत्सांनिध्यकी ही अभिलाषा रखी गयी है, इस प्रकार स्पष्ट होता है कि महर्षि वसिष्ठ देवताओंसे प्रार्थना करते हैं कि संसारके चराचर सभी प्राणी परमार्थके पथिक बनें।

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलके प्रथम सूक्तमें २५ मन्त्र हैं, जिनमें मैत्रावरुणि वसिष्ठद्वारा अग्निदेवसे शुद्ध-बुद्धिकी कामना, वाणीमें परिष्कार, योगक्षेम, सुख-शान्ति और दीर्घ आयुकी प्रार्थना की गयी है। सप्तम मण्डलमें प्रथम सूक्तसे ही '**यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः**' यह पद प्रयुक्त है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

नू मे ब्रह्माण्यग्र उच्छशाधि त्वं देव मघवद्भ्यः सुषूदः।
रातौ स्यामोभयास आ ते यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

(ऋक्० ७। १। २०)

—इस मन्त्रमें अग्निदेवसे अखण्ड धनकी अभिलाषा की गयी है; ताकि उस धनसे हम देवपूजा, यज्ञ तथा लोकोपकारका कार्य कर सकें।

इसी प्रकार सप्तम मण्डलमें '**यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः**' यह ऋचांश लगभग सौसे भी अधिक बार आया है, इससे महर्षि वसिष्ठका सर्वभूत-हित-चिन्तन स्पष्ट होता है।

ऋग्वैदिक शान्ति-सूक्त (कल्याण-सूक्त)

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलका ३५ वाँ सूक्त 'शान्ति-सूक्त' कहलाता है। इन वैश्वदेवी ऋचाओंका महानाम्नीव्रतमें पाठ होता है। इस सूक्तके पाठसे शान्ति, कल्याण—मङ्गल तथा सब प्रकारसे देवताओंका अनुग्रह प्राप्त होता है। इस सूक्तमें १५ ऋचाएँ हैं, जिनमें महर्षि वसिष्ठने इन्द्र, अग्नि, वरुण, भग, अर्यमा, धाता, अश्विनी, द्यावापृथिवी, वसु, रुद्र, सोम, सूर्य, अदिति, मरुत्, विष्णु, पर्जन्य, विश्वेदेव, सरस्वती, गौ, ऋभु, पितर, अजैकपात् तथा अहिर्बुध्न्य आदि देवताओंसे शान्तिकी प्रार्थना की है। सूक्तका प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ॥

(ऋक्० ७। ३५। १)

—इसका भाव यह है कि इन्द्राग्नि, इन्द्रावरुण, इन्द्रासोम तथा इन्द्रापूषा आदि देवता हमारे लिये शान्तिकारक, मङ्गलकारक होवें, सब प्रकारसे हमारी रक्षा करें, हमें सुख-कल्याण प्रदान करें।

इस सूक्तकी अन्तिम ऋचा (१५)-में भी '**यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः**' यह पद आया है।

सप्तम मण्डलका रोग-निवारक भग-सूक्त

सप्तम मण्डलका ४१ वाँ सूक्त 'भग-सूक्त' कहलाता है। इस सूक्तमें ७ ऋचाएँ हैं। जिनमें महर्षि वसिष्ठने भगदेवतासे सभी प्रकारके रोगोंसे मुक्ति पानेकी प्रार्थना की है। 'ऋग्विधान' (२। २५)-में बतलाया गया है कि इस सूक्तका श्रद्धापूर्वक पाठ करनेसे असाध्यसे भी असाध्य रोगोंसे मुक्ति हो जाती है और दीर्घायुष्य प्राप्त होता है। महर्षियोंकी उक्ति है—

'निवेष्टकामो रोगार्तो भगसूक्तं जपेत् सदा।
निवेशं विशति क्षिप्रं रोगैश्च परिमुच्यते॥

भग-सूक्तका आदिम मन्त्र इस प्रकार है—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम॥

(ऋक्० ७। ४१। १)

वास्तोष्पति-सूक्त

वास—निवास-स्थान, गृह आदिके अधिष्ठाता देव वास्तुदेवता अथवा वास्तोष्पति हैं। जिस भूमिपर मनुष्यादि प्राणी वास करते हैं, उसे 'वास्तु' कहा जाता है। शुभ वास्तुमें रहनेसे शुभ-सौभाग्य एवं समृद्धिकी अभिवृद्धि होती है और अशुभ वास्तुमें रहनेसे इसके विपरीत फल होता है। जिस स्थानपर गृह, प्रासाद, यज्ञमण्डप, ग्राम, नगर आदिकी स्थापना करनी हो, उसके नैर्ऋत्यकोणमें वास्तुदेवका निर्माण करना चाहिये। वास्तुपुरुषकी प्रतिमा स्थापित कर पूजन-हवन किया जाता है। ऋग्वेदके अनुसार वास्तोष्पति साक्षात् परमात्माका नाम है, क्योंकि वे विश्वब्रह्माण्डरूपी वास्तुके स्वामी हैं। ऋग्वेदके सप्तम मण्डलका ५३वाँ सूक्त (तृतीय मन्त्र) तथा ५४वें सूक्तका प्रथम मन्त्र वास्तुदेवतापरक है। वास्तुदेवताका मुख्य मन्त्र इस प्रकार है—

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान् त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥

(ऋक्० ७। ५४। १)

—इस ऋचाके द्रष्टा महर्षि वसिष्ठ हैं। मन्त्रके भावमें वे कहते हैं—हे वास्तुदेव! हम आपके सच्चे उपासक हैं, इसपर आप पूर्ण विश्वास करें। तदनन्तर हमारी स्तुति-प्रार्थनाओंको सुनकर आप हम सभी उपासकोंको आधि-व्याधिसे मुक्त कर दें और जो हम अपने धन-ऐश्वर्यकी कामना करते हैं, आप उसे भी पूर्ण कर दें। साथ ही इस वास्तुक्षेत्र या गृहमें निवास करनेवाले हमारे स्त्री-पुत्रादि परिवार-परिजनोंके लिये कल्याणकारक हों तथा हमारे अधीनस्थ गौ, अश्वादि सभी चतुष्पद प्राणियोंका भी आप कल्याण करें।

मृत्युनिवारक त्र्यम्बक-मन्त्र

मृत्युनिवारक त्र्यम्बक-मन्त्र जो मृत्युञ्जय-मन्त्र भी कहलाता है, उसे महर्षि वसिष्ठने ही हमें प्रदान किया

है। मन्त्र इस प्रकार है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

(ऋक्० ७। ५९। १२)

आचार्य शौनकने ऋग्विधानमें इस मन्त्रके विषयमें बतलाया है कि नियमपूर्वक व्रत तथा इस मन्त्रद्वारा पायसके हवनसे दीर्घ आयु प्राप्त होती है, मृत्यु दूर हो जाती है तथा सब प्रकारका सुख प्राप्त होता है। इस मन्त्रके अधिष्ठाता देव भगवान् शङ्कर हैं।

अनावृष्टि दूर करनेका उपाय

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलका १०१वाँ सूक्त 'पर्जन्य-सूक्त' है। इसमें ६ ऋचाएँ हैं। आचार्य शौनकने बताया है कि सूर्याभिमुख होकर इन ६ ऋचाओंके पाठसे शीघ्र अनावृष्टि दूर हो जाती है और यथेच्छ वर्षा होती है, जिससे सभी वनस्पतियों तथा ओषधियोंका प्रादुर्भाव होता है और सब प्रकारका दुर्भिक्ष दूर हो जाता है तथा सुख-शान्ति प्राप्त होती है—

अनश्नतैतज्जप्तव्यं वृष्टिकामेन यत्नतः।
पञ्चरात्रेऽप्यतिक्रान्ते महतीं वृष्टिमाप्नुयात्॥

(ऋग्विधान २। ३२७)

ऋग्वेदके सप्तम मण्डलका अन्तिम १०४ वाँ सूक्त 'रक्षोघ्न-सूक्त' है, जिसमें महर्षि वसिष्ठने इन्द्र देवतासे सब प्रकारसे रक्षा करनेकी प्रार्थना की है, न केवल दुष्टोंसे अपितु काम, क्रोध, लोभ आदि जो बुराइयाँ हैं, उनसे भी दूर रहनेकी प्रार्थना की है (ऋग्वेद ७। १०४। २२)।

इसके साथ ही महर्षि वसिष्ठजीने सत्य, अहिंसा, मैत्री, सदाचार, लोककल्याण, विवेकज्ञान, पवित्रता, उदारता, शौच, संतोष, तप तथा देवताओं, पितरों, माता-पिता और गोभक्तिका उपदेश अनेक मन्त्रोंमें दिया है। ऋत (नैतिकता और सत्य)-की महिमाको महर्षिने विशेष महत्त्व दिया है, उन्होंने देवताओंको ऋतके पथपर चलनेवाला तथा ऋतको जाननेवाला कहा है—

'**ऋतज्ञाः** (ऋक्० ७। ३५। १५) तथा '**ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः**' (ऋक्० ७। ६६। १३)।

साथ ही महर्षिने अभिलाषा की है कि हम लोग सत्यके पथका अनुसरण करते हुए सौ वर्ष (दीर्घ समय)-तक जीवित रहें और सौ वर्षतक कल्याण-ही-कल्याण देखें—

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्॥

(ऋक्० ७। ६६। १६)

महर्षिका कृतित्व

इस प्रकार महर्षि वसिष्ठका दिव्य चरित्र सब प्रकारसे सन्मार्गकी प्रेरणा देता है। ऋग्वेदके अन्य मण्डलों तथा यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेदमें भी उनके द्वारा दृष्ट मन्त्र प्राप्त होते हैं। न केवल उन्होंने वैदिक ऋचाओंका ही दर्शन किया, अपितु उन्होंने धर्माधर्म तथा कर्तव्याकर्तव्यके लिये धर्मशास्त्रीय सदाचार-मर्यादाएँ भी नियत की हैं, जो उनके द्वारा निर्मित 'वसिष्ठधर्मसूत्र' तथा 'वसिष्ठस्मृति'में संगृहीत हैं। इनके उपदेश बड़े ही मार्मिक, उपयोगी तथा शीघ्र कण्ठस्थ होने योग्य हैं। धर्मकी परिभाषा करते हुए महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि श्रुति (वेद) तथा स्मृति (धर्मशास्त्र)-में जो विहित आचरण बतलाया गया है, वह धर्म है। यथा—

'**श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः**' (वसिष्ठ० १। ३)

धर्माचरणकी महिमा बतलाते हुए वे कहते हैं—

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत नानृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम्॥

(वसिष्ठ० ३०। १)

—इसका भाव यह है कि धर्मका ही आचरण करो, अधर्मका नहीं। सदा सत्य ही बोलो, असत्य कभी मत बोलो। दूरदर्शी बनो, संकीर्ण न बनो, उदार बनो, जो पर-परात्पर (दीर्घ) तत्त्व है उसीपर सदा दृष्टि रखो। तदतिरिक्त अर्थात् परमात्मासे भिन्न मायामय किसी भी वस्तुपर दृष्टि मत रखो। इसी प्रकार वसिष्ठ-स्मृतिके उपदेश बड़े ही सुन्दर हैं और भक्ति करने तथा भक्त बननेके उपाय भी उसमें निर्देशित किये गये हैं।

आचार्य वसिष्ठका योगवासिष्ठ ग्रन्थ तो सर्वविश्रुत है ही, उनका अध्यात्मज्ञान सभी ज्ञानोंमें सर्वोपरि है। इससे महर्षिकी ब्रह्मनिष्ठता स्पष्ट व्यक्त होती है।

इस प्रकार महर्षि वसिष्ठने वैदिक ऋचाओंमें जिन उपदेशोंका अनुभव किया, उनका इतिहास-पुराणादिमें विस्तार कर उन्हें सर्वसाधारणके लिये सुलभ करा दिया। महर्षि वसिष्ठका संसारपर महान् उपकार है। ऐसे युगद्रष्टा महर्षिको बार-बार प्रणाम है।

वैदिक सभ्यताके प्रवर्तक मनु

प्रत्येक कल्पके अन्तमें नैमित्तिक प्रलय हुआ करता है। गत कल्पके अन्तमें भी इस प्रकारका प्रलय होनेसे एक सप्ताह-पूर्व द्रविड देशके महाराज सत्यव्रत केवल जल पीकर शरीर-यात्राका निर्वाह करते हुए श्रीभगवान्की आराधना कर रहे थे। एक दिन कृतमाला नदीके तटपर उनके जीवसौहृदभावसे प्रसन्न होकर श्रीभगवान्ने उनसे कहा—'हे राजर्षे! आजसे सातवें दिन जब सम्पूर्ण त्रिलोकी प्रलय-जलमें विलीन होने लगेगी, तब तुम्हारे पास एक बहुत बड़ी नौका उपस्थित होगी। तुम सप्तर्षियोंकी सहायतासे वनस्पतियोंके बीजोंका उसमें संग्रह कर लेना। जबतक प्रलय-निशा रहेगी, तबतक तुम उस नौकामें रहकर मत्स्यरूपधारी मेरे साथ प्रश्नोत्तरका आनन्द लेना।' राजाने ऐसा ही किया। तदनन्तर ब्राह्मी निशाके अवसानमें ब्राह्म दिनका आरम्भ हुआ। लोकपितामह ब्रह्माजीके एक दिनमें चौदह मनु हुआ करते हैं—

यत्र मन्वन्तराण्याहुश्चतुर्दश पुराविदः॥

(श्रीमद्भा० ८। १४। ११)

वर्तमान दिनका नाम है श्वेतवाराहकल्प। इसमें आजकल जिन सातवें मनुका समय चल रहा है, उनका नाम है श्राद्धदेव। ये श्राद्धदेव पूर्वकल्पवाले महाराज सत्यव्रत हैं—

स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसंयुतः।
विष्णोः प्रसादात् कल्पेऽस्मिन्नासहीद् वैवस्वतो मनुः॥

(श्रीमद्भा० ८। २४। ५८)

श्राद्धदेव विवस्वान्के पुत्र हैं—

(अ) मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः।

(श्रीमद्भा० ८। १३। १)

(आ) योऽसावस्मिन् महाकल्पे तनयः स विवस्वतः।
श्राद्धदेव इति ख्यातो मनुत्वे हरिणार्पितः॥

(श्रीमद्भा० ८। २४। ११)

श्राद्धदेवके दस पुत्र हुए, जिनमें ज्येष्ठका नाम था इक्ष्वाकु, जो भारतीय इतिहासके प्रसिद्ध वंश-प्रवर्तक हुए हैं।

अर्जुनसे श्रीभगवान्ने कहा था कि प्राचीन कालमें मैंने इस योगका उपदेश विवस्वान्को दिया था। इसे ही विवस्वान्ने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको दिया था। इस प्रकरणमें गीतामें, जिन मनु महाराजका स्मरण किया गया है, वे ये ही श्राद्धदेव हैं।

ये अपने समयके बहुत बड़े समाज-व्यवस्थापक हुए हैं—इतने बड़े कि आजतक लाखों वर्ष बीत जानेपर भी इनकी बनायी व्यवस्था वेदानुयायी हिंदूमात्रके लिये सम्मान्य है। इनकी व्यवस्थामें यों तो सैकड़ों माननीय विषय हैं, तथापि वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था अद्वितीय हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थोंको इनकी व्यवस्थामें समुचित स्थान मिला है। मानव-जीवनको परिष्कृत करनेके उद्देश्यसे उन्होंने सोलह संस्कारोंका विधान किया; और गृहस्थके लिये पञ्चमहायज्ञों (स्वाध्याय, पितृतर्पण, हवन, प्राणिसेवा और अतिथि-सेवा)-का विधान तो विश्वमें सर्वत्र शान्तिप्रसारका मूलमन्त्र ही है।

भारतीय समाजको आदर्शरूप देनेके लिये मनुने एक शास्त्र (धर्मशास्त्र) उन दिनोंकी सूत्रशैलीमें बनाया, जिसका एक संस्करण 'मानव-धर्मसूत्र' के नामसे अब भी प्रचलित है। उसी सूत्रराशिके उपदेशको भृगुने (नारद-स्मृतिके अनुसार सुमति भार्गवने) लगभग ढाई हजार अनुष्टुप् छन्दोंका रूप देकर बारह अध्यायोंमें विभक्त कर दिया था, जो कि आजकल 'मनुस्मृति' के नामसे विदित है।

मनु आचार (सदाचार)-पर बहुत जोर देते हैं—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।

(मनु० १। १०८)

यही 'आचार' वाल्मीकिके महाकाव्य रामायणका 'चरित्र' है और व्यासके इतिहास महाभारतका 'धर्म' है।

प्रत्येक मनुष्य [विशेषकर भारतीय]-को मनुकी मेधाका कृतज्ञ होना चाहिये। मनुकी व्यवस्थाको यदि विश्वके सभी राष्ट्र अपना लें तो कितना अच्छा हो। वास्तवमें मनुका शासन-विधान इतना अच्छा है कि जर्मनीके दार्शनिक नीत्शेने ठीक ही कहा है—'मनुका धर्मशास्त्र बाइबिलसे भी कहीं ऊँचे दर्जेका है। मनुने जो कुछ कहा, वह वेदके आधारपर ही कहा'—

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

(मनु० २। ७)

इस प्रकार विश्वमें वैदिक सभ्यताका प्रकाश-विस्तार करनेवालोंमें मनुका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वेद और वेदव्यास

भारतीय संस्कृतिके प्राणतत्त्व वेद ही हैं, यह आर्यमेधाने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। भारतीय धर्म, दर्शन, अध्यात्म, आचार-विचार, रीति-नीति, विज्ञान-कला—ये सभी वेदसे अनुप्राणित हैं। जीवन और साहित्यकी कोई विधा ऐसी नहीं है जिसका बीज वैदिक वाङ्मयमें न मिले। समष्टि-रूपमें समग्र भारतीय साहित्य, जन-जीवन एवं सभ्यताकी आधारभूमि यदि वेदोंको ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

वेदोंका प्रादुर्भाव कब किसके द्वारा हुआ? इस सम्बन्धमें स्मृति-वचन ही प्रमाण है—

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'

अर्थात् वेदवाणी अनादि, अनन्त और सनातन है एवं ब्रह्माजीद्वारा उसे लोकहितार्थ प्रकट किया गया है।

वेद कितने हैं? इस सम्बन्धमें तैत्तिरीय (३। १०। ११३)-के कथनको यदि अधिमान दिया जाय तो मानना होगा कि वेदका कोई अन्त नहीं है—'**अनन्ता वै वेदाः**'। वस्तुतः ईश्वरीय ज्ञानकी कोई सीमा हो ही नहीं सकती, फिर भी अपने-अपने दृष्टिकोणसे इस सम्बन्धमें मन्थन कर कुछने वेदोंकी संख्या तीन तथा कुछने चार प्रतिपादित की है। अमरकोषमें प्रथम काण्डके शब्दादिवर्गमें वेदको त्रयी कहा गया है—'**श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी**' तथा '**स्त्रियामृक् सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी**' अर्थात् ऋक्, साम और यजु—वेदके तीन नाम हैं और तीनोंका समूह वेदत्रयी कहलाता है।

उपर्युक्त त्रयीके विपरीत महाकाव्यमें वेदोंकी संख्या चार बतायी गयी है—'**चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः।**' इसके अतिरिक्त चार संख्याके प्रतिपादक अन्य प्रमाण भी इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—

१. **ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।**
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः॥

(निरुक्त १। २)

२. **अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।** (बृ० उ० २। ४। १०)

३. **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः०।**

(मुण्डक० १। १। ५)

४-**चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः।** (गो० ब्रा० १। २। १६)

५-**ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दाꣳसि जज्ञिरे॥ तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥** (यजु० ३१। ७)

इस प्रकार उक्त प्रमाणोंमें चार वेदोंका स्पष्ट उल्लेख है।

कहा जाता है कि वेद पहले एक ही था, वेदव्यासजीने उसके चार भाग किये थे। महाभारतमें इस ऐतिहासिक तथ्यका उद्घाटन इस प्रकार किया गया है—

यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात् कृष्णत्वमेव च॥

अर्थात् 'जिन्होंने निज तपके बलसे वेदका चार भागोंमें विस्तार कर लोकमें व्यासत्व-संज्ञा पायी और शरीरके कृष्णवर्ण होनेके कारण कृष्ण कहलाये।' उन्हीं भगवान् वेदव्यासने ही वेदको चार भागोंमें विभक्त कर अपने चार प्रमुख शिष्योंको वैदिक संहिताओंका अध्ययन कराया। उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य पैलको ऋग्वेद, वैशम्पायनको यजुर्वेद, जैमिनिको सामवेद तथा सुमन्तुको अथर्ववेद-संहिताका सर्वप्रथम अध्ययन कराया था। महाभारत-युद्धके पश्चात् वेदव्यासजीने तीन वर्षके सतत परिश्रमके उपरान्त श्रेष्ठ काव्यात्मक इतिहास 'महाभारत' की रचना की थी। यह महाभारत पञ्चम वेद कहलाता है और इसे व्यासजीने अपने पञ्चम शिष्य लोमहर्षणको पढ़ाया था, जैसा कि महाभारतके अन्तःसाक्ष्यभूत इन श्लोकोंसे विदित होता है—

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम्॥
प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च।
संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिताः॥

(महा० आदि० ६३। ८९-९०)

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम्॥

(महा० आदि० ६२। ५२)

भगवान् वेदव्यासने वेदको चार भागोंमें विभक्त क्यों किया? इसका उत्तर श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार उपलब्ध होता है—

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः॥

(१। ३। २१)

अर्थात् महर्षि पराशरद्वारा सत्यवतीसे उत्पन्न वेदव्यासजीने कलियुगमें मानवकी अल्पबुद्धि देखकर (अर्थबोधकी सुगमताकी दृष्टिसे) वेदरूपी वृक्षकी चार शाखाएँ कर दीं। महाभारतके व्याजसे वेदव्यासजीने श्रुतिका अर्थ जन-सामान्यके लिये बोधगम्य बनाया—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।

महर्षि वेदव्यास भारतीय ज्ञान-गङ्गाके भगीरथ माने जाते हैं। इन्होंने भगीरथकी ही भाँति भारतीय लोक-साहित्यके आदियुगमें हिमालयके बदरिकाश्रममें अखण्ड समाधि लगाकर अध्यात्म, धर्मनीति और पुराणकी त्रिपथगाका पहले स्वयं साक्षात्कार कर फिर साहित्य-साधनाद्वारा देशके आर्षवाङ्मयको पावन बनाया एवं लोक-साहित्यको गति प्रदान की। अनन्तके उपासक वेदव्यासजीकी साहित्य-साधनाने उन्हें भारतीय ज्ञानका अनन्त महिमान्वित प्रतीक बना दिया है। श्रीवेदव्यासजी अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुष थे। विद्वानोंकी परीक्षाभूमि 'श्रीमद्भागवत', समुज्ज्वल भावरत्नोंका निधि 'महाभारत' तथा 'ब्रह्मसूत्र' एवं 'अष्टादश पुराण' आदि उनकी महत्ताके प्रबल समर्थक हैं। इसीलिये व्यासजीकी प्रतिभाकी स्तुतिमें कहा गया है कि जीवनके चतुर्विध पुरुषार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कुछ ज्ञान महाभारतमें है, वही अन्यत्र है, जो वहाँ नहीं है वह कहीं और भी नहीं मिलेगा—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

(महा० आदि० ६२। ५३)

व्यासजीका जन्म भी यमुनाके ही किसी द्वीपमें हुआ था, इसीलिये इन्हें द्वैपायन, कृष्णवर्ण शरीरके कारण कृष्ण या कृष्णद्वैपायन, बदरीवनमें निवासके कारण बादरायण तथा वेदोंका विस्तार करनेके कारण 'वेदव्यास' कहा जाता है। ये दिव्य तेजःसम्पन्न, तत्त्वज्ञ एवं प्रतिभाशाली थे, इसीलिये इनकी स्तुति करते हुए कहा गया है—

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारततैलपूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः॥

अर्थात् खिले हुए कमलकी पँखुड़ीके समान बड़े-बड़े नेत्रोंवाले तथा विशाल बुद्धिवाले हे व्यासदेव! आपने अपने महाभारतरूपी तेलके द्वारा दिव्य ज्ञानमय दीपकको प्रकाशित किया है, आपको नमस्कार है।

इनकी असीम प्रभविष्णुता परिलक्षित कर इन्हें त्रिदेवोंकी समकक्षता प्रदान की गयी है—

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः॥

अभिप्राय यह कि भगवान् बादरायण चतुर्मुख न होते हुए भी ब्रह्मा, दो (ही) भुजाओंवाले होते हुए भी दूसरे विष्णु और त्रिनेत्रधारी न होते हुए भी साक्षात् शिव ही हैं।

भागवतकारके रूपमें इनका वर्णन करते हुए जयाशीके लिये इनके अभिवादनकी अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

(श्रीमद्भा० १। २। ४)

इस पुराण-पुरुषकी परम्परा ब्रह्मासे प्रारम्भ होती है और फिर क्रमशः वसिष्ठ, शक्ति, पराशर तथा व्यासका नाम आता है—

व्यासं वसिष्ठनप्तारं शक्तेः पौत्रमकल्मषम्।
पराशरात्मजं वन्दे शुकतातं तपोनिधिम्॥

महापुरुषका व्यक्तित्व इतना महान् होता है कि उसे किसी सीमामें आबद्ध नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि व्यासजीके कार्यक्षेत्रकी सीमा समग्र भारतमें प्रसृत दृष्टिगोचर होती है।

भारतीय जनजीवनमें व्यासजी अजरामररूपमें प्रतिष्ठित हैं। आज भी वर्षगाँठके अवसरपर हम जिन सप्त-चिरंजीवियोंका स्मरण करते हैं, उनमें व्यासजीका अन्यतम स्थान है—

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥

भगवान् वेदव्यासकी स्थिति वैदिक युगके अन्तमें भी थी, महाभारतकालमें भी थी और आज भी वे नारायणभूत वेदव्यास अनन्तके अनन्त-रूपमें विश्वमें विद्यमान हैं।

व्यासजीने मनुष्यमात्रको अल्पबुद्धि, अल्पायु तथा कर्म-क्रियामें लिप्त देखकर उनके सार्वकालिक कल्याणके लिये वेदोंका विभाजन चार शाखाओंमें किया था, जिसका

स्पष्ट निदर्शन श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार प्राप्त होता है—

स कदाचित् सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचि।
विविक्तदेश आसीन उदिते रविमण्डले॥
परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा।
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे॥
भौतिकानां च भावानां शक्तिह्रासं च तत्कृतम्।
अश्रद्दधानान्निःसत्त्वान् दुर्मेधान् ह्रसितायुषः॥
दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।
सर्ववर्णाश्रमाणां यद्दध्यौ हितममोघदृक्॥
चातुर्होत्रं कर्मशुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्।
व्यदधाद् यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्॥
ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते॥
तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत॥
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः॥
त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन्॥
त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः॥
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

(श्रीमद्भा० १। ४। १५—२५)

अर्थात् एक दिन वे पुराणमुनि व्यास सूर्योदयके समय सरस्वतीके पावन जलमें स्नानादि करके एकान्त पवित्र स्थानपर बैठे हुए थे। वे महर्षि भूत और भविष्यके ज्ञाता तथा दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न थे। उन्होंने उस समय देखा कि जिसका परिज्ञान लोगोंको नहीं होता, ऐसे समयके फेरसे प्रत्येक युगमें धर्मसंकट रहा और उसके प्रभावसे भौतिक पदार्थोंकी शक्तिका ह्रास होता रहता है। सांसारिक जन श्रद्धाविहीन और शक्तिहीन हो जाते हैं। उनकी बुद्धि कर्तव्य-निर्णयमें असमर्थ एवं आयु अल्प हो जाती है। लोगोंकी इस भाग्यहीनताको देखकर उन्होंने अपनी दिव्यदृष्टिसे समस्त वर्णों और आश्रमोंका हित कैसे हो? इसपर विचार किया। उन्होंने सोचा कि वेदोक्त चातुर्होत्र (होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मादिद्वारा सम्पादित होनेवाले अग्निष्टोमादि यज्ञ)-कर्म लोगोंका हृदय शुद्ध करनेवाले हैं, अतः यज्ञोंका विस्तार करनेके लिये उन्होंने एक ही वेदके चार विभाग ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्वके रूपमें किये। इतिहास और पुराणको पाँचवाँ वेद कहा जाता है। उनमेंसे प्रथम स्नातक ऋग्वेदके पैल, सामवेदके जैमिनि, यजुर्वेदके वैशम्पायन तथा अथर्ववेदके सुमन्तु हुए और सूतजीके पिता रोमहर्षण इतिहास-पुराणोंके स्नातक हुए। इन सब महर्षियोंने अपनी-अपनी वैदिक शाखाको अनेक भागोंमें विभक्त कर दिया। इस प्रकार शिष्य, प्रशिष्य तथा उनके शिष्योंद्वारा वेदोंकी अनेक शाखाएँ बन गयीं। अल्प बौद्धिक शक्तिवाले पुरुषोंपर कृपा करके भगवान् वेदव्यासने वेदोंका यह विभाग इसलिये किया, जिससे दुर्बल स्मरणशक्तिवाले तथा धारणाशक्तिहीन (व्यक्ति) भी वेदोंको धारण कर सकें। स्त्री, शूद्र तथा पतित वेद-श्रवणके अनधिकारी हैं; वे शास्त्रोक्त कर्मोंके आचरणमें भूल न कर बैठें, अतः उनके हितसाधनार्थ महाभारतकी इस दृष्टिसे रचना की, जिससे वे भी वेदांश हृदयंगम कर सकें—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।

(श्रीमद्भा० १। ४। २९)

अर्थात् महाभारत जिसे 'ज्ञानमय प्रदीप' कहा जाता है, इतना अनुपम है कि उसके सम्बन्धमें स्वयं महाभारत आदिपर्व (६२। २३)-में उल्लिखित है—

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥

अर्थात् अमित मेधावी व्यासजीने इसे पुण्यमय धर्मशास्त्र, उत्तम अर्थशास्त्र तथा सर्वोत्तम मोक्षशास्त्र भी कहा है।

वेद-विभागद्वारा भगवान् व्यासने ज्ञान, कर्म, उपासनाकी त्रिपथगामें अवगाहन कराकर अथर्ववेदद्वारा उसे भौतिक दृष्टिसे भी इतना सक्षम बनानेका प्रयास किया है कि हमें एक स्वरसे इस श्लोकके द्वारा उन्हें विनम्र प्रणति करनेपर विवश होना पड़ता है—

जयति पराशरसूनुः सत्यवतीनन्दनो व्यासः।
यस्यास्यकमलगलितं वाङ्मयममृतं जगत् पिबति॥

(डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच० डी०)

महर्षि वाल्मीकि एवं उनके रामायणपर वेदोंका प्रभाव

प्रायः सभी व्याख्याताओंने अपनी रामायण-व्याख्याके प्रारम्भमें एक बड़ा सुन्दर मनोहारी श्लोक लिखा है, जो इस प्रकार है—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥

भाव यह है कि परमात्मा वेदवेद्य है अर्थात् केवल वेदोंके द्वारा ही जाना जा सकता है। जब वह परब्रह्म परमेश्वर लोककल्याणके लिये दशरथनन्दन रघुनन्दन आनन्दकन्द श्रीरामचन्द्रके रूपमें अवतीर्ण हुआ, तब सभी वेद भी प्रचेतामुनिके पुत्र महर्षि वाल्मीकिके मुखसे श्रीमद्रामायणके रूपमें अवतीर्ण हुए। तात्पर्य यह कि श्रीमद्रामायण विशुद्ध वेदार्थरूपमें ही लोककल्याणके लिये प्रकट हुआ है। इन्हीं कारणोंसे मूल रूपमें सौ करोड़ श्लोकोंमें उपनिबद्ध श्रीमद्रामायणका एक-एक अक्षर सभी महापातकों एवं उपपातकोंका प्रशमन करनेवाला और परम एवं चरम पुण्यका उत्पादक बताया गया है—

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥

वेदोंका अर्थ गूढ है तथा रामायणके भाव अत्यन्त सरल हैं। अतः रामायणके द्वारा ही वेदार्थ जाना जा सकता है।

महर्षि वाल्मीकिने इस रहस्यका वर्णन अपनी रामायणमें बार-बार किया है। मूल रामायणकी फलश्रुतिमें वे कहते हैं—

इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्।
यः पठेद् रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(वा०रा० १। १। ९८)

'वेदोंके समान पवित्र एवं पापनाशक तथा पुण्यमय इस रामचरितको जो पढ़ेगा, वह सभी पापोंसे मुक्त हो जायगा।'

अर्थात् यह सर्वाधिक परम पवित्र, सभी पापोंका नाश करनेवाला, अपार पुण्य प्रदान करनेवाला तथा सभी वेदोंके तुल्य है। इसे जो पढ़ता है, वह सभी पाप-तापोंसे मुक्त हो जाता है।

भगवान् श्रीराम चारों भाइयोंके साथ महर्षि वसिष्ठके आश्रममें जाकर वेदाध्ययन करते हैं। राजर्षि जनकके गुरु पुरोहित याज्ञवल्क्य, गौतम, शतानन्द आदि सभी वेदोंमें निष्णात थे। यही नहीं, स्वयं रावण भी वेदोंका बड़ा भारी विद्वान् पण्डित था। उसके भाष्योंका प्रभाव सायण, उद्गीथ, वेंकट, माधव तथा मध्वादिके भाष्योंपर प्रत्यक्ष दीखता है। उसके यहाँ अनेक वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण थे। हनुमान्जी जब अशोकवाटिकामें सीताजीको ढूँढ़ते हुए पहुँचे और अशोकवृक्षपर छिपकर बैठे, तब आधी रातके बाद उन्हें लङ्कानिवासी वेदपाठी विद्वानोंकी वेदध्वनि सुनायी पड़ी—

षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥

(वा०रा० ५। १८। २)

रातके उस पिछले पहरमें छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके विद्वान् तथा श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा यजन करनेवाले ब्रह्म-राक्षसोंके घरमें वेदपाठकी ध्वनि होने लगी, जिसे हनुमान्जीने सुना।

अयोध्यामें तो वेदज्ञ ब्राह्मणोंका बाहुल्य ही था। जब भरतजी रामजीको वापस करने चित्रकूट जाते हैं तो अनेक वेदपाठी शिक्षक-छात्र भरतजीके साथ चलते हैं। महर्षि वाल्मीकिने लिखा है कि कठ, कण्व, कपिष्ठल आदि शाखाओंके शिक्षक, याज्ञिक भरतजीके साथ चल रहे थे और भरतजीने उनकी रुचिके अनुसार जलपान तथा भोजनादिकी पूरी व्यवस्था कर रखी थी।

इसी प्रकार वनवास-कालमें भगवान् श्रीरामजीकी आगे महर्षि अगस्त्यसे भेंट होती है। अगस्त्यजीका ऋग्वेदमें 'आगस्त्य-मण्डल' बहुत प्रसिद्ध है। अगस्त्यकी पत्नी लोपामुद्रा वेदके कई सूक्तोंकी द्रष्टा हैं।

हनुमान्जी वेदोंके प्रकाण्ड विद्वान्—निष्णात पण्डित थे। जब वे किष्किन्धामें भगवान् श्रीरामसे बातें करते हैं, तब श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे कहते हैं—

तमभ्यभाष सौमित्रे सुग्रीवसचिवं कपिम्।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः स्नेहयुक्तमरिंदमम्॥
नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्॥
न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित्॥

(वा०रा० ४। ३। २७—३०)

लक्ष्मण! इन शत्रुदमन सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान्से, जो बातके मर्मको समझनेवाले हैं, तुम स्नेहपूर्वक मीठी वाणीमें बातचीत करो। जिसे ऋग्वेदकी शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेदका अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेदका विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार सुन्दर भाषामें वार्तालाप नहीं कर सकता। निश्चय ही इन्होंने समूचे व्याकरणका कई बार स्वाध्याय किया है, क्योंकि बहुत-सी बातें बोल जानेपर भी इनके मुँहसे कोई अशुद्धि नहीं निकली। सम्भाषणके समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य सब अङ्गोंसे भी कोई दोष प्रकट हुआ हो, ऐसा कहीं ज्ञात नहीं हुआ।

भाव यह है कि जबतक कोई अनेक व्याकरणोंका ज्ञाता नहीं होगा, वेदज्ञ नहीं होगा, तबतक इतना सुन्दर, शान्त एवं प्रसन्न-चित्तसे शुद्धातिशुद्ध सम्भाषण नहीं कर सकेगा।

हनुमान्जी जब लङ्का जाते हैं और रावणसे बातचीत करते हैं तो वेदोंके सारभूत ज्ञानका निरूपण करते हैं। वे रावणसे कहते हैं कि तुम पुलस्त्य-कुलमें उत्पन्न हुए हो, वेदज्ञ हो, तुमने तपस्या की है और देवलोकतकको भी जीत लिया है, इसलिये सावधान हो जाओ। तुमने वेदाध्ययन और धर्मका फल तो पा लिया, अब वेदविरुद्ध दुष्कर्मोंका परिणाम भी तुम्हारे सामने उपस्थित दीखता है—

प्राप्तं धर्मफलं तावद् भवता नात्र संशयः।
फलमस्याप्यधर्मस्य क्षिप्रमेव प्रपत्स्यसे॥
ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा
रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा।
इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा
स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥

(वा०रा० ५। ५१। २९, ४४)

तुमने पहले जो धर्म किया था, उसका पूरा-पूरा फल तो यहाँ पा लिया, अब इस सीताहरणरूपी अधर्मका फल भी तुम्हें शीघ्र ही मिलेगा। चार मुखोंवाले स्वयम्भू ब्रह्मा, तीन नेत्रोंवाले त्रिपुरनाशक रुद्र अथवा देवताओंके स्वामी महान् ऐश्वर्यशाली इन्द्र भी समराङ्गणमें श्रीरघुनाथजीके सामने नहीं ठहर सकते।

अर्थात् जिनके तुम भक्त हो, वे त्रिनेत्रधारी त्रिशूलपाणि भगवान् शंकर अथवा चार मुखवाले ब्रह्मा या समस्त देवताओंके स्वामी इन्द्र—सभी मिलकर भी रामके वध्य शत्रुकी रक्षा नहीं कर सकते।

इसी प्रकार हनुमान्जीने रावणके समक्ष तर्कोंसे—युक्तियोंसे रामको परब्रह्म परमात्मा और परब्रह्म सिद्ध किया। वे कहते हैं—

सत्यं राक्षसराजेन्द्र शृणुष्व वचनं मम।
रामदासस्य दूतस्य वानरस्य विशेषतः॥
सर्वाँल्लोकान् सुसंहृत्य सभूतान् सचराचरान्।
पुनरेव तथा स्रष्टुं शक्तो रामो महायशाः॥

(वा० रा० ५। ५१। ३८-३९)

अर्थात् हे राक्षसराज रावण! मेरी सच्ची बात सुनो—महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजी चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण लोकोंका संहार करके, फिर उनका नये सिरेसे निर्माण करनेकी शक्ति रखते हैं।

विभीषणको वेदका तत्त्वज्ञान था। उन्होंने रावणको वेदज्ञानके आधारपर परामर्श दिया, किंतु उसने उनकी एक भी नहीं सुनी। इसलिये वेदको जानते हुए भी वेदके विरुद्ध वह चल रहा था। गोस्वामीजीने ठीक लिखा है—

बेद बिरुद्ध मही, मुनि, साधु ससोक किए सुरलोकु उजारो।
और कहा कहौं, तीय हरी, तबहूँ करुनाकर कोपु न धारो॥
सेवक-छोह तें छाड़ी छमा, तुलसी लख्यो राम! सुभाउ तिहारो।
तौलौं न दापु दल्यौ दसकंधर, जौलौं बिभीषन लातु न मारो॥

(कवितावली उ० ३)

विभीषण सच्चे वेदज्ञ थे, इसलिये वे वेदतत्त्व-रामको पहचान पाये। तुलसीदासने वसिष्ठके मुखसे रामके जन्मते ही यह बात कहलायी—

धरे नाम गुर हृदयँ बिचारी। बेद तत्व नृप तव सुत चारी॥
मुनि धन जन सरबस सिव प्राना। बाल केलि रस तेहिं सुख माना॥

(रा०च०मा० १। १९८। १-२)

भाव यह है कि वसिष्ठजी महाराज दशरथसे कहते हैं कि महाराज! ये आनन्दकन्द रघुनन्दन साक्षात् वेदपुरुष—वेदतत्त्व हैं और अपनी लेशमात्र शक्तिसे सारे संसारको प्रकाशित करते हैं। समस्त मन, बुद्धि, हृदय,

इन्द्रिय और जीवात्माको भी प्रकाशित करते हैं—

जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥

(रा०च०मा० १। १९७। ५-६)

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

(रा०च०मा० १। ११७। ५-६)

अर्थात् समस्त प्राणियोंके विषय, इन्द्रिय, उनके स्वामी देवता एक-से-एक विशिष्ट चैतन्य कहे गये हैं, किंतु सबको प्रकाशित करनेवाली शक्ति एक ही है, जो अनादि ब्रह्म वेदसार श्रीरामके नामसे विज्ञेय है। स्वयं भगवान् रामने रावणको देखकर कहा था—यह रावण अत्यन्त तेजस्वी है, वेदोंका ज्ञाता है, किंतु इसका आचरण वेदविरुद्ध हो गया, अन्यथा यह शाश्वत कालके लिये तीनों लोकोंका स्वामी हो सकता था। महर्षि वाल्मीकिद्वारा श्रीमद्रामायणमें भगवान्के भाव इन शब्दोंमें निरूपित हुए हैं—

यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः।
स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता॥

(वा० रा० युद्धकाण्ड)

वाल्मीकिरामायणकी समाप्तिके समय प्रार्थनारूपमें कहा गया है कि सम्पूर्ण वेदोंके पाठका जितना फल होता है, उतना ही फल इसके पाठसे होता है। इससे देवताओंकी सारी शक्तियाँ बढ़ जाती हैं। पृथ्वीपर ठीकसे वर्षा होती है। राजाओंका शासन निर्विघ्न चलता है। गौ-ब्राह्मण आदि सभी खूब प्रसन्न रहते हैं। सम्पूर्ण विश्वमें किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता और भगवान् विष्णुका बल बढ़ता जाता है—

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः॥

इस प्रकार संक्षेपमें यह समझाया गया है कि बिना रामायणके जाने वेदका ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। जो रामायणको नहीं जानता, वह वेदके अर्थको ठीक नहीं समझ सकता। इसीलिये अल्पश्रुतोंसे वेद भयभीत रहता है, कहता है कि यह अपनी अल्पश्रुततासे मेरे ऊपर प्रहार कर देगा—

बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।

(महाभारत, आदिपर्व १। २६८)

वाल्मीकिजीने जब प्रथम श्लोकबद्ध लौकिक साहित्यकी रचना की, तब ब्रह्माजी उनकी मनःस्थिति समझकर हँसने लगे और मुनिवर वाल्मीकिसे इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन्! तुम्हारे मुँहसे निकला हुआ यह छन्दोबद्ध वाक्य श्लोकरूप ही होगा। इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरे संकल्प अथवा मेरी प्रेरणासे ही तुम्हारे मुँहसे ऐसी वाणी निकली है। इसलिये तुम श्रीरामचन्द्रजीकी परम पवित्र एवं मनोरम कथाको श्लोकबद्ध करके लिखो। वेदार्थयुक्त रामचरितका निर्माण करो'—

तमुवाच ततो ब्रह्मा प्रहसन् मुनिपुङ्गवम्॥
श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा।
मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती॥
कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्।

आगे ब्रह्माजीने पुनः कहा—जबतक पृथ्वी, पर्वत और समुद्र रहेंगे, तुम्हारी रामायण भी रहेगी और इसके आधारपर अनेक रामायणोंकी रचना होगी तथा तुम्हारी तीनों लोकोंमें अबाधगति होगी और रामायणरूपी तुम्हारी यह वाणी समस्त काव्य, इतिहास, पुराणोंका आधारभूत बीजमन्त्र बनी रहेगी।

कहा जाता है कि सभी ब्राह्मण बालकोंको सर्वप्रथम महर्षि वाल्मीकिके मुखसे निकला हुआ यही श्लोक पढ़ाया जाता है, जो इस प्रकार है—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

(वा० रा० १। २। १५)

गोविन्दराज, माधवगोविन्द, नागेशभट्ट, कतक, तीर्थ और शिवसहाय तथा राजा भोज आदि कवियोंने इस श्लोकके सैकड़ों अर्थ किये हैं। राजा भोजने इसीके आधारपर चम्पू रामायणका निर्माण किया है। सबसे अधिक अर्थ गोविन्दराजने किया है।

इस प्रकार अत्यन्त संक्षेपमें वेदसारभूत श्रीमद्रामायणका परिचय दिया गया है, जो कि वैदिक साहित्यसे भिन्न सम्पूर्ण विश्वके लौकिक साहित्यका प्रथम ग्रन्थ है। सारे संसारके ग्रन्थ इसीसे प्रकाशित होते हैं। प्रथम कवि संसारमें वाल्मीकि ही हुए हैं, जैसा कि प्रसिद्ध है—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभवद् ध्वनिः।

भगवान् आदि शंकराचार्य और वैदिक साहित्य

आचार्यके सम्बन्धमें वैदिक विद्वानोंमें एक श्लोक परम्परासे अति प्रसिद्ध रहा है, जो इस प्रकार है—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी षोडशे सर्वभाष्यकृत्।
चतुर्विंशे दिग्विजयी द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

अर्थात् आचार्य शंकरको आठ वर्षकी अवस्थामें ही समस्त वेद-वेदाङ्गोंका सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो गया तथा सोलह वर्षकी अवस्थामें वे समस्त वेद-वेदाङ्गोंके भाष्य लिख-लिखवा चुके थे और चौबीस वर्षतककी अवस्थामें विजय-पताका फहरा दी एवं वेद-विरोधियोंको परास्त कर भगा दिया और बत्तीसवें वर्षमें सम्पूर्ण विश्वमें वैदिक धर्मकी स्थापना करके चारों दिशाओंमें चार विशाल मठोंकी स्थापना कर ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त हुए।

आचार्यके सभी लक्षण दिव्य थे। उनके प्रखर तर्कोंके सामने कोई विरोधी क्षणभर भी टिक नहीं सकता था। आठ वर्षमें किसी सामान्य व्यक्तिको समस्त वेद-वेदाङ्गोंका पूर्वोत्तर-पक्षसहित सम्यक् ज्ञान कैसे सम्भव है? अतः वे अचिन्त्य दिव्य अद्भुत प्रतिभायुक्त लोकोत्तर लक्षणोंसे समन्वित साक्षात् भगवान् शंकरके अवतार माने गये हैं—'**शङ्करः शङ्करः साक्षात्।**'

वेदान्त-सूत्रके प्रारम्भिक भाष्यमें वे वेदोंको भगवान्से भी श्रेष्ठ बतलाते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् कैसे हैं, उनकी क्या विशेषताएँ हैं, उनकी प्राप्ति कैसे होगी, यह वेद ही बतलाते हैं, अन्यथा कोई भी व्यक्ति अपनेको भगवान् बताकर भ्रममें डाल सकता है।

'**परात्तु तच्छ्रुतेः**'(ब्रह्मसूत्र २। ३। ४१)—इस सूत्रमें वे श्रुतिको ही परतम प्रमाण मानते हैं और परमेश्वरको सर्वोपरि शक्ति मानते हैं। सभी प्राणी उनके ही अधीन हैं। कौषीतकि ब्राह्मणका उद्धरण देकर वे कहते हैं कि भगवान् अपने भक्तों एवं संतोंद्वारा श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण कराकर उन्हें सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य तथा सायुज्य आदि मुक्तियाँ देते हैं और आसुरी स्वभाववाले व्यक्तियोंद्वारा दुष्कर्म कराकर उन्हें नरकमें भेजते हैं। कौषीतकिके मूल वचन इस प्रकार हैं—

एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सत एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः।

(कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ३। ९)

प्रायः गीतामें भी आचार्य शंकरका भगवान् श्रीकृष्णके—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। २०)

—इस श्लोकका भाष्य भी इसी प्रकार है।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार तो भगवान्में वैषम्य और नैर्घृण्य-दोषकी प्रसक्ति होती है तो आचार्यचरण '**वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति**' (ब्रह्मसूत्र २। १। ३४)—इस बादरायण-सूत्रके भाष्यमें उपर्युक्त आक्षेपको दूर कर '**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' (ऋक्० १०। १९०। ३)—इस वेद-वचनको उद्धृत कर क्रमिक रूपसे सात्त्विक कर्मोंके द्वारा सूर्य तथा चन्द्रमाके स्वरूपको प्राप्त करनेकी बात बताते हैं तथा आसुरी प्रकृतिके व्यक्तियोंद्वारा निरन्तर कुकर्म करनेसे ही अधम गतिकी प्राप्ति बताते हैं। यही '**मूढा जन्मनि जन्मनि**'-का भाव है। भगवान् तो सर्वथा पक्षपात-शून्य हैं।

अतः बुभूषु पुरुषको निरन्तर सत्संग, वेदादि-साहित्यके स्वाध्याय तथा तदनुकूल सद्धर्मका सदा आचरण कर शीघ्र-से-शीघ्र आत्मोन्नति, राष्ट्रकल्याण, विश्वकल्याण करते-कराते हुए विशुद्ध भगवत्तत्त्वको प्राप्त कर लेना चाहिये, इसीमें मानव-जीवनकी सफलता है और यही आचार्य-चरणोंके वैदिक उपदेशोंका सारभूत निष्कर्षात्मक संदेश है।

'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत्'

[वेद और गोस्वामी तुलसीदास]

गोस्वामी तुलसीदासजीने '**नानापुराणनिगमागमसम्मतं०**' का जो मञ्जुल उद्घोष प्रतिज्ञाके रूपमें किया था, उसका पूर्ण निर्वाह उन्होंने मानस तथा अपने अन्य ग्रन्थोंमें आदिसे अन्ततक किया है। मानसका प्रारम्भ वाणी और विनायककी प्रार्थनासे हुआ है। अथर्ववेदके अन्तर्गत '**श्रीदेव्यथर्वशीर्ष**' में कामधेनुतुल्य भक्तोंको आनन्द देनेवाली, अन्नबलसे समृद्ध करनेवाली माँ वाग्रूपिणी भगवतीकी उत्तम स्तुति है तथा वेदोंमें '**गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे**' से गणेशजीकी वन्दना है, जो मङ्गलमूर्ति एवं विघ्नविनाशक हैं। उसी शाश्वत दिव्य परम्पराका पालन '**वन्दे वाणीविनायकौ**' से तुलसीदासजीने किया है। भगवान् शिव एवं उमा वैदिक देवता हैं। '**श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ**' के रूपमें उन्हें प्रणाम किया है, क्योंकि बिना श्रद्धा और विश्वासके भक्त हृदयमें ईश्वरका दर्शन नहीं कर सकता। श्रद्धाको धर्मकी पुत्री कहा गया है। विश्वास हमारी शुभ निश्चयात्मिका दृढ़ मनोवृत्ति है, जो हमें शिवत्व प्रदान कराती है। '***कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा***' एवं '***श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई***' तुलसीदासजीकी उक्ति है।

मानसके प्रारम्भकी चौपाई मृत्युञ्जय-मन्त्रका अनुस्मरण एवं भावानुवाद ही है—

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

(यजुर्वेद ३। ६०)

अर्थात् हम लोग भगवान् शिवकी उपासना करते हैं, वे हमारे जीवनमें सुगन्धि (यश, सदाशयता) एवं पुष्टि (शक्ति, समर्थता)-का प्रत्यक्ष बोध करानेवाले हैं। जिस प्रकार पका हुआ फल ककड़ी, खरबूजा आदि स्वयं डंठलसे अलग हो जाता है, उसी प्रकार हम मृत्यु-भयसे सहज मुक्त हों, किंतु अमृतत्वसे दूर न हों।

इस महामन्त्रकी छाया '***बंदउँ गुरु पद पदुम परागा***' आदि चौपाइयोंमें भी द्रष्टव्य है।

'**त्र्यम्बकं यजामहे**' से गुरुको शंकररूप माना है—'**वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।**' '**सुगन्धिम्**' से '**सुरुचि सुबास**' माना है अर्थात् हमारी सुन्दर रुचि ही सुबास-सुगन्धि है। भ्रमर रुचिके कारण ही परागसे कमल-रसका पान करता है। '**पुष्टिवर्धनम्**' का अर्थ '***सरस अनुरागा***' किया है अर्थात् हृदयमें श्रेष्ठ अनुराग सुरुचिके कारण ही उत्पन्न होता है, जिससे हृदय पुष्ट होता है। इसकी पुष्टिमें कहा गया है—'**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**' तात्पर्य यह कि बल रहनेपर ही आत्माका बोध होता है। गुरुका चरण '***अमिअ मूरि***' (अमृतलताकी जड़ी) है, जिसमें रज लगा है; वह अमृतदायिनी है। मृत्युके बन्धनको छुड़ाने-हेतु रोग-निवारणमें पूर्ण सक्षम है, ऐसे शंकररूप गुरुकी मैं वन्दना करता हूँ।

वैदिक ऋषियोंकी प्रार्थना है—'**असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय।**'

अर्थात् हे प्रभो! आप मुझे असत्से सत्की ओर ले चलें। अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलें, मृत्युसे अमरताकी ओर ले चलें। इसका भाव-रूपान्तर गुरु-वन्दना-प्रकरणमें सुन्दर एवं मार्मिक ढंगसे किया गया है। असत् तथा तमस् एवं मृत्युसे बचनेकी तथा मुक्ति-प्राप्तिकी प्रार्थना की गयी है। असत् दूर होता है—सत्से, '***सतसंगत मुद मंगल मूला***', '***बिनु सतसंग बिबेक न होई***'। तमस्—अन्धकार अर्थात् अज्ञान दूर होता है श्रीगुरुचरण-नखमणिकी ज्योतिसे, वन्दनासे, प्रार्थनासे—'***अमिअ मूरिमय चूरन चारू***' गुरुके इस अमृत मूरि-चरण-रजसे अमृत-प्रकाशकी उपलब्धि भक्तको सहज ही हो जाती है। तुलसीदासजीने वेदोंकी वन्दना की है—

बंदउँ चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहुँ खेद बरनत रघुबर बिसद जसु॥

(रा०च०मा० १। १४ (ङ))

अर्थात् मैं चारों वेदोंकी वन्दना करता हूँ, जो संसार-समुद्रके पार होनेके लिये जहाजके समान हैं। जिन्हें रघुनाथजीका निर्मल यश वर्णन करते स्वप्नमें भी खेद नहीं होता।

वेद ब्रह्माजीके मुखसे प्रकट हुए। श्रीवाल्मीकिजीके मुखसे रामायण प्रकट हुआ। वेदार्थ ही रामायणके रूपमें

प्रकट हुआ। श्रुतिका वचन है—'**तरति शोकमात्मवित्**'—अर्थात् आत्मज्ञ शोक-समुद्रसे पार हो जाता है। तुलसीदासजी अपनेको शोक-समुद्रसे पार होनेके लिये कहते हैं—

निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी॥

अर्थात् मैं अपने संदेह तथा मोह एवं भ्रमको दूर करने-हेतु रामकथाका वर्णन करता हूँ। अन्यत्र हनुमन्नाटकमें भी रामकथाको '**विश्रामस्थानमेकम्**' कहा गया है। तुलसीदासजीने '**बुध बिश्राम सकल जन रंजनि**' कहा है। राम संसारकी आत्मा हैं। जैसे प्रणव वेदोंकी आत्मा है, उसी प्रकार राम भी वेदोंके आत्मारूप हैं—

बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥

(रा०च०मा० १। १९। २)

वेदोंमें निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना है। आगे चलकर मनु-शतरूपाको ज्ञानमार्गसे निर्गुण-निराकार-उपासनासे तृप्ति नहीं हुई तो उन्होंने तप किया। दृढ़ होकर घोर तप करनेके बाद वे कल्पना करने लगे—

उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥

(रा०च०मा० १। १४४। ३—८)

मनु एवं शतरूपाकी उत्कट तपस्या निर्गुण ब्रह्मको सगुण-साकार रूपमें प्रकट करनेके उद्देश्यसे हुई थी। जिस निर्गुण ब्रह्मका निरूपण उपनिषदोंमें है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

(कठ० १। ३। १५)

अर्थात् ब्रह्म शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और बिना गन्धवाला है। श्रीरामचरितमानसमें निर्गुण ब्रह्मके बारेमें वर्णन आया है—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥

(रा०च०मा० १। १३। ३—५)

मनुजीने ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओंके वर प्रदानकी उपेक्षा कर अन्तमें सबके परम कारण सर्वज्ञ ब्रह्मका साक्षात्कार किया तथा उनसे ब्रह्मके समान पुत्रकी अभिलाषा की, जिससे स्वयं सर्वज्ञ ब्रह्मको रामरूपमें अवतरित होना पड़ा। मनु-शतरूपा ही दूसरे जन्ममें दशरथ-कौसल्याके रूपमें प्रकट हुए थे, जिनके यहाँ ब्रह्मको बालकरूप धारण कर बालक्रीडा करनी पड़ी तथा गृहस्थ बनकर आदर्श जीवन-चरित, जो वेदानुकूल था, प्रस्तुत करना पड़ा। जिसका सुन्दर मनोहारी वर्णन तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें किया है। जिसका आधार वेद-पुराण है—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥

(रा०च०मा० १। ३६। ३-४)

भगवान् श्रीरामके जन्मके पूर्व वेदधर्मके विरुद्ध आचरण करनेवाले रावण तथा कुम्भकर्ण आदिका जन्म हो चुका था। रावण हिंसाप्राय अत्याचारमें लिप्त था, उसके सभी कार्य वेद-विरुद्ध थे—

जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
नहिं हरिभगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥

इस प्रकार अधर्मपूर्ण कार्योंको देखकर पृथ्वी बहुत दुःखित हुई। उसने कहा—

गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही॥

पृथ्वी गौका रूप धारण करके देवताओंके यहाँ गयी, फिर उसके साथ सभी देवता ब्रह्माजीके पास गये। पृथ्वीने अपना दुःख सबको सुनाया। भगवान् शिवने पृथ्वी और देवताओंकी दशाको जानकर भगवान् विष्णुसे प्रार्थना करनेको कहा। भगवान् प्रेमसे पुकारनेपर भक्तोंकी प्रार्थना सुनते हैं और उनके दुःखको दूर करते हैं। शिवजीने एक सूत्रमें सबको समझाया—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

(रा०च०मा० १। १८५। ५, ७)

आकाशवाणी हुई, जिसमें पूर्वमें दिये हुए कश्यप-अदितिके वरदानका स्मरण दिलाया गया और समय आनेपर प्रभुके अवतरित होनेका विश्वास दिलाया गया।

बहुत दिनोंतक कोई संतान न होनेसे दशरथ एवं कौसल्याजी अत्यन्त चिन्तित थे। उन्होंने गुरु वसिष्ठसे पुत्र-प्राप्तिकी कामना व्यक्त की। वसिष्ठजीने पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया। अग्निदेव हाथमें चरु लेकर प्रकट हुए। अग्निदेवके हविके प्रसादसे भगवान् भाइयोंसहित अवतरित हुए। अग्नि-उपासना वैदिक उपासना है। ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमें अग्निदेवकी प्रार्थना मनोरथ पूर्ण करने-हेतु है। वेदके '**सं गच्छध्वम्, सं वदध्वम्**' का पालन भगवान् राम भाइयों एवं अवधपुरके बालकोंके साथ क्रीडा एवं भोजन आदिके समय भी करते हैं। विश्वामित्रके साथ उनकी यज्ञ-रक्षा-हेतु जाते हैं। वहाँसे जनकपुर धनुष-यज्ञ देखने जाते हैं। वहाँ उनके रूपको देखकर जनकजी-जैसे ज्ञानी भी विमोहित हो जाते हैं। विश्वामित्रजीसे पूछते हैं—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥

(रा०च०मा० १। २१६। २)

अर्थात् जिसका वेदोंने 'नेति-नेति' कहकर वर्णन किया है, कहीं वह ब्रह्म युगलरूप धारण करके तो नहीं आया है? क्योंकि—

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(रा०च०मा० १। २१६। ३, ५)

—मेरा मन जो स्वभावसे ही वैराग्यरूप है, इन्हें देखकर इस तरह मुग्ध हो रहा है, जैसे चन्द्रमाको देखकर चकोर। इनको देखते ही अत्यन्त प्रेमके वश होकर मेरे मनने हठात् ब्रह्मसुखको त्याग दिया है।

जनकजीके प्रश्नोंको सुनकर मुनिने हँसकर उत्तर दिया कि जगत्में जितने भी प्राणी हैं, ये सभीको प्रिय हैं। 'ये सभीको प्रिय हैं'—यह कहकर मानो मुनिजीने संकेत कर दिया कि ये सबके प्रिय अर्थात् सबके आत्मा हैं। सर्वप्रियता, चारुता, दयालुता, गुण-दोष न देखना, अस्पृहा, निर्लोभता—ये सब आत्माके गुण हैं। भगवान् राम इन सद्‌गुणोंके भण्डार हैं। भगवान् राम एवं लक्ष्मण गुरुजीके साथ नियम-धर्मका पालन करते हैं। संध्याकालमें संध्या-वन्दन करते हैं—

बिगत दिवसु गुरु आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई॥

वेदोंकी आज्ञा है—'**अहरहः संध्यामुपासीत।**' प्रतिदिन संध्या करो। अपने मूल उत्स ईश्वरको सदा स्मरण रखो। वेद सदा ईश्वर-उपासनाके लिये बल देता है। जिसके लिये संयम-नियमका पालन आवश्यक है। तुलसीदासजीने भी कहा है—

सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥

(रा०च०मा० १। ३७। १४)

भक्तके लिये मनका निग्रह—यम-नियम ही फूल हैं, ज्ञान फल है और श्रीहरिके चरणोंमें प्रेम ही इस ज्ञानरूपी फलका रस है। ऐसा वेदोंने कहा है।

जप, तप, नियम, उपासना—ये सब हमारी भारतीय संस्कृतिके अङ्ग हैं। नारदजीने शिवको वरण करनेके लिये पार्वतीको तप करनेकी प्रेरणा की थी। श्रीरामचरितमानसमें कथन है—

इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें॥
जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥

पार्वतीजीने घोर तपस्या की। भगवान्‌की प्राप्ति हुई। राम-कथाके बारेमें पार्वतीजीने बीस प्रश्न किये, भगवान्ने सबका समाधान किया। वेद-मतका समर्थन करते हुए कहा—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥

(रा० च० मा० १। ११८। ५—७)

—यह श्वेताश्वतरोपनिषद् (३। १९)-के निम्न मन्त्रका भावानुवाद है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

अर्थात् वह परमात्मा हाथ-पैरसे रहित होकर भी समस्त वस्तुओंको ग्रहण करनेवाला है। वेगपूर्वक सर्वत्र गमन करनेवाला है। आँखोंके बिना सब कुछ देखता है। कानोंके बिना ही सब कुछ सुनता है। वह जो कुछ भी जाननेमें आनेवाली वस्तुएँ हैं, उन सबको जानता है; परंतु उसको जाननेवाला कोई नहीं है। ज्ञानी पुरुष उसे महान् आदि पुरुष कहते हैं।

मनु-शतरूपाजीने भी घोर तपस्या की थी। तप-कालमें शुद्ध-सात्त्विक जीवन-आचरणका विधान है—

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥

(रा०च०मा० १। १४४। १)

'ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं०' का बोध परम आवश्यक है। काकभुशुण्डिजीने ***'ईस्वर सर्ब भूतमय अहई'*** का ज्ञान तपके बाद ही प्राप्त किया, जब उनकी सारी वासनाएँ निर्मूल हुईं; क्योंकि वासनाएँ हमारी शक्ति—ऊर्जा एवं तेजको क्षीण कर देती हैं।

'छूटी त्रिबिधि ईषना गाढ़ी' तब भगवान्‌में प्रीति हुई।

वेदोंमें भगवान्‌के विराट्-रूपका वर्णन है। पुरुषसूक्तमें वर्णन है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

(ऋग्वेद १०। ९०। १)

अर्थात् वह विराट् पुरुष सहस्र सिरों, सहस्र आँखों और सहस्र चरणोंवाला है।

इस विराट्-रूपका दर्शन माँ कौसल्याको हुआ था—

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥

अर्थात् वेद कहते हैं कि तुम्हारे प्रत्येक रोममें मायाके रचे हुए अनेक ब्रह्माण्डोंके समूह हैं। वे ही तुम मेरे गर्भमें रहे—इस हँसीकी बात सुननेपर धीर (विवेकी) पुरुषोंकी बुद्धि भी स्थिर नहीं रहती, विचलित हो जाती है।

इसी विराट्-रूपका दर्शन जनकपुरकी रंगभूमिमें जनकपुरवासियों एवं वहाँ पधारे हुए राजाओंको हुआ—

बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा॥
जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥

अर्थात् विद्वानोंको प्रभु विराट्-रूपमें दिखायी दिये, जिनके बहुत-से मुँह, हाथ, पैर, नेत्र और सिर हैं। योगियोंको वे शान्त, शुद्ध, सम और स्वत:प्रकाश परम तत्त्वके रूपमें दिखे।

मन्दोदरीने इसी पुरुषसूक्तके विराट्-रूपका वर्णन रावणसे किया था—

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥

× × ×

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥

(रा०च०मा० ६। १४, १५ (क))

अर्थात् रघुकुलके शिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी विश्वरूप हैं। वेद जिनके अङ्ग-अङ्गमें लोकोंकी कल्पना करते हैं। शिव जिनके अहंकार हैं, ब्रह्मा बुद्धि हैं, चन्द्रमा मन हैं और महान् विष्णु ही चित्त हैं। उन्हीं चराचररूप भगवान् श्रीरामजीने मनुष्यरूपमें निवास किया है।

काकभुशुण्डिजीने भी इसी विराट्-रूपका दर्शन किया था।

श्रीरामचरितमानस शिवजीका प्रसाद है। माता पार्वतीजीने शिवजीसे ***'श्रुति सिद्धांत निचोरि'*** कहकर रामकथा कहनेकी प्रार्थना की थी। उसी सकल लोक-हितकारी गङ्गाजीके समान सबको पवित्र करनेवाली कथाको भगवान् शिवजीने कृपा करके पार्वतीजीको सुनाया था। शिवजीने कहा था—पहले इन्द्रियोंको शुद्ध करो। अन्तर्मुखी बनो। श्रवण अज्ञात-ज्ञापक हैं। श्रवणके द्वारा ही कथाका प्रवेश होता है। मन और हृदय पवित्र होता है। यदि कानसे कथा न सुनी गयी तो वह कान साँपका बिल बन जायगा। साँपकी उपमा कामसे दी जाती है। काम—भुजंग यदि कानमें प्रवेश करेंगे तो आसुरी वृत्तियाँ हृदय और मनमें अपनी जड़ें जमा लेंगी। मनुष्यके हृदयमें दैवी एवं आसुरी सम्पदाओंका निवास है। दैवी सम्पदा मोक्ष—श्रेय-मार्गका अनुसरण करती हैं। आसुरी सम्पत्तिके लोग नरककी ओर मुड़ते हैं। इन्द्रियोंकी उपमा घोड़ोंसे दी गयी है। लङ्काकाण्डमें कठोपनिषद् श्रुति-समर्थित धर्मरथकी चर्चामें भगवान्‌ने कहा है कि—

बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥

(रा०च०मा० ६। ८०। ६)

हमारी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हों, बल-विवेक-दम और परहित-रूपी घोड़े क्षमा, दया और समतारूपी रज्जुसे जुड़े हों, तब रथ सन्मार्गपर—विकासके मार्गपर आगे बढ़ता है।

ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥

(रा०च०मा० ६। ८०। ७)

चतुर सारथिको ईश-भजनसे प्रेरणा मिलेगी। वैराग्यकी ढालसे संतोषरूपी कृपाणके द्वारा वह शत्रुओंका संहार करता हुआ श्रेय-पथपर आगे बढ़ता जायगा। परंतु जो आसुरी चरित्रवाला है, वह इन्द्रिय-सुखके कारण प्रेय-मार्गमें भटक जायगा। नरककी ओर मुड़ जायगा। अपना विनाश कर लेगा। आत्मघाती बनेगा। इसीको यजुर्वेद (४०। ३)-में इस प्रकार कहा गया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँ स्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

अर्थात् आत्मघाती मनुष्य चाहे कोई भी क्यों न हो, मरनेके बाद वह असुरोंके लोकोंमें निवास करता है, जो घोर अज्ञानान्धकारसे आच्छादित है। तुलसीदासजीने भी यही बात कही है—

करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रा०च०मा० ७। ४४। ८; ७। ४४)

हमारे कान भगवान्‌की कथा सुनें। जिह्वा हरिनाम रटे। नेत्रोंसे संतोंका दर्शन हो। गुरु और भगवान्‌के सामने हम शीश झुकाएँ। हम भद्र पुरुष बनें। वेद-मन्त्र इसीको ग्रहण करनेका आदेश देता है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

(यजु० २५। २१)

अर्थात् हम सदैव कल्याणकारी शब्द ही कानोंसे सुनें, कल्याणकारी दृश्य ही आँखोंसे देखें और अपने दृढ़ अङ्गोंके द्वारा शरीरसे यावज्जीवन वही कर्म करें, जिससे विद्वानोंका हित हो। इन्द्रियोंको सत्कर्मकी ओर लगानेसे मन भगवान्‌से जुड़ जाता है। हम शक्तिसम्पन्न बनते हैं।

चित्रकूटकी सभामें वसिष्ठजीने भगवान् रामसे कहा था कि—

भरत बिनय सादर सुनिअ करिअ बिचारु बहोरि।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥

अर्थात् पहले भरतजीकी विनती आदरपूर्वक सुन लीजिये, फिर उसपर विचार कीजिये, तब साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेदोंका निचोड़ निकाल कर वैसा ही कीजिये।

भगवान् रामने अन्तमें सार-तत्त्वकी शिक्षा दी—

मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल पालक होहू॥

(रा० च० मा० २। ३०६। २-३)

वेदोंकी शिक्षा **'मातृदेवो भव' पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।'** का पूर्ण पालन करनेकी आज्ञा दी।

वेदोंमें वर्णित विद्या-अविद्याकी व्याख्या लक्ष्मणजीके ज्ञान, वैराग्य एवं भक्तिके प्रसंगमें द्रष्टव्य है। भगवान् श्रीरामने श्रीलक्ष्मणजीके समक्ष अरण्यमें विद्या और अविद्याकी साङ्गोपाङ्ग व्याख्या की है। जब लक्ष्मणजीने पूछा—

ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

(रा०च०मा० ३। १४)

तब भगवान्‌ने समाधान किया—

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥

(रा०च०मा० ३। १५)

तुलसी-साहित्यमें 'मानस' एवं 'विनय-पत्रिका' विशेषरूपसे जन-जनका कण्ठहार बन गया है। वैसे उनके सभी द्वादश ग्रन्थ ज्ञान-भक्तिभाव-सम्पन्न हैं, उनका अध्ययन भी होता है। अतः—*'को बड़ छोट कहत अपराधू।'*

तुलसीदासजीने अपनी रचनाओंमें सर्वत्र वेदोंके यज्ञिय संस्कृतिकी रक्षा की है। जैसे—ऋषियोंके आश्रमोंमें जाना तथा लङ्का-विजय एवं सिंहासनारूढ होनेपर सर्वत्र ऋषियोंको पूर्ण आदरके साथ सम्मान देना आदि।

अन्तमें तुलसीदासजीकी ज्योतिष्मती प्रज्ञाको प्रणाम है, जिन्होंने साधारणजनके स्वर-में-स्वर मिलाकर भगवान्‌को प्रणाम किया—

मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंस मनि हरहु बिषम भव भीर॥

(रा०च०मा० ७। १३० (क))

तुलसीदासजी वेदोंके निष्णात पारंगत विद्वान् थे। वेदके विद्वानोंको जो लाभ वेदोंके अध्ययनसे प्राप्त होता है, वही फल तुलसी-साहित्यके अध्ययन करनेवालेको प्राप्त होता है। तुलसीदासजीरचित द्वादश ग्रन्थ भक्तोंके लिये कामतरु एवं कामधेनुके समान हैं। यही कारण है कि श्रीरामचरितमानस, विनय-पत्रिका आदि ग्रन्थोंका पठन-पाठन झोपड़ीसे लेकर महलोंतक, साधारणजनसे लेकर विद्वान्‌तक समान श्रद्धा-भावसे करते हैं। वेदोंके (अर्थ बोधके) साथ मनोयोगपूर्वक तुलसी-साहित्यके अध्ययन एवं आचरणसे अध्येताको लोक-सुयश एवं परलोकमें सद्गति अवश्य मिलेगी, ऐसा हम सबको पूर्ण विश्वास है।

(डॉ० श्रीओ३म्प्रकाशजी द्विवेदी)

वेद अनादि एवं नित्य हैं

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रमेयकी सिद्धि प्रमाणपर निर्भर होती है। प्रमाणशून्य विचारवाद, सिद्धान्त सब अप्रामाणिक, भ्रान्त, विनश्वर और हेय भी समझे जाते हैं। जैसे रूप जाननेके लिये निर्दोष चक्षु, गन्धके लिये घ्राण, शब्दके लिये श्रोत्र, रसके लिये रसना, स्पर्शके लिये त्वक् और सुख-दुःखके लिये मन-प्रमाण अपेक्षित है; वैसे ही अनुमेय प्रकृति, परमाणु आदिके ज्ञानके लिये हेत्वाभासोंपर अनाधृत, व्यभिचारादि-दोषशून्य व्याप्तिज्ञान या व्याप्य हेतुपर आधृत अनुमान अपेक्षित होता है। ठीक इसी प्रकार धर्म, ब्रह्म आदि अतीन्द्रिय और अननुमेय पदार्थोंके ज्ञानके लिये स्वतन्त्र शब्द-प्रमाण अपेक्षित है। संसारमें सर्वत्र पिता-माताको जाननेके लिये पुत्रको शब्द-प्रमाणकी आवश्यकता होती है। न्यायालयोंके लेखों एवं साक्षियोंके शब्दोंके आधारपर ही आज भी सत्यका निर्णय किया जाता है।

फिर भी वैदिक शब्द-प्रामाण्य उनसे विलक्षण है। कारण, लोकमें शब्द कहीं भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं होते, वे प्रत्यक्ष एवं अनुमानपर आधृत होते हैं। उनके आधारभूत प्रत्यक्ष तथा अनुमानमें दोष होने अथवा वक्ताके भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणपाटव आदि दोषोंसे दूषित होनेके कारण उनमें कहीं अप्रामाण्य भी सम्भव होता है। दोषशून्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंपर आधृत समाहित निर्दोष आप्त वक्ताके शब्दोंका ही प्रामाण्य होता है।

किंतु अपौरुषेय मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेद तो सदा प्रमाण ही होते हैं, अप्रमाण नहीं। शब्दका प्रामाण्य सर्वत्र मान्य है, उसका अप्रामाण्य वक्ताके भ्रम-प्रमादादि दोषोंपर ही निर्भर होता है। यदि कोई ऐसे भी शब्द हों जो किसी वक्तासे निर्मित न हों तो उनके वक्तृदोषसे दूषित न होनेके कारण अप्रामाण्यका कारण न होनेसे सुतरां उनका स्वतः प्रामाण्य मान्य होता है। ऐसे ही उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण भी मान्य हैं। ऐतिह्य-चेष्टा आदि कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं; क्योंकि प्रवाद या ऐतिह्य यदि आप्त-परम्परासे प्राप्त हैं तो वे आप्त वाक्यमें ही आ जाते हैं और चेष्टादि आन्तर भावोंके अनुमापक होनेसे अनुमानमें ही निहित समझे जाते हैं।

जिन शब्दों या वाक्योंका पठन-पाठन एवं तदर्थानुष्ठान अविच्छिन्न अनादि सम्प्रदाय-परम्परासे प्रचलित हो और जिनका निर्माण या निर्माता प्रमाण-सिद्ध न हो, ऐसे वाक्य या ग्रन्थ अनादि एवं अपौरुषेय ही होते हैं। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशि इसी दृष्टिकोणसे अनादि एवं अपौरुषेय मानी जाती है। गो, घट, पट आदि बहुत-से शब्द भी, जिनका निर्माण प्रमाण-सिद्ध नहीं है और जो अनादिकालसे व्यवहारमें प्रचलित हैं, नित्य माने जाते हैं।

नैयायिक, वैशेषिक आदिके मतानुसार यद्यपि वर्ण एवं शब्द सभी अनित्य ही हैं; तथापि पूर्वोत्तर मीमांसकोंकी दृष्टिसे वर्ण नित्य ही होते हैं। क्योंकि—'अ क च ट त प' आदि वर्ण प्रत्येक उच्चारणमें एकरूपसे ही पहचाने जाते हैं। अवश्य ही कण्ठ-तालु आदिके भेदसे ध्वनियोंमें भेद भासता है, अतः ध्वनियोंके अनित्य होनेपर भी वर्ण सर्वत्र अभिन्न एवं नित्य हैं। नियत वर्णोंकी नियत आनुपूर्वीको ही 'शब्द' एवं नियत शब्दोंकी नियत आनुपूर्वीको 'वाक्य' कहा जाता है। यद्यपि वर्णोंके नित्य एवं विभु होनेसे उनका देशकृत तथा कालकृत पौर्वापर्य असम्भव ही होता है और पौर्वापर्य न होनेसे शब्द एवं वाक्य-रचना असम्भव ही है; तथापि कण्ठ-ताल्वादिजनित वर्णोंकी अभिव्यक्तियाँ अनित्य ही होती हैं। अतः उनका पौर्वापर्य सम्भव है और उसीके आधारपर पदत्व तथा वाक्यत्व भी बन जाता है।

यद्यपि वर्णाभिव्यक्तियोंके अनित्य होनेसे पदों एवं वाक्योंकी भी अनित्यता ही ठहरती है; तथापि जिन पदों एवं वाक्योंका प्रथम उच्चारयिता या पूर्वानुपूर्वी-निरपेक्ष-आनुपूर्वी निर्माता प्रमाण-सिद्ध नहीं, उन पदों एवं वाक्योंको प्रवाहरूपसे नित्य ही माना जाता है। 'रघुवंश' आदिके प्रथम आनुपूर्वी-निर्माता या उच्चारयिता कालिदास आदि हैं, किंतु वेदोंका अनादि अध्ययन-अध्यापन अनादि आचार्य-परम्परासे ही चलता आ रहा है। अतः उनका निर्माता या प्रथमोच्चारयिता कोई नहीं है। 'रघुवंश' आदिके उच्चारयिता हम-जैसे भी हो सकते हैं, पर प्रथम उच्चारयिता कालिदासादि ही हैं, हम लोग तो पूर्वानुपूर्वीसे सापेक्ष होकर ही उच्चारयिता हैं, तन्निरपेक्ष नहीं। किंतु

वेदोंका कोई भी निरपेक्ष उच्चारयिता या प्रथम उच्चारयिता नहीं है। सभी अध्यापक अपने पूर्व-पूर्वके अध्यापकोंसे ही वेदका अध्ययन या उच्चारण करते हैं, इसलिये वेद अनादि एवं नित्य माने जाते हैं।

गो, घट आदि शब्दोंका नित्यत्व वैयाकरण एवं पूर्वोत्तर मीमांसक भी मानते हैं और शब्दकी शक्ति भी जातिमें मानते हैं। इसीलिये शब्द और अर्थका सम्बन्ध शक्ति या संकेत भी उन्हें नित्य ही मान्य है।

यद्यपि 'डित्थ', 'डवित्थ' आदि यदृच्छा-शब्दोंके समान कुछ शब्द सादि भी होते हैं; तथापि तद्भिन्न पुण्यजनक सभी साधु-शब्द अनादि एवं नित्य ही होते हैं। हम अनादि कालसे ही गो, घट आदि शब्दों और उनके अर्थोंके सम्बन्धोंका ज्ञान वृद्ध-व्यवहार-परम्परासे प्राप्त करते हैं। इनमें शक्ति-ग्राहकहेतु व्याकरण, काव्य, कोष आदिमें वृद्ध-व्यवहार ही मूर्धन्य माना जाता है। धूम-वह्निका सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध है तथा धूम-वह्निका व्याप्ति-सम्बन्ध ज्ञात होनेपर ही धूमसे वह्निका अनुमान होता है, अन्यथा नहीं। इसी तरह शब्द एवं अर्थका स्वाभाविक सम्बन्ध होनेपर भी व्यवहारादिद्वारा सम्बन्ध-ज्ञान होनेपर ही शब्द भी स्वार्थका बोधक होता है। यद्यपि नैयायिक, वैशेषिक आदि शब्द एवं अर्थके सम्बन्ध ईश्वरकृत होनेसे शब्द-अर्थ और उनके सम्बन्धको अनित्य ही मानते हैं; तथापि सृष्टि-प्रलयकी परम्परा अनादि होनेसे सभी सृष्टियोंमें सम्बन्ध समानरूपसे रहते हैं। अतः उनके यहाँ भी शब्द-अर्थ और उनके सम्बन्ध प्रवाहरूपसे नित्य ही होते हैं।

पूर्वोत्तर मीमांसक वर्ण, पद एवं पद-पदार्थ-सम्बन्ध तथा वाक्य एवं वाक्य-समूह वेदको भी नित्य मानते हैं।

इतिवृत्तवेत्ता भी संसारके पुस्तकालयोंमें सर्वप्राचीन पुस्तक 'ऋग्वेद' को ही मानते हैं। लोकमान्य तिलकने 'ओरायन' में युधिष्ठिरसे भी हजारों वर्ष पूर्व वेदोंका अस्तित्व सिद्ध किया है। श्रीदीनानाथ चुलेटने कई मन्त्रोंको लाखों वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है।

मनु, व्यास, जैमिनि प्रभृति ऋषियों तथा स्वयं वेदने भी वेदवाणीको नित्य कहा है—

'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे'।।

(मनु० १। २१)

'अतएव च नित्यत्वम्' (ब्र०सू० १। ३। २९)

'वाचा विरूप नित्यया' (ऋक्० ८। ७५। ६)

'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'

(जैमिनि० सूत्र १। ५)

वाक्यपदीयकारके अनुसार प्रत्येक ज्ञानके साथ सूक्ष्मरूपसे शब्दका सहकार रहता है। कोई भी विचारक किसी भाषामें ही विचार करता है—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।'

(वाक्यपदीय १। १२३)

'जानाति, इच्छति, अथ करोति' के अनुसार ज्ञानसे इच्छा एवं इच्छासे ही कर्म होते हैं—**'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः।'** अतः सृष्टि-निर्माणके लिये सर्वज्ञ ईश्वरको भी ज्ञान, (विचार) इच्छा एवं कर्मका अवलम्बन करना पड़ता है। जिस भाषामें ईश्वर सृष्टिके अनुकूल ज्ञान या विचार करता है, वही भाषा वैदिक भाषा है। ईश्वर एवं उसका ज्ञान अनादि होता है। अतएव उसके ज्ञानके साथ होनेवाली भाषा और शब्द भी अनादि ही हो सकते हैं। वे ही अनादि वाक्य-समूह 'वेद' कहलाते हैं। बीज और अङ्कुरके समान ही जाग्रत्-स्वप्न, जन्म-मरण, सृष्टि-प्रलय तथा कर्म एवं कर्मफलकी परम्परा भी अनादि ही होती है। अनादि प्रपञ्चका शासक परमेश्वर भी अनादि ही होता है। अनादिकालसे शिष्ट (शासित) जीव एवं जगत्पर शासन करनेवाले अनादि शासक परमेश्वरका शासन-संविधान भी अनादि ही होता है। वही शासन-संविधान 'वेद' है।*

[प्रेषक—प्रो० श्रीबिहारीलालजी टांटिया]

---

*विशेष जानकारीके लिये लेखकद्वारा विरचित ग्रन्थ 'वेदप्रामाण्य-मीमांसा', 'वेदका स्वरूप और प्रामाण्य' (भाग २) और 'वेद-स्वरूप-विमर्श' (संस्कृत) द्रष्टव्य हैं।

वेदकी उपादेयता

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

'यस्य निश्वसितं वेदाः' उस परब्रह्म परमात्माके निःश्वासभूत वेदोंका प्रादुर्भाव प्रगल्भ तप और प्रखर प्रतिभापूर्ण महर्षियोंके अविच्छिन्न ज्ञानद्वारा स्वतः प्रस्फुटित शब्दराशिसे हुआ। मानव उसी ज्ञानसे धर्माधर्म, आवास-निवास, आचार-विचार, सभ्यता-संस्कृतिका निर्णय करता हुआ गूढ अध्यात्म-तत्त्वोंका विवेचन कर ऐहिक और आमुष्मिक अभ्युदयका भागी बना और बन सकता है। जिस प्रकार शब्दादिज्ञानके लिये चक्षु आदि इन्द्रिय-वर्ग अपेक्षित होता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंद्वारा अगम्य एवं अज्ञात तत्त्वोंके ज्ञापनार्थ वेदकी आवश्यकता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

बड़े-से-बड़ा तार्किक अपनी प्रबल शक्तिद्वारा पदार्थकी स्थितिका प्रयत्न करता हुआ अन्य प्रबल तार्किककी प्रतिभापूर्ण बुद्धिके द्वारा उपस्थापित तर्कसे स्वतर्कको निस्तत्त्व मानकर अपने प्रामाण्यार्थ वेदकी शाखामें जाते देखा गया है। इसीलिये **'स्वर्गकामो यजेत'**, **'कलञ्जं न भक्षयेत्'** इत्यादि वेदवाक्योंद्वारा प्रतिपादित विहित प्रवर्तन, निषिद्ध निवर्तनमें कोई भी तर्क अग्रसर नहीं किया जा सकता। संध्योपासन धर्मजनक है, सुरापान अधर्मोत्पादक है, इसकी सिद्धि वेदवाक्यातिरिक्त अन्य किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य नहीं, इसलिये वेदकी आवश्यकता है। वेदकी प्रामाणिकतापर विश्वास करनेवाला 'आस्तिक' और वेदविरुद्ध प्रामाणिकतापर विश्वास करनेवाला 'नास्तिक' कहलाता है। इसीलिये कोषकार अमरसिंहने भी **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** लिखा है। आस्तिक सम्प्रदायवाले वेदनिन्दक ईश्वरावतारपर भी विश्वास नहीं करते और न वे उनको मान्यता ही देते हैं।

वेदका स्वाध्याय

इसीलिये आस्तिक-वर्गने वेदके स्वाध्यायको अपनाया। शतपथ-ब्राह्मणमें लिखा है कि—

'यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसञ्च अक्षय्यञ्च य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।'

अर्थात् जो व्यक्ति रत्नोंसे परिपूर्ण समस्त पृथिवीको दान कर देता है, उस दानसे उत्पन्न पुण्यकी अपेक्षा वेदके स्वाध्यायसे उत्पन्न हुआ पुण्य कहीं अधिक महत्त्व रखता है। इतना ही नहीं, मनु महाराजने तो यहाँतक कहा है कि—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(मनु० १२। १०२)

तात्पर्य यह कि वेदादि शास्त्रोंके अर्थ-तत्त्वको जाननेवाला ब्राह्मण जिस किसी भी स्थान और आश्रममें निवास करे, उसे ब्रह्मतुल्य समझना चाहिये। महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है—

'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च;
मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते।'

(महाभाष्य १। १। १)

ब्राह्मणको बिना किसी प्रयोजनके छः अङ्गोंसहित वेदका अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार अध्ययन कर शब्दप्रयोग करनेवालेके माता-पिता इस लोक और परलोकमें महत्ता प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो ब्राह्मण वेदाध्ययनमें प्रवृत्त न होकर इधर-उधर परिभ्रमण (व्यर्थ परिश्रम) करता है, उसकी निन्दा स्वयं मनु महाराजने भी की है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

(मनु० २। १६८)

इस वाक्यके अनुसार जो द्विज वेदातिरिक्त अन्य पठन-पाठन (शिल्पकला आदि)-में परिश्रम करता है, वह सवंश जीवित ही शूद्रत्वको प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थितिमें द्विजाति-मात्रको स्वधर्म समझकर वेदाध्ययनमें प्रवृत्त होना चाहिये।

अधिकार

सभी धार्मिक ग्रन्थोंमें वेदाध्ययनका अधिकार द्विजको ही दिया गया है, द्विजेतरको नहीं। इसका मुख्य कारण है वेदशास्त्रकी आज्ञा—**'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि'** अर्थात् 'विद्या ब्राह्मणके समीप जाकर बोली—मेरी रक्षा कर, मैं तेरी निधि हूँ'। वह अन्यके पास नहीं गयी; क्योंकि मुख्यतः ब्राह्मण ही विद्याके रक्षक हैं—वेदरूपी कोषका कोषाध्यक्ष ब्राह्मण ही है। दूसरी बात यह है कि **'उपनीय गुरुः शिष्यं वेदमध्यापयेद् विधिम्'** गुरु शिष्यका उपनयन-संस्कार कर विधिपूर्वक शौचाचार-

शिक्षणद्वारा वेदाध्ययन कराये। '**अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा। एकादशवर्षं राजन्यम्। द्वादशवर्षं वैश्यम्।**' (पा० गृ० सू० २। २। १—३)—इन वाक्योंद्वारा त्रिवर्णका ही उपनयन-संस्कार वेदादि सत्-शास्त्रोंद्वारा हो सकता है। जब द्विजेतरोंका उपनयन-संस्कार ही नहीं, तब उनके लिये उपनयनमूलक वेदाध्ययनकी चर्चा बहुत दूर रह जाती है। चतुर्थ वर्णके व्यक्तियोंको कला, कौशल, दस्तकारी आदिकी शिक्षाका विधान किया गया है। शास्त्रपर विश्वास न करनेवालोंके विषयमें क्या कहें, वे तो ईश्वरके दयापात्र ही हैं।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्॥

जिस वर्ग, समाज और व्यक्तिकी रक्षा भगवान्को इष्ट होती है, उसकी बुद्धि वे शुद्ध कर देते हैं। वह व्यक्ति बुद्धिसे पदार्थका निर्णय कर प्रवृत्ति-निवृत्तिका निश्चय करनेके योग्य बन जाता है।

वैदिक धर्म और संस्कृति

वैदिक कालमें अधिकांशमें स्वाध्याय और अध्ययनमें ही समय व्यतीत होता था। समयका दुरुपयोग करनेवाले चल-चित्रादि साधन उस समय नहीं थे। कुछ लोग गृहस्थ-जीवन बनाकर इन्द्रादि देवोंकी ऋक्-सूक्तोंद्वारा उपासना करते तथा वैदिक कर्मकाण्डका आश्रय ग्रहण करते और स्वयं उत्पन्न नीवार आदिसे जीवन-निर्वाह करते थे। इनके छोटे-छोटे बालकोंको राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञोंकी प्रक्रिया कण्ठस्थ रहती थी तथा इनका जीवन विचार-प्रधान होता था। आडम्बरका गन्ध भी नहीं था। नदियों और उपवनोंके स्वच्छ तटोंपर रहकर स्वाध्याय करते हुए आत्मचिन्तन करना ही इनका परम लक्ष्य था। आनेवाली विपत्तियोंका प्रतिकार वे दैवी उपायोंसे करते थे। वे अपने प्रतिद्वन्द्वी दस्युओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये इन्द्र आदि देवताओंकी स्तुति करते थे और अपनी रक्षामें सफल होते थे। उस समयकी प्रजा सत्त्वगुण-प्रधान थी।

वर्तमान

आज हमारा समाज वैदिक परम्पराको अनुपादेय समझ कर उसका परित्याग करता चला जा रहा है। वैदिक केवल मन्त्रोच्चारणमात्रसे ही कृतकृत्य हो जाते हैं। अङ्गोंके अध्ययनकी ओर उनकी रुचि ही नहीं है। वैयाकरण और साहित्यिकोंका थोड़ेसे सूत्रों तथा कुछ मनोरंजक पद्योंपर ही पाण्डित्य समाप्त हो जाता है। पहले विद्वानोंकी प्रतिभा और उनका परिश्रम सर्वतोमुखी होता था; अतः इस सम्बन्धमें सबको सावधानी बरतनी चाहिये।

वेदकृत वामनरूपधारी विष्णुका स्तवन

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे। पृथिव्याः सप्त धामभिः॥
इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूहळमस्य पांसुरे॥
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥
तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥
तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्॥

(ऋक्० १। २२। १६—२१)

जिस भू-प्रदेशसे अपने सातों छन्दोंद्वारा विष्णुने विविध पाद-क्रम किया था, उसी भू-प्रदेशसे देवता लोग हमारी रक्षा करें। विष्णुने इस जगत्की परिक्रमा की, उन्होंने तीन प्रकारसे अपने पैर रखे और उनके धूलियुक्त पैरसे जगत् छिप-सा गया। विष्णु जगत्के रक्षक हैं, उनको आघात करनेवाला कोई नहीं है। उन्होंने समस्त धर्मोंको धारण कर तीन पगोंमें परिक्रमण किया। विष्णुके कर्मोंके बलसे ही यजमान अपने व्रतोंका अनुष्ठान करते हैं। उनके कर्मोंको देखो। वे इन्द्रके उपयुक्त सखा हैं। आकाशमें चारों ओर विचरण करनेवाली आँखें जिस प्रकार दृष्टि रखती हैं, उसी प्रकार विद्वान् भी सदा विष्णुके उस परम पदपर दृष्टि रखते हैं। स्तुतिवादी और मेधावी मनुष्य विष्णुके उस परम पदसे अपने हृदयको प्रकाशित करते हैं।

वेद ही सदाचारके मुख्य निर्णायक

(शृङ्गेरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराज)

वेदोंमें आया है कि यदि कोई मनुष्य साङ्ग समग्र वेदोंमें पारंगत हो, पर यदि वह सदाचारसम्पन्न नहीं है तो वेद उसकी रक्षा नहीं करेंगे। वेद दुराचारी मनुष्यका वैसे ही परित्याग कर देते हैं, जैसे पक्षादि सर्वाङ्गपूर्ण नवशक्तिसम्पन्न पक्षि-शावक अपने घोंसलेका परित्याग कर देते हैं। प्राचीन ऋषियोंने अपनी स्मृतियोंमें वेदविहित सदाचारके नियम निर्दिष्ट किये हैं और विशेष आग्रहपूर्वक यह विधान किये हैं कि जो कोई इन नियमोंका यथावत् पालन करता है, उसके मन और शरीरकी शुद्धि होती है। इन नियमोंके पालनसे अन्तमें अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाता है। परंतु व्यवहार-जगत्‌में इस बातका एक विरोध-सा दीख पड़ता है। जो लोग सदाचारी नहीं हैं, वे सुखी और समृद्ध दीखते हैं तथा जो सदाचारके नियमोंका तत्परताके साथ यथावत् पालन करते हैं, वे दुःखी और दरिद्र दीखते हैं; परंतु थोड़ा विचार करने और धर्मतत्त्वको अच्छी तरहसे समझनेका प्रयत्न करनेपर यह विरोधाभास नहीं रह जाता। हिन्दू-धर्म पुनर्जन्म और कर्मविपाकके सिद्धान्तपर प्रतिष्ठित है। कुछ लोग जो सदाचारका पालन न करते हुए भी सुखी-समृद्ध दीख पड़ते हैं, इसमें उनके पूर्वजन्मके पुण्यकर्म ही कारण हैं और कुछ लोग जो दुःखी हैं, उसमें उनके पूर्वजन्मके पाप ही कारण हैं। इस जन्ममें जो पाप या पुण्यकर्म बन पड़ेंगे, उनका फल उन्हें इसके बादके जन्मोंमें प्राप्त होगा।

इस समयका कुछ ऐसा विधान है कि बड़े-बड़े गम्भीर प्रश्नोंके निर्णय उन लोगोंके बहुमतसे किये-कराये जाते हैं, जिन्हें इन प्रश्नोंके विषयमें प्रायः कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। औरकी बात तो अलग, राजनीतिक जगत्‌से सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंमें भी यह पद्धति सही कसौटीपर खरी सिद्ध नहीं होती, फिर धर्म और आचारके विषयमें ऐसी पद्धतिसे काम लेनेका परिणाम तो सर्वथा विनाशकारी ही होगा। जो आत्मा चक्षु आदिसे अलक्षित और भौतिक शरीरसे सर्वथा भिन्न है, साथ ही अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अचिन्त्य है, उसके अस्तित्वके विषयमें संदेह उठे तो उसका निराकरण केवल बुद्धिका सहारा लेनेसे कैसे हो सकेगा? ऐसी शंकाका निराकरण तो वेदोंद्वारा तथा उन सद्ग्रन्थों एवं सत्-युक्तियोंद्वारा ही हो सकता है, जो वेदोंके आधारपर रचित हैं।

इसी प्रकार यदि अज्ञानी लोग अपने विशाल बहुमतके बलपर निर्णय कर दें कि अमुक बात धर्म है तो उनके कह देनेमात्रसे कोई बात धर्म नहीं हो जाती। सदाचार वह है, जिसका वेद-शास्त्रोंने विधान किया है, जिसका सत्पुरुष पालन करते हैं तथा जो लोग ऐसे सदाचारका आचरण करते हैं, उन्हें यह सदाचार सुखी-सौभाग्यशाली बनाता है। इसके विपरीत अनाचार वह है, जो वेद-विरुद्ध है तथा जिसका सदाचारी पुरुष परित्याग कर देते हैं। जो लोग ऐसे अनाचारमें रत रहते हैं, उनका भविष्य कभी अच्छा नहीं होता।

विद्याध्ययनको सम्पन्न कर जब विद्यार्थी गुरुकुलसे विदा होते हैं, तब गुरु उन्हें यह उपदेश देते हैं—

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः।

(तैत्तिरीयोपनिषद्, अनु० ११ शीक्षावल्ली)

'यदि तुम्हें अपने कर्मके विषयमें अथवा अपने आचरणके विषयमें कभी कोई शंका उठे तो वहाँ जो पक्षपातरहित विचारवान् ब्राह्मण हों, जो अनुभवी, स्वतन्त्र, सौम्य, धर्मकाम हों, उनके जैसे आचार हों, तुम्हें उन्हीं आचारोंका पालन करना चाहिये।'

यह बहुत ही अच्छा होगा, यदि बच्चोंको बचपनसे ही ऐसी बुरी आदतें न लगने दी जायँ, जैसे मिट्टीकी गोलियोंसे खेलना या दाँतोंसे अपने नख काटना। विशेषतः बड़ोंके सामने बच्चे ऐसा कभी न करें। मनु (३।६३—६५)-का कथन है कि ऐसे असदाचारी लोगोंके कुटुम्ब नष्ट हो जाते हैं। हमारे ऋषि संध्या-वन्दन और सदाचारमय जीवनके कारण अमृतत्वको प्राप्त हुए। इसी प्रकार हम लोग भी अपने जीवनमें सदाचारका पालन करके सुख-समृद्धि और दीर्घजीवनका लाभ प्राप्त कर सकते हैं। सदाचारके नियम मूलतः वेदोंमें हैं।

अन्तमें यहाँ हिन्दुओंके वैदिक और लौकिक—इस प्रकार जो भेद किये जाते हैं, उसके विषयमें भी हमें दो शब्द कहना है। वह यह कि इस प्रकारका वर्गीकरण बहुत ही भद्दा और गलत है। हिंदू-धर्ममें ऐसा कोई वर्गभेद नहीं है। सभी हिन्दू वैदिक हैं और सबको ही सदाचारके उन नियमोंका पालन करना चाहिये, जो वर्ण और आश्रमके अनुसार मूल वेद-ग्रन्थोंमें विहित हैं।

वेदका अभेदपरत्व

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

प्रश्न—क्या वेदका तात्पर्य—प्रतिपाद्य भेद है?

उत्तर—नहीं; क्योंकि भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है। प्रमाणान्तरसे सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन करनेपर वेद अज्ञातज्ञापक प्रमाण नहीं रहेगा, दूसरे प्रमाणसे सिद्ध पदार्थका अनुवादक हो जायगा। जो वस्तु साक्षीके अनुभवसे ही सिद्ध हो रही है, उसकी सिद्धिके लिये वेदतक दौड़नेकी क्या आवश्यकता है? वेद ऐसी वस्तु बताता है, जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदिसे सिद्ध नहीं होती। वेद साक्षीमात्रका भी प्रतिपादक नहीं है; क्योंकि वह तो स्वतःसिद्ध है और सबका प्रकाशक है। वेदका वेदत्व साक्षीको ब्रह्म बतानेसे ही सफल होता है।

वस्तुतः बात यह है कि परिच्छिन्न स्थूल-सूक्ष्म पदार्थोंसे अभेद अथवा तादात्म्य होना अज्ञानका लक्षण है। दृश्य, साक्ष्य अथवा भेदमात्रसे अपनेको पृथक् द्रष्टा जानना विवेक है। इस पृथक्त्वमें भिन्नत्व अनुस्यूत है। जडसे चेतन आत्मा भिन्न है। यह भिन्नत्वकी भ्रान्ति भी अज्ञानकृत है। वेद प्रमाणान्तरसे अज्ञात आत्माकी अपरिच्छिन्नता—अद्वितीयताका बोध करा देता है। आत्मा होनेसे चेतन है, ब्रह्म होनेसे अपरिच्छिन्न—अद्वितीय है। इस ऐक्यके ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है, भेद बाधित हो जाता है। यह अज्ञानकी निवृत्ति और बाधित भेद भी आत्मस्वरूप ही है; क्योंकि वह अधिष्ठान आत्मासे भिन्न नहीं है। प्रमाणान्तरसे अज्ञात वस्तुका बोध करानेके कारण ही श्रुतिका वास्तविक प्रामाण्य है।

प्रश्न—तब क्या भेद सत्य नहीं है?

उत्तर—कदापि नहीं। भेद सर्वथा मिथ्या है, परिच्छिन्नके तादात्म्यसे ही वह सत्य भासता है। जिस अधिष्ठानमें भेद भास रहा है, उसीमें उसका अत्यन्ताभाव भी भास रहा है। अपने अभावके अधिष्ठानमें भासना ही मिथ्याका लक्षण है। इसलिये यह युक्ति बिलकुल ठीक है—'**भेदो मिथ्या स्वभावाधिकरणे भासमानत्वात्**'। यह अनुभवसिद्ध है कि अधिष्ठान-ज्ञानसे भेद मिथ्या हो जाता है। इसलिये वेदका तात्पर्य मिथ्या-भेदके प्रतिपादनमें नहीं है, प्रत्युत भेदके भाव और अभावके अनुकूल शक्ति, मायाके अधिष्ठानके प्रतिपादनमें है।

प्रश्न—तब क्या भेदके प्रतिपादनसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती?

उत्तर—भेदके प्रतिपादनसे अर्थ-धर्म-कामरूप तीनों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है, परंतु मुक्तिकी सिद्धि नहीं होती। भेदमें परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति दुःख है, अहंकार दुःख है, राग-द्वेष दुःख हैं और जन्म-मरण भी दुःख हैं। भेदमें समाधि-विक्षेप नहीं छूटते, सुख-दुःख नहीं छूटते, पाप-पुण्य नहीं छूटते और संयोग-वियोग भी नहीं छूटते; इसलिये भेदमें जन्म-मरणका चक्र अव्याहतरूपसे चलता रहता है। अतएव मुक्तिरूप पुरुषार्थकी सिद्धि भेदसे नहीं हो सकती। मुक्ति स्वयं आत्माका स्वरूप ही है। ज्ञानरूपसे उपलक्षित आत्मा ही अज्ञानकी निवृत्ति है। निवृत्ति कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, इसलिये मुक्तिमें प्राप्य-प्रापकभाव, साध्य-साधनभाव आदि भी नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि श्रुतिका तात्पर्य भेदके प्रतिपादनमें नहीं है; क्योंकि भेदकी सिद्धिसे मुक्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रश्न—फिर भेद-प्रतिपादक श्रुतियोंका क्या होगा?

उत्तर—भेद-प्रतिपादक श्रुतियाँ अविरक्त अधिकारीके लिये हैं। उनसे लौकिक-पारलौकिक सिद्धिकी प्राप्ति होती है, वे व्यष्टि-समष्टिका कल्याण करती हैं, अन्तःकरणको शुद्ध करती हैं, मुमुक्षुको ज्ञानोन्मुख करती हैं। इसलिये व्यवहारमें उनका बहुत ही उपयोग है; परंतु जहाँ वस्तुकी प्रधानतासे परमार्थ-तत्त्वका निरूपण है, वहाँ श्रुतियाँ भेदको ज्ञाननिवर्त्य होनेसे मिथ्या बताती हैं। जो वस्तु अज्ञानसे निवृत्त होती है, वह भी मिथ्या ही होती है। अतएव सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक, स्वयंप्रकाश प्रत्यक्चैतन्याभिन्न अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वके अज्ञानसे तद्विषयक अज्ञानकृति सर्वभेदकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

बात यह है कि केवल इन्द्रिय-यन्त्रोंसे तत्त्वका अनुसंधान करनेपर मात्र एक या अनेक जड सत्ताकी ही सिद्धि होती है। चिद्वस्तु यन्त्रग्राह्य नहीं है। केवल बुद्धिसे अनुसंधान करनेपर बुद्धिकी शून्यता ही परमार्थरूपसे उपलब्ध होती है; क्योंकि विचार-विक्षेपात्मक बुद्धिका अन्तिम सत्य निर्वाणात्मक शून्य ही है। भक्तिभावनायुक्त बुद्धिके द्वारा अनुसंधान करनेपर सर्वप्रमाण-प्रमेय-व्यवहारके मूलभूत सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वरकी सिद्धि होती है। ऐसी स्थितिमें स्वतःसिद्ध साक्षीको अपरिच्छिन्न-अद्वितीय ब्रह्म बतानेके लिये कोई इन्द्रिय-यन्त्र या भाव-भक्ति समर्थ नहीं है। उसका ज्ञान केवल औपनिषद-ऐक्यबोधक महावाक्यसे सम्पन्न होता है।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'

(ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजी महाराजकी अमृत-वाणी)

वेद विश्वका प्राचीनतम वाङ्मय है। भारतकी सनातन मान्यताओंके अनुसार वेद अपौरुषेय अथवा सर्वज्ञ स्वयं भगवान्की लोकहिताय रचना है। शास्त्रोंमें सम्पूर्ण वेदका धर्मके मूलरूपमें आख्यान किया गया है—**'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'**। उदयनाचार्यने सम्पूर्ण वेदको परमेश्वरका निरूपक माना है। उनका कहना है—

कृत्स्न एव हि वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः।

भट्टपादने वेदकी वेदता इस बातमें माना है कि लोकहितका जो उपाय प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे नहीं जाना जा सकता, उसका ज्ञान वेदसे होता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

वेदकी समस्त शिक्षाएँ सार्वभौम हैं। वेदभगवान् मानवमात्रको हिन्दू, सिख, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि कुछ भी बननेके लिये नहीं कहते। वेदभगवान्की स्पष्ट आज्ञा है—**'मनुर्भव'** अर्थात् मनुष्य बनो। आज हमारी मनुष्यता पाश्चात्त्य धूमिल संस्कृतिके संसर्गसे संक्रमित हो गयी है। अहर्निश यह तथाकथित मानव-समाज स्वसाधनमें संलग्न है। सैकड़ों वैदिक मन्त्रोंमें भगवान् नारायणका विराट् और परम पुरुषके रूपमें चित्रण किया गया है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(ऋक्० १०। ९०। १)

इस विश्वके असंख्य प्राणियोंके असंख्य सिर, आँख और पैर उस विराट् पुरुषके ही सिर, आँख तथा पैर हैं। विश्वमें सर्वत्र परिपूर्ण और सभी शरीरोंमें प्राणिमात्रके हृदयदेशमें विराजमान वे पुरुष निखिल ब्रह्माण्डको सब ओरसे घेरकर दृश्य-प्रपञ्चसे बाहर भी सर्वत्र व्याप्त हैं।

अतः सर्वभूतमय ईश्वरकी अवधारणा प्रगाढ करनेके लिये ही वेदोंमें प्रार्थना की गयी है—**'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।'** सभी दिशाएँ मेरे मित्र हो जायँ। **'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे'** हम सभी प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखें—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

(अथर्ववेद ३। ३०। १)

ईश्वरने हमें सहृदय, एक मनवाला बिना द्वेषके बनाया है। हम एक-दूसरेसे ऐसे स्नेह करें, जैसे गाय अपने नवजात बछड़ेसे करती है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋक्० १०। १९१। ४)

हम सबके जीवनका लक्ष्य एक हो, हृदय और मन एक हों, ताकि मिलकर जीवनमें उस एक लक्ष्यको प्राप्त कर सकें।

मानवधर्मका ऐसा उच्चतम, श्रेष्ठतम और वरणीय-ग्रहणीय स्वरूप अन्यत्र दुर्लभ है। वैदिक धर्म हमें सुख-शान्ति, समाजमें समृद्धि, सेवा-भावना, सामञ्जस्य, सहयोग, सत्याचरण, सदाचरण, संवेदनासे परिपूर्ण हृदय और मननशील मनुष्य बननेकी ओर उत्प्रेरित करता है।

वेदमें इसी भावनाको दृढ़ किया गया है कि एक ही आत्मतत्त्व प्रत्येक पदार्थमें प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंसे अभिहित हो रहा है, अतएव समग्र ब्रह्माण्ड एक ही तत्त्वसे अधिष्ठित है। वेद-संस्कृतिको वैष्णव संस्कृति इसलिये कहा गया है कि विष्णुमें ब्रह्मके सभी गुणोंका समावेश हो गया है—

'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।'

(ऋक्० १०। ९०। २)

वेद-विद्या भारतीय संस्कृतिका पहला प्रतीक है। वेद-विद्या त्रयीविद्या कहलाती है। ऋक्, यजुः और साम ही त्रयीविद्या हैं। त्रयीविद्याका सम्बन्ध अग्नित्रयसे है।अग्नि, वायु और आदित्य—ये तीन तत्त्व ही विश्वमें व्याप्त हैं। पुरुष ब्रह्मके तीन पैर ऊपर हैं और एक पैर विश्व है। त्रयीविद्याके समान ज्ञान, कर्म और उपासनाका त्रिक वेद-विद्याका दूसरा स्वरूप है, जिसके माध्यमसे वेद ब्रह्मकी सत्, चित् और आनन्द—इन तीन विभूतियोंकी अभिव्यक्ति हो रही है। विश्वके सम्पूर्ण धर्मोंका केन्द्रबिन्दु इस त्रिकमें ही स्थित है। यह त्रिक है और अधिक विशिष्ट रूपमें—गायत्री, गङ्गा एवं गौके रूपमें प्रस्फुटित हुआ है। अतः गायत्री, गङ्गा और गौके तत्त्वको ठीक-ठीक समझना ही वैदिक संस्कृतिके मूल तत्त्वोंको समझना है।

आत्मकल्याणके इच्छुक मानवोंको धर्मके मूल स्रोत वेदोंका अध्ययन, मनन और यथार्थ चिन्तन आत्मनिष्ठाके साथ करना चाहिये।

[प्रस्तुति—श्रीमदनजी शर्मा शास्त्री, साहित्यालंकार]

श्रीअरविन्दका अध्यात्मपरक वेद-भाष्य

श्रीअरविन्दके योग और दर्शनके आधार हैं वेद। वे वैदिक परम्पराके द्रष्टा और चिन्तक थे। सृष्टिके विकास-क्रममें जिस अतिमानसिक चेतनाका अवतरण और अभिव्यक्ति उनके पूर्णयोगका लक्ष्य है, वह उनके वेद-भाष्यकी आध्यात्मिक व्याख्यामें परिलक्षित हुआ है। श्रीअरविन्दने अपने संस्कृत काव्य 'भवानी-भारती' में कहा है कि—

पुनः शृणोमीममरण्यभूमौ
वेदस्य घोषं हृदयामृतोत्सम्।
सुज्ञानिनामाश्रमगा मुनीनां
कुल्येव पुंसां वहति प्रपूर्णा॥९३॥

भावार्थ—एक बार फिर मैं वनोंमें वेदके उस स्वरको गुंजरित होते हुए सुन रहा हूँ, जो हृदयमें अमृतका स्रोत है। यह मानव-नदी मुनियोंके गम्भीर ज्ञानयुक्त आश्रमकी ओर बह रही है।

श्रीअरविन्दके अनुसार 'विश्वके अध्यात्म, मत-पन्थ और चिन्तनका कोई भी अङ्ग आज जैसा है वैसा नहीं होता, यदि वेद न होते। यह विश्वके किसी अन्य वाङ्मयके लिये नहीं कहा जा सकता है। वेद ब्रह्मके सार-तत्त्वके विषयमें ही नहीं, प्रत्युत अभिव्यक्तिके विषयमें भी सत्य हैं।'

वेदोंकी अपौरुषेयता और उनमें निहित ईश्वरीय ज्ञानका प्रतिपादन करते हुए भी श्रीअरविन्दने उन्हें ज्ञेय और अनुसंधेय स्वीकार किया है। भारतवर्ष और विश्वका विकास इसके अन्वेषण और इसमें निहित ज्ञानके प्रयोगपर निर्भर करता है। वेदका उपयोग जीवनके परित्यागमें नहीं, प्रत्युत संसारमें जीवन-यापनके लिये है। हम जो आज हैं और भविष्यमें जो होना चाहते हैं, उन सभीके पीछे, हमारे चिन्तनके अभ्यन्तरमें, हमारे दर्शनोंके उद्गम वेद ही हैं। यह कहना उचित नहीं कि वेदका सनातन ज्ञान हमारे लिये सहज मार्गकी प्राप्तिके लिये अति दुरूह और अँधेरी उपत्यकामें भटकने-जैसा है।

एक बार उन्होंने अपने पूर्णयोगकी साधनाके उद्देश्यके विषयमें श्रीयुत मोतीलाल रायको लिखा था— 'श्रीकृष्णने मुझे वेदका वास्तविक अर्थ बताया है। इतना ही नहीं, उन्होंने मुझे भाषा-शास्त्रका नया विज्ञान बताया है, जिससे मानव-वाक् तथा उसके विकासकी प्रक्रियाका ज्ञान हो सके और एक नवीन निरुक्त लिखा जा सके। उन्होंने मुझे उपनिषदोंमें निहित अर्थ भी बताया है, जो भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानोंद्वारा समझा नहीं गया है। अतः मुझे वेद और सारे वेदान्तकी व्याख्या इस तरह करनी होगी कि कैसे सारे धर्म इनसे उद्भूत होते हैं। इस तरह प्रमाणित हो जायगा कि भारतवर्ष विश्वके धर्म-जीवनका केन्द्र है और सनातनधर्मद्वारा विश्वकी रक्षा करना भारतवर्षकी नियति है।'

वेद, योग और धर्मशास्त्रके प्राणप्रद बीज-मन्त्र तथा धर्मरक्षक मूलतत्त्व होनेके नाते श्रीअरविन्द वेदार्थको गुह्य मानते हैं। चेतनाके ऊर्ध्वलोकमें रहस्यमय पर्देके पीछे अवस्थित वेदार्थ शब्दार्थकी सीमाओंमें कभी सीमित नहीं माने गये हैं, क्योंकि वैदिक ऋषि मन्त्रद्रष्टा तथा सत्यश्रुत होनेके नाते उस परम ज्ञानके अधिकारी थे, जहाँ साधारण मानवके मनकी गति नहीं है। अतः उस गुह्य ज्ञानको गुरु-शिष्य-परम्परामें ही संरक्षित करनेका विधान था।

स्वाभाविक है कि उपर्युक्त विधानके कारण ऋचाओंके पीछे छिपा हुआ तात्पर्य दुर्ज्ञेय हो गया, किंतु इतना नहीं कि वह अज्ञेय हो जाय। आध्यात्मिक साधना-पद्धति हमें सिखाती है कि यदि ऋषिकी चेतनासे तदाकार होनेका अभ्यास करके वेद-ऋचाके अर्थ-बोधकी अभीप्सा हो तो वेद स्वयंको अवश्य स्पष्ट करेंगे। निरुक्तकार यास्कने भी ऐसे अनेक शब्द गिनाये हैं, जिनका अर्थ उन्हें ज्ञात नहीं था। आज तो अप्रचलित भाषा-शैली और साधनाके अभावमें व्याप्त अन्धकारसे वेदके अभिप्रायका उदय होना, '**दभ्रं पश्यद्भ्य उर्विया विचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥** (ऋक्० १।११३।५)-की तरह अल्पदृष्टियुतको विशाल दृष्टि देनेके लिये उषा भगवतीकी अभिव्यक्तिके समान ही कठिन है। उपनिषद्-कालमें भी आध्यात्मिक अभीप्सुओंको वेदकी उपासनाके लिये दीक्षा, ध्यान और तपस्याकी शरण लेनी होती थी। अतः आज भी वेदोपासकको श्रद्धा होनी चाहिये कि ऋचाएँ ऋषियोंकी कल्पनाएँ नहीं, प्रत्युत सत्य दर्शन हैं। अतः इनके यथार्थको केवल व्याकरण और व्युत्पत्ति-शास्त्रके मानसिक कार्यकलापोंद्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता।

श्रीअरविन्दने अपनी अध्यात्मपरक व्याख्याके लिये वेदोक्त प्रमाण ही प्रस्तुत किये हैं। वे ऋषि दीर्घतमाकी ऋचाको उद्धृत करते हैं—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥

(ऋक्० १।१६४।३९)

अर्थात् परमात्मा परम आकाशके समान व्यापक और ऋचाओंके अक्षरके समान अविनाशी है, जिसमें समस्त देवगण स्थित हैं, उसे जो नहीं जानता वह वेदकी ऋचाओंसे क्या करेगा? जो उस परमतत्त्वको जानते हैं, वे ही उस परम लोकमें अधिष्ठित हो सकते हैं?

इस गूढार्थ-बोधक प्रथम प्रमेयकी पुष्टि श्रीअरविन्दने 'वेद-रहस्य' नामक पुस्तकमें निरुक्त, व्याकरण, भाषा-विज्ञान, रूपक-रहस्य-भेदन और परम्परा-प्राप्त विभिन्न प्रणालियोंसे की है। स्वत:प्रमाणके रूपमें उन्होंने ऋषि वामदेव गौतमका मन्त्र-दर्शन प्रस्तुत किया है—

एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचांसि।
निवचना कवये काव्यान्यशंसिषं मतिभिर्विप्र उक्थैः॥

(ऋक्० ४। ३। १६)

अर्थात् हे अग्नि! तुम ज्ञानीके लिये मैंने ये गुह्य शब्द उच्चरित किये हैं। इन मार्ग-प्रदर्शक, आगे ले जानेवाले क्रान्तदर्शी कवि-वाक्यों तथा ऋषि-ज्ञानके प्रकाशमान तत्त्वोंको मैंने शब्दों और चिन्तनमें वर्णित किया है।

ऋषि दीर्घतमा औवथ्य वाक्के चार स्तरोंका वर्णन करते हैं। परा, पश्यन्ती और मध्यमा तो गुहामें छिपी हैं, केवल तुरीया वाक् अर्थात् वैखरीका प्रयोग ही मानव कर पाता है—'**वैखरी कण्ठदेशगा।**'

निरुक्तकार यास्कने भी वेद-भाष्यकारोंका याज्ञिक, गाथा-गायक अथवा ऐतिहासिक, वैयाकरण और आध्यात्मिक सम्प्रदायोंमें वर्गीकरण किया है तथा वे ज्ञानको भी अधियज्ञ, अधिदैवत तथा आध्यात्मिक वर्गोंका मानते हैं।

श्रीअरविन्दका द्वितीय प्रमेय है कि वेदार्थ स्वयं प्रतीकात्मक, द्व्यर्थक या अनेकार्थक हैं। सप्त सरिताओंके प्रवाहको खोलना, प्रकाशकी मुक्ति, पणियोंसे पशुओंको छुड़ाना—ये संदर्भ ऐसे हैं जो प्रतीकोंकी स्थायी, स्वाभाविक और आध्यात्मिक व्याख्यासे ही अपने गुह्य तात्पर्यका उद्घाटन कर सकते हैं। लौकिक, बाह्य और गुह्य अर्थोंका पृथकीकरण ज्ञान और शिक्षणके अभ्याससे ही सम्भव है। अत: वेदार्थरूपी रथके दो चक्र हैं—अध्यात्म और रहस्य। इनकी साधनासे ही वेदकी ऋचाएँ अपने रूप और तात्पर्यको प्रकट करती हैं।

उदाहरण-स्वरूप ऋषि मधुच्छन्दा वैश्वामित्रकी ऋचा प्रस्तुत करते हैं—

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति॥

(ऋक्० १। ३। १२)

अभिप्राय यह कि सरस्वती अन्तर्दर्शन या प्रज्ञानके द्वारा मानव-चेतनाके सतत-प्रबोधनके माध्यमसे मानव-चेतनाके महान् प्रवाह (**ऋतस्य विशालां०**) साक्षात् सत्य चेतनाको अवतरित कराती है तथा हमारे सारे चिन्तनको प्रदीप्त करती है।

पूर्वकी ऋचाओंमें सरस्वतीको प्रकाशमय ऐश्वर्यसे पूर्ण (**वाजेभिर्वाजिनीवती**) एवं विचारकी सम्पत्तिसे समृद्ध (**धियावसुः**) कहा गया है। किंतु '**महो अर्णः**' को समानाधिकरण मानकर अर्थ किया जाय तो सरस्वती पंजाबकी एक नदीमात्र है। अत: प्रतीककी व्याख्याके अभावमें वेदार्थ ही लुप्त हो जायगा।

इसी परम्परामें ऋषि वामदेव जब समुद्रके विषयमें '**हृद्यात् समुद्रात्**' कहते हैं तो प्रतीकार्थ ही स्पष्ट है—

एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्॥

(ऋक्० ४। ५८। ५)

इसका शब्दार्थ है कि नदियाँ हृदय-समुद्रसे निकलती हैं। शत्रुद्वारा सैकड़ों बाड़ोंमें बंद होनेके कारण ये दिखायी नहीं दे सकतीं। मैं घीकी धाराओंको देखता हूँ, क्योंकि उनके अंदर सुनहरा बेंत रखा हुआ है।

श्रीअरविन्दके अनुसार इसका निहितार्थ यह है कि दिव्य ज्ञान हमारे विचारोंके पीछे सतत प्रवाहित हो रहा है, किंतु आन्तरिक शत्रु उसे अनेक बन्धनोंसे रोके रखते हैं अर्थात् वे मनस्तत्त्वको इन्द्रिय-ज्ञानतक ही सीमित कर देते हैं। यद्यपि हमारी सत्ताकी लहरें अतिचेतनातक पहुँचनेवाले किनारोंसे टकराती हैं, किंतु वे इन्द्रियोंकी आश्रिता मनश्चेतनाकी सीमामें सीमित हो जाती हैं। आगे यह लक्ष्य इस रूपमें वर्णित है कि बस मधु-ही-मधु है—यह लक्ष्य अर्थात् सिन्धु-अतिचेतनका पारावार है।

वेद-व्याख्यामें प्रतीकोंका विवेचन भाषा-विज्ञानका विरोधी सिद्धान्त नहीं है। अध्यात्मपरक भाष्य-प्रणाली वैदिक शब्दावलीके अनेकार्थ-सिद्धान्तपर आधारित होनेसे वेद दुरूह भी नहीं हुए हैं, बल्कि निरुक्तसे अनुमोदित शब्दार्थके वैकल्पिक अर्थोंकी सम्भावनाएँ उन्मुक्त हो गयी

हैं। शिक्षा, साधना तथा ध्यानके अभावसे ही ऋषि-चेतनाका स्पर्श सम्भव नहीं हो पाता है। तात्पर्य यह नहीं है कि इस सिद्धान्तके अनुशीलनसे वेदार्थ कल्पनापर आश्रित हो जायगा, बल्कि भाषा-विज्ञानको भी शब्दोंके स्थायी तात्पर्यके अन्वेषणमें सहायता मिलेगी। क्योंकि शब्द श्रीअरविन्दके अनुसार कृत्रिम नहीं, प्रत्युत ध्वनिके सजीव विस्तार हैं। बीज-ध्वनि उनका आधार है, अतः बीज-मन्त्रोंसे उत्पन्न शब्द भी स्थायी अर्थोंकी अभिव्यञ्जनामें साधक ही है, बाधक नहीं।

श्रीअरविन्दका तृतीय प्रमेय है कि वैदिक शब्दावलीका स्वाभाविक और स्थायी अर्थ आध्यात्मिक ही होगा। जैसे '**ऋतम्**' का आध्यात्मिक अर्थ है परम सत्य। जल या अन्न आदि अवान्तर अर्थ हमें स्वाभाविक वेदार्थसे दूर ले जाते हैं। वेद यदि अग्निको '**क्रतु हृदि**' अर्थात् हृदयका सत्य कहते हैं तो अग्निका अर्थ अधिक व्यापक और उदात्त हो जाता है। यही प्रणाली कथानकों और रूपकोंकी व्याख्यामें भी प्रयुक्त हो सकती है।

अग्निका आध्यात्मिक अर्थ है '**गोपामृतस्य दीदिविं वर्धमानं स्वे दमे**'—स्वगृहमें देदीप्यमान सत्यका प्रभासित रक्षक। मित्र और वरुण हैं '**ऋतावृधौ ऋतस्पशौ**'—सत्यके स्पर्श तथा अभिवृद्धिकारक। '**गो**' शब्द गायके अतिरिक्त प्रकाश या रश्मियोंका भी वाचक है। यह ऋषियोंके नामोंमें भी प्रयुक्त है। यथा—'**गोतम**' और '**गविष्ठिर**'। वेदोक्त गायें सूर्यके '**गोयूथ**' हैं। यह व्याख्या सर्वत्र सुसंगत और अर्थप्रदायिका है। जैसे '**घृत**' शब्द '**घृ क्षरणदीप्त्योः**' धातुसे बना है। अतः वैदिक शब्दावलीमें घृतका अर्थ प्रकाश भी होगा।

वैदिक ज्ञानका केन्द्रिय चिन्तन है सत्य, प्रकाश और अमरत्वकी खोज। वैदिक कथानकों और रूपकोंमें भी यही आध्यात्मिक लक्ष्य प्रत्यक्ष है। उदाहरणार्थ देवशुनी सरमाका कथानक सरमाको ज्ञानकी पूर्वदर्शिका तथा ज्ञानान्वेषणमें लगी दिव्य शक्तियोंकी पथ-प्रदर्शिकाके रूपमें प्रदर्शित करता है—

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।
विदद् गव्यं सरमा दृह्ळमूर्वं येना नु कं मानुषी भोजते विट्॥

(ऋक्० १। ७२। ८)

तात्पर्य यह कि विचारको यथार्थरूपसे धारण करती हुई, सत्यकी ज्ञाता द्युलोककी सात शक्तिशाली नदियोंने आनन्द-सम्पत्तिके द्वारोंको जान लिया; सरमाने गायोंकी दृढता, विस्तीर्णताको पा लिया। उसके द्वारा अब मानुषी प्रजा उच्च ऐश्वर्योंका आनन्द लेती है।

अतः देवताओंकी कुतिया सरमा दस्युओंद्वारा लूटी गयी गायोंको खोजनेवाली प्राणी नहीं, प्रत्युत सत्यकी शक्ति है, जो प्रकाश करनेवाली गौओंको खोज कर दिव्य शक्तियोंको पथ दिखाती है, ताकि वे त्रिगुणात्मक पहाड़ीको विदीर्ण कर गौओंको मुक्त करा सकें।

विदद् यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक्कः।
अग्रं नयत् सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात्॥

(ऋक्० ३। ३१। ६)

अर्थात् जब सरमाने पहाड़ीके भग्न स्थानको ढूँढकर पा लिया, तब महान् लक्ष्य खुल गया। सुन्दर पंखोंसे युक्त सरमा इन्द्रको उषाकी अवध्य गौओंके सामने ले गयी। वह गौओंके शब्दकी ओर गयी।

इस कथानकके आध्यात्मिक अर्थसे स्पष्ट है कि श्रीअरविन्दका वेद-भाष्य उपर्युक्त परम्परामें वैज्ञानिक प्रयास है। श्रीअरविन्दकृत वेद-भाष्यमें पूर्व-भाष्यकारोंके शुद्धाशयको भी प्रकाशमें लाया गया है और सृष्टिके '**अप्रकेतं सलिलम्**' की अचेतन-स्थितिसे जगत्‌को '**ज्योतिषां ज्योतिः**' की ओर विकासशील उत्क्रमणकी ऋषि-परम्पराको भी अभिव्यक्त किया गया है।

आध्यात्मिक भाष्य त्रिविध उद्देश्योंको चरितार्थ करता है। प्रथम तो उपनिषदोंके अर्थबोधमें सहायता प्राप्त होती है। द्वितीय लाभके रूपमें वेदान्त, पुराण, तन्त्र, दर्शन सभीके मूल स्रोतके रूपमें वेद-ज्ञानकी उपलब्धि है और तृतीय लाभ भविष्यमें आनेवाले सभी दर्शनोंका मूल चिन्तन वेद-सम्मत होना है, जिससे प्रज्ञाको सहज ही अध्यात्मका आधार प्राप्त हो जायगा।—

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्॥

(ऋक्० ५। ६२। १)

सत्यसे आवृत एक सत्य है, जहाँ सूर्य या दिव्य ज्योति अर्थात् सत्य घोड़ों अर्थात् ज्योतिकी यात्राको उन्मुक्त कर देते हैं। दिव्य ऐश्वर्य, समृद्धि, ज्ञान, बल एवं आनन्द आदिकी सहस्रों धाराएँ एकत्र हो जाती हैं, ऐसे दिव्य सूर्यके रूपमें वह कल्याणतमरूप देव एक है।

[श्रीदेवदत्तजी]

वेदान्तकी अन्तिम स्थिति

(गोलोकवासी संत पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मु० उ० ३। २। ८)

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महापुरुष नाम-रूपसे रहित होकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

भाव यह है कि जबतक जीवको पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तभीतक उसे इस लोकके तथा परलोकके कर्मोंकी चिन्ता रहती है, तभीतक उसे संयोगमें सुख और वियोगमें दुःखका अनुभव होता है। जब उसे भलीभाँति यह ज्ञात हो जाता है, यह अनुभव होने लगता है कि मैं पृथ्वी नहीं, जल नहीं, तेज नहीं, आकाश नहीं, तन्मात्रा नहीं, इन्द्रिय-समूह नहीं, मन-बुद्धि, चित्त तथा अहंकार नहीं, अपितु मैं इन सबसे विलक्षण हूँ, तब उसे शरीरके रहनेसे हर्ष नहीं होता और शरीरके न रहनेसे विषाद नहीं होता। जब उसे अनुभव होने लगता है कि ये सभी सगे-सम्बन्धी गन्धर्व-नगरके समान हैं, स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके सदृश हैं—इनसे मेरा कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, तब वह न संयोगमें सुखी होगा, न वियोगमें दुःखी होगा।

एक साधारण श्रेणीका मनुष्य था। उसके पास थोड़ा-सा धन था, छोटा-सा परिवार था—एक पत्नी, एक पुत्र और वह स्वयं। एक दिन उसने स्वप्न देखा—वह बहुत बड़ा राजा बन गया है, बहुत धन है, अपार वैभव है, बहुत-सी रानियाँ हैं, दस पुत्र हैं, वह सबपर शासन कर रहा है, सब लोग उसकी आज्ञाका पालन कर रहे हैं। निद्रा खुली तो न कहीं राज्य है, न धन-वैभव है, न पुत्र तथा पत्नियाँ ही हैं। उसी टूटी खाटपर पड़ा है। दूसरे दिन कुछ डाकू आये, उसका सब धन छीन ले गये, पुत्रको मार डाले। उसकी स्त्री रोते-रोते बेहाल हो गयी। सम्पूर्ण गाँवके लोग सहानुभूति प्रकट करने आये, किंतु वह मनुष्य न रोया, न उसने किसी प्रकारका दुःख ही प्रकट किया। वैसा ही निर्विकार, निर्लेप बना रहा।

इसपर उसकी पत्नी बोली—'तुम्हारा हृदय पत्थरका बना है क्या? घरका सब धन लुट गया, एकमात्र पुत्र था वह भी मर गया, तुम्हारी फूटी आँखोंसे एक बूँद पानी भी नहीं निकला। मानो तुम्हें इसका तनिक भी शोक नहीं! बड़े निर्मोह, निष्ठुर, वज्रहृदयवाले हो!!'

पतिने कहा—'शोक किस-किसके लिये करूँ। एकके लिये या अनेकके लिये?'

पत्नी बोली—'शोक अपनोंके लिये किया जाता है, वैसे तो संसारमें नित्य ही बहुत-से आदमी मरते रहते हैं, सबके लिये कोई थोड़े ही रोता है। तुम्हारा तो एक ही पुत्र था, उसके वियोगका दुःख तो तुम्हें होना ही चाहिये?'

पुनः उसने कहा—'तुम एकको कहती हो, कल स्वप्नमें मैं दस पुत्रोंका पिता था, अपार धनका—अनन्त वैभवका स्वामी था। आज देखता हूँ, समस्त धन-वैभव और मेरे वे सब पुत्र नष्ट हो गये। जब उनके लिये मैंने शोक नहीं किया, तब उस एक पुत्रके लिये अथवा तनिकसे धनके लिये दुःख-शोक क्यों करूँ?'

पत्नी बोली—'वे तो स्वप्नके धन, वैभव तथा पुत्र थे, यह तो आपका यथार्थ पुत्र था, सच्चा धन-वैभव था।'

पतिने कहा—'यथार्थ कुछ नहीं है, यह भी एक दीर्घकालीन स्वप्न ही है। अपना तो एकमात्र परमात्मा है, जिसका इन बाह्य पदार्थोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब पदार्थ तो नाशवान् हैं ही।'

वास्तविक बात यही है। यह देह, ये प्राकृतिक पदार्थ तो अन्तवान् हैं, क्षणभंगुर हैं, विनाशशील हैं। जो शरीरी है—आत्मा है, वही नित्य है, अविनाशी है, कभी नष्ट होनेवाला नहीं है। उसका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः जो ज्ञान-तृप्त महात्मा हैं, वे इन संसारी पदार्थोंके संयोग-वियोगसे दुःखी-सुखी नहीं होते। वे

एकमात्र परमात्माको ही सत्य मानकर सदा एकरस बने रहते हैं। इस विषयमें शौनकजीने श्रीसूतजीको बतलाया कि 'सूतजी! जो ब्रह्मज्ञानी महात्मा हैं, जिन्होंने आत्म-साक्षात्कार कर लिया है, वे वीतराग विशुद्ध अन्तःकरणवाले कृतात्मा ऋषिगण इस परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर ज्ञानतृप्त प्रशान्तात्मा हो जाते हैं। उनकी किसी वस्तुमें आसक्ति नहीं रहती। वे अहंता अर्थात् देहमें अहंभाव और देह-सम्बन्धी गेह, धन, पुत्र-पौत्रादिमें ममता नहीं करते। उन्हें किसी प्रकारके अभावका बोध नहीं होता। वे युक्तात्मा, धीर पुरुष सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्माको पूर्णरीत्या प्राप्त करके उस परमात्मामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। उनमें और परमात्मामें केवल नाममात्रका ही भेद रह जाता है, वे उन्हींमें तल्लीन, तन्मय तथा तदाकार हो जाते हैं।

सूतजीने पूछा—'ब्रह्म-प्राप्त महापुरुषोंका इस भौतिक शरीरसे कुछ सम्बन्ध रहता है क्या? वे ब्रह्मलोकमें कैसे जाते हैं, संसारसे विमुक्त होनेपर उनकी स्थिति कैसी होती है?'

शौनकजीने कहा—'ब्रह्मज्ञानीका देहसे सम्बन्ध तभी-तक है, जबतक देह-सम्बन्धी प्रारब्ध-कर्मोंका क्षय नहीं होता। प्रारब्ध-कर्मोंका क्षय हो जानेपर वे इस शरीरको त्याग कर ब्रह्मके लोकमें—परब्रह्मके सनातन धाममें चले जाते हैं; क्योंकि उन्होंने वेदान्त-शास्त्रके विज्ञानद्वारा यथार्थ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। संन्यास-योगद्वारा कर्मोंके फल और आसक्तिके त्यागरूप योगसे उनका अन्तःकरण मल, विक्षेप और आवरणसे रहित होकर विशुद्ध बन गया है। ऐसी साधनामें प्रयत्नशील साधक अन्तकालमें जब प्रारब्ध-कर्मोंकी समाप्तिके समय शरीरका परित्याग करते हैं, तब उन्हें पुनः संसारमें जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। वे ब्रह्मलोकमें निवास करते हैं, वहाँसे उन्हें इस संसारमें पुनः आना नहीं पड़ता। वे संसारके समस्त बन्धनोंसे सदा-सदाके लिये परिमुक्त हो जाते हैं। वे संसारके आवागमनसे सर्वदाके लिये छूट जाते हैं।'

सूतजीने पूछा—'बहुत-से ऐसे महात्मागण हैं, जो इस शरीरके रहते हुए ही परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं। वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष जब इस शरीरका परित्याग करते हैं, तब अन्तकालमें उनकी स्थिति कैसी होती है?'

शौनकजीने कहा—'देखो, सूतजी! भगवान् अङ्गिरा मुनिने मुझे बताया कि जो समष्टिमें है वही व्यष्टिमें है, जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें भी है। यह लोक पंद्रह कलाओंसे निर्मित है। श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रियगण, मन (अन्तःकरण), अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, लोक और नाम—ये जो पंद्रह कलाएँ हैं; वे सभी इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता हैं और वे सब-के-सब अपने-अपने अधिष्ठातृ देवताओंमें जाकर उसी प्रकार मिल जाते हैं, जैसे व्यष्टि पञ्चभूत समष्टि पञ्चभूतोंमें मिलकर एक हो जाते हैं। शरीरका पृथ्वी-तत्त्व पृथ्वीमें, जल-तत्त्व जलमें, तेजस्तत्त्व तेजमें, वायु-तत्त्व समष्टि वायुमें और देहाकाश महाकाशमें जाकर मिल जाता है। वाणी अग्निमें, प्राण वायुमें, चक्षु आदित्यमें, मन चन्द्रमामें और श्रोत्र दिशाओंमें मिल जाते हैं। जैसे हाथोंके अधिष्ठातृदेव इन्द्र हैं तो ज्ञानीके शरीरके अन्त होनेपर वह इन्द्रमें जाकर मिल जायगा। इसी प्रकार सभी शरीर-पदार्थ अपने-अपने कारणोंमें विलीन हो जाते हैं।'

इनके अतिरिक्त कर्म और जीवात्मा शेष रह जाते हैं। ज्ञानीके कर्म अदत्त-फलवाले होते हैं। जैसे अज्ञानी तो शुभ-अशुभ कर्मोंके फलरूप ही नाना योनियोंमें जाते हैं। अतः उनके कर्म दत्त-फल कहलाते हैं; परंतु ज्ञानी तो शुभ-अशुभ,धर्म-अधर्म सबसे परे हो जाता है, इसलिये उसके कर्म अदत्त-फलवाले हो जाते हैं। अतः अदत्त-फल कर्म और विज्ञानमय जीवात्मा—ये सब अव्यय ब्रह्म परमात्मामें लीन हो जाते हैं—एकीभूत हो जाते हैं।

सूतजीने पूछा—'ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्तका जीवात्मा परमात्मामें किस मार्गसे, किन-किन लोकोंसे, कैसे जाकर उनमें लीन होता है?'

शौनकजीने कहा—'देखो, जैसे अपने उद्गम-स्थानसे निकलकर बहती हुई गङ्गा, यमुना, सिन्धु, सरस्वती आदि नदियाँ जब जाकर समुद्रमें मिलती हैं, तब अपने-अपने नाम-रूपोंका परित्याग करके उसीमें विलीन हो

जाती हैं, एकाकार बन जाती हैं। उसी प्रकार विद्वान् जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे विमुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं—उन्हींके समान हो जाते हैं। उनका फिर कभी जन्म नहीं होता, वे आवागमनसे सर्वथाके लिये रहित हो जाते हैं। वे जन्म-मरण-विहीन—पुनरावृत्तिरहित हो जाते हैं। वे किस पथसे कैसे जाते हैं, इसका भी कोई चिह्न अवशेष नहीं रहता। जैसे कछुए, मछली आदि जलचर जीव जिधरसे चाहें निकल जायँ, आकाशमें उड़नेवाले पक्षी जिधरसे चाहें उड़ जायँ, उनके पद-चिह्न अवशिष्ट नहीं रहते। इसी प्रकार ज्ञानियोंके गमनकी गति दृष्टिगोचर नहीं होती। जैसे नदियाँ समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, जलचर जीव जलमें विलीन हो जाते हैं, आकाशचारी जीव आकाशमें ही विलीन हो जाते हैं; वैसे ही ब्रह्मज्ञानी अज्ञात मार्गसे जाकर ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं।'

सूतजीने कहा—'भगवन्! महर्षि अङ्गिराद्वारा कही हुई यह जो दिव्य उपनिषद् आपने सुनायी, इसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जान लेनेपर तो साधक परब्रह्मका विज्ञाता बन जाता होगा?'

शौनकजीने कहा—'निश्चयपूर्वक जो भी साधक इस उपनिषद्के द्वारा परब्रह्मको जान लेता है, वह परब्रह्म ही हो जाता है। ब्रह्मके समान ही हो जाता है। यही बात नहीं कि वह अकेला ही कृतार्थ होता हो, उसके कुलमें भी ब्रह्मवेत्ता ही उत्पन्न होते हैं, उसके कुलमें कोई भी अब्रह्मवेत्ता नहीं होता। जो ब्रह्मको जान लेता है, वह शोक-सागरको तरकर शोकके पार पहुँच जाता है अर्थात् शोकरहित बन जाता है। वह पाप-पङ्कसे भी तर जाता है अर्थात् निष्पाप, निर्मल बन जाता है। उसके हृदयकी ग्रन्थियाँ सर्वथा खुल जाती हैं, ब्रह्म-साक्षात्कार होनेपर वह अमृतत्वको प्राप्त होता है—अमर बन जाता है।'

[संकलनकर्ता—डॉ० श्रीविद्याधरजी द्विवेदी]

वेदोंकी संहिताओंमें भक्ति-तत्त्व

(श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य दार्शनिक-सार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्तण्ड वेदान्तवागीश श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महामण्डलेश्वर पूज्य स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी महाराज)

मङ्गलाचरण

शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु
शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु
शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा॥

(ऋक्० ७। ३५। १३; अथर्व० १९। ११। ३)

विश्वरूप अविनाशी देव हमारे '**शम्**' (शाश्वतशान्ति-सुख)-के लिये प्रसन्न हों। प्राणोंके प्रेरक एवं शरीरोंके अन्तर्यामी महादेव हमारे '**शम्**' के लिये अनुकूल हों। समस्त विश्वके उत्पादक, संरक्षक एवं उपसंहारक विश्वाधिष्ठान परमात्मा हमारे '**शम्**' के लिये सहायक हों। क्षीरसमुद्रशायी विश्वप्रणम्य भगवान् श्रीनारायणदेव—जो संसारके समस्त दुःखोंसे भक्तोंको पार कर देते हैं—हमारे '**शम्**' के लिये प्रसन्न हों। देवोंकी रक्षा करनेवाली विश्वव्यापिनी भगवान्की चिति-शक्ति हमारे '**शम्**'-लाभके लिये तत्पर हो।'

वेदोंका महत्त्व

यद्यपि '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' अर्थात् मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभाग दोनोंका नाम वेद है, यों वैदिक सनातन धर्मानुयायी विद्वान् मानते हैं, तथापि मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभागका आधाराधेय-भाव तथा व्याख्येय-व्याख्यानभाव होनेके कारण अर्थात् मन्त्रभाग (संहिताएँ) आधार एवं व्याख्येय तथा ब्राह्मणभाग आधेय एवं व्याख्यान होनेके कारण ब्राह्मणभागकी अपेक्षा मन्त्रभागमें मुख्य निरपेक्ष वेदत्व है। अतः उसकी संहिताओंमें ही अभिवर्णित भक्तितत्त्वका यहाँ कल्याण-प्रेमियोंके लिये यथामति उल्लेख किया जाता है। मनुमहाराजने भी कहा है—

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

(मनुस्मृति २। १३)

अर्थात् धार्यमाण भक्ति, ज्ञान आदि धर्मकी जिज्ञासा रखनेवालोंके लिये मुख्य—स्वतः-प्रमाण एकमात्र श्रुति है।

द्वारा आह्वान या आराधना करने योग्य है।

भगवान्की कृपालुता

श्रीभगवान्की भक्तवत्सलताका अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा इस प्रकार वर्णन मिलता है—

गाव इव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान्
वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना।
पतिरिव जायामभि नो न्येतु
धर्ता दिवः सविता विश्ववारः॥

(ऋक्० १०। १४९। ४)

'जैसे गायें ग्रामके प्रति शीघ्र ही जाती हैं, जैसे शूरवीर योद्धा अपने प्रिय अश्वपर बैठनेके लिये जाता है,जैसे स्नेहपूरित मनवाली बहुत दूध देनेवाली 'हम्मा-रव' करती हुई गाय अपने प्रिय बछड़ेके प्रति शीघ्रतासे जाती है तथा जैसे पति अपनी प्रियतमा सुन्दरी पत्नीसे मिलनेके लिये शीघ्र जाता है, वैसे ही समस्त विश्वद्वारा वरण करने योग्य निरतिशय शाश्वत-आनन्दनिधि सविताभगवान् हम शरणागत भक्तोंके समीपमें आता है।' इस मन्त्रमें यह रहस्य बतलाया गया है कि गौकी भाँति मातारूप परमस्नेहामृतका भण्डार श्रीभगवान् ग्रामकी तरह भक्तके गृहमें या उसके हृदयमें निवास करनेके लिये, वत्सस्थानापन्न अपने स्नेह एवं कृपाके भाजन भक्तको ज्ञानामृत पिलानेके लिये या योद्धा वीरकी भाँति निखिल बल-पराक्रमनिधि महाप्रभु भक्तके अन्तःकरण एवं बाह्यकरणरूप अश्वोंका नियमन करनेके लिये अथवा उन्हें अपने वशमें करनेके लिये तथा पतिकी भाँति विश्वपति सर्वेश्वर प्रभु प्रियतम जायाके स्थानापन्न भक्तका परिरम्भण (आलिङ्गन) करनेके लिये या उसके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये अथवा उसे सर्वप्रकारसे संतृप्त करनेके लिये या अपने अलौकिक साक्षात्कारद्वारा कृतार्थ—धन्य बनानेके लिये शीघ्र ही भक्तकी प्रार्थनामात्रसे आ जाता है। यह भगवान्की भक्तपर स्वाभाविकी कृपालुता है। ऐसे कृपालु भगवान्के प्रति भक्तिका उद्रेक स्वभावतः हो ही जाता है।

एकेश्वरवाद

वह सर्वेश्वर भगवान् एक ही है, वह एक ही अनेक नामोंके द्वारा स्तूयमान होता है एवं विविध साकार विग्रहोंके द्वारा समुपास्य बनता है। उस एकके अनेक नाम एवं भक्त-भावना-समुद्भासित विविध विग्रह होनेपर भी उसकी एकता अक्षुण्ण ही रहती है। यह सिद्धान्त हमारी अतिधन्य संहिताओंमें स्पष्टरूपसे प्रतिपादित है। जैसे—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः ………………।

(ऋक्० १। १६४। ४६)

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

(ऋक्० १। १६४। ४६; अथर्व० ९। १०। २८)

अर्थात् 'तत्त्वदर्शी मेधावी विद्वान् उस एक सर्वेश्वरको ही इन्द्र, मित्र, वरुण एवं अग्नि आदि विविध नामोंसे पुकारते हैं।' एक ही सद्ब्रह्मको साकार-निराकारादि अनेक प्रकारसे कहते हैं।'

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

(ऋक्० १०। ११४। ५)

'तत्त्वविद् विद्वान् शोभन—पूर्ण लक्षणोंसे युक्त उस एक सत्य ब्रह्मकी अनेक वचनोंके द्वारा बहुत प्रकारसे कल्पना करते हैं।'

सर्वदेवमय इन्द्र परमात्मा

यो देवानां नामधा एक एव॥ (ऋक्० १०। ८२। ३; शुक्लयजु० १७। २७) **यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।** (ऋक्० १०। ८२। ६) 'एक ही परमात्मा देवोंके अनेक नामोंको धारण करता है और उसी एक परब्रह्ममें सभी देव आत्मभावसे संगत हो जाते हैं।' अतएव शुक्ल-यजुर्वेदसंहितामें भी एक इन्द्र-परमात्मा ही सर्वदेवमय है एवं समस्त देव एक—इन्द्रस्वरूप ही हैं, इसका स्पष्टतः वर्णन इस प्रकार किया गया है—

अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे सविता च म इन्द्रश्च मे सरस्वती च म इन्द्रश्च मे पूषा च म इन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ मित्रश्च म इन्द्रश्च मे वरुणश्च म इन्द्रश्च मे धाता च म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे मरुतश्च म इन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ पृथिवी च म इन्द्रश्च मेऽन्तरिक्षं च म इन्द्रश्च मे द्यौश्च म इन्द्रश्च मे समाश्च म इन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च म इन्द्रश्च मे दिशश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

(शुक्लयजु० १८। १६—१८)

'अग्नि भी इन्द्र है, सोम भी इन्द्र है, सविता भी इन्द्र

है, सरस्वती भी इन्द्र है, पूषा भी इन्द्र है, बृहस्पति भी इन्द्र है; वे सब इन्द्र-परमात्मास्वरूप अग्नि आदि देव जपादि विविध यज्ञोंके द्वारा मेरे अनुकूल—सहायक हों। मित्र भी इन्द्र है, वरुण भी इन्द्र है, धाता भी इन्द्र है, त्वष्टा भी इन्द्र है, मरुत् भी इन्द्र हैं, विश्वेदेव भी इन्द्र हैं; वे सब इन्द्रस्वरूप देव यज्ञके द्वारा हमपर प्रसन्न हों। पृथिवी भी इन्द्र है, अन्तरिक्ष भी इन्द्र है, द्यौ—स्वर्ग भी इन्द्र है, समा—संवत्सरके अधिष्ठाता देवता भी इन्द्र हैं, नक्षत्र भी इन्द्र हैं, दिशाएँ भी इन्द्र हैं; वे सब इन्द्राभिन्न देव यज्ञके द्वारा मेरे रक्षक हों।'

समस्त देवता उस एक इन्द्र-परमात्माकी ही शक्ति एवं विभूतिविशेषरूप हैं। अतः वे उससे वस्तुतः पृथक् नहीं हो सकते। इसलिये इस देवसमुदायमें सर्वात्मत्व-ब्रह्मत्वरूप लक्षणवाले इन्द्रत्वका प्रतिपादन करनेके लिये अग्नि आदि प्रत्येक पदके साथ इन्द्रपदका प्रयोग किया गया है और '**तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्**' इस न्यायसे अर्थात् जैसे घटसे अभिन्न मृत्तिकासे अभिन्न शरावका घटसे भी अभिन्नत्व हो जाता है, वैसे ही अग्निसे अभिन्न इन्द्र-परमात्मासे अभिन्न सोमका भी अग्निसे अभिन्नत्व हो जाता है—इस न्यायसे अग्नि, सोम आदि देवोंमें भी परस्पर भेदका अभाव ज्ञापित होता है और इन्द्र-परमात्माका अनन्यत्व सिद्ध हो जाता है, जो भक्तिका खास विशेषण है।

नामभक्ति और रूपभक्ति

यह जीव अनादिकालसे संसारके कल्पित नाम-रूपोंमें आसक्त होकर विविध प्रकारके दुःखोंको भोग रहा है। अतः इस दुःखजनक आसक्तिसे छूटनेके लिये हमारे स्वतःप्रमाण वेदोंने '**विषस्यौषधं विषम्**', '**कण्टकस्य निवृत्तिः कण्टकेन**' की भाँति श्रीभगवान्के पावन मधुरतम मङ्गलमय नामोंकी एवं दिव्यतम साकाररूपोंकी भक्तिका उपदेश दिया है। जैसे—

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे।

(ऋक्० ३। ३७। ३; अथर्व० २०। १९। ३)

'हे अनन्तज्ञाननिधि भगवन्! आपके पावन नामोंका परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चार वाणियोंके द्वारा भक्तिके साथ हम उच्चारण करते रहते हैं।'

मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे।

(ऋक्० ८। ११। ५)

'अमर्त्य-अविनाशी आप भगवान्के महिमाशाली नामका हम श्रद्धाके साथ जप एवं संकीर्तन करते हैं।'

इसी प्रकार उपासनाके लिये दिव्य रूपवान् साकार विग्रहोंका भी वर्णन किया गया है। जैसे—

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात् सेदु हिरण्यवर्णः।

(ऋक्० २। ३५। १०)

'हिरण्य अर्थात् सुवर्ण-जैसा हित-रमणीय जिसका रूप है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी जिसकी हिरण्यवत् दिव्य हैं, वर्ण अर्थात् वर्णनीय साकार विग्रह भी जिसका हिरण्यवत् अतिरमणीय सौन्दर्यसारसर्वस्व है, ऐसा वह क्षीरोदधि-जलशायी भगवान् नारायण अतिशय भक्तिद्वारा प्रणाम करने योग्य है'—

अर्हन् बिभर्षि सायकानि
धन्वार्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं
न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥

(ऋक्० २। ३३। १०)

'हे अर्हन्—सर्व प्रकारकी योग्यताओंसे सम्पन्न! विश्वमान्य! परम पूज्य! तू दुष्टोंके निग्रहके लिये धनुष एवं बाणोंको धारण करता है। हे अर्हन्—सौन्दर्यनिधि प्रभो! भक्तोंको संतुष्ट करनेके लिये तू अपने साकार विग्रहमें दिव्य-विविधरूपवान् रत्नोंका हार धारण करता है। हे अर्हन्—विश्वस्तुत्य! तू इस अतिविस्तृत विश्वकी अपनी अमोघ एवं अचिन्त्य शक्तिद्वारा रक्षा करता है। हे रुद्र—दुःखद्रावक देव! तुझसे अन्य कोई भी पदार्थ अत्यन्त ओजस्वी अर्थात् अनन्त वीर्यवान् एवं अमित पराक्रमवान् नहीं है।'

अजायमानो बहुधा वि जायते।

(शुक्लयजु० ३१। १९)

'वह प्रजापति परमेश्वर निराकाररूपसे वस्तुतः अजायमान है और अपनी अचिन्त्य दिव्य शक्तिद्वारा भक्तोंकी भावनाके अनुसार उपासनाकी सिद्धिके लिये दिव्य साकार विग्रहोंसे बहुधा जायमान होता है।'

पूर्वोक्त मन्त्रोंमें वर्णित हिरण्यवत् रूपवाला तथा धनुष-बाण एवं हार धारण करनेवाला हस्तपादकण्ठादिमान् साकार भगवान् ही हो सकता है, निराकार ब्रह्म नहीं; क्योंकि उसमें पूर्वोक्त वर्णन कभी संगत नहीं हो सकता। अतः सिद्धान्तरूपसे यह माना गया है कि सगुण-साकार ब्रह्म उपास्य होता है एवं निर्गुण-निराकार ब्रह्म ज्ञेय।

परम प्रेमास्पद एवं परमानन्दनिधि भगवान्

प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुहि।

(ऋक्० ८। १०३। १०)

वेदभगवान् कहते हैं कि 'वह सर्वात्मा भगवान् धन-स्त्री आदि समस्त प्रिय पदार्थोंसे भी निरतिशय प्रेमका आस्पद है, इसलिये तू उसकी स्तुति कर अर्थात् आत्मारूपसे—परमप्रियरूपसे उसका निरन्तर अनुसंधान करता रह।'

प्रियाणां त्वां प्रियपतिꣳहवामहे।

(शुक्लयजु० २३। १९)

'अन्यान्य समस्त प्रिय पदार्थोंके मध्यमें एकमात्र तू ही परमप्रिय पतिदेव है, यह मानकर हम सब भक्तजन तुझे ही पुकारते हैं एवं तुम्हारी ही कामना करते हुए आराधना करते रहते हैं।'

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं
मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥

(ऋक्० १०। ४३। १)

'हे प्रभो! एकमात्र तू ही निरतिशय-अखण्ड-आनन्दनिधि है, यह मैं जानता हूँ; इसलिये मेरी ये सभी बुद्धिवृत्तियाँ तुझ आनन्दनिधि स्वात्मभूत भगवान्से सम्बद्ध हुई, तेरी ही निश्चल अभिलाषा रखती हुई—जैसे युवती पत्नियाँ अपने प्रियतम सुन्दर पतिदेवका समालिङ्गन करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं, वैसे तेरा ही ध्यान करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं अथवा जैसे स्वरक्षणके लिये दरिद्रजन दयालु धनवान्का अवलम्बन करके दरिद्रताके दुःखसे मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही मेरी ये बुद्धिवृत्तियाँ भी तुझ नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव अनन्त-सुखनिधि सर्वात्मा भगवान्का ध्यान करती हुई समस्त दुःखोंसे विमुक्त हो जाती हैं!' इसलिये हे भगवन्! तू—

यच्छा नः शर्म सप्रथः॥

(ऋक्० १। २२। १५)

सुम्नमस्मे ते अस्तु।

(ऋक्० १। ११४। १०)

—'हमें अनन्त अखण्डैकरसपूर्ण सुख प्रदान कर। हे परमात्मन्! हमारे अंदर तेरा ही महान् सुख अभिव्यक्त हो।' ('**शर्म**' एवं '**सुम्न**' सुखके पर्याय हैं।)

इसलिये भावुक भक्त यह मङ्गलमयी प्रतीक्षा करते हुए अपने परम प्रेमास्पद भगवान्से कहते हैं—

कदा न्व न्तर्वरुणे भुवानि।
कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्॥

(ऋक्० ७। ८६। २)

'हे विभो! कब मैं पवित्र एवं एकाग्र मनवाला होकर सत्य आनन्दमय आपका साक्षात् दर्शन करूँगा? और कब मैं सर्वजन-वरणीय अनन्तानन्दनिधिरूप आप वरुणदेवमें अन्तर्भूत—तादात्म्य-भूत हो जाऊँगा?' हे भगवन्! तेरे पावन अनुग्रहसे ही मेरी यह अभिलाषा पूर्ण सफल हो सकती है, इसलिये मैं तेरी ही भक्तिमयी प्रार्थना करता हूँ।

एकात्मभाव

वह एक ही सर्वेश्वर भगवान् समस्त विश्वके अन्तर्बहिः पूर्ण है; व्याप्त है, अतएव वह निखिल चराचर विश्वका आत्मा है; अभिन्नस्वरूप है। वेदमन्त्र इस एकात्मभावका स्पष्टतः प्रतिपादन करते हैं—

आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

(ऋक्० १। ११५। १; शुक्लयजु० ७। ४२; अथर्व० १३। २)

'स्वर्ग, पृथिवी एवं अन्तरिक्षरूप वह परमेश्वर निखिल विश्वमें पूर्णरूपसे व्याप्त है; वह सम्पूर्ण जगत्का सूर्य (प्रकाशक) है तथा वह स्थावर-जंगमकी आत्मा है।'

पञ्चस्वन्तः पुरुष आ विवेश
तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।

(शुक्लयजु० २३। ५२)

'शरीरादिरूपसे परिणत पाँच पृथिव्यादि भूतोंके भीतर पुरुष अर्थात् पूर्ण परमात्मा सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करनेके लिये प्रविष्ट हुआ है तथा उस अधिष्ठान-पुरुषके भीतर वह भूत-भौतिक जगत् अर्पित है—अध्यारोपित है।' जैसे आभूषणोंमें सुवर्ण प्रविष्ट है एवं सुवर्णमें आभूषण आरोपित हैं, वैसे ही वह सर्वेश्वर भगवान् सबसे अनन्य है, सबका अभिन्नस्वरूप आत्मा है, उससे पृथक् कुछ भी नहीं है।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(शुक्लयजु० ४०। ७)

'जिस ज्ञानके समय समस्त प्राणी एक आत्मा ही हो जाते हैं अर्थात् नाम-रूपात्मक आरोपित जगत्का अधिष्ठान आत्मामें बाध हो जाता है, केवल आत्मा ही परिशिष्ट रह जाता है, ऐसे विज्ञानवाले एवं सर्वत्र एक आत्मभावका ही अनुदर्शन करनेवालेको उस समय मोह क्या एवं शोक क्या? अर्थात् अद्वय-आत्मज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर अज्ञानके शक्ति-द्वयरूप आवरणात्मक मोह एवं विक्षेपात्मक शोककी भी सुतरां निवृत्ति हो जाती है।'

ज्ञानवान् भक्तकी यही एकभक्ति है, वह उस एकको ही सर्वत्र देखता है और तदन्यभावका बाध करके उस एकमें ही वह तन्मय बना रहता है। वह एक अपना अभिन्नस्वरूप आत्मा ही है। अतएव जो यथार्थमें ज्ञानवान् है, वह भक्तिशून्य भी नहीं रह सकता और जो सच्चा भक्त है, वह अज्ञानी भी नहीं हो सकता। ज्ञानीके हृदयमें अनन्य भक्तिकी निर्मल मधुर गङ्गा प्रवाहित रहती है तथा भक्तका हृदय अद्वय-ज्ञानके विमल प्रकाशसे देदीप्यमान रहता है। इस प्रकार ज्ञान एवं भक्तिका सामञ्जस्य ही साधक—कल्याण-पथिकको निःश्रेयसके शिखरपर पहुँचा देता है।

पराभक्ति

पराभक्तिके ही पर्याय हैं—अनन्यभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्तभक्ति एवं फलभक्ति। अतएव भजनीय भगवान्के अनन्य—अभिन्न स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(शुक्लयजु० ४०। ५)

'वह समस्त प्राणियोंके भीतर परमप्रिय आत्मारूपसे अवस्थित है एवं सबके बाहर भी अधिष्ठानरूपसे अनुगत है।'

अतएव वह मुझसे भी अन्य नहीं है—अनन्य है, अभिन्न है, इस भावको दिखानेके लिये श्रुति भावुक भक्तकी प्रार्थनाके रूपमें कहती है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥

(ऋक्० ८। ४४। २३)

'हे अग्ने! परमात्मन्! मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाय—इस प्रकार तेरा एवं मेरा अभेदभाव हो जाय तो बड़ा अच्छा रहे। ऐसे अनन्य प्रेम-विषयके तेरे सदुपदेश मेरे लिये सत्य अनुभवके सम्पादक हों या तेरे शुभाशीर्वाद सत्य—इष्ट-सिद्धिके समर्पक हों, यही मेरी प्रेममयी प्रार्थना है।' जीवात्माके साथ ईश्वरात्माका अभेदभाव हो जानेपर ईश्वरात्मामें परोक्षत्वकी निवृत्ति होती है और ईश्वरात्माके साथ जीवात्माका अभेदभाव हो जानेपर जीवात्मामें संसारित्वकी एवं सद्वितीयत्वकी निवृत्ति होती है।

उस प्रियतम आत्मस्वरूप इष्टदेवसे भिन्न बाहर एवं भीतर अन्य कोई भी पदार्थ द्रष्टव्य एवं चिन्तनीय न रहे, यही भक्तिमें अनन्यत्व है। आँखें सर्वत्र उसे ही देखती रहें, परमप्रेमास्पद परमानन्दस्वरूप सर्वात्मा भगवान् ही सदा आँखोंके सामने रहें। वे आँखें ही न रहें, जो तदन्यको देखना चाहें; वह हृदय ही टूक-टूक हो जाय, जिसमें तदन्यका भाव हो, चिन्तन हो। अनन्यप्रेमसे परिपूर्ण हृदय वह है, जो भीतरसे आप-ही-आप बोल उठता है—हे आराध्यदेव! मुझे केवल तेरी ही अपेक्षा है, अन्यकी नहीं। ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर तुझसे अन्य कुछ भी तो नहीं है। अतः—

विश्वरूपमुप ह्वये अस्माकमस्तु केवलः।

'मैं सर्वत्र विश्वरूप तुझ सर्वात्माका ही अनन्यभावसे

अनुसंधान करता रहता हूँ, हमारे लिये तू ही एकमात्र द्रष्टव्य बना रहे।' तू ही एकमात्र '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**' है, अन्य नहीं; इसलिये मैं तुझे ही चाहता एवं रटता हुआ तुझमें ही लीन होना चाहता हूँ। मुझमें तेरी तन्मयता इतनी अधिक बढ़ जाय कि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं बन जाय। तुझसे मैं अन्य न रहूँ एवं तू मुझसे अन्य न रहे। तुझमें एवं मुझमें अभेदभावकी प्रतिष्ठा हो जाय। मेरा यह तुच्छ 'मैं' उस महान् 'तू' में जलमें बरफकी भाँति गल-मिल जाय। यही अनन्य पराभक्तिका स्वरूप है। अन्तमें एकमात्र वही रह जानेसे यह एकान्त-भक्ति भी कहलाती है।

अतएव उस प्रियतम परमात्माके साथ अभेदभावके बोधक इस प्रकारके अनेक वेदमन्त्र उपलब्ध हैं। जैसे—

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन।

(ऋक्० १०। ४८। ५)

'मैं स्वयं इन्द्र-परमात्मा हूँ, अतः मैं किसीसे भी पराजित नहीं हो सकता। परमानन्दनिधिरूप मेरे धनको कोई भी अभिभूत नहीं कर सकता। अतः मैं कभी भी मृत्युके समक्ष अवस्थित नहीं रह सकता; क्योंकि मैं स्वयं अमृत—अभयरूप इन्द्र हूँ।'

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।

(ऋक्० ३। २६। ७)

'मैं स्वभावसे ही अनन्तज्ञाननिधि अग्नि-परमात्मा हूँ, मेरा चैतन्यप्रकाश सर्वत्र विभासित है, मेरे मुखमें सदा कल्याणमय अमृत अवस्थित है।'

इस प्रकार ज्ञान अद्वैतरूप है तो भक्ति अनन्यरूपा है। दोनोंका लक्ष्य एक ही है। अतएव सिद्धान्तमें दोनोंका तादात्म्य-सम्बन्ध माना गया है। अतः ज्ञानके बिना भक्तिकी सिद्धि नहीं और भक्तिके बिना ज्ञानकी निष्ठा नहीं। भक्ति तथा ज्ञान एक ही कल्याण-प्रेमी साधकमें मिश्री और दूधकी भाँति घुले-मिले हैं।

भक्तिके साधन

वेदोंकी संहिताओंमें सत्संग, श्रद्धा, अद्रोह, दान, ब्रह्मचर्य, कामादि-दोष-निवारण आदि अनेक भक्तिके साधनोंका वर्णन मिलता है। उन्हें यहाँ क्रमशः संक्षेपमें प्रदर्शित किया जाता है—

(१) सत्संग

पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥

(ऋक्० ५। ५१। १५)

'दानशील—उदार स्वभाववाले, विश्वासघातादि-दोषरहित, विवेक-विचारशील ज्ञानी भक्तकी हम बार-बार संगति करते रहें।' इस मन्त्रमें भक्तिके हेतुभूत सत्संगका स्पष्ट वर्णन है।

(२) श्रद्धा

श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

(शुक्लयजु० १९। ३०)

श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

(ऋक्० १०। १५१। ५)

'श्रद्धा-विश्वासद्वारा सत्य-परमात्माकी प्राप्ति होती है।'

'हे श्रद्धादेवी! हमारे हृदयमें रहकर तू हमें श्रद्धालु—आस्तिक बना।'

(३) अद्रोह

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

(शुक्लयजु० ३६। १८)

'मित्रभावकी (हितकर, मधुर) दृष्टिसे मैं समस्त भूत-प्राणियोंको देखता हूँ अर्थात् मैं किसीसे कभी भी द्वेष एवं द्रोह नहीं करूँगा।' तात्पर्य यह कि शक्तिके अनुसार सबकी भलाई ही करता रहूँगा, भला चाहूँगा, भला कहूँगा एवं भला ही करूँगा। (इस मन्त्रमें मानवको प्राणिमात्रके कल्याणमें तत्पर रहनेका स्पष्ट उपदेश दिया गया है।)

(४) दान—उदारता

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।

(अथर्व० ३। २४। ५)

'हे मानव! सौ हाथके उत्साह एवं प्रयत्नद्वारा तू धन-धान्यादिका सम्पादन कर और हजार हाथकी उदारताद्वारा तू उसका दान कर—योग्य अधिकारियोंमें वितरण कर।'

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्।

(ऋक्० १०। ११७। ५)

'धनवान् सत्कार्यके लिये याचना करनेवाले सत्पात्रको धनादिका अवश्य दान करे।'

केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋक्० १०। ११७। ६)

'अतिथि, बन्धुवर्ग, दरिद्र आदिको न देकर जो केवल अकेला ही अन्नादि खाता है, वह अन्न नहीं मानो पाप ही खाता है।' इसलिये शक्तिके अनुसार अन्योंको कुछ देकर ही पुण्यमय अन्न खाना चाहिये।

(५) ब्रह्मचर्य—संयम

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

(अथर्व० ११। ५। १९)

'ब्रह्मचर्य ही श्रेष्ठ तप है, उसके लाभद्वारा ही मानव दैवीसम्पत्तिसम्पन्न देव हो जाते हैं और वे अनायास ब्रह्मविद्या एवं अनन्यभक्तिका सम्पादन करके अविद्यारूप मृत्युका विध्वंस कर देते हैं।'

माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥

(ऋक्० १। ९०। ८; शुक्लयजु० १३। २९)

'हे प्रभो! मेरी इन्द्रियाँ मधुर अर्थात् संयम-सदाचारद्वारा प्रसन्नतायुक्त बनी रहें'—इनमें असंयमरूपी कटुता—विक्षेप न रहे, ऐसी कृपा करें।

(६) मोहादि षड्दोष-निवारणका उपदेश

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

(ऋक्० ७। १०४। २२; अथर्व० ८। ४। २२)

'हे इन्द्रस्वरूप जीवात्मन्! दिवान्ध उलूकके समान आचरण करनेवाले मोहरूपी राक्षसका, शुशुलूक (भेड़िये)-के समान आचरण करनेवाले क्रोधरूपी राक्षसका, श्वा (कुत्ता)-के समान आचरण करनेवाले मत्सररूपी राक्षसका तथा कोक (चकवा-चकवी) पक्षीके समान आचरण करनेवाले कामरूपी राक्षसका, सुपर्ण (गरुड)-के समान आचरण करनेवाले मदरूपी राक्षसका तथा गृध्र (गीध)-के समान आचरण करनेवाले लोभरूपी राक्षसका सदुपायोंके द्वारा विध्वंस कर और जैसे पत्थरसे मिट्टीके ढेलेको पीस दिया जाता है, वैसे ही उन छः मोहादि दोषरूपी राक्षस शत्रुओंको पीस डाल।'

इस प्रकार वेदोंकी परम प्रामाणिक संहिताओंमें भगवद्भक्तिके अनेक साधनोंका स्पष्ट वर्णन मिलता है। इन साधनोंमें सत्संग नन्दनवन है, संयम कल्पवृक्ष है और श्रद्धा कामधेनु है। जब साधक इस दिव्य नन्दनवनके कल्पवृक्षकी शीतल मधुमयी छायामें बैठकर कामधेनुका अनुग्रह प्राप्त करता है; तब उसी समय आनन्दमयी, अमृतमयी, शान्तिमयी भक्तिमाताका प्राकट्य हो जाता है और साधकका जीवन कल्याणमय, धन्य एवं कृतार्थ हो जाता है।

उपसंहार

अन्तमें वैदिक स्तुति-प्रार्थना-नमस्कारादि—जो भक्तिके विशेष अङ्ग हैं—मन्त्रोंद्वारा प्रदर्शित करके लेखका उपसंहार किया जाता है—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

(अथर्व० १०। ८। १)

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥

(अथर्व० ११। २। १६)

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव॥

(ऋक्० ५। ८२। ५; शुक्लयजु० ३०। ३)

'जो भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानकालिक समस्त जगत्का अधिष्ठाता—नियन्ता है एवं केवल स्वः (विशुद्ध अनन्त आनन्द) ही जिसका स्वरूप है, उस ज्येष्ठ (अतिप्रशस्त—महान्) ब्रह्मको नमस्कार है। उसे सायंकाल नमस्कार हो, प्रातःकाल नमस्कार हो, रात्रिमें नमस्कार हो एवं दिवसमें नमस्कार हो अर्थात् सर्वदा उसीकी ओर हमारी भक्तिभावसे भरी बुद्धिवृत्तियाँ झुकी रहें, उस विश्व-उत्पादक एवं विश्व-उपसंहारक भगवान्को मैं दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ। हे सवितादेव! भगवन्! हमारे समस्त दुःखप्रद कश्मलोंको तू दूर कर और जो कल्याणकर सुखप्रद भद्र है, उसे हमें समर्पण कर।' यहाँ नास्तिकता, अश्रद्धा, अविवेक, दारिद्र्य, कार्पण्य, असंयम, दुराचार आदि अनेक दोषोंका नाम दुरित है और तद्विपरीत आस्तिकता, श्रद्धा, विवेक, उदारता, नम्रता, संयम, सदाचार आदि सद्गुणोंका नाम भद्र है।

हरिः ॐ तत्सत्, शिवं भूयात् सर्वेषाम्।

'तपसा किं न सिध्यति!'

(वेद-दर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर पू० स्वामी श्रीगंगेश्वरानन्दजी महाराज)

श्रेयोलिप्सुस्तपः कुर्यात् तपसा किं न सिध्यति।
लेभिरे तपसा भक्ताः स्वर्गं चापन्निराकृतिम्॥

कल्याणका इच्छुक पुरुष तपकी साधना करे। तपसे क्या नहीं सधता? ऋषि, देवता, आदि श्रद्धालु साधक भक्तोंने तपके ही बलपर स्वर्ग और पावमानी ऋचाओंके माध्यमसे अपनी विपत्तिसे छुटकारा पाया। प्रस्तुत वैदिक आख्यानमें महिमान्वित तपस्याका प्रभाव अवलोकनीय एवं उसमें निहित शिक्षा ग्रहणीय-मननीय है—

एक बार ऋषियोंके निवास-प्रदेशमें अत्यन्त व्यापक सूखा पड़ा। अनावृष्टिके प्रकोपसे सर्वनाशका दृश्य उपस्थित हो गया। ऋषि अत्यन्त त्रस्त हो उठे। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी।

ऋषियोंने इससे त्राण पानेके लिये देवराज इन्द्रकी स्तुति की। फलस्वरूप देवेन्द्र वहाँ उपस्थित हुए। उन्होंने उनकी विपत्तिपर हार्दिक संवेदना व्यक्त करते हुए पूछा— 'ऋषियो! इस महान् संकटके समय अबतक आप लोगोंने किस प्रकार जीवन धारण किया?'

'देवेन्द्र! हम लोगोंने गाड़ी, कृषि, पशु, न बहनेवाला जल (झील-सरोवर), वन, समुद्र, पर्वत और राजा—इन सबके माध्यमसे किसी तरह अबतक गुजारा किया।' इन्द्रकी स्तुति करते हुए आङ्गिरस शिशु ऋषिने अन्य ऋषियोंकी उपस्थितिमें '**नानानं॰**' तथा '**कारुरहं॰**' (ऋक्॰ ९।११२।१, ३) आदि ऋचाओंसे यह रहस्य बताया।

वे इन्द्रसे विपत्ति-निवारणका उपाय जाननेके लिये व्यग्र हो उठे। किंतु देवराज इन्द्र मौन ही रहे। केवल उँगलीसे उन्होंने अपनी ओर संकेतमात्र किया। ऋषिगणको उनका भाव समझते देर न लगी। उन्होंने समझ लिया कि इस तरह देवराज यह बताना चाहते हैं कि 'देखो, हम भी जो सामान्य व्यक्तिसे इन्द्र बने, वह तपस्याके कारण ही। इसलिये आप लोग भी यदि अपनी विपत्तिका निवारण चाहते हैं तो तपस्याका ही सहारा लें। उसके बिना कोई चारा नहीं।' फलस्वरूप ऋषियोंने सामूहिक तप:साधना शुरू की। उग्र तपके फलस्वरूप ऋषियोंको सोम (पवमान)-सम्बन्धी ऋचाओंका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ।

फिर इन्द्रने आकर उनसे कहा—'ऋषियो! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप लोगोंको उग्र तपसे इन ऋचाओंका दर्शन हुआ। सचमुच ये ऋचाएँ अत्यन्त महत्त्वकी हैं। इनसे आपकी सारी आपदाएँ नष्ट हो जायँगी और आप लोग स्वर्गके भागी बनेंगे।'

पावमानी ऋचाओंकी सर्वफलदातृत्व-शक्तिपर प्रकाश डालते हुए इन्द्रने कहा—'जो ईर्ष्यालु नहीं है, जो अध्यवसायी, अध्येता, सेवक और तपस्वी है, यदि वह इनका नित्य पाठ करता है तो अपने दस पूर्वके और दस उत्तरके वंशजोंसहित स्वयं पवित्र हो जाता है। मन, वचन, शरीरसे किये सारे पाप केवल इन पावमानी ऋचाओंके पाठमात्रसे नष्ट हो जाते हैं।'

देवराजने आगे कहा—'ऋषियो! ये पावमानी गायत्रियाँ उज्ज्वल एवं सनातन ज्योतिरूप परब्रह्म हैं। जो अन्त समयमें प्राणायाम करते हुए इनका ध्यान करता है, साथ ही पावमान पितरों, देवताओं और सरस्वतीका ध्यान करता है, उसके पितरोंके समीप दूध, घृत, मधु और जलकी धाराएँ बहने लगती हैं। इसलिये अब आप लोग कामधेनु-सी इन ऋचाओंके बलपर अपनी सारी आपत्तियोंसे सर्वथा मुक्त होकर अन्तमें स्वर्ग प्राप्त कर कृतकृत्य हो जायँगे।'

निम्न ऋचाओंमें इस कथाका स्पष्ट संकेत किया गया है—

नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥

(ऋक्॰ ९।११२।१)

अर्थात् हम लोगोंके कर्म या जीवनवृत्तियाँ अनेक प्रकारसे चलती हैं. अन्य लोग भी अनेक प्रकारसे जीवनयापन करते हैं। बढ़ई या शिल्पकार काष्ठका तक्षण करके जीवन चलाता है। वैद्य रोगीकी चिकित्सासे जीविका-निर्वाह करता है और ब्राह्मण सोमाभिषव करनेवाले यजमानको चाहता है। इसलिये हे सोम! तुम इन्द्रके लिये परितः क्षरित हो।

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥

(ऋक्० ९।११२।३)

मैं तो कारु अर्थात् स्तुतिकर्ता हूँ। पुत्र भिषक् यानी भेषजकर्ता यज्ञका ब्रह्मा है। माता या दुहिता दाना भूँजती है या सत्तू पीसती है। नाना कर्म करते हुए धनकी कामनासे हम लोग ठीक उसी प्रकार यहाँ रह रहे हैं, जिस प्रकार गायें गोष्ठमें रहती हैं। इसलिये हे सोम! इन्द्रके लिये तुम परितः क्षरित हो।

—इन दोनों ऋचाओंसे बृहद्देवतोक्त उपर्युक्त कथामें अकालमें ऋषियोंद्वारा चलायी जानेवाली जीवनवृत्तियोंका संकेत मिलता है।

उपर्युक्त वर्णित ऋचाओंके अतिरिक्त ऋग्वेद (९।८३।१, १०।१६७।१) तथा बृहद्देवता (६।१३९—१४६)—में भी इस कथाका उल्लेख हुआ है।

वेदका अध्ययन

(गोलोकवासी महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड़)

संसारमें सभी जीव यह अभिलाषा करते हैं कि मुझे सुख सदा प्राप्त हो और दुःख कभी न प्राप्त हो। सुख और दुःख दोनों ही जन्य हैं। अखण्ड ब्रह्मानन्दरूप नित्य-सुखके अतिरिक्त वृत्तिरूप सुख-दुःख सभी जन्य हैं, यह वेदान्ती भी स्वीकार करते हैं। वृत्तिरूप सुख जब जन्म है, तब उसका कोई-न-कोई कारण अवश्य मानना होगा; क्योंकि संसारमें जितने जन्य पदार्थ हैं, वे किसी-न-किसी कारणकी अपेक्षा अवश्य रखते हैं। कहा भी गया है—'**कारणं विना कार्यस्य उत्पत्तिर्भवत्येव नहि**'। इसलिये प्रस्तुत सुख और दुःख-निवृत्तिरूप कार्योंका भी कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिये। ऐसी स्थितिमें वह कारण कौन है? यों उसके अन्वेषणमें बुद्धि प्रवृत्त होती है। कारण, गवेषणामें प्रवृत्त पुरुषको यह निश्चय होता है कि विविध विचित्रताओंसे युक्त केवल इस चराचर जगत्का ही नहीं, अपितु तद्गत वैचित्र्यका भी कोई-न-कोई कारण होना चाहिये।

पहले वह लौकिक प्रमाणोंद्वारा उक्त कारणको परखना चाहता है, किंतु प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि लौकिक प्रमाणोंमें उसे बहुधा व्यभिचार दीख पड़ता है और उनकी ओर प्रवृत्तिमें विफलता ही उसके हाथ लगती है। इस प्रकार लौकिक प्रमाणोंमें विफलयत्न होकर वह पुरुष बुद्धिके अगोचर किसी अलौकिक प्रमाणके अन्वेषणमें प्रवृत्त होता है। अन्वेषण करते-करते उसे अलौकिक अर्थकी प्रत्यायक कोई शब्दराशि, जो पुरुषबुद्धिसे अछूती और सकल पुरुषार्थोंकी अवभासक है, प्राप्त होती है। उसे पाकर उसके मनको शान्ति मिलती है एवं आशान्वित और शान्तचित्त हो उसके द्वारा उपदिष्ट मार्गसे वह विधिपूर्वक अनुष्ठान करता है। उसके अनुष्ठानसे उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है एवं फल-प्राप्तिसे पूर्ण संतोष होता है।

अलौकिक अर्थका प्रत्यायक जो शब्दराशिरूप प्रमाण उसे प्राप्त हुआ वही 'वेद' कहा जाता है। उससे प्रतिपाद्य जो अर्थ है वही 'धर्म' कहलाता है। वह सब पुरुषार्थोंका मूलभूत प्रथम पुरुषार्थ है। धर्मसे ही अन्य तीन पुरुषार्थ (अर्थ, काम और मोक्ष) प्राप्त होते हैं। वही सारी कल्याणपरम्पराका सम्पादक तथा दुःखका निवर्तक है। उसीमें सब लोक प्रतिष्ठित हैं अर्थात् सब लोकोंका वही आधार है।

कहा भी है—'**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, धर्मेण पापमपनुदति**' जो वेदातिरिक्त प्रमाणोंसे अधिगम्य नहीं हैं, उन्हीं विविध प्रकारके धर्मोंका प्राणियोंके अनुग्रहार्थ अवबोधन करानेके लिये वेद प्रवृत्त हैं। इसीलिये वे 'वेद' कहलाते हैं। आर्योंने वेदके लक्षणका यों उपदेश दिया है—

'**प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।**
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥'

अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे जिस सुख तथा दुःख-निवृत्तिके उपायका परिज्ञान नहीं हो सकता, उसे लोग वेदसे जानते हैं, इसीलिये वेद 'वेद' कहलाते हैं।

हमारे प्राचीनतम महर्षियों तथा मनु आदि स्मृतिकारोंने, जो सर्वज्ञकल्प थे, पूर्वोक्त अलौकिक श्रेयके साधन धर्मको अन्य प्रमाणोंसे जाननेकी इच्छा की। उसके लिये उन्होंने बहुत क्लेश सहे, किंतु उसमें उन्हें

सफलता प्राप्त नहीं हुई। अन्तमें उन्होंने धर्मके विषयमें भगवान् वेदकी ही शरण ली। उन्होंने स्पष्ट कहा है—'**वेदो धर्ममूलम्**' (गौ० ध० सू०), '**उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्**' (बौ० ध० सू०), '**श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः**' (वा० ध०) '**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**' (मनु०) और एक स्वरसे सभीने वेदको प्रथम धर्ममूल बतलाया, तदुपरान्त वेदका अनुगमन करनेवाली स्मृतियोंको भी वेदानुसरणसे ही धर्ममें प्रमाण बतलाया एवं श्रुति-स्मृतिप्रोक्त शिष्टाचारको भी उन्होंने धर्ममें प्रमाण माना।

इस प्रकार स्मृति और शिष्टाचारका धर्मके विषयमें जो प्रामाण्य कहा गया है, वह वेदके अविरोधसे ही है। यदि किसी अंशमें भी उनका वेदसे विरोध प्रतीत होता तो उनमें ग्राह्यता ही नहीं रहती।

इसी अभिप्रायसे महर्षियोंने कहा—'**धर्मज्ञसमयः प्रमाणं तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्**' (वा० ध०)—अर्थात् धर्मवेत्ताका आचार प्रमाण है, उसके प्राप्त न होनेपर शिष्टाचार प्रमाण है। धर्मका स्वरूप न तो प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणोंद्वारा ग्राह्य है और न वह कोई मूर्ति ही रखता है। इसीलिये मीमांसकोंने भी '**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**' (जै० सू० १।१।२), '**श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते**' इत्यादि घोषणा की है। यद्यपि याग, दान, होम आदि कर्मोंको ही धर्म बतला रहे और कर्मको प्रत्यक्षका विषय मान रहे भाट्टोंके मतमें धर्ममें भी प्रत्यक्ष विषयता प्राप्त होती है, तथापि वे धर्मको कर्मरूप नहीं कहते, बल्कि अलौकिक श्रेयका साधन कहते हैं। धर्मका वह स्वरूप प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंद्वारा वेद्य नहीं है, किंतु एकमात्र वेदसे ज्ञेय है। तदनुसारिणी स्मृतियोंसे भी वह ज्ञातव्य है एवं श्रुति और स्मृतियोंके अनुशीलनरूप एक संस्कारसे परिपक्व शिष्टबुद्धिसे भी अभिगम्य है। इनके अतिरिक्त धर्मस्वरूपका परिचायक और कुछ नहीं है।

इसी अभिप्रायका अनुसरण कर रहे भगवान् महर्षि आपस्तम्बने भी कहा है—'**न धर्माधर्मौ चरत 'आवं स्व' इति, न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म इति॥ यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यं गर्हन्ते सोऽधर्मः॥**' (आपस्तम्ब धर्मसूत्र ७।६-७) अर्थात् धर्म और अधर्म हम हैं, हमारा आचरण करो ऐसा नहीं कहते। न देवता कहते हैं, न गन्धर्व ही कहते हैं और न पितर ही कहते हैं कि यह धर्म है तथा यह अधर्म हैं। जिस आचरणकी आर्यजन (श्रेष्ठ पुरुष) श्लाघा करते हैं, वह धर्म है और जिसकी गर्हा करते हैं, वह अधर्म है।

प्रामाणिक और परीक्षक इस प्रकार अरण्यसिंह-न्यायसे प्रमाणान्तरसे अवेद्य धर्मके स्वरूपका परिचायक होनेसे ही वेदके प्रामाण्य और गौरवका बखान करते हैं। पुरुषबुद्धिके दोषलेशसे असंस्पृष्ट सर्वज्ञकल्प वेदोंद्वारा अभिगम्य होनेके कारण ही धर्ममें लोग अटूट और अटल गौरव रखते हैं। इस प्रकारके अतिगम्भीर वेदोंसे वेद्य धर्मस्वरूपको ठीक-ठीक जाननेके लिये असमर्थ मन्दबुद्धियोंपर वे भी धर्मस्वरूपको यथार्थरूपसे जानकर उसका आचरण कर विशिष्ट सुख और दुःखनिवृत्ति प्राप्त कर परमानन्दभागी हों, यों अनुग्रह करनेके लिये लोकमें वेद प्रवृत्त हैं। वेद ही क्यों, वेदानुगृहीत सब वेदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द तथा पुराण, न्याय और मीमांसारूप सब उपाङ्ग, बहुत क्या कहें; सारा-का-सारा संस्कृत वाङ्मय भगवान् वेदपुरुषका ज्ञान कराकर वेदार्थको विशद करनेके लिये वेदप्रतिपाद्य धर्मस्वरूपकी सरल रीतिसे व्याख्या करनेके लिये आख्यान-उपाख्यान आदि कहते हुए तत्तत्-धर्मोंमें उन-उन अधिकारी पुरुषोंको प्रवृत्ति करानेके लिये ही लोकमें प्रवृत्त है।

केवल संस्कृत वाङ्मयके ही नहीं, भारत देशके सभी भाषामय ग्रन्थ विविध प्रकारसे उसी (पूर्वोक्त) अर्थका विवरण प्रस्तुत करते हैं।

इसलिये हमारा सारा-का-सारा शब्द-संदर्भ साक्षात् या परम्परासे भगवान् वेदपुरुषका अवयव ही है, ऐसा वस्तुतः विचार करनेपर सर्वव्यापी सर्वशक्तिशाली वेदपुरुषमें अन्यून (समान) बुद्धि और अन्यून गौरव रखनेवाले हम लोग—हमारी यह मति अनुचितकारिणी नहीं है, यह हृदयसे स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार धर्म ही सब प्राणियोंकी साक्षात् अथवा परम्परासे सम्पूर्ण पुरुषार्थ अधिकारानुसार प्रदान करता है। उक्त धर्मका वेदसे ही ठीक-ठीक परिज्ञान किया जा सकता है। वेद और वेदका अनुसरण करनेवाले स्मृति आदि प्रमाणोंसे ज्ञात नियमतः तथा विधि-विधानसे अनुष्ठित धर्म ही अर्थ और कामरूप पुरुषार्थोंके प्रदानपूर्वक मोक्षरूप निःश्रेयस तक प्रदान करता है।

वेद यदि विधिपूर्वक गुरुमुखसे पढ़ा जाय तभी वह अपने अर्थको अवबोधित कराता हुआ अभिलषित फल प्रदान करता है। जो नियमोंका पालन नहीं करता, उसके द्वारा सविधि न पढ़ा गया वेद नियमपूर्वक अध्ययनके बिना (यहाँ अध्ययन गुरुमुखसे उच्चारणके अनन्तर उच्चारण अभिप्रेत है।) पुस्तक देखकर कण्ठस्थ किया गया, खूब अभ्यस्त भी, कर्ममें विधिपूर्वक प्रयुक्त भी कुछ फल पैदा नहीं करता। इसलिये जो लोग वेदाध्ययनके अङ्गभूत स्मृति आदि ग्रन्थोंमें प्रतिपादित नियमोंकी कोई परवाह न कर मनमाने ढंगसे रघुवंशादि काव्योंके तुल्य वेदको कण्ठस्थ कर उसी शब्दराशिको कर्मोंमें प्रयुक्त करते हैं, कर्ममें प्रयुक्त उस निस्सार शब्दराशिसे अथवा उसके अनुसार किये गये कर्मका कोई फल न देख; वे वैदिक कर्मोंकी निष्फलता और वैदिक मन्त्रोंकी निस्सारताका ढिंढोरा पीटते फिरते हैं एवं श्रद्धालुजनोंको मोहमें डालते हैं। **'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'**—इस न्यायके अनुसार यह सब उनके स्वकृत दोषका अज्ञान ही है।

वैदिक मार्गकी यह दुर्दशा इधर प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त हो रही है। वेदमार्गनिरत श्रद्धालु धार्मिक जनोंको इसे रोकना चाहिये।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि नियमानुसार अधीत वेदसे ही अर्थज्ञान करके कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। नियमपूर्वक गुरुमुखसे अधीत सारगर्भित मन्त्रोंका ही कर्मोंमें प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार किये गये कर्म ही अपना-अपना फल देनेमें समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं।

जैसे अंकुर उत्पन्न करनेमें समर्थ सारी शक्ति अपनेमें रखते हुए भी धान, गेहूँ, जौ आदिके बीज उचित देश, काल और संस्कारके अभावमें अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकते, वैसे ही यज्ञ आदि कर्म भी सम्पूर्ण फल-जननशक्तिसे सम्पन्न होनेपर भी यदि ठीक-ठीक अनुष्ठित न किया जाय तो कदापि फलोत्पादक नहीं होता। इसलिये धर्मानुष्ठानसे फल चाहनेवाले पुरुषोंको पहले कर्मवैगुण्यसे बचनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इसलिये शबरस्वामीने कहा है—**'स यथावदनुष्ठितः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति संयुनक्ति'** अर्थात् धर्म यदि यथाविधि अनुष्ठित हो तो वह अनुष्ठाता पुरुषके लिये कल्याणप्रद होता है। अतः धर्म पुरुषके अभिलषित सर्वविध कल्याणोंका प्रापक है और वह एकमात्र वेदसे ज्ञेय है। वेद भी विधि, अर्थवाद, मन्त्र, निषेध और अभिधेय-रूपसे विविध प्रकारका है। अपने सभी विध्यादि प्रकारों (भागों)-से वह धर्मका ही प्रतिपादन करता है।

विधि—यह धर्मस्वरूप, धर्मके अङ्ग, द्रव्य, देवता अथवा अन्यका विधान करती है। **अर्थवाद**—यह पुरुषोंकी रुचि-उत्पादनद्वारा धर्ममें उन्हें प्रवृत्त करनेके लिये धर्मकी स्तुति करता है। **मन्त्र**—यह अनुष्ठानके समय उच्चरित होकर उसीका (धर्मका ही) स्मरण कराता है। **निषेध**—यह अधर्मके स्वरूपका ज्ञान कराता हुआ अधर्मसे भिन्न धर्म है, इसीका प्रतिपादन करता है। **अभिधेय**—यह कर्मकी संज्ञा है। यह अधर्मसे धर्मको पृथक् करता हुआ संकल्प, व्यवहार आदिमें सहायता पहुँचाता है।

इसीलिये सूत्रकार भगवान् जैमिनिसे विविध स्थलोंमें कहा है—**'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्'** (जै० सू० १।१।२५), **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते।'** (जै० सू० १।२।१), **'उक्तं समाम्नायैतदर्थं तस्मात् सर्वं तदर्थं स्यात्'** (जै० सू० १।४।१)।

इस प्रकार वेदका कोई एक अंश भी ऐसा नहीं है, जो धर्मका प्रतिपादन न करता हो। उसके द्वारा पुरुषको श्रेयःप्राप्ति होती है, अतः उसका कहींपर त्याग नहीं किया गया है, उसीसे मनुष्य अपनेको कृतार्थ मानता है। अतएव भगवान् मनुने यह स्पष्टरूपसे कहा है—**'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः'** (अर्थात् वेद ही द्विजातियोंके लिये परम निःश्रेयसकर है)।

इसलिये सब प्रकारसे कल्याणकारी वेदका विधिपूर्वक अध्ययन कर और नियमानुसार उसका अर्थ जानकर विधि-विधानके साथ अपने अधिकारानुरूप तत्तत्-विविध कर्मोंका अनुष्ठान कर लोग अपनी अभिलषित सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्तिका सम्पादन करेंगे, ऐसी आशा है। ये सारी शुभाशंसाएँ अपने मनमें रखकर ही हमारे प्राचीन आचार्य कहते हैं—**'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।'**

वेदोंमें भेद और अभेद-उपासना

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(बृहदारण्यक० ५। १। १)

'वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने-आपसे परिपूर्ण है, यह संसार भी उस परमात्मासे परिपूर्ण है; क्योंकि उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण (संसार) प्रकट हुआ है; पूर्ण (संसार)-के पूर्ण (पूरक परमात्मा)-को स्वीकार करके उसमें स्थित होनेसे उस साधकके लिये एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है।'

हिंदू-शास्त्रोंका मूल वेद है, वेद अनन्त ज्ञानके भण्डार हैं, वेदोंका ज्ञानकाण्ड उसका शीर्षस्थानीय या अन्त है, वही उपनिषद् या वेदान्तके नामसे ख्यात है। उपनिषदोंमें ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ निर्णय किया गया है और साथ ही उसकी प्राप्तिके लिये विभिन्न रुचि और स्थितिके साधकोंके लिये विभिन्न उपासनाओंका प्रतिपादन किया गया है। उनमें जो प्रतीकोपासनाका वर्णन है,उसे भी एकदेशीय और सर्वदेशीय—दोनों ही प्रकारसे करनेको कहा गया है। ऐसी उपासना स्त्री, पुत्र, धन, अन्न, पशु आदि इस लोकके भोगोंकी तथा नन्दनवन, अप्सराएँ और अमृतपान आदि स्वर्गीय भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करनेका भी प्रतिपादन किया गया है एवं साथ ही परमात्माकी प्राप्तिके लिये भी अनेक प्रकारकी उपासनाएँ बतलायी गयी हैं। उनमेंसे इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनाओंके सम्बन्धमें यहाँ कुछ लिखनेका अवसर नहीं है। उपनिषदोंमें परमात्माकी प्राप्तिविषयक उपासनाओंके जो विस्तृत विवेचन हैं, उन्हींका यहाँ बहुत संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

उपनिषदोंमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये दृष्टान्त, उदाहरण, रूपक, संकेत तथा विधि-निषेधात्मक विविध वाक्योंके द्वारा विविध युक्तियोंसे विभिन्न साधन बतलाये गये हैं; उनमेंसे किसी भी एक साधनके अनुसार संलग्न होकर अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। उपनिषदुक्त सभी साधन—१-भेदोपासना और २-अभेदोपासना—इन दो उपासनाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। भेदोपासनाके भी दो प्रकार हैं। एक तो वह, जिसमें साधनमें भेदभावना रहती है और फलमें भी भेदरूप ही रहता है और दूसरी वह, जिसमें साधनकालमें तो भेद रहता है, परंतु फलमें अभेद होता है। पहले क्रमशः हम भेदोपासनापर ही विचार करते हैं।

भेदोपासना

भेदोपासनामें तीन पदार्थ अनादि माने जाते हैं—१-माया (प्रकृति), २-जीव और ३-मायापति परमेश्वर। इनका वर्णन उपनिषदोंमें कई जगह आता है। प्रकृति जड है और उसका कार्यरूप दृश्यवर्ग क्षणिक, नाशवान् और परिणामी है। जीवात्मा और परमेश्वर—दोनों ही नित्य चेतन और आनन्दस्वरूप हैं; किंतु जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमेश्वर सर्वज्ञ हैं; जीव असमर्थ है और परमेश्वर सर्वसमर्थ हैं, जीव अंश है और परमेश्वर अंशी हैं; जीव भोक्ता है और परमेश्वर साक्षी हैं एवं जीव उपासक है और परमेश्वर उपास्य हैं। वे परमेश्वर समय-समयपर प्रकट होकर जीवोंके कल्याणके लिये उपदेश भी देते हैं।

इस विषयमें केनोपनिषद्में एक आख्यान आता है। एक समय परमेश्वरके प्रतापसे स्वर्गके देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्त की, पर देवता अज्ञानसे अभिमानवश यह मानने लगे कि हमारे ही प्रभावसे यह विजय हुई है। देवताओंके इस अज्ञानपूर्ण अभिमानको दूर कर उनका हित करनेके लिये स्वयं सच्चिदानन्दघन परमात्मा उन देवताओंके निकट सगुण-साकार यक्षरूपमें प्रकट हुए। यक्षका परिचय जाननेके लिये इन्द्रादि देवताओंने पहले अग्निको भेजा। यक्षने अग्निसे पूछा—'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं जातवेदा अग्नि हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको जला सकता हूँ।' यक्षने एक तिनका रखा और उसे जलानेको कहा; किंतु अग्नि उसको नहीं जला सके एवं लौटकर देवताओंसे बोले—'मैं यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।' तदनन्तर देवताओंके भेजे हुए वायुदेव गये। उनसे भी यक्षने यही पूछा कि 'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है?' उन्होंने कहा—'मैं मातरिश्वा वायु हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको उड़ा सकता हूँ।' तब यक्षने उनके सामने भी एक तिनका रखा, किंतु वे उसे उड़ा नहीं सके और लौटकर उन्होंने भी देवताओंसे

यही कहा कि 'मैं इसको नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है?' तत्पश्चात् स्वयं इन्द्रदेव गये, तब यक्ष अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर इन्द्रने उसी आकाशमें हैमवती उमादेवीको देखकर उनसे यक्षका परिचय पूछा। उमादेवीने बतलाया कि 'वह ब्रह्म था और उस ब्रह्मकी ही इस विजयमें तुम अपनी विजय मानने लगे थे।' इस उपदेशसे ही इन्द्रने समझ लिया कि 'यह ब्रह्म है।' फिर अग्नि और वायु भी उस ब्रह्मको जान गये। इन्होंने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना, इसलिये इन्द्र, अग्नि और वायुदेवता अन्य देवताओंसे श्रेष्ठ माने गये।

इस कथासे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्राणियोंमें जो कुछ भी बल, बुद्धि, तेज एवं विभूति है, सब परमेश्वरसे ही है। गीता (१०। ४१)-में भी श्रीभगवान्ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

इस प्रकार उपनिषदोंमें कहीं साकाररूपसे और कहीं निराकाररूपसे, कहीं सगुणरूपसे और कहीं निर्गुणरूपसे भेद-उपासनाका वर्णन आता है। वहाँ यह भी बतलाया है कि उपासक अपने उपास्यदेवकी जिस भावसे उपासना करता है, उसके उद्देश्यके अनुसार ही उसकी कार्य-सिद्धि हो जाती है। कठोपनिषद् (१। २। १६-१७)-में सगुण-निर्गुणरूप ओंकारकी उपासनाका भेदरूपसे वर्णन करते हुए यमराज नचिकेताके प्रति कहते हैं—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

'यह अक्षर ही तो ब्रह्म है और अक्षर ही परब्रह्म है; इसी अक्षरको जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही उत्तम आलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय है। इस आलम्बनको भलीभाँति जानकर साधक ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।'

इसलिये कल्याणकामी मनुष्योंको इस दुःखरूप संसार-सागरसे सदाके लिये पार होकर परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिये ही उनकी उपासना करनी चाहिये, सांसारिक पदार्थोंके लिये नहीं। वे परमेश्वर इस शरीरके अंदर सबके हृदयमें निराकाररूपसे सदा-सर्वदा विराजमान हैं, परंतु उनको न जाननेके कारण ही लोग दुःखित हो रहे हैं। जो उन परमेश्वरकी उपासना करता है, वह उन्हें जान लेता है और इसलिये सम्पूर्ण दुःखों और शोकसमूहोंसे निवृत्त होकर परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है। मुण्डकोपनिषद् (३। १। १—३)-में भी बतलाया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर)-का आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनोंमेंसे एक तो उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है; किंतु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है। इस शरीररूपी समान वृक्षपर रहनेवाला जीवात्मा शरीरकी गहरी आसक्तिमें डूबा हुआ है और असमर्थतारूप दीनताका अनुभव करता हुआ मोहित होकर शोक करता रहता है; किंतु जब कभी भगवान्की अहैतुकी दयासे भक्तोंद्वारा नित्यसेवित तथा अपनेसे भिन्न परमेश्वरको और उनकी महिमाको यह प्रत्यक्ष कर लेता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है तथा जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सबके शासक, ब्रह्माके भी आदिकारण, सम्पूर्ण जगत्के रचयिता, दिव्यप्रकाशस्वरूप परमपुरुषको प्रत्यक्ष कर लेता है, उस समय पुण्य-पाप—दोनोंसे रहित होकर निर्मल हुआ वह ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम समताको प्राप्त कर लेता है।'

वह सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वर सब इन्द्रियोंसे रहित होकर भी इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है। वह सबकी उत्पत्ति और पालन करनेवाला होकर भी अकर्ता ही है। उस सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अकारण दयालु और परम

प्रेमी हृदयस्थित निराकार परमेश्वरकी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। उस भजने-योग्य परमात्माकी शरण लेनेसे मनुष्य सारे दुःख, क्लेश, पाप और विकारोंसे छूटकर परम शान्ति और परम गतिस्वरूप मुक्तिको प्राप्त करता है। इसलिये सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् उस सर्वसुहृद् परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर उसे प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे उसीकी शरण लेनी चाहिये।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (३। १७)-में परमेश्वरकी भेदरूपसे उपासनाका वर्णन विस्तारसहित आता है; उसमेंसे कुछ मन्त्र यहाँ दिये जाते हैं—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥

'जो परमपुरुष परमेश्वर समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है तथा सबका स्वामी, सबका शासक और सबसे बड़ा आश्रय है, उसकी शरण जाना चाहिये।'

अणोरणीयान् महतो महीया-
न्नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥

(श्वेताश्वतर० ३। २०)

'वह सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म तथा बड़ेसे भी बहुत बड़ा परमात्मा इस जीवकी हृदयरूप गुफामें छिपा हुआ है, सबकी रचना करनेवाले परमेश्वरकी कृपासे जो मनुष्य उस संकल्परहित परमेश्वरको और उसकी महिमाको देख लेता है, वह सब प्रकारके दुःखोंसे रहित होकर आनन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है।'

और भी कहा है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥

(श्वेताश्वतर० ४। १०-११)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और महेश्वरको मायापति समझना चाहिये; उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अङ्गभूत कारण-कार्यसमुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है। जो अकेला ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता हो रहा है, जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकालमें विलीन हो जाता है और सृष्टिकालमें विविध रूपोंमें प्रकट भी हो जाता है, उस सर्वनियन्ता, वरदायक, स्तुति करनेयोग्य परमदेव परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर मनुष्य निरन्तर बनी रहनेवाली इस मुक्तिरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥

(श्वेताश्वतर० ४। १४)

'जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, हृदयगुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित, अखिल विश्वकी रचना करनेवाला, अनेक रूप धारण करनेवाला तथा समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे रखनेवाला है, उस एक अद्वितीय कल्याणस्वरूप महेश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है।'

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

(श्वेताश्वतर० ६। ११-१२)

'वह एक देव ही सब प्राणियोंमें छिपा हुआ सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमात्मा है, वही सबके कर्मोंका अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतोंका निवासस्थान, सबका साक्षी, चेतनस्वरूप, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है तथा जो अकेला ही बहुतसे वास्तवमें अक्रिय जीवोंका शासक है और एक प्रकृतिरूप बीजको अनेक रूपोंमें परिणत कर देता है, उस हृदयस्थित परमेश्वरका जो धीर पुरुष निरन्तर अनुभव करते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला परमानन्द प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।'

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(श्वेताश्वतर० ६। १८)

'जो परमेश्वर निश्चय ही सबके पहले ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो निश्चय ही उस ब्रह्माको समस्त वेदोंका ज्ञान प्रदान करता है, उस परमात्मविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले प्रसिद्ध देव परमेश्वरकी मैं मोक्षकी इच्छावाला साधक शरण लेता हूँ।'

जिसमें साधनमें भी भेद हो और फलमें भी भेद हो, ऐसी भेदोपासनाका वर्णन यहाँ किया गया; अब साधनमें तो भेद हो, किंतु फलमें अभेद ऐसी उपासनापर आगे विचार किया जायगा।

साधनमें भी भेद हो और फलमें भी भेद हो, ऐसी भेदोपासनाका वर्णन पहले किया गया; अब साधनमें तो भेद हो, किंतु फलमें अभेद ऐसी उपासनापर विचार किया जाता है।

शास्त्रोंमें भेदोपासनाके अनुसार चार प्रकारकी मुक्ति बतलायी गयी है—१-सालोक्य, २-सामीप्य, ३- सारूप्य और ४-सायुज्य। इनमेंसे पहली तीन तो साधनमें भी भेद और फलमें भी भेदवाली हैं; किंतु सायुज्य-मुक्तिमें साधनमें तो भेद है, पर फलमें भेद नहीं रहता। भगवान्‌के परम धाममें जाकर वहाँ निवास करनेको 'सालोक्य' मुक्ति कहते हैं; जो वात्सल्य आदि भावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सालोक्य' मुक्तिको पाते हैं। भगवान्‌के परम धाममें जाकर उनके समीप निवास करनेको 'सामीप्य' मुक्ति कहते हैं; जो दासभावसे या माधुर्यभावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सामीप्य' मुक्तिको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌के परम धाममें जाकर भगवान्‌के जैसे स्वरूपवाले होकर निवास करनेको 'सारूप्य' मुक्ति कहते हैं; जो सखाभावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सारूप्य' मुक्ति पाते हैं। इन सब भक्तोंमें सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और पालनरूप भगवत्सामर्थ्यके सिवा भगवान्‌के सब गुण आ जाते हैं। भगवान्‌के स्वरूपमें अभेदरूपसे विलीन हो जानेको 'सायुज्य' मुक्ति कहते हैं। जो शान्तभावसे (ज्ञानमिश्रित भक्तिसे) भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सायुज्य' मुक्तिको प्राप्त होते हैं तथा जो वैरसे, द्वेषसे अथवा भयसे भगवान्‌को भजते हैं, वे भी 'सायुज्य' मुक्तिको पाते हैं। जिस प्रकार नदियोंका जल अपने-नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें मिलकर समुद्र ही हो जाता है, इसी प्रकार ऐसे साधक भगवान्‌में लीन होकर भगवत्स्वरूप ही हो जाते हैं। इसके लिये उपनिषदोंमें यह अन्य शास्त्रोंमें जगह-जगह अनेक प्रमाण मिलते हैं। कठोपनिषद् (२। १। १५)-में यमराज नचिकेतासे कहते हैं—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥

'जिस प्रकार निर्मल जलमें मेघोंद्वारा सब ओरसे बरसाया हुआ निर्मल जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार हे गौतमवंशीय नचिकेता! एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तम ही सब कुछ है—इस प्रकार जाननेवाले मुनिका आत्मा परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है अर्थात् परमेश्वरमें मिलकर तद्रूप हो जाता है।'

मुण्डकोपनिषद् (३। २। १)-में भी कहा है—

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम
यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामा-
स्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥

'वह निष्काम-भाववाला पुरुष इस परम विशुद्ध (प्रकाशमान) ब्रह्मधामको जान लेता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है; जो भी कोई निष्काम साधक परम पुरुषकी उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् रजोवीर्यमय इस जगत्‌का अतिक्रमण कर जाते हैं।'

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

स सो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। (मुण्डक० ३। २। ८-९)

'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर उत्तम-से-उत्तम दिव्य परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है। निश्चय ही जो

कोई भी उस परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह महात्मा ब्रह्म ही हो जाता है; उसके कुलमें ब्रह्मको न जाननेवाला नहीं होता; वह शोकसे पार हो जाता है, पाप-समुदायसे तर जाता है, हृदयकी गाँठोंसे सर्वथा छूटकर अमृत हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्युसे रहित होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।'

जो मनुष्य माया (प्रकृति), जीव और परमेश्वरको भिन्न-भिन्न समझकर उपासना करता है और यह समझता है कि ईश्वरकी यह प्रकृति ईश्वरसे अभिन्न है, क्योंकि शक्ति शक्तिमान्से अभिन्न होती है एवं जीव भिन्न होते हुए भी ईश्वरका अंश होनेके कारण अभिन्न ही है; इसलिये प्रकृति और जीव—दोनोंसे परमात्मा भिन्न होते हुए भी अभिन्न ही हैं। वह पुरुष भेदरूपसे साधन करता हुआ भी अन्तमें अभेदरूपसे ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यह बात भी शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें अनेक स्थानोंमें मिलती है। जैसे—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा-
वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद्
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥

(श्वेताश्वतर० १। ९-१०)

'सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, सर्वसमर्थ और असमर्थ—ये दोनों परमात्मा और जीवात्मा अजन्मा हैं तथा भोगनेवाले जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग्य-सामग्रीसे युक्त और अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति है; (इन तीनोंमें जो ईश्वर-तत्त्व है, वह शेष दोसे विलक्षण है) क्योंकि वह परमात्मा अनन्त, सम्पूर्ण रूपोंवाला और कर्तापनके अभिमानसे रहित है। जब मनुष्य इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनोंको ब्रह्मरूपमें प्राप्त कर लेता है (तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है)। तथा प्रकृति तो विनाशशील है, इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है; इन विनाशशील जडतत्त्व और चेतन आत्मा—दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है, इस प्रकार जानकर उसका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उसमें लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे अन्तमें उसीको प्राप्त हो जाता है; फिर समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है।'

यहाँतक भेदोपासनाके दोनों प्रकारोंको उपनिषद्के अनुसार संक्षेपमें बतलाकर अब अभेदोपासनापर विचार करते हैं—

अभेदोपासना

अभेदोपासनाके भी प्रधान चार भेद हैं। उनमेंसे पहले दो भेद 'तत्' पदको और बादके दो भेद 'त्वम्' पदको लक्ष्य करके संक्षेपमें नीचे बतलाये जाते हैं—

१-इस चराचर जगत्में जो कुछ प्रतीत होता है, सब ब्रह्म ही है; कोई भी वस्तु एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न नहीं है—इस प्रकार उपासना करे।

२-वह निर्गुण, निराकार, निष्क्रिय, निर्विकार परमात्मा इस क्षणभंगुर नाशवान् जड दृश्यवर्ग मायासे सर्वथा अतीत है—इस प्रकार उपासना करे।

३-जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण चराचर जगत् एक ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ। इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार उपासना करे।

४-जो नाशवान् क्षणभंगुर मायामय दृश्यवर्गसे अतीत, निराकार, निर्विकार, नित्य विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरा ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार उपासना करे।

अब इनको अच्छी प्रकार समझनेके लिये उपनिषदोंके प्रमाण देकर कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है—

(१) सर्गके आदिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही थे। उन्होंने विचार किया कि 'मैं प्रकट होऊँ और अनेक नाम-रूप धारण करके बहुत हो जाऊँ' '**सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति**' (तैत्तिरीयोपनिषद् २। ६)। इस प्रकार वह एक ही ब्रह्म बहुत रूपोंमें हो गये। इसलिये यह जो कुछ भी जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम जगत् है, वह परमात्माका ही स्वरूप है। श्रुति कहती है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

(मुण्डक० २। २। ११)

'यह अमृतस्वरूप परब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही

पीछे है, ब्रह्म ही दायीं ओर तथा बायीं ओर, नीचेकी ओर तथा ऊपरकी ओर भी फैला हुआ है; यह जो सम्पूर्ण जगत् है, यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥

(मुण्डक० ३।२।५)

'सर्वथा आसक्तिरहित और विशुद्ध अन्तःकरणवाले ऋषिलोग इस परमात्माको पूर्णतया प्राप्त होकर ज्ञानसे तृप्त एवं परम शान्त हो जाते हैं, अपने-आपको परमात्मामें संयुक्त कर देनेवाले वे ज्ञानीजन सर्वव्यापी परमात्माको सब ओरसे प्राप्त करके सर्वरूप परमात्मामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं।'

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥

(माण्डूक्य० २)

'क्योंकि यह सब-का-सब जगत् परब्रह्म परमात्मा है तथा जो यह चार चरणोंवाला आत्मा है, वह आत्मा भी परब्रह्म परमात्मा है।'

सर्वं खल्विदं ब्रह्मं तज्जलानिति शान्त उपासीत॥

(छान्दोग्य० ३।१४।१)

'यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय—उस ब्रह्मसे ही है—इस प्रकार समझकर शान्तचित्त हुआ उपासना करे।'

(२) 'तत्' पदके लक्ष्य ब्रह्मके स्वरूपका, जो कुछ जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम चराचर संसार है, वह सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार निरूपण किया गया। अब उसी 'तत्' पदके लक्ष्यार्थ ब्रह्मके निर्विशेष स्वरूपका वर्णन किया जाता है। वह निर्गुण-निराकार, अक्रिय-निर्विकार परमात्मा इस क्षणभंगुर नाशवान् जड दृश्यवर्ग मायासे सर्वथा अतीत है। जो कुछ यह दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह सब अज्ञानमूलक है। वास्तवमें एक विज्ञानानन्दघन अनन्त निर्विशेष ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकारके अनुभवसे वह इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे मुक्त होकर अनन्त विज्ञान आनन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। यह बात शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें अनेक जगह बतलायी गयी है।

कठोपनिषद् (१।३।१५)-में परब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥

'जो शब्दरहित स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित है तथा जो अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त (असीम) महत्तत्त्वसे परे एवं सर्वथा सत्य तत्त्व है, उस परमात्माको जानकर मनुष्य मृत्युके मुखसे सदाके लिये छूट जाता है।'

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥

(कठ० २।१।११)

'यह परमात्मतत्त्व शुद्ध मनसे ही प्राप्त किये जाने योग्य है; इस जगत्में एक परमात्माके अतिरिक्त नाना—भिन्न-भिन्न भाव कुछ भी नहीं है; इसलिये जो इस जगत्में नानाकी भाँति देखता है, वह मनुष्य मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है।'

मुण्डकोपनिषद् (३।१।८)-में भी कहा है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

'वह निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्मा न तो नेत्रोंसे न वाणीसे और न दूसरी इन्द्रियोंसे ही ग्रहण करनेमें आता है तथा तपसे अथवा कर्मोंसे भी वह ग्रहण नहीं किया जा सकता; उस अवयवरहित परमात्माको तो विशुद्ध अन्तः-करणवाला साधक उस विशुद्ध अन्तःकरणसे निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ही ज्ञानकी निर्मलतासे देख पाता है।'

तैत्तिरीयोपनिषद् (२।१।१)-में भी कहा है—

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

'ब्रह्मज्ञानी परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है; उसी भावको व्यक्त करनेवाली यह श्रुति कही गयी है—ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।'

(३) 'तत्' पदकी उपासनाके प्रकारका वर्णन करके अब 'त्वम्' पदकी उपासनाका प्रकार बतलाया जाता है। जो कुछ जड-चेतन स्थावर-जङ्गम प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म है और जो ब्रह्म है, वह मैं हूँ। इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्माको अर्थात् अपने-आपको और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको ओतप्रोत देखना चाहिये। अभिप्राय यह है कि 'जो भी कुछ है, सब मेरा ही स्वरूप है'—इस प्रकारका अभ्यास करनेवाला साधक शोक और मोहसे पार होकर विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। यह बात शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें जगह-जगह मिलती है। गीता (६।२९)-में कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है।'

ईशावास्योपनिषद् (६-७)-में कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

'परंतु जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सारे भूतोंमें देखता है अर्थात् सम्पूर्ण भूतोंको अपना आत्मा ही समझता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता—सबको अपना आत्मा समझनेवाला किससे कैसे घृणा करे?'

इस प्रकारसे जब आत्मतत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये सब आत्मा ही हो जाता है, तब फिर एकत्वका अर्थात् सबमें एक आत्माका अनुभव करनेवाले उस मनुष्यको कहाँ मोह है और कहाँ शोक है अर्थात् सबमें एक विज्ञान आनन्दमय परब्रह्म परमात्माका अनुभव करनेवाले पुरुषके शोक-मोह आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये छान्दोग्योपनिषद्में एक इतिहास आता है—अरुणका पौत्र और उद्दालकका पुत्र श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें गुरुके पास विद्यालाभके लिये गया और वहाँसे वह विद्या पढ़कर चौबीस वर्षकी अवस्था होनेपर घर लौटा। वह अपनेको बुद्धिमान् और व्याख्यानदाता मानता हुआ अनम्रभावसे ही घरपर आया तथा उसने बुद्धिके अभिमानवश पिताको प्रणाम नहीं किया। इसपर उसके पिताने उससे पूछा—

श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः॥ येनाश्रुतꣳश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। (छान्दोग्य० ६।१।२-३)

'हे श्वेतकेतु! हे सोम्य! तू जो अपनेको ऐसा महामना और पण्डित मानकर अविनीत हो रहा है, सो क्या तूने वह आदेश आचार्यसे पूछा है, जिस आदेशसे अश्रुत श्रुत हो जाता है, बिना विचारा हुआ विचारमें आ जाता है अर्थात् बिना निश्चय किया हुआ निश्चित हो जाता है और बिना जाना हुआ ही विशेषरूपसे जाना हुआ हो जाता है।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा कि 'भगवन्! वह आदेश कैसा है?' तब उद्दालक बोले—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

(छान्दोग्य० ६।१।४)

'सोम्य! जिस प्रकार एक मृत्तिकाके पिण्डके द्वारा समस्त मृत्तिकामय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र है, सत्य तो केवल मृतिका ही है।'

यथा योम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्॥

(छान्दोग्य० ६।१।५)

'सोम्य! जिस प्रकार एक लोहमणि (सुवर्ण)-का ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जान लिये जाते हैं; क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है।'

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवꣳ सोम्य स आदेशो भवतीति॥ (छान्दोग्य० ६।१।६)

'सोम्य! जिस प्रकार एक नखनिकृन्तन (नहन्ना)

अर्थात् लोहेके ज्ञानसे सम्पूर्ण लोहेके पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित केवल नाममात्र है, सत्य केवल लोहा ही है; हे सोम्य! ऐसा ही वह आदेश है।'

यह सुनकर श्वेतकेतु बोला—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣳस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ (छान्दोग्य० ६। १। ७)

'निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे। यदि वे जानते तो मुझसे क्यों न कहते। अब आप ही मुझे अच्छी तरह बतलाइये।' तब पिताने कहा—'अच्छा सोम्य! बतलाता हूँ।'

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

(छान्दोग्य० ६। २। १)

'हे सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'हे पिताजी! मुझको यह विषय और स्पष्ट करके समझाइये।' उद्दालक आरुणि बोले—'हे सोम्य! जैसे दही मथनेसे उसका सूक्ष्मसार तत्त्व नवनीत ऊपर तैर आता है, इसी प्रकार जो अन्न खाया जाता है, उसका सूक्ष्म सार अंश मन बनता है। जलका सूक्ष्म अंश प्राण और तेजका सूक्ष्म अंश वाक् बनता है। असलमें ये मन, प्राण और वाणी तथा इनके कारण अन्नादि कार्यकारण-परम्परासे मूलमें एक ही सत् वस्तु ठहरते हैं। सबका मूल कारण सत् है, वही परम आश्रय और अधिष्ठान है। सत्के कार्य नाना प्रकारकी आकृतियाँ सब वाणीके विकार हैं, नाममात्र हैं। यह सत् अणुकी भाँति सूक्ष्म है, समस्त जगत्का आत्मारूप है। हे श्वेतकेतु! वह 'सत्' वस्तु तू ही है—'**तत्त्वमसि**।'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' पिता आरुणिने कहा—'अच्छा, एक वटवृक्षका फल तोड़कर ला! फिर तुझे समझाऊँगा।' श्वेतकेतु फल ले आया। पिताने कहा—'इसे तोड़कर देख, इसमें क्या है?' श्वेतकेतुने फल तोड़कर कहा—'भगवन्! इसमें छोटे-छोटे बीज हैं। ऋषि उद्दालक बोले—'अच्छा, एक बीजको तोड़कर देख, उसमें क्या है?' श्वेतकेतुने बीजको तोड़कर कहा—'इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता।' तब पिता आरुणि बोले—'हे सोम्य! तू इस वट-बीजके सूक्ष्म तत्त्वको नहीं देखता, इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वसे ही महान् वटका वृक्ष निकलता है। बस, जैसे यह अत्यन्त सूक्ष्म वट-बीज बड़े भारी वटके वृक्षका आधार है, इसी प्रकार सूक्ष्म सत् आत्मा इस समस्त स्थूल जगत्का आधार है। हे सोम्य! मैं सत्य कहता हूँ, तू मेरे वचनमें श्रद्धा रख। यह जो सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है, वह सत् है और यही आत्मा है। हे श्वेतकेतु! वह 'सत्' तू ही है—'**तत्त्वमसि**' (छान्दोग्य० ६। १२। ३)।

इस प्रकार उद्दालकने अनेक दृष्टान्त और युक्तियोंसे इस तत्त्वको विस्तारसे समझाया है, किंतु यहाँ उसका कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। पूरा वर्णन देखना हो तो छान्दोग्योपनिषद्में देखना चाहिये।

उपर्युक्त विषयके सम्बन्धमें बृहदारण्यकोपनिषद् (१। ४। १०)-में भी इस प्रकार कहा है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मस्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳसूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳसर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाꣳस भवति।

'पहले यह ब्रह्म ही था; उसने अपनेको ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। अतः वह सर्व हो गया। उसे देवोंमेंसे जिस-जिसने जाना, वही तद्रूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमेंसे भी जिसने उसे जाना, वह तद्रूप हो गया। उसे आत्मरूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना—'मैं मनु हुआ और सूर्य भी।' उस इस ब्रह्मको इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', वह यह सर्व हो जाता है। उसके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है।

उपर्युक्त विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यक-उपनिषद्में भी एक इतिहास मिलता है। महर्षि याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रियाँ थीं एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी। महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीसे कहा—'मैं इस गृहस्थाश्रमसे ऊपर संन्यास-आश्रममें जानेवाला हूँ, अतः सम्पत्तिका बँटवारा

करके तुमको और कात्यायनीको दे दूँ तो ठीक है।' मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! यदि यह धनसे सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमृतस्वरूप हो सकती हूँ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायगा। धनसे अमृतत्वकी तो आशा है नहीं।' मैत्रेयीने कहा—'जिससे मैं अमृतस्वरूप नहीं हो सकती, उसे लेकर क्या करूँगी? श्रीमन्! जो कुछ अमृतत्वका साधन हो, वही मुझे बतलायें।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'धन्य है! अरी मैत्रेयी! तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और अब भी तू प्रिय बात कह रही है। अच्छा, मैं तुझे उसकी व्याख्या करके समझाऊँगा। तू मेरे वाक्योंके अभिप्रायका चिन्तन करना।'

याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवयात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।' (बृहदारण्यक० २। ४। ५)

'अरी मैत्रेयी! सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं। यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयी! इस आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञानसे इस सबका ज्ञान हो जाता है।

तथा—

'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा।' (बृहदारण्यक० २। ४। ६)

'हे मैत्रेयी! यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और यह सब जो कुछ भी है, सब आत्मा ही है।'

एवं—

'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।' (बृहदारण्यक० २। ४। १४)

'जहाँ (अविद्यावस्थामें) दैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यका अभिवादन करता है, अन्य अन्यका मनन करता है तथा अन्य अन्यको जानता है; किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसको किसके द्वारा जाने? हे मैत्रेयी! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने?'

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद्के दूसरे तथा चौथे अध्यायमें यह प्रसंग विस्तारसे आया है, यहाँ तो उसका कुछ अंश ही दिया गया है।

(४) जो नाशवान्, क्षणभंगुर, मायामय दृश्यवर्गसे रहित निराकार, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरा ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है; इस प्रकार उस निराकार निर्विशेष विज्ञानानन्दघन परमात्माको एकीभावसे जानकर मनुष्य उसे प्राप्त हो जाता है। श्रुति कहती है—

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

(बृहदारण्यक० ४। ४। ६)

'जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यकोपनिषद्में एक इतिहास मिलता है। एक बार राजा जनकने एक बड़ी दक्षिणावाला यज्ञ किया। उसमें कुरु और पाञ्चाल देशोंके बहुत-से ब्राह्मण एकत्र हुए। उस समय राजा जनकने यह जाननेकी इच्छासे कि इन ब्राह्मणोंमें कौन सबसे बढ़कर प्रवचन करनेवाला है, अपनी गोशालामें ऐसी दस हजार गौएँ दान देनेके लिये रोक लीं, जिनमेंसे प्रत्येकके सींगोंमें दस-दस पाद सुवर्ण बँधा था और उन ब्राह्मणोंसे कहा—'पूजनीय ब्राह्मणो!

आपमें जो ब्रह्मिष्ठ हों वे इन गौओंको ले जायँ।' ब्राह्मणोंने राजाकी बात सुन ली; किंतु उनमें किसीका साहस नहीं हुआ। तब याज्ञवल्क्यने अपने ब्रह्मचारीसे उन गौओंको ले जानेके लिये कहा। वह उन्हें ले चला। इससे वे सब ब्राह्मण कुपित हो गये और जनकके होता अश्वलने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'याज्ञवल्क्य! हम सबमें क्या तुम ही ब्रह्मिष्ठ हो?' याज्ञवल्क्यने कहा—'ब्रह्मिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं, हम तो गौओंकी ही इच्छावाले हैं।' यह सुनकर क्रमशः अश्वल, आर्तभाग और भुज्युने उनसे अनेक प्रश्न किये और महर्षि याज्ञवल्क्यने उनका भलीभाँति समाधान किया।

फिर चाक्रायण उषस्तने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'हे याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी मेरे प्रति व्याख्या करो।' याज्ञवल्क्यने कहा—

एष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानीति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः॥ (बृहदारण्यक० ३।४।१)

'यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है।' उषस्तने पूछा—'वह सर्वान्तर कौन-सा है?' याज्ञवल्क्यने कहा—'जो प्राणसे प्राणक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो अपानसे अपानक्रिया करता है, यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो व्यानसे व्यानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो उदानसे उदानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।'

उषस्तने फिर पूछा कि वह सर्वान्तर कौन-सा है? तब याज्ञवल्क्य पुनः बोले—

'...... **सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम।**'

(बृहदारण्यक० ३।४।२)

'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। तू उस दृष्टिके द्रष्टाको नहीं देख सकता, श्रुतिके श्रोताको नहीं सुन सकता, मतिके मन्ताका मनन नहीं कर सकता, विज्ञातिके विज्ञाताको नहीं जान सकता। तेरा यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न आर्त (नाशवान्) है।' यह सुनकर चाक्रायण उषस्त चुप हो गया।

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति।

(बृहदारण्यक० ३।५।१)

'इसके पश्चात् कौषीतकेय कहोलने 'हे याज्ञवल्क्य!' (इस प्रकार सम्बोधित करके) कहा—'जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मेरे प्रति व्याख्या करो।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।' कहोलने पूछा—'याज्ञवल्क्य! वह सर्वान्तर कौन-सा है।' तब याज्ञवल्क्यने कहा—'जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे परे है (वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है)।'

फिर आरुणि उद्दालकने याज्ञवल्क्यसे कहा—'यदि तुम उस सूत्र और अन्तर्यामीको नहीं जानते हो और फिर भी ब्रह्मवेताकी स्वभूत गौओंको ले जाओगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा—'मैं उस सूत्र और अन्तर्यामीको जानता हूँ।

हे गौतम! वायु ही वह सूत्र है, इस वायुरूप सूत्रके द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूतसमुदाय गुँथे हुए हैं। तब इसका समर्थन करते हुए उद्दालकने अन्तर्यामीका वर्णन करनेको कहा।

याज्ञवल्क्यने कहा—

'**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥**'

(बृहदारण्यक० ३।७।३)

'जो पृथ्वीमें रहनेवाला पृथ्वीके भीतर है; जिसे पृथ्वी नहीं जानती, जिसका पृथ्वी शरीर हैं और जो भीतर रहकर पृथ्वीका नियमन करता है, यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

तथा—

'**अदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता**

नान्योऽतोऽस्ति''''' विज्ञातैष न आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम॥' (बृहदारण्यक० ३। ७। २३)

'वह दिखायी न देनेवाला किंतु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला किंतु सुननेवाला है, मननका विषय न होनेवाला किंतु मनन करनेवाला है ओर विशेषतया ज्ञात न होनेवाला किंतु विशेषरूपसे जाननेवाला है। यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सब नाशवान् है।' यह सुनकर अरुणपुत्र उद्दालक प्रश्न करनेसे निवृत्त हो गया।

तदनन्तर वाचक्नवी गार्गीने तथा शाकल्य विदग्धने अनेक प्रश्न किये, जिनके उत्तर याज्ञवल्क्यजीने तुरंत दे दिये। अन्तमें उन्होंने शाकल्यसे कहा—'अब मैं तुमसे उस औपनिषद पुरुषको पूछता हूँ, यदि तुम मुझे उसे स्पष्टतया नहीं बतला सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' किंतु शाकल्य उसे नहीं जानता था, इसलिये उसका मस्तक गिर गया।

फिर याज्ञवल्क्यने कहा—'पूज्य ब्राह्मणगण! आपमेंसे जिसकी इच्छा हो, वह मुझसे प्रश्न करे अथवा आपसे मैं प्रश्न करूँ।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ।

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यकोपनिषद्में और भी कहा है—

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयः हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।

(बृहदारण्यक० ४। ४। २५)

'वह यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमृत, अभय एवं ब्रह्म हैं, निश्चय ही ब्रह्म अभय है, जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य अभय ब्रह्म ही हो जाता है।'

यह **'त्वम्'** पदके लक्ष्यार्थ समस्त दृश्यवर्गसे अतीत आत्मस्वरूप निर्विशेष ब्रह्मकी उपासनापर संक्षिप्त विचार हुआ।

ऊपर बतलायी हुई इन उपासनाओंमेंसे किसीका भी भलीभाँति अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। पहले साधक भेद या अभेद—जिस भावसे उपासना करता है, वह अपनी रुचि, समझ तथा किसीके द्वारा उपदिष्ट होकर साधन आरम्भ करता है, परंतु यदि उसका लक्ष्य सचमुच भगवान्‌को प्राप्त करना है, तो वह चाहे जिस भावसे उपासना करे, अन्तमें उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि सबका अन्तिम परिणाम एक ही है। गीता (५। ५)-में भी भगवान्‌ने बतलाया है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

'ज्ञानयोगियोंके द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

और भी कहा है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३। २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

गीता-उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें जितने साधन बतलाये हैं, उस सबका फल—अन्तिम परिणाम एक ही है और वह अनिर्वचनीय है, जिसे कोई किसी प्रकार भी बतला नहीं सकता। जो कुछ भी बतलाया जाता है, उससे वह अत्यन्त विलक्षण है।

इस प्रकार यहाँ सगुण-निर्गुणरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माकी भेदोपासना एवं अभेदोपासनापर बहुत ही संक्षेपसे विचार किया गया है। उपनिषदुक्त उपासनाका विषय बहुत ही विस्तृत और अत्यन्त गहन है। स्थान-संकोचसे यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। सुरुचि-सम्पन्न जिज्ञासु पाठक इस विषयको विशेषरूपसे जानना चाहें तो वे उपनिषदोंमें ही उसे देखें और उसका यथायोग्य मनन एवं धारण कर जीवनको सफल करें।

वेदकी ऋचाएँ स्पष्ट करती हैं—'परब्रह्मकी सत्ता'

(सर्वपल्ली डॉ० श्रीराधाकृष्णनजी पूर्व-राष्ट्रपति)

वेदोंमें जिन तत्त्वोंको इंगित किया गया है, उपनिषदोंमें उन्हींकी व्याख्या की गयी है। ग्रन्थोंके अनुशीलनसे यह स्पष्ट होता है कि उपनिषदोंके द्रष्टा जिस सत्यको देखते थे, उसके प्रत्येक रूप-रंगके प्रति पूर्णतः ईमानदार थे। इस तथ्यके कारण उनकी व्याख्याके अनेक निष्कर्ष अब पुराने पड़ गये हैं। किंतु उनकी कार्य-विधि, उनकी आध्यात्मिक और बौद्धिक ईमानदारी तथा आत्माकी प्रकृतिके विषयमें उनके विचारोंका स्थायी महत्त्व है।

उन मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंका कथन है कि एक केन्द्रिय सत्ता अवश्य है, जिसके भीतर सब कुछ व्याप्त है। प्रत्यक्ष भौतिक विषयों तथा अन्तरिक्षकी अमाप विशालता और अगणित आकाशीय पिण्डोंसे परे परब्रह्म परमात्माका अस्तित्व है। सम्पूर्ण सत्ताका अस्तित्व उस परमात्माके ही कारण है।

परब्रह्म पुरुषोत्तम कण-कणमें व्याप्त है। मानवकी आत्मामें तो उसका निवास है ही। उसके लघुतमसे अधिक लघु और महत्तमसे अधिक महत् अस्तित्वका सारतत्त्व प्रत्येक प्राणीके भीतर उपस्थित है। '**तत्-त्वम्-असि**' रूप अखण्ड एवं अद्वय परब्रह्मका निवास समस्त प्राणियोंमें है ही। वह परमात्मा हृदयकी गहराइयोंमें स्थित है—'परब्रह्मकी उपस्थितिकी ऐसी प्रतीतिमात्रसे व्यक्ति पवित्र हो जाता है।' ऋग्वेद कहता है—'अस्तित्व या अनस्तित्व कुछ नहीं था। वायु भी नहीं, ऊपर आकाश भी नहीं था। फिर वह क्या है? जो गतिशील है? किस दिशामें गतिशील है? और किसके निर्देशनमें गतिशील है? कौन जानता है? कौन हमें बता सकता है? सृष्टि कहाँसे प्रारम्भ हुई? क्या देवगण इसके बाद उत्पन्न हुए? कौन जानता है कि सृष्टि कहाँसे प्रारम्भ हुई? और कहींसे भी प्रारम्भ हुई तो इसका कर्ता कौन है? केवल वही अकेला जानता है। वह स्वर्गमें बैठा सम्पूर्ण सृष्टिको देख रहा है।' इन शब्दोंमें आत्मा-विषयक अनुसंधान, आध्यात्मिक विचार एवं बौद्धिक संदेहवादकी अभिव्यक्ति होती है और यहींसे भारतके सांस्कृतिक विकासका आरम्भ हुआ। 'ऋग्वेद-द्रष्टा' एक सत्यमें विश्वास करते रहे। वह सत्य हमारे अस्तित्वको नियन्त्रित करनेवाला एक नियम है। हमारी सत्ताके विभिन्न स्तरोंको बनाये रखनेमें यह असीम वास्तविकता है। वही '**एकं सत्**' है। विभिन्न देवगण इसीके अनेक रूप हैं। ऋग्वेदके देवता वास्तवमें उस अमर ईश्वरकी शक्तियाँ हैं, सत्य अभिभावक हैं। अतः हम प्रार्थना, उपासना एवं आराधनासे उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं। उनकी ही कृपाके बलपर हम सत्यके नियम '**ऋतस्य पन्थाः**' को पहचान सकते हैं।

परब्रह्मको पहचानना और उसके साथ एकाकार हो जाना मानवमात्रका लक्ष्य है। इस प्रसंगकी व्याख्या बाह्य ढंगसे नहीं की जा सकती, ईश्वरको अपने बाहर मानकर न तो उसकी आराधना की जा सकती है, न तो उसकी उपासना की जा सकती है और न ही उसके प्रति अपनी श्रद्धा या अपना प्रेम ही प्रकट किया जा सकता है। यह एक ऐसा कार्य है, जिसे उस परब्रह्मको अपना बना लेना और स्वयंको उसका बन जाना ही कहा जा सकता है। यद्यपि मानवीय ज्ञानकी इस क्षेत्रमें कोई पहुँच नहीं। अतः इस तथ्यके सम्बन्धमें कोई विश्वस्त विवरण देना मानव-विवेकके लिये असम्भव है—बिलकुल असम्भव है, तथापि भक्ति-रसमें अवगाहन कर शरणागतिकी नौकापर आरूढ़ हो मानवका हृदय उस परब्रह्म परमात्मासे प्रेम तो अवश्य ही कर सकता है।

[प्रस्तुति—पं० श्रीबलरामजी शास्त्री, आचार्य]

वेदोपनिषद्में युगल स्वरूप

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भारतके आर्य-सनातनधर्ममें जितने भी उपासक-सम्प्रदाय हैं, सभी विभिन्न नाम-रूपों तथा विभिन्न उपासना-पद्धतियोंके द्वारा वस्तुतः एक ही शक्तिसमन्वित भगवान्की उपासना करते हैं। अवश्य ही कोई तो शक्तिको स्वीकार करते हैं और कोई नहीं करते। भगवान्के इस शक्तिसमन्वित रूपको ही युगल स्वरूप कहा जाता है। निराकारवादी उपासक भगवान्को सर्वशक्तिमान् बताते हैं और साकारवादी भक्त उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि मङ्गलमय स्वरूपोंमें उनका भजन करते हैं। महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, दुर्गा, तारा, उमा, अन्नपूर्णा, सीता और राधा आदि स्वरूप एक ही भगवत्स्वरूपा शक्तिके हैं, जो लीलावैचित्र्यकी सिद्धिके लिये विभिन्न रूपोंमें अपने-अपने धामविशेषमें नित्य विराजित हैं। यह शक्ति नित्य शक्तिमान्के साथ है और शक्ति है, इसीसे वह शक्तिमान् है। इसीलिये यह नित्य युगल स्वरूप है। पर यह युगल स्वरूप वैसा नहीं है, जैसे दो परस्पर-निरपेक्ष सम्पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति या पदार्थ किसी एक स्थानपर स्थित हों। ये वस्तुतः एक होकर ही पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। इनमेंसे एकका त्याग कर देनेपर दूसरेके अस्तित्वका परिचय नहीं मिलता। वस्तु और उसकी शक्ति, तत्त्व और उसका प्रकाश, विशेष्य और उसके विशेषणसमूह, पद और उसका अर्थ, सूर्य और उसका तेज, अग्नि और उसका दाहकत्व—इनमें जैसे नित्य युगलभाव विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्ममें भी युगलभाव है। जो नित्य दो होकर भी नित्य एक हैं और नित्य एक होकर भी नित्य दो हैं; जो नित्य भिन्न होकर भी नित्य अभिन्न हैं और नित्य अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न हैं। जो एकमें ही सदा दो हैं और दोमें ही सदा एक हैं। जो स्वरूपतः एक होकर भी द्वैधभावके पारस्परिक सम्बन्धके द्वारा ही अपना परिचय देते और अपनेको प्रकट करते हैं। यह एक ऐसा रहस्यमय परम विलक्षण तत्त्व है कि दो अयुतसिद्ध रूपोंमें ही जिसके स्वरूपका प्रकाश होता है, जिसका परिचय प्राप्त होता है और जिसकी उपलब्धि होती है।

वेदमूलक उपनिषद्में ही इस युगल स्वरूपका प्रथम और स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। उपनिषद् जिस परम तत्त्वका वर्णन करते हैं, उसके मुख्यतया दो स्वरूप हैं—एक 'सर्वातीत' और दूसरा 'सर्वकारणात्मक'। सर्वकारणात्मक स्वरूपके द्वारा ही सर्वातीतका संधान प्राप्त होता है और सर्वातीत स्वरूप ही सर्वकारणात्मक स्वरूपका आश्रय है। सर्वातीत स्वरूपको छोड़ दिया जाय तो जगत्की कार्य-कारण-शृंखला ही टूट जाय; उसमें अप्रतिष्ठा और अनवस्थाका दोष आ जाय, फिर जगत्के किसी मूलका ही पता न लगे और सर्वकारणात्मक स्वरूपको न माना जाय तो सर्वातीतकी सत्ता कहीं नहीं मिले। वस्तुतः ब्रह्मकी अद्वैतपूर्ण सत्ता इन दोनों स्वरूपोंको लेकर ही है। उपनिषद्के दिव्य दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंने जहाँ विश्वके चरम और परम तत्त्व एक, अद्वितीय, देश-काल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा अनवच्छिन्न सच्चिदानन्दस्वरूपको देखा, वहीं उन्होंने उस अद्वैत परब्रह्मको ही उसकी अपनी ही विचित्र अचिन्त्य शक्तिके द्वारा अपनेको अनन्त विचित्र रूपोंमें प्रकट भी देखा और यह भी देखा कि वही समस्त देशों, समस्त कालों, समस्त अवस्थाओं और समस्त परिणामोंके अंदर छिपा हुआ अपने स्वतन्त्र सच्चिदानन्दमय स्वरूपकी, अपनी नित्य-सत्ता, चेतना और आनन्दकी मनोहर झाँकी करा रहा है। ऋषियोंने जहाँ देश-काल-अवस्था-परिणामसे परिच्छिन्न अपूर्ण पदार्थोंको 'यह वह नहीं है, यह वह नहीं है' (नेति-नेति) कहकर और उनसे विरागी होकर यह अनुभव किया कि—'वह परम तत्त्व ऐसा है जो न कभी देखा जा सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न उसका कोई गोत्र है, न उसका कोई वर्ण है,न उसके चक्षु-कर्ण और हाथ-पैर आदि हैं।' 'वह न भीतर प्रज्ञावाला है, न बाहर प्रज्ञावाला है, न दोनों प्रकारकी प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है; वह न देखनेमें आता है, न उससे कोई व्यवहार किया जा सकता है, न वह पकड़में आता है, न उसका कोई लक्षण (चिह्न) है; जिसके सम्बन्धमें न चित्तसे कुछ सोचा जा सकता है और न वाणीसे कुछ कहा ही जा सकता है। जो आत्मप्रत्ययका सार है,

प्रपञ्चसे रहित है; शान्त, शिव और अद्वैत है'—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।

(मुण्डक० १। १। ६)

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं......।

(माण्डूक्य० ७)

किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करने योग्य, चिन्तन करने योग्य और धारणामें लाने योग्य पदार्थके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य नहीं है। इसीके साथ वहीं, उसी क्षण उन्होंने उसी देश-कालातीत, अवस्था-परिणाम-शून्य, इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगोचर शान्त-शिव-अनन्त एकमात्र सत्तास्वरूप अक्षर परमात्माको ही सर्वकालमें और समस्त देशोंमें नित्य विराजित देखा और कहा कि—'धीर साधक पुरुष उस नित्य-पूर्ण, सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म, अविनाशी और समस्त भूतोंके कारण परमात्माको देखते हैं'—

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

(मुण्डक० १। १। ६)

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि 'जब यह द्रष्टा उस सबके ईश्वर, ब्रह्माके भी आदिकारण सम्पूर्ण विश्वके स्रष्टा, दिव्य प्रकाशस्वरूप परम पुरुषको देख लेता है, तब वह निर्मल-हृदय महात्मा पाप-पुण्यसे छूटकर परम साम्यको प्राप्त हो जाता है'—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

(मुण्डक० ३। १। ३)

यहाँतक कि उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परम देव परमात्माकी उस दिव्य अचिन्त्य स्वरूपभूत शक्तिका भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया, जो अपने ही गुणोंसे छिपी हुई है। तब उन्होंने यह निर्णय किया कि कालसे लेकर आत्मातक (काल, स्वभाव, नियति, आकस्मिक घटना, पञ्चमहाभूत, योनि और जीवात्मा) सम्पूर्ण कारणोंका स्वामी प्रेरक सबका परम कारण एकमात्र परमात्मा ही है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

(श्वेताश्वतर० १। ३)

ऋषियोंने यह अनुभव किया कि वह सर्वातीत परमात्मा ही सर्वकारण-कारण, सर्वगत, सबमें अनुस्यूत और सबका अन्तर्यामी है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म, भेदरहित, परिणामशून्य, अद्वय परम तत्त्व ही चराचर भूतमात्रकी योनि है एवं अनन्त विचित्र पदार्थोंका वही एकमात्र अभिन्न निमित्तोपादानकारण है। उन्होंने अपनी निर्भ्रान्त निर्मल दृष्टिसे यह देखा कि जो विश्वातीत तत्त्व है, वही विश्वकृत् है, वही विश्ववित् है और वही विश्व है। विश्वमें उसीकी अनन्त सत्ताका; अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्तिका प्रकाश है। विश्व-सृजनकी लीला करके विश्वके समस्त वैचित्र्यको, विश्वमें विकसित अखिल ऐश्वर्य, ज्ञान और शक्तिको आलिङ्गन किये हुए ही वह नित्य विश्वके ऊर्ध्वमें विराजित है। उपनिषद्‌के मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने अपनी सर्वकालव्यापिनी दिव्य दृष्टिसे देखकर कहा—'सोम्य! इस नाम-रूपात्मक विश्वकी सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था'—

'**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**'

(छान्दोग्य० ६। २। १)

परंतु इसीके साथ तुरंत ही मुक्तकण्ठसे यह भी कह दिया कि 'उस सत् परमात्माने ईक्षण किया—इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ'—

'**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।**'

(छान्दोग्य० ६। २। ३)

यहाँ बहुतोंको यह बात समझमें नहीं आती कि जो 'सबसे अतीत' है, वही 'सर्वरूप' कैसे हो सकता है, परंतु औपनिषद-दृष्टिसे इसमें कोई भी विरोध या असामञ्जस्य नहीं है। भगवान्‌का नित्य एक रहना, नित्य बहुत-से रूपोंमें अपने आस्वादनकी कामना करना और नित्य बहुत-से रूपोंमें अपनेको आप ही प्रकट करना—ये सब उनके एक नित्यस्वरूपके ही अन्तर्गत हैं। कामना, ईक्षण और आस्वादन—ये सभी उनकी निरवच्छिन्न पूर्ण चेतनाके क्षेत्रमें समान अर्थ ही रखते हैं। भगवान्

वस्तुतः न तो एक अवस्थासे किसी दूसरी अवस्थाविशेषमें जानेकी कामना ही करते हैं और न उनकी सहज नित्य-स्वरूप-स्थितिमें कभी कोई परिवर्तन ही होता है। उनके बहुत रूपोंमें प्रकट होनेका यह अर्थ नहीं है कि वे एकत्वकी अवस्थासे बहुत्वकी अवस्थामें अथवा अद्वैत-स्थितिसे द्वैत-स्थितिमें चलकर जाते हैं। उनकी सत्ता तथा स्वरूपपर कालका कोई भी प्रभाव नहीं है और इसीलिये विश्वके प्रकट होनेसे पूर्वकी या पीछेकी अवस्थामें जो भेद दिखायी देता है, वह उनकी सत्ता और स्वरूपका स्पर्श भी नहीं कर पाता। अवस्था-भेदकी कल्पना तो जड जगत्में है। स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निवृत्ति और प्रवृत्ति, विरति और भोग, साधन और सिद्धि, कामना और परिणाम, भूत और भविष्य, दूर और समीप एवं एक और बहुत—ये सभी भेद वस्तुतः जड-जगत्के संकीर्ण धरातलमें ही हैं। विशुद्ध पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता तो सर्वथा भेदशून्य है। वह विशुद्ध अभेद-भूमि है। वहाँ स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निष्क्रियता और सक्रियतामें अभेद है। इसी प्रकार एक और बहुत, साधना और सिद्धि, कामना और भोग, भूत-भविष्य-वर्तमान तथा दूर और निकट भी अभेदरूप ही हैं। इस अभेदभूमिमें चैतन्यघन पूर्ण परमात्मा परस्परविरोधी धर्मोंको आलिङ्गन किये नित्य विराजित हैं। वे चलते हैं और नहीं चलते; वे दूर भी हैं, समीप भी हैं; वे सबके भीतर भी हैं और सबके बाहर भी हैं—

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(ईशावास्योपनिषद् ५)

वे अपने विश्वातीत रूपमें स्थित रहते हुए ही अपनी वैचित्र्यप्रसविनी कर्मशीला अचिन्त्य-शक्तिके द्वारा विश्वका सृजन करके अनादि-अनन्तकालतक उसीके द्वारा अपने विश्वातीत स्वरूपकी उपलब्धि और उसका सम्यक् भोग करते रहते हैं। उपनिषद्में जो यह आया है कि वह ब्रह्म पहले अकेला था, वह रमण नहीं करता था। इसी कारण आज भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरेकी इच्छा की····उसने अपनेको ही एकसे दो कर दिया····वे पति-पत्नी हो गये।'····

'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्····स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।····'

(बृहदारण्यक० १। ४। ३)

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इससे पूर्व वे अकेले थे और अकेलेपनमें रमणका अभाव प्रतीत होनेके कारण वे मिथुन (युगल) हो गये, क्योंकि कालपरम्पराके क्रमसे अवस्थाभेदको प्राप्त हो जाना ब्रह्मके लिये सम्भव नहीं है। वे नित्य-मिथुन (युगल) हैं और इस नित्य-युगलत्वमें ही उनका पूर्ण एकत्व है। उनका अपने स्वरूपमें ही नित्य अपने ही साथ नित्य रमण—अपनी अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त माधुर्यका अनवरत आस्वादन चल रहा है। उनके इस स्वरूपगत आत्ममैथुन, आत्मरमण और आत्मास्वादनसे ही अनादि-अनन्तकाल अनादि-अनन्त देशोंमें अनन्त विचित्रतामण्डित, अनन्त रससमन्वित विश्वके सृजन, पालन और संहारका लीला-प्रवाह चल रहा है। इस युगलरूपमें ही ब्रह्मके अद्वैतस्वरूपका परमोत्कृष्ट परिचय प्राप्त होता है। अतएव श्रीउमा-महेश्वर, श्रीलक्ष्मी-नारायण, श्रीसीता-राम, श्रीराधा-कृष्ण, श्रीकाली-रुद्र आदि सभी युगल-स्वरूप नित्य-सत्य और प्रकारान्तरसे उपनिषत्-प्रतिपादित हैं। उपनिषद्ने एक ही साथ सर्वातीत और सर्वकारणरूपमें, स्थितिशील और गतिशीलरूपमें, निष्क्रिय और सक्रियरूपमें, अव्यक्त और व्यक्तरूपमें एवं सच्चिदानन्दघन पुरुष और विश्वजननी नारीरूपमें इसी युगल-स्वरूपका विवरण किया है, परंतु यह विषय है बहुत ही गहन। वस्तुतः यह अनुभवगम्य रहस्य है। प्रगाढ़ अनुभूति जब तार्किकी बुद्धिकी द्वन्द्वमयी सीमाका सर्वथा अतिक्रमण कर जाती है—तभी सक्रियत्व और निष्क्रियत्व, साकारत्व और निराकारत्व, परिणामत्व और अपरिणामत्व एवं बहुरूपत्व और एकरूपत्वके एक ही समय एक ही साथ सर्वाङ्गीण मिलनका रहस्य खुलता है—तभी इसका यथार्थ अनुभव प्राप्त होता है।

यद्यपि विशुद्ध तत्त्वमय चैतन्य-राज्यमें प्राकृत पुरुष और नारीके सदृश देहेन्द्रियादिगत भेद एवं तदनुकूल किसी लौकिक या जडीय सम्बन्धकी सम्भावना नहीं है, तथापि—जब अप्राकृत तत्त्वकी प्राकृत मन-बुद्धि एवं इन्द्रियोंके द्वारा उपासना करनी पड़ती है, तब प्राकृत उपमा और प्राकृत संज्ञा देनी ही पड़ती है। प्राकृत

पुरुष और प्राकृत नारी एवं उनके प्रगाढ़ सम्बन्धका सहारा लेकर ही परम चित्तत्त्वके स्वरूपगत युगल-भावको समझनेका प्रयत्न करना पड़ता है। वस्तुतः पुरुषरूपमें ब्रह्मका सर्वातीत निर्विकार निष्क्रिय भाव है और नारीरूपमें उन्हींकी सर्वकारणात्मिका अनन्त लीला वैचित्र्यमयी स्वरूपा-शक्तिका सक्रिय भाव है। पुरुषमूर्तिमें भगवान् विश्वातीत हैं, एक हैं और सर्वथा निष्क्रिय हैं एवं नारीमूर्तिमें वे ही विश्वजननी, बहुप्रसविनी, लीलाविलासिनी-रूपमें प्रकाशित हैं। पुरुष-विग्रहमें वे सच्चिदानन्दस्वरूप हैं और नारी-विग्रहमें उन्हींकी सत्ताका विचित्र प्रकाश, उन्हींके चैतन्यकी विचित्र उपलब्धि तथा उन्हींके आनन्दका विचित्र आस्वादन है। अपने इस नारी-भावके संयोगसे ही वे परम पुरुष ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता हैं—सृजनकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता हैं। नारी-भावके सहयोगसे ही उनके स्वरूपगत, स्वभावगत अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका प्रकाश है; इसीमें उनकी भगवत्ताका परिचय है। पुरुषरूपसे वे नित्य-निरन्तर अपने अभिन्न नारीरूपका आस्वादन करते हैं और नारी (शक्ति)-रूपसे अपनेको ही आप अनन्त आकार-प्रकारोंमें—लीलारूपमें प्रकट करके नित्य-चिद्रूपमें उसकी उपलब्धि और उपभोग करते हैं—इसीलिये ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हैं। सच्चिदानन्दमयी अनन्त-वैचित्र्यप्रसविनी लीलाविलासिनी महाशक्ति ब्रह्मकी स्वरूपभूता हैं; ब्रह्मके विश्वातीत, देशकालातीत अपरिणामी सच्चिदानन्दस्वरूपके साथ नित्य मिथुनीभूता हैं। ब्रह्मकी सर्वपरिच्छेदरहित सत्ता, चेतनता और आनन्दको अगणित स्तरोंके सत्-पदार्थरूपमें, असंख्य प्रकारकी चेतना तथा ज्ञानके रूपमें एवं असंख्य प्रकारके रस—आनन्दके रूपमें विलसित करके उनको आस्वादनके योग्य बना देना इस महाशक्तिका कार्य है। स्वरूपगत महाशक्ति इस प्रकार अनादि-अनन्तकाल ब्रह्मके स्वरूपगत चित्की सेवा करती रहती हैं। उनका यह शक्तिरूप तथा शक्तिके समस्त परिणाम (लीला) और कार्य स्वरूपतः उस चित्तत्त्वसे अभिन्न हैं। यह नारी-भाव उस पुरुषभावसे अभिन्न है, यह परिणामशील दिखायी देनेवाला अनन्त विचित्र लीलाविलास उनके कूटस्थ नित्यभावसे अभिन्न है। इस प्रकार उभयभाव अभिन्न होकर ही भिन्नरूपमें परस्पर आलिङ्गन किये हुए एक-दूसरेका प्रकाश, सेवा और आस्वादन करते हुए एक-दूसरेको आनन्द-रसमें आप्लावित करते हुए नित्य-निरन्तर ब्रह्मके पूर्ण स्वरूपका परिचय दे रहे हैं। परम पुरुष और उनकी महाशक्ति—भगवान् और उनकी प्रियतमा भगवती भिन्नाभिन्नरूपसे एक ही ब्रह्मस्वरूपमें स्वरूपतः प्रतिष्ठित हैं। इसलिये ब्रह्म पूर्ण सच्चिदानन्द हैं और साथ ही नित्य आस्वादनमय हैं। यही विचित्र महारास है जो अनादि, अनन्तकाल बिना विराम चल रहा है। उपनिषदोंने ब्रह्मके इसी स्वरूपका और उनकी इसी नित्य-लीलाका विविध दार्शनिक शब्दोंमें परिचय दिया है और इसी स्वरूपको जानने, समझने, उपलब्ध करने तथा उपभोग करनेकी विविध प्रक्रियाएँ, विद्याएँ एवं साधनाएँ अनुभवी ऋषियोंकी दिव्य वाणीके द्वारा उनमें प्रकट हुई हैं।

वेदमें गौका जुलूस

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः। वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि॥
शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः। ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा॥

(अथर्ववेद १०। १०। ४-५)

अर्थात् जिस गौके द्वारा द्यु, पृथिवी एवं जलमय अन्तरिक्ष—ये तीनों लोक सुरक्षित हैं, उस सहस्रधाराओंसे दूध देनेवाली गौकी हम प्रशंसा करते हैं। सौ दोहनपात्र लिये सौ दुहनेवाले तथा सौ संरक्षक इसकी पीठपर सदा खड़े रहते हैं। इस गौसे जो देव जीवित रहते हैं, वे ही सचमुच उस गौका महत्त्व जानते हैं।

वेदमें अवतारवाद

(महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी)

'वेदमें अवतारवाद है या नहीं?' इसके लिये अवतारवादके प्रतिपादक कुछ मन्त्र यहाँ लिखे जाते हैं—

**प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥**

(यजुर्वेद ३१। १९)

—इसका अर्थ है कि प्रजाओंका पति भगवान् गर्भके भीतर भी विचरता है। वह तो स्वयं जन्मरहित है, किंतु अनेक प्रकारसे जन्म ग्रहण करता रहता है। विद्वान् पुरुष ही उसके उद्भव-स्थानको देखते एवं समझते हैं। जिस समय वह आविर्भूत होता है, उस समय सम्पूर्ण भुवन उसीके आधारपर अवस्थित रहते हैं अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ नेता बनकर लोकोंको चलाता रहता है। इस मन्त्रके प्रकृत अर्थमें अवतारवाद अत्यन्त स्फुट है अब यद्यपि कोई विद्वान् इसका अन्य अर्थ करें तो प्रश्न यही होगा कि उनका किया हुआ अर्थ ही क्यों प्रमाण माना जाय? मन्त्रके अक्षरोंसे स्पष्ट निकलता हुआ हमारा अर्थ ही क्यों न प्रमाण माना जाय? वस्तुतः बात यह है कि वेद सर्वविज्ञाननिधि है। वह थोड़े अक्षरोंमें संकेतसे कई अर्थोंको प्रकाशित कर देता है और उसके संकेतित समस्त अर्थ शिष्ट-सम्प्रदायमें प्रमाणभूत माने जाते हैं। इसलिये बिना किसी खींचतान और लाग-लपेटके जब इस मन्त्रसे अवतारवाद बिलकुल विस्पष्ट हो जाता है, तब इस अर्थको अप्रमाणित करनेका कोई कारण नहीं प्रतीत होता। यदि कोई वैज्ञानिक अर्थ भी इस मन्त्रसे प्रकाशित होता है तो वह भी मान लिया जाय, किंतु अवतारवादका अर्थ न माननेका कोई कारण नहीं। अन्य भी मन्त्र देखिये—

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।'

(अथर्व० १०। ८। २७)

यहाँ परमात्माकी स्तुति है कि आप स्त्रीरूप भी हैं, पुरुषरूप भी हैं। कुमार और कुमारीरूप भी आप होते हैं।

अब विचारनेकी बात है कि परमात्मा अपने व्यापक स्वरूपमें तो स्त्री, पुरुष, कुमार और कुमारी कुछ भी नहीं है। ये रूप जो मन्त्रमें वर्णित हैं, अवतारोंके ही रूप हो सकते हैं। पुरुषरूपमें राम, कृष्ण आदि अवतार प्रसिद्ध ही हैं। स्त्रीरूप महिषमर्दिनी आदि अवतारोंका विस्तृत वर्णन 'श्रीदुर्गासप्तशती' में प्रसिद्ध है। वहाँके सभी अवतार स्त्रीरूप ही हैं। व्यापक, निराकार परमात्मा पुरुषरूपमें अथवा स्त्रीरूपमें इच्छानुसार कहीं भी प्रकट हो सकता है। कुमारीरूपमें अवतार भी वहाँ वर्णित है और कुमाररूपमें वामनावतार प्रसिद्ध ही है, जिसकी कथा विस्तारसे 'शतपथ-ब्राह्मण' में प्राप्त होती है। शिष्ट-सम्प्रदायमें मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद माने जाते हैं, इसलिये 'शतपथ-ब्राह्मण' में प्रसिद्ध कथाको भी वेदका ही भाग कहना शिष्ट-सम्प्रदायद्वारा अनुमोदित है और कथाका संकेत मन्त्रमें भी मिलता है—

'इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पाꣳसुरे०॥' (यजुर्वेद ५। १५)

अर्थात् इन दृश्यमान लोकोंका विष्णुने विक्रमण किया—इनपर अपने चरण रखे अर्थात् अपने चरणोंसे सारे लोकोंको नाप डाला। वे लोक इनकी पाद-धूलिमें अन्तर्गत हो गये। वामन-अवतारकी यह स्पष्ट कथा है। यहाँ भी अर्थका विभाग उपस्थित होनेपर यही उत्तर होगा कि मन्त्रके अक्षरोंसे स्पष्ट प्रतीत होता हुआ हमारा अर्थ क्यों न माना जाय। जो कथा ब्राह्मण और पुराणोंमें प्रसिद्ध है, उसके अनुकूल मन्त्रका अर्थ न मानकर मनमाना अर्थ करना एक दुराग्रहपूर्ण कार्य होगा। जो सम्प्रदाय ब्राह्मणभागको वेद नहीं मानते, वे भी यह तो मानते ही हैं कि मन्त्रोंके अर्थ ही भगवान्ने ऋषियोंकी बुद्धिमें प्रकाशित किये। वे ही अर्थ ऋषियोंने लिखे। वे ही ब्राह्मण हैं और पुराण आदि भी वेदार्थोंके विस्तार ही हैं, यह उनमें ही वर्णित है। इसी प्रकार मत्स्यावतारकी कथा और वराहावतारकी कथा भी शतपथ आदि ब्राह्मणोंमें स्पष्ट मिलती है। जो वैज्ञानिक अवतार हैं, जिनका सृष्टिमें विशेषरूपसे उपयोग है, उनकी कथा ब्राह्मणोंमें सृष्टि-प्रक्रिया बतानेके लिये स्पष्टरूपसे दी गयी है।

महाभारतके टीकाकार श्रीनीलकण्ठने 'मन्त्र-भागवत' और 'मन्त्र-रामायण' नामके दो छोटे निबन्ध भी लिखे हैं। उनमें राम और कृष्णकी प्रत्येक लीलाओंके प्रतिपादक मन्त्र उद्धृत किये गये हैं, उन मन्त्रोंसे राम और कृष्णके प्रत्येक चरित्र प्रकाशित होते हैं। और वेदके रहस्यको प्रकाशित करनेमें ही जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया, उन वेदके असाधारण विद्वान् विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझाने भी गीता-विज्ञान-भाष्यके आचार्यकाण्डमें उन मन्त्रोंको दुहराया है। इसलिये ये मन्त्र उन लीलाओंपर नहीं घटते, ऐसा कहनेका साहस कोई नहीं कर सकता। इससे वेदोंमें अवतारवाद होना अति स्पष्ट हो जाता है।

'वेद' शब्दका तात्पर्यार्थ क्या है ?

(शास्त्रार्थ-महारथी (वैकुण्ठवासी) पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

'वेद' शब्दमय ब्रह्मका मूर्तस्वरूप है, इसलिये सभी शास्त्रोंमें 'वेद' शब्दका अपर पर्याय 'ब्रह्म' प्रसिद्ध है। वेदका जो विधि-प्रधान भाग है, वह तो 'ब्राह्मण' नाम्ना ही सर्वत्र व्यवहृत है। **'ब्रह्मण इदं ब्राह्मणम्'** इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थके कारण ही उक्त भागकी 'ब्राह्मण'-संज्ञाका स्वारस्य सिद्ध होता है।

'वेद' शब्द '**विद सत्तायाम्**', '**विद ज्ञाने**', '**विद विचारणे**' और '**विद्लृ लाभे**'—इन चार धातुओंसे निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—जिसकी सदैव सत्ता हो, जो अपूर्व ज्ञानप्रद हो, जो ऐहिकामुष्मिक उभयविध विचारोंका कोश हो और जो लौकिक और लोकोत्तर लाभप्रद हो, ऐसे ग्रन्थको 'वेद' कहते हैं।

वेदोंमें सत्ता, ज्ञान, विचार और लाभ—ये चारों गुण विद्यमान हैं। हम क्रमशः इन चारों गुणोंपर विशेष विचार उपस्थित करते हैं—

सत्ता—

ईश्वरवादी सभी सम्प्रदायोंमें ईश्वर अनादि और अनन्त परिगृहीत है। 'वेद' भगवान्‌की वाणी है, अतः वह भी अनादि एवं अनन्त है। स्मृति-वचन है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।

अर्थात् वेद स्वयम्भू ब्रह्माकी वह वाणी है, जिसका न कोई आदि है और न अन्त। अतएव वह नित्य है। ब्रह्मा भी वेदवाणीके निर्माता नहीं, अपितु यथोपदिष्ट उत्सर्ग—प्रदान करनेके कारण उत्स्रष्टा ही हैं। इस प्रकार वेदोंकी सत्ता त्रिकालाबाधित है।

कदाचित् कोई कुतार्किक 'वाणी' शब्दको सुनकर आशंका करे कि लोकमें तो वाणी त्रिकालाबाधित नहीं होती। जाग्रत्-अवस्थामें ही वाणीका व्यापार प्रत्यक्ष दृष्ट है। स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्थामें तो वाणीके व्यापारकी कथमपि सम्भावना नहीं की जा सकती। अतः आस्तिकोंके कथित भगवान्‌के भी शयनकालमें वाणीका अवरोध युक्तिसंगत है, अतः उसे सदा अनवरुद्ध सत्ता-सम्पन्न कैसे कहा जा सकता है? यद्यपि यह शंका कुतर्कपर आश्रित है; क्योंकि संसारमें कोई भी दृष्टान्त सर्वांशमें परिगृहीत नहीं हुआ करता, किंतु सभी उपमाएँ एक सीमातक उपमेय वस्तुके गुण-दोषोंकी परिचायक हुआ करती हैं। मुखको चन्द्रके समान कहनेका चन्द्रगत आह्लादकतादि गुणोंका ही मुखमें आरोप करना हो सकता है न कि तद्गत शशक-चिह्न, किंवा क्षीणत्व-दोषका उद्घाटन करना। ठीक इसी प्रकार वेदको भगवान्‌की वाणी कहनेका तात्पर्य यही है कि यावत् शब्द-व्यवहार एकमात्र वेद-वाणी-निस्यूत शब्द-राशि है; क्योंकि वह अपौरुषेय है, अतः किसी पुरुष-विशेषकी वाणीसे उसका सम्बन्ध स्वीकृत नहीं, इसलिये आपाततः वेदभगवान्‌का ही वैभव हो सकता है। तथापि कुतार्किकोंको शंका-उद्घाटनका अवसर ही प्राप्त न हो, एतावता अन्यत्र वेदको भगवद्वाणी न कहकर उसे भगवान्‌का निःश्वास कहा गया है—

(क) अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः। (बृहदारण्यक० २। ४। १०)

(ख) यस्य निश्वसितं वेदाः।

(सायणीय भाष्य मङ्गलाचरण)

अर्थात्—(क) इस महाभूत श्रीमन्नारायणभगवान्‌के ये श्वास ही हैं। जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्वाङ्गिरस—अथर्ववेद हैं।

(ख) वेद जिस भगवान्‌के निःश्वासोच्छ्वास हैं, वे प्रभु वन्दनीय हैं।

कहना न होगा कि उक्त प्रमाणोंमें वेदोंको भगवान्‌का श्वासोच्छ्वास कहनेका यह अभिप्राय है कि श्वास प्रयत्न-साध्य वस्तु नहीं, किंतु निसर्गजन्य है तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्थामें भी यावज्जीवन वह विद्यमान रहता है, एतावता यह सुप्रसिद्ध है कि वेद भी कोई कृत्रिम वस्तु नहीं,अपितु भगवान्‌का सहज व्यापार है। संसार भले ही सम्भव और विनाशशील हो, परंतु वेदोंकी सत्ता आदि सृष्टिसे पूर्व भी थी और प्रलयान्तरमें भी वह अबाधरूपमें अक्षुण्ण बनी रहेगी। जैसे श्रीमन्नारायणभगवान्

अनादि, अनन्त और अविपरिणामी हैं, ठीक इसी प्रकार वेद भी अनादि, अनन्त और अविपरिणामी हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि '**विद सत्तायाम्**' धातुसे निष्पन्न 'वेद' शब्द त्रिकालाबाधित सत्तासम्पन्न है।

ज्ञान—

वेद जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमानकी सीमापर्यन्त सीमित लौकिक ज्ञानकी अक्षय निधि हैं, वहीं प्रत्यक्षानुमानोपमानादिसे सर्वथा और सर्वदा अज्ञेय, अतीन्द्रिय, अवाङ्मनसगोचर लोकोत्तर ज्ञानके तो एकमात्र वे ही अन्धेकी लकड़ीके समान आधारभूत हैं। वस्तुतः लौकिक ज्ञान वेदोंका मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। तादृश वर्णन तो वैदिकोंके शब्दोंमें केवल प्रत्यक्षानुवादमात्र है। कुछ लोग कहते हैं कि '**अग्निर्हिमस्य भेषजम्**'—यह बात वेदके बिना भी वज्रमूर्खतक स्वानुभवसे जानते हैं, फिर वेदमें ऐसी छिछली बातोंकी क्या जरूरत थी? परंतु आक्षेप्ताओंको मालूम होना चाहिये कि वेदका यह प्रत्यक्षानुवाद भी उस कोटिका साहित्य है, जो कि आजके कथित भौतिक विज्ञानवादियोंकी समस्त उछल-कूदकी पराकाष्ठाके परिणामोंसे सदैव एक कदम आगे रहता है। शंकावादीकी उदाहृत श्रुतिका केवल यही अर्थ नहीं है कि 'अग्नि शीतकी औषधि है' अर्थात् आग तापनेसे पाला दूर हो जाता है,अपितु वेदके इन शब्दोंमें यह उच्च कोटिका विज्ञान भी गर्भित है कि हिमानी प्रदेशमें उत्पन्न होनेवाली जड़ी-बूटियाँ अतीव उष्ण होती हैं। शिलाजीत, केशर, संजीवनी और कस्तूरी आदि इस तथ्यके निदर्शन हैं अथवा बर्फ बनानेका नुस्खा अग्नि ही है अर्थात् इतनी डिग्री उष्णता पहुँचानेपर तरल राशि बर्फरूपमें घनीभावको प्राप्त हो जाती है। कहना न होगा कि वर्तमान भौतिक विज्ञानवादी वर्षों अनुसंधान करनेके उपरान्त एक मुद्दतमें वेदके उपर्युक्त मन्त्रांशद्वारा प्रतिपादित हिम-विज्ञानको समझ पाये हैं। इसी प्रकार वेद-प्रतिपादित अश्वत्थ-विज्ञान, शङ्खध्वनिसे रोग-कीटाणु-विनाश-विज्ञान, श्रीजगदीशचन्द्र वसु और सी० बी० रमण आदि भारतीय विज्ञानवेत्ताओंके चिरकालीन अनुसंधानोंके उपरान्त अभारतीय वैज्ञानिकोंतक अंशतः पहुँच गया है। इसी प्रकार '**हिमवतः प्रस्रवन्ती ''' हृद्रोगभेषजम्**' आदि वेद-प्रतिपादित गङ्गाजलके हृदय-रोगोंकी अचूक औषधि होनेकी बात अभीतक अनुसंधान-कोटिमें ही लटक रही है और वेदोक्त स्पर्श-विज्ञानकी ओर तो अभी भौतिक विज्ञानवादी उन्मुख नहीं हो पाये हैं।

'**अग्नीषोमात्मकं जगत्**' इस वैदिक घोषणाका तथ्य समझनेमें अभी वैज्ञानिकोंको शताब्दियाँ लगेंगी। परमाणु-विज्ञान, विज्ञानकी चरम सीमा समझी जाती है, परंतु वस्तुतः वह विज्ञानकी 'इति' नहीं, अपितु 'अथ' है। कथित 'नाईट्रोन' और 'प्रोटोन' नामक परमाणुके विश्लिष्ट अन्तिम दोनों अंश वेदोक्त अग्नि और सोम-तत्त्वके ही स्थूलतम प्रतिनिधि हैं। जिस तत्त्वांशको अन्तिम समझकर आजका भौतिक विज्ञानवादी केवल अनिर्वचनीय शक्तिपुञ्ज (एनर्जी)-मात्र कहनेको विवश है और तत्संश्लिष्ट 'अपर' अंशको अच्छेद्य सह-अस्तित्वशाली आवरण बताता है, वास्तवमें वे दोनों अग्नि और सोमके ही स्थूलतम अत्यणु हैं। यह परमाणु-विज्ञानका चरम बिन्दु नहीं किंतु प्रवेशद्वारमात्र है। अभी तो विपञ्चीकृतभूत तन्मात्राएँ, अहंकार और महान्—इन द्वारोंकी लम्बी मंजिल तय करनी पड़ेगी, तब कभी 'अव्यक्त' तत्त्वतक पहुँच हो पायेगी। उस समय साम्प्रतिक भौतिक विज्ञानवादियोंद्वारा कथित एनर्जी और आवरण नामक तत्त्वद्वयात्मक परमाणु पुरुष और प्रकृतिके ऐक्यभूत अर्धनारीश्वरकी संज्ञाको धारण कर सकेंगे। कहनेका तात्पर्य यह है कि वेदोंका प्रमुख विषय भौतिक विज्ञान भी वेदोंमें इतनी उच्च कोटिका वर्णित है कि जिसकी तहतक पहुँचनेमें अनुसंधायकोंको अभी कई सहस्राब्दियाँ लग सकती हैं। हमने प्रसंगवश कतिपय पंक्तियाँ इस विषयपर इसलिये लिख छोड़ी हैं कि जिनसे वर्तमान भौतिक विज्ञानकी चकाचौंधमें चौंधियायी हुई भारतीय आँखोंकी भी साथ-साथ कुछ चिकित्सा हो सके। अब हम वेदोंके मुख्य विषयकी चर्चा करते हैं। स्मृतिकारोंका कहना है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

अर्थात् प्रत्यक्षानुमान और उपमान आदि साधनोंद्वारा जो उपाय नहीं जाना जा सके, वह उपाय वेदसे जाना जा सकता है, यही वेदका वेदत्व है।

मन क्या है? बुद्धि क्या है? स्वप्न और सुषुप्तिकी अनुभूतियाँ किमाधारभूत हैं? जीवन-मरण क्या है? मृत्युके पश्चात् क्या कुछ होता है? इत्यादि मानव-प्रश्नोंको मानव-बुद्धि-बलात् सुलझानेका असफल प्रयत्न किया जायगा तो हो सकता है कि अनुसंधायक सनकी, अर्धविक्षिप्त, किंवा मस्तिष्ककी धमनी फट जानेसे मृत्युका ग्रास ही न बन जाय। इसलिये अनुभवी तत्त्वदर्शियोंकी खुली घोषणा है कि—

अतीन्द्रियाश्च ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।

इन्द्रियातीत भावोंको तर्कसे समझनेका प्रयास नहीं करना चाहिये।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिन लोकोत्तर परोक्ष-विषयोंमें मानव-बुद्धि उछल-कूद मचाकर कुण्ठित; किंवा पंगु हो जाय, उन विषयोंके परिज्ञानके लिये एकमात्र वेद ही हमारा मार्गदर्शक हो सकता है। इसलिये पाणिनीय महाभाष्यकारके शब्दोंमें भारतीय ऋषियोंका यह गौरवपूर्ण उद्घोष आज भी दिग्दिगन्तोंमें प्रतिध्वनित है— '**शब्दप्रामाणिका वयम्**' अर्थात् हम वेद-प्रमाणको सर्वोपरि मानते हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि—'**विद ज्ञाने**' धातुसे निष्पन्न होनेवाला 'वेद' शब्द धात्वर्थके अनुसार लौकिक और पारलौकिक उभयविध ज्ञानका कोश है।

विचार—

'वेद' शब्दका अन्यतम अर्थ विचार भी है। तदनुसार लौकिक या पारलौकिक कोई भी नया बेजोड़ विचार सम्भव नहीं हो सकता, जो कि वेदमें प्रथमतः न किया गया हो! यह ठीक है कि दुर्भाग्यवश आज राजाश्रयके बिना वे सुलझे-सुलझाये अकाट्य सिद्धान्त तबतक लोगोंकी दृष्टिसे ओझल ही रहते हैं, जबतक कि अँधेरेमें चाँदमारी करनेवाले वर्षों माथापच्ची करनेके बाद किसी सिद्धान्ताभासकी दुम पकड़कर एतावता अपनेको कृतकृत्य नहीं मान लेते और उसपर आचरण करके पदे-पदे विपत्तियाँ आनेपर अपने उस मन्तव्यकी केंचुली बदलते-बदलते 'मघवा मूल विडौजा टीका' को चरितार्थ नहीं कर डालते। यह एक अपरिहार्य सत्य है कि मनुष्य चाहे कितना ही बड़ा बुद्धिमान् क्यों न हो, तथापि वह मानव होनेके कारण 'अल्पज्ञ' ही रहेगा। सर्वज्ञ तो एकमात्र श्रीमन्नारायणभगवान् ही हैं। अतः मानव-विचार सर्वांशमें त्रुटिहीन नहीं हो सकता। एक मनुष्यकी कौन कहे, सैकड़ों चुने हुए बुद्धिमानोंद्वारा बड़े ऊहापोह और बहस-मुबाहसेके बाद बनाये गये कानून कुछ दिनोंके बाद ही खोखले मालूम पड़ने लगते हैं। वही प्रस्तोता अनुमोदक तथा समर्थक अपने पूर्व-निश्चयको बदलनेके लिये बाध्य हो जाते हैं। भारतकी ही संसदमें अन्यून नब्बे करोड़ जनताद्वारा निर्वाचित सवा पाँच सौ सदस्य एक दिन एक विधान बनाते हैं और कुछ दिनोंके बाद स्वयं उसमें संशोधनके लिये बाध्य होते हैं। यह मनुष्यकी सहज अल्पज्ञताका ही निदर्शन है। इसलिये सर्वज्ञ भगवान्‌की वाणी वेद ही '**विद विचारणे**' धातुसे निष्पन्न होनेके कारण सही विचारोंका खजाना है।

लाभ—

शास्त्रोंमें समस्त लौकिक लाभोंका संग्राहक शब्द 'अभ्युदय' नियत किया गया है और सम्पूर्ण पारलौकिक लाभोंका संग्राहक शब्द 'निःश्रेयस' शब्द नियत किया गया है। उक्त दोनों प्रकारके लाभ जिनके द्वारा सुतरां प्राप्त हो सकें, उसी तत्त्वका पारिभाषिक नाम धर्म है। वेद धर्मका प्रतिपादक है। अतः यह उभयविध लाभोंका जनक है। वेदाज्ञाओंका पालन करनेवाले व्यक्तिको 'योगक्षेमात्मक' सर्वविध अभ्युदय प्राप्त होता है और परलोकमें वह श्रीमन्नारायणभगवान्‌के सांनिध्यसे लाभान्वित होता है। शास्त्रमें साधकके लिये पारलौकिक सद्गतिको ही वस्तुतः परम लाभ स्वीकार किया गया है, लौकिक सुख-समृद्धिको तो अनायास अवश्य ही प्राप्त होनेवाली वस्तु बतलाया गया है, जैसे आम्रवनमें पहुँचनेपर यात्राका वास्तविक लाभ तो सुमधुर आम्रफल-प्राप्ति ही है, परंतु घर्मतापापनोदिनी शीतल छाया, श्रुति-सुलभ कोकिला-रावश्रवण और घ्राणतर्पक विशुद्ध वायु-संस्पर्श आदि भोग तो उसे अयाचित ही सुलभ हो जायँगे। एतावता यह सिद्ध है कि '**विद्लृ लाभे**' धातुसे निष्पन्न 'वेद' शब्द अपने मूल धात्वर्थके अनुसार ऐहिक और आमुष्मिक उभयविध लाभोंका सर्वोपरि जनक है।

अतः जो त्रिकालाबाधित सत्तासम्पन्न हो, परोक्ष ज्ञानका निधान हो, सर्वविध विचारोंका भण्डार हो और लोक तथा परलोकके लाभोंसे भरपूर हो उसे 'वेद' कहते हैं। यही वेद शब्दका संक्षिप्त अर्थ है।

गो-स्तवन

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥

(ऋक्० ८। १०१। १५)

'गौ रुद्रोंकी माता, वसुओंकी पुत्री, अदितिपुत्रोंकी बहिन और घृतरूप अमृतका खजाना है; प्रत्येक विचारशील पुरुषको मैंने यही समझाकर कहा है कि निरपराध एवं अवध्य गौका वध न करो।'

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥

(अथर्व० ४। २१। १)

'गौओंने हमारे यहाँ आकर हमारा कल्याण किया है। वे हमारी गोशालामें सुखसे बैठें और उसे अपने सुन्दर शब्दोंसे गुँजा दें। ये विविध रंगोंकी गौएँ अनेक प्रकारके बछड़े-बछड़ियाँ जनें और इन्द्र (परमात्मा)-के यजनके लिये उषःकालसे पहले दूध देनेवाली हों।'

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥

(अथर्व० ४। २१। ३)

'वे गौएँ न तो नष्ट हों, न उन्हें चोर चुरा ले जाय और न शत्रु ही कष्ट पहुँचाये। जिन गौओंकी सहायतासे उनका स्वामी देवताओंका यजन करने तथा दान देनेमें समर्थ होता है, उनके साथ वह चिरकालतक संयुक्त रहे।'

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥

(अथर्व० ४। २१। ५)

'गौएँ हमारा मुख्य धन हों, इन्द्र हमें गोधन प्रदान करें तथा यज्ञोंकी प्रधान वस्तु सोमरसके साथ मिलकर गौओंका दूध ही उनका नैवेद्य बने। जिसके पास ये गौएँ हैं, वह तो एक प्रकारसे इन्द्र ही है। मैं अपने श्रद्धायुक्त मनसे गव्य पदार्थोंके द्वारा इन्द्र (भगवान्)-का यजन करना चाहता हूँ।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥

(अथर्व० ४। २१। ६)

'गौओ! तुम कृश शरीरवाले व्यक्तिको हृष्ट-पुष्ट कर देती हो एवं तेजोहीनको देखनेमें सुन्दर बना देती हो। इतना ही नहीं, तुम अपने मङ्गलमय शब्दसे हमारे घरोंको मङ्गलमय बना देती हो। इसीसे सभाओंमें तुम्हारे ही महान् यशका गान होता है।'

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥

(अथर्व० ४। २१। ७)

'गौओ! तुम बहुत-से बच्चे जनो, चरनेके लिये तुम्हें सुन्दर चारा प्राप्त हो तथा सुन्दर जलाशयमें तुम शुद्ध जल पीती रहो। तुम चोरों तथा दुष्ट हिंसक जीवोंके चंगुलमें न फँसो और रुद्रका शस्त्र तुम्हारी सब ओरसे रक्षा करे।'

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥

(अथर्व० ७। ७३। ८)

'रँभानेवाली तथा ऐश्वर्योंका पालन करनेवाली यह गाय मनसे बछड़ेकी कामना करती हुई समीप आयी है। यह अवध्य गौ दोनों अश्विदेवोंके लिये दूध दे और वह बड़े सौभाग्यके लिये बढ़े।'
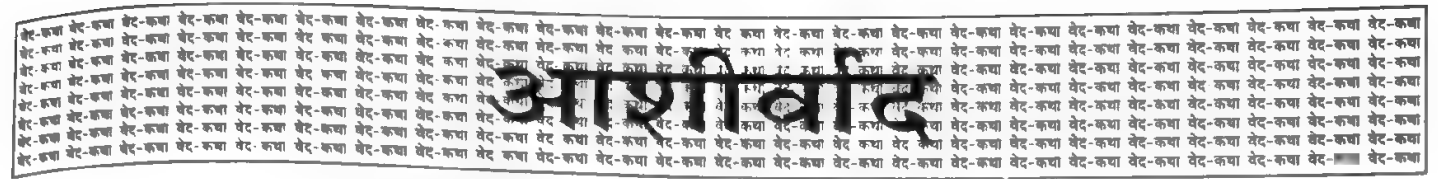
अपौरुषेय वेदोक्त श्रेयस्कर मार्ग

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृंगेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज)

भारतवर्षकी यह सर्वाधिक विशेषता है कि यहाँ ज्ञान-विज्ञान, शस्त्र एवं शास्त्र-विद्या, साहित्य-कला, सभ्यता-संस्कृति आदिका मूल वेद माना जाता है या इन सबका सम्बन्ध वेदोंसे जोड़ा जाता है। यह वेदोंका देश है, महर्षियोंका देश है। वेद ज्ञानराशि होने तथा सर्वव्यापक तत्त्वदर्शन आदिसे समलंकृत होनेके कारण विश्वके विभिन्न देशोंके विद्वानोंका ध्यान बरबस इस ओर आकृष्ट हुआ और विद्वत्समाजने एक-कण्ठ होकर भारतकी महानता और श्रेष्ठताको स्वीकार किया। संसारमें शायद ही ऐसा कोई देश हो जो यह कहता हो कि हमारी सभी विद्याओंका, हमारी सभी संस्कृतियों एवं सभ्यताओंका, हमारे संगीत और हमारी कलाओंका मूल हमारे धार्मिक ग्रन्थ हैं। केवल भारतमें सनातनधर्मके मूल वेदको ऐसा अद्वितीय गौरव प्राप्त है। '**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**' और '**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा**'-जैसे श्रुति-स्मृति-वाक्योंसे स्पष्ट है कि समस्त मानवोंके अभ्युत्थान, अभ्युदय और श्रेयके लिये एकमात्र वेद ही सर्वस्व हैं। सर्वविषयात्मक, सर्वविद्यात्मक तथा सर्वज्ञान- प्रकाशात्मक वेद परमेश्वरके शासनरूपमें अवतरित हैं।

प्राचीन भारतीय आर्ष-सम्प्रदायके बद्धमूल विश्वास और दृढ विचारानुसार वेद परब्रह्म परमात्माके निःश्वास-रूपमें विनिर्गत हैं, जो ऋषि-मुनियोंको केवल दर्शन-श्रवणादि-रूपमें प्राप्त हुए। वैदिक मन्त्रोंमें ऋषि, देवता और छन्दका उल्लेख इस बातका प्रमाण है कि वैदिक ऋषियोंको वे मन्त्र दर्शन-श्रवणादिसे प्राप्त हुए। अतएव वेद अपौरुषेय हैं; किसी लौकिक काव्यादि ग्रन्थोंकी तरह वेदोंकी रचना नहीं हुई है और न ही इसके कर्ता कोई पुरुष अथवा एकसे अधिक मनीषी लेखक हैं। स्वयं वेद ही इस बातके प्रमाण हैं कि वेद ईश-शासन हैं, परमेश्वरके निःश्वासभूत हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।१०)-की श्रुति है—

'**अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।**'

सृष्टिकर्ताने सृष्टिके प्रारम्भमें सृष्टिकी सुव्यवस्थाके लिये सर्वथा धर्म-बोधकी आवश्यकता समझी और तदर्थ प्रथमतः उन्होंने ब्रह्माको वेद धारण कराया। श्रुति कहती है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(श्वेताश्वतर० ६।१८)

वेदोंके अभावमें ब्रह्माको भी धर्मका बोध न होता, तब औरोंकी बात कहना ही क्या है!

किसी मानव-कृत ग्रन्थमें शंका, भ्रम अथवा भूल आदिके लिये स्थान हो सकता है, जबकि वेदोंमें ऐसी किसी बातकी सम्भावना भी नहीं है। कल्प-कल्पान्तरोंमें वेद विद्यमान रहते हैं। सम्प्रति जो कल्प है, उसका नाम श्वेतवाराह कल्प है। इसके पूर्व भी कल्प था। जैसे इस कल्पमें वेद हैं, वैसे ही पूर्ववर्ती कल्पोंमें भी थे। भविष्यपुराणमें महर्षि व्यासने भविष्यकी घटनाओंका वर्णन किया है। भविष्यपुराण ही क्यों? अन्यान्य पुराणोंमें भी ऐसे वर्णन द्रष्टव्य हैं। जब पुराणोंमें ऐसी अपूर्व शक्ति है तो परमात्माके निःश्वासरूप वेदोंमें ऐसी अपूर्व शक्ति क्यों न हो? उसकी दिव्यता और अपूर्व शक्तिके सम्बन्धमें मीमांसा-भाष्यकार शबर स्वामी कहते हैं—

चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्।

अर्थात् वेदोंकी अपूर्व अथवा असाधारण शक्ति यह है कि उनसे भूत, वर्तमान और भविष्यमें घटनेवाले अर्थ ही नहीं सूक्ष्म, व्यवहित तथा अन्य अर्थ भी ज्ञात होते हैं। ऐसी दिव्यता और असाधारण शक्ति अन्यत्र कहीं भी द्रष्टव्य नहीं है।

सुप्रसिद्ध वेद-भाष्यकार सायणाचार्यजीका कथन है कि 'स्वयम्प्रकाश-सूर्य जिस प्रकार दुर्गम विषयोंका भी बोध करा सकता है, उसी प्रकार वेद भी अचिन्त्य और अद्भुत विस्मयकारी शक्तिसे युक्त हैं। घट-पटादिमें स्वयम्प्रकाशकी शक्ति नहीं है, जबकि सूर्य-चन्द्रादिको ऐसी शक्ति है। मनुष्यादिको स्वस्कन्धारोहण-सामर्थ्य नहीं है जबकि वेद, जो अकुण्ठित सामर्थ्यसे युक्त हैं, इतर वस्तु-प्रतिपादकत्व-शक्तिके समान (स्वयम्प्रकाशशक्तिसे युक्त अथवा) स्वप्रतिपादकत्व-शक्तिसे युक्त होते हैं, इसलिये सम्प्रदायविद् वेदकी अकुण्ठित शक्तिका दर्शन करते हैं।'

यथा घटपटादिद्रव्याणां स्वप्रकाशत्वाभावेऽपि

सूर्यचन्द्रादीनां स्वप्रकाशत्वमविरुद्धं तथा मनुष्यादीनां स्वस्कन्धाधिरोहासम्भवेऽपि अकुण्ठितशक्तेर्वेदस्य इतरवस्तुप्रतिपादकत्ववत् स्वप्रतिपादकत्वमप्यस्ति अतएव सम्प्रदायविदोऽकुण्ठितां शक्तिं वेदस्य दर्शयन्ति'''।

प्राचीन परम्परागत विचारोंको अस्वीकार करनेकी दृष्टिसे ही कुछ लोग ऐसे विचारोंका खण्डन करते हैं और कुछ लोग भ्रमके कारण पदे-पदे संदेह प्रकट करते रहते हैं; ऐसे लोग भी हैं जो संसर्ग-दोषके कारण सही विचारोंको स्वीकार नहीं कर सकते। कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि वेदोंकी रचनाका काल-निर्णय करनेकी प्रवृत्ति आधुनिक है। किसी ग्रन्थ-विशेषके रचना-कालके विषयमें जैसे विचार किया जाता है, वैसे ही वेदोंके रचना-कालका निर्णय भी करनेका प्रयत्न कुछ लोगोंने किया है; परंतु उनका प्रयत्न सफल नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि इस पथपर चलनेवाले लोगोंमें भी मतैक्य नहीं है। क्या कारण है? उनका विचार बालूकी भीत है, ठोस प्रमाणोंपर आधारित नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि विचार-विनिमय या शंका-समाधान न हो; परंतु शास्त्रीय अकाट्य तर्कोंसे निःसृत सत्यसे हम विमुख न हों।

किसी वस्तुके रूपको जाननेके लिये अथवा उसका अवलोकन करनेके लिये प्रकाशकी आवश्यकता होती है; जब सूर्यका प्रकाश होता है, तब दीपकादि किसी अन्य प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार धर्म-अधर्मके सम्बन्धमें जाननेके लिये वेद स्वतः प्रमाण हैं, वहाँ किसी अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। श्रीभगवत्पाद शंकराचार्यजीका कथन है—**वेदस्य हि धर्माधर्मयोः निरपेक्षं प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये।**

'**निरपेक्षं प्रामाण्यम्**' कहनेसे यह सर्वथा स्पष्ट है कि यहाँ किसी अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। इससे विदित है कि अपौरुषेय वेद सबके लिये प्रमाण है। यही कारण है कि उन्होंने कहा है कि वेदका नित्य ही अध्ययन करना चाहिये और तदुक्त कर्माचरण हमारा कर्तव्य है—'**वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयताम्।**' वेद ईश्वरीय आदेश है, वेद नित्य है। अतएव उसका अध्ययन सर्वथा श्रेयस्कर है।

जिनको वेदाधिकार है, उनका कर्तव्य है कि वे उससे च्युत न हों। एक और बात यह है कि वेद अपरिमित भी हैं। कहा गया है कि '**अनन्ता वै वेदाः**'। कोई व्यक्ति अपने जीवनकालमें समस्त वेदोंका अध्ययन पूर्णरूपेण नहीं कर सकता। स्व-शाखाका अध्ययन भी बहुत प्रयाससे किया जा सकता है। इस सम्बन्धमें तैत्तिरीय-शाखामें एक कथा है, जो इस प्रकार है—महर्षि भरद्वाजने समस्त वेदोंका अध्ययन करना चाहा। उन्होंने वेदाध्ययन प्रारम्भ किया। यद्यपि वे निरन्तर एक जन्मतक अध्ययन करते रहे, तथापि अध्ययन पूरा नहीं हुआ। दूसरे जन्ममें वे अवशिष्ट वेद-भागोंका अध्ययन करने लगे। उस जन्ममें भी वेदाध्ययन पूरा नहीं हुआ। तीसरे जन्ममें इस अध्ययन-कार्यको वे पूरा करना चाहते थे। वेदाध्ययन करने लगे। बहुत वृद्ध हो जानेपर भी उन्होंने अध्ययन नहीं छोड़ा। वृद्धावस्थाके कारण उनका शरीर शिथिल हो गया, कम्पित होने लगा। अब तो वे बैठकर अध्ययन करनेमें असमर्थ होनेके कारण सोकर ही अध्ययन करने लगे। ऐसी स्थितिमें उनको इन्द्रका साक्षात्कार हुआ। इन्द्रने उनसे पूछा—'यदि तुमको एक जन्म और प्रदान किया जाय तब तुम क्या करोगे?' मुनिने कहा—'तब मैं शेष वेदाध्ययन पूरा करूँगा।' इन्द्रने उस समय कहा—यह तुमसे पूर्ण हो सकनेवाला कार्य नहीं है। जब मुनिने पूछा—क्यों? तब इन्द्रने उनके सामने तीन पहाड़ दिखाये। तीनोंमेंसे एक-एक मुट्ठीभर मिट्टी उनके सामने रखी और कहा—तीनों जन्मोंमें तुमने जो वेदाध्ययन किया है, वह इतनी-सी मिट्टीके बराबर है, अब शेष है इन तीन पहाड़ोंके बराबरका अध्ययन।

मुनि अवाक्-अचम्भित रह गये। फिर उन्होंने पूछा—'तब मैं क्या करूँ?' महेन्द्रने मधुर वाणीमें कहा '**यत्सारभूतं तदुपासितव्यम्**'—मैं तुमको सारका उपदेश देता हूँ।

वेदोंकी ऐसी असीमता है, ऐसी अपरम्पार महिमा है। श्रीभगवत्पाद शंकराचार्य-सरीखे महामहिम्नोंको छोड़कर शेष लोग वेदोंके अद्वितीय विद्वान् कैसे हो सकते हैं?

धर्माधर्मका निर्णय केवल वेदोंसे सम्भव है। वेदोंकी अति विशालता, गहनता, महानता और महत्ताको दृष्टि-पथमें रखकर मनु, गौतम, याज्ञवल्क्य और पराशर-प्रभृति ऋषि-मुनियोंने धर्मकी व्याख्या करनेवाले जिन ग्रन्थोंकी रचना की उन्हें 'स्मृति' कहते हैं।

'**श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः**'—यह कहनेसे स्पष्ट होता है कि श्रुति हमारे लिये जिस भाँति प्रबल प्रमाण है, उसी भाँति स्मृति भी प्रमाण है। स्मृति श्रुतिका ही अनुसरण करती है। उपमाके सार्वभौम कविकुलगुरु कालिदासने रघुवंश (२। २)-में कहा है—

मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥

श्रुति जो कहती है स्मृति भी वही कहती है। अतएव

दोनोंमें विरोध नहीं होता। जैसे श्रुति-वाक्य प्रमाण या आचरणीय होता है, वैसे ही स्मृति-वाक्य भी। यदि कहीं श्रुति-वाक्य स्मृति-वाक्यसे मेल नहीं खाता अथवा परस्पर विरोध दिखायी पड़ता है, तब तो हमारे लिये श्रुति-वाक्य ही प्रबलतम प्रमाण होता है, जिसका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता। श्रुति-स्मृति दोनोंका हमें समानरूपसे आदर करना चाहिये।

पुराण तथा महाभाष्यादि ग्रन्थोंसे हमें वेदकी शाखाओंका ज्ञान होता है। कूर्मपुराण (पू०वि० ५०। १८-१९)-में बताया गया है कि ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ, यजुर्वेदकी एक सौ शाखाएँ, सामवेदकी एक हजार शाखाएँ और अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ हैं। महर्षि पतञ्जलिने यजुर्वेदकी एक सौ शाखाओंका उल्लेख '**एकशतमध्वर्युशाखा:**' कहकर किया है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि वेदोंकी उपर्युक्त शाखाओंमें कई शाखाएँ आज दृष्टिगत नहीं होतीं।

प्रातिशाख्य-जैसे ग्रन्थ वेदोच्चारण-प्रक्रियाको जाननेमें सहायक हैं। उदात्त-अनुदात्त-स्वरित-स्वर नियमक्रमके अनुसार वेद-मन्त्रोंके उच्चारण होने एवं पदपाठ, जटापाठ और घनपाठ आदिके द्वारा नियमित होनेके कारण उनका स्वरूप-संरक्षण आजतक उसी भाँति सम्भव हो सका है, जिस भाँति वे अति प्राचीन कालसे चले आ रहे हैं।

वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणमें सावधानी बरतनी चाहिये। वर्ण-व्यत्यय या स्वर-व्यत्ययसे वाञ्छित अर्थ-लाभ न होकर हानि होनेकी सम्भावना होती है। वेदाङ्ग-शिक्षामें प्रसिद्ध है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

श्रुति कहती है—

यदब्रवीत् स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति। तस्मादस्येन्द्रश्शत्रुरभवत्।

श्रीमद्भागवत (६। ९। ११)-में इस सम्बन्धमें कहा गया है—

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व माचिरं जहि विद्विषम्॥

'**इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व**' में स्वरापराधके कारण त्वष्टाकी इच्छाके विरुद्ध इन्द्र ही शत्रु हो गया और इन्द्रसे वृत्रासुर मारा गया।

वेद-मन्त्रोंका ऐसा दिव्य प्रभाव होता है। कुछ मन्त्र तो सद्यः प्रभावशील होते हैं। यह अनुभवसिद्ध बात है कि वेदोक्त-विधानसे पर्जन्य-जपका अनुष्ठान करनेपर सुवृष्टि होती है। महारुद्र और अतिरुद्र महायाग-जैसे अनुष्ठानोंसे शीघ्र ही अभीष्ट-सिद्धि होती है। वास्तविकता यह है कि अनुष्ठान करने-करानेवालोंमें श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिये। कहा गया है कि जो वेदज्ञ ब्राह्मण हैं उनमें देवता निवास करते हैं।

श्रुति है—'**यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवेदिवे नमस्कुर्यान्नाश्लीलं कीर्तयेदेता एव देवताः प्रीणन्ति।**' ऐसे वेदज्ञोंका सम्मान करना चाहिये, उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये, इससे देवता संतुष्ट होते हैं। '**वेदः शिवः शिवो वेदः वेदाध्यायी सदाशिवः**'—जो कहा गया है, उसके सम्बन्धमें एक कथा याद आती है। हैहय-वंशके एक राजकुमारने शिकारके समय एक ऋषिके आश्रमके समीप मृगचर्म ओढ़े एक वटुको भ्रमवश एक विषैले बाणसे मारा। 'हा- हा' की आवाज सुनकर उसने समझा कि ब्रह्महत्या हो गयी। शापके भयसे वह भागकर अपने राजमहलमें पहुँचा। राजाने सब वृत्तान्त जानकर कहा कि तुमने ठीक नहीं किया। चलो, हम आश्रमपर चलकर मुनिवरसे क्षमा माँग लें। राजा सपरिवार मुनिके आश्रममें पहुँचे तो मुनिने स्वागत किया। तब राजाने कहा—'हम इसके योग्य नहीं हैं, क्षमा करें।' राजाने पूरी घटनाका वर्णन कर क्षमा माँगी और प्रायश्चित्तका विधान जानना चाहा। मुनिने कहा—'प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ कोई ब्रह्महत्या नहीं हुई है।' यह सुनकर राजाको आश्चर्य हुआ। उस विषैले बाणसे कोई जीवित बच जाय, यह कैसे सम्भव है—यह सोचकर राजाने जब संदेह प्रकट किया, तब मुनिने पूछा—'यदि आश्रममें रहनेवाले सभी ब्रह्मचारियोंको यहाँ बुलाऊँ तो क्या राजकुमार उस ब्रह्मचारीको पहचान सकते हैं?' राजकुमारके 'हाँ' कहनेपर मुनिद्वारा आश्रमसे सभी ब्रह्मचारी बुलाये गये। जिसे बाणसे आहत किया था, उसको राजकुमारने पहचाना। परंतु आश्चर्य कि उसके शरीरपर घावका चिह्नतक नहीं था, मरना तो दूर। तब मुनिवरने राजासे कहा—'हम लोग पूर्णतः वैदिक धर्मके मार्गपर चलनेवाले हैं, वेद-विहित कर्मोंमें कोई न्यूनता आने नहीं देते, धर्मानुष्ठानोंका सम्यक् पालन करते हैं। अतएव मृत्युदेवता यहाँसे कोसों दूर रहते हैं। आप इस वैदिक धर्मानुष्ठानके प्रभावपर विश्वास करते हैं न!

निःसंदेह वैदिक धर्मानुष्ठान सर्वथा श्रेयस्कर है। मनुने इसीलिये कहा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥

(मनु० ८। १५)

यहाँ दो बातें हैं—यदि हम धर्मकी रक्षा करते हैं तो धर्म हमारी रक्षा करता है, यदि हम उसकी हिंसा करते हैं तो वह हमारी हिंसा करता है अर्थात् धर्मके सही

स्वरूपको जानकर तदनुसार आचरण करना धर्मकी रक्षा करना है, इससे सुख-शान्ति और श्रेयकी समुपलब्धि होती है। धर्मका आचरण न करनेसे अथवा धर्मका गलतरूपमें आचरण करनेसे विरुद्धफलकी प्राप्ति होती है या हम विनष्ट होते हैं। इसलिये प्रत्येक व्यक्तिको चाहिये कि वह अपने लिये विहित धर्मका आचरण करे और कभी अपने कर्तव्यसे मुँह न मोड़े, क्योंकि—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(गीता १८। ४५)

निज कर्तव्यके अनुसार चलनेसे वह सुख-सिद्धि प्राप्त करता है और श्रेयका भागी होता है। तदर्थ ही वेद धर्मका बोध कराते हैं। धर्मके विषयमें किसीको स्वातन्त्र्य नहीं है। निरपेक्ष-प्रमाण वेदोंके आदेशोंके अनुसार ही चलना चाहिये; क्योंकि सबकी बुद्धि समान नहीं होती। जिस-किसीकी सुविधा एवं अपेक्षाके अनुसार कल्पना करते रहनेसे धर्मकी व्यवस्था नहीं टिक सकती, अराजकता ही हो जायगी। जैसा कि श्रीभगवत्पादजीने कहा भी है—

कश्चित् कृपालुः प्राणिनां दुःखबहुलः संसार एव मा भूदिति कल्पयेत्। अन्यो वा व्यसनी मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिं कल्पयेत्। तस्माद् यस्मै यस्मै यद्यद्रोचते तत्सर्वं प्रमाणं स्यात्।

श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्यके उपोद्घातमें उन्होंने वेदोक्त धर्मको प्रवृत्ति और निवृत्ति-लक्षणात्मक कहा है—'**द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च**'। भगवान् बादरायणने भी इसी प्रकार कहा है—

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च प्रकीर्तितः॥

वेदविहित प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्गपर चलते हुए हमें श्रेयकी साधना करनी चाहिये, परम लक्ष्यतक पहुँचना चाहिये। गीता (२। ४०)-में भी इसी तथ्यकी पुष्टिका उद्घोष किया गया है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

वैसे सर्वात्मना सर्वाङ्गीणरूपसे धर्मका आचरण करनेमें अशक्त होनेपर यथाशक्तिन्यायसे यथासम्भव धर्मका आचरण दृढ़ चित्तसे प्रयत्नपूर्वक ठीक-ठीक करना चाहिये। यही श्रेयस्कर मार्ग है।

अथर्ववेदकी महत्ता और उसकी समसामयिकता

(अनन्तश्रीविभूषित द्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज)

मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी ऋतम्भराप्रज्ञा एवं श्रुतिपरम्पराके द्वारा मुनियोंकी तपःपूत भूमिमें संचित तथा सुरक्षित मन्त्रब्राह्मणात्मक ज्ञानराशिका नाम वेद है। आपस्तम्बश्रौतसूत्रमें वेदका लक्षण बताते हुए कहा गया है कि—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

चिन्तन-पद्धतिके वैविध्य, ज्ञानमयी भौगोलिकताके विस्तार, असंख्य आश्रम-व्यवस्था, उपभाषाओंकी बहुविधता एवं चिन्तनात्मक स्वातन्त्र्यके कारण वेदकी असंख्य शाखाओंका होना स्वाभाविक था। कहा जाता है कि भगवान् वेदव्यासने वेदको चार भागोंमें विभक्त कर दिया था, जिसके कारण उनका नाम 'वेदव्यास' पड़ा और वेदने ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्वके रूपमें चार स्वरूप धारण किया। ऋग्वेदमें स्तुति, यजुर्वेदमें यज्ञ, सामवेदमें संगीत तथा अथर्ववेदमें आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, राष्ट्रिय संगठन तथा देशप्रेमके चिन्तनका प्राधान्य है। वैसे दुनियाके इस सर्वप्राचीन वाङ्मयने ही संसारके सभी लोगोंको शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता एवं मानवताका सर्वप्रथम पाठ पढ़ाया था। मनुस्मृतिकार कहते हैं कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनु० २। २०)

वैदिक महर्षियोंकी दृष्टि मूलतः आध्यात्मिक है। स्तुति, यज्ञ तथा संगीत हो अथवा जीवसेवार्थ लोकहित-हेतु विभिन्न साधनाएँ; सबका लक्ष्य मात्र अध्यात्म-साधना, मोक्षप्राप्ति एवं ईश्वर-साक्षात्कार है। यह साहित्य समानरूपसे सभी लोगोंको स्वस्थ, सुखी, कल्याणमय, निर्भय, प्रसन्न, संतुष्ट तथा समृद्ध बनने-बनानेकी कामनासे आपूरित पवित्र संकल्पोंका समुच्चयात्मक ज्ञाननिधि है। कहना न होगा कि इसके किसी भी संविभाग—अङ्गपर विचार क्यों न करें, सबका लक्ष्य समान ही दिखायी देगा, क्योंकि उनका मूल स्वरूप एक ही है। उदाहरणार्थ यदि अथर्ववेदको ही लें तो हम देखते हैं कि सामान्यरूपसे इसमें समाज किंवा लोकजीवनकी व्यवस्थासे सम्बद्ध वर्ण्यसामग्री अधिक है अपेक्षाकृत अन्योंके; किंतु लोकहित-साधनाकी यह परम्परा कोरी लौकिक नहीं है, प्रत्युत इसकी लोकोन्मुखता अध्यात्मचिन्तनकी

पृष्ठभूमि है। इसी चिन्तनात्मक अभ्यास-सोपानके सहारे चिन्तक पारलौकिकताके चरम बिन्दुको प्राप्त कर सकेगा। यही कारण है कि अथर्ववेदकी इसी विचार-पद्धतिने इस कालजयी साहित्यको परम लोकप्रिय, उपयोगी एवं मानव-जीवनका अभिन्न अङ्ग बना दिया। जिससे यह सामान्यातिसामान्य व्यक्तिके लिये भी अध्ययन, अवबोध, उपयोग तथा शिक्षाका स्रोत बन गया। इसीलिये आज भी संसारका कोई भी चिन्तक अथर्ववेदकी सार्वजनीन, सार्वकालिक एवं सार्वत्रिक प्रासंगिकताको अस्वीकार नहीं कर सकता। उसमें कहीं लोगोंको बुद्धिमान्, विद्वान्, ज्ञानी और जीवन-दर्शनमें निष्णात होनेका उपदेश दिया गया है तो कहीं पारस्परिक एकता, सौमनस्य, संगठन, बलिष्ठता, उन्नति, संवेश्य राष्ट्र, एकराट्, सुधार, विजय, सेवा, शस्त्र-निर्माण, स्वराज्य-शासन, आर्थिक प्रगति तथा मातृभूमिके प्रति असीम प्रेम रखनेका निर्देश भी दिखायी देता है। वनस्पतियोंकी रक्षा, पर्यावरण-सुरक्षा, ओषधि-निर्माण, वर्षा, अचौर्य, क्षमाभाव, पवित्रता, विद्यार्जन, शान्तिस्थापन तथा पशु-पालन आदि इस वेदके ऐसे वर्ण्यविषय हैं, जो—'**काले वर्षतु पर्जन्यः**……**सर्वे सन्तु निर्भयाः**' एवं '**सर्वे भवन्तु सुखिनः**…… **मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्**' के आदर्शको मूर्त स्वरूप प्रदान करते हैं। मानव-जीवनके आचार एवं मातृभूमिकी उन्नतिके परस्पर सम्बन्ध देखें—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥
(अथर्व० १२। १। १)

अर्थात् सत्यपालन, हृदयकी विशालता, सरल आचरण, वीरता, कार्यदक्षता, ठंडी-गरमी आदि द्वन्द्वोंकी सहिष्णुता, ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नता, विद्वानोंका सत्कार—ये गुण मातृभूमिकी रक्षा करते हैं। भूत, वर्तमान और भविष्यत्में हमारा पालन करनेवाली हमारी मातृभूमि हम सभीके लिये अपने लोकको विस्तार दे अर्थात् अपनी सीमा बढ़ाये, जिससे हमारा कार्यक्षेत्र बढ़े। इसका तात्पर्य यह है कि असत्य-भाषण, हृदयकी संकीर्णता, असदाचरण, कायरता, अकर्मण्यता, असहिष्णुता, अज्ञानता, विद्वदपमान एवं आपसी असहयोगसे राष्ट्रकी शक्ति क्षीण हो जाती है, राष्ट्र कमजोर हो जाता है और बादमें उसपर शत्रु अपना आधिपत्य जमा लेते हैं।

मनुजीने कहा है कि उन लोगोंके आयु, विद्या, यश और बल सतत वृद्धिको प्राप्त करते हैं, जो अपने पूज्यों, बड़ोंका अभिवादन एवं सम्मान करते हैं—'**अभिवादनशीलस्य**……।' स्मृतिका यह वाक्य-सिद्धान्त श्रुति माना जाता है; क्योंकि स्मृति श्रुत्यनुगामिनी होती है। कालिदासने भी रघुवंशमें उपमानके तौरपर इस अर्थवत्ताको स्वीकार करते हुए कहा है—

श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस देशके नागरिक अपने पूर्वजों या सम्माननीयोंका सम्मान नहीं करते, वहाँके लोगोंकी आयु, सम्पत्ति, कीर्ति, शक्ति और विद्या क्षीणताको प्राप्त हो जाती है। मनुके इस चिन्तनके आशयको अथर्ववेदमें इस प्रकार देखें—जहाँ पूर्वजोंके प्रति असीम आदर देनेको कहा गया है—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥
(अथर्व० १२। १। ५)

जिस मातृभूमिमें हमारे पूर्वजोंने अपूर्व पराक्रम किये, उन्होंने सदाचार, तप और राष्ट्रकी रक्षा की। जहाँ देवोंने असुरोंको पराजित किया, जो गौ, अश्व एवं पक्षियोंका आश्रय-स्थान है, वह मातृभूमि हमें ऐश्वर्य एवं वर्चस्व प्रदान करे।

इस राष्ट्रकी रक्षा वही कर सकता है, जो अपने इतिहास तथा अपनी परम्परापर गर्व करता हो, जिनमें ऐसा भाव नहीं है, उनसे मातृभूमिकी प्रतिष्ठाकी रक्षा भला कैसे सम्भव है; क्योंकि ऐसे स्वाभिमानविहीन नागरिकोंके देशकी गायें एवं अश्वादि अन्यों द्वारा छीन लिये जायँगें, फलतः उनकी आयु, ज्ञान तथा बल कैसे सुरक्षित रह सकेंगे। इसलिये हम सबमें ऐसा भाव होना चाहिये कि हम सभी एक ही मातृभूमिके पुत्र हैं। इसकी रक्षा हम सभीका दायित्व है—

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं
बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥
(अथर्व० १२। १। १५)

अथर्ववेदमें राष्ट्री देवी, राजाके कर्तव्य, राजाकी स्थिरता, राष्ट्रिय समृद्धि, राज्याभिषेक, राजाका चयन, राजाद्वारा राज्यका पुनःस्थापन, क्षात्र-धर्म, प्रजा-पालन, राष्ट्र-संवर्धन, शत्रु-नाश, पापी-संहार, आनन्द-प्राप्ति तथा युद्धोपकरण-सम्बन्धी लगभग ११२ सूक्तोंका विधान है। ऋषि कहते हैं कि—

'विजयी होकर, युद्धमें न मरकर और चोटरहित हो मैं अपनी मातृभूमिका अध्यक्ष बनकर अच्छे कार्य करूँगा।

(उनकी इच्छा है कि) जो मुझसे ईर्ष्या करता है, जो सेना भेजकर मेरे साथ युद्ध करता है और जो मनसे हमें अपना दास बनाना चाहता है, उन सभीका नाश हो जाय।'

७२६ सूक्तों तथा ५,९७७ मन्त्रोंवाला यह अथर्ववेद, जिसमें लगभग २० सूक्त ऋग्वेदके ही हैं, ऐतिहासिक दृष्टिसे अथर्वाङ्गिरस् एवं अङ्गिरस् आदि नामोंसे भी जाना जाता रहा है। इसीलिये इसके ज्ञाताको या ऋषियोंको 'अथर्वन्' तथा 'अथ्रवन्' भी कहते हैं। इन मनीषियोंका मानना है कि राष्ट्रकी प्रोन्नति प्रतिभाके बिना असम्भव है अर्थात् यदि देशकी प्रतिभाएँ अपने देशको छोड़कर अन्यत्र जाने लगेंगी तो भारतवर्ष सदा-सदाके लिये विद्युत्के अभावमें बल्ब-जैसा खोखला, निरर्थक, अनुपयोगी एवं निष्फल हो जायगा। यथा—

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥

(अथर्व० ६। १०८। २)

अर्थात् श्रेष्ठतायुक्त, ज्ञानियोंसे सेवित, ऋषियोंसे प्रशंसित और ब्रह्मचारियोंद्वारा स्वीकृत मेधाको अपनी रक्षाके लिये बुलाता हूँ; क्योंकि बुद्धि शरीररूपी समूची सृष्टिका मुख्यतम केन्द्र है। इसके बिना अन्य सब व्यर्थ है। इसकी वृद्धिके लिये मनकी शक्ति परमावश्यक है।

इसके साथ-साथ ऋषियोंका यह भी कहना है कि परस्पर संगठित होकर रहनेका काम भी बुद्धिमान् व्यक्ति ही कर सकता है और तभी मानव इस संसारमें स्वतन्त्रतापूर्वक अपने अस्तित्वकी रक्षा कर सकता है। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः०'** सिद्धान्तको ये महापुरुष ही अच्छी तरह जानते हैं, इसीलिये वे देवताओंसे सहायता-हेतु प्रार्थना भी करते हैं—कभी सोम-सवितासे तो कभी आदित्यादि देवोंसे। समूचे अथर्ववेदमें सामूहिक जीवनके विकासकी व्यवस्था है। यहाँ किसी स्वार्थपूर्ण व्यक्तिगत उन्नतिको बहुत स्थान नहीं है। एक-दूसरेसे मिल-जुलकर आपसी सौहार्द एवं सहयोगसे कार्य करनेकी सलाह देते हुए तत्त्वद्रष्टा ऋषि कहते हैं—

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि............।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि............॥

(अथर्व० ६। ९४। २)

इसी प्रकार संवेश्य राष्ट्रकी अवधारणाको सुस्पष्ट करते हुए मन्त्रद्रष्टाने कहा है कि—

......**अस्मभ्यं**......**बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु॥**

(अथर्व० ३। ८। १)

'संघे शक्तिः युगे युगे' सदृश सिद्धान्तको गतार्थता प्रदान करने-हेतु अथर्ववेदमें अनेक ऐसे शब्द-समुच्चयका उपयोग किया गया दीखता है, जिन्हें पारिभाषिक तथा व्याख्येय कहनेमें भी कोई संकोच नहीं होता। यथा— **'ज्यायस्वन्तः'** (वृद्धोंका सम्मान), **'मा वियौष्ट'** (परस्पर लड़ना नहीं), **'सधुराचरन्तः'** (एक धुरा अर्थात् एक नेताके नेतृत्वमें कार्य करना), **'सध्रीचीनाः'** (मिलकर कार्य करना) और **'संधारयन्तः'** (सिद्धिहेतु सभी मिलकर प्रयत्न करें) इत्यादि। इस प्रकार प्रेम, शान्ति, संतोष और सेवाभावसे बलपूर्वक जनहितके कार्य करने चाहिये। इसीलिये यहाँ ब्रह्मयोग, जिष्णुयोग तथा क्षात्रयोग प्रभृतिका विधान किया गया है (अथर्ववेदकी भूमिका भाग ५, पृ० ७)।

स्वतन्त्रताके बिना परतन्त्र व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। अतः यदि स्वतन्त्रताके लिये युद्ध करना पड़े और एतदर्थ शस्त्र-निर्माण भी करना पड़े तो कोई हर्ज नहीं। इसीलिये इस ग्रन्थके मन्त्रोंमें सात प्रकारके स्फोटक अस्त्रोंकी भी चर्चा परिलक्षित होती है, जिनके द्वारा शत्रुराष्ट्रकी जमीन एवं उनके पानीपर आक्रमण किया जा सकता है। हाथसे और आकाशमें भी प्रहार किया जा सकता है। इसी प्रकार यहाँ एक ऐसी भी आक्रमण-विधि वर्णित है, जिससे नदी, तालाब अथवा पेय जलके सभी स्रोत समाप्त किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त त्रिषन्धि नामक वज्र तथा अयोमुख, सूचीमुख, विकंकतीमुख, शितिपदी और चतुष्पदी इत्यादि अनेकविध बाणोंकी भी चर्चा प्राप्त होती है। तमसास्त्र और सम्मोहनास्त्रोंद्वारा शत्रुसेनामें अन्धकार फैलाने तथा सभीको चेतनाशून्य कर देनेकी व्यवस्था भी प्राप्त होती है।

अथर्ववेद (३। २४। २)-में सभीके विकास तथा समृद्धिका वर्णन करते हुए कहा गया है—

......**पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः॥**
वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु।

अर्थात् मैं रसयुक्त ओषधियोंको हजारों प्रकारसे पोषण देना जानता हूँ। अधिकाधिक धान्य कैसे उत्पन्न हो, इसकी विधि भी जानता हूँ। इसी प्रकार यज्ञ करनेवालोंके घरमें निवास करनेवाले देवोंकी हम सभी उपासना करते हैं; यथा—

संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो यो अयज्वनो गृहे।

(अथर्व० ३। २४। २)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं निषाद—इन पाँचों वर्गोंके लोगोंको मिलकर उपासना करनेका विधान, मधुर

भाषण (**पयस्वान् मामकं वचः**), अच्छी खेती, आत्मशुद्धि और दुष्कालके लिये धान्य-संग्रह, प्रजाकी रक्षा तथा दान—ये अथर्ववेदके प्रधान उद्देश्य हैं। इसीलिये ऋषि कहते हैं—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।

(अथर्व० ३। २४। ५)

अथर्ववेदीय मन्त्रोंमें वीर पुत्रोंकी माँको स्मरण करते हुए बताया गया है कि वस्तुतः शूर पुत्रोंकी माँ ही धन्यवाद और प्रशंसाकी पात्र है, क्योंकि उसीका पुत्र आदर्श देशका निर्माण कर सकता है और वही भूमिको अर्थसम्पन्न, गौरवपूर्ण, सुसंस्कृत एवं सर्वतोभावेन स्वस्थ बना सकता है—

हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां० (अथर्व ३। ८। २)

ऐसी देवीके पुत्र देवोंको भी वशमें कर लेते हैं तथा राष्ट्रिय भावनासे भावित होते हैं। वे न स्वयं दीन होते हैं और न राष्ट्रको दीन बनने देते हैं। ऐसे ही लोगोंके लिये कहा गया है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था......।

अथर्ववेदमें जहाँ ऋषियोंने समूचे त्रैलोक्यके प्राणियोंके लिये जलकी कामना की है, वहीं वाणिज्य, धनप्राप्ति, चन्द्रमा एवं पृथिवीकी गतिका भी उल्लेख किया है; क्योंकि जनहित-हेतु अर्थकी चिन्ता उन्हें सतत बनी रहती है। उनका मानना है कि व्यापारसे धन होता है। इसीलिये उन्होंने इन्द्रको वणिक् कहा है—

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥

(अथर्व० ३। १५। १)

अर्थात् मैं वणिक् इन्द्रको प्रेरित करता हूँ। वे हमारी ओर आयें। वेद-विरुद्ध मार्गपर चलकर लूट-मारवाले-पाशवी आचरण करनेवाले शत्रुको नष्ट करें और वे मेरे लिये धन देनेवाले बनें।

इसके अतिरिक्त परस्पर मैत्री-स्थापन, बन्धनसे मुक्ति, अग्निकी ऊर्ध्वगति, ब्राह्मणधर्मका आदेश, शापका प्रभाव-विनाश, हृदय और पाण्डुरोगकी चिकित्सा, वानस्पतिक ओषधि (८। ७), कुष्ठौषधि (५। ४-५, ६। ९५), अपामार्गी ओषधि (४। १७—१९, ७। ६५), पृश्निपर्णी (२। २५), लाक्षा (५। ५), शमी (६। ३०), सूर्यकिरणचिकित्सा (६। ५२, ७। १०७), मणिबन्धन (१०। ६), शंखमणि (४। १०), प्रतिसरमणि (८। ५), शरीर-रचना (११। ८), अंजन (४। ९), ब्रह्मचर्य (११। ५), ब्रह्मौदन (११। १), स्वर्ग एवं ओदन (१२। २), अमावास्या, पूर्णिमा, विराट् अन्न, प्रथम वस्त्र-परिधान, कालयज्ञ, संगठन-महायज्ञ, मधुविद्या, युद्ध-नीति, युद्ध-रीति, युद्धकी तैयारी, मातृभूमिके गीत, विराट्-ब्रह्मज्ञान, विराट्, राजाका चयन (३। ४), राजा बनानेवाले, राजाके कर्तव्य, उन्नतिके छः केन्द्र, अभ्युदयकी प्राप्ति, कर्म और विजय (७। ५०), विजयी स्त्रीका पराक्रम, पापमोचन, द्यावापृथिवी, दुष्टोंके लक्षण, दण्ड-विधान, आदर्श राजा, संरक्षक, कर, राजाके गुण एवं राजाके शिक्षक आदिका विवेचन तथा जीवनोपयोगी असंख्य सूक्तियोंका प्रयोग अथर्ववेदकी वे विशेषताएँ हैं, जो न केवल इसकी महत्ताका प्रतिपादन करती हैं, प्रत्युत इसकी प्रासंगिकताको दिनानुदिन बढ़ाती भी जा रही हैं। कालका अखण्ड प्रवाह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जा रहा है, जिसमें रोगोंकी असाध्यता, पर्यावरणका संकट, राष्ट्रिय अस्थिरता, आपराधिक बाहुल्य, आपसी वैमनस्य, आदर्श आचरणका अभाव तथा ढेर सारी वैयक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक किंवा राष्ट्रिय समस्याएँ मानवताको अपने विकराल तथा क्रूर पंजेसे अपने जबड़ोंमें दबोचती जा रही हैं, उत्तरोत्तर प्रतिदिन भय, अविश्वास, धोखा, अधर्म एवं अनैतिकताका वातावरण विश्वको प्रदूषित करता जा रहा है, त्यों-त्यों इस अन्धकारमय परिवेशको सर्वविध प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रदीप-रूप अथर्ववेदकी उपयोगिता बढ़ती जा रही है; क्योंकि इतिहासकी अविरल धारामें जब-जब ऐसी समस्याएँ आयी हैं, तब-तब सनातन परम्पराके अक्षुण्ण निधिभूत अनादि वेदमन्त्र सतत उनका समाधान करते रहे हैं तथा करते भी रहेंगे। वेदभगवान् सनातन सत्य हैं तथा सूर्य-चन्द्रकी भाँति वे स्वयंके लिये भी प्रमाण हैं। इसलिये इनकी प्रामाणिकता और प्रासंगिकता शाश्वत है। आइये पुनः-पुनः ऋषियोंकी वाणीका स्मरण करते हुए विश्व-कल्याणकी कामना करें—

तमसो मा ज्योतिर्गमय। असतो मा सद्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय।
॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

श्रुतियोंमें सृष्टि-संदर्भ

[ऋग्वेदीय नासदीयसूक्त-परिशीलन]

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)

पूर्वाम्नायपुरीपीठसे सम्बन्धित ऋग्वेदान्तर्गत दशम मण्डलका एक सौ उनतीसवाँ 'नासदीयसूक्त' है। इसमें सात मन्त्र (ऋचाएँ) हैं। इस सूक्तको सात संदर्भोंमें विभक्त किया जा सकता है। 'मायाशेषसंदर्भ'के अन्तर्गत प्रथम मन्त्रको, 'मायाश्रयस्वप्रकाश-परब्रह्मशेषसंदर्भ'के अन्तर्गत द्वितीय मन्त्रको, 'स्रष्टव्यपर्यालोचनसंदर्भ'के अन्तर्गत तृतीय मन्त्रको, 'सिसृक्षासंदर्भ'के अन्तर्गत चतुर्थ मन्त्रको, 'सर्गक्रम-दुर्लक्ष्यतासंदर्भ'के अन्तर्गत पञ्चम मन्त्रको, 'जगत्कारण-दुर्लक्ष्यतासंदर्भ'के अन्तर्गत षष्ठ मन्त्रको और 'दुर्धरदुर्विज्ञेयता-संदर्भ'के अन्तर्गत सप्तम मन्त्रको गुम्फित करना उपयुक्त है।

ध्यान रहे, नासदीयसूक्तमें विवक्षावशात् मायाको नौ नामोंसे अभिहित किया गया है—१-न सत्, २-न असत्, ३-स्वधा, ४-तमस्, ५-तुच्छ, ६-आभु, ७-असत्, ८-मनस् और ९-परमव्योम। परमात्माका मन मायारूप है। परमव्योमका अर्थ जहाँ सच्चिदानन्दरूप परमात्मा है, वहाँ **'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'** (तैत्तिरीयोपनिषद् २।१)-की शैलीमें अव्याकृतसंज्ञक माया भी है। कठरुद्रोपनिषद् (१०-११)-ने भी मायाको परमव्योम माना है—

संसारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञके॥
निहितं ब्रह्म यो वेद परमे व्योम्नि संज्ञिते।
सोऽश्नुते सकलान् कामान् क्रमेणैव द्विजोत्तमः॥

नासदीयसूक्तमें विवक्षावशात् ब्रह्मको १-आनीदवात और २-अध्यक्ष—इन दो नामोंसे अभिहित किया गया है। जीवको १-रेतोधा और २-प्रयति (प्रयतिता)—इन दो नामोंसे अभिहित किया गया है। जगत्को १-स्वधा, २-सत्, ३-विसर्जन और ४-विसृष्टि—इन चार नामोंसे अभिहित किया गया है।

नासदीयसूक्तके प्रथम मन्त्रमें कहा गया है कि महाप्रलयमें शशशृङ्गादि-तुल्य निरुपाख्य 'असत्' नहीं था, न आत्मा और आकाशादि-तुल्य निर्वाच्य (निरूपण करने योग्य) सत् ही था। उस समय शशशृङ्गादि-तुल्य असत् ही होता तो उससे अर्थ-क्रियाकारी आकाशादिकी उत्पत्ति ही कहाँ सम्भव होती? उस समय यदि सर्गदशाके तुल्य आकाशादिकी विद्यमानता ही होती तो महाप्रलयकी प्राप्ति ही कहाँ होती? परिशेषसे यही सिद्ध होता है कि सत् और असत् तथा इनसे विलक्षण रजोरूप कार्यप्रपञ्चसे विरहित स्वाश्रयसापेक्ष स्वाश्रयभावापन्न अनिर्वचनीया माया ही महाप्रलयमें शेष थी। उस समय रजःसंज्ञक लोक नहीं थे। अभिप्राय यह है कि महाप्रलयमें चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड नहीं था। क्या आवरक (आवारक, आच्छादक) था? नहीं। जब आवर्य (आवरणका विषय, आवरण करने योग्य) ही कुछ नहीं था, तब आवरक कहाँसे होता! वह देश भी तो नहीं था, जिसमें स्थित होकर आवरक आवर्यका आवरण करता। अभिप्राय यह है कि आवरकको आवरण करनेके लिये आश्रय देनेवाला देश भी उस समय नहीं था, जिसमें स्थिति-लाभ करके वह आवर्यको आवृत करता। किस भोक्ता जीवके सुख-दुःख साक्षात्काररूप भोगके निमित्त वह आवरक आवर्यका आवरण करता? उस समय भोक्ता जीव भी तो देहेन्द्रिय प्राणान्तःकरणरूप उपाधिसे विरहित ईश्वरभावापन्न होकर ही अवशिष्ट था। क्या दुष्प्रवेश और अत्यन्त अगाध जल था? नहीं। जल तो केवल अवान्तर-प्रलयमें ही रहता है। महाप्रलयमें उसका रहना सम्भव नहीं। आवर्य चतुर्दशभुवनगर्भ ब्रह्माण्डके तुल्य आवरक पृथिव्यादि महत्तत्त्वपर्यन्त उपादानात्मक तत्त्व भी कार्यकोटिके होनेसे महाप्रलयमें ब्रह्माधिष्ठिता मायारूपसे ही अवशिष्ट रहते हैं। आभूषणरूप आवर्यके न रहनेपर भी सुवर्णरूप आवरक शेष रहता है; परंतु महाप्रलयमें कोई भी आवरक शेष नहीं रहता। **'तमसा गूळ्हमग्रे'**, **'तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्'** इस वक्ष्यमाण वचनके अनुसार बीजमें संनिहित अंकुरादिको बीजसे समावृत करनेके तुल्य असत्कल्प तमस्में संनिहित जगत्को तमस्से समावृत कहा गया है। कार्यकी अपेक्षा कारणमें निर्विशेषता, सूक्ष्मता, शुद्धता, विभुता और प्रत्यग्रूपता होती है। यही कारण है कि कार्य आवर्य और कारण आवरक बन जाता है। कारणके बोधमें प्रतिबन्धक होनेसे कार्य आवरक माना जाता है; जैसे कि मृद्घट मृत्तिका-दर्शनमें प्रतिबन्धक होनेसे आच्छादक मान्य है। कारण कार्यमें अनुगत होनेसे आच्छादक मान्य है; जैसे कि मृत्तिका अपनी अनुगतिसे घटादिकी आच्छादिका मान्य है।

शास्त्रोंमें चार प्रकारका प्रलय मान्य है—(१) नित्य, (२) नैमित्तिक, (३) प्राकृतिक और (४) आत्यन्तिक। सावयव कार्यात्मक देहादिका प्रतिक्षण परिवर्तन 'नित्य-प्रलय' है। ब्रह्माजीकी निद्राके निमित्त 'भूः' आदि लोकत्रयका प्रलय 'नैमित्तिक' प्रलय है। चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्डसहित भुवनोपादान पृथिव्यादि तत्त्वोंका प्रकृतिमें लय 'प्राकृतप्रलय' है तथा ब्रह्मात्मविज्ञानके अमोघ प्रभावसे अविद्या और उसके कार्यवर्गका छेदन कर जीवका स्वरूपावस्थान 'आत्यन्तिक प्रलय' है। सहस्रयुगपर्यन्त ब्रह्माजीका एक दिन होता है। दिनके तुल्य ही उनकी रात्रि होती है। तीन सौ साठ दिनोंका (दिन-रातका) एक वर्ष होता है। सौ वर्षोंकी ब्रह्माजीकी पूर्णायु होती है। उसीको 'परार्ध' कहते हैं। ब्रह्माजीकी आयु पूर्ण होते ही पञ्चभूतात्मक जगत् मायामें लीन हो जाता है। ब्रह्माजी भी मायामें लीन होते हैं। ब्रह्माजीके तुल्य ही रुद्रादि मूर्तियाँ भी मायामें लीन होती हैं। उत्तरसर्गमें हेतुभूता प्रकृतिसंज्ञक माया महाप्रलयमें सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मादिसंज्ञक परमेश्वरमें अभेदरूपमें स्थितिलाभ करती है।

द्वितीय मन्त्रमें कहा गया है कि उस प्रतिहारके समय (महाप्रलय)-में प्रतिहर्ता (संहर्ता) मृत्यु नहीं था और न मृत्युके अभावसे सिद्ध—अमरस्वभाव कोई प्राणी ही था। रात्रि-दिवस और इनसे उपलक्षित मास, ऋतु, संवत्सर प्रभृति सर्वकाल और काल-कालके न रहनेसे 'मृत्यु नहीं था' यह कथन सर्वथा चरितार्थ ही है। अभिप्राय यह है कि दाहतुल्य संहार्य भोग्य और भोक्तृ-प्रपञ्चका दाहतुल्य मृत्युसंज्ञक संहार हो जानेपर दाहकतुल्य अमृतसंज्ञक संहारक महाकाल भी महाप्रलयमें शेष नहीं रहता। अथवा सर्वसंहारक मृत्युसंज्ञक काल और ज्ञानमय अमृतसंज्ञक जीव शिवतादात्म्यापन्न होकर स्थित रहता है। कार्यप्रपञ्चका उपादानात्मक लयस्थित महाकारण माया भी वक्ष्यमाण मायाश्रय महेश्वरसे एकीभूत रहती है। मृत्यु अग्नितुल्य है। महाप्रलय उत्तरसर्गकी अपेक्षा मृत्युकी अभिव्यक्तिकी पूर्वावस्था है। पूर्वसर्गकी अपेक्षा वह मृत्युके ध्वंसकी उत्तरावस्था है। अग्निकी अभिव्यक्तिके पूर्व और अग्निके ध्वंसके पश्चात् अग्निका असत्त्व दृष्टान्त है। इस कथनके पीछे दार्शनिकता यह है कि भोगका हेतु कर्म है। फलोन्मुख परिपक्व कर्माधीन ही भोग है। बिना कर्मके भोग असम्भव है। निरपेक्ष अमृत ब्रह्म और ब्रह्माधिष्ठिता माया है। महाप्रलयमें उसका अस्तित्व ही श्रुतिका प्रतिपाद्य है। अतएव निरपेक्ष अमृतका प्रतिषेध अप्राप्त है। सापेक्ष अमृत-प्रलयमें अवशिष्ट महः, जनः, तपः और सत्यम्-संज्ञक परमेष्ठिलोक, परमेष्ठिदेह और परमेष्ठिपद है, उसीका प्रतिषेध यहाँ विवक्षित है। व्यष्टि-समष्टि सूक्ष्म और कारण शरीरपर्यन्त जीवभाव है। महाप्रलयमें मायारूपी महाकारणमें सूक्ष्म और कारणप्रपञ्चका विलय हो जानेके कारण जीवसंज्ञक अमृतका प्रतिषेध महाप्रलयमें उपयुक्त ही है। ब्रह्माधिष्ठिता मलिनसत्त्वगुणप्रधाना प्रकृति निमित्तकारण और तमःप्रधाना प्रकृति उपादानकारण है। मलिनसत्त्वप्रधाना और तमःप्रधाना प्रकृतिका लयस्थान त्रिगुणमयी गुणसाम्या माया महाकारण है। ब्रह्माधिष्ठिता माया महाप्रलयमें शेष रहती है। अभिप्राय यह है कि कालातीत महामाया ही कालगर्भित पृथिव्यादिके प्रतिषेधका अवच्छेदक अर्थात् उपादानरूपसे अवशिष्ट रहती है। परमात्मामें मुख्य ईक्षण भी विशुद्धसत्त्वात्मिका मायाके योगसे ही सम्भव है। अतएव ब्रह्माधिष्ठिता माया जगत्का निमित्तकारण भी हो सकती है। इस प्रकार ब्रह्ममें अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व जिस मायाके आध्यात्मिक संयोगसे है, वही महाप्रलयमें कालगर्भित पृथिव्यादिके प्रतिषेधका अवच्छेदक हो सकती है अथवा 'तदानीम्' आदि कालवाचक पदोंकी सार्थकता भी मायोपहित ब्रह्मकी कालरूपताके कारण सम्भव है। जब भोग्य और भोगप्रद काल नहीं था तथा भोक्ता-कर्ता भी नहीं था, तब कौन था? क्या शून्य ही तो नहीं था? नहीं। सम्पूर्ण प्राणिसमूहको आत्मसात् किये स्वयं बिना वायु (प्राण)-के ही वह प्राणका भी प्राण प्राणनकर्ता परब्रह्म प्रतिष्ठित था। ऐसा भी नहीं कि मायासंयुक्त होनेपर भी शुद्धब्रह्मकी महाप्रलयमें असम्भावना सांख्यसम्मत प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मिका स्वतन्त्रा मायाको ही सिद्ध करती है। वस्तुस्थिति यह है कि नित्यता, असंगता और अद्वितीयताको न त्यागे हुए अर्थात् साधे हुए ही स्वनिष्ठ (जलनिष्ठ) शैत्यको आत्मसात् किये सलिल (जल)-के तुल्य वह परब्रह्म मायाको आत्मसात् किये अर्थात् सर्वथा एकीभूत किये स्थित था। स्थूणानिखननन्यायसे इस तथ्यकी परिपुष्टि की जाती है। निःसंदेह उस परब्रह्मसे पर कुछ भी नहीं था। सर्गकालिक द्वैत उस समय नहीं था। द्वैतबीज मायाको परब्रह्म अपनेमें अध्यस्त बनाये—आत्मसात् किये हुए था। जब भूत-भौतिक माया भी परब्रह्ममें अध्यस्त ही थी, तब

किसको लेकर द्वैत होता ? महाप्रलयमें ब्रह्मसे तादात्म्यापन्न या अविभागापन्न होकर ही स्वधासंज्ञक माया विद्यमान थी। ब्रह्माश्रिता माया वृक्षाश्रित अमरबेलके तुल्य ब्रह्माण्डपुष्पोत्पादिनी विचित्र शक्तियोंसे सम्पन्न स्वतन्त्र सत्ताशून्य होती हुई ही विद्यमान थी। वह ब्रह्मसे पृथक् गणनाके योग्य नहीं थी। सर्वथा शक्तिमात्रकी पृथक् गणना सम्भव भी नहीं। शक्तिकार्य उस समय था नहीं, ऐसी स्थितिमें मायासहित सत्-तत्त्व सद्वितीय हो, ऐसा सम्भव नहीं।

इस प्रकार अनिर्वचनीया मायाके योगसे भी ब्रह्म वस्तुतः '**आनीदवात**' अर्थात् स्वतन्त्र सत् सिद्ध होता है। ब्रह्मके योगसे माया सत् अर्थात् निर्वाच्य नहीं होती, इसलिये '**नो सदासीत्**' यह पूर्वोक्ति चरितार्थ होती है। वायुके योगसे जैसे आकाश चञ्चल नहीं होता और आकाशके योगसे वायु स्थिर नहीं होती, अग्निके योगसे वायु मूर्त नहीं होती और वायुके योगसे अग्नि अमूर्त (अरूप) नहीं होता, रज्जुसर्पके योगसे रज्जुतत्त्व अनिर्वाच्य नहीं होता और रज्जुयोगसे रज्जुसर्प अबाध्य नहीं होता, वैसे ही मायाके योगसे ब्रह्म अनिर्वाच्य (मिथ्या) नहीं होता और ब्रह्मके योगसे माया सत् नहीं होती।

माया दृश्य है। कार्य और कारण दोनोंके लिये प्रसंगानुसार माया शब्दका प्रयोग विहित है। '**माया ह्येषा मया सृष्टा**' (महाभारत, शान्तिपर्व ३३९।४५)-की उक्तिसे कार्यकोटिकी मायाका प्रतिपादन किया गया है। '**मायां तु प्रकृतिं विद्यात्**' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।१०)-की उक्तिसे कारणकोटिकी मायाका प्रतिपादन किया गया है। कार्यकोटिकी मायाका प्रतिषेध प्रलयदशामें अभीष्ट होनेसे कारणभूता मूल मायाके अतिरिक्त कोई भी दृश्यरूप कार्यात्मक प्रपञ्च नहीं था।

तृतीय मन्त्रमें कहा गया है कि सृष्टिके पूर्व महाप्रलयमें कार्यात्मक प्रपञ्चरूप जगत् अनिर्वचनीया मायासंज्ञक भावरूप अज्ञानान्धकारसे एकीभूत था। यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् सलिल अर्थात् कारणसे संगत अतएव अविभागापन्न अजायमान था। क्षीरसे एकीभूत नीरके तुल्य ब्रह्माधिष्ठिता प्रकृतिसे एकीभूत कार्यात्मक प्रपञ्च दुर्विज्ञेय था। तमोभूत असत्कल्प अपने उपादानकारणसे समावृत और उससे सर्वथा एकीभूत जो कार्यात्मक प्रपञ्च था, वह स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप परमेश्वरके तपके अद्भुत माहात्म्यसे उत्पन्न हुआ।

सृष्टिके पूर्व तमस् ही था। जगत्कारण तमससे नाम-रूपात्मक प्रपञ्च ढका था। जैसे रात्रिका अन्धकार सब पदार्थोंको ढक लेता है, वैसे ही उस तमस्ने सबको अपने अंदर गूढ कर रखा था। व्यवहारदशाके समान महाप्रलयदशामें आवरक तमोरूप कर्ता और आवर्य जगद्रूप कर्मकी स्पष्ट पृथक्ता ज्ञात नहीं थी। यह सम्पूर्ण जगत् सलिल अर्थात् कारणसे संगत—पूर्णरूपसे अविभागापन्न था अथवा दुग्धमिश्रित जलतुल्य पृथक् विज्ञानका विषय नहीं था। वह क्षीरतुल्य तमस् यद्यपि नीरतुल्य जगत्से प्रबल-सा सिद्ध होता है; परंतु विचारकोंकी दृष्टिमें तुच्छ अर्थात् अनिर्वचनीय ही है। केवल आवरण करनेका ही इसका स्वभाव है। कालक्रमसे लीन प्रपञ्चको प्रादुर्भूत न होने देनेका स्वभाव नहीं है; फिर तमस् प्रबल हो तब भी परमेश्वरके स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तपके अमोघ प्रभावसे तमस्से समावृत और एकीभूत विविध विचित्रताओंसे भरपूर प्रपञ्चका भी यथापूर्व व्यक्त हो जाना सम्भव है। आच्छादकका ही सर्गदशामें आच्छादन हो जाना और प्रलयदशामें लयस्थान हो जाना—परमेश्वरके अमोघ माहात्म्यका द्योतक है। जिन पदार्थोंका प्रलयमें निषेध किया गया है, वे ही पदार्थ सर्गकालमें परमात्मासे अधिष्ठित मायासे अभिव्यक्त होते हैं। उन पदार्थोंको परिपूर्ण प्रकाशरूप परमात्माने स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तपसे रचा। परमात्माने मानस यथार्थसंकल्परूप ऋत, वाचिक यथार्थ भाषणरूप सत्य तथा इनसे उपलक्षित धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रहादि शास्त्रीय धर्मोंको रचा। इसी प्रकार उसने रात्रि, दिन और जलसे भरपूर समुद्रोंको उत्पन्न किया। उसने संवत्सरोपलक्षित सर्वकाल उत्पन्न किया—'**सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। कला मुहूर्ताः काष्ठाश्च**' (तैत्तिरीयारण्यक १०।१।८)। अहोरात्र (दिन-रात)-से उपलक्षित सर्वभूतोंको व्यक्त किया। उस विधाताने पूर्वकालके अनुरूप ही कालके ध्वजरूप सूर्य, चन्द्रको तथा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सुखरूप द्युलोकसंज्ञक त्रिभुवनसे उपलक्षित चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्डको रचा।

श्रुत्यन्तरमें '**न तमः**' कहकर तमस्का प्रतिषेध '**सत्**'-की विद्यमानतासे है अथवा तेज और तमस् दोनोंका प्रतिषेध प्राप्त होनेसे कार्यात्मक तमस्का प्रतिषेध है। '**सत्किञ्चिदवशिष्यते**' की उक्ति सत्की प्रधानतासे है—

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्॥
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते।

(योगकुण्डल्युपनिषद् ३।२४-२५)

'प्रलयदशामें निश्चल, दुरवगाह, मनका भी अविषय, चन्द्रादि अधिदैवसे भी अतीत, आवरक तमस्‌से सुदूर, अनभिव्यक्त, अनाख्य—निरुपाख्य (निरूपणका अविषय), शून्यसे सुदूर अशेषविशेषातीत व्यापक स्वप्रकाश सत् ही अवशिष्ट था।' कदाचित् '**न तमः**' की उक्तिसे मायाका ही प्रतिषेध मानें तो '**ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः**' (गीता १३। १७) —'वह ज्योतियोंका भी ज्योति है'-की शैलीमें ज्योतिका तथा '**तमसः परमुच्यते**' (गीता १३। १७)—'तमस्‌से पर कहा गया (जाता) है'-की शैलीमें अज्ञानरूप तमस्‌का प्रतिषेध मानना उपयुक्त है। '**सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिस्तमसः परमुच्यते**', '**तमःशब्देनाविद्या**' (त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् ४। १)-में स्पष्ट ही तमस्‌का अर्थ अविद्या किया गया है।

उक्त वचनका अभिप्राय असत्कार्यवाद, असद्वाद, अनीश्वरवाद, परमाणुवाद, आरम्भवाद, परिणामवाद, जडवाद, क्षणिक विज्ञानवाद और खण्डप्रलयवादके व्यावर्तनसे है।

जैसे चैत्ररूप कर्ता और ग्रामरूप कर्म दोनोंकी सहस्थिति सम्भव होनेपर भी दोनोंका ऐक्य सम्भव नहीं, वैसे ही महाप्रलयमें आवरक तमस् और आवर्य जगत्‌की सहस्थिति सम्भव होनेपर भी दोनोंका ऐक्य सम्भव नहीं; तथापि आवर्य जगत्‌का उपादान होनेसे दोनोंका ऐक्य भी सम्भव है। यही कारण है कि स्निग्ध मृत्तिकामें और पिण्डावस्थामें संनिहित घटके सदृश जगत् प्रलयदशामें विशेषरूपसे ज्ञायमान नहीं होता। सृष्टि-प्रलयसंदर्भमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस प्रपञ्चका उपादान कारण प्रकृति है। परमात्मा इसका अधिष्ठान है। इसको अभिव्यक्त करनेवाला काल है—

प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २४। १९)

व्यवहार-दशाकी त्रिविधता वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मरूप परमेश्वरकी पालनप्रवृत्तिके अनुरूप जबतक ईक्षणशक्ति काम करती रहती है, तबतक जीवोंके कर्मोपभोगके लिये पिता-पुत्रादि कारण-कार्यरूपसे यह सृष्टि-चक्र निरन्तर चलता रहता है। महाप्रलयका योग समुपस्थित होनेपर सर्गक्रमके विपरीतक्रमसे पृथिव्यादि तत्त्व अपने कारणमें विलीन होते हैं। ज्ञानक्रियोभयशक्तिप्रधान कार्यात्मक महत्तत्त्व त्रिगुणके द्वारसे अव्यक्त प्रकृतिमें लीन होता है। प्रकृतिका क्षोभ कालाधीन है; अतः वह कालसे एकीभूतरूप लयको प्राप्त होती है। काल अपने चेतनज्ञानमय जीवमें तादात्म्यापत्तिरूप लयको प्राप्त होता है। जीव अपने शिवरूप-स्वरूप लयको प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि स्वरूप-विज्ञानके बिना ही प्रलयमें जीव शिवभावापन्न होकर विराजता है। परमात्माकी प्रपञ्चोन्मुखता ही उसकी जीवरूपता है। जीवकी सर्जनसंरक्षणादिके अनुरूप संकल्पमुखता ही उसकी कालरूपता है। यद्यपि परमात्माकी प्रपञ्चोन्मुखता और संकल्पमुखता अर्थात् ईक्षणोन्मुखता प्रकृतिसंज्ञक मायाके योगसे ही है; तथापि दर्पणसे अतिक्रान्त दर्पणादित्य-तुल्य और धूमसे अतिक्रान्त (अतीत) ज्वालातुल्य अप्रतिममहामहिमामण्डित महेश्वरकी जीवरूपता और कालरूपता मायासे अतिक्रान्त है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर '**न मृत्युरासीत्**' (ना०सू० २)-की उक्तिसे मृत्युसंज्ञक कालका महाप्रलयमें निषेध विवक्षित है। '**अमृतं न तर्हि**' (ना० सू० २)-की उक्तिसे अमृतसंज्ञक जीवका महाप्रलयमें निषेध विवक्षित है। जीवका लयस्थान शिवस्वरूप परमात्मा है। वह सबका परम और चरम मूल है। अतएव उसका लय नहीं होता।

चतुर्थ मन्त्रमें कहा गया है कि ईश्वरने सर्जनेच्छासे स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तप किया। सर्जनेच्छा ईश्वरके मायारूप मनमें हुई। अभिप्राय यह है कि अतीत कल्पमें अकृतार्थ जीवोंके मनसे सम्बन्धित और मनमें संनिहित जो भाविप्रपञ्चका हेतुभूत वासनात्मक कर्म था, उसीके उद्‌बुद्ध और फलोन्मुख होनेके कारण सर्गके आरम्भमें प्राणियोंको आत्मसात् किये महेश्वरके मायारूप मनमें पर्यालोचनरूप तपका भी मूल सिसृक्षारूप-काम उत्पन्न हुआ। '**तम आसीत्**' तथा '**असत्**' कहकर श्रुतिने भावरूप अव्याकृतात्मक अज्ञानको तथा '**कामस्तदग्रे समवर्तताधि**' कहकर कामको और '**रेतः प्रथमं यदासीत्**' कहकर कर्मको जगत्‌का मूल माना है। अभिप्राय यह है कि जगत् अविद्या तथा काम और कर्मके योगसे समुत्पन्न हुआ है। परमेश्वर जीवोंके अज्ञान, काम और कर्मोंके अनुरूप ही जगत्‌की रचना करते हैं। असत्, अव्यक्त, अव्याकृत, अविद्या, तम, प्रकृति, मायाकी एकरूपता '**असद्वा इदमग्र आसीत्**' (तैत्तिरीयोपनिषद् २। ७), '**अविद्यामाहुरव्यक्तम्**' (महाभारत, शान्तिपर्व ३०७। २), '**तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्**' (बृहदारण्यक० १। ४। ७),

'अविद्या प्रकृतिर्ज्ञेया' (महा० शा० ४१ दा० पाठ), **'निरस्ताविद्यातमोमोहः'** (नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् २), **'प्रकृतिर्माया** (गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् २। ३), **'अविद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहितशुक्लकृष्णा'** (शाण्डिल्योपनिषद् ३। १) आदि वचनोंके अनुशीलनसे सिद्ध है।

पञ्चम मन्त्रमें कहा गया है कि जीवनिष्ठ अविद्या, काम और कर्म सृष्टिके हेतु हैं। अविद्योपादानक और कामकर्मनिमित्तक आकाशादि भूत और भौतिक पदार्थका सर्जन करते समय कार्यवर्ग सूर्यरश्मिसदृश शीघ्र विस्तार और प्रकाशको प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार आर्द्र ईंधनके योगसे ज्वाला और धूम दो रूपोंमें अग्निकी अभिव्यक्ति होती है। जैसे ज्वालाकी अग्निके अनुरूप अभिव्यक्ति होती है और धूमकी विरूप अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार काम और कर्मगर्भित अविद्याके योगसे परमात्माकी ही भोक्ता और भोग्य दो रूपोंमें अभिव्यक्ति होती है। भोक्ता भगवान्‌के अनुरूप अभिव्यक्ति है, भोग्य भगवान्‌के विरूप अभिव्यक्ति है। भोग्य अविद्याके अनुरूप अभिव्यक्ति है और भोक्ता अविद्याके विरूप अभिव्यक्ति है। भोक्ता अन्नाद है और भोग्य अन्न। कार्यकारणात्मक प्रपञ्च अन्न है और जीव अन्नाद। अन्न भोग्य है और जीव भोक्ता। अन्न शेष है और अन्नाद शेषी। शेषी जीवमें शेषकी दासता उपयुक्त नहीं।

षष्ठ मन्त्रमें कहा गया है कि यह विविध विचित्र भूत-भौतिक, भोक्तृ-भोग्यादिरूपा सृष्टि किस उपादान-कारणसे और निमित्तकारणसे प्रकट हुई है—इस तथ्यको परमार्थतः कौन जानता है? इस जगत्‌में उसका कौन प्रवचन कर सकता है? इस भूत-भौतिक प्रपञ्चके विसर्जनके बाद ही जब देवता, मन और इन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई, तब ये उस मूल तत्त्वको कैसे जान सकते हैं? सृष्टिका मूल तत्त्व दुर्विज्ञेय है। जो वस्तु जानी जाती है, वह तो दृश्य, जड तथा विकारी ही होती है। जिसका हम कारणरूपसे अनुमान करते हैं अथवा जिसे हम कारणरूपसे जानते हैं, वह सावयव-विकारी ही होता है; अतएव नश्वर होता है। ऐसी स्थितिमें कार्य-कारण-कल्पनाके प्रकाशक सर्वाधिष्ठान स्वयम्प्रकाश प्रत्यग्ब्रह्मको ज्ञानका विषय कैसे बनाया जा सकता है? नाम-रूपात्मक जगत् अनिर्वचनीय होनेसे निरूपणका विषय नहीं है। जगत्कारण अधिष्ठानात्मक-उपादान ब्रह्म शब्द प्रवृत्तिके हेतु जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध, रूढिरहित होनेसे अभिधा-वृत्तिसे शब्द-प्रवृत्तिका अविषय है। ऐसी स्थितिमें जगत् कितना है, कैसा है और इसका उपादान तथा निमित्तकारण कौन है—आदि तथ्योंको कौन विधिवत् जानता है? कौन इसे विधिवत् बता ही सकता है? घटादिके कर्तामें जो देहादिकी स्थिति है, वह ईश्वरमें सर्वतोभावेन चरितार्थ हो, ऐसा आवश्यक नहीं। व्याप्तिके बिना सामानाधिकरण्यमात्र असाधक ही होता है। ऐसा न मानें तो रसोईमें धूम-वह्नि (धूआँ और आग)-की व्याप्तिका ग्रहण करते समय व्यञ्जनादिमत्त्व भी परिलक्षित होता है; फिर तो पर्वतादिमें भी उनका (व्यञ्जनादिका) अनुमान होना चाहिये; परंतु ऐसा नहीं। अभिप्राय यह है कि रसोईघरमें धूम और अग्निके साहचर्य-सदृश पर्वतमें धूमाग्निका साहचर्य है, यह तो ठीक है; परंतु उससे निष्पन्न छप्पन भोग और छत्तीसों व्यञ्जनकी स्थिति पर्वतमें सिद्ध करना जैसे उपयुक्त नहीं, वैसे ही ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् कर्ताको कार्यके मूलमें स्थित सिद्ध करना तो उचित; परंतु उस कर्ताको देहादियुक्त अनुमित करना अनुचित। ऐसा न समझनेवाले विमोहित तो होते ही हैं। जब देवगण भी उस तत्त्वको नहीं जान सकते, तब मनुष्योंमें भला कौन जान सकता है? मनुष्योंके साथ तो अल्पज्ञता सर्वतोभावेन अनुविद्ध है।

सप्तम मन्त्रमें इस तथ्यका प्रकाश किया गया है कि जिस विवर्तोपादानकारणसे अर्थात् कल्पित कार्यके उपादानकारणसे इस विविध-विचित्र परस्पर-विपरीत (विलक्षण) सृष्टिका उदय हुआ है, वह भी इस सृष्टिको अपने स्वरूपमें धारण करता है या नहीं? अन्य कोई धारण कर ही कैसे सकता है? यदि धारण कर सकता है तो सर्वेश्वर ही। इस सृष्टिका जो अध्यक्ष परमेश्वर है, वह परमव्योममें रहता है। वह भी कहीं इसे जानता है या नहीं? देश-कालादि त्रिविध परिच्छेदशून्य परमात्मा सृष्टिके मूलकारण अपने-आपको जानता भी है अथवा नहीं? अथवा अपने अज्ञानकल्पित प्रपञ्चको वह जानता भी है या नहीं? **'यदि वा न वेद'** का अभिप्राय यह है कि जब स्वदृष्टिसे सृष्टि है ही नहीं, तब जानेगा किसको? अन्य कोई तो जाननेसे रहा!

शुभाशंसा

(अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्र सरस्वतीजी महाराज)

श्रीपरमेश्वरके उच्छ्वास-निःश्वासभूत हैं वेद। ये सर्वप्राणिहितकर होते हैं। अतः वेद माता कहे जाते हैं। इनके वचन निषेध एवं विध्यात्मक होते हैं। इनकी विशेषताओंको छोटी-छोटी कहानियोंद्वारा वेदमन्त्र ही सरल एवं स्पष्टरूपमें समझाते हैं। यथा हि—'**देवासुराः संयता आसन्**'—देवलोग तथा दैत्यलोग आपसमें लड़े-भिड़े आदि-आदि। आत्मचिन्तनोंके प्रकारके विशदीकरणमें भी इन्हीं उक्तियोंकी सहायता ली गयी है। इससे कठिन-से-कठिन बातोंका समाधान-सुझाव अत्यन्त सुलभ हो जाता है।

भारतकी परम्परागत सम्पत्ति हैं ये वेद। पुराण, इतिहास, काव्य तथा नाटक आदि इनके उपबृंहण हैं। इस सम्पत्तिकी रक्षामें सावधानीपूर्वक कटिबद्ध होते '**कल्याण**'के वर्ष १९९९ का विशेषाङ्क '**वेद-कथाङ्क**' प्रकाशित हो रहा है, यह सुन-समझकर हम अतीव संतुष्ट हुए।

वेदमाताके परिपूर्ण आशीर्वादों एवं श्रीपरमेश्वरकी परम कृपासे यह 'विशेषाङ्क' पुनरपि वेदोंकी विशेषताओंको मानव-मनमें जाग्रत् करे, यह मेरी शुभाशंसा है।

वेदोंका परम तात्पर्य परब्रह्ममें संनिहित

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्द सरस्वतीजी महाराज)

कालो देशः क्रिया कर्ता करणं कार्यमागमः।
द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरिः॥

(श्रीमद्भा० १२। ११। ३१)

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥

(श्रीमद्भा० २। ५। १४)

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥

(श्रीमद्भा० २। १०। १२)

—आदि वचनोंके अनुसार वेद, देव, काल, देश, क्रिया, करण, कार्य, द्रव्य, फल, स्वभाव, जीव, लोक, योग और ज्ञानादि परब्रह्ममें प्रतिष्ठित हैं।

वेदोंकी ब्रह्मपरायणता इस प्रकार है—सृष्टिपरक श्रुतियोंका तात्पर्य सृष्टिमें संनिहित नहीं है, अपितु स्रष्टाके स्वरूप-प्रतिपादनमें ही संनिहित है। सृष्टिपरक श्रुतियोंमें विगान होनेपर भी स्रष्टाके स्वरूप-प्रतिपादक श्रुतियोंमें विगान नहीं है। स्रष्टा, संरक्षक और संहारक परमेश्वरकी 'वासुदेव' संज्ञा है। वही जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादानकारण है। जगद्रूपसे विलसित वासुदेवकी सर्वरूपता शास्त्रसिद्ध है। '**वासुदेवः सर्वमिति**' (गीता ७। १९), '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (छान्दोग्य० ३। १४। १), '**सब वासुदेव है**' तथा '**यह सब निःसंदेह ब्रह्म है**' आदि शास्त्रोंके अनुशीलनसे यह तथ्य सिद्ध है। '**यत्प्रशस्यते तद्विधेयम्**' 'जो प्रशंसित होता है वह विधेय होता है'—इस न्यायसे ब्रह्मदर्शनमें फलवाद और उपपत्ति (युक्ति)-की उपलब्धि होनेसे एकत्व प्रशस्त है; वही विवक्षित है।

'**न तु तद्द्वितीयमस्ति**' (बृहदारण्यक० ४। ३। २३), '**द्वितीयाद्वै भयं भवति**' (बृहदारण्यक० १। ४। २)—'वह द्वितीय नहीं है', 'निःसंदेह दूसरेसे भय होता है', '**उदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति**' (तैत्तिरीय० २। ७) 'जो तनिक भी भेद करता है, निःसंदेह उसे भय होता है' आदि वचनोंसे अनेकत्वकी निन्दा की गयी है। '**यन्निन्द्यते तन्निषिध्यते**'—'जिसकी निन्दा की जाती है वह निषेध्य (निषेधका विषय होने योग्य) होता है'। इस न्यायसे नानात्व-प्रतिपादनमें शास्त्रोंका तात्पर्य संनिहित नहीं हो सकता। '**ओदनं पचति**'— 'भात पकाता है'—इस प्रयोगमें जिस प्रकार अनोदनमें ओदनका उपचार है, उसी प्रकार भेद-दर्शनघटित पूर्वकाण्डोंमें अभेदमें भेदोपचार है।

भेद न तो अपूर्व है और न पुरुषार्थ ही। अतएव वह तात्पर्य भी नहीं। प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्ध भेदके प्रतिपादक शास्त्र अनुवादक ही मान्य हैं। अनुवादकका स्वतन्त्र प्रामाण्य असिद्ध होनेसे वेदोंका वेदत्व तभी सम्भव है, जब वे प्रमाणान्तरसे अनधिगत और अबाधित अर्थके

प्रतिपादक हों। भेद अपूर्व नहीं, अतः वेदवचन भेदपरक नहीं। '**तत्परातत्परयोश्च तत्परं वाक्यं बलवत्**'—'तत्पर और अतत्परमें तत्पर (अपने तात्पर्यमें संनिहित) वाक्य बलवान् होता है', इस न्यायसे वेद अभेदपरक ही है। '**तदैक्षत**' (छान्दोग्य० ६। २। ३), '**तत्तेजोऽसृजत**' (छान्दोग्य० ६। २। ३), '**एकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६। २। १)—'उसने ईक्षण किया', 'उसने तेजको रचा', 'एक ही अद्वितीय' आदि श्रुतियाँ अद्वैतका प्रतिपादन करती हैं। '**तत्त्वमसि**' (छान्दोग्य० ६। ८। ७) 'वह तू है' कहकर श्रुति उसीका उपसंहार करती है। इस प्रकार उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अर्थवाद, उपपत्ति, अपूर्वता और फलरूप षड्विध तात्पर्यलिङ्गोंके अनुशीलनसे सिद्ध एकत्वका अपलाप नहीं किया जा सकता। '**अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद**' (बृहदारण्यक० २। ४। १०), '**सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद**' (बृहदारण्यक० २। ४। ६), '**नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति**' (बृहदारण्यक० ४। ४। १९)—'वह अन्य है, मैं अन्य हूँ', 'ऐसा माननेवाला वस्तुतः वस्तुस्थितिको नहीं जानता है, उसे सभी परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मासे भिन्न देखता है।' 'यहाँ नाना कुछ भी नहीं है। वह मृत्युसे मृत्युको (दुःख—अपकर्षसे दुःख—अपकर्षको) प्राप्त होता है, जो यहाँ नाना-जैसा देखता है' आदि श्रुतियाँ वेदका अपवाद भी दर्शाती हैं।

देवोंकी ब्रह्मपरायणता इस प्रकार है—कार्योपाधिक जीवकी उज्ज्वलतम अभिव्यक्ति देव है। '**ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः**' (श्वेताश्वतरोप० ४। १६), '**अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति**' (प्रश्नोप० ४। ५), '**देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति**' (कठ० १। २। १२), '**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः**' (श्वेताश्वतरोप० ६। ११)—'देवको जानकर समस्त पाशों (बन्धनों)-से मुक्त हो जाता है।' 'यहाँ स्वप्नमें यह देव अपनी महिमाका अनुभव करता है', 'देवको जानकर धीर हर्ष-शोकका त्याग कर देता है', 'एक देव सम्पूर्ण भूतों (वस्तुओं, प्राणियों)-में गूढ है' आदि स्थलोंमें तथा विष्णु आदि पञ्चदेवोंमें 'देव' शब्द आत्मा और परमात्माके अर्थमें प्रयुक्त है। अन्यत्र 'देव' पद प्रसंगानुसार इन्द्रिय और इन्द्रियानुग्राहक अधिदैवके अर्थमें प्रयुक्त है। वेदान्तोंमें विषय (अधिभूत), करण (अध्यात्म), सुर (अधिदैव), जीव, ईश्वर और ब्रह्म—इनमें विषय और करणको जड़ (अचेतन) माना गया है। सुर, जीव और ईश्वरको चेतन माना गया है। ब्रह्मको चित् माना गया है। अभिप्राय यह कि चेतनकी गणना देवोंसे ही प्रारम्भ होती है।

देवानुग्रहसे अनुगृहीत इन्द्रियाँ कर्मोंमें विनियुक्त होती हैं तथा यज्ञादि कर्म देवताओंके प्रति समर्पित होते हैं। कर्मोंकी निष्प्रत्यूह (निर्विघ्न) परिसमाप्तिके लिये देवोंका ध्यान अपेक्षित होता है। इन्द्रादि देवता वृष्टि आदिके द्वारा मनुष्योंको समृद्ध करते हैं। इस प्रकार कर्म और फलसिद्धिमें देवताओंका योगदान है। उन देवताओंमें ब्रह्माका सर्वोपरि महत्त्व है, क्योंकि वे परमात्मासे प्रथम उत्पन्न हैं—'**ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।**' (मुण्डक० १। १। १)। ब्रह्मा महत्तत्त्वात्मक बुद्धिके देवता होनेसे हिरण्यगर्भसंज्ञक हैं—'**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्**' (शुक्लयजु० २५। १०)। 'सांख्य-प्रस्थान'के अनुसार अन्तःकरणके आरोह-क्रमसे मन, अहं और बुद्धि—ये तीन प्रभेद हैं। मनके चन्द्रमा, अहंके रुद्र और बुद्धिके ब्रह्मा देवता हैं। 'वेदान्त-प्रस्थान'में कोशकी विवक्षासे अन्तःकरणके मन और विज्ञान (बुद्धि)—ये दो प्रभेद हैं। अन्तःकरण-चतुष्टय माननेपर चतुर्थ करणके रूपसे चित्तकी प्राप्ति होती है। चित्तके अनुग्राहक वासुदेव हैं। श्रुत्यनुगृहीत भागवतप्रस्थानमें चित्तका करणोंमें सर्वोपरि महत्त्व है। ब्रह्मको क्षेत्रज्ञरूपसे अभिव्यक्त करनेवाला चित्त ही है। चित्तरूप अध्यात्मसहित अधिदैव और उपास्यरूप क्षेत्रज्ञ—वासुदेवके प्रवेशसे विराट्पुरुषका उज्जीवित होकर उठना उक्त तथ्यको सिद्ध करता है। माण्डूक्यने वैश्वानर और तैजस (हिरण्यगर्भ)-को उन्नीस मुखोंवाला माना है, प्राज्ञेश्वरको 'चेतोमुख' माना है। श्रुत्यन्तरने पञ्चप्राणोंका ग्रहण न कर पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरणके योगसे चौदह करणोंको माना है। जाग्रत्में चौदह करणोंकी विद्यमानता (अर्थक्रियाकारिता—व्यवहार-संलग्नता), स्वप्नमें अन्तःकरणचतुष्टयकी विद्यमानता और सुषुप्तिमें केवल अवधारणात्मक चित्तकी विद्यमानता श्रुत्यन्तरसिद्ध है—'**ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणचतुष्टयं चतुर्दशकरणयुक्तं जाग्रत्। अन्तःकरणचतुष्टयैरेव संयुक्तः स्वप्नः। चित्तैकीकरणा सुषुप्तिः**'।

(शारीरिकोपनिषद् ५)

विषय-ग्रहणमें विनियुक्त चित्त विषय-ग्रहणसे विनिर्मुक्त और चित्-तादात्म्यापन्न होकर जब विराजमान होता है, तब सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त होती है। उस समय

पुरुष 'चेतोमुख' कहा जाता है। इस प्रकार चित्तकी महत् और अव्यक्त उभयरूपताके कारण चित्तके अधिदैव वासुदेवका देवोंमें सर्वोपरि महत्त्व है—

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत॥

(श्रीमद्भा० ३। २६। ७०)

भगवान् वासुदेवसे ब्रह्मा और ब्रह्मासे रुद्रकी अभिव्यक्ति होनेके कारण देवोंमें सर्वोपरि महत्त्व भगवान् वासुदेवका है। वे चित्तके अनुरूप कार्य-कारणात्मक दोनों हैं। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके अनुग्राहक अन्य देव 'वैकारिक सर्ग' के अन्तर्गत हैं। अभिप्राय यह है कि ईश्वर, काल, स्वभाव और कर्मके योगसे सर्वप्रथम 'महत्' उत्पन्न हुआ। रजः-सत्त्वोपबृंहित महत्से द्रव्यज्ञानक्रियात्मक तमः-प्रधान 'अहम्' उत्पन्न हुआ। तमः-प्रधान अहंसे पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति हुई, पञ्चतन्मात्राओंसे आकाशादि पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति हुई। तन्मात्राओंके सहित भूतोंको सांख्यतत्त्वके पारखी मनीषिगण 'द्रव्यशक्ति' कहते हैं। वैकारिक (सात्त्विक) अहंसे मन और दशेन्द्रियोंके अनुग्राहक दिगादि देव अभिव्यक्त हुए—

वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश।
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः॥

(श्रीमद्भा० २। ५। ३०)

मनके देवता चन्द्रमा हैं। तैजस (राजस) अहंसे ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और प्राणोंकी अभिव्यक्ति हुई। ज्ञानेन्द्रियाँ 'ज्ञानसर्ग' के अन्तर्गत हैं एवं कर्मेन्द्रियोंसहित प्राण 'क्रियासर्ग' के अन्तर्गत है। वेदान्तरीतिसे अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंके समष्टि (३। ४) सत्त्वांशसे इन्द्रिय-पालक देवोंकी अभिव्यक्ति मान्य है—

स तेषां ""। सत्त्वसमष्टित इन्द्रियपालकानसृजत्।

(पैङ्गलोपनिषद् १। १)

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और नासिका—ये पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ हैं। श्रोत्रके देव दिक्, त्वक्‌के देव वायु, चक्षुके देव सूर्य तथा रसनाके देव वरुण हैं और नासिकाके देव अश्विनीकुमार हैं। वाक्, कर, पाद, उपस्थ और गुदा—ये पञ्चकर्मेन्द्रियाँ हैं। वाक्‌के देव अग्नि हैं तथा करके देव इन्द्र और पादके देव उपेन्द्र (वामन) हैं। उपस्थके देव प्रजापति और गुदाके देव मृत्यु हैं।

सांख्य और योगकी रीतिसे इन्द्रियाँ आहंकारिक और अभौतिक हैं। वेदान्त-नयके अनुसार अहं और इन्द्रियाँ—ये दोनों ही भौतिक हैं। श्रोत्र और वाक् आकाशीय हैं। त्वक् और कर वायवीय हैं। चक्षु और चरण तैजस हैं। रसना और उपस्थ वारुण (जलीय) हैं। नासिका और पायु (गुदा) पार्थिव हैं।

आकाशका कार्य वायु है तथा वायुका कार्य तेज और तेजका कार्य जल एवं जलका कार्य पृथ्वी है। भूतोंमें परोवरीयता (उत्तरोत्तर उत्कृष्टता और पूर्वपूर्वापकृष्टता)-के क्रमसे इन्द्रियानुग्राहक देवोंमें परोवरीयताका उपचार होता है।

उक्त रीतिसे वासुदेव, ब्रह्मा, रुद्र, चन्द्र, दिक्, अग्नि, वायु, इन्द्र, सूर्य, उपेन्द्र, वरुण, प्रजापति, अश्विनी और मृत्यु—ये चौदह करणानुग्राहक देव हैं। इनमें ब्रह्मासे मृत्युपर्यन्त तेरह देवोंके अधिपति वासुदेव हैं।

सभी वेद और सभी देव ब्रह्माधिष्ठित होनेसे ब्रह्मपरायण और ब्रह्मात्मक हैं। वेद अभिधानात्मक हैं। देव अभिधेयात्मक हैं। वेद देवात्मक हैं और देव वेदात्मक हैं। दोनों परब्रह्मके अभिव्यञ्जक होनेसे एकरूप हैं। चिदानन्द-प्रधान ब्रह्मकी अभिव्यक्ति वेद हैं तथा सदानन्द-प्रधान ब्रह्मकी अभिव्यक्ति हैं देव। वेद त्रिकाण्डात्मक हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान—ये वेदके तीन काण्ड हैं। कर्मकाण्डपरक श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें परमेश्वरका ही विधान करती हैं। उपासनाकाण्डपरक श्रुतियाँ उपासनाकाण्डमें उपास्य देवताओंके रूपमें परमेश्वरका ही वर्णन करती हैं। ज्ञानकाण्डपरक श्रुतियाँ ज्ञानकाण्डमें आकाशादिरूपसे परमेश्वरमें ही अन्य वस्तुओंका आरोप करके उनका निषेध करती हैं। सम्पूर्ण श्रुतियोंका बस इतना ही तात्पर्य है कि वे परमेश्वरका आश्रय लेकर परमेश्वरमें भेदका आरोप करती हैं, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्तमें सबका निषेध करके परमेश्वरमें ही शान्त हो जाती हैं। केवल अधिष्ठानरूपसे परमेश्वर ही शेष रहता है। वेदवाणी कर्मकाण्डमें क्या विधान करती है, उपासनाकाण्डमें किन देवताओंका वर्णन करती है और ज्ञानकाण्डमें किन प्रतीतियोंका अनुवाद करके—उनमें विविध विकल्प करके अन्तमें उनका प्रतिषेध (निषेध) करती है?—इन तथ्योंको भगवदनुग्रह और सत्सम्प्रदाय-परम्परासे ही कोई जान सकता है।

सत्यसहिष्णुताकी क्रमिक अभिव्यक्तिके अभिप्रायसे श्रुतियाँ सर्वत्र साक्षात् परमेश्वरका प्रतिपादन नहीं करतीं।

क्षेत्रविज्ञान, ज्ञानविज्ञान तथा श्रेयविज्ञान—ये श्रुतियोंके तीन प्रतिपाद्य हैं। इनमें प्रकृति, पञ्चभूत और पाञ्चभौतिक प्रपञ्चका विज्ञान 'क्षेत्रविज्ञान' है। अमानित्वादिसाधन-विज्ञानका नाम 'ज्ञानविज्ञान' है। अनात्मवस्तुओंसे उपरति और भगवत्तत्त्वमें अनुरक्ति एवं तत्त्वविचारमें प्रीति तथा प्रवृत्तिका नाम 'ज्ञानविज्ञान' है। जिसके विज्ञानसे सर्वविज्ञान सम्भव है तथा जिसके विज्ञानसे मोक्ष सुनिश्चित है, उस ब्रह्मात्मतत्त्वका विज्ञान 'ज्ञेयविज्ञान' है। क्षेत्रविज्ञानके अभिप्रायसे कर्मकाण्ड है। देहेन्द्रियादिरूप क्षेत्रका शोधन कर्मकाण्डका फल है। ज्ञानविज्ञानके अभिप्रायसे उपासनाकाण्ड है। अनात्मवस्तुओंसे उपरति, भगवत्स्वरूपमें अनुरक्ति तथा ब्रह्मात्मविचारमें प्रीति एवं प्रवृत्ति उपासनाका फल है। ज्ञेयविज्ञानके अभिप्रायसे ज्ञानकाण्ड है। ब्रह्मात्मविज्ञानके अमोघ प्रभावसे भवबन्धनकी निवृत्ति ज्ञानका फल है।

सच्चिदानन्दादि-स्वरूपलक्षणलक्षित परब्रह्मके विज्ञानके लिये जगत्कारणरूपसे तटस्थलक्षणलक्षित परब्रह्मका विज्ञान अपेक्षित है। इसी अभिप्रायसे श्रुतियोंमें जगत्का निरूपण है। जिसमें जिसका अपवाद अभीष्ट होता है, उसीसे उसकी उत्पत्ति अभीष्ट होती है। रज्जुमें सर्पादिका अपवाद अभीष्ट होता है तो रज्जुसे ही सर्पादि-उत्पत्ति भी अभीष्ट होती है। अन्यथा अपवाद अधूरा (अपूर्ण) रहता है। यदि श्रुतियाँ परब्रह्मसे जगत्की उत्पत्त्यादिको न दर्शा कर परब्रह्ममें जगत्का अपवाद दर्शायें तो परमाणु, प्रकृति आदिमें जगत्की सत्ता सिद्ध हो जाय और परब्रह्मकी अद्वितीयता असिद्ध होने लगे। आकाश और वायुको नीरूप सिद्ध कर देनेपर भी तेज आदिमें रूपकी सिद्धि जिस प्रकार अनिवार्य है, उसी प्रकार परब्रह्मसे प्रपञ्चोत्पत्त्यादि न दर्शा कर परब्रह्ममें प्रपञ्चापवाद कर देनेपर परब्रह्मकी अद्वितीयता, असंगतादि असिद्ध है।

पुत्र और पुत्रेष्टियागमें वर्षा, कारीरियाग (करीरि इष्टि)-में शत्रुनाश और श्येनयागमें कार्यकारणभाव दर्शा कर श्रुति-श्रौत-उपायोंसे दृष्टफलको प्राप्त कराकर अपनेमें आस्था उत्पन्न करती है। पुनः व्यक्तिकी देहोपरान्त प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि और अग्निहोत्रादिमें कार्य-कारणभावके प्रति आस्था अभिव्यक्त होती है। पुनः '**नास्त्यकृतः कृतेन**' (मुण्डक० १। २। १२), '**न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्**' (कठ० १। २। १०), '**तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते**' (छान्दोग्य० ८। १। ६), '**यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते**'॥ (मुण्डक० १। २। ९)—'अकृत आत्मा कृत कर्मोंसे प्राप्त नहीं हो सकता', 'वह ध्रुव आत्मा अध्रुव उपायोंसे नहीं प्राप्त हो सकता', जैसे 'यहाँ कर्मसे उपार्जित (विजित) यह लोक (शरीर और मर्त्यलोकका अन्य साधन) क्षीण हो जाता है, वैसे ही कर्मसे उपार्जित वह लोक (परलोक) क्षीण हो जाता है।', 'क्योंकि कर्मासक्तोंको कर्मफल-विषयक रागके कारण तत्त्वका ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिये वे दुःखार्त होकर कालान्तरमें स्वर्गसे च्युत हो जाते हैं'—इन उपपत्ति (युक्ति)—गर्भित श्रुतियोंके अनुशीलन और सत्संगके अमोघ प्रभावसे लोक-परलोकसे विरक्त होकर आत्मानुशीलन और ब्रह्मपरिमार्गणमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है।

ध्यान रहे, श्रुतियाँ ईश्वरको जगत्कर्तादि बताकर उन्हें वस्तुतः कर्तादि नहीं सिद्ध करना चाहतीं। जिस प्रकार श्रुतियाँ निष्प्रपञ्च परमेश्वरके विज्ञानकी भावनासे उनमें प्रपञ्चका आरोप दर्शाती हैं, उसी प्रकार कर्तृत्वादिके प्रतिषेधकी भावनासे ही उनमें कर्तृत्वादिका आरोप करती हैं—

इत्थंभावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः।
नेत्थंभावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः॥
नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते।
कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययाऽऽरोपितं हि तत्॥

(श्रीमद्भा० २। १०। ४४-४५)

'महात्माओंने अचिन्त्यैश्वर्य भगवान्‌का इसी प्रकार वर्णन किया है; परंतु तत्त्वज्ञोंको केवल इस सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले रूपसे ही उनका दर्शन नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे तो इससे परे भी हैं।'

'सृष्टिकी रचना आदि कर्मोंका निरूपण करके पूर्ण परमात्मामें कर्म या कर्तापनका सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया है। वह उनमें मायासे आरोपित है। वह कर्तृत्वका प्रतिषेध करनेके लिये ही है।'

उक्त रहस्यको हृदयंगम कर '**नेह नानास्ति किंचन**' (कठ० २। १। ११), '**तत्त्वमसि**' (छान्दोग्य० ६। ८। ७)—'यहाँ नाना कुछ भी नहीं है', 'वह तुम हो' आदि श्रुतियोंको हृदयंगम कर ब्रह्मात्म-विज्ञानके अमोघ प्रभावसे शोकसिन्धुको पार कर जाना चाहिये।

जो उक्त रीतिसे अक्षरसंज्ञक परमेश्वरको नहीं जानता, वह अल्पसंसारका वरण करनेसे कृपण है और भवाटवीमें भटकते रहनेसे अकृतार्थ है। इसके विपरीत जो इस अक्षर-संज्ञक परमेश्वरको आत्मरूपसे जान लेता है, वह उदार ब्राह्मण कृतार्थ है—

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ॥'

(बृहदारण्यक० ३। ८। १०)।

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य एवं उनके द्वारा वेद-प्रामाण्य-प्रतिपादन

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज)

वैष्णव चतुःसम्प्रदायमें सुदर्शन-चक्रावतार श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य परम प्राचीनतम हैं। आपने महर्षि वेदव्यासकृत 'ब्रह्मसूत्र' पर 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामसे वृत्यात्मक भाष्यका प्रणयन किया और आपहीके परम पट्टशिष्य श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराजने इसी 'वेदान्तपारिजातसौरभ' भाष्यका ही 'वेदान्तकौस्तुभ' नामसे सुप्रसिद्ध भाष्यका विशेष विस्तार किया, प्रस्तुत संदर्भमें इन्हीं भाष्य-द्वयके आधारपर वेद-प्रामाण्यका यह विवेचन द्रष्टव्य है—

वेदान्तदर्शनमें मुख्यतः प्रमाणत्रयके आधारपर आत्म-परमात्मतत्त्व एवं प्राकृत-जगत्के स्वरूपका निर्वचन हुआ है। उन प्रमाणत्रयमें शब्द-प्रमाण अर्थात् वेद-प्रमाणका ही प्रामुख्य है। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यजीने ब्रह्म एवं जीव-जगत्के निरूपण-प्रसंगमें 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम सूत्र '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' तथा तृतीय एवं चतुर्थ सूत्र '**शास्त्रयोनित्वात्**', '**तत्तु समन्वयात्**'—इन सूत्रोंपर तथा 'ब्रह्मसूत्र' के 'वेदान्तपारिजातसौरभ' भाष्यमें आपने एवं आपके पट्टशिष्य पाञ्चजन्यशङ्खावतार श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराजने 'वेदान्तकौस्तुभ' भाष्यमें वेद-प्रामाण्यका जो निर्वचन किया है, वस्तुतः वह धीर पुरुषोंद्वारा सर्वदा अवधारणीय है।

श्रीनिम्बार्कभगवान्ने ब्रह्मसूत्रके '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**'— इस प्रथम सूत्रके प्रारम्भमें ही '**अथ**' शब्दका गहनतम भावार्थ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, यथा— '**अथाधीतषडङ्गवेदेन**', '**अथ**' अर्थात् जिन्होंने षडङ्ग-वेदका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन, मनन-चिन्तन किया है। इसी प्रयुक्त '**अथ**' शब्दका स्पष्टीकरण आचार्यवर्य श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराजने 'वेदान्तकौस्तुभ' भाष्यमें जिस विधासे प्रतिपादित किया है, वह कितना सुन्दरतम है यथा—'**तत्राथानन्तरमितिधर्मजिज्ञासाविषयभूतधर्मस्वरूपतत्साधनतदनुष्ठानप्रकारतत्फलविषयकज्ञानानन्तरं 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति विधीयमानसंस्कारादिपूर्वकं साङ्गं वेदमधीत्य**'। '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' सूत्रमें '**अथ**' शब्दका अर्थ 'अनन्तर' है अर्थात् धर्मजिज्ञासाके विषयमें धर्मका स्वरूप, धर्मके साधन, धर्मके अनुष्ठान-प्रकार और उनके फल-सम्बन्धी ज्ञानके अनन्तर इस प्रकार '**अथ**' का यह गम्भीर भाव प्रकट किया है। ऐसे ही आपद्वारा तृतीय सूत्र '**शास्त्रयोनित्वात्**'—इस सूत्र-भाष्यमें वेद-प्रामाण्यका निरूपण और भी विलक्षण है—

'**उक्तलक्षणं ब्रह्मानुमानादिगम्यमुत वेदप्रमाणकमितिसंशये अनुमानादिगम्यं 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति ब्रह्मणो वागगोचरत्वश्रवणादिति पूर्वपक्षे, ब्रह्म नानुमानादिगम्यं किंतु वेदप्रमाणकम्। कुतः? 'शास्त्रयोनित्वात्'। शास्त्रं वेदो योनिः कारणं ज्ञापकं प्रमाणं यस्मिंस्तच्छास्त्रयोनि तस्य भावस्तत्त्वं तस्माच्छास्त्रयोनित्वाच्छास्त्रप्रमाणकत्वात्। वेदैकप्रमाणकमेव ब्रह्मेति सिद्धान्तः, ननु लाघवाच्छास्त्रयोनीत्येव सुवचम्, तथा च शास्त्रयोनि वेदप्रमाणकं ब्रह्मेतीष्टसिद्धिरिति चेन्न। नानुमानादिगम्यं ब्रह्म शास्त्रयोनित्वादितीतरप्रमाणविघातकहेतुनिर्देशात्। ननु नानुमानादिगम्यमिति कुतो लभ्यते इति चेत्, पूर्वोक्तकार्यत्वलिङ्गेन जगतः कर्तृजन्यत्वसाधके नानुमानगम्यं ब्रह्मेति शङ्का जाता तन्निवारणायार्थिकस्तत्पदलाभः 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति सर्वे वेदा यत्रैकीभवन्ति तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामः'। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' इत्यादि श्रुतिभ्यः। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः', 'वेदे रामायणे चैव भारते पञ्चरात्रके। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते', 'नमामः सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वतीत्यादिस्मृतिभ्यश्च**।'

ब्रह्मको जानना अनुमान आदि प्रमाणोंसे योग्य है? या वेद-प्रमाणसे? इस संशयमें यदि अनुमानसे जानने योग्य कहें तो वहाँतक वाणीकी भी पहुँच नहीं है, ऐसा सुना जाता है। अतः ब्रह्म अनुमान आदिसे जानने योग्य नहीं है। वेद-प्रमाणसे ही जानने योग्य है; क्योंकि

ब्रह्मका शास्त्रयोनित्व होनेसे शास्त्रका अर्थ है वेद, योनिका अर्थ है कारण एवं ज्ञापक तथा '**त्व**' प्रत्यय भावमें है, वह अर्थान्तरके निवारणार्थ है अर्थात् वेदप्रमाणके अतिरिक्त अन्य प्रमाण नहीं हो सकता। एकमात्र वेद-प्रमाणक ही ब्रह्म है—यह सिद्धान्त है। लाघव होनेसे 'शास्त्रयोनि' इतना ही सूत्र उचित था '**त्वात्**' इतना क्यों बढ़ाया? '**वेदप्रमाणकं ब्रह्म**' यह अर्थ हो ही जाता है। उत्तर है—'अन्य प्रमाणोंके निषेधार्थ बढ़ाया है।' पुनः शंका है कि ब्रह्मका अनुमानादि प्रमाणगम्य न होना कहाँसे लिया? पूर्वसूत्र '**जन्माद्यस्य यतः**' में जगत्का कार्यत्व कहा गया है जो कर्तृजन्य है। जिससे ब्रह्मके अनुमानगम्य होनेकी शंका होती है। तन्निवारणार्थ अर्थसे अनुमान-प्रमाणद्वारा जानने योग्य नहीं है। जिस पदका समस्त वेद प्रतिपादन करते हैं और जिस पदमें समस्त वेद एकीभावसे एकवाक्यताको प्राप्त करते हैं, उपनिषदोंमें बताये गये उस पुरुषको मैं पूछता हूँ। वेदको न जाननेवाले ब्रह्मका मनन नहीं कर सकते—इन श्रुति-वचनोंसे तथा 'सब वेदोंसे मैं ही जानने योग्य हूँ। वेद, रामायण, महाभारत, पञ्चरात्र—इन सभीके आदि-मध्य और अन्तमें सर्वत्र मेरा ही गान किया गया है, उस परमात्माको हम नमस्कार करते हैं, जिसमें सब शास्त्रीय वचनोंकी शाश्वती प्रतिष्ठा समन्वित है—इन स्मृति-वचनोंसे भी एकमात्र सर्वशास्त्रोंमें प्रतिपाद्य ब्रह्म है।

इसी प्रस्तुत सूत्रके भाष्यके अग्रिम प्रकरणमें और भी स्पष्ट कर दिया है, यथा—

'कृत्स्नस्य तु विश्वस्य वेदं विना कार्यत्वमप्रसिद्धमतो जगत्कर्ताऽपि वेदादेव ज्ञातुं शक्यो नत्वनुमानसहस्रेण। न च प्रत्यक्षप्रमाणगम्यं ब्रह्म, तद्ग्रहणे हि साधारणानामिन्द्रियाणामसामर्थ्यात्। 'नेन्द्रियाणि नानुमानम्', 'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठेति' श्रुतेः। हे प्रेष्ठ! एषा ब्रह्मविषया मतिस्तर्केण न निरस्या। यद्वा न प्राप्तुं योग्या। अन्येन वेदविदा सर्वज्ञेनाचार्येण प्रोक्ता सुज्ञानाय भवतीत्यर्थः। 'तर्काप्रतिष्ठानाम्' इत्यादिसूत्रात्। 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति मनुस्मृतेः। 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्'। 'नाप्रतिष्ठिततर्केण गम्भीरार्थस्य निश्चयः' इति महाभारताच्च। किंच सर्वज्ञैर्मन्त्रैः ऋषिभिश्च साकल्येन सर्वथाऽगम्यं दुर्बोधमचिन्त्यानन्तगुणशक्त्यादिमज्जगत्कारणं ब्रह्मानुमानादिवेद्यमिति कोऽनुन्मत्तो ब्रूयात्। न च 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतीनां का गतिरितिशङ्क्यम्। तासामियत्तावच्छिन्नं ब्रह्मेत्यर्थपरत्वात्। वक्ष्यति च 'प्रकृतैतावत्त्वं हीति' सूत्रे। शास्त्रस्य योनिः शास्त्रयोनिरिति विग्रहेऽप्ययमेवार्थः सर्वज्ञब्रह्मनिःश्वसितैरन्तरङ्गैर्वेदैरेवं ब्रह्म वेद्यम्, न बहिर्भूतैरन्यकल्पितानुमानादिभिरितिफलितोऽर्थः। अत्रास्य सूत्रस्य 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद' इति वाक्यं विषयः। न चास्मिन्नर्थे वेदानां नित्यत्वहानिः, नित्यसिद्धानां निर्गमनमात्रस्वीकारात्, 'वाचा विरूप नित्यया।' 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा प्रवृत्तयः' इति श्रुतिस्मृतिभ्यां च। अनेन ब्रह्मणेऽप्राकृतो नित्यो विग्रहः सूचितः। प्राकृतसृष्टेः पूर्ववर्तिनो वेदस्य तन्निःश्वसितत्वात्। एतदुपरिष्टाद् वक्ष्यामः। तत्सिद्धं वेदैकप्रमाणकं ब्रह्मेति।'

सम्पूर्ण विश्वका कार्यत्व वेदके बिना प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये जगत्का कर्ता भी वेदसे ही जाना जा सकता है, हजार अनुमानसे भी नहीं जाना जा सकता। ब्रह्मको प्रत्यक्ष-प्रमाणसे नहीं जाना जाता; क्योंकि ब्रह्मका प्रत्यक्ष ज्ञान साधारण इन्द्रियोंकी सामर्थ्यसे बाहर है। ब्रह्मज्ञानमें न इन्द्रियाँ समर्थ हैं न अनुमान समर्थ है। तर्कद्वारा यह ब्रह्मविषयक बुद्धि अपनेय नहीं है। हे प्रिय शिष्य! तर्कानुमानसे अन्य प्रमाण ही सुज्ञानके लिये है। श्रुति-वचन एवं तर्क आदिसे अतिरिक्त वेदके तत्त्वज्ञ सर्वज्ञ आचार्योंद्वारा उक्त ब्रह्मविषयक ज्ञान समीचीन होता है। हे प्रिय शिष्य! '**तर्काप्रतिष्ठानाम्**' इस सूत्र-वचनके अनुसार तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है। मनुस्मृतिका वचन है—'जो भाव चिन्तनमें नहीं आते उनको तर्कसे नहीं साधना चाहिये।' महाभारतमें लिखा है—'गम्भीर अर्थका निश्चय अप्रतिष्ठित तर्कके द्वारा नहीं होता।'

और भी—'सर्वज्ञ मन्त्रोंद्वारा, ऋषियोंद्वारा तथा सम्मिलित साधनोंसे जो सर्वथा अप्राप्य, अज्ञेय और दुर्बोध है, अचिन्त्य, अनन्त गुणवाला, अनन्त शक्तिवाला, जगत्का कारण ब्रह्म अनुमान आदि प्रमाणोंसे ज्ञेय है। इस प्रकारका वचन कौन प्रबुद्ध पुरुष कहेगा? अर्थात् उन्मादरहित प्रबुद्ध पुरुष ऐसा कभी नहीं कहेगा। अब यह शंका न करें कि जहाँ वाणीकी

पहुँच नहीं है, इस श्रुति-वचनकी क्या गति होगी, क्योंकि ऐसी श्रुतियाँ इयत्तावच्छिन्न ब्रह्म एतदर्थपरक हैं। अग्रिम सूत्रोंमें कहा भी है—'**प्रकृतैतावत्त्वं हि**' और '**शास्त्रस्य योनिरिति**'—इस विग्रहमें भी यही अर्थ है। सर्वज्ञ ब्रह्मके निःश्वसित अन्तरङ्ग वेदोंसे ही ब्रह्म वेद्य है, बहिर्भूत अन्य कल्पित अनुमानादिसे नहीं—यह फलितार्थ है। इस सूत्रका महद्भूत परमात्माके निःश्वसित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद इत्यादि श्रुति-वाक्य ही विषय हैं। परमात्माके निःश्वास-रूप वेदोंको माननेसे वेदोंका प्रकट होना कहा गया। अतः वेदोंके नित्यत्वकी हानि होगी यह शंका न करें; क्योंकि निःश्वासका अर्थ श्वासका निर्गमन है, जो पूर्व-सिद्धका रेचन होनेसे निर्माण नहीं है। श्रुति एवं स्मृतिवचनोंके अनुसार विरूप नित्य-वाणी, अनादि अनिधन दिव्य वेदमयी नित्य-वाणी आदिमें स्वयम्भूद्वारा उत्सृष्ट हुई, जिससे सम्पूर्ण व्यवहार चला। इससे ब्रह्मका अप्राकृत, नित्य-विग्रह सूचित है। उसका निःश्वास होनेसे प्राकृत सृष्टिके पूर्ववर्ती वेदका वर्णन हम आगे करेंगे। इससे एकमात्र वेदोंके प्रमाणसे ब्रह्म वेद्य है, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार 'वेदान्तपारिजातसौरभ' एवं 'वेदान्त-कौस्तुभ'—इन भाष्यद्वयमें अनेक स्थलोंपर वेद-प्रामाण्यका निर्वचन अतीव उत्कृष्टतम हुआ है। वस्तुतः शब्द-प्रमाण अर्थात् शास्त्र-प्रमाण और शास्त्र-प्रमाणमें भी श्रीभगवन्निःश्वासभूत वेद-प्रमाण ही सर्वतोमुख्य है। प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणमूलक होते हैं, इसीलिये वेदान्तदर्शनमें वेदादि शास्त्र-प्रमाणको परम श्रेष्ठ माना गया है। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यवर्यने तथा आप श्रीके ही परमपट्ट शिष्य 'वेदान्तकौस्तुभ' भाष्यकार श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराजने 'ब्रह्मसूत्र'-भाष्यमें अनेक स्थलोंपर वेद-प्रामाण्यका निरूपण किया है। श्रीनिम्बार्क-भगवान्के परवर्ती आचार्यप्रवरों तथा निम्बार्क-सिद्धान्त-सम्पोषक विशिष्टमूर्धन्य धीर पुरुषोंने श्रीनिम्बार्क-माहात्म्य-वर्णन-प्रसंगमें श्रीनिम्बार्कभगवान्को '**वेदवेदाङ्गपारगः**' इत्यादि दिव्य वचनोंसे आपके वेदज्ञताका प्रख्यापन किया है, जिसके कतिपय उद्धरण परम मननीय हैं—

वेदाध्ययनविख्यातः　　परमार्थपरायणः।
श्रीकृष्णप्रियदासश्च श्रीकृष्णे कृतमानसः॥

(श्रीलघुस्तवराजस्तोत्र, श्लो० ३७)

श्रीनिम्बार्कभगवान् वेदोंके अध्ययनमें विख्यात हैं, परमार्थ (भगवद्भावाप्ति)-में परायण हैं, श्रीकृष्णभगवान्के प्रिय दास हैं और श्रीकृष्णभगवान्में ही जिनका सदा मानस है (मन लगा रहता है)।

आम्नायनिःश्वासवरौ प्रभू वा काश्येशशिष्यत्वमजादिशिक्षौ।
देवर्षिशिष्याय नमो नमस्ते तस्मै नमस्ते श्रुतिरक्षकाय॥

(श्रीनिम्बार्कविक्रान्ति, श्लोक ४३)

निःश्वास-श्रुति-समूहमें श्रेष्ठ प्रतिपाद्य प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र और बलभद्र—इन दोनोंने सान्दीपनकी शिष्यता ग्रहण की थी, वैसे ही श्रुतिरक्षक (वेदकी मर्यादाको पालनेवाले) श्रीनारदजीके शिष्य आपको बारम्बार नमस्कार है।

वेदानुसारी　वेदार्थो　वेदवेदाङ्गपारगः।
वेदविधानसारज्ञो　　वेदान्तार्थप्रदर्शकः॥

(श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र, श्लोक ११)

वेदोंका अनुकरण करनेवाले, वेदोंके अर्थरूप वेदों और शिक्षाकल्प आदि वेदाङ्गोंमें पारङ्गत, वेदोंके विधानोंके सारको जाननेवाले, सत्-शास्त्रोंके अर्थोंके प्रवर्तक श्रीनिम्बार्कभगवान् हैं।

राधाकृष्णयुगोपासी　राधाकृष्णोपदेशकः।
वेदस्थो　वेदसंज्ञाता　वेदवेदाङ्गपारगः॥

(श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र, श्लोक १२)

श्रीराधाकृष्णकी युगल उपासना करनेवाले, श्रीराधाकृष्णका ही उपदेश करनेवाले, वेदोंमें स्थित रहनेवाले, वेदोंके सम्यक् ज्ञाता, वेदों और वेदाङ्गोंमें पारङ्गत श्रीनिम्बार्कभगवान् हैं।

वेदेङ्गितरसास्वादी　　वेदान्तहार्दसारवित्।
निगमागमसारज्ञः　　सच्छास्त्रार्थप्रवर्तकः॥

(श्रीनिम्बार्कसहस्रनामस्तोत्र, श्लोक ३६)

श्रीनिम्बार्कभगवान् वेदोंमें निर्दिष्ट वस्तुके रसका आस्वादन करनेवाले, वेदोंके प्रेय पदार्थोंके सारको जाननेवाले, वेदों और तन्त्रशास्त्रोंके सारको जाननेवाले, सत्-शास्त्रोंके अर्थका संसारमें आचरण सिखानेवाले हैं।

इसी प्रकार विविध रूपसे निम्बार्क-सिद्धान्तपरक ग्रन्थोंमें श्रीनिम्बार्कभगवान्की वेदविज्ञता, वेदमयता आदिका निरूपण हुआ है। वस्तुतः श्रीनिम्बार्कभगवान्द्वारा समुपदिष्ट वेद-प्रामाण्यका प्रतिपादन जिस रूपमें दृग्गोचर हो रहा है, वह नितान्तरूपेण तत्त्वज्ञ मनीषीजनोंद्वारा सर्वदा मननीय है।

वैदिक धर्म-संस्कारों एवं संस्कृतिका समग्र जन-जीवनपर प्रत्यक्ष प्रभाव

(जगद्गुरु रामानुजाचार्य स्वामी श्रीश्यामनारायणाचार्यजी महाराज)

वेदमें एक लाख मन्त्र हैं। अस्सी हजार मन्त्र केवल कर्मकाण्डका निरूपण करते हैं, जबकि सोलह हजार मन्त्र ज्ञानका निरूपण करते हैं। मात्र चार हजार मन्त्र उपासना-काण्डके हैं।

मूलरूपसे वेदमें दो भाग हैं—पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा अर्थात् अस्सी हजार मन्त्र कर्मकाण्डका निरूपण करते हैं। कर्मकाण्ड-निरूपणके आदिमें लिखा हुआ है '**अथातो धर्मजिज्ञासा**' और यहींसे मानव-जीवनका संस्कार आरम्भ होता है। गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त सोलह प्रकारके संस्कारोंका निरूपण वेद करता है।

वास्तवमें वेदमें वर्णित संस्कार-विधिके अनुसार यदि माता-पिता अपने बच्चोंको सुसंस्कृत करें तो वह बालक सच्चा मानव बन सकता है। भगवान्‌ने मनुष्य-शरीर इसलिये प्रदान किया है कि तुम वेदानुकूल आचरण करो तभी तुम मानव बन सकोगे। वेद-विरुद्ध आचरण होनेपर मानवका मानव-धर्म निभाना असम्भव है, क्योंकि शास्त्रवचन है—'**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**।' तात्पर्य यह कि आचारहीन व्यक्ति न पवित्र होते हैं और न पवित्र आचरण करते हैं। तथा '**यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्**।' बाल्यावस्थामें जो संस्कार प्राप्त होता है वह अमिट होता है। परंतु बालकोंको अच्छे संस्कार मिलने धीरे-धीरे गुरुकुल-आश्रमोंमें भी बंद हो रहे हैं; क्योंकि उनमें भी विलासी लोगोंके आवागमनसे आश्रमके वातावरणमें अन्तर पड़ता जा रहा है। धर्मका उपदेश करनेवाले गुरुजनोंमें भी भौतिकताकी आँधी चलनी शुरू हो गयी है। इसलिये पहलेकी अपेक्षा यद्यपि आज लाखों शिक्षा देनेवाले कथा सुना रहे हैं, योगकी शिक्षा दे रहे हैं, वेद-वेदान्तका अध्ययन करा रहे हैं, फिर भी आजकलका बालक संस्कारहीन होता जा रहा है।

पहले एक समय वह था जब कि लोग रुपये खर्च करके टी०बी० की बीमारीको डॉक्टरसे इलाज कराकर भगाते थे, परंतु आज घर-घर टी०वी० प्रवेश करके जन-जनके मन-वाणी तथा इन्द्रियोंपर अपना प्रभाव स्थापित करता चला जा रहा है। इसमें टी०वी० की निन्दा नहीं है, क्योंकि टी०वी० से तो संसारके सभी बातोंकी जानकारी होती है, परंतु '**अति सर्वत्र वर्जयेत्**'। समझदार व्यक्ति टी०वी० से समाचार सुन लेता है तथा धार्मिक सीरियल भी देख लेता है, परंतु छोटे बच्चोंकी बुद्धि अपरिपक्व होती है, वे अच्छी बातोंको कम ग्रहण कर पाते हैं और बुरी बातें बुद्धिमें शीघ्र जमा लेते हैं।

जहाँ टी०वी० के द्वारा प्रसारित श्रीराम-कृष्ण आदिके सीरियलसे कुछ लोगोंको अच्छी बातोंकी जानकारी मिली है, वहीं साठ प्रतिशत बच्चोंका संस्कार अश्लील चित्रादि देखनेसे बिगड़ा भी है। इसका मूल कारण है माता-पिताकी बच्चोंके प्रति लापरवाही तथा अधिक लाड़-प्यार करना। जिन माता-पिताको स्वयं संस्कार नहीं प्राप्त हुआ है, वे अपने बच्चोंको कहाँतक अच्छे संस्कार दे सकते हैं। ऐसे माता-पिता तो जन्म दे सकते हैं, परंतु अच्छे संस्कार तो सैकड़ों-हजारोंमें कोई एक सुसंस्कृत माता-पिता ही दे पाते हैं। वेद, शास्त्र, रामायण तथा गीतापर हजारों हिन्दी और अंग्रेजीमें टीकाएँ हो चुकी हैं तथा होती भी जा रही हैं, परंतु अच्छे संस्कार बहुत कम लोगोंको प्राप्त हो रहे हैं। इसका मूल कारण है—उपदेश देनेवाले संत-विद्वानों तथा माता-पिताका स्वयं अच्छे आचरणके बिना उपदेश देना। यदि ऐसा ही चलता रहा तो धीरे-धीरे आजका बालक बिगड़नेके अलावा सुधर नहीं सकता। जहाँ पूर्वकालमें विदेशी लोग जिस ज्ञान तथा भक्तिकी भूमि भारतसे शिक्षा प्राप्त करके आगे बढ़े थे, वहीं आज भारतके मानव-समाजका पतन हो रहा है, भारतका अनुकरण करनेवाले विदेशी भारतके आचरणको ग्रहण करके हमसे आगे बढ़ते जा रहे हैं।

हमें स्वयं अपने शास्त्र-वेद-पुराणोंमें विश्वास नहीं है; क्योंकि हम सभीका संस्कार नष्ट होता जा रहा

है। आज 'गीताप्रेस'-जैसे संस्थानसे जिस प्रकार अच्छी-अच्छी पुस्तकोंका प्रकाशन, रामायण-गीताकी परीक्षा, अच्छी-अच्छी कथानक-पुस्तकोंका प्रकाशन तथा रामनाम-जप-संकीर्तन आदिसे लाखों लोगोंका मन परिवर्तित हुआ है, यदि इसी प्रकार स्वयंसेवी संस्थाओं एवं संत महापुरुषोंके आश्रमोंमें भी अच्छे आचरण करनेवाले विद्वानों एवं संतोंके द्वारा संस्कार देनेके साथ-साथ वेदानुकूल आचरण कराये जायँ तो मानवका विकास होना सम्भव है। धन-दौलत-कुटुम्ब और परिवार बढ़ानेसे मानवकी उन्नति नहीं होगी। रावणके पास तो सोनेकी लंका थी, परंतु संस्कारहीन होनेसे लंकाका एवं उसके सारे कुटुम्ब-परिवारका नाश हो गया। उसी परिवारमें विभीषणको अच्छा संस्कार संत-महात्माओंके द्वारा मिला, जिसके कारण स्वयं परमात्मा श्रीराम उसके पास मिलने आये और जब परमात्मा मिल गये तो सारे संसारका वैभव भी मिल गया।

वेदकी ऋचाओंमें भगवत्तत्त्वदर्शन

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपालवैष्णवपीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(श्वेता० ६। १८)

सर्वश्रुतिशिरोजुष्टं सर्वश्रुतिमनोहरम्।
सर्वश्रुतिरसाश्लिष्टं श्रौतं श्रीकृष्णमाश्रये॥

अखिलब्रह्माण्डनायक, सकलजगत्-पालक, सृष्टि-संहारकारक देवकी-वसुदेव-बालक, भक्तजनसुखदायक, श्रीगोपाल-ब्रह्म-वाचक कृष्णचन्द्रभगवान् ही परिपूर्ण पुरुषोत्तम कहलाये हैं। वे षोडशकलासे युक्त हैं। अष्टसिद्धि, षडैश्वर्य, लीला-कृपाशक्तिसे सम्पन्न श्रीकृष्णचन्द्र षोडशी तत्त्व हैं।

तत्त्वज्ञानी महापुरुष उसी परम तत्त्वको वेदान्त-रीतिसे ब्रह्म, स्मृतियोंमें परमात्मा तथा पुराणोंमें भगवान् शब्दसे अभिहित करते हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १। २। ११)

उन्हींके निःश्वाससे वेदोंकी रचना हुई है, अतः साधारण पुरुषद्वारा कल्पित न होनेसे वेद अपौरुषेय हैं। जिसके द्वारा उस परम तत्त्वका ज्ञान होता है। वेद ज्ञानार्थक '**विद**' धातुसे निष्पन्न होता है। सभी वेदोंका तात्पर्य परम ब्रह्ममें है। इस श्रीमद्भगवद्गीताके वाक्यसे इसीकी सम्पुष्टि होती है—'**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।**'

वेद भगवान्‌की आज्ञारूप हैं। '**वेदा ब्रह्मात्मविषयाः**'—इस भागवतीय श्रुतिसे जीव-ब्रह्मका स्वरूप निरूपित होता है। वेदोंके आदि-मध्य तथा अवसानमें सर्वत्र हरिका ही यशोगान है। नाना नाम-रूपोंमें उन्हींकी अभिव्यक्ति है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋक्० १। १६४। ४६)

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वदेवमय हैं। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें सभी देवोंका निवास है। वे भी सभीके अन्तर्गत हैं। उनसे रहित चराचर-जगत्‌में कोई भी वस्तु नहीं है। इसी सर्वव्यापकताके कारण वे विष्णु-ब्रह्म-नारायण-वासुदेव आदि नामोंसे व्यवहृत होते हैं। वे सभीको देखते रहते हैं, परंतु उन्हें कोई नहीं देख पाता, शुभाशुभ-कर्मोंके साक्षी होनेपर भी उनकी ज्ञानदृष्टि कभी कहीं लिप्त नहीं होती—

यच्च किंचिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

बिना भगवदिच्छाके उनको जानना कठिन है। दिव्य वस्तु दिव्य दृष्टिसे ही दृष्टिगोचर होती है। भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य दृष्टि प्रदान की थी, तभी वह उनके विश्वरूपको देखनेमें समर्थ हुआ—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(ऋक्० १०। ९०। १)

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभि सं विवेश॥

(यजुर्वेद ३२। ११)

उपर्युक्त मन्त्रोंसे सिद्ध होता है कि जगत्‌में व्याप्त होकर भगवान् विष्णु सभीके हृदय-कमलमें विराजमान हैं।

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।

(ऋक्० १०। ११४। ४)

अर्थात् वह अद्वितीय परम तत्त्व सुपर्ण—सुन्दर कमलदलके समान चरणारविन्दवाले, समुद्रके समान गम्भीर हृदय-कमलमें प्रविष्ट होकर परिदृश्यमान जगत्‌को साक्षात् देखते हुए उन सभी प्राणियोंके अन्तर्गत स्थित होकर अपनी चित्-शक्तिसे सभीको सचेष्ट करनेवाले कृष्णके निकट दौड़े—

'तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत'

(उपनिषद्)

रासपञ्चाध्यायीके गोपीगीतमें श्रुतिरूपा गोपियाँ रसिकशेखर श्रीराधासर्वेश्वर श्यामसुन्दरसे कहती हैं कि—

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

अर्थात् हे सखे! आप केवल यशोदानन्दन ही नहीं हैं, प्रत्युत सभी देहधारियोंके अन्तर्यामी हैं। ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर विश्वके पालन-हेतु आप यादव-कुलमें अवतीर्ण हुए हैं।

गोपियाँ वेदोंकी ऋचाएँ हैं। उनका गोपीभाव प्राप्त करनेका कारण बृहद्वामनपुराणमें उल्लिखित है—एक बार मूर्तिमती श्रुतियाँ कोटिकाम-लावण्य-धाम, घनश्यामकी रूपमाधुरीपर मोहित हो गयी थीं, कामिनीभावको प्राप्त होकर वे उनसे रमण करनेकी प्रार्थना की थीं। भक्तवत्सल भगवान्‌ने उन्हें सारस्वत-कल्पमें व्रजमें गोपीभाव प्राप्त करनेका वरदान दिया था। अतः श्रुति-रूपा गोपियोंको उनके स्वरूप-गुण आदिका भान हो गया, इसलिये अन्तरात्मदृक् शब्दका प्रयोग भागवतकारने किया है।

वरदान पाकर श्रुतिरूपा गोपियाँ व्रजमें जाकर मनोवाञ्छित फल पानेके लिये उद्यत हुईं तथा परस्पर विचार कर बोलीं—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥

(ऋक्० १। १५४। ६)

अर्थात् जहाँ सुवर्णमय बड़े-बड़े सींगोंवाली गायें हैं, वह वृष्णिधुर्य श्रीकृष्णका परम धाम अति प्रकाशमान है, जिसमें वेदोंका बहुधा गुणगान होता है और जो गोपोंके सुन्दर भवनोंसे अलंकृत है—वहाँ चलें। इस प्रकार कहकर श्रुतिरूपा गोपियाँ व्रजमें आयीं तथा श्यामसुन्दरकी साँवरी सूरत, मोहिनी मूरत, बाँसुरीपूरितपर मुग्ध हो गयी थीं। वृन्दावनमें यमुना-पुलिनपर रासविहारीके साथ रासलीलामें सम्मिलित हो गयीं। जब रासमें विह्वल हो गयीं तो सर्वेश्वर श्यामसुन्दर अन्तर्धान हो गये। इसके बाद उन्मत्तवत् वन-वनमें ढूँढ़ती हुई निराश होकर रुदन करती हुई कहती हैं—

जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद्वीरो अभि पौंस्यं रणम्।
अवृश्चदद्रिमव सस्यदः सृजदस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम्॥

(ऋक्० १०। ११३। ४)

अर्थात् आपने जन्मसे ही सभी स्पर्धालु-विरोधी शत्रुओंको परास्त कर, गिरिराज गोवर्धनको अपने वाम करपर धारण कर, इन्द्रकी प्रलयकारी शक्तिका स्तम्भन करके सम्पूर्ण व्रजकी रक्षा की है। आपने देवदमन, नागदमन, इन्द्रदमन, कालियमर्दन, कंस-निकन्दन आदि नाम अपने वीर्य-शौर्यसे अर्जित किये हैं। हम तो अबला हैं, हमपर वीरता दिखानेसे आपकी क्या प्रशंसा है? अतः प्रकट होकर हमारे हृदयकी पीड़ा दूर कीजिये।

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद्
वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभया-
दृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। ३)

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥

(ऋक्० ६। ४७। १८)

जिस समय भगवान् बाल-कृष्ण ग्वालबालों एवं गौओं तथा बछड़ोंको लेकर वेणु बजाते हुए मधुकरोंकी मधुर झंकार, विविध विहंगमोंकी चहचहाहट, मत्त कोकिलोंके कलरवसे सुशोभित वृन्दावनमें प्रवेश कर बछड़ोंको पानी पिलाकर शीतल छायादार विटपी-विटपोंसे अलंकृत रमणीक स्थलपर कलेवा करनेके लिये बैठे थे, उस समय लोकपितामह ब्रह्माजीने ग्वालबालों एवं गौओं-गोवत्सोंका हरण कर अपनी मायासे मोहित कर दिया। तब योगेश्वर श्रीकृष्णने ब्रह्माकी माया समझ ली थी।

अतः उन्होंने ग्वालबालोंकी माताओंको प्रसन्न करनेके लिये ग्वालबालों-जैसा रूप-वेष-वेणु-लकुटी, विषाण, अङ्ग-प्रत्यङ्ग धारण कर और बछड़ों-गौओं-जैसा बनकर नन्दगाँवमें प्रविष्ट हुए। इस रहस्यको कोई भी नहीं जान सका, पर जब कन्हैयासे दाऊ भैयाने एकान्तमें पूछा तो महामायावी कृष्णने कटाक्षसे उन्हें बताया कि—'**सर्वस्वरूपो बभौ**' (श्रीमद्भा० १०। १३। १९)। उधर जब ब्रह्माजीने देखा कि ये ग्वालबाल एवं गौएँ-बछड़े कहाँसे आये, मैंने जिन्हें हरण किया था वे तो अभी सोये पड़े हैं। '**सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे०**' (श्रीमद्भा० १०। १३। ४३)—वे ही हैं या अतिरिक्त हैं, इस सत्यको जाननेमें वे असमर्थ हो गये। ब्रह्मा अपनी मायाके बलपर अपना वैभव देखना-दिखाना चाहते थे, परंतु उलटे वे स्वयं ही भगवान्‌की मायामें फँस गये, अन्तमें उन्होंने हंस-वाहनसे उतरकर क्षमा-याचना की—

अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो
ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।

(श्रीमद्भा० १०। १४। १०)

सर्वान्तर्यामिन्! आपकी प्रेरणासे सभी जीव सचेष्ट होते हैं। आप सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं और सभी परतन्त्र हैं। आपके अभिप्रायको कोई नहीं जानता है—'**को जानाति चिकीर्षितम्**' आपकी मायासे तो विवेकी भी मोहित हो जाते हैं—'**मुह्यन्ति यत्सूरयः**'।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।

(ऋक्० १०। १२९। ६)

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। २१)

तीनों लोकोंमें आपकी लीलाएँ कहाँ और कैसे तथा कितनी और कब हुईं, यह कौन जान सकता है? जो आपका कृपापात्र है, वही जान सकता है। प्राणेन्द्रियोंकी तृप्तिमें लिप्त प्राणी नहीं जान सकता। यह घोषणा करती हुई ऋचा कहती है—

न तं विदाथ य इमा जजानाऽन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चाऽसुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥

(ऋक्० १०। ८२। ७)

जो इस दृश्यमान जगत्‌को रचता है, जो तुम्हारे हृदयके अंदर अन्तर्यामीरूपसे स्थित है, उसे प्राण-पोषक विषयी जन नहीं पहचानते। जैसे कुहरेके अन्धकारमें निकटकी भी वस्तु नहीं दीखती, वैसे ही अज्ञानान्धकारसे ढका प्राणी अपने हृदयमें भगवान्‌को नहीं पहचान पाता।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

(गीता ५। १५)

अतः अज्ञानतिमिरसे अन्धे जीवोंको गुरु-गोविन्दके चरणकी शरणमें जाकर अपने स्वरूपको जाननेके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

'**शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु**'॥

'मुझे कल्याणकी प्राप्ति हो और मुझे कभी किसी प्रकारका भय न हो।' (अथर्ववेद १९। ९। १३)

वेद-कथाका माङ्गलिक स्वरूप

(श्रीगोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)

वेद ज्ञानस्वरूप हैं। कर्म, भक्ति, ज्ञानका समन्वयात्मक तात्पर्यवाला वेदसम्मत जीवन-दर्शन ही यज्ञ है। यज्ञ उत्कृष्टतम मानवीय, दैवत जीवन-परिवेशका दिव्यतम प्रतीक है, जिसका वेद, वेदाङ्ग, आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषदोंमें सम्यक् आचार-विचार, श्रुति-श्रौत-कर्मके रूपमें स्वच्छ निदर्शन उपलब्ध होता है। वेद-कथा इसी निदर्शनका साङ्ग, अपने समस्त अङ्गोंका अपरिहार्य उपबृंहणमात्र है। वेद-कथा ही वैदिक संस्कृति—वेदसम्मत आचार-विचारकी स्वरूप-निर्देशिका है। यज्ञ ही वेद है, वेदका स्वरूप है, सृष्टि-विधाता ब्रह्मा आदि त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु, महेशके पवित्र उच्छ्वासका अमृत-संजीवन है। हमारे समस्त संस्कारकी प्राण-वैभवा वेद-कथाएँ आचार-विचारकी संवाहक हैं। यह वैदिक जीवन-पद्धति-संस्कृति ही अखिल विश्वका चैतन्य विलासामृत है। निःसंदेह वेद ही परमात्मस्वरूप है। श्रुतिप्रतिपादित श्रौतकर्म, श्रौतभाव (श्रद्धा-विश्वास), श्रौत-ज्ञानका स्मार्त जीवन-दर्शन है, इसी तरह षड्दर्शन-सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, उत्तरमीमांसा, पूर्वमीमांसा तथा अद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत-विवर्जित सिद्धसिद्धान्त-दर्शन, शाक्त, शैव, वैष्णव सभी दर्शनोंकी सम्यक् निवृत्तिके आधारपर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, समस्त उपनिषदों तथा आरण्यक एवं ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें वर्णित जीवन-पद्धति आचार-विचारके ही अक्षरशः पर्याय हैं।

यद्यपि चारों वेद—ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व और उसके ब्राह्मण, आरण्यक आदि उपाङ्गोंमें यज्ञ तथा यज्ञ-ब्रह्मका ही विस्तारसे अभिव्यक्तीकरण हुआ है, तथापि साक्षात् भगवान्के श्रीमुखका वचनामृत है कि स्तवात्मक सामवेद ही मेरा स्वरूप किंवा अधिष्ठान है—

वेदानां सामवेदोऽस्मि।

(गीता १०। २२)

इस भगवद्वाक्यकी सम्पूर्ण विवृति श्रीमद्भागवतमें उपलब्ध है, जो वेदब्रह्मको नमन है—

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

(श्रीमद्भा० १२। १३। १)

ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तोत्रोंद्वारा जिनकी स्तुति करते हैं, सामवेदके गानेवाले अङ्ग, पद, क्रम और उपनिषदोंके सहित वेदोंद्वारा जिनका गान करते हैं, योगिजन परमात्माके ध्यानमें स्थित तद्गत-मनसे जिनका दर्शन करते हैं, देवता और असुरगण (कोई) भी जिनके अन्तको नहीं जानते, उन स्वयम्प्रकाश परमात्माको मेरा नमस्कार है।

अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति, साधुसंगति, वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध—ये ही युक्तियाँ मनपर विजय पानेके लिये निश्चितरूपसे दृढ़ उपाय हैं।

आर्ष योगदर्शनमें इस वेदानुशासनका निर्देश है कि जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशयके सम्बन्धसे रहित तथा समस्त मुक्त पुरुषोंसे उत्तम है, वह ईश्वर है। उसमें सर्वज्ञताका कारण (ज्ञान) निरतिशय है, वह सब पूर्वजोंका गुरु—आदि-अनादि गुरु है। उसका कालसे अवच्छेद नहीं है। वह अनादि—अकाल है। उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव है। उसका जप और अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥
तस्य वाचकः प्रणवः॥
तज्जपस्तदर्थभावनम्॥

(योगदर्शन १। २४—२८)

वेद-प्रतिपादित तथा वेद-सम्मत एक ही सच्चिदानन्द-स्वरूप अलख-निरंजन परमेश्वरकी सत्ता सर्वत्र व्याप्त है, अलख-निरंजन परमात्मामें मायातीतता मायातिरिक्तता

ही हमारे महायोगी गोरखनाथद्वारा प्रतिपादित द्वैताद्वैत-विलक्षण-दर्शन सर्वोपरि है। यह नाम-रूपसे परे है—

एकः सत्तापूरितानन्दरूपः
पूर्णो व्यापी वर्तते नास्ति किंचित्।
एतज्ज्ञानं यः करोत्येव नित्यं
मुक्तः स स्यान्मृत्युसंसारदुःखात्॥

(शिवसंहिता १। ९५)

आधिदैविक, आधिदैहिक, आधिभौतिक त्रयतापसे शमन ही जीवात्मा साधककी परमात्मामें स्वरूप-स्थिति है, वेदकथामें परमात्मचिन्तन-आचार-विचारकी सच्चिदानन्दायित्वका यही अप्रतिम आधार आर्ष वेदोपबृंह वाङ्मय है। ऋषिका वेदब्रह्म-प्रणव ब्रह्मके चरण-देशमें संस्तवन है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥

(यजुर्वेद ५। ३६)

हे प्रकाशस्वरूप करुणामय प्रभो! आप हमें धर्मके उपदेश-मार्गसे विज्ञान, धन और सुख प्राप्त करनेके लिये सन्मार्गसे ले चलिये। समस्त उत्तम ज्ञानों, मार्गों और लोकोंको जानते हुए हमें असद्व्यवहारसे दूर रखिये। हम आपके स्तवन, आपकी महिमाका चिन्तन और बार-बार नमन करते हैं।

वेदाध्ययनका सार है सत्य-भाषण, सत्य-भाषणका सार है इन्द्रिय-संयम और इन्द्रिय-संयमका सार है मोक्ष। यह सम्पूर्ण शास्त्रोंका सदुपदेश—सदाचरण है।

इसी मोक्ष-पद-अमृतपदका प्रशस्त पथ-निदेशन वेदवाङ्मयका प्राणामृत है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥

(यजुर्वेद ४०। ११)

जिसमें अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं और अन्तमें लीन होते हैं—उसको जो एक साथ जान लेता है, वह सबके अदृश्य होनेके परम कारणको जान करके मृत्युके भयको पार कर अमृत-अविनाशी मोक्ष-पदको प्राप्त कर लेता है।

सम्भूति और विनाश—सृजन और लयसे अतीत ऋग्वेदमें सात आर्षमन्त्रोंमें परमात्माके स्वरूप-कथा-बोधका वैलक्षण्य है। वैदिक आर्ष दर्शनके स्तरपर विलक्षण निर्वचन है—

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥

(ऋक्० १०। १२९। १)

प्रलय-कालमें असत् नहीं था। सत्य भी उस समय नहीं था, पृथ्वी-आकाश भी नहीं थे। तब कौन यहाँ रहता था। ब्रह्माण्ड कहाँ था, गम्भीर जल भी कहाँ था।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

(ऋक्० १०। १२९। २)

उस समय न मृत्यु थी न अमृत ही था। रात्रि और दिन भी नहीं थे। वायुसे शून्य और आत्माके अवलम्बसे श्वास-प्रश्वासवाला एक ब्रह्ममात्र ही था। उसके अतिरिक्त सब शून्य था।

तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

(ऋक्० १०। १२९। ३)

सृष्टि-रचनासे पूर्व सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार व्याप्त था। सब कुछ अज्ञात था। सब ओर जल-ही-जल था। वह पूर्ण व्याप्त ब्रह्म अविद्यमान पदार्थसे ढका था। वह एक तत्त्व तपके प्रभावसे विद्यमान था।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

(ऋक्० १०। १२९। ४)

उस ब्रह्मने सर्वप्रथम सृष्टि-रचनाकी इच्छा की। उससे सबसे पहले बीजका प्राकट्य हुआ। ज्ञानियों (ज्ञानिजनों)-ने अपनी बुद्धिसे विचार कर अप्रकट वस्तुकी उत्पत्तिकी कल्पना की।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥

(ऋक्० १०। १२९। ५)

फिर बीज धारण करनेवाले पुरुषकी उत्पत्ति हुई, तदनन्तर महिमाएँ प्रकट हुईं। उन महिमाओंका

कार्य दोनों पार्श्वोंतक प्रशस्त हुआ। नीचे स्वधाका स्थान हुआ और ऊपर प्रयतिका।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव॥

(ऋक्० १०। १२९। ६)

प्रकृतिके तत्त्वको कोई नहीं जानता तो उसका वर्णन कौन कर सकता है! इस सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण क्या है? विभिन्न सृष्टियाँ किस उपादान-कारणसे प्रकट हुईं? देवगण भी इन सृष्टियोंके पश्चात् ही उत्पन्न हुए, तब कौन जानता है कि यह सृष्टि कहाँसे उत्पन्न हुई?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥

(ऋक्० १०। १२९। ७)

ये विभिन्न सृष्टियाँ किस प्रकार हुईं, इतनी रचनाएँ किसने कीं, इस विषयमें इन सृष्टियोंके जो स्वामी हैं और दिव्य धाममें निवास करते हैं, वे जानते हैं। यह भी सम्भव है कि उन्हें भी ये सब बातें ज्ञात न हों।

—इस नासदीय सूक्तसे विदित होता है कि परमेश्वरकी जीवन-कथारूप उनका सृजन-संहार कितना निगूढ है। नासदीय सूक्त (कथा)-का स्पष्ट साङ्गोपाङ्ग अक्षर आर्षभाष्य है पुरुषसूक्त—जिसमें विराट्-अखिल ब्रह्माण्डनायककी महिमा द्योतित है, उसके परमात्मा अनन्त हैं, उन (वेद)-की कथा अनन्त है। विद्वान् अनन्त रूपोंमें उसकी व्याख्या—निर्वचन करते हुए अमृतपदमें प्रतिष्ठित रहते हैं।

वेदकथा-निर्वचनकी यही कसौटी है कि जो पुरुष सब प्राणियों और प्राणरहित जडपदार्थोंमें सर्वव्यापक परमात्माका विद्याभ्यास, धर्माचरण और योगाभ्यासद्वारा साक्षात्कार कर लेता है तथा समस्त प्रकृति आदि पदार्थोंमें परमेश्वरको व्यापक जानता है, वह कभी संदेहमें नहीं पड़ता—संशयसे परे होता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥

(यजुर्वेद ४०। ६)

जिस ब्रह्मज्ञानकी दशामें समस्त जीव-प्राणी अपने आत्माके समान हो जाते हैं, अपने ही समान दीखने लगते हैं, उस एकता या समानताको प्रतिक्षण देखनेवाले विशेष आत्मज्ञानी पुरुषके लिये न मोह रहता है, न शोक रह जाता है—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(यजुर्वेद ४०। ७)

वेद-कथाकी माङ्गलिक प्रेरणा है कि परमेश्वर सर्वव्यापक हैं। वे शुद्ध कान्तिमय, परम शक्तिमय, शीघ्र गति देनेवाले, स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे रहित, व्रणादिसे रहित, स्नायु आदि दोषोंसे रहित, निष्पाप, पापमुक्त, क्रान्तदर्शी, मेधावी, सबके मनको प्रेरित करनेवाले सर्वव्यापक, अपनी सत्तामें सदा विद्यमान अङ्ग हैं, वे यथार्थरूपमें सनातन कालसे प्रजाओंके लिये समस्त पदार्थकी रचना करते हैं तथा उनका ज्ञान प्रदान करते हैं। वेदब्रह्मकी सर्वसमर्थता स्पष्ट है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् .....॥

(यजुर्वेद ४०। ८)

नाथयोग-दर्शन—द्वैताद्वैत-विलक्षण नाथयोग निर्वचन-सम्मत अलख-निरंजन सर्वव्यापक, मायातीत स्वसंवेद्य परमात्माका यही माङ्गलिक—अपाप, परम शुद्ध दर्शन है, जो समस्त वेदवाङ्मयका अमृतत्व है। इस अमृतके रसास्वादनकी दिशामें माङ्गलिक शान्तिपाठ है—

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः।

(अथर्ववेद १९। ९। १४)

पृथिवी हमें शान्ति दे; अन्तरिक्ष, द्यौ, जल, औषध, वनस्पति, विश्वेदेव सब देवता शान्ति दें; इन सब शान्तियोंके अतिरिक्त मुझे शान्ति प्राप्त हो। इनके द्वारा विपरीत अनुष्ठानसे भयंकर प्राप्त होनेवाले फल—क्रूर पापमय फलको हम दूर करते हैं। सब मङ्गलमय हो, शान्ति हो, कल्याण हो।

वेद-कथाकी ऋषिदर्शनके क्षेत्रमें सत्यार्थसमीक्षापूर्वक यही माङ्गलिक सम्पन्नता-सम्पूर्णता है।

वेद और श्रीमद्भगवद्गीता

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

वेद नाम शुद्ध ज्ञानका है, जो परमात्मासे प्रकट हुआ है—'**ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्**' (गीता ३। १५), '**ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा**' (गीता १७। २३)। वही ज्ञान आनुपूर्वीरूपसे ऋक्, यजुः आदि वेदोंके रूपसे संसारमें प्रकट हुआ है। वेद भगवद्रूप हैं और भगवान् वेदरूप हैं। उन वेदोंका सार उपनिषद् हैं और उपनिषदोंका सार श्रीमद्भगवद्गीता है। वेद तो भगवान्के निःश्वास हैं—'**यस्य निःश्वसितं वेदाः**', पर गीता भगवान्की वाणी है। वेद और उपनिषद् तो अधिकारी मनुष्योंके लिये हैं, पर गीतामें मनुष्यमात्रका अधिकार है। कौरव-पाण्डवोंके इतिहास-ग्रन्थ महाभारतके अन्तर्गत होनेसे इसके अधिकारी सभी हो सकते हैं। श्रीवेदव्यासजी महाराजने महाभारतरूप पञ्चम वेदकी रचना भी इसीलिये की थी कि मनुष्यमात्रको वेदोंका ज्ञान प्राप्त हो सके।

गीतामें भगवान्ने वेदोंका बहुत आदर किया है और उनको अपना स्वरूप बताया है—'**पिताहमस्य जगतो**.....**ऋक्साम यजुरेव च**' (९। १७)। जिसमें नियताक्षरवाले मन्त्रोंकी ऋचाएँ हैं, वह 'ऋग्वेद' कहलाता है। जिसमें स्वरोंसहित गानेमें आनेवाले मन्त्र हैं, वह 'सामवेद' कहलाता है। जिसमें अनियतह्यक्षरवाले मन्त्र हैं, वह 'यजुर्वेद' कहलाता है। जिसमें अस्त्र-शस्त्र, भवन-निर्माण आदि लौकिक विद्याओंका वर्णन करनेवाले मन्त्र हैं, वह 'अथर्ववेद' कहलाता है। लौकिक विद्याओंका वर्णन होनेसे भगवान्ने गीतामें अथर्ववेदका नाम न लेकर केवल ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद—इन तीन वेदोंका ही नाम लिया है; जैसे—'**ऋक्साम यजुरेव च**' (९। १७), '**त्रैविद्याः**' (९। २०), '**त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः**' (९। २१)।

भगवान्ने वेदोंमें सामवेदको अपनी विभूति बताया है—'**वेदानां सामवेदोऽस्मि**' (गीता १०। २२)। सामवेदमें 'बृहत्साम' नामक एक गीति है, जिसमें इन्द्ररूप परमेश्वरकी स्तुति की गयी है। अतिरात्रयागमें यह एक पृष्ठस्तोत्र है। सामवेदमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण इस बृहत्सामको भी भगवान्ने अपनी विभूति बताया है—'**बृहत्साम तथा साम्नाम्**' (गीता १०। ३५)।

सृष्टिमें सबसे पहले प्रणव (ॐ) प्रकट हुआ है। उस प्रणवकी तीन मात्राएँ हैं—'अ', 'उ' और 'म'। इन तीनों मात्राओंसे त्रिपदा गायत्री प्रकट हुई है। त्रिपदा गायत्रीसे ऋक्, साम और यजुः—ये तीन वेद प्रकट हुए हैं। वेदोंसे शास्त्र, पुराण आदि सम्पूर्ण वाङ्मय जगत् प्रकट हुआ है। इस दृष्टिसे 'प्रणव' सबका मूल है और इसीके अन्तर्गत गायत्री तथा सम्पूर्ण वेद हैं। अतः जितनी भी वैदिक क्रियाएँ की जाती हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण करके ही की जाती हैं—'**तस्मादोमित्युदाहृत्य**.....**ब्रह्मवादिनाम्**' (गीता १७। २४)। जैसे गायें साँड़के बिना फलवती नहीं होतीं, ऐसे ही वेदकी जितनी ऋचाएँ, श्रुतियाँ हैं, वे सब 'ॐ' का उच्चारण किये बिना अभीष्ट फल देनेवाली नहीं होतीं। गीतामें भगवान्ने प्रणवको भी अपना स्वरूप बताया है—'**गिरामस्म्येकमक्षरम्**' (१०। २५), '**प्रणवः सर्ववेदेषु**' (७। ८), गायत्रीको भी अपना स्वरूप बताया है—'**गायत्री छन्दसामहम्**' (१०। ३५) और वेदोंको भी अपना स्वरूप बताया है।

सृष्टिचक्रको चलानेमें वेदोंकी मुख्य भूमिका है। वेद कर्तव्य-कर्मोंको करनेकी विधि बताते हैं—'**कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि**' (गीता ३। १५), '**एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे**' (गीता ४। ३२)*। मनुष्य उन कर्तव्य-कर्मोंका विधिपूर्वक पालन करते हैं। कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ होता है। यज्ञसे वर्षा होती है, वर्षासे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं और उन प्राणियोंमें मनुष्य कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ करते हैं। इस तरह यह सृष्टिचक्र चल रहा है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

* यहाँ 'ब्रह्म' पद वेदका वाचक है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

(गीता ३। १४-१५)

भगवान् गीतामें कहते हैं कि ऊपरकी ओर मूलवाले तथा नीचेकी ओर शाखावाले जिस संसाररूप अश्वत्थवृक्षको अव्यय कहते हैं और वेद जिसके पत्ते हैं, उस संसारवृक्षको जो जानता है, वह सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाला है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

(गीता १५। १)

संसारसे विमुख होकर उसके मूल परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव कर लेना ही वेदोंका वास्तविक तात्पर्य जानना है। वेदोंका अध्ययन करनेमात्रसे मनुष्य वेदोंका विद्वान् तो हो सकता है, पर यथार्थ तत्त्ववेत्ता नहीं। परंतु वेदोंका अध्ययन न होनेपर भी जिसको संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक परमात्मतत्त्वका अनुभव हो गया है, वही वास्तवमें वेदोंके तात्पर्यको जाननेवाला अर्थात् अनुभवमें लानेवाला 'वेदवेत्ता' है—'**यस्तं वेद स वेदवित्**'। भगवान्‌ने भी अपनेको वेदान्तका कर्ता अर्थात् वेदोंके निष्कर्षका वक्ता और वेदवेत्ता कहा है—'**वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्**' (गीता १५। १५)। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जिसने परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लिया है, ऐसे वेदवेत्ताकी भगवान्‌के साथ एकता (सधर्मता) हो जाती है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २)।

भगवान्‌ने गीतामें अपनेको ही संसारवृक्षका मूल 'पुरुषोत्तम' बताया है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(गीता १५। १८)

'मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

वेदमें आये 'पुरुषसूक्त' में पुरुषोत्तमका वर्णन हुआ है। गीतामें भगवान् कहते हैं कि वेदोंमें इन्द्ररूपसे जिस परमेश्वरका वर्णन हुआ है, वह भी मैं ही हूँ, इसलिये स्वर्गप्राप्ति चाहनेवाले मनुष्य यज्ञोंके द्वारा मेरा ही पूजन करते हैं—

'**त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा**
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।'

(गीता ९। २०)

वेदोंमें सकामभाववाले मन्त्रोंकी संख्या तो अस्सी हजार है, पर मुक्त करनेवाले अर्थात् निष्कामभाववाले मन्त्रोंकी संख्या बीस हजार ही है, जिसमें चार हजार मन्त्र ज्ञानकाण्डके और सोलह हजार मन्त्र उपासनाकाण्डके हैं। इसलिये गीतामें कुछ श्लोक ऐसे भी आते हैं, जिनमें वेदोंकी निन्दा प्रतीत होती है; जैसे—'**यामिमां पुष्पितां वाचम्**' (२। ४२), '**वेदवादरताः**' (२। ४२), '**कामात्मानः स्वर्गपरा''''भोगैश्वर्यगतिं प्रति**' (२। ४३), '**त्रैगुण्यविषया वेदाः**' (२। ४५), '**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते**' (६। ४४), '**एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते**' (९। २१), '**न वेदयज्ञाध्ययनैर्न''''द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर**' (११। ४८), '**नाहं वेदैर्न तपसा''''मां यथा**' (११। ५३), '**छन्दांसि यस्य पर्णानि**' (१५। १) आदि। वास्तवमें यह वेदोंकी निन्दा नहीं है, प्रत्युत वेदोंमें आये सकामभावकी निन्दा है।

संसारके मनुष्य प्रायः मृत्युलोकके भोगोंमें ही लगे रहते हैं। परंतु उनमें भी जो विशेष बुद्धिमान् कहलाते हैं, उनके हृदयमें भी नाशवान् वस्तुओंका महत्त्व रहनेके कारण जब वे वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका तथा उनके फलका वर्णन सुनते हैं, तब वे वेदोंमें श्रद्धा-विश्वास होनेके कारण यहाँके भोगोंकी इतनी परवाह न करके स्वर्ग-प्राप्तिके लिये वेदोंमें वर्णित यज्ञोंके अनुष्ठानमें लग जाते हैं। उन सकाम अनुष्ठानोंके फलस्वरूप वे लोग स्वर्गमें जाकर देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं, जो मनुष्यलोकके भोगोंकी अपेक्षा बहुत विलक्षण हैं। वे लोग स्वर्गके प्रापक जिन पुण्योंके फलस्वरूप स्वर्गमें जाते हैं, उन पुण्योंके समाप्त होनेपर वे पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं—'**ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**' (गीता ९। २१)। सकामभावके कारण ही मनुष्य बार-बार जन्मता-मरता है—'**गतागतं कामकामा लभन्ते**' (गीता ९। २१)। इसलिये भगवान्‌ने सकामभावकी निन्दा की है।

वेदोंमें सकामभावका वर्णन होनेका कारण यह है कि वेद श्रुतिमाता है और माता सब बालकोंके लिये समान होती है। संसारमें सकामभाववाले मनुष्योंकी संख्या अधिक रहती है। अतः वेदमाताने अपने बालकोंकी अलग-अलग रुचियोंके अनुसार लौकिक और पारमार्थिक सब तरहकी सिद्धियोंके उपाय बताये हैं।

भगवान्‌ने वेदोंको संसारवृक्षके पत्ते बताया है—'**छन्दांसि यस्य पर्णानि**' और वेदोंकी वाणीको 'पुष्पित' कहा है—'**यामिमां पुष्पितां वाचम्**'। यद्यपि निषिद्ध कर्मोंको करनेकी अपेक्षा वेदविहित सकाम अनुष्ठानको करना श्रेष्ठ है, तथापि उससे मुक्ति नहीं हो सकती। अतः साधकको वैदिक सकाम अनुष्ठानरूप पत्तों और पुष्पोंमें तथा नाशवान् फलमें न फँसकर संसारवृक्षके मूल—परमात्माका ही आश्रय लेना चाहिये। वेदोंका वास्तविक तत्त्व संसार या स्वर्ग नहीं है, प्रत्युत परमात्मा ही हैं—'**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**' (गीता १५। १५)। महाभारत (शान्तिपर्व ३१८। ५०)-में आया है—

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः॥

'साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़कर भी जो वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमात्माको नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदोंका बोझ ढोनेवाला है।

महर्षि दध्यङ् आथर्वणकी वैदिकी कथा

(पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

ब्राह्मण, उपनिषद् तथा बृहद्देवता आदि ग्रन्थोंमें जो कथाएँ विस्तारके साथ मिलती हैं, उनका संकेत ऋग्वेद-संहितामें प्राप्त होता है। ऋग्वेदमें ऐसे बहुत-से सूक्त उपलब्ध होते हैं, जिनमें दो या तीन पात्रोंका परस्पर कथनोपकथन विद्यमान है। उन सूक्तोंको संवाद-सूक्त कहते हैं। भारतीय साहित्यमें अनेक अङ्गोंका उद्गम इन्हीं संवादोंसे होता है। इनके अतिरिक्त सामान्य स्तुतिपरक सूक्तोंमें भी भिन्न-भिन्न देवताओंके विषयमें अनेक मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद आख्यानोंकी उपलब्धि होती है। संहितामें जिन कथाओंका केवल संकेतमात्र है, उनका विस्तृत वर्णन बृहद्देवता तथा षड्गुरुशिष्यकी कात्यायन-सर्वानुक्रमणीकी वेदार्थदीपिका-टीकामें किया गया है। निरुक्तमें भी आचार्य यास्कने तथा सायणने अपने वेदभाष्यमें उन कथाओंके रूप तथा प्राचीन आधारको प्रदर्शित किया है। अस्तु,

महर्षि दध्यङ् आथर्वणकी कथा ऋग्वेद-संहिता (१। ११६। १२, १। ११७। २२, १०। ४८। २)-में तथा शतपथ-ब्राह्मण (१४। ४। ५। १३)-में एवं बृहद्देवता (३। १८। १४)-में उपलब्ध होती है। जिसमें अनधिकारी और अधिकारीको किये गये रहस्य-विद्याके उपदेशके कुपरिणाम और सुपरिणामका उल्लेख है, जिसका सारांश यहाँ प्रस्तुत है—

एक बार देवराज इन्द्रने तपोवन-निवासी महर्षि दध्यङ् आथर्वणके पास जाकर कहा—'मैं आपका अतिथि हूँ। मेरा मनोरथ पूर्ण करनेकी कृपा करें।' महर्षिने कहा—'तुम कौन हो? तुम्हारा यहाँ आनेका प्रयोजन क्या है'? इन्द्रने कहा—'पहले आप मेरे मनोरथको पूर्ण करनेकी स्वीकृति प्रदान करें तो मैं अपना परिचय दूँ'। महर्षिने कहा—'मैं स्वीकृति प्रदान करता हूँ'। इन्द्रने कहा—'मैं देवताओंका राजा इन्द्र हूँ।' महर्षे! मैंने आपकी विद्वत्ताकी बातें पहलेसे सुन रखी हैं—'आपके समान ब्रह्मवेत्ता इस भूतलपर दूसरा नहीं है। परमतत्त्वके स्वरूपको भलीभाँति समझनेकी जिज्ञासा मुझे स्वर्गलोकसे इस भूतलपर खींच लायी है। उस गूढ रहस्यकी शिक्षा देकर मुझे कृतकृत्य कर दीजिये'। देवराजके इस प्रस्तावको सुनकर दध्यङ् आथर्वणका चित्त चंचल हो उठा। उनके सामने एक विषम समस्या आ खड़ी हुई। अतिथिके मनोरथको पूरा करनेकी पहले ही प्रतिज्ञा कर दी थी, इसका निर्वाह न करनेसे सत्यका व्रत भंग होगा और यदि इन्द्रको ब्रह्मज्ञानका उपदेश देते हैं तो अनधिकारीको शिक्षा देने-सम्बन्धी दोषका भागी होना पड़ेगा; क्योंकि अधिकारका प्रश्न बड़ा विषम हुआ करता है। शास्त्रके संरक्षण एवं विद्याके सदुपयोगके लिये ही अधिकारीकी व्यवस्था की गयी है। शिक्षा योग्य व्यक्तिको देनेपर ही फलवती होती है, अन्यथा लाभकी अपेक्षा हानिकी ही सम्भावना बनी रहती है। यही कारण है कि प्राचीन कालमें विद्वान् गुरुजन अधिकारी

शिष्यकी खोजमें अपना जीवन बिता देते थे। 'जो व्यक्ति नित्य तथा अनित्य वस्तुको जानता है, जिसे इस लोक तथा परलोकके भोगोंमें सच्चा वैराग्य है, जिसने इन्द्रियों तथा मनके ऊपर पूरी तरहसे विजय पा ली है, वही साधक उच्च उपदेशके सुननेका अधिकारी होता है।'

यद्यपि उपर्युक्त गुण इन्द्रमें नहीं हैं; क्योंकि इसके हृदयमें कामवासना तथा शत्रुको वज्रसे मार भगानेकी लालसा बनी रहती है। इसलिये अशान्त हृदयवाला व्यक्ति उच्चतम उपदेशका अधिकारी नहीं हो सकता, तथापि अपने प्रतिज्ञा-पालनके उद्देश्यको सामने रखकर उन्होंने इन्द्रको मधुविद्याका उपदेश देनेके बाद यह कहना प्रारम्भ किया—'भोगोंकी लिप्सा प्राणीके हृदयमें उसी प्रकार अनर्थकारिणी होती है, जिस प्रकार फूलोंके समूहमें छिपी हुई सर्पिणी। योगमार्गका आश्रय लेनेके लिये भोगमार्गका बहिष्कार करना पड़ेगा। स्वर्गभूमिके अनुपम भोग, नन्दनवनकी उस सुलभता, स्वच्छ फेनके समान रमणीय शय्या और नाना प्रकारके स्वादिष्ट व्यञ्जनके सेवनसे हृदयमें संतोषका उदय कभी नहीं हो सकता। श्रेय और प्रेय—ये दोनों परस्पर-विरोधी हैं। प्रेयका अवलम्बन सदा अनर्थकारक तथा क्षणभंगुर है। श्रेयका ही मार्ग कल्याणकारक है। भोगकी लिप्साके विचारसे देवताओंके अधिराज इन्द्र तथा भूतलके निकृष्ट कुत्तेमें कोई अन्तर नहीं है। इसलिये भोगकी आसक्तिको हृदयसे दूर कीजिये, तभी निःश्रेयसकी उपलब्धि हो सकती है।'

महर्षिके इन वचनोंको सुनकर देवराजको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने स्वप्नमें भी नहीं सोचा था कि मुझे कोई व्यक्ति कुत्तेके समान कहेगा। वे उन्हें मार डालनेके लिये उद्यत हुए, परंतु ज्ञानोपदेशक मानकर वे अपने क्रोधको छिपाकर बोले—'यदि आप इस विद्याका उपदेश किसी अन्य व्यक्तिको करेंगे तो मैं आपके सिरको धड़से अलग कर दूँगा।' महर्षिने इस अभिशापको शान्तमनसे सुन लिया। इन वचनोंका प्रभाव उनपर नहीं पड़ा। वे हिमाचलके समान अडिग रहे। इन्द्र वहाँसे चले गये। कुछ दिन बाद महर्षिके पास आकर अश्विनीकुमारोंने प्रार्थना की कि 'महाराज! हमें आप मधुविद्याका उपदेश करें। हम लोगोंने कठिन तपस्या करके अपने हृदयसे हिंसा तथा कामनाओंको सदाके लिये दूर कर दिया है। परोपकार हमारे जीवनका मूल मन्त्र है। कितने पंगुओंको हमने चलनेकी शक्ति, कितने अन्धोंको देखनेकी क्षमता तथा कितने जरा-जीर्ण व्यक्तियोंके शरीरसे बुढ़ापेका कलंक हटाकर नवीन यौवन प्रदान किया है। अतः आप हमें मधुविद्याके रहस्यका उपदेश दीजिये।'

उस समय भी महर्षि दध्यङ् आथर्वणके समक्ष विषम समस्या उत्पन्न हो गयी। अधिकारी व्यक्तिको उपदेशसे वञ्चित रखना महान् अपराध होगा, परंतु इन्द्रके अपराधको भुला देना भी घोर अपराध है—महर्षिके मनमें यह द्वन्द्व कुछ देरतक चलता रहा। उनके जीवनमें कितनी ही बार ऐसे अवसर आये थे और कितनी ही बार उन्होंने परमार्थकी वेदीपर अपने स्वार्थको समर्पण करनेमें विलम्ब नहीं किया; फिर भी इन्द्रके अभिशापकी चर्चा उन्होंने अश्विनीकुमारोंसे की, जिसे सुनकर अश्विनीकुमारोंने अपनी संजीवनी विद्याका परिचय देते हुए कहा कि 'हम आपके असली सिरको धड़से जोड़ देंगे। आपकी प्राणहानि भी नहीं होगी तथा हमारी वर्षोंकी साधना भी पूरी हो जायगी।' अश्विनीकुमारोंकी वाणीसे आश्वस्त होकर महर्षिने उन्हें उपदेश देना स्वीकार कर लिया। अश्विनीकुमारोंने उनके असली सिरके स्थानपर घोड़ेका सिर बैठा दिया, जिससे उन्होंने अश्विनीकुमारोंको मधुविद्याके रहस्यको समझाते हुए कहा कि—

'इस जगत्के समस्त पदार्थ आपसमें एक-दूसरेके उपकारक हैं। यह पृथिवी सब प्राणियोंके लिये मधु है तथा समस्त प्राणी इस पृथिवीके लिये मधु हैं। इस पृथिवीमें रहनेवाला तेजोमय तथा अमृतमय पुरुष विद्यमान है। ये दोनों समग्र पदार्थोंके उपकारक हैं। जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, चन्द्र, विद्युत् और आकाश—इन समग्र पदार्थोंमें भी यही नियम विद्यमान है। धर्म और सत्य भी इसी प्रकार जगत्के उपकारक होनेसे मधु हैं। धर्मके लिये समस्त प्राणी मधुरूप हैं, सत्यकी भी यही स्थिति है। यह विशाल विश्व सत्यपर ही आधारित है। सत्यके अभावमें यह संसार न जाने कब कहाँ ध्वस्त हो गया होता। सूर्य भी सत्यके बलपर अन्धकारका नाश करता है। हे नासत्यो! आप लोग इस नियमसे परिचित ही हैं कि जो वस्तु एक-दूसरेका उपकार करनेवाली होती है, वह एक मूल स्रोतसे ही प्रवाहित होती है। उसका सामान्य रूप एक समान है तथा उसके प्रलय होनेका स्थान भी एक ही है। विश्वके मूलमें परमात्मा है। अविद्याके आश्रयसे इस जगत्की सत्ता है। ज्ञानके उदय होते ही यह विश्व परमात्मामें उसी प्रकार लीन हो जाता है, जिस

प्रकार सूर्योदयके होनेपर अन्धकार। उस नित्य परमात्माको अपनी बुद्धिसे पकड़ना चाहिये; क्योंकि परमतत्त्वको पहचानना ही जीवनका मुख्य उद्देश्य है।'

इस प्रकार महर्षि दध्यङ् आथर्वणने स्वानुभूत मधुविद्याका उपदेश अश्विनीकुमारोंको दे दिया। वर्षोंकी उनकी साधना सफल हुई। पात्रकी भिन्नताके कारण एक ही कार्यके अनेक फल दीखते हैं। मधुविद्याका उपदेश अश्विनीकुमारोंके लिये असीम हर्षका साधन था, परंतु इन्द्रके हृदयमें यह उपदेश क्रोधका कारण बन गया। अभिमानी इन्द्रको यह बात बड़ी बुरी लगी कि महर्षिने उसकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर दिया। इन्द्रने अपना वज्र सँभाला और ऋषिके मस्तकपर तीक्ष्ण प्रहार कर दिया, देखते-ही-देखते क्षणभरमें ऋषिका सिर भूतलपर लोटने लगा। उधर अश्विनीकुमारोंको इस बातकी खबर मिली, तब उन्होंने अपने प्रतिज्ञा-पालनमें क्षणभर भी विलम्ब न किया। उस असली मस्तकको जिसे उन्होंने काटकर अलग रखा था, उसे ऋषिके धड़से जोड़ दिया। अश्विनीकुमारोंके इस अद्भुत कार्यको देखकर लोग विस्मित हो उठे और अधिकारी शिष्यको दी गयी विद्याके महत्त्वको समझे। उस समय अधोमुख इन्द्रने ऋषिसे कहा—'महर्षे! मेरे गुरुतर अपराधको क्षमा कर दीजिये।' महर्षिने कहा—'मेरे हृदयमें आपके इस कृत्यसे तनिक भी क्षोभ नहीं है। मैं अनधिकारीको विद्या-दानसे उसी समय पराङ्मुख हो रहा था, परंतु आपके आग्रह तथा अपनी सत्यप्रतिज्ञाकी रक्षाके लिये मैंने आपको इस मधुविद्याका उपदेश किया था'। इन्द्रने कहा—'आपने अपनी उदारतासे मुझ-जैसे अपराधीको क्षमा कर दिया। अश्विनीकुमारोंके इस असीम गुरुभक्ति तथा संजीवनी विद्याके इस अद्भुत कार्यको इस भूतलपर देखकर मेरा दर्प विलीन हो गया'। महर्षिने कहा—'इन्द्र! जिसके हृदयमें अभिमानकी आग जल रही हो, उसके हृदयमें विद्याका रहस्य नहीं टिकता। तुमने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है, इसलिये अब तुम अपराधी नहीं हो। मेरा अश्वसिर शर्मणा नामक जलाशयमें है, उसे ढूँढकर अपना कार्य सिद्ध करो।' ऋषिके उपदेशानुसार उस अश्वसिरसे इन्द्रने नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र तैयार किये और उनसे अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त की।

वैदिक महर्षि दध्यङ् आथर्वण ही पौराणिक 'दधीचि' के नामसे प्रसिद्ध हैं। वैदिक तथा पौराणिक कथाओंके कई अंशोंमें अन्तर है। वेदमें दध्यङ् आथर्वणके अश्वसिरसे वज्र बननेका उल्लेख है तो पुराणोंमें उनकी देहकी हड्डियोंसे बने वज्रके द्वारा वृत्रासुरके वधका वर्णन है। मूलतः कथामें कोई विशेष अन्तर नहीं है। महर्षिके आदर्श चरित्रका चित्रण दोनोंमें समान है, जिसके चिन्तन-मननसे मनुष्य-जीवनमें सत्यनिष्ठा, दयालुता तथा अनधिकारी और अधिकारीको रहस्य-विद्या-प्रदानके फलके विषयमें विशेष शिक्षा उपलब्ध होगी।

सत्संगकी महिमा

सज्जनोंसे संगति होनेपर क्षुद्र जन भी भाग्यवान् बन जाता है। इन्द्रकी संगति पाकर देवशुनी सरमाने पणियोंको जीता और 'सुभगा' कहलायी—

यस्य स्यात् सङ्गतं सद्भिर्भवेत् सोऽल्पोऽपि भाग्यवान्। देवशुनीन्द्रसङ्गत्या जित्वाऽभूत् सुभगा पणीन्॥

यह सरमा-पणिकथाका प्रसंग है। जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि सज्जनोंकी संगतिसे नीचका भी कितना महान् उत्थान हो जाता है।

दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन। बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः॥

(ऋक्० १०। १०८। ११)

तात्पर्य यह कि 'हे पणियो! यहाँसे आप लोग दूर देश चले जायँ, ताकि आपद्वारा चुरायी गयी ये गायें सत्यके बलपर अन्धकारका नाश करती हुई बाहर निकलें। जो गायें और भी भीतर कहीं छिपायी हों, उन्हें बृहस्पति पा लेंगे। मेधावीजन, आङ्गिरस ऋषि, सोमाभिषव करनेवाले ग्रावाण (पत्थर) यह बात जान गये हैं, अतः उनके आनेके पहले आप लोग चले जायँ तो आप लोगोंका शरीर बच सकेगा।' ऐसा सरमाने पणियोंसे उनके हितके लिये कहा।

आख्यान—

पृथ्वीकी परिक्रमा

(श्रीअमरनाथजी शुक्ल)

एक बार पार्वतीजी जब स्नान करने जाने लगीं तो उन्होंने अपने पुत्र गणेशसे कहा—'बेटा! मैं स्नान करने जा रही हूँ, तुम द्वारपर बैठे रहो, जबतक मैं स्नान करके वापस न आ जाऊँ, तुम यहीं बैठे रहना और किसीको भी अंदर न आने देना।'

एक आज्ञाकारी बालककी भाँति गणेश द्वारपर बैठ गये। अभी पार्वतीजी नहा ही रही थीं कि भगवान् शिव अपने गणोंके साथ आये और घरमें जाने लगे। गणेशने उन्हें रोककर कहा—'अभी आप लोग बाहर प्रतीक्षा करें। माताजी अंदर स्नान कर रही हैं। जब वे स्नान करके बाहर आ जायँ, तब आप अंदर जायँ।'

शिवजी गणेशजीकी इस बातकी उपेक्षा कर जब अंदर जाने लगे, तब गणेशने बलपूर्वक प्रतिरोध किया तथा अंदर नहीं जाने दिया। शिवजीको बड़ा क्रोध आया कि उनका ही बेटा उनको अपने ही घरमें नहीं जाने दे रहा है। जब गणेश किसी तरह न माने तो भगवान् शिवने क्रोधित होकर त्रिशूलसे उनका सिर ही काट लिया। अन्य गण भयसे भागे। इतनेमें पार्वतीजी स्नान करके बाहर निकलीं और गणेशकी ऐसी दशा देखीं तो दुःख एवं क्रोधसे उनकी संहारक शक्ति जाग्रत् हो उठी। उन्होंने क्रोधमें जब हुंकार किया तब उससे उत्पन्न अनेक शक्ति-देवियाँ संहार-लीला शुरू कर दीं। शिव-गण तो भयके मारे भाग खड़े हुए। नारदने आकर प्रार्थना की—'माँ जगदम्बे! आप अपनी संहारक-शक्ति समेट लें। आपके पुत्रको जीवित कर दिया जायगा।'

फिर उन्होंने शिवजीसे कहा—'भगवन्! आदिशक्ति जगदम्बाका क्रोध शान्त हो, इसके लिये आप गणेशके जीवन-हेतु कुछ कीजिये।' भगवान् शिवने एक गजशावकका सिर काट कर तत्काल गणेशके धड़से जोड़ दिया। अब धड़पर हाथीका सिर जुड़ जानेसे गणेश जीवित हो गये और उनका नाम 'गजानन' पड़ गया।

पार्वतीजीने जब पुत्रका यह रूप देखा तो कहा—'नारद! मेरे बेटेका यह रूप इसे कौन-सा देवत्व प्रदान करेगा? देवोंके बीचमें गजमुखसे इसकी क्या स्थिति होगी? ऐसी व्यवस्था करो-कराओ, जिससे सब देवोंसे पूर्व गणेशकी अग्रपूजा हो, तभी मैं अपनी संहारक-शक्ति समेटूँगी।'

नारदने कहा—'माँ भगवती! इसकी भी व्यवस्था करता हूँ। पहले आप शान्त हो जाइये।'

नारदके कहनेसे पार्वतीजीने अपनी संहारक-शक्ति समेट ली। जब सब शान्त हो गया, तब नारदने कहा—'अभी गणेशकी अग्रपूजाकी घोषणा कर देनेसे अन्य देवता नाराज हो जायँगे। अतः किसी प्रतियोगिताके द्वारा सब देवोंके आदिदेव ब्रह्माजीके सामने इसका निर्णय किया जायगा।'

पार्वतीजीने नारदके इस सुझावको स्वीकार कर लिया। ब्रह्माजीके सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि इतने सारे देवी-देवताओंमें सर्वप्रथम किसकी पूजा की जाय? कोई भी शुभकार्य करनेसे पहले किस देवताकी प्रतिष्ठा की जाय, इसकी कुछ व्यवस्था कीजिये।

देवताओंको भी यह प्रस्ताव पसंद आया। सबने कहा—'हाँ, ऐसा हो जाय तो कोई भी देवी-देवता इस बातको लेकर रुष्ट नहीं होगा कि मानवने पहले मेरी पूजा नहीं की।'

ब्रह्माने कहा—'प्रस्ताव तो उचित है नारदजी! परंतु जब आपने ऐसी समस्या रखी है तो आप ही कोई ऐसी योजना बतायें, जिससे निर्णय हो सके कि किस देवकी अग्रपूजा की जाय?'

नारदने कहा—'तात! मेरे विचारसे तो एक प्रतियोगिताका आयोजन किया जाय, उसमें जो देवी-देवता अपने-अपने वाहनपर सवार होकर इस पृथ्वीकी परिक्रमा पूरी करके सबसे पहले आपके पास आ जायँ, वे ही अग्रपूजाके अधिकारी हों।'

नारदके इस सुझावको सबने स्वीकार किया। ब्रह्माने भी इसे स्वीकृति दे दी। सब देवता अपने-अपने वाहनपर

सवार होकर पृथ्वीकी परिक्रमा करने निकल पड़े। गणेशजी अपने चूहेपर सवार हुए। वे ही सबसे पीछे रहे। इनका वाहन चूहा अन्य देवताओंकी सवारियोंका क्या मुकाबला करता, परंतु प्रतियोगितामें भाग तो लेना ही था।

नारद गणेशका उपक्रम देख रहे थे तथा विचार भी कर रहे थे कि गणेश तो वैसे भी शरीरसे भारी भरकम, लम्बोदर, ऊपरसे सिर भी हाथीका। इनका वाहन भी विचित्र—चूहा-जैसा छोटा-सा जीव। कैसे पृथ्वीकी परिक्रमा करके सफल होंगे। उधर माता पार्वतीको वचन दिया है कि उनके पुत्र गणेशकी अग्रपूजा होगी। ऐसा सोचते हुए उन्हें एक उपाय सूझा, उन्होंने गणेशसे कहा—'गणेशजी महाराज! उन बड़े-बड़े देवताओं और उनके तीव्रगामी वाहनोंके बीचमें आप अपने भारी भरकम शरीरसे इस छोटेसे चूहेपर बैठकर पृथ्वीकी परिक्रमा तो सम्भव है कर लें, पर सर्वप्रथम आनेके बारेमें भी कुछ सोचा है?'

गणेशने कहा—'नारदजी! मेरे पास जो वाहन है, मैं तो उसीका प्रयोग करूँगा। प्रथम आऊँ या न आऊँ।'

नारदने कहा—'ठीक है, कीजिये आप अपने इसी वाहनका प्रयोग, पर बुद्धिके साथ। देखिये, यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड प्रकृति और पुरुषमें समाया है और यह सब कुछ 'राम' में रमण कर रहा है। सारा विश्व-ब्रह्माण्ड राममय है। इसी नामकी परिक्रमा यह भूमण्डल कर रहा है, अतः आप इसी नामकी परिक्रमा कर लें। आपको पृथ्वी ही नहीं, समस्त ब्रह्माण्डकी परिक्रमाका फल मिलेगा।'

गणेशने कहा—'मुनिवर! आपका यह विचार उत्तम है। मैं 'राम' नामकी परिक्रमा करूँगा।' यह कहकर उन्होंने भूमिपर 'राम-राम' लिखा और अपने वाहन मूषकपर बैठकर उस नामकी तीन बार परिक्रमा करके ब्रह्माजीके समक्ष आ खड़े हुए।

ब्रह्माने देखा कि अभी किसी भी देवताका पता नहीं और गणेशने परिक्रमा पूरी कर ली। उन्हें आश्चर्य तो हुआ, पर बोले कुछ नहीं। बादमें जब सारे देवता परिक्रमा करके आये तो ब्रह्माने कहा—'देवो! आप लोग एकके बाद एक आते रहे, पर यहाँ तो गजानन—गणेश मेरे पास सबसे पहले पहुँचे, इसलिये अग्रपूजाका अधिकार इन्हें ही मिलना चाहिये।'

अन्य देवोंने आपत्ति की कि—'प्रजापते! यह कैसे हो सकता है। गणेश भला इस चूहेपर बैठकर सारी पृथ्वीकी परिक्रमा कर कैसे सबसे पहले आपके पास आ सकते हैं? लगता है ये परिक्रमा करने गये ही नहीं होंगे, प्रारम्भसे यहीं बैठे रहे होंगे।'

गणेशने उत्तर दिया—'हे देवो! मैंने छल नहीं किया है। तुम सब तो केवल पृथ्वीकी एक परिक्रमा करके आये हो और मैं तो तीनों लोकोंकी परिक्रमा तीन बार करके सबसे पहले यहाँ पहुँचा हूँ।'

जब देवोंने उसे असत्य माना तो नारदने कहा—'हे देवो! यह सत्य है। आप लोग तो भौतिक और स्थूल पृथ्वीकी परिक्रमा करते रहे, पर गणेशने तो उसकी परिक्रमा की—जिसमें मात्र यह भूमण्डल ही नहीं, अपितु त्रैलोक्य ही समाया है। जिसमें सारा विश्व-ब्रह्माण्ड रमण कर रहा है, उस 'राम' नामरूपी त्रैलोक्यकी परिक्रमा करके ये सबसे पहले पहुँचनेके अधिकारी हो गये।'

देवोंने कहा—'निश्चय ही बौद्धिक तत्त्वज्ञानसे गणेश हम सबसे श्रेष्ठ हैं और अग्रपूजाके अधिकारी भी।'

ब्रह्माने देखा कि प्रतियोगी देवताओंने भी इसे गणेशकी विजय माना है तो उन्होंने घोषणा की—'विघ्नहारी कल्याणकारी गणेश सर्वप्रथम अग्रपूजाके अधिकारी हैं। ये समस्त गणोंके गणपति भी होंगे। इनकी अग्रपूजा करके कार्य प्रारम्भ करनेवालोंका सदा कल्याण होगा। उनके कार्यमें विघ्न-बाधाएँ नहीं आयेंगी। ये विघ्नहरण कहलायेंगे।'

इस प्रकार गणेशने बुद्धि-कौशलसे अग्रपूजाका पद प्राप्त किया। (ऋग्वेद)

वेदोंमें भगवत्कृपा

(आचार्य श्रीमुंशीरामजी शर्मा)

क्लेशबहुल जगत्में कभी-कभी सुखकी स्वल्प झलकियाँ भी अविवेकीके सामने आती रहती हैं, पर दुःख तो आकर प्राणीको ऐसा दबोच लेता है, जैसे बिल्ली चूहेको। इसलिये महर्षि पतञ्जलिने कहा—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥' (योगसूत्र २। १५)

'विवेकी पुरुष सुखोंके परिणाम-ताप-संस्कारादिका सूक्ष्मरूपसे विचार कर इस जगत्के सभी दृश्योंको दुःखमय ही मानते हैं।' दृश्य भोगात्मक हैं। भोगमें सुख-दुःख दोनों ही प्राप्त होते हैं। सुख भी एकान्ततः सुख नहीं होता, वह दुःखसे मिश्रित रहता है। सुखभोगमें जो आयास और परिश्रम करने पड़ते हैं, वे स्वतः क्लेशप्रद हैं। एक सुखाभिलाषा पूरी हुई तो दूसरी उत्पन्न हो जाती है। अभिलाषाओंका अन्त नहीं, इसीलिये सुख-प्राप्तिके इस पथमें दुःखोंका अन्त नहीं। तो क्या दुःख अनन्त हैं—असीम हैं? क्या इनका अन्त नहीं हो सकता? ऋषि आश्वासन देते हुए कहते हैं—'दुःख सावधि हैं, अनन्त नहीं। जो भोगे जा चुके हैं अथवा भोगे जा रहे हैं, उन दुःखोंका त्याग नहीं किया जा सकता; किंतु भविष्यके दुःखोंका नाश किया जा सकता है—

'हेयं दुःखमनागतम्'। (योगसूत्र २। १६)

योगदर्शनके अनुसार क्लेशके पाँच रूप हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन पाँचों प्रकारके क्लेशोंका क्षेत्र 'अविद्या' ही है। क्लेश कभी प्रसुप्त हो जाते हैं, कभी कम हो जाते हैं, कभी उन्हें काट भी दिया जाता है और कभी वे अपने विशाल रूपको खुलकर प्रकट करने लगते हैं। 'अभिनिवेश' मृत्युका क्लेश है और यह क्लेशोंमें सबसे बड़ा है। यह प्रायः सभीके सिरपर चढ़ा रहता है। विश्वका कोई भी जन्मधारी प्राणी या पदार्थ इसके प्रभावसे मुक्त नहीं हो सकता। इसे स्वरसवाही कहा जाता है—बिना किसीकी चिन्ता किये यह अपने रसमें ही बहता रहता है; पर है यह भी अविद्याके क्षेत्रमें ही पनपनेवाला। ज्ञानका प्रकाश होते ही इसका प्रभाव समाप्त हो जाता है। जबतक देह है, तबतक मृत्यु भी उसकी सङ्गिनी बनी है, परंतु ज्ञानका प्रकाश मृत्युके प्रभावको ही कम नहीं करता, उसके भयको तथा उसको भी समाप्त कर देता है। भगवती श्रुतिके शब्दोंमें—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥

(अथर्ववेद १०। ८। ४४)

जगज्जालके कण-कणमें एक ही विभूति रमी हुई है। प्रत्येक प्राणीके अन्तस्तलमें उसका निवास है। वह सबके हृदयदेशमें स्थित है; अन्तर्यामिरूपमें रमकर भी सबसे पृथक् है। यह सर्वव्यापक सूक्ष्मतम सत्ता अकाम और अमृत है। व्याप्य वस्तुओंके रूप परिवर्तित होते रहते हैं,पर इस व्यापकके रूपमें कहींसे कोई भी न्यूनता नहीं, परिवर्तन नहीं। यह नित्य रसतृप्त, धीर, अजर, सतत युवा और स्वयम्भू है। जो इसे जान लेता है—ज्ञानके प्रकाशमें देख लेता है, उसे मृत्यु कभी भयभीत नहीं कर सकती। **'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति'**(शुक्लयजु० ३१। १८; श्वेताश्व० उ० ३। ८, ६। १५) जो इस भगवती पराशक्तिका दर्शन कर लेता है, वह मृत्युका अतिक्रमण कर जाता है। मृत्युसे पार जानेके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है। इसका एकमात्र उपाय है—सबके भीतर छिपी इस महाशक्तिका दर्शन।

'यह दर्शन कैसे हो? मेरी आँखें तो बाहरकी ओर लगी हैं, बाहरी दृश्योंको ही देख रही हैं। यह परमानन्दमयी शक्ति तो भीतर है। मैं भीतर कैसे प्रवेश करूँ? कैसे इसके अन्तःसामीप्यको प्राप्त करूँ?' ऋषि कहते हैं कि 'इसके नामका जप करके। यह नाम प्रणव है, नित्य-नूतन ॐकार है। ॐकारके अर्थकी भावना करते हुए जप कर। इससे तेरी चेतना बाहरसे हटकर प्रत्यक्ष भीतर चली जायगी और कृपा-भगवतीके परमानन्दमय दर्शनमें जो अन्तराय या विघ्न हैं, उनका अभाव हो जायगा। वे मिट जायँगे।' पर जप कैसे हो? अर्थके भावमें कैसे डूबा जाय?—

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥

(ऋक्० ६। ९। ६)

'क्या बोलूँ? क्या मनन करूँ? जिह्वासे जप कैसे

जपूँ? कैसे तेरा ध्यान धरूँ? ज्यों ही जप करने बैठता हूँ, त्यों ही कान बाहरके शब्दोंको सुननेमें लग जाते हैं। आँखें बंद हैं, पर वे भी अपने द्वारा पहले देखे रूपोंको देखने लगती हैं और हृदयमें प्रतिष्ठित यह ज्योति—मन विविध प्रकारकी आधियों, चिन्ताओंमें विचरण करने लगता है। नामका जप और अर्थका भावन—दोनों रुक जाते हैं।' ऋषि कहते हैं कि 'यदि ऐसा है तो भी तू धैर्य धारण कर, चिन्ता मत कर; क्योंकि तू जो कुछ कहेगा, उन प्रचेतस महादेवके लिये जैसे भी शब्दोंका प्रयोग करेगा, वे तेरा मङ्गल ही करेंगे। जैसे बने, वैसे तू जिह्वासे नाम रटता रह। मन भागता है, भागने दे। आँख और कान अपने-अपने विषयोंमें दौड़ लगाते हैं, लगाने दे। तू नामको मत छोड़—

'मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।'

(ऋक्० ८। १। १; अथर्व० २०। ८५। १)

प्रभुके अतिरिक्त तू अन्य किसीकी स्तुति मत कर। भगवद्विरुद्ध किसी प्राणी, पदार्थ तथा परिस्थितिको हृदयमें महत्त्व मत दे; क्योंकि ऐसा करनेसे तू परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा। तू एकमात्र अपने प्रभुको पकड़, उनके आश्रयका परित्याग मत कर। पुत्र जैसे अपने पिताका पल्ला पकड़ लेता है, उसी प्रकार तू भी अपने उस सच्चे माता-पिताके पल्लेको पकड़ ले। न पकड़ सके तो रो, तेरे हृदयका विलाप तेरे माता-पिताको हिला देगा और वे सब कुछ छोड़कर तुझे अपनाने, गोदमें लेनेके लिये दौड़ पड़ेंगे—

आ घा गमद्यदि श्रवत् सहस्त्रिणीभिरूतिभिः।
वाजेभिरुप नो हवम्॥ (सामवेद ७४५; ऋक्० १। ३०। ८)

प्रभुका बल अनन्त है, उनकी शक्ति असीम है, उनके रक्षण-उपाय अनेक हैं। तू रो-रोकर अपना रुदनस्वर, हृदयसे निकली आर्त-पुकार उनके निकटतक पहुँचा। वे आयेंगे—अवश्य आयेंगे, हजारों रक्षाशक्तियोंके साथ प्रकट होंगे। उनका वरद हस्त तेरे सिरपर होगा, तू निहाल हो जायगा।

क्या तू अपनेको निर्बल अनुभव करता है? तब तो अवश्य ही उन सम्बलोंके भी सम्बल, आश्रयोंके भी आश्रय, आधारोंके भी परमाधार प्रभुको पकड़। तू दीन और वे दीन-दयालु, तू निरवलम्ब और वे सर्वश्रेष्ठ आलम्बन, तू मझधारमें गोते खानेवाला और वे पार लगानेवाले हैं। उनकी कृपाका—अनुकम्पाका कोई ओर-छोर नहीं—

एतदालम्बनः श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।

(कठोपनिषद् १। २। १७)

विद्मा हि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम्। तुविमात्रमवोभिः॥

(ऋक्० ८। ८१। २)

नहि नु ते महिमनः समस्य न मघवन् मघवत्त्वस्य विद्म।
न राधसोराधसो नूतनस्येन्द्र नकिर्ददृश इन्द्रियं ते॥

(ऋक्० ६। २७। ३)

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः।

(शुक्लयजु० ३३। ७९)

प्रभुकी शक्ति अल्पज्ञ जीवके लिये अकल्पनीय है। हम सोच भी नहीं सकते कि प्रभु कहाँसे, किस प्रकार आकर हमें बचा लेते हैं, अपनी गोदमें उठा लेते हैं। उनकी भगवत्ता, उनकी महिमा, उनकी सफलतादायिनी, सिद्धिप्रदायिनी शक्ति अनिर्वचनीय है, अज्ञेय है। उनके कर्म, उनके दान, उनके विभव, उनके रक्षण और उनका ज्ञान—सब कुछ महान् है, अद्भुत है तथा विचित्र है। वे विचित्रतम वय, प्राण, जीवन एवं शक्तिके धारक हैं। वे अद्भुत रूपसे दर्शनीय हैं। उनकी प्रत्यक्ष एवं साक्षात् अभिव्यक्ति, सम्पत्ति और शक्ति सभी विचित्र हैं। उनकी समता करनेवाला यहाँ कोई भी नहीं है। मुक्तात्मा उनका सायुज्य प्राप्त करके उन-जैसे हो जाते हैं, पर सृष्टिके उद्भव, स्थिति एवं संहारकी क्षमता उनमें भी नहीं आ पाती। प्रभु भक्तोंके लिये उपास्य हैं। वे आनन्दघन हैं और सबसे बढ़कर वे कृपा-कोष हैं, दया-निधि हैं। हम अहंके शिखरपर चढ़ते हैं, गिर पड़ते हैं, पर प्रभुको पुकारते ही उनकी कृपासे उठ भी जाते हैं। कभी-कभी उनका कृपा-कोप भी अपनी तीव्र भ्रू-भङ्गिमाका निक्षेप करने लगता है, पर उसमें छिपी करुणा जीवके लिये अन्तमें कल्याणकारिणी ही सिद्ध होती है—

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे। मृळा सुक्षत्र मृळय॥
अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्। मृळा सुक्षत्र मृळय॥

(ऋक्० ७। ८९। ३-४)

'हे समह-पूजनीय! हे शुचे—पवित्र ज्योति! मैं दीनताके कारण कर्तव्यपथसे पृथक् होकर विपरीत पथपर चल पड़ा। इस विपरीत मार्गने मुझे झाड़-झंखाड़में डाल दिया है, निर्जन वनमें ला पटका है। हे

सुक्षत्र—क्षत्रोंसे त्राण करनेकी शोभन शक्ति रखनेवाले! दया करो, दया करो, इस विकट संकटसे मेरा उद्धार करो, मुझे पुनः सुपथसे ले चलो। देव! आप-जैसे आनन्दसागरके रहते भी मैं प्यासा मरूँ, यह आपके विरदके विपरीत है। दयानिधे! द्रवित हो जाओ, रूठो मत, अपनी कृपा-दृष्टिसे मुझे भी आनन्दित कर दो।'

प्रभु ही जीवके सच्चे अपने हैं अथवा यह कहना चाहिये कि वे ही एकमात्र अपने हैं, अन्य सब पराये हैं—

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन् त्वामागांसि कृणवत् सखा ते।

(ऋक्० ७। ८८। ६)

आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये। सखा सख्ये वरेण्यः॥

(ऋक्० १। २६। ३)

प्रभु अपने हैं, पिता हैं, भ्राता हैं, सखा हैं। अपना व्यक्ति अपने लिये क्या नहीं करता? पिता पुत्रके लिये, सखा सखाके लिये, भ्राता सहोदर भ्राताके लिये अपने प्राणतक होम देनेके लिये तैयार हो जाता है। यह लौकिक अनुभूति है। पारलौकिक अनुभूति तो पारमार्थिकी है, परम अर्थवाली है, विशुद्ध सत्यपर आधारित है। अपने सब कुछ प्रभु हैं। वे भी अपने भक्तके लिये सब कुछ करते हैं। इस लोकमें जो असम्भव-जैसा जान पड़ता है, उसे भी वे सम्भव कर देते हैं।

प्रभु नंगेको वस्त्रसे आच्छादित कर देते हैं, आतुर रोगीके रोगको भेषज देकर हटा देते हैं, अंधा उनकी कृपासे आँखें पा जाता है और पंगु चलनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है।

प्रभुकी इस अहैतुकी कृपाका अनुभव प्रायः सभी भक्तोंको हुआ है। व्यास, सूर तथा तुलसी आदि भक्तोंने तो उसका वर्णन भी किया है—

'मूकं करोति वाचालम्', ***'बहिरौ सुनै मूक पुनि बोलै'***, ***'पंगु चढ़इ गिरिबर गहन'*** आदि पंक्तियाँ कथनमात्र नहीं, अनुभूतिपरक हैं। वेद मुक्तस्वरमें इस अनुभूतिका उद्घोष करते हैं—

स ईं महीं धुनिमेतोररम्णात्। (ऋक्० २। १५। ५)

'प्रभु गरजती हुई महती ध्वनिको एकदम शान्त कर देते हैं।'

प्रभुका अपना सगा-सम्बन्धी यह जीव जाने-अनजाने न जाने कितने पाप करता रहता है, परंतु उनकी कृपा उसे बचाती है, प्रायश्चित्त कराती है तथा विकृतियोंसे निकाल करके सुकृतियोंकी ओर प्रेरित करती रहती है। निरन्तर अपने अन्तस्से निकलती हुई आवाजका यदि हम श्रवण और अनुगमन करते रहें तो निःसंदेह पावन पथपर चलनेके अभ्यासी बन सकते हैं। वेद-मन्त्रोंमें ऐसे ही पथके पथिक प्रार्थना करते हैं—

उत त्वं मघवञ्छृणु यस्ते वष्टि ववक्षि तत्।
यद् वीळयासि वीळु तत्॥ (ऋक्० ८। ४५। ६)

पिता! आप मघवा हैं, ऐश्वर्यकी राशि हैं। आपके कोशमें किसी प्रकारकी कमी नहीं है। भक्त जो कामना करता है, उसे आप पूर्ण कर देते हैं। आप उसकी सर्वाङ्ग-निर्बलताका उन्मूलन करके उसे बलवान् बना देते हैं।

प्रभो! आप सोम हैं, संजीवनी शक्ति हैं। आप जिसे जीवित रखना चाहते हैं, उसे कोई मार नहीं सकता। आपको स्तोत्र बड़े प्यारे हैं, भक्तिभरे स्तुति-गान जब भक्तके कण्ठसे निकलते हैं, तब आप बड़े चावसे उन्हें सुनते हैं। आप ही पालक और रक्षक हैं।

पिता! आज मैं भी पूछ रहा हूँ कि मैं कब आपके भीतर प्रविष्ट होऊँगा (आपको प्राप्त करूँगा)? कब वह अवसर आयेगा, जब मैं आप-जैसे वरणीयका अपनत्व प्राप्त करूँगा? आप ही एकमात्र यहाँ वरण करने योग्य हैं। किसीको चुनना है तो वह एक आप ही हैं। आप ही पथके विघ्नोंको भी हटानेवाले हैं। पिता! क्या आप मेरे इस हव्यको ग्रहण करेंगे? मेरी पुकारको सुनेंगे? क्या वह स्वर्णघटिका इस जीवनमें उदित होगी, जब मैं प्रसन्न-मनसे आपकी लावण्यमयी मुख-मुद्राको देख सकूँगा?

देव! आपकी खोजमें मैं इधर-उधर बहुत भटका; संतों, कवियों, साधकों और विद्वानोंके पास गया, पर सबने एक ही बात कही—'उन प्रभुकी कृपा प्राप्त करो। अनुनय-विनय करके उन्हें मना लो। उनकी कृपासे ही तुम्हारा पाप कटेगा। उन दयालु देवकी दया ही निखिल तापशमनी ओषधि है' (ऋक्० ७। ८६। २)।

क्वस्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः॥

(ऋक्० २। ३३। ७)

'हे रुद्र! दुःखी प्राणियोंके दुःखोंको दूर करनेवाले तथा पापोंको पछाड़नेवाले आपके कल्याणकारक हाथ कहाँ हैं? आपका दयाद्रवित वरद कर जिसके सिरपर पड़ गया, उसे ओषधियोंकी ओषधि मिल गयी। उसके

संतापका शमन हो गया। कितनी शीतलता है आपके हाथमें! दाहक अग्नि एकदम बुझ गयी, शान्त हो गयी।'

भक्त तड़प रहा था, पापका प्रचण्ड पावक धक्-धक् कर जल रहा था, आपके कृपा-करका स्पर्श होते ही न जाने वह कहाँ छू-मंतर हो गया। एक नहीं, अनेक बार ऐसे अनुभव हुए। क्या दिव्य शक्तियोंके प्रति मैंने कोई अपराध किया था? पिता! आप ही जानें। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि आप मेरे साथ रहते हैं और यदि कोई पाप इस मन या तनसे हो भी गया तो उससे आपने ही मुझे बचाया और समस्याओंका समाधान किया है। आपकी अमोघ क्षमा मुझे मिली है, मैं इतना तो अवश्य ही जानता हूँ।

पिता! अब एक ही आकाङ्क्षा है—यह जो कुछ है आपका है, आपका ही दिया हुआ है। जब-जब इस शरीर-यन्त्रपर दृष्टि जाती है, तब-तब आपका संकेत प्राप्त होता है। मैं चाहता हूँ, जैसे इस शरीरने आपका आभास प्राप्त किया है, वैसे ही यह मन भी अब सर्वात्मना आपका ही होकर रहे। मेरी बुद्धिको ऐसा मोड़ दीजिये, जिससे यह आपका अदभ्र प्रकाश प्राप्त करती रहे—

त्वामिद्धि त्वायवो ऽनुनोनुवतश्चरान्। सखाय इन्द्र कारवः॥

(ऋक्०८। ९२। ३३)

मेरी शिल्पकारिता, काव्यकला और बुद्धिविशारदताकी सार्थकता इसीमें है कि वह आपका ही स्तवन करे, आपके ही सामने झुके। कोई ऐसी युक्ति बतलाइये, जिससे मेरी साधना आपके मनको प्रसन्न कर सके। मेरे भीतर समर्पणमयी भावना भर दीजिये। मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। मेरे तो एकमात्र आप हैं। मेरे सर्वस्व! मेरे प्राण! अन्तराराम! मेरे शाश्वत सम्बन्धी! आप मेरे हैं और मैं आपका हूँ—

त्वमस्माकं तव स्मसि॥ (ऋक्० ८। ९२। ३२)

आज मेरी समस्त मतियाँ आपकी सङ्गिनी, सहेली, अनुचरी बननेके लिये व्याकुल हो उठी हैं। ये उमड़ रही हैं, विस्तृत व्योममें फैल रही हैं, आपका अञ्चल छूने और पकड़नेके लिये—'**आकाशस्तल्लिङ्गत्।**' (वेदान्तदर्शन १। १। २२) इस आकाशमें आपके कुछ चिह्न पाये जाते हैं, इसीलिये ये मतियाँ आकाशमें संतनित हो रही हैं। हृदयाकाश तुम्हारे मिलनका क्षेत्र कहा गया है—

'**हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्॥**'

(ब्रह्मसूत्र १। ३। २५)

इस आकाशमें ये मतियाँ आपकी खोज कर रही हैं, आपके ही स्पर्शकी आकाङ्क्षा रखती हैं। क्यों भटकाते हैं इन्हें? मेरी विनयको क्यों अनसुनी कर रहे हैं? प्यासे चातकको द्यौसे गिरनेवाले उत्सकी—आकाशकी वर्षाधाराकी आवश्यकता है। मेरी मतिको भी तुम्हारे स्पर्शकी आकाङ्क्षा है। छू दीजिये देव! छू दीजिये। यह क्यों प्यासी रहे? इस तृषितको तृप्ति प्रदान कीजिये। इसकी पिपासाको शान्त कीजिये। कृपानिधान! कृपाकी कोर इधर भी कर दीजिये। जलकी एक बूँद इसके मुखमें भी डाल दीजिये—

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन॥

(अथर्ववेद १०। ७। ३७)

देव! न जाने कितने दिन बीत गये, कितनी रातें निकल गयीं, कितने वर्ष और कितने जन्म एक-पर-एक बीतते गये; किंतु आपके दर्शनकी लालसा ज्यों-की-त्यों बनी है। यह प्राण चलता ही रहता है, यह मन विश्रामका नामतक नहीं लेता। ये जीवन-कर्म निरन्तर प्रवहमान हैं। इनकी गतिमें, इनकी क्रियामें केवल आपके दर्शनकी लगन बसी हुई है। इस असत् नाम-रूपके प्रपञ्चमें आप ही एकमात्र सत्य हैं। आपकी प्राप्तिकी आकाङ्क्षामें ही ये प्राण और मन धावमान हैं—ये मतियाँ विस्तृत हैं। इनकी गतियोंकी गति, परम गति एवं परम लक्ष्य एकमात्र आप हैं।

नह्यन्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो। त्वं न इन्द्र मृळय॥
यो नः शश्वत् पुराविथाऽमृध्रो वाजसातये। स त्वं न इन्द्र मृळय॥

(ऋक्० ८। ८०। १-२)

मेरे एकमात्र इष्टदेव! आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी त्राता नहीं है। मैं क्या, यहाँ सब-के-सब केवल आपकी ओर देख रहे हैं, आपकी ही शरण चाहते हैं। इन सबपर आक्रमण होते हैं, किंतु आपपर कोई आक्रमण कर ही नहीं सकता। आप ही सबको बचाते आये हैं। दयालु देव! दया कीजिये, मुझे भी बचाइये, अपना आश्रय दीजिये, अपनी कृपादृष्टिकी वर्षाद्वारा मेरे भी क्लेशजालकी ज्वाला शान्त कीजिये।

आख्यान— ## 'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे'

भगवान् श्रीकृष्ण अपने श्रीमुखसे धनुर्धर पार्थसे कहते हैं कि मैं प्रत्येक युगमें धर्मसंस्थापनार्थ अवतार ग्रहण किया करता हूँ—'**धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।**' यह 'धर्म' किसी संकुचित अर्थका अभिव्यञ्जक नहीं, प्रत्युत जिसके द्वारा प्राणिमात्रका धारण-पोषण हो, वही (धर्म) है।' दूसरे शब्दोंमें विश्वनाटकके सूत्रधार महाप्रभु नारायणकी विश्वको धारण, पोषण करनेवाली शक्ति ही धर्म है। अतः प्रत्येक युगमें भगवान्‌को एतदर्थ (धर्मरक्षार्थ) अवतार लेना पड़ता है। वैदिक ऋचा (ऋक्० १।२२।१८)-में भगवान्‌के इस नित्य कर्तव्यका वर्णन प्राप्त होता है और उसीकी पुष्टि निम्न सूक्तिमें की गयी है—

प्रतियुगं वपुर्धत्ते त्रिविक्रमादिकं हरिः।
गोपां मेधातिथिर्ब्रूते विष्णुं धर्मस्य रक्षकम्॥

अर्थात् भगवान् श्रीहरि युग-युगमें धर्मरक्षणार्थ वामनादिके रूपमें शरीर धारण किया करते हैं। ऋषि मेधातिथि स्वदृष्ट मन्त्रमें 'गोपा' शब्दद्वारा श्रीकृष्णरूपमें विष्णुको धर्मरक्षक बताते हैं।

उक्त सूक्तिसे जहाँ भारतीय संस्कृतिका एक प्रमुख तत्त्व अवतारवाद स्पष्टतः श्रुतिसम्मत सिद्ध हो जाता है, वहीं धर्मविरुद्ध आचरण करनेवालोंको उपदेश मिलता है कि वे अधर्मसे विरत हो जायँ। कारण, वह भगवान्‌का नित्य कार्य है। धर्मविरोधी बननेपर सीधे भगवानसे मुकाबला करना पड़ेगा, जो बड़ा महँगा सौदा होगा।

प्रस्तुत सूक्तिके पूर्वार्धमें श्रीहरिके पूर्वयुगीय शरीरधारणमें वामनावतारका उल्लेख है तो उत्तरार्धमें वैदिक ऋचाके प्रतीक-रूपसे सूचित किया गया है कि उन्हीं वामनावतारधारी श्रीहरिने द्वापरयुगमें नन्दनन्दन श्रीकृष्णका रूप धारण किया और धर्मकी रक्षा की। गोपालकृष्ण भगवान् श्रीहरिकी लीलाएँ तो अतिप्रसिद्ध और अतिव्यापक हैं। अतः उन्हें छोड़ यहाँ संक्षेपमें वामनावतारकी कथाका उल्लेखमात्र किया जा रहा है।

भगवान् वामनका ही एक नाम 'त्रिविक्रम' है, जिन्होंने तीन कदमोंमें त्रिलोकीको नाप लिया। त्रिविक्रमसम्बन्धी शरीर ही 'त्रैविक्रम' कहा जाता है। वामनावतारकी यह कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है।

भक्तराज प्रह्लादके पौत्र, असुरोंके राजा बलिको इन्द्रने पहले जीत लिया था, किंतु उसने भृगुवंशीय ब्राह्मणोंकी एकनिष्ठ सेवा करके उनके अनुग्रहस्वरूप पुनः अटूट सामर्थ्य पायी और एक बार पुनः इन्द्रपर चढाई कर दी। अबकी बार इन्द्र विवश हो गये। विष्णुने भी कह दिया कि असुरराजकी ब्राह्मणोपासनाका पुण्य इतना बलवान् है कि आपके लिये स्वर्ग छोड़कर भाग जाना ही श्रेयस्कर होगा। '**ब्रह्मतेजो बलं बलम्**'—ब्राह्मण-बलका कोई सामना नहीं कर सकता। आज असुरराज सर्वथा धर्मनिष्ठ बन गया है।

अब तो देवोंकी बड़ी दयनीय दशा हुई। उनकी ममतामयी माता ब्राह्मणी अदितिसे यह देखा नहीं गया। उसने जब अपने पति ब्राह्मणश्रेष्ठ कश्यप ऋषिसे अन्तरकी यह वेदना प्रकट की, तब उन्होंने देवोंको असुरोंसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मबल-धर्मबल अर्जन करनेकी सलाह देते हुए कहा कि 'धर्ममूर्ति', धर्मरक्षक नारायण ही यह पीड़ा दूर कर सकते हैं; क्योंकि असुरराज पूर्ण धर्मनिष्ठ हो गया है, अतः तुम्हारे पुत्र देव उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते।'

फलस्वरूप अदितिने उग्र तप किया—पयोव्रतका अनुष्ठान किया। उस पुण्यके प्रभावसे भगवान् श्रीविष्णु उनके घर वामनरूपधारी पुत्रके रूपमें प्रकट हुए और कामना पूरी करनेका वचन देकर उन्होंने माताको आश्वस्त किया।

इधर असुरराज बलि भी अश्वमेध पूरा करके विजित इन्द्र-पदको अटल बनानेके लिये ब्राह्मसंस्कृतिके प्राण यज्ञसंस्थामें लगा था कि प्रभु वामन ब्राह्मण बनकर उसके यज्ञमें पहुँचे। स्वागतके बाद बलिने अतिथिसे अभीष्ट माँगनेकी प्रार्थना की तो प्रभुने तीन पग पृथ्वी माँगी। दैत्यगुरु शुक्राचार्यने विष्णुकी यह माया ताड़ ली और असुरराजको रोका, किंतु असुरराज अपना वचन पूरा करनेपर ही अड़ा रहा। विष्णुने दो पगोंमें भूलोक एवं स्वर्गलोकको नाप लिया और पुनः इन्द्रको स्वर्गका राज्य सौंप दिया। तीसरा पग नापनेके लिये बलिके पास अपना कोई स्थान ही न रह गया।

इस तरह परम धर्मनिष्ठ होते हुए भी ब्राह्मणको तीन

पग भूमि देनेका वचन देकर भी उसे पूरा न करनेका पाप लगा असुरराजको। दैववश उससे अकस्मात् यह अधर्म हो गया और उसकी धर्मशक्ति क्षीण हो गयी। साथ ही अनुचित होनेके कारण उसने गुरु (शुक्राचार्य)-का वचन नहीं माना। फलतः जिस भार्गव ब्रह्मवंशके पौरुषसे वह इतना बड़ा बना, वह बल भी उसके हाथसे जाता रहा। अन्ततः उसे वरुणके पाशोंमें बँधकर सारे ऐश्वर्यसे हाथ धोना पड़ा।

यह अलग बात है कि इतना होते हुए भी उसकी भगवन्निष्ठा कम न हुई। फलस्वरूप पुनः वह भगवत्कृपासे ही वरुण-पाशसे मुक्त हुआ। साथ ही भगवान्ने न केवल उसे रसातलका राज्य दिया, प्रत्युत स्वयं बलिकी दरवानी भी स्वीकार की।

संक्षेपमें यही वामनावतारकी कथा है, जिसमें धर्मकी सूक्ष्म-गतिका चित्रण करते हुए अन्तिम विजय धर्मकी ही बतायी गयी है। साथ ही यह बतलाते हुए कि सर्वशक्तिमान् भगवान्ने भिक्षा-जैसी निन्दनीय वृत्ति अपनाकर भी धर्मकी रक्षा की, उनके धर्मरक्षण-कार्यकी अखण्डताकी ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। हमें भी चाहिये कि भगवान्के परम प्रिय धर्मके रक्षार्थ कमर कसकर उनका अनुग्रह पाते रहें।

प्रस्तुत कथाकी सूचक ऋचा तो एक ही है, पर वह न केवल ऋग्वेदमें, प्रत्युत चारों वेदोंकी संहिताओं एवं ब्राह्मण-ग्रन्थमें भी समान रूपसे प्राप्त होती है। ऋग्वेद (१।२२।१८।), यजुर्वेद वाजसनेयि संहिता (३४।४३), सामवेद (१६७०); अथर्ववेद (७।२६।५) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।४।६।१)-में वह ऋचा इस प्रकार उद्धृत है—

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥

तात्पर्य यह कि धर्मके धारण अर्थात् संस्थापनके लिये उस व्यापक परमात्माने पूर्वयुगमें अपने केवल तीन पगोंसे सारे ब्रह्माण्डको नाप लिया, सारे ब्रह्माण्डपर स्वामित्व पा लिया। उसी व्यापक परमात्मा विष्णुने द्वापरयुगमें धर्मरक्षार्थ गोपबाल श्रीकृष्णका रूप धारण किया। उनका वह श्रीकृष्णरूप नरकासुर-जैसे बड़े-बड़े असुरोंके लिये भी अदम्य रहा। कोई कितना ही बड़ा असुर क्यों न हो, उन्हें पराभूत नहीं कर पाता था, फिर हिंसाकी बात तो दूर ही रही।

(वेदोपदेश-चन्द्रिका)

वेदोंमें भक्तिका स्वरूप

(श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

वेदोंके सम्बन्धमें कई प्रकारकी मिथ्या और भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। इनमें एक यह भी है कि वेदोंमें भक्ति-प्रेरक भावनाएँ उतनी विशद नहीं हैं, जितनी अन्य ग्रन्थोंमें—विशेषतः मध्यकालीन भक्तोंकी वाणीमें हैं। एक धारणा यह भी है कि वेदमन्त्र इतने क्लिष्ट हैं कि सामान्य जनके लिये उनका समझना कठिन होता है। इस सम्बन्धमें हमारा निवेदन यह है कि यदि संस्कृत भाषाका और विशेषतः वैदिक संस्कृतका तनिक भी ज्ञान हो तो वेदके अधिकांश मन्त्र सहज ही समझमें आ जाते हैं। वेदोंकी संस्कृत भाषा उस संस्कृतसे कई अंशोंमें भिन्न है, जिसे हम वाल्मीकिरामायण, महाभारत और गीतामें पढ़ते हैं, उदाहरणके लिये '**देव**' शब्दका तृतीया विभक्तिका बहुवचन प्रचलित संस्कृतमें '**देवैः**' होता है, पर वेदमें प्रायः '**देवेभिः**' का प्रयोग आता है। वेदको वेदसे समझनेका और पूर्ण श्रद्धाके साथ उसका अध्ययन करनेका यदि प्रयत्न किया जाय तो निश्चितरूपसे सारी दिक्कतें दूर हो सकती हैं। गुरुजनों और विद्वत्पुरुषोंसे नम्रतापूर्वक शङ्का-निवारण तो करते ही रहना चाहिये।

भक्तिका स्वरूप

वेद वस्तुतः भक्तिके आदिस्रोत हैं। यदि हम भक्तिका स्वरूप समझ लें तो वेदोंमें वर्णित भक्तितत्त्वको समझनेमें सुगमता होगी। भक्तिका लक्षण शास्त्रोंमें इस प्रकार किया गया है—'**सा परानुरक्तिरीश्वरे**' अर्थात् परमेश्वरमें अविचल और ऐकान्तिक भावना तथा आत्मसमर्पणकी उत्कट आकांक्षाको 'भक्ति' कहा गया है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि 'भक्ति' शब्द

'**भज सेवायाम्**' धातुसे '**क्तिन्**' प्रत्यय लगकर सिद्ध होता है अर्थात् भक्ति हृदयकी उस भावनाका नाम है, जिसमें साधक जहाँ एक ओर पूर्णभावसे ब्रह्ममें अनुरक्त हो और सर्वतोभावेन अपनेको ब्रह्मार्पण करनेवाला हो, वहाँ साथ ही ब्रह्मद्वारा रचित इस सारी सृष्टिके प्रति सेवाकी भावना रखनेवाला भी हो। यजुर्वेद (३६।१८)-के शब्दोंमें—

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

वेदका भक्त कहता है—'हे समर्थ! मुझे शक्तिसम्पन्न बनाओ। मैं सब प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ और सब प्राणी मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखनेवाले हों। हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें।'

भक्ति और शक्तिका अटूट सम्बन्ध

वैदिक भक्तिकी एक और विशेषता है, आगे चलकर जिसका मध्यकालमें लोप हो गया। वह यह कि वेदमें आपको ऐसा कोई मन्त्र नहीं मिलेगा, जिसमें उपासक, साधक अथवा भक्त अपनेको अधम, नीच, पापी, खल, दुष्ट तथा पतित इत्यादि कहे अथवा प्रभुको किसी प्रकारका उपालम्भ दे। इसका कारण यह है कि वेदमें 'भक्ति' के साथ 'शक्ति' का सतत और अविच्छिन्न सम्बन्ध माना गया है। वेदके द्वारा प्रभु यह आदेश देते हैं कि निर्बल और अशक्त आत्मा सच्चा भक्त नहीं बन सकता। इसलिये वेदमें भक्त प्रभुको तेज, वीर्य (शक्ति), बल, ओज और सहनशक्तिका अजस्र भण्डार मानता हुआ उससे तेज, वीर्य (शक्ति), बल, ओज और सहनशक्तिकी कामना करता है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि॥

वेदका भक्त कितना सशक्त और कितना आत्मविश्वासी है—यह इस मन्त्रके एक अंशमें देखिये—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।

(अथर्व० ७।५०।८)

'मेरे दायें हाथमें कार्यशक्ति है और बायें हाथमें विजय है।'

प्रभुके प्रति प्रणमनकी भावना

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वेदमें ब्रह्मके प्रति साधककी प्रणमन, विनम्रता और आत्मलघुताकी भावनाका निराकरण है। निम्नलिखित मन्त्रोंमें भक्त कितनी तन्मयताके साथ विशाल प्रभुचरणोंमें अपनेको नतमस्तक हो उपस्थित करता है, इसका सम्यक् निदर्शन हुआ है—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

(अथर्व० १०।८।१)

भूत-भविष्यत-वर्तमानका जो प्रभु है अन्तर्यामी।
विश्व व्योममें व्याप्त हो रहा जो त्रिकालका है स्वामी॥
निर्विकार आनन्द-कन्द है जो कैवल्यरूप सुखधाम।
उस महान जगदीश्वरको है अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

(अथर्व० १०।७।३२)

सत्य ज्ञानकी परिचायक यह पृथ्वी जिसके चरण महान।
जो इस विस्तृत अन्तरिक्षको रखता है निज उदर समान।
शीर्षतुल्य है जिसके शोभित यह नक्षत्रलोक द्युतिमान।
उस महान जगदीश्वरको है अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

प्रभुसे हम क्या माँगें, यह निम्न मन्त्रमें देखिये—

गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुतिश्मसि॥

(ऋक्० १।८६।१०)

'हे प्रियतम! हृदय-गुहाके अन्धकारको विलीन कर दो, नाशक पापको भगा दो और हे ज्योतिर्मय! हम जिस ज्योतिको चाहते हैं वह हमें दो।'

शरणागतिकी भावना

भगवान् अशरणोंके शरण हैं। उन्हींकी कृपासे मेरा उद्धार हो सकता है—

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा।
त्वं यज्ञेष्वीड्यः॥

(ऋक्० ८।११।१)

चतुर्दिक् तुम्हीं नाथ छाये हुए हो,
मधुर रूप अपना बिछाये हुए हो।
तुम्हीं व्रत-विधाता, नियन्ता जगत्के,
स्वयं भी नियम सब निभाये हुए हो॥

प्रभो! शक्तियाँ दिव्य अनुपम तुम्हारी,
तुम्हीं दूर, तुम पास आये हुए हो।
करें हम यजन, पुण्य शुभकर्म जितने,
सभीमें प्रथम स्थान पाये हुए हो॥
तुम्हारी करें वन्दना देव! निशिदिन,
तुम्हीं इस हृदयमें समाये हुए हो॥

निराश मत हो मानव!

जिस समय मानवकी जीवन-नैया इस भवसागरमें डाँवाडोल होती है, वह निराश हो जाता है, उस समय करुणासागर भगवान् आशाकी प्रेरणा देते हैं—

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथ मा वदासि॥

(अथर्ववेद ८।१।६)

किसलिये नैराश्य छाया?

किसलिये कुम्हला रहा फूल-सा चेहरा तुम्हारा॥
तुम स्वयं आदित्य! दुर्दिनका न गाओ गान रोकर।
हे सुदिव्य महारथी! संकल्प एक महान् होकर॥
फिर बढ़ो, फिर-फिर बढ़ो, चिरतक बढ़ो, अभिमान खाकर।
फिर तुम्हारी हार भी विख्यात होगी जीत बनकर॥
फिर तुम्हारी मृत्यु गूँजेगी अमर संगीत होकर।
काल यह संदेश लाया, किसलिये नैराश्य छाया॥

प्रभुका यह विश्व रमणीय है

वेदका भक्त इसे रमणीय समझता है और वास्तविक समझता है। वह प्रभुसे प्रार्थना करता है—

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः॥

(सामवेद ६१६)

वसन्त रमणीय सखे, ग्रीष्म रमणीय है।
वर्षा रमणीय सखे, शरद रमणीय है॥
हेमन्त रमणीय सखे, शिशिर रमणीय है।
मन स्वयं भक्त बने, विश्व तो रमणीय है॥

वेदोंमें भक्तिके उदात्त और पुनीत उद्‌गार अनेक स्थलोंपर अंकित हैं। हमने यहाँपर कुछ उदाहरण ही उपस्थित किये हैं। इन्हें पढ़कर यदि हमारी वेदोंमें श्रद्धा बढ़े, उसके स्वाध्यायकी ओर प्रवृत्ति हो और वेदोंकी रक्षा तथा उसके प्रचारकी ओर हम लग सकें तो निश्चय ही हमारा अपना, देशका और विश्वका कल्याण होगा। मङ्गलमय भगवान् ऐसी कृपा करें।

आख्यान—

ब्रह्म क्या है?

गर्ग-गोत्रमें उत्पन्न बलाकाके पुत्र बालाकि नामके एक प्रसिद्ध ब्राह्मण थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन तो किया ही था, वे वेदोंके अच्छे वक्ता भी थे। उन दिनों संसारमें सब ओर उनकी बड़ी ख्याति थी। वे उशीनर देशके निवासी थे; परंतु सदा विचरण करनेके कारण कभी मत्स्यदेशमें, कभी कुरु-पाञ्चालमें और कभी काशी तथा मिथिला-प्रान्तमें रहते थे। इस प्रकार वे सुप्रसिद्ध गार्ग्य (बालाकि) एक दिन काशीके विद्वान् राजा अजातशत्रुके पास गये और अभिमानपूर्वक बोले—'राजन्! आज मैं तुम्हें ब्रह्मतत्त्वका उपदेश करूँगा!' इसपर प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'आपकी इस बातपर हमने आपको एक सहस्र गौएँ दीं। आज आपने हमारा गौरव राजा जनकके समान कर दिया। अतः इन्हें स्वीकार करके हमें ब्रह्मतत्त्वका शीघ्र उपदेश करें।'

इसपर गार्ग्य बालाकिने कहा कि 'राजन्! यह जो सूर्यमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं, नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। निश्चय ही यह सबसे महान् शुक्लाम्बरधारी तथा सर्वोच्च स्थितिमें स्थित सबका मस्तक है। मैं इसकी इसी प्रकार उपासना करता हूँ। इसी प्रकार उपासना करनेवाला कोई दूसरा मनुष्य भी सबसे ऊँची स्थितिमें स्थित हो जाता है।'

तब गार्ग्य बालाकि पुनः बोले—'यह जो चन्द्रमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, मैं इसकी ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर अजातशत्रुने कहा—'नहीं, नहीं, इस विषयमें आप संवाद न करें। यह सोम राजा है और अन्नका आत्मा है। इसकी इस प्रकार उपासना करनेवाला व्यक्ति मुझ-जैसा ही अन्नराशिसे सम्पन्न हो जाता है।'

अब वे गार्ग्य बोले—'यह जो विद्युन्मण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।'

अजातशत्रुने इसपर यही कहा कि 'नहीं, नहीं, इस विषयमें आप संवाद न करें, यह तेजका आत्मा है। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह तेजस्वी हो जाता है।'

इसी प्रकार गार्ग्य क्रमशः मेघ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, दर्पण, प्रतिध्वनि, पदध्वनि, छायामय पुरुष, शरीरान्तर्वर्ती पुरुष, प्राण तथा उभयनेत्रान्तर्गत पुरुषको ब्रह्म बतलाते गये और अजातशत्रुने इन सबको ब्रह्मका अङ्ग तथा ब्रह्मको इनका अङ्गी सिद्ध किया। अन्तमें हारकर बालाकिने चुप्पी साध ली और राजा अजातशत्रुको अपना गुरु स्वीकार किया तथा उनके सामने समिधा लेकर वे शिष्यभावसे उपस्थित हुए।

इसपर राजा अजातशत्रुने कहा—'यदि क्षत्रिय ब्राह्मणको शिष्य बनाये तो बात विपरीत हो जायगी, इसलिये चलिये, एकान्तमें हम आपको ब्रह्मका ज्ञान करायेंगे।' यों कहकर वे बालाकिको एक सोये हुए व्यक्तिके पास ले गये और उसे 'ओ ब्रह्मन्! ओ पाण्डरवासा! ओ सोम राजा!' इत्यादि सम्बोधनोंसे पुकारने लगे, पर वह पुरुष चुपचाप सोया ही रहा। जब उसे दोनों हाथोंसे दबाकर जगाया, तब वह जाग गया। तदनन्तर राजाने बालाकिसे पूछा—'बालाके! यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब सोया हुआ था तब कहाँ था? और अब यह कहाँसे आ गया?' किंतु गार्ग्य यह कुछ न जान सके।

अजातशत्रुने कहा—'हिता' नामसे प्रसिद्ध बहुत-सी नाड़ियाँ हैं। ये हृदयकमलसे सम्बद्ध हैं और वहींसे निकलकर सम्पूर्ण शरीरमें फैली हुई हैं। यह पुरुष सोते समय उन्हीं नाड़ियोंसे स्थित रहता है। जैसे क्षुरधानमें छूरा रखा रहता है, उसी प्रकार शरीरान्तर्गत हृदयकमलमें इस परम पुरुष परमात्माकी उपलब्धि होती है। वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ अनुगत सेवककी भाँति उसका अनुसरण करती हैं। इसके सो जानेपर ये सारी इन्द्रियाँ प्राणमें तथा प्राण इस आत्मामें लीन—एकीभावको प्राप्त हो जाता है।'

'यही आत्मतत्त्व है। जबतक इन्द्रको इस आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं था, तबतक वे असुरोंसे हारते रहे। किंतु जब वे इस रहस्यको जान गये, तब असुरोंको पराजित कर सम्पूर्ण देवताओंमें श्रेष्ठ हो गये, स्वर्गका राज्य तथा त्रिभुवनका आधिपत्य पा गये। इसी प्रकार जो विद्वान् इस आत्मतत्त्वको जान लेता है, उसके सारे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं तथा उसे स्वाराज्य, प्रभुत्व तथा श्रेष्ठत्वकी प्राप्ति होती है।' (बृहदारण्यक०) [कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्]

वैदिक ऋचाओंमें भगवत्तत्त्व-दर्शन

(श्रीगङ्गाधरजी गुरु, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

भगवान् जगन्नाथ उत्कलके परमाराध्य देवता हैं। वैदिक ऋचाओंमें भगवान् जगन्नाथके तत्त्व-दर्शन गर्भित हैं, जो अनन्य-साधारण तथा अनिर्वचनीय हैं। वस्तुतः जगन्नाथजीके रहस्यका समुद्घाटन साधारण मनुष्यके पक्षमें सहज-साध्य नहीं है। किस कालसे किस कारण जगन्नाथजी दारुब्रह्मरूपमें पूजित होते हैं एवं दारुविग्रहके रूपसे पूजित होनेका सार मर्म क्या है, यह निःसंदेहभावसे स्थिर निर्णय करना अत्यन्त गहन व्यापार है। भगवदीय तत्त्वोंका भक्तिपरक विवेचन ऋग्वेद (१०।१५५।३)-में वर्णित है—

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
तदा रभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥

वेद-भाष्यकार सायणाचार्यने उक्त मन्त्रका जो अर्थ अपने भाष्यमें किया है, उसका हिन्दीमें भाव इस प्रकार है—'जो अपौरुषेय पुरुषोत्तम नामवाले दारुमय देवता सिन्धुतीरमें जलके ऊपर भासमान हैं—हे स्तोता! तुम उन्हीं दारुका अवलम्बन करो। उन्हीं समुपास्य दारुमय देवताकी सहायता एवं करुणासे तुम परम उत्कृष्ट वैष्णवलोकको प्राप्त हो।'

उस परम तत्त्वके सम्बन्धमें ऋग्वेद (१०।८१।४)-में कहा गया है—

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु
तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥

'वह कौन-सा वन है? वह कौन वृक्ष है? जिससे

आकाश और पृथ्वी निर्मित है। मनीषी लोग जिज्ञासा करें तथा अपने मनमें ही प्रश्न करें कि अधिष्ठान क्या है जो भुवनोंको धारण कर रहा है?'

बीजसे वृक्ष और वृक्षसे ही बीजकी सृष्टि होती है। बीज और वृक्ष तथा सूक्ष्म और स्थूल घनिष्ठतासे सम्पृक्त हैं। विश्वसृष्टिरूप विशाल वृक्षके मूलमें ही ब्रह्म बीज है। मूलसृष्टिके मूलमें सूक्ष्म-तत्त्व निहित है। व्यष्टिका समाहार समष्टि है, वृक्षका समाहार ही वन है, वृक्षके बिना वन असम्भव है। सृष्टि-वृक्षके अवबोधके लिये वृक्षकी सहायता अनिवार्य है, सृष्टि-वृक्षको समझनेके लिये दारुधारणा अपरिहार्य है। सृष्टिदारुके मूलमें ब्रह्मदारु है। असीम रहस्योंसे भरे हुए इस संसारकी एक वृक्षके रूपमें कल्पना करना युक्तियुक्त, सुबोध्य, सहजानुभव्य तथा अपूर्व कवित्वसमन्वित है। वैदिक ऋचामें इस दृश्य जगत्का वर्णन कठोपनिषद् (२।३।१)-के अनुसार इस प्रकार किया गया है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ एतद्वै तत्॥

'यह प्रत्यक्ष जगत् है सनातन पीपलका वृक्ष, जिसका मूल ऊपरकी ओर और शाखा नीचेकी ओर है। इस वृक्षके मूल एक विशुद्ध तत्त्व ईश्वर हैं। वे ही ब्रह्म हैं। वे ही अश्वत्थके नामसे कथित हैं। उस ब्रह्ममें सभी लोक आश्रित हैं, कोई उसे अतिक्रम कर नहीं सकता। यही है वह परमात्मतत्त्व।'

संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षका मूल ऊर्ध्वमें है अर्थात् ब्रह्म ही संसारका मूल है। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके १६४ वें सूक्तके २०वें मन्त्रमें वर्णित है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

'एक वृक्षपर दो पक्षी (जीवात्मा तथा परमात्मा) बन्धुभावसे विराजमान हैं। उन दोनोंमें एक फलको भोगता है एवं दूसरा नीरव होकर साक्षीभावसे फल न खाकर अवस्थान करता है।'

संसार-वृक्षके मूलमें ब्रह्मबीज है, सूक्ष्म-ब्रह्मसे ही विशाल ब्रह्माण्डका परिप्रकाश होता है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों संसार-वृक्षमें विराजित हैं। जीवात्मा वहीं आसक्त है, किंतु परमात्मा अनासक्त है। भक्ति-मुक्तिफलदायक परमज्ञान कल्पतरु ब्रह्मदारु ही दारुब्रह्म जगन्नाथरूपमें नित्य नमस्य, नित्य वन्दनीय तथा नित्य उपास्य हैं। सृष्टिके मूलमें जगन्नाथ हैं एवं सृष्टिमें सर्वत्र वे अनासक्तभावसे विराजमान हैं। जगन्नाथमें ब्रह्मदारुकी उपमा सर्वतोभावसे सार्थक-सफल है। स्वभावतः ब्रह्मदारु विपरीत-भावसे ही दारुब्रह्मके रूपमें श्रीक्षेत्रपर विराजित हैं। भक्ति और मुक्तिरूप फलद्वय उनके सम्मुख अदृश्यभावसे सतत संनिहित हैं। उनका पूर्ण महत्त्व, यथार्थरूप साधारण लक्ष्यसे अदृश्य है। स्थितधी, ज्ञानी तथा साधक भक्तजन ही अवाङ्मनसगोचर इन्द्रियातीत मुक्तिविधायक दिव्यरूपका दर्शन कर सकते हैं और उस अनिर्वचनीय महत्त्वकी उपलब्धि कर सकते हैं।

उत्कलमें दारुब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् जगन्नाथकी पूजा वैदिक युगसे अबतक होती आ रही है। भगवान् जगन्नाथ तो जगत्प्रसिद्ध वेदवेद्य परात्पर प्रभु हैं। वैदिक ऋचाके अनुसार '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'—सर्वत्र भगवच्चिन्तन ही भगवदीय तत्त्वोंका अभिप्राय है। भगवान् जगन्नाथ व्यक्ताव्यक्त दोनों ही हैं। वे अनिर्वाच्य हैं, वेदवेद्य परम ईश्वर हैं, साम्य मैत्रीके प्रकृष्ट देवता हैं और श्रीक्षेत्रके निवासी हैं। जगन्नाथ-धाममें निम्न वैदिक ऋचाएँ अक्षरशः सार्थक, सफल और शाश्वत सत्य सिद्ध हैं—

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतः सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्॥
समानी व आकूतीः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

(अथर्ववेद ६।६४।१—३; ३।३०।१, ६)

राजा, प्रजा, धनी, निर्धन, ज्ञानी और निर्बोध सभी लोग प्रभुकी करुणाका लाभ करनेमें सक्षम हैं। आब्राह्मणचाण्डाल सभी एक साथ ही एकत्र जगदीश-महाप्रसादका सेवन करते हैं। शबर और ब्राह्मण उनके महाप्रसादके लिये घनिष्ठ मैत्रीपाशसे आबद्ध हैं। भगवान् जगन्नाथजी साम्यमैत्रीके श्रेष्ठ देवता हैं। सम्मिलित होकर ही जगदीश-रथयात्राके दिन असंख्य व्यक्ति रथको खींचते हैं। श्रीजगदीशरथयात्रा-तत्त्व वैदिक समयकी भावनापर ही आधारित है।

भारतीय संस्कृतिमें रथका प्रचलन अनादि-अनन्तकालसे होता आ रहा है। वैदिक ऋचा (यजु० ३३।४३)-में भगवान् सूर्यका सप्ताश्वयुक्त रथ इस प्रकार वर्णित है—

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

रथासीन जगन्नाथ (वामन)-के दर्शनसे पुनर्जन्मसे छुटकारा मिलता है—

मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥

(कठोपनिषद् २।२।३)

अर्थात् शरीरके भीतर (हृदयमध्यमें) सर्वश्रेष्ठ भजनीय भगवान्‌की सभी देवता उपासना करते हैं। हृदयरूपी रथमें ही वामन (जगन्नाथभगवान्) निवास करते हैं।

मनुष्यके अपने हाथ ही भगवान् हैं—भगवान् जगन्नाथ। वैदिक ऋचा हैं—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजो ऽयं शिवाभिमर्शनः॥

(ऋक्० १०।६०।१२)

अर्थात् दुष्कर-से-दुष्कर कार्य करनेमें भी समर्थ यह मेरा हाथ भगवान्‌से भी श्रेष्ठ है, जिसके द्वारा कर्म करनेपर भगवान्‌को भी फल देनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। यह मेरा हाथ विश्वके समस्त रोगोंका औषध और सभी समस्याओंका समाधान है। जिसका भी यह स्पर्श कर देता है, वह शिव हो जाता है।

संसारके सर्वपुरातन ग्रन्थ तो वेद ही हैं। भगवत्तत्त्व-दर्शनका ऋग्वेदके निम्न ऋचामें सुन्दर विवेचन हुआ है—

तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

(ऋक्० १०।१२९।३)

भगवदीय तत्त्वोंका सम्यक् यथार्थ वर्णन करनेमें सरस्वतीकी लेखनी भी दुर्बलताको वरण करती है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म होनेपर भी प्रभु अपने महनीय विग्रहमें अनन्त विस्तृत लोकोंको धारण करते हैं—

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईश० १)

भगवान् जगन्नाथका परमतत्त्व शुद्ध मनसे ही इस प्रकार जाना जा सकता है—इस जगत्‌में एकमात्र पूर्णानन्दभगवान् ही परिपूर्ण हैं, सब कुछ उन्हींका स्वरूप है; यहाँ भगवान्‌से भिन्न कुछ भी नहीं है। इसके अतिरिक्त जो यहाँ विभिन्नताकी झलक देखता है, वह मनुष्य मृत्युको प्राप्त होता है, अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥

(कठोपनिषद् २।१।११)

अन्तमें परब्रह्म श्रीजगन्नाथके श्रीचरणोंमें नमन करते हुए मैं अपनी हार्दिक शुभाशंसाके साथ इस लेखका उपसंहार कर रहा हूँ—

'कल्याण' स्याङ्करत्नं परमहितकरं वेदविद्याकथाख्यं
कल्याणं नो विदध्यात् परमतुलधनं सौख्यसौभाग्यदं वै।
भक्तिज्ञानप्रसारैर्भवभयकलुषव्यामोहं नाशयन् वो
विप्राणां मानवानां जयमिह तनुतां वेदवेद्योऽवतारी॥

सद्भक्तिज्ञानवैराग्यधर्माचारकथान्वितः ।
'कल्याण'स्यैव वेदाङ्को जयताच्छाश्वतीः समाः॥
कल्याणकामिभिः सर्वैस्तुष्टिपुष्टिप्रियैस्तथा।
परमामृतसोपानं सेव्यं 'कल्याण'मिष्टदम्॥
त्रिसप्ततितमे वर्षे 'वेद-कथाङ्क' आगतः।
जनलोकस्य सर्वेषां कुर्यादज्ञाननाशनम्॥
वेदवेद्यो जगन्नाथः पायाद्योगेश्वरो हरिः।
'वेद-कथाङ्क' एवायं तनोतु सर्वमङ्गलम्॥
सततं जयताद् धर्मः सज्जनानन्दवर्धकः।
कल्मषं लोपमायातु वेदाङ्कोऽस्तु च सार्थकः॥

'कल्याण'का वेद-कथा संज्ञक ७३वें वर्षका अङ्क 'कल्याणकारी रत्न है। परम श्रेष्ठ तथा अतुल्य वित्त है, जो प्रमोद और सौभाग्यको देनेवाला है। यह अङ्क हम सभीके लिये कल्याणकारी हो। भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके प्रसारसे भवभयके साथ पापरूपी व्यामोह-जालका विनाशपूर्वक वेदवेद्य-अवतार-पुरुष हम विप्रों तथा सभी प्रकारके मनुष्य—प्राणियोंको विजय प्रदान करें।

समस्त कल्याणाभिलाषियों तथा संतुष्टि-पुष्टिप्रेमियोंको चाहिये कि वे श्रेष्ठ एवं अमृत-सोपान अभीष्टदायक 'कल्याण'का ही पठन-पाठन करें।

७३वें वर्षमें प्रकाश्यमान यह '**वेद-कथाङ्क**' जनलोकके अथवा समस्त जनोंके अज्ञानोंका नाश करे। वेदवेद्य जगदीश्वर, योगेश्वर श्रीहरि हमारी रक्षा करें। 'कल्याण'का '**वेद-कथाङ्क**' सभीका मङ्गल करे। सनातन-धर्म निरन्तर जययुक्त हो एवं (समस्त अधर्मादिकृत) पापोंका लोप हो जाय और सज्जनोंके आनन्दको बढ़ानेवाला यह '**वेद-कथाङ्क**' सार्थक हो।

[प्रेषक—श्रीरवीन्द्रनाथजी गुरु]

आख्यान—

मैत्रेयीको ज्ञानोपदेश

महर्षि याज्ञवल्क्यके दो स्त्रियाँ थीं। एकका नाम था मैत्रेयी और दूसरीका कात्यायनी। दोनों ही सदाचारिणी और पतिव्रता थीं, परंतु इन दोनोमें मैत्रेयी तो परमात्माके प्रति अनुरागिणी थीं और कात्यायनीका मन संसारके भोगोंमें रहता था। महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीको अपने पास बुलाकर कहा कि 'हे मैत्रेयी! मैं अब इस गृहस्थाश्रमको छोड़कर संन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ। अतः मेरे न रहनेपर तुम दोनों आपसमें झगड़ा न कर सुखपूर्वक रह सको, इसलिये मैं चाहता हूँ कि तुम दोनोंमें घरकी सम्पत्ति आधी-आधी बाँट दूँ।'

स्वामीकी बात सुनकर मैत्रेयीने अपने मनमें सोचा कि 'मनुष्य अपने पासकी किसी वस्तुको तभी छोड़नेको तैयार होता है, जब उसकी पहली वस्तुकी अपेक्षा कोई अधिक उत्तम वस्तु प्राप्त होती है। महर्षि घर-बारको छोड़कर जा रहे हैं, अतएव इनको भी कोई ऐसी वस्तु मिली होगी जिसके सामने घर-बार तुच्छ हो जाते हैं, अवश्य ही इनके जानेमें कोई ऐसा बड़ा कारण होना चाहिये।' वह परम वस्तु जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति लाभकर अमृतत्वको—परमात्माको पाना ही है।' यों विचार करके मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! मुझे यदि धन-धान्यसे परिपूर्ण समस्त पृथ्वी मिल जाय तो क्या उससे मैं अमृतत्वको पा सकती हूँ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, नहीं! धनसहित पृथ्वीकी प्राप्तिसे तेरा धनिकों-सा जीवन हो सकता है, परंतु उससे अमृतत्व कभी नहीं मिल सकता!' मैत्रेयीने कहा—'जिससे मेरा मरना न छूटे, उस वस्तुको मैं लेकर क्या करूँगी? हे भगवन्! आप जो जानते हैं (जिस परम धनके सामने आपको यह घर-बार तुच्छ प्रतीत होता है और बड़ी प्रसन्नतासे आप सबका त्याग कर रहे हैं), वही परम धन मुझे बतलाइये।'

'मैत्रेयी! पहले भी तू मुझे बड़ी प्यारी थी, तेरे इन वाक्योंसे वह प्रेम और भी बढ़ गया है। तू मेरे पास आकर बैठ, मैं तुझे अमृतत्वका उपदेश करूँगा। मेरी बातोंको भलीभाँति सुनकर उनका मनन कर।' इतना कहकर महर्षि याज्ञवल्क्यने प्रियतमरूपसे आत्माका वर्णन आरम्भ करते हुए कहा—

'मैत्रेयी! (स्त्रीको) पति पतिके प्रयोजनके लिये प्रिय नहीं होता, परंतु आत्माके प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है।'

'इस 'आत्मा' शब्दका अर्थ लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है, कुछ कहते हैं कि आत्मासे यहाँपर शरीरका लक्ष्य है—यह शिश्नोदरपरायण पामर पुरुषोंका मत है। कुछ कहते हैं कि जबतक अंदर जीव है तभीतक संसार है, मरनेके बाद कुछ भी नहीं; इसलिये यहाँ इसी जीवका लक्ष्य है—यह पुनर्जन्म न माननेवाले जडवादियोंका मत है। कुछ लोग 'आत्माके लिये' का अर्थ करते हैं कि जिस वस्तु या जिस सम्बन्धीसे आत्माकी उन्नति हो, आत्मा अपने स्वरूपको पहचान सके, वही प्रिय है। इसीलिये कहा गया है—'**आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्**'—यह तीव्र मुमुक्षु पुरुषोंका मत है।'

कुछ तत्त्वज्ञोंका मत है कि 'आत्माके लिये' इस अर्थमें कहा गया है कि इसमें आत्मतत्त्व है, यह आत्माकी एक मूर्ति है। मित्रकी मूर्तिको कोई उस मूर्तिके लिये नहीं चाहता, परंतु चाहता है मित्रके लिये। संसारकी समस्त वस्तुएँ इसीलिये प्रिय हैं कि उनमें केवल एक आत्मा ही व्यापक है या वे आत्माके ही स्वरूप हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

'अरे! स्त्री स्त्रीके लिये प्रिय नहीं होती, परंतु वह आत्माके लिये प्रिय होती है, पुत्र पुत्रोंके लिये प्रिय नहीं होते, परंतु वे आत्माके लिये प्रिय होते हैं, धन धनके लिये प्यारा नहीं होता, परंतु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, ब्राह्मण ब्राह्मणके लिये प्रिय नहीं होता, परंतु वह आत्माके लिये प्रिय होता है। क्षत्रिय क्षत्रियके लिये प्रिय नहीं होता, परंतु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, लोक लोकोंके लिये प्रिय नहीं होते, परंतु आत्माके लिये प्रिय होते हैं, देवता देवताओंके लिये प्रिय नहीं होते, परंतु आत्माके लिये प्रिय होते हैं, वेद वेदोंके लिये प्रिय नहीं हैं, परंतु आत्माके लिये प्रिय हैं। अरी मैत्रेयी! सब कुछ उनके लिये ही प्रिय नहीं होते, परंतु सब आत्माके लिये ही प्रिय होते हैं। यह परम प्रेमका स्थान आत्मा ही वास्तवमें दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निरन्तर ध्यान करने योग्य है। हे मैत्रेयी! इस आत्माके दर्शन, श्रवण, मनन और साक्षात्कारसे ही सब कुछ जाना जा सकता है। यही ज्ञान है।'

इसके पश्चात् महर्षि याज्ञवल्क्यजीने सबका आत्माके साथ अभिन्न रूप बतलाते हुए इन्द्रियोंका अपने विषयोंमें अधिष्ठान बतलाया और तदनन्तर ब्रह्मकी अखण्ड एकरस सत्ताका वर्णन कर अन्तमें कहा कि—'जबतक द्वैतभाव होता है तभीतक दूसरा दूसरेको देखता है, दूसरा दूसरेको

सूँघता है, दूसरा दूसरेको सुनता है, दूसरा दूसरेको बोलता है; दूसरा दूसरेके लिये विचार करता है और दूसरा दूसरेको जानता है, परंतु जब सर्वात्मभाव प्राप्त होता है, जब समस्त वस्तुएँ आत्मा ही हैं—ऐसी प्रतीति होती है, तब वह किससे किसको देखे? किससे किसको सूँघे? किससे किसके साथ बोले? किससे किसका स्पर्श करे तथा किससे किसको जाने? जिससे वह इन समस्त वस्तुओंको जानता है, उसे वह किस तरह जाने?'

'वह आत्मा अग्राह्य है इससे उसका ग्रहण नहीं होता; वह अशीर्य है इससे वह शीर्ण नहीं होता; वह असंग है इससे कभी आसक्त नहीं होता; वह बन्धनरहित है इससे कभी दुःखी नहीं होता और उसका कभी नाश नहीं होता। ऐसे सर्वात्मरूप, सबके जाननेवाले आत्माको कोई किस तरह जाने? श्रुतिने इसीलिये उसे 'नेति', 'नेति' कहा है, वह आत्मा अनिर्वचनीय है। मैत्रेयी! बस तेरे लिये यही उपदेश है, यही तो मोक्ष है!'

इतना कहकर याज्ञवल्क्यजीने संन्यास ले लिया और वैराग्यके प्रताप तथा ज्ञानकी उत्कट पिपासाके कारण स्वामीके उपदेशसे मैत्रेयी परम कल्याणको प्राप्त हुईं!

(बृहदारण्यकोपनिषद्के आधारपर)

आख्यान—

रैक्वका ब्रह्मज्ञान

एक बड़ा दानी राजा था, उसका नाम था जानश्रुति। उसने इस आशयसे कि लोग सब जगह मेरा ही अन्न खायेंगे, सर्वत्र धर्मशालाएँ बनवा दी थीं और अन्न-सत्रादि खोल रखे थे। एक दिन रात्रिमें कुछ हंस उड़कर राजाके महलकी छतपर जा बैठे। उनमेंसे पिछले हंसने अगलेसे कहा—'अरे ओ भल्लाक्ष! ओ भल्लाक्ष! देख! जानश्रुतिका तेज द्युलोकके समान फैला हुआ है। कहीं उसका स्पर्श न कर लेना, अन्यथा वह तुझे भस्म कर डालेगा।'

इसपर दूसरे (अग्रगामी) हंसने कहा—'बेचारा यह राजा तो अत्यन्त तुच्छ है; मालूम होता है तुम ब्रह्मज्ञानी रैक्वको नहीं जानते। इसीलिये इसका तेज उसकी अपेक्षा अत्यल्प होनेपर भी तुम इसकी इस प्रकार प्रशंसा कर रहे हो।' इसपर पिछले हंसने पूछा—'भाई! ब्रह्मज्ञानी रैक्व कैसा है?' अगले हंसने कहा—'भाई! उस रैक्वकी महिमाका क्या बखान किया जाय! जुआरीका जब अनुकूल पासा पड़ता है, तब जैसे वह अपनी बाजी जीत लेता है, इसी प्रकार जो कुछ प्रजा शुभ कार्य करती है, वह सब रैक्वको प्राप्त हो जाता है। वास्तवमें जो तत्त्व रैक्व जानता है, उसे जो भी जान लेता है, वह वैसा ही फल प्राप्त करता है।'

जानश्रुति इन सारी बातोंको ध्यानसे सुन रहा था। प्रातःकाल उठते ही उसने अपने सेवकोंको बुलाकर कहा—'तुम ब्रह्मज्ञानी रैक्वके पास जाकर कहो कि राजा जानश्रुति उनसे मिलना चाहता है।' राजाके आज्ञानुसार सर्वत्र खोज हुई, पर रैक्वका कहीं पता न चला। राजाने विचार किया कि इन सबने रैक्वको ग्रामों तथा नगरोंमें ही ढूँढ़ा है और उनसे पुनः कहा कि 'अरे जाओ, उन्हें ब्रह्मवेत्ताओंके रहने योग्य स्थानों (अरण्य, नदीतट आदि एकान्त स्थानों)-में ढूँढ़ो।'

अन्तमें वे एक निर्जन प्रदेशमें गाड़ीके नीचे बैठे शरीर खुजलाते हुए मिल ही गये। राजपुरुषोंने पूछा—'प्रभो! क्या रैक्व आप ही हैं?' मुनिने कहा—'हाँ, मैं ही हूँ।'

पता लगनेपर राजा जानश्रुति छः सौ गौएँ, एक हार और सामग्रियोंसे भरा हुआ रथ लेकर उनके पास गया और बोला—'भगवन्! मैं यह सब आपके लिये लाया हूँ। कृपया आप इन्हें स्वीकार कीजिये तथा जिस देवताकी आप उपासना करते हैं, उसका मुझे उपदेश कीजिये।' राजाकी बात सुनकर मुनिने कहा—'अरे शूद्र! ये गायें, हार और रथ तू अपने ही पास रख।' यह सुनकर राजा घर लौट आया और पुनः दूसरी बार एक सहस्र गायें, एक हार, एक रथ एवं अपनी पुत्रीको लेकर मुनिके पास गया तथा हाथ जोड़कर कहने लगा—'भगवन्! आप इन्हें स्वीकार करें और अपने उपास्यदेवताका मुझे उपदेश दें।'

मुनिने कहा—'हे शूद्र! तू फिर ये सब चीजें मेरे लिये लाया? क्या इनसे ब्रह्मज्ञान खरीदा जा सकता है?' राजा चुप होकर बैठ गया। तदनन्तर राजाको धनादिके अभिमानसे शून्य जानकर उन्होंने ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। जहाँ रैक्व मुनि रहते थे, उस पुण्य प्रदेशका नाम रैक्वपर्ण हो गया।

(छान्दोग्य० ४।१-२)

वेद और भारतीयताका उपास्य-उपासक एवं मैत्रीभाव

(म० म० पं० श्रीविश्वनाथजी शास्त्री दातार, न्यायकेसरी, नीतिशास्त्रप्रवीण)

यूरोपीयकुशिक्षया कवलिते धर्माश्रिते भारते
लोके मानसकार्यकर्मवचनैर्दासेयतामापिते।
दुःशिक्षां व्यपनीय धर्मधनुषोद्धर्तुं पुनर्भारतं
सर्वस्वेन कृतोद्यमान् गुरुवरान् साष्टाङ्गपातं नुमः॥

इस मङ्गलाचरणमें वेद और भारतीयताको टिकानेमें जिन गुरुओंने अपना सर्वस्व समर्पित किया है, उन्हें प्रणाम करनेका संकेत प्राप्त है। उसी संकेतके अनुसरणमें 'वेद और भारतीयताका उपास्य-उपासक एवं मैत्रीभाव' विषय प्रस्तुत है।

यह विषय तबतक अवगत नहीं होगा, जबतक वेद एवं भारतीयताके सम्बन्धको समझा न जाय। अतः उन दोनोंके सम्बन्धका निरूपण कर्तव्यतया प्राप्त है। उसके प्रति निर्णायकके रूपमें इतिहास देखना होगा, उसका आरम्भ सृष्टिका आरम्भ है।

सृष्टिकी अक्षुण्ण यात्राको चलाने-हेतु प्रथमतः प्रभुने विधायक कहकर निःश्वासात्मक वेदरूप शब्दराशि प्रदान की। उसका मुख्य उद्देश्य अदृष्ट सम्पत्ति प्राप्त करना समझाया है, जो एकमात्र यज्ञोंसे ही सम्भव है।

इसके पश्चात् दूसरा प्रश्न वेदरक्षण-सम्बन्धी है। उसका समाधान सहज नहीं है, क्योंकि वेदोंकी पवित्रता अक्षुण्ण बनाये रखना सबकी शक्तिके बाहर है। अतः जो कठोर सात्त्विक व्रतमें रहनेकी प्रतिज्ञा करें तथा निर्भ्रान्त होकर उसका आचरण करें, उन्हींके द्वारा वेद एवं उसकी सतेजस्कता सुरक्षित रह सकती है। उसके अनुबन्धमें यज्ञहेतुतया राष्ट्रगुणसम्पन्न भूमिकी आवश्यकता सोचकर सृष्टिमें यज्ञिय देशके रूपमें भारतभूमि प्रकट हुई, जो अजनाभि-स्थानापन्न है। इस भारतभूमिपर आहुति प्रदत्त होती है तो वह वाष्प बनकर ऊपरकी ओर बढ़ती हुई, सम्पूर्ण भुवनको आप्यायित करती हुई सुभिक्ष, सुवृष्टि एवं सुप्रजा प्राप्त करानेमें सहयोग देती है। यही वेदकी पवित्रता तथा सतेजस्कताका परिपाक है।

स्मर्तव्य है कि भारतभूवासियोंने प्रभुके संकल्प (कठोरव्रत-आचरण)-को समझ कर विश्वासके साथ वेदरक्षणका भार सहर्ष स्वीकारा, अपनेको वेदोंके हेतु समर्पित किया और यह भाव जबतक भारतभूमिके निवासियोंमें अक्षुण्ण बना रहा, तबतक देशमें भारतीयता समृद्ध होती हुई देशान्तर-विजातीयताकी अनुमापक बनी रही।

वेदोंने भी भारतीयतामें उक्त संकल्पकी कार्यान्वयिता देखकर उसका सर्वविधहित साधनेमें सम्पूर्ण सहयोग दिया है, यहाँतक कि भारतीयोंके वचन भी वेदोंके बलसे प्रमाणित होते रहे।

इस अतीत इतिहासको देखनेसे वेद एवं भारतीयताके मध्यमें रहा सम्बन्ध दूसरा न होकर मैत्री-सम्बन्ध **यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति**—ऋग्वेद १०।७१।६) ही स्पष्ट हो रहा है। वेदों और भारतीयताका सम्बन्ध स्थायी होनेसे अनुरागपर्यवसायी हो गया। इस सम्बन्धके याथार्थ्यको असंदिग्ध बनाने-हेतु प्रभुने ब्रह्माजीके हृदयाकाशमें वेद ध्वनित कराया और कहा कि वेदोंको देखकर उसके प्रति अनास्था न करते हुए सृष्टिकी रचना करनी होगी तथा उनके संरक्षणार्थ सत्त्व, पवित्रता, निर्दम्भतासे सम्पन्न पुत्रों (ऋषियों)-का निर्माण कर उन्हें वेद सौंपने होंगे।

वेदप्रभुका दूसरा स्वरूप शब्दब्रह्म है। अतः कहना होगा कि वेद शब्दमात्र नहीं, अपितु जीवित ईश्वरतत्त्व ही हैं। यदि वे यथावत् प्राप्त हों तो ईश्वर ही प्राप्त हैं—ऐसा भारतीयोंका समझना है, जो यथार्थ भी है।

वेदों अथवा भारतीयतामेंसे किसी एक या दोनोंकी अवहेलना होती रहे तो ईश्वर भी उस अपमानयिता व्यक्तिसे अति दूर होकर रहते हैं, इसलिये कि वेद जीवित हैं तो भारतीयता जीवित है और भारतीयता जीवित है तो वेद जीवित हैं—ऐसा होना प्रत्यक्ष सिद्ध है।

वेद एवं भारतीयताका सहज मैत्रीसम्बन्ध सृष्टिके आरम्भसे ही होनेके कारण श्रीराम एवं लक्ष्मणजीके सेवक-सेव्य-सम्बन्धकी तरह ही सहज है।

वेदोंसे आबद्ध भारतीयता एवं भारतीयतासे आबद्ध वेद, मित्रताके लक्ष्य-लक्षणकी दृष्टिसे जबतक शुचिता आदि गुणोंसे सम्पन्न हैं, तबतक वेद सखा होकर

दासकी तरह भारतीयताको उज्ज्वलित करते हैं। यही युक्ति वेदोंके प्रति व्यवहार करनेवाली भारतीय तत्त्वोंमें समझनी होगी। उसके मूलमें—'**यावदुपकरोति तावन्मित्रं भवति, उपकारलक्षणं हि मित्रम्**' (नीतिसार) यह उक्ति स्मर्तव्य है।

वेद एवं भारतीयता दोनोंमें संघटित मैत्री अक्षुण्ण होनेपर भी वेद रक्षक तथा भारतीयता रक्ष्या होनेसे वेद प्रधान (स्वामी) माने जाते हैं। भारतीयता उनकी स्व (सम्पत्ति) होनेसे द्रव्य प्रकृतिके रूपमें समझी जाती है।

उपर्युक्त सख्यको समझनेका निष्कर्ष अव्यक्त ईश्वरको देखनेका उपाय समझनेमें है। अतः वेदकी दासता स्वीकारनेका निष्कर्ष उसके बताये सनातन-विधिके पालनमें है। आशय यह है कि वेदप्रोक्त सनातन-विधिका पालन दासभावसे होता रहेगा तो प्रभुकी कृपा या प्रसन्नता होनी अवश्यम्भावी है—यही भगवदुपलब्धि है। वेदोंके द्वारा सुने गये सनातन-विधिकी विशेषता तबतक समझमें नहीं आयेगी, जबतक ईश्वरकृपाप्रसादकी अवश्यम्भाविता (व्याप्यता) संदिग्ध होगी। अतः उसका निरास होना अपेक्षित है।

चिन्त्य है कि वेद-ईश्वरके निःश्वास हैं अथवा ईश्वरनिःश्वास ही वेद हैं? यह सौभाग्य लौकिक शब्दोंकी प्राप्त नहीं है; क्योंकि वे (लौकिक शब्द) जिनके निःश्वास हैं, वे अल्पज्ञ एवं काल-देश-विशेषकी सीमासे घिरे हैं तथा अपनी काल-देश-सीमाके बाहरी तत्त्वोंके प्रति अनभिज्ञ होनेसे भ्रान्त भी हो सकते हैं। वेद जिनके निःश्वास हैं, वे काल-देश-सीमासे सीमित नहीं हैं, न तो अल्पज्ञ हैं। इस अन्तरको समझकर साधारण लोकको अपने निःश्वासभूत शब्दके पूज्यतार्थ प्रमाणान्तरकी अपेक्षा आवश्यक है।

यदि उक्त अपेक्षामें कोई प्रमाण विरोधितया उपलब्ध नहीं है तो लोकनिःश्वासभूत शब्दकी प्रमाणता असंदिग्ध है।

यदि लोक (सिद्ध महात्माओं)-के निःश्वास ही आपसमें टकरायें तो उस अवस्थामें मनीषियोंने यही निर्णय सुनाया है कि पुरातन निःश्वासके विरोधमें भावी निःश्वासरूप शब्दकी प्रमाणता संदिग्ध है। अतएव मनीषी विद्वान् स्वनिःश्वासात्मक शब्दप्रमितता समझाने-हेतु पूर्ववर्ती विद्वानोंके निःश्वासकी या स्वानुभव-प्रत्यक्षानुमानकी दुहाईको प्रकट करते हैं।

वेदात्माके निःश्वासमात्र उक्त लोक-निःश्वासके विपरीत हैं, क्योंकि वेद अपने द्वारा प्रतिपादित अर्थकी प्रमितताके प्रति एकमात्र स्वनिःश्वासकी दुहाई देते हैं, जबकि निःश्वासान्तर अपने प्रमितार्थ लौकिक प्रमाणकी दुहाई सुनाते हैं। यही ईश्वरनिःश्वासकी स्वतःप्रमाणता तथा लोकनिःश्वासकी परतःप्रमाणता है।

अब प्रश्न है कि वेदोंमें कौन-सा तथ्य निहित किया गया है, जिसको समझने-हेतु यहाँ प्रथमतया वेद अपेक्षित हो एवं उनसे समझे गये तथ्यकी लोकयात्राके प्रति उपयोगिता समझकर लोक प्रवृत्त हों।

उसके उत्तरमें गीतावाक्य स्मर्तव्य हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

अर्थात् (१) देवता एवं हविर्द्रव्य, (२) यागसे प्राप्तव्य फलके प्रति कारणता तथा (३) तत्-साधक अदृष्ट—इन तीन तत्त्वोंकी ओर भारतीयोंको प्रवृत्त कराकर उनकी त्रिवर्गसमृद्धि पूर्ण कराना वेदोंकी अपनी स्वतन्त्र विशेषता है। वेदोंके विरोध, प्रातिकूल्य तथा अनभिमतमें जो भी शब्दात्मक निःश्वास श्रुत होंगे, उनकी प्रमाणताको मनीषी लोग प्रमाणतया स्वीकार नहीं करते। वेदोंके चिन्तक मनीषियोंको यह अनुभव अभीतक हो रहा है कि वे जब वेदोंको ज्ञानभण्डार समझ कर उसमें निहित एक-एक कणका शोधन करनेमें प्रवृत्त होते हैं तो उनको वेदोंकी यथार्थतापर विस्मय होता है, इसलिये कि वेदकी यथार्थवक्तृता अबाधित है। इसकी उपपत्तिका मूल सर्वज्ञ ईश्वरका अन्तर्नाद है, जो भ्रान्तिसे सर्वथा दूर है। वह नाद ईश्वरका निःश्वास है, जो उदर्य अग्निकी उच्छलित धाराकी परा वाणी है, वह सर्वसमर्था सर्वज्ञा है।

परमात्माके परा, पश्यन्ती एवं मध्यमाके माध्यमसे प्रकट उनकी उदर्याग्नि ज्वालाका नाद ज्ञानरूप है तथा उसके साथ वह वर्ण कदम्बात्मक है, जैसा कि शास्त्रवाक्यसे स्पष्ट है—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।'
(वाक्यपदीय भर्तृहरिकृत)

ईश्वरके दीर्घजीवी अतिस्वस्थ होनेसे उनके निःश्वास नित्य एकरूप हैं, अतः वेद भी एकरूप हैं। इसीलिये वेदोंकी अपौरुषेयता है।

वेदोंको विद्या इसलिये कहा जाता है कि उससे धर्माधर्मरूप यज्ञकी प्रक्रिया विदित होती है। इसके प्रमाणमें नीतिसारीय जयमंगलाका वाक्य निम्न है—

'धर्माधर्मवेदनाद्वेदास्ते च कार्यापेक्षया समुदितास्त्रयीसंज्ञकाः।'

इस प्रकार वेद एवं भारतीयतामें रहा उपास्य-उपासकभाव-सम्बन्ध भी सुचिन्त्य हो जो—**'नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वं०'** इस वाक्यसे स्मृत है। उपास्य-उपासकभाव-सम्बन्धके सम्बन्धी उपास्य वेद अनेकविध ईश्वरार्चावतारोंमेंसे एक अर्चावतार है, यह अर्चावतार वेद बाहरसे कर्मयोग एवं अन्तस्तलसे भक्तियोगकी शिक्षा देता है। वेदरूप अर्चामूर्ति उपास्य होकर भारतीयोंके मस्तिष्क या हृदयमें भूतावेशन्यायेन निवास करते हुए उनका संरक्षण करती है तथा विरोधी तत्त्वोंका उत्पीडन करती रहती है।

यह उपास्य-उपासकभावसम्बन्ध भी ईश्वर-प्रसूत होनेसे भारतीयोंके लिये उपेक्ष्य नहीं है।

वेदरूप अर्चावतारने यहाँतक छूट दे रखी है कि उस अर्चाके एकाग्र, तेजस्वी उपासक जहाँ भी रहते हों, उस स्थलीपर देव, तीर्थ ही नहीं स्वयं ईश्वर भी निवास करते हैं, वेदरूप अर्चावतार पवित्रतापर बहुत ध्यान रखने-सम्बन्धी भारतीयतासे सम्पन्न उपासकोंका इतिहास भी मननीय है। उससे यह निर्विवाद है कि वेदोंकी मर्यादा भारतीय उपासकके हृदयमें तभीतक है, जबतक वे वेदोंकी इच्छाको समझकर दासभावमें उनकी पवित्रता बनाये रखते हैं। जैसे—मन्दिर आदिमें ईश्वरकी व्यावहारिक मूर्तिके अनुरूप उनकी पवित्रताको बनाये रखना सभी भारतीयोंका कर्तव्य माना जाता है। यही तथ्य वेदोंकी पवित्रताके विषयमें भी चिन्तनीय है।

उपास्य-उपासकभावमें एक तथ्य यह भी स्मरणीय है कि मूर्तिके पूजक एक ही रहेंगे तो मूर्तिकी पवित्रता कथमपि टिक नहीं सकती। अतः तदङ्गतया पृथक्-पृथक् कार्य करने-हेतु जो अधिकारिगण नियुक्त होते हैं, वे सभी जब अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते हैं तो मन्दिरस्थ मूर्तिकी पवित्रता बनी रहती है। फलतः सभी उपासक ईश्वरके प्रसादाधिकारी माने जाते हैं। उसी प्रकार परमेश्वरद्वारा वेदोंकी शुचिताके अनुरूप उसके रक्षणार्थ तत्-तत् व्यक्तियोंकी नियुक्तिका स्पष्टीकरण श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें द्रष्टव्य है। वह जबतक बनी रहती है तबतक भारतीयता एवं वेदोंके उक्त दोनों पारस्परिक सम्बन्ध बने रहते हैं, अन्यथा नहीं।

यदि उपर्युक्त दोनों सम्बन्ध टिके हैं तो वेदोंकी तेजस्विता और भारतीयताका स्वातन्त्र्य, गुरुत्व, ऐश्वर्य तथा श्री आदिका स्थैर्य बना रहता है।

वेदोंने भारतीयोंके हृदयमें स्वार्थ (गूढार्थ) प्रकाशित करनेकी दो रीतियाँ अपनायी हैं. तदन्तर्गत एक रीति रामायण आदि है। जैसा कि—**'वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना'** से स्पष्ट है। दूसरी रीति यह है कि पुण्यात्माके हृदयमें स्वयं वेदार्थ प्रतिभासित होते रहते हैं। उनको अध्ययनकी अपेक्षा नहीं रहती।

उपर्युक्त दोनों रीतियोंके अतिरिक्त एक रीति यह स्मर्तव्य है कि सृष्टिके आरम्भ होते ही उसके योगक्षेमार्थ प्रभुने विधान बनाकर उसको वेदग्रन्थसे प्रकट कर वेदोंके सुरक्षार्थ पारम्परिक वंशको अधिकृत किया है। उसकी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण भारतीयोंको अंकुशमें रखना सिखाया गया है। वह अंकुश है वृद्धोंका आदर एवं विनय। जबतक यह समाजमें अक्षुण्ण रहा, तबतक वंश और समाजकी रचना स्वर्णयुगसे विख्यात थी, जो अन्य समाजमें दुर्लभ है। तदितर साधारण तथ्य सोचकर साधनतया अंकुश और विनय तथा फलरूपमें स्वर्णयुगकी व्यवस्था भारतीय समाजमें स्थिर बनानेके विचारसे वेदोंने सबके सामने कठोरता प्रकट करते हुए—**'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'**का विधान किया तथा जीविका-हेतु उञ्छ-शीलवृत्ति विहित की। जो अन्य समाजोंके लिये उपेक्षास्पद (विस्मयास्पद) है। अतएव उक्त वृत्तिमें रहनेवाले वेदोपासक त्यागी कुम्भीधान्य कहे गये हैं।

उपर्युक्त त्यागी, कुम्भीधान्य, कुटल आदि विप्रोंका

चिन्तन कविने निम्नरूपसे किया है—

नास्माकं कटकानवाजिमुकुटाद्यालंक्रियाः सत्क्रियाः।
नोत्तुंगस्तुरगो न कश्चिदनुगो नैवावरं सुन्दरम्॥

सृष्टिसे लेकर अक्षुण्णरूपसे रहे ऐतिहासिक युगको भूलनेपर तद्भव परिणामको मनुजीने भारतीयोंको इस प्रकार समझाया है—

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥

(मनु० १२।११४)

एवं—

गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्राञ्शूद्रवदाचरेत्॥

(मनु० ८।१०२)

उपर्युक्त विवेकसे वेद एवं भारतीयताके उपास्य-उपासकभाव तथा मैत्रीभाव दोनों सम्बन्धका पूर्णरूपेण परिचय प्राप्त कर जिन्होंने उसके संरक्षणार्थ अपना बलिदान किया—उन्हींका मङ्गलाचरणमें नमस्कारका संकेत प्राप्त है।

आख्यान—

यमके द्वारपर

(श्रीशिवनाथजी दुबे, एम्० कॉम्०, एम्० ए०, साहित्यरत्न, धर्मरत्न)

'न देने योग्य गौके दानसे दाताका उलटे अमङ्गल होता है।' इस विचारसे सात्त्विक बुद्धि-सम्पन्न ऋषिकुमार नचिकेता अधीर हो उठे। उनके पिता वाजश्रवस—वाजश्रवाके पुत्र उद्दालकने विश्वजित् नामक महान् यज्ञके अनुष्ठानमें अपनी सारी सम्पत्ति दान कर दी, किंतु ऋषि-ऋत्विज् और सदस्योंकी दक्षिणामें अच्छी-बुरी सभी गौएँ दी जा रही थीं। पिताके मङ्गलकी रक्षाके लिये अपने अनिष्टकी आशंका होते हुए भी उन्होंने विनयपूर्वक कहा—'पिताजी! मैं भी आपका धन हूँ, मुझे किसे दे रहे हैं'—'**तत कस्मै मां दास्यसीति।**'

उद्दालकने कोई उत्तर नहीं दिया। नचिकेताने पुनः वही प्रश्न किया, पर उद्दालक टाल गये।

'पिताजी! मुझे किसे दे रहे हैं?' नचिकेताद्वारा तीसरी बार पूछनेपर उद्दालकको क्रोध आ गया। चिढ़कर उन्होंने कहा—'तुम्हें देता हूँ मृत्युको'—'**मृत्यवे त्वा ददामीति।**'

नचिकेता विचलित नहीं हुए। परिणामके लिये वे पहलेसे ही प्रस्तुत थे। उन्होंने हाथ जोड़कर पितासे कहा—'पिताजी! शरीर नश्वर है, पर सदाचरण सर्वोपरि है। आप अपने वचनकी रक्षाके लिये यम-सदन जानेकी मुझे आज्ञा दें।'

ऋषि सहम गये, पर पुत्रकी सत्यपरायणता देखकर उसे यमपुरी जानेकी आज्ञा उन्होंने दे दी। नचिकेताने पिताके चरणोंमें सभक्ति प्रणाम किया और वे यमराजकी पुरीके लिये प्रस्थित हो गये।

यमराज काँप उठे। अतिथि ब्राह्मणका सत्कार न करनेके कुपरिणामसे वे पूर्णतया परिचित थे और ये तो अग्नितुल्य तेजस्वी ऋषिकुमार थे, जो उनकी अनुपस्थितिमें उनके द्वारपर बिना अन्न-जल ग्रहण किये तीन रात बिता चुके थे। यम जलपूरित स्वर्णकलश अपने ही हाथोंमें लिये दौड़े। उन्होंने नचिकेताको सम्मानपूर्वक पाद्यार्घ्य देकर अत्यन्त विनयपूर्वक कहा—'आदरणीय ब्राह्मणकुमार! पूज्य अतिथि होकर भी आपने मेरे द्वारपर तीन रात्रियाँ उपवासमें बिता दीं, यह मेरा अपराध है। आप प्रत्येक रात्रिके लिये एक-एक वर मुझसे माँग लें।'

'मृत्यो! मेरे पिता मेरे प्रति शान्त-संकल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जायँ तथा जब मैं आपके यहाँसे लौटकर घर जाऊँ, तब वे मुझे पहचान कर प्रेमपूर्वक बातचीत करें।' पितृभक्त बालकने प्रथम वर माँगा।

'**तथास्तु**' यमराजने कहा।

'मृत्यो! स्वर्गके साधनभूत अग्निको आप भलीभाँति जानते हैं। उसे ही जानकर लोग स्वर्गमें अमृतत्व-देवत्वको प्राप्त होते हैं, मैं उसे जानना चाहता हूँ। यही मेरी द्वितीय वर-याचना है।'

'यह अग्नि अनन्त स्वर्गलोककी प्राप्तिका साधन है'—यमराज नचिकेताको अल्पायु, तीक्ष्णबुद्धि तथा वास्तविक जिज्ञासुके रूपमें पाकर प्रसन्न थे। उन्होंने कहा—'यही विराट्-रूपसे जगत्की प्रतिष्ठाका मूल कारण है। इसे आप विद्वानोंकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित समझिये।'

उस अग्निके लिये जैसी और जितनी ईंटें चाहिये, वे जिस प्रकार रखी जानी चाहिये तथा यज्ञस्थली-निर्माणके लिये आवश्यक सामग्रियाँ और अग्नि-चयन करनेकी विधि बतलाते हुए अत्यन्त संतुष्ट होकर यमने द्वितीय वरके रूपमें कहा—'मैंने जिस अग्निकी बात आपसे कही, वह आपके ही नामसे प्रसिद्ध होगी और आप इस विचित्र रत्नोंवाली मालाको भी ग्रहण कीजिये।'

'तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व॥'

(कठ० १।१।१९)

'हे नचिकेता! अब तीसरा वर माँगिये।' अग्निको स्वर्गका साधन अच्छी प्रकार बतलाकर यमने कहा।

'आप मृत्युके देवता हैं' श्रद्धा-समन्वित नचिकेताने कहा—'आत्माका प्रत्यक्ष या अनुमानसे निर्णय नहीं हो पाता। अतः मैं आपसे वही आत्मतत्त्व जानना चाहता हूँ, कृपापूर्वक बतला दीजिये।'

यम झिझके। आत्मविद्या साधारण विद्या नहीं। उन्होंने नचिकेताको उस ज्ञानकी दुरूहता बतलायी, पर उनको वे अपने निश्चयसे नहीं डिगा सके। यमने भुवन-मोहन अस्त्रका उपयोग किया—सुर-दुर्लभ सुन्दरियों और दीर्घकालस्थायिनी भोग-सामग्रियोंका प्रलोभन दिया, परंतु ऋषिकुमार अपने तत्त्व-सम्बन्धी गूढ़ वरसे विचलित नहीं हो सके।

'आप बड़े भाग्यवान् हैं।' यमने नचिकेताके वैराग्यकी प्रशंसा की और वित्तमयी संसारगतिकी निन्दा करते हुए बतलाया कि विवेक-वैराग्य-सम्पन्न पुरुष ही ब्रह्मज्ञान-प्राप्तिके अधिकारी हैं। श्रेय-प्रेय और विद्या-अविद्याके विपरीत स्वरूपका यमने पूरा वर्णन करते हुए कहा—'आप श्रेय चाहते हैं तथा विद्याके अधिकारी हैं।'

'हे भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो सब प्रकारके व्यावहारिक विषयोंसे अतीत जिस परब्रह्मको आप देखते हैं, मुझे अवश्य बतलानेकी कृपा कीजिये।'

'आत्मा चेतन है। वह न जन्मता है, न मरता है। न यह किसीसे उत्पन्न हुआ है और न ही कोई दूसरा ही इससे उत्पन्न हुआ है।' नचिकेताकी जिज्ञासा देखकर यम अत्यन्त प्रसन्न हो गये थे। उन्होंने आत्माके स्वरूपको विस्तारपूर्वक समझाया—'वह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, सनातन है, शरीरके नाश होनेपर भी बना रहता है। वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्से भी महान् है। वह समस्त अनित्य शरीरोंमें रहते हुए भी शरीररहित है, समस्त अस्थिर पदार्थोंमें व्याप्त होते हुए भी सदा स्थिर है। वह कण-कणमें व्याप्त है। सारा सृष्टिक्रम उसीके आदेशपर चलता है। अग्नि उसीके भयसे जलता है, सूर्य उसीके भयसे तपता है तथा इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु उसीके भयसे दौड़ते हैं। जो पुरुष कालके गालमें जानेसे पूर्व उसे जान लेते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं तथा शोकादि क्लेशोंको पार करके परमानन्दको प्राप्त कर लेते हैं।'

यमने आगे कहा—'वह न तो वेदके प्रवचनसे प्राप्त होता है, न विशाल बुद्धिसे मिलता है और न केवल जन्मभर शास्त्रोंके श्रवणसे ही मिलता है'—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।'

(कठोपनिषद् १।२।२३)

'वह उन्हींको प्राप्त होता है, जिनकी वासनाएँ शान्त हो चुकी हैं, कामनाएँ मिट गयी हैं और जिनके पवित्र अन्तःकरणको मलिनताकी छाया भी स्पर्श नहीं कर पाती तथा जो उसे पानेके लिये अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं।'

आत्मज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद उद्दालक-पुत्र कुमार नचिकेता लौटे तो उन्होंने देखा कि वृद्ध तपस्वियोंका समुदाय भी उनके स्वागतार्थ खड़ा है।

('कठोपनिषद्')

वेदोंमें शरणागति-महिमा

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी सरस्वती)

साधनाके मार्गमें शरणागतिका सबसे ऊँचा स्थान है। किसी भी मार्गका साधक क्यों न हो, उसे बिना प्रभुके निकट आत्मनिवेदन किये प्रभुप्रसाद प्राप्त ही नहीं हो सकता। साधकको आत्मसमर्पणसे दूर रखनेवाली वस्तु 'अहंकार' है। यही अहंकार साधकका परम शत्रु है। यह अहंकार प्रभुका भोजन है। प्रेमदर्शनमें यह बात स्पष्टरूपसे बतलायी गयी है—

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च॥

अर्थात् ईश्वरको अभिमान अप्रिय है और दैन्य—नम्रभाव ही प्रिय है। गोस्वामीजीने भी यही भाव प्रकट करते हुए कहा है—

'जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना॥'

असावधान साधकमें साधना और सिद्धियाँ तथा ज्ञान एवं कर्म भी कभी-कभी अहंकार उत्पन्न कर देते हैं। यह चोर अहंकार साधकके हृदय-मन्दिरमें इस प्रकार चुपचाप प्रवेश कर जाता है कि उसे भान भी नहीं होता। यह कपटी चोर मित्रका रूप धारण कर जबतक आत्माका सब धन चुरा नहीं लेता, तबतक दम भी नहीं छोड़ता। यह तो आत्माका सर्वनाश करके भी हटना नहीं चाहता। साधनाके आरम्भ, मध्य और अन्तमें, कहीं, किसी प्रकार भी यह दुष्ट अहंकार अपना पैर न जमाने पाये, इसीमें साधककी सावधानी और विजय है। छोटा- सा अहंकार भी आत्माको परमात्मासे पृथक् ही रखेगा। प्रभुकी शरण जाना कायरता नहीं, अपितु बुद्धिमानी और वीरता है। महान् ही नम्र हुआ करते हैं। महिकी महानता उसकी नम्रतामें ही है। ईश्वरप्रणिधान साधकका परम हितैषी बनकर उसे अहंकार-जैसे भयंकर शत्रुसे बचा लेता है। प्रभु-शरण ही अन्तिम लक्ष्यतक पहुँचानेका एकमात्र सच्चा साधन है। इसीलिये तो नारदजीने भक्त साधकोंको **'अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्'** इन शब्दोंद्वारा चेतावनी दी है और अहंकारको त्याज्य बतलाया है।

परमात्मप्रदत्त ज्ञानके भण्डार वेदोंमें शरणागतिकी विशेष महिमा है। चारों वेदोंमें जहाँ ज्ञान, कर्म और उपासनाका वर्णन है, वहीं प्रभुकी शरण जानेका भी आदेश है। बिना प्रभुकी शरणके मरण है। वेदप्रतिपादित शरणागति ऋग्वेद (१०।१४२।१)-के निम्नाङ्कित मन्त्रमें देखिये—

अयमग्ने जरिता त्वे अभूदपि सहसः सूनो नह्यन्यदस्त्याप्यम्।
भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति त आरे हिंसानामप दिद्युमा कृधि॥

तात्पर्य यह कि हे प्रकाशस्वरूप प्रभु! इस स्तोताको हिंसक काम-क्रोधादिके वज्रसे बचा, ये वज्र कहीं चोट न कर दें। भक्त तेरी शरण आ गया है। तू ही सबसे बली है। तेरी शरण सचमुच तीनों (प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा)-में भद्र अथवा कल्याणकारी है।

मनुष्य इस संसारमें जहाँ-कहीं भी नाते जोड़ता है, वे अन्तमें सब टूट ही जाते हैं। जहाँ संयोग है, वहीं वियोग भी है। कोई सम्बन्ध स्थायी दिखायी नहीं देता। मनुष्यकी भाग्य-नैयाको भवसागरसे पार लगानेवाला कोई योग्य नाविक दृष्टिगोचर नहीं होता। दुःखी मानव एक सच्चे मित्र और सहायककी खोजमें है। वह एक स्थायी आश्रय चाहता है। वह आश्रयार्थी बनकर सभी शक्तिशालियोंका द्वार खटखटा आया, परंतु किसीने शरण न दी। कहीं थोड़ी देरके लिये शरण मिली भी, वह अबाध नहीं रही। उस क्षणिक आश्रयमें कुछ ही समय पश्चात् दोष दिखायी दिया, परंतु जिज्ञासुको एक निर्दोष आश्रयकी आवश्यकता है। उसने भाई, बहन, पिता, माता, मित्र सभीका आश्रय ग्रहण करके अनुभव किया कि इनमेंसे कोई स्थायी और सुखदायी नहीं है। ये सारे सम्बन्ध झूठे सिद्ध हुए। तब उसके मुखसे सहसा यही वेदवाणी निकली—**'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता'** (यजु० ३२।१०)—अरे पागल! वही प्रभु ही तेरा सच्चा बन्धु, माता, पिता और विधाता है। अब आश्रय ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसे अन्तमें मिल ही गया। यह प्रभुका चरण ही सर्वाश्रय और सर्वाधार है। इतनी कठिनाइयोंके पश्चात् प्राप्त हुए इस आश्रयको भक्त किसी दशामें छोड़ना नहीं चाहता। वह अपने प्रभुको पुकार-पुकार कर कहने लगा—

'अयमग्ने जरिता त्वे अभूत्।'

यह दास अब हर प्रकारसे तेरे ही सहारे रहता है। इसका अब इस संसारमें कोई दूसरा सहारा ही नहीं रहा। भला अथवा बुरा, यह तेरा दास जैसा भी हो, परंतु है तो तेरा ही—तेरे द्वारका एक भिखारी ही। प्रभु! इसे अपना ले। इसे शरण दे। इस शरणागत भक्तकी दशा महात्मा श्रीतुलसीदासके शब्दोंमें—

'एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास।'

—जैसी हो गयी है। अब भक्त प्रभुका है और प्रभु भक्तके हैं।

ऋग्वेदके मन्त्रमें भी शरणागतिके रहस्यको खोलनेवाली कुंजी इतने शब्दोंमें ही निहित है—

'भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति ते॥'

यहाँ यह बतलाया गया है कि तीनों शरणोंमें प्रभुकी शरण ही सचमुच सर्वश्रेष्ठ है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वे कौन-कौनसे तीन प्रकारके शरण हैं, जिनका आश्रय आत्मा ले सकता है? इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि (१) प्रकृति, (२) जीवात्मा और (३) परमात्मा—ये ही तीन प्रकारकी सत्ताएँ हैं, जहाँ जीव सहारा खोजा करता है। जिज्ञासु साधकने प्रकृतिसे सम्बन्ध जोड़कर यह निश्चय कर लिया कि यह स्वयं जड है। यह चेतनकी क्या सहायता कर सकती है? यह तो मायास्वरूप है। यह तो मरु-मरीचिकाके समान दूरसे प्यासेको बुलाकर प्यासा ही छोड़ देती है। यह धोखेबाज है। साधक बहुत परिश्रम और गुरुज्ञानद्वारा इसके चंगुलसे निकल भागा है। तब उसने इसका नाम 'माया-ठगनी' रखा है। जीव स्वामी है, प्रकृति 'स्व' है। जीव चेतन है, प्रकृति अचेतन है। उस जडप्रकृतिमें क्रिया, चेष्टा और गतिका आघात यह चेतन जीव ही करता है। अतः दासीकी शरणमें स्वामी क्यों जाय? तब क्या जीवात्मा, दूसरे जीवात्माकी शरणमें जाय? नहीं। यह भी नहीं। इससे क्या लाभ? शरण तो अपनेसे महान्के जाया जाता है। जीवात्मा तो स्वयं अल्पज्ञ और ससीम है। रोग-भोगमें पड़ा हुआ जीवात्मा दूसरेको क्या परम सुख देगा? अविद्या और अन्धकारमें पड़ा हुआ जीवात्मा दूसरे जीवात्माको कहाँतक विद्या और प्रकाश दे सकेगा, यह विचार करना चाहिये। जीवात्माको तो उस असीम, ज्ञानके भण्डार, प्रकाशस्वरूप प्रभुकी खोज है। जबतक उसे वह महासत्ता नहीं मिल जाती, तबतक उसे चैन नहीं। इस व्यग्रता तथा श्रद्धापूर्ण खोजने अन्तमें जीवात्माको परमात्माके द्वारतक पहुँचा दिया। तब उसे पता चला कि यह सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही सबसे बली और प्रकृति तथा जीवका अधिष्ठाता है। तभी वह अति प्रसन्न होकर आवेशमें बोल उठा—'प्रभु! तेरी ही शरण तीनोंमें श्रेष्ठ है।' अब भक्तकी एकमात्र भक्ति प्रभुचरणोंसे ही हो गयी। उसीकी शरणमें उसे सुख-शान्तिका अनुभव हुआ। भक्ति बिना प्रेम नहीं, प्रेम बिना सब कुछ फीका ही है, रस तो प्रेममें ही है; परंतु यह विचित्र रस प्रभु उन्हींको देनेकी कृपा करता है जो उसके हो गये हैं। माताकी गोदमें पड़े हुए शिशुके समान जिसने अपनेको प्रभुके चरणोंमें डाल दिया है, उसीको प्रभु माताके समान प्यार भी करता है। इस प्रकारकी भक्ति बिना शरणागतिके कहाँ मिल सकती है। भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है। इस सत्यको भक्तराज नारदजीने भी इन शब्दोंद्वारा स्वीकार किया है—

'त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी।'

अर्थात् तीनों सत्योंमें भक्ति ही श्रेष्ठ है। इस श्रेष्ठ भक्तिका साधन शरणागति है।

अब साधकको पता तो चल गया कि परम भक्ति शरणागतिद्वारा प्राप्त हो जाती है, परंतु उसे साधनाके पथमें नाना प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ मिल रही हैं। इस भौतिक जगत्में रहकर साधकको उस अभौतिक सत्ताको प्राप्त करना है। लोकमें विषमता-ही-विषमता दीख रही है। विषम-अवस्थामें प्रभु-प्रेम मिल ही नहीं सकता। ईर्ष्या, द्वेष, मोह, मत्सर, क्रोधके कारण मनुष्य एक-दूसरेका शत्रु हो रहा है। धोखा, अशुचिता, असंतोष, विलास, असत्य, प्रलाप और नास्तिकता आदि नाना प्रकारकी पाप-भावनाओंका साम्राज्य है और इन्हीं परिस्थितियोंमें साधकको साधना करनी है। वह पापके प्रचण्ड पावकके लपलपाती हुई लपटोंसे जला-भुना-सा जा रहा है। उसे एक शीतल छायाकी आवश्यकता है। झुलसते हुए संसारमें वह 'शीतल छाया' कहाँ मिलनेको? मानसिक चिन्ता और उद्वेगकी इस दशामें उसे वेदवाणी सुननेको मिली—'**यस्यच्छायामृतं०**' रे जीव! जिसकी छाया अमृतके समान है, तू उसीकी छायामें जा। बस, इतना संकेत मिलते ही वह श्रद्धालु भक्त ऋग्वेद (२।२७।६)-के शब्दोंमें ही बोल उठा—'**यच्छता नो दुष्परिहन्तु शर्म**' प्रभो! हमें अपनी अबाध

शरण दे, तेरी शरणके बिना मरण है। अपनी अमृतस्वरूप छत्रच्छाया हमारे ऊपर फैला दे—अपने ही अमरपथका पथिक बना दे। प्रभो! तूने स्वयं ही अपनी वेदवाणीद्वारा बतलाया है—'**सुगो हि वो……पन्था……साधुरस्ति**' अर्थात् भक्तिद्वारा तेरा पथ सुगम और उत्तम रूपसे प्राप्य है। जीवन-मरणके काल-चक्रके ऊपर चढ़ा हुआ जीव अनन्त दुःखोंको भोग रहा है। उसे सच्चे सुखका पता ही नहीं है। उसीकी खोजमें वह महात्माओं और संतोंके पास दौड़ रहा है। गुरुजनोंके मुखसे उसने ऋग्वेद (१।१५४।५)-का यह वचन सुना—'**विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः**' अर्थात् विष्णुके परमपदमें ही मधु—अमृतका कूप है। बस, अब साधकको विष्णुके चरणोंतक पहुँचनेकी आवश्यकता है। उन चरणोंका चरणामृत ही उसे सदाके लिये दुः खोंसे छुटकारा दिला सकता है। विष्णुधाम ही सुखधाम है, प्रभुका चरण ही सर्वश्रेष्ठ शरणालय है। गोस्वामीजीके शब्दोंमें वह साधक उस 'व्यापक, अविगत, गोतीत, पुनीत, मायारहित सच्चिदानन्द प्रभुकी शरणकी याचना करता हुआ बार-बार प्रभुके द्वारपर नतमस्तक होते हुए कह रहा है'—

भव बारिधि मंदर सब बिधि सुंदर गुनमंदिर सुखपुंजा।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पद कंजा॥

अब उसे पाप-तापहारी, शरणागतिरूप साधनका ज्ञान पूर्णरूपसे हो गया है। उसने प्रभुको ही हर प्रकार पूर्ण पाकर उसीकी शरण लेनेका निश्चय किया है। उसकी श्रद्धा और भक्ति अटल है। वह जान चुका है कि शरणागति ही परम पुरुषार्थ है। उस कृपालु प्रभुका यह स्वभाव है कि वह अपने शरणापन्नका कभी त्याग नहीं करता। शरणागत भक्तको हृदयसे लगा लेता है। उसे अजर कर देता है, अमर कर देता है, शान्त कर देता है। अन्तमें उसी अबाध शरणकी याचना प्रभुसे ऋग्वेद (१।१८।७)-के शब्दोंमें करता हुआ साधक उसीकी प्रेरणा और कृपाकी आशामें टकटकी लगाये बैठा है—

'यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति॥'

कृपासिन्धुकी कृपा बिना कब यज्ञ मनोरथ होते सिद्ध।
दे प्रेरणा शरण-आगतको भक्तियोगमें हे परिवृद्ध॥

आख्यान—

शौनक-अङ्गिरा-संवाद

महाशाल शौनक हाथमें समिधा लिये श्रीअङ्गिराके आश्रममें पहुँचे। वहाँ श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ परम ऋषि अङ्गिराके समीप प्रणामादि विधिपूर्वक उपस्थित होकर उन्होंने यह प्रश्न किया—

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति?

'भगवन्! वह कौन-सी विद्या है, जिसके जान लेनेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है?'

अङ्गिरा—ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि दो विद्याएँ जानने योग्य हैं—पहली परा और दूसरी अपरा।

शौनक—अपरा विद्या किसको कहते हैं और परा विद्या किसको कहते हैं?

अङ्गिरा—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये अपरा विद्या हैं और परा विद्या वह है जिससे उस अक्षरब्रह्मका बोध होता है।

शौनक—वह अक्षरब्रह्म क्या है?

अङ्गिरा—वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षुः-श्रोत्रादिरहित है; जो अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतोंका कारण है, उसे धीर पुरुष सर्वत्र देखते हैं।

शौनक—सर्वत्र यह जो विश्व दिखायी देता है, वह ब्रह्मसे कैसे उत्पन्न होता है?

अङ्गिरा—जैसे मकड़ी अपना जाला बनाती और चाहे जब उसे समेट लेती है, जैसे पृथ्वीसे वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे सजीव पुरुषसे केश और लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षरब्रह्मसे यह विश्व उत्पन्न होता है।

शौनक—ब्रह्मसे विश्वकी यह उत्पत्ति जिस क्रमसे होती है, वह क्रम क्या है?

अङ्गिरा—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥

'उत्पत्तिविधिका जो ज्ञान है उस ज्ञानरूप तपसे

सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म स्थूलताको प्राप्त होता है; उसी स्थूलतासे अन्न उत्पन्न होता है, अन्नसे क्रमशः प्राण, मन, सत्य, लोक और कर्म तथा कर्मसे अमृत उत्पन्न होता है।'

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥

'वह जो सर्वज्ञ है (सबको समानरूपसे एक साथ जाननेवाला है), जो सर्वविद् है (सबमें प्रत्येकका विशेषज्ञ है), जिसका ज्ञानमय तप है, उसी अक्षरब्रह्मसे यह विश्वरूप ब्रह्म, यह नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है।'

शौनक—भगवन्! वह अव्यय पुरुष जो इस विश्वका मूल है, कैसे जाना जाता है?

अङ्गिरा—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

'जो शान्त और विद्वान् लोग वनमें भिक्षावृत्तिसे रहते हुए तप और श्रद्धाका सेवन करते हैं, वे शान्तरज होकर सूर्यद्वारसे वहाँ जाते हैं; जहाँ वह अमृत अव्यय पुरुष रहता है।'

शौनक—भगवन्! सूर्यद्वारसे उस अव्यय धामको प्राप्त करनेका साधन क्या है?

अङ्गिरा—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

'कर्मसे जो-जो लोक प्राप्त होते हैं, उनकी परीक्षा करके ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो ले, क्योंकि संसारमें अकृत नित्य पदार्थ कोई नहीं है, अतः कृत कर्मसे हमें क्या प्रयोजन है। तब वह उस परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जाय।'

'तब वे विद्वान् गुरु उस प्रशान्तचित्त जितेन्द्रिय शिष्यको उस ब्रह्मविद्याका उपदेश करते हैं, जिससे उस सत्य और अक्षरपुरुषका ज्ञान होता है।'

'उसी अक्षरपुरुषसे प्राण उत्पन्न होता है, उसीसे मन, इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है।'

'अग्नि (द्युलोक) उसका मस्तक है, चन्द्र-सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी हैं, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, उसके चरणोंसे पृथिवी उत्पन्न हुई है, वह सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है।'

'बहुतसे जो देवता हैं, वे उसीसे उत्पन्न हुए हैं। साध्यगण, मनुष्य, पशु,-पक्षी, प्राण-अपान, व्रीहि-यव, तप, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और विधि—ये सब उसीसे उत्पन्न हुए हैं।'

शौनक—सत्यस्वरूप पुरुषसे ये सब उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् विकारमात्र हैं और पुरुष ही केवल सत्य है, ऐसा ही समझना चाहिये?

अङ्गिरा—नहीं; यह सारा जगत्, कर्म और तप स्वयं पुरुष ही है, ब्रह्म है, वर है, अमृत है। इस गुहामें छिपे हुए सत्यको जो जानता है वह हे सोम्य! अविद्याकी ग्रन्थिका छेदन कर देता है।

'वह दीप्तिमान् है, अणुसे भी अणु है, उसमें सम्पूर्ण लोक और उनके अधिवासी स्थित हैं। वही अक्षरब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी और वही मन है। वही सत्य तथा अमृत है। वही वेधने योग्य है। हे सोम्य! तुम उसको वेधो।'

शौनक—भगवन्! उसका वेधन कैसे किया जाय?

अङ्गिरा—'हे सोम्य! औपनिषद महास्त्र लेकर उपासनासे तीक्ष्ण किया हुआ बाण उसपर चढ़ाओ और उसे तद्भावभावित चित्तसे खींचकर उस अक्षरब्रह्मलक्ष्यका वेधन करो।'

शौनक—भगवन्! वह औपनिषद महास्त्र क्या है, वह बाण कौन-सा है और उससे लक्ष्यवेध कैसे करना चाहिये?

अङ्गिरा—'प्रणव ही वह (महास्त्र) धनुष है, आत्मा ही बाण है और वह ब्रह्म ही लक्ष्य है। प्रमादरहित (सावधान) होकर उस लक्ष्यका वेध करनेके लिये बाणके समान तन्मय होना चाहिये।'

'जिसमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और मन सब प्राणोंके सहित बुना हुआ है, उसी एक आत्माको जानो, अन्य वाणीको छोड़ो, यही अमृतका सेतु है।'

'रथचक्रकी नाभिमें जिस प्रकार अरे लगे होते हैं,

उसी प्रकार जिसमें सब नाडियाँ जुड़ी हैं, वही यह अन्तर्वर्ती आत्मा है, जो अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है। उस आत्माका 'ॐ' से ध्यान करो। तम (अज्ञान)-को पार करनेकी इच्छावाले तुम्हारा कल्याण हो।'

'जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, जिसकी यह महिमा भूलोकमें है, वही यह आत्मा ब्रह्मपुर आकाशमें स्थित है। वह मनोमय प्राण-शरीरका नेता है(मन और प्राणको एक देहसे दूसरी देहमें, एक लोकसे दूसरे लोकमें ले जाता है) और अन्नमय शरीरमें वह हृदयका आश्रय ग्रहण करके रहता है। उसके विज्ञानको प्राप्त होकर धीर पुरुष उस प्रकाशमान आनन्दरूप अमृतको सर्वत्र देखते हैं।'

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

'उस परात्पर ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्म भी इसके क्षीण हो जाते हैं।'

'वह अमृत ब्रह्म ही आगे है, वही पीछे है; वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है; वही नीचे है, वही ऊपर है; यह सारा विश्व वही वरिष्ठ ब्रह्म ही तो है।'

शौनक—उस ब्रह्मके साथ इस जीवका कैसा सम्बन्ध है?

अङ्गिरा—ये दोनों (ब्रह्म और जीव) ही सुन्दर पक्षवाले दो पक्षियों-जैसे एक ही वृक्षका आश्रय किये हुए दो सखा हैं। इनमेंसे एक उस वृक्षके फलोंको खाता है और दूसरा नहीं खाता, केवल देखता है, जो इन फलोंको खाता है वह दीन (अनीश) होकर शोकको प्राप्त होता है। यही जब दूसरेको ईशरूपमें देखकर उसकी महिमाको देखता है, तब यह भी वीतशोक हो जाता है। जगत्कर्ता ईश पुरुषको देखकर यह पाप-पुण्य दोनोंको त्याग कर निरञ्जन हो परम साम्यको प्राप्त होता है।

शौनक—उस ईश पुरुषको देखनेका उपाय क्या है?

अङ्गिरा—सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्यसे विशुद्धात्मा योगीजन अन्तःशरीरमें उसे ज्योतिर्मय शुभ्र रूपमें देखते हैं। वही आत्मा है। वह बृहत् है, दिव्य है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, दूर-से-दूर और समीप-से-समीप है। वह देखनेवालोंके हृदयकी गुहामें छिपा हुआ रहता है। वह आँखसे नहीं दिखायी देता, वाणीसे या अन्य इन्द्रियोंसे अथवा तप या कर्मसे भी नहीं जाना जाता। ज्ञानके प्रसादसे अन्तःकरण विशुद्ध होनेपर उस निष्कल पुरुषका साक्षात्कार होता है। ऐसा साक्षात्कार जिसे होता है, वह जो कुछ संकल्प करता है वह सिद्ध हो जाता है। वह संकल्पमात्रसे चाहे जिस लोक या भोगको प्राप्त कर सकता है। ऐसे पुरुषकी जो उपासना करता है, वह भी बन्धनमुक्त होकर आत्माको प्राप्त कर लेता है।

शौनक—आत्माका कथन करनेवाले शास्त्रोंके प्रवचनसे क्या इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती?

अङ्गिरा—नहीं।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुःस्वाम्॥

'यह आत्मा प्रवचनसे नहीं, मेधासे नहीं, बहुत श्रवण करनेसे भी नहीं मिलता। यह जिसका वरण करता है, उसीको यह प्राप्त होता है। उसके सामने यह आत्मा अपना स्वरूप व्यक्त कर देता है।' जो बल, अप्रमाद, संन्यास और ज्ञानके द्वारा आत्माको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है, आत्मा उसे अपने धाममें ले आता है।

शौनक—जो कोई आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है, उसकी क्या स्थिति होती है?

अङ्गिरा—जो उस परब्रह्मको जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है और उसके कुलमें कोई अब्रह्मविद् नहीं होता। वह शोकको तर जाता है, पापको पार कर जाता है, हृदय-ग्रन्थियोंसे विमुक्त होकर अमृत-पदको प्राप्त हो जाता है।

शौनक—भगवन्! ऐसी इस ब्रह्मविद्याका अधिकारी कौन होता है, यह कृपापूर्वक बताइये।

अङ्गिरा—जो क्रियावान् हैं, श्रोत्रिय हैं, ब्रह्मनिष्ठ हैं, श्रद्धापूर्वक जो एकर्षि-हवन करते हैं और जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रतका अनुष्ठान किया है, उनसे यह ब्रह्मविद्या कहे।

इस प्रकार महाशाल (महागृहस्थ) शौनकके प्रश्न करनेपर महर्षि अङ्गिराने यह सत्य कथन किया। जिस किसीने शिरोव्रतका अनुष्ठान नहीं किया है, वह इसका अध्ययन नहीं कर सकता।

वेदोंमें ईश्वर-भक्ति

(श्रीराजेन्द्रप्रसादजी सिंह)

कुछ लोगोंका कहना है कि वेदोंमें ईश्वर-भक्तिका समावेश नहीं, परंतु विचार करनेसे पता लगता है कि वेदोंमें ईश्वर-भक्तिके विषयमें जो मन्त्र विद्यमान हैं, वे इतने सारगर्भित तथा रससे भरे पड़े हैं कि उनसे बढ़कर भक्तिका सोपान अन्यत्र मिलना कठिन है। ईश्वर-भक्तिके सुगन्धित पुष्प वेदके प्रत्येक मन्त्रमें विराजमान हैं, जो अपने प्राणकी सुगन्धसे स्वाध्यायशील व्यक्तियोंके हृदयोंको सुवासित कर देते हैं, वेदमें एक मन्त्र आता है—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रः रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(यजु० २५।१२)

'जिसकी महिमाका गान हिमसे ढके हुए पहाड़ कर रहे हैं, जिसकी भक्तिका राग समुद्र अपनी सहायक नदियोंके साथ सुना रहा है और ये विशाल दिशाएँ जिसकी बाहुओंके सदृश हैं, उस आनन्दस्वरूप प्रभुको मेरा नमस्कार है।'

प्रभुकी महिमा महान् है। अणु-अणुमें उसकी सत्ता विद्यमान है। ये सूर्य-चन्द्र, तारे तथा संसारके सारे पदार्थ उसकी सर्वव्यापकताके साक्षी हैं। उषाकी लालिमा जब चतुर्दिक् छा जाती है, भाँति-भाँतिके पक्षी अपने विविध कलरवोंसे उसीकी भक्तिके गीत गाते हैं। पहाड़ी झरनोंमें उसीका संगीत है। जिस प्रकार समाधिकी अवस्थामें एक योगी बिलकुल निश्चेष्ट होकर ईश्वरके ध्यानमें लीन हो जाता है, उसी प्रकार ये ऊँचे-ऊँचे पहाड़ अपने सिरोंको हिमकी सफेद चादरसे ढककर ध्यानावस्थित हो अपने निर्माताकी भक्तिमें मौनभावसे खड़े हैं।

कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि भक्तिके आवेशमें ईश्वर-भक्तकी आँखोंसे प्रेमके अश्रु छलक पड़ते हैं। उसी प्रकार पर्वतोंके अंदरसे जो नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं, वे ऐसी लगती हैं मानो उन पर्वतोंके हृदयसे जल-धाराएँ भक्तिके रूपमें निकल पड़ी हैं। जैसे ईश्वर-भक्तके हृदयमें लहराते हुए परमात्मप्रेमके अगाध सिन्धुमें नाना प्रकारकी तरंगे उठती हैं, उसी प्रकार आकर्षण-शक्तिके द्वारा जिसे प्रभुने समुद्रके हृदयमें डाल रखा है, उस प्रेमकी ज्वारभाटाके रूपमें विशाल लहरें समुद्रमें पैदा होती हैं। यह प्रेम समुद्रके हृदयमें किसने पैदा किया? समुद्र और चन्द्रमाके बीच जो आकर्षण-शक्ति है, यह कहाँसे आयी? किस महान् शक्तिकी प्रेरणासे पूर्णिमाके दिन चन्द्रमाके पूर्ण विकसित चेहरेको देखकर समुद्र अपने प्राणप्रिय चन्द्रदेवसे मिलनेके लिये बाँसों उछलता है। ठीक इसी प्रकार जब ईश्वर-भक्त परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब उसका हृदय भी गद्गद होकर उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। यह सच है कि प्रकृति देवी धानी साड़ी पहने हुए अपने पतिदेव परमात्माकी भक्तिमें दिन-रात लगी रहती है। एक वाटिकाके खिले फूल अपनी आकर्षक सुरभिके साथ मूक स्वरसे अपने निर्माताका स्तवन करते रहते हैं। सूर्यकी प्रचण्डता चन्द्रकी शीतल ज्योत्स्ना, ताराओंका झिलमिल प्रकाश, अरोरा बोरियालिसका उत्तरी ध्रुवमें प्रकाशित होना तथा आस्ट्रेलिसका दक्षिणी ध्रुवमें उदय होना, हिमाच्छादित पर्वतमालाएँ, कलकल करती हुई सरिताएँ, झरझर झरते हुए झरने मानो अपने निर्माताकी भक्तिके गीत सदा गाते रहते हैं।

वेदभगवान् हमें आदेश देते हैं कि वह ईश्वर जिसकी महिमाका वर्णन ये सब पदार्थ कर रहे हैं, जिसकी भक्तिका राग यह सकल ब्रह्माण्ड गा रहा है—हे मनुष्य! यदि दुःखोंसे छूटना चाहता है तो तू भी उसीकी भक्ति कर। इसके अतिरिक्त दुःखोंसे छूटनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

'आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम्॥' (अथर्व० ५।३०।७)

उन्नत होना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीवका लक्ष्य है।

वेदोंमें गो-महिमा

इस संसारमें 'गौ' एक महनीय, अमूल्य और कल्याणप्रद पशु है। गौकी महिमाका उल्लेख वेदादि सभी शास्त्रोंमें मिलता है। गो (गौ) भगवान् सूर्यदेवकी एक प्रधान किरणका नाम है। सूर्यभगवान्के उदय होनेपर उनकी ज्योति, आयु और गो—ये तीनों किरणें स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियोंमें यथासम्भव न्यूनाधिक्यरूपमें प्रविष्ट होती हैं; परंतु इनमें सूर्यभगवान्की 'गो' नामकी किरण केवल गौ-पशुमें ही अधिक मात्रामें समाविष्ट होती है। अतएव आर्यजाति इस पशुको 'गौ' नामसे पुकारती है।

'गो' नामक सूर्य-किरणकी पृथ्वी स्थावरमूर्ति और गौ-पशु जंगममूर्ति है। शास्त्रोंमें दोनोंको 'गो' शब्दसे व्यवहृत किया गया है। वे दोनों ही अनन्तगुणसम्पन्न भगवान् विराट्के स्वरूप हैं।

शुक्लयजुर्वेदमें गौ और पृथ्वी—इन दोनोंके सम्बन्धमें प्रश्न किया गया है कि '**कस्य मात्रा न विद्यते ?**' (किसका परिमाण (उपमा) नहीं है) [शुक्लयजु० २३। ४७]। इसका उत्तर दिया गया है—'**गोस्तु मात्रा न विद्यते**' (गौका परिमाण (उपमा) नहीं है) [शुक्लयजु० २३। ४८]।

गौ और पृथ्वी—ये दोनों गौके ही दो स्वरूप हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। गौ और पृथ्वी—इन दोनोंमें अभिन्नता है। ये दोनों ही परस्पर एक-दूसरेकी सहायिका और सहचरी हैं। मृत्युलोककी आधारशक्ति 'पृथ्वी' है और देवलोककी आधारशक्ति 'गौ' है। पृथ्वीको 'भूलोक' कहते हैं और गौको 'गोलोक' कहते हैं। भूलोक अधोलोक (नीचे)-में है और गोलोक ऊर्ध्वलोक (ऊपर)-में है। भूलोककी तरह गोलोकमें भी श्रेष्ठ भूमि है।

जिस प्रकार पृथ्वीपर रहते हुए मनुष्योंके मल-मूत्रादिके त्यागादिक कुत्सित आचरणोंको पृथ्वी-माता सप्रेम सहन करती है, उसी प्रकार गौ-माता भी मनुष्योंके जीवनका आधार होती हुई उनके वाहन, निरोध एवं ताड़न आदि कुत्सित आचरणोंको सहन करती है। इसीलिये वेदोंमें पृथ्वी और गौको 'मही' शब्दसे व्यवहृत किया गया है। मनुष्योंमें भी जो सहनशील अर्थात् क्षमी होते हैं, वे महान् माने जाते हैं। संसारमें पृथ्वी और गौसे अधिक क्षमावान् और कोई नहीं है। अतः ये दोनों ही महान् हैं।

शास्त्रोंमें गौको सर्वदेवमयी और सर्वतीर्थमयी कहा गया है। अतः गौके दर्शनसे समस्त देवताओंके दर्शन और समस्त तीर्थोंकी यात्रा करनेका पुण्य प्राप्त होता है। जहाँ गौका निवास होता है, वहाँ सर्वदा सुख-शान्तिका पूर्ण साम्राज्य उपस्थित रहता है। गो-दर्शन, गो-स्पर्शन, गो-पूजन, गो-स्मरण, गो-गुणानुकीर्तन और गो-दान करनेसे मनुष्य सर्वविध पापोंसे मुक्त होकर अक्षय स्वर्गका भोग प्राप्त करता है। गौओंकी परिक्रमा करनेसे ही बृहस्पति सबके वन्दनीय, माधव (विष्णु) सबके पूज्य और इन्द्र ऐश्वर्यवान् हो गये।

गौके गोबर, गोमूत्र, गोदुग्ध, गोघृत और गोदधि आदि सभी पदार्थ परम पावन, आरोग्यप्रद, तेज:प्रद, आयुवर्धक तथा बलवर्धक माने जाते हैं. यही कारण है कि आर्यजातिके प्रत्येक श्रौत-स्मार्त शुभ कर्ममें पञ्चगव्य और पञ्चामृतका विधान अनादिकालसे प्रचलित और मान्य है।

गौके जब बछड़ी-बछड़े पैदा होते हैं, तब सर्वप्रथम वे केवल अपनी माताके दुग्धका पान करके ही तत्क्षण वायुके वेगके सदृश दौड़ने लगते हैं। संसारमें गोवत्सके अतिरिक्त अन्य किसी भी मनुष्यसे लेकर कीट-पतंगादितकके प्राणीके नवजात शिशुमें इस प्रकारकी विचित्र शक्ति और स्फूर्ति नहीं पायी जाती, जो 'गोवत्स' की तरह उत्पन्न होते ही इतस्ततः दौड़ने लग जाय। इसीलिये मानव-जातिमें जब बालक पैदा होते हैं, तब उन्हें सर्वप्रथम मेधाजननके लिये '**मधुघृते प्राशयति घृतं वा**' (पार० गृ० सू० १। १६। ४)—इस सूत्रके अनुसार मधु और गोघृतमें सुवर्ण घिसकर अथवा केवल गोघृतमें सुवर्ण घिसकर वह पदार्थ बालकको चटाया जाता है, तत्पश्चात् उसे गौका दुग्ध पिलाया जाता है। अतएव गौको 'माता' कहा जाता है।

हमारी माताएँ हमें वाल्यावस्थामें ही अधिक-से-अधिक दो-ढाई सालतक अपना दुग्ध पिलाकर हमारा इहलोकमें ही कल्याण करती हैं, किंतु गोमाता हमें

आजीवन अपना अमृतमय दुग्ध पिलाकर हमारा इहलोकमें पालन-पोषण करती है और हमारी मृत्युके बाद वह हमें स्वर्ग पहुँचाती हैं, जैसा कि अथर्ववेद (१८।३।४)-में भी कहा है—

'अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम्॥'

'धनं च गोधनं प्राहुः' के अनुसार विद्वानोंने 'गौ' को ही असली धन कहा है।

वेदोंमें गो-महिमापरक अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं, जिनमेंसे कुछ मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥

(ऋग्वेद १।१५४।६)

'गोभक्तगण अश्विनीकुमारसे प्रार्थना करते हैं कि—'हे अश्विनीकुमार! हम आपके उस गोलोकरूप निवासस्थानमें जाना चाहते हैं, जहाँ बड़ी-बड़ी सींगवाली, सर्वत्र जानेवाली गौएँ निवास करती हैं। वहींपर सर्वव्यापक विष्णुभगवान्‌का परमपद वैकुण्ठ प्रकाशित हो रहा है।'

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।

(ऋग्वेद ८।१०१।१५)

'गौ एकादश रुद्रोंकी माता, अष्ट वसुओंकी कन्या और द्वादश आदित्योंकी बहन है, जो कि अमृतरूप दुग्धको देनेवाली है।'

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व मघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशꣳसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात॥

(शुक्लयजुर्वेद १।१)

'हे गौओ! प्राणियोंको तत्तत्कार्योंमें प्रविष्ट करानेवाले सवितादेव तुम्हें हरित-शस्य-परिपूर्ण विस्तृत क्षेत्र (गोचरभूमि)-में चरनेके लिये ले जायँ; क्योंकि तुम्हारे द्वारा श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान होता है। हे गौओ! तुम इन्द्रदेवके क्षीरमूलक भागको बढ़ाओ अर्थात् तुम अधिक दुग्ध देनेवाली हो। तुम्हारी कोई चोरी न कर सके, तुम्हें व्याघ्रादि हिंसक जीव-जन्तु न मार सकें, क्योंकि तुम तमोगुणी दुष्टोंद्वारा मारे जाने योग्य नहीं हो। तुम बहुत संतति उत्पन्न करनेवाली हो, तुम्हारी संततियोंसे संसारका बहुत बड़ा कल्याण होता है। तुम जहाँ रहती हो, वहाँपर किसी प्रकारकी आधि-व्याधि नहीं आने पाती। यहाँतक कि यक्ष्मा (तपेदिक) आदि राजरोग भी तुम्हारे पास नहीं आ सकते। अतः तुम सर्वदा यजमानके घरमें सुखपूर्वक निवास करो।'

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः॥

(शुक्लयजुर्वेद १।४)

'वह गौ यज्ञसम्बन्धी समस्त ऋत्विजोंकी तथा यजमानकी आयुको बढ़ानेवाली है। वह गौ यज्ञके समस्त कार्योंका सम्पादन करनेवाली है। वह गौ यज्ञके समस्त देवताओंका पोषण करनेवाली है अर्थात् दुग्धादि हवि-पदार्थ देनेवाली है।'

अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयोर्ज स्थोर्ज वो भक्षीय रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय॥

(शुक्लयजुर्वेद ३।२०)

'हे गौओ! तुम अन्नरूप हो अर्थात् तुम दुग्ध-घृतादिरूप अन्नको देनेवाली हो, अतः तुम्हारी कृपासे हमें भी दुग्ध-घृतादिरूप अन्न प्राप्त हो। तुम पूजनीय हो, अतः तुम्हारे सेवन (आश्रय)-से हम श्रेष्ठता प्राप्त करें। तुम बलस्वरूप हो, अतः तुम्हारी कृपासे हम भी बल प्राप्त करें। तुम धनको बढ़ानेवाली हो, अतः हम भी धनकी वृद्धि प्राप्त करें।'

सꣳहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन।

(शुक्लयजुर्वेद ३।२२)

'हे गौओ! तुम विश्वरूपवाली दुग्ध-घृतरूप हवि प्रदान करनेके लिये यज्ञ-कर्ममें संगतिवाली हो। तुम अपने दुग्धादि रसोंको प्रदान कर हमारा गो-स्वामित्व सर्वदा सुस्थिर रखो।'

इड एह्यदित एहि काम्या एत।
मयि वः कामधरणं भूयात्॥

(शुक्लयजुर्वेद ३।२७)

'हे पृथ्वीरूप गौ! तुम इस स्थानपर आओ। घृतद्वारा देवताओंको अदितिके सदृश पालन करनेवाली अदितिरूप गौ! तुम इस स्थानपर आओ। हे गौ! तुम समस्त साधनोंको देनेवाली होनेके कारण सभीकी आदरणीय हो। हे गौ! तुम इस स्थानपर आओ। तुमने हमें देनेके

लिये जो अपेक्षित फल धारण किया है, वह तुम्हारी कृपासे हमें प्राप्त हो। तुम्हारी प्रसन्नतासे हम अभीष्ट फलोंको धारण करनेवाले बनें।'

वीरं विदेव तव देवि सन्दृशि॥

(शुक्लयजुर्वेद ४। २३)

'हे मन्त्रपूत दिव्य गो! तुम्हारे सुन्दर दर्शनके महत्त्वसे मैं बलवान् पुत्रको प्राप्त करूँ।'

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमव भारि भूरि॥

(शुक्लयजुर्वेद ६। ३)

'मैं तुम्हारे उन लोकोंमें जाना चाहता हूँ, जहाँ बड़ी-बड़ी सींगवाली बहुत-सी गौएँ रहती हैं। जहाँपर गौएँ रहती हैं, वहाँ विष्णुभगवान्का परम प्रकाश प्रकाशित रहता है।'

राया वयꣳ ससवाꣳसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः।
तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीम्०॥

(शुक्लयजुर्वेद ७। १०)

'जिस प्रकार देवगण गौके हव्य-पदार्थकी प्राप्तिसे प्रसन्न होते हैं और गौ घास आदि खाद्य-पदार्थकी प्राप्तिसे प्रसन्न होती है, उसी प्रकार हम भी बहुत दुग्ध देनेवाली गौको प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं। गौके घरमें रहनेसे हम धनादिसे परिपूर्ण होकर समस्त कार्योंको करनेमें समर्थ हो सकते हैं। अतः हे देवताओ! तुम सर्वदा हमारी गौकी रक्षा करो, जिससे हमारी गौ अन्यत्र न जाने पाये।'

क्षुमन्तं वाजꣳ शतिनꣳ सहस्त्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे॥

(सामवेद, उत्तरार्चिक ६८६)

'हम पुत्र-पौत्रादिसहित सैकड़ों-हजारोंकी संख्यावाले धनोंकी और गौ आदिसे युक्त अन्नकी शीघ्र याचना करते हैं।'

धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते।
गामश्वं पिप्युषी दुहे॥

(सामवेद, उत्तरार्चिक १८३६)

'हे इन्द्र! तुम्हारी स्तुतिरूपा सत्यवाणी गौरूप होकर यजमानकी वृद्धिकी इच्छा करती हुई यजमानके लिये गौ, घोड़े, आदि समस्त अभिलषित वस्तुओंका दोहन करती (दुहती) है।'

इमा या गावः स जनास इन्द्र०॥

(अथर्ववेद ४। २१। ५)

'जिसके पास गौएँ रहती हैं, वह तो एक प्रकारसे इन्द्र ही है।'

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥

(अथर्ववेद ४। २१। ६)

'हे गौओ! तुम अपने दुग्ध-घृतादिद्वारा दुर्बल मनुष्योंको हृष्ट-पुष्ट करती हो और निस्तेजोंको तेजस्वी बनाती हो। तुम अपने मङ्गलमय शब्दोच्चारणसे हमारे घरोंको मङ्गलमय बनाती हो। इसलिये सभाओंमें तुम्हारी कीर्तिका वर्णन होता रहता है।'

वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत।
वशेदं सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति॥

(अथर्ववेद १०। १०। ३४)

'वशा (वशमें रहनेवाली) गौके द्वारा प्राप्त गो-दुग्धादि पदार्थोंसे देवगण और मनुष्यगण जीवन प्राप्त करते हैं। जहाँतक सूर्यदेवका प्रकाश होता है, वहाँतक गौ ही व्याप्त है अर्थात् यह समस्त ब्रह्माण्ड गौके आधारपर ही स्थित है।'

धेनुं सदनं रयीणाम्।

(अथर्ववेद ११। १। ३४)

'गौ सम्पत्तिका घर है।'

महाँस्त्वेव गोर्महिमा।

(शतपथब्राह्मण)

'गौकी महिमा महान् है।'

इस प्रकार वेदोंसे लेकर समस्त धार्मिक ग्रन्थोंमें और समस्त सम्प्रदायवादियोंके धर्मग्रन्थोंमें एवं प्राचीन-अर्वाचीन ऋषि-महर्षि, आचार्य विद्वानोंसे लेकर आधुनिक विद्वानोंतक सभीकी सम्मतिमें गोमाताका स्थान सर्वश्रेष्ठ और सर्वमान्य है।

गौ एक अमूल्य स्वर्गीय ज्योति है, जिसका निर्माण भगवान्ने मनुष्योंके कल्याणार्थ आशीर्वादरूपमें पृथ्वीलोकमें किया है। अतः इस पृथ्वीमें गोमाता मनुष्योंके लिये भगवान्का प्रसाद है। भगवान्के प्रसादस्वरूप अमृतरूपी

गोदुग्धका पान कर मानवगण ही नहीं, किंतु देवगण भी तृप्त और संतुष्ट होते हैं। इसीलिये गोदुग्धको 'अमृत' कहा जाता है। यह अमृतमय गोदुग्ध देवताओंके लिये भोज्यपदार्थ कहा गया है। अतः समस्त देवगण गोमाताके अमृतरूपी गोदुग्धका पान करनेके लिये गोमाताके शरीरमें सर्वदा निवास करते हैं।

शतपथब्राह्मणमें लिखा है कि गोमाता मानव-जातिका बहुत ही उपकार करती है—

'गौर्वै प्रतिधुक्। तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्याऽआतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनम्॥'

'गोमाता हमें प्रतिधुक्' (ताजा दुग्ध), शृत (गरम-दुग्ध), शर (मक्खन निकाला हुआ दुग्ध), दही, मट्ठा, घृत, खीस (इन्नर), वाजिन (खीसका पानी), नवनीत और मक्खन—ये दस प्रकारके अमृतमय भोजनीय पदार्थ देती है, जिनको खा-पीकर हम आरोग्य, बल, बुद्धि, एवं ओज आदि शारीरिक बल प्राप्त करते हैं और गौके दुग्धादि पदार्थोंके व्यापारद्वारा तथा गौके बछड़े-बछड़ियों एवं गोबरद्वारा हम प्रचुर मात्रामें विविध प्रकारके अन्न पैदा कर धनवान् बन जाते हैं। अतः गोमाता हमें बल, अन्न और धन प्रदान कर हमारा अनन्त उपकार करती है।

अतः मानव-जातिके लिये गौसे बढ़कर उपकार करनेवाला और कोई शरीरधारी प्राणी नहीं है। इसीलिये हिंदूजातिने गौको देवताके सदृश समझकर उसकी सेवा-शुश्रूषा करना अपना परम धर्म समझा है।

शास्त्रोंमें गोरक्षार्थ 'गो-यज्ञ' भी एक मुख्य साधन कहा गया है। वैदिक कालमें बड़े-बड़े 'गो-यज्ञ' और 'गो-महोत्सव' हुआ करते थे। भगवान् श्रीकृष्णने भी गोवर्धन-पूजनके अवसरपर 'गो-यज्ञ' कराया था। गो-यज्ञमें वेदोक्त गो-सूक्तोंसे गोपुष्ट्यर्थ और गोरक्षार्थ हवन, गो-पूजन, वृषभ-पूजन आदि कार्य किये जाते हैं, जिनसे गो-संरक्षण, गो-संवर्धन, गो-वंशरक्षण, गो-वंशवर्धन, गो-महत्त्व-प्रख्यापन और गो-संगतिकरण आदिमें विशेष लाभ होता है। आज वर्तमान समयकी विकट परिस्थिति देखते हुए गो-प्रधान भारतभूमिमें सर्वत्र गो-यज्ञकी अथवा गोरक्षा-महायज्ञकी विशेष आवश्यकता है। अतः गोवर्धनधारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रसे प्रार्थना है कि वे भारतवासी धर्मप्रेमी हिंदुओंके हृदयोंमें गोरक्षार्थ 'गो-यज्ञ' करनेकी प्रेरणा करें, जिससे भारतवर्षके कोने-कोनेमें उत्साहके साथ अगणित 'गो-यज्ञ' हों और उन गो-यज्ञोंके फलस्वरूप प्रत्येक हिंदूभाईकी जिह्वामें—इन महाभारतोक्त पुण्यमय श्लोकद्वयकी मधुर ध्वनि सर्वदा निःसृत होती रहे, जिससे देश और सम्पूर्ण समाजका सर्वविध कल्याण हो।

गा वै पश्याम्यहं नित्यं गावः पश्यन्तु मां सदा।
गावोऽस्माकं वयं तासां यतो गावस्ततो वयम्॥

(महाभारत, अनुशासनपर्व ७८। २४)

गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।
गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

(महाभारत, अनुशासनपर्व ८०। ३)

तात्पर्य यह कि 'मैं सदा गौओंका दर्शन करूँ और गौएँ मुझपर कृपादृष्टि करें। गौएँ हमारी हैं और हम गौओंके हैं। जहाँ गौएँ रहें, वहीं हम रहें।' 'गौएँ मेरे आगे रहें। गौएँ मेरे पीछे भी रहें। गौएँ मेरे चारों ओर रहें और मैं गौओंके बीचमें निवास करूँ।'

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम्॥

(अथर्व० १०।७।२९)

सर्वाधार परमात्मामें ही सारे लोक, सारे तप और सारे प्राकृतिक नियम रहते हैं। उस सर्वाधार परमात्माको मैं प्रत्यक्षरूपसे जानता हूँ। उस इन्द्ररूप परमात्मामें सभी कुछ समाप्त हुआ है।

आख्यान—

गो-सेवासे ब्रह्मज्ञान

एक सदाचारिणी ब्राह्मणी थी, उसका नाम था, जबाला। उसका एक पुत्र था सत्यकाम। जब वह विद्याध्ययन करने योग्य हुआ, तब एक दिन अपनी मातासे कहने लगा—'माँ! मैं गुरुकुलमें निवास करना चाहता हूँ; गुरुजी जब मुझसे नाम, गोत्र पूछेंगे तो मैं अपना कौन गोत्र बतलाऊँगा?' इसपर उसने कहा कि 'पुत्र! मुझे तेरे पितासे गोत्र पूछनेका अवसर नहीं प्राप्त हुआ, क्योंकि उन दिनों मैं सदा अतिथियोंकी सेवामें ही व्यस्त रहती थी। अतएव जब आचार्य तुमसे गोत्रादि पूछें, तब तुम इतना ही कह देना कि मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।' माताकी आज्ञा लेकर सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम ऋषिके यहाँ गया और बोला—'मैं श्रीमान्‌के यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक सेवा करने आया हूँ।' आचार्यने पूछा—'वत्स! तुम्हारा गोत्र क्या है?'

सत्यकामने कहा—'भगवन्! मेरा गोत्र क्या है, इसे मैं नहीं जानता। मैं सत्यकाम जाबाल हूँ, बस, इतना ही इस सम्बन्धमें जानता हूँ।' इसपर गौतमने कहा—'वत्स! ब्राह्मणको छोड़कर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरल भावसे सच्ची बात नहीं कह सकता। जा, थोड़ी समिधा ले आ। मैं तेरा उपनयन-संस्कार करूँगा।'

सत्यकामका उपनयन करके चार सौ दुर्बल गायोंको उसके सामने लाकर गौतमने कहा—'तू इन्हें वनमें चराने ले जा। जबतक इनकी संख्या एक हजार न हो जाय, इन्हें वापस न लाना।' उसने कहा—भगवन्! इनकी संख्या एक हजार हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा।'

सत्यकाम गायोंको लेकर वनमें गया। वहाँ वह कुटिया बनाकर रहने लगा और तन-मनसे गौओंकी सेवा करने लगा। धीरे-धीरे गायोंकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी। तब एक दिन एक वृषभ (साँड़)-ने सत्यकामके पास आकर कहा—'वत्स! हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, अब तू हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दे। साथ ही ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमें तुझे एक चरणका मैं उपदेश देता हूँ। वह ब्रह्म 'प्रकाशस्वरूप' है, इसका दूसरा चरण तुझे अग्नि बतलायेंगे।'

सत्यकाम गौओंको हाँककर आगे चला। संध्या होनेपर उसने गायोंको रोक दिया और उन्हें जल पिलाकर वहीं रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। तत्पश्चात् काष्ठ लाकर उसने अग्नि जलायी। अग्निने कहा—'सत्यकाम! मैं तुझे ब्रह्मका द्वितीय पाद बतलाता हूँ; वह 'अनन्त'-लक्षणात्मक है, अगला उपदेश तुझे हंस करेगा।'

दूसरे दिन सायंकाल सत्यकाम पुनः किसी सुन्दर जलाशयके किनारे ठहर गया और उसने गौओंके रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। इतनेमें ही एक हंस ऊपरसे उड़ता हुआ आया और सत्यकामके पास बैठकर बोला—'सत्यकाम!' सत्यकामने कहा—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' हंसने कहा—'मैं तुझे ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश कर रहा हूँ, वह 'ज्योतिष्मान्' है, चतुर्थ पादका उपदेश तुझे मुद्ग (जलकुक्कुट) करेगा।'

दूसरे दिन सायंकाल सत्यकामने एक वटवृक्षके नीचे गौओंके रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। अग्नि जलाकर वह बैठ ही रहा था कि एक जलमुर्गने आकर पुकारा और कहा—'वत्स! मैं तुझे ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश करता हूँ, वह 'आयतनस्वरूप' है।'

इस प्रकार उन-उन देवताओंसे सच्चिदानन्दघन-लक्षण परमात्माका बोध प्राप्त कर एक सहस्र गौओंके साथ सत्यकाम आचार्य गौतमके यहाँ पहुँचा। आचार्यने उसकी चिन्तारहित, तेजपूर्ण दिव्य मुखकान्तिको देखकर कहा—'वत्स! तू ब्रह्मज्ञानीके सदृश दिखलायी पड़ता है।' सत्यकामने कहा—'भगवन्! मुझे मनुष्येतरोंसे विद्या मिली है। मैंने सुना है कि आपके सदृश आचार्यके द्वारा प्राप्त हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अतएव मुझे आप ही पूर्णरूपसे उपदेश कीजिये।' आचार्य बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'वत्स! तूने जो प्राप्त किया है, वही ब्रह्मतत्त्व है' और उस सम्पूर्ण तत्त्वका पुनः उन्होंने ठीक उसी प्रकार उपदेश किया।

(छान्दोग्य० ४।४—६)

'ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना'

(श्रीअनुरागजी 'कपिध्वज')

मनुस्मृतिमें कहा गया है कि धार्यमाण भक्ति, ज्ञान आदि धर्मकी जिज्ञासा रखनेवालोंके लिये मुख्य स्वतःप्रमाण एकमात्र श्रुति है[१]। महाभारत—जिसे पञ्चम वेद स्वीकार किया गया है, उसमें भी वेदोंकी महत्ता बतलाते हुए कहा गया है कि वेदवाणी दिव्य है। नित्य एवं आदि-अन्तरहित है। सृष्टिके आदिमें स्वयम्भू परमेश्वरद्वारा उसका प्रादुर्भाव हुआ है तथा उसके द्वारा धर्म, भक्ति आदिकी समस्त प्रवृत्तियाँ सिद्ध हो रही हैं[२]। महापुरुषोंका मत है कि सच्ची जिज्ञासा, उत्कट अभिलाषा, श्रद्धा तथा विश्वासके द्वारा ही उस अमृतवाणीको समझा जा सकता है।

वेदोंका कथन है कि संसारका अस्तित्व नहीं है। जबतक देह, इन्द्रिय और प्राणोंके साथ आत्माकी सम्बन्ध-भ्रान्ति है, तभीतक अविवेकी पुरुषको वह सत्य-सा स्फुरित होता है। जैसे स्वप्नमें अनेक विपत्तियाँ आती हैं, वास्तवमें वे हैं नहीं, पर स्वप्न टूटनेतक उनका अस्तित्व नहीं मिटता; वैसे ही संसारके न होनेपर भी जो उसमें प्रतीत होनेवाले विषयोंका चिन्तन करता रहता है, उसके जन्म-मृत्युरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होती।

आत्मतत्त्व-जिज्ञासा एवं आत्मबोधके द्वारा ही दृश्य-प्रपञ्चका अस्तित्व जो द्रष्टाका बन्धन कहा गया है, नष्ट होता है और साधक 'मैं ही सर्वाधिष्ठान परब्रह्म हूँ', 'सर्वाधिष्ठान ब्रह्म मैं ही हूँ'—यह जाननेमें समर्थ होता है तथा उसे वेदोंकी वह अमृतवाणी समझमें आ जाती है। जिसके द्वारा समस्त वेद मोहनिंद्रामें सोये हुए जीवोंको जाग्रत् करनेके लिये दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि संसारमें परमेश्वरके सिवा और कुछ नहीं है। वह परमेश्वर स्वर्ग, पृथिवी एवं अन्तरिक्षरूप निखिल विश्वमें पूर्णरूपसे व्याप्त है, वह सम्पूर्ण जगत्का सूर्य अर्थात् प्रकाशक है तथा वह स्थावर-जङ्गमका आत्मा है[३]। उसे जानकर ही प्राणी मुक्त होता है अर्थात् वह बारम्बार जन्म-मृत्युरूप महाभयंकर बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा पा जाता है, जिससे मुक्त होनेका अन्य कोई उपाय नहीं है[४]।

वेदभगवान्का सुझाव और आदेश है कि जो उस परमप्रभुको जान लेते हैं, वे मोक्षपदको प्राप्त करते हैं[५]। वही परमात्मा शरीरादिरूपसे परिणत पृथिव्यादि पञ्चभूतोंके भीतर पुरुष अर्थात् पूर्ण परमात्मा सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करनेके लिये प्रविष्ट हुआ है तथा इस अधिष्ठान-पुरुषके भीतर वह भूत-भौतिक जगत् अर्पित है अर्थात् अध्यारोपित है[६]। इसीलिये कहा गया है कि जब जीवात्मा सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको तथा आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको अभेदरूपसे देखने लगता है, तब वह जीवात्मा संसारसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। यजुर्वेदमें कहा गया है कि जो मनुष्य प्राणिमात्रको सर्वाधार परब्रह्मपुरुषोत्तममें देखता है और सर्वान्तर्यामी परमप्रभु परमात्माको प्राणिमात्रमें देखता है, वह फिर कभी किसीसे घृणा या द्वेष नहीं कर सकता[७]।

साधक जब यह समझ जाता है कि संसार अपनी आत्मामें फैला हुआ है और आत्मा तथा परमात्मा एक है—यह जानकर कि अधिष्ठानमें अध्यस्तकी सत्ता अधिष्ठानरूप होती है, तब वह सर्वात्मभावको प्राप्त हो आत्मामें फैले संसारको आत्मरूपसे देखने लगता है और मुक्त हो जाता है, क्योंकि जो पुरुष 'सब कुछ ब्रह्म ही है', 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार एकभावका आश्रय लेकर सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित परमात्माको भजता है, वह सब प्रकार व्यवहार करता हुआ भी पुनः संसारमें उत्पन्न नहीं होता।

संतजन परमात्मविषयक विचारसे उत्पन्न परमात्म-स्वरूपके अनुभवको ही ज्ञान कहते हैं। ज्ञानके द्वारा सामने दिखायी देनेवाले इस जगत्की जो निवृत्ति है—परमात्मामें स्थित एवं भलीभाँति प्रबुद्ध हुए ज्ञानी पुरुषकी इसी स्थितिको 'तुर्यपद' कहते हैं। जिस ज्ञानके समय समस्त प्राणी एक आत्मा ही हो जाते हैं अर्थात् नाम-रूपात्मक आरोपित जगत्का अधिष्ठान आत्मामें बाधित हो जाता है—केवल आत्मा ही परिशिष्ट रह जाता है। ऐसे विज्ञानस्वरूप साधककी जगत्से मुक्ति होना—स्वाभाविक ही है[८]।

---

१. धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ (मनुस्मृति २। १३)
२. अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ (महाभारत)
३. आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ (ऋग्वेद १। ११५। १; शुक्लयजुर्वेद ७। ४२)
४. तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (शुक्लयजुर्वेद ३१। १८)
५. य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः॥ (ऋग्वेद १। १६४। २३; अथर्ववेद ९। १०। १)
६. पञ्चस्वन्तः पुरुष आ विवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि। (शुक्लयजुर्वेद २३। ५२)
७. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥ (शुक्लयजुर्वेद ४०। ६)
८. यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (शुक्लयजुर्वेद ४०। ७)

ब्रह्मस्वरूप वेद

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

(१) शास्त्र-वाक्योंसे श्रवण

सामान्य दृष्टिसे वेद अन्य ग्रन्थोंकी भाँति ही दिखलायी देते हैं; क्योंकि इनमें कुछ समताएँ हैं। अन्य ग्रन्थ जैसे अपने विषयके प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसमूह होते हैं, वैसे वेद भी अपने विषयके प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसमूह दीखते हैं—यह एक समता हुई। दूसरी समता यह है कि अन्य ग्रन्थ जैसे कागजपर छापे या लिखे जाते हैं, वैसे वेद भी प्राकृतिक कागजपर छापे या लिखे जाते हैं, किंतु वास्तविकता यह है कि अन्य ग्रन्थोंके वाक्य जैसे अनित्य होते हैं, वैसे वेदके वाक्य अनित्य नहीं हैं। इस दृष्टिसे वेद और अन्य ग्रन्थोंमें वही अन्तर है, जो अन्य मनुष्योंसे श्रीराम-श्रीकृष्णमें होता है। जब ब्रह्म श्रीराम-श्रीकृष्णके रूपमें अवतार ग्रहण करता है, तब साधारण जन उन्हें मनुष्य ही देखते हैं। वे समझते हैं कि जैसे प्रत्येक मनुष्य हाड़-मांस-चर्मका बना होता है, वैसे ही वे भी हैं, किंतु वास्तविकता यह है कि श्रीराम-श्रीकृष्णके शरीरमें हाड़-मांस-चर्म आदि कोई प्राकृतिक पदार्थ नहीं होता।[1] इनका शरीर साक्षात् सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप होता है। अतः अधिकारी लोग इन्हें ब्रह्मस्वरूप ही देखते हैं।[2] जैसे श्रीराम-श्रीकृष्ण मनुष्य दीखते हुए भी मनुष्योंसे भिन्न अनश्वर ब्रह्मस्वरूप होते हैं, वैसे ही वेदोंके वाक्य भी अन्य ग्रन्थोंके वाक्योंकी तरह दीखते हुए भी उनसे भिन्न अनश्वर ब्रह्मरूप होते हैं। जैसे श्रीराम-श्रीकृष्णको 'ब्रह्म', 'स्वयम्भू' कहा गया है, वैसे वेदको भी 'ब्रह्म', 'स्वयम्भू' कहा गया है। इस विषयमें कुछ प्रमाण ये हैं—

(१) **अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।**
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

(मनु० १। २३)

अर्थात् 'ब्रह्माने यज्ञको सम्पन्न करनेके लिये अग्नि, वायु और सूर्यसे ऋक्, यजुः और साम नामक तीन वेदोंको प्रकट किया। इस श्लोकमें मनुने वेदोंको 'सनातन ब्रह्म' कहा है।'

(२) **कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।**

(गीता ३। १५)

अर्थात् 'अर्जुन! तुम क्रियारूप यज्ञ आदि कर्मको ब्रह्म (वेदों)-से उत्पन्न हुआ और उस ब्रह्म (वेदों)-को ईश्वरसे आविर्भूत जानो।'

(३) स्वयं वेदने अपनेको 'ब्रह्म' और 'स्वयम्भू' कहा है—'**ब्रह्म स्वयम्भूः**' (तै०आ० २। ९)।

(४) इसी तथ्यको व्यासदेवने दोहराया है—

(क) वेदो नारायणः साक्षात् (बृ०नारदपु० ४। १७)।

(ख) वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥

(श्रीमद्भा० ६। १। ४०)

(२) मनन

इस तरह शास्त्रोंसे सुन लिया गया कि 'वेद नित्य-नूतन ब्रह्मरूप हैं।' अब इसका युक्तियोंसे मनन अपेक्षित है।

(३) वेद ब्रह्मरूप कैसे?

ब्रह्म सत्, चित्, आनन्दरूप होता है—'**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' (बृ० उ० ३। ९। २८)। 'सत्' का अर्थ होता है—'त्रिकालाबाध्य अस्तित्व अर्थात् ब्रह्म सदा वर्तमान रहता है, इसका कभी विनाश नहीं होता।' 'आनन्द' का अर्थ होता है—'वह आत्यन्तिक सुख, जो प्राकृतिक सुख-दुःखसे ऊपर उठा हुआ होता है।' 'चित्' का अर्थ होता है—'ज्ञान'। इस तरह ब्रह्म जैसे नित्य सत्तास्वरूप, नित्य आनन्दस्वरूप है, वैसे ही नित्य ज्ञानरूप भी है। ज्ञानमें शब्दका अनुवेध अवश्य रहता है—

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

(वाक्यपदीय १२३)

१-(क) न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मेदोमज्जास्थिसम्भवा (वराहपुराण)।
(ख) स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् (शुक्लयजु० ४०। ८)।
—इस मन्त्रमें ब्रह्मको 'अकाय' शब्दके द्वारा लिङ्ग-शरीरसे रहित, 'अव्रण' और 'अस्नाविर' शब्दोंके द्वारा स्थूल-शरीरसे रहित एवं 'शुद्ध' शब्दके द्वारा कारण-शरीरसे रहित बतलाया गया है।

२-कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा (प्रबोधसुधाकर)।

नित्य ज्ञानके लिये अनुवेध भी तो नित्य शब्दका ही होना चाहिये? इस तरह नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्धवाले वेद ब्रह्मरूप सिद्ध हो जाते हैं।

महाप्रलयके बाद ईश्वरकी इच्छा जब सृष्टि रचनेकी होती है, तब यह अपनी बहिरङ्ग शक्ति प्रकृतिपर एक दृष्टि डाल देता है। इतनेसे प्रकृतिमें गति आ जाती है और वह चौबीस तत्त्वोंके रूपमें परिणत होने लगती है। इस परिणाममें ईश्वरका उद्देश्य यह होता है कि अपञ्चीकृत तत्त्वोंसे एक समष्टि शरीर बन जाय, जिससे उसमें समष्टि आत्मा एवं विश्वका सबसे प्रथम प्राणी हिरण्यगर्भ आ जाय—**'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे०'** (ऋक्० १०। १२१। १)।

जब तपस्याके द्वारा ब्रह्मामें योग्यता आ जाती है, तब ईश्वर उन्हें वेद प्रदान करता है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(श्वेताश्व०६। १८)

इस तथ्यका उपबृंहण करते हुए मत्स्यपुराण (३। २, ४)-में कहा गया है—

तपश्चचार प्रथमममराणां पितामहः।
आविर्भूतास्ततो वेदाः साङ्गोपाङ्गपदक्रमाः॥
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।

अर्थात् 'ब्रह्माने सबसे पहले तप किया। तब ईश्वरके द्वारा भेजे गये वेदोंका उनमें आविर्भाव हो पाया। (पुराणोंको पहले स्मरण किया) बादमें ब्रह्माके चारों मुखोंसे वेद निकले।' उपर्युक्त श्रुतियों एवं स्मृतियोंके वचनसे निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) ईश्वरने भूत-सृष्टि कर सबसे पहले हिरण्यगर्भको बनाया। उस समय भौतिक सृष्टि नहीं हुई थी। (२) ईश्वरने हिरण्यगर्भसे पहले तपस्या करायी, इसके बाद योग्यता आनेपर उनके पास वेदोंको भेजा। (३) वे वेद पहले ब्रह्माके हृदयमें आविर्भूत हो गये। हृदयने उनका प्रतिफलन कर मुखोंसे उच्चरित करा दिया। इस तरह ईश्वरने ब्रह्माको वेद प्रदान किये।

वेदोंसे सृष्टि

जबतक ब्रह्माके पास वेद नहीं पहुँचे थे, तबतक वे किंकर्तव्यविमूढ थे। वेदोंकी प्राप्तिके पश्चात् इन्हींकी सहायतासे वे भौतिक सृष्टि-रचनामें समर्थ हुए। मनुने लिखा है—

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥

(मनु० १। २१)

तैत्तिरीय आरण्यकने स्पष्ट बतलाया है कि वेदोंने ही इस सम्पूर्ण विश्वका निर्माण किया है—**'सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्।'** यहाँ प्रकरणके अनुसार 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ वेद है।

ब्रह्माद्वारा सम्प्रदायका प्रवर्तन

सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्मा अकेले थे। इन्होंने ही वेदोंको पाकर सृष्टिके क्रमको आगे बढ़ाया। सनक, सनन्दन, वसिष्ठ आदि इनके पुत्र हुए। ब्रह्माने ईश्वरसे प्राप्त वेदोंको इन्हें पढ़ाया। वसिष्ठ कुलपति हुए। उन्होंने शक्ति आदि बहुत-से शिष्योंको वेद पढ़ाया तथा उनके शिष्योंने अपने शिष्योंको पढ़ाया। इस तरह वेदोंके पठन-पाठनकी परम्परा चल पड़ी। जो आज भी चलती आ रही है—

वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकमधुनाध्ययनवत्॥

(मीमांसा-न्यायप्रकाश)

उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महाप्रलयके बाद ईश्वरकी सत्ताकी भाँति उनके स्वरूपभूत वेदोंकी भी सत्ता बनी रहती है। इस तरह गुरु-परम्परासे वेद हम लोगोंको प्राप्त हुए हैं। वेदोंके शब्द नित्य हैं, अन्य ग्रन्थोंकी तरह अनित्य नहीं।

वेदोंकी रक्षाके अनूठे उपाय

वेदोंका एक-एक अक्षर, एक-एक मात्रा अपरिवर्तनीय है। सृष्टिके प्रारम्भमें इनका जो रूप था, वही सब आज भी है। आज भी वही उच्चारण और वही क्रम है। ऐसा इसलिये हुआ कि इनके संरक्षणके लिये आठ उपाय किये गये हैं, जिन्हें **'विकृति'** कहते हैं। उनके नाम हैं—(१) जटा, (२) माला, (३) शिखा, (४) रेखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ और (८) घन—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

विश्वके किसी दूसरी पुस्तकमें ये आठों उपाय नहीं मिलते। गुरु-परम्परासे प्राप्त इन आठों उपायोंका फल निकला कि सृष्टिके प्रारम्भमें वेदके जैसे उच्चारण थे, जैसे पद-क्रम थे, वे आज भी वैसे ही सुने जा सकते हैं। हजार वर्षोंकी गुलामीने इस गुरु-परम्पराको हानि पहुँचायी है। फलतः वेदोंकी अधिकांश शाखाएँ नष्ट हो गयीं, किंतु जो बची हैं, उन्हें इन आठ विकृतियोंने सुरक्षित रखा है।

वेद अनन्त हैं

जिज्ञासा होती है कि वेदोंकी कितनी शाखाएँ होती

हैं और उनमें आज कितनी बची हैं? इस प्रश्नका उत्तर वेद स्वयं देते हैं। वे बतलाते हैं कि हमारी कोई इयत्ता नहीं है—'**अनन्ता वै वेदाः।**' वेदके अनन्त होनेके कारण जिस कल्पमें ब्रह्माकी जितनी क्षमता होती है, उस कल्पमें वेदकी उतनी ही शाखाएँ उनके हृदयसे प्रतिफलित होकर उनके मुखोंसे उच्चरित हो पाती हैं। यही कारण है कि वेदोंकी शाखाओंकी संख्यामें भिन्नता पायी जाती है। मुक्तिकोपनिषद्‌में ११८०, स्कन्दपुराणमें ११३७ और महाभाष्यमें ११३१ शाखाएँ बतलायी गयी हैं। वेद चार भागोंमें विभक्त हैं—(१) ऋक्, (२) यजुः, (३) साम और (४) अथर्व।

—इनमें ऋक्-संहिताकी २१ शाखाएँ होती हैं, जिनमें आज 'बाष्कल' और 'शाकल' दो शाखाएँ उपलब्ध हैं। यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ होती हैं। इसके दो भेद होते हैं—(१) शुक्लयजुर्वेद और (२) कृष्णयजुर्वेद। इनमें शुक्लयजुःसंहिताकी १५ संहिताएँ हैं। इनमें दो संहिताएँ प्राप्त हैं—(१) वाजसनेयी और (२) काण्व। कृष्ण-यजुर्वेदकी ८६ संहिताएँ होती हैं। इनमें चार मिलती हैं— (१) तैत्तिरीय-संहिता, (२) मैत्रायणी-संहिता, (३) काठक-संहिता और (४) कठ-कपिष्ठल-संहिता। सामवेदकी १००० शाखाएँ होती हैं। इनमें दो मिलती हैं—(१) कौथुम और (२) जैमिनि शाखा। राणायनीयका भी कुछ भाग मिला है। अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ होती हैं, उनमें आज दो ही मिलती हैं—(१) शौनक-शाखा तथा (२) पैप्पलाद-शाखा। वेदके मन्त्र-भागकी जितनी संहिताएँ होती हैं, उतने ही ब्राह्मणभाग भी होते हैं। आरण्यक और उपनिषदें भी उतनी ही होती हैं। इनमें अधिकांशका लोप हो गया है।

ऋषि लुप्त शाखाओंको प्राप्त कर लेते थे

वेदकी शाखाएँ पहले भी लुप्त कर दी जाती थीं। शिवपुराणसे पता चलता है कि दुर्गमासुरने ब्रह्मासे वरदान पाकर समस्त वेदोंको लुप्त कर दिया था। पीछे दुर्गाजीकी कृपासे वे विश्वको प्राप्त हुए। कभी-कभी ऋषि लोग तपस्याद्वारा उन लुप्त वेदोंका दर्शन करते थे।

इस तरह शास्त्र-वचनोंके श्रवण और उपपत्तियोंके द्वारा मननसे स्पष्ट हो जाता है कि वेद अन्य ग्रन्थोंकी तरह किसी जीवके द्वारा निर्मित नहीं हैं। जैसे ईश्वर सनातन, स्वयम्भू और अपौरुषेय हैं, वैसे वेद भी हैं। जैसे ईश्वर प्रलयमें भी स्थिर रहते हैं, वैसे वेद भी—'**नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि**' (मेधातिथि)। इन्हीं वेदोंके आधारपर सृष्टिका निर्माण होता है।

वेदोंने मानवोंके विकासके लिये जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें भरपूर शिक्षाएँ दी हैं। प्रत्येक शिक्षा सत्य है, अतः लाभप्रद है; क्योंकि वेदोंका अक्षर-अक्षर सत्य होता है। जब ईश्वर सत्य है, तब उसके स्वरूप वेद असत्य कैसे हो सकते हैं? जबतक वेदकी इस सत्यतापर पूरी आस्था न जमेगी, तबतक वेदोंकी शिक्षाको जीवनमें उतार पाना सम्भव नहीं है।

अर्चनासे बढ़कर भक्ति नहीं

यों तो भक्तिके नौ प्रकार बतलाये गये हैं, पर उनमें मुख्य और कल्याणकारी भक्तिकी विधा है अर्चना—भगवान्‌के श्रीविग्रहका पूजन। यही कारण है कि '**अरं दास०**' यह श्रुति भागवती सेवाको सर्वथा अनुपेक्ष्य बताती है—

नवधा भक्तिराख्याता मुख्यां तत्रार्चनां शिवाम्। प्राह भागवतीं सेवामरं दास इति श्रुतिः॥

कुछ बन्धुओंकी धारणा है कि भारतीय संस्कृतिके मूल ग्रन्थ वेदोंमें मूर्तिपूजा, अर्चन-भक्ति आदिका कहीं उल्लेख नहीं प्राप्त होता। अतएव वे न केवल मूर्तिपूजासे दुराव करने लगे, वरन् उसके खण्डनमें भी जुट गये; पर जब यह प्रत्यक्ष श्रुति हमें अर्चना करनेको कहती है तो फिर इस भ्रमके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। देखिये, श्रुति कितना स्पष्ट कहती है—

अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः। अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति॥

(ऋक्० ७। ८६। ७)

तात्पर्य यह कि मैं निषिद्धाचरणसे वर्जित भक्त किसी दासकी तरह असीम फलकी प्राप्तिके लिये चतुर्विध-पुरुषार्थदाता परमेश्वरको पुष्पादिसे अलंकृत करता हूँ, ताकि वे मुझपर प्रसन्न हों। ये देव सर्वस्वामी होकर अपने संनिधानसे पाषाणको भी पूजनीय बना देते हैं। यही कारण है कि बहुदर्शी पुरुष ऐश्वर्यप्राप्तिके लिये प्राणनादिकर्ता उस परमेश्वरको ही पूजनादिसे प्रसन्न करते हैं, क्षुद्रफलप्रद राजा आदिकी परवाह नहीं करते।

वेदवाङ्मय-परिचय एवं अपौरुषेयवाद

(दण्डीस्वामी श्रीमद् दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज)

'सनातनधर्म' एवं 'भारतीय संस्कृति' का मूल आधारस्तम्भ विश्वका अति प्राचीन और सर्वप्रथम वाङ्मय 'वेद' माना गया है। मानवजातिके लौकिक (सांसारिक) तथा पारमार्थिक अभ्युदय-हेतु प्राकट्य होनेसे वेदको अनादि एवं नित्य कहा गया है। अति प्राचीनकालीन महातपा, पुण्यपुञ्ज ऋषियोंके पवित्रतम अन्तःकरणमें वेदके दर्शन हुए थे, अतः उसका 'वेद' नाम प्राप्त हुआ। ब्रह्मका स्वरूप 'सत्-चित्-आनन्द' होनेसे ब्रह्मको वेदका पर्यायवाची शब्द कहा गया है। इसीलिये वेद लौकिक एवं अलौकिक ज्ञानका साधन है। '**तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये०**'—तात्पर्य यह कि कल्पके प्रारम्भमें आदिकवि ब्रह्माके हृदयमें वेदका प्राकट्य हुआ। सुप्रसिद्ध वेदभाष्यकार महान् पण्डित सायणाचार्य अपने वेदभाष्यमें लिखते हैं कि '**इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः**'—अर्थात् इष्ट (इच्छित) फलकी प्राप्तिके लिये और अनिष्ट वस्तुके त्यागके लिये अलौकिक उपाय (मानव-बुद्धिको अगम्य उपाय) जो ज्ञानपूर्ण ग्रन्थ सिखलाता है, समझाता है, उसको वेद कहते हैं।

निरुक्त कहता है कि '**विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति०**' अर्थात् जिसकी कृपासे अधिकारी मनुष्य (द्विज) सद्विद्या प्राप्त करते हैं, जिससे वे विद्वान् हो सकते हैं, जिसके कारण वे सद्विद्याके विषयमें विचार करनेके लिये समर्थ हो जाते हैं, उसे वेद कहते हैं।

'आर्यविद्या-सुधाकर' नामक ग्रन्थमें कहा गया है कि—

वेदो नाम वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मार्थकाममोक्षा अनेनेति व्युत्पत्त्या चतुर्वर्गज्ञानसाधनभूतो ग्रन्थविशेषः॥

अर्थात् पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष)-विषयक सम्यक्-ज्ञान होनेके लिये साधनभूत ग्रन्थविशेषको वेद कहते हैं।

'कामन्दकीय नीति' भी कहती है—'**आत्मानमन्विच्छ०।**' '**यस्तं वेद स वेदवित्॥**' अर्थात् जिस (नरपुङ्गव)-को आत्मसाक्षात्कार किंवा आत्मप्रत्यभिज्ञा हो गया, उसको ही वेदका वास्तविक ज्ञान होता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञानका ही पर्याय वेद है।

श्रुति भगवती बतलाती है कि '**अनन्ता वै वेदाः॥**' वेदका अर्थ है ज्ञान। ज्ञान अनन्त हैं, अतः वेद भी अनन्त हैं। तथापि मुण्डकोपनिषद्की मान्यता है कि वेद चार हैं—'**ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः॥**' (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद और (४) अथर्ववेद। इन वेदोंके चार उपवेद इस प्रकार हैं—

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
स्थापत्यवेदमपरमुपवेदश्चतुर्विधः ॥

उपवेदोंके कर्ताओंमें आयुर्वेदके कर्ता धन्वन्तरि, धनुर्वेदके कर्ता विश्वामित्र, गान्धर्ववेदके कर्ता नारदमुनि और स्थापत्यवेदके कर्ता विश्वकर्मा हैं।

मनुस्मृति कहती है—'**श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः**' अर्थात् वेदोंको ही श्रुति कहते हैं। '**आदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्ते सा श्रुतिः॥**' अर्थात् सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर आजतक जिसकी सहायतासे बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको सत्यविद्या ज्ञात हुई, उसे 'श्रुति' कहते हैं। 'श्रु' का अर्थ है 'सुनना', अतः 'श्रुति' माने हुआ 'सुना हुआ ज्ञान।' वेदकालीन महातपा सत्पुरुषोंने समाधिमें जो महाज्ञान प्राप्त किया और जिसे जगत्के आध्यात्मिक अभ्युदयके लिये प्रकट भी किया, उस महाज्ञानको 'श्रुति' कहते हैं।

श्रुतिके दो विभाग हैं—(१) वैदिक और (२) तान्त्रिक—'**श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च।**' मुख्य तन्त्र तीन माने गये हैं—(१) महानिर्वाण-तन्त्र, (२) नारदपाञ्चरात्र-तन्त्र और (३)कुलार्णव-तन्त्र।

वेदके भी दो विभाग हैं—(१) मन्त्रविभाग और (२) ब्राह्मणविभाग—'**वेदो हि मन्त्रब्राह्मणभेदेन द्विविधः।**' वेदके मन्त्रविभागको संहिता भी कहते हैं। संहितापरक विवेचनको 'आरण्यक' एवं संहितापरक भाष्यको '**ब्राह्मणग्रन्थ**' कहते हैं। वेदोंके ब्राह्मणविभागमें 'आरण्यक' और 'उपनिषद्'का भी समावेश है। ब्राह्मणग्रन्थोंकी संख्या १३ है, जैसे ऋग्वेदके २, यजुर्वेदके २, सामवेदके ८ और अथर्ववेदके १। मुख्य ब्राह्मणग्रन्थ

पाँच हैं—(१) ऐतरेय ब्राह्मण, (२) तैत्तिरीय ब्राह्मण, (३) तलवकार ब्राह्मण, (४) शतपथ ब्राह्मण और (५) ताण्ड्य ब्राह्मण।

उपनिषदोंकी संख्या वैसे तो १०८ है, परंतु मुख्य १२ माने गये हैं, जैसे—(१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) तैत्तिरीय, (८) ऐतरेय, (९) छान्दोग्य, (१०) बृहदारण्यक, (११) कौषीतकि और (१२) श्वेताश्वतर।

वेद पौरुषेय (मानवनिर्मित) है या अपौरुषेय (ईश्वरप्रणीत)? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नका स्पष्ट उत्तर ऋग्वेद (१। १६४। ४५)-में इस प्रकार है—'वेद' परमेश्वरके मुखसे निकला हुआ 'परावाक्' है, वह 'अनादि' एवं 'नित्य' कहा गया है। वह अपौरुषेय ही है।

इस विषयमें मनुस्मृति कहती है कि अति प्राचीन कालके ऋषियोंने उत्कट तपस्याद्वारा अपने तपःपूत हृदयमें 'परावाक्' वेदवाङ्मयका साक्षात्कार किया था, अतः वे मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहलाये—'**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**।'

बृहदारण्यकोपनिषद् (२। ४। १०)-में उल्लेख है—'**अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः**।' अर्थात् उन महान् परमेश्वरके द्वारा (सृष्टि-प्राकट्य होनेके साथ ही) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद निःश्वासकी तरह सहज ही बाहर प्रकट हुए। तात्पर्य यह है कि परमात्माका निःश्वास ही वेद है। इसके विषयमें वेदके महापण्डित सायणाचार्य अपने वेदभाष्यमें लिखते हैं—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥

सारांश यह कि वेद परमेश्वरका निःश्वास है, अतः परमेश्वरद्वारा ही निर्मित है। वेदसे ही समस्त जगत्का निर्माण हुआ है। इसीलिये वेदको अपौरुषेय कहा गया है।

सायणाचार्यके इन विचारोंका समर्थन पाश्चात्त्य वेदविद्वान् प्रो० विल्सन, प्रो० मैक्समूलर आदिने अपने पुस्तकोंमें किया है। प्रो० विल्सनसाहब लिखते हैं कि 'सायणाचार्यका वेदविषयक ज्ञान अति विशाल और अति गहन है, जिसकी समकक्षताका दावा कोई भी यूरोपीय विद्वान् नहीं कर सकता।' प्रो० मैक्समूलरसाहब लिखते हैं कि 'यदि मुझे सायणाचार्यरचित बृहद् वेदभाष्य पढ़नेको नहीं मिलता तो मैं वेदार्थोंके दुर्भेद्य किलामें प्रवेश ही नहीं पा सका होता।' इसी प्रकार पाश्चात्त्य वेदविद्वान् वेबर, बेनफी, राथ, ग्रास्मन, लुडविग, ग्रिफिथ, कीथ तथा विंटरनित्ज आदिने सायणाचार्यके वेदविचारोंका ही प्रतिपादन किया है।

निरुक्तकार 'यास्काचार्य' भाषाशास्त्रके आद्यपण्डित माने गये हैं। उन्होंने अपने महाग्रन्थ वेदभाष्यमें स्पष्ट लिखा है कि 'वेद अनादि, नित्य एवं अपौरुषेय (ईश्वरप्रणीत) ही है।' उनका कहना है कि 'वेदका अर्थ समझे बिना केवल वेदपाठ करना पशुकी तरह पीठपर बोझा ढोना ही है; क्योंकि अर्थज्ञानरहित शब्द (मन्त्र) प्रकाश (ज्ञान) नहीं दे सकता। जिसे वेद-मन्त्रोंका अर्थ-ज्ञान हुआ है, उसीका लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण होता है।' ऐसे वेदार्थज्ञानका मार्गदर्शक निरुक्त है।

जर्मनीके वेदविद्वान् प्रो० मैक्समूलरसाहब कहते हैं कि 'विश्वका प्राचीनतम वाङ्मय वेद ही है, जो दैविक एवं आध्यात्मिक विचारोंको काव्यमय भाषामें अद्भुत रीतिसे प्रकट करनेवाला कल्याणप्रदायक है। वेद परावाक् है।'

निःसंदेह परमेश्वरने ही परावाक् (वेदवाणी)-का निर्माण किया है—ऐसा महाभारत, शान्तिपर्व (२३२। २४)-में स्पष्ट कहा गया है—

अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा॥

अर्थात् जिसमेंसे सर्वजगत् उत्पन्न हुआ, ऐसी अनादि वेद-विद्यारूप दिव्य वाणीका निर्माण जगन्निर्माताने सर्वप्रथम किया।

ऋषि वेदमन्त्रोंके कर्ता नहीं अपितु द्रष्टा ही थे—'**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**।' निरुक्तकारने भी कहा है—वेदमन्त्रोंके साक्षात्कार होनेपर साक्षात्कारीको ऋषि कहा जाता है—'**ऋषिर्दर्शनात्**।' इससे स्पष्ट होता है कि वेदका कर्तृत्व अन्य किसीके पास नहीं होनेसे वेद ईश्वरप्रणीत ही है, अपौरुषेय ही है।

भारतीय दर्शनशास्त्रके मतानुसार शब्दको नित्य कहा गया है। वेदने शब्दको नित्य माना है, अतः वेद अपौरुषेय है यह निश्चित होता है। निरुक्तकार कहते हैं कि '**नियतानुपूर्व्या नियतवाचो युक्तयः**।' अर्थात् शब्द नित्य है, उसका अनुक्रम नित्य है और उसकी उच्चारण-पद्धति भी नित्य है, इसीलिये वेदके अर्थ नित्य हैं। ऐसी वेदवाणीका निर्माण स्वयं परमेश्वरने ही किया है।

शब्दकी चार अवस्थाएँ मानी गयी हैं—(१) परा, (२) पश्यन्ती, (३) मध्यमा और (४) वैखरी। ऋग्वेद (१। १६४। ४५)-में इनके विषयमें इस प्रकार कहा गया है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

अर्थात् वाणीके चार रूप होनेसे उन्हें ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं। वाणीके तीन रूप गुप्त हैं, चौथा रूप शब्दमय वेदके रूपमें लोगोंमें प्रचारित होता है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञानको परावाक् कहते हैं। उसे ही वेद कहा गया है। इस वेदवाणीका साक्षात्कार महातपस्वी ऋषियोंको होनेसे इसे 'पश्यन्तीवाक्' कहते हैं। ज्ञानस्वरूप वेदका आविष्कार शब्दमय है। इस वाणीका स्थूल स्वरूप ही 'मध्यमावाक्' है। वेदवाणीके ये तीनों स्वरूप अत्यन्त रहस्यमय हैं। चौथी 'वैखरीवाक्' ही सामान्य लोगोंकी बोलचालकी है। शतपथब्राह्मण तथा माण्डूक्योपनिषद्में कहा गया है कि वेदमन्त्रके प्रत्येक पदमें, शब्दके प्रत्येक अक्षरमें एक प्रकारका अद्भुत सामर्थ्य भरा हुआ है। इस प्रकारकी वेदवाणी स्वयं परमेश्वरद्वारा ही निर्मित है, यह निःशंक है।

शिवपुराणमें आया है कि ॐके 'अ' कार, 'उ' कार, 'म' कार और सूक्ष्मनाद; इनमेंसे (१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद तथा (४) अथर्ववेद निःसृत हुए। समस्त वाङ्मय ओंकार (ॐ)-से ही निर्मित हुआ। **'ओंकारं बिंदुसंयुक्तम्'** तो ईश्वररूप ही है। श्रीमद्भगवद्गीता (७। ७)-में भी ऐसा ही उल्लेख है—

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

श्रीमद्भागवत (६। १। ४०)-में तो स्पष्ट कहा गया है—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥

अर्थात् वेदभगवान्‌ने जिन कार्योंको करनेकी आज्ञा दी है वह धर्म है और उससे विपरीत करना अधर्म है। वेद नारायणरूपमें स्वयं प्रकट हुआ है, ऐसा श्रुतिमें कहा गया है।

श्रीमद्भागवत (१०। ४। ४१)-में ऐसा भी वर्णित है—

विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः॥

अर्थात् वेदज्ञ (सदाचारी भी) ब्राह्मण, दुधारू गाय, वेद, तप, सत्य, दम, शम, श्रद्धा, दया, सहनशीलता और यज्ञ—ये श्रीहरि (परमेश्वर)-के स्वरूप हैं।

मनुस्मृति (२। ५) वेदको धर्मका मूल बताते हुए कहती है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

अर्थात् समग्र वेद एवं वेदज्ञ (मनु, पराशर, याज्ञवल्क्यादि)-की स्मृति, शील, आचार, साधु (धार्मिक)-के आत्माका संतोष—ये सभी धर्मोंके मूल हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति (१। ७)-में भी कहा गया है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥

अर्थात् श्रुति, स्मृति, सत्पुरुषोंका आचार, अपने आत्माकी प्रीति और उत्तम संकल्पसे हुआ (धर्माविरुद्ध) काम—ये पाँच धर्मके मूल हैं। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमें वेद सर्वश्रेष्ठ स्थानपर है। वेदका प्रामाण्य त्रिकालाबाधित है।

भारतीय आस्तिक दर्शनशास्त्रके मतमें शब्दके नित्य होनेसे उसका अर्थके साथ स्वयम्भू-जैसा सम्बन्ध होता है। वेदमें शब्दको नित्य समझनेपर वेदको अपौरुषेय (ईश्वरप्रणीत) माना गया है। निरुक्तकार भी इसका प्रतिपादन करते हैं। आस्तिक-दर्शनने शब्दको सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मान्य किया है।

इस विषयमें मीमांसा-दर्शन तथा न्याय-दर्शनके मत भिन्न-भिन्न हैं। जैमिनीय मीमांसक, कुमारिल आदि मीमांसक, आधुनिक मीमांसक तथा सांख्यवादियोंके मतमें वेद अपौरुषेय, नित्य एवं स्वतःप्रमाण हैं। मीमांसक वेदको स्वयम्भू मानते हैं। उनका कहना है कि वेदकी निर्मितिका प्रयत्न किसी व्यक्ति-विशेषका अथवा ईश्वरका नहीं है। नैयायिक ऐसा समझते हैं कि वेद तो ईश्वरप्रोक्त है। मीमांसक कहते हैं कि भ्रम, प्रमाद, दुराग्रह इत्यादि दोषयुक्त होनेके कारण मनुष्यके

द्वारा वेद-जैसे निर्दोष महान् ग्रन्थरत्नकी रचना शक्य ही नहीं है। अतः वेद अपौरुषेय ही है। इससे आगे जाकर नैयायिक ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि ईश्वरने जैसे सृष्टि की, वैसे ही वेदका निर्माण किया; ऐसा मानना उचित ही है।

श्रुतिके मतानुसार वेद तो महाभूतोंका निःश्वास (**यस्य निःश्वसितं वेदा"**) है। श्वास-प्रश्वास स्वतः आविर्भूत होते हैं, अतः उनके लिये मनुष्यके प्रयत्नकी अथवा बुद्धिकी अपेक्षा नहीं होती। उस महाभूतका निःश्वासरूप वेद तो अदृष्टवशात्, अबुद्धिपूर्वक स्वयं आविर्भूत होता है।

वेद नित्य-शब्दकी संहति होनेसे नित्य है और किसी भी प्रकारसे उत्पाद्य नहीं है; अतः स्वतः आविर्भूत वेद किसी भी पुरुषसे रचा हुआ न होनेके कारण अपौरुषेय (ईश्वरप्रणीत) सिद्ध होता है। इन सभी विचारोंको दर्शनशास्त्रमें अपौरुषेयवाद कहा गया है।

अवैदिक दर्शनको नास्तिक दर्शन भी कहते हैं, क्योंकि वह वेदको प्रमाण नहीं मानता, अपौरुषेय स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि इहलोक (जगत्) ही आत्माका क्रीडास्थल है, परलोक (स्वर्ग) नामकी कोई वस्तु नहीं है, '**काम एवैकः पुरुषार्थः**'—काम ही मानव-जीवनका एकमात्र पुरुषार्थ होता है, '**मरणमेवापवर्गः**'—मरण (मृत्यु) माने ही मोक्ष (मुक्ति) है, '**प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्**'—जो प्रत्यक्ष है वही प्रमाण है (अनुमान प्रमाण नहीं है)। धर्म ही नहीं है, अतः अधर्म नहीं है; स्वर्ग-नरक नहीं हैं। '**न परमेश्वरोऽपि कश्चित्**'—परमेश्वर-जैसा भी कोई नहीं है, '**न धर्मः न मोक्षः**'—न तो धर्म है न मोक्ष है। अतः जबतक शरीरमें प्राण है, तबतक सुख प्राप्त करते हैं—इस विषयमें नास्तिक चार्वाकदर्शन स्पष्ट कहता है—

यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अर्थात् जबतक देहमें जीव है तबतक सुखपूर्वक जीयें, किसीसे ऋण ले करके भी घी पीयें; क्योंकि एक बार देह (शरीर) मृत्युके बाद जब भस्मीभूत हुआ, तब फिर उसका पुनरागमन कहाँ? अतः 'खाओ, पीओ और मौज करो'—यही है 'नास्तिक-दर्शन' या 'अवैदिक-दर्शन' का संदेश। इसको लोकायत-दर्शन, बार्हस्पत्य-दर्शन तथा चार्वाकदर्शन भी कहते हैं।

चार्वाकदर्शन शब्दमें 'चर्व' का अर्थ है—खाना। इस 'चर्व' पदसे ही 'खाने-पीने और मौज' करनेका संदेश देनेवाले इस दर्शनका नाम 'चार्वाकदर्शन' पड़ा है। 'गुणरत्न' ने इसकी व्याख्या इस प्रकारसे की है—परमेश्वर, वेद, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, आत्मा, मुक्ति इत्यादिका जिसने 'चर्वण' (नामशेष) कर दिया है, वह 'चार्वाकदर्शन' है। इस मतके लोगोंका लक्ष्य स्वमतस्थापनकी अपेक्षा परमतखण्डनके प्रति अधिक रहनेसे उनको 'वैतण्डिक' कहा गया है। वे लोग वेदप्रामाण्य मानते ही नहीं।

(१) जगत्, (२) जीव, (३) ईश्वर और (४) मोक्ष—ये ही चार प्रमुख प्रतिपाद्य विषय सभी दर्शनोंके होते हैं। आचार्य श्रीहरिभद्रने 'षड्दर्शन-समुच्चय' नामका अपने ग्रन्थमें (१) न्याय, (२) वैशेषिक, (३) सांख्य, (४) योग, (५) मीमांसा और (६) वेदान्त—इन छःको वैदिक दर्शन (आस्तिक-दर्शन) तथा (१) चार्वाक, (२) बौद्ध और (३) जैन—इन तीनको 'अवैदिक दर्शन' (नास्तिक-दर्शन) कहा है और उन सबपर विस्तृत विचार प्रस्तुत किया है।

वेदको प्रमाण माननेवाले आस्तिक और न माननेवाले नास्तिक हैं, इस दृष्टिसे उपर्युक्त न्याय-वैशेषिकादि षड्दर्शनको आस्तिक और चार्वाकादि दर्शनको नास्तिक कहा गया है।

दर्शनशास्त्रका मूल मन्त्र है—'**आत्मानं विद्धि।**' अर्थात् आत्माको जानो। पिण्ड-ब्रह्माण्डमें ओतप्रोत हुआ एकमेव आत्म-तत्त्वका दर्शन (साक्षात्कार) कर लेना ही मानव-जीवनका अन्तिम साध्य है, ऐसा वेद कहता है। इसके लिये तीन उपाय हैं—वेदमन्त्रोंका श्रवण, मनन और निदिध्यासन—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा तु सततं ध्येय एते दर्शनहेतवे॥

इसीलिये तो मनीषी लोग कहते हैं—'**यस्तं वेद स वेदवित्।**' अर्थात् ऐसे आत्मतत्त्वको जो सदाचारी व्यक्ति जानता है, वह वेदज्ञ (वेदको जाननेवाला) है।

वेदस्वरूप

(डॉ० श्रीयुगलकिशोरजी मिश्र)

भारतीय मान्यताके अनुसार वेद सृष्टिक्रमकी प्रथम वाणी है।[१] फलतः भारतीय संस्कृतिका मूल ग्रन्थ वेद सिद्ध होता है। पाश्चात्त्य विचारकोंने ऐतिहासिक दृष्टि अपनाते हुए वेदको विश्वका आदि ग्रन्थ सिद्ध किया। अतः यदि विश्व-संस्कृतिका उद्गम स्रोत वेदको माना जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

वेद शब्द और उसका लक्षणात्मक स्वरूप—शाब्दिक विधासे विश्लेषण करनेपर वेद शब्दकी निष्पत्ति '**विद-ज्ञाने**' धातुसे '**घञ्**' प्रत्यय करनेपर होती है। अतएव विचारकोंने कहा है कि—जिसके द्वारा धर्मादि पुरुषार्थ-चतुष्टय-सिद्धिके उपाय बतलाये जायँ, वह वेद है।[२] आचार्य सायणने वेदके ज्ञानात्मक ऐश्वर्यको ध्यानमें रखकर लक्षित किया कि—अभिलषित पदार्थकी प्राप्ति और अनिष्ट-परिहारके अलौकिक उपायको जो ग्रन्थ बोधित करता है, वह वेद है।[३] यहाँ यह ध्यातव्य है कि आचार्य सायणने वेदके लक्षणमें '**अलौकिकमुपायम्**' यह विशेषण देकर वेदोंकी यज्ञमूलकता प्रकाशित की है। आचार्य लौगाक्षि भास्करने दार्शनिक दृष्टि रखते हुए—अपौरुषेय वाक्यको वेद कहा है।[४] इसी तरह आचार्य उदयनने भी कहा है कि—जिसका दूसरा मूल कहीं उपलब्ध नहीं है और महाजनों अर्थात् आस्तिक लोगोंने वेदके रूपमें मान्यता दी हो, उन आनुपूर्वी विशिष्ट वाक्योंको वेद कहते हैं।[५] आपस्तम्बादि सूत्रकारोंने वेदका स्वरूपावबोधक लक्षण करते हुए कहा है कि—वेद मन्त्र और ब्राह्मणात्मक हैं।[६] आचार्यचरण स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजने दार्शनिक एवं याज्ञिक दोनों दृष्टियोंका समन्वय करते हुए वेदका अद्भुत लक्षण इस प्रकार उपस्थापित किया है—'**शब्दातिरिक्तं शब्दोपजीविप्रमाणातिरिक्तं च यत्प्रमाणं तज्जन्यप्रमितिविषयानतिरिक्तार्थको यो यस्तदन्यत्वे सति आमुष्मिकसुखजनकोच्चारणकत्वे सति जन्यज्ञानाजन्यो यो प्रमाणशब्दस्तत्त्वं वेदत्वम्।**'[७]

उपर्युक्त लक्षणोंकी विवेचना करनेपर यह तथ्य सामने आता है कि—ऐहिकामुष्मिक फलप्राप्तिके अलौकिक उपायका निदर्शन करनेवाला अपौरुषेय विशिष्टानुपूर्वीक मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशि वेद है।

वेदके दो भाग—मन्त्र और ब्राह्मण—आचार्योंने सामान्यतया मन्त्र और ब्राह्मणरूपसे वेदोंका विभाजन किया है।[८] इसमें मन्त्रात्मक वैदिक शब्दराशिका मुख्य संकलन संहिताके नामसे प्राचीन कालसे व्यवहृत होता आया है। संहितात्मक वैदिक शब्दराशिपर ही पदपाठ, क्रमपाठ एवं अन्य विकृतिपाठ होते हैं। यज्ञोंमें संहितागत मन्त्रोंका ही प्रधानरूपसे प्रयोग होता है।[९]

आचार्य यास्कके अनुसार 'मन्त्र' शब्द मननार्थक '**मन्**' धातुसे निष्पन्न है।[१०] पाञ्चरात्र-संहिताके अनुसार मनन करनेसे जो त्राण करते हैं, वे मन्त्र हैं।[११] अथवा मत—अभिमत पदार्थके जो दाता हैं, वे मन्त्र कहलाते हैं। महर्षि जैमिनिने मन्त्रका लक्षण करते हुए कहा है—'**तच्चोदकेषु मन्त्राख्या।**' इसीको स्पष्ट करते हुए आचार्य माधवका कथन है कि—याज्ञिक विद्वानोंका 'यह वाक्य मन्त्र है'—ऐसा समाख्यान (—नाम निर्देश) मन्त्रका लक्षण है। तात्पर्य यह है कि याज्ञिक लोग जिसे मन्त्र

१-यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १८)।
२-वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयोपाया येन स वेदः (का०श्रौ०भू०, पृ० ४)।
३-इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः (का० भा० भू०)।
४-अपौरुषेयं वाक्यं वेदः (अर्थसंग्रह, पृ० ३६)।
५-अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वे सति महाजनपरिगृहीतवाक्यत्वं वेदत्वम्।
६-मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।
७-वेदार्थपारिजात, पृ० २०।
८-आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि (कौ०सू० १। ३)।
९-अपि च यज्ञकर्मणि संहितयैव विनियुज्यन्ते मन्त्राः (नि० १। १७ पर दुर्ग)।
१०-मन्त्रा मननात्।
११-मननान्मनुशार्दूल त्राणं कुर्वन्ति वै यतः। ददते पदमात्मीयं तस्मान्मन्त्राः प्रकीर्तिताः॥ (ई० स०, ३। ७। ९)।

कहें, वही मन्त्र है। वे याज्ञिक लोग अनुष्ठानके स्मारक आदि वाक्योंके लिये मन्त्र शब्दका प्रयोग करते हैं।[१] आचार्य लौगाक्षि भास्करने, अनुष्ठान (प्रयोग)-से सम्बद्ध (समवेत) द्रव्य-देवतादि (अर्थ)-का जो स्मरण कराते हैं, उन्हें मन्त्र कहा है।[२] इस प्रकार तत्तत् वैदिक कर्मोंके अनुष्ठान-कालमें अनुष्ठेय क्रिया एवं उसके अङ्गभूत द्रव्य-देवतादिका प्रकाशन (स्मरण)ही मन्त्रका प्रयोजन है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि शास्त्रकारोंके अनुसार '**प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्व**' मन्त्रोंका दृष्ट प्रयोजन है, अतः यज्ञकालमें मन्त्रोंका उच्चारण अदृष्ट प्रयोजक है—यह कल्पना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि दृष्ट फलकी सम्भावनाके विद्यमान रहनेपर अदृष्ट फलकी कल्पना अनुचित होती है।[३] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मन्त्रोंका जो अर्थ-स्मरणरूप दृष्ट प्रयोजन बतलाया गया है, वह प्रकारान्तरसे अर्थात् ब्राह्मण-वाक्योंसे भी प्राप्त हो जाता है; फिर तो मन्त्रोच्चारण व्यर्थ हुआ? इस आक्षेपका समाधान शास्त्रकारोंने नियम-विधिके आश्रयणसे किया है। उनका पक्ष है कि '**स्मृत्वा कर्माणि कुर्वीत**' इस विधायक वाक्यसे तत्तत्कर्मोंके अनुष्ठान-कालमें विहित स्मरणके लिये उपायान्तरके अवलम्बनसे तत्तत्प्रकरणपठित मन्त्रोंका वैयर्थ्य आपतित होता है, अतः '**मन्त्रैरेव स्मृत्वा कर्माणि कुर्वीत**' (मन्त्रोंसे ही स्मरण करके कर्म करना चाहिये)—यह नियम विधिद्वारा स्वीकृत किया जाता है। इसी प्रसंगको आचार्य यास्कने अपने निरुक्त ग्रन्थमें उठाकर उसके समाधानमें एक व्यावहारिक युक्ति प्रस्तुत की है। उनका तर्क है कि मनुष्योंकी विद्या (ज्ञान) अनित्य है, अतः अविगुण कर्मके द्वारा फलसम्प्राप्ति-हेतु वेदोंमें मन्त्र-व्यवस्था है।[४] तात्पर्य यह है कि इस सृष्टिमें प्रत्येक मनुष्य बुद्धि-ज्ञान, शब्दोच्चारण एवं स्वभावादिमें एक-दूसरेसे नितान्त भिन्न एवं न्यूनाधिक है। ऐसी स्थितिमें यह सर्वथा सम्भव है कि सभी मनुष्य विशुद्धतया एक-जैसा कर्मानुष्ठान नहीं कर सकते। यदि कर्मानुष्ठान एक-रूपमें नहीं किया गया तो वह फलदायक नहीं होगा—इस दुरवस्थाको मिटानेके लिये वैदिक मन्त्रोंके द्वारा कर्मानुष्ठानका विधान किया गया। चूँकि वेदोंमें नियतानुपूर्वी हैं एवं स्वर-वर्णादिकी निश्चित उच्चारण-विधि है, अतः बुद्धि, ज्ञान एवं स्वभावमें भिन्न रहनेपर भी प्रत्येक मनुष्य उसे एकरूपतया गुरुमुखोच्चारणानुच्चारण-विधिसे अधिगत कर उसी तरह कर्ममें प्रयोग करेगा, जिसके फलस्वरूप सभीको निश्चित फलकी प्राप्ति होगी। इस प्रकार मन्त्रोंके द्वारा ही कर्मानुष्ठान किया जाना सर्वथा तर्कसंगत एवं साम्यवादी व्यवस्था है।

याज्ञिक दृष्टिसे मन्त्र चार प्रकारके होते हैं—

१-करण मन्त्र, २-क्रियमाणानुवादि मन्त्र, ३-अनुमन्त्रण मन्त्र और ४-जपमन्त्र।

—इनमें जिस मन्त्रके उच्चारणानन्तर ही कर्म किया जाता है, वह 'करण मन्त्र' है। यथा—'**याज्या पुरोऽनुवाक्**' आदि। कर्मानुष्ठानके साथ-साथ जो मन्त्र पढ़ा जाता है, वह 'क्रियमाणानुवादि मन्त्र' होता है। यथा—'**युवा सुवासा**'० आदि। जब यज्ञमें यूप-संस्कार किया जाता है तभी यह मन्त्र पढ़ा जाता है। कर्मके ठीक बाद जो मन्त्र पढ़ा जाता है, वह 'अनुमन्त्रण मन्त्र' कहलाता है। यथा—'**एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि**'० आदि। यह मन्त्र द्रव्यत्याग-रूप याग किये जानेके ठीक बाद यजमानद्वारा पढ़ा जाता है। इनके अतिरिक्त जो '**मयीदमिति यजमानो जपति**' (का० श्रौ० ३। ४। १२) इत्यादि वाक्योंद्वारा विहित सन्निपत्योपकारक[५] होते हैं, वे 'जपमन्त्र'

१-याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम्। तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुज्यते॥ (जै० न्या० मा० २। १। ७)।

२-प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः (अ० स०, पृ० १५७)।

३-न तु तदुच्चारणमदृष्टार्थत्वम्, सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात् (अं० सं०, मन्त्र-विचार-प्रकरण)।

४-पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे (नि० १। २। ७)।

५-मीमांसादर्शनके अनुसार अङ्ग दो प्रकारके होते हैं—१-सिद्धरूप और २-क्रियारूप। इनमें जाति, द्रव्य एवं संख्या आदि 'सिद्धरूप' हैं, क्योंकि इन सबका प्रयोजन प्रत्यक्ष (दिखायी देनेवाला) है। क्रियारूप अङ्गके दो भेद हैं—(१) गुणकर्म और (२) प्रधान-कर्म। इनमें गुणकर्मको 'सन्निपत्योपकारक' कहते हैं। 'सन्निपत्य द्रव्यादिषु सम्बध्य उपकुर्वन्ति तानि' अर्थात् जो साक्षात् न होकर किसीके माध्यमसे मुख्य भागके उपकारक होते हैं। यथा—'व्रीह्यवघात एव सेचनादि।' जो साक्षात् रूपमें प्रधान क्रियाके उपकारक होते हैं, उन्हें 'प्रधानकर्म' या 'आरादुपकारक' कहते हैं।

हैं। इनमें प्रथम त्रिविध मन्त्रोंका अनुष्ठेयस्मारकत्वरूप दृष्ट प्रयोजन है। जपमन्त्रोंका अदृष्टमात्र प्रयोजन है, ऐसा याज्ञिकों एवं मीमांसकोंका सिद्धान्त है।

मन्त्रोंके लक्षणके सम्बन्धमें वस्तु-स्थितिका विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि कोई भी लक्षण सटीक नहीं है। ऐसा इसलिये है कि वैदिक मन्त्र नानाविध हैं।[१] यही कारण है कि आपस्तम्बादि आचार्योंने ब्राह्मण-भाग एवं अर्थवादका लक्षण करनेके अनन्तर कह दिया—'**अतोऽन्ये मन्त्राः**'[२] अर्थात् इनके अतिरिक्त सभी मन्त्र हैं।

विधिभाग—मन्त्रातिरिक्त वेद-भाग 'ब्राह्मण' पदसे अभिहित किया जाता है। ब्राह्मण शब्द '**ब्रह्मन्**' शब्दसे '**अण्**' प्रत्यय करनेपर नपुंसक लिङ्गमें वेदराशिके अभिधायक अर्थमें सिद्ध होता है। आचार्य जैमिनिने ब्राह्मणका लक्षण करते हुए कहा है कि—मन्त्रसे बचे हुए भागमें 'ब्राह्मण' शब्दका व्यवहार जानना चाहिये।[३] आचार्य भट्ट-भास्करके अनुसार कर्म और कर्ममें प्रयुक्त होनेवाले मन्त्रोंके व्याख्यान-ग्रन्थ ब्राह्मण हैं।[४] म०म० विद्याधर शर्माजीके अनुसार—चारों वेदोंके मन्त्रोंके कर्मोंमें विनियोजक, कर्मविधायक, नानाविधानादि इतिहास-आख्यानबहुल ज्ञान-विज्ञानपूर्ण वेदभाग ब्राह्मण है।[५]

ब्राह्मणके दो भेद हैं—(१) विधि और (२) अर्थवाद। आचार्य आपस्तम्बने दोनोंका भेद प्रदर्शित करते हुए कहा है—कर्मकी ओर प्रेरित करनेवाली विधियाँ ब्राह्मण हैं तथा ब्राह्मणका शेष भाग अर्थवाद है।[६] आचार्य लौगाक्षि भास्करके अनुसार अज्ञात अर्थको अवबोधित करानेवाले वेदभागको विधि कहते हैं।[७] यथा—'**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**' अर्थात् स्वर्गरूपी फलकी प्राप्ति करनेके लिये अग्निहोत्र करना चाहिये—यह विधिवाक्य, अन्य प्रमाणसे अप्राप्त स्वर्ग फलयुत होमका विधान करता है, अतः अज्ञातार्थ-ज्ञापक है। आचार्य सायणने विधिके दो भेद बतलाये हैं—(१) अप्रवृत्तप्रवर्तन-विधि और (२) अज्ञातार्थ-ज्ञापन-विधि। इनमें '**आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वर्णनादीक्षणीयम्**' इत्यादि कर्मकाण्डगत विधियाँ अप्रवृत्तकी ओर प्रवृत्त करनेवाली हैं। '**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्**' इत्यादि ब्रह्मकाण्डगत विधियाँ प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंसे अज्ञात विषयका ज्ञान करानेवाली हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि आचार्य लौगाक्षि भास्कर कर्मकाण्ड एवं ब्रह्मकाण्डगत सभी विधियोंको अज्ञातार्थ-ज्ञापन मानते हैं, किंतु आचार्य सायणने सूक्ष्म दृष्टि अपनाते हुए कर्मकाण्डगत विधियोंको 'अप्रवृत्तप्रवर्तन-विधि' कहा और ब्रह्मकाण्डगत विधियोंको 'अज्ञातार्थ-ज्ञापन-विधि' माना।[८]

मीमांसादर्शनमें याज्ञिक विचारकी दृष्टिसे विधि-भागके चार भेद माने गये हैं—(१) उत्पत्तिविधि, (२) गुणविधि या विनियोगविधि, (३) अधिकारविधि और (४) प्रयोग-विधि। इनमें जो वाक्य 'यह कर्म इस प्रकार करना चाहिये' एवंविध कर्मस्वरूपमात्रके अवबोधनमें प्रवृत्त हैं, वे 'उत्पत्तिविधि' कहे जाते हैं, यथा—'**अग्निहोत्रं जुहोति**'। जो उत्पत्तिविधिसे विहित कर्मसम्बन्धी द्रव्य और देवताके विधायक हैं, वे 'गुणविधि' ('विनियोगविधि') कहे जाते हैं। यथा—'**दध्ना जुहोति**'। जो उन-उन कर्मोंमें किसका अधिकार है तथा किस फलके उद्देश्यसे कर्म करना चाहिये—यह बतलाते हैं, वे 'अधिकारविधि' कहे जाते हैं। यथा—'**यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षमावतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्**'। जो कर्मोंके अनुष्ठानक्रमादिका बोधन कराते हैं, वे 'प्रयोगविधि' हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रयोगविधिके वाक्य साक्षात् उपलब्ध नहीं होते, अपितु प्रधान वाक्य ('**दर्शपूर्णमासाभ्याम्**')-के साथ अङ्ग-वाक्यों ('**सामधेयजति**'०)-की एकवाक्यता होकर कल्पित वाक्य ('**प्रमाणानुयाजादिभिरुपकृतवद्भ्यां**

१-बृहद्देवता—(१। ३४)।
२-आप० श्रौ० सू०, (२४। १। ३४)।
३-'शेषे ब्राह्मणशब्दः'। (मी० २। १। ३३)।
४-'ब्राह्मणनाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्याग्रन्थः' (तै० सं० १। ५। १ पर भाष्य)।
५-'वेदचतुष्टयमन्त्राणां कर्मसु विनियोजकः कर्मविधायको नानाविधानादीतिहासाख्यानबहुलो ज्ञानविज्ञानपूर्णो भागो ब्राह्मणभागः। (श०ब्रा०भू०पृ० २)
६-कर्मचोदना ब्राह्मणानि। ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः (आप० परि० ३४। ३५) 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकवचनमाहुः' (भाष्य)।
७-तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः (अ० सं०, पृ० ३६)।
८-ऋ० भा० भू० विधिप्रामाण्य-विचार।

दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत') ही प्रयोगविधिका परिचायक होता है।

अर्थवाद—आचार्य आपस्तम्बने ब्राह्मण (कर्मकी ओर प्रवृत्त करनेवाली विधियों)-से अतिरिक्तको शेष अवशिष्ट अर्थवाद कहा है।[१] अर्थसंग्रहकारने अर्थवादका लक्षण करते हुए कहा है—प्रशंसा अथवा निन्दापरक वाक्यको अर्थवाद कहते हैं।[२] यथा—'**वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता। स्तेनं मनः अनृतवादिनी वाक्**' आदि।

अर्थवाद-वाक्योंको लेकर पाश्चात्य वेद-विचारकों एवं कतिपय भारतीय विचारकोंने वेदके प्रामाण्य एवं उसकी महत्तापर तीखे प्रहार किये हैं। इसके मूलमें आलोचकोंका भारतीय चिन्तन-दृष्टिसे असम्पर्कित रहना है। भारतीय चिन्तन-दृष्टि (मीमांसा)-में अर्थवाद विधेय अर्थकी प्रशंसा करता है तथा निषिद्ध अर्थकी निन्दा। किंतु इस कार्य (प्रशंसा और निन्दा)-में अर्थवाद मुख्यार्थद्वारा अपने तात्पर्यार्थकी अभिव्यक्ति नहीं करता, अपितु शब्दकी लक्षणा शक्तिका आश्रय ग्रहण करता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि मीमांसक-दृष्टिसे समस्त वेद क्रियापरक हैं[३] तथा यागादि क्रियाद्वारा ही अभीष्ट-प्राप्ति एवं अनिष्टका परिहार किया जा सकता है। यतः '**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**' इस विधानसे वेदके अन्तर्गत ही अर्थवाद भी है, अतः उनको भी क्रियापरक मानना उचित है। जैसा कि पहले कहा गया है कि अर्थवादका प्रयोजन विधेयकी प्रशंसा एवं निषिद्धकी निन्दामें प्रकट होता है। विधान एवं निषेध क्रियाका ही होता है, अतः परम्परया अर्थवाद-वाक्य क्रिया (याग या धर्म)-परक होते हैं, अतएव उनका प्रामाण्य एवं उपादेयता सर्वथा सिद्ध है। इसी बातको आचार्य जैमिनिने इन शब्दोंमें कहा है— '**विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः**।'[४] उन्नीसवीं शतीके पूर्वार्धके बादसे पाश्चात्य नव्य वेदार्थ-विचारकों—बर्गाइन आदिने भारतीय चिन्तनकी इस दृष्टिको समझा तथा उसके आलोकमें नये सिरेसे वेदार्थ-विचारमें दृष्टि डाली।

प्राशस्त्य और निन्दासे सम्बन्धित अर्थवाद-वाक्य क्रमशः विधिशेष एवं निषेधशेष-रूपसे अभिहित किये गये हैं।[५] विधि अर्थात् विधायक वाक्य, शेष—अर्थवाद-वाक्य दोनों मिलकर एक समग्र वाक्यकी रचना करते हैं, जो कि विशिष्ट प्रभावोत्पादक बनता है। उदाहरणार्थ—'**वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः**' यह विधि-वाक्य है। इसका शेष—अर्थवाद—वाक्य है—'**वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता**'। यहाँ वायुकी प्रशंसा विधिशेषात्मक अर्थवादसे की गयी है। उपर्युक्त दोनों वाक्योंकी एकवाक्यता करके लक्षणाद्वारा यह विदित होता है कि वायुदेवता शीघ्रगामी हैं, अतः वे ऐश्वर्य भी शीघ्र प्रदान करते हैं। अब इस विशिष्ट प्रभावोत्पादक अर्थको सुनकर अधिकारी व्यक्तिकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार निषेध-शेषात्मक अर्थवादका भी साफल्य जानना चाहिये।

अर्थवादद्वारा प्रतिपादित विषय-परीक्षणकी दृष्टिसे शास्त्रमें इसके तीन भेद माने गये हैं—(१) गुणवाद, (२) अनुवाद और (३) भूतार्थवाद।

गुणवाद नामक अर्थवादमें प्रतिपाद्य अर्थका प्रमाणान्तरसे विरोध होता है। यथा—'**आदित्यो यूपः**'। यहाँ यूपका आदित्यके साथ अभेद प्रतिपादित है, जो कि प्रत्यक्षतया बाधित है। अतः अर्थसिद्धिके लिये ऐसे स्थलोंपर लक्षणाका आश्रय लेकर यूपका '**उज्ज्वलवादिगुणयोगेनादित्यात्मकत्वम्**' अर्थ किया जाता है।

अनुवाद-संज्ञक अर्थवादमें पूर्वपरिज्ञात या पूर्वानुभूत प्रमाणसे अर्थका बोध होता है, जबकि प्रतिपाद्य विषयमें केवल उसका 'अनुवाद' मात्र रहता है। उदाहरणार्थ—'**अग्निर्हिमस्य भेषजम्**' इस वाक्यमें प्रत्यक्षतया सिद्ध है कि अग्नि शैत्यका औषध है। इस पूर्वपरिज्ञात या पूर्वानुभूत विषय ('**यत्र यत्राग्निस्तत्र तत्र हिमनिरोधः**')-का प्रकाशन इस दृष्टान्तमें है, अतः यह अनुवाद है।

१-ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः।
२-प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः (अ० सं०)।
३-आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्० (जै० सू०)।
४-जै० सू० (१।२।७)।
५-स द्विविधः—विधिशेषो निषेधशेषश्चेति।

तृतीय भूतार्थवादमें भूतार्थका अर्थ पूर्वघटित किसी यथार्थ वस्तुके ज्ञापनसे है। यहाँ गुणवाद अर्थवादकी भाँति न तो किसी प्रमाणान्तरसे विरोध होता है और न ही अनुवाद अर्थवादकी भाँति प्रमाणान्तरावधारण होता है। अतएव शास्त्रमें इसका लक्षण किया गया है—'**प्रमाणान्तर-विरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः**।' इसका दृष्टान्त है—'**इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्**।' कहीं भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे इस कथनका विरोध हो, अतः प्रमाणान्तर-अविरोध है, साथ ही ऐसा भी प्रमाण नहीं है जिससे इसका समर्थन हो, अतः प्रमाणान्तरावधारण भी नहीं है। इस प्रकार उभय पक्षके अभावमें यह वाक्य भूतार्थवादका उदाहरण है।

अर्थवाद-भागको आचार्य पारस्करने 'तर्क' शब्दसे अभिहित किया है।[१] आचार्य कर्कने 'तर्क' पदकी व्याख्या करते हुए कहा कि जिसके द्वारा संदिग्ध अर्थका निश्चय किया जा सके, वह तर्क अर्थात् अर्थवाद है।[२] इसका उदाहरण देते हुए कहा कि—'**अक्ता शर्करा उपदधाति तेजो वै घृतम्**' इस वाक्यमें प्राप्त अञ्जन, तैल तथा वसा आदि द्रव्योंसे भी सम्भव है, किंतु '**तेजो वै घृतम्**' इस घृतसंस्तावक अर्थवाद-वाक्यसे संदेह निराकृत होकर घृतसे अञ्जन करना यह स्थिर होता है। इस प्रकार अर्थवाद-भाग महदुपकारक है।

आपस्तम्ब, पारस्कर आदि आचार्योंने वेदके तीन ही भाग माने हैं—विधि, मन्त्र और अर्थवाद। अर्थ-संग्रहकारने वेदके पाँच भाग माने हैं—विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद।[३]

नामधेय—जैसा कि संज्ञासे स्पष्ट है, नामधेय-प्रकरणमें कतिपय नामोंसे जुड़े हुए विशेष भागोंकी आलोचना होती है। इनमें '**उद्भिदा यजेत पशुकामः**', '**चित्रया यजेत पशुकामः**', '**अग्निहोत्रं जुहोति**', '**श्येनेनाभिचरन् यजेत**'—ये चार वाक्य ही प्रमुख हैं। नामधेय विजातीयकी निवृत्तिपूर्वक विधेयार्थका निश्चय कराता है।[४] यथा—'**उद्भिदा यजेत पशुकामः**' इस वाक्यमें पशु-रूप फलके लिये यागका विधान किया गया है। यह याग वाक्यान्तरसे अप्राप्त है और इस वाक्यद्वारा विहित किया जा रहा है। यदि इस वाक्यसे '**उद्भिद्**' शब्द हटा दिया जाय तो '**यजेत पशुकामः**' यह वाक्य होगा, जिसका अर्थ है—'**यागेन पशुं भावयेत्**', किंतु इससे याग-सामान्यका विधान होगा जो कि अविधेय है, क्योंकि याग-विशेषका नाम अभिहित किये बिना अनुष्ठान सम्भव नहीं है। '**उद्भिदा**' पदद्वारा इस प्रयोजनकी पूर्ति होती है, अतः 'उद्भिद्' यागका नाम हुआ तथा याग-विशेषका निर्देशक होनेसे विधेयार्थ-परिच्छेद भी हुआ। नामधेयत्व चार कारणोंसे होता है—(१) मत्वर्थ-लक्षणाके भयसे, (२) वाक्य-भेदके भयसे, (३) तत्प्रख्यशास्त्रसे और (४) तद्व्यपदेशसे।

निषेध—जो वाक्य पुरुषको किसी क्रियाको करनेसे निवृत्त कराता है, उसे 'निषेध' कहते हैं।[५] शास्त्रोंने नरकादिको अनर्थ माना है। इस नरक-प्राप्तिका हेतु कलञ्जभक्षणादि है, अतः पुरुषको ऐसे कार्योंसे 'निषेध-वाक्य' निवर्तित करते हैं। इस प्रकार अनर्थ उत्पन्न करनेवाली क्रियाओंसे पुरुषका निवर्तन कराना ही निषेध-वाक्योंका प्रयोजन है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक (विधिमन्त्र-नामधेय-निषेधार्थवाद-रूप) वेदमें कतिपय विचारकोंने ब्राह्मण-भागको वेद नहीं माना है। उनके प्रधान तर्क ये हैं—

(१) ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हींका नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है।

(२) एक कात्यायनको छोड़कर किसी अन्य ऋषिने उनके वेद होनेमें साक्षी नहीं दी है।

(३) ब्राह्मण-भागको भी यदि वेद माना जाय तो '**छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि**'[६] इत्यादि पाणिनि-सूत्रमें

१-विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः (पा० गृ० सू० २। ६। ६)।
२-तर्कशब्देनार्थवादोऽभिधीयते। तर्क्यते ह्यनेन संदिग्धोऽर्थः (पा० गृ० सू० २। ६। ५ पर कर्क)।
३-स च विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः।
४-नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम् (अ० स०)।
५-पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः (अ० स०)।
६-पा० सू० (४। २। ६६)।

'छन्दः' शब्दके ग्रहणसे ही ब्राह्मणोंका भी ग्रहण हो जानेसे अलगसे 'ब्राह्मण' शब्दका उल्लेख करना व्यर्थ होगा।

(४) ब्राह्मण-ग्रन्थ चूँकि मन्त्रोंके व्याख्यान हैं, अतः ईश्वरोक्त नहीं हैं, अपितु महर्षि लोगोंद्वारा प्रोक्त हैं।

इसके समाधानमें यह कहना अत्यन्त संगत है कि ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणोंको पुराण अथवा इतिहास नहीं कहा जाता; रामायण, महाभारत, विष्णुपुराण आदिको ही इतिहास, पुराण कहा जाता है। यदि पुरातन अर्थके प्रतिपादक होनेसे तथा ऐतिहासिक अर्थके प्रतिपादक होनेसे इनको पुराण-इतिहास कहा जायगा तो इस तरहकी संज्ञासे 'वेद' संज्ञाका कोई विरोध नहीं है, 'वेद' संज्ञाके रहते हुए भी ब्राह्मण-भागकी पुराण-इतिहास संज्ञा भी हो सकती है। भारतीय दृष्टिसे—भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ वेदसे ज्ञात होता है।[१] अतः जिस प्रकार कम्बु-ग्रीवादिसे युक्त एक ही पदार्थके घट, कलश आदि अनेक नामधेय होनेसे कोई विरोध उपस्थित नहीं होता, उसी तरह एक ही ब्राह्मण-ग्रन्थके वेद होनेमें और पुराण-इतिहास होनेमें कोई विरोध नहीं है।[२]

कात्यायनको छोड़कर किसी अन्य ऋषिने ब्राह्मण-भागके वेद होनेमें प्रमाण नहीं दिया है—यह कथन भी आधाररहित है, क्योंकि भारतीय दृष्टिसे किसी भी आप्त ऋषिका प्रामाण्य अव्याहत है। फिर ऐसी बात भी नहीं है कि अन्य ऋषियोंने ब्राह्मण-भागके वेदत्वको नहीं स्वीकारा है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, सत्याषाढ श्रौतसूत्र, बौधायन गृह्यसूत्र आदि ग्रन्थोंमें तत्तत् आचार्योंने मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंको वेद माना है। अतः यह शंका निर्मूल सिद्ध होती है।

पाणिनिके '**छन्दोब्राह्मणानि०**' इत्यादि सूत्रोंमें '**छन्दः**' शब्दसे ही ब्राह्मणका ग्रहण माननेपर '**ब्राह्मणानि**' यह पद व्यर्थ होगा, अतः यह कथन भी तर्क-संगत नहीं है। आचार्य पाणिनिने '**छन्दस्**' पदसे मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंका ग्रहण किया है, क्योंकि '**छन्दस्**' इस अधिकारमें जो-जो आदेश, प्रत्यय, स्वर आदिका विधान किया गया है, वे दोनोंमें पाये जाते हैं। जो कार्य केवल मन्त्र-भागमें इष्ट था, उसके लिये सूत्रोंमें '**मन्त्रे**' पद तथा जो ब्राह्मणमें इष्ट था उसके लिये '**ब्राह्मण**' पद दिया है। यह भी ध्यातव्य है कि '**छन्दः**' पद यद्यपि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदका बोधक है, किंतु कभी-कभी वे इनमेंसे किसी एक अवयवके भी बोधक होते हैं। महाभाष्य पस्पशाह्निक एवं ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यमें यह स्पष्ट किया गया है कि समुदायार्थक शब्दोंकी कभी-कभी उनके अवयवोंके लिये भी प्रवृत्ति देखी जाती है। यथा—'पूर्वपाञ्चाल, उत्तरपाञ्चाल आदिका प्रयोग।' अतः शास्त्रमें छन्द अथवा वेद शब्द केवल मन्त्र-भाग, केवल ब्राह्मण-भाग अथवा दोनों भागोंके लिये प्रसंगानुसार प्रयुक्त होते हैं।

ब्राह्मण-भाग मन्त्रोंके व्याख्यान हैं, अतः वे वेदान्तर्गत नहीं हो सकते—यह कथन भी सर्वथा असंगत है। मीमांसा एवं न्यायशास्त्रमें वेदके जो विषय-विभाग किये गये हैं—विधि, अर्थवाद, नामधेय और निषेध, वे सभी मुख्यतया ब्राह्मणमें ही घटित होते हैं। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय-संहिता आदिमें तो मन्त्र और ब्राह्मण सम्मिलित-रूपमें ही हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि महाभाष्यकार पतञ्जलिने यह विचार उठाया है कि व्याकरण केवल सूत्रोंको कहना चाहिये या व्याख्यासहित सूत्रोंको? इसका सिद्धान्त यही दिया गया है कि व्याख्यासहित सूत्र ही व्याकरण है। इसी प्रकार व्याख्या (ब्राह्मण)-सहित मन्त्र वेद है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण-भाग मात्र मन्त्रोंका व्याख्यान नहीं करता; अपितु यज्ञादि कर्मोंकी विधि, इतिकर्तव्यता, स्तुति तथा ब्रह्मविद्या आदिका स्वतन्त्रतया विधान करता है। अतः ब्राह्मण-भागका वेदत्व सर्वथा अव्याहत है।

मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदके विषय-सम्बन्धी तीन भेद परम्परासे चले आ रहे हैं। इनमें कर्मकाण्डके प्रतिपादक भागका नाम 'ब्राह्मण', उपासनाकाण्डके प्रतिपादक भागका नाम 'आरण्यक' तथा ज्ञानकाण्डके प्रतिपादक भागका नाम 'उपनिषद्' है।

वेदका विभाजन—भारतीय वाङ्मयमें बतलाया गया है कि सृष्टिके प्रारम्भमें ऋग्यजुःसाम-अथर्वात्मक वेद एकत्र संकलित था। सत्ययुग, त्रेतायुग तथा द्वापरयुगकी लगभग समाप्तितक एकरूप वेदका ही अध्ययन-

१-भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥ (मनु० १२। ९७)
२-वेदार्थपारिजात।

अध्यापन यथाक्रम चलता रहा। द्वापरयुगकी समाप्तिके कुछ वर्षों पूर्व महर्षि व्यासने भावी कलियुगके व्यक्तियोंकी बुद्धि, शक्ति और आयुष्यके ह्रासकी स्थितिको दिव्य दृष्टिसे जानकर ब्रह्मपरम्परासे प्राप्त एकात्मक वेदका यज्ञ-क्रियानुरूप चार विभाजन किया। इन चार विभाजनोंमें उन्होंने होत्रकर्मके उपयोगी मन्त्र एवं क्रियाओंका संकलन ऋग्वेदके नामसे, यज्ञके आध्वर्यव कर्म (आन्तरिक मूलस्वरूप-निर्माण)-के उपयोगी मन्त्र एवं क्रियाओंका संकलन यजुर्वेदके नामसे, औद्गात्र कर्मके उपयोगी मन्त्र एवं क्रियाओंका संकलन सामवेदके नामसे और शान्तिक-पौष्टिक अभिलाषाओं (जातविद्या)-के उपयोगी मन्त्र एवं क्रियाओंका संकलन अथर्ववेदके नामसे किया। इस विभाजनमें भगवती श्रुतिके वचनको ही आधार रखा गया। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सम्प्रति प्रवर्तमान वेद-शब्दराशिका वैवस्वत मन्वन्तरमें कृष्णद्वैपायन महर्षि व्यासद्वारा यह २८वाँ विभाजन है अर्थात् पौराणिक मान्यताके अनुसार इकहत्तर चतुर्युगीका एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक चतुर्युगीके अन्तर्गत द्वापरयुगकी समाप्तिमें विशिष्ट तपःसम्पन्न महर्षिके द्वारा एकात्मक वेदका चार विभाजन अनवरत होता रहता है। यह विभाजन कलियुगके लिये होता है और कलियुगके अन्ततक ही रहता है। सम्प्रति मन्वन्तरोंमें सप्तम वैवस्वत नामक मन्वन्तरका यह २८ वाँ कलियुग है। इसके पूर्व २७ कलियुग एवं २७ ही वेदविभागकर्ता वेदव्यास (विभिन्न नामोंके) हो चुके हैं। वेदोंका यह २८वाँ उपलब्ध विभाजन महर्षि पराशरके पुत्र कृष्णद्वैपायनके द्वारा किया गया है। वेदोंका विभाजन करनेके कारण ही उन महर्षिको 'वेदव्यास' शब्दसे जाना जाता है।

चार वेद और उनकी यज्ञपरकता—जैसा कि ऊपर कहा गया है वेदविभागकर्ता व्यासोपाधिविभूषित महर्षि कृष्णद्वैपायनने यज्ञ-प्रयोजनकी दृष्टिसे वेदका ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—यह विभाजन प्रसारित किया; क्योंकि भारतीय चिन्तनमें वेदोंका अभिप्रवर्तन ही यज्ञ एवं उसके माध्यमसे समस्त ऐहिकामुष्मिक फलसिद्धिके लिये हुआ है। वैदिक यज्ञोंका रहस्यात्मक स्वरूप क्या है एवं साक्षात्कृतधर्मा ऋषियोंने किन बीजोंद्वारा प्रकृतिसे अभिलषित पदार्थोंका दोहन इस भौतिक यज्ञके माध्यमसे आविष्कृत किया, यह पृथक् विवेचनीय विषय है। यहाँ स्थूलदृष्ट्या यह जानना है कि प्रत्येक छोटे (इष्टि) और बड़े (सोम, अग्निचयन) यज्ञोंमें मुख्य चार ऋत्विक्—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा होते हैं। बड़े यज्ञोंमें एक-एकके तीन सहायक और होकर सोलह ऋत्विक् हो जाते हैं, किंतु वे तीन सहायक उसी मुख्यके अन्तर्गत मान लिये जाते हैं। इनमें 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् द्रव्य-देवतात्यागात्मक यज्ञस्वरूपका निर्माण यजुर्वेदसे करता है। 'होता' नामक ऋत्विक् यज्ञके अपेक्षित शस्त्र (अप्रगीत मन्त्रसाध्य स्तुति) एवं अन्य अङ्गकलापोंका अनुष्ठान ऋग्वेदद्वारा तथा 'उद्गाता' नामक ऋत्विक् स्तोत्र (गेय मन्त्रसाध्य स्तुति) और उसके अङ्गकलापोंका अनुष्ठान सामवेदद्वारा करता है। 'ब्रह्मा' नामक चतुर्थ ऋत्विक् यज्ञिय कर्मोंके न्यूनादि दोषोंका परिहार एवं शान्तिक-पौष्टिक-आभिचारिकादि सर्वविध अभिलाष-सम्पूरक कर्म अथर्ववेदद्वारा सम्पादित करता है।

वेदत्रयी—कतिपय अर्वाचीन वेदार्थ-विचारक '**सैषा त्रय्येव विद्या तपति**' (श० ब्रा० १०।३।६।२), '**त्रयी वै विद्या**' (श० ब्रा० ४।६।७।१), '**इति वेदास्त्रयस्त्रयी**' इत्यादि वचनोंके द्वारा वेद वस्तुतः तीन हैं तथा कालान्तरमें अथर्ववेदको चतुर्थ वेदके रूपमें मान्यता दी गयी—ऐसी कल्पना करते हैं, किंतु यह कल्पना भारतीय परम्परासे सर्वथा विपरीत है। भारतीय आचार्योंने रचना-भेदकी दृष्टिसे वेदचतुष्टयीका त्रित्वमें अन्तर्भाव कर उसे लक्षित किया है। रचना-शैली तीन ही प्रकारकी होती है—(१) गद्य, (२) पद्य और (३) गान। इस दृष्टिसे—छन्दमें आबद्ध, पादव्यवस्थासे युक्त मन्त्र 'ऋक्' कहलाते हैं; वे ही गीति-रूप होकर 'साम' कहलाते हैं तथा वृत्त एवं गीतिसे रहित प्रश्लिष्टपठित (-गद्यात्मक) मन्त्र 'यजुष्' कहलाते हैं।* यहाँ यह ध्यातव्य है कि छन्दोबद्ध ऋग्विशेष मन्त्र ही अथर्वाङ्गिरस हैं, अतः उनका ऋग्रूपा (पद्यात्मिका) रचना-शैलीमें ही अन्तर्भाव हो जाता है और इस प्रकार वेदत्रयीकी अन्वर्थता होती है।

---

* पादेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः। गीतिरूपा मन्त्राः सामानि। वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि।

वैदिक वाङ्मयका शास्त्रीय स्वरूप

(डॉ० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र)

संस्कृत साहित्यकी शब्द-रचनाकी दृष्टिसे 'वेद' शब्दका अर्थ ज्ञान होता है, परंतु इसका प्रयोग साधारणतया ज्ञानके अर्थमें नहीं किया जाता। हमारे महर्षियोंने अपनी तपस्याके द्वारा जिस 'शाश्वत ज्योति' का परम्परागत शब्द-रूपसे साक्षात्कार किया, वही शब्द-राशि 'वेद' है। वेद अनादि हैं और परमात्माके स्वरूप हैं। महर्षियोंद्वारा प्रत्यक्ष दृष्ट होनेके कारण इनमें कहीं भी असत्य या अविश्वासके लिये स्थान नहीं है। ये नित्य हैं और मूलमें पुरुषजातिसे असम्बद्ध होनेके कारण अपौरुषेय कहे जाते हैं।

वेद अनादि-अपौरुषेय और नित्य हैं तथा उनकी प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध है, इस प्रकारका मत आस्तिक सिद्धान्तवाले सभी पौराणिकों एवं सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्तके दार्शनिकोंका है। न्याय और वैशेषिकके दार्शनिकोंने वेदको अपौरुषेय नहीं माना है, पर वे भी इन्हें परमेश्वर (पुरुषोत्तम)-द्वारा निर्मित, परंतु पूर्वानुरूपीका ही मानते हैं। इन दोनों शाखाओंके दार्शनिकोंने वेदको परम प्रमाण माना है और आनुपूर्वी (शब्दोच्चारणक्रम)-को सृष्टिके आरम्भसे लेकर अबतक अविच्छिन्नरूपसे प्रवृत्त माना है।

जो वेदको प्रमाण नहीं मानते, वे आस्तिक नहीं कहे जाते। अतः सभी आस्तिक मतवाले वेदको प्रमाण माननेमें एकमत हैं, केवल न्याय और वैशेषिक दार्शनिकोंकी अपौरुषेय माननेकी शैली भिन्न है। नास्तिक दार्शनिकोंने वेदोंको भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंद्वारा रचा हुआ ग्रन्थ माना है। चार्वाक मतवालोंने तो वेदको निष्क्रिय लोगोंकी जीविकाका साधनतक कह डाला है। अतः नास्तिक दर्शनवाले वेदको न तो अनादि, न अपौरुषेय और न नित्य ही मानते हैं तथा न इनकी प्रामाणिकतामें ही विश्वास करते हैं। इसीलिये वे नास्तिक कहलाते हैं। आस्तिक दर्शनशास्त्रोंने इस मतका युक्ति, तर्क एवं प्रमाणसे पूरा खण्डन किया है।

वेद चार हैं

वर्तमान कालमें वेद चार माने जाते हैं, उनके नाम हैं—(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद और (४) अथर्ववेद।

द्वापरयुगकी समाप्तिके पूर्व वेदोंके उक्त चार विभाग अलग-अलग नहीं थे। उस समय तो 'ऋक्', 'यजुः' और 'साम'—इन तीन शब्द-शैलियोंकी संग्रहात्मक एक विशिष्ट अध्ययनीय शब्द-राशि ही वेद कहलाती थी। यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि परमपिता परमेश्वरने प्रत्येक कल्पके आरम्भमें सर्वप्रथम ब्रह्माजी (परमेष्ठी प्रजापति)-के हृदयमें समस्त वेदोंका प्रादुर्भाव कराया था, जो उनके चारों मुखोंमें सर्वदा विद्यमान रहते हैं। ब्रह्माजीकी ऋषिसंतानोंने आगे चलकर तपस्याद्वारा इसी शब्द-राशिका साक्षात्कार किया और पठन-पाठनकी प्रणालीसे इनका संरक्षण किया।

त्रयी

विश्वमें शब्द-प्रयोगकी तीन ही शैलियाँ होती हैं; जो पद्य (कविता), गद्य और गानरूपसे जन-साधारणमें प्रसिद्ध हैं। पद्यमें अक्षर-संख्या तथा पाद एवं विरामका निश्चित नियम रहता है। अतः निश्चित अक्षर-संख्या और पाद एवं विरामवाले वेद-मन्त्रोंकी संज्ञा 'ऋक्' है। जिन मन्त्रोंमें छन्दके नियमानुसार अक्षर-संख्या और पाद एवं विराम ऋषिदृष्ट नहीं हैं, वे गद्यात्मक मन्त्र 'यजुः' कहलाते हैं और जितने मन्त्र गानात्मक हैं, वे मन्त्र 'साम' कहलाते हैं। इन तीन प्रकारकी शब्द-प्रकाशन-शैलियोंके आधारपर ही शास्त्र एवं लोकमें वेदके लिये 'त्रयी' शब्दका भी व्यवहार किया जाता है। 'त्रयी' शब्दसे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि वेदोंकी संख्या ही तीन है, क्योंकि 'त्रयी' शब्दका व्यवहार शब्द-प्रयोगकी शैलीके आधारपर है।

श्रुति—आम्नाय

वेदके पठन-पाठनके क्रममें गुरुमुखसे श्रवण कर स्वयं अभ्यास करनेकी प्रक्रिया अबतक है। आज भी गुरुमुखसे श्रवण किये बिना केवल पुस्तकके आधारपर ही मन्त्राभ्यास करना निन्दनीय एवं निष्फल माना जाता है। इस प्रकार वेदके संरक्षण एवं सफलताकी दृष्टिसे गुरुमुखसे श्रवण करने एवं उसे याद करनेका अत्यन्त महत्त्व है। इसी कारण वेदको 'श्रुति' भी

कहते हैं। वेद परिश्रमपूर्वक अभ्यासद्वारा संरक्षणीय है। इस कारण इसका नाम 'आम्नाय' भी है। त्रयी, श्रुति और आम्नाय—ये तीनों शब्द आस्तिक ग्रन्थोंमें वेदके लिये व्यवहृत किये जाते हैं।

चार वेद

उस समय (द्वापरयुगकी समाप्तिके समय)-में भी वेदका पढ़ाना और अभ्यास करना सरल कार्य नहीं था। कलियुगमें मनुष्योंकी शक्तिहीनता और कम आयु होनेकी बातको ध्यानमें रखकर वेदपुरुष भगवान् नारायणके अवतार श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी महाराजने यज्ञानुष्ठानके उपयोगको दृष्टिगत रखकर उस एक वेदके चार विभाग कर दिये और इन चारों विभागोंकी शिक्षा चार शिष्योंको दी। ये ही चार विभाग आजकल ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके नामसे प्रसिद्ध हैं। पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु नामक—इन चार शिष्योंने अपने-अपने अधीत वेदोंके संरक्षण एवं प्रसारके लिये शाकल आदि अपने भिन्न-भिन्न शिष्योंको पढ़ाया। उन शिष्योंके मनोयोग एवं प्रचारके कारण वे शाखाएँ उन्हींके नामसे आजतक प्रसिद्ध हो रही हैं। यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि शाखाके नामसे सम्बन्धित कोई भी मुनि मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं है और न वह शाखा उसकी रचना है। शाखाके नामसे सम्बन्धित व्यक्तिका उस वेदशाखाकी रचनासे सम्बन्ध नहीं है, अपितु प्रचार एवं संरक्षणके कारण सम्बन्ध है।

कर्मकाण्डमें भिन्न वर्गीकरण

वेदोंका प्रधान लक्ष्य आध्यात्मिक ज्ञान देना ही है, जिससे प्राणिमात्र इस असार संसारके बन्धनोंके मूलभूत कारणोंको समझकर इससे मुक्ति पा सके। अतः वेदमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड—इन दोनों विषयोंका सर्वाङ्गीण निरूपण किया गया है। वेदोंका प्रारम्भिक भाग कर्मकाण्ड है और वह ज्ञानकाण्डवाले भागसे बहुत अधिक है। कर्मकाण्डमें यज्ञानुष्ठान-सम्बन्धी विधि-निषेध आदिका सर्वाङ्गीण विवेचन है। इस भागका प्रधान उपयोग यज्ञानुष्ठानमें होता है। जिन अधिकारी वैदिक विद्वानोंको यज्ञ करानेका यजमानद्वारा अधिकार प्राप्त होता है, उनको 'ऋत्विक्' कहते हैं। श्रौतयज्ञमें इन ऋत्विजोंके चार गण हैं। समस्त ऋत्विक् चार वर्गोंमें बँटकर अपना-अपना कार्य करते हुए यज्ञको सर्वाङ्गीण बनाते हैं। गणोंके नाम हैं—(१) होतृगण, (२) अध्वर्युगण, (३) उद्गातृगण और (४) ब्रह्मगण।

उपर्युक्त चारों गणों या वर्गोंके लिये उपयोगी मन्त्रोंके संग्रहके अनुसार वेद चार हुए हैं। उनका विभाजन इस प्रकार किया गया है—

ऋग्वेद—इसमें होतृवर्गके लिये उपयोगी मन्त्रोंका संकलन है। इसका नाम ऋग्वेद इसलिये पड़ा है कि इसमें 'ऋक्' संज्ञक (पद्यबद्ध) मन्त्रोंकी अधिकता है। इसमें होतृवर्गके उपयोगी गद्यात्मक (यजुः) स्वरूपके भी कुछ मन्त्र हैं। इसकी मन्त्र-संख्या अन्य वेदोंकी अपेक्षा अधिक है। इसके कई मन्त्र अन्य वेदोंमें भी मिलते हैं। सामवेदमें तो ऋग्वेदके मन्त्र ही अधिक हैं। स्वतन्त्र मन्त्र कम हैं।

यजुर्वेद—इसमें यज्ञानुष्ठान-सम्बन्धी अध्वर्युवर्गके उपयोगी मन्त्रोंका संकलन है। इसका नाम यजुर्वेद इसलिये पड़ा है कि इसमें 'गद्यात्मक' मन्त्रोंकी अधिकता है। इसमें कुछ पद्यबद्ध मन्त्र भी हैं जो अध्वर्युवर्गके उपयोगी हैं। इसके कुछ मन्त्र अथर्ववेदमें भी पाये जाते हैं। यजुर्वेदके दो विभाग हैं—(१) शुक्लयजुर्वेद और (२) कृष्णयजुर्वेद।

सामवेद—इसमें यज्ञानुष्ठानके उद्गातृवर्गके उपयोगी मन्त्रोंका संकलन है। इसका नाम सामवेद इसलिये पड़ा है कि इसमें गायन-पद्धतिके निश्चित मन्त्र ही हैं। इसके अधिकांश मन्त्र ऋग्वेदमें उपलब्ध होते हैं, कुछ मन्त्र स्वतन्त्र भी हैं।

अथर्ववेद—इसमें यज्ञानुष्ठानके ब्रह्मवर्गके उपयोगी मन्त्रोंका संकलन है। इस ब्रह्मवर्गका कार्य है यज्ञकी देख-रेख करना, समय-समयपर नियमानुसार निर्देश देना, यज्ञमें ऋत्विजों एवं यजमानके द्वारा कोई भूल हो जाय या कमी रह जाय तो उसका सुधार या प्रायश्चित्त करना। अथर्वका अर्थ है कमियोंको हटाकर ठीक करना या कमी-रहित बनाना। अतः इसमें यज्ञ-सम्बन्धी एवं व्यक्ति-सम्बन्धी सुधार या कमी-पूर्ति करनेवाले भी मन्त्र हैं। इसमें पद्यात्मक मन्त्रोंके साथ कुछ गद्यात्मक मन्त्र भी उपलब्ध हैं। इस वेदका नामकरण अन्य वेदोंकी भाँति शब्द-शैलीके आधारपर नहीं है, अपितु इसके

प्रतिपाद्य विषयके अनुसार है। इस वैदिक शब्दराशिका प्रचार एवं प्रयोग मुख्यतः अथर्व नामके महर्षिद्वारा किया गया। इसलिये भी इसका नाम अथर्ववेद है।

कुछ मन्त्र सभी वेदोंमें या एक-दो वेदोंमें समान-रूपसे मिलते हैं, जिसका कारण यह है कि चारों वेदोंका विभाजन यज्ञानुष्ठानके ऋत्विक् जनोंके उपयोगी होनेके आधारपर किया गया है। अतः विभिन्न यज्ञावसरोंपर विभिन्न वर्गोंके ऋत्विजोंके लिये उपयोगी मन्त्रोंका उस वेदमें आ जाना स्वाभाविक है, भले ही वह मन्त्र दूसरे ऋत्विक्के लिये भी अन्य अवसरपर उपयोगी होनेके कारण अन्यत्र भी मिलता हो।

वेदोंका विभाजन और शाखा-विस्तार

आधुनिक विचारधाराके अनुसार चारों वेदोंकी शब्द-राशिके विस्तारमें तीन दृष्टियाँ पायी जाती हैं—(१) याज्ञिक दृष्टि, (२) प्रायोगिक दृष्टि और (३) साहित्यिक दृष्टि।

याज्ञिक दृष्टि—इसके अनुसार वेदोक्त यज्ञोंका अनुष्ठान ही वेदके शब्दोंका मुख्य उपयोग माना गया है। सृष्टिके आरम्भसे ही यज्ञ करनेमें साधारणतया मन्त्रोच्चारणकी शैली, मन्त्राक्षर एवं कर्म-विधिमें विविधता रही है। इस विविधताके कारण ही वेदोंकी शाखाका विस्तार हुआ है। प्रत्येक वेदकी अनेक शाखाएँ बतायी गयी हैं। यथा—ऋग्वेदकी २१ शाखा, यजुर्वेदकी १०१ शाखा, सामवेदकी १,००० शाखा और अथर्ववेदकी ९ शाखा—इस प्रकार कुल १,१३१ शाखाएँ हैं। इस संख्याका उल्लेख महर्षि पतञ्जलिने अपने महाभाष्यमें भी किया है। अन्य वेदोंकी अपेक्षा ऋग्वेदमें मन्त्र-संख्या अधिक है, फिर भी इसका शाखा-विस्तार यजुर्वेद और सामवेदकी अपेक्षा कम है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेदमें देवताओंके स्तुतिरूप मन्त्रोंका भण्डार है। स्तुति-वाक्योंकी अपेक्षा कर्मप्रयोगकी शैलीमें भिन्नता होनी स्वाभाविक है। अतः ऋग्वेदकी अपेक्षा यजुर्वेदकी शाखाएँ अधिक हैं। गायन-शैलीकी शाखाओंका सर्वाधिक होना आश्चर्यजनक नहीं है। अतः सामवेदकी १,००० शाखाएँ बतायी गयी हैं। फलतः कोई भी वेद शाखा-विस्तारके कारण एक-दूसरेसे उपयोगिता, श्रद्धा एवं महत्त्वमें कम-ज्यादा नहीं है। चारोंका महत्त्व समान है।

उपर्युक्त १,१३१ शाखाओंमेंसे वर्तमानमें केवल १२ शाखाएँ ही मूल ग्रन्थोंमें उपलब्ध हैं। वे हैं—

१-ऋग्वेदकी २१ शाखाओंमेंसे केवल २ शाखाओंके ही ग्रन्थ प्राप्त हैं—(१) शाकल-शाखा और (२) शांखायन-शाखा।

२-यजुर्वेदमें कृष्णयजुर्वेदकी ८६ शाखाओंमेंसे केवल ४ शाखाओंके ग्रन्थ ही प्राप्त हैं—(१) तैत्तिरीय-शाखा, (२) मैत्रायणीय-शाखा, (३) कठ-शाखा और (४) कपिष्ठल-शाखा।

शुक्लयजुर्वेदकी १५ शाखाओंमेंसे केवल २ शाखाओंके ग्रन्थ ही प्राप्त हैं—(१) माध्यन्दिनीय-शाखा और (२) काण्व-शाखा।

३-सामवेदकी १,००० शाखाओंमेंसे केवल २ शाखाओंके ही ग्रन्थ प्राप्त हैं—(१) कौथुम-शाखा और (२) जैमिनीय-शाखा।

४-अथर्ववेदकी ९ शाखाओंमेंसे केवल २ शाखाओंके ही ग्रन्थ प्राप्त हैं— (१) शौनक-शाखा और (२) पैप्पलाद-शाखा।

उपर्युक्त १२ शाखाओंमेंसे केवल ६ ह्यशाखाओंकी अध्ययन-शैली प्राप्त है, जो नीचे दी जा रही है—

ऋग्वेदमें केवल शाकल-शाखा, कृष्णयजुर्वेदमें केवल तैत्तिरीय-शाखा और शुक्लयजुर्वेदमें केवल माध्यन्दिनीय-शाखा तथा काण्व-शाखा, सामवेदमें केवल कौथुम-शाखा, अथर्ववेदमें केवल शौनक-शाखा। यह कहना भी अनुपयुक्त नहीं होगा कि अन्य शाखाओंके कुछ और भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किंतु उनसे उस शाखाका पूरा परिचय नहीं मिल सकता एवं बहुत-सी शाखाओंके तो नाम भी उपलब्ध नहीं हैं। कृष्णयजुर्वेदकी मैत्रायणी-शाखा महाराष्ट्रमें तथा सामवेदकी जैमिनीय-शाखा केरलके कुछ व्यक्तियोंके ही उच्चारणमें सीमित हैं।

प्रायोगिक दृष्टि—इसके अनुसार प्रत्येक शाखाके दो भाग बताये गये हैं। एक मन्त्र-भाग और दूसरा ब्राह्मण-भाग।

मन्त्र-भाग—मन्त्र-भाग उस शब्दराशिको कहते हैं, जो यज्ञमें साक्षात्-रूपसे प्रयोगमें आती है।

ब्राह्मण-भाग—ब्राह्मण शब्दसे उस शब्दराशिका

संकेत है, जिसमें विधि (आज्ञाबोधक शब्द), कथा, आख्यायिका एवं स्तुतिद्वारा यज्ञ करानेकी प्रवृत्ति उत्पन्न कराना, यज्ञानुष्ठान करनेकी पद्धति बताना, उसकी उपपत्ति और विवेचनके साथ उसके रहस्यका निरूपण करना है। इस प्रायोगिक दृष्टिके दो विभाजनोंमें साहित्यिक दृष्टिके चार विभाजनोंका समावेश हो जाता है।

साहित्यिक दृष्टि—इसके अनुसार प्रत्येक शाखाकी वैदिक शब्द-राशिका वर्गीकरण—(१) संहिता, (२) ब्राह्मण, (३) आरण्यक और (४) उपनिषद्—इन चारों भागोंमें है।

संहिता—वेदका जो भाग प्रतिदिन विशेषतः अध्ययनीय है, उसे 'संहिता' कहते हैं। इस शब्द राशिका उपयोग श्रौत एवं स्मार्त दोनों प्रकारके यज्ञानुष्ठानोंमें होता है। प्रत्येक वेदकी अलग-अलग शाखाकी एक-एक संहिता है। वेदोंके अनुसार उनको—(१) ऋग्वेद-संहिता, (२) यजुर्वेद-संहिता, (३) सामवेद-संहिता और (४) अथर्ववेद-संहिता कहा जाता है। इन संहिताओंके पाठमें उनके अक्षर, वर्ण, स्वर आदिका किंचित् मात्र भी उलट-पुलट न होने पाये, इसलिये प्राचीन अध्ययन-अध्यापनके सम्प्रदायमें (१) संहिता-पाठ, (२) पद-पाठ, (३) क्रम-पाठ—ये तीन प्रकृति पाठ और (१) जटा, (२) माला, (३) शिखा, (४) रेखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ तथा (८) घन—ये आठ विकृति पाठ प्रचलित हैं।

ब्राह्मण—वह वेद-भाग जिसमें विशेषतया यज्ञानुष्ठानकी पद्धतिके साथ-ही-साथ तदुपयोगी प्रवृत्तिका उद्बोधन कराना, उसको दृढ़ करना तथा उसके द्वारा फल-प्राप्ति आदिका निरूपण विधि एवं अर्थवादके द्वारा किया गया है, 'ब्राह्मण' कहा जाता है।

आरण्यक—वह वेद-भाग जिसमें यज्ञानुष्ठान-पद्धति, याज्ञिक मन्त्र, पदार्थ एवं फल आदिमें आध्यात्मिकताका संकेत दिया गया है, 'आरण्यक' कहलाता है। यह भाग मनुष्यको आध्यात्मिक बोधकी ओर झुकाकर सांसारिक बन्धनोंसे ऊपर उठाता है। अतः इसका विशेष अध्ययन भी संसारके त्यागकी भावनाके कारण वानप्रस्थाश्रमके लिये अरण्य (जंगल)-में किया जाता है। इसीलिये इसका नाम 'आरण्यक' प्रसिद्ध हुआ है।

उपनिषद्—वह वेद-भाग जिसमें विशुद्ध रीतिसे आध्यात्मिक चिन्तनको ही प्रधानता दी गयी है और फल-सम्बन्धी फलानुबन्धी कर्मोंके दृढानुरागको शिथिल करना सुझाया गया है, 'उपनिषद्' कहलाता है। वेदका यह भाग उसकी सभी शाखाओंमें है, परंतु यह बात स्पष्ट-रूपसे समझ लेनी चाहिये कि वर्तमानमें उपनिषद् संज्ञाके नामसे जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमेंसे कुछ उपनिषदों (ईशावास्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, छान्दोग्य आदि)-को छोड़कर बाकीके सभी उपनिषद् उसी रूपमें किसी-न-किसी शाखाके उपनिषद्-भागमें उपलब्ध हों, ऐसी बात नहीं है। शाखागत उपनिषदोंमेंसे कुछ अंशको सामयिक, सामाजिक या वैयक्तिक आवश्यकताके आधारपर उपनिषद् संज्ञा दे दी गयी है। इसीलिये इनकी संख्या एवं उपलब्धियोंमें विविधता मिलती है। वेदोंमें जो उपनिषद्-भाग हैं, वे अपनी शाखाओंमें सर्वथा अक्षुण्ण हैं। उनको तथा उन्हीं शाखाओंके नामसे जो उपनिषद्-संज्ञाके ग्रन्थ उपलब्ध हैं, दोनोंको एक नहीं समझना चाहिये। उपलब्ध उपनिषद्-ग्रन्थोंकी संख्यामेंसे ईशादि १० उपनिषद् तो सर्वमान्य हैं। इनके अतिरिक्त ५ और उपनिषद् (श्वेताश्वतरादि), जिनपर आचार्योंकी टीकाएँ तथा प्रमाण-उद्धरण आदि मिलते हैं, सर्वसम्मत कहे जाते हैं। इन १५ के अतिरिक्त जो उपनिषद् उपलब्ध हैं, उनकी शब्दगत ओजस्विता तथा प्रतिपादनशैली आदिकी विभिन्नता होनेपर भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि इनका प्रतिपाद्य ब्रह्म या आत्मतत्त्व निश्चयपूर्वक अपौरुषेय, नित्य, स्वतःप्रमाण वेद-शब्द-राशिसे सम्बद्ध है।

ऋषि, छन्द और देवता

वेदके प्रत्येक मन्त्रमें किसी-न-किसी ऋषि, छन्द एवं देवताका उल्लेख होना आवश्यक है। कहीं-कहीं एक ही मन्त्रमें एकसे अधिक ऋषि, छन्द और देवताके नाम मिलते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि एक ही मन्त्रमें एकसे अधिक ऋषि, छन्द और देवता क्यों हैं, यह स्पष्ट कर दिया जाय। इसका विवेचन निम्न पंक्तियोंमें किया गया है—

ऋषि—यह वह व्यक्ति है, जिसने मन्त्रके स्वरूपको यथार्थ रूपमें समझा है। 'यथार्थ'—ज्ञान प्रायः चार प्रकारसे होता है (१) परम्पराके मूल पुरुष होनेसे, (२) उस तत्त्वके साक्षात् दर्शनसे, (३) श्रद्धापूर्वक प्रयोग तथा साक्षात्कारसे और (४) इच्छित (अभिलषित)-पूर्ण सफलताके साक्षात्कारसे। अतएव इन चार कारणोंसे मन्त्र-सम्बन्धित ऋषियोंका निर्देश ग्रन्थोंमें मिलता है। जैसे—

१—कल्पके आदिमें सर्वप्रथम इस अनादि वैदिक शब्द-राशिका प्रथम उपदेश ब्रह्माजीके हृदयमें हुआ और ब्रह्माजीसे परम्परागत अध्ययन-अध्यापन होता रहा, जिसका निर्देश '**वंश-ब्राह्मण**' आदि ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है। अतः समस्त वेदकी परम्पराके मूल पुरुष ब्रह्मा (ऋषि) हैं। इनका स्मरण परमेष्ठी प्रजापति ऋषिके रूपमें किया जाता है।

२—इसी परमेष्ठी प्रजापतिकी परम्पराकी वैदिक शब्द-राशिके किसी अंशके शब्द-तत्त्वकी जिस ऋषिने अपनी तपश्चर्याके द्वारा किसी विशेष अवसरपर प्रत्यक्ष दर्शन किया, वह भी उस मन्त्रका ऋषि कहलाया। उस ऋषिका यह ऋषित्व शब्दतत्त्वके साक्षात्कारका कारण माना गया है। इस प्रकार एक ही मन्त्रका शब्दतत्त्व-साक्षात्कार अनेक ऋषियोंको भिन्न-भिन्न रूपसे या सामूहिक रूपसे हुआ था। अतः वे सभी उस मन्त्रके ऋषि माने गये हैं।

३—कल्प-ग्रन्थोंके निर्देशोंमें ऐसे व्यक्तियोंको भी ऋषि कहा गया है, जिन्होंने उस मन्त्र या कर्मका प्रयोग तथा साक्षात्कार अति श्रद्धापूर्वक किया है।

४—वैदिक ग्रन्थों विशेषतया पुराण-ग्रन्थोंके मननसे यह भी पता लगता है कि जिन व्यक्तियोंने किसी मन्त्रका एक विशेष प्रकारके प्रयोग तथा साक्षात्कारसे सफलता प्राप्त की है, वे भी उस मन्त्रके ऋषि माने गये हैं।

उक्त निर्देशोंको ध्यानमें रखनेके साथ यह भी समझ लेना चाहिये कि एक ही मन्त्रको उक्त चारों प्रकारसे या एक ही प्रकारसे देखनेवाले भिन्न-भिन्न व्यक्ति ऋषि हुए हैं। फलतः एक मन्त्रके अनेक ऋषि होनेमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि मन्त्र ऋषियोंकी रचना या अनुभूतिसे सम्बन्ध नहीं रखता; अपितु ऋषि ही उस मन्त्रसे बहिरङ्ग रूपसे सम्बद्ध व्यक्ति है।

छन्द—मन्त्रसे सम्बन्धित (मन्त्रके स्वरूपमें अनुस्यूत) अक्षर, पाद, विरामकी विशेषताके आधारपर दी गयी जो संज्ञा है, वही छन्द है। एक ही पदार्थकी संज्ञा विभिन्न सिद्धान्त या व्यक्तिके विश्लेषणके भावसे नाना प्रकारकी हो सकती है। अतः एक ही मन्त्रके भिन्न नामके छन्द शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। किसी भी संज्ञाका नियमन उसके तत्त्वज्ञ आप्त व्यक्तिके द्वारा ही होता है। अतः कात्यायन, शौनक, पिंगल आदि छन्दःशास्त्रके आचार्योंकी एवं सर्वानुक्रमणीकारोंकी उक्तियाँ ही इस सम्बन्धमें मान्य होती हैं। इसलिये एक मन्त्रमें भिन्न नामोंके छन्दोंके मिलनेसे भ्रम नहीं होना चाहिये।

देवता—मन्त्रोंके अक्षर किसी पदार्थ या व्यक्तिके सम्बन्धमें कुछ कहते हैं। यह कथन जिस व्यक्ति या पदार्थके निमित्त होता है, वही उस मन्त्रका देवता होता है, परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि कौन मन्त्र, किस व्यक्ति या पदार्थके लिये कब और कैसे प्रयोग किया जाय, इसका निर्णय वेदका ब्राह्मण-भाग या तत्त्वज्ञ ऋषियोंके शास्त्र-वचन ही करते हैं। एक ही मन्त्रका प्रयोग कई यज्ञिय अवसरों तथा कई कामनाओंके लिये मिलता है। ऐसी स्थितिमें उस एक ही मन्त्रके अनेक देवता बताये जाते हैं। अतः उन निर्देशोंके आधारपर ही कोई पदार्थ या व्यक्ति 'देवता' कहा जाता है। मन्त्रके द्वारा जो प्रार्थना की गयी है, उसकी पूर्ति करनेकी क्षमता उस देवतामें रहती है। लौकिक व्यक्ति या पदार्थ ही जहाँ देवता हैं, वहाँ वस्तुतः वह दृश्य जड पदार्थ या अक्षम व्यक्ति देवता नहीं है, अपितु उसमें अन्तर्हित एक प्रभु-शक्तिसम्पन्न देवता-तत्त्व है, जिससे हम प्रार्थना करते हैं। यही बात 'अभिमानीव्यपदेश' शब्दसे शास्त्रोंमें स्पष्ट की गयी है। लौकिक पदार्थ या व्यक्तिका अधिष्ठाता देवता-तत्त्व मन्त्रात्मक शब्द-तत्त्वसे अभिन्न है, यह मीमांसा-दर्शनका विचार है। वेदान्तशास्त्रमें मन्त्रसे प्रतिपादित देवता-तत्त्वको शरीरधारी चेतन और अतीन्द्रिय कहा गया है। पुराणोंमें कुछ देवताओंके

स्थान, चरित्र, इतिहास आदिका वर्णन करके भारतीय संस्कृतिके इस देवतातत्त्वके प्रभुत्वको हृदयङ्गम कराया गया है। निष्कर्ष यही है कि इच्छाकी पूर्ति कर सकनेवाले अतीन्द्रिय मन्त्रसे प्रतिपादित तत्त्वको देवता कहते हैं और उस देवताका संकेत शास्त्र-वचनोंसे ही मिलता है। अतः वचनोंके अनुसार अवसर-भेदसे एक मन्त्रके विभिन्न देवता हो सकते हैं।

वेदके अङ्ग, उपाङ्ग एवं उपवेद

वेदोंके सर्वाङ्गीण अनुशीलनके लिये शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन ६ अङ्गोंके ग्रन्थ हैं। प्रतिपदसूत्र, अनुपद, छन्दोभाषा (प्रतिशाख्य), धर्मशास्त्र, न्याय तथा वैशेषिक—ये ६ उपाङ्ग ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा स्थापत्यवेद—ये क्रमशः चारों वेदोंके उपवेद कात्यायनने बतलाये हैं।

वेदोंकी जानकारीके लिये विशेष उपयोगी ग्रन्थ

वैदिक शब्दोंके अर्थ एवं उनके प्रयोगकी पूरी जानकारीके लिये वेदाङ्ग आदि शास्त्रोंकी व्यवस्था मानी गयी है। उसमें वैदिक स्वर और शब्दोंकी व्यवस्थाके लिये शिक्षा तथा व्याकरण दोनों अङ्गोंके ग्रन्थ वेदके विशिष्ट शब्दार्थके उपयोगके लिये अलग-अलग उपाङ्ग ग्रन्थ 'प्रातिशाख्य' हैं, जिन्हें वैदिक व्याकरण भी कहते हैं। प्रयोग-पद्धतिकी सुव्यवस्थाके लिये कल्पशास्त्र माना जाता है। इसके चार भेद हैं—(१) श्रौतसूत्र, (२) गृह्यसूत्र, (३) धर्मसूत्र और (४) शुल्बसूत्र। इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

श्रौतसूत्र—इसमें श्रौत-अग्नि (आहवनीय-गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि)-में होनेवाले यज्ञ-सम्बन्धी विषयोंका स्पष्ट निरूपण किया गया है।

गृह्यसूत्र—इसमें गृह्य (औपासन)-अग्निमें होनेवाले कर्मों एवं उपनयन, विवाह आदि संस्कारोंका निरूपण किया गया है।

धर्मसूत्र—इसमें वर्ण तथा आश्रम-सम्बन्धी धर्म, आचार, व्यवहार आदिका निरूपण है।

शुल्बसूत्र—इसमें यज्ञ-वेदी आदिके निर्माणकी ज्यामितीय प्रक्रिया तथा अन्य तत्सम्बद्ध निरूपण है।

उपर्युक्त प्रकारसे प्रत्येक शाखाके लिये अलग-अलग व्याकरण और कल्पसूत्र हैं, जिनसे उस शाखाका पूरा ज्ञान हो जाता है और कर्मानुष्ठानमें सुविधा होती है।

इस बातको भी ध्यानमें रखना चाहिये कि यथार्थमें ज्ञानस्वरूप होते हुए भी वेद; कोई वेदान्त-सूत्रकी तरह केवल दार्शनिक ग्रन्थ नहीं हैं, जहाँ केवल आध्यात्मिक चिन्तनका ही समावेश हो। ज्ञान-भण्डारमें लौकिक और अलौकिक सभी विषयोंका समावेश रहता है और साक्षात् या परम्परासे ये सभी विषय परम तत्त्वकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं। यद्यपि किसी दार्शनिक विषयका साङ्गोपाङ्ग विचार वेदमें किसी एक स्थानपर नहीं मिलता, किंतु छोटे-से-छोटे तथा बड़े-से-बड़े तत्त्वोंके स्वरूपका साक्षात् दर्शन तो ऋषियोंको हुआ था और वे सब अनुभव वेदमें व्यक्त-रूपसे किसी-न-किसी स्थानपर वर्णित हैं। उनमें लौकिक और अलौकिक सभी बातें हैं। स्थूलतम तथा सूक्ष्मतम रूपसे भिन्न-भिन्न तत्त्वोंका परिचय वेदके अध्ययनसे प्राप्त होता है। अतः वेदके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता कि वेदका एक ही प्रतिपाद्य विषय है या एक ही दर्शन है अथवा एक ही मन्तव्य है। यह तो साक्षात्-प्राप्त ज्ञानके स्वरूपोंका शब्द-भण्डार है। इसी शब्दराशिके तत्त्वोंको निकाल कर आचार्योंने अपनी-अपनी अनुभूति, दृष्टि एवं गुरु-परम्पराके आधारपर विभिन्न दर्शनों तथा दार्शनिक प्रस्थानों (मौलिक दृष्टिसे सुविचारित मतों)-का संचयन किया है। इस कारण भारतीय दृष्टिसे वेद विश्वका संविधान है।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥

(अथर्व ३। ३०। २)

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला हो और माताके साथ समान मनवाला हो। पत्नी पतिसे मधुर और सुखद वाणी बोले।

ऋग्वेदका परिचय एवं वैशिष्ट्य

(श्रीराम अधिकारीजी, वेदाचार्य)

हजारसे भी अधिक शाखाओंमें विस्तृत वेद ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नामसे प्रसिद्ध है। ऋग्वेदकी अध्ययन-परम्परा ऋषि पैलसे आरम्भ हुई है। छन्दोबद्ध मन्त्रोंसे इस वेदकी ग्रन्थाकृति आविर्भूत हुई है। महाभाष्यके आधारपर ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ होनेका उल्लेख है। सम्प्रति विशेषतया शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकायन नामक पाँच ही उपलब्ध शाखाएँ प्रसिद्धिमें रही हैं। यद्यपि शाकलके अतिरिक्त अन्य चारों शाखाओंकी संहिता नहीं मिलती है; तथापि इनका अनेक स्थानोंपर वर्णन मिलता है। किसीका ब्राह्मण, किसीका आरण्यक तथा श्रौतसूत्र मिलनेसे पाँच शाखाएँ ज्ञात होनेकी पुष्टि होती है। जैसे कि शाकलके आधारपर ऋग्वेदका अन्तिम मन्त्र '**समानी व आकूतिः**' है, परंतु बाष्कलके आधारपर '**तच्छंयोरावृणीमहे**' अन्तिम ऋचा है। बाष्कल शाखाकी यह ऋचा ऋक्परिशिष्टके अन्तिम संज्ञानसूक्तका अन्तिम मन्त्र है। इसी सूक्तसे बाष्कल शाखा-सम्मत संहिता समाप्त होती है। शाकल शाखाके मन्त्रक्रमसे बाष्कलके मन्त्रक्रममें बहुत कुछ अन्तर मिलता है।

वर्तमानमें आश्वलायन शाखाके श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र ही मिलते हैं। इसी प्रकार शांखायन संहिताके ब्राह्मण और आरण्यक ही प्रकाशित हैं, परंतु संहिता नहीं मिलती। प्रकाशित शाकल शाखा और शांखायन शाखामें केवल मन्त्रक्रममें ही भेद है। जैसे शाकलमें ऋक्-परिशिष्ट और बालखिल्यसूक्त संहितासे पृथक् हैं, जबकि वे शांखायनमें संहिताके अन्तर्गत ही हैं। माण्डूकायन शाखाके भी ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं। इन पाँच शाखाओंमें भी आज शाकल और बाष्कल शाखाएँ ही प्रचलित हैं। जिसमें मण्डल, सूक्त आदिसे विभाग किया हो, वह शाकल और जिसमें अष्टक-अध्याय-वर्ग आदिके क्रमसे विभाग किया गया हो, उसको बाष्कल कहते हैं, यह एक मत है। इन दोनों शाकल और बाष्कल शाखाओंके भेदक मण्डल, सूक्तक्रम, अध्याय और वर्गक्रमको छोड़कर एक ही जगह मण्डल-संख्या और अध्याय-संख्याओंका भी निर्देश प्राचीन ग्रन्थोंमें किया गया है। जैसे कि ऋग्वेदमें ६४ अध्याय, ८ अष्टक, १० मण्डल, २,००६ वर्ग, १,००० सूक्त, ८५ अनुवाक और १०,४४० मन्त्र होनेका उल्लेख विद्याधर गौडकृत कात्यायन श्रौतसूत्रकी भूमिकामें मिलता है। मण्डलमें सूक्तोंकी संख्या क्रमशः १९१, ४३, ६२, ५८, ८७, ७५, १०४, १०३, ११४, १९१ अर्थात् कुल १, ०२७ निर्धारित मिलती है। कात्यायनकृत चरणव्यूह परिशिष्टमें दस हजार पाँच सौ सवा अस्सी मन्त्र होनेका उल्लेख मिलता है। सूक्तोंकी संख्या शाखा-भेदके कारण न्यूनाधिक देखी जा सकती है। इन सूक्तोंके अतिरिक्त अष्टम मण्डलके बीच ४३ सूक्तसे ५९ सूक्ततक पढ़े गये ११ बालखिल्य सूक्त मिलते हैं। स्वाध्यायके अवसरपर इन सूक्तोंका पाठ करनेकी परम्परा ऋग्वेदी विद्वानोंकी है। प्राप्त शाखाओंमेंसे शाकल शाखाकी विशिष्ट उच्चारण-परम्परा केरलमें रही है। आश्वलायन और शांखायन शाखीय गुर्जर (गुजरात)-में ब्राह्मण-परिवार मिलते हैं।

पश्चिमके शोधकर्ताओंके विचारमें ऋग्वेदके प्रथम और दशम मण्डल अर्वाचीन हैं। इस विचारकी पुष्टिके लिये उनका तर्क है कि द्वितीयसे नवम मण्डलोंकी अपेक्षा प्रथम और दशम मण्डलोंमें भाषागत विभिन्नता, छन्दोगत विशिष्टता, देवसम्बद्ध नूतनता और विषय-वस्तुओंकी नवीनता दिखायी पड़ती है। द्वितीयसे नवमतकके मण्डलोंमें रेफ मिल जाता है तो अवशिष्ट मण्डलमें रेफके स्थानपर लकार लिखा हुआ मिलता है। वैसे ही इन्द्र, मित्र, वरुण आदि देवोंके स्थानमें श्रद्धा, मन्यु-जैसी भावनाओंको देव मानना प्रथम और दशम मण्डलोंकी विशेषता है। परंतु ये तर्क और अनुशीलन प्रथम और दशम मण्डलको अर्वाचीन सिद्ध करनेके लिये असमर्थ हैं, क्योंकि इनका खण्डन सहजरूपमें हो सकता है। पृथक्-पृथक् मण्डलकी अलग विशेषता रहना स्वाभाविक है और 'अभिमानीव्यपदेश' सिद्धान्तके आधारसे कोई जीव या वस्तु देव हो सकता है। सबसे प्रमुख बात तो वेदका कर्ता और रचनाकाल असिद्ध होनेसे अपौरुषेय वेदकी प्राचीनता और अर्वाचीनता कही नहीं जा सकती।

ऋग्वेदके सम्बन्धमें उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि संसारके सभी लोग इस वेदको विश्वके सर्वप्राचीन ग्रन्थके रूपमें ग्रहण करते हैं। यह बात भारतीयोंके लिये गौरव रखती है।

४४ अक्षरोंसे बननेवाली त्रिष्टुप् छन्द, २४ अक्षरोंकी गायत्री छन्द और ४८ अक्षरोंकी जगती छन्द प्रधानतासे पूरी ऋग्वेदकी संहितामें हैं। चार पादवाले, तीन पादवाले और दो पादवाले मन्त्र इसमें देखे जा सकते हैं। दो पादवाली ऋचाएँ अध्ययन-कालमें चतुष्पदा और यज्ञके अवसरपर द्विपदा मानी जाती हैं। दो पादवाली ऋचाको चतुष्पदा करनेके लिये प्रगाथ किया जाता है। अन्तिम पादको पुनः अभ्यास करके चार पाद बनानेकी प्रक्रिया प्रगाथ है।

यह विशेष गौरवपूर्ण तथ्य है कि मात्र भारत ही नहीं, अपितु विश्वके लिये ऋग्वेद ज्ञान, विज्ञान और ऐतिहासिक तथ्य एवं सांस्कृतिक मूल्योंके लिये धरोहर है। इसमें अनेक सूक्तोंके माध्यमसे रोचक एवं महत्त्वपूर्ण विषयका प्रतिपादन किया गया है। कतिपय सूक्तोंमें दानस्तुतिका प्रतिपादन मिलता है। ऐसे सूक्त ऋक्सर्वानुक्रमणिकाके आधारपर २२ हैं, परंतु आधुनिक गवेषक ६८ सूक्त होनेका दावा करते हैं। आधुनिक इतिहासकारोंका मानना है कि इन मन्त्रोंमें ऋषियोंने दानशील राजाकी दानमहिमा गायी है। परंतु वैदिक सिद्धान्तकी दृष्टिसे अपौरुषेय वेदके आधारपर ये दानस्तुतियाँ प्ररोचना (प्रशंसा)-के रूपमें स्वीकार्य हैं। इसमें प्रबन्ध-काव्य एवं नाटकोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाले लगभग बीस सूक्त मिलते हैं। कथनोपकथनके प्राधान्यसे इन सूक्तोंको 'संवादसूक्त' नाम दिया गया है। इनमेंसे तीन प्रसिद्ध, रोचक एवं नैतिक मूल्यप्रदायक आख्यायिकाओंसे जुड़े संवादसूक्त मिलते हैं। वे पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (ऋक्० १०।८५), यम-यमी-संवाद (ऋक्० १०।१०) और सरमा-पणि-संवाद (ऋक्० १०। १३०) हैं। पुरूरवा एवं उर्वशीकी कथा रोमाञ्चक प्रेमका प्राचीनकालिक निदर्शन है, जिसमें स्वर्गकी अप्सरा पृथ्वीके मानवसे विवाह करती है। सशर्त किया हुआ यह विवाह शर्तभंगके बाद वियोगमें परिणत होता है। स्वर्गकी अप्सरा उर्वशी वापस चली जाती है। सूक्तमें कुछ कथन पुरूरवाके और कुछ कथन उर्वशीके देखे जा सकते हैं। वैसे ही यमी अपनी काम-इच्छाएँ अपने ही भाई यमसे पूरी करनेके लिये प्रयास करती है। नैतिक एवं चारित्रिक उदात्ततासे ओतप्रोत यम यमीको दूसरा पति ढूँढ़नेका परामर्श देकर भाई-बहनके रक्त-सम्बन्धको पवित्र एवं मर्यादित करता है। यह आर्योंकी महत्त्वपूर्ण संस्कृति रही है। इसी तरह ऋग्वेदीय सामाजिक विशेषता प्रस्तुत करनेवाला सरमा-पणि-संवाद सूक्त है। जिसमें पणि लोगोंके द्वारा आर्य लोगोंकी गायें चुराकर कहीं अँधेरी गुफामें रखनेकी आख्यायिका आयी है। इन्द्रने अपनी शुनी (कुत्ती) सरमाको पणियोंको समझानेके लिये दौत्यकर्म सौंपा। उसके बाद सरमा आर्य लोगोंके पराक्रमकी गाथा गाकर पणियोंको धमकाती है। इसी प्रकारकी सामाजिक स्थितिका बोध ऋग्वेदीय सूक्तोंसे कर सकते हैं।

शाकल संहिताके अन्तमें ऋक्परिशिष्ट नामसे ३६ सूक्त संगृहीत किये गये हैं। इनमेंसे चर्चित सूक्त हैं—श्रीसूक्त, रात्रिसूक्त, मेधासूक्त, शिवसङ्कल्पसूक्त तथा संज्ञानसूक्त। ये सूक्त ऋक्संहिताके विविध मण्डलोंमें पढ़े गये हैं। '**सितासिते सरिते यत्र संगते**'—(ऋक्परिशिष्ट २२ वाँ) सूक्त स्कन्दपुराणके काशीखण्ड (७। ४४) और पद्मपुराण (६। २४६। ३५)-में उद्धृत है। पुराणके इन दोनों स्थानोंपर यह मन्त्र प्रयागपरक अर्थ देता है अर्थात् प्रयागमें मिलनेवाली सित (गङ्गा) और असित (यमुना)-के संगम-तीर्थकी महिमा भी इससे ज्ञात होती है।

ऋग्वेदकी यज्ञपरता और ब्राह्मण-ग्रन्थ

यजुर्वेद यज्ञका मापन करता है। ऋग्वेद और सामवेद यज्ञमें आहूत देवोंकी प्रसन्नताके लिये शस्त्र और स्तोत्र बतलाते हैं। अथर्ववेद यज्ञमें अनुशासनका पालन करवाता है। इस तरह यज्ञका पूर्ण स्वरूप चारों वेदोंसे सम्पन्न किया जाता है। इसके लिये ब्राह्मण-ग्रन्थ मन्त्र-विनियोजनपूर्वक कर्मोंके प्रख्यापन करते हैं। '**स्तुतमनुशंसति**' इस ब्राह्मणवाक्यके निर्देशानुसार होतृगण ऋग्वेदीय सूक्तोंके शंसनसे देवोंकी स्तुति करते हैं। होतृगणमें होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक और ग्रावस्तुत वैदिक नामवाले चार ऋत्विज् रहते हैं। ऋग्वेदके ऐतरेय और शांखायन ब्राह्मण मिलते हैं। ये ब्राह्मण यज्ञके प्रख्यापनके साथ-साथ रोचक आख्यायिकाओंसे

मानवीय मूल्यों एवं कर्तव्योंका शिक्षण करते हैं। ४० अध्याय, ८ पञ्चिका और २८५ कण्डिकाओंमें विभक्त ऐतरेय ब्राह्मण होतृगणसे सम्बद्ध शस्त्रशंसनादि कार्योंका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है। प्रत्येक पाँच अध्याय मिलाकर निर्मित पञ्चिकाके अन्तर्गत प्रथम और द्वितीय पञ्चिकामें सभी यागोंके प्रकृतिभूत अग्निष्टोम (सोमयाग)-में होतृगणके विधि-विधानों एवं कर्तव्योंका विवेचन है। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ पञ्चिकामें प्रातः, माध्यन्दिन तथा तृतीय सवन (सायं-सवन)-पर शंसन किये जानेवाले बारह शस्त्रोंका वर्णन मिलता है।

पञ्चम एवं षष्ठ पञ्चिकामें द्वादशाह (सोमयाग) एवं अनेक-दिन-साध्य सोमयागपर हौत्रकर्म निरूपित है। सप्तम पञ्चिका राजसूय यागके वर्णनके क्रममें शुनःशेपका आख्यान विस्तृतरूपसे प्रस्तुत करती है। यह आख्यान अत्यन्त प्रसिद्ध है। अन्तिम अष्टम पञ्चिकामें ऐतिहासिक महत्त्ववाले 'ऐन्द्र महाभिषेक'-जैसे विषय देखनेमें आते हैं। इसी 'ऐन्द्र महाभिषेक'- के आधारपर चक्रवर्ती नरेशोंके महाभिषेकका रोचक प्रसंग आया है। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण प्रमुख रूपसे सोमयागमें हौत्रकर्म बतलाता है।

३० अध्यायों एवं २२६ खण्डोंमें विभक्त ऋग्वेदका दूसरा शांखायन ब्राह्मण लम्बे-लम्बे गद्यात्मक वाक्योंमें अपने प्रतिपाद्योंका निरूपण करता है। इस ब्राह्मणको 'कौषीतकि ब्राह्मण' भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें अनेक आचार्योंके मतोंका उल्लेख करके कौषीतकिका मत यथार्थ ठहराया गया है। विषय-वस्तुकी दृष्टिसे यह ब्राह्मण ऐतरेयका ही अनुसरण करता है। इसके अनुशीलनसे महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हैं। जैसे— उदीच्य देश संस्कृतका केन्द्र है, इस देशके भ्रमणका प्रसंग, रुद्रकी महिमा वर्णन, '**यज्ञो वै विष्णुः**'के आधारपर विष्णुको उच्चकोटिमें रखनेका प्रसंग, इन्द्रद्वारा वृत्तको मारनेके लिये महानाम्नी साम-मन्त्रोंको पढ़ना तथा शक्वरी ऋचाओंकी निरुक्ति एवं महत्त्वका प्रख्यापन आदि इस ब्राह्मणके उल्लेख्य विषय हैं।

ऋग्वेदके ऐतरेय और शांखायन नामके दो आरण्यक प्रसिद्ध हैं। प्रथम ऐतरेय आरण्यकमें अवान्तर पाँच आरण्यक भाग हैं, जिनमेंसे प्रथम आरण्यकमें 'गवामयन' नामक सत्रयागके अङ्गभूत महाव्रत-कर्मका वर्णन है। द्वितीय आरण्यकमें प्राणविद्या एवं पुरुष आदिका विवेचन है। इसीके अन्तर्गत 'ऐतरेय उपनिषद्' भी वर्णित है। तृतीय संहितोपनिषद् नामक आरण्यक संहिता, पद, क्रम, स्वर एवं व्यञ्जन आदिका निरूपण करता है। चतुर्थ आरण्यकमें महानाम्नी ऋचाओंका वर्णन और अन्तिम आरण्यकमें निष्केवल्य शस्त्र निरूपित है। इनमेंसे प्रथम तीनके द्रष्टा ऐतरेय, चतुर्थके आश्वलायन और पाँचवेंके शौनक माने गये हैं। पाँचवें आरण्यकके द्रष्टा शौनक और बृहद्देवताके रचयिता शौनकके बारेमें विद्वानोंका मतभेद रहा है। इसी तरह दूसरा शांखायन नामक आरण्यक ३० अध्यायोंमें विभाजित है और ऐतरेय आरण्यकका ही अनुसरण करता है। इस आरण्यकके १५वें अध्यायमें आचार्यके वंशवर्णनके क्रमानुसार आरण्यकद्रष्टा गुणाख्य शांखायन और उनके गुरुरूपमें कहोल कौषीतकिका उल्लेख मिलता है। अध्यात्मविद्याका रहस्य बतलानेवाले उपनिषद्-खण्डमें ऐतरेय उपनिषद् ऋग्वेदसे सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त सोलह अवान्तर उपनिषद् होनेका उल्लेख भी मिलता है।

ऋग्वेदीय वेदाङ्ग-साहित्य

कल्पशास्त्र श्रौत्रसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्बसूत्रमें विभक्त हुआ है। ऋग्वेदीय कल्पशास्त्रका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—ऋग्वेदीय श्रौतसूत्रोंमें आश्वलायन और शांखायन मिलते हैं। क्रमशः १२ अध्याय और१८अध्यायोंमें विभक्त इन दोनों श्रौत्रसूत्रोंमें पुरोऽनुवाक्या, याज्या, प्रतिगर-न्यूंख-जैसे विषयोंका निरूपण करके हौत्रकर्म बतलाया गया है। क्रमशः ४ और ६ अध्यायोंमें विभाजित आश्वलायन और शांखायन गृह्यसूत्र स्मार्त (गृह्य)-कर्मोंकी निरूक्ति करते हैं। इसी प्रकार २२ अध्यायोंमें विभक्त आश्वलायन धर्मसूत्र ऋग्वेदीय धर्मसूत्र माना गया है।

कुछ लोग पाणिनीय शिक्षाको ऋग्वेदकी शिक्षा मानते हैं तो कुछ लोग इसको सर्ववेद-साधारण मानते हैं। शौनक-शिक्षा और वासिष्ठ-शिक्षाको भी ऋग्वेदीय शिक्षाके रूपमें लिया जा सकता है। शौनक-शिक्षाके मङ्गलाचरण- श्लोकमें '**प्रणम्यर्क्षु प्रवक्ष्यामि**' का उल्लेख

होनेसे इसको ऋग्वेदीय शिक्षा मानना उपयुक्त ही है। ६७ श्लोकोंसे रचित शौनकीय शिक्षा ऋग्वेदसे सम्बद्ध स्वर-व्यञ्जन तथा उच्चारणकी व्यवस्था बतलाती है।

उपाङ्ग ग्रन्थके रूपमें प्रसिद्ध प्रातिशाख्य साहित्यमें ऋग्वेद-सम्बद्ध प्रातिशाख्य ऋक्प्रातिशाख्य है। १८ पटलोंमें विभक्त यह प्रातिशाख्य स्वर, व्यञ्जन, स्वरभक्ति तथा संधि-जैसे व्याकरणगत विषयोंका निरूपण करता है। इसके रचयिता आश्वलायनके गुरु शौनक माने गये हैं। इस प्रातिशाख्यमें ऐतरेय आरण्यकके अन्तर्गत संहितोपनिषद् आरण्यकका अनुसरण किया हुआ मिलता है।

वस्तुतः विश्वसाहित्यका सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ होनेके कारण ऋग्वेद पाश्चात्त्य विद्वानोंके लिये भी अत्यन्त आदर तथा विश्वासके साथ श्रद्धास्पद रहा है। भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तोंका तो यह आधारभूत ग्रन्थ ही माना जाता है। विश्वके प्राचीनतम इतिहास, संस्कृति, भाषाशैली, नृवंशशास्त्र, भौगोलिक स्वरूप तथा सभ्यताको एकमात्र लिपिबद्ध अभिलेख होनेके कारण पाश्चात्त्य विद्वानोंने इसका अनुशीलन अतिशय परिश्रमसे किया है।

परंतु हम भारतीयोंकी दृष्टिसे तो यह अपौरुषेय शब्दराशि समस्त ज्ञान-विज्ञानोंकी उपदेष्ट्री तथा विश्वकी संविधात्री है।

यजुर्वेदका संक्षिप्त परिचय

(श्रीऋषिरामजी रेग्मी, अथर्ववेदाचार्य)

शैलीकी दृष्टिसे वैदिक मन्त्रोंका विभाजन ऋक्, यजुः और सामके रूपमें तीन भागोंमें हुआ है। छन्दोंमें निबद्ध मन्त्रोंका नाम ऋग्वेद, गद्यात्मक मन्त्र-समुदाय यजुर्वेद और गानमय मन्त्र सामवेदके नामसे प्रसिद्ध हैं।

निरुक्तकार यास्क '**यजुः**' शब्द '**यज**' धातुसे निष्पन्न मानते हैं (निरुक्त ७। २०), इसका भाव यह है कि यजुर्वेदसे यज्ञका स्वरूप-निर्धारण होता है—'**यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः**' (ऋक्० १०। ७१। ११)। अतः याज्ञिक दृष्टिसे यजुर्वेदका अपर नाम 'अध्वर्युवेद' भी है।

सम्प्रदायके आधारपर यजुर्वेद दो भागोंमें विभक्त है। सामान्यतः आदित्य-परम्परासे प्राप्त मन्त्रसमुदायको 'शुक्लयजुर्वेद' और ब्रह्म-परम्पराके द्वारा प्राप्त मन्त्रोंको 'कृष्णयजुर्वेद' कहते हैं।

शुक्लत्व और कृष्णत्वका भेद

यजुर्वेदके शुक्लत्व और कृष्णत्वके विषयमें एक पौराणिक आख्यायिका मिलती है। यह आख्यायिका महीधरभाष्यकी भूमिकामें इस प्रकार उद्धृत है—

'सर्वप्रथम सत्यवतीके पुत्र पाराशर वेदव्यासने एक ही वेद-संहिताका चार भागोंमें विभाजन करके ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नामके चारों वेदोंको क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु नामके चार शिष्योंको पढ़ाया'। उसके बाद वैशम्पायनने याज्ञवल्क्यादि अपने शिष्योंको यजुर्वेद श्रवण कराया। किसी समय महर्षि वैशम्पायनने याज्ञवल्क्यसे क्रुद्ध होकर अपने द्वारा पढ़ायी हुई वेदविद्याको त्यागनेका आदेश दिया। गुरुके आज्ञानुसार याज्ञवल्क्यने अपने योगबलके द्वारा विद्याको मूर्तरूप करके वमन किया। उक्त वमन किये हुए यजुषोंको वैशम्पायनके अन्य शिष्योंने तित्तिरि (पक्षिविशेष)-रूप धारण करके भक्षण कर लिया। तबसे वे यजुर्मन्त्र 'कृष्णयजुर्वेद'के नामसे प्रसिद्ध हुए। दूसरी ओर दुःखित याज्ञवल्क्यने कठोर तपस्या करके आदित्यको प्रसन्न किया। तपसे प्रसन्न होकर सूर्यने वाजि (अश्व)-रूप धारण करके दिनके मध्याह्नमें यजुषोंका उन्हें उपदेश दिया। इस प्रकार आदित्यसे प्राप्त यजुष् शुक्ल कहलाये। दिनके मध्याह्नमें प्राप्त होनेके कारण 'माध्यन्दिन' तथा वाजिरूप आदित्यसे उपदिष्ट होनेसे 'वाजसनेय' कहलाये।' आचार्य सायण भी इस मतको स्वीकार करते हैं (देखिये काण्व भा० भू० श्लोक ६—१२)।

इस आख्यायिकामें यजुर्वेदके शुक्लत्वके विषयमें प्रस्तुत मत जितना मान्य है, उतना कृष्णत्वके विषयमें नहीं, क्योंकि शतपथब्राह्मणके वचन '**आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते**' (१४। ९। ४। ३३)-के अनुसार महर्षि याज्ञवल्क्यने आदित्यसे शुक्लयजुषोंको प्राप्त किया है, यह बात स्पष्ट है। किंतु कृष्णत्वके विषयमें जो मत प्रस्तुत है, वह

रूपकात्मक प्रतीत होता है, क्योंकि मूर्त वस्तुकी तरह अमूर्त विद्याका वमन तथा भक्षण योगबलसे ही सम्भव होता है। अतः यजुर्वेदके कृष्णत्वके विषयमें अन्य युक्तियोंका आश्रय लेना जरूरी है। इस विषयमें **'वेदशाखापर्यालोचनम्'** में **'यजुषां कृष्णत्वविचारः'** शीर्षकके अन्तर्गत ग्यारह युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। यहाँ भी इसीके कुछ अंशोंका अनुवाद प्रस्तुत है—

१-शुक्लयजुर्वेदीय लोग वेदके उपाकर्ममें श्रावण शुक्लपक्षकी चतुर्दशीयुक्त पूर्णिमाको ग्रहण करते हैं। किंतु कृष्णयजुर्वेदीय लोग भाद्रपदकृष्णपक्षकी प्रतिपद्-युक्त पूर्णिमाको ग्रहण करते हैं। इस प्रकार उपाकर्ममें कृष्णपक्षको प्रधान माननेके कारण तैत्तिरीयादि शाखाओंका नाम 'कृष्णयजुर्वेद' रहा।

२-ऋषि, देवता तथा छन्दोंके बोधक तैत्तिरीयोंके सर्वानुक्रमणी ग्रन्थके अस्तव्यस्तताके कारण भी कृष्णत्व सम्भव है।

३-कृष्णयजुषोंके श्रौत-सूत्रादि कल्पग्रन्थोंके आचार्य बहुत हैं। उन आचार्योंके द्वारा रचित विभिन्न कल्पसूत्रोंमें एक ही मन्त्रका विभिन्न स्थानपर विनियोग बताया गया है। जैसे—तैत्तिरीय संहिताकी प्रथम कण्डिकामें **'ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात'** (१।१।१) इत्यादि मन्त्रका विनियोग बौधायनने अध्वर्युकर्तृक यजमानके आज्यावेक्षणमें किया है, किंतु आपस्तम्बने गायोंके प्रत्यावर्तनमें विनियोग किया है। इस प्रकार विनियोगमें एक ही मन्त्रकी विविधता होनेसे प्रयोग-सांकर्यके कारण यजुर्वेदका कृष्णत्व हो गया।

४-कृष्णयजुर्वेदमें संहिता और ब्राह्मणके पृथक्-पृथक् अभिधान केवल प्रसिद्धिमूलक दिखायी पड़ते हैं। इस वेदके संहिता-भागमें ब्राह्मण-भाग और ब्राह्मण-भागमें संहिता-भाग मिला हुआ है। शुक्लयजुर्वेदकी तरह संहिता-भाग तथा ब्राह्मण-भागका अलग-अलग विभाजन नहीं है। इस तरह मन्त्र और ब्राह्मणकी संकीर्णताके कारण इसका कृष्णत्व होना प्रत्यक्ष है।

५-कृष्णयजुर्वेदमें सारस्वत और आर्षेय करके पाठकी द्विविधता दिखायी पड़ती है। इसलिये पाठ-द्वैविध्यसे अनियत-क्रम होनेके कारण इसका कृष्णत्व होना सम्भव है।

६-यजुर्वेदमें मन्त्रकी अपूर्णता भी कृष्णत्वका कारण है। इसमें याज्ञिक लोग कल्पसूत्रोंसे मन्त्रोंकी पूर्ति करते हैं। जैसे— **'सं वपामि'** (तै० सं० १।१।८)—यहाँ कल्पसूत्रके अनुसार **'देवस्य त्वा''''''अग्नये अग्नीषोमाभ्याम्'** यह मन्त्र देवतानुसार प्रयोग किया जाता है, किंतु शुक्लयजुर्वेदके मन्त्र-प्रयोगमें कल्पकी अपेक्षा नहीं होती है (मा० सं० १।२१)।

इस प्रकार यजुर्वेदके कृष्णत्वके कारणोंमें संहिता और ब्राह्मणकी संकीर्णता, मन्त्र-विनियोगकी विविधता, संहितापाठकी द्विविधता, मन्त्रोंकी अपूर्णता तथा कुछ ग्रन्थोंकी अस्तव्यस्तता प्रमुख हैं।

यजुर्वेदकी शाखाएँ

महाभाष्यकार पतञ्जलिके अनुसार यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ थीं। जिनमें कृष्णयजुर्वेदकी ८६ और शुक्लयजुर्वेदकी १५ शाखाएँ हैं। इनमें आजकल सभी शाखाएँ उपलब्ध नहीं होतीं।

शुक्लयजुर्वेदीय शाखाएँ

चरणव्यूहादि ग्रन्थोंमें उक्त शुक्लयजुर्वेदकी १५ शाखाओंका नाम आचार्य सायणने काण्वभाष्य-भूमिकामें इस प्रकार दिया है—

काण्वाः, माध्यन्दिनाः, शापेयाः, तापायनीयाः, कापालाः, पौण्ड्रवत्साः, आवटिकाः, परमावटिकाः, पाराशर्याः, वैधेयाः, वैनेयाः, औधेयाः, गालवाः, वैजवाः, कात्यायनीयाः।

नामकी भिन्नता विभिन्न ग्रन्थोंमें दिखायी पड़ती है। इनमें आलकल काण्व और माध्यन्दिन केवल दो ही शाखाएँ उपलब्ध हैं।

कृष्णयजुर्वेदकी शाखाएँ

कृष्णयजुर्वेदकी ८६ शाखाओंमें आज केवल ४ शाखाएँ उपलब्ध हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) तैत्तिरीय, (२) मैत्रायणीय, (३) कठ और (४) कपिष्ठल।

[क] शुक्लयजुर्वेदका परिचय

महर्षि याज्ञवल्क्यने सूर्यकी आराधनासे प्राप्त शुक्लयजुर्वेदका अपने काण्वादि १५ शिष्योंको उपदेश दिया। उन्होंने भी अपने-अपने शिष्योंको प्रवचन किया। शाखापाठके आदि-प्रवचनकर्ता याज्ञवल्क्यके १५ शिष्य होनेके कारण तत्तत्-नामसे १५ शाखाओंकी प्रसिद्धि हो गयी। इन १५ शाखाओंके अध्येता सभी लोग वाजसनेयी नामसे भी प्रसिद्ध हैं।

वाजसनेयि-अभिधानका कारण—

शुक्लयजुर्वेदीयोंको वाजसनेयि कहे जानेके विषयमें विभिन्न कारण हो सकते हैं। जिनमें दो प्रमुख हेतुओंका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

१-काण्वसंहिताकी भाष्योपक्रमणिकामें आचार्य सायण 'वाजसनेय' पदकी ऐसी व्याख्या करते है—'**अन्नं वै वाजः**' इस श्रुतिके अनुसार '**वाज**' का अर्थ अन्न है। '**षणु**' दाने धातुसे '**सनि**' शब्द बनता है। अतः '**वाजस्य=अन्नस्य, सनिः=दानं यस्य महर्षेरस्ति सोऽयं वाजसनिः, तस्य पुत्रो वाजसनेयः (वाजसनि+ढक्)**'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार जिसने अन्नदान किया है, वह वाजसनि है और उसीके पुत्रका नाम वाजसनेय है। महर्षि याज्ञवल्क्यके पिता अन्नदान करते थे। अतः वाजसनेय याज्ञवल्क्यका दूसरा नाम है।

२-दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि सूर्यका नाम वाजसनि भी है। अतः सूर्यके छात्र होनेके कारण याज्ञवल्क्यको वाजसनेय कहते हैं।

इस प्रकार 'वाजसनेय' शब्द शुक्लयजुर्वेदके आदिप्रवक्ता महर्षि याज्ञवल्क्यका अपर नाम है। इसी तरह वाजसनि शब्द शुक्लयजुर्वेदका वाचक है तथा इसके अनुयायी लोग वाजसनेयि हैं।

१-माध्यन्दिन-शाखा—

याज्ञवल्क्यके १५ शिष्योंमें माध्यन्दिन नामके भी एक शिष्य हैं। उन्होंने जिन यजुषोंका प्रवचन किया, वह माध्यन्दिन-शाखाके नामसे प्रसिद्ध है। माध्यन्दिन-शाखाके नामकरणके विषयमें दूसरा हेतु यह भी दिया जाता है कि वाजिरूप सूर्यके द्वारा याज्ञवल्क्यने दिनके मध्यकालमें यजुष् मन्त्रोंको प्राप्त किया था, इसलिये यह शाखा माध्यन्दिन कहलायी। इन दोनों हेतुओंमें प्रथम कारण ही उपयुक्त लगता है; क्योंकि अन्य शाखाओंकी प्रसिद्धि भी उनके प्रथम प्रवचनकर्ता आचार्योंके नामसे ही है।

यह शाखा भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें विशेषतः उत्तर भारतमें तथा नेपालके सभी भागोंमें अपने वाङ्मयविपुलताके साथ विस्तारित हो रही है। इस शाखाकी संहिता वाजसनेयि-माध्यन्दिन-संहिताके नामसे प्रसिद्ध है।

माध्यन्दिन-संहिताका विभाग एवं चयनक्रम

माध्यन्दिन-संहिताका विभाग अध्यायों तथा कण्डिकाओंमें है। इसमें ४० अध्याय हैं। इन अध्यायोंमें कुल मिलाकर ३०३ अनुवाक तथा १,९७५ कण्डिकाएँ हैं। कण्डिकाओंमें मन्त्रोंका विभाजन है, परंतु किस कण्डिकामें कितने मन्त्र हैं, इसका संकेत संहितामें नहीं है। सर्वानुक्रमसूत्र तथा कात्यायन श्रौतसूत्रमें दिये गये मन्त्रविनियोगके आधारपर कण्डिकागत मन्त्रोंकी संख्याका पता चलता है। महीधरने उसीके आधारपर कण्डिकागत मन्त्रोंका उल्लेख किया है। अनुवाकसूत्राध्यायके अनुसार माध्यन्दिन-संहिताकी कण्डिकाओंका वर्गीकरण अनुवाकोंमें किया गया है।

प्रतिपाद्य विषय

वाजसनेयि-संहिता नामसे प्रसिद्ध इस संहिताके चालीस अध्यायोंमें ३९ अध्यायोंका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय श्रौतकर्मकाण्ड ही है। जिसके अन्तर्गत प्रथम एवं द्वितीय अध्यायोंमें दर्श-पूर्णमास तथा पिण्डपितृयज्ञ, तृतीय अध्यायमें अग्निहोत्र, चातुर्मास्य मन्त्रोंका संकलन, ४ से ८ तकमें सोमसंस्थाओंका वर्णन है। उसमें भी सभी सोमयागोंका प्रकृतियाग होनेके कारण अग्निष्टोमके विषयमें विस्तृत वर्णन है। ९ वें तथा १० वें अध्यायोंमें राजसूय और वाजपेययागका वर्णन है। ११ से १८ तकमें अग्निचयनका वर्णन है। इसीके अन्तर्गत १६वेंमें शतरुद्रिय होमके मन्त्र तथा १८वेंमें वसोर्धारा-सम्बद्ध मन्त्र हैं। १९ से २१वेंतकमें सौत्रामणी याग, २२ से २५ तकमें सार्वभौम क्षत्रिय राजाके द्वारा किये जानेवाले अश्वमेध-यागका वर्णन है। २६ से २९ तकमें खिल मन्त्रोंका संग्रह है। ३०वेंमें पुरुषमेध, ३१वेंमें पुरुषसूक्त, ३२ वें तथा ३३वें अध्यायोंमें सर्वमेध-विषयक मन्त्रोंका संकलन है। इसीके अन्तर्गत हिरण्यगर्भ सूक्त भी आता है। ३४वें के आरम्भमें शिवसङ्कल्पोपनिषद् है। इसका वर्णन अत्यन्त हृदयावर्जक है। ३५वेंमें पितृमेध तथा ३६ से ३९ तकमें प्रवर्ग्यविषयक मन्त्र हैं। ४० वें अध्यायमें ईशावास्योपनिषद् उपदिष्ट है। यह उपनिषद् सभी उपनिषदोंमें प्रथम परिगणित है।

२-काण्व-शाखा—

शुक्लयजुर्वेदकी दूसरी उपलब्ध शाखा काण्व है।

इसके प्रवचनकर्ता आचार्य कण्व हैं। काण्व-शाखाका प्रचार आजकल महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, आन्ध्र तथा उड़ीसा आदि प्रान्तोंमें है। इसमें उत्कलपाठ और महाराष्ट्रपाठके रूपमें दो पाठ मिलते हैं।

माध्यन्दिन-संहिताकी तरह काण्व-संहितामें भी ४० अध्याय हैं, जो चार दशकोंमें विभक्त हैं। प्रत्येक अध्यायमें कई अनुवाक तथा प्रत्येक अनुवाकमें कई मन्त्र हैं। कुल अनुवाकोंकी संख्या ३२८ तथा मन्त्रोंकी संख्या २,०८६ है। माध्यन्दिन संहिताके सम्पादनमें अनुवाक-विभागको प्रमुखता नहीं दी गयी, किंतु काण्व-संहिताके सम्पादनमें अनुवाक-विभागको प्रधानता दी गयी है। अध्यायगत प्रत्येक अनुवाकोंकी मन्त्र-संख्या अनुवाकके साथ शुरू होती है और अनुवाकके साथ समाप्त होती है। इसके अतिरिक्त केवल मन्त्रात्मक अध्यायक्रम भी प्रचलित है। इस शाखाका अनुवाकाध्याय पृथक् उपलब्ध है।

काण्व-संहिताका प्रतिपाद्य विषय वही है, जो माध्यन्दिन-संहिताका है। केवल अध्याय या मन्त्रोंके क्रममें दोनोंका अन्तर है।

शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मण

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थोंमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, विपुलकाय, यज्ञानुष्ठानका सर्वोत्तम प्रतिपादक शुक्लयजुर्वेदीय शतपथब्राह्मण है। यह ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेदकी काण्व तथा माध्यन्दिन दोनों शाखाओंमें उपलब्ध है। विषयकी एकता होनेपर भी उसके वर्णनक्रम तथा अध्यायोंकी संख्यामें अन्तर पड़ता है। माध्यन्दिनीय शतपथ-ब्राह्मणमें १४ काण्ड, १०० अध्याय, ४३८ ब्राह्मण तथा ७,६२४ कण्डिकाएँ हैं। अतः सौ अध्यायोंके आधारपर 'शतपथ' नाम हुआ है—'**शतं पन्थानो यस्य तच्छतपथम्**'। यहाँ '**पथि**' शब्द अध्यायका वाचक है। यद्यपि काण्व-शाखाके शतपथमें १७ काण्ड, १०४ अध्याय, ४३५ ब्राह्मण तथा ६,८०६ कण्डिकाएँ हैं, तथापि वहाँ 'छत्रिन्याय' से 'शतपथ'- की संज्ञा अन्वर्थ हो जाती है। माध्यन्दिन शतपथमें ६८ प्रपाठक हैं, किंतु काण्व-शतपथमें प्रपाठक नहीं हैं।

विषयक्रम

माध्यन्दिन शतपथमें प्रथम काण्डसे आरम्भ कर नवम काण्डतक पिण्डपितृयज्ञको छोड़कर विषयोंका क्रम माध्यन्दिन संहिताके अनुसार ही है। पिण्डपितृयज्ञका वर्णन संहितामें दर्शपूर्णमासके अनन्तर है, परंतु ब्राह्मणमें आधानके अनन्तर। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट सभी काण्डोंमें संहिताका क्रम अङ्गीकृत किया है। दोनों शतपथोंके आरम्भमें ही कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होता है। माध्यन्दिन शतपथके प्रथम काण्डका विषय (दर्शपूर्णमास) काण्वके द्वितीय काण्डमें है और द्वितीय काण्डका विषय काण्वके प्रथम काण्डमें समाविष्ट है। अन्यत्र विषय उतने ही हैं, परंतु उनका क्रम दोनोंमें भिन्न-भिन्न है।

वैशिष्ट्य

शतपथ-ब्राह्मणमें यज्ञोंके नाना रूपों तथा विविध अनुष्ठानोंका जिस असाधारण परिपूर्णताके साथ निरूपण है, वह अन्य ब्राह्मणोंमें नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टिसे भी यज्ञोंके स्वरूपनिरूपणका श्रेय इस ब्राह्मणको प्राप्त है। शतपथने यज्ञ-मीमांसाका प्रारम्भ हविर्यागोंसे किया है, जिनका आधार अग्निहोत्र है। अग्निहोत्रीको अग्नि मृत्युके पश्चात् भी नष्ट नहीं करता, अपितु माता-पिताके समान नवीन जन्म देता है। अग्निहोत्रीके लिये अग्नि स्वर्ग ले जानेवाली नौकाके सदृश है—'**नौर्ह वा एषा स्वर्ग्या। यदग्निहोत्रम्**' (श० ब्रा० २। ३। ३। १५)। शतपथने यज्ञको जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण कृत्य बतलाया है—'**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**' (श० ब्रा० १। ७। ३। ५)। तदनुसार जगत् अग्नीषोमात्मक है। सोम अन्न है और अग्नि अन्नाद। अग्नीरूपी अन्नाद सोमरूपी अन्नकी आहुति ग्रहण करता है। यही क्रिया जगत्‌में सतत विद्यमान है। इस ब्राह्मणमें यज्ञकी प्रतीकात्मक व्याख्याएँ भी हैं। एक रूपकके अनुसार यज्ञ पुरुष है, हविर्दान उसका सिर, आहवनीय मुख, आग्नीध्रीय तथा मार्जालीय दोनों बाहुएँ हैं। इस प्रकार यज्ञका दैविक स्वरूप निर्धारित किया गया है। (श० ब्रा० ३। ५। ३। १; ३। ५। ४। १)। यज्ञके नामकरणका हेतु उसका विस्तृत किया जाना है—'**तद्यदेनं तन्वते तदेनं जनयन्ति स तायमानो जायते**' (३। ९। ४। २३)।

इस प्रकार यज्ञिय अनुष्ठानोंके छोटे-से-छोटे विधि-विधानोंका विशद वर्णन, इन क्रियाओंके लिये हेतुका निर्देश, ब्राह्मणोचित आख्यायिकाओं यथास्थान निवेश

तथा उनका सरस विवेचन इस ब्राह्मणके उत्कर्ष बतलानेके लिये पर्याप्त कारण माने जा सकते हैं।

शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यक

अधिकांश आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थोंके अन्तिम भाग हैं, इसलिये प्रायः ब्राह्मण-ग्रन्थोंके प्रवचनकर्ता ही आरण्यकोंके भी प्रवचनकर्ता हैं। अतः शुक्लयजुर्वेदीय 'बृहदारण्यक'-के प्रवचनकर्ता आचार्य भी महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ-ब्राह्मण माध्यन्दिन शाखाका १४ वाँ काण्ड तथा काण्व-शाखाका १७ वाँ काण्ड शुक्लयजुर्वेदका आरण्यक ग्रन्थ है। विषयकी दृष्टिसे आरण्यक और उपनिषद्में साम्य होनेसे बृहदारण्यक आदि आरण्यक ग्रन्थोंको उपनिषद् भी माना जाता है, किंतु वर्ण्य विषयकी किञ्चित् समानता होनेपर भी दोनोंका पार्थक्य लक्षित होता है। आरण्यकका मुख्य विषय प्राणविद्या तथा प्रतीकोपासना है। इसके विपरीत उपनिषद्का वर्ण्य विषय निर्गुण ब्रह्मके स्वरूप तथा उसकी प्राप्तिका विवेचन है। अतः विषयभेदके अनुसार दोनोंमें भेद है, किंतु दोनों रहस्यात्मक विद्या होनेके कारण समान भी हैं।

आरण्यकका मुख्य विषय यज्ञ नहीं, अपितु यागोंके भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्योंकी मीमांसा है। अतः शुक्लजयुर्वेदीय बृहदारण्यक भी इसीका प्रतिपादन करता है।

उपनिषद्

मुक्तिकोपनिषद् (शुक्लयजुर्वेदीय)-के अनुसार शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध १९ उपनिषद् हैं। जिनमें प्रमुख ईशावास्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् हैं।

शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन श्रौतसूत्र

शुक्लयजुर्वेदीय श्रौतसूत्रोंमें आजकल उपलब्ध एकमात्र श्रौतसूत्रका नाम 'कात्यायन श्रौतसूत्र' है। यह ग्रन्थ श्रौतसूत्रोंमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। श्रौतसूत्रके स्वरूपको जाननेके लिये कात्यायन श्रौतसूत्र प्रतिनिधिमूलक ग्रन्थ है। श्रौतसूत्रोंका मुख्य उद्देश्य श्रौतयागोंका संक्षिप्त सुव्यवस्थित क्रमबद्ध प्रतिपादन है। इसी उद्देश्यको ध्यानमें रखकर महर्षि कात्यायनने ब्राह्मणोंमें उपलब्ध मूल सामग्रीका कहीं विस्तार तथा कहीं संक्षेप कर उन्हें बोधगम्य तथा सरल बनानेका सफल प्रयास किया है।

चरणव्यूह क्रम २ के अनुसार कात्यायन श्रौतसूत्र शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध १५ शाखाओंके लिये प्रवृत्त है। इन शाखाओंमें भी विशेषतः काण्व और माध्यन्दिन दो ही शाखासे सम्बद्ध है। काण्व और माध्यन्दिन दो शाखाओंमें जो क्रम है, उसी क्रमको ग्रहण करके यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

प्रतिपाद्य विषय

कात्यायन श्रौतसूत्र २६ अध्यायोंमें विभक्त है और इसमें अध्यायोंकी अवान्तर कण्डिकाएँ भी हैं। प्रथम अध्यायमें कात्यायन श्रौतसूत्रमें प्रतिपादित पदार्थोंके ज्ञानके लिये पारिभाषिक विषयोंका प्रतिपादन है। द्वितीय एवं तृतीय अध्यायोंमें दर्शपूर्णमासका साङ्गोपाङ्ग निरूपण, चतुर्थ अध्यायमें पिण्डपितृयज्ञ, वत्सापाकरण, विकृतियागोंमें दर्शपूर्णमासोंका अतिदेश, दाक्षायण, आग्रयणेष्टि, अन्वारम्भणेष्टि, अग्न्याधान, पुनराधान और अग्निहोत्रका निरूपण है। ५ वेंमें चातुर्मास्य याग, मित्रविन्देष्टि, ६ठेमें प्रतिवर्षमें अनुष्ठेय निरूढपशुबन्ध, ७ से ११ तक सोमयाग, १२वेंमें द्वादशाह, १३वेंमें गवामयन, १४वेंमें वाजपेय, १५वेंमें राजसूय, १६ से १८ तक अग्निचयन, १९वेंमें सौत्रामणी, २०वेंमें अश्वमेध, २१वेंमें पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृमेध, २२वेंमें एकाह, २३वेंमें अहीनयाग, २४वेंमें सत्रयाग, २५वेंमें प्रायश्चित्त और २६वेंमें प्रवर्ग्यका प्रतिपादन है।

शुक्लयजुर्वेदीय कुछ ग्रन्थोंका विवरण

शुक्लयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रोंमें आजकल उपलब्ध तथा विशेषरूपमें प्रचलित 'पारस्कर गृह्यसूत्र' ही है। इसके अतिरिक्त 'बैजवाप गृह्यसूत्र' का उल्लेख भी कहीं-कहीं मिलता है। पारस्कर गृह्यसूत्र तीन काण्डोंमें विभक्त है। प्रथम काण्डमें अवसथ्याधान, विवाह और गर्भाधानादिका वर्णन, द्वितीय काण्डमें चूडाकरण, उपनयन, समावर्तन, पञ्चमहायज्ञ, श्रवणाकर्म, सीतायज्ञादिका विवरण तथा तृतीय काण्डमें अवकीर्णप्रायश्चित्तादिका विधान है। इसमें कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर तथा विश्वनाथके पाँच भाष्य उपलब्ध हैं।

महर्षि कात्यायनद्वारा संकलित 'कात्यायन श्राद्धसूत्र' (कातीय श्राद्धसूत्र) श्राद्धविषयका वर्णन करता है। इसमें ९ कण्डिकाएँ हैं। इसमें कर्क, गदाधर तथा कृष्ण मिश्रके तीन भाष्य (टीका) उपलब्ध हैं। इसी तरह

कात्यायनरचित 'शुल्बसूत्र' भी काशीसे प्रकाशित हुआ है, जिसमें सात कण्डिकाएँ हैं। शुक्लयजुर्वेदका प्रातिशाख्य 'वाजसनेयिप्रातिशाख्य' नामसे प्रसिद्ध है। इसके रचयिता महर्षि कात्यायन हैं। ८ अध्याय तथा ७३४ सूत्रोंमें विभक्त वाजसनेयिप्रातिशाख्यका मुख्य विषय वर्ण, स्वर, संधि, पदपाठ और क्रमपाठका विचार करना है। इस प्रातिशाख्यके परिशिष्टके रूपमें दो सूत्र उपलब्ध होते हैं—(१) प्रतिज्ञासूत्र और (२) भाषिक सूत्र। शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध स्वरादि-सम्बन्धी नियमोंका विवरण प्रतिज्ञासूत्रमें दिया गया है। भाषिक सूत्रमें प्रधानतया शतपथ-ब्राह्मणके स्वर-संचारका विधान है।

शिक्षा-विषयक ग्रन्थोंमें शुक्लयजुर्वेदसे सम्बद्ध कई शिक्षाएँ हैं, जिनमें याज्ञवल्क्य शिक्षा अधिक प्रचलित है। परिशिष्टोंमें शुक्लयजुर्वेदके १८ परिशिष्ट प्रसिद्ध हैं।

[ख] कृष्णयजुर्वेदका परिचय

कृष्णयजुर्वेदके ८६ शाखाओंमें आज केवल ४ शाखाएँ उपलब्ध हैं—(१) तैत्तिरीय शाखा, (२) मैत्रायणी शाखा, (३) कठशाखा और (४) कपिष्ठल शाखा। इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जा रहा है—

१-तैत्तिरीय शाखा—

शुक्लकृष्ण-यजुषोंके भेद-निरूपणमें याज्ञवल्क्यके वमन किये हुए यजुषोंको वैशम्पायनके अन्य शिष्योंके तित्तिरिरूप धारण करके वान्त यजुषोंका भक्षण करनेसे उन यजुषोंका कृष्णत्व हो गया—ऐसा जो इतिवृत्त सम्प्रति उपलब्ध होता है, वह सर्वांशतः वैदिक लोगोंके लिये रुचिकर नहीं हो सकता है; क्योंकि इतिवृत्तोंमें रूपकत्व सम्भव होनेसे, विद्याका मूर्त-रूपसे वमन तथा वान्तग्रहण लोकसम्मत नहीं होनेसे और संहिताओंमें ऐसा इतिवृत्त उपलब्ध नहीं होनेसे उक्त हेतु अपर्याप्त है। अनन्यरूप ब्राह्मण-आरण्यकादि अनादि वेदभागोंमें तैत्तिरीय संज्ञा ही उपलब्ध होनेसे उन इतिवृत्तोंका परिकालिकत्व स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा वेदोंके अनादित्वका हनन हो जायगा। इसलिये तैत्तिरीय अभिधानमें अन्य हेतुओंका अवलम्बन करना पड़ेगा। '**वेदशाखापर्यालोचनम्**' में इससे सम्बन्धित निम्न हेतुओंको उपस्थापित किया गया है—

[१] कृष्णयजुर्वेदमें मन्त्र, ब्राह्मण और आरण्यक एक साथ ही पढ़े जाते हैं। अतः '**त्रीणि मन्त्रब्राह्मणारण्यकानि यस्मिन् वेदशब्दराशौ सह तरन्ति पठ्यन्ते, असौ तित्तिरिः**' ऐसी व्युत्पत्ति कर सकते हैं। शौनकीय चरणव्यूह परिशिष्ट—२ में यजुर्वेदका लक्षण बताते हुए इसी भावको स्पष्ट किया गया है—

त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सह।
यजुर्वेदः स विज्ञेयः शेषाः शाखान्तराः स्मृताः॥

—इस कथनका प्रायः यह अभिप्राय लिया जाता है कि जहाँ मन्त्र और ब्राह्मणका एक साथ त्रिगुण पाठ (संहिता-पद-क्रम) किया जाता है, उसे यजुर्वेद जानना चाहिये।

[२] तैत्तिरीयक मन्त्र और ब्राह्मणका सांकर्य स्पष्ट ही है। अतः तीन मन्त्र, ब्राह्मण और आरण्यक जिस शाखा या वेदभागमें छिपे हुएकी तरह सम्मिश्रितरूपमें अन्तर्हित हैं, वह वेदभाग या शाखा तैत्तिरीयके रूपमें व्यवहृत किया जाता है।

[३] तीसरा मान्य हेतु यह भी हो सकता है कि तित्तिरि नामक आचार्यके द्वारा प्रवचन किये हुए यजुषों तथा उनके अनुयायी लोगोंको तैत्तिरीय ऐसा नाम दिया है।

तैत्तिरीय संहिता—

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिताका प्रसारदेश दक्षिण भारत है। कुछ महाराष्ट्र प्रान्त तथा समग्र आन्ध्र-द्रविड देश इसी शाखाका अनुयायी है। इस शाखाने अपनी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र—इन सभीको बड़ी तत्परतासे अक्षुण्ण बनाये रखा है।

इसके स्वरूपके विषयमें विद्वानोंमें मतैक्य नहीं है। तैत्तिरीय संहितामें सारस्वत तथा आर्षेयके रूपमें दो पाठभेद हैं। आज इस शाखाकी जो संहिता उपलब्ध है, वह सारस्वत-परम्पराकी मानी जाती है, जिसमें मन्त्र तथा ब्राह्मणका पूर्ण सांकर्य दिखायी पड़ता है। इस सारस्वतपरम्परामें मन्त्र-ब्राह्मणका सांकर्य होनेपर भी तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक अलग-अलग छपे हैं। इस परम्परामें उपलब्ध तैत्तिरीय संहितामें कुल ७ काण्ड, ४४ प्रपाठक, ६५१ अनुवाक हैं। चरणव्यूहमें ४४ प्रपाठकोंके स्थानपर ४४ प्रश्नोंका

उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यहाँ प्रपाठक और प्रश्न—इन दोनोंको एक ही समझना चाहिये।

तैत्तिरीय-परम्परामें बौधायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ आदि आचार्योंके द्वारा तैत्तिरीय संहिताके आर्षेय पाठक्रमका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इस पाठक्रमके अनुसार संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक—ये तीनों अलग-अलग ग्रन्थ नहीं; अपितु तीनों मिलकर तैत्तिरीय-यजुर्वेद कहलाते हैं। काण्डानुक्रमणीके अनुसार यह पाँच काण्डोंमें विभक्त है—(१) प्राजापत्य-काण्ड, (२) सौम्य-काण्ड, (३) आग्नेय-काण्ड, (४) वैश्वदेव-काण्ड और (५) स्वायम्भुव-काण्ड।

२-मैत्रायणीय शाखा—

कृष्णयजुर्वेदकी शखाओंमें मैत्रायणीय शाखा अन्यतम है। इसकी मैत्रायणीय संहिता है। 'मित्रयु' नामक आचार्यके प्रवचन करनेके कारण इसका नाम मैत्रायणी हो गया होगा। पाणिनिने अपने गणपाठमें मैत्रायणका उल्लेख किया है। हरिवंशपुराणमें इस प्रकारका उल्लेख मिलता है—

मैत्रायणी ततः शाखा मैत्रेयास्तु ततः स्मृताः ॥

मैत्रायणी-संहिता गद्य-पद्यात्मक है। अन्य कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओंके समान इसमें भी मन्त्र तथा ब्राह्मणोंका सम्मिश्रण है। यह संहिता क्रमशः प्रथम (आदिम), द्वितीय (मध्यम), तृतीय (उपरि) और चतुर्थ (खिल) इस प्रकार चार काण्डोंमें विभक्त है। प्रथममें ११ प्रपाठक, मध्यममें १३ प्रपाठक, उपरिमें १६ तथा खिलकाण्डमें १४ प्रपाठक हैं। इस प्रकार कुल प्रपाठक-संख्या ५४ है और प्रत्येक प्रपाठक अनुवाकों तथा कण्डिकाओंमें विभक्त है। कुल मिलाकर प्रथम काण्डमें ११ प्रपाठक, १६५ अनुवाक और ६९५ कण्डिकाएँ हैं। द्वितीय काण्डमें १३ प्रपाठक, १५१ अनुवाक, ७८३ कण्डिका तथा तृतीय काण्डमें १६ प्रपाठक, १८० अनुवाक और ४८५ कण्डिका तथा चतुर्थ काण्डमें १४ प्रपाठक, १५८ अनुवाक, १,१८१ कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार पूरी संहितामें ५४ प्रपाठक, ६५४ अनुवाक और ३,१४४ कण्डिकाएँ हैं।

इस शाखाके प्रतिपाद्य विषयोंमें मुख्यतः दर्शपूर्ण-मासेष्टि, ग्रहग्रहण अग्न्युपस्थान, अग्न्याधान, पुनराधान, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, वाजपेय, काम्येष्टियाँ, राजसूय, अग्निचिति, सौत्रामणी तथा अश्वमेधका विवेचन है। कृष्णयजुर्वेदकी अन्य शाखाओंकी तरह इसमें भी यज्ञोंके विवेचनमें व्यवस्थित क्रम नहीं है। मैत्रायणी-संहितामें कुछ ऐसे विषयोंका विवेचन है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। उदाहरणके लिये गोनामिक प्रकरण (मै० सं० ४। २)-में गायके विभिन्न नामोंका उल्लेख करते हुए उसकी महिमाका विवेचन किया गया है।

३-कठशाखा—

कृष्णयजुर्वेदकी उपलब्ध शाखाओंमें कठशाखा भी एक है। इसका प्रवचन कठ नामक आचार्यने किया है। इसी कारण इस शाखाकी संहिताका नाम 'काठक संहिता' है। कृष्णयजुर्वेदकी २७ मुख्य शाखाओंमें काठक संहिता (कठशाखा) भी अन्यतम है। पतञ्जलिके कथनानुसार कठशाखाका प्रचार तथा पठन-पाठन प्रत्येक ग्राममें था—**ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते** (महाभाष्य)। जिससे प्राचीन कालमें इस शाखाके विपुल प्रचारका पूर्ण परिचय प्राप्त होता है, परंतु आजकल इसके अध्येताओंकी संख्या तथा इसके प्रचारवाले प्रान्तका भी पता नहीं चलता। कठ ऋषिका विशेष इतिवृत्त ब्रह्मपुराणके अन्तर्गत गोदामाहात्म्यके ५० वें अध्यायमें वर्णित है। जिसके अनुसार काठकोंका मूल स्थान गोदा नामक नदीका दक्षिणाग्नेय तटवर्ती देश था।

काठक-संहिताका स्वरूप मन्त्रब्राह्मणोभयात्मक है। यह संहिता इठिमिका, मध्यमिका, ओरिमिका, याज्यानुवाक्या तथा अश्वमेधाद्यनुवचन—इन पाँच खण्डोंमें विभक्त है। इन खण्डोंके टुकड़ोंका नाम 'स्थानक' है। कुल स्थानकोंकी संख्या ४०, अनुवाचनोंकी १३, अनुवाकोंकी ८४३, मन्त्रोंकी ३,०९१ तथा मन्त्रब्राह्मणोंकी सम्मिलित संख्या १८ हजार है।

४-कपिष्ठल शाखा—

कपिष्ठल ऋषिके द्वारा प्रोक्त यजुषोंका नाम कपिष्ठल है। कपिष्ठलका नाम पाणिनिने '**कपिष्ठलो गोत्रे**' (८। ३। ९१) सूत्रमें किया है। इसमें 'कपिष्ठल' शब्द गोत्रवाची है। सम्भवतः कपिष्ठल ऋषि ही इस गोत्रके प्रवर्तक थे। निरुक्तके टीकाकार दुर्गाचार्यने अपनेको कपिष्ठल वासिष्ठ बताया है—'**अहं च कपिष्ठलो वासिष्ठः**'(निरुक्तटीका)।

कपिष्ठल-संहिता आज पूर्णरूपसे उपलब्ध नहीं है। अतः उसके स्वरूपके विषयमें जानकारी नहीं दी जा सकती। आचार्य बलदेव उपाध्यायकी पुस्तक 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' के अनुसार वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयके 'सरस्वतीभवन' पुस्तकालयमें इसकी एक ही अधूरी प्रति उपलब्ध होती है। इस प्रतिके आधारपर डॉ० श्रीरघुवीरजीने इसका एक सुन्दर संस्करण लाहौरसे प्रकाशित किया है। श्रीउपाध्यायके अनुसार काठक-संहितासे इस संहितामें अनेक बातोंमें पार्थक्य तथा वैभिन्न्य है। इसकी मूल संहिता काठक-संहिताके समान होनेपर भी उसकी स्वराङ्कन-पद्धति ऋग्वेदसे मिलती है। ऋग्वेदके समान ही यह अष्टक तथा अध्यायोंमें विभक्त है।

कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मण

कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओंमें अद्यावधि पूर्णरूपसे उपलब्ध तथा अधिक महत्त्वशाली एकमात्र ब्राह्मण 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' है। 'काठक ब्राह्मण' का भी नाम सुना जाता है, परंतु वह उपलब्ध नहीं है। शतपथ ब्राह्मणके सदृश तैत्तिरीय ब्राह्मण भी सस्वर है।

विभाग

तैत्तिरीय ब्राह्मणका विभाग तीन भाग या काण्डोंमें हुआ है। इसीको 'अष्टक' भी कहते हैं। प्रथम दो काण्डोंमें आठ-आठ अध्याय अथवा प्रपाठक हैं। तृतीय काण्डमें बारह अध्याय या प्रपाठक हैं। भट्टभास्करने इन्हें 'प्रश्न' भी कहा है। इसका एक अवान्तर विभाजन अनुवाकोंका भी है, जिनकी संख्या ३५३ है।

प्रतिपाद्य

आचार्य सायणके अनुसार यजुर्वेदसे यज्ञशरीरकी निष्पत्ति होती है। अतः यजुर्वेदीय होनेके कारण तैत्तिरीय ब्राह्मणमें अध्वर्युकर्तृक सम्पूर्ण क्रियाकलापोंका वर्णन विस्तारसे हुआ है। संक्षेपमें इसके प्रतिपाद्य विषयोंमें अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय आदि यागोंका वर्णन प्रथम काण्डमें है। द्वितीय काण्डमें अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणी तथा बृहस्पतिसव प्रभृति विभिन्न सवोंका निरूपण है। तृतीय काण्डमें नक्षत्रेष्टियों तथा पुरुषमेधसे सम्बद्ध विवरण है।

उपर्युक्त विषयोंके अतिरिक्त भरद्वाज, नचिकेता, प्रह्लाद और अगस्त्य-विषयक आख्यायिकाएँ, सत्यभाषण, वाणीकी मधुरता, तपोमय जीवन, अतिथिसत्कार, संगठनशीलता, सम्पत्तिका परोपकार-हेतु विनियोग, ब्रह्मचर्य-पालन आदि आचार-दर्शन तथा सृष्टिविषयक वर्णन इसका उल्लेख्य पक्ष है।

कृष्णयजुर्वेदीय अन्य उपलब्ध प्रमुख ग्रन्थ

कल्प—कृष्णयजुर्वेदीय कल्पग्रन्थोंमें बौधायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ, मानव, वैखानस, भारद्वाज और वाराह—इन सात श्रौतसूत्रों तथा बौधायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ, मानव और काठक—इन पाँच गृह्यसूत्रों एवं बौधायन, आपस्तम्ब और सत्याषाढ—इन तीन धर्मसूत्रों तथा बौधायन, आपस्तम्ब और मानव—इन तीन शुल्बसूत्रोंकी प्रभूत संख्या उपलब्ध होती है।

शिक्षा-ग्रन्थ—कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षा-ग्रन्थोंमें तैत्तिरीय शाखासे सम्बद्ध 'भरद्वाज-शिक्षा' उपलब्ध है। यह 'संहिता-शिक्षा' के नामसे भी व्यवहृत है। दूसरी 'व्यासशिक्षा' भी कृष्णयजुर्वेदसे सम्बद्ध है। प्रातिशाख्योंमें 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' उपलब्ध है।

आरण्यक—आरण्यक ग्रन्थोंमें 'तैत्तिरीय आरण्यक' प्रसिद्ध है। उपनिषदोंमें मुक्तिकोपनिषद्के अनुसार कृष्णयजुर्वेदसे सम्बद्ध ३२ उपनिषद् हैं। इनमें तैत्तिरीय उपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद्, कठोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् प्रमुख माने जाते हैं।

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥

(ऋक्० १०। ११७। ३)

वह दानी है, जो अन्नके इच्छुक एवं घर आये हुए निर्धन याचकको दान देता है। विपत्तिके समय इसके पास पर्याप्त धन होता है और अन्य विषम परिस्थितियोंमें (अन्य लोग) इसके मित्र हो जाते हैं।

सामवेदका परिचय एवं वैशिष्ट्य

पूर्वीय साहित्य, ज्ञान-विज्ञान और मानव-सभ्यताओंका अजस्र स्रोत वेद है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदकी हजारसे भी अधिक शाखाएँ महाभाष्यमें गिनायी गयी हैं। जिनमेंसे १० से अधिक शाखाएँ तो अभी भी मिलती हैं। माना गया है कि पहले समग्र वेद एक ही भागमें आबद्ध था। सभी लोग समस्त वेद ग्रहण करनेकी सामर्थ्य रखते थे। जब कालक्रमसे मनुष्यकी मेधाशक्ति क्षीण होती गयी, तब कृष्णद्वैपायन (व्यास)-ने लोकोपकारार्थ इसे अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये अलग-अलग नामके साथ वेदका विभाजन करके पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु नामके अपने चार शिष्योंको उपदेश किया। जैमिनिसे सामवेदकी परम्परा आरम्भ होती है। जैमिनिने अपने पुत्र सुमन्तु, सुमन्तुने अपने पुत्र सुन्वान् और सुन्वान्ने अपने पुत्र सुकर्माको पढ़ाया। इस प्रकार सामवेदकी अध्ययनपरम्परा चलती आ रही है। गद्य, पद्य और गीतिके स्वरूपगत भेदसे प्रसिद्ध वेदत्रयीमें गीतिभाग सामवेद कहलाता है।

महाभाष्यमें सामवेदकी हजार शाखाएँ होनेका उल्लेख मिलता है—'**सहस्त्रवर्त्मा सामवेदः**।' सामतर्पणके अवसरपर साम गानेवाले जिन तेरह आचार्योंको तर्पण दिया जाता है, वे निम्न हैं—

(१) राणायन, (२) सात्यमुग्रि-व्यास, (३)भागुरि-औलुण्डि, (४) गौल्मुलवि, (५) भानुमान, (६) औपमन्यव, (७) दाराल, (८) गार्ग्य, (९) सावर्णि, (१०) वार्षगणि, (११) कुथुमि, (१२) शालिहोत्र और (१३) जैमिनि।

—इनमेंसे आज राणायन, कुथुमि और जैमिनि आचार्योंके नामसे प्रसिद्ध राणायनीय, कौथुमीय और जैमिनीय—तीन शाखाएँ प्राप्त होती हैं। जिनमेंसे राणायनीय शाखा दक्षिण देशमें प्रचलित है। कौथुमीय विन्ध्याचलसे उत्तर भारतमें पायी जाती है। केरलमें जैमिनीय शाखाका अध्ययन-अध्यापन कराया जाता है। पूरे भारतमें ज्यादा-से-ज्यादा कौथुमीय शाखा ही प्रचलित है और इसके उच्चारणगत भेदसे नागरपद्धति और मद्रपद्धति करके दो पद्धतियाँ दिखायी पड़ती हैं। राणायनीयकी गोवर्धनीपद्धति काशीमें देखी जा सकती है। सामवेदकी हजार शाखाएँ न मानकर उच्चारणकी हजार पद्धतियाँ सत्यव्रत सामश्रमीने मानी हैं। कौथुमीय और राणायनीय शाखाओंके गान-ग्रन्थोंमें कुछ भिन्नता देखी जा सकती है। यद्यपि राणायनीय शाखाका गान आजतक कहींसे भी न छपनेके कारण दोनों शाखाओंका काम कौथुम शाखासे चलानेकी परम्परा चल पड़ी है, तथापि पृथक् लिखित गान होनेका दावा राणायनीय शाखावालोंका है।

सामवेदमें अनेक अवान्तर स्वरोंके अतिरिक्त प्रमुख सात स्वरोंके माध्यमसे गीतिका पूर्ण स्वरूप पाया जाता है। '**गीतिषु सामाख्या**'—इस जैमिनीय सूत्रमें जैमिनि गीतिप्रधान मन्त्रको ही साम कहते हैं। '**ऋच्यध्यूढः साम ''''गीयते**' (छा० उ० १।६।१)-में स्वयं श्रुति ऋक् और सामका अलग सम्बन्ध दिखाती है। बृहदारण्यकोपनिषद्में '**सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्**' (१।३।२२) वाक्यसे '**सा**' का अर्थ ऋक् और '**अम**' का अर्थ गान बताकर सामका व्युत्पादन किया गया है। इससे बोध होता है कि इन दोनोंको ही '**साम**' शब्दसे जानना चाहिये। इसलिये ऋचाओं और गानोंको मिलाकर सामवेदका मन्त्रभाग पूर्ण हो जाता है। मन्त्रभागको संहिता भी कहते हैं। इसी कारण सामवेदसंहिता लिखी हुई पायी जाती है।

मन्त्रभागमें आर्चिक और गान रहते हैं। आर्चिक भी पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिकमें बँटा है। दोनोंमें कुल मिलाकर २७ अध्यायोंमें १८७५ मन्त्र पठित हैं। जिनमेंसे ७५ मन्त्रोंको छोड़कर अवशिष्ट सभी ऋग्वेदके शाकल शाखामें पाये जाते हैं। ७५ मन्त्रोंके भी शांखायन आदि लुप्त शाखाओंमें पाये जानेका मत विद्वानोंका रहा है। किसीके मतमें ये सामवेदके ही मन्त्र माने गये हैं। कुछ लोग सामवेदके मन्त्रोंको ऋग्वेदमें पाये जानेके कारण सामवेदीय ऋचाओंका स्वतन्त्र अस्तित्व न होनेका दावा करते हैं, परंतु व्यासने चारों वेदोंका उपदेश किया था। सबसे पहले किये हुए उच्चारणको ही उपदेश कहते हैं। यदि ऋग्वेदीय मन्त्र सामवेदमें ले आये गये हैं तो फिर सामवेदके पृथक् उपदेशकी क्या आवश्यकता थी। ऋग्वेद और सामवेदके मन्त्रोंमें पाठगत और स्वरगत बहुत भेद पाये जाते हैं। इसके आधारपर इन मन्त्रोंका स्वतन्त्र

अस्तित्व माननेवाले भी हैं। इन सामवेदीय ऋचाओंमें विविध स्वरों एवं आलापोंसे प्रकृतिगान और ऊह तथा ऊह्यगान गाये गये हैं। प्रकृतिगानमें ग्रामगेयगान और आरण्यकगान हैं। प्रथम गानमें आग्नेय, ऐन्द्र और पावमान—इन तीन पर्वोंमें प्रमुखरूपसे क्रमशः अग्नि, इन्द्र और सोमके स्तुतिपरक मन्त्र पढ़े गये हैं। आरण्यकमें अर्क, द्वन्द्व, व्रत, शुक्रिय और महानाम्नी नामक पाँच पर्वोंका संगम रहा है। सूर्यनमस्कारके रूपमें प्रत्येक रविवारको शुक्रियपर्व-पाठ करनेका सम्प्रदाय सामवेदीयोंका है। जंगलोंमें गाये जानेवाले सामोंका पाठ होनेसे इस गानभागको आरण्यक कहा गया है। ग्रामगेयगान और आरण्यक-गानके आधारपर क्रमशः ऊहगान और ऊह्यगान प्रभावित हैं। विशेष करके सोमयागोंमें गाये जानेवाले स्तोत्र ऊह और ऊह्यगानमें मिलते हैं। इन दोनोंमें दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त और क्षुद्रसंज्ञक सात पर्वोंमें ताण्ड्य ब्राह्मणद्वारा निर्धारित क्रमके आधारपर स्तोत्रोंका पाठ है। जैसे कि ताण्ड्य ब्राह्मण अपने चतुर्थ अध्यायसे ही यागका निरूपण करता है और सर्वप्रथम गवामयन नामक सत्रात्मक विकृतियाग बतलाता है। प्रकृतिभूत द्वादशाह यागके प्रमुख दस दिनोंके अनुष्ठानसे इस गवामयन यागका समापन किया जाता है। इसलिये गवामयन यागके स्तोत्र ऊह तथा ऊह्यगानके प्रथम पर्व दशरात्रपर पढ़े गये हैं। अन्य सभी पर्व इसी प्रकार देखे जा सकते हैं।

पूरे गानभागमें तीन प्रकारके साम देखे जाते हैं। केवल ऋचाका पदोंमें ही गाया हुआ साम आविःसंज्ञक कहा जाता है। ऋक्-पदों और स्तोभोंमें गाया हुआ साम लेशसंज्ञक और पूरे स्तोभोंमें गान किया हुआ साम छन्नसंज्ञक है। ऋक्के पदों वा अक्षरोंसे भिन्न हाउ, औहोवा और इडा-जैसे पदोंको स्तोभ कहा गया है। सामवेदीय रुद्रमें '**अधिपताइ**' प्रतीकवाले तीन साम पूरे स्तोभोंमें गाये गये हैं। सेतु साममें '**दानेनादानम्**', '**अक्रोधेन क्रोधम्**', '**श्रद्धयाश्रद्धाम्**', '**सत्येनानृतम्**'—ये चार पद भी स्तोभ हैं। इन स्तोभोंको देखनेसे स्तोभोंके सार्थक और निरर्थक होनेका बोध होता है।

ब्राह्मणभाग—

कर्मोंमें मन्त्रभागका विनियोजन ब्राह्मण करते हैं। सामान्यतया सामवेदके आठ ब्राह्मण देवताध्याय ब्राह्मणके सायण-भाष्यके मङ्गलाचरण-श्लोकमें गिने गये हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) प्रौढ (ताण्ड्य)-ब्राह्मण, (२) षड्विंशब्राह्मण, (३) सामविधानब्राह्मण, (४) आर्षेयब्राह्मण, (५) देवताध्याय-ब्राह्मण, (६) छान्दोग्योपनिषद्-ब्राह्मण, (७) संहितोपनिषद्-ब्राह्मण और (८) वंशब्राह्मण।

ताण्ड्य-ब्राह्मणका अध्यायसंख्याके आधारपर पञ्चविंश नाम पड़ा है तो सबसे बड़ा होनेसे महाब्राह्मण भी कहा जाता है। इन ब्राह्मणोंके अतिरिक्त जैमिनीय शाखाके जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीयोपनिषद् और जैमिनीयार्षेयब्राह्मण भी देखनेमें आते हैं। इनसे भी अधिक ब्राह्मण होनेका संकेत मिलता है, परंतु पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं। ये ब्राह्मण विशेषतया औदगात्र कर्मोंका प्रतिपादन करते हैं। प्रमुखरूपमें यागोंमें स्तोत्रोंका गान औदगात्र कर्म है। सोमलता द्रव्य-प्रधान यागोंमें आहूत देवोंकी स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करना उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्ता नामक सामगायकोंका कार्य है। अपने प्रतिपाद्यका विधान करनेके लिये विविध आख्यायिकाओं और उपपत्तियोंको देना ब्राह्मणकी अपनी शैली है। जैसे 'वीङ्क' नामक सामगानसे च्यवन ऋषिके वृद्धावस्थासे युवा होनेकी आख्यायिका आयी है, जिससे वीङ्क सामका महत्त्व ताण्ड्य-ब्राह्मण (१४।६।१०)-में बताया गया है। यह वीङ्क साम '**यदिन्द्र चि यन्मन्यसे**' ऋचामें ऊहके दशरात्र पर्वपर गाया गया है। इसी प्रकार वात्स सामके विषयमें एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। वत्स और मेधातिथि नामके दो काण्व ऋषि थे। मेधातिथिने वत्सको शूद्रपुत्र तथा अब्राह्मण कहकर अपमानित किया। फिर ब्राह्मणत्वनिर्णयके लिये वत्स 'वात्स साम' को और मेधातिथि 'मेधातिथ्य साम'को पढ़कर अग्निके पास चले गये। उसी समय वत्सने 'वात्स साम' को दोहराते हुए अग्निमें प्रवेश किया, परंतु अग्निने उसको छुआ भी नहीं। इस प्रकार वत्सका ब्राह्मणत्व सिद्ध होनेसे 'वात्स

साम' 'कामसनि' (इच्छा पूरा करनेवाला)-के नामसे प्रसिद्ध हुआ। यह आख्यायिका ताण्ड्य-ब्राह्मण (१४। ६। ६)-में आयी है। प्रकृत 'वात्स साम', 'आतेवत्सा' ऋचापर ऊहके दशरात्र पर्व (७। १७)-में पठित है।

छः अध्यायोंमें विभक्त षड्विंशब्राह्मणके छठे अध्यायमें विशेष बात बतायी जानेसे इस ब्राह्मणको ताण्ड्यका निरन्तर रूप मानकर २६ वाँ अध्याय माना गया। जिससे ब्राह्मणका नाम भी षड्विंश रखा गया। संसारमें स्वाभाविक रूपसे घटनेवाली घटनाओंसे भिन्न अनेक अद्भुत घटनाएँ भी होती हैं। उससे निपटनेके लिये स्मार्त-यागों और सामोंका विधान इस अध्यायमें किया गया है। जैसे मकानपर वज्रपात होना, प्रशासनिक अधिकारीसे विवाद बढ़ना तथा आकस्मिक रूपमें हाथियों और घोड़ोंकी मृत्यु होना लोगोंके लिये अनिष्ट-सूचक है। इससे शान्ति पानेके लिये इन्द्रदेवतासम्बद्ध पाककर्म और '**इन्द्रायेन्दो मरुत्वते**' (४७२) ऋचामें '**इषो वृधीयम्**' सामका विधान किया गया है। वैसे ही भूकम्प होना, वृक्षोंसे खून बहना, गायमें मानव या भैंस आदिके बच्चे पैदा होना, विकलाङ्ग शिशुका जन्म होना-जैसे अनेक सांसारिक अद्भुत कर्मोंसे शान्ति पानेके लिये पाक-कर्मों और सामोंका विधान है। इस अध्यायमें पाये गये '**दण्डपाणये, चक्रपाणये, शूलपाणये**' आदि ब्राह्मणवाक्योंमें देवताओंका शस्त्र धारण किया हुआ शरीरधारी स्वरूप होनेका संकेत मिलता है और आज बने हुए शरीरधारी देवोंकी प्रतिमाएँ ब्राह्मणवाक्योंपर आधारित मानी जा सकती हैं।

तीन अध्यायवाले सामविधानब्राह्मणके पहले अध्यायमें वर्णित कथाके अनुसार सृष्टिक्रममें ब्रह्माने संततियोंके आहारके रूपमें सामोंकी परिकल्पना की थी, जो सामके सात स्वरोंसे तृप्त होती गयी थी। जैसे क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार—इन सात स्वरोंसे क्रमशः देवों, मानवों, पशुओं, गन्धर्वों, अप्सराओं, पितृगण एवं पक्षियों, असुरों तथा पूरे स्थावर-जंगमात्मक वस्तुओंके तृप्त होनेका उल्लेख है, जो आज भी प्रासंगिक है। इसी तरह मानव-जीवनके विविध पक्षोंसे जुड़ी हुई दृष्ट और अदृष्ट आकाङ्क्षाओंकी पूर्तिके लिये कर्मों और सामोंका विधान करना इस ब्राह्मणका प्रतिपाद्य है। जैसे—

अभीष्ट	सामनाम	गानसंकेत
१. श्रीसाधन	अङ्गिरसां हरिश्रीनिधनम्	ग्रामगेयगान ५,९,१
२. यशोलाभ	इन्द्रस्य यशः	ग्राम० ६, २, १—२४८
३. सुन्दर दीर्घायुवाला पुत्र	अपत्यम्	आरण्यक गान ३, ४, १
४. अभीप्सित स्त्रीकी प्राप्ति	अश्विनोः साम	ग्राम० ५, ६, २—१७२
५. रोगशान्ति	काशीतम्	ग्राम० १, ३, १—३३
६. मोक्ष	पर्क	ग्राम० १, १, १,१
७. कन्याके लिये वरलाभ	शौनः शेपे	ग्राम० १, १, १-२, ७

छः अध्यायोंमें विभाजित आर्षेयब्राह्मण सामोंके नामसे सम्बद्ध ऋषियोंका प्रतिपादन करता है। मन्त्रद्रष्टा ऋषिके नामसे सामोंका नाम बतलानेवाले ब्राह्मणका नाम आर्षेय पड़ा है। चार खण्डोंमें विभक्त देवताध्यायब्राह्मण निधनके आधारपर सामोंके देवताओंको बतलाता है। निधन पाँच भक्तिवाला सामका एक भक्ति-विभाग है।

दस प्रपाठकसे पूर्ण होनेवाले छान्दोग्योपनिषद्-ब्राह्मणके प्रथम दो प्रपाठकोंमें विवाहादि-कर्मसे सम्बद्ध मन्त्रोंका विधान है। अवशिष्ट आठ प्रपाठक उपनिषद् हैं। इस उपनिषद्-खण्डमें सामके सारतत्त्वको स्वर कहा गया है। जैसे शालावत्य और दाल्भ्यके संवादमें सामकी गतिको '**स्वर होवाच**' कहकर स्वरोंको ही सामका सर्वस्व माना गया है। देखा जाता है कि बृहद् रथन्तर आदि साम आर्षेयसे सम्बद्ध न होकर स्वरोंसे ही प्रसिद्ध हैं अर्थात् ये साम क्रुष्ट-प्रथमादि स्वरोंकी ही अभिव्यक्ति करते हैं। इसी उपनिषद् (२। २२। २)-में उद्गाताद्वारा गाये गये एक स्तोत्रका देवोंमें अमृत दिलाने, पशुओंमें आहार तय करने, यजमानको स्वर्ग दिलाने, स्वयं स्तोताको अन्नोत्पादन करानेका उद्देश्य रखते हुए गान करनेका विधान बतलाया गया है। इससे सामगानका महत्त्व देखा जा सकता है।

संहितोपनिषद्-ब्राह्मणके पाँच खण्डोंसे सामसंहिताका रहस्य बतलाया गया है। इसके द्वितीय खण्डमें भकारयोजनके साथ रथन्तर सामका स्वरूप बताकर भकारके प्रयोगसे चमकते हुए ऐश्वर्यके मिलनेकी बात बतायी गयी है। सबसे अन्तिम वंशब्राह्मण तीन खण्डोंमें शर्वदत्तगार्ग्यसे ब्रह्मपर्यन्त सामवेदकी अध्ययनपरम्पराको बतलाता है। इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मणको मिलाकर ही वेद पूर्ण हो जाता है।

वेदाङ्ग—

वेदाङ्गोंमेंसे कल्पशास्त्र चार प्रकारोंमें बँटा है—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्बसूत्र। श्रौतसूत्र दो हैं—द्राह्यायण और लाट्यायन। वैसे ही खादिर और गोभिल दो गृह्यसूत्र मिलते हैं। इस तरह देश-प्रयोगके भेदसे श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रके दो-दो भेद किये गये हैं अर्थात् जहाँ दक्षिणके सामवेदी अपने श्रौत और स्मार्त-कर्म क्रमशः द्राह्यायण श्रौतसूत्र और खादिर गृह्यसूत्रसे सम्पन्न करते हैं तो वही कर्म उत्तरके सामवेदी लाट्यायन श्रौतसूत्र और गोभिल गृह्यसूत्रसे सम्पन्न करते हैं। धर्मसूत्रमें गौतम-धर्मसूत्र २८ अध्यायोंमें विभक्त होकर वर्णधर्म, राजधर्म, नित्यकर्म आदिका प्रतिपादन करता है। सामवेदमें शुल्बसूत्रका अभाव देखा जाता है।

सामवेदकी उच्चारण-प्रक्रियाको बतलानेवाली प्रमुख तीन शिक्षाएँ हैं—नारदीयशिक्षा, गौतमशिक्षा और लोमशशिक्षा। तीनों शिक्षाग्रन्थ दो प्रपाठकों और सोलह कण्डिकाओंमें विभाजित हैं। उपाङ्ग ग्रन्थके रूपमें प्रसिद्ध प्रातिशाख्य साहित्यमें सामवेदीय प्रातिशाख्योंका विशिष्ट स्थान रहा है। सामसंहिताके यथार्थ उच्चारणके लिये ऋक्तन्त्र, सामतन्त्र, अक्षरतन्त्र और पुष्पसूत्र रचे गये हैं। ऋचाओंका अध्ययन करनेवाला ऋक्तन्त्र पाँच प्रपाठकों और तीस खण्डोंमें विभक्त है। वैसे ही प्रकृतिगानके स्वरोंका अध्ययन करनेवाला सामतन्त्र १३ प्रपाठकोंमें लिखा हुआ है। स्तोभोंका निरूपक अक्षरतन्त्र दो प्रपाठकोंमें बँटा है। इसको सामतन्त्रका अङ्ग माना गया है। ऊह, ऊह्य साम-विवेचक पुष्पसूत्र, दस प्रपाठकों और सौ खण्डोंमें विभाजित है।

इस वेदका आरण्यक 'तवलकार' है। जिसको जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण भी कहा जाता है। चार अध्यायों और अनेक अनुवाकोंसे इसकी ग्रन्थाकृति बनी है। इसी प्रकार केन और छान्दोग्योपनिषद् इस वेदके उपनिषद् हैं। अपनी शाखाके आधारपर केनको तवलकार भी कहा जाता है। आठ प्रपाठकके आदिम पाँच प्रपाठकोंमें उद्‌गीथ (ॐकार) और सामोंका सूक्ष्म विवेचन करनेवाला छान्दोग्योपनिषद् अन्तके तीन प्रपाठकोंमें अध्यात्मविद्या बतलाता है। सामवेदीय महावाक्य '**तत्त्वमसि**'का निरूपण इस भागमें किया गया है।

सामवेदसे ही संगीतशास्त्रका प्रादुर्भाव माना जाता है। '**सामवेदादिदं गीतं संजग्राह पितामहः**' (१। २५) अर्थात् 'ब्रह्माने सामवेदसे गीतोंका संग्रह किया' ऐसा कहकर संगीतरत्नाकरके रचयिता शार्ङ्गदेवने स्पष्ट शब्दोंमें संगीतका उपजीव्य ग्रन्थ सामवेदको माना है। भरतमुनिने भी इसी बातको सिद्ध करते हुए कहा कि '**सामभ्यो गीतमेव च**' अर्थात् 'सामवेदसे ही गीतकी उत्पत्ति हुई है।' इसी प्रकार विपुल सामवेदीय वाङ्मयको श्रीकृष्णने '**वेदानां सामवेदोऽस्मि**' (गीता १०। २२) अर्थात् 'वेदोंमें मैं सामवेद हूँ' कहकर इसका महत्त्व बढ़ा दिया है। वेणुके अनुरागी, गुणग्राही और ब्राह्मणप्रिय होनेके कारण भगवान् कृष्ण स्वयं अपनी विभूति सामवेदको माने हैं। देखनेमें आता है कि सामवेदमें पद्यप्रधान ऋग्वेदीय मन्त्रों, गद्यप्रधान यजुर्मन्त्रों और गीत्यात्मक मन्त्रोंका संगम है। इसलिये समस्त त्रयीरूप वेदोंका एक ही सामवेदसे ग्रहण हो जानेके कारण—इसकी अतिशय महत्ता और व्यापकताके कारण भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको साक्षात् सामवेद बताया है।

[श्रीराम अधिकारीजी, वेदाचार्य]

सारा परिवार ईश-भक्त हो

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्णवर्चत॥

(ऋक्० ८। ६९। ८)

हे प्रिय मेधावी जनो! ईशकी उपासना करो! उपासना करो!! विशेषरूपसे उपासना करो!!! तुम्हारे बच्चे भी उसकी उपासना करें। अभेद्य नगर या किलेके तुल्य उस परमात्माकी तुम सभी उपासना करो।

अथर्ववेदका संक्षिप्त परिचय

चारों वेदोंमें ऋक्, यजुः और साम—ये मन्त्रलक्षणके आधारपर प्रसिद्ध हैं, किंतु अथर्ववेद इन तीनोंसे भिन्न नामसे जाना जाता है। चारों वेदोंका समष्टिगत नाम 'त्रयी' भी है। मूलतः इसीके आधारपर कुछ आधुनिक विद्वान् अथर्ववेदको अर्वाचीन कहते हैं, परंतु इसके पीछे कोई ठोस आधार या युक्ति नहीं है।

वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण तीन प्रकारसे किया जाता है—(१) जिस मन्त्रमें अर्थके आधारपर पाद-व्यवस्था निश्चित है, उसे 'ऋक्' कहते हैं, (२) गीत्यात्मक मन्त्रको 'साम' तथा (३) इनसे अतिरिक्त जो मन्त्र हैं अर्थात् पद्यमय और गानमय मन्त्रोंसे अतिरिक्त जितने मन्त्र हैं, उन्हें 'यजुः' कहते हैं। यजुर्मन्त्र गद्य-रूपमें पढ़े जाते हैं। अथर्ववेदमें तीनों प्रकारके मन्त्र उपलब्ध हैं। अतः इस वेदका नाम ऋक्, यजुः और साम अर्थात् मन्त्रलक्षणके आधारपर नहीं, अपितु प्रतिपाद्य विषयवस्तुके आधारपर है। इसी कारण अथर्ववेदके अन्य विविध नाम भी हैं। इस प्रकार मन्त्र-लक्षणके आधारपर 'त्रयी' शब्दका प्रयोग हुआ है, तीन वेदोंके अभिप्रायसे नहीं। भगवान् कृष्णद्वैपायनने श्रौतयज्ञकर्मोंके आधारपर एक ही वेदको चार भागोंमें विभक्त किया है। इससे भी अथर्ववेदको अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता।

अथर्ववेदके विविध नाम

अन्य वेदोंकी तरह अथर्ववेदका भी एक ही नाम क्यों नहीं रहा? अथर्ववेदको विभिन्न नाम देनेमें क्या प्रयोजन है? ऐसी जिज्ञासाकी शान्तिके लिये संक्षेपमें कुछ विचार किया जा रहा है—

अथर्ववेद अनेक नामोंसे अभिहित किया जाता है, जैसे—अथर्ववेद, अथर्वाङ्गिरोवेद, ब्रह्मवेद, भिषग्वेद तथा क्षत्रवेद आदि।

अथर्ववेद—

पाणिनीय धातुपाठमें '**थुर्वी**' धातु हिंसाके अर्थमें पठित है। वैदिक शब्दोंके परोक्षवृत्तिसाधर्म्यके आधारपर '**थुर्वी**' धातु ही '**थर्व**' के रूपमें परिणत हो गया है। अतः जिससे हिंसा नहीं होती है उसको अथर्व* कहते हैं।

वैदिक वाङ्मयमें '**हिंसा**' शब्द किसीकी हानि या परस्पर होनेवाले असामञ्जस्य आदिके अर्थमें भी प्रयुक्त है। अतः केवल प्राणवियोगानुकूल-व्यापार ही हिंसा नहीं है। सामान्यतः हिंसा दो प्रकारकी होती है—(१) आमुष्मिकी और (२) ऐहिकी। जिस कर्म या आचरणसे पारलौकिक सुखमें बाधा [हानि] होती है, उसको आमुष्मिकी हिंसा कहते हैं। इस प्रकारकी हिंसाको अथर्ववेदोक्त कर्मोंसे दूर किया जा सकता है। दूसरी इहलौकिक सुखमें होनेवाली बाधा भी अथर्ववेदोक्त शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मोंसे दूर की जा सकती है। अतः जिससे किसी प्रकारकी हिंसा नहीं हो पाती है, उसके कारण 'अथर्ववेद' ऐसा नाम है।

अथर्वाङ्गिरोवेद—

अथर्ववेदका दूसरा नाम अथर्वाङ्गिरस भी है। अथर्ववेद (१०। ७। २०), महाभारत (३। ३०५। २), मनुस्मृति (११। ३३), याज्ञवल्क्यस्मृति (१। ३१२) तथा औशनसस्मृति (३। ४४) आदि ग्रन्थोंमें द्वन्द्वसमासके रूपमें 'अथर्वाङ्गिरस' शब्द प्रयुक्त है। इस नामके संदर्भमें गोपथब्राह्मणमें एक आख्यायिका है—

'प्राचीन कालमें सृष्टिके लिये तपस्या कर रहे स्वयम्भू ब्रह्माके रेतका जलमें स्खलन हुआ। उससे भृगु नामके महर्षि उत्पन्न हुए। वे भृगु स्वोत्पादक ब्रह्माके दर्शनार्थ व्याकुल हो रहे थे। उसी समय आकाशवाणी हुई—'हे अथर्वा! तिरोभूत ब्रह्माके दर्शनार्थ इसी जलमें अन्वेषण करो' ['**अथर्वाऽनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छ**' गो० ब्रा० १। ४]। तबसे भृगुका नाम ही '**अथर्वा**' हो गया। पुनः रेतयुक्त जलसे आवृत '**वरुण**' शब्दवाच्य ब्रह्माके सभी अङ्गोंसे रसोंका क्षरण हो गया। उससे अङ्गिरा नामके महर्षि उत्पन्न हुए। उसके बाद अथर्वा और अङ्गिराके कारणभूत ब्रह्माने दोनोंको तपस्या करनेके

* इस वेदके कुल ५९८७ मन्त्रमें २६९६ मन्त्र विशुद्ध अथर्वा-ऋषिके द्वारा दृष्ट हैं। अथर्वाङ्गिराके द्वारा दृष्ट मन्त्र ४९, बृहद्दिव या अथर्वाद्वारा दृष्ट मन्त्र-२९, मृगार या अथर्वाके ७, अथर्वा या वसिष्ठके ७, अथर्वा या कृतिके ४ और भृगुराथर्वणके द्वारा दृष्ट मन्त्र ७ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर २७९९ मन्त्र तथा २२० सूक्तोंके द्रष्टा ऋषि अथर्वा होनेसे इस वेदका नाम अथर्ववेद है।

लिये प्रेरित किया। उन लोगोंकी तपस्याके प्रभावसे एक अथवा दो ऋचाओंके मन्त्रद्रष्टा बीस अथर्वा और अङ्गिरसोंकी उत्पत्ति हुई। उन्हीं तपस्या कर रहे ऋषियोंके माध्यमसे स्वयम्भू ब्रह्माने जिन मन्त्रोंके दर्शन किये, वही मन्त्रसमूह अथर्वाङ्गिरस वेद हो गया। साथ ही एक ऋचाके मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी संख्या भी बीस होनेके कारण यह वेद बीस काण्डोंमें बँटा है।

कुछ विद्वानोंका मत यह है कि 'अथर्वन्' शब्द शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मोंका वाचक है। इसके विपरीत 'अङ्गिरस्' पद घोर [अभिचारात्मक] कर्मोंका वाचक है। अथर्ववेदमें इन दोनों प्रकारके कर्मोंका उल्लेख मिलता है। अतः इसका नाम 'अथर्वाङ्गिरस' पड़ा। यह मत पूर्णतः स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि अथर्ववेदमें सबसे अधिक अध्यात्मविषयक मन्त्रोंका संकलन है। उसके बाद शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मोंसे सम्बद्ध मन्त्र हैं; किंतु आभिचारिक कर्मसे सम्बद्ध मन्त्र तो नगण्यरूपमें ही हैं।

ब्रह्मवेद—

अथर्ववेदके 'ब्रह्मवेद' अभिधानमें मुख्यतः तीन हेतु उपलब्ध होते हैं—(१) यज्ञकर्ममें ब्रह्मत्व-प्रतिपादन, (२) ब्रह्मविषयक दार्शनिक चिन्तन-गाथा तथा (३) ब्रह्मा नामक ऋषिसे दृष्ट मन्त्रोंका संकलन।

उपर्युक्त तीन हेतुओंमें प्रथम कारण उल्लेख्य है। श्रौतयज्ञका सम्पादन करनेके लिये चारों वेदोंकी आवश्यकता पड़ती है। जिनमें ऋग्वेदके कार्य होताद्वारा, यजुर्वेदके कार्य अध्वर्युद्वारा, सामवेदके कार्य उद्गाताद्वारा और अथर्ववेदके कार्य ब्रह्मा नामके ऋत्विजोंद्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। यज्ञकार्यमें सम्भाव्य अनिष्टका दूरीकरण, प्रायश्चित्त-विधियोंद्वारा यज्ञके त्रुटि-निवारण, यज्ञानुष्ठानके क्रममें अन्य ऋत्विजोंके लिये अनुज्ञा-प्रदान ब्रह्माके प्रमुख कार्य हैं। इस प्रकार किसी भी श्रौतयज्ञकी सफलताके लिये ब्रह्माकी अध्यक्षता आवश्यक होती है। अतः यज्ञकर्ममें ब्रह्मत्वप्रतिपादनके कारण अथर्ववेदका दूसरा नाम 'ब्रह्मवेद' युक्तिसंगत ही है।

ब्रह्मवेदाभिधानका दूसरा कारण ब्रह्मविषयक दार्शनिक चिन्तन है। अथर्ववेदके विभिन्न स्थलोंपर विराट्, ब्रह्म, स्कम्भब्रह्म, उच्छिष्टब्रह्म, ईश्वर, प्रकृति, जीवात्मा, प्राण, व्रात्य, वशा, ब्रह्मौदन आदि विभिन्न स्वरूपोंका विस्तृत वर्णन मिलता है। अतः अध्यात्मविषयक चिन्तनाधिक्यके कारण भी 'ब्रह्मवेद' यह नाम हो सकता है।

अथर्ववेदके मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंमें ब्रह्मा-ऋषिके द्वारा दृष्ट मन्त्रोंकी संख्या ८८४ है। इस आधारपर भी अथर्ववेदका नाम 'ब्रह्मवेद' हो सकता है।

भिषग्वेद—

अथर्ववेदके लिये 'भिषग्वेद' का प्रयोग भी मिलता है। इसमें विभिन्न रोगों तथा उनकी औषधियोंका भरपूर उल्लेख किया गया है। अतः यह नाम उपयुक्त है।

क्षत्रवेद—

अथर्ववेदमें स्वराज्य-रक्षाके लिये राजकर्मसे सम्बन्धित बहुतसे सूक्त उपलब्ध हैं। इसलिये अथर्ववेदको 'क्षत्रवेद' नाम दिया गया है।

अथर्ववेदकी शाखाएँ

अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ थीं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) पैप्पलाद, (२) तौद, (३) मौद, (४) शौनक, (५) जाजल, (६) जलद, (७) ब्रह्मवद, (८) देवदर्श, और (९) चारणवैद्य। इन शाखाओंमें आजकल प्रचलित शौनक-शाखाकी संहिता पूर्णरूपसे उपलब्ध है। पैप्पलादसंहिता अभी अपूर्ण ही उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त अन्य शाखाओंकी कोई भी संहिता उपलब्ध नहीं है।

शौनकसंहिताका संक्षिप्त परिचय

मन्त्रोंका संकलनक्रम—

अथर्ववेदमें २० काण्ड, ७३० सूक्त, ३६ प्रपाठक और ५९८७ मन्त्र हैं। इसमें मन्त्रोंका विभाजनक्रम एक विशिष्ट शैलीका है। पहले काण्डसे सातवें काण्डतक छोटे-छोटे सूक्त हैं। पहले काण्डमें प्रायः ४ मन्त्रोंके सूक्त हैं। दूसरे काण्डमें ५ मन्त्रोंके, तीसरे काण्डमें ६ मन्त्रोंके, चौथे काण्डमें ७ या ८ मन्त्रोंके, पाँचवें काण्डमें ८ या उससे अधिक मन्त्रोंके सूक्त हैं। छठे काण्डमें १४२ सूक्त हैं और प्रायः सभी सूक्त ३ मन्त्रोंके हैं। सातवें काण्डमें ११८ सूक्त हैं और प्रत्येक सूक्तमें प्रायः एक या दो मन्त्र हैं। आठवें काण्डसे १२ वें काण्डतक विषयकी विभिन्नता और बड़े-बड़े सूक्तोंका संकलन है। तेरहवें काण्डसे २० काण्डतक भी अधिक मन्त्रोंवाले सूक्त हैं, परंतु विषयकी एकरूपता है। जैसे बारहवें काण्डमें पृथ्वीसूक्त हैं, जिसमें राजनीतिक तथा भौगोलिक सिद्धान्तोंकी भावना दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार १३वें, १५वें और १९वें काण्ड अध्यात्मविषयक हैं।

१४वेंमें विवाह, १६वेंमें दुःस्वप्रनाशनके लिये प्रार्थना, १७वेंमें अभ्युदयके लिये प्रार्थना, १८वेंमें पितृमेध, १९वेंके शेष मन्त्रोंमें भैषज्य, राष्ट्रवृद्धि आदि तथा २०वेंमें सोमयागके लिये आवश्यक मन्त्रोंका संकलन है। २०वें काण्डमें अधिकांश सूक्त इन्द्रविषयक हैं।

प्रतिपाद्य विषय

१-ब्रह्मविषयक दार्शनिक सिद्धान्त—

इस वेदमें ब्रह्मका वर्णन विशेषरूपसे हुआ है। ब्रह्मका वर्णन इस वेदमें जितने विस्तार और सूक्ष्मतासे हुआ है, उतने विस्तारसे एवं सूक्ष्मतासे किसी वेदमें नहीं हुआ है। उपनिषदोंमें ब्रह्मविद्याका जो विकसित रूप मिलता है, उसका स्रोत अथर्ववेद ही है, यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी। विविध दृष्टिकोणसे इसमें ब्रह्मतत्त्वका विवेचन हुआ है। ब्रह्म क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसकी प्राप्तिके साधन क्या हैं? वह एक है या अनेक? उसका अन्य देवोंके साथ क्या सम्बन्ध है? आदि सभी विषयोंके साथ-साथ जीवात्मा और प्रकृतिका भी विवेचन हुआ है। इसमें विराट्, ब्रह्म, स्कम्भ, रोहित, व्रात्य, उच्छिष्ट, प्राण, स्वर्गौदन आदि ब्रह्मके विविध स्वरूपोंके विस्तृत वर्णन मिलते हैं।

इसमें संसारकी उत्पत्ति जलसे बतायी गयी है। प्रारम्भमें ईश्वरने जलमें बीज डाला। उससे हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति हुई और उससे सृष्टिका प्रारम्भ हुआ (अथर्ववेद ४। २। ६। ८)।

इस प्रकार अध्यात्मविषयक दार्शनिक चिन्तन ही अथर्ववेदका मूल प्रतिपाद्य विषय है।

२-भैषज्यकर्म—

प्रतिपाद्य विषयोंकी दूसरी कोटिमें विविध रोगोंके उपचारार्थ प्रयोग किये जानेवाले भैषज्य सूक्त आते हैं। जिनके मन्त्रोंके द्वारा देवताओंका आह्वान तथा प्रार्थना आदि किये जाते हैं। साथमें विभिन्न रोगोंके नाम तथा उनके निराकरणके लिये विविध प्रकारकी औषधियोंके नाम भी उक्त सूक्तोंमें प्राप्त होते हैं। जलचिकित्सा, सूर्यकिरणचिकित्सा और मानसिक चिकित्साके विषयोंपर इस वेदमें विस्तृत वर्णन मिलता है।

३-शान्तिक तथा पौष्टिक कर्म—

विभिन्न प्रकारकी क्षति, आपत्ति या अवाञ्छित क्रियाकलापोंसे मुक्त होनेके लिये किये जानेवाले कर्मोंको शान्तिक कर्म कहते हैं। दुःस्वप्रनाशन, दुःशकुन-निवारण आदिके लिये किये जानेवाले देव-प्रार्थनादि विभिन्न सूक्तोंके जप आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।

ऐश्वर्यप्राप्ति और विपन्निवृत्तिके लिये प्रयोग किये जानेवाले सूक्त पौष्टिक कर्मके अन्तर्गत आते हैं; जैसे—पुष्टिवर्धक, मणिबन्धन तथा देव-प्रार्थना आदि।

४-राजकर्म [राजनीति]—

अथर्ववेदमें राजनीतिक विषयोंका भरपूर उल्लेख मिलता है। राजा कैसा होना चाहिये? राजा और प्रजाका कर्तव्य, शासनके प्रकार, राजाका निर्वाचन और राज्याभिषेक, राजाके अधिकार एवं कर्तव्य, सभा और समिति तथा उनके स्वरूप, न्याय और दण्डविधान, सेना और सेनापति, सैनिकोंके भेद एवं उनके कार्य, सैनिक-शिक्षा, शस्त्रास्त्र, युद्धका स्वरूप, शत्रुनाशन, विजयप्राप्तिके साधन आदि विविध विषय इसके अन्तर्गत आते हैं।

५-सांमनस्यकर्म—

अथर्ववेदमें राष्ट्रिय, सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक तथा धार्मिक सामञ्जस्यके लिये विशेष महत्त्व दिया गया है और परस्परमें सौहार्द-भावना स्थापित करनेके लिये विभिन्न सूक्तोंका स्मरण करनेका विधान किया गया है।

६-प्रायश्चित्त [आत्मालोचना]—

ज्ञात-अज्ञात-अवस्थामें किये हुए विभिन्न त्रुटिपूर्ण कर्मोंके कारण उत्पन्न होनेवाले सम्भावित अनिष्टोंको दूर करनेके लिये क्षमा-याचना, देव-प्रार्थना, प्रायश्चित्तहोम, चारित्रिक बदनामीका प्रायश्चित्त और अशुभ नक्षत्रोंमें जन्मे हुए बच्चोंके प्रायश्चित्त आदि विविध प्रायश्चित्तोंका उल्लेख इसमें मिलता है।

७-आयुष्यकर्म—

स्वास्थ्य तथा दीर्घायुके लिये देवताओंकी प्रसन्नतापर विश्वास करते हुए विभिन्न सूक्तोंके द्वारा दीर्घायुष्य-प्राप्तिहेतु प्रार्थना की गयी है। इसके अतिरिक्त दीर्घायु-प्राप्तिके लिये हाथ तथा गलेमें रक्षासूत्र एवं मणियोंको बाँधनेका विधान है।

८-अभिचार-कर्म—

दैत्य-राक्षस तथा शत्रु आदिके उद्देश्यसे किये जानेवाले विभिन्न प्रयोग एवं विधियाँ इसके अन्तर्गत आती हैं। मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि विषयोंको अभिचार कहते हैं, अथर्ववेदमें आभिचारिक

मन्त्रोंकी संख्या बहुत कम मात्रामें उपलब्ध है, परंतु कतिपय पाश्चात्त्य विद्वान् अथर्ववेदको अभिचारकर्म-प्रधान वेदके रूपमें भी स्वीकारते हैं। हमारी दृष्टिमें तो यह बात बिलकुल युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अथर्ववेदमें कितने मन्त्र किस कर्ममें विनियुक्त हैं, प्रथमतः यह देखना चाहिये। इसके बाद कौन-कौनसे मन्त्रोंमें किन-किन विषयोंका वर्णन है—यह देखनेसे पता चलता है कि अथर्ववेदमें अधिकतम मन्त्र अध्यात्मदर्शन-विषयक हैं। इसी कारण अथर्ववेदको 'ब्रह्मवेद' कहा जाता है।

इस प्रकार अथर्ववेदके विषय-विवेचनसे यह पता चलता है कि इसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूपी पुरुषार्थ-चतुष्टयके सभी अङ्गोंका वर्णन है। शास्त्रीय दृष्टिसे धर्मदर्शन, अध्यात्म और तत्त्वमीमांसासे सम्बद्ध सभी तत्त्व इसमें विद्यमान हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिसे राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और ज्ञान-विज्ञानका यह भण्डार है। साहित्यिक दृष्टिसे रस, अलंकार, छन्द तथा भाव एवं भाषासौन्दर्य आदि विषय इसमें विद्यमान हैं। व्यवहारोपयोगिताकी दृष्टिसे भावात्मक प्रेरणा, मनन-चिन्तन, कर्तव्योपदेश, आचारशिक्षा और नीतिशिक्षाका इसमें विपुल भण्डार है। संस्कृतिकी दृष्टिसे इसमें उच्च, मध्यम और निम्न—इन तीनों स्तरोंका स्वरूप परिलक्षित होता है। अतः अथर्ववेद वैदिक वाङ्मयका शिरोभूषण है। विषयकी विविधता, स्थूलसे सूक्ष्मतम तत्त्वोंका प्रतिपादन, शास्त्रीयताके साथ व्यावहारिकताका सम्मिश्रण इसकी मुख्य विशेषता है।

कुछ आथर्वणिक ग्रन्थोंका विवरण

अथर्ववेदकी नौ शाखाओंके ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें आज एक 'गोपथ-ब्राह्मण' ही उपलब्ध है। यह ग्रन्थ भी पैप्पलाद शाखासे सम्बद्ध है। इसके दो भाग हैं—पूर्वभाग तथा उत्तरभाग। पूर्वभागमें ५ प्रपाठक तथा उत्तरभागमें ६ प्रपाठक हैं। प्रपाठक कण्डिकाओंमें विभक्त हैं। पूर्वभागके प्रपाठकोंमें १३५ तथा उत्तरभागके प्रपाठकोंमें १२३ कण्डिकाएँ हैं। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय श्रौतयज्ञोंका वर्णन ही है। इसमें प्रतिपादित निर्वचन-प्रक्रिया भी अत्यन्त रोचक है।

अथर्ववेदसे सम्बद्ध श्रौतसूत्रोंमें एकमात्र श्रौतसूत्र 'वैतानसूत्र' के नामसे प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ शौनक-शाखासे सम्बद्ध है। इसमें श्रौतकर्मोंका विनियोग बताया गया है और इसमें आठ अध्याय हैं। अथर्ववेदके गृह्यसूत्रोंमें 'संहिताविधि'के नामसे प्रसिद्ध 'कौशिक-गृह्यसूत्र' उपलब्ध है। यह ग्रन्थ शौनक-संहिताका प्रत्यक्ष विनियोग बताता है। श्रौतसूत्र भी इसीके आश्रित हैं। १४ अध्याय तथा १४१ कण्डिकाओंमें विभक्त कौशिक-सूत्र आथर्वण साहित्यका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। शिक्षाग्रन्थोंमें 'माण्डूकी शिक्षा' उपलब्ध है। १७९ श्लोकोंसे युक्त यह शिक्षाग्रन्थ अथर्ववेदके स्वर तथा वर्णोंके विषयमें जानकारी देता है।

इसी प्रकार अथर्ववेदसे सम्बद्ध ५ कल्पसूत्र तथा ५ लक्षणग्रन्थ हैं। पाँच कल्पसूत्र ये हैं—(१) नक्षत्रकल्प, (२) वैतानकल्प (वैतान श्रौतसूत्र), (३) संहिताविधि (कौशिक-गृह्यसूत्र), (४) आङ्गिरस-कल्प और (५) शान्तिकल्प। इनमेंसे आजकल केवल दो ही कल्पसूत्र उपलब्ध हैं। लक्षणग्रन्थोंमें 'शौनकीया चतुरध्यायिका' चार अध्यायोंमें विभक्त है। यह सबसे प्राचीन अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य है। सन् १८८२ में अमेरिकन विद्वान् डॉ० ह्विट्नीने इसे सानुवाद प्रकाशित किया था। अभी १९९८ में वाणी-मन्दिर, नयी सड़क, वाराणसी 'निर्मल' और 'शशिकला' ने संस्कृत तथा हिन्दी दोनों भाष्यसहित इसको प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त 'अथर्वप्रातिशाख्य' नामक दूसरा प्रातिशाख्य भी उपलब्ध है। इसमें १९२३में श्रीविश्वबन्धु शास्त्रीजीद्वारा प्रकाशित केवल सूत्रोंका मूल पाठ और डॉ० श्रीसूर्यकान्तजी शास्त्रीद्वारा १९४० में लाहौरसे प्रकाशित—इस प्रकार दो प्रातिशाख्य उपलब्ध होते हैं। श्रीसूर्यकान्तजीद्वारा प्रकाशित प्रातिशाख्यमें उदाहरणसहित कुछ टिप्पणियाँ भी हैं। तीसरे लक्षणग्रन्थमें 'पञ्चपटलिका', चौथेमें 'दन्त्योष्ठविधि' और पाँचवेंमें 'बृहत्सर्वानुक्रमणिका' भी आजकल उपलब्ध हैं। पञ्चपटलिकामें अथर्ववेदके काण्डों तथा तद्गत मन्त्रोंकी संख्याका विवरण, दन्त्योष्ठविधिमें बकार तथा वकारका उच्चारणगत नियम तथा बृहत्सर्वानुक्रमणिकामें अथर्ववेदके ऋषि, देवता तथा छन्दोंका परिचय प्रस्तुत किया गया है।

अथर्ववेदके प्रमुख उपनिषदोंमें पैप्पलाद-शाखाका प्रश्नोपनिषद् उपलब्ध है और शौनक-शाखाके मुण्डक तथा माण्डूक्य दो उपनिषद् हैं। इनके अतिरिक्त अथर्ववेदसे सम्बद्ध अन्य उपनिषदोंकी संख्या भी अधिक है। मुक्तिकोपनिषद्के अनुसार १०८ उपनिषदोंमें ३१ उपनिषद् अथर्ववेदसे सम्बद्ध हैं।

[श्रीऋषिरामजी रेग्मी, अथर्ववेदाचार्य]

अथर्ववेदीय गोपथब्राह्मण—एक परिचय

अथर्ववेदकी नौ शाखाओंमें आज केवल दो ही शाखाएँ उपलब्ध होती हैं—शौनक शाखा तथा पैप्पलाद शाखा। इनमें शौनक शाखा ही आजकल पूर्णरूपसे उपलब्ध तथा प्रचलित है। पैप्पलाद शाखाकी संहिता पूर्णरूपसे उपलब्ध नहीं है। पातञ्जल-महाभाष्य (१।१।१) तथा गोपथब्राह्मण (१।१।२९)-के आधारपर यह ब्राह्मण पैप्पलाद शाखासे सम्बद्ध है, परंतु सम्प्रति उपलब्ध अथर्ववेदका एकमात्र ब्राह्मण 'गोपथ' ही है।

नामकरण—

'गोपथ' के नामकरणके विषयमें विविध मत उपलब्ध होते हैं, परंतु इस लेखमें अधिक विश्वसनीय एकमात्र मत प्रस्तुत किया जाता है।

ऐतरेय, कौषीतकि, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणग्रन्थोंकी प्रसिद्धि प्रवचनकर्ता आचार्योंके नामपर है। अतः गोपथब्राह्मणकी प्रसिद्धि भी इसके प्रवचनकर्ता ऋषि 'गोपथ' के आधारपर हुई, क्योंकि अथर्ववेद शौनकसंहिता (काण्ड १९ के ४७—५० तक चार सूक्तों)-के द्रष्टा ऋषि गोपथ हैं। इस आधारपर गोपथब्राह्मणके प्रवचनकर्ता गोपथ-ऋषिके होनेकी सम्भावना अधिक है।

स्वरूप—

यह ब्राह्मण 'पूर्व-गोपथ' और 'उत्तर-गोपथ'—इन दो भागोंमें विभक्त है। पूर्वभागमें पाँच तथा उत्तरभागमें छः प्रपाठक—इस प्रकार कुल ग्यारह प्रपाठक हैं। प्रपाठकोंका विभाजन कण्डिकाओंमें हुआ है। पूर्वभागके पाँच प्रपाठकोंमें १३५ और उत्तरभागके छः प्रपाठकोंमें १२३ कण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार इसमें कुल ग्यारह प्रपाठक और २५८ कण्डिकाएँ हैं।

अथर्ववेद-परिशिष्टके ४९वें परिशिष्ट 'चरणव्यूह' का कथन है कि किसी समयमें गोपथब्राह्मण १०० प्रपाठकोंमें विभक्त था।

प्रतिपाद्य विषय—

पूर्वभागके प्रथम प्रपाठकमें सृष्टि-प्रक्रियाका निरूपण है। तदनुसार स्वयम्भू-ब्रह्माका तप, जलकी सृष्टि, जलमें रेतःस्खलन, शान्त जलके समुद्रसे भृगु, अथर्वा, आथर्वण-ऋषि तथा अथर्ववेद, ॐकार, लोक और त्रयीका आविर्भाव वर्णित है। अशान्त जलसे वरुण, मृत्यु, अङ्गिरा, अङ्गिरस ऋषि, अङ्गिरस वेद, पाँच व्याहृति तथा यज्ञकी उत्पत्ति बतलायी गयी है। तदनन्तर पुष्करमें ब्रह्मके द्वारा ब्रह्माकी सृष्टि, ॐकारका महत्त्व, ॐकार-जपका फल, ॐकारके विषयमें ३६ प्रश्न तथा उनके उत्तर, गायत्री-मन्त्रकी विशद व्याख्या एवं आचमनविधि आदि विषयोंका वर्णन है।

द्वितीय प्रपाठकमें ब्रह्मचारीके महत्त्व तथा उनके कर्तव्योंका निरूपण करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मचारीको ऐन्द्रिक रागों तथा आकर्षणोंसे बचना चाहिये। इसके साथ ही स्त्रीसम्पर्क, दूसरोंको कष्ट पहुँचाने तथा ऊँचे आसनपर बैठनेका निषेध आदि विविध आचार-दर्शनके विषय इसमें प्रतिपादित हैं। तदनन्तर यज्ञमें होता प्रभृति चारों ऋत्विजोंकी भूमिका भी इसमें वर्णित है।

तृतीयसे लेकर पञ्चम प्रपाठकतक यज्ञसम्बन्धी विभिन्न विषयोंका वर्णन है। जैसे—ब्रह्माके महत्त्व, अथर्ववेदवित्‌को ब्रह्मा बनाना चाहिये, व्रतभङ्ग होनेपर प्रायश्चित्त करना चाहिये, दर्शपूर्णमास तथा अग्निहोत्रकी रहस्यमयी व्याख्या, ऋत्विजोंकी दीक्षाका विशेष वर्णन, अग्निष्टोम, सवनीय पशु, इष्टियाँ, गवामयन, अश्वमेध, पुरुषमेध आदि विभिन्न यज्ञोंका विवरण।

उत्तरभागमें भी विभिन्न यज्ञों तथा तत्सम्बद्ध आख्यायिकाओंका उल्लेख है। जैसे—प्रथम प्रपाठकमें कण्डिका १—१२ तक दर्शपूर्णमास, १३—१६ तक काम्येष्टियाँ, १७—२६ तक आग्रयण, अग्निचयन और चातुर्मास्योंका वर्णन है। द्वितीय प्रपाठकके प्रथम कण्डिकामें काम्येष्टि, २ से ४ तक तानूनप्त्रेष्टि, ५—६ तक प्रवर्ग्येष्टि, ७—१२ तक यज्ञशरीरके भेद, सोमस्कन्द-प्रायश्चित्त, १३—१५ तक आग्नीध्रविभाग, प्रवृत्ताहुतिओं, प्रस्थितग्रहों तथा १६—२३ तक दर्शपूर्णमासका निरूपण है। तृतीय प्रपाठकके प्रथमसे षष्ठ कण्डिकातक वषट्कार-अनुवषट्कार, ७—११ तक ऋतुग्रहादि, १२—१९ तक एकाह प्रातः सवन, २०—२३ एकाह माध्यन्दिनसवनका उल्लेख है। चतुर्थ प्रपाठकमें तृतीयसवन तथा षोडशी यागका विधान है। पञ्चमसे षष्ठ प्रपाठकोंमें अतिरात्र, सौत्रामणि, वाजपेय, आप्तोर्याम, अहीनयाग और सत्रयागका निरूपण है।

इस प्रकार अन्य ब्राह्मणग्रन्थोंके समान गोपथब्राह्मणमें भी मुख्यरूपसे यज्ञकर्मोंका प्रतिपादन हुआ है। इस ब्राह्मणकी जो अलग विशेषताएँ हैं, उनको भी संक्षिप्त रूपमें यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

गोपथब्राह्मणकी विशेषताएँ—

१-पूर्वब्राह्मणके प्रारम्भमें ही सृष्टि-प्रक्रियाका निरूपण है (१। १। १—१५)।

२-ॐकारसे जगत्‌की सृष्टि (१। १। १६—३०)। यद्यपि पूर्ववर्णित सृष्टि-प्रक्रियासे यह भिन्न प्रतीत होता है, तथापि इसका अलग महत्त्व है।

३-इसमें ॐकारके विषयमें जितनी व्याख्या उपलब्ध होती है, उतनी व्याख्या अन्यत्र नहीं है। प्रत्येक वेदोंमें ॐकारोच्चारणका भेद (१। १। २५), प्रत्येक वेदमन्त्रके उच्चारणसे पूर्व ॐकारका उच्चारण (१। १। २८) करना चाहिये।

४-किसी अनुष्ठानके आरम्भ करनेके पहले तीन बार आचमन करना चाहिये (इसके लिये विशिष्ट मन्त्रका संकेत है—१। १। ३९)।

५-ब्राह्मणको गाना और नाचना नहीं चाहिये, 'आग्लागृध' नहीं कहलाना चाहिये (**य एष ब्राह्मणो गायनो वा नर्तनो वा भवति तमाग्लागृध इत्याचक्षते, तस्माद् ब्राह्मणो नैव गायेन्नानृत्येन्माग्लागृधः स्यात्** १। २। २१)।

६-गायत्री-मन्त्रकी प्राचीनतम व्याख्या इसमें मिलती है।

७-व्याकरण महाभाष्यमें उपलब्ध अव्यय-कारिकाका प्रथम पाठ इसी ब्राह्मणमें दिखायी पड़ता है—'**सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्**' (१। १। २६) इसके अतिरिक्त धातु, प्रातिपदिक, विभक्ति, विकार, विकारी, स्थानानुप्रदान आदि व्याकरण-सम्बन्धी शब्दोंका भी उल्लेख है (१। १। २५—२७)।

८-आथर्वणश्रुति (अ० ११। ५)-का अवलम्बन करके ब्रह्मचारीके विभिन्न कृत्योंका उल्लेख है (१। २। १—९)। वेदाध्ययनके लिये ४८ वर्षतक ब्रह्मचारी-व्रतमें रहनेके विधान (१। २। ५)-के साथ प्रत्येक वेदके लिये बारह-बारह वर्षोंकी अवधि निर्धारित की गयी है।

निर्वचन-प्रक्रिया—

अन्य ब्राह्मणोंकी तरह गोपथब्राह्मणमें भी शब्दोंकी निर्वचन-प्रक्रिया अत्यन्त रोचक प्रतीत होती है। जैसे—

१-यज्ञार्थक 'मख' शब्दकी व्युत्पत्ति—'**छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः, मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति।**' (गोपथब्रा० २। २। ५)। 'ख' का अर्थ छिद्र है, इसका 'मा' शब्दके द्वारा निषेध किया गया है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि यज्ञमें कोई अशुद्धि या भूल नहीं होनी चाहिये।

२-'रथ' शब्दकी व्युत्पति—'**तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते**' (१। २। २१) रसपूर्ण अर्थात् आनन्दमय होनेसे इसका नाम 'रथ' हो गया।

३-'दीक्षित' शब्दकी व्युत्पत्ति—'**श्रेष्ठां धियं क्षियतीति…… दीक्षितः**' (१। ३। १९) श्रेष्ठ बुद्धिका निवास होनेके कारण 'दीक्षित' हो गया।

४-'स्वेद' शब्दकी व्युत्पति—'**सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते**' (१। १। १) वेदके अच्छे जानकार होनेसे ही पसीनेको 'स्वेद' कहा जाता है। इसपर एक आख्यायिका भी है।

५-'कुन्ताप' शब्दकी व्युत्पत्ति—'**कुयं भवति वै नाम कुत्सितं तद्यत्तपति, तस्मात् कुन्तापः**' (२। ६। १२)। अथर्ववेदके २०। १२७—१३६ तकके सूक्तोंका नाम 'कुन्तापसूक्त' है। इसीका अर्थ यहाँ दिया गया है। पापकर्मको जलानेवाले सूक्त या मन्त्रका नाम 'कुन्ताप' है।

इसके अतिरिक्त धारण करनेसे 'धरा', जन्म देनेके कारण 'जाया', वरणसे 'वरुण', मधुसे 'मृत्यु', भरण करनेके कारण 'भृगु', अथ+अर्वाक्='अथर्वा', अङ्ग+रस=अङ्गरस या 'अङ्गिरस' आदि विभिन्न प्रसंगोंमें विभिन्न शब्दोंकी निरुक्ति है। इस तरह भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे भी गोपथब्राह्मणका अपना पृथक् महत्त्व है।

गोपथब्राह्मणका सम्बन्ध—

वैदिक वाङ्मयमें सामान्यतः संहिता, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र ऐसा क्रम उपलब्ध होता है, किंतु आथर्वण वाङ्मयमें ऐसा क्रम न होकर इससे भिन्न क्रम या विपर्यस्त क्रम उपलब्ध होता है। आथर्वणिक वाङ्मयोंके अध्ययनसे यह पता चलता है कि इसका क्रम भिन्न है। अन्य वेदोंके श्रौतसूत्र संहिता या ब्राह्मणग्रन्थोंपर आश्रित हैं और गृह्यसूत्र श्रौतसूत्रोंपर। परंतु अथर्ववेदका वैतानश्रौतसूत्र कौशिकगृह्यसूत्रपर आधारित है और गृह्यसूत्र पूर्णतः संहितापर आश्रित है। इसी प्रकार ब्राह्मण और श्रौतसूत्रके कुछ अंशोंकी तुलना करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि गोपथब्राह्मण भी वैतानश्रौतसूत्रसे सम्बद्ध है।

[श्रीऋषिरामजी रेग्मी, अथर्ववेदाचार्य]

वेदाङ्गोंका परिचय

(डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूडामणि)

वेद समस्त ज्ञानराशिके अक्षय भण्डार हैं। इतना ही नहीं हम भारतीयोंकी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और धर्मके आधारभूत स्तम्भ हैं। अतः समस्त जन-मानस इन्हें अतिशय आदर-सम्मान एवं पवित्रताकी दृष्टिसे देखता है। इनकी महनीयता तो स्वतःसिद्ध है।

ये वेद अनादि और अपौरुषेय हैं, साक्षात्कृतधर्मा ईश्वरके निःश्वासभूत हैं—'**यस्य निःश्वसितं वेदाः।**' वस्तुतः ये ईश्वरप्रदत्त ज्ञानके निष्पादक हैं। वेद शब्दकी व्युत्पत्ति ही '**विद ज्ञाने**' धातुसे हुई है। इनमें ज्ञान-विज्ञानके साथ-साथ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक समस्त पक्षोंका प्रतिपादन है। ये तपःपूत ब्रह्मनिष्ठ मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंद्वारा उनके अपने तपोबलसे अनुभूत हैं।

वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंके प्रतिपादक हैं। ये वेद भी अङ्गोंके द्वारा ही व्याख्यात होते हैं, अतः वेदाङ्गोंका अतिशय महत्त्व है।

काव्यशास्त्रमें 'अङ्ग' शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है उपकार करनेवाला अर्थात् वेदोंके वास्तविक अर्थका भलीभाँति दिग्दर्शन करानेवाला। जैसा कि कहा गया है—'**अङ्ग्यन्ते=ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि**' अर्थात् जिन उपकरणोंसे किसी तत्त्वके परिज्ञानमें सहायता प्राप्त होती है, वे 'अङ्ग' कहलाते हैं। निष्कर्ष यह है कि वेदोंके अर्थ-ज्ञानमें और उनके कर्मकाण्डके प्रतिपादनमें भरपूर सहायता प्रदान करनेमें जो सक्षम और सार्थक शास्त्र हैं, उन्हें ही विद्वान् 'वेदाङ्ग'के नामसे व्यवहृत करते हैं। वेदाङ्ग छः प्रकारके होते हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष।

वेद-मन्त्रोंका समुचित रूपसे उच्चारण करना प्रथमतः परमावश्यक है। अतः इस निमित्त जो व्यवहारमें आनेवाली पद्धति है, वही वेदाङ्गकी 'शिक्षा' कही जाती है। वेदका मुख्य प्रयोजन है—वैदिक कर्मकाण्ड, जिससे यज्ञ-यागादिका यथार्थ अनुष्ठान किया जाता है। इस प्रयोजनके लिये प्रवृत्त जो अङ्ग है, उसे 'कल्प' कहते हैं। कल्पका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है—यज्ञ-यागके प्रयोगोंका समर्थक शास्त्र। जैसा कि कहा गया है—

'**कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र इति कल्पः।**'

इसी प्रकार व्याकरण शास्त्रका वेदाङ्गत्व-प्रयोजन इसलिये सिद्ध है कि वह पदोंका, प्रकृतिका और प्रत्ययका विवरण प्रस्तुत कर पदके यथार्थ स्वरूपका परिचय देता है। साथ ही अर्थका विश्लेषण भी करता है—

'**व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।**'

—इस प्रयोजनके लिये व्याकरणकी उपयोगिता निर्विवाद है।

चौथे अङ्ग निरुक्तका कार्य है—पदोंका निरुक्ति-कथन और व्युत्पत्ति-प्रदर्शन। निरुक्तिकी विभिन्नतासे अर्थमें भी भिन्नता होती है। अतः अर्थ-निरूपण-प्रसंगमें इसकी वेदाङ्गता सिद्ध होती है।

दूसरी बात यह कि वेद छन्दोमयी वाणीमें हैं। अतः छन्दके परिचयके बिना वेदार्थका ज्ञान कैसे हो सकता है। परिज्ञान प्राप्त होनेपर ही मन्त्रोंका समुचित उच्चारण और पाठका सुस्पष्ट ज्ञान होगा।

इसी प्रकार छठा वेदाङ्ग ज्योतिष शास्त्र है, जिसे प्रत्यक्ष शास्त्र कहा गया है—'**प्रत्यक्षं ज्यौतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ**' अर्थात् ज्योतिष शास्त्र प्रत्यक्ष है, चन्द्र और सूर्य इसके साक्षी हैं। यह शास्त्र यज्ञ-यागादिके समुचित समयका निरूपण करता है। जैसे—श्रौतयागका अनुष्ठान किसी विशिष्ट ऋतु और किसी विशिष्ट नक्षत्रमें करनेका विधान है। साथ ही विवाहादि गृह्यकर्मके लिये नक्षत्रोंका ज्ञान हम ज्योतिष शास्त्रसे ही प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार संक्षेपमें यह कथन समीचीन होगा कि मन्त्रोंके समुचित उच्चारणके लिये शिक्षाका, कर्मकाण्डीय यज्ञ-यागादि अनुष्ठानके लिये कल्पका, शब्दस्वरूप और व्युत्पत्ति-ज्ञानके लिये व्याकरणशास्त्रका, समुचित अर्थज्ञानके

लिये—शब्दोंके स्फोटनपूर्वक निर्वचन एवं निरुक्तिके लिये निरुक्तका, वैदिक छन्दोंके यथार्थ ज्ञानके लिये छन्दका और विविध अनुष्ठानोंके काल-ज्ञानके लिये ज्यौतिषका समुचित उपयोग होनेके कारण विद्वद्वर्ग इन्हें 'वेदाङ्ग' कहते हैं।

शिक्षा

वेदोंके प्राणभूत वेदाङ्गोंमें शिक्षाका प्राथमिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान है। यह शिक्षा वेदपुरुषका घ्राण (नाक) है—**'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य।'** जिस प्रकार पुरुष सभी अङ्गोंके यथास्थिति रहनेपर एवं मुख-सौन्दर्य आदिसे परिपुष्ट होनेपर भी घ्राण (नाक)-के बिना चमत्कारपूर्ण स्वरूपको नहीं प्राप्त करता है, निन्दित ही होता है,उसी प्रकार वेदपुरुषका स्वरूप शिक्षारूपी घ्राणके बिना अत्यन्त अशोभनीय और विकृत आकारवाला दिखायी देगा।

शिक्षाका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए वेद-भाष्यकार सायणाचार्यजी कहते हैं—**'स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा'** अर्थात् स्वर एवं वर्ण आदिके उच्चारण-प्रकारकी जहाँ शिक्षा दी जाती हो, उपदेश दिया जाता हो, उसे 'शिक्षा' कहते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि वेदाङ्गोंमें उस शास्त्रको शिक्षा कहते हैं, जिससे ऋग्वेद आदि वेद-मन्त्रोंका अविकल यथास्थिति विशुद्ध उच्चारण हो।

इस महनीय शिक्षा-शास्त्रका प्रयोजन तैत्तिरीयोपनिषद्में इस प्रकार वर्णित है—**'अथ शीक्षां व्याख्यास्यामः—वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, संतान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः'** अर्थात् वर्ण इस पदसे अकारादिका, स्वरसे उदात्तादिका, मात्रासे ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतका, बलसे स्थान-प्रयत्नका, सामसे निषाद आदि स्वरका और संतानसे विकर्षण आदिका ग्रहण होता है। संक्षेपमें यही शिक्षाका प्रयोजन है। इसका विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि वेदाध्ययनकी अच्छी प्राचीन प्रणाली यह है कि प्रारम्भमें गुरु (शिक्षक) किसी मन्त्रका सस्वर उच्चारण स्वयं करे, तत्पश्चात् शिष्य सावधानीसे सुनकर और अवधारणा करके उसका उच्चारण—अनुसरण करे। अतएव वेदका एक नाम 'अनुश्रव' भी है अर्थात् अनु—पश्चात् जो सुना जाय वह है 'अनुश्रव'। इसीलिये कहा गया—**'गुरोर्मुखादनुश्रूयते इति अनुश्रवो वेदः।'**

वेदके समुचित उच्चारणके लिये स्वरका ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित होता है। मुख्यतः स्वर तीन होते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। ऊँचे स्वरमें उच्चारणके कारण उदात्त, मन्द स्वरमें उच्चारण होनेसे अनुदात्त और दोनोंके समावेशसे उच्चरित होनेके कारण स्वरित कहा गया है।

प्रायः देखा जाता है कि वेदके प्रत्येक शब्दमें उदात्त स्वर अवश्य रहता है, शेष स्वर अनुदात्त होते हैं। इन अनुदात्तोंमेंसे कुछ अनुदात्त स्वर विशेष अवस्थामें स्वरित हो जाते हैं। वेदमें स्वर-प्रधानताका मुख्य कारण है अर्थका नियमन। यहाँ तात्पर्य यह है कि शब्दके एकत्व होनेपर भी स्वरके भेदसे उनमें अर्थ-भेद हो जाता है। स्वरमें एक सामान्य त्रुटि भी यदि हो जाती है तो अर्थान्तर अथवा अनर्थ हो जायगा। अतएव यज्ञका विधिपूर्वक निर्वाह करना कठिन हो जायगा। अतः स्वरका सावधानीपूर्वक व्यवहार करना चाहिये; क्योंकि यथार्थ उच्चारणके लिये प्रत्येक वेदकी अपनी-अपनी शिक्षा है। जिन शिक्षाओंमें वेदानुकूल शिक्षाका विधान है।

कल्प

विपुल वेदाङ्ग-साहित्यमें कल्पका दूसरा स्थान है। कहीं-कहीं इतिहासमें यह तीसरे स्थानमें भी चर्चित है। वैदिक साहित्यमें इसका अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान है। कल्पकी प्रयोजनीयताका अनुभव तब हुआ, जब शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थोंमें यज्ञ-यागादिके कर्मकाण्डीय व्यवस्थामें विस्तार होनेसे उसके व्यवहारमें कठिनताकी अनुभूति होने लगी। उसकी पूर्तिके लिये कल्पसूत्रोंकी प्रतिशाखामें रचना हुई। ऋग्वेद प्रातिशाख्यके वर्गद्वय-वृत्तिमें कल्पके विषयमें कहा गया है—**'कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना शास्त्रम्'** अर्थात् कल्प वेद-प्रतिपादित कर्मोंका भलीभाँति विचार प्रस्तुत करनेवाला शास्त्र है। इसीलिये इसे वेदका हाथ कहा गया है—**'हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।'**

निष्कर्ष यह है कि जिन यज्ञ-यागादि विधानोंका, विवाह-उपनयन आदि कर्मोंका महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थोंमें किया गया है, उन सूत्र-ग्रन्थोंका नाम है—'कल्प'। इसकी प्राचीनताके विषयमें ऐतरेयारण्यकमें विपुल प्रमाण हैं।

कल्पसूत्रकी व्युत्पत्ति और व्यापकता—

सामान्य नियमके अनुसार कल्प और सूत्र इन दोनों शब्दोंमें संयोगसे कल्पसूत्रकी रचना होती है। कल्प वह विलक्षण शब्द है, जो किसी विशिष्ट अर्थको प्रकट करता है। वह विलक्षण अर्थ है—विधि, नियम, न्याय, कर्म और आदेशके अर्थमें प्रयुक्त परिव्याप्ति। इसी प्रकार 'सूत्र' शब्दका विशिष्ट अर्थ होता है—संक्षेप।

सूत्र-रचनाका उद्देश्य—

वैदिक वाङ्मयके इतिहासमें कल्पसूत्रोंका आविर्भाव नवीन युगका सूत्रपात है। यह भी एक विशिष्ट उद्देश्य था कि प्राचीन वैदिक युगमें उसके साहित्यका विस्तार दुर्गम और रहस्यमय होनेसे उसका यथार्थ ज्ञान कठिन था, उसी दुरूहताको दूर करनेके लिये सूत्र-युगका आविर्भाव हुआ।

कल्पसूत्रोंके भेद—

कल्पसूत्रोंके मुख्यत: तीन भेद होते हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। किन्हींके मतमें चौथा भेद भी है। वे शुल्बसूत्रको भी कल्पसूत्रोंमें ही मानते हैं, परंतु इसमें 'ज्यामिति आदि विज्ञान'के समन्वित होनेके कारण इसे पृथक् कहा गया है।

श्रौतसूत्रोंमें श्रुति-प्रोक्त चौदह यज्ञोंका मुख्य रूपसे कर्तव्य-विधान है। इनमें ऋग्वेदके आश्वलायन और शांखायन दो श्रौतसूत्र हैं। इसी प्रकार गृह्यसूत्रोंमें आश्वलायन और पारस्कर गृह्यसूत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। वैसे प्रत्येक वेदके अलग-अलग गृह्यसूत्र हैं। धर्मसूत्रोंमें चारों वर्णोंके कर्तव्यकर्म और व्यवहारके साथ राजधर्मका वर्णन मुख्य है। इनमें मानव-धर्मसूत्र, जिसके आधारपर मनुस्मृतिकी रचना हुई, अभी भी अनुपलब्ध है। प्राप्त धर्मसूत्रोंमें—गौतम-धर्मसूत्र, बौधायन-धर्मसूत्र, आपस्तम्ब-धर्मसूत्र, हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र, वसिष्ठ-धर्मसूत्र, वैखानस-धर्मसूत्र और विष्णु-धर्मसूत्र आदि मुख्य हैं। ये वेदोंके अनुपूरक हैं।

व्याकरण

वेदके छ: अङ्गोंमें व्याकरणशास्त्र तीसरा अङ्ग है और वह वेदपुरुषका प्रमुख अङ्ग है। पाणिनीय शिक्षामें '**मुखं व्याकरणं स्मृतम्**' कहा गया है। मुख होनेके कारण व्याकरणशास्त्रका मुख्यत्व स्वयंसिद्ध है।

व्याकरणका प्रयोजन—

किसी भी शास्त्रके अध्ययनके लिये यह आवश्यक होता है कि उस शास्त्रका प्रयोजन जाने; क्योंकि प्रयोजनके बिना किसी कार्यमें मन्द पुरुषकी भी प्रवृत्ति नहीं होती—'**प्रयोजनमनुद्दिश्य मूढोऽपि न प्रवर्तते**।' अत: उस शास्त्रका प्रयोजन-ज्ञान आवश्यक होता है। आचार्य कुमारिल भट्टने अपने श्लोकवार्तिकमें ठीक ही कहा है—

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते॥

अर्थात् सब शास्त्र या किसी कर्मका जबतक प्रयोजन न कहा जाय, तबतक उसमें किसीकी प्रवृत्ति कैसे होगी? यह ठीक है, किंतु इस विषयमें श्रुति कहती है कि '**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च**' अर्थात् ब्राह्मण (द्विजमात्र)-के द्वारा अनिवार्य संध्या-वन्दनादिकी तरह धर्माचरण तथा षडङ्ग वेदोंका अध्ययन एवं मनन किया जाना चाहिये। फिर भी मुनिवर कात्यायनने प्रयोजनका उद्देश्य बतलाते हुए कहा—'**रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः व्याकरणप्रयोजनम्**' अर्थात् रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असंदेह—ये व्याकरण-अध्ययनके प्रयोजन हैं।

रक्षा—इस विषयमें भाष्यकार पतञ्जलिने कहा है कि 'वेदोंकी रक्षाके लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। लोप, आगम और वर्ण-विकारको जाननेवाला ही वेदोंकी रक्षा कर सकेगा।' कहनेका अभिप्राय यह है कि व्याकरणके नियमानुसार वर्ण-लोपादिके ज्ञानके बिना शास्त्रोंके आकर-स्वरूप वेदका परिपालन नहीं हो सकता। इतना ही नहीं; कात्यायन और पतञ्जलिका मत है कि व्याकरण-ज्ञानके अभावमें मन्त्रोंमें विकार उत्पन्न होगा। निष्कर्ष यह है कि व्याकरण पुरुषार्थका साधक उपाय है, क्योंकि वेदार्थ-ज्ञान, कर्मानुष्ठानजनित और उपनिषद्-जनित सुख वस्तुत: व्याकरण-अध्ययनका ही फल है।

ऊह—ऊहका अर्थ होता है तर्क-वितर्क अर्थात् नूतन पदोंकी कल्पना। मीमांसकोंका कहना है कि यह विषय तो मीमांसा-शास्त्रका है। इस विषयमें भाष्यकार पतञ्जलिका मत है कि 'वेदमें जो मन्त्र कथित हैं, वे सब लिङ्गों एवं विभक्तियोंमें नहीं हैं। अत: उन मन्त्रोंमें

यज्ञमें अपेक्षित रूपसे लिङ्ग और विभक्तिका व्यतिहार करना चाहिये और यह दुष्कर कार्य वैयाकरणके द्वारा ही सम्भव है। अतः व्याकरण अवश्य पढ़ना चाहिये।'

आगम—व्याकरणके अध्ययनके लिये स्वयं श्रुति ही प्रमाणभूत है। श्रुति कहती है कि ब्राह्मण (द्विज)-का अनिवार्य कर्तव्य है कि वह 'निष्कारणधर्मका आचरण तथा अङ्गसहित वेदका अध्ययन करे। वेदके षडङ्गोंमें व्याकरण ही मुख्य है। मुख्य विषयमें किया गया प्रयत्न विशेष फलवान् होता है। अतः श्रुति-प्रामाण्यको ध्यानमें रखकर व्याकरणका अध्ययन करना चाहिये।'

लघु—इस विषयमें श्रुति कहती है कि देवगुरु बृहस्पतिने इन्द्रको दिव्य सहस्र वर्षपर्यन्त अध्यापन किया, फिर भी विद्याका अन्त नहीं हुआ। संक्षेपीकरणकी आवश्यकता थी। अतएव महर्षि पतञ्जलिने कहा कि शास्त्रका लघुता-सम्पादन भी व्याकरणका प्रयोजन है।

असंदेह—व्याकरण-प्रयोजनके विषयमें अन्तिम कारण है—असंदेह। संदेहको दूर करनेके लिये व्याकरणका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। जैसे—'**स्थूलपृषतीम्**' यहाँ बहुव्रीहि समास होगा अथवा तत्पुरुष? यही संदेहका स्थान है। निष्कर्ष यह है कि अवैयाकरण मन्त्रोंके स्वर-विचारमें कदापि समर्थ नहीं हो सकेगा, इसलिये व्याकरणशास्त्र सप्रयोजन है। भले ही मीमांसक इस विषयमें आक्षेप करते हों। वैयाकरण तो स्पष्टरूपसे कहते हैं—

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत्॥

अर्थात् हे पुत्र! तुमने अनेक अन्य शास्त्रोंका तो अध्ययन किया, फिर भी व्याकरणशास्त्र अवश्य पढ़ो, जिससे तुम्हें शब्दोंका यथार्थ ज्ञान हो सके।

महर्षि पतञ्जलिने तो उपर्युक्त प्रयोजनोंके अतिरिक्त म्लेच्छता-निवारणको भी प्रयोजन कहा है, जिससे अपशब्दोंका प्रयोग सम्भव न हो। इस विषयमें शतपथ-ब्राह्मण भी सहमत है। अतः व्याकरणका अध्ययन सप्रयोजन है, क्योंकि कहा गया है—'**एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति**' अर्थात् एक शब्दका भी अच्छी तरहसे ज्ञान प्राप्त करके यदि शास्त्रानुसार उसका प्रयोग किया जाय तो स्वर्गलोकमें तथा इस लोकमें सफलता प्राप्त होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि ऐन्द्र आदि आठ व्याकरणोंमें कौन-सा व्याकरण वेदाङ्गका प्रतिनिधित्व करता है। आजकल प्रचलित और प्राप्त व्याकरणोंमें पाणिनीय व्याकरण ही प्राचीनतम है। साथ ही अन्य व्याकरणोंमें पाणिनीय व्याकरण अधिक लोक-प्रचलित और लोकप्रिय है। अतः प्राचीन तथा सर्वाङ्गपूर्ण होनेके कारण पाणिनीय व्याकरण ही वेदाङ्गका प्रतिनिधित्व करता है। इससे ऐन्द्र आदि व्याकरणोंकी प्राचीनताके विषयमें कोई संदेह नहीं करना चाहिये।

निरुक्त

छः वेदाङ्गोंमें निरुक्त चौथे स्थानपर है, जो कि वेद-पुरुषका श्रोत्र (कान) कहा गया है—'**निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।**' इस विषयमें वेद-भाष्यकार सायणाचार्य अपनी चतुर्वेद-भाष्य-भूमिकामें कहते हैं कि '**अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्**' अर्थात् अर्थ-ज्ञानमें निरपेक्षतासे पदोंकी व्युत्पत्ति जहाँ कही गयी है, वह निरुक्त है। निरुक्तकी शाब्दिकी निरुक्ति होगी—निःशेषरूपसे जो कथित हो, वह निरुक्त है। अतः जहाँ शिक्षा आदि वेदाङ्ग वेदके बाह्य तत्त्वोंका निरूपण करते हैं, वहीं निरुक्त वेद-विज्ञानके आन्तरिक स्वरूपको स्पष्टतः उद्घाटित करता है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि दूसरे वेदाङ्ग प्रायः विभिन्न सूत्रोंमें लिखे गये हैं, किंतु यह निरुक्त गद्य-शैलीमें लिखित है। दूसरी बात यह भी है कि वेदार्थको यथार्थरूपसे जाननेमें निघण्टुके अनन्तर निरुक्तका ही प्रमाण है। निरुक्त निघण्टुकी भाष्यभूत टीका है। निघण्टुमें वेदके कठिन शब्दोंका समुच्चय है। इसे वैदिक कोश भी कह सकते हैं। निघण्टुकी संख्याके विषयमें पर्याप्त मतभेद है। अभी उपलब्ध निघण्टु एक ही है और इसके ऊपर महर्षि यास्क-विरचित निरुक्त है। कुछ विद्वान् ऋषिप्रवर यास्कको ही निघण्टुका भी रचयिता मानते हैं, किंतु प्राचीन परम्पराके अनुशीलनसे यह धारणा प्रमाणित नहीं होती। निरुक्तके प्रारम्भमें निघण्टुको 'समाम्नाय' कहा गया है। इस शब्दकी जो व्याख्या दुर्गाचार्य महाशयने की है, उस व्याख्यासे तो उसकी प्राचीनता ही सिद्ध होती है। महाभारतके मोक्षधर्मपर्वमें प्रजापति कश्यप इस

निघण्टुके रचयिता कहे गये हैं। निघण्टुमें पाँच अध्याय हैं। उनमें एकसे तीन अध्यायतक नैघण्टुककाण्ड, चौथा अध्याय नैगमकाण्ड और पाँचवाँ अध्याय दैवतकाण्ड है। अभी निघण्टुकी एक ही व्याख्या प्राप्त होती है, जिसके व्याख्याकार हैं 'देवराजयज्वा'।

निरुक्तकाल—

ऐतिहासिक दृष्टिसे निघण्टुकालके बाद ही निरुक्तकाल माना जाता है। इसी युगमें निरुक्तका वेदाङ्गत्व सिद्ध होता है। दुर्गाचार्यकृत दुर्गवृत्तिके अनुसार निरुक्तोंकी संख्या चौदह थी। यास्कके उपलब्ध निरुक्तमें बारह निरुक्तकारोंका उल्लेख है। सम्प्रति यास्क-विरचित यही निरुक्त वेदाङ्गका प्रतिनिधि-स्वरूप ग्रन्थ है। निरुक्तमें बारह अध्याय हैं और अन्तमें परिशिष्टरूप दो अध्याय हैं। इस प्रकार समग्र ग्रन्थ चौदह अध्यायोंमें विभक्त है।

यास्ककी प्राचीनताके विषयमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। ये महर्षि पाणिनिसे भी प्राचीन हैं। महाभारतके शान्तिपर्वमें निरुक्तकारके रूपमें यास्कका स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

निरुक्तमें वैदिक शब्दोंकी निरुक्ति है। निरुक्ति-शब्दका अर्थ है 'व्युत्पत्ति'। निरुक्तका यह सर्वमान्य मत है कि प्रत्येक शब्द किसी-न-किसी धातुके साथ अवश्य सम्बद्ध रहता है। अतः निरुक्तकार शब्दोंकी व्युत्पत्ति प्रदर्शित कर धातुके साथ विभिन्न प्रत्ययोंका निर्देश देते हैं। निरुक्तके अनुसार सभी शब्द व्युत्पन्न हैं अर्थात् वे सभी शब्द किसी-न-किसी धातुसे निर्मित हैं। वैयाकरण शाकटायनका भी यही मत है कि सभी शब्द धातुसे उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक संज्ञापदके धातुसे व्युत्पन्न होनेके कारण यह आधार नितान्त वैज्ञानिक है। आजकल इसीका नाम 'भाषा-विज्ञान' है। इस विज्ञानकी उन्नति पाश्चात्त्य जगत्‌में लगभग सौ वर्षके भीतर ही हुई है। जबकि आजसे तीन हजार वर्ष-पूर्व वैदिक ऋषियोंके द्वारा इस शास्त्रके सिद्धान्तोंका वैज्ञानिक-रीतिसे निरूपण किया गया था।

निरुक्त और व्याकरणका सामञ्जस्य—

निरुक्तप्रणेता यास्काचार्यने निरुक्तके प्रथम अध्यायमें कहा है कि '**तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्।**' इसी कारण वेदोंके सम्यक् ज्ञान और अध्ययनके लिये निरुक्त तथा व्याकरण—इन दोनोंकी साहचर्यरूपसे आवश्यकता होती है। व्याकरणका मुख्य प्रयोजन है शब्दोंका शुद्धीकरण। निरुक्त व्याकरणके सभी प्रयोजनोंको तो सिद्ध करता ही है, किंतु इसकी मुख्य विशेषता है शब्दार्थका विवेचन करना। निरुक्त साधित शब्दों—धातुओंकी एक विलक्षण कल्पना करके मौलिक अर्थके अन्वेषणमें सतत प्रयत्नशील रहता है। दूसरी बात यह है कि निरुक्तसे धातु-पाठके सभी अर्थ उत्पन्न होते हैं, किंतु धातुओंके परिज्ञानके लिये निरुक्त भी व्याकरणके अधीन है। अतः दोनोंका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

छन्द

छन्द वेदका पाँचवाँ अङ्ग है। पाणिनीय शिक्षामें कहा गया है कि '**छन्दः पादौ तु वेदस्य**' अर्थात् छन्द वेदपुरुषके पैर हैं। जिस प्रकार पाद (पैर)-से हीन मनुष्य लँगड़ा कहा जाता है, उसी प्रकार छन्दोंसे हीन वेदपुरुष लँगड़ा होता है। अतः वेद-मन्त्रोंके उच्चारणके लिये छन्दोंका ज्ञान आवश्यक है। छन्दोंके ज्ञानके अभावमें मन्त्रोंका उच्चारण और पाठ समुचितरूपसे नहीं हो पाता। प्रत्येक सूक्तमें देवता, ऋषि और छन्दका ज्ञान आवश्यक होता है। महर्षि कात्यायनका यह सुस्पष्ट मत है कि जो वेदपाठी अथवा याजक (यज्ञ करनेवाला) छन्द, ऋषि और देवताके ज्ञानसे हीन होकर मन्त्रका अध्ययन, अध्यापन या यजन करता है, उसका वह प्रत्येक कार्य निष्फल ही होता है। जैसा कि सर्वानुक्रमणी (१। १)-में कहा गया है—

'**यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पात्यते वा पापीयान् भवति।**'

वेदाङ्गमें उपयुक्त मुख्य छन्दोंके नाम संहिता और ब्राह्मणग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं। जिससे प्रतीत होता है कि इस अङ्गकी उत्पत्ति वैदिक युगमें ही हुई। इस पाँचवें वेदाङ्गका आधार-ग्रन्थ है पिङ्गलाचार्यकृत 'छन्दःसूत्रम्'।

इस महनीय ग्रन्थ 'छन्दःसूत्रम्'के रचयिता आचार्य पिङ्गल हैं। यह ग्रन्थ सूत्ररूपमें है और आठ अध्यायोंमें विभक्त है। प्रारम्भसे चौथे अध्यायके सातवें सूत्रतक वैदिक छन्दोंके लक्षण हैं। तदनन्तर लौकिक छन्दोंका वर्णन है।

प्रचलित लौकिक काव्योंमें छन्द और पादबद्धताका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि पद्योंमें ही छन्दोंकी योजना होती है और गद्य छन्दरहित होते हैं, परंतु वैदिक छन्दके विषयमें यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। प्राचीन आर्य-परम्पराके अनुसार गद्य भी छन्दयुक्त माना जाता है। दुर्गाचार्यने निरुक्तकी वृत्तिमें लिखा है कि छन्दके बिना वाणी उच्चरित नहीं होती। यथा—'**नाच्छन्दसि वागुच्चरति**।'

भरतमुनि भी छन्दसे रहित शब्दको स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है—

छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम्।

कात्यायनमुनिने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि वेदका ऐसा कोई मन्त्र नहीं है, जो छन्दोंके माध्यमसे न बना हो। फलतः यजुर्वेदके मन्त्र भी जो निश्चय ही गद्यात्मक हैं, वे छन्दोंसे रहित नहीं हैं। अतएव प्राचीन आचार्योंने एक अक्षरसे लेकर १०४ अक्षरोंतकके छन्दोंका विधान अपने ग्रन्थोंमें किया है।

'छन्द' शब्दकी व्युत्पत्ति—

महर्षि यास्कने '**छन्द**' शब्दकी व्युत्पत्ति '**छद्**' धातुसे की है। '**छन्दांसि छन्दः**' इस कथनका अभिप्राय यह है कि ये छन्द वेदके आवरण हैं, आवरणके साधन हैं।

वैदिक छन्द—

वैदिक छन्दोंकी यह विशेषता है कि ये अक्षर-गणनामें नियत होते हैं अर्थात् अक्षरोंसे गुरु-लघुके क्रमका कोई विशेष नियम नहीं रहता। अतएव कात्यायनने सर्वानुक्रमणीमें इसका लक्षण किया है—'**यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः**।' यहाँ यह ध्यातव्य है कि अनेक शताब्दियोंके अनन्तर वैदिक छन्दोंसे ही लौकिक छन्दोंका आविर्भाव हुआ। लौकिक छन्दोंमें चार पाद होते हैं और वैदिक छन्दोंमें ऐसा कोई नियम नहीं है। वेदप्रयुक्त छन्दोंमें कहीं लघु-गुरु मात्राओंका अनुगमन नहीं है। वहाँ केवल अक्षरोंकी गणना होती है, जिससे समस्त वैदिक छन्द अक्षरोंपर ही आश्रित हैं। अक्षरसे यहाँ तात्पर्य स्वरसे है।

वैदिक छन्दोंके मुख्य भेद—

वैदिक छन्दोंके मुख्य भेदोंके विषयमें ऐकमत्य नहीं है, परंतु समस्त वैदिक छन्दोंकी संख्या २६ है। इनमें प्राथमिक ५ छन्द वेदमें अप्रयुक्त हैं। उनको छोड़कर अवशिष्ट छन्दोंको हम तीन सप्तकोंमें बाँट सकते हैं। प्रयुक्त छन्दोंमें गायत्री प्रथम छन्द है, जिसके प्रत्येक पादमें ६ अक्षर होते हैं। अतः प्रथम सप्तक गायत्रीसे प्रारम्भ होता है। इसके पूर्वके पाँच छन्द '**गायत्री पूर्वपञ्चक**' के नामसे विख्यात हैं। उनके नाम हैं—(१) मा (अ० सं० ४), (२) प्रमा (अ० सं० ८), (३) प्रतिमा (अ० सं० १२), (४) उपमा (अ० सं० १६) और (५) समा (अ० सं० ३०)— ये नाम ऋक् प्रातिशाख्यके अनुसार हैं। अन्य ग्रन्थोंमें इनसे भिन्न नाम हैं, जैसे—भरतमुनिके नाट्यशास्त्रमें उनके क्रमानुसार नाम ये हैं—उक्त, अत्युक्त, मध्यम, प्रतिष्ठा और सुप्रतिष्ठा। प्रथम सप्तकके सात छन्दोंके नाम हैं—गायत्री (२४ अक्षर), उष्णिक् (२८ अक्षर), अनुष्टुप् (३२ अक्षर), बृहती (३६ अक्षर), पंक्ति (४० अक्षर), त्रिष्टुप् (४४ अक्षर) और जगती (४८ अक्षर)।

इस प्रकार संक्षेपमें वैदिक छन्दोंका विवरण उपस्थित किया गया है। विस्तारसे 'पिङ्गलछन्दःसूत्र' में देखना चाहिये।

ज्यौतिष

वेदाङ्गोंमें ज्यौतिष छठा और अन्तिम वेदाङ्ग है। जिस प्रकार व्याकरण वेदपुरुषका मुख है, उसी प्रकार ज्यौतिषको उसका नेत्र कहा गया है—'**ज्योतिषामयनं चक्षुः**।' नेत्रोंके बिना जिस प्रकार कोई मनुष्य स्वयमेव एक पैर भी नहीं चल सकता, उसी प्रकार ज्यौतिष शास्त्रके बिना वेदपुरुषमें अन्धता आ जाती है। वेदकी प्रवृत्ति विशेषरूपसे यज्ञ-सम्पादनके लिये होती है। यज्ञका विधान विशिष्ट कालकी अपेक्षा करता है। यज्ञ-यागके सम्पादनके लिये समय-शुद्धिकी विशेष आवश्यकता होती है। कुछ कर्मकाण्डीय विधान ऐसे होते हैं, जिनका सम्बन्ध संवत्सरसे होता है और कुछका ऋतुसे। यहाँ आशय यह है कि निश्चितरूपसे नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सरके समस्त अंशोंके साथ यज्ञ-यागके विधान वेदोंमें प्राप्त होते हैं। अतः इन नियमोंके पालनके लिये और निश्चितरूपसे निर्वाहके लिये ज्यौतिष शास्त्रका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये विद्वान् ज्यौतिषको '**कालविज्ञापक शास्त्र**' कहते हैं; क्योंकि मुहूर्त निकालकर की जानेवाली यज्ञादि-क्रिया-विशेष फलदायिका होती है। अतएव वेदाङ्ग ज्यौतिषका विशेष आग्रह है कि जो मनुष्य ज्यौतिष शास्त्रको अच्छी तरह जानता है, वही

यज्ञके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान रखता है। वेदाङ्ग ज्योतिषका यह डिण्डिम घोष मनुष्योंको प्रेरित करता है कि—

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः
कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं
यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्॥

यज्ञकी सफलता केवल समुचित विधानसे ही नहीं होती, प्रत्युत उचित निर्दिष्ट नक्षत्रमें और समुचित कालमें प्रयोगसे ही होती है।

ज्योतिषका वेदाङ्गत्व—

वैदिक यज्ञ-विधानके लिये ज्योतिषके अतिशय महत्त्वको स्वीकार कर सुविख्यात ज्योतिष-मार्तण्ड भास्कराचार्यने अपने 'सिद्धान्तशिरोमणि' नामक ग्रन्थमें स्पष्ट घोषित किया कि—

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः
प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद्
वेदाङ्गत्वं ज्यौतिषस्योक्तमस्मात्॥

अर्थात् वेद यज्ञकर्ममें प्रवृत्त होते हैं और यज्ञ कालके आश्रित होते हैं तथा ज्योतिष शास्त्रसे कालज्ञान होता है, इससे ज्यौतिष शास्त्रका वेदाङ्गत्व सिद्ध होता है।

प्राचीन समयमें चारों वेदोंका अलग-अलग ज्यौतिष शास्त्र था, उनमें अभी सामवेदका ज्यौतिष उपलब्ध नहीं है, अवशिष्ट तीन वेदोंके ज्यौतिष प्राप्त होते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) ऋग्वेद-ज्यौतिष—आर्च ज्यौतिष, ३६ पद्यात्मक।

(२) यजुर्वेद-ज्यौतिष—याजुष ज्यौतिष, ३९ पद्यात्मक।

(३) अथर्ववेद-ज्यौतिष—आथर्वण ज्यौतिष, १६२ पद्यात्मक।

वस्तुतः आर्च ज्यौतिष और याजुष ज्यौतिषमें समानता ही प्रतीत होती है, क्योंकि दोनोंमें अनेकत्र समता है। कहीं-कहीं इतिहासमें दो ज्यौतिषोंका ही उल्लेख मिलता है। आथर्वण ज्यौतिषकी चर्चा ही नहीं है। संख्याके विषयमें भी मतैक्य नहीं है। याजुष ज्यौतिषकी पद्य-संख्या ऊपर ३९ कही गयी है, कहीं-कहीं ४९ है। इसी प्रकार आथर्वण ज्यौतिषके स्थानपर 'अथर्व ज्यौतिष' यह नाम भी मिलता है।

उपर्युक्त विवेचनसे वेदोंके अध्ययन-मनन-चिन्तन एवं वेदार्थके सम्यक् बोध तथा गूढ वैदिक रहस्योंके ख्यापनमें वेदाङ्गोंकी अपरिहार्य निरतिशय महत्ता स्वयमेव प्रतिपादित है।

वैदिक साहित्यका परिचय
'कल्पसूत्र'

(पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

'कल्प' शब्दके कितने ही अर्थ हैं—विधि, नियम और न्याय आदि। थोड़े अक्षरोंवाले, साररूप तथा निर्दोष वाक्यका नाम सूत्र है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विधियों, नियमों अथवा न्यायोंके जो संक्षिप्त, सारवान् और दोषशून्य वाक्यसमूह हैं, उनका नाम कल्पसूत्र है। कल्पसूत्रोंको वेदाङ्ग भी कहा जाता है। मतलब यह कि कल्पसूत्र वेदोंके अंश या हिस्से हैं।

वस्तुतः हिंदुत्व, हिंदू-धर्म और हिंदू-संस्कृतिके प्राण कल्पसूत्र ही हैं। हिंदू-धर्म ही क्या, संसारके सभी प्रसिद्ध धर्मोंकी जड़ कर्मकाण्ड है—उनका मूल क्रियात्मक रूप ही है। कल्पसूत्रोंकी तो आधारशिला ही कर्मकाण्ड है तथा हिंदू-धर्मके सारे कर्म, सब संस्कार, निखिल अनुष्ठान और समूचे रीति-रस्म प्रायः कल्पसूत्रोंसे ही उत्पन्न हैं। इसलिये हिंदू-जीवनके समस्त नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निष्काम कर्म, सारी क्रियाएँ, सम्पूर्ण संस्कृति तथा अशेष अनुष्ठान समझनेके लिये एकमात्र अवलम्ब ये सूत्र ही हैं। प्राचीन हिंदुओंके सामाजिक आचार-विचार, उनकी जीवनचर्या और उनके कर्मानुष्ठान आदिको ये सूत्र बड़ी ही सुन्दरता और प्राञ्जलतासे बताते हैं। धर्मानुष्ठानोंमें मानव-वृत्तियोंको संलग्न करना तथा धार्मिक विधियों और नियमोंमें व्यक्तियों और समाजका जीवन संयत करना, इन सूत्रोंका खास उद्देश्य है और सचमुच नियमबद्ध एवं संयत करके इन सूत्रोंने हिंदू-जीवन और समाजको दिव्य तथा भव्य बनानेमें बड़ी सहायता की है।

कल्पसूत्र तीन तरहके होते हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। वैदिक संहिताओंमें कहे गये यज्ञादि-

विषयक विधान और विवरण देनेवाले सूत्रोंको 'श्रौतसूत्र' कहा जाता है। गृहस्थके जन्मसे लेकर मृत्युतकके समस्त कर्तव्यों और अनुष्ठानोंका जिनमें वर्णन है, उन्हें 'गृह्यसूत्र' नाम दिया गया है। विभिन्न पारमार्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कर्तव्यों, आश्रमों, विविध जातियोंके कर्तव्यों, विवाह, उत्तराधिकार आदिका जिनमें विवरण है, उनकी संज्ञा 'धर्मसूत्र' है। पातञ्जल महाभाष्य (पस्पशाह्निक)-में लिखा है—ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १०१, सामवेदकी १,००० और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ हैं अर्थात् सब मिलाकर चारों वेदोंकी १,१३१ शाखाएँ हैं; परंतु इन दिनों हमारी इतनी दयनीय दशा है कि इन शाखाओंके नामतक नहीं मिलते। प्राचीन साहित्यसे पता चलता है कि जितनी शाखाएँ थीं, उतनी ही संहिताएँ थीं, उतने ही ब्राह्मण और आरण्यक थे, उतनी ही उपनिषदें थीं और उतने ही कल्पसूत्र भी थे; परंतु आजकल इनमेंसे कोई भी पूरा-का-पूरा नहीं मिलता। किसी शाखाकी संहिता मिलती है, किसीकी नहीं; किसीका केवल ब्राह्मण-ग्रन्थ मिलता है तो किसीका कल्पसूत्रमात्र। आश्वलायन शाखावालोंकी अपनी कोई संहिता नहीं मिलती; उनके केवल कल्पसूत्र मिलते हैं। बेचारे शाकल-संहिताको ही अपनी संहिता मानते हैं और ऐतरेय शाखावालोंके ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदोंसे ही अपने काम चलाते हैं। शौनकके 'चरण-व्यूह' में चरक-शाखाको विशिष्ट स्थान दिया गया है; परंतु न तो इस शाखाकी कोई संहिता या ब्राह्मण ही मिलते हैं, न उसकी उपनिषदें आदि ही उपलब्ध हैं। काठक शाखाकी संहिता तो मिलती है; परंतु ब्राह्मण, आरण्यक नहीं। मैत्रायणी और राणायणीय शाखाओंकी भी यही बात है। अथर्ववेदकी पिप्पलाद-शाखाकी तो केवल संहिता ही मिलती है। संक्षेपमें यह समझिये कि जैसे न्याय और वैशेषिक दर्शन तो मिलते हैं; परंतु उनके सम्प्रदाय नहीं मिलते तथा सौर और गाणपत्य सम्प्रदाय तो मिलते हैं; परंतु उनके दर्शनशास्त्र नहीं मिलते; ठीक इसी तरह किसीकी केवल शाखा ही मिलती है, किसीकी संहिता, किसीका ब्राह्मण तथा किसीकी केवल संज्ञाभर मिलती है और किसीका तो नामतक भी नहीं मिलता। कल्पसूत्र भी तो शाखाओंके अनुसार १,१३१ उपलब्ध होने चाहिये; परंतु इन दिनों प्राय: ४० पाये जाते हैं।

कहनेको तो हम सभी गला फाड़कर अपनेको वैदिक धर्मानुयायी कहते नहीं अघाते; परंतु वैदिक साहित्यके प्रति जो हमारी उपेक्षा है, वेदाध्ययनके लिये जो हमारी निरादर-बुद्धि है, उसको देखते हुए हमें ऐसा विश्वास हो रहा है कि मिले हुए ग्रन्थ भी लुप्त और उच्छिन्न हो जायँगे। चारों वेदोंकी जो सब मिलाकर ११ संहिताएँ मिली हैं, वे भी यूरोपियनोंकी कृपासे। लाखों रुपये खर्च करके यूरोपियनोंने ही यूरोपके विविध देशोंमें इन संहिताओंको छापा है। भारतवर्षमें तो ११ मेंसे केवल ५ संहिताएँ ही छापी गयी हैं तो भी कदाचित् विश्वसनीय पाठ नहीं हैं; सबमें अशुद्धियाँ हैं। व्याकरण रट लिया और बन पड़ा तो कुछ ज्योतिष तथा कुछ काव्यकी पोथियाँ देख डालीं और यदि महापण्डित या धर्मगुरु बननेकी इच्छा हुई तो न्याय-वेदान्तकी परीक्षाएँ दे दीं। बस, भोली जनतामें चारों वेदोंके वक्ता—ज्ञाता बन गये; वेद-विज्ञानकी घटा और छटा बाँधने लगे—**'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ', 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।'** जनताको, शिष्यों और यजमानोंको क्या पता कि ये 'महापण्डित', 'धर्म-गुरु' वेद तो क्या, वेदका 'व' भी नहीं जानते। मनुजीने तो स्पष्ट ही लिखा है कि 'जो वेद नहीं जानता, वह शूद्र है, जो वेदज्ञ नहीं, उसका विवाह मत करो और जो वेद-ज्ञाता नहीं, उस ब्राह्मणको न पूजो, न खिलाओ, न उससे श्राद्ध कराओ।' परंतु यहाँ जब धर्म और उस वेदकी ही परवा नहीं, जिसे हमारे शास्त्र और पूर्वज नित्य मानते हैं, तब मनु और याज्ञवल्क्यको कौन पूछता है? संक्षेपमें यह समझिये कि यदि कुछ वेद और धर्मके भक्त इस दिशामें महासाहस लेकर वेद-प्रचार और वेद-प्रकाशनकी ओर नहीं पड़ते तो उपलब्ध वैदिक साहित्यके भी लुप्त हो जानेका डर है।

यहाँ मुख्य बात यह समझिये कि यदि यूरोपीय विद्वानोंकी कृपा नहीं हुई होती तो इन दिनों वैदिक साहित्यके अमूल्य ग्रन्थ इन कल्पसूत्रोंके दर्शन भी हमें दुर्लभ होते। यूरोपियनोंके अथक परिश्रमके ही कारण

इन सूत्रोंके दर्शन हमें मिल रहे हैं। यदि विद्या-व्यसनी यूरोपीय भी इस क्षेत्रसे उदास रहते तो हमें कदाचित् एक भी कल्पसूत्र नहीं दिखायी देता और हिंदू-धर्मके प्रति हम भीषण अंधकारमें ही रहते तो वेदों और हिंदू-धर्मके सेवक हम हुए या यूरोपियन?

अब इस बातपर ध्यान दीजिये कि हिंदू-धर्म और हिंदू-संस्कृतिके प्राण ये कल्पसूत्र क्या हैं? श्रौत या वैदिक यज्ञ चौदह प्रकारके हैं—सात 'हविर्यज्ञ' और सात 'सोमयज्ञ'। अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध और सौत्रामणी—ये सातों चरु पुरोडाशद्वारा हविसे सम्पन्न होते हैं, इसलिये ये 'हविर्यज्ञ' कहलाते हैं। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्यामको 'सोमयज्ञ' कहा जाता है। इन सातोंमें सोमरसका प्राधान्य रहता है।

कई संहिताओं और आश्वलायन, लाट्यायन आदि श्रौतसूत्रोंमें इन चौदहों यज्ञोंका विस्तृत विवरण मिलता है। इसमें संदेह नहीं कि इन दिनों इन यज्ञोंका प्रचार नहीं है, परंतु गृह्यसूत्रोंके यज्ञ नित्यकर्म अर्थात् आवश्यक कर्तव्य माने जाते हैं; इसलिये उन्हें पाक या प्रधान यज्ञ कहा जाता है। पाक-यज्ञोंमेंसे कुछ तो ज्यों-के-त्यों हिंदू समाजमें प्रचलित हैं और कुछ रूपान्तरित होकर।

गृह्यसूत्रकारोंने सात प्रकारके गृह्य या पाक-यज्ञ माने हैं जैसे—'पितृ-यज्ञ' या 'पितृ-श्राद्ध'—यह सभी हिंदुओंमें मूलरूपमें ही प्रचलित है। 'पार्वण-यज्ञ' अर्थात् पूर्णिमा और अमावास्याके दिन किया जानेवाला यज्ञ। इसे इस समय भी यथावत् किया जाता है। 'अष्टका-यज्ञ'—यह अवश्य ही बहुत रूपान्तर प्राप्त कर चुका है। 'श्रावणी-यज्ञ'—यह अबतक काफी प्रचलित है। 'आश्वयुजी-यज्ञ' अर्थात् आश्विन मासमें किया जानेवाला यज्ञ, जो कोजागरा लक्ष्मीपूजाका रूप धारण कर चुका है। 'आग्रहायणी-यज्ञ'—यह अगहनमें किया जानेवाला यज्ञ 'नवान्न' का अनुकल्प बन चुका है। 'चैत्री-यज्ञ' अर्थात् चैत्रमें किया जानेवाला यज्ञ, जो बिलकुल दूसरा रूप ग्रहण कर चुका है।

चौदह श्रौतयज्ञों और सात पाकयज्ञोंके सिवा धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रोंमें इन पाँच महायज्ञोंका वर्णन है—देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और मनुष्ययज्ञ। हवनको 'देवयज्ञ', बलिरूपमें अन्न आदि दान करनेको 'भूतयज्ञ', पिण्ड-दान और तर्पणको 'पितृयज्ञ', वेदोंके अध्ययन-अध्यापन अथवा मन्त्रपाठको 'ब्रह्मयज्ञ' तथा अतिथिको अन्न आदि देनेको 'मनुष्ययज्ञ' कहा जाता है। ये पाँचों महायज्ञ भी अबतक ज्यों-के-त्यों प्रचलित हैं।

उक्त सूत्रोंमें इन संस्कारोंका बहुत सुन्दर विवरण है—गर्भाधान, पुंसवन अर्थात् पुत्रजन्मानुष्ठान, सीमन्तोन्नयन अर्थात् गर्भवती स्त्रीका केशविन्यास, जातकर्म अर्थात् संतान होनेपर आवश्यकीय अनुष्ठान, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, उपनयन, वेदाध्ययनके समय महानाम्नीव्रत, महाव्रत, उपनिषद्व्रत, गोदानव्रत, समावर्तन अर्थात् पठनके अन्तमें स्नानविशेष, विवाह, अन्त्येष्टि अर्थात् मृतसंस्कार। ये सोलहों संस्कार भी प्रचलित हैं।

इस प्रकार १४ श्रौतयज्ञ, ७ पाकयज्ञ, ५ महायज्ञ और १६ संस्कार मिलकर ४२ कर्म हमारे लिये कल्पसूत्रकारोंने बताये हैं। सूत्रोंमें इन बयालीसोंका विस्तृत विवरण पढ़नेपर अपने पूर्वजोंकी सारी जीवन-लीला दर्पणकी तरह दिखायी देने लगती है। संसारकी सबसे प्राचीन आर्यजातिकी इस जीवन-लीलाका इतिहास जानने और उसका सम्यक् अध्ययन-परिशीलन करनेके लिये ही यूरोपकी जातियोंने पानीकी तरह रुपये बहाकर इन समस्त सूत्रोंको, टीका-टिप्पणियोंके साथ सुसम्पादित कर प्रकाशित किया है। कहाँ उनकी आदर्श ज्ञान-पिपासा तथा विद्या-प्रेम और कहाँ अपने बाप-दादोंके धर्म-कर्म, सभ्यता-संस्कृति और स्वरूप-इतिहास जाननेके बारेमें हमारी घृणित उपेक्षा! **धिग् जीवनम्!!**

हाँ, तो हम कह रहे थे कि सूत्रकारोंने ४२ कर्म बताये हैं; परंतु साथ ही सूत्रकार ऋषियोंने सत्य, सद्गुण और सदाचारपर भी बहुत जोर दिया है। धर्मसूत्रकार गौतम चत्वारिंशत् कर्मवादी हैं—उन्होंने अन्त्येष्टि और निष्क्रमणको संस्कार नहीं माना है—सोलहमें १४ ही संस्कार माने हैं। अतः उन्होंने गौतमधर्मसूत्र (८। २४। २५)-में लिखा है—'जो ४० संस्कारोंसे तो युक्त हैं; परंतु सद्गुणसे शून्य हैं, वे न

तो ब्रह्मलोक जा सकेंगे, न ब्रह्मको पा सकेंगे। हाँ, जो नित्य-नैमित्तिक यज्ञोंको करते हैं और काम्य-कर्मोंके लिये कोई चेष्टा नहीं करते अथवा चेष्टा करनेमें असमर्थ हैं, वे भी सद्गुणों (सत्य, सदाचार आदि)-से युक्त होनेपर ब्रह्मलोकको जा सकेंगे तथा ब्रह्मको भी पा सकेंगे।' इसी तरह वसिष्ठधर्मसूत्र (६। ३)-में भी कहा गया है—'जैसे चिड़ियोंके बच्चे पंख हो जानेपर घोंसलेको छोड़कर चले जाते हैं, वैसे ही वेद और वेदाङ्ग भी सद्गुणशून्य मनुष्यका त्याग कर देते हैं।' इन वचनोंसे मालूम होता है कि सत्य और सदाचारको हमारे सूत्रकारोंने कितना महत्त्व दिया है—एक तरहसे उन्होंने सत्य और सदाचारको हिंदू-धर्मकी भित्ति ही माना है और हमको उनसे यही महती शिक्षा भी मिलती है।

जैसे ऋग्वेदके ऐतरेय और कौषीतकि नामके दो ब्राह्मण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, वैसे ही इसके आश्वलायन और शांखायन नामके दो कल्पसूत्र भी अतीव विख्यात हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्रमें १२ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय वैदिक यज्ञोंके विवरणसे पूर्ण है। कहा जाता है कि आश्वलायन ऋषि शौनक ऋषिके शिष्य थे और ऐतरेय आरण्यकके अन्तिम दो अध्याय गुरु और शिष्यने मिलकर बनाये थे। ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यकमें जो वैदिक यज्ञ विस्तृतरूपसे विवृत किये गये हैं, संक्षेपमें उन्हींके विधान आदिका निर्देश करना इस श्रौतसूत्रका उद्देश्य है। इसपर गार्ग्यनारायणिकी संस्कृत-वृत्ति है।

आश्वलायन-गृह्यसूत्र चार अध्यायोंमें विभक्त है। प्रथम अध्यायमें विवाह, पार्वण, पशुयज्ञ, चैत्ययज्ञ, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, गोदानकर्म, उपनयन और ब्रह्मचर्याश्रमकी विवृति है। द्वितीयमें श्रावणी, आश्वयुजी, आग्रहायणी, अष्टका, गृहनिर्माण और गृहप्रवेशका विवरण है। तृतीयमें पञ्चमहायज्ञोंका वर्णन है। इन यज्ञोंको प्रतिदिन सम्पन्न करके हमारे पूर्वज अन्न-जल ग्रहण करते थे और इन दिनों भी कुछ लोग ऐसा ही करते हैं। इसी अध्यायमें ऋग्वेदके विभिन्न मण्डलोंके ऋषियोंके नाम पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन, पैल तथा सूत्रों, भाष्यों और भारत एवं महाभारतके प्रणेताओंके भी नाम पाये जाते हैं। चतुर्थ अध्यायमें अन्त्येष्टि और श्राद्धका वर्णन है।

आश्वलायन गृह्यसूत्रपर गार्ग्यनारायणि, कुमारिल भट्ट और हरदत्त मिश्रकी वृत्ति, कारिका और व्याख्या है। शांखायन श्रौतसूत्र अठारह अध्यायोंमें विभाजित है। दर्शपूर्णमास आदि वैदिक यज्ञोंका इसमें भी विवरण है; साथ ही वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध और सर्वमेध आदि विशाल यज्ञोंकी विस्तृत विवृति भी है।

शांखायन गृह्यसूत्र छः अध्यायोंमें पूर्ण हुआ है। प्रथम अध्यायमें पार्वण, विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, गर्भरक्षण, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, अन्नप्राशन, चूडाकरण और गोदानकर्मका विवरण है। द्वितीयमें उपनयन और ब्रह्मचर्याश्रमका वर्णन है। तृतीयमें स्नान, गृहनिर्माण, गृहप्रवेश, वृषोत्सर्ग, आग्रहायणी और अष्टका आदिका विवरण है। चतुर्थमें श्राद्ध, अध्यायोपाकरण, श्रावणी, आश्वयुजी, आग्रहायणी और चैत्रीका उल्लेख है। पञ्चम और षष्ठ अध्यायोंमें कुछ प्रायश्चित्तोंका वर्णन है। शांखायन-शाखाकी संहिता नहीं पायी जाती। इस वेदकी केवल शाकल-संहिता ही छपी है।

बहुत लोगोंका मत है कि वसिष्ठधर्मसूत्र ऋग्वेदका ही धर्मसूत्र है। इसके टीकाकार गोविन्द स्वामीका भी ऐसा ही मत है। यह तीस अध्यायोंमें विभक्त है। पहलेमें साधारण विधि, आर्यावर्तकी सीमा, पञ्चमहापातक और छः विवाह-पद्धतियोंका वर्णन है। दूसरेमें विविध जातियोंके कर्तव्यका निर्देश है। तीसरेमें वेद-पाठकी आवश्यकता और चौथेमें अशुद्धियोंका विचार है। चौथे अध्यायमें सूत्रकारने मनुके अनेक वचनोंको उद्धृत किया है, जिससे विदित होता है कि अत्यन्त प्राचीन कालमें कोई मनु-सूत्र भी था, जिसके आधारपर ही वर्तमान मनुस्मृति बनी है। पाँचवेंमें स्त्रियोंका कर्तव्य, छठेमें सदाचार, सातवेंमें ब्रह्मचर्य, आठवेंमें गृहस्थ-धर्म, नवेंमें वानप्रस्थ-धर्म और दसवेंमें भिक्षुधर्म वर्णित है। ग्यारहवेंमें अतिथि-सेवा, श्राद्ध और उपनयनकी बातें हैं। बारहवेंमें स्नातक-धर्म, तेरहवेंमें वेद-पाठ और चौदहवेंमें खाद्य-विचार विवृत हैं। पंद्रहवेंमें दत्तक-पुत्र-ग्रहण, सोलहवेंमें राजकीय-विधि और सतरहवेंमें उत्तराधिकारका वर्णन है। अठारहवेंमें चाण्डाल, वैण,

अन्त्यावसायी, राभक, पुल्कस, सूत, अम्बष्ठ, उग्र, निषाद, पारशव आदि दस मिश्र या मिली हुई जातियोंका विवरण है। उन्नीसवेंमें राजधर्म विवृत है। बीसवेंसे अट्ठाईसवेंतकमें प्रायश्चित्त और उनतीसवें तथा तीसवें अध्यायोंमें दान-दक्षिणाका विवरण है।

सामवेदकी दो शाखाओंके दो श्रौतसूत्र अत्यन्त विख्यात हैं—कौथुमशाखाका लाट्यायन श्रौतसूत्र या मशक श्रौतसूत्र और राणायणीय शाखाका द्राह्यायण श्रौतसूत्र। दोनोंमें वैदिक यज्ञोंका खूब सुन्दर विश्लेषण और विवरण है।

सामवेद (कौथुमशाखा)-का गोभिलगृह्यसूत्र चार प्रपाठकोंमें विभक्त है। प्रथम प्रपाठकमें साधारण विधि, ब्रह्मयज्ञ, दर्शपूर्णमास आदिका विवरण है। द्वितीयमें विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, चूडाकरण और उपनयन आदि विवृत हैं। तृतीयमें ब्रह्मचर्य, गोपालन, गोयज्ञ, अश्वयज्ञ और श्रावणी आदिका वर्णन है। चतुर्थमें विविध अन्वष्टका-काम्यसिद्धियोंके उपयोगी कर्म गृहनिर्माण आदिकी विवृति है।

सामवेदका गौतमधर्मसूत्र अत्यन्त विख्यात है। यह अट्ठाईस अध्यायोंमें पूर्ण हुआ है। प्रथम और द्वितीय अध्यायोंमें उपनयन और ब्रह्मचर्य; तृतीयमें भिक्षु (संन्यासी) एवं वैखानस (वानप्रस्थ)-का धर्म और चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायोंमें गृहस्थका धर्म विवृत है। इस प्रसंगमें गौतमने इन आठ प्रकारके विवाहोंका उल्लेख किया है—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच। प्रथमके चार उत्तम हैं और अन्तके चार अधम हैं। पञ्चम अध्यायमें अठारह प्रकारकी मिली हुई जातियोंका या मिश्र जातिका उल्लेख है। षष्ठमें अभिवादन, सप्तममें आपत्कालीन वृत्ति-समूह और अष्टममें चालीस संस्कारोंका उल्लेख है। नवममें स्नातक-धर्म, दशममें विभिन्न जाति-धर्म, एकादशमें राजधर्म, द्वादशमें राजकीय विधि, त्रयोदशमें विचार और साक्ष्य-ग्रहण, चतुर्दशमें अशुद्धि-विचार, पञ्चदशमें श्राद्ध-नियम, षोडशमें वेद-पाठ, सप्तदशमें खाद्य-विचार और अष्टादशमें स्त्री-विवाह आदि हैं। एकोनविंशसे सप्तविंश अध्यायोंमें प्रायश्चित्त-विवरण है। अष्टाविंश अध्यायमें उत्तराधिकारका विचार है।

यजुर्वेदके दो भेद हैं—कृष्ण और शुक्ल। कृष्ण-यजुर्वेदके ग्रन्थ अन्य सभी वेदोंसे अधिक मिलते हैं। इसकी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र, प्रातिशाख्य आदि प्रायः अधिकांश मिलते हैं। इस वेदकी मैत्रायणी शाखाका मानवधर्मसूत्र पाया जाता है। इसके अतिरिक्त बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, भारद्वाज, काठक आदि कितने ही सूत्र-ग्रन्थ इस वेदके मिले हैं।

बौधायन-श्रौतसूत्र उन्नीस प्रश्नोंमें पूर्ण हुआ है। बौधायन गृह्यसूत्र और बौधायन-धर्मसूत्रमें चार-चार प्रश्न या खण्ड हैं। बौधायन-कल्पसूत्रमें कर्मान्तसूत्र, द्वैधसूत्र तथा शुल्बसूत्र (यज्ञवेदी-निर्माणके लिये रेखागणितके नियम) आदि भी पाये जाते हैं। बौधायनने लिखा है—'अवन्ती, मगध, सौराष्ट्र, दक्षिण, उपावृत, सिन्धु और सौवीरके निवासी मिश्रजाति हैं।' इससे विदित होता है कि बौधायनके समय, १,२५० ख्रीष्टपूर्वमें इन प्रदेशोंमें अनार्य भी रहते थे। आगे चलकर लिखा गया है—'जिन्होंने आरट्ट, कारस्कर, पुण्ड्र, सौवीर, बङ्ग, कलिङ्ग आदिका भ्रमण किया है, उन्हें पुनस्तोम और सर्वपृष्ठा यज्ञ करने पड़ते हैं।' इससे मालूम पड़ता है कि आर्य लोग इन प्रदेशोंको हीन समझते थे।

बौधायन-धर्मसूत्रके पहले प्रश्नमें ब्रह्मचर्य-विवरण, शुद्धा-शुद्ध-विचार, मिश्रजाति-वर्णन, राजकीय विधि और आठ तरहके विवाहोंकी बातें हैं। दूसरे प्रश्नमें प्रायश्चित्त, उत्तराधिकार तथा स्त्रीधर्म, गृहस्थधर्म, चार आश्रम और श्राद्धका विवरण है। तीसरेमें वैखानस आदिके कर्तव्य और चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तोंका वर्णन है। चौथेमें काम्य-सिद्धि आदि विवृत हैं।

आपस्तम्बके भी सारे कल्पसूत्र पाये जाते हैं। आपस्तम्ब आन्ध्रमें उत्पन्न हुए थे। द्रविड़ और तैलङ्ग ब्राह्मण अपनेको आपस्तम्ब-शाखी और अपनी संहिताको तैत्तिरीय संहिता कहते हैं। आपस्तम्बकल्पसूत्र तीस प्रश्नोंमें परिपूर्ण हुआ है। प्रथम चौबीस प्रश्न श्रौतसूत्र हैं, पचीसवाँ प्रश्न परिभाषा है, छब्बीसवाँ और सत्ताईसवाँ प्रश्न गृह्यसूत्र है। अट्ठाईसवाँ और उनतीसवाँ प्रश्न धर्मसूत्र है और तीसवाँ शुल्बसूत्र है। आपस्तम्बगृह्यसूत्रमें ब्रह्मचर्यद्वारा शास्त्रशिक्षा, गृह-निर्माण, मासिक श्राद्ध,

विवाह आदि संस्कार तथा श्रावणी, अष्टका आदिका विवरण है। आपस्तम्बधर्मसूत्रके प्रथम प्रश्नमें ब्रह्मचर्य, शास्त्रशिक्षा, खाद्य-विचार और प्रायश्चित्तकी बातें हैं। द्वितीयमें चार आश्रमों और राजकीय विधिकी बातें हैं।

हिरण्यकेशी आपस्तम्बके पीछेके पुरुष हैं। हिरण्यकेशी-कल्पसूत्रोंकी रचना आपस्तम्बके कल्पसूत्रोंको सामने रखकर की गयी है। ये सब तैत्तिरीय शाखाके कल्पसूत्र हैं। हिरण्यकेशीका दूसरा नाम सत्याषाढ है। शुक्लयजुर्वेदके (माध्यन्दिन और काण्व दोनोंके) दो कल्पसूत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—कात्यायन-श्रौतसूत्र और पारस्कर-गृह्यसूत्र। कात्यायन-श्रौतसूत्रके अठारह अध्याय इस वेदके शतपथ-ब्राह्मणके नौ काण्डोंके क्रमानुवर्ती हैं। अवशिष्ट अध्याय सौत्रामणी, अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध आदिके विवरणोंसे पूर्ण हैं। व्रात्योंके विवरणमें मगधके ब्रह्मबन्धुओंका भी उल्लेख है। ब्रह्मण्यानुष्ठानसे शून्य अधम ब्राह्मणोंको ब्रह्मबन्धु कहा गया है।

पारस्कर-गृह्यसूत्र नौ काण्डोंमें पूर्ण हुआ है। प्रथममें विवाह, गर्भाधान आदि संस्कारोंका विवरण है। द्वितीयमें कृषि-प्रारम्भ, विद्या-शिक्षा, श्रावणी आदिका विवेचन है। तृतीयमें गृह-निर्माण, वृषोत्सर्ग, श्राद्ध आदिका वर्णन है। अन्य गृह्यसूत्रोंकी तरह ही इसके भी अन्यान्य काण्डोंके विवरण हैं।

अबतक जितने कल्पसूत्रोंका उल्लेख हो चुका है, उनके अतिरिक्त भी कुछ कल्पसूत्र पाये जाते हैं; किंतु उनकी प्रामाणिकतामें संदेह है। इसीलिये यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया गया है। उल्लिखित कल्पसूत्रोंपर अनेकानेक खण्डित और अखण्डित भाष्य-टीकाएँ भी मिलती हैं; परंतु अधिकांश हस्तलिखित और अप्रकाशित दशामें ब्रिटिश म्यूजियम (लंदन), इम्पीरियल लाइब्रेरी (कलकत्ता और दिल्ली), भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट (पूना) तथा देश-विदेशकी विभिन्न लाइब्रेरियोंमें पड़ी हैं। यदि उन्हें छापें तो यूरोपीय विद्वान् ही; हम हिंदुओंको तो कुछ भी परवा नहीं।

वैदिक संहिताओंका अर्थ, तत्त्व और रहस्य समझनेके लिये जैसे ब्राह्मण, आरण्यक, प्रातिशाख्य, निरुक्त, निघण्टु, मीमांसा, बृहद्देवता, अनुक्रमणी, शिक्षा, चरणव्यूह आदि-आदिका अध्ययन आवश्यक है, वैसे ही, बल्कि कहीं-कहीं उनसे भी अधिक आवश्यक कल्पसूत्रोंका पठन है। श्रौतसूत्रोंसे यज्ञ-रहस्य समझनेमें आश्चर्यजनक सहायता मिलती है। गृह्यसूत्रोंसे स्थल-विशेषमें अद्भुत साहाय्य प्राप्त होता है। प्राचीन हिंदू-जीवन, प्राचीन हिंदूसमाज और प्राचीन हिंदूधर्म समझनेके लिये तो ये सूत्र अद्वितीय हैं ही। धार्मिक नियमोंमें अपना और अपने समाजका जीवन संयत तथा उन्नत करनेके लिये तथा निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिये तो ये सूत्र अनूठे साधन हैं।

यहाँ यह भी ध्यान देनेकी बात है कि मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, वसिष्ठस्मृति, पाराशरस्मृति आदि बीसों प्रसिद्ध स्मृतियोंकी उत्पत्ति और रचना इन्हीं कल्पसूत्रोंसे हुई है। समस्त हिंदू-संस्कारों, राजधर्मों, व्यवहार-दर्शनों, दाम्पत्य-धर्मों, दाय-भागों, संकर-जाति-विवरणों और प्रायश्चित्तोंके आधार भी ये ही कल्पसूत्र हैं। इनके बिना प्राचीन नियमों और प्रथाओंका समझना दुरूह, कठिन, जटिल और विकट है। इसलिये इनका स्वाध्याय करना प्रत्येक हिंदूके लिये आवश्यक और अनिवार्य है।*

---

* शौनकके चरणव्यूहके महीदासके भाष्यमें लिखा है—'कृष्णा तथा गोदावरीके तटोंपर और आन्ध्रप्रदेशमें आश्वलायनी शाखा, आपस्तम्बी शाखा और हिरण्यकेशी शाखा प्रचलित है, गुजरातमें शांखायनी शाखा और मैत्रायणी शाखा प्रचलित है तथा अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्गमें माध्यन्दिनी शाखा और कौथुम-शाखा प्रचलित है।' परंतु इन दिनों प्रधानतया महाराष्ट्रमें ऋग्वेदकी शाकल शाखा, गुजरात और दक्षिणमें कृष्णयजुर्वेदकी मैत्रायणी शाखा, दक्षिण तैलङ्ग और द्रविणमें कृष्णयजुर्वेदकी आपस्तम्बी या तैत्तिरीय शाखा, उत्तर भारत, मिथिला और महाराष्ट्रमें शुक्ल-यजुर्वेदकी माध्यन्दिनी शाखा, दाक्षिणात्यमें इसी वेदकी काण्वशाखा, गुजरात और बंगालमें सामवेदकी कौथुम-शाखा, दक्षिणमें (सेतुबन्ध रामेश्वरमें) सामवेदकी राणायणीय शाखा, कर्णाटकमें सामवेदकी जैमिनीय शाखा और गुजरात (नागर ब्राह्मणों)-में अथर्ववेदकी शौनक शाखा प्रचलित है। जहाँ जो शाखा प्रचलित है, वहाँ उसी शाखाके कल्पसूत्रोंके अनुसार सारे श्रौत-स्मार्त कार्य और संस्कार आदि होते हैं; इसीलिये विभिन्न प्रदेशोंके ऐसे कार्यों और संस्कारोंमें भेद दिखायी देते हैं। किंतु ये भेद साधारण-से ही होते हैं।

वेदके विविध छन्द और छन्दोऽनुशासन-ग्रन्थ

(डॉ० आचार्य श्रीरामकिशोरजी मिश्र)

छन्द वेदके छः अङ्गोंमें एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। जैसे वेदके अन्य अङ्गों—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण और ज्यौतिषका महत्त्व है, वैसे ही छन्दका महत्त्व भी किसी अङ्गसे कम नहीं है। छन्द वेदके चरण हैं[१]। जिस प्रकार चरणरहित व्यक्ति चलनेमें असमर्थ होता है, उसी प्रकार छन्दोरहित वेदकी गति भी नहीं होती। जब छन्दोंका विकास हुआ था, तब उनकी सुरक्षाके लिये छान्दस-आचार्योंने उनपर नियम लिखने प्रारम्भ किये।

ब्राह्मणग्रन्थोंमें छन्दोंके उल्लेखके बाद शांखायन श्रौतसूत्रमें सर्वप्रथम छन्दःशास्त्रीय चर्चा प्राप्त होती है। इस ग्रन्थमें गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती नामसे सात छन्दोंका उल्लेख मिलता है। छन्दोंके नामसे पूर्व त्रिपदा, पुरः, ककुभ्, विराट्, सतः, निचृत् और भुरिक् इत्यादि उपनामोंके साथ किन्हीं छन्दोंके पादों और वर्णोंकी गणना भी मिलती है[२]। इसके बाद पातञ्जलनिदानसूत्र, शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य तथा कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणीमें भी उक्त सातों छन्दोंपर विचार किया गया है। कुछ छन्दः-प्रवक्ताओं—ताण्डी, क्रौष्टुकि, यास्क, सैतव, काश्यप, शाकल्य, रात तथा माण्डव्यका नामोल्लेख पिङ्गलीय छन्दःसूत्रमें मिलता है[३], किंतु उनके छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थोंका विवरण प्राप्त नहीं होता।

वैदिक युगके प्रारम्भसे वैदिक युगकी समाप्तितक प्रसिद्ध छन्दोंको छान्दस-आचार्योंने पादवर्णनियमोंसे बाँधकर नियन्त्रित किया। प्राचीन संस्कृत वाङ्मयमें छन्दःशास्त्रके अनेक नाम [—छन्दोविचिति, छन्दोनाम, छन्दोभाषा, छन्दोविजिनी, छन्दोविजिति तथा छन्दोव्याख्यान] मिलते हैं[४]। वेदाङ्गोंका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें प्राप्त होता है[५]। पिङ्गलने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ छन्दःसूत्रमें अनेक छन्दः-प्रवक्ताओंका उल्लेख किया है[६]। निदानसूत्र[७] तथा उपनिदानसूत्रमें[८] सात और चार छान्दस-आचार्योंके मतोंका उल्लेख है। पिङ्गलसे पूर्व छन्दःशास्त्रविषयक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ तो प्राप्त नहीं होता, किंतु पिङ्गलसे पूर्व जिन चार आचार्योंने अपने-अपने ग्रन्थमें छन्दोंपर विचार किया है, उनके नाम हैं—भरत, पतञ्जलि, शौनक और कात्यायन। पिङ्गलने अपने ग्रन्थमें जिन आठ छान्दस-आचार्योंका उल्लेख किया है, उनके छन्दोग्रन्थ तो प्राप्त नहीं होते, किंतु उनके नामसे एक-एक छन्द अवश्य मिलता है, जिनका विवरण अधोलिखित है—

१-क्रौष्टुकिकृत छन्द—स्कन्धोग्रीवी
[छन्दःसूत्रम् ३। २९]

२-यास्ककृत छन्द—उरोबृहती (न्यङ्कुसारिणी)
[छन्दःसूत्रम् ३। ३०]

३-ताण्डिकृत छन्द—सतोबृहती (महाबृहती)
[छन्दःसूत्रम् ३। ३६]

४-सैतवकृत छन्द—विपुलानुष्टुप् और उद्धर्षिणी
[छन्दःसूत्रम् ५। १८, ७। १०]

५-काश्यपकृत छन्द—सिंहोन्नता (वसन्ततिलका)
[छन्दःसूत्रम् ७। ९]

६-शाकल्यकृत छन्द—मधुमाधवी (वसन्ततिलका)
[छन्दःसूत्रम् ७। ११]

७-माण्डव्यकृत छन्द—चण्डवृष्टिप्रपात (दण्डक)
[छन्दःसूत्रम् ७। ३५]

१-'छन्दः पादौ तु वेदस्य' (पाणिनीयशिक्षा ४१)।

२-शांखायनश्रौतसूत्रम् (६। ४। ५६, ७२। २२, २५—२८, ७। २७। १२, ३०, १६। २७। २, १६। २८। २)।

३-छन्दःसूत्रम् (६। २९, ३०, ३४, ४। १८, ७। ९, ११, ३३-३४)।

४-पाणिनीयगणपाठः ४। ३। ७३; जैनेन्द्रगणपाठः ३। ३। ४७, जैनशाकटायनगणपाठः ३। १। १३६; चान्द्रगणपाठः ३। १। ४५, गणरत्नमहोदधिः ५। ३४४; सरस्वतीकण्ठाभरणम् ४। ३

५-बौधायनधर्मसूत्रम् २। १४। २; गौतमधर्मसूत्रम् १५। २८, गोपथब्राह्मण १। १। २७; वाल्मीकीयरामायणबालकाण्डम् ७। १५।

६-छन्दःसूत्रम् (३। २९-३०, ३६, ५। १८, ७। ९—११, ३६)।

७-निदानसूत्रम् (१—७ पृष्ठोंपर 'पाञ्चालाः, एके, उदाहरन्ति, बह्वृचाः आचक्षते, ब्रुवते, प्रतिजानीते' संकेतसे ७ मत)।

८-ज्योतिष्मतीति पाञ्चालाः, उरोबृहतीति यास्कः, महाबृहतीत्येके, द्विपदाविस्तारपंक्तिस्ताण्डिनः।

८-रातकृत छन्द—चण्डवृष्टिप्रपात (दण्डक)
[छन्दःसूत्रम् ७। ३६]

इनमेंसे यास्क, काश्यप, ताण्डी और माण्डव्य मूलछन्दः-प्रवक्ता हैं और शेष हैं नामान्तरकर्ता। यास्कके छन्द उरोबृहतीको क्रौष्टुकि स्कन्धोग्रीवी नाम देते हैं और पिङ्गल उसे न्यङ्कुसारिणी कहते हैं। ताण्डीके छन्द सतोबृहतीको पिङ्गलने महाबृहती नाम दिया है। काश्यपके छन्द सिंहोन्नताको शाकल्यने मधुमाधवी नाम दिया है और पिङ्गलने उसे वसन्ततिलका कहा है। माण्डव्य रातसे प्राचीन हैं। अतः चण्डवृष्टिप्रपात (दण्डक) माण्डव्यका है, रातका नहीं। छन्दः-प्रवक्ता ऋषि नामान्तरकर्ता ऋषियोंसे प्राचीन हैं।

छन्दके दो अर्थ हैं—एक तो आच्छादन और दूसरा आह्लादन। छन्दकी व्युत्पत्ति **'छदि संवरणे'** और **'चदि आह्लादने'** से मानी जाती है[1]। यास्कने छन्दकी व्युत्पत्ति **'छद् संवरणे'** से मानी है[2], जिसके अनुसार छन्द वेदोंके आवरण अर्थात् आच्छादन हैं। आच्छादनसे आशय यह है कि छन्दके द्वारा रस, भाव तथा वर्ण्यविषयको आच्छादित किया जाता है। जो विद्वान् छन्दकी व्युत्पत्ति **'चदि आह्लादने'** से मानते हैं,[3] उनके अनुसार आह्लादनका अर्थ मनोरञ्जन होता है अर्थात् छन्द मानव-मनका मनोरञ्जन करते हैं। अतः छन्द वेदोंके आवरण और मानव-मनके आह्लादनके साधन हैं।

वेदोंमें २६ छन्द प्राप्त होते हैं, जिनका विवरण निम्नाङ्कित है—

ऋग्वेदके १३ छन्द

आचार्य शौनकके मतानुसार ऋग्वेदमें गायत्रीसे अतिधृतितक १४ छन्दोंका प्रयोग मिलता है[4], किंतु ऋग्वेदमें किये गये अन्वेषणसे ज्ञात हुआ है कि उसमें गायत्रीसे धृतितक १३ छन्दोंका ही प्रयोग है। अतिधृति छन्दकी अक्षर-गणना तो ऋग्वेदके किसी भी मन्त्रमें प्राप्त नहीं होती। समस्त ऋग्वेदमें केवल एक मन्त्रमें ही अतिधृति छन्द माना जाता है और वह है ऋग्वेदके मण्डल १, सूक्त १२७ वेंका छठा मन्त्र। इसी मन्त्रमें शौनक, कात्यायन और वेंकटमाधवने अतिधृति छन्द माना है, किंतु इसमें अतिधृति छन्दकी वर्ण-संख्या ७६ प्राप्त नहीं होती, अपितु ६८ वर्ण मिलते हैं, जो व्यूहद्वारा भी ७६ रूपमें संगत नहीं होते। एक या दो अक्षरोंसे न्यून छन्दकी वर्णपूर्ति तो व्यूहद्वारा संगत मानी जाती है, किंतु छह वर्णोंकी कमीको व्यूहद्वारा पूरा करना सर्वथा असंगत ही है। अतः ऋग्वेदमें निम्नाङ्कित १३ छन्द प्राप्त होते हैं—

१-गायत्री [२४ वर्ण] (ऋक्० १। १। १)
२-उष्णिक् [२८ वर्ण] (ऋक्० १। ९२। १६)
३-अनुष्टुप् [३२ वर्ण] (ऋक्० १। १०। ७)
४-बृहती [३६ वर्ण] (ऋक्० १। ३६। ७)
५-पंक्ति [४० वर्ण] (ऋक्० ९। ११३। ४)
६-त्रिष्टुप् [४४ वर्ण] (ऋक्० १। २४। १)
७-जगती [४८ वर्ण] (ऋक्० ९। ८४। ४)
८-अतिजगती [५२ वर्ण] (ऋक्० ४। १। २)
९-शक्वरी [५६ वर्ण] (ऋक्० ८। ३६। १)
१०-अतिशक्वरी [६० वर्ण] (ऋक्० १। १३७। १)
११-अष्टि [६४ वर्ण] (ऋक्० १। १२७। १)
१२-अत्यष्टि [६८ वर्ण] (ऋक्० १। १२७। ६)
१३-धृति [७० वर्ण, व्यूहसे ७२] (ऋक्० १। १३३। ६)

यजुर्वेदके ८ छन्द

पद्यके अतिरिक्त गद्य भी प्राचीन आर्ष परम्पराके अनुसार छन्दोबद्ध माने जाते हैं, क्योंकि बिना छन्दके वाणी उच्चरित नहीं होती[5]। छन्दसे रहित कोई शब्द भी

१-युधिष्ठिर मीमांसक, वैदिक छन्दोमीमांसा, पृष्ठ ११—१३, अमृतसर १९५९।
२-'छन्दांसि छादनात्' (यास्क, निरुक्त ७। १२)।
३-अयोध्यानाथ, पिङ्गलछन्दःसूत्र २। १ की टिप्पणी।
४-'सर्वादाशतयीष्वेताः, उत्तरास्तु सुभेषजे' (शौनक ऋक्प्रातिशाख्य १६। ८७-८८)।
५-'नाच्छन्दसि वागुच्चरति' (आचार्यदुर्गकृत निरुक्तवृत्तिः ७। २)।

नहीं होता और शब्दसे रहित कोई छन्द भी नहीं होता[१]। सम्पूर्ण वाङ्मय छन्दोयुक्त है और छन्दके बिना कुछ भी नहीं है, जिससे स्पष्ट होता है कि गद्य भी छन्दोबद्ध होते हैं। अतः याजुषगद्यके मन्त्र भी छन्दोबद्ध हैं। यही कारण है कि पतञ्जलि, शौनक और कात्यायन आदि आचार्योंने एक अक्षरसे १०४ अक्षरतकके छन्दोंके विधान अपने-अपने ग्रन्थोंमें किया है, जिनमेंसे गायत्रीसे धृतितक १३ छन्द ऋग्वेदमें प्राप्त हैं और अतिधृतिसे उत्कृतिपर्यन्त ८ छन्दोंके उदाहरण यजुर्वेदमें मिलते हैं, जिनका विवरण निम्नाङ्कित है—

१-अतिधृति [७६ वर्ण] (यजु० २२। ५)
२-कृति [८० वर्ण] (यजु० ९। ३२)
३-प्रकृति [८४ वर्ण] (यजु० १५। १६)
४-आकृति [८८ वर्ण] (यजु० १५। ६४)
५-विकृति [९२ वर्ण] (यजु० १५। १५)
६-संकृति [९६ वर्ण] (यजु० २४। १-२)
७-अभिकृति [१०० वर्ण] (यजु० २६। १)
८-उत्कृति [१०४ वर्ण] (यजु० ११। ५८)

अथर्ववेदके ५ छन्द

१-उक्ता [४ वर्ण] (अथर्व० २। १२९। ८)
२-अत्युक्ता [८ वर्ण] (अथर्व० २। १२९। १)
३-मध्या [१२ वर्ण] (अथर्व० २०। १२९। १३)
४-प्रतिष्ठा [१६ वर्ण] (अथर्व० २०। १३१। ५)
५-सुप्रतिष्ठा [२० वर्ण] (अथर्व० २०। १३४। २)

इनके अतिरिक्त सामवेद और अथर्ववेदमें, ऋग्वेद और यजुर्वेदमें प्रयुक्त छन्दोंका ही प्रयोग मिलता है, जिनके २६१ भेद-प्रभेद हैं।

छन्दोऽनुशासन-ग्रन्थ

वैदिक छन्दोंका विवरण तीन प्रकारके छन्दोग्रन्थोंमें प्राप्त होता है, उनमेंसे एक तो वे ग्रन्थ हैं, जो अन्य विषयोंके साथ छन्दोंके विषयोंपर भी विवेचन प्रस्तुत करते हैं। ऐसे ग्रन्थोंमें निदानसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य और अग्निपुराण मुख्य हैं। दूसरे प्रकारके वे ग्रन्थ हैं, जो अनुक्रमणी-साहित्यके अन्तर्गत आते हैं, जिनमें शौनककृत छन्दोऽनुक्रमणी, कात्यायनकृत ऋक्सर्वानुक्रमणी, शुक्लयजुः-सर्वाऽनुक्रमसूत्र, बृहत्सर्वानुक्रमणी, माधवभट्टकृत ऋग्वेदानुक्रमणी और वेंकटमाधवकृत छन्दोऽनुक्रमणी प्रमुख हैं, किंतु इनमेंसे केवल दो ग्रन्थों— कात्यायनकी ऋक्सर्वानुक्रमणी और वेंकटमाधवकी छन्दोऽनुक्रमणीमें ही छन्दोंके लक्षण मिलते हैं। तीसरे प्रकारके वे ग्रन्थ हैं, जो छन्दोंके विषयपर स्वतन्त्ररूपसे लिखे गये हैं, जिनमें छन्दःसूत्र, उपनिदानसूत्र, जयदेवछन्दः और श्रीकृष्णभट्टकृत वृत्तमुक्तावलि मुख्य हैं। अतः इनका सामान्य परिचय यहाँ प्रस्तुत है—

१-निदानसूत्र

निदानसूत्रके रचयिता महर्षि पतञ्जलि हैं। इस ग्रन्थमें १० प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठकमें १३, १३ खण्ड हैं। इसके प्रथम प्रपाठकके प्रथम सात खण्डोंमें छन्दोंका वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम छः खण्डोंमें मूल २६ छन्दोंके १४३ भेद-प्रभेदोंके लक्षण मिलते हैं और सप्तम खण्डमें यति-विषयक वर्णन है।

२-ऋक्प्रातिशाख्य

ऋक्प्रातिशाख्यके रचयिता आचार्य शौनक हैं। इसमें १८ पटल हैं, जिनमें अन्तिम तीन १६ से १८ तकके पटलोंमें मूल २६ छन्दोंके १८८ भेद-प्रभेदोंके लक्षण प्राप्त होते हैं, जिनमें आचार्य शौनकके ६४ स्वतन्त्र लक्षित छन्द हैं, शेष १२४ छन्द निदानसूत्रमें लक्षित हो चुके हैं।

३-ऋक्सर्वानुक्रमणी

ऋक्सर्वानुक्रमणीके रचयिता आचार्य कात्यायन हैं। यह सूत्ररूपमें निबद्ध है। इसमें ६८ छन्दोभेदोंके लक्षण मिलते हैं, जिनमें ९ छन्द कात्यायनके स्वतन्त्ररूपसे लक्षित हैं, शेष ५९ छन्द पूर्वरचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

४-छन्दःसूत्र

छन्दःसूत्रके रचयिता महर्षि पिङ्गल हैं। यह सूत्रोंमें उपनिबद्ध है। इसमें ८ अध्याय हैं, जिनमें ३२९ सूत्र हैं। यह ग्रन्थ वैदिक तथा लौकिक छन्दोंका विवेचन करता है। इसमें प्रथमसे चतुर्थ अध्यायके सातवें सूत्रतक ११९ वैदिक छन्दोंके लक्षण मिलते हैं, जिनमें महर्षि पिङ्गलके

१-'छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम्' (नाट्यशास्त्रम् १५। ४०)।

स्वतन्त्ररूपसे लक्षित ११ छन्द हैं। शेष १०८ छन्द पूर्व-रचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

५-उपनिदानसूत्र

उपनिदानसूत्रके रचयिता अज्ञात हैं। ग्रन्थके अन्तिम पद्यचतुष्टयके प्रथम पद्यमें पिङ्गलके[1] उल्लेखसे इस रचनाको छन्दःसूत्रसे परवर्ती माना जाता है। इसमें ६६ वैदिक छन्दोभेदोंके लक्षण मिलते हैं, जिनमें उपनिदानकारके स्वतन्त्ररूपसे लक्षित २ छन्द हैं। शेष ६४ छन्द पूर्वरचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

६-अग्निपुराण

अग्निपुराणमें ३८३ अध्याय हैं। इसमें पिङ्गलके[2] उल्लेखसे इस रचनाको छन्दःसूत्रसे परवर्ती माना जाता है। इसके ३२८वें अध्यायसे ३३५वें अध्यायतक ८ अध्यायोंमें छन्दोविवरण प्राप्त होता है, जिनमेंसे प्रथम तीन (३२८—३३०) अध्यायोंमें वैदिक छन्दोंका विवरण है, जिसमें अग्निपुराणकारके स्वतन्त्ररूपसे लक्षित ४ छन्द हैं। शेष छन्द पूर्ववर्ती रचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

७-जयदेवछन्दः

जयदेवछन्दःके रचयिता जयदेव हैं। इसमें ८ अध्याय हैं, जिनमेंसे द्वितीय और तृतीय अध्यायमें वैदिक छन्दोंका विवेचन है, जिसमें जयदेवके १३ स्वतन्त्र लक्षित छन्द हैं। शेष छन्द पूर्ववर्ती छन्दोग्रन्थोंमें लक्षित हो चुके हैं।

८-छन्दोऽनुक्रमणी

छन्दोऽनुक्रमणीके रचयिता वेंकटमाधव हैं। इन्होंने ऋग्वेद-संहितापर भाष्य लिखा है। इस भाष्यमें वैदिक छन्दोंका जो उल्लेख किया है, उसे ही 'छन्दोऽनुक्रमणी' कहते हैं। इसमें ५८ छन्दोभेदोंके लक्षण मिलते हैं, जिनमें इनका कोई भी स्वतन्त्रलक्षित छन्द नहीं है। समस्त छन्द पूर्व-रचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

९-वृत्तमुक्तावलि

वृत्तमुक्तावलिके रचयिता श्रीकृष्णभट्ट हैं। इस रचनामें ३ गुम्फ हैं। प्रथम गुम्फमें २०५ वैदिक छन्दोभेदोंका विवेचन है, जिसमें इनके स्वतन्त्ररूपसे लक्षित ४ छन्द हैं। शेष छन्द पूर्ववर्ती रचनाओंमें लक्षित हो चुके हैं।

उपसंहार

इस प्रकार द्वापरयुगान्तके महर्षि पतञ्जलिकी छन्दोरचना निदानसूत्रसे लेकर विक्रम संवत् १,८०० के श्रीकृष्णभट्टकी छन्दोरचना वृत्तमुक्तावलितक ९ छन्दोऽनुशासन-ग्रन्थोंमें ऋग्वेदके १३, यजुर्वेदके ८ और अथर्ववेदके ५— इस प्रकार कुल २६ वैदिक मूलछन्दोंके लक्षणोंके साथ, उनके २२४ भेद-प्रभेदोंका लक्षणसहित विवेचन किया गया है।

सकल जग हरि कौ रूप निहार।
हरि बिनु बिस्व कतहुँ कोउ नाहीं, मिथ्या भ्रम-संसार॥
अलख-निरंजन, सब जग ब्यापक, सब जग कौ आधार।
नहिं आधार, नाहिं कोउ हरि महँ, केवल हरि-बिस्तार॥
अति समीप, अति दूर, अनोखे, जग महँ, जग तें पार।
पय-घृत, पावक-काष्ठ, बीज महँ तरु-फल-पल्लव-डार॥
तिमि हरि ब्यापक अखिल बिस्व महँ, आनँद पूर्न अपार।
एहि बिधि एक बार निरखत ही भव-बारिधि हो पार॥

(पद-रत्नाकर १२५८)

१-'ब्राह्मणात्ताण्डिनश्चैव पिङ्गलाच्च महात्मनः' (उपनिदानसूत्रम् ८। १)।
२-'छन्दो वक्ष्ये मूलजैस्तैः पिङ्गलोक्तं यथाक्रमम्' (अग्निपुराणम् ३२८। १)।

वेदोंमें ज्योतिष

(श्रीओमप्रकाशजी पालीवाल, एम्०ए०, एल्-एल्० बी०)

ज्योतिष क्या है? यह ज्योतिका शास्त्र है। ज्योति आकाशीय पिण्डों—नक्षत्र, ग्रह आदिसे आती है, परंतु ज्योतिषमें हम सब पिण्डोंका अध्ययन नहीं करते। यह अध्ययन केवल सौरमण्डलतक ही सीमित रखते हैं। ज्योतिषका मूलभूत सिद्धान्त है कि आकाशीय पिण्डोंका प्रभाव सम्पूर्ण ब्रह्माण्डपर पड़ता है। इस प्रकार मानव-संसारपर भी इन नक्षत्रों एवं ग्रहों आदिका प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दोंमें आकाशीय पिण्डों एवं मानव-संसारमें पारस्परिक सम्बन्ध है। इस सम्बन्धको अथर्ववेदके तीन मन्त्र स्पष्टरूपसे दर्शाते हैं—

पहला मन्त्र है—

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
तुर्मिशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम्॥

(अथर्व० १९ । ७। १)

अर्थात् 'द्युलोक—सौरमण्डलमें चमकते हुए विशिष्ट गुणवाले अनेक नक्षत्र हैं, जो साथ मिलकर अत्यन्त तीव्र गतिसे टेढ़े-मेढ़े चलते हैं। सुमतिकी इच्छा करता हुआ मैं प्रतिदिन उनको पूजता हूँ, जिससे मुझे सुखकी प्राप्ति हो।' इस प्रकार इस मन्त्रमें नक्षत्रोंको सुख तथा सुमति देनेमें समर्थ माना गया है। यह सुमति मनुष्योंको नक्षत्रोंकी पूजासे प्राप्त होती है। यह मनुष्योंपर नक्षत्रोंका प्रभाव हुआ, जिसे ज्योतिष शास्त्र ही मानता है।

दूसरा मन्त्र है—

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु॥

(अथर्व० १९। ८। १)

अर्थात् 'जिन नक्षत्रोंको चन्द्रमा समर्थ करता हुआ चलता है; वे सब नक्षत्र मेरे लिये आकाशमें, अन्तरिक्षमें, जलमें, पृथ्वीपर, पर्वतोंपर और सब दिशाओंमें सुखदायी हों।'

अब प्रश्न उठता है कि चन्द्रमा किन नक्षत्रोंको समर्थ करता हुआ चलता है। वेदोंमें इन नक्षत्रोंकी संख्या २८ बतायी गयी है। इनके नाम अथर्ववेदके १९ वें काण्डके ७वें सूक्तमें मन्त्र-संख्या २ से ५ तक (४ मन्त्रों)-में दिये गये हैं। अश्विनी, भरणी आदि २८ नाम वही हैं, जो ज्योतिषग्रन्थोंमें हैं। इस प्रकार नक्षत्रोंके नाम तथा क्रममें पूरी समानता है। इस आधारपर हम कह सकते हैं कि ज्योतिषका मूल वेदोंमें है।

तीसरा मन्त्र है—

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥

(अथर्व० १९। ८। २)

अर्थात् 'अट्ठाईस नक्षत्र मुझे वह सब प्रदान करें, जो कल्याणकारी और सुखदायक हैं। मुझे प्राप्ति-सामर्थ्य और रक्षा-सामर्थ्य प्रदान करें। दूसरे शब्दोंमें पानेके सामर्थ्यके साथ-साथ रक्षाके सामर्थ्यको पाऊँ और रक्षाके सामर्थ्यके साथ ही पानेके सामर्थ्यको भी मैं पाऊँ। दोनों अहोरात्र (दिवा और रात्रि)-को नमस्कार हो।'

इस मन्त्रमें योग और क्षेमकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना है। साधारणतया जो वस्तु मिली नहीं है, उसको जुटानेका नाम 'योग' है। जो वस्तु मिल गयी है, उसकी रक्षा करना ही 'क्षेम' है। नक्षत्रोंसे इनको देनेकी प्रार्थनासे स्पष्ट है कि नक्षत्र प्रसन्न होकर यह दे सकते हैं। इस प्रकार इस मन्त्रका भी ज्योतिषसे सम्बन्ध है।

इस मन्त्रमें जो 'अहोरात्र' पद आया है, उसका ज्योतिषके होराशास्त्रमें अत्यन्त महत्त्व है। यथा—

अहोरात्राद्यंतलोपाद्धोरेति प्रोच्यते बुधैः।
तस्य हि ज्ञानमात्रेण जातकर्मफलं वदेत्॥

(बृ० पा० हो० शा० पू० अध्याय ३। २)

अर्थात् 'अहोरात्र पदके आदिम (अ) और अन्तिम (त्र) वर्णके लोपसे 'होरा' शब्द बनता है। इस होरा (लग्न)-के ज्ञानमात्रसे जातकका शुभाशुभ कर्मफल कहना चाहिये।'

आकाशीय पिण्डोंमें नक्षत्र और ग्रह दोनों आते हैं। ज्योतिषने इन दोनोंमें कुछ अन्तर किया है, जो निम्न श्लोकोंसे स्पष्ट है—

तेजःपुञ्जा नु वीक्ष्यन्ते गगने रजनीषु ये।
नक्षत्रसंज्ञकास्ते तु न क्षरन्तीति निश्चलाः॥
विपुलाकारवन्तोऽन्ये गतिमन्तो ग्रहाः किल।
स्वगत्या भानि गृह्णन्ति यतोऽतस्ते ग्रहाभिधाः॥

(बृ० पा० हो० शा० अध्याय ३। ४-५)

अर्थात् 'रात्रिके समय आकाशमें जो तेजःपुञ्ज दीखते हैं, वे ही निश्चल तारागण नहीं चलनेके कारण 'नक्षत्र' कहे जाते हैं। कुछ अन्य विपुल आकारवाले गतिशील वे तेजःपुञ्ज अपनी गतिके द्वारा निश्चल नक्षत्रोंको पकड़ लेते हैं, अतः वे 'ग्रह' कहलाते हैं।'

ऊपर तीन मन्त्रोंमें नक्षत्रोंसे सुख, सुमति, योग, क्षेम देनेकी प्रार्थना की गयी। अब ग्रहोंसे दो मन्त्रोंमें इसी प्रकारकी प्रार्थनाका वर्णन है। दोनों मन्त्र अथर्ववेदके उन्नीसवें काण्डके नवम सूक्तमें हैं। इस सूक्तके सातवें मन्त्रका अन्तिम चरण '**शं नो दिविचरा ग्रहाः**' है, जिसका अर्थ है, आकाशमें घूमनेवाले सब ग्रह हमारे लिये शान्तिदायक हों। यह प्रार्थना सामूहिक है। इस सूक्तका दसवाँ मन्त्र है—

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः॥

अर्थात् 'चन्द्रमाके समान सब ग्रह हमारे लिये शान्तिदायक हों। राहुके साथ सूर्य भी शान्तिदायक हों। मृत्यु, धूम और केतु भी शान्तिदायक हों। तीक्ष्ण तेजवाले रुद्र भी शान्तिदायक हों।' अब प्रश्न उठता है चन्द्रके समान अन्य ग्रह कौन हैं? इसका उत्तर एक ही है कि पाँच ताराग्रह—मंगल, बुध, गुरु, शुक्र एवं शनि हैं, जो चन्द्रके समान सूर्यकी परिक्रमा करनेसे एक ही श्रेणीमें आते हैं। सूर्य किसीकी परिक्रमा नहीं करता। इसलिये इसको भिन्न श्रेणीमें रखा गया है। राहु और केतु प्रत्यक्ष दीखनेवाले ग्रह नहीं हैं। इसलिये ज्योतिषमें इसे 'छायाग्रह' कहा जाता है, परंतु वेदोंने इन्हें ग्रहकी श्रेणीमें ही रखा है। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतुको ज्योतिषमें 'नवग्रह' कहा जाता है। कुछ भाष्यकारोंने '**चान्द्रमसाः**' का अर्थ 'चन्द्रमाके ग्रह' भी किया है और उसमें नक्षत्रों (कृत्तिका आदि)-की गणना की है; परंतु यह तर्कसंगत नहीं लगता। इस मन्त्रमें आये हुए मृत्यु एवं धूमको महर्षि पराशरने अप्रकाशग्रह कहा है। ये पाप ग्रह हैं और अशुभ फल देनेवाले हैं। कुछके अनुसार गुलिकको ही 'मृत्यु' कहते हैं। उपर्युक्त मन्त्रमें इनकी प्रार्थनासे यह स्पष्ट है कि इनका प्रभाव भी मानवपर पड़ता है।

श्रीपराशरके अनुसार पितामह ब्रह्माजीने वेदोंसे लेकर ज्योतिष शास्त्रको विस्तारपूर्वक कहा है—

वेदेभ्यश्च समुद्धृत्य ब्रह्मा प्रोवाच विस्तृतम्।

(बृ० पा० हो० सारांश उत्तरखण्ड अध्याय २०। ३)

वेद-मन्त्रोंके उच्चारण-प्रकार—प्रकृतिपाठ एवं विकृतिपाठ

अपौरुषेय एवं ईश्वरोक्त वाणी वेद-शब्दराशिको सुरक्षित तथा पूर्णतः अपरिवर्तितरूपमें मानवसमाजके कल्याणके लिये अक्षुण्ण रखनेहेतु ऋषियोंने इसकी पाठ-विधियोंका उपदेश किया है। ये सभी पाठ ऋषियोंके द्वारा दृष्ट हैं, अतः अपौरुषेय हैं। इनमें तीन प्रकृतिपाठ तथा आठ विकृतिपाठ हैं। संहितापाठ, पदपाठ तथा क्रमपाठ—ये तीन प्रकृतिपाठ हैं। आठ विकृतिपाठोंके नाम हैं—जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड,रथ और घन। इन पाठोंके द्वारा विविध प्रकारसे अभ्यास किये जानेके कारण वेदको आम्नाय (**'आसमन्तात् म्नायते अभ्यस्यते'**) कहा गया है। इन विविध पाठोंकी महिमाके कारण ही आज भी मूल वेदशब्दराशि एक भी वर्ण अथवा मात्राका विपर्यय न होते हुए हमको उपलब्ध हो रही है। सम्पूर्ण विश्वमें ऐसी कोई अविच्छिन्न उच्चारण-परम्परा दृष्टिगोचर नहीं होती। यह वैदिक शब्दराशिका वैशिष्ट्य है।

वेदके संहितापाठका जिन ऋषियोंने दर्शन किया, उनका स्मरण विनियोग आदिमें किया जाता है। वस्तुतः सर्वप्रथम परमेश्वरने ही वेदशब्द-संहिताका दर्शन किया तथा उन्होंने इसका उपदेश किया। इसी प्रकार पदपाठके आद्य द्रष्टा रावण और क्रमपाठके बाभ्रव्य ऋषि हैं। मधुशिक्षाका वचन है—

भगवान् संहितां प्राह पदपाठं तु रावणः।
बाभ्रव्यर्षिः क्रमं प्राह जटां व्याडिरवोचत्॥

प्रत्येक शाखाके पृथक् पदपाठके ऋषि भी उल्लिखित हैं, यथा—ऋग्वेदकी शाकलशाखाके शाकल्य, यजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखाके आत्रेय तथा सामवेदकी कौथुमशाखाके

गार्ग्य ऋषि पदपाठके द्रष्टा हैं। इसी प्रकार प्रातिशाख्यमें विकृतियोंके सम्बन्धमें भी श्लोक है—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि महर्षियोंने क्रमपाठ एवं विकृतिपाठोंका दर्शन करनेके अनन्तर उनका उपदेश किया। मधुशिक्षाके अनुसार जटापाठके ऋषि व्याडि, मालापाठके ऋषि वसिष्ठ, शिखापाठके ऋषि भृगु, रेखापाठके ऋषि अष्टावक्र, ध्वजापाठके ऋषि विश्वामित्र, दण्डपाठके ऋषि पराशर, रथपाठके ऋषि कश्यप तथा घनपाठके द्रष्टा ऋषि अत्रि हैं। इस प्रकार ये सभी पाठ ऋषिदृष्ट होनेके कारण अपौरुषेय हैं।

संहितापाठ तथा उसकी महिमा—'वर्णानामेकप्राण-योगः संहिता' (कात्यायन), **'परःसन्निकर्षः संहिता'** (पाणिनि), आदि सूत्रोंके द्वारा संहिताका स्वरूप बतलाया गया है। वेदवाणीका प्रथमपाठ जो गुरुओंकी परम्परासे अध्ययनीय है और जिसमें वर्णों तथा पदोंकी एकश्वाससरूपता अर्थात् अत्यन्त सांनिध्यके लिये सम्प्रदायानुगत सन्धियों तथा अवसानों (निश्चित स्थलोंपर विराम)-से युक्त एवं उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित—इन तीन स्वरोंमें अपरिवर्तनीयतासे पठनीय वेदपाठको 'संहिता' कहते हैं। इसका स्वरूप है—

गुरुक्रमेणाध्येतव्यः ससन्धिः सावसानकः।
त्रिस्वरोऽपरिवर्त्यश्च पाठ आद्यस्तु संहिता॥

यह संहिता नामक वेदपाठ पुण्यप्रदा यमुना नदीका स्वरूप है तथा संहितापाठसे यमुनाके स्नानका पुण्य मिलता है—**'कालिन्दी संहिता श्रेया'**, (या० शि०)। संहितारूप वेदका पाठ सूर्यलोककी प्राप्ति कराता है—**'संहिता नयते सूर्यपदम्**, (या० शि०)। संहितापाठ पदपाठका मूल है **'पदप्रकृतिः संहिता'** (यास्क), **'संहिता पदप्रकृतिः'** (दुर्गाचार्य) आदि वचनोंके आधारपर यह प्रथम प्रकृतिपाठ है। ऋषियोंने मन्त्रोंके संहितारूप वेदपाठका ही दर्शन किया और यज्ञ, देवता-स्तुति आदि कार्योंमें वेदके संहितापाठका प्रयोग किया जाता है। कहा भी गया है— **'आचार्याः सममिच्छन्ति पदच्छेदं तु पण्डिताः'**। संहिता प्रथम प्रकृतिपाठ है।

पदपाठ तथा उसकी महिमा—'अर्थः पदम्' (वा० प्रा०), **'सुप्तिङन्तं पदम्'** (पाणिनि) आदि सूत्रोंके द्वारा पदका स्वरूप बतलाया गया है। इसका तात्पर्य है कि किसी अर्थका बोध करानेके लिये पाणिनीय आदि व्याकरणके अनुसार **'सुप्-तिङ्'** आदि प्रत्ययोंसे युक्त वर्णात्मक इकाईको 'पद' कहते हैं। वेदके संहितापाठकी परम्पराके अनुसार स्वरवर्णोंकी सन्धिका विच्छेद करके वैदिक मन्त्रोंका सस्वर पाठ पदपाठ कहा जाता है। वेदमन्त्रोंका पदपाठ द्वितीय प्रकृतिपाठ माना जाता है। यद्यपि पदपाठका आधार संहितापाठ है, तथापि अग्रिम क्रमपाठका आधार (प्रकृति) पदपाठ होनेके कारण यह प्रकृतिपाठ है। स्वरके सम्बन्धके अनुसार पदके ग्यारह प्रकार होते हैं। शिक्षा-ग्रन्थोंमें कहा गया है—

'नव पदशय्याः एकादश पदभक्तयः'

वेदमन्त्रोंका पदपाठ पुण्यप्रदा सरस्वती देवनदीका स्वरूप है। पदपाठ करनेसे सरस्वतीके स्नानका फल प्राप्त होता है—**'पदमुक्ता सरस्वती,'** (या० शि०)। पदपाठका अध्ययन करनेवाला व्यक्ति चन्द्रलोककी प्राप्ति करता है—**'पदं च शशिनः पदम्'** (या० शि०)। विद्वज्जन अर्थज्ञानकी सुविधाके लिये पदपाठको विशेषरूपसे ग्रहण करते हैं। वेदमन्त्रोंके पदपाठसे आराध्य देवके गुणोंका गान किया जाता है।

तैत्तिरीय आदि अनेक शाखाओंमें संहिताके प्रत्येक पदका पदपाठमें साम्प्रदायिक उच्चारण है। ऋग्वेदमें भिन्न पदगर्भित पदोंमें अनानुपूर्वी संहिताको स्पष्ट पद-स्वरूप देकर पढ़ा जाता है। शुक्लयजुर्वेदकी शाखाओंमें प्रातिशाख्यके नियमोंके अनुसार एकाधिक बार आये हुए विशेष पदोंको पदपाठमें विलुप्त कर दिया जाता है। शास्त्रीय परिभाषामें ऐसे विलुप्त पदोंको गलत्पद तथा ऐसे स्थलके पाठको संक्रम कहा जाता है।

पदपाठमें प्रत्येक पदको अलग करनेके साथ यदि कोई पद दो पदोंके समाससे बना हो तो उसे माध्यन्दिनीय शाखामें 'इतिकरण' के साथ दोहरा करके स्पष्ट किया जाता है। प्रातिशाख्यके नियमोंके अनुसार कतिपय विभक्तियोंमें तथा वैदिक लोप, आगम, वर्णविकार, प्रकृतिभाव आदिमें भी 'इतिकरण' के साथ पदका मूल स्वरूप स्पष्ट किया जाता है। जैसे— **'सहस्रशीर्षेति सहस्रशीर्षा।'** इसे 'अवग्रह' कहते हैं।

पदपाठमें स्वरवर्णोंकी सन्धिका विच्छेद तथा अवग्रह आदि विशेष विधियोंके प्रभावसे यह पाठ संहितासे भी अधिक कठिन हो जाता है। इन नियमोंके कारण ही यह पदच्छेद नहीं है, किंतु पदपाठ कहा जाता है।

क्रमपाठ तथा उसकी महिमा— 'द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरभावसानमपृक्तवर्जम्' (वा० प्रा०) आदि सूत्रोंके द्वारा क्रमपाठका स्वरूप बतलाया गया है। अपृक्त आदि विशेष स्थलोंको छोड़कर सामान्यतः दो-दो पदोंका सन्धियुक्त अवसानपर्यन्त सस्वर पाठ 'क्रमपाठ' कहलाता है। पाणिनिके धातुपाठके अनुसार एक-एक पैरको बढ़ाना क्रम है। उसी भावसे क्रमपाठमें भी एक-एक पदको आगे बढ़ाकर पढ़ते हैं। इस कारण इस पाठको क्रमपाठ कहा जाता है। क्रमपाठ यद्यपि पदपाठके आधारसे ही है, तथापि जटा आदि विकृतिपाठोंका मूल क्रमपाठ है। अतः आठों विकृतिपाठोंका प्रकृतिपाठ क्रमपाठ है तथा यह तृतीय प्रकृतिपाठ है।

ऐतरेय आरण्यक (३। १। ३) तथा ऋग्वेद प्रातिशाख्य वर्गद्वयवृत्तिके अनुसार अन्नकामनाकी पूर्तिके लिये संहितापाठ, स्वर्गकामनाकी पूर्तिके लिये पदपाठ तथा अन्न-स्वर्ग दोनों कामनाओंकी पूर्तिके लिये क्रमपाठका विधान है। वाराहपुराणमें कहा गया है कि संहितापाठसे दोगुना पुण्य, पदपाठसे तिगुना पुण्य तथा क्रमपाठसे एवं जटादि विकृतियोंके पाठसे छः गुना पुण्य प्राप्त होता है—

संहितापाठतः पुण्यं द्विगुणं पदपाठतः।
त्रिगुणं क्रमपाठेन जटापाठेन षड्गुणम्॥

आठ विकृतिपाठ और उनकी महिमा— मन्त्रात्मक वैदिक शब्दराशिकी अक्षुण्ण तथा निर्भ्रान्त परम्पराकी सुरक्षा इन जटा आदि आठ विकृतिपाठोंसे ही हो सकी है। इसलिये जटादि विकृतिपाठोंमें निरत विद्वानोंको 'पङ्क्तिपावन' माना गया है—

जटादिविकृतीनां ये पारायणपरायणाः।
महात्मानो द्विजश्रेष्ठास्ते ज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः॥

यद्यपि कुछ व्यक्ति इन वचनोंके आधारपर भी मात्र ऋग्वेदमें अष्टविकृतिपाठ होता है, यह कहते हैं; परंतु माध्यन्दिन आदि शाखाओंके अध्येता वैदिक विद्वानोंकी अत्यन्त प्राचीन अविच्छिन्न परम्परासे सभी विकृतिपाठोंका अध्ययनाध्यापन प्रचलित है। कात्यायनीय चरणव्यूह आदि ग्रन्थोंके (वारे शास्त्री प्रभृतिद्वारा सम्पादित) प्रामाणिक संस्करणोंमें विकृतियोंका उल्लेख होनेके कारण अन्य शाखाओंमें भी विकृतिपाठ करना अत्यन्त प्रामाणिक है। इसके लिये स्कन्दपुराणके ब्रह्मखण्डमें जगत्की आधारभूता वेदात्मिका गौ जटा-घन आदि विकृतियोंसे विभूषित है, यह उल्लेख है—

सर्वस्याधारभूताया वत्सधेनुस्त्रयीमयी।
अस्यां प्रतिष्ठितं विश्वं विश्वहेतुश्च या मता॥
ऋक्पृष्ठासौ यजुर्मध्या सामकुक्षिपयोधरा।
इष्टापूर्तविषाणा च साधुसूक्ततनूरुहा॥
शान्तिपुष्टि शकृन्मूत्रा वर्णपादप्रतिष्ठिता।
उपजीव्यमाना जगतां पदक्रमजटाघनैः॥

इसके द्वारा चतुर्वेदात्मिका त्रयीवाणी जटा-घन आदि विकृतिपाठोंसे प्राणियोंपर अनुग्रह करती है, यह स्पष्ट निर्देश है। विकृतिपाठ-सम्बन्धी इन वचनोंको वैदिक परम्परामें प्रामाणिक माना जाता है; क्योंकि वेदसम्मत स्मृतिवचनों तथा आचारोंका प्रामाण्य मीमांसा एवं धर्मशास्त्रमें सर्वांशतः माना गया है।

जटापाठ—इस प्रथम विकृतिपाठमें दो पदोंको अनुक्रम तथा संक्रम इस प्रकार तीन बार सन्धिपूर्वक अवसानरहित पढ़ा जाता है। जैसे—'**विष्णोः', कर्माणि विष्णोर्विष्णोः कर्माणि।**' इत्यादि। जटापाठ पञ्चसन्धियुक्त भी होता है। इसमें अनुक्रम, उत्क्रम, व्युत्क्रम, अभिक्रम तथा संक्रम—ये पाँच क्रम होते हैं। पदोंको संख्याके साथ प्रदर्शित करते हुए इसका स्वरूप इस प्रकार है—'**विष्णोः कर्माणि** (अनुक्रम), **कर्माणि, कर्माणि** (उत्क्रम), **कर्माणि विष्णोः** (व्युत्क्रम), **विष्णोर्विष्णोः** (अभिक्रम) और **विष्णोः कर्माणि** (संक्रम)।'

मालापाठ—इसके दो भेद हैं—पुष्पमाला और क्रममाला। अधिक प्रचलित पुष्पमालापाठमें जटाकी भाँति ही तीनों क्रम पढ़े जाते हैं, किंतु प्रत्येकके बीचमें विराम किया जाता है। जैसे—'**विष्णोः कर्माणि। कर्माणि विष्णोः। विष्णोः कर्माणि।**' इत्यादि।

शिखापाठ—जटापाठके त्रिविध क्रमोंके बाद एक आगेका पद ग्रहण करनेपर शिखापाठ हो जाता है। जैसे—'**विष्णोः कर्माणि कर्माणि विष्णोर्विष्णोः कर्माणि पश्यत।**' इत्यादि।

रेखापाठ—इसमें आधी ऋचा अथवा सम्पूर्ण ऋचाके दो पदोंका क्रमपाठ, तीन पदोंका क्रमपाठ, चार पदोंका क्रमपाठ—इस प्रकार क्रमशः किया जाता है। इसी प्रकार व्युत्क्रममें भी करनेके बाद संक्रममें दो-दो पदोंका ही पाठ होता है। प्रत्येक क्रमके आरम्भमें एक पूर्ववर्तिपद छोड़ते हुए अवसानपूर्वक यह पाठ होता है। जैसे—

ओषधयः सं। समोषधयः। ओषधयः सं॥
सं वदन्ते सोमेन। सोमेन वदन्ते सं। सं वदन्ते॥
वदन्ते सोमेन सह राज्ञा। राज्ञा सह सोमेन वदन्ते।
वदन्ते सोमेन॥ सोमेन सह। सह राज्ञा। इत्यादि।

ध्वजपाठ—इसके अन्तर्गत प्रथम दो पदोंका क्रम तथा अन्तिम पदोंका क्रम, इस प्रकार साथ-साथ आदिसे अन्त और अन्तसे आदितक पाठ होता है। यह एक मन्त्रमें अथवा एक वर्गमें आदिसे अन्ततक हो सकता है। जैसे—

ओषधयः सं। पारयामसीति पारयामसि। सं वदन्ते। राजन् पारयामसि। वदन्ते सोमेन। तं राजन्। इत्यादि।

दण्डपाठ—अनुक्रमसे दो पदोंके पाठके अनन्तर व्युत्क्रममें क्रमशः एक-एक पद बढ़ाते हुए पाठ करना दण्डपाठ है। यह विधि अर्धर्चतक चलती है। जैसे—'**ओषधयः सं। समोषधयः। ओषधयः सं। सं वदन्ते॥ वदन्ते समोषधयः। ओषधयः सं। सं वदन्ते। वदन्ते सोमेन॥ सोमेन वदन्ते समोषधयः।**' इत्यादि।

रथपाठ—इसके तीन भेद हैं—द्विचक्र, त्रिचक्र तथा चतुश्चक्र। द्विचक्र रथ अर्धर्चशः होता है। त्रिचक्र रथ समानपद संख्यावाले तीन पदोंकी गायत्री छन्दकी ऋचामें ही पादशः होता है। चतुश्चक्र रथ भी पादशः होता है। त्रिचक्र रथका उदाहरण यह है—

प्रथम अनुक्रम—विष्णोः कर्माणि। यतो व्रतानि। इन्द्रस्य युज्यः।

व्युत्क्रम—कर्माणि विष्णोः। व्रतानि यतः। युज्य इन्द्रस्य।

द्वितीय अनुक्रम—विष्णोः कर्माणि। यतो व्रतानि। इन्द्रस्य युज्यः। कर्माणि पश्यत। व्रतानि पस्पशे। युज्यः सखा।

व्युत्क्रम—पश्यत कर्माणि विष्णोः। पस्पशे व्रतानि यतः। सखा युज्य इन्द्रस्य। इत्यादि।

घनपाठ—वैदिक विद्वानोंमें सर्वाधिक समादृत घनपाठ भी चार प्रकारका है। घनके दो भेद तथा घनवल्लभके भी दो भेद हैं। घनपाठमें शिखापाठ करके उसका विपर्यास करनेके बाद पुनः उन तीन पदोंका पाठ किया जाता है। जैसे—'**ओषधयः सं समोषधय ओषधयः सं वदन्ते वदन्ते समोषधय ओषधयः सं वदन्ते॥**' इत्यादि। घनवल्लभमें पञ्चसन्धियुक्त पाठ होता है। अनुक्रम, उत्क्रम, व्युत्क्रम, अभिक्रम और संक्रम—इन पाँच प्रकारकी सन्धियोंसे युक्त होनेके कारण इसे पञ्चसन्धियुक्त घन भी कहते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

'**पावका नः। नो नः। नः पावका। पावका पावका। पावकानः। पावका नो नः पावका पावका नः सरस्वती सरस्वती नः पावका पावका नः सरस्वती।**' इत्यादि। इनके अतिरिक्त अन्य भी अवान्तर भेद हैं, जो ज्योत्स्नावृत्ति आदि ग्रन्थोंसे ज्ञातव्य हैं।

उपर्युक्त अष्टविकृतिके प्रकारोंसे यह स्पष्ट है कि महर्षियोंने इन वैज्ञानिक पाठ-प्रकारोंके आधारपर वेदमन्त्रोंकी रक्षा अत्यन्त परिश्रमपूर्वक की तथा इसमें एक भी स्वरवर्ण अथवा मात्राकी त्रुटि न हो, इसका उपदेश दिया। इन पाठोंके कारण आज भी विश्वकी धरोहरके रूपमें वेद शुद्धरूपसे प्राप्त हो रहे हैं।

[**डॉ० श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र**]

जो नित सबमें देखता, चिन्मय श्रीभगवान्।
होता कभी न वह परे हरि-दृगसे विद्वान्॥
ले जाते हरि स्वयं आ, उसको निज परधाम।
देते नित्य स्वरूप निज चिदानन्द अभिराम॥

माध्यन्दिनीय यजुर्वेद एवं सामवेदकी पाठ-परम्परा

(गोलोकवासी प्रो० डॉ० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, भूतपूर्व वेदविभागाध्यक्ष वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

पूर्वकालमें हमारे तपःपूत साक्षात्कृतधर्मा ऋषि-महर्षियोंने अनन्त कष्ट सहकर भी जिस महान् वेद-साहित्यकी स्वाध्याय-परम्परा अक्षुण्ण रखा, उसीका फल है कि आज हम कुछ थोड़ा-बहुत उस वेदभगवान्का भाग यथावत् सुरक्षित पा रहे हैं, किंतु आज हमारा समाज अपने धर्मके मूलभूत वेद-साहित्यकी उपेक्षा कर तत्-शाखा-साहित्य (वेदके अङ्ग-उपाङ्ग)-में ही अलंबुद्धि मानकर वेद-साहित्यसे प्रायः उदासीन हो गया है। सम्प्रति यह सनातन-धर्मका प्राण एवं ज्ञान-भण्डार वेद-साहित्य क्षत्रिय, वैश्य तो क्या ब्राह्मण जातिके लिये भी प्रायः अज्ञात-सा होकर दिनानुदिन केवल कुछ विशिष्ट स्थान एवं पुस्तकालयोंमें दर्शनीय मात्र अवस्थामें पहुँच रहा है, यदि यही अवस्था रही तो इस धर्ममूल वेद-साहित्यका केवल नाम ही शेष रह जायगा, वर्तमान समयमें इसका पठन-पाठन तो क्या शिक्षितोंमें उदात्तादि स्वरोंका एवं उनकी हस्तमुद्राओंका यथावत् ज्ञान भी लुप्तप्राय होता जा रहा है। अतः इस परिस्थितिमें द्विजमात्र (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) जो कि इसके अधिकारी हैं और विशेष करके ब्राह्मण-समाजको इस परम्पराकी रक्षा करनेके लिये अङ्गोंसहित वेदाध्ययनपर अवश्य ध्यान देना एवं यत्न करना चाहिये, क्योंकि कहा भी गया है—

'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।'

तथा—

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनु० ४। १४७)

अर्थात् आलस्यरहित होकर यथासमय वेदका प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि यही मुख्य धर्म है; अन्य धर्म तो गौण हैं।

वेदपाठका फल

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

(अथर्ववेद १९। ७१। १)

तात्पर्य यह कि यथेच्छ वर देनेवाली वेदवाणी, अपने स्वाध्याय करने (पाठ करने)-वाले द्विजमात्रको पाप (दुःख)-रहित करती हुई पूर्ण आयु, रोगादि क्लेश-रहित जीवन, पुत्र-पौत्रादि संतान, कीर्ति (यश), विपुल धन, बल एवं तेज आदि इस लोकके सम्पूर्ण सुख देती हुई अन्तमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त कराकर ब्रह्मलोकका अनन्त सुख प्राप्त कराती है।

वेदपाठ-विधि

वेदपाठमें नीचे लिखे नियमोंपर ध्यान रखना चाहिये—वेदमन्त्रोच्चारणके लिये प्रसन्न-मन एवं विनीतभावसे हस्तमुद्रापर दृष्टि रखते हुए चित्रमें दिखाये गये ढंगके
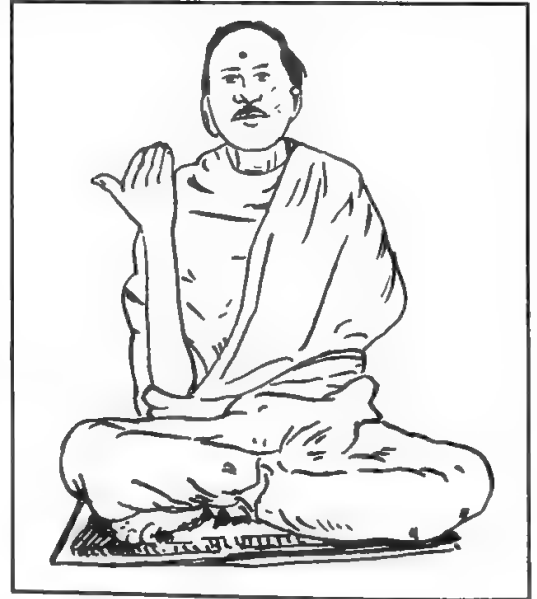
चित्र सं० १

अनुसार शुद्ध आसनपर स्वस्तिक या पद्मासनसे बैठकर बायें हाथकी मुट्ठीपर दाहिना हाथ रख सब अँगुलियाँ मिलाकर गोकर्णाकृति हाथ रखते हुए बैठना चाहिये।

वेदपाठ करनेमें न बहुत शीघ्रता करे, न मन्दता करे। शान्तभावसे स्वरको बिना ऊँचा-नीचा किये एक लयसे उच्चारण करे। मन्त्रपाठ आरम्भ करते समय प्रथम 'हरिः ॐ' का उच्चारण करे।

शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिनीय शाखामें उदात्तादि स्वरोंका हाथसे बोधन कराया जाता है। इन उदात्त,

अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरोंका उच्चारण तथा हस्तमुद्रा दोनों एक साथ रहनी चाहिये। क्योंकि लिखा है—

'हस्तभ्रष्टः स्वराद् भ्रष्टो न वेदफलमश्नुते।'

हस्त-स्वरकी बड़ी महिमा है, इसके ज्ञानके बिना वेदपाठका यथार्थ फल प्राप्त नहीं होता। आचार्योंने कहा है कि—

ऋचो यजूंषि सामानि हस्तहीनानि यः पठेत्।
अनृचो ब्राह्मणस्तावद् यावत् स्वारं न विन्दति॥

जो दिखावामात्रके लिये अर्थात् स्वरज्ञानके बिना हस्त-स्वरका प्रदर्शन करता है, वह पापका भागी होता है।

हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्।
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति॥

हाथको ठीक गोकर्णाकृति रखना चाहिये।

उदात्त स्वरका कोई चिह्न नहीं होता, स्वरितमें वर्णके ऊपर खड़ी रेखा होती है तथा अनुदात्तमें वर्णके नीचे तिरछी रेखा होती है।

उदात्तमें हाथ मस्तकतक तथा स्वरितमें नासिकाग्र या मुखकी सीधमें एवं अनुदात्तमें हृदयकी सीधमें हाथ जाना चाहिये। जात्यादि स्वरोंमें हाथ तिरछा जाना चाहिये। साधारणतया हाथ उदात्तमें ऊपर (कन्धेके पास), स्वरितमें मध्यमें तथा अनुदात्तमें नीचे रहना चाहिये।

माध्यन्दिनीय यजुर्वेदमें वर्णोच्चारण-सम्बन्धी कुछ नियम

१-'ऋ' कारका उच्चारण 'रे' कारके समान करना चाहिये।

२-अनुस्वारके भेद—

१-जहाँपर ' ँ॒' यह चिह्न हो, वहाँपर लघु (एकमात्रिक) अनुस्वार जानना।

२-उपर्युक्त चिह्नके बाद यदि संयोग (संयुक्त वर्ण) हो तो गुरु जानना।

३-'ठ्ठँ' चिह्न हो तो वह भी दीर्घसंज्ञक है।

उपर्युक्त चिह्नित अनुस्वारका उच्चारण **'गुं'** इस ध्वनिसे (लघु या दीर्घानुसार) होना चाहिये, **'ग्वं'** रूपसे नहीं।

४-विसर्गका उच्चारण हकारके समान होता है, पर इसको हकार नहीं मानना चाहिये। यथा—

'देवो व+ सविता' हकारके समान उच्चारण होगा।
'देवी' हिकारके समान " "
'आखुस्ते पशु' हुकारके समान उच्चारण होगा।
'अग्नेः' हेकारके समान " "
'बाह्वोः' होकारके समान उच्चारण होगा।
'स्वैः' हिकारके समान " "
'द्यौः' हुकारके समान " "

५-'रंग' अर्थात् अर्धानुस्वारके दो भेद हैं, यथा—**'शत्रूँ १॥'**, **'लोकाँ २॥'** (इसमें ह्रस्व या दीर्घ रंगका उच्चारण पूर्वस्वरके साथ सानुनासिक होता है)।

६-जहाँ दो स्वरके मध्य 'ऽ' चिह्न हो वहाँ एक मात्रा काल विराम होता है।

७-जहाँ यकारके पेटमें तिरछी रेखा हो वहाँ जकारके समान उसका उच्चारण होता है।

८-हल् रकारका उच्चारण—

श, ष और ह वर्णोंके पूर्वके हल् रकारको 'रे' उच्चारण करना।

९-मूर्धन्य षकारका उच्चारण—

यदि ट=वर्ग= (ट ठ ड ढ ण)-से युक्त न हो तो क-वर्गीय **'ख'** कारके समान उच्चारण होता है।

१०-ज्ञकारका उच्चारण 'ज्ञ'= ('ज् ञ')—मिश्रितके समान होना चाहिये, महाराष्ट्रीय सम्प्रदायमें **'ग्न्य'** भी कहा जाता है।

माध्यन्दिनीय यजुर्वेदमें प्रयुक्त विशेष चिह्न—

उदात्त—चिह्नरहित होता है—क
स्वरित—वर्णके ऊपर खड़ी रेखा—क॑।
अनुदात्त—वर्णके नीचे तिरछी रेखा—ख॒
अनुस्वार ह्रस्व—ँ॒
अनुस्वार दीर्घ या ठ्ठँ.
विसर्ग उदात्तके आगे—
विसर्ग अनुदात्तके आगे—
मध्यावर्ती स्वरित— ꠰ या ४
अर्धन्युब्ज तथा पूर्णन्युब्ज—

उदात्तादि स्वरोंकी मुद्राओंका विवरण

उदात्तस्वरके दो भेद—

उदात्तस्वरके मुख्यरूपसे दो भेद हैं —'ऊर्ध्वगामी' और 'वामगामी' उदात्तवर्णका परिचायक कोई चिह्न नहीं होता।

प्रथम—

(क) स्वरित (ऊर्ध्व रेखा-चिह्नित) वर्णसे पूर्व जो वर्ण चिह्नरहित हो तो हाथ ऊपर जायगा।

उदाहरण—'**आहमजानि**' (रुद्री १। १)

चित्र सं० २

(ख) न्युब्ज चिह्नवाले स्वरितसे आगे और ऊर्ध्व रेखायुक्त स्वरितसे पूर्व जो वर्ण चिह्नरहित हो तो हाथ ऊपर जायगा।

उदाहरण—'**बृहत्युष्णिहा**' (रुद्री १। २)

द्वितीय—

वामगामी उदात्तके तीन अवान्तर भेद—

(क) दो अनुदात्तोंके मध्यमें उदात्त (चिह्नरहित वर्ण) हो तो हाथ अपनी बाँयी ओर जायगा।

उदाहरण—'**गायत्री त्रिष्टुब्ज०**' (रुद्री १। २)

(ख) वामगामी उदात्त—
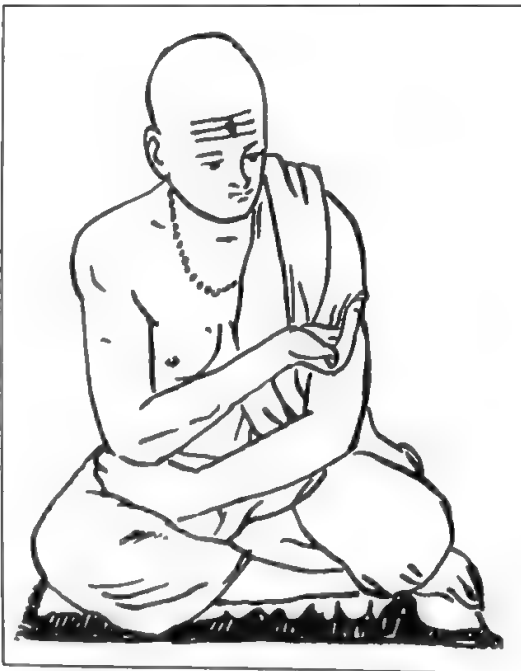
चित्र सं० ३

मन्त्रके मध्यके निश्चित अवसान या समासिके अवसानके चिह्नरहित वर्ण यदि अनुदात्तसे परे तथा अग्रिम मन्त्रांश अनुदात्तसे प्रारम्भ हो तो हाथ बाँयीं तरफ जायगा।

उदाहरण—'**गर्भधम्**' (रुद्री १। १)

(ग) वामगामी उदात्त—

मन्त्रारम्भका वर्ण जो अनुदात्त चिह्न (नीचे तिरछी रेखा)-से पूर्व हो तो हाथ बाँयी ओर जायगा।

उदाहरण—'**य एतावन्तश्च**'(रुद्री ५। ६३)

इस प्रकार दो प्रकारका ऊर्ध्वगामी और तीन प्रकारका वामगामी उदात्त स्वर होता है, इसके ऊपर या नीचे कोई चिह्न नहीं रहता।

अनुदात्तके पाँच भेद

अनुदात्त स्वरके नीचे तिरछी रेखा (क इस प्रकार) रहती है। अनुदात्त स्वके पाँच भेद हैं। यथा—१-निम्नगामी, २-अन्त्यदर्शी, ३-दक्षगामी, ४- तिर्यग्दर्शी और ५-अन्तर्गामी। इनका विवरण—

१-निम्नगामी अनुदात्त—'अनुदात्त, उदात्त और स्वरित'—इस क्रमसे वर्ण हो तो अनुदात्त चिह्नमें हाथ नीचे जायगा।

उदाहरण—'**गणानान्त्वा**' (रुद्री १। १)
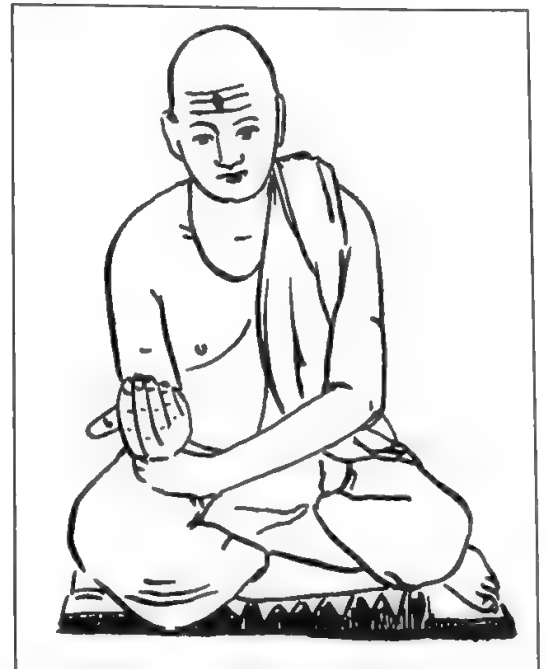
चित्र सं० ४

२-अन्त्यदर्शी अनुदात्त—अनेक अनुदात्त स्वर (निम्न रेखावाले) हो तो अन्तिम अनुदात्तमें हाथ नीचे जायगा।

उदाहरण—'**ब ल विज्ञाय स्थविरः**' (रुद्री ३।५)

[निम्नगामी एवं अन्त्यदर्शी—इन दोनों अनुदात्तोंका चित्र सं० ४ में ही अन्तर्भाव है।]
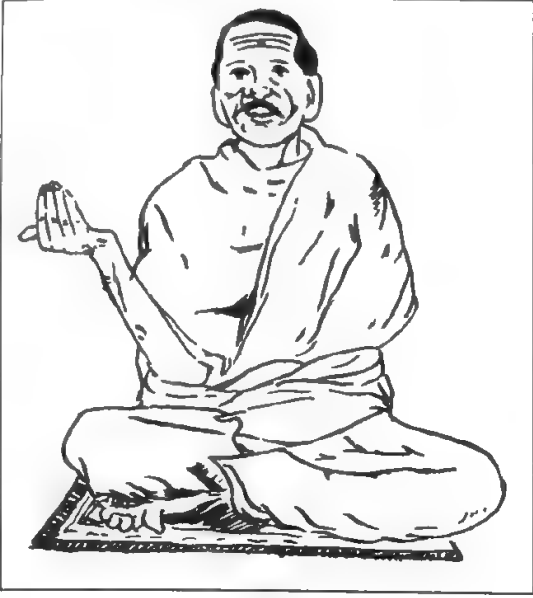
चित्र सं० ५

३-**दक्षगामी अनुदात्त**—'अनुदात्त, उदात्त और अनुदात्त', इस क्रमसे स्वर हो तो प्रथम अनुदात्तमें हाथ दाहिनी ओर जायगा।

उदाहरण—'**पङ्क्त्या सह**' (रुद्री १। २)

४-**अन्तर्गामी अनुदात्त**—यदि मध्यावर्ती स्वर (जिस स्वरके नीचे चार '४' अङ्क अथवा 'L' यह चिह्न हो, वह 'मध्यावर्ती' कहा जाता है)-से अव्यवहित पूर्व अनुदात्त स्वर हो तो हाथ पेटकी तरफ घूम जायगा।

उदाहरण—'**च व्युप्तकेशाय**' (रुद्री ५। २९)
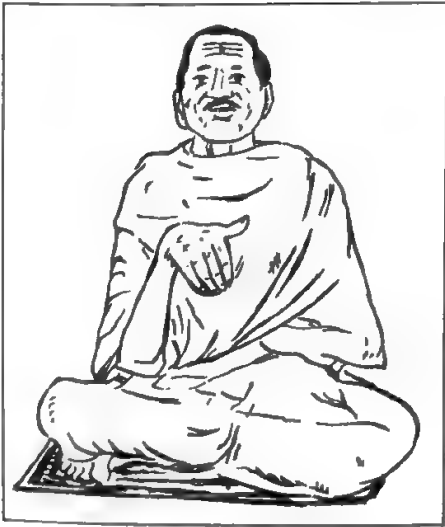
चित्र सं० ६

५-**तिर्यग्दर्शी अनुदात्त**—यदि अनुदात्तसे परे 'न्यूज' चिह्न (‿) हो तो अनुदात्तमें हाथ पिण्डदानके समान दाहिनी ओर झुकेगा।

उदाहरण—'**बृहत्युष्णिहा**' (रुद्री १। २)
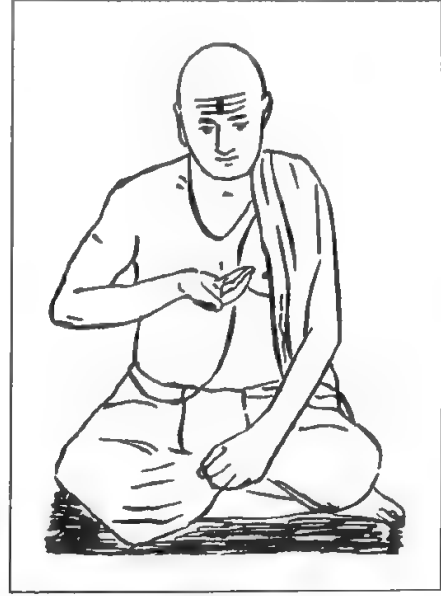
चित्र सं० ७

स्वरितके पाँच भेद

स्वरित स्वरके निम्नलिखित पाँच भेद होते हैं—१-मध्यपाती, २-मध्यदर्शी, ३-मध्यावर्ती, ४-पूर्णन्युब्ज और ५-अर्धन्युब्ज। इसका मुख्य चिह्न (|) वर्णके ऊपर खड़ी रेखा होती है।

१-**मध्यपाती स्वरित**—जहाँ स्वरित चिह्न (खड़ी रेखा) हो, वहाँपर हाथ मध्यमें (हृदयकी सीधमें) जाता है।

उदाहरण—'**गणाना न्त्वा**' (रुद्री १। १)
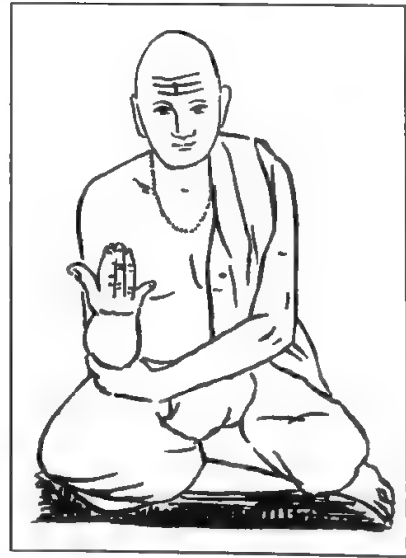
चित्र सं० ८

२-**मध्यदर्शी स्वरित**—स्वरित वर्णके बाद बिना चिह्नके वर्ण 'प्रचय' संज्ञक होते हैं और वे स्वरितके स्थानमें ही दिखाये जाते हैं, इनपर कोई चिह्न नहीं होता।

उदाहरण—'**गणपतिं ७ हवामहे**' (रुद्री १। १)

३-**मध्यावर्ती स्वरित**—(चिह्न 'L' या ४ वर्णके नीचे होता है।) जिस पदमें वर्णके नीचे 'L' अथवा ४ यह चिह्न हो, उसके पूर्वमें अनुदात्त चिह्न अवश्य रहेगा। वहाँ

हाथ छातीके सामने रहकर अनुदात्त चिह्नमें भीतरकी ओर घूमेगा और मध्यावर्ती स्वरित चिह्नमें पूरा घुमाव करके बाहर आयेगा।

उदाहरण—'**च व्युप्तकेशाय**' (रुद्री ५। २९)

४-पूर्णन्युब्ज स्वरित—(चिह्न '॒' यह है) अनुदात्त स्वरसे आगे वर्णके नीचे '॒' यह चिह्न हो तथा उसके आगे अचिह्न वर्णके बाद 'मध्यपाती' स्वरित चिह्न '।' हो तो न्युब्जबोधी चिह्न '॒' में हाथ नीचेकी ओर उलट जायगा।

उदाहरण—'**बृहत्युष्णिहा**' (रुद्री १। २)

चित्र सं० ९

५-अर्धन्युब्ज स्वरित—(चिह्न ॒) अनुदात्त चिह्नके आगे '॒' यह चिह्न हो और उसके आगे अचिह्न वर्णके बाद अनुदात्त चिह्न हो तो न्युब्जबोधी चिह्नमें हाथ दाहिनी ओर उलटा किया जायगा।

उदाहरण—'**रथ्योन रश्मीन्**' (रुद्री १। ४)
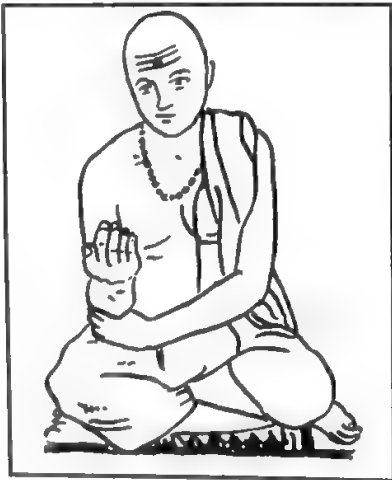
चित्र सं० १०

विशेष—'**न्युब्ज**' चिह्नमें अग्रिम स्वरोंके सहयोगसे हाथ नीचे या दाहिनी ओर जाता है। (१) अधोगामी पूर्णन्युब्जके उदाहरणके अनुदात्तमें नीचेकी ओर पिण्डदानके समान हाथ झुकेगा। (२) दक्षगामी अर्धन्युब्जके उदाहरणके अनुदात्तमें हाथ दाहिनी ओर जाकर पिण्डदानके समान झुकेगा।

विसर्गकी हस्तमुद्राएँ—

विसर्गमें ये तीन चिह्न होते हैं—

१-विसर्ग—[क] जहाँ विसर्गके मध्यकी रेखा ऊपरकी ओर अंकित हो और ऊर्ध्वगामी उदात्त हो तो वहाँपर तर्जनी अँगुली ऊपरकी ओर करना।

उदाहरण—'**आशुः शिशा नो**' (रुद्री ३। १)
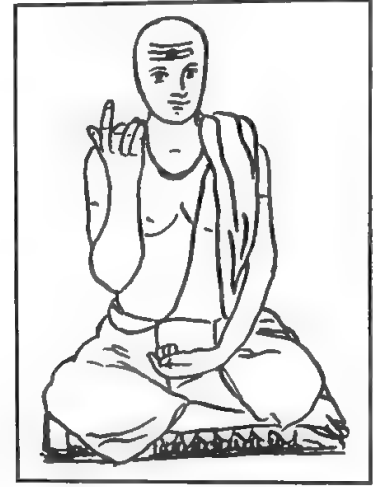
चित्र सं० ११ (क)

[ख] और यही विसर्ग यदि वामगामी उदात्तके बाद हो तो बायीं ओर हाथ रखते हुए तर्जनी अँगुली बाहर निकालना।

उदाहरण—'**सहस्राक्ष ?**' (रुद्री २। १)
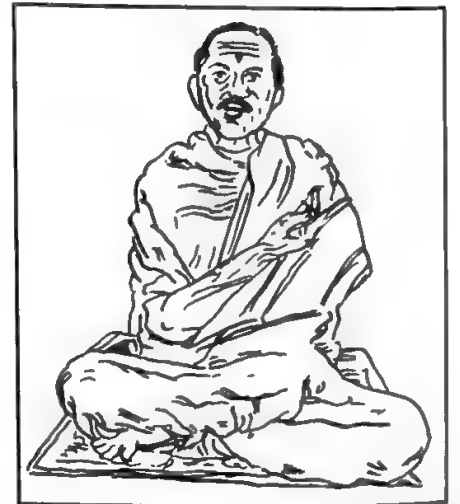
चित्र सं० ११ (ख)

२-विसर्ग—जहाँ विसर्गके मध्यमें तिरछी रेखा हो वहाँपर कनिष्ठा और तर्जनीको सीधी रखते हुए मध्यमा और अनामिकाको हथेलीकी तरफ मोड़ना।

उदाहरण— ' **सूचीभिः** ' (रुद्री १। २)
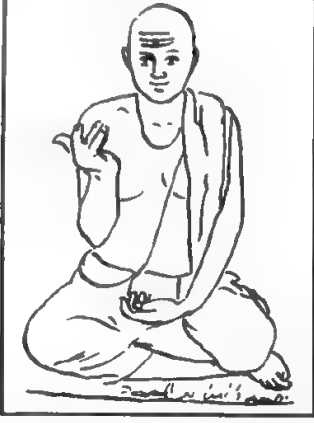
चित्र सं० १२

३-विसर्ग—जहाँपर विसर्गके मध्यकी रेखा नीचेकी ओर हो, वहाँपर कनिष्ठा अँगुलीको नीचेकी ओर करना।

उदाहरण—' **पुरुष** ' (रुद्री २। १)
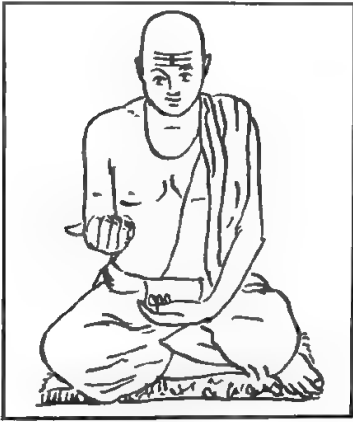
चित्र सं० १३

अनुस्वारकी मुद्राके दो भेद—

१-अनुस्वार—जहाँ अनुस्वारको ' ꣳ ' इस रूपमें दिखाया गया हो, वह एकमात्रिक या लघु है, वहाँ तर्जनी अँगूठा मिलाना चाहिये।

उदाहरण—'**छन्दाꣳसि**' (रुद्री २। ७)
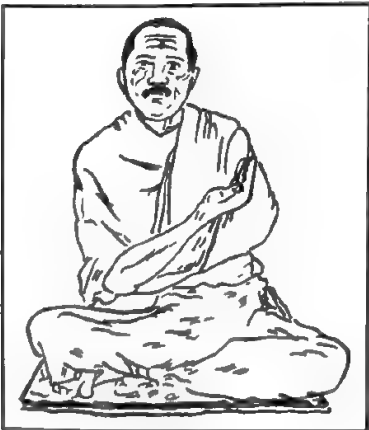
चित्र सं० १४

२-अनुस्वार—जहाँपर '**ꣴ**' इस रूपमें दिखाया गया हो, वहाँपर केवल तर्जनी सीधी करके दिखाना चाहिये।

उदाहरण—'**सभूमि ꣴ**' (रुद्री २। १)

चित्र सं० १५

अन्तिम हल् वर्णोंकी हस्तमुद्राके पाँच भेद—

१-अवसान मन्त्रार्ध या मन्त्रान्त पदपाठमें पदान्तमें हल् 'क्, ट्, ङ् ण्' हो तो तर्जनीको झुकाकर दिखाना चाहिये।

उदाहरण—पदपाठमें—'**भिषक्, सम्राट्, पाङ् वृषण्**'

चित्र सं०१६

२-अवसानमें हल् 'त्' हो तो तर्जनीको अँगूठेसे मिलाकर कुण्डलकी आकृति करना।

उदाहरण—'**सहस्रपात्**' (रुद्री २। १)
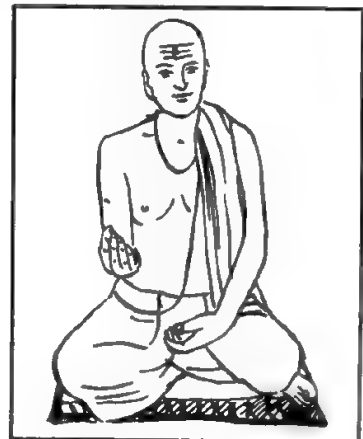
चित्र सं० १७

३-अवसानमें हल् 'न्' हो तो तर्जनीके बगलसे अँगूठाके नखका स्पर्श करना।

उदाहरण—'रश्मीन्' (रुद्री १। ४)

चित्र सं० १८

४-अवसानके हल् 'म्' में मुट्ठी बाँधकर दिखाना।

उदाहरण—'गर्भधम्।' (रुद्री १। १)

चित्र सं० १९

५-अवसानके हल् 'प्' में पाँचों अँगुली मिलाना।

उदाहरण—पदपाठमें 'ककुप्'

चित्र सं० २०

वर्जित हस्तमुद्रा

आजकल प्रायः देखा जाता है कि अधिकतर स्वरसञ्चालन शिक्षारहित कर्मठवृन्द मिथ्या-रूपाकृतियुक्त हस्तमुद्राका प्रदर्शन करते हैं, अतः कम-से-कम शुद्धरूपसे हस्तमुद्राके स्वरूपका ज्ञान होनेमें सहायक हो, इसलिये वर्जित हस्तमुद्राके स्वरूप भी बतलाये जाते हैं। जैसा कि शास्त्रमें उल्लेख है—

चुलुनौका स्फुटो दण्डः स्वस्तिको मुष्टिकाकृतिः।
परशुर्हस्तदोषाः स्युस्तथाङ्गुल्या प्रदर्शनम्॥

(सम्प्रदाय प्रबोधिनी शिक्षा)

१-चुलु (चुल्लू—आचमनमुद्रा)
२-नौका (नौकाके समान हाथ)
३-स्फुट (सीधा हाथ)
४-दण्ड (चपेटाके समान हाथ)
५-स्वस्तिक (अभय मुद्रा)
६-मुष्टिक (मुट्ठी बंद हाथ)
७-परशु (फरसे-जैसा हाथ)
८-तर्जन (अँगुलीसे स्वरप्रद)

—इन ऊपर लिखे विवरणके अनुसार नीचे क्रमिकरूपसे हस्तदोषके चित्र दिखाये जाते हैं—
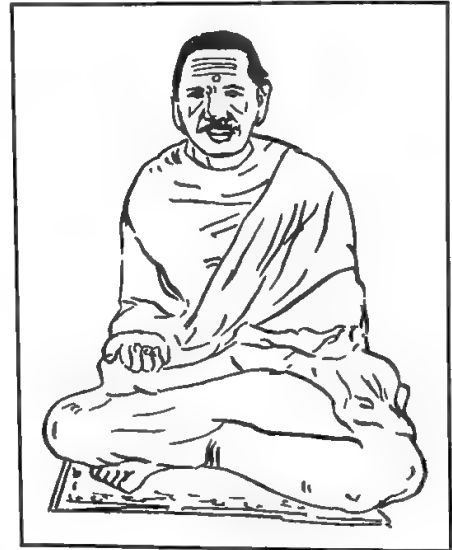
हस्तदोष १-चुलु

हस्तदोष २-नौका
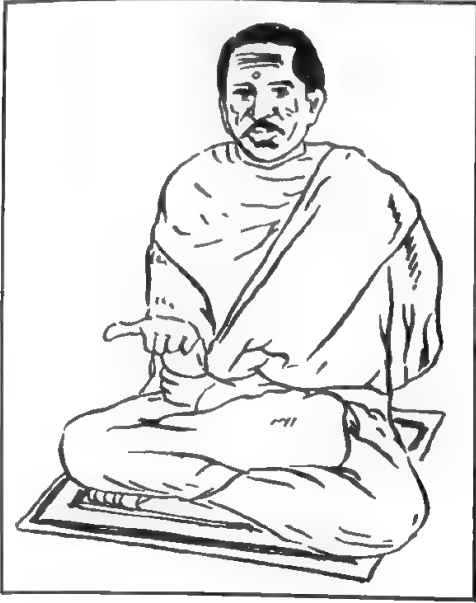
हस्तदोष ३-स्फुट
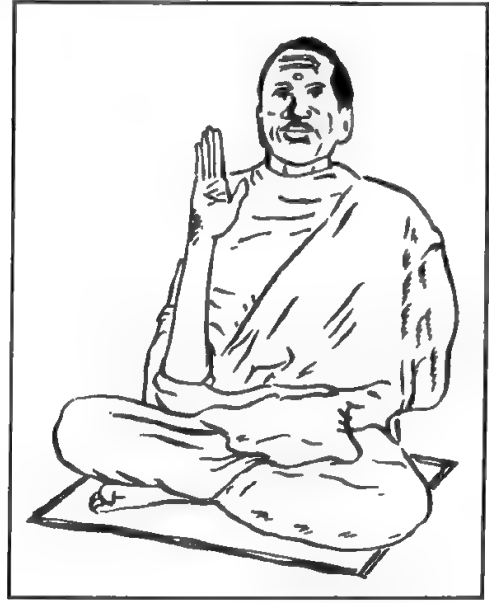
हस्तदोष ४-दण्ड

हस्तदोष ५- स्वस्तिक
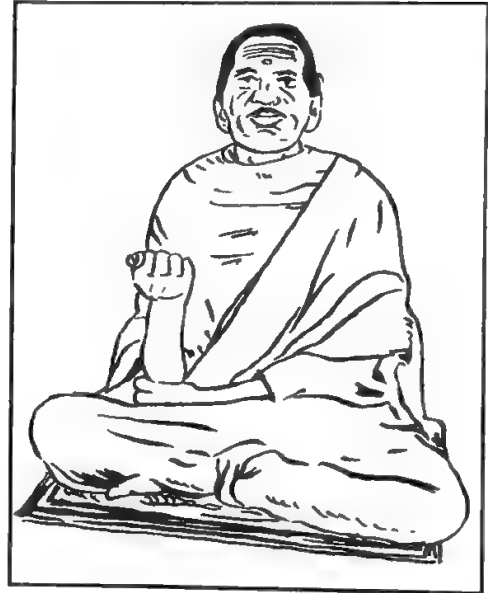
हस्तदोष ६-मुष्टिक

हस्तदोष ७-परशु

हस्तदोष ८-तर्जन

सामगानकी संक्षिप्त विधि

सामवेद संहिताके दो भाग हैं—प्रथम भाग 'आर्चिक' या 'पूर्वार्चिक' है दूसरा 'उत्तरार्चिक' है। दोनोंमें मन्त्र-संख्या १,८१० हैं। यदि एक ही मन्त्र जो कि दो बार आया है, उसको छोड़ दें तो केवल १,५४९ ही मन्त्र हैं। सब मन्त्र ऋग्वेदके हैं, उनमें ७५ स्वतन्त्र हैं। पूर्वार्चिकमें ५८५ ऋचाएँ हैं। इसके बाद एक आरण्यकाण्ड है, उसमें ५५ मन्त्र हैं। उसके बाद 'महानाम्नी आर्चिक' है, तत्पश्चात् 'उत्तरार्चिक' है उसमें १२३५ मन्त्र हैं।

सामका अर्थ है 'गान' या 'संगीत'। '**ऋचि अध्यूढध्वं साम गीयते**।' ऋचाके आधारपर ही सामका गान होता है। उत्तरार्चिकमें प्रायः ४०० 'प्रगाथ' अर्थात् गेय सूक्त हैं। पूर्वार्चिकमें अग्नि, इन्द्र, सोम देवताओंकी ऋचाएँ हैं। इनमें ग्रामगेय (जो ग्राममें गाये जायँ) और आरण्यगेय (जो वनमें गाये जायँ)-का वर्णन है। आरण्यगेयको 'रहस्यगेय' भी कहते हैं।

दो ऋचाओंके समूहको 'प्रगाथ' कहते हैं। ऊहगान—ग्रामगेयके तथा ऊह्यगान—आरण्यगेयके विकृति-गान कहे जाते हैं। सामवेद आर्चिकमें स्वर उदात्त[१] अनुदात्त[३] और स्वरित[२] के अङ्कसे दिखाये जाते हैं। दो अनुदात्त (३) चिह्नोंके मध्यमें रहनेवाला उदात्त (२) अङ्कसे दिखाया जाता है तथा ओंकारको सामवेदी 'उद्गीथ' कहते हैं। इन गानोंमें अक्षरोंके ऊपर—१, २, ३, ४, ५—इन अङ्कोंसे संगीतके स्वरोंका निर्देश किया जाता है। प्रायः मन्त्रोंमें ५ ही स्वर लगते हैं। कुछ थोड़ी ऋचाओंमें ७ तक भी स्वर लगते हैं। इन सात स्वरोंका वंशीके ७ स्वरोंसे इस प्रकार सम्बन्ध है—

१-(म) मध्यम	२-(ग) गांधार
३-(रे) ऋषभ	४-(स) षड्ज
५-(नी) निषाद	६-(ध) धैवत
७-(प) पञ्चम	

इन्हीं स्वरोंके अनुसार उद्गाता लोग यज्ञोंमें सामगान करते हैं।

स्तोभ—ऋचामें जो वर्ण नहीं हैं, उन्हें आलापके लिये जोड़कर गान करना ही 'स्तोभ' कहलाता है। स्तोभ अनेक हैं। यथा—औ हो वा। हा उ। ए हाऊ। होयि। औहोइ। ओहाइ आदि।

अनेक ऋषियोंने मन्त्रोंका अपने ढंगसे या लयसे गान किया, वे गीतियाँ उन्हींके नामसे प्रसिद्ध हुईं। जैसे—वामदेव्य, माधुछन्दस, श्यैत, नौधस आदि इनके अनेक नाम हैं। सामगानका उदाहरण—

३१२ ३२ ३२३ १२ ३१२ ३१२३ १२
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
२ ३ १२३ २उ ३१२ ३२उ ३१२ ३१२
यो मा ददाति स इदेवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥ ५९४॥

इस ऋचाके सामगानका विस्तार—

२र र र १रर २ २१
हाउ हाउ हाउ। सेतूं स्तर। (त्रिः)। दुस्त। रान् (द्वे त्रिः)
र२र१रर२
दानेनादानम्। (त्रिः)।
र र र र१ २ १११
हाउ हाउ हाउ। अहमस्मिप्रथमजात्रऋताऽ२३स्याऽ३४५॥
२र र र १रर २ १
हाउ हाउ हाउ सेतूं स्तर। (त्रिः) दुस्त। रान् (द्वे त्रिः)।
र२र १र२र १र २र र
अक्रोधेनक्रोधम्। (द्विः) अक्रोधेनक्रोधम्। हाउ हाउ
र र र र र १ २ १११
हाउ। पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्यनाऽ२३ माऽ ३४५॥
२र र र १रर २ १
हाउ हाउ हाउ। सेतूं स्तर। (त्रिः)। दुस्त। रान् (द्वे त्रिः)।
२ १र २र
श्रद्धयाऽश्रद्धाम् (त्रिः)।
र र र र र र र१ २ १ १ १
हाउ हाउ हाउ। योम ददाति सईदेवमाऽ २३ वा ऽ३४५ त्॥
२र र र १रर २
हाउ हाउ हाउ। सेतूंस्तर। (त्रिः)।
१ २१र र २ र र र
दुस्त। रान्। (द्वे त्रिः)। सत्येनानृतम्। (त्रिः)। हाउ हाउ हाउ।
१ २ १११ २ऽ ऽ ऽ
अहमन्नमन्नमदन्तामाऽ २३ द्मीऽ ३४५। हाउ हाउ हाउ वा॥
र१र
एषागतिः (त्रिः)।
२र१२१ १ २ १र२
एतदमृतम्। (त्रिः)। स्वर्गच्छ। (त्रिः)। ज्योतिर्गच्छ। (त्रिः)।
१रर २र१र २१ १११
सेतूं स्तीर्त्वा चतुरा २३४५॥

किसी भी मन्त्रको सामगानमें गानके उपयुक्त करनेके लिये नीचे लिखे आठ प्रकारके विकारोंका भी प्रयोग किया जाता है—

सं०संज्ञा	विवरण	उदाहरण
१-विकार—	एक वर्णके स्थानमें दूसरा बोलना	**'अग्ने=ओग्नायि'**
२-विश्लेष—	सन्धिका विच्छेद करना	**'वीतये=वोयि तोया २ यि'**
३-विकर्षण—	लम्बा खींचना	**'ये=या २३ यि'**
४-अभ्यास—	बार-बार उच्चारण करना	**'तो या २ यि, तोया २ यि'**
५-विराम—	पदके मध्यमें भी ठहरना—	**'गृणानो हव्यदातये= गृणानोहा व्यदातये'**
६-स्तोभ—	निरर्थक वर्णका प्रयोग	**'औ हो वा, हा उ, हावु'**
७-आगम—	अधिक वर्ण-प्रयोग	**'वरेण्यम्=वरेणियोम्'**
८-लोप—	वर्णका उच्चारण न करना	**'प्रचोदयात्=प्रचो ऽ१२ऽ१२। हुम्। आ २। दायो। आ ३४५**

नीचे लिखे मन्त्रमें इन आठ विकारोंका उदाहरण देखिये। मूल-मन्त्र ऋग्वेदमें इस प्रकार हैं—

'अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।' निहोता'। सत्सि-बर्हिषि'॥ (ऋग्वेद ६।- १६।- १०)।

सामगानके प्रयोगमें यही मन्त्र—

१ ४ २र २र १ - १ - १र २र
ओं। ओऽग्नाई॥ आयाहिऽ३ वाइतोयाऽ२इ। तोयाऽ२इ। गृंणानोह।
१ १ १२र १
व्यादातोयाऽ२इ। तोयाऽ२इ॥ नाइहोता साऽ२३॥
५र र ३ ५
त्साऽ२इबा २३४ औहोवा। ही ऽ२३४ षी

इस प्रकार संक्षेपमें सामगानकी रूपरेखा दिखायी गयी है।

ऋक् तथा यजुर्वेदमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इनमेंसे उदात्तको चिह्नरहित रूपसे और अनुदात्तको वर्णके नीचे तिरछी रेखा तथा स्वरितवर्णको ऊपर खड़ी रेखासे अंकित किया जाता है। किंतु सामवेदमें यही मन्त्र संहितामें इस प्रकार लिखा जाता है—

२३ १ २ ३१२ ३२ ३१२ १ २र
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि
३१२
बर्हिषि॥ (सामवेद ६६०)

सामगानके विशेष चिह्न—

१-सामवेदमें कहीं-कहीं वर्णोंपर 'र' 'क' और 'उ'- के चिह्न देखे जाते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि जब दो उदात्त एकत्र हो जाते हैं, तब पहले उदात्तके ऊपर १ का अङ्क लगता है और दूसरा बिना चिह्नके ही रहता है। परंतु इस दूसरे उदात्तके आगेवालेपर रकारसहित २ का अङ्क लगेगा।

२-अनुदात्तके बादके स्वरितपर भी '२र' यही चिह्न होता है, किंतु तब स्वरितके पहले अनुदात्तपर '३क' यह चिह्न होता है।

३-यदि दो उदात्त सन्निकृष्ट हों और बादमें अनुदात्तस्वर हो तो प्रथम उदात्तके ऊपर '२उ' यह चिह्न दिया जाता है और दूसरा स्वर चिह्नरहित होता है।

वेदपाठकी रक्षा एवं आवश्यकता—

वेदपाठके सम्बन्धमें हमारे धार्मिक कृत्य (कर्मकाण्ड)-में यजुर्वेदकी हस्तस्वर-प्रक्रिया और सामवेदकी गान-शैली—ये दोनों प्रकार ही आजकल अति कठिन होनेके कारण दिन-प्रतिदिन क्षीण होते जा रहे हैं। सम्प्रति इस कठिन समयमें सर्वसाधारणको बड़े-बड़े यज्ञ-यागादि देखनेका अवसर ही यदा-कदा प्राप्त होता है और कभी कदाचित् यदि देखते भी हैं तो उनके लिये एक खेल-सा ही रहता है। इसीलिये इस आजीविकासे जीवन-यापन करनेवाले हमारे पूज्य कर्मठ याज्ञिकवृन्द भी इस अति आवश्यक शिक्षा-ग्रहणमें शिथिल होते जा रहे हैं। अतः सर्वसाधारण चाहे स्वयं यथावत् शिक्षा ग्रहण न भी करें तो भी अपनी अमूल्यनिधिका ज्ञान तो कम-से-कम होनी चाहिये, क्योंकि वेदोच्चारणका यह आर्ष प्रकार है। यद्यपि वर्तमानमें बहुत श्रद्धालु नहीं हैं, जो इस कठिन परिपाटीमें पड़ना पसन्द करें, पर सनातनधर्म महान् है, आज भी श्रद्धालुओंकी कमी नहीं है। क्या बिना श्रद्धाके ही बदरी, केदार आदिकी महाकठिन एवं अति व्ययसाध्य यात्रा प्रतिवर्ष लाखों मनुष्योंद्वारा होना सम्भव है? इसी प्रकार कुम्भ आदि पर्वपर पचासों लाख जनसमूहका समवेत होना भी इसका प्रमाण है तथा दूसरा प्रयोजन यह भी है कि इस शिक्षाकी इच्छावाला विद्यार्थी गुरूपदिष्ट शिक्षाको इसकी सहायतासे सहजमें हृदयङ्गम करता हुआ अभ्यास कर सके। इससे पाठक और विद्यार्थी दोनोंको ही सरलता होगी, पाठको बारम्बार आलोडनके परिश्रमसे मुक्ति मिलेगी और विद्यार्थी इसके द्वारा अपने विस्मृत स्वरका ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। वेदसाहित्य-विषयक ज्ञातव्य विषय तो महान् है, किंतु नित्य-नैमित्तिक और काम्य कर्म तथा देवपूजा आदिमें व्यवहृत होनेवाले वेदमन्त्रोंका यथाविधि पाठ करनेकी इच्छावाले श्रद्धालु धार्मिकोंके लिये यह एक सरणि या दिग्दर्शन है।

हम चाहते यही हैं कि शिक्षाप्राप्त वेदपाठीका यथायोग्य सत्कार हो और धार्मिक जनोंको धर्मकी प्राप्ति हो। वेदपाठके विषयमें यह सर्वजन-विदित है कि उपनीत द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य)-मात्र इसके अधिकारी है, द्विजमात्रका यह परम धर्म है, अतः वेदज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

वेदोंकी नित्यता

नित्य-पदार्थ दो प्रकारके होते हैं। एक अपरिणामी-नित्य, जिसके स्वरूप अथवा गुणमें कोई परिवर्तन नहीं होता और दूसरा प्रवाह-नित्य, जो लाखों हेर-फेर होनेपर भी सदा रहता है। पहलेका उदाहरण परमात्मा है और दूसरेका उदाहरण प्रकृति अथवा जगत्। जगत् किसी-न-किसी रूपमें सर्वदा रहता है, चाहे उसमें लाखों हेर-फेर हुआ करे। सृष्टिके प्रारम्भमें भी वह प्रकृति अथवा परमाणुके रूपमें विद्यमान रहता है; अतएव वह प्रवाह-नित्य है। पर उसे अनित्य इसलिये कहते हैं कि उसका परिणाम होता है या वह प्रकृति अथवा परमाणुका कार्य है, पर कारण-रूपसे नित्य है।

वेद शब्दमय हैं। न्याय और वैशेषिकके मतमें शब्द कार्य तथा अनित्य हैं; किंतु वे भी मन्वन्तर अथवा युगान्तरमें गुरु-शिष्य-परम्परासे उनका पठन-पाठन स्वीकार कर उन्हें नित्य बना देते हैं। परमेश्वर प्रत्येक कल्पमें वेदोंको स्मरण कर उन्हींको प्रकटित करते हैं, वे वेद बनाते नहीं।

'ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥' (यजुर्वेद ३१। ७)

इस मन्त्रने वेदोंको ईश्वरकृत नहीं माना है, प्रत्युत उनको वेदोंका प्रादुर्भाव-कर्ता माना है। वे उनके द्वारा प्रकटित हुए, इसीसे ईश्वरकृत कहलाते हैं। जैसे ईश्वर नित्य हैं, वैसे ही उनके ज्ञान—वेद भी नित्य हैं। वेद शब्दका अर्थ ज्ञान है। जैसे माता-पिता अपनी संतानको शिक्षा देते हैं, वैसे ही जगत्के माता-पिता परमात्मा सृष्टिके आदिमें मनुष्योंको वैदिक शिक्षा प्रदान करते हैं, जिससे वे भलीभाँति अपनी जीवन-यात्राका निर्वाह कर सकें।

मीमांसाकार जैमिनि तथा व्याकरण-तत्त्वज्ञ पतञ्जलिने शब्दोंको नित्य सिद्ध करनेके लिये कई युक्तियाँ लिखी हैं। उनसे शब्दमय वेदोंकी नित्यता प्रतिपादित होती है। हम उनकी चर्चा न कर विद्वानोंका ध्यान फोनोग्राफ तथा रेडियोकी ओर आकृष्ट करते हैं, जिनके द्वारा दूसरोंके शब्द ज्यों-के-त्यों सुन लेनेपर किसीको यह संदेह नहीं हो सकता कि शब्द अनित्य हैं।

वेदोंमें स्थानों, मनुष्यों तथा नदियोंके नाम मिलते हैं, जिनका वर्णन वर्तमान भूगोल तथा इतिहासमें भी प्राप्त होता है। इससे वेद वर्तमान भूगोल-स्थान तथा ऐतिहासिक पुरुषोंके समयके बाद रचित हैं। अतः वे नित्य नहीं हो सकते, यह प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि वेदोंमें रूढिवाले शब्द नहीं, जिनके द्वारा स्थान, नदी तथा राज्य और ऋषिके नाम दिखाकर कोई उनकी नित्यताका खण्डन करे। वैदिक शब्द व्याकरण—निरुक्तके अनुसार सामान्य अर्थोंको कहते हैं—

'परं तु श्रुतिसामान्यम्।' (जैमिनिसूत्र १। १। ३१)

वेदोंमें लोक-प्रसिद्ध इतिहास अथवा भूगोलका वर्णन उपलब्ध नहीं होता। वे त्रिकाल-सिद्ध पदार्थ—ज्ञान तथा शिक्षाओंके भण्डार हैं। उनसे लोक-परलोक दोनोंका बोध होता है। वेदोंके वाच्य अर्थ तीनों कालोंमें एक समान होते हैं। उनमें कुछ परिवर्तन नहीं होता। लोग उनके ध्वनि-रूप अर्थोंसे इतिहास अथवा भविष्यत्कथाके अस्तित्वकी कल्पना करते हैं। उनसे नित्यताकी हानि नहीं होती। वेदाङ्ग, निरुक्त और व्याकरण उनके वाच्य अर्थ बतलाते हैं। उनमें कहीं इतिहास आदि नहीं है। ध्वनि-बलसे जो मन्त्रोंके विविध अर्थ प्रकाशित होते हैं, उनकी चर्चा निरुक्तकार यास्क महर्षिने **'इति याज्ञिकाः, इति ऐतिह्यम्'** इत्यादि रूपसे की है। वे अर्थ सर्वमान्य नहीं, किंतु यह ईश्वरीय ज्ञानका चमत्कार ही है कि एक ही शब्दमें कितने अर्थ भरे हुए हैं कि समय पाकर उनसे इतिहास-भूगोलका तत्त्व भी ज्ञात होता रहता है। वेद महत्त्वके ग्रन्थ हैं। जो ईश्वरको नहीं मानते, वे भी वेदोंको नित्य मानते हैं। उनका कहना है कि कोई निरपेक्ष विद्वान् वेदोंको किसीका बनाया हुआ नहीं कहते। वे पौरुषेय नहीं—

'न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्।'

(सांख्यसूत्र)

उपनिषदोंका सिद्धान्त है कि मनुष्य जिस प्रकार अपने श्वासोंको उत्पन्न नहीं करता, पर उसका स्वामी कहलाता है, वैसे ही ब्रह्म भी वेदोंकी अध्यक्षता करते हैं; क्योंकि उनमें एक ब्रह्मकी ही विचारधारा है।

'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।' (बृहदारण्यक० २। ४। १०)

इसपर कुछ लोग संदेह करते हैं कि निराकार ब्रह्म शब्दरूपमें अपनी विचारधारा कैसे प्रकट करते हैं? यह बात बड़ी तुच्छ है। जिन्होंने निराकार होकर साकार जगत् बनाया, वे क्या नहीं कर सकते! योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षुने लिखा है कि परमात्मा कभी-कभी करुणामय शरीर धारण कर लेते हैं—

'अद्भुतशरीरो देवो भावग्राह्यः।'

(योगवार्तिक)

यदि वेद नित्य हैं तो ब्रह्म तथा ऋषि-महर्षियोंके नामसे उनकी प्रसिद्धि क्यों हुई? इस प्रश्नका उत्तर निरुक्त तथा मीमांसादर्शनने दिया है कि ऋषियोंने उनकी व्याख्या भी लोगोंको समझायी है; उनका प्रवचन भी किया है। यही कारण है कि लोग उनके नामसे वेदोंको प्रसिद्ध करते हैं—

'आख्या प्रवचनात्।'

(जैमिनिसूत्र १। १। ३०)

'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।'

(यास्क)

सृष्टिके आदिमें परमेश्वरने चारों वेद ब्रह्माको एवं एक-एक वेद अग्नि, वायु, रवि तथा अथर्वाको सिखलाया—

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।'

(श्वेताश्वतरोप० ६। १८)

'अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः।'

(शतपथ)

'अथर्वाङ्गिरसः।'

(गोपथ)

यदि वे एक साथ चारोंकी शिक्षा ब्रह्माको नहीं देते तो लोग कह सकते थे कि वेदको अग्नि आदिने बनाया और भगवान्‌के नामसे प्रसिद्ध किया। जो वेद ब्रह्माको प्राप्त थे, वे ही अग्नि आदि महर्षियोंको मिले। इसीसे किसीको यह कहनेका अवसर नहीं मिल सकता कि उन्होंने ईश्वरके नामसे मनगढ़ंत बातें लोगोंको समझायीं। किसी-किसीका यह कहना है कि वेदोंके भिन्न-भिन्न भागोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी भाषा है, जिससे अनुमान करना पड़ता है कि वे विविध समयोंमें बनाये गये हैं। किंतु यह तर्क बड़ा तुच्छ है; क्योंकि एक ही सम्पादक अग्रलेख, टिप्पणी तथा समाचारोंकी भाषा भिन्न-भिन्न प्रकारकी अपने समाचार-पत्रमें रखता है। तब विद्यानिधि सर्वज्ञ ब्रह्म अपने ज्ञानको कठिन तथा सरल भाषामें क्यों नहीं प्रकाशित कर सकते! उनके लिये क्या दो-चार शैलियोंकी भाषाएँ प्रकट करना कठिन कार्य है?

सृष्टिके आदिमें कोई भाषा नहीं थी। इसलिये परमात्माने अपनी मनचाही बोलीमें शिक्षा दी, जो परमात्माकी भाषा देववाणी कहलाती है। उन्होंने उसीके द्वारा लोगोंको बोलना सिखलाया। माता-पिता अपने बच्चोंको पानी शब्दका उच्चारण करना बतलाते हैं। उन्होंने अशुद्ध उच्चारणके द्वारा अपभ्रंश भाषा उत्पन्न की। उसे शुद्ध कर जो बोलने लगे, वे अपनी भाषाको संस्कृत—सुधारी हुई कहते थे। सुधारी हुई भाषाके लिये संस्कृत शब्द वाल्मीकिजीकी रामायणके पहले किसी साहित्यमें नहीं मिलता। प्राचीन साहित्यमें वैदिक भाषा और विषय दोनोंके लिये वेद, छन्द तथा श्रुति शब्द व्यवहृत होते थे। लौकिक भाषाके लिये केवल भाषा (संस्कृत) शब्द प्रयुक्त होता था। लौकिक संस्कृतसे वेद-वाणीकी कई अंशोंमें एकता है; पर उनके व्याकरण, नियम और कोष भिन्न हैं—यद्यपि संस्कृतकी उत्पत्ति वेद-वाणीसे हुई है।

कुछ लोगोंकी यह आपत्ति है कि वेदकी नित्यता इसलिये सिद्ध नहीं होती कि वे त्रयी कहे जाते हैं; पर हैं चार। आरम्भमें वे तीन थे, पीछे वे चार हो गये। उनमें एक अवश्य नवीन होगा। उनकी दृष्टिमें अथर्ववेद नया ठहरता है; क्योंकि ऋक्, यजुः और साम इन्हींके नाम संस्कृत-साहित्यमें बार-बार मिलते हैं, अथर्वके नहीं। जो छन्दोबद्ध हैं उनका नाम ऋक् है; जो गाने योग्य हैं उन्हें साम कहते हैं और अवशिष्ट यजुः कहलाते हैं। अथर्वमें ऋक्, यजुः—ये दोनों मिलते हैं; उसमें साम भी है। इसलिये वह ऋक्, यजुः और साम-रूप हैं। वह उक्त नामोंसे प्रसिद्ध नहीं हुआ कि उसमें तीनोंका सामञ्जस्य हो गया है। तब कौन-सी विशेष संज्ञा उसे दी जाय। ऋक्, यजुः और सामवेद अपने प्रसिद्ध नामोंसे व्यवहृत होते हैं; क्योंकि उन नामोंके योग्य उनमें एक गुण विशेष रूपसे है—

'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था।' 'गीतिषु साम।' 'शेषे यजुःशब्दः।' (जैमिनिसूत्र २। १। ३५—३७)

अर्थात् त्रयी कहनेसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन चारोंका बोध होता है और ये चारों ही नित्य हैं। इसमें संदेहका कोई अवसर नहीं है।

मनुजीने कहा है कि वेदोंसे सब कार्य सिद्ध होते हैं—'**सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।**'

ऐसे गौरवशाली लाभदायक वेदोंपर जनताकी श्रद्धा क्यों नहीं, जो उनके नित्यानित्यके विचारमें प्रवृत्त होती है?

उक्त वेदोंमें परा और अपरा विद्याओंकी चर्चा है। उनसे पदार्थविद्या और आत्मविद्या—दोनोंका ज्ञान होता है। उनके अर्थ समझनेके प्रधान साधन व्याकरण और निरुक्त हैं। शाकपूणि तथा और्णनाभ आदिके निरुक्त अब नहीं मिलते। इस समय जो भाष्य मिलते हैं, उनमें उपलब्ध यास्क-निरुक्तका विद्वानोंने भी पूरा आदर नहीं किया। उन्होंने गृह्यसूत्र तथा श्रौतसूत्रपर अपनी दृष्टि रखी। इससे उनके अर्थ केवल यज्ञपरक हो गये। वैदिक महत्त्व लुप्त हो गया। वेद सब विद्याओंकी जड़ है। वर्तमान भाष्य इस बातको सिद्ध नहीं कर सके। यदि विद्वन्मण्डली वैदिक साहित्यकी निरन्तर आलोचना करे तो अर्थशक्ति उन्हें पूर्व प्रतिष्ठा दिला सकती है। विदेशी विद्वान् नहीं चाहते कि वेदोंकी मर्यादा अक्षुण्ण रहे। उनकी रक्षा भारतीयोंको करनी चाहिये।

भारतीय महर्षि यास्ककी यह सम्मति याद रखें कि ईश्वरकी विद्या नित्य है, जो कर्तव्यशिक्षाके लिये वेदोंमें विद्यमान है—

'**पुरुषविद्याया नित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिमन्त्रो वेदे।**'

आशा है, पाठक यदि उपर्युक्त पंक्तियोंपर ध्यान देंगे तो वे वेदोंकी नित्यता स्वीकार करेंगे।

व्युत्पत्ति-मूलक वेद-शब्दार्थ

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥[1]

अर्थात् वेदोंने जिन कर्मोंका विधान किया है, वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है, वे अधर्म हैं। वेद स्वयं भगवान्‌के स्वरूप हैं। वे उनके स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास एवं स्वयम्प्रकाश ज्ञान हैं—ऐसा हमने सुना है।

साक्षात्कृतधर्मा तपोलीन महर्षियोंद्वारा वेद प्रत्यक्षदृष्ट हैं।[2] विद्यमान पदार्थ ही दृष्ट होता है, अतः वेद पूर्वसे ही विद्यमान हैं। तपस्यमान ऋषि-विशेषको कालविशेषमें वेद प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। यही उन ऋषियोंका ऋषित्व है, ऐसा जानना चाहिये।

'वेद' शब्दके व्युत्पत्तिमूलक अर्थोंसे उपर्युक्त सभी विषय स्पष्ट होते हैं। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार विभिन्नार्थक पाँच '**विद**' धातुओंसे 'वेद' शब्द निष्पन्न होता है, जो विभिन्न अर्थोंको अभिव्यक्त करता है।

(१) अदादिगणीय '**विद ज्ञाने**' धातुसे करणमें '**घञ्**' प्रत्यय करनेसे निष्पन्न वेदका अर्थ होता है—'**वेत्ति—जानाति धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयोपायान् अनेन इति वेदः।**' अर्थात् जिसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष-रूप पुरुषार्थ-चतुष्टयको प्राप्त करनेके उपायोंको जानते हैं, उसे 'वेद' कहा जाता है। प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे अगम्य उपायोंको चूँकि वेदके द्वारा जानते हैं, यही वेदका वेदत्व अर्थात् अज्ञातार्थज्ञापकत्व है[3]। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भी जिन विषयोंका ज्ञान नहीं हो सकता, उनका भी ज्ञान वेदके द्वारा हो जाता है।

(२) दिवादिगणमें पठित '**विद सत्तायाम्**' धातुसे भावमें '**घञ्**' प्रत्यय करनेसे निष्पन्न 'वेद' शब्द अपने सनातन सत्-रूपको बतलाता है। महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने वेद शब्दके इसी सत्-रूपका स्पष्ट प्रतिपादन

१-श्रीमद्भागवत (६। १। ४०)।

२-(क) तद् यद् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते (निरुक्त २। ११)।
(ख) युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

३-प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

करते हुए महाभारतमें कहा है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

(३) तौदादिक '**विद्लृ लाभे**' धातुसे करणमें '**घञ्**' प्रत्यय करनेपर निष्पन्न 'वेद' शब्द '**विन्दति**' अथवा **विन्दते लभते धर्मादिपुरुषार्थान् अनेन इति वेदः**' इस तरह पुरुषार्थ-चतुष्टय-लाभरूप अर्थको व्यक्त करता है अर्थात् वेदसे न केवल धर्मादि पुरुषार्थोंको जानते हैं, अपितु उनके उपायोंको समझते हैं तथा वेदके द्वारा उन्हें प्राप्त भी करते हैं। वेद-निर्दिष्ट उपायोंके द्वारा सविधि अनुष्ठान करनेसे पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है।

(४) रुधादिगणीय '**विद विचारणे**' धातुसे करण-अर्थमें '**घञ्**' प्रत्ययके योगसे निष्पन्न 'वेद' शब्द '**विन्ते-विचारयति सृष्ट्यादिप्रक्रियाम् अनेन इति वेदः**'—इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया-विचाररूप अर्थको अभिव्यक्त करता है। तात्पर्य यह है कि युगके आरम्भमें विधाता जब नूतन सृष्टि-निर्माणकी प्रक्रियाके विचारमें उलझे रहते हैं, तब नारायण अपने वेदस्वरूपसे ही उनकी समस्याका समाधान करते हैं और विधाता वेद-निर्देशानुसार पूर्वकल्पकी तरह नयी सृष्टि करते हैं[1]।

महर्षि व्यासने श्रीमद्भागवतमें इस विषयको स्पष्ट करते हुए कहा है—

सर्ववेदमयेनेदमात्मनाऽऽत्माऽऽत्मयोनिना ।
प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते॥[2]

परमात्मयोगी भगवान् नारायणने अपने सर्ववेदस्वरूपसे सृष्टि-प्रक्रियामें किंकर्तव्यविमूढ स्रष्टाको निर्देश दिया कि कल्पान्त-कालसे मेरे स्वरूपमें अवस्थित जो प्राणी हैं, उनकी यथापूर्व—पूर्वकल्पके अनुसार ही सृष्टि करें। ऐसा उपदेश कर भगवान्के अन्तर्हित हो जानेपर लोकपितामह ब्रह्माने दैहिक तथा मानसिक विभिन्न प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि की[3]। इससे स्पष्ट होता है कि वेदके द्वारा ही सृष्टि-प्रक्रियाका निर्देश मिलता है।

(५) चुरादिगणीय '**विद चेतनाख्याननिवासेषु**' इस '**विद**' धातुसे चेतन-ज्ञान, आख्यान तथा निवास—इन तीन अर्थोंका करण-अर्थमें '**घञ्**' प्रत्यय करनेसे निष्पन्न 'वेद' शब्द सृष्टिके आदिमें पूर्वकल्पके अनुसार कर्म, नाम आदिका आख्यान होना अर्थ प्रतीत होता है।

वेद शब्दके इसी अर्थको सुव्यक्त करते हुए महर्षि मनुने लिखा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥

(मनु० १। २१)

अर्थात् प्रलयके बाद नूतन सृष्टिके आरम्भमें विधाता वेदाख्यानके अनुसार वस्तु-जगत्के नाम, कर्म, स्वरूप आदिका विधान करते हैं, जिससे पूर्वकल्पके अनुसार ही इस कल्पमें भी नामादिका व्यवहार होता है।

उपर्युक्त विभिन्नार्थक पाँच धातुओंसे निष्पन्न वेद शब्दके अर्थोंमें सभी विषय समाविष्ट हो जाते हैं। विशेषतः सत्तार्थक, ज्ञानार्थक तथा लाभार्थक '**विद**' धातुओंसे निष्पन्न वेद शब्दार्थसे सन्मयत्व, चिन्मयत्व एवं आनन्दमयत्वका बोध होनेसे वेदका सच्चिदानन्दमय—'**वेदो नारायणः साक्षात्**'—यह रूप सिद्ध होता है। अतएव शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म दोनोंके एकत्व-प्रतिपादक '**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म**' तथा '**गिरामस्म्येकमक्षरम्**'—ये भगवद्वचन[4] सुसंगत ही होते हैं। इसी विषयकी ओर कठोपनिषद्का भी स्पष्ट संकेत है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥[5]

इस तरह मन्त्र-ब्राह्मणात्मक[6] वेद आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक त्रिविध अर्थोंके प्रतिपादक हैं, पुरुषार्थ-चतुष्टयके साधक हैं, समस्त ज्ञान-विज्ञानके संवाहक हैं तथा भारतीय ऋषि-महर्षि-मनीषियोंके प्रत्यक्षज्ञानके महान् आदर्श हैं।

१-धाता यथापूर्वमकल्पयत् (ऋक्० १०। १९०। ३)।
२-श्रीमद्भा० (३। ९। ४३)।
३-अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः। प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः॥ (श्रीमद्भा० ३। १०। १)
४-गीता ८। १३ तथा गीता १०। २५।
५-कठोपनिषद् (१। २। १६)।
६-मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

वैदिक ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग

(पं० श्रीयोगीन्द्रजी झा, वेद-व्याकरणाचार्य)

वेदका अध्ययन ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगके अर्थ-ज्ञानके साथ करना चाहिये। ऋष्यादिज्ञानके बिना वेदाध्ययनादि कर्म करनेसे शौनककी अनुक्रमणीमें दोष लिखा है—

'**एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामम्भवत्यथान्तराश्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति**' (अनुक्रमणी १। १)। 'जो मनुष्य ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगको जाने बिना वेदका अध्ययन, अध्यापन, जप, हवन, यजन, याजन आदि करते हैं, उनका वेदाध्ययन निष्फल तथा दोषयुक्त होता है और वे मनुष्य अश्वगर्त नामक नरकमें पड़ते हैं अथवा मरनेपर शुष्क वृक्ष होते हैं (स्थावरयोनिमें जाते हैं) अथवा कदाचित् यदि मनुष्ययोनिमें भी उत्पन्न होते हैं तो अल्पायु होकर थोड़े ही दिनोंमें मर जाते हैं अथवा पापात्मा होते हैं।' जो मनुष्य ऋष्यादिको जानकर वेदाध्ययनादि करते हैं, वे फलभाक् होते हैं—

'**अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योऽर्थवित् तस्य वीर्यवत्तरम्भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते**' (अनुक्रमणी १। १)। 'जो मनुष्य ऋष्यादिको जानकर वेदाध्ययनादि करते हैं, उनका वेद बलवान् (अर्थात् फलप्रद) होता है। जो ऋष्यादिके साथ वेदका अर्थ भी जानते हैं, उनका वेद अतिशय फलप्रद होता है। वे मनुष्य जप, हवन, यजन आदि कर्म करके उनके फलसे युक्त होते हैं।' याज्ञवल्क्य, व्यास आदिने भी ऋष्यादिकी आवश्यकता, अपनी-अपनी स्मृतियोंमें बतलायी है। याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्तथैव च।
वेदितव्यः प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विशेषतः॥
अविदित्वा तु यः कुर्याद्याजनाध्यापने जपम्।
होममन्तर्जलादीनि तस्य चाल्पफलम्भवेत्॥'

'मन्त्रोंके ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग आदि ब्राह्मणको अवश्य जानना चाहिये। जो ब्राह्मण ऋष्यादिको बिना जाने याजन, अध्यापन, जप, होम आदि करते हैं, उनके कर्मोंका फल अल्प होता है।' व्यासने लिखा है—

अविदित्वा ऋषिश्छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेद् याजयेद् वा पापीयाञ्जायते तु सः॥

'जो ब्राह्मण ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगको बिना जाने याजन तथा अध्यापन करते हैं वे अतिशय पापी होते हैं।'

पाणिनीय व्याकरणके अनुसार गतिका अर्थ ज्ञान मानकर गत्यर्थक '**ऋष्**' धातुसे '**इगुपधात्कित्**' (उणादि ४। ५६९) सूत्रसे '**इन्**' प्रत्यय करनेपर ऋषि शब्द बनता है। मन्त्रोंके द्रष्टा अथवा स्मर्ता ऋषि कहलाते हैं। अतएव सर्वानुक्रम-सूत्रमें महर्षि कात्यायनने लिखा है—'**द्रष्टार ऋषयः स्मर्तारः।**' औपमन्यवाचार्यने भी निरुक्तमें इसी प्रकार '**ऋषि**' शब्दका निर्वचन बतलाया है—

'**होत्रमृषिर्निषीदन्नृषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते।**' (निरुक्त २। ११)। 'मन्त्र-समूहको देखनेवाले अर्थात् साक्षात्कार करनेवाले ऋषि कहलाते हैं। हिरण्यगर्भादिने सृष्टिके आदिमें आविर्भूत होकर पूर्वकल्पमें अनुभूत वेदपदार्थोंको कठिन तपश्चर्यासे संस्कार, सम्मान तथा स्मरणके द्वारा 'सुप्तप्रबुद्धन्याय'से पूर्ववत् प्राप्त किया; अतः वे वेदमन्त्रोंके ऋषि कहलाये। आज भी स्मरणार्थ वे मन्त्रोंके आदिमें दिये जाते हैं। श्रुतियोंमें भी ऋषि शब्दका (मन्त्रद्रष्टा) अर्थ प्रतिपादित है—'**तत एतम्परमेष्ठी प्रजापत्यो यज्ञमपश्यद्यद्दर्शपौर्णमासाविति।**' 'तब दर्श-पौर्णमास यज्ञगत द्रव्य, देवता, मन्त्रादिको परमेष्ठीने देखा।' '**दध्यङ् ह वा आथर्वण एतं शुक्रमेतं यज्ञं विदाञ्चकार**' यहाँसे लेकर '**न तदुहाश्विनोरनुश्रुतमास**' यहाँतकके इतिहाससे मालूम होता है कि प्रवर्ग्य-यागगत मन्त्रोंके दध्यङथर्वण ऋषि हैं। याज्ञवल्क्यने भी ऋषि शब्दका अर्थ मन्त्रद्रष्टा ही माना है—

'येन य ऋषिणा दृष्टो मन्त्रः सिद्धिश्च तेन वै।
मन्त्रेण तस्य सम्प्रोक्त ऋषिभावस्तदात्मकः॥'

'जो मन्त्र जिस ऋषिसे देखा गया, उस ऋषिका स्मरणपूर्वक यज्ञादिमें मन्त्रका प्रयोग करनेसे फलकी प्राप्ति होती है।' मन्त्रादिमें ऋषि-ज्ञान आवश्यक है, यह विषय श्रुतिमें भी प्रतिपादित है—

'**प्रजापतिः प्रथमां चितिमपश्यत् प्रजापतिरेव तस्या आर्षेयम्। देवा द्वितीयां चितिमपश्यन् देवा एव तस्या आर्षेयम्। इन्द्राग्नी विश्वकर्मा च तृतीयां चितिमपश्यंस्त एव तस्या आर्षेयम्। ऋषयश्चतुर्थीं चितिमपश्यन्नृषय एव तस्या**

आर्षेयम्। परमेष्ठी पञ्चमीं चितिमपश्यत् परमेष्ठ्येव तस्या आर्षेयम्।'

अर्थात् 'अग्निचयन-यागमें पाँच चितियाँ होती हैं; उनमें प्रजापतिने प्रथम चितिको देखा, इसलिये वे प्रथम चितिके ऋषि हुए। देवगणने द्वितीय चितिको देखा; इसलिये वे द्वितीय चितिके ऋषि हुए। इन्द्राग्नी तथा विश्वकर्माने तृतीय चितिको देखा, इसलिये वे तृतीय चितिके ऋषि हुए। ऋषिगणने चतुर्थ चितिको देखा, इसलिये वे चतुर्थ चितिके ऋषि हुए। परमेष्ठीने पञ्चम चितिको देखा, इसलिये वे पञ्चम चितिके ऋषि हुए।' यह विषय शतपथब्राह्मणमें प्रतिपादित है। इसके बाद वहाँ ही लिखा है—'**स यो हैतदेवं चितीनामार्षेयं वेद**' इत्यादि। 'जो इस प्रकार पाँचों चितियोंके ऋषियोंको जानते हैं, वे पूत होकर स्वर्गादिको प्राप्त करते हैं।'

अब 'देवता'पदका निर्वचन दिखलाया जाता है। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार क्रीडाद्यर्थक '**दिव्**' धातुसे '**हलश्च**' सूत्रसे '**घञ्**' प्रत्यय करके देव शब्द बनता है। उससे '**बहुलं छन्दसि**' इस वैदिक प्रकरणके सूत्रसे स्वार्थमें '**तल्**' प्रत्यय करके तथा '**टाप्**' करके देवता शब्द बनता है। निरुक्तकार यास्कने भी दानार्थक '**दा**' धातुसे या '**द्युत्**' धातुसे अथवा '**दीप्**' धातुसे '**व**' प्रत्यय करके वर्णका विकार तथा लोप करके '**देव**' शब्द बनाया है—'**देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद्वा।**' देव और देवताका अर्थ एक ही है; क्योंकि स्वार्थमें '**तल्**' प्रत्यय किया गया है। जो तीनों लोकोंमें भ्रमण करें, प्रकाशित हों अथवा वृष्ट्यादिद्वारा भक्ष्य-भोज्यादि चतुर्विध पदार्थ मनुष्योंको दें, उनका नाम देवता है। वेदमें ऐसे देवता तीन ही माने गये हैं—

'**तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वेन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः। तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।**' (निरुक्त० ७। २। ५) अर्थात् 'पृथिवीस्थानीय अग्नि, (२) अन्तरिक्षस्थानीय वायु या इन्द्र और (३) द्यु-स्थानीय सूर्य—ये तीन देवता वेदमें माने गये हैं। उन्हींकी अनेक नामसे स्तुतियाँ की गयी हैं। सारार्थ यह है कि मन्त्रके प्रतिपादनीय विषयको देवता कहते हैं। '**अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः।**' इस मन्त्रमें अग्नि देवता हैं। '**इषे त्वा**' इस मन्त्रमें शाखाएँ देवता हैं। यहाँ पूर्वपक्ष है—'**महाभाग्यत्वात्**' अग्नि देवता हो सकते हैं, परंतु शाखाएँ तो स्थावर पदार्थ हैं, वे कैसे देवता हो सकती हैं?' उत्तर सुनिये—'वेदमें रूढि देवता नहीं लिया जाता है, किंतु जिसको जिस मन्त्रमें हविके विषयमें कहा जाता है या जिसकी स्तुति की जाती है, वह पदार्थ उस मन्त्रका देवता होता है। इस प्रकारसे शाखादि अचेतन पदार्थको भी देवत्व प्राप्त हुआ। निरुक्तकारने भी ऐसा ही कहा है—'**अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते, यथाश्वप्रभृतीन्यौषधिपर्यन्तानि।**' (निरुक्त० ७। १। ४) 'कहीं अदेवता भी देवताकी तरह स्तुत होते हैं; जैसे अश्व आदि, औषधिपर्यन्त वस्तुएँ।' जो पूर्वपक्षीने कहा है कि स्थावर होनेके कारण शाखादिको देवत्व कैसे प्राप्त हुआ, वहाँ यह उत्तर है कि '**अभिमानिव्यपदेशस्तु**' इस वैयासिक सूत्रसे तथा '**मृदब्रवीत्**', '**आपोऽब्रुवन्**' इत्यादि श्रुतियोंसे यहाँ शाखाद्यभिमानी देवता लिया जाता है। प्रतिमाभूत शाखादि पदार्थ फलका साधन करता है।*

आह्लादार्थक चौरादिक '**चदि**' धातुसे '**चन्देरादेश्च छः**' (३। ४। ६६८) सूत्रसे '**असुन्**' प्रत्यय करके तथा चकारको छकारादेश करके छन्दः शब्द बनता है। अर्थ है—'**छन्दयति आह्लादयति चन्द्यतेऽनेन वा छन्दः**', 'जो मनुष्योंको प्रसन्न करे, उसका नाम छन्द है' अथवा छादनार्थक चौरादिक '**छद्**' धातुसे '**असुन्**' प्रत्यय करके '**पृषोदरादित्वात्**' नुमागम करके छन्दः पद बनता है।'**छादयति मन्त्रप्रतिपाद्ययज्ञादीनीतिच्छन्दः।**' जो यज्ञादिकी असुरादिकोंके उपद्रवसे रक्षा करे, उसे छन्द कहते हैं। निरुक्तकार यास्कने भी छन्द शब्दका ऐसा ही अर्थ बतलाया है—'**मन्त्रा मननात्। छन्दांसि छादनात् (स्तोमःस्तवनात्)। यजुर्यजतेरित्यादि।**' (निरुक्त० ७। ३। १२) 'मनन करनेसे त्राण करनेवाले शब्दसमूहको मन्त्र कहते हैं। जिससे यज्ञादि छादित हों (रक्षित हों), उसे छन्द कहते हैं, (जिससे देवताकी स्तुति की जाय, उसे स्तोम कहते हैं)। जिससे यज्ञ किया जाय, उसे यजुः कहते हैं।'

श्रुतिमें भी छन्दका यही अर्थ प्रतिपादित है—

* ऋग्वेद, प्रथम अष्टकके ३४वें सूक्तके ११वें मन्त्रमें और इसी अष्टकके ४५वें सूक्तके दूसरे मन्त्रमें ३३ देवोंका उल्लेख है। ऐतरेयब्राह्मण (२। २८) और शतपथब्राह्मण (४। ५। ७। २)-में भी ३३ देवोंकी कथा है। तैत्तिरीयसंहिता (१। ४। १०। १)-में स्पष्ट उल्लेख है कि आकाश, पृथिवी और अन्तरिक्षमें ११-११ देवता रहते हैं।—सम्पादक

दक्षिणतोऽसुरान् रक्षांसि त्वाष्ट्रान्यपहन्ति त्रिष्टुब्भिर्वज्रो वै त्रिष्टुप्' इत्यादि। 'यज्ञमें कुण्डकी दक्षिण परिधिको त्रिष्टुप्-स्वरूप माना है और त्रिष्टुप् वज्रस्वरूप है; अतः उससे असुरोंका नाश होता है।' मन्त्रोंका छन्दोज्ञान कात्यायनादिप्रणीत सर्वानुक्रम, पिङ्गल-सूत्रादि ग्रन्थोंसे करना चाहिये—

'**छन्दांसि गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यतिजगती शक्कर्यतिशक्कर्यष्ट्यत्यष्टिधृत्यतिधृतयःकृतिप्रकृत्याकृतिविकृति-संकृत्यभिकृत्युत्कृतयश्चतुर्विंशत्यक्षरादीनि चतुरुत्तराण्यूनाधिके-नैकेन निचृद्भूरिजौ द्वाभ्यां विराट् स्वराजावित्यादि।**' (अनु० अ०१। १) '२४ अक्षरोंका गायत्री, २८ का उष्णिक्, ३२ का अनुष्टुप्, ३६ का बृहती, ४० का पंक्ति, ४४ का त्रिष्टुप्, ४८ का जगती, ५२ का अतिजगती, ५६ का शक्वरी, ६० का अतिशक्वरी, ६४ का अष्टि, ६८ का अत्यष्टि, ७२ का धृति, ७६ का अतिधृति, ८० का कृति, ८४ का प्रकृति, ८८ का आकृति, ९२ का विकृति, ९६ का संकृति, १०० का अभिकृति और १०४ अक्षरोंका उत्कृति छन्द होता है। इस प्रकार २४ अक्षरसे लेकर १०४ अक्षरतक गायत्री आदि २१ छन्द होते हैं। इनमें प्रत्येकमें एक अक्षर कम होनेसे '**निचृत्**' विशेषण लगता है और एक अक्षर अधिक होनेसे '**भूरिज्**' विशेषण लगता है। दो अक्षर कम होनेसे '**विराट्**' विशेषण लगता है और दो अक्षर अधिक होनेसे '**स्वराट्**' विशेषण लगता है। इस प्रकार उन पूर्वोक्त छन्दोंके अनेक भेद सर्वानुक्रमसूत्र, पिङ्गलसूत्रादिमें वर्णित हैं। विशेष जिज्ञासु वहाँ देख लें। लेख विस्तारके भयसे यहाँ उन सबका विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है।

जिस कामके लिये मन्त्रोंका प्रयोग किया जाता है, उसे विनियोग कहते हैं। इसके विषयमें याज्ञवल्क्यने कहा है—

पुराकल्पे समुत्पन्ना मन्त्राः कर्मार्थमेव च।
अनेनेदं तु कर्तव्यं विनियोगः स उच्यते॥

प्रत्येक मन्त्रका विनियोग तथा ऋष्यादि भी तत्-तत् वेदके ब्राह्मण तथा कल्पसूत्रसे जानना चाहिये। विनियोग सबसे अधिक प्रयोजक है। मन्त्रमें अर्थान्तर अथवा विषयान्तर होनेपर भी विनियोगद्वारा उसका किसी अन्य कार्यमें विनियोग करना, कर्मपारवश्यसे पूर्वाचार्योंने माना है अर्थात् विनियोगके सामने शब्दार्थका कुछ आधिपत्य नहीं है। इसलिये मन्त्रोंमें मुख्य विनियोग है,जो कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके द्वारा समय-समयपर विनियुक्त हुआ था।

वेद-रहस्य

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)

'**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**'—इस मनुप्रोक्त वचनसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि निखिल धर्मोंका* मूल वेद है। वेद शब्द '**विद ज्ञाने**' धातुसे निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है प्रकृष्ट ज्ञान। वेद ज्ञान तथा विज्ञानका अनादि भण्डार है। भारतीय धर्म एवं दर्शनके मूलभूत सिद्धान्तोंका उद्गम-स्थल वेद ही है। वेद भारतीय संस्कृतिका प्राण है। यह भी सत्य है कि वेद-मन्त्र नितान्त ही गूढार्थक हैं, इसलिये उनके अर्थ-प्रकाशके लिये हमारे क्रान्तदर्शी ऋषि-महर्षियोंने अनेक स्मृतियोंका दर्शन, धर्मसूत्र तथा पुराणादि ग्रन्थोंकी रचना करके उनका उपबृंहण किया है। यही कारण है कि भारतीय धर्ममें जो जीवन्त-शक्ति दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण भी वेद ही है। इसलिये कहा जाता है कि जिस ज्ञान-विज्ञानके कारण किसी समय भारत सर्वोच्च अवस्थाको प्राप्त हुआ था तथा जिस परम-तत्त्वका साक्षात्कार करके तत्त्वदर्शी ऋषियोंने सब कुछ पाया था, जिसके प्रभावसे विश्वमें सुख-समृद्धि तथा शान्तिकी स्थापना की थी और इस पुण्यभूमि आर्यावर्त देशको '**स्वर्गादपि गरीयसी**' बनाया था, वह सारी सम्पदा वेदमें ही संनिहित है। वेद अपौरुषेय एवं ईश्वरीय ज्ञान तथा समस्त विद्याओंका मूल स्रोत है। मनुमहाराजने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥

(मनु० १२। ९७)

'वेदसे ही चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

* यहाँ निखिल धर्मका तात्पर्य वेदकी ११३१ शाखाओंमें कथित धर्म ही समझा जाता है, न कि इतर धर्म-समूह।

शूद्र), तीनों लोक (भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्लोक), चारों आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम)-की व्यवस्था की गयी है। केवल यही नहीं, अपितु भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान-कालिक धर्म-कर्मोंकी व्यवस्था भी वेदके अनुसार ही की गयी है।' वेद-धर्म उस ईश्वरीय ज्ञानकोशसे ही प्रकट हुआ है, जो अनादि और अनन्त है। इसलिये बृहदारण्यक श्रुतिमें कहा गया है—

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥ (बृहदारण्यक० ४। ५। ११)

'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चारों उस महान् परमेश्वरके श्वाससे ही प्रकट हुए हैं।' ऐतरेय ब्राह्मणमें भी कहा गया है—'**प्रजापतिर्वा इमान् वेदानसृजत्॥**' 'प्रजापतिने समस्त प्रजाओंके कल्याणके लिये ही वेदोंका सृजन किया है।' यहाँपर शंका हो सकती है कि वह ईश्वरीय वेदज्ञान मनुष्योंको कैसे प्राप्त हुआ? इसके लिये कहा जाता है कि सृष्टिके आदिकालमें कुछ उर्वर-मस्तिष्कवाले क्रान्तदर्शी ऋषि समाधिमें बैठकर उस दिव्य वेदज्ञानका प्रत्यक्ष दर्शन कर पाये थे। यास्काचार्यने निरुक्तमें लिखा है—

'**ऋषिर्दर्शनात्............स्तोमान् ददर्श॥**'

(निरुक्त० २। ३। ११)

अर्थात् ऋषियोंने मन्त्रोंको देखा है, इसलिये उनका नाम ऋषि पड़ा है। जो मन्त्रद्रष्टा है, वही ऋषि है। कात्यायनने 'सर्वानुक्रमसूत्र' में लिखा है—'**द्रष्टार ऋषयः स्मर्तारः॥**' अभिप्राय यह है कि 'ऋषि लोग मन्त्रोंके द्रष्टा या स्मर्ता हैं, कर्ता नहीं।' मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी एक-दो नहीं, अपितु अनेक हुए हैं, जैसे गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, वसिष्ठ तथा भारद्वाज आदि। उनमें कुछ ऋषिकाएँ भी थीं; जैसे-ब्रह्मवादिनी घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा, सूर्या तथा जुहू आदि। वेदज्ञान ईश्वरीय है, मन्त्रद्रष्टा ऋषि साक्षात्कृत जिस ईश्वरीय ज्ञानराशिको छोड़ गये हैं, वही वेद हैं। प्रारम्भमें संगृहीत-रूपमें वेद एक ही था, बादमें महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासजीने ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्ववेदके रूपमें उसका चार विभाग किया और अपने चार शिष्योंको पढ़ाया। अर्थात् पैलको ऋग्वेद, जैमिनिको यजुर्वेद, वैशम्पायनको सामवेद और सुमन्तुको अथर्ववेद पढ़ाया। उक्त महर्षियोंने भी अपने-अपने शिष्यों-प्रशिष्योंको वेद पढ़ाकर गुरु-शिष्यके मध्यकी श्रुति-परम्परासे वेदज्ञानको फैलाया है।

वेदकी प्राचीनता

'**अनन्ता वै वेदाः**' इस श्रुति-वचनसे ज्ञात होता है कि वेदज्ञान अनन्त है। कारण यह है कि वेदकी शाखाएँ ही इतनी विस्तृत हैं कि उनका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन एक ही जीवनमें सम्भव नहीं। इसीलिये 'महाभाष्य-पस्पशाह्निक' में उल्लेख है—

एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः।
एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽऽथर्वणो वेदः॥

अर्थात् बह्वृच (ऋग्वेद)-की २१ शाखा, अध्वर्यु (यजुर्वेद)-की १०१ शाखा, सामवेदकी १००० शाखा और अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ हैं। इस प्रकारसे कुल मिलाकर वेदकी ११३१ शाखाएँ हैं। यद्यपि आज इन शाखाओंमेंसे अधिकांश भाग लुप्त हैं, फिर भी जो कुछ शेष बचे हैं; उनकी रक्षा तो प्रत्येक हिन्दूको किसी भी कीमतपर करनी ही चाहिये।

वेद गद्य, पद्य और गीतिके रूपमें विद्यमान हैं। ऋग्वेद पद्यमें, यजुर्वेद गद्यमें और सामवेद गीतिरूपमें है। वेदोंमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड विशेषरूपमें होनेके कारण इनको 'वेदत्रयी' या 'त्रयीविद्या'-के नामसे भी अभिहित किया जाता है। आरम्भमें शिष्यगण गुरुमुखसे सुन-सुनकर वेदोंका पाठ किया करते थे, इसलिये वेदोंका एक नाम 'श्रुति' भी है। तभीसे भिन्न-भिन्न वेदपाठोंका विधान भी किया गया है और मन्त्रोंमें एक-एक मात्राओंकी रक्षा करनेके लिये ऐसा करना आवश्यक भी था। यथा—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

अर्थात् महर्षियोंने वेद-पाठ करनेके आठ प्रकार बताये हैं—(१) जटा, (२) माला, (३) शिखा, (४) रेखा, (५) ध्वज, (६) दण्ड, (७) रथ और (८) घन—ये क्रमशः आठ विकृतियाँ कही जाती हैं। इन्हीं भेदोंसे वेदपाठी वेदमन्त्रोंका उच्चारण किया करते हैं। वेद अनन्त होनेके साथ-साथ अनादि भी हैं। इसलिये कहा जाता है कि ईश्वरीय ज्ञान होनेके कारण किसी भी

कालमें वेदका नाश नहीं होता; क्योंकि नित्य-अनादि परमेश्वरका ज्ञान भला अन्तवाला कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। इसीलिये कहा भी है—'**नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि॥**' (मेधातिथि) अर्थात् 'महाप्रलयकालमें भी वेदका लोप (नाश) नहीं होता।' अन्यत्र भी इसका उल्लेख है—

प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः॥

(मनुस्मृति, कुल्लूक भट्टकी व्याख्या)

अभिप्राय यह कि 'प्रलयकालमें भी वेदज्ञानका अभाव नहीं होता, प्रत्युत वेदोंकी ज्ञानराशि परमात्मामें सूक्ष्मरूपसे पहले भी विद्यमान थी, अब भी है और आगे भी रहेगी—यह ध्रुव सत्य है।' अतः वेदका प्रादुर्भाव-काल निश्चित करना असम्भव-सा ही है।

वैदिक वाङ्मयका परिचय

वेद चार हैं—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। इनको 'मन्त्रसंहिता' भी कहते हैं। इन चार मूल वेदोंके चार उपवेद भी हैं—स्थापत्यवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और आयुर्वेद। इनमेंसे ऋग्वेदका उपवेद स्थापत्यवेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेदका गान्धर्ववेद और अथर्ववेदका उपवेद आयुर्वेद है। वेदके प्राचीन विभाग मुख्य रूपमें दो हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मणके अन्तर्गत आ जाते हैं। इसीलिये कहा है कि—'**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्॥**' (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र)

आपस्तम्बके कथनानुसार मन्त्र और ब्राह्मण—ये दोनों वेद हैं। मन्त्रभागको 'संहिता' कहते हैं और अर्थस्मारक वाक्योंको 'ब्राह्मण'। वृक्ष और शाखाकी तरह जैसे शब्द और अर्थकी पृथक् सत्ता नहीं है; ठीक उसी प्रकार ब्राह्मण-भाग भी वेद ही है, वेदसे पृथक् नहीं। ब्राह्मणका तात्पर्य है ब्रह्मसे सम्बन्धित विचार। इस विचारका प्राचीन नाम है '**ब्रह्मोद्य**'। याग-यज्ञोंका विधि-विधान भी ब्राह्मण-ग्रन्थोंके अनुसार ही होता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ अनेक हैं, जिनमेंसे बहुत ग्रन्थ आज लुप्त हैं। ऋग्वेदके ब्राह्मण हैं ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकि (शांखायन) ब्राह्मण। शुक्लयजुर्वेदका शतपथब्राह्मण प्रसिद्ध है। कृष्णयजुर्वेदका भी तैत्तिरीय ब्राह्मण अत्यन्त प्रसिद्ध है। सामवेदके कई ब्राह्मण हैं, जैसे ताण्ड्यब्राह्मण, आर्षेयब्राह्मण, षड्विंशब्राह्मण, सामविधानब्राह्मण, वंशब्राह्मण तथा जैमिनीय ब्राह्मण आदि। अथर्ववेदका गोपथब्राह्मण अति प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त भी और अनेक ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। जैसे दैवतब्राह्मण, कादेयब्राह्मण, भाल्लविब्राह्मण, काठक ब्राह्मण, मैत्रायणी ब्राह्मण, शाट्यायनि ब्राह्मण, खाण्डिकेय ब्राह्मण तथा पैङ्गायणि ब्राह्मण इत्यादि। ब्राह्मण-भागमें भी तीन विभाग हैं—ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। तात्पर्य यह है कि जिस विभागमें याग-यज्ञादिका विशेष विधान किया गया हो, वह ब्राह्मण है और जिस विभागमें ब्रह्मतत्त्वका विशेष विचार किया गया हो, वह आरण्यक और उपनिषद् है।

आरण्यक ग्रन्थ भी अनेक हैं, जिनमें ऐतरेय आरण्यक, तैत्तिरीय आरण्यक, कौषीतकि आरण्यक, शांखायन आरण्यक आदि प्रसिद्ध हैं। कुछ आरण्यक लुप्त हैं। वास्तवमें इनका आरण्यक नाम इसलिये पड़ा है कि ये ग्रन्थ अरण्यमें ही पठन-पाठन करने योग्य हैं; ग्राम-नगर आदि कोलाहलयुक्त स्थानमें नहीं। इसलिये सायणाचार्यने तैत्तिरीय आरण्यकके पाठ्यश्लोकमें लिखा है—

अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते॥

(तै० आर० भाष्य-मङ्गलश्लोक ६)

गहन अरण्यमें ब्रह्मचर्य-व्रतमें प्रतिष्ठित आर्य ऋषिगण जिस ब्रह्मविद्याका गम्भीररूपसे अनुशीलन अर्थात् पठन-पाठन किये, वे ही ग्रन्थ आरण्यकके नामसे प्रसिद्ध हैं। अरण्यमें ही निर्मित तथा पठित होनेके कारण इनका 'आरण्यक' नाम सार्थक ही है।

आरण्यकका ही दूसरा भाग उपनिषद् है। इसका अर्थ है ब्रह्मविद्या और प्रायः इसी अर्थमें यह शब्द रूढ है। विशरण, गति और शिथिलीकरण जिसके द्वारा हो, वही ब्रह्मविद्या उपनिषद् है। उपनिषद् भी संख्यामें बहुत हैं। अबतकके अनुसंधानसे दो सौसे भी अधिक उपनिषद्ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं और प्रकाशित भी हो चुके हैं। उनमेंसे प्राचीन एकादश उपनिषद् अति प्रसिद्ध हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य और बृहदारण्यक। इन एकादश उपनिषदोंपर आचार्य शंकरने भाष्य किया है।

वेदाङ्ग अर्थात् वेदके अङ्गभूत होनेसे या सहायक ग्रन्थ होनेसे इनको 'वेदाङ्ग' कहते हैं। जैसे (१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्द और

(६) ज्योतिष। इनके द्वारा वेदार्थका ज्ञान होता है या वेदार्थको समझा जाता है। इसीलिये इनका नाम वेदाङ्ग पड़ा। आर्ष वाङ्मय बहुत विस्तृत है, परंतु इस संदर्भमें हमें कतिपय प्रमुख वैदिक साहित्योंका नामोल्लेखमात्र करके ही संतोष करना पड़ा है।

वेदोंके भाष्यकार

वेद-मन्त्रोंके अर्थ तीन प्रकारसे किये जाते हैं— आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। वेदोंका भाष्य यद्यपि अति प्राचीन कालसे होता आया है, परंतु किसी भी प्राचीन भाष्यकारने चारों वेदोंका पूर्ण भाष्य नहीं किया है। प्राचीन वेद-भाष्यकारोंमें—स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, हरिस्वामी, वररुचि, भट्टभास्कर, वेंकटमाधव, आत्मानन्द, आनन्दतीर्थ, माधव तथा भरतस्वामी आदिका नाम उल्लेखनीय है; परंतु इनमेंसे किसीका भी चारों वेदोंका पूर्ण भाष्य नहीं मिलता। वेदोंका पूर्ण भाष्य तो सायणाचार्यके कालमें ही हुआ है, उसके पूर्व नहीं। वेद-भाष्यकारोंमें सायणाचार्य ही एक ऐसे प्रौढ भाष्यकार हुए हैं, जिन्होंने चारों वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों तथा कुछ आरण्यक-ग्रन्थोंका महत्त्वपूर्ण सुविस्तृत भाष्य लिखा है। अन्य अनेक विषयोंपर भी वे ग्रन्थ लिखे हैं। सायणाचार्य वेदके मूर्धन्य विद्वानोंमेंसे एक थे, इसमें किंचिन्मात्र संदेह नहीं है।

सायणके वेदभाष्योंमें व्याकरण आदिका प्रयोग बहुल रूपमें हुआ है। सायण-भाष्यके आधारपर ही कुछ भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वानोंने वेदभाष्योंकी रचना की है। यास्काचार्यने 'निरुक्त' में वेदभाष्यके मार्गको प्रशस्त तो किया है, किंतु कतिपय मन्त्रार्थके अतिरिक्त किसी भी वेदका भाष्य उन्होंने नहीं किया है। सायणने 'निरुक्त' का भी अपने वेदभाष्योंमें बहुल रूपमें प्रयोग किया है तथा प्राचीन परम्परागत अर्थ-शैलीको ही अपनाया है और उसकी पुष्टिके लिये श्रुति, स्मृति, पुराण तथा महाभारतादि ग्रन्थोंका ही प्रमाण उद्धृत किया है।

यज्ञ

'**यज**' धातुसे यज्ञ शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—देवपूजा, संगतिकरण और दान। इसलिये कहा गया है कि—'**अध्वरो वै यज्ञः॥**' (शतपथ० १। २। ४। ५) इन शब्दोंके द्वारा यज्ञका महत्त्व प्रकट किया गया है। अथर्ववेदमें भी कहा गया है—'**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः॥**' अर्थात् भुवनकी उत्पत्तिका स्थान यह यज्ञ ही है। शतपथब्राह्मण (१। ७। ४। ५)-में कहा गया है कि समस्त कर्मोंमें श्रेष्ठ कर्म यज्ञ ही है। इसी कारण यज्ञको ईश्वरीय यज्ञ भी बताया गया है—'**प्रजापतिर्वै यज्ञः॥**' ऐतरेय ब्राह्मण (१। ४। ३)-ने कहा है कि यज्ञ करनेवाले सभी पापोंसे छूट जाते हैं।

यज्ञमें देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र (ऋचाएँ), ऋत्विज् (होता), अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा और दक्षिणा आदिका ही विशेष प्राधान्य माना जाता है। यज्ञ और मन्त्रोच्चारणसे वायुमण्डलमें परिवर्तन हो जाता है, अखिल विश्वमें धर्मचक्र पूर्ववत् चलने लगता है। यज्ञमें मन्त्रोच्चारणसे चित्त शान्त और मन सबल होता है। यज्ञाग्निमें दी हुई आहुति वायुमण्डलके साथ मिलकर समस्त अन्तरिक्ष-मण्डलमें व्याप्त हो जाती है। उससे पर्जन्य उत्पन्न होता है। पर्जन्यसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी वृद्धि होती है। यज्ञसे देवता प्रसन्न होते हैं, जिससे देवता यज्ञ करनेवालेको मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हैं।

आर्य लोग यज्ञप्रेमी थे। छोटे-छोटे यज्ञोंसे लेकर महारुद्रयाग, महाविष्णुयाग तथा महीनोंतक चलनेवाले अश्वमेधादिक बड़े-बड़े यज्ञोंको अत्यन्त धैर्यके साथ सम्पन्न करते थे। यथासमय उसका फल भी प्राप्त करते थे। अतः आर्यावर्त-देशवासियोंके लिये आज भी यज्ञका महत्त्व है ही, इसमें किंचिन्मात्र संदेह नहीं है।

परमात्मतत्त्वका विचार

वेदमें तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इन काण्डोंमेंसे अन्तिम ज्ञानकाण्डका महत्त्व सर्वोपरि है। ज्ञानकाण्डमें केवल ब्रह्म या परमात्मतत्त्वका ही विचार किया गया है। वेदोंके अनुशीलनसे ज्ञान होता है। वेदोंमें केवल ब्रह्मवादका ही प्रतिपादन हुआ है। इसलिये वेद ब्रह्मवादसे ओतप्रोत है; क्योंकि वेदमें यत्र-तत्र-सर्वत्र ब्रह्मवादकी ही उद्घोषणा की गयी है। वेदमें अनेक सूक्त हैं, जो ब्रह्मवादके ही पोषक हैं। इनमें पुरुषसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त, अस्यवामीय सूक्त तथा नासदीय सूक्त आदि उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेदका नासदीय सूक्त एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है, जो संसार-बीजकी ओर संकेत करता है। यथा—

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

(ऋक्० १०। १२९। १-२)

'उस समय प्रलयकालमें न असत् था न सत्। प्राणधारी जीवादि भी नहीं थे। पृथिवी भी नहीं थी और आकाश तथा आकाशमें स्थित भूरादि सातों लोक भी नहीं थे। तब कौन कहाँ विद्यमान था? ब्रह्माण्ड कहाँ था? क्या दुर्गम तथा गम्भीर जल-समूह उस समय था? कुछ भी नहीं था। उस समय न मृत्यु थी और न अमरता, रात और दिनका भी भेद नहीं था। उस समय प्राण एवं क्रियादिसे रहित केवल एकमात्र सर्वशक्तिमान् ब्रह्ममात्र था; ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं था।'

वेदमें आये '**स्वधा**' शब्दका अर्थ माया है, जो शक्तिमान्‌में रहती है। स्वतन्त्र न होनेके कारण उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है, इसलिये शक्ति और शक्तिमान्‌में अभेद है। इसीलिये '**तदेकम्**' शब्दसे 'एकमात्र ब्रह्म था' ऐसा कहा गया है। इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि सृष्टिके मूलमें जगत्‌का कारण अनेक नहीं प्रत्युत एक ही है। अतः वेदका ब्रह्मवाद या अद्वयवाद उक्त ऋचाओंसे स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है।

आचार्य शंकरको कुछ लोग मायावादी मानते हैं, परंतु शंकराचार्य मायावादी नहीं प्रत्युत ब्रह्मवादी हैं। वह ब्रह्मवाद उनका अपना नहीं, बल्कि वेदका है। पुरुषसूक्तमें स्पष्ट कहा गया है—'**पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।**' (ऋक्० १०। ९०। २) 'अर्थात् जो भूतकालमें उत्पन्न हुआ है तथा भविष्यत्कालमें उत्पन्न होगा और जो कुछ वर्तमानकालमें है, वह सब पुरुषरूप ही है।' अतः वह ब्रह्मवाद नहीं तो और क्या है? ऋग्वेद (१। १६४। ४६)-में उल्लेख है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

सत् ब्रह्म एक ही है। मेधावी लोग उस एक सत्-तत्त्वको ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि आदि अनेक नामोंसे अभिहित करते हैं। सुन्दर पंखवाले तीव्रगामी गरुड भी वही हैं। उसी तत्त्वको यम तथा मातरिश्वाके नामसे भी कहते हैं। क्या वह सत् (ब्रह्म)-तत्त्व एक ही है या अनेक? नहीं, वह एक ही है और उसीके अनेक नाम तथा रूप हैं। इस ऋचामें एकत्वमें बहुत्व और बहुत्वमें एकत्वका दर्शन होता है। एकेश्वरवाद भी वहाँपर स्पष्ट परिज्ञात हो जाता है। हंसवती ऋचा (४। ४०। ५)-में सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर विद्यमान और समस्त उपाधियोंसे रहित हंस (आदित्य)-के रूपमें परमात्माका वर्णन हुआ है।

ऋग्वेद (४। २६। १-२)-में '**अहं मनुरभवं०**' आदि ऋचाओंमें ऋषि वामदेवजी कहते हैं कि—'हम ही प्रजापति हैं, हम सबके प्रेरक सविता हैं, एक ही दीर्घतमाके पुत्र मेधावी कक्षीवान् ऋषि हैं। हमने ही अर्जुनीके पुत्र कुत्सको भलीभाँति अलंकृत किया था। हम ही उशना कवि हैं। हे मनुष्यो! हमें अच्छी तरहसे देखो। हमने ही आर्यको पृथ्वी-दान किया था। हमने हव्यदाता मनुष्यके सत्यकी अभिवृद्धिके लिये वृष्टि-दान किया था। हमने शब्दायमान जलका आनयन किया था। देवगण हमारे संकल्पका अनुगमन करते हैं।' ऋषि वामदेवके इन उद्‌गारोंसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वेदका ब्रह्मवाद ऋषियोंकी वाणीमें किस प्रकार मुखरित हो उठा था।

ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १२५ वें सूक्तकी ऋचाओंमें अम्भृण ऋषिकी पुत्री वागाम्भृणी (वाग्देवी)-की उक्ति भी ब्रह्मवादसे ओतप्रोत है। वे स्वयं कहती हैं—'मैं रुद्रों और वसुओंके साथ विचरण करती हूँ। मैं आदित्यों और देवोंको तथा मित्र और वरुण एवं इन्द्र, अग्नि और दोनों अश्विनीकुमारोंको धारण करती हूँ।' इस सूक्तमें ८ ऋचाएँ हैं और सभी ऋचाओंमें डिण्डिमघोषसे केवल एक ब्रह्मवादकी ही उद्घोषणा की गयी है अर्थात् सर्वात्मभावको ही अभिव्यक्त किया गया है।

ऋग्वेद (१। १६४। २०)-के '**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**' मन्त्रमें शरीररूपी वृक्षमें जीवात्मा एवं परमात्मारूप दो पक्षियोंके विद्यमान होनेकी बात कही गयी है। उनमेंसे एक फलभोक्ता है और दूसरा साक्षी। दोनोंको परस्पर अभिन्न-सखा भी बताया गया है। इसका वास्तविक तत्त्व-रहस्य वस्तुतः विम्बस्थानीय अधिष्ठान चेतन या कूटस्थ चेतन और प्रतिविम्बस्थानीय चिदाभास अथवा जीव-चेतनमें घटित हो जाता है। अतः वहाँ जीव और ब्रह्ममें वैसे ही भेद सिद्ध नहीं होता, जैसे प्रतिविम्ब विम्बसे भिन्न सिद्ध नहीं होता। इसलिये श्रुतिमें कहा गया है—'**एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥**' वह ब्रह्म एक भी है और बहुधा भी, जैसे चन्द्रमा विम्बरूपमें एक

ही है, किंतु प्रतिविम्बरूपमें अनेक भी है। वेदमें भी कहा गया है—'**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**॥' (ऋक्० ६। ४७। १८) 'इन्द्र अर्थात् ब्रह्म अपनी मायाशक्तिके द्वारा अनेक रूपोंमें हो जाते हैं।' वहाँ एकसे अनेक हो जानेका तात्पर्य परिणाम-भावको प्राप्त हो जाना नहीं है, अपितु औपाधिकमात्र है। श्वेताश्वतर-श्रुतिमें भी वर्णित है—'**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः**।' (श्वेता० ६। ११) 'वह एक देव (ब्रह्म) ही समस्त प्राणियोंमें छिपा हुआ विद्यमान है।' यजुर्वेदमें भी कहा गया है—'**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्**॥' (यजु० माध्यन्दिनीय० ४०। १७) 'आदित्यमें जो वह पुरुष है, वह मैं ही हूँ।' वही वैदिकोंका अद्वयवाद या ब्रह्मवाद है। अथर्ववेदमें भी इसका वर्णन प्राप्त है—

'**स एति सविता महेन्द्रः**', '**स धाता स विधर्ता स वायुः**', '**सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः। सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः**॥' (अथर्व० १३। ४। ५)

'भाव यह कि वह इन्द्र अर्थात् महान् ब्रह्म ही सविता है, वही धाता तथा विधाता है, वही वायु है। वह अर्यमा है, वह वरुण है, वह रुद्र है, वह महादेव है। वह अग्नि है, वही सूर्य है और वही महायम भी है। तात्पर्य यह कि जगत्में सब कुछ वही है।' इससे बढ़कर वैदिक ब्रह्मवादका प्रमाण और क्या हो सकता है? इसलिये ऋग्वेदमें एक तत्त्वदर्शी ऋषि अपने इष्टदेवके साथ एकरूपताकी प्राप्तिके लिये उत्कट अभिलाषाको व्यक्त करते हुए कहते हैं—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥

(ऋक्० ८। ४४। २३)

'हे अग्ने! यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाय (द्वैतभाव सदाके लिये मिट जाय) तो इसी जीवनमें तेरे आशीर्वाद सत्य सिद्ध हो जायँ।' वही वेदोंका ब्रह्मवाद है और वह ब्रह्मवाद संहिता-भागसे लेकर ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, स्मृति-ग्रन्थों, धर्मसूत्रों, महाभारतादि इतिहास-ग्रन्थों तथा समस्त पुराण-ग्रन्थोंमें ओतप्रोत होकर विद्यमान है। यदि एक शब्दमें कहा जाय तो हमारे समस्त आर्ष वाङ्मयमें ही वैदिक ब्रह्मवादकी उद्घोषणा तत्त्वदर्शी ऋषि-महर्षियोंने बहुत पहले ही कर रखी है, यह निर्विवाद सत्य है।

'**स वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम**'—ऐसा कहकर वैदिकोंने कैवल्य-मोक्षको भी स्वीकारा है और उसीको ही ब्रह्मधामके नामसे भी कहा है। उस ब्रह्मधाम या मोक्षपदको प्राप्त होकर वहाँसे पुनः न लौटनेको ही वैदिकोंने परम मोक्ष माना है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता १५। ६)

वैदिक सप्त मर्यादा

वेदोंमें मानव-जीवन-सम्बन्धी असंख्य उपयोगी उपदेश भरे पड़े हैं, परंतु इस संदर्भमें हम केवल दो मन्त्रोंका उपदेशमात्र प्रस्तुत करके संतोष करेंगे। यथा—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥

(ऋक्० १०। ५। ६)

तात्पर्य यह कि हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, जुआ, असत्य-भाषण तथा बारम्बार पापकर्ममें लिप्त होना—ये सातों ही महापातक हैं। बुद्धिमान् मनुष्योंको चाहिये कि वे इनका सर्वथा परित्याग कर दें। इनमेंसे प्रत्येक ही मानव-जीवनके लिये महान् घातक हैं। यदि कोई एकमें भी फँस जाता है तो उसका जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है; किंतु जो इनसे निकल जाता है, वह निःसंदेह आदर्श मानव बन जाता है, यह निश्चित है।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

(ऋक्० ७। १०४। २२)

भाव यह कि 'हे परमात्मन्! उलूककी भाँति जिन लोगोंको दिनके दोपहरमें भी न दीखता हो तथा जो भेड़ियेकी तरह हर समय निर्बलोंको दबोच कर खा जानेकी घात लगाये रहता हो, जो चकवा पक्षीके समान सदा स्त्रैण रहता हो एवं जो गरुडके समान अभिमानमें चूर रहता हो और गीधके समान सर्वभक्षी हो तथा श्वान (कुत्ते)-की तरह परस्पर गृहयुद्धमें ही लगा रहता हो—ऐसे आसुरी वृत्तिवाले मनुष्योंसे हमारी रक्षा करो, उन दुष्टोंको पत्थरसे मार डालो।' प्रत्येक मनुष्यको वेदके इन दिव्य उपदेशोंका पालन अवश्य करना चाहिये, इसीमें सबका कल्याण है।

वेद ज्ञानका अगाध समुद्र है। उसका थाह पाना भला किसके लिये सम्भव हो सकता है? अर्थात् किसीके लिये भी नहीं। इसीलिये वेदकी अनन्तता सिद्ध होती है।

वेदोंकी रचना किसने की ?

(शास्त्रार्थपञ्चानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)

'वेदोंका आविर्भाव कब हुआ?' इस प्रश्नकी भाँति 'वेदोंकी रचना किसने की?' यह जिज्ञासा भी पाश्चात्त्य एवं पौरस्त्य सभी वेदानुसंधाताओंको अनादि-कालसे आकुल किये हुए है। भारतीय दार्शनिक भी वेदोंके अनिर्वचनीय माहात्म्यके सम्मुख जहाँ एकमतसे नतमस्तक हैं, वहीं उनके कर्तृत्वके विषयमें पर्याप्त विवादग्रस्त दिखायी पड़ते हैं। पाश्चात्त्य वेदज्ञोंने तो ईसासे ५ से ६ हजार वर्ष पूर्वकी रचना मानकर उनकी पौरुषेयताका स्पष्ट प्रतिपादन कर दिया है। उनका अभिप्राय है कि जिस प्रकार रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि लौकिक संस्कृत-ग्रन्थ वाल्मीकि, व्यास एवं कालिदास आदिके द्वारा प्रणीत हैं, उसी प्रकार वेदोंकी काठक, कौथुम, तैत्तिरीय आदि शाखाएँ भी कठ आदि ऋषियोंद्वारा रचित हैं। इसलिये पुरुषकर्तृक होनेके कारण वेद पौरुषेय एवं अनित्य हैं।

कुछ विद्वान् वेदोंका पौरुषेय होना दूसरे प्रकारसे सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि वेदोंमें यत्र-तत्र विशेषकर नाराशंसी गाथाओंके अन्तर्गत ऐतिहासिक सम्राटों एवं व्यक्तियोंके नाम आते हैं। जैसे—

बबरः प्रावाहणिरकामयत (तै०सं० ७। १। १०। २)

कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत (तै०सं० ७।२।२।२)

—इत्यादि प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि बबर, कुसुरुबिन्द आदि ऐतिहासिक व्यक्तियोंके बाद ही वेदोंका निर्माण हुआ होगा। उससे पूर्व वेदोंकी सत्ताका प्रश्न ही नहीं होता। इस प्रकार वेदोंमें इतिहास स्वीकार करनेवालोंकी दृष्टिमें भी वेद पौरुषेय हैं।

—इस सम्बन्धमें एक तीसरी विचारधारा और भी है। इस विचारधाराके विद्वानोंका कथन है कि वेदोंमें कई परस्पर असम्बद्ध एवं तथ्यहीन वाक्य उपलब्ध होते हैं। उदाहरणके लिये निम्न वाक्य देखे जा सकते हैं—

(क) **वनस्पतयः सत्रमासत।**

(ख) **सर्पाः सत्रमासत।**

(ग) **गवां मण्डूका ददत शतानि।**

—इन वाक्योंमें वर्णित जड वनस्पतियोंद्वारा एवं चेतन होते हुए भी ज्ञानहीन सर्प, मण्डूक प्रभृति जीवोंद्वारा यज्ञानुष्ठान किस प्रकार सम्भव हो सकता है? इसलिये उक्त वाक्य उन्मत्तके प्रलापकी भाँति जिस-किसीके द्वारा रचे गये हैं। अतः वेद नित्य अथवा अपौरुषेय कथमपि नहीं हो सकते।

इस विषयमें भारतीय दर्शनशास्त्रोंने जो विचार किया, वह बहुत ही क्रमबद्ध और सोपपत्तिक है। उन विश्लेषणोंकी छायामें देखें तो उपर्युक्त तर्क बहुत ही सारहीन एवं तथ्यहीन प्रतीत होते हैं।

पूर्वमीमांसामें महर्षि जैमिनिने '**वेदांश्चैके संनिकर्षं पुरुषाख्या**' और '**अनित्यदर्शनाच्च**' (जैमिनिसूत्र १। १। २७-२८)—इन दो सूत्रोंके अन्तर्गत वेदोंको अनित्य तथा पौरुषेय माननेवालोंके तर्कका उपस्थापन करके फिर एक-एकका युक्तिप्रमाण-पुरस्सर खण्डन किया है। रामायण, महाभारतकी भाँति काठक, तैत्तिरीय आदि वेदशाखाओंको भी मनुष्यकृत माननेवालोंके लिये जैमिनि ऋषि कहते हैं कि वेदोंकी जिन शाखाओंके साथ ऋषियोंका नाम सम्बद्ध है, वह उन शाखाओंके कर्तृत्वके कारण नहीं; अपितु प्रवचनके कारण हैं—'**आख्या प्रवचनात्**' (जैमिनिसूत्र १। १। ३०)। प्रवचनका तात्पर्य है कि उन ऋषियोंने उन मन्त्र-संहिताओंका उपदेश किया था, प्रणयन नहीं। इसलिये मन्त्रोंका साक्षात्कार करनेके कारण विश्वामित्र प्रभृतियोंको 'ऋषि' कहा जाता है, मन्त्रोंका 'निर्माता' नहीं। निरुक्तकार यास्कने भी '**साक्षात् कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः॥**' '**ऋषिर्दर्शनात्**' (निरुक्त १।६।२०; २।३।१२)—ऐसा कहकर उक्त अर्थकी उपादेयता स्वीकार की है।

वेदोंमें इतिहास माननेवालोंके सम्बन्धमें जैमिनिका कहना है कि तैत्तिरीयसंहितामें जो बबर, कुसुरुबिन्द आदि नाम उपलब्ध होते हैं, वे सब ऐतिहासिक व्यक्तियोंके ही हों; यह आवश्यक नहीं है। वहाँ बबर नामक किसी पुरुषविशेषका वर्णन नहीं है, अपितु ब-ब-र ध्वनि करनेवाले प्रवहणशील वायुका ही यहाँ निर्देश है। इसी प्रकार अन्य भी जो शब्द हैं, वे सब शब्दसामान्यमात्र ही समझने चाहिये—'**परं तु श्रुतिसामान्यम्**' (जैमिनिसूत्र १। १। ३१)।

परंतु वेदोंमें 'इतिहासका सर्वथा अभाव है', जैमिनिकी

यह स्थापना यास्क आदि पुरातन वेद-व्याख्याताओंके मतसे विरुद्ध है। यास्क वेदोंमें इतिहास स्वीकार करते हैं। **'कुशिकस्य सूनुः'** (ऋक्० ३। ३३। ५)-की व्याख्या करते हुए यास्क स्पष्ट कहते हैं—**'कुशिको राजा बभूव'** (नि०अ० २,खं० २५)। किंतु वेदोंमें इतिहास स्वीकार करते हुए भी यास्क वेदोंको पौरुषेय अथवा अनित्य नहीं मानते। उनका अभिप्राय है कि वेदोंमें तत्तत् ऐतिहासिक व्यक्तियोंके होनेके कारण वेदोंको उनके बादकी वस्तु नहीं कहा जा सकता। वेदोंका ज्ञान त्रिकालाबाधित है। कर-बदरके समान भूत-भव्य-भविष्य—तीनों कालोंके सूक्ष्म वर्णनकी शक्ति है। अतः लौकिक दृष्टिसे भविष्यमें होनेवाले व्यक्तियोंके वर्णन वेदोंकी नित्यता अथवा अपौरुषेयताके विरुद्ध नहीं है। व्यास-सूत्रोंमें वेदव्यासजीने भी यही पक्ष स्थापित किया है कि वेदोंमें आये ऐतिहासिक पुरावृत्त-सम्बन्धी पदोंको भावी अर्थका ज्ञापक समझना चाहिये। **'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।'** **'वनस्पतयः सत्रमासत'**—इत्यादि वाक्योंको उन्मत्त-वाक्योंकी भाँति अनर्थक और मनुष्यकर्तृक बतलानेवालोंके लिये मीमांसाका उत्तर है कि उक्त वाक्य उन्मत्त-प्रलापकी तरह अर्थहीन नहीं हैं, अपितु उनमें अर्थवाद होनेके कारण यज्ञकी प्रशंसामें तात्पर्य है। वहाँ केवल इतना ही अभीप्सित अर्थ है कि जब जड वनस्पति और अज्ञानी सर्प भी यज्ञ करते हैं, तब चेतन, ज्ञानवान् ब्राह्मणोंको तो यज्ञ करना ही चाहिये।

यज्ञ-प्रशंसापरक इन वाक्योंको मनुष्यकर्तृक भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यदि ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंके विधायक वाक्योंको मनुष्यनिर्मित मान भी लिया जाय तो भी **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'**—इत्यादि वाक्योंमें ज्योतिष्टोम यज्ञको स्वर्ग-साधन-स्वरूपमें जो वर्णित किया है, यह विनियोग किसी मनुष्यद्वारा निर्मित नहीं हो सकता अर्थात् तत्तत् यज्ञोंसे तत्तत् फल होते हैं—यह साध्य-साधन-प्रक्रिया किसी साधारण पुरुषके द्वारा ज्ञात नहीं हो सकती। इसलिये वनस्पत्यादि सत्र-वाक्य भी ज्योतिष्टोमादि-विधायक वाक्योंके समान ही हैं—

'कृते वा नियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्' (जैमिनिसूत्र १। १। ३२)। अतः ये सभी वेद-वाक्य पुरुषकर्तृक न होनेके कारण अपौरुषेय ही हैं।

उत्तरमीमांसामें व्यासजीने भी वेदोंको नित्य तथा अपौरुषेय बताया है। वस्तुतः है भी यही बात।

वेदोंकी शाश्वतवाणी नित्य एवं अपौरुषेय है। उसके प्रणयनमें साक्षात् परमेश्वर भी कारण नहीं हैं, जहाँ श्रुति **'वाचा विरूप नित्यया'** (ऋक्० ८। ७५। ६) कहकर अपनी नित्यताका स्वयं उद्घोष करती है, वहीं स्मृतियाँ भी **'अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'** कहकर वेदोंके नित्यत्वका प्रतिपादन करती हैं। जिस प्रकार साधारण प्राणोंको भी श्वास-प्रश्वास-क्रियामें किसी विशेष प्रयत्नका आश्रय नहीं लेना पड़ता, जैसे निद्राके समय भी श्वास-क्रिया स्वाभाविक रूपसे स्वतः सम्पन्न होती रहती है; उसी प्रकार वेद भी उस महान् भूतके निःश्वासभूत हैं—**अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः**। (बृहदारण्यक० ४। ५। ११)

महाप्रलयके बाद तिरोभूत हुए वेदोंको क्रान्तदर्शी ऋषि अपने उदात्त तपोबलसे पुनः साक्षात्कार करके प्रकट कर देते हैं—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

पूर्व-पुण्यके द्वारा जब मनुष्य वेद-ग्रहणकी योग्यता प्राप्त करते हैं, तब ऋषियोंमें प्रविष्ट उस दिव्य वेद-वाणीको वे खोज पाते हैं—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
(ऋक्० १०। ७१। ३)

—इस मन्त्रमें पहलेसे ही विद्यमान वेदवाणीका ऋषियोंमें प्रविष्ट होना तथा उसका मनुष्योंद्वारा पुनः ढूँढ़ पाना वर्णित है। अतः वेद नित्य हैं। प्रलयके समय भी उनका विनाश नहीं होता, प्रत्युत तिरोधानमात्र होता है।

वेद अपौरुषेय हैं। दृष्टके समान अदृष्ट वस्तुमें भी बुद्धिपूर्वक निर्माण होनेपर ही पौरुषेयता होती है—**'यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम्'** (सा० सूत्र ५। ५०), परंतु महाभूतके निःश्वास-रूप वेद तो अदृष्टवश स्वतः आविर्भूत होते हैं, उनमें बुद्धिपूर्वकता नहीं होती। अतः वेद किसी पुरुषद्वारा रचित कदापि नहीं हो सकते।

मीमांसकोंने शब्दकी नित्यता बताते हुए नित्य एवं स्वतःप्रमाण कहकर उनकी अपौरुषेयता सिद्ध की थी, परंतु उनके शब्द-नित्यत्वको नैयायिकोंने प्रबल तर्कोंसे खण्डित कर दिया है। नैयायिक शब्दको नित्य नहीं अनित्य मानते हैं। तब क्या वेद भी अनित्य हैं? नहीं,

वेद तो नित्य ही हैं। नैयायिक कहते हैं कि शब्दकी नित्यताके कारण वेद तो नित्य नहीं हैं; अपितु नित्य, सर्वज्ञ परमेश्वरद्वारा प्रणीत होनेके कारण नित्य हैं।

आजके वैज्ञानिकोंने न्यायविदोंके शब्दकी अनित्यता-सम्बन्धी तर्कोंको निराधार सिद्ध कर दिखाया है और मीमांसकोंके मतको अर्थात् शब्दकी नित्यताको प्रमाणित किया है। आजका भौतिक विज्ञान भी कहता है कि उच्चरित होनेके बाद शब्द नष्ट नहीं होता, अपितु वायुमण्डलमें बिखर जाता है। वैज्ञानिक यन्त्रोंके सहारे उसे पुनः प्रकट किया जा सकता है। रेडियो, टेलीफोन आदि यन्त्रोंने उनके इस कथनको प्रत्यक्ष भी कर दिखाया है।

आजका विज्ञान तो यहाँतक दावा करता है कि भविष्यमें इस प्रकारके यन्त्रोंका आविष्कार हो जानेपर वायुमण्डलमें तैरते उन शब्दोंको भी पकड़ना सम्भव हो सकेगा, जिन शब्दोंमें भगवान् श्रीकृष्णने आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्जुनको गीताका उपदेश दिया था। वैज्ञानिकोंका विश्वास है कि वे शब्द विनष्ट कदापि नहीं हुए हैं, अपितु वायुमण्डलमें कहीं दूर निकल गये हैं। शान्त जलमें कंकड़ फेंकनेपर जैसे लहरोंका क्रम परिधियाँ बनाता चलता है, उसी प्रकार वायुमण्डलमें भी शब्द-लहरियाँ बनती हैं। अभिप्राय यह है कि आजके विज्ञानके अनुसार भी शब्द नित्य होता है। ऐसी स्थितिमें मीमांसकोंका जो अभिमत है कि नित्य-शब्दोंका समुदाय होनेके कारण वेद भी नित्य हैं और नित्य होनेके कारण अपौरुषेय भी हैं। वे विज्ञानमूलक होनेके कारण सुतरां प्रमाण-संगत ही हैं।

उपर्युक्त विवेचनका मथितार्थ यही है कि सभी भारतीय दार्शनिकोंने एकमतसे वेदोंको स्वतः आविर्भूत होनेवाला नित्य-अपौरुषेय पदार्थ माना है। नैयायिक भी नित्य-सर्वज्ञ-पुरुष-परमेश्वरद्वारा प्रणीत होनेके कारण पौरुषेय कहते हैं; किसी साधारण पुरुषद्वारा निर्मित होनेके कारण नहीं। अपने तपः-पूत हृदयोंमें क्रान्तदर्शी महर्षियोंने अपनी विलक्षण मेधाके बलपर वेदोंका दर्शन किया था। उस दिव्य शाश्वत वेदवाणीमें लोकोत्तर निनादका श्रवण किया था। तथ्य यह है कि वेद अपौरुषेय हैं, नित्य हैं, भारतीय दर्शनों एवं वेदानुरागियोंका यही अभिमत और यही शाश्वत सत्य भी है।

वैदिक धर्म-दर्शनका मूल प्रणव (ॐ)

(डॉ० सुश्री आभा रानी)

वेद सम्पूर्ण मानव जातिकी अमूल्य सम्पत्ति है। हमारे साहित्यमें वेदका जो स्थान है, वह अन्य किसी ग्रन्थका नहीं है। मनुकी दृष्टिमें वेद सनातन चक्षु है। उसमें जो कुछ भी कहा गया है, वही धर्म है। उसके विपरीत आचरण करना अधर्म है। वेदके किसी भी मन्त्रके प्रारम्भमें 'ॐ' का उच्चारण होता है। 'ॐ' ब्रह्मका वाचक है। 'ॐ' शब्द ब्रह्मका सर्वश्रेष्ठ रूप है। 'ॐ' का 'अ' कार वैश्वानर है। इसकी उपासनासे समस्त लौकिक कामनाएँ पूर्ण होती हैं। 'उ' कार तेजस् है, इसका अर्थ वैश्वानर है तथा इसकी क्रिया तेजमें है, अर्थकी पुष्टि क्रियासे होती है। क्रियासे ही अन्नका परिपाक होता है। क्रियाके बिना मन भी निर्बल रह जाता है। तेजस् उत्कर्षको बताता है। तेजस् वैश्वानर और प्रज्ञा दोनोंसे जुड़कर उनका संचालन करता है। जो तेजस्की उपासना करता है, उसके सब मित्र हो जाते हैं। उसके वंशमें कोई मूर्ख नहीं होता। तीसरा वर्ण 'म्' है। 'म्' का अर्थ सीमा है। जो 'म्' की उपासना करता है, वह समस्त वैभवको पा लेता है। अ+उ तथा म्—इनके अतिरिक्त एक चतुर्थ मात्रा है जो अखण्ड और अव्यवहार्य है, वही तुरीय स्थिति है।

इस प्रकार 'ॐ' में हमारे व्यक्तित्वके चारों स्तरोंका प्रतिनिधित्व हो जाता है। जो 'ॐ' को जानता है, वह अपनेको जान लेता है और जो अपनेको जान लेता है, वह सब कुछ जान लेता है। अतएव 'ॐ' का ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है। कठोपनिषद्में वर्णित है कि समस्त वेद इसी 'ॐ' की व्याख्या करते हैं। समस्त तपस्या इसीकी प्राप्तिके लिये की जाती है और इसीकी इच्छासे ब्रह्मचर्यका पालन किया जाता है—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(१।२।१५)

वैदिक विचारधारामें प्रभुके सर्वोत्तम नाम 'ॐ' की मान्यता थी। परवर्तीकालमें इससे भिन्न विचारधाराएँ चल पड़ीं। बौद्ध तथा जैन-विचारधाराओंमें 'ॐ' की प्रतिष्ठा बनी रही। शैव-सम्प्रदायमें '**ॐ नमः शिवाय:**' मन्त्रका प्रचार है, जो वेदके अनुकूल है। शाक्त-सम्प्रदाय भी 'ॐ'- का परित्याग नहीं कर सका। शक्तिकी प्रधानता होते हुए भी तान्त्रिक मन्त्रोंमें सर्वत्र 'ॐ' का प्रथम उच्चारण विहित है। 'ॐ' यह मूल ध्वनि है। यह ध्वनि अ+उ+म् नामकी तीन ध्वनियोंमें फैल जाती है। 'अ' आविर्भाव है, 'उ' उठना या उड़ना है और 'म्' चुप हो जाना या अपनेमें लीन हो जाना है। ऋक्-यजुः-सामकी वेदत्रयी इन्हीं तीन मात्राओंका उपबृंहण है। तीन महाव्याहृतियाँ—**भूः**, **भुवः** और **स्वः** इन्हीं तीन मात्राओंसे निकली हैं। सृष्टि, स्थिति और प्रलयका प्रकाशन भी इन्हीं तीन मात्राओंसे होता है। सत्, चित्, आनन्दकी तीन सत्ताएँ भी इन्हींसे प्रकट हो जाती हैं।

'ॐ' ब्रह्मका वाचक है, इसमें तीन वर्ण हैं—अ, उ तथा म्—इनके अनन्तर एक चतुर्थ वर्ण भी है, जो अर्धमात्रा-रूप है, इसलिये वह सुनायी नहीं पड़ता। 'ॐ' कारके ये चार वर्ण ब्रह्मके चारों पादोंके सूचक हैं, जैसे—

'**अ**'=अव्यय पुरुष, '**उ**'=अक्षर पुरुष, '**म्**'=क्षर पुरुष और **अर्धमात्रा**=परात्पर पुरुष है।

इस प्रकार 'ॐ' ब्रह्मके चारों पादोंके सूचक हैं। इनमें प्रथम 'अ' को लें। 'अ' का ऊष्मा-भाग विकासको बतलाता है, स्पर्श-भाग संकोचको बतलाता है। विकास अग्नि है तथा संकोच सोम। इन दोनोंके मिश्रणसे पूरी सृष्टि बनी है। जिस प्रकार अर्थसृष्टि अग्नि और सोमसे बनी है, उसी प्रकार सारी शब्द-सृष्टि भी स्पर्श तथा ऊष्माके संयोगसे बनी है। ऐतरेय आरण्यकमें कहा गया है कि 'अ'-से ही सब शब्द बने हैं—'**अकारो वै सर्वा वाक्**।' 'अ'की इसी महिमाके कारण गीतामें भगवान्ने स्वयंको 'अ' कार बताया है—'**अक्षराणामकारोऽस्मि।**' 'अ' वर्ण असंग है, इसलिये इसे अव्यय पुरुषके रूपमें माना गया है। 'उ' में मुखका संकोच होता है। यह ससंगासंग है। यह न तो 'अ' की तरह पूरी तरह असंग है और न 'म्' की तरह पूरी तरह संसग है। यह अक्षर पुरुषका वाचक है। 'म्' क्षर पुरुष है। इसमें मुखका सर्वथा संकोच हो जाता है। इसके अनन्तर अर्धमात्रा परात्परकी सूचक है। इसमें शास्त्रकी गति नहीं। इस प्रकार 'ॐ' समस्त वेदोंका सार है, क्योंकि यह पूर्ण ब्रह्मका वाचक है। समस्त तप और ब्रह्मचर्यका पालन इस 'ॐ' की प्राप्तिके लिये ही किया जाता है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

परब्रह्मके वाचक 'ॐ' की व्याख्या करते हुए शास्त्र कहते हैं—'वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है और पूर्णमेंसे पूर्ण निकल जानेके बाद पूर्ण ही शेष रह जाता है।' यहाँ 'वह' परोक्षको बताता है 'यह' प्रत्यक्षको। ईश्वर परोक्ष है, जीव प्रत्यक्ष है। ईश्वरकी पूर्णता तो प्रसिद्ध है, किंतु जीव भी पूर्ण ही है—इसका कारण यह है कि जीव ईश्वरका ही अंश है और यदि ईश्वर पूर्ण है तो उसका अंश जीव भी अपूर्ण नहीं हो सकता। पूर्णसे जो भी उत्पन्न होगा, वह पूर्ण ही होगा।अतः जीव भी पूर्ण है। पूर्णमेंसे पूर्ण निकाल लेनेसे पूर्ण ही शेष रहता है। गणितका सिद्धान्त है कि पूर्णमेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर पूर्णमें कोई अपूर्णता नहीं आती। हमारा व्यक्तित्व विश्वका प्रतिविम्ब है। विश्वमें पृथ्वी है, हममें शरीर। विश्वमें चन्द्रमा है, हममें मन। विश्वमें सूर्य है, हममें बुद्धि। विश्वमें परमेष्ठी है, हममें महत्। विश्वमें स्वयम्भू है, हममें अव्यक्त। इस प्रकार हममें पूरे विश्वका प्रतिनिधित्व हो रहा है। विश्व पूर्ण है इसलिये हम भी पूर्ण हैं। जैसे ही हमें अपनी पूर्णताका ज्ञान होता है, वैसे ही त्रिविध शान्ति सामने आ जाती है, क्योंकि अशान्ति अपूर्णतामें होती है, पूर्णतामें नहीं। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—इस तीन प्रकारकी शान्तिका सूचक मन्त्र है—**ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।**

इस प्रकार हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि 'ॐ' प्रणव वैदिक धर्म-दर्शनका मूल है।

भगवान्‌के साक्षात् वाङ्मय स्वरूप हैं 'वेद'

(गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी, पिलखुवा)

हमारे भगवान् वेद कोई पुस्तक नहीं हैं, किताब या ग्रन्थ नहीं हैं, बल्कि वे साक्षात् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान्‌के श्रीवाङ्मय-स्वरूप हैं। वेदभगवान्‌की अद्भुत महिमाके सम्बन्धमें जब साक्षात् श्रीब्रह्माजी, श्रीविष्णु, भगवान् श्रीशंकरजी, भगवान् शेष और शारदा भी कहने-लिखनेमें असमर्थ हैं, तब फिर भला मुझ-जैसा तुच्छ व्यक्ति वेदभगवान्‌की अद्भुत महिमाके विषयमें क्या कह सकता है और क्या लिख सकता है?

भगवान् श्रीवेद सनातनधर्मके, मानवमात्रके और भारतके प्राण हैं। यदि भारतके पास वेदभगवान् नहीं हैं तो फिर इस देशकी न कोई कीमत है और न ही कोई मूल्य। भगवान् वेदकी एकमात्र अद्भुत विशेषता यही है कि वेदानुसार चलने और वेदाज्ञा शिरोधार्य करनेके कारण ही भारत आजतक जगद्गुरु माना जाता रहा है तथा वेदोंके कारण ही हिन्दू-जाति सर्वश्रेष्ठ जाति मानी जाती रही है। वेदोंके कारण ही सत्य सनातन धर्म सारे विश्वका सच्चा ईश्वरीय धर्म और सिरमौर माना जाता रहा है। जो भी देश अथवा जाति वेदभगवान्‌की आज्ञापर नहीं चले और वेदभगवान्‌की कृपासे वञ्चित रह गये, वे देश तथा जाति जंगलियोंकी श्रेणीमें चले गये और सभ्य होनेसे वञ्चित हो गये तथा वास्तविक उन्नति भी नहीं कर सके। वेदभगवान्‌की ऐसी विलक्षण महिमा है कि उनके समक्ष किसी भी अन्य वेद-विरुद्ध बातको सनातनधर्मी हो अथवा अन्य कोई बड़े-से-बड़ा नेता या चक्रवर्ती सम्राट् ही क्यों न हो, साक्षात् अपने अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परात्पर ब्रह्म भगवान्‌तककी भी बात माननेके लिये तैयार नहीं हो सकता। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि हम सनातनधर्मियोंने भगवान् बुद्धको साक्षात् भगवान्‌का अवतार माना है, पर वेद-विरुद्ध बात कहनेके कारण हमने स्वीकार नहीं किया और भगवान् जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराजने भी बुद्ध-भगवान्‌की बातको स्वीकार नहीं किया। जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराजने विरोधी बौद्धोंसे शास्त्रार्थ करके उन्हें परास्त किया तथा सनातन वैदिक धर्मकी पताका बड़े गर्वसे फहरायी। साक्षात् भगवान् बुद्धकी भी बात जब वेदोंके सामने नहीं मानी जा सकती तो इससे बढ़कर वेदभगवान्‌की अद्भुत महिमाका प्रत्यक्ष प्रमाण और क्या होगा? बादमें जो भी जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य, जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीमाधवाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य आदि पूज्य आचार्यचरण हुए हैं, सभी वेदोंके सामने नतमस्तक हुए हैं और वेदोंको सभीने माना है। किसी भी धर्माचार्य, संत-महात्माने बौद्धमतकी बातको स्वीकार नहीं किया और एक स्वरसे वेदभगवान्‌की आज्ञाको ही सर्वोपरि माना है। वेदभगवान् ही हमारे लिये सब कुछ हैं।

वेदभगवान् साक्षात् परात्पर ब्रह्म हैं। इनके समान न कोई हुआ है और न होगा—'**न भूतो न भविष्यति**' यह एक अकाट्य सत्य सिद्धान्त है। ३३ करोड़ देवी-देवता वेदभगवान्‌के सामने नतमस्तक होते हैं और साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण भी वेदाज्ञाका पालन करते हैं। वे सनातन वैदिक धर्मकी रक्षाके लिये ही तो अपना अवतार ग्रहण करते हैं तथा वैदिक सत्कर्तव्योंका पालन कर इसे महिमामण्डित करते हैं। वेदभगवान्‌का अवतार भी होता है।

जिस प्रकार भगवान् निराकार हैं और वे समय-समयपर भगवान् श्रीराम, कृष्णके रूपमें अवतार लेते हैं, जिस प्रकार श्रीगङ्गा जलके रूपमें हैं, पर समय-समयपर अपने भक्तोंको चतुर्भुजी-रूपमें दर्शन देती हैं। इसी प्रकार परब्रह्म भगवान् श्रीरामके राज्याभिषेकके समय भगवान् वेदने देवताओंके रूपमें प्रकट होकर उनकी स्तुति की थी। वेदभगवान्‌ने साकाररूपमें श्रीकृष्णावतारके समयमें भी अवतरित होकर उनकी स्तुति की थी। वेदभगवान्‌का अवतार श्रीवाल्मीकिरामायणके रूपमें हुआ था। वेदोंके वास्तविक अर्थों एवं रहस्योंको सनातनधर्मियोंके अतिरिक्त आजतक सारे विश्वका कोई भी व्यक्ति समझ ही नहीं सका है और न समझ सकेगा। वेदभगवान् पूर्ण हैं। इसीलिये वे साक्षात् धर्मप्राण दिव्य देश भारतमें और देववाणी संस्कृतमें विराजमान रहकर जगत्‌का परम कल्याण किया करते हैं। हम भारतवासी सनातनधर्मी हिन्दू परम सौभाग्यशाली हैं कि हमें वेदभगवान् मिले हैं, जिनकी छत्रच्छायामें रहकर हम अपना परम कल्याण

किया करते हैं। वेदभगवान्‌की कृपा और वेदोंके दिव्य प्रकाशके कारण ही सारा विश्व भारतको जगद्‌गुरु मानकर, भारतके सामने नतमस्तक हुआ करता है और घोर विपत्ति पड़नेपर भारतसे प्रकाश प्राप्त करता है।

वेदभगवान्‌के बिना विश्वका कल्याण कभी भी नहीं हो सकता और वेदोंसे बढ़कर सारे विश्वमें कल्याणका कोई दूसरा मार्ग नहीं है। यह हम नहीं कह रहे हैं, बल्कि इसे तो २५ सौ वर्ष पूर्व अरबी भाषी कवि लाबीने ही कह दिया था। लखनऊके एक पत्र 'आर्यमित्र'में अक्टूबर १९६८ में उनकी वह कविता छपी थी, जिसमें वेदोंकी अद्भुत महिमाका वर्णन इस प्रकार है—

मूल अरबी कविता*

अया मुबारकल जर्जे योशेय्ये नुहामिनल्।
हिन्दे फ़राद कल्ला हो मैव्यो नज्जेला जिक्रतुन॥ १॥
बहल नजल्ले पतुन् एनाने सहवी अखातुन्।
हाज ही युनज्जेलर स्लोजिकतार मिनल हिन्दुतुन्॥ २॥
यक्लून ल्लाहया अहलल् अजे आलमीन कुल्लहम्।
फत निऊ जिक्र तुल वेदहक्कन् मालम् युनज्जे लहुन॥ ३॥
वदो वालम् नुक्ष साभवल मुजर मिन ल्लहेतन जीलन्।
फ़ ऐनमा अखैयो मुत्तने अस्यों वशरेपों न जातुन्॥ ४॥
व अस् नैने हुआ ऋक न अतर वा सदीनक अखूव्रतुन्।
न अस्नात अला अदन ब्र होन मश अरतुन्॥ ५॥

१-हे हिन्दुस्तानकी धन्य भूमि! तू आदर करने योग्य है, क्योंकि तुझमें ही ईश्वरने सत्य-ज्ञानका प्रकाश किया।

२-ईश्वरीय ज्ञानरूपी ये चारों वेद हमारी मानसिक नेत्रोंको किस आकर्षक और शीतल उषाकी ज्योतिको देते हैं। परमेश्वरने पैगम्बरों अर्थात् ऋषियोंके रूपोंमें इन चारों वेदोंका प्रकाश किया।

३-पृथ्वीपर रहनेवाली सब जातियोंको ईश्वर उपदेश करता है कि मैंने वेदोंमें जिस ज्ञानको प्रकाशित किया है, उसे तुम अपने जीवनमें क्रियान्वित करो। उसके अनुसार आचरण करो! निश्चयरूपसे परमेश्वरने ही वेदोंका ज्ञान दिया है।

४-साम और यजुः वे खजाने (कोष) हैं, जिन्हें परमेश्वरने दिया है। हे मेरे भाइयो! तुम उनका आदर करो, क्योंकि वे हमें मुक्तिका शुभ समाचार देते हैं।

५-चारों वेदोंमें ऋक् और अतर (अथर्व०) हमें विश्व-भ्रातृत्वका पाठ पढ़ाते हैं। ये दो ज्योति-स्तम्भ हैं, जो हमें उस लक्ष्य—विश्वभ्रातृत्वकी ओर अपना मुँह मोड़नेकी चेतावनी देते हैं।

[प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

वेदोंका स्वरूप और पारमार्थिक महत्त्व

(प्रो० डॉ० श्रीश्याम शर्माजी वाशिष्ठ)

'वेद' शब्द ज्ञानार्थक '**विद**' धातुसे '**घञ्**' प्रत्यय होकर बना है। अतः वेदका सामान्य अर्थ है ज्ञान। इस ज्ञानमें ज्ञानका विषय, ज्ञानका महत्त्व तथा ज्ञेय आदि सभी कुछ समवेत-रूपमें समाहित हैं। ज्ञानके अतिरिक्त '**विद**' धातु सत्ता-अर्थमें, लाभ-अर्थमें तथा विचारणा आदि अर्थोंमें भी प्रयुक्त होता है। अतएव वेदका अर्थ अत्यन्त व्यापक हो जाता है। इस व्यापक अर्थको लक्ष्यमें रखकर ही वेदकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

'**विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदः।**' अर्थात् धर्मादिपुरुषार्थ जिसमें हैं, जिससे ज्ञात होते हैं तथा जिससे प्राप्त होते हैं, वे 'वेद' हैं।

भारतीयोंके लिये वेद चरम सत्य है। यह सामान्य ज्ञान या विद्यामात्र ही नहीं, अपितु लौकिक-अलौकिक समस्त ज्ञानस्वरूप या ज्ञानका बोधक है। अतएव कहा गया है— '**सर्वज्ञानमयो हि सः**' (मनु० २। ७)। बादमें यही वेद शब्द ज्ञानके संग्रहभूत ग्रन्थके लिये भी प्रयुक्त होने लगा, जिसे भारतीय आस्थाका प्रतीक माना जाता है।

वेदका प्रादुर्भाव

वेदके प्रादुर्भावके सम्बन्धमें अनेक मत हैं। पाश्चात्त्य एवं पाश्चात्त्य-दृष्टिकोणसे प्रभावित लोग विभिन्न आधारोंपर वेदोंका समय निर्धारित करते हैं, जबकि भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओंमें आस्था रखनेवाले लोग वेदोंको अपौरुषेय

* मूल अरबी कविता आबुके विद्वान् कवि लाबीने लिखी थी। यह कविता दारुन रशीदके दरबारी कवि 'अस्माइ मिले कुशरा'-द्वारा संगृहीत 'सिहल उकुल' नामक पुस्तकमें अंकित है।

तथा सनातन मानते हैं। इनमें भी कुछ वेदोंको स्वतः आविर्भूत एवं अपौरुषेय मानते हैं, कुछ ईश्वररूप मानते हैं, कुछ ईश्वरके अनुग्रहसे महर्षियोंको प्राप्त (अर्थात् सर्वप्रथम प्रजापति ब्रह्माको या अग्नि, वायु तथा सूर्यको प्राप्त) हुआ—ऐसा मानते हैं। सम्प्रति, आस्थावादी समस्त भारतीय यही मानते हैं कि वेदका प्रादुर्भाव ईश्वरीय ज्ञानके रूपमें हुआ है। अतएव वेद अपौरुषेय, नित्य तथा सनातन हैं। जिस प्रकार ईश्वर अनादि-अनन्त तथा अविनश्वर हैं, वैसे ही वेद भी अनादि-अनन्त तथा अविनश्वर हैं। स्वयं वेदमें इसे ईश्वरकृत बताते हुए लिखा गया है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(ऋक्० १०। ९०। ९)

अर्थात् उस सर्वहुत यज्ञ (-रूप परमात्मा)-से ऋग्वेदके मन्त्र तथा सामगान बने, अथर्ववेदके मन्त्र उसीसे उत्पन्न हुए और उसीसे यजुर्वेदके मन्त्र भी उत्पन्न हुए। उपनिषद्ने कहा है कि सृष्टिके आदिमें परमात्माने ही ब्रह्माको प्रकट किया तथा उन्हें समस्त वेदोंका ज्ञान प्राप्त कराया—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(श्वेताश्वतर० ६। १८)

बृहदारण्यकोपनिषद्में भी वेदोंको परमात्माका नि:श्वास कहा गया है—

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः। (बृ० उ० २। ४। १०)

वेदको ईश्वरीय ज्ञानके रूपमें ही साक्षात्कृतधर्मा ऋषि-महर्षियोंने अपने अन्तश्चक्षुओंसे प्रत्यक्ष दर्शन किया और तदनन्तर उसे प्रकट किया। इसी कारण महर्षि यास्कने ऋषियोंको मन्त्रद्रष्टा कहा है—'**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।**'

सामान्य लोग जिस वैखरी वाक्को वेदके रूपमें जानते हैं और अनुशीलन करते हैं, वे वैदिक सूक्तोंके द्रष्टा ऋषि-महर्षियोंको ही वेदोंका कर्ता मानते हैं। इसीलिये कहा गया है—'**इमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः।**' जबकि इन ऋषियोंने वेदोंको प्राप्त किया है, यही इनका ऋषित्व है—**तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् ......तद् ऋषीणामृषित्वम्॥** (निरुक्त २। ३। ११)

तपस्वी ऋषियोंके हृदयमें जो ज्ञान प्रकट हुआ, उसे ही उन्होंने वैखरी वाक्के रूपमें पढ़ाया एवं प्रचार किया—

यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिः॥

(श० प० ब्रा० ४। ३। ९)

महर्षि यास्कने इसी तथ्यको प्रकट करते हुए लिखा है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। (निरुक्त १। ६। २०)

वेद-संख्या

ऋषियोंने वेदका मनन किया, अतः वे 'मन्त्र' कहलाये, छन्दोंमें आच्छादित होनेसे 'छन्द' कहलाये (**'मन्त्रा मननात्', 'छन्दांसि छादनात्।'**)। वह ज्ञान मूलतः एक था, किंतु शाखाओंके भेदसे विभिन्न संहिताओंमें संगृहीत हुआ—'**वेदं तावदेकं संत अतिमहत्तत्त्वाद् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः।**' (निरुक्त)

यद्यपि '**वेदास्त्रयस्त्रयी**' तथा '**चत्वारो वेदाः**' दोनों मान्यताएँ प्रचलित हैं। अतः कुछ तीन तो कुछ चार वेद मानते हैं। वस्तुतः रचनाभेद अर्थात् गद्य-पद्य एवं गान-रूपके कारण तीन वेद माने गये हैं। अर्थवश पाद-व्यवस्थित छन्दोबद्ध मन्त्र ऋक् कहलाये—'**तेषामृग् यथार्थावशेषपादव्यवस्था।**' (जै० सू०), ऋचाएँ साम कहलायीं '**गीतिषु सामाख्या।**' (जै० सू०), गद्य-प्रधान होनेसे यजुष् कहलाये '**गद्यात्मको यजुः।**' अतः यजुर्वेदमें जो भी छन्दोबद्ध मन्त्र हैं, वे ऋक् ही कहलाते हैं और अथर्वका गद्य-भाग यजुः कहलायेगा।

किंतु यज्ञके कार्य-सम्पादनमें चार विशिष्ट वेद-मन्त्रज्ञ ऋत्विक् होते हैं—होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा। वेद भी चार होते हैं। माना जाता है कि वेदके ये विभाग वेदव्यासने किये (**'वेदान् विव्यास वेदव्यासः'**)।

वेद भारतीयोंके लिये परम पवित्र पारमार्थिक ग्रन्थ हैं, किंतु ये गहन एवं गूढ हैं। वेद-ज्ञानके द्रष्टा ऋषि-महर्षियोंको इनका तात्त्विक ज्ञान था, परंतु कालक्रमसे ये जब और भी कठिन तथा पहुँचके बाहर होते गये तो उनके व्याख्याग्रन्थ रचे गये। कुछ लोग मन्त्रभागको ही वेद मानते हैं तथा वेदोंके सर्वप्रथम रचे गये व्याख्याग्रन्थ-ब्राह्मणोंको पृथक् ग्रन्थ मानते हैं, जबकि विस्तृत अर्थमें मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद कहे जाते हैं। अतः कहा

भी है— **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।'** धीरे-धीरे ये भी दुरूह होते गये, बादमें आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदाङ्ग आदि भी व्याख्याक्रमसे अस्तित्वमें आये। अतएव आचार्य यास्कने लिखा—**'उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च॥'** यही नहीं, परवर्ती कालमें इतिहास-पुराण भी इनके रहस्योद्घाटनके क्रममें रचे गये। इसीलिये माना जाता है कि इतिहास-पुराणोंके अनुशीलनद्वारा ही सम्प्रति वेदोंका वास्तविक ज्ञान सम्भव है, अन्यथा वेद स्वयं डरते हैं कि कहीं अल्पश्रुत व्यक्ति (अर्थात् भारतीय साहित्य-परम्परासे अनभिज्ञ व्यक्ति) हमपर प्रहार (अनर्थ) न कर दे—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदः मामयं प्रहरिष्यति॥

तात्पर्य यही है कि जो लोग भारतीय साहित्य और परम्पराओंसे अनभिज्ञ हैं या आस्था नहीं रखते, वे वेदोंके साथ न्याय नहीं कर सकते।

वस्तुतः वेद अज्ञात-पुराकालकी ऐसी सारस्वत रचना है, जो भारतीयोंके आस्तिक-नास्तिक धर्मदर्शन, तन्त्र-पुराण, शैव-शाक्त एवं वैष्णव, यहाँतक कि बौद्ध एवं जैन-मान्यताओं एवं प्रेरणाओंका भी स्रोत रहा है। वेद-रूपा विग्रहवती पयःस्विनी सरस्वतीके ज्ञानामृतमय पयोधरोंका पान करके ही परवर्ती युगोंमें निरन्तर भारतवर्षकी संततियाँ निरपेक्षभावसे अपनी ज्ञान-ऊर्जा एवं मनीषाको समृद्ध करती रही हैं।

पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी निःसंदेह वेदानुशीलनमें पर्याप्त रुचि ली है और उन्होंने एकमतसे वेदोंके महत्त्वको स्वीकार किया है। किंतु यूरोपीय भौतिकवादी व्याख्या-पद्धतिसे उनकी शाब्दिक विसंगतियाँ, स्वच्छन्द कल्पनाएँ तथा पूर्वाग्रहोंसे विजडित बौद्धिक निःसारता ही प्रमाणित हुई है, वैदिक सत्य बाह्य आवरणसे आवृत ही रहा है। विश्वभरके विद्वान् अपने-अपने प्रयासोंसे प्राप्त तथाकथित सत्यपर भले ही मुग्ध रहे हों, पर आधारभूत पारमार्थिक सत्य उनकी पहुँचसे बहुत दूर ही रहा है—**'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।'** क्योंकि उस सत्यधर्मको अधिगत करनेके लिये भारतीय परम्परागत पद्धतिसे अनुशीलन करना ही सुतरां आवश्यक है।

वेद भारतीयोंकी आस्थाके आधार, जीवनके सर्वस्व तथा परम पवित्र और परम सम्मान्य हैं। मनुमहाराजने इन्हें देव, पितृ एवं मनुष्योंका सनातन चक्षु कहा है— **'देवपितृमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनः।'** मनुके अनुसार इनकी उपयोगिता त्रैकालिक है—**'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।'**

वेदोंका भारतमें जैसा शीर्ष—सम्मान्य स्थान है, विश्वके किसी भी देशमें किसी भी ग्रन्थको वैसा नहीं है। वेद भारतवर्षकी अमूल्य सम्पत्ति हैं। भारतके विद्वानों एवं ऋषि-महर्षियोंने सहस्रों वर्षोंसे बड़ी निष्ठा एवं साधनाके साथ इन्हें कण्ठस्थ-परम्पराद्वारा पूर्ण शुद्ध रूपमें सुरक्षित रखा है। वेदोंके स्वर, मात्रा एवं ध्वनि-तकमें लेशमात्र अन्तर न पड़ जाय, इसी भावनासे गुरुपरम्परा एवं कुलक्रमसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी पदपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदिके क्रममें, लोगोंमें विलोम-रीतिसे विन्दुसे विसर्गतककी शुद्धिको सुरक्षित रखते हुए सम्पूर्ण भारतमें वेदोंका अनुशीलन होता रहा है। यहाँतक कि व्याकरण, ज्योतिष आदि भी वेदज्ञानके लिये अपरिहार्य मानकर पढ़े-लिखे जाते रहे हैं। फिर भी कालक्रमसे वेद दुर्गम तथा दुरूह होते गये, जिसके परिणाम-स्वरूप इनका सूक्ष्म पारमार्थिक गुह्य विषय अज्ञेय होता गया। सौभाग्यसे फिर भी निःस्पृह भारतीय विद्वान् निरन्तर ही वैदिक अनुसंधान एवं सत्यानुशीलनमें लगे रहे हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंके व्याख्याक्रममें आंशिक सत्यान्वेषण होनेके कारण ही कर्मकाण्डोन्मुखताका चरम विकास हुआ। इसी कालखण्डमें वेदार्थको जाननेका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयास महर्षि यास्कने किया, किंतु यह प्रयास भी शब्दोंकी संगति एवं अर्थको समझनेकी सीमातक सीमित था। इन्होंने यथाप्रसंग ऋचाओं एवं शब्दोंके सामान्य अर्थके साथ-साथ अनेकशः आध्यात्मिक अर्थके उद्घाटनका भी बहुमूल्य प्रयास किया है। इनके भी बहुत बाद आचार्य सायण और माधवने वेदभाष्यके रूपमें वेदार्थको समझनेकी बहुमूल्य कुंजी दी, किंतु उन्होंने जहाँ-तहाँ वेदब्रह्मके आध्यात्मिक तत्त्वके उद्घाटनके सार्थक प्रयास करनेपर भी मुख्यतः समग्र रूपमें देववादकी ही स्थापना की है। फलतः परवर्ती कालमें वेदके तात्त्विक ज्ञानको समझना और भी दुरूहतर होता गया।

पारमार्थिक स्वरूप

भारतीय मान्यताके अनुसार वेद ब्रह्मविद्याके ग्रन्थमात्र नहीं स्वयं ब्रह्म हैं, शब्द-ब्रह्म हैं। ब्रह्मानुभूतिके बिना वेद-ब्रह्मका ज्ञान सम्भव ही नहीं है। कहा भी है कि वेद-ब्रह्मके साक्षात्कर्ता ही वेदकी स्तुति (व्याख्या)-के अधिकारी होते हैं—'**अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति**' (निरुक्त ७। १। २)। जो ऋषि नहीं हैं उनको वेदमन्त्र प्रत्यक्ष (स्पष्ट) नहीं होते हैं—'**न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम्**' (बृ० देवता ८। १२६)। स्वयं ऋग्वेदमें उल्लेख है कि ब्रह्मज्ञानी ही ऋचाओंके अर्थको साक्षात् कर सकता है, अन्यथा ऋचाओंसे उसे कोई लाभ नहीं है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥
(ऋक्० १। १६४। ३९)

अर्थात् ऋचाओंका प्रतिपाद्य अक्षर और परम व्योम है, जिसमें सारे देवता समाये हुए हैं। जो उसे नहीं जानता, वह ऋक्से क्या करेगा। जो उसे जान लेता है, वह उसमें समाहित हो जाता है। तात्पर्य है कि जिन्हें तप:पूत आर्षदृष्टि प्राप्त है, वे ही वेद-ब्रह्मके सत्यका दर्शन कर सकते हैं और वे ही वैदिक प्रतीकों, संकेतोंको समझ सकते हैं तथा वैदिक अलंकृत-शैली एवं अर्थगुम्फित वैदिक भाषाके रहस्य-गर्भित सत्यका दर्शन कर सकते हैं।

वैदिक ज्ञान-विज्ञानका स्वरूप—सामान्यतः जिस विद्यासे परमात्माकी व्यापकताको देखा या जाना जाता है, वह ज्ञान है और जिससे उस एकके प्रपञ्चात्मक विस्तारका ज्ञान होता है, वह विज्ञान है। दूसरे शब्दोंमें अनेक रूपोंमें व्याप्त एक-तत्त्वका जानना ज्ञान है तो एक-तत्त्वकी बहुविध व्यापकताको समझना विज्ञान है। वेदोंमें ब्रह्मतत्त्व ज्ञान है और यज्ञ-प्रक्रिया विज्ञान है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म अमृतमय तथा आनन्दमय है, जबकि विज्ञानका तात्पर्य है सृष्टिके लिये कल्याणकारी होना।

वैदिक यज्ञ एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसमें सजातीय और विजातीय पदार्थोंके मिश्रणसे नये पदार्थकी उत्पत्ति होती है। यज्ञमें अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्मका समन्वय आवश्यक है। प्रकृति ब्रह्मका व्यक्त रूप है। यज्ञसे प्रकृतिकी प्रतिकूलता भी अनुकूल हो जाती है। यज्ञ जीवनका अभिन्न अङ्ग है। यज्ञके अनेक रूप हैं। पञ्चतत्त्वोंका मिश्रण भी यज्ञ है। भौतिक दृष्टिसे यज्ञ-प्रक्रिया पूर्णतः वैज्ञानिक है। यज्ञ वेदका केन्द्रिय विषय है। अग्नि-विद्या अर्थात् शक्तितत्त्व, संवत्सर-विद्या अर्थात् कालतत्त्व—इन दोनोंका संयुक्त रूप ही यज्ञ-विद्या है। वेद-विद्यामें यज्ञ-विद्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। विश्व-रचना तथा पुरुषकी अध्यात्म-रचनाको जाननेके लिये यह आवश्यक है।

वेदमें भूत-विज्ञान एवं दृष्टि-विज्ञानका ही विस्तार है। वेद-विद्या ही सृष्टि-विद्या है। वेद-विद्याके अनुसार विश्वके दो मूल तत्त्व हैं—देवतत्त्व और भूततत्त्व। एक सूक्ष्म है, दूसरा दृश्य। सूक्ष्म देवतत्त्व ही शक्तितत्त्व है। प्रजापति ही वह मूल शक्तितत्त्व है। यही अनिरुक्त-निरुक्त, अमूर्त-मूर्त, ऊर्ध्व-अधः आदि रूपोंसे सृष्टिमें परिव्याप्त है। इसीलिये प्रजापतिको '**अजायमान**' तथा '**बहुधा वि जायते**' के रूपमें कहा गया है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते। तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ (यजु० ३१। १९)

अर्थात् प्रजापालक परमात्मा सब पदार्थोंके अंदर विचरता रहता है, वह अजन्मा होकर भी अनेक प्रकारसे (वेदादिरूपोंमें) प्रकट होता है, उसके मूलस्वरूपको ज्ञानीजन देखते हैं, उसीसे सभी भुवन व्याप्त हैं।

सृष्टि-विद्यामें भूततत्त्व ही क्षरतत्त्व है। क्षरसे ही अक्षर जन्म लेता है—'**ततः क्षरत्यक्षरम्।**' अर्थात् क्षरके अंदर ही अक्षर निवास भी करता है। कहा है—'**क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।**' यह क्षर-अक्षर ही सृष्टि है। क्षर भूततत्त्व है तो अक्षर प्राणतत्त्व है, इसे ही अग्नि आदि कहा जाता है। सृष्टिमें त्रिकका अर्थात् त्रिगुण, त्रिलोक, त्रिदेव, त्रिमात्रा, छन्दत्रय, त्रिलिङ्ग एवं त्रिकाल आदिका सविशेष महत्त्व है। मन, प्राण एवं पञ्चभूत भी त्रिकके रूपमें आत्मतत्त्व या जीवनतत्त्व है। कहा गया है—'**वाङ्मयः प्राणमयो मनोमय एष आत्मा।**' विराट् ब्रह्माण्ड भी इस त्रिक-प्रपञ्चका विस्तार है।

विराट् और अणु अर्थात् '**अणोरणीयान्**' और

'महतो महीयान्'—इन दोनोंका मूल अक्षर-तत्त्व है। वेद-विद्यामें सृष्टि-विद्याके रूपमें इसीका विवेचन है। अक्षर-ब्रह्म अयौगिक है और यज्ञ यौगिक। अयौगिक तत्त्व ही सृष्टिका आधार है। अयौगिक ब्रह्म ही सृष्टिमें अनेक रूपोंमें व्यक्त है। यही सहस्रात्मा अनन्त है। वैदिक ज्ञान-विज्ञानके रूपमें व्याख्यायित इस गुह्य वेद-विद्या तथा वेद-ब्रह्मकी अनुभूति एवं अभिज्ञानके लिये आर्ष-पद्धतिका अनुसरण अपरिहार्य है। आर्षपद्धतिके अनुरूप मानसिकतासे ही अर्थगूढ आलंकारिक शैली एवं प्रतीकों तथा सांकेतिक मिथकोंके रहस्योद्घाटन होनेपर वेदके गुह्य अर्थकी संगति बैठती है और वेद-ब्रह्म तथा वेद-विद्याके सत्यदर्शनसे आधुनिक भौतिकवादसे कुण्ठित तथा पाश्चात्त्य भोगवादी संस्कृतिसे आक्रान्त लोगोंके विरोध-अन्तर्विरोध, आरोप-प्रत्यारोप एवं आक्षेपोंका स्वतः समाधान हो जाता है। जैसे—वेदमें पशु, रश्मि एवं प्रकाशवाचक 'गो' शब्दका बहुशः प्रयोग हुआ है, किंतु इसका अर्थ आत्मज्योति करनेपर ही सर्वत्र संगति बैठनेके साथ अर्थकी गरिमा भी प्राप्त होती है। 'अश्व'-का अर्थ आत्मशक्ति करनेपर गोमेध और अश्वमेधको लेकर किये जानेवाले कुतर्क स्वतः शान्त हो जाते हैं।

वेद-प्रयुक्त इन्द्र-अग्नि आदिका परमात्मशक्ति, वृत्रका मलिनतासे आवृत करनेवाला, अर्णव शब्दका तेज:पुंज, क्षीरसागरका अमृतमय अनन्तसत्ता आदि अर्थ करनेपर वेदके गुह्यार्थकी अनुभूति होती है। इसी प्रकार **'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्**.........' **तथा 'अग्निमीळे पुरोहितं**.........'—आदि मन्त्रोंका लौकिक-शाब्दिक ही नहीं आध्यात्मिक अर्थ करनेपर वैदिक ऊर्जा एवं वेद-ब्रह्मकी अनुभूति होती है और वेदार्थको आध्यात्मिक आयाम मिलता है तथा '**चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य**.........' एवं '**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते**.........' आदि मन्त्रोंके आध्यात्मिक अर्थ करनेसे ही इनके सम्बन्धमें कुतर्क करनेवाले स्वतः निरुत्तर हो जाते हैं।

निष्कर्षतः वेदोंमें लौकिक जीवनोपयोगी विविध सामग्री प्राप्त होनेपर भी वेद मानव-जातिकी सांस्कृतिक धरोहर हैं और सनातन ज्ञानगर्भित आध्यात्मिक सुमेरु हैं। अतः इनके अनुशीलनसे प्राप्त ज्ञान-विज्ञान-सम्मत तत्त्वज्ञानसे ही मानव-जातिको अमृतत्व और दिव्यत्व प्राप्त हो सकता है तथा विश्वभरका सुतरां कल्याण हो सकता है। यही इनका पारमार्थिक महत्त्व है।

वेद-महिमा

(महाकवि डॉ० श्रीयोगेश्वरप्रसादजी सिंह 'योगेश')

वेद मूल है सब धर्मोंका, अखिल विश्वकी थाती,
इसके पृष्ठोंपर संस्कृतिकी गरिमा है लहराती।
पहला महाकाव्य संस्कृतका, धरतीपर प्राचीन,
शब्द-शब्दमें भाव भरे हैं, अनुपम और नवीन,
ज्ञान-किरण अक्षर-अक्षरमें, मोहक लौ फैलाती॥ १॥

सृष्टि-चक्रके साथ वेदका है अटूट सम्बन्ध,
काट रहा युग-युगसे भवरोगोंका दारुण बन्ध,
वेद मन्त्र पढ़ बार-बार रसना है नहीं अघाती॥ २॥
जिसने इसको जान लिया, फिर उसको क्या है शेष?
वेद बनाता है इस धरतीका पावन परिवेश,
भारत क्या, यह सारी दुनिया, इसको शीश झुकाती॥ ३॥
अपौरुषेय रही जो रचना, गरिमासे भरपूर,
मानवताके पथकी बाधाओंको करती दूर,
जहाँ विद्वत्ता, ज्ञान-दक्षता सुखसे आदर पाती॥ ४॥

वेद वृक्षकी शाखाएँ हैं ब्राह्मण औ आरण्यक,
उपनिषदें जिसके मन्त्रोंकी व्याख्या करती सम्यक्
ज्ञान-दीपकी जलती रहती जहाँ हमेशा बाती॥ ५॥
अमर ज्योति फैलानेवाला है यह वेद महान्,
ऋषि-मुनि, देव और भूपोंका शिक्षाप्रद आख्यान,
नारीका सम्मान जहाँ ऋषिकाएँ खूब बढ़ाती॥ ६॥
वन्दनीय यह वेद, ज्ञेय है, जन-जनका यह धन है,
मुझको लगता, सारी वसुधाका ही यह दर्पण है,
मौन आज विज्ञान, वेदकी महिमा कही न जाती॥ ७॥

'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्'

[वेदार्थकी सरस अभिव्यक्ति—श्रीमद्भागवत]

(डॉ० श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र 'विनय')

वेद समग्र आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ज्ञानकी निधि हैं। भारतीय परम्परामें वेदोंके मथितार्थ-रूपमें निर्भ्रान्त-रूपसे 'ब्रह्म' या 'परमात्मतत्त्व' की ही अभिस्वीकृति, श्रुति-स्मृति-उभय प्रमाणोंसे सिद्ध है।

'**सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति**'[१] अथवा '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**'[२]—प्रभृति वचनोंके प्रकाशमें इस सिद्धान्तमें तनिक भी विप्रपत्ति माननेवाला 'परम्परा-बाह्य' अथवा 'वेद-बाह्य' होनेसे सर्वथा उपेक्षा-योग्य है, किंतु वेदके इस मथितार्थतक पहुँचनेके लिये 'सोपानक्रम'से अनेक प्रणालियाँ तथा सम्प्रदायादिके भेद, परम्पराको भी मान्य रहे हैं। इतिहास-पुराणोंकी पद्धति उन्हींमेंसे एक तथा अन्यतम पद्धति रही है। महाभारतके अनुसार 'इतिहास और पुराण वेदार्थके ही उपबृंहण हैं।[३] जो इन्हें सम्यक् रूपसे नहीं जानता, वह (अन्य क्षेत्रोंमें 'बहुश्रुत' होनेपर भी) 'अल्पश्रुत' अर्थात् सीमित ज्ञानवाला माना जाता है और स्वयं वेद उससे शंकित या भीत रहते हैं कि यह अज्ञ कहीं हमपर प्रहार न कर दे—हमारे मूल अर्थको ही तिरोहित न कर दे।'

यों तो समग्र पुराण तथा महाभारत भी वस्तुतः वेदार्थ-निरूपण-परक ही हैं[४], किंतु पुराणमुकुटमणि श्रीमद्भागवत तो निगमकल्पतरुका पूर्ण परिणत रसरूप फल ही है[५]। दूसरे शब्दोंमें यह समस्त वेदार्थका 'रसप्रस्थान' है। सृष्टिके आदि (ब्राह्मकल्प)-में अपने नाभिकमलपर किंकर्तव्यविमूढता-की स्थितिमें खिन्न आदिकवि ब्रह्माको, जिस तत्त्वरूप-ब्रह्म (वेद)-का, हृदयकी भावात्मक एकतानताके द्वारा परमपुरुष नारायणने उपदेश दिया था[६]; श्रीमद्भागवत—श्रीवेदव्यासके माध्यमसे प्रबन्धरूपताको प्राप्त उसी वेदार्थकी पुनरभिव्यक्ति है। इसके वक्ता व्यासनन्दन श्रीशुकदेव इसे 'ब्रह्मसम्मित (वेदतुल्य) पुराण' की समाख्यासे मण्डित करते हैं—

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।

(श्रीमद्भा० २।१।८)

वेदसार 'गायत्री' के भाष्यरूपमें[७] प्रसिद्ध यह महापुराण स्वयंको सम्पूर्ण वेदों और इतिहासोंका 'सार-सर्वस्व'[८], 'सर्ववेदान्तसार'[९] तथा 'सात्वतीश्रुति'[१०] के अभिधानोंसे मण्डित करता है। इसके अनुसार सारे वेदोंके निसृष्टार्थ भगवान् वासुदेव ही हैं[११], हृदयेश्वर प्रभुके जन्म-कर्मादि-लीलाचरित्र वेदोंमें गुप्तरूपसे विराजमान हैं[१२]। श्रीमद्भागवतमें पदे-पदे वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यक और उपनिषदोंके मन्त्रोंका यथावसर अनुवाद, व्याख्यान एवं तत्त्वनिरूपण प्राप्त होता है। वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-यागादिका तात्त्विक विवेचन, वेदोंके प्राकट्य, शाखाविभाग तथा प्रवचन-परम्परा आदिके साथ इसमें वेदाङ्गोंके सूक्ष्मतत्त्वोंका संनिवेश, वेदविषयक अनेक अनुसन्धेय तथ्यों और रहस्योंका संकेत देता है। दशमस्कन्धके सत्तासीवें अध्यायकी 'वेदस्तुति' तो साक्षात् श्रुति-मन्त्रोंका, ज्ञान-भक्ति और वैराग्यपरक, रस-रहस्यात्मक सुललित भाष्य ही है। श्रीमद्भागवतके प्रमुख एवं सर्वमान्य टीकाकार श्रीश्रीधरस्वामीने इस अध्यायमें वर्णित स्तुतिके प्रत्येक श्लोकपर समानार्थक श्रुति-मन्त्रोंको उद्धृत कर इस तथ्यको प्रमाणित किया है।

यहाँ अत्यन्त संक्षेपमें श्रीमद्भागवतमें वैदिक सूक्तोंके निर्देश, उनके अर्थसंनिवेश और व्याख्याके साथ, ब्राह्मणवचनोंकी व्याख्या, विभिन्न उपनिषदोंके मन्त्रोंका शब्दान्तर संनिवेश आदि प्रदर्शित कर 'वेदस्तुति' में

१-कठोपनिषद् (१।२।१५)।
२-श्रीमद्भगवद्गीता (१५।१५)।
३-इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्॥ (महाभारत, आदिपर्व १।२६७)
४-भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः (श्रीमद्भा० १।४।२९)।
५-निगमकल्पतरोर्गलितं फलम् (श्रीमद्भा० १।१।३)।
६-तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये० (श्रीमद्भा० १।१।१)।
७-'गायत्रीभाष्यरूपोऽयम्……।'
८-सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् (श्रीमद्भा० १।३।४२)।
९-सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् (श्रीमद्भा० १२।१३।१२)।
१०-यत्रैषा सात्वती श्रुतिः॥ (श्रीमद्भा० १।४।७)
११-वासुदेवपरा वेदाः (श्रीमद्भा० १।२।२८)।
१२-एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च। वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः॥ (श्रीमद्भा० १।३।३५)

अभिव्यक्त वेदार्थका संकेतमात्र करके इस तथ्यके प्रति विद्वज्जनोंके ध्यानाकर्षणका प्रयास किया जा रहा है।

(क) श्रीमद्भागवतमें विभिन्न वैदिक सूक्तोंका नामतः निर्देश अनेकत्र शब्दान्तरसमन्विति तथा व्याख्या—

वेदचतुष्टयमें समुपलभ्यमाण तथा अत्यन्त प्रसिद्ध 'पुरुषसूक्त'के नाम्ना उल्लेखके साथ श्रीमद्भागवतकी अधिसंख्य भगवत्स्तुतियोंमें इसका व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है, जैसे—

पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः॥

(श्रीमद्भा० १०। १। २०)

अर्थात् पुरुषसूक्तके द्वारा उन्हीं परम पुरुष सर्वान्तर्यामी प्रभुकी स्तुति की। स्तुति करते-करते ब्रह्माजी समाधिस्थ हो गये। तथा—

पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। २७। ३१)

भाव यह कि पुरुषसूक्तादि मन्त्रोंसे राजनादि-संज्ञक सामका गायन करना चाहिये।

यहाँ तो साक्षात् संकेत है ही, अन्यत्र श्लोकोंमें विभिन्न मन्त्रोंका अर्थसाम्य इस प्रकार देखा जा सकता है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

(यजुर्वेद ३१। १)

अर्थात् वह परम पुरुष हजारों सिरों, नेत्रों और पादोंवाला है। इसीका भावानुवाद श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार किया गया है—

पुरुषं सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकम्।

(३। ७। २२)

स भूमि॑ सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(यजुर्वेद ३१। १)

अर्थात् वह परमात्मा अपने हृदयदेशमें ही सारे विश्वको धारण कर रखा है। इसका भावानुवाद श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार द्रष्टव्य है—

तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति॥

(२। ६। १५)

पुरुष एवेद॑ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।

(यजुर्वेद ३१। २)

अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान जो कुछ (दीख रहा) है, वह सब परम पुरुष ही है। श्रीमद्भागवतमें इसका भावसाम्य देखिये—

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।

(२। ६। १५)

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।

(यजुर्वेद ३१। ३)

अर्थात् 'इस परमात्मपुरुषकी महिमा अत्यन्त विशाल है।' श्रीमद्भागवतमें इसीका तत्त्वानुवाद प्रस्तुत करते हुए कहा गया कि 'अमृत एवं अभयपदका स्वामी होनेके कारण उस (परम पुरुष)-की महिमाका पार लगाना मानवमात्रके लिये दुष्कर है'—

महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः॥

(२। ६। १७)

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

(यजुर्वेद ३१। ३)

'सम्पूर्ण भूतमात्र जो इस विश्वमें है, वह सब इस श्रेष्ठ पुरुषका चतुर्थ भाग ही है। इसके तीन भाग दिव्य लोकमें अमृतरूप हैं।' श्रीमद्भागवत (२। ६। १८)-में इसको इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु॥

अर्थात् 'सम्पूर्ण लोक भगवान्‌के एक पादमात्र (अंशमात्र) है तथा उनके अंशमात्र लोकोंमें समस्त प्राणी निवास करते हैं। भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोकके ऊपर महर्लोक है। उसके भी ऊपर जन, तप और सत्य लोकोंमें क्रमशः अमृत, क्षेम एवं अभयका नित्य निवास है।'

ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥

(यजुर्वेद ३१। ४)

भाव यह कि उस परम पुरुषने अन्न खानेवाले (सकाम कर्म करनेवाले) और अन्न न खानेवाले (निष्काम कर्म करनेवाले) विश्वको चारों ओरसे व्याप्त कर रखा है। इसीका भावात्मक अर्थ प्रस्तुत करते हुए श्रीमद्भागवत (२। ६। २०)-में कहा गया है—

सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनानशने उभे।

अर्थात् अविद्यारूप कर्म-मार्ग और उपासनारूप विद्या-मार्ग दोनोंको उस परम पुरुषने व्याप्त कर रखा है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्०। (यजुर्वेद ३१। ११)

इस मन्त्रमें बताया गया कि ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति उस परम पुरुषके मुखसे हुई है। इसी भावको श्रीमद्भागवतके कई स्थलोंपर प्रदर्शित किया गया है—

ब्रह्माननम् (२।१।३७), **विप्रो मुखम्** (८।५।४१)।

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह।
यस्तून्मुखत्वाद् वर्णानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः॥

(श्रीमद्भा० ३।६।३०)

अर्थात् वेद और ब्राह्मण भगवान्‌के मुखसे प्रकट हुए। मुखसे प्रकट होनेके कारण ही ब्राह्मण सब वर्णोंमें श्रेष्ठ और सबका गुरु है।

……बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रो अजायत॥

(यजुर्वेद ३१।११)

'उक्त प्रकारसे उस पुरुषके बाहुसे क्षत्रिय अर्थात् शूर उत्पन्न हुए, ऊरू भागसे वैश्य और पादोंसे शूद्र उत्पन्न हुए।' श्रीमद्भागवतके निम्न प्रसंगोंमें भी ठीक इसीका विस्तार किया गया है—

……क्षत्रभुजो महात्मा विड्रूरुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः।

(२।१।३७)

बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात्॥
विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत्॥
पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः॥

(३।६।३१—३३)

स्पष्ट है कि इन वचनोंमें केवल मन्त्रार्थका अनुवाद-मात्र नहीं किया गया, अपितु भगवान् वेदव्यासने प्रत्येक मन्त्रपर अपनी सार्थक व्याख्या भी प्रस्तुत कर दी है। इसी प्रकार कुछ और भी उद्धृतियाँ द्रष्टव्य हैं—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥

(यजुर्वेद ३१।१२)

अर्थात् उस परम पुरुषके मनसे चन्द्रमाकी, नेत्रोंसे सूर्यकी, श्रवणेन्द्रियोंसे वायुकी, नासिकासे प्राणकी और मुखसे अग्निकी उत्पत्ति हुई है। इस प्रसिद्ध मन्त्रका-अर्थसादृश्य इन श्लोकोंमें सहजरूपसे दिखलायी पड़ता है—

सोमो मनो द्यौर्भगवञ्छिरस्ते॥ (श्रीमद्भा० ८।७।२७)

अर्थात् हे प्रभो! चन्द्रमा आपका मन और स्वर्ग सिर है।

सोमं मनो यस्य समामनन्ति (श्रीमद्भा० ८।५।३४)।

(श्रुतियाँ कहती हैं कि चन्द्रमा उस प्रभुका मन है।)

अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा
जातः क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा।

(श्रीमद्भा० ८।५।३५)

(अग्नि प्रभुका मुख है। इसकी उत्पत्ति ही इसीलिये हुई है कि वेदके यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड पूर्णरूपसे सम्पन्न हो सके।)

और भी—

अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं
सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः।

(श्रीमद्भा० १०।४०।१३)

(अर्थात् अग्नि आपका मुख है। पृथ्वी चरण है। सूर्य और चन्द्रमा नेत्र हैं। आकाश नाभि है। दिशाएँ कान हैं।)

इसी प्रकार विष्णुसूक्त (ऋग्वेद १।१५४।१)-के इस मन्त्रकी छाया भी श्रीमद्भागवतमें अवलोकनीय है—

मन्त्र—**विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं**
यः पार्थिवानि विममे रजांसि।

श्रीमद्भागवतस्थ श्लोक—

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।

(२।७।४०)

भाव यह कि 'अपनी प्रतिभाके बलसे पृथ्वीके एक-एक धूलिकणको गिन चुकनेपर भी जगत्‌में ऐसा कौन पुरुष है, जो परम पुरुषकी शक्तियोंकी गणना कर सके।'

ऋग्वेदके दशममण्डलके ९५वें सूक्तकी 'उर्वशी-कथा' श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धमें न केवल वर्णित हुई है; अपितु यहाँ इसकी पौराणिक (प्रतीकवादकी) रीतिसे सुन्दर व्याख्या भी की गयी है। मन्त्रवर्णोंका श्लोकमें अनुसरण, अत्यन्त आवर्जक और सहज उन्नेय है, यथा—

'हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे'……' इस मन्त्रका श्लोकानुवाद इस प्रकार है—

अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ (श्रीमद्भा० ९।१४।३४)।

(अर्थात् प्रिये! तनिक ठहर जाओ।)

इसी प्रकार प्रसिद्ध 'सरमासूक्त[१]'की समन्विति भी[२] श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्धमें देखी जा सकती है।

१-ऋग्वेद (१।६२।३; १।७२।२८; १०।१०८ तथा अथर्ववेद ९।४।१६ एवं २०।७७।८)।
२-श्रीमद्भा० (५।२४।३०)।

(ख) ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदोंके मन्त्रोंकी समन्विति और व्याख्या—

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध (दशम अध्यायके बारहवें श्लोक)-में आचार्य तथा अन्तेवासीको 'अरणिरूप' बतलाया गया है तथा प्रवचनको दोनोंका 'संधान' कहा गया है। यह पूरी व्याख्या तैत्तिरीय ब्राह्मणका[1] प्रसङ्गोपात्त अनुवाद है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें[2] सत्यानृतकी व्याख्याका प्रसङ्ग ऐतरेय आरण्यकके एक अंशकी मार्मिक व्याख्या है। उपनिषदोंके अनेक मन्त्र श्रीमद्भागवतमें शब्दान्तरसे उद्धृत तथा व्याख्यात हुए हैं, जैसे—

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

(ईशावास्योपनिषद् १)

अर्थात् इस अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक (इसे) भोगते रहो, (इसमें) आसक्त मत होओ; क्योंकि भोग्य-पदार्थ किसका है? अर्थात् किसीका नहीं है।

इस मन्त्रकी शब्दान्तर-सन्निविष्टि श्रीमद्भागवत (८। १। १०)-में ज्यों-की-त्यों इस प्रकार की गयी है—

आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किञ्चिज्जागत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

इसी प्रकार—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डक० ३। १। १; श्वेताश्वतर० ४। ६)

तात्पर्य यह कि 'सदा साथ रहनेवाले (तथा) परस्पर सख्यभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा एवं परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर)-का आश्रय लेकर रहते हैं; उन दोनोंमेंसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके फलों (कर्मफलों)-को स्वाद ले-लेकर खाता है, (किंतु) दूसरा (परमात्मा) उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।'

—इस प्रसिद्ध जीवेश्वरसम्बन्धके प्रतिपादक मन्त्रकी व्याख्या भागवतकारने अत्यन्त सुन्दर रीतिसे की है, जिसमें शब्दशः उपर्युक्त अर्थ ही प्रतिपादित है, तनिक भी अर्थभेद नहीं है—

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥

(श्रीमद्भा० ११। ११। ६)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डक० २। २। ८)

मुण्डकोपनिषद्में परमात्म-ज्ञानके सम्बन्धमें कहा गया है कि 'कार्यकारणस्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तमको तत्त्वसे जान लेनेपर इस जीवात्माके हृदयकी गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं (अर्थात् यह जीव सब सम्बन्धोंसे सदा मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है)।' ठीक यही बात कठोपनिषद् (२। ३। १५)-में इस प्रकार कही गयी है—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।

इन औपनिषदिक् मन्त्रोंका अक्षरशः श्लोकानुवाद प्रस्तुत करते हुए श्रीमद्भागवत (१। २। २१)-में लिखा गया—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

तथा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥

(११। २०। ३०)

उपर्युक्त दोनों श्लोकोंका प्रायः एक ही अर्थ है—अर्थात् 'हृदयमें आत्मस्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार होते ही हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सारे संदेह मिट जाते हैं और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है।'

वेदार्थोंकी इतनी सटीक साम्यता तो अन्यत्र दुर्लभ ही है।

तैत्तिरीयोपनिषद्‌के नवम अनुवाकमें वर्णन किया गया कि मनके साथ वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ उसे न पाकर जहाँसे लौट आती हैं; उस ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसीसे भी भय नहीं करता। जैसे—

१-तैत्तिरीय ब्रा० (१। ३)। २-श्रीमद्भा० (८। १९। ३८—४२)।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति॥

इस मन्त्र एवं मन्त्रार्थकी साम्यता श्रीमद्भागवत (३। ६। ४०)-में देखिये—

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह।

अर्थात् जहाँ न पहुँचकर मनके साथ वाणी भी लौट आती है। (उन श्रीभगवान्‌को हम नमस्कार करते हैं।)

कठोपनिषद् (१। २। २०)-ने इस जीवात्माके हृदयरूप गुफामें रहनेवाले परमात्माको सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म और महान्‌से भी महान् बताते हुए कहा—

'अणोरणीयान्महतो महीयान्।'

श्रीमद्भागवत (८। ६। ८)-में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया—

'अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने०॥'

अर्थात् वह परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और अनन्त स्वरूपोंवाला है।

ऐतरेयोपनिषद् (१। १)-में कहा गया कि इस जगत्‌के प्रकट होनेसे पहले एकमात्र परमात्मा ही था—

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।

इसीका श्लोकानुवाद करते हुए श्रीमद्भागवत (३। ५। २३)-में कहा गया—

भगवानेक आसेदमग्र आत्माऽऽत्मनां विभुः।

अर्थात् सृष्टि-रचनाके पूर्व समस्त आत्माओंके आत्मा एक पूर्ण परमात्मा ही थे।

परब्रह्म परमात्माके परमधाममें कौन साधक पहुँच सकता है, इस बातको रथ एवं रथीके रूपककी कल्पना करके कठोपनिषद् (१। ३। ३-४)-में समझाया गया—

आत्मानः रथिनं विद्धि शरीरः रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाःस्तेषु गोचरान्।

अर्थात् 'जीवात्मा तो रथका स्वामी है और शरीर ही रथ है, बुद्धि सारथि है तथा मन लगाम है। ज्ञानीजन (इस रूपकमें) इन्द्रियोंको घोड़े बतलाते हैं और विषयोंको उन घोड़ोंके विचरनेका मार्ग।'

श्रीमद्भागवतमें इसका छायानुवाद देखिये—

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि
हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम्।
वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं
सत्त्वं बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम्॥
अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ
चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम्।

(७। १५। ४१-४२)

अर्थात् 'उपनिषदोंमें कहा गया है कि शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, इन्द्रियोंका स्वामी मन लगाम है, शब्दादि विषय मार्ग हैं, बुद्धि सारथि है, चित्त ही भगवान्‌के द्वारा निर्मित बाँधनेकी विशाल रस्सी है, दस प्राण धुरी हैं, धर्म-अधर्म पहिये हैं और इनका अभिमानी जीव रथी कहा गया है।'

इसके अतिरिक्त अन्य प्रसङ्गोंमें गर्भोपनिषद्‌में वर्णित डिम्भके विकासकी प्रक्रिया, श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें ज्यों-की-त्यों देखी जा सकती है*।

(ग) वैदिक कर्मकाण्ड तथा यज्ञयागादिका तात्त्विक विवेचन—

महर्षि व्यासने श्रीमद्भागवतमें अनेक स्थानोंपर वेदके कर्मकाण्डीय पक्ष तथा यज्ञविधानका शास्त्रीय विश्लेषण किया है, निबन्ध-कलेवरके विस्तार-भयसे यहाँ केवल स्थल-निर्देशमात्र किया जा रहा है। जैसे—

(१) वैदिककर्म, यज्ञ, इष्टापूर्त आदिके लक्षण—७। १५। ४७ से ५२ में।

(२) अङ्गिरागोत्रीय ऋषियोंके सत्रमें वैश्वदेवसूक्तके द्वारा हीनाङ्गपूर्ति तथा यज्ञिय उच्छिष्टतत्त्वका निरूपण—९। ४। ३ से ८ तक।

---

* ऋतुकाले सम्प्रयोगादेकरात्रोषितं कललं भवति। सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति। अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति।......××××× सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति। अष्टमे मासे सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति (गर्भोपनिषद् ३)।

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये। स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥
कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम्।
× × ×
आरभ्य सप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि वेपितः।

(श्रीमद्भा० ३। ३१। १—१०)

(३) **'यज्ञो वै विष्णुः', 'विष्णुर्वै यज्ञः'** प्रभृति ब्राह्मणवचनोंकी भगवान् यज्ञ वराहके स्वरूप वर्णनमें श्रीमद्भा० ३। १३। ३४ से ३९ तक संगति।

(४) यज्ञके 'अध्वर' अभिधानकी संगतिहेतु हिंसात्मक पशुयागोंकी निन्दा ४। २५। ७-८ तथा ४। २९। ४५ से ४९ तक—इन प्रसंगोंमें द्रष्टव्य है।

(घ) वेदोंके प्राकट्य, शाखाविभाग और प्रवचनपरम्परा तथा उपवेदों एवं वेदाङ्गोंका सूक्ष्म विवेचन—यथा—

(१) वेदोंका प्राकट्य—द्वादशस्कन्धके षष्ठ अध्यायमें श्लोक ३७ से ४६ तक।

(२) शाखाविभाग और प्रवचनपरम्परा—द्वादशस्कन्धके षष्ठ अध्यायमें श्लोक ४९ से ८० (अध्यायान्त) तक तथा द्वादशस्कन्धके ही सप्तम अध्यायमें।

(३) उपवेदोंका वर्णन—तृतीयस्कन्ध तथा द्वादश अध्यायके ३८ वें श्लोकमें।

(४) वेदाङ्गोंके संदर्भ—श्रीमद्भागवतमें षड्वेदाङ्गोंकी भी सम्यक् समन्विति इस प्रकार देखी जा सकती है—

शिक्षा—११। २१। ३७ से ३९ तक।

कल्प—११। २७। ३६ तथा ५० से ५२ श्लोकोंतक।

निरुक्त—३। १२। २०।

व्याकरण—११। २१। ३६।

छन्द—११। २१। ४१।

ज्योतिष—१०। ८। ५, १२। २। २४, १२। २। २७- २८ तथा १२। २। ३१-३२ में।

(ङ) वेदोंके परम तात्पर्यकी प्रतिपादिका वेदस्तुति—

जैसा कि आरम्भमें ही निवेदन किया जा चुका है, श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्ध (अध्याय ८७)-में वर्णित 'वेदस्तुति' तो समस्त श्रुतिसिद्धान्तके परम रस और परम रहस्य दोनोंका ही मणिकाञ्चनसंयोग है। 'अनिर्देश्य, गुणातीत और सत्-असत् दोनोंसे अतीत परब्रह्ममें त्रिगुणविषयिणी श्रुतियाँ कैसे चरितार्थ होती हैं[1]?'—महाराज परीक्षित्के इस गम्भीर प्रश्नके उत्तरमें इस प्रसङ्गका प्रवचन भगवान् शुकने किया है—

'जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणाम्'[2] इस श्लोकसे आरम्भ करके—

ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः॥[3]

—यहाँतक अट्ठाईस श्लोकों (नकुर्टक छन्दों)-में मायागुणसंवलित परमात्माके तटस्थलक्षण, **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'**[4] इत्यादिसे आरम्भ करके **'यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्च'**[5] आदि श्रुति सारांशसे उपलक्षित ब्रह्मके 'परमार्थलक्षणके' प्रतिपादनतकका यह प्रसङ्ग अत्यन्त गहन, तात्त्विक एवं ज्ञान, भक्ति, वैराग्यकी साधनाओंसे ही अनुभवगम्य है। यह सब अत्यन्त वैदुष्य एवं विस्तारकी अपेक्षा रखता है तथा एक विस्तृत निबन्धका विषय है।

वस्तुतः इसका सार यही है कि श्रीमद्भागवत वेदके परमार्थतत्त्वके रूपमें एकमात्र श्रीहरिको ही व्यवस्थापित करता है। वे ही श्रीहरि, सगुण-साकार सच्चिदानन्दघन-विग्रह धारण कर भक्तोंके भावालम्बन 'रसरूप' नारायण, श्रीराम, नृसिंह, वामन या नन्दनन्दन श्रीकृष्ण बनकर लीलाएँ करनेके लिये धराधाममें युग-विशेषके अनुसार अवतीर्ण होते हैं। उनका यह रसस्वरूप काल और देशकी सीमासे आगे बढ़कर भक्तोंके हृदयमें शाश्वत प्रेमाराधना बनकर प्रतिफलित हो, इस हेतु भगवान् व्यासदेवने परम मनोहर श्रीमद्भागवतमें वेदार्थनिष्पन्दके रूपमें उनके चरित्र एवं लीलाओंको निर्णीत किया है। इस दृष्टिसे श्रीमद्भागवतमहापुराणको वेदोंका 'रस-भाष्य' और वेदान्तका 'रस-प्रस्थान' मानना असमीचीन नहीं है।

सारे वेद परमार्थतः ब्रह्मात्म-विषयक हैं, व्यवहारतः

१-ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः। कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे॥ (श्रीमद्भा० १०। ८७। १)
२-श्रीमद्भागवत (१०। ८७। १४)। ३-श्रीमद्भा० (१०। ८७। ४१)।
४-तैत्तिरीय० भृगुवल्ली अध्याय। ५-बृहदारण्यक० (३। ८। ७)।

उनमें कर्म, उपासना और ज्ञानके काण्डत्रय पृथक्-पृथक् परिलक्षित होते हैं। समग्र श्रुतियाँ परमात्मा श्रीहरिका ही विधान करके अपने मन्त्रोंद्वारा उन्हींको अभिहित करती हैं, उनके विकल्प और अपोहन (निषेध)-की शैलीमें भी उन्हीं प्रभुका गुणगान व्याप्त है। वेदोंका परम तात्पर्य भी यही है, श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवद्वचन भी तो इसीका समर्थन करते हैं—

'वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे।'

(११। २१। ३५)

अर्थात् वेदोंमें तीन काण्ड हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों काण्डोंके द्वारा ब्रह्म एवं आत्माकी एकता ही प्रतिपादित है।

और भी—

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति॥

(११। २१। ४३)

तात्पर्य यह है कि 'सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्डमें परमात्माका ही विधान करती हैं। उपासनाकाण्डमें उपास्य देवताओंके रूपमें उन परब्रह्मका ही वे वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्डमें आकाशादि-रूपसे उन्हींमें अन्य वस्तुओंका आरोप करके उनका निषेध कर देती हैं। सम्पूर्ण श्रुतियोंका बस, इतना ही तात्पर्य है कि वे परम प्रभु परमात्माका ही आश्रय लेकर उन्हींमें भेदोंका आरोप करती हैं, मायामात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्तमें सबका निषेध करके उन्हींमें शान्त (समाहित) हो जाती हैं, तत्पश्चात् केवल वे परम पुरुष ही अधिष्ठानरूपमें शेष रह जाते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमें वेदस्तुति

(मानसमराल डॉ० श्रीजगेशनारायणजी 'भोजपुरी')

श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें रामराज्यके पावन प्रसंगमें वेदोंने वन्दीवेष धारण कर भगवान् श्रीराम (राजा राम)-की प्रशस्त स्तुति की है। जिसे पूज्यपाद गोस्वामीजी इस प्रकार लिखते हैं—

भिन्न भिन्न अस्तुति करि गए सुर निज निज धाम।
बंदी बेष बेद तब आए जहँ श्रीराम॥
प्रभु सर्बग्य कीन्ह अति आदर कृपानिधान।
लखेउ न काहूँ मरम कछु लगे करन गुन गान॥

(रा०च०मा० ७। १२ ख-ग)

वेद वन्दीवेषमें आये, क्योंकि वेदोंको भगवान्का भाट कहा गया है। वन्दीका काम राजाका यशोगान करना है। राजाके समीप जानेकी वन्दियोंको छूट होती है। जब रामका राज्याभिषेक सम्पन्न हो गया तो वेदोंने सोचा कि सद्यः-सिंहासनारूढ भगवान्का दर्शन करना चाहिये, किंतु दरबारमें इतनी भीड़ है कि प्रभुतक पहुँच पाना कठिन कार्य है। अतः उन्होंने निश्चय किया कि यदि वन्दीका वेष धारण कर लिया जाय, तब कोई रोक नहीं पायेगा। अतः वे वन्दीवेषमें आये; इसलिये भगवान् श्रीरामके अतिरिक्त अन्य कोई उन्हें पहचान नहीं पाया। प्रभु सर्वज्ञ हैं, अतः उन्होंने पहचान लिया और वेदोंको समुचित आदर दिया।

चारों वेदोंने सम्मिलित स्वरमें जो स्तुति की वह अति मङ्गलमयी है—

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज बल हने॥
अवतार नर संसार भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे॥

(रा०च०मा० ७। १३ छं० १)

वेदोंने भगवान् श्रीरामको सगुण और निर्गुणका समन्वित रूप कहा है। व्यापक ब्रह्म होनेके कारण श्रीराम सगुण भी हैं और निर्गुण भी। दोनोंकी पृथक् सत्ता होनेपर भी वे दोनोंके समुच्चय हैं। इतना ही नहीं, निर्गुण-सगुण और समन्वयके अतिरिक्त भी वे हैं, इसीलिये अनूप-रूप (अपूर्व एवं दिव्य रूपवाला) भी कहा गया।

उपनिषदोंमें छः हेयगुणोंसे रहित होनेके कारण ब्रह्मको अगुण अथवा निर्गुण कहा गया है और दो दिव्यगुण-विशिष्ट होनेसे सगुण कहा गया है—'य

आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः०।' (छान्दोग्य० ८। ७। १)

अर्थात् ब्रह्म पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित एवं पिपासारहित—इन छः हेय-गुणोंसे रहित और सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प—इन दो गुणोंसे युक्त है।

श्रीरामचरितमानसके उक्त *'जय सगुन निर्गुन'* छन्दमें परमात्माको पहले सगुण पुनः निर्गुण कहा गया, क्योंकि प्राप्तिके बिना त्याग नहीं बनता। पुनः दोनोंसे भिन्न भी कहा गया, जो साकेतवासी परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी हैं।

श्रीरामने नर-अवतार ग्रहण कर पृथिवीको भाररहित कर दिया। तात्पर्य यह कि रावण आदि पापियोंका वध कर पृथिवीको भारमुक्त कर दिया। ऐसे प्रणतपाल दयालु परमात्माको वेद संयुक्तरूपसे नमस्कार कर रहे हैं। राज्याभिषिक्त हो जानेपर राजाकी स्तुति करनेकी परम्परा है—

तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिधि दुख ते निर्बहे।
भव खेद छेदन दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे॥

(रा०च०मा० ७। १३ छं० २)

वेदोंने कहा कि हे हरि! आपकी विषम मायाके वशीभूत होकर सुर-असुर, नर-नाग और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही रात-दिन काल-कर्म और गुणोंके अधीन भ्रमित हो रहा है। जिसपर आपकी कृपा-दृष्टि होती है, वही मायासे मुक्त होता है। संसारके कष्टोंका छेदन करनेमें (निर्मूल करनेमें) आप दक्ष हैं, प्रभो! हमारी रक्षा कीजिये।

वेदोंके कहनेका तात्पर्य यह है कि सारा संसार ही मायाके अधीन है—*'सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल।'* परंतु माया भगवान्‌की दासी है। अतः वे ही मायासे मुक्त कर सकते हैं—

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥

(रा०च०मा० ७। ७१ ख)

जो शरणागत हो जाता है, उसे भगवान् अवश्य मायामुक्त कर देते हैं। इतिहास-पुराण इसके साक्षी हैं—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥

(रा०च०मा० ७। १३ छं० ३)

—वेदोंने स्तुति करते हुए कहा—जो ज्ञानके अभिमानमें डूबे हैं तथा जिन्होंने भगवान्‌की भक्तिका आदर नहीं किया, वे सुर-दुर्लभ पदको पाकर भी भवकूपमें गिर जाते हैं। ऐसा हमने देखा है। वेद स्वतः परम प्रमाण हैं, उनकी बातोंकी सत्यताके लिये किसी दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।

अतः जो संसारकी आशाका त्याग करके केवल परमात्माका दास बन जाता है, वह मात्र आपका नाम जप कर बिना किसी परिश्रमके संसार-सागरको पार कर जाता है। तात्पर्य यह कि ज्ञानमें अहंकारकी सम्भावना है, इसलिये दासभावकी भक्तिका आश्रय लेना अनिवार्य है। जो ऐसा नहीं करता उसका पतन होता है—

जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनिपतिनी तरी।
नख निर्गता मुनि बंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी॥
ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे॥

(रा०च०मा० ७। १३ छं० ४)

प्रभु! आपके चरण शिव-ब्रह्मादिद्वारा पूजित हैं। आपके पावन पद-रजको पाकर मुनि-पत्नी अहल्या तर गयी। आपके नखसे निर्गत सुरसरि त्रैलोक्य-पावन बन गयी। आपके पावन चरणोंमें ध्वज, कुलिश, अंकुश, कंज आदि दिव्य चिह्न अंकित हैं; परंतु आप इतने भक्तवत्सल हैं कि भक्तोंके उद्धार और दुष्टोंके संहारके लिये कंटकित वनके मार्गोंपर चल पड़े, जिससे आपके चरण लहू-लुहान हो गये। वेदोंके कहनेका तात्पर्य यह कि एक ओर जहाँ भगवान्‌में ऐश्वर्य है, वहीं दूसरी ओर परमकृपालुता भी है—

अब्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥

(रा०च०मा० ७। १३ छं० ५)

वेदशास्त्र कहते हैं कि संसाररूपी वृक्षका मूल अव्यक्त (प्रकृति) है। यह वृक्ष अनादि-कालसे है। इसमें चार त्वचाएँ (खाल या छिलका), छः स्कन्ध (तना), पच्चीस शाखाएँ, अनेक पत्ते और अनन्त पुष्प हैं। इस विटपके आश्रित एक बेल है, जिसमें कटु और मधु दो प्रकारके फल फूलते-फलते रहते हैं—ऐसे संसाररूपी वृक्ष (परब्रह्म श्रीराम)-को हम नमस्कार करते हैं।

वेदोंने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको ही अनादि वृक्ष कहकर उनकी स्तुति की। संतोंने अनेक प्रकारसे इसकी विशद व्याख्या की है—

जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर मागहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥

(रा०च०मा० ७। १३ छं० ६)

जो आपको अज-अद्वैत, अनुभवगम्य कहते हैं और आपका ध्यान भी करते हैं; वे वैसा ही कहें, करें; हमें कोई आपत्ति नहीं है। परंतु हम तो नित्य-निरन्तर आपके सगुण यशका गान करें, ऐसी कृपा कीजिये। अन्तमें वेदोंने करुणानिधान तथा सद्गुणोंके भण्डार भगवान् श्रीरामसे यह वरदान माँगा कि हम मन, वाणी तथा क्रियाजनित विकारोंको त्यागकर आपके चरणोंमें अनुराग करें।

वेदोंकी इस स्तुतिसे स्पष्ट होता है कि भगवान्‌के चरणोंमें अनुरागके बिना जीवका कल्याण नहीं। क्योंकि—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

(रा०च०मा० ७। ६२। १)

वेद ज्ञानके चरम रूप तथा अन्तिम प्रमाण हैं; परंतु चारों वेदोंका यही मत है कि भगवान्‌के चरणकमलोंमें अनुरागके बिना ज्ञान-विज्ञान, स्वाध्याय, जप-तप आदि सारे साधन अधूरे हैं।

सर्वाधाररूपा, कल्याणस्वरूपा वेद-कथा

(महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीबजरङ्गबलीजी ब्रह्मचारी)

भक्ति-मुक्ति और शाश्वत शान्ति तथा अखण्ड आनन्दकी प्राप्तिके प्रमुख तीन मार्ग—भक्तिकी गङ्गा, कर्मकी यमुना और ज्ञानकी सरस्वतीका उद्गम एवं आधार-स्थान वेद और वेद-कथाओंको ही माना जाता है।

वेद-कथाएँ ही ज्ञान-विज्ञानके धाम, सम्पूर्ण आर्य-वाङ्मयके प्राण तथा भारतीय सभ्यता और हिन्दू-संस्कृतिका मूलाधार—सर्वाधार मानी जाती हैं।

जो स्थान बौद्ध और जैनोंमें अहिंसाका, ईसाइयोंमें दयाका और इसलाममें नमाज़का है, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान हिन्दुओंमें वेद और वेद-कथाओंमें वर्णित रीति-नीति, आचार-विचार, संयम-साधना, भाषा-भाव, सभ्यता-संस्कृतिको मानने, अपनाने और तदनुसार चलनेपर दिया जाता है।

ईश्वरकी सत्ता-महत्ताको नकारनेवाला भी हिन्दू हो सकता है, किंतु वेदोंकी सत्ता-महत्ता, उपयोगिता-आवश्यकता और मान्यताको स्वीकार न करनेवाला हिन्दू नहीं माना जा सकता। इसीलिये तिलकजीने वेदोंके स्वतः-प्रामाण्यमें अडिग निष्ठा होनेको ही हिन्दू होनेकी कसौटी माना है—'**प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु**'। **अनेन कारणेन वेदानां वेदकथानां च महत्त्वमनादिकालादद्यावधि भगवत्याः सुरसर्याः स्रोत इव निरवच्छिन्नं वरीवर्ति।**

वेदोंके नित्यत्वपर मनुस्मृतिके टीकाकार कुल्लूकभट्टकी तो स्पष्ट धारणा है कि प्रलयकालमें भी वेद और वेद-कथाएँ परमात्मामें अवस्थित रहती हैं। यथा—

'**प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः।**'

ईश्वरका खण्डन करनेवाला सांख्यशास्त्र भी वेदोंके अपौरुषेयत्वका प्रतिपादन करता हुआ कहता है—

'**न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्**' अर्थात् वेदकर्ताका कहीं भी वर्णन न होनेसे वेदोंकी अपौरुषेयता स्वतःसिद्ध होती है।

भारतीयोंकी तो मान्यता है कि तपश्चरणद्वारा पवित्र एवं अत्यन्त निर्मल महर्षियोंके हृदयमें वेद स्वतः प्रकाशित हुए—'**वेदा भारतीयानां महर्षीणामतिनिर्मले तपःपूते हृदि स्वतः प्रतिभाताः।**'

इसी भावको निरुक्तके नैघण्टुककाण्ड (२। ३। ११)- में निरुक्तकार यास्कने लिखा है कि ऋषियोंने मन्त्रोंको देखा— '**ऋषिर्दर्शनात् ……स्तोमान् ददर्श**' इसीलिये उनका नाम 'ऋषि' पड़ा।

सर्वानुक्रमसूत्रमें कात्यायनने भी लिखा है—'**द्रष्टार ऋषयः स्मर्तारः, न कर्तारः**' ये ऋषि वेदमन्त्रोंके द्रष्टा और स्मर्ता हैं, कर्ता नहीं।

वेदों और वेद-कथाओंके प्रति अटूट श्रद्धा तथा निष्ठा इस देशके जनमानसमें इतने भीतरतक समा गयी है कि मनुस्मृतिमें वर्णित '**सर्वं वेदात् प्रसिध्यति**' की सूक्ति, सदुक्ति हमारी भारतीय जीवनमालाका सुमेरु बन गयी है।

इस देशमें, गृहकार्यसम्पादनमें लगी हुई एक साधारण महिलासे लेकर सर्वशक्तिसम्पन्न राजाधिराजकी अति स्नेहिल राजकुमारीतक वेदोंकी उच्छिन्नताकी सम्भावनामात्रसे आकुल-व्याकुल होकर पुकार उठती है—'**को वेदानुद्धरिष्यति।**' वेदोंका उद्धार कौन करेगा? वेदोंकी रक्षा और उनके प्रचार-प्रसारके प्रति उच्च उदात्तभाव केवल भारतवासियोंमें ही नहीं, अपितु मैक्समूलर, मैक्डॉनल, ग्रिफिथ, विल्सन और राथ आदि पाश्चात्त्य विदेशी विद्वानोंमें भी देखनेको मिलते हैं। इन विद्वानोंने तो वेद और वेद-कथाओंके रहस्योद्घाटनमें अपना सम्पूर्ण जीवन ही लगा दिया।

ऋग्वेदकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए विदेशी विद्वान् मैक्समूलरने लिखा है कि—

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् ऋग्वेदमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

यद्यपि यह श्लोक मौलिकरूपसे मैक्समूलरका बनाया हुआ नहीं है। वाल्मीकिरामायणके इस श्लोकमें कुछ शब्दोंका परिवर्तन कर मैक्समूलरने इस श्लोकके द्वारा ऋग्वेदकी प्रशंसामें अपना हृदयोद्गार प्रकट किया है, जो विदेशियोंके हृदयमें भी वेदोंके प्रामाण्य और वैशिष्ट्यका जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत करता है।

सर्वाधार स्वयं निराधार अथवा स्वाधाराधृत ही होता है, क्योंकि ऐसा न होनेपर अनवस्थादोष उत्पन्न हो जायगा। यही कारण है कि वेद और वेद-कथाओंका रचयिता किसी भ्रम, प्रमाद, करुणापाटव और विप्रलिप्सा आदि पुंदोषयुक्त तथाकथित आप्तपुरुषकी कौन कहे, स्वयं सर्वदोषरहित भगवान्‌को भी नहीं माना गया है। वेदों और वेद-कथाओंको भगवान्‌का निःश्वास कहा गया है। श्वासकी गति स्वाभाविक होती है, इसमें प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं होती। इसीलिये वेद और वेद-कथाओंकी अपौरुषेयताका प्रतिपादन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की है—

'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।'

(रा०च०मा० १। २०४। ५)

वैदिक कथाएँ देश, काल और घटनाओंका अनुसरण नहीं करतीं, अपितु किसी अंशमें घटनाक्रम ही वैदिक आख्यायिकाओं और कथाओंका अनुसरण करते हैं।

भगवान् वेदव्यासने भी कहा है—

'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥'

(वेदान्तसूत्र १। ३। २८)

अर्थात् प्रत्यक्ष (वेद) और अनुमान (स्मृति)— इन दोनों प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि वेदोक्त शब्दसे ही जगत्‌की उत्पत्ति होती है।

आगेके सूत्रमें वे वेदका नित्यत्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

'अतएव च नित्यत्वम्॥' (वेदान्तसूत्र १। ३। २९)

इसीसे वेदोंकी स्वतःसिद्ध-नित्यता प्रतिपादित हो जाती है। मनुजीने भी इसी वेदानुसारी सृष्टि-सिद्धान्तको स्वीकार करते हुए कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥

(मनु० १। २१)

अर्थात् उन सृष्टिकर्ता परमात्माने सृष्टिके प्रारम्भमें सबके नाम, कर्म तथा उन सबकी व्यवस्था अलग-अलग वेदोक्त शब्दोंके अनुसार ही बनायी।

सम्पूर्ण विश्वमें एकता, अखण्डता और भ्रातृभावनाको बढ़ानेवाली वेदोंमें वर्णित बहुदेववादकी कथाओंमें एक

ही परमात्माकी भिन्न-भिन्न ढंगसे पुकार की गयी है। इस सम्बन्धमें वेदभाष्यकार सायणाचार्यकी यह उक्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है—

तस्मात्सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते॥

यास्कने भी इसी बातको सिद्ध किया है, जिसे ऋग्वेद (१। १६४। ४६)-में '**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**' कहा गया है अर्थात् एक ही परमात्माका विद्वानोंने बहुत प्रकारसे वर्णन किया है।

जिस प्रकार घटाकाशका मूल महाकाश, बिन्दुका मूलाधार सिन्धु, आभूषणोंका स्वर्ण और शरावादिक पात्रोंका मूलाधार मृत्तिकाको माना जाता है, उसी प्रकार उपवेद, वेदाङ्ग, दर्शन, मन्त्र, तन्त्र, सूत्र, काव्य, गीत, पद्यात्मक-गद्यात्मक-आख्यान, व्याख्यान, कथादि सम्पूर्ण परवर्ती वाङ्मय (साहित्य)-का आधार वेद और वेद-कथाओंको ही माना जाता है। धर्म और ब्रह्मके सम्बन्धमें तो एकमात्र वेद-प्रमाण ही स्वीकार्य माना गया है।

देश, काल, परिस्थितिके अनुसार समय-समयपर वेद-कथाओंने ही विविध रूप धारण कर कुछ लोगोंको एक नयी ज्योति, नयी जागृति, नयी स्फुरणा, नयी प्रेरणा और नयी चेतना प्रदान की है।

'**इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्**' के अनुसार इतिहास-पुराणोंकी रचना कर वेदका ही विस्तार और सरलार्थ किया गया है।

वेदपुरुष भगवान् रामके नरोत्तम, पुरुषोत्तमरूप धारण करनेपर वेद-कथाको ही आदिलौकिक काव्य वाल्मीकि-रामायणके रूपमें प्रकट होना माना जाता है। यथा—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥

कुछ लोगोंकी यह भी मान्यता है कि वाल्मीकिरामायणके २४ हजार श्लोक वेदोंमें वर्णित गायत्री-छन्दके २४ अक्षरोंकी प्रत्येक अक्षरपर एक-एक हजार श्लोकोंद्वारा की गयी व्याख्या है।

इसी प्रकार गीताकी भी प्रामाणिकता एवं मान्यता भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे निःसृत होनेके साथ ही प्रमुख रूपसे गीताका वेदमूलक होना ही है।

'**सर्वोपनिषदो गावो ……… दुग्धं गीतामृतं महत्**' की उद्घोषणाके पश्चात् ही गीताकी इतनी व्यापकता हुई और प्रस्थानत्रयीमें उसे प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ।

वेदव्यास-जैसे सर्वज्ञ महर्षिके द्वारा रचित श्रीमद्भागवतमहापुराणकी भी मान्यता वेद-कथारूपी कल्पवृक्षका फल होनेके कारण ही हुई है— '**निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्।**'

संतशिरोमणि श्रीतुलसीदासजीकी श्रीरामचरितमानस-कथा आज जन-जनमें व्याप्त है, किंतु इसकी भी मान्यता एवं प्रचारका मूल कारण एवं आधार इसका वेद-कथा-मूलक होना ही है। इसीलिये तुलसीदासजीको कथाके प्रारम्भमें ही लिखना पड़ा—

'**नानापुराणनिगमागमसम्मतं …… इदं रामचरितमानसम्**' तभी लोगोंने उसे ललकपूर्वक अपनाया।

इस प्रकार 'सर्वाधाररूपा एवं कल्याणस्वरूपा वेद-कथा' के विभिन्नरूपोंमें विस्तार तथा निष्ठापूर्वक उसके श्रवण, मनन, निदिध्यासनके परिणामपर सत्पुरुषों, साधुपुरुषों, महापुरुषों, आचार्यों और शास्त्रोंकी सम्मति प्रकट करते हुए इस संक्षिप्त लेखका उपसंहार निम्नलिखित पद्यके रूपमें प्रस्तुत किया जा रहा है—

वेद-कथा मेटती कलंकन के अंकन को,
वेद-कथा रंकन को रिद्धि-सिद्धि देनी है।
वेद-कथा मेटती सकल जग-ताप-शाप,
वेद-कथा पापपुञ्ज काटन को छेनी है॥
वेद-कथा गंग-यमुना की है तीजी बहन,
वेद-कथा जगमें सुखमय त्रिवेनी है।
वेद-कथा धर्म, अर्थ, काम मोक्ष देती सब,
(यह) वेद-कथा-अंक ब्रह्मज्ञान की निसेनी है॥

वेद-दृष्टि और दृष्टि-निष्ठा

(प्रो० श्रीसिद्धेश्वरप्रसादजी, राज्यपाल—त्रिपुरा)

(१)

दो तटोंके मध्य जिस प्रकार नदीकी धारा प्रवाहित होती है, उसी प्रकार वेद-दृष्टि '**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**' (ऋक्० १।१६४।४६) और '**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**' (ऋक्० ९।६३।५)-रूपी इन दो मन्त्र-तटोंके बीच उद्भावित हो अपने प्रकाशसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको आलोकित करती है, जिसमें सम्पूर्ण सृष्टिका समस्त रहस्य समाहित है। हिन्दू-धर्म या सनातन-धर्म अथवा वैदिक धर्मकी संज्ञासे जिस धर्मको जाना जाता है, उसके मूल वेद ही हैं, जिन्हें श्रुति, संहिता, मन्त्र या छन्दस् नामसे भी जाना जाता है और परम्परासे जिन्हें अपौरुषेय माना जाता रहा है। ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, स्मृतियों, धर्मसूत्रों, पुराणों तथा रामायण-महाभारत आदि सम्पूर्ण भारतीय परम्पराकी मूल धाराके आधार-स्तम्भ वेद ही हैं; यहाँतक कि जैन, बौद्ध, सिख आदि परम्पराएँ भी वैदिक परम्पराके ही रूप-रूपान्तरण हैं; वैष्णव, शैव, शाक्त भी इसी मूल धाराकी शाखाएँ हैं और वेदाङ्ग, उपवेद, षड्दर्शन आदि वेदको ही विभिन्नरूपोंमें समझने-समझानेके युगोंसे चले आ रहे प्रयासके अङ्ग हैं।

'वेद-दृष्टि' पश्चिमी अर्थमें दर्शन नहीं है। पाश्चात्य-परम्परामें दर्शनका अर्थ है जानकारी (इन्फॉरमेशन), जो मूलतः तर्कपर आश्रित है, अन्तर्दर्शनपर नहीं। भारतीय परम्परामें दर्शनका अर्थ है रूपान्तरण (ट्रांसफॉरमेशन), यह मूलतः उस अन्तर्दर्शनपर आधारित है, जो द्रष्टाकी दृष्टिको ही नहीं, प्रत्युत जीवनको भी रूपान्तरित कर देता है। 'जानकारी' की परम्पराके कारण ही पश्चिममें भौतिक विज्ञानका और भारतमें धर्मकी उस धारणाका विकास हुआ है, जो जीवन और जगत्को उनकी सम्पूर्णतामें ग्रहण कर उनके रूपान्तरणके लिये सतत सचेष्ट रहता है। पिछली दो शताब्दियोंमें यातायात और संचारके साधनोंके अभूतपूर्व विकासके कारण यद्यपि सभी परम्पराओंके मूल रूप मिश्रित होते आ रहे हैं, फिर भी मूल धाराएँ अभी भी अपने मूल स्रोतोंसे ही जुड़ी हुई हैं। अतः वेदका अध्ययन आज भी उतना ही प्रासंगिक एवं सार्थक है।

श्रुति-स्मृति एवं विज्ञानकी एकात्मता [मात्र एकवाक्यता नहीं] न तो आज कोरी कल्पनाकी वस्तु रह गयी है, न वे सर्वथा परस्पर-विरोधी हैं। महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन जीवनके अन्तिम अमूल्य चालीस वर्षोंमें जिस 'एकीकृत क्षेत्र-सिद्धान्त' (यूनीफाइड फील्ड थियरी)-की खोज करते रहे—वह उस 'वेद-दृष्टि' में निहित है, जिसे आजकी शैलीमें 'दृष्टि-निष्ठा' कहा जायगा। 'दृष्टि-निष्ठा' वस्तुपरक [निरपेक्ष—अनासक्त] होती है और 'व्यष्टि-निष्ठा' व्यक्तिके राग-द्वेषोंसे सीमित और प्रभावित होती है। विज्ञानकी शक्ति उसकी वस्तुपरकता, निरपेक्षता अर्थात् 'दृष्टि-निष्ठा' में है और 'वेद-दृष्टि' भी मूलतः इसी सत्यकी स्थापना तथा स्वीकृति है [परंतु प्रक्रिया भिन्न है]। अन्य धर्मोंके ग्रन्थोंकी तरह वेद 'व्यष्टि' नहीं, अपितु 'दृष्टि'- के प्रति निष्ठाके प्रतिपादक हैं। अतः वैदिक प्रवक्ता कोई अवतार, नबी अथवा पैगंबर नहीं, प्रत्युत शताधिक ऋषि हैं, जिन्होंने 'सत्' के विभिन्न रूपोंके साक्षात्कार किये; उनकी वही 'दृष्टि' वेदके मन्त्र हैं, जिनकी 'श्रुति' उन्हें आत्माकी उच्चतम अवस्थामें ग्रहण किये हुई थी। 'दृष्टि-निष्ठा' में व्यक्ति माध्यम तो है, पर उस दशामें उसकी स्थिति निर्वैयक्तिक हो जाती है; 'व्यष्टि-निष्ठा' का धरातल उठकर जब 'दृष्टि-निष्ठा' में रूपान्तरित हो जाता है, तब उस दशामें व्यष्टि और समष्टिके भेदका विलय हो जाता है; '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' और '**अहं ब्रह्मास्मि**' तथा '**सोऽहम्**' में अद्वैतकी एकात्मताकी प्रतीति होती है। यह कल्पना अथवा भावुकता नहीं, अपितु मानव-जीवनका सर्वोपरि मनोवैज्ञानिक यथार्थ है। अतः 'वेद-दृष्टि' वस्तुतः 'दृष्टि-निष्ठा' का पर्याय है और ऋचाओंके मन्त्रद्रष्टा 'ऋषि' शब्दके पूर्णतम अर्थमें वैज्ञानिक हैं, जिन्होंने अपनी विशिष्ट साधना-पद्धतिके बलपर अपने जीवनको ही आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रसे भी अधिक निर्वैयक्तिक बना लिया था। इसीलिये ऋचाएँ प्राचीनतम होकर भी आधुनिकतम हैं, सनातन और शाश्वत हैं।

'दृष्टि-निष्ठा' और 'व्यष्टि-निष्ठा' के इस मूल अन्तरको ध्यानमें न रखनेके कारण ही उनकी सही व्याख्या नहीं

हो पा रही है। आजकलके लोगोंके गले यह बात उतरती ही नहीं कि इतिहासके उस आरम्भ-कालमें वैसी निर्वैयक्तिकताका विकास सम्भव था, जो आधुनिक विज्ञानके लिये भी अभी पूरी तरहसे सुलभ नहीं है। 'दृष्टि-निष्ठा' और 'व्यष्टि-निष्ठा'में एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर भाषाके प्रयोगकी दृष्टिसे है। 'दृष्टि-निष्ठा' में भाषाका प्रयोग यौगिक है, 'व्यष्टि-निष्ठा' में रूढ। जैसे दृष्टि सीमित-संकुचित होनेपर सिमट-चिमट जाती है, वैसे ही 'दृष्टि-निष्ठा' से 'व्यष्टि-निष्ठा' के धरातलपर उतरनेसे शब्द भी यौगिकरूपसे रूढ हो जाते हैं; उनकी शक्ति व्यापकताको खो देती है और कवि भी मात्र शिल्पी रह जाता है, क्योंकि शब्दके नैरुक्तिक अर्थका विस्मरण कर उनके प्रचलित रूढ अर्थसे ही भाषाको बाँध दिया जाता है।

(२)

आधुनिक भौतिक विज्ञान **'बहुधा वदन्ति'** के रूपमें अभी हमारे सामने है, पर वह **'एकं सद्'** तक नहीं पहुँचा है; क्योंकि इस निष्पत्तिकी दार्शनिक एवं सामाजिक परिणतिको ग्रहण करनेके लिये अभी पश्चिमी मानस तैयार नहीं है। वैदिक ऋषिका मानस इससे भिन्न था। वे **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** के साथ-साथ **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'**के भी द्रष्टा थे, जिसके लिये अन्य धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओंमें आज भी मानसिक तैयारी नहीं है। **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** भौतिकशास्त्र (फिजिक्स)-का पराभौतिकशास्त्र (मेटाफिजिक्स) है और **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** उसका (भौतिक विज्ञानका) पूरक समाजविज्ञान है, जो पूरे मानव-समाजको श्रेष्ठतम स्तरतकके विकासका अधिकारी मानकर सबके लिये एक ऐसे निर्वैयक्तिक मार्गको सुलभ करता है, जो आधुनिक विज्ञानके पूर्ण अर्थमें वैज्ञानिक है। इसलिये 'वेद-दृष्टि' सनातन ही नहीं सर्वजनीन है, क्योंकि यह 'व्यष्टि-निष्ठा' का मार्ग नहीं, अपितु 'दृष्टि-निष्ठा' का मार्ग है।

वैदिक ऋषियोंने तथा सनातन-धर्मने 'दृष्टि-निष्ठा' किस प्रकार विकसित की—प्राप्त की? ध्यानयोगके द्वारा। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।३)-ने इसे **'ध्यानयोगानुगता'** कहा है। ध्यानयोग 'दृष्टि-निष्ठा' की पद्धति है, प्रक्रिया है, क्रियायोग है। यद्यपि योगपर भारतमें विशाल साहित्य उपलब्ध है, परंतु पतञ्जलिकृत 'योगसूत्र' इनमें सर्वाधिक प्रामाणिक एवं लोकप्रिय है। जिसे बृहदारण्यकोपनिषद् (२।१।२०)-में **'सत्यस्य सत्यम्'** कहा गया है। ध्यान-योग जिसकी प्राप्तिकी प्रक्रिया है, यही वह मार्ग है जिसका अवलम्ब लेकर कोई भी व्यक्ति 'आर्यत्व' प्राप्त कर सकता है। इसी मार्गके अनुसरणसे अर्जित शक्तिके भरोसे वैदिक ऋषियोंने **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** का उद्घोष किया था। इस मार्गके अनुसरणके बिना **'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'** (यजुर्वेद ३२।८)-की उपलब्धि सम्भव नहीं है।

आज विश्वमें जो बेचैनी, छटपटाहट और पीड़ा है तथा व्याकुलता और व्यथा है, वह भेद-भावमूलक संकीर्ण जीवन-दृष्टिके कारण है। वेदमें इस जीवन-दृष्टिसे भिन्न **'सत्यं बृहदृतम्'** (अथर्व० १२।१।१)-की बात कही गयी है। इसी परम्परामें **'भूमा'** (छान्दोग्य० ७।२३।१)-को सुखका कारण बताते हुए कहा गया है कि 'अल्प' में सुख नहीं है; भूमा अमृत है और अल्प मर्त्य।

'वेद-दृष्टि' सम्पूर्ण मानव-जीवन ही नहीं; बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको उच्चतर चेतनाके विकासके माध्यमसे उन्नत और समृद्ध बनानेके लिये मार्गको सुलभ बनाती है। वह संसारके अन्य धर्मोंकी तरह मात्र मनोवैज्ञानिक, नैतिक, आचार-शास्त्रीय, सामाजिक या आध्यात्मिक ही नहीं, बल्कि जैवी विकासकी सम्भावनाओंको भी ध्यानमें रखकर विकसित की गयी है। योगकी साधनासे सुप्त कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत् होती है, जो एक जैवी प्रक्रिया है। इस योग-साधनामें मेरुदण्डकी तीन नाडियों (इडा, पिंगला और सुषुम्ना)-का विशेष योग होता है। यह योग-साधना ऋषियोंतक ही सीमित नहीं थी; बल्कि जन-साधारणमें भी प्रचलित हो चुकी थी, इसका सबसे प्राचीन प्रमाण यह है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा ही नहीं, अपितु सरस्वती-सिन्धु-घाटी-सभ्यताकी खुदाईके अन्य स्थानोंसे भी योगध्यानमग्न मूर्तियाँ प्रचुर मात्रामें पायी गयी हैं। योग-साधनासे मूलाधारमें कुण्डलीके आकारमें स्थिर प्राण-रस उत्थापित होकर जब मस्तिष्कमें पहुँचता है, तब उससे मस्तिष्कको जो अतिरिक्त ऊर्जा प्राप्त होती है, उसीसे हर प्रकारके रचनात्मक कार्य

सम्भव होते हैं और अन्तर्दृष्टिसम्पन्न उच्चतर अन्तश्चेतनाका विकास होता है [जिसे तृतीय नेत्र कहा गया है]। अन्य धर्मोंमें यह अत्यन्त विरल रही है; क्योंकि भारतके अतिरिक्त कहीं और योग-साधनाका आविष्कार नहीं हो पाया। इसीलिये अन्य परम्पराओंमें जबकि धर्म 'व्यष्टि-निष्ठा' तक ही सीमित रह गया, भारतमें यह 'दृष्टि-निष्ठा' के उच्च स्तरतक विकसित हो सका। पतञ्जलिने योगसूत्रमें योग-साधनासे प्राप्त होनेवाली जिन विभूतियोंका विवरण दिया, उन्हें यहाँ गिनानेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु जिसे प्राप्त कराना पतञ्जलिकी योग-साधनाका लक्ष्य था, वह है विवेक-ख्याति अर्थात् प्रकृति एवं पुरुषके विवेकको प्राप्त करना और तत्पश्चात् 'स्वरूप' को प्राप्त करना।

(३)

'वेद-दृष्टि' एवं 'दृष्टि-निष्ठा' की तरह '**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**' तथा '**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**' भी एक समीकरण है—एकीकृत सूत्र है। जिसकी गहराईमें गये बिना न वेदकी समुचित व्याख्या सम्भव है, न अध्यात्म एवं विज्ञानकी और न मानव-समाजकी वर्तमान चुनौतियोंका समाधान ही ढूँढ़ पाना सम्भव है। अध्यात्म-विज्ञान और भौतिक विज्ञानके समन्वय तथा सामञ्जस्यसे ही समाज-विज्ञानकी रचना होती है। '**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**' यदि अध्यात्म-विज्ञान और भौतिक विज्ञानके 'सत्' को सूत्ररूपमें अभिव्यक्त करता है तो '**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**' उसके आधारपर विकसित समाज-विज्ञानको सूत्ररूपमें अभिव्यक्ति प्रदान करता है। '**एकं सद्**' में 'एक-से अनेक' की जो प्रवृत्ति लक्षित होती है, उसे वैदिक समाज-विज्ञानका यह सूत्र पुनः 'अनेकसे एक' की ओर उन्मुख करता है, जिसकी परिणति '**यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**'- में होती है। इस आत्मसाक्षात्कारके लिये किसी अन्य लोकमें जानेकी आवश्यकता नहीं है, अपितु इसी लोकमें इसे प्राप्त करना होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥

(४।४।१४)

अर्थात् 'हम इस शरीरमें रहते हुए ही यदि उसे जान लेते हैं तो कृतार्थ हो गये, यदि उसे नहीं जाना तो बड़ी हानि है। जो उसे जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं; किंतु दूसरे लोग तो दुःखको ही प्राप्त होते हैं।'

'**वेद-दृष्टि**' कितनी व्यापक थी, कितनी यथार्थपरक थी, इसकी कल्पना भी आज आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। किसी अन्य परम्परामें वेदकी इस उदात्तताको ढूँढ पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याᳬ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।

(यजुर्वेद २६।२)

कुछ लोगोंकी इस धारणाका निराकरण आवश्यक है कि 'वेद-दृष्टि'के अनुरूप जीवन मात्र कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्थापर ही आधारित हो सकता है। इसे स्वीकार करनेका अर्थ यह होगा कि वेद नित्य और सनातन सत्यकी अभिव्यक्ति नहीं हैं। ऋत या सनातन नियम अर्थात् वेद (श्रुति) कालातीत हैं। इसलिये कोई आर्षवचन भी यदि श्रुति-विरुद्ध हों तो उन्हें मान्यता नहीं दी जा सकती, क्योंकि इस परम्परामें वेदका सर्वोपरित्व निर्विवाद है। इसीलिये भारतीय परम्परामें वेदमन्त्रोंकी अक्षर-रक्षा ही नहीं, बल्कि स्वर-रक्षाके लिये हजारों वर्षोंसे जो प्रयत्न किये जाते रहे—वैसे प्रयत्न संसारमें कहीं और किसीके लिये नहीं किये गये।

वेद-दृष्टि और सनातन-धर्मके नव-जागरणके लिये आज ऐसे ऋषियोंकी आवश्यकता है, जिसके लिये यास्कने '**ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति**' (निरुक्त ७।१।३) कहा है। इसके लिये साधनाका मार्ग अपनानेके बदले आन्दोलनोंमें शक्तिका अपव्यय किया जा रहा है। धर्म तो वेदके ज्ञानके ऊपर टिका है, किसी औरपर नहीं।

ज्ञान, कर्म और भक्ति सनातन-धर्मके आयाम हो सकते हैं, पर ये 'वेद-दृष्टि' के सम्पूर्ण सत्यको उजागर नहीं करते, क्योंकि उसमें इन तीनोंके योगके अतिरिक्त भी और बहुत कुछ समाविष्ट है। आधुनिक लोकतन्त्र बहुमतपर आधारित शासन-पद्धति है। यजुर्वेद (२६।२)-का '**इमां वाचं कल्याणीम्**......**जनेभ्यः**' सबके लिये है, इसीलिये वैदिक ऋषिने '**सह चित्तमेषाम्**' (ऋक्० १०।१९१।३)-की ऊँची बात कही है। यह 'सहचित्तता' '**समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः**' (ऋक्० १०।१९१।३)-के बिना सम्भव नहीं है। परंतु आज संसारकी समितियोंमें, लोक-सभाओं और विधान-सभाओंमें, समान

मन्त्र कहीं दृष्टिगोचर हो रहा है क्या? और जब समितिमें समान मन्त्र न हो तो जन-मन कैसे समान हो सकता है?

वेद-दृष्टि मध्य कालमें जिसे प्राप्त नहीं कर सकी, अब प्राप्त कर सकती है। आधुनिक विज्ञान और टेक्नालाजीके सहयोगसे यह सम्भव है। भारतकी स्वतन्त्रताका प्रयोजन यही है। भारत इस दायित्वको निभानेसे मुकर या भाग नहीं सकता। 'तृष्णा' के भयसे सृष्टिकी उपेक्षा 'अज्ञान' है। इस 'अज्ञान' को 'वेद-दृष्टि'के 'ज्ञान' से ही दूर किया जा सकता है।

(४)

भारतने श्रद्धा क्यों खो दी है, अपना इतना अवमूल्यन क्यों कर दिया है? छान्दोग्योपनिषद् (५। ३। २)-में कहा गया है कि 'यह (ज्ञान) एकाध सूखे ठूँठको भी यदि कहा जाय तो उसमें शाखाएँ और पत्ते निकल सकते हैं तो भारत और सनातन-धर्मका कायाकल्प क्यों नहीं हो सकता? यदि इसे प्राप्त करना हो तो इस 'महत्'की प्राप्तिके लिये दीक्षित होकर तपस्या करनी पड़ेगी, व्रत लेना पड़ेगा— '**व्रतेन दीक्षामाप्नोति**' (यजुर्वेद १९। ३०), साथ ही श्रद्धा करनी पड़ेगी; क्योंकि श्रद्धा करनेपर ही सत्यताकी प्राप्ति होती है—'**श्रद्धया सत्यमाप्यते**' (यजुर्वेद १९। ३०)।

विश्व वेदकी ओर या सनातन-धर्मकी ओर तबतक उन्मुख नहीं होगा, जबतक हम पुनः 'वेद-दृष्टि और दृष्टि-निष्ठा' को नहीं प्राप्त करते। हम ब्रह्मज्ञान, आत्मविद्या या अध्यात्मके महत्त्वकी चाहे जितनी बातें करें। आधुनिक विश्वमें तबतक हमारी बात कोई नहीं सुनेगा, जबतक भारत अपनेको स्वयं उस ऊँचाईतक नहीं उठाता। दूसरी ओर पश्चिमी देशोंकी हू-ब-हू नकलकी हम चाहे जितनी कोशिश करें—विश्व हमारी ओर कभी आकृष्ट नहीं होगा, बल्कि हमारी नकलची प्रवृत्तिका मज़ाक ही उड़ायेगा। हर राष्ट्रको अपनी परम्परा और परिस्थितिके आधारपर अपने विकासका मार्ग तय करना होता है। अतः भारतको 'वेद-दृष्टि' एवं 'दृष्टि-निष्ठा'के अनुरूप ही अपने विकासकी दिशा एवं मार्गका निर्धारण करना होगा।

वैदिक दृष्टि-निष्ठाने सरस्वती-घाटी, सिन्धु-घाटीमें जिस कोटिकी आध्यात्मिक संस्कृति और भौतिक सभ्यताका विकास किया, वह संसारके इतिहासमें अनुपम है। वह विश्व-इतिहासकी एकमात्र सर्वाङ्गीण संस्कृति और सभ्यता थी, जिसकी नींव इतनी मजबूत थी कि हजारों थपेड़ोंके बावजूद आज भी भारत अद्वितीय और अप्रतिम है। यह स्वतन्त्र विषय है और इसका उल्लेख यहाँ इसलिये आवश्यक प्रतीत हुआ कि इसका अक्सर विस्मरण कर दिया जाता है।

रूसमें वेदका अध्ययन और अनुसंधान

(श्रीउदयनारायण सिंहजी)

वैदिक धर्म भारतमें धार्मिक विश्वासोंकी सबसे प्राचीन प्रणाली है, जिसने इस उपमहाद्वीपमें प्रकट होनेवाली धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक शिक्षाओंपर गहनतम प्रभाव डाला है। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्त तथा बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें रूसी अध्येताओं और विद्वानोंका ध्यान वेदोंकी ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने उसका अध्ययन प्रारम्भ किया। इस बृहत् और महत् कार्यका समारम्भ सुप्रसिद्ध रूसी साहित्यकार और मानवतावादी लियो टालस्टॉयने किया, जिनका भारतके राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीसे सम्पर्क—व्यवहार भी था और महात्मा गाँधीके प्रारम्भिक जीवनको उन्होंने बहुत कुछ प्रभावित भी किया था। गाँधीजी उन्हें अपना गुरु मानते थे। लियो टालस्टॉय एक दार्शनिक और मानवतावादी विचारक भी थे, जिन्होंने रूसकी जनतामें भारतीय साहित्य, दर्शन और संस्कृतिमें गहरी अभिरुचि पैदा की थी। इस महान् संतका ध्यान सर्वप्रथम वेदोंके समृद्ध ज्ञान-भंडारकी ओर आकृष्ट हुआ। टालस्टॉयने वेदोंका अध्ययन यूरोपीय भाषाओंके माध्यमसे नहीं, वरन् उस समय भारतके 'गुरुकुल काँगड़ी' नामक स्थानसे प्रकाशित उस वैदिक मैगजिन (मासिक पत्रिका)-के माध्यमसे किया, जो नियमितरूपसे भारतसे उनके निवास-स्थान 'यास्थाना पोल्याना' पहुँचा करती थी। पत्रिकाके प्रकाशक तथा सम्पादक प्रोफेसर रामदेव टालस्टॉयके भारतीय मित्रोंमें थे।

टालस्टॉयका योगदान

लियो टालस्टॉयने वेदोंमें संनिहित गहन ज्ञानकी सराहना करते हुए इस गौरव-ग्रन्थके उन अंशोंको विशेष महत्त्व दिया, जिनमें नीतिशास्त्रकी बातें बतायी गयी हैं। मानवतावादी होनेके नाते टालस्टॉयने मानव-प्रेमसे सम्बन्धित वेदकी ऋचाओंका भी अत्यधिक रुचिके साथ अध्ययन किया तथा उनकी अनेक बातोंको स्वीकार भी किया। भारतीय पौराणिक ग्रन्थोंकी कलात्मकता तथा काव्य-सौन्दर्यने उन्हें विशेष प्रभावित किया। वेद तथा उपनिषद्की प्रशंसामें उन्होंने अपनी अमर कृतियोंमें अनेक स्थानोंपर किसी-न-किसी रूपमें अवश्य ही कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं। उदाहरणार्थ 'कला क्या है'? शीर्षक-निबन्धमें उन्होंने लिखा है—'शाक्य मुनिके इतिहास तथा वेदमन्त्रोंमें अत्यधिक गहरे विचार प्रकट किये गये हैं और चाहे हम शिक्षित हों अथवा नहीं, ये हमें अब भी प्रभावित करते हैं।' टालस्टॉयने न केवल वेदोंका अध्ययन ही किया, वरन् उनकी शिक्षाओंका रूसमें प्रचार भी किया। उन्होंने अपनी कृतियोंमें यत्र-तत्र इसके उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं। उनकी कुछ उक्तियोंके भावानुवाद इस प्रकार हैं—

'उस प्रकारके धन (ज्ञान)-का संग्रह करो, जिसे न तो चोर चुरा सकें और न ज़ुल्म करनेवाले छीन ही सकें। दिनमें इस प्रकार काम करें कि रातमें नींद आरामसे ले सकें। जो कुछ भी नहीं करता, वह केवल बुराई करता है। वास्तवमें वही व्यक्ति शक्तिशाली है, जो अपनेपर विजय प्राप्त कर लेता है।'

—टालस्टॉयकी ये उक्तियाँ वेदकी गहन शिक्षाओंके अधिक निकट हैं। टालस्टॉयने जीवनपर्यन्त भारतीय साहित्य और संस्कृतिमें रुचि प्रकट की। 'ललित-विस्तर' तथा गीता और शंकराचार्यकी दार्शनिक रचनाओंका उन्होंने अध्ययन किया। 'ऋग्वेद'के सम्बन्धमें उन्होंने लिखा—'वेदोंमें उदात्त भावनाएँ निहित हैं।' भारतके अनेक लेखकोंपर टालस्टॉयका गहरा प्रभाव पड़ा था। पं० जवाहरलाल नेहरूने लिखा है—'टालस्टॉय उन लेखकोंमेंसे हैं,जिनका नाम और जिनकी रचनाएँ भारतमें सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।'

परवर्ती साहित्यपर प्रभाव

रूसके अन्य अनेक अध्येताओंने वेदोंका अध्ययन एवं मनन किया है, जिनमें मि० म० बोंगर्द लेविनका प्रमुख रूपसे उल्लेख किया जा सकता है। वैदिक साहित्यके बारेमें उन्होंने अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—'वेद भारतके प्राचीन ग्रन्थ हैं, यद्यपि इनकी विषय-वस्तु बहुत व्यापक है और उसमें समाविष्ट अंश भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक कालोंके हैं, तथापि प्राचीन परम्पराके अनुसार उन्हें अनेक समूहोंमें विभाजित किया जाता है। यथा—'ऋग्वेद' (ऋचा-संकलन), 'सामवेद' (मन्त्र-संकलन), 'यजुर्वेद' (स्तुति तथा यज्ञ-विधि-संकलन) और 'अथर्ववेद' (मन्त्र एवं जादूमन्त्र-संकलन)। इनमें सबसे प्राचीन 'ऋग्वेद' है, इसमें विश्वोत्पत्ति तथा विवाह-विषयक ऋचाओंसहित अनेक विषयोंपर १०२८ ऋचाएँ हैं। रूसी विद्वान्ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वेदोंमें नाट्य-तत्त्व पाये जाते हैं, जिनका साहित्यके उत्तरवर्ती कालोंमें अधिक पूर्णताके साथ परिष्करण होता है। इसका एक अत्यन्त रोचक उदाहरण 'ऋग्वेद' का तथाकथित 'संवाद-स्तोत्र' है। इसके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि ये मात्र धार्मिक मन्त्र नहीं थे, वरन् नाट्य-प्रस्तुतियोंके लिये रचे गये थे। 'ऋग्वेद' की कुछ कथाओंने उत्तरवर्ती कालके लेखकोंको नाट्य-रचनाओंके लिये सामग्री प्रदान की। उदाहरणके लिये महाकवि कालिदासने अपने नाटक 'विक्रमोर्वशीय' का आधार पुरूरवा और उर्वशीके प्रेमकी वैदिक कथाको बनाया है। इससे यह निष्कर्ष सहजमें ही निकाला जा सकता है कि वैदिक साहित्यका भारतके परवर्ती साहित्यपर गहरा प्रभाव पड़ा था।

भारत-विद्या-सम्बन्धी अनुसंधान

भारतकी विद्याके सम्बन्धमें अध्ययन और अनुसंधान करनेवालोंमें रूसी भाषाविद् अकादमीशियन फोर्तुनातोव (सन् १८४८—१९१४)-का विशेष रूपसे उल्लेख किया जा सकता है। मास्को विश्वविद्यालयकी पढ़ाई पूरी करनेके बाद सन् १८७२-७३ में उन्होंने यूरोपके जाने-माने संस्कृतविदों ट्यूबिंगनमें रोथ, बर्लिनमें बेबेरे एवं पेरिसमें बेर्गेनसे शिक्षा पायी। मध्ययुगीन भाषाओंका भी उन्होंने अध्ययन किया। सन् १८७५में प्रकाशित उनका

शोधकार्य—'सामवेद-आरण्यक-संहिता' के पाठका प्रकाशन था, जिसके साथ रूसी-अनुवाद, व्यापक टिप्पणियाँ, अनुसंधान-कार्य तथा यूरोपीय भाषाओंके तुलनात्मक व्याकरणकी कुछ समस्याओंपर परिशिष्ट भी था। यूरोपमें 'सामवेद' सदा उसके 'आरण्यकों' के बिना छापा जाता था। इस प्रकार फोर्तुनातोव 'सामवेद'के आरण्यकोंके प्रथम रूसी प्रकाशक थे। उनके इस ठोस एवं गहन अनुसंधान-कार्यमें वैदिक साहित्यका सिंहावलोकन तथा उसके इतिहासके कुछ प्रश्नोंपर प्रकाश डाला गया था। विशेषतः यजुर्वेदके मन्त्रोंमें और यज्ञ-कृत्योंके बीच सह-सम्बन्धके प्रश्नपर लेखकने यह निष्कर्ष निकाला है कि यज्ञ-कृत्य सदा ही उच्चरित मन्त्रोंसे अधिक पुराने नहीं होते थे। उलटे कतिपय कृत्योंकी व्याख्या वैदिक पाठोंके आधारपर ही की जा सकती है। उन्होंने 'सामवेद' की टीकाओं और उसके भाष्योंकी ओर विशेष ध्यान देते हुए इंगित किया है कि कुछ मामलोंमें 'सामवेद' के मन्त्र 'ऋग्वेद' के मन्त्रोंसे अधिक पुराने हैं। फोर्तुनातोवने यह लिखा है—'वर्तमान समयमें वैदिक ग्रन्थोंके प्रकाशनका कार्यभार उस पाठको प्रस्तुत करना है, जो वास्तवमें है और जहाँतक हम पता लगा सकते हैं, प्राचीन युगमें भी वह अस्तित्वमें था।'

वैदिक समाज

एक अन्य रूसी भारतीय विद्याविद् अकादमीशियन व्सेवोलोदमिल्लेर (सन् १८४८—१९१३)भी पेजोवके शिष्य थे, जिन्होंने अपनी शिक्षा बर्लिनके बेबेरे और ट्यूविंगनके रॉथके निर्देशनमें वेदों और 'अवेस्ता' का अध्ययन करते हुए जारी रखा। प्राग नामक नगरमें काम कर रहे 'ऋग्वेद'के प्रसिद्ध विशेषज्ञ अल्फ्रेड लुडविगके साथ विशेषतः उनके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। मिल्लेरका शोध-प्रबन्ध 'आर्य मिथक और प्राचीनतम संस्कृतिके साथ उनका सम्बन्ध—एक रूपरेखा भाग—१' शीर्षकसे सन् १८७६ में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थकी योजना व्यापक थी, जिसमें न केवल वैदिक साहित्य और मिथकोंपर, वरन् वैदिक समाजपर भी सामग्री थी। कुछ हदतक मिल्लेरका यह ग्रन्थ जर्मन विद्वान् हेनरिक जिमरकी प्रसिद्ध पुस्तक प्राचीन भारतीय जीवनकी पूर्वगामी थी। रूसी विद्वान्ने वैदिक पाठोंके आधारपर आर्योंके सामाजिक जीवन, उनके परिवार, शिल्प, शस्त्र-अस्त्र आदिका विवरण प्रस्तुत किया। वेदोंमें प्रतिबिम्बित अवधारणाओंपर उन्होंने यूनानी, रोमन और ईरानी मिथकोंसे तुलना की है। मिल्लेरके ग्रन्थमें कतिपय वैदिक श्लोकोंका अनुवाद और उनकी विवेचना की गयी है। यह स्मरणीय है कि अनेक वर्षोंतक मिल्लेर मास्को विश्वविद्यालयमें संस्कृत पढ़ाते रहे।

ऋचाओंकी विशेषता

एक अन्य रूसी भारतीय विद्याविद् दमीत्री ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की (सन् १८५३—१९२०)-ने भी वैदिक साहित्यके क्षेत्रमें कार्य किया है। उन्होंने ओदेसामें इ० यागिच, पीटर्सबर्गमें प्रोफेसर मिनाएव तथा पेरिसमें बेर्गेनसे संस्कृत सीखी। उन्होंने 'अवेस्ता' का भी अध्ययन किया। वे खार्कोव विश्वविद्यालयमें संस्कृतके अध्यापक भी थे। उन्होंने वैदिक साहित्यपर कई पुस्तकें लिखीं, यथा—'सोमपुष्प लानेवाले गरुडका वैदिक मिथक—वाणी और उन्मादकी अवधारणाके प्रसंगमें', 'भारोपीय युगके सुरादेवोपासना पंथोंके अध्ययनका प्रयास' और 'प्राचीन भारतमें वैदिक युगमें सोमदेवकी उपासना ओदेस्सा' (सन् १८८४)। अन्तिम पुस्तकमें लेखकद्वारा वैदिक सोमदेवकी ईरानी पंथोंके अहोम (होम) और यूनानी डायोनिशसकी उपासनासे व्यापक तुलना की गयी है तथा मिथकोंके अध्ययनमें सौर और ऋतु-सम्बन्धी धाराओंके प्रमुख प्रतिनिधियोंके विचारोंकी आलोचना की गयी है। कुलिकोव्स्कीकी मान्यता थी कि वैदिक ऋचाओंमें वाणी अपनी लयबद्धताके कारण द्रव-सी प्रवाहित होती थी। लयबद्ध वाणीका आदिम मानवके मानसपर प्रबल प्रभाव पड़ता था और इससे उसकी चिन्तन और सृजन-शक्ति जाग्रत् होती थी। लेखकने 'ऋग्वेद'-की ऋचाओंके भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषणकी सहायतासे पुरातन भाषा और चिन्तनकी विशिष्टताओंका पता लगानेकी चेष्टा की थी। सन् १८८७ में कुलिकोव्स्कीने एक अन्य पुस्तक 'वैदिक युगमें हिन्दुओंकी अग्निपूजाके इतिहासपर कुछ विचार' शीर्षकसे प्रकाशित की। इसमें उन्होंने वेदोंमें अग्निके तीन रूप निर्धारित किये—गृहपति, विशाम्पति और वैश्वानर। उनके विचारमें यह विभेदन केवल मिथकीय लक्षणोंके अनुसार नहीं हुआ, वरन् इसका सामाजिक आधार था। गृहपति एक अलग परिवारके गृहका अग्निदेव था, विशाम्पति ग्राम एवं समुदायका और

वैश्वानर समुदायोंके संघका अग्निदेव था। पुस्तकका जो भाग तीन अग्नियोंकी पूजाको समर्पित है, उसका मुख्य निष्कर्ष यही है कि पंथों और धार्मिक अवधारणाओंका विकास आर्योंके नागरिक गठनके विकासके साथ-साथ ही हुआ। इस पुस्तकके दूसरे भागमें उन्होंने वैदिक साहित्यमें अग्निकी उपमाओंकी सूची दी है, जिसमें ८०० उपमाएँ संकलित हैं। इसकी सहायतासे वैदिक धर्म और साहित्यमें अग्निके महत्त्व, कार्यों और लक्षणोंका सही-सही पता लगाया जा सकता है। इस ग्रन्थका फ्रांसीसी अनुवाद भी पेरिससे प्रकाशित हुआ है।

वैदिक भाषाका व्याकरण

कुलिकोव्स्कीके शिष्य पावेल रित्तेर (सन् १८७२—१९३९)-ने खार्कोव विश्वविद्यालयके स्लाव-रूसी संकायमें शिक्षा प्राप्त की। उनकी प्रथम ऐतिहासिक कृति 'विष्णुको समर्पित ऋग्वेदकी ऋचाओंका अध्ययन' है। रित्तेरने जर्मनीमें 'ऋग्वेद' के प्रसिद्ध ज्ञाता कार्ल गेल्डनरसे भी शिक्षा प्राप्त कर संस्कृतके अतिरिक्त पालि और बँगला-भाषा भी सीखी। उन्होंने ऋग्वेदसे लेकर बीसवीं शताब्दीके बँगला कवियोंकी कृतियोंका अनुवाद भी किया है। वर्तमान समयमें रूसी महिला भारत-विद्याविद् त० येलिजारेन्कोवा वैदिक साहित्यपर कार्य कर रही हैं। उन्होंने वैदिक भाषा—'ऋग्वेद'की शैली और 'अथर्ववेद'- के मन्त्रों आदिपर कई लेख प्रकाशित किया है। उन्होंने सन् १९८२ में 'वैदिक भाषाका व्याकरण' लिखा है, जिसमें मन्त्रोंकी भाषाका सभी स्तरोंपर एककालिक वर्णन किया गया है। इसमें वैदिक पाठोंकी शब्द तथा अर्थ-रचनाका अध्ययन किया गया है। इस समय वे 'ऋग्वेद' का विस्तृत टीकासहित पूर्ण अनुवाद तैयार कर रही हैं। एक अन्य विद्वान् एर्मनकी पुस्तक 'वैदिक साहित्यके इतिहासकी रूपरेखा' में ऋग्वेदसे उपनिषदों और वेदाङ्गोंतकका सविस्तार सिंहावलोकन किया गया है। सेरेब्रयाकोव नामक एक अन्य रूसी भारत-विद्याविद्ने 'प्राचीन भारतीय साहित्यकी रूपरेखा' पुस्तक सन् १९७१ में प्रकाशित करायी, जिसमें वैदिक युगसे लेकर क्षेमेन्द्र और सोमदेव-जैसे मध्ययुगीन लेखकोंतकके भारतीय साहित्यके इतिहासकी परिघटनाओंका विवरण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसी भारत-विद्याविद् कितने लगन, कठोर परिश्रम और गहन अध्ययनके साथ वेदोंका चिन्तन-मनन कर रहे हैं। वे वेदमें संनिहित ज्ञानके अथाह भण्डारकी न केवल खोज कर उसका विश्लेषण ही कर रहे हैं, वरन् रूसमें निवास करनेवाली करोड़ों जनताको भी इससे सुपरिचित करानेका प्रयास कर रहे हैं, जो वेदोंके बारेमें बहुत कुछ जानने-समझनेके लिये उत्सुक हैं। निःसंदेह यह भारतके प्राचीन ग्रन्थ वेदके प्रति रूसी जनताकी गहरी आस्था, ज्ञान-पिपासा एवं अभिरुचिका द्योतक है।

वेदविद्या—विदेशोंमें

(डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, डी०लिट्०)

शोपेन हावर, मैक्समूलर, हेनरिक जिमर, हर्मन ओल्डेनवर्ग, अल्फ्रेड हिलब्रांट, के० एफ० गेल्डनर, हरमैन लौमेस, हरमैन बरमर, हरमैन ग्रासमैन, अल्फ्रेड लुडविग, वाल्टरवुस्ट, स्कर्ट, पालड्यूसेन आदि जर्मन विद्वानोंकी सुदीर्घ परम्परा है, जिन्होंने वेदविद्याके अध्ययनकी महत्ता प्रतिपादित की। सन् १८४६ में मैक्समूलरने आचार्य सायणके भाष्यसहित सम्पूर्ण ऋग्वेद-संहिताका सम्पादन कर उसे प्रकाशित किया था। इस दिशामें मैक्समूलरको प्रेरित करनेवाले फ्रांसीसी विद्वान् थे यूजीन बर्नाफ।

रूडोल्फ फोन रॉथकी कृति 'वेदोंके साहित्य और इतिहासके विषयमें' मैक्समूलरसे तीन वर्ष पहले ही आ चुकी थी। रॉथके शिष्योंमें कार्ल एफ गेल्डनर (सन् १८५२—१९२९)-ने ऋग्वेदका अनुवाद किया था। बादमें इसका अनुवाद अल्फ्रेड लुडविग (सन् १८३२—१९११)-ने प्रकाशित कराया।

जर्मनीमें सबसे पहले सामवेदका सम्पादन और अनुवाद किया गया था। थिओडेर बेन्फे (सन् १८०९—१८८१)-ने सन् १८४८ में उसका प्रकाशन किया था। अल्ब्रेरल बेवरने शुक्लयजुर्वेदका मूल पाठ (सन् १८५२—१९५९ के बीच) प्रकाशित कराया था। लीओपोल्ड श्रोएडेर (सन् १८५१—१९२०)-ने (सन् १८८१—१८८६ में) मैत्रायणी-संहिताका सम्पादन किया। यूलियुस गिल

(सन् १८४०— १९१८)-ने अथर्ववेदके सौ मन्त्रोंका अनुवाद किया।

अल्फ्रेड हिलब्रांट (सन् १८५३—१९२७)-ने दो खण्डोंमें 'वैदिक-पुराण-कथा' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया। हर्मन ओल्डेनवर्ग (सन् १८५४—१९२०)-ने वेदोंके धर्मपर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की थी और ऋग्वेदपर जो व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ लिखीं, वैदिक अध्ययनके क्षेत्रमें उन्हें महत्त्वपूर्ण माना जाता है। हेनरिक जिमरने 'प्राचीन भारतमें जीवन' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें वैदिक भारतके सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्षोंका चित्रण है।

मैक्समूलर वेदविद्याके अनुसंधानद्वारा भारतवर्षके उस स्वरूपको पहचान सके थे, जिसके सम्बन्धमें उन्होंने लिखा है कि 'यदि मुझसे पूछा जाय कि सम्पूर्ण मानव-समाजमें सबसे अधिक बौद्धिक विकास कहाँ हुआ? कहाँ सबसे बड़ी जटिल समस्याओंपर विचार हुआ? तो मैं भारतवर्षकी ओर संकेत करूँगा। यदि मुझसे यह पूछा जाय कि वह कौन-सा साहित्य है, जो हमारे आन्तरिक जीवनको पूर्ण और सार्वभौम बना सकता है तो मैं वैदिक साहित्यकी ओर संकेत करूँगा।' हेनरिक जिमरने (सन् १८७९ में) 'ऐंसियेंट लाइफ—द कल्चर ऑफ द वैदिक आर्यन्स' प्रकाशित किया था। स्कर्टने अथर्ववेदका अनुवाद सन् १९२३ में प्रकाशित किया। पालड्यूसेनने सन् १९०७ में 'द सीक्रेट टीचिंग ऑफ द वेद' और सन् १८८३ में 'द सिस्टम ऑफ वेद' प्रकाशित किया था।

ओवस्यानिको कुलिकोव्स्की एक रूसी विद्वान् थे, जिन्होंने (सन् १८८४) सोम-उपासनापर कार्य किया था। वे पहले रूसी विद्वान् थे, जिन्होंने वेदके मिथकों एवं दर्शनशास्त्रका अध्ययन किया और भारतीय सभ्यताके विकासका एकल सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उन्होंने पी-एच०डी०के लिये 'वेदकालीन भारतमें अग्निपूजा' विषयपर अनुसंधान किया, वैदिक अनुष्ठानों और अन्य जातियोंके अनुष्ठानोंमें अनेक समानताओंका उल्लेख किया तथा भारतीय एवं यूरोपीय जातियोंकी संस्कृतियोंके मूल उद्गमोंको खोजा।

वैदिक उपाख्यानोंपर रूसी विद्वान् ब्लादीमिर तोपोरोवकी कृति, ग्रिगोरी इलिनकी वैदिक संस्कृतिके भौतिक आधारोंकी खोज और ग्रिगोरी वोन्गार्ड लेविनकी वैदिक दर्शन-विषयक कृतियाँ उच्च अकादमिक स्वरकी हैं। लेनिनग्राद राज्यविश्वविद्यालयके प्रोफेसर ब्लादीमिर एमनिने 'वैदिक साहित्यके इतिहास-सम्बन्धी निबन्ध' नामक कृति प्रकाशित की है। पुस्तकके प्रारम्भमें वे लिखते हैं कि भारतमें अतीत और वर्तमानके अटूट सम्बन्ध तथा इसकी प्राचीन संस्कृतिके विचार आदर्श जनताकी चेतनामें आज भी जीवित हैं और समाजके आत्मिक जीवनको प्रभावित करते हैं। ब्लादीमिर तिखोमिरोवने 'सुनो पृथ्वी, सुनो आकाश' नामक कृतिमें ऋग्वेद और अथर्ववेदके पद्योंका रूसी भाषामें अनुवाद किया है।

तात्याना येलिजारेन्कोवाने रूसी भाषामें ऋग्वेदका सम्पादन-प्रकाशन किया है। वे ऋग्वेदके मिथक शास्त्र एवं वरुण आदि देवी-देवताओंकी छबिपर अनेक निबन्ध प्रकाशित करा चुकी हैं। येलिजारेन्कोवाद्वारा प्रकाशित ऋग्वेदके अनुवादका पहला खण्ड मास्को तथा लेनिनग्रादमें हाथों-हाथ बिक गया था, उसकी चालीस हजार प्रतियाँ छापी गयी थीं।

इसी भारी माँगके कारणोंपर प्रकाश डालते हुए येलिजारेन्कोवाने कहा कि 'हमें वैदिक साहित्यकी आवश्यकता इसलिये है कि उसका हमारे जनगणके इतिहाससे सम्बन्ध है।' उन्होंने काला सागर क्षेत्र-स्थित स्थानों और नदियोंके नामोंमें, काकेशससे प्राप्त रथोंके आलेखोंमें तथा मध्य एशियाके पवित्र पात्रोंमें वैदिक कालके अवशेष चिह्नित किये हैं। रूसी पुरातत्त्वविज्ञानी इस आशासे वैदिक पाठोंका अध्ययन कर रहे हैं कि उनके सहारे वे धरतीमें समायी हुई प्राचीन सभ्यताके इंडोआर्यन मिथक शास्त्रीय एवं आनुष्ठानिक पैटर्नको खोज पानेमें सफल हों। डॉ० वासिल्कोवके अनुसार 'ऋग्वेद वास्तवमें भारतीय संस्कृतिकी महान् शुरुआत है, इतिवृत्तात्मक दृष्टिसे इसका प्राचीनतम स्मारक है, जिसमें धर्म एवं दर्शनशास्त्रके क्षेत्रमें विकासके अपेक्षाकृत ऊँचे चरणका तथा आध्यात्मिक पराकाष्ठाका उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही इसमें स्लावजनके साथ-साथ सेल्ट, ग्रीक, जर्मन तथा अन्य इंडोयूरोपीय जातियोंकी संस्कृतिकी प्राचीन आधार-शिलाओंके साथ सादृश्य भी दिखायी पड़ता है।'

तुलसी-साहित्य और वेद

(श्रीरामपदारथ सिंहजी)

वेद सभ्यता और संस्कृतिका केन्द्र है। काव्यमीमांसाकार श्रीराजशेखरजीने ठीक ही कहा है कि 'उस श्रुतिको प्रणाम है, जिसका मन्त्रद्रष्टा ऋषि, शास्त्रकार और कविजन पद-पदपर आश्रय ग्रहण करते हैं'—

नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे।
ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति॥

विश्वके साहित्यमें अनुपम स्थान रखनेवाला गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका साहित्य भी वेदोंके अवदानपर अवलम्बित है। उनके साहित्यका वर्ण्य-विषय भगवान् श्रीरामका सुयश है, जो वेदमूलक है। अपने साहित्यके वर्ण्य-विषयकी वेदमूलकताकी बात स्वयं कविने श्रीरामचरितमानसकी उत्पत्ति, स्वरूप और उसके प्रचारके प्रसंगका वर्णन करते हुए कही है—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥

× × ×

मेधा महि गत सो जल पावन। सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन॥
भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥

× × ×

अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥
चली सुभग कबिता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो॥

(रा०च०मा० १। ३६। ३-४, ८-९; १। ३९। ९—११)

श्रीरामचरितमानसमें विन्यस्त बृहद् रूपकसे उद्धृत इस संक्षिप्तांशका सारांश यह है कि गोस्वामीजीके मनमें श्रीरामचरितमानसरूपी सरोवरका निर्माण साधु-मुखसे वेद-पुराणोंकी कथाएँ सुननेसे ही हुआ। उसकी मानसिक रचना हो जानेपर कविने मनकी आँखोंसे उसका अवलोकन किया और बुद्धिको उसमें अवगाहन कराया अर्थात् कविने श्रवणोपरान्त मन-बुद्धिसे क्रमशः मनन और निदिध्यासन किया। कविकी बुद्धि श्रीराम-सुयशरूपी मधुर, मनोहर, मङ्गलकारी वर-वारिमें गोता लगानेसे निर्मल हो गयी। उनके मनमें आनन्दोत्साहका उद्रेक हुआ, प्रेम और प्रमोदकी बाढ़ आ गयी, जिससे श्रीराम-सुयशरूपी जलवाली कविता-सरिता बह चली। यथार्थतः जब वेदार्थका मनन किया जाता है, तब वह श्रीरामचरितरूपमें परिणत हो जाता है। इसीलिये कहा गया है—

'**वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना।**'

गोस्वामीजीकी भी समाधिलीन बुद्धिमें वेदार्थ श्रीरामचरितरूपमें झलक उठा। उनकी उक्तिसे सिद्ध होता है कि उनके साहित्यके वर्ण्य-विषयका स्रोत वेद-पुराण हैं। पुराण वेदोंके उपबृंहण हैं, इसलिये यह कहना अनुचित नहीं कि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके साहित्यका मुख्य स्रोत वेद ही है।

सम्भवतः वेदोंके अमूल्य अवदानके कारण ही गोस्वामीजीके सभी ग्रन्थोंमें वेदोंके प्रति अपार आदर अर्पित किया गया है। श्रीरामचरितमानसमें महाकविकी वेद-वन्दना अवलोकनीय है—

बंदउँ चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहुँ खेद बरनत रघुबर बिसद जसु॥

(रा० च० मा० १। १४ ङ)

प्रस्तुत सोरठामें वेदोंकी वन्दनाके साथ वेदविषयक तीन महत्त्वपूर्ण बातें हैं—(१) वेद चार हैं, (२) वेद भववारिधिके लिये जहाजके समान हैं और (३) वेद श्रीरघुनाथजीके निर्मल यशका वर्णन करते स्वप्नमें भी नहीं थकते। इन बातोंमें वेदोंकी संख्या, स्वरूप तथा उनके स्वभावके सूचक सारगर्भित सूत्र संनिविष्ट हैं।

वेद अनन्त हैं—'**अनन्ता वै वेदाः।**' वे मन्त्र-रचनाकी दृष्टिसे पद्यात्मक, गद्यात्मक और गेय तीन प्रकारके हैं, जो क्रमशः ऋक्, यजुः और साम कहे जाते हैं। पहले तीनोंका मिला-जुला संग्रह था। द्विज उसे याद करके वैदिक सिद्धान्तोंकी प्रयोगशालारूप यज्ञमें प्रयोग करते थे। काल-प्रभावसे लोगोंकी धारणाशक्ति क्षीण होने लगी। अतः जब वेदके मिले-जुले सम्पूर्ण संग्रहको याद करना कठिन लगने लगा, तब भगवान् वेदव्यासने कृपा करके यज्ञमें काम करनेवाले होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा नामक चार ऋत्विजोंकी सुविधाके लिये वेदोंका चार भागोंमें विभाजन किया, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदकी चार संहिताओं तथा चारोंके ब्राह्मण-ग्रन्थोंके रूपमें विद्यमान हैं। अतः वेद रचनाकी दृष्टिसे तीन और व्यवहारकी दृष्टिसे चार हैं।

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् वेदव्यासके व्यावहारिक वर्गीकरणको महत्त्वपूर्ण मानकर कहा गया है—*'बंदउँ चारिउ बेद'*। वेदोंकी चार संख्याका दृढ़तापूर्वक उल्लेख करके उनकी वन्दना करनेका अभिप्राय यह है कि वेद चार हैं और चारों समानभावसे वन्दनीय हैं। यहाँ संकेत है कि चौथा वेद अथर्ववेद भी अनादि वेद है। वह स्वतन्त्र होते हुए भी वेदत्रयीके अन्तर्गत ही है।

'भव बारिधि बोहित सरिस'—इस उल्लिखित सोरठाका यह चरण वेदोंका स्वरूप-ज्ञापक सूत्र है। वेदोंको संसार-सागरके लिये जहाज कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जहाजपर चढ़कर यात्रा करनेवाले लोग महासागरोंको भी पार कर जाते हैं, उसी प्रकार जन्म-मरणकी अविच्छिन्न परम्परारूप संसार-सागरको वे लोग अनायास पार कर जाते हैं, जो वेद-प्रतिपादित ज्ञान-कर्मोपासनापर आरूढ हो जीवन-यात्रा करते हैं। ऐसा होनेका कारण यह है कि वेद सामान्य शब्द-राशि नहीं हैं, वे श्रीभगवान्‌की निज वाणी हैं—*'निगम निज बानी'* (रा०च०मा० ६। १५। ४) और उनके सहज श्वास हैं—*'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी'* (रा०च०मा० १। २०४। ५)। अतः वेद परम प्रमाण और अपौरुषेय हैं। अपौरुषेय होनेसे उनमें जीव-सम्भव राग-द्वेष नहीं हैं। राग-द्वेषसे पक्षपात पैदा होता है। वेद-वचन बिलकुल निष्पक्ष है। अतएव उनमें जगत्‌का उद्धार करनेकी शक्ति निहित है। इसीलिये कहा गया कि राग-द्वेषरहित जन उद्धारक होते हैं—

सो जन जगत जहाज है, जाके राग न दोष।

(वैराग्य-संदीपनी १६)

जैसे जहाजका कोई-न-कोई संचालक होता है, वैसे ही शब्दसमूहरूप वेदोंके भी अभिमानी देवता हैं, जो काम-रूप हैं। उनकी अव्याहत गति है। श्रीरामचरितमानसमें वर्णित है कि वेदभगवान् श्रीसीतारामके विवाहके अवसरपर विप्रवेषमें जनकपुरमें आकर विवाहकी विधियाँ बताते हैं—*'बिप्र बेष धरि बेद सब कहि बिबाह बिधि देहिं॥'* (रा०च०मा०१। ३२३) और श्रीरामराज्याभिषेकके समय वन्दीवेषमें विनती करने अयोध्या पहुँच जाते हैं—*'बंदी बेष बेद तब आए जहँ श्रीराम॥'* (रा०च०मा० ७। १२ (ख)। इन बातोंसे यह भी विदित होता है कि वेदोंके अभिमानी देवता वैदिक विधिके निर्वाहकोंके लिये सहायक-स्वरूप हैं।

वेदोंको श्रीरघुनाथजीके निर्मल यशका वर्णन करते स्वप्नमें भी खेद नहीं होता। यह कथन वेदोंका स्वभाव दर्शाता है। सम्पूर्ण वेदोंका मुख्य तात्पर्य परात्पर ब्रह्म श्रीभगवान्‌में ही है। यह तथ्य श्रुति-स्मृतियोंमें अनेकत्र उल्लिखित है, यथा—**'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** (गीता १५। १५), **'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति'** (कठोप० १। २। १५)। श्रीभगवान् ही वेद-प्रतिपादित सम्पूर्ण ज्ञान-कर्मोपासनाद्वारा प्रधानतः प्राप्तव्य हैं। वेदोंमें वर्णित ब्रह्मेन्द्रादि अनेक नाम उन्हींके हैं। प्रमाणके लिये यजुर्वेदका एक मन्त्र पर्याप्त होगा—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(३२। १)

अर्थात् 'वे ही अग्नि, आदित्य, वायु और निश्चयरूपसे वे ही चन्द्रमा भी हैं तथा वे ही शुक्र, ब्रह्म, अप् और प्रजापति भी हैं।' इसका निष्कर्ष है कि वैदिक देवताओंके नाम परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीरामके भी बोधक हैं। अतः उन नामोंसे वेदोंमें उनका ही यश वर्णित हुआ है।

यह भी ध्यातव्य है कि ऋक्, यजुः, साम शब्द मन्त्रके वाचक हैं। मात्र मन्त्र ही वेद नहीं हैं। वेद शब्द मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंका वाचक है—**'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'**। ब्राह्मणोंके ही भाग आरण्यक और उपनिषद् हैं। अनेक उपनिषदोंमें विस्तृत श्रीराम-कथाएँ मिलती हैं। इसलिये श्रीरामचरितमानसकी इस उक्तिसे कि चारों वेदोंको श्रीरघुनाथजीके निर्मल यशका वर्णन करते स्वप्नमें भी खेद नहीं होता, आश्चर्य नहीं होना चाहिये। महाराज श्रीदशरथके चारों पुत्र वेदके तत्त्व हैं—**'बेद तत्व नृप तव सुत चारी'** (मानस १। १९८। १)। इसलिये उनका चरित्र वेदोंमें होना ही चाहिये। श्रीरामचरितमानसका **'बंदउँ चारिउ बेद'**—यह सोरठा वेदोंका स्वरूप-स्वभावादि दर्शनेवाला दर्पण है।

गोस्वामीजीके साहित्यमें वेदोंकी महिमा विविध विधियोंसे निरूपित है। उनमें प्रकरणोंके प्रमाणमें प्रायः वेदोंका साक्ष्य दिया गया है। अयोध्यामें रघुवंशशिरोमणि श्रीदशरथ नामक राजा हुए। वे वेदोंमें विख्यात हैं—

अवधपुरीं रघुकुलमनि राऊ। बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊँ॥

(रा०च०मा० १। १८८। ७)

श्रीरामचरितमानस, विनय-पत्रिका आदि ग्रन्थोंमें सामाजिक मर्यादाओंको वेदके अनुरूप स्थापित करनेका

प्रयत्न है। वहाँ बताया गया है कि वेदबोधित मार्गके अनुसरणसे सकल सुखोंकी प्राप्ति सम्भव है—

जो मारग श्रुति-साधु दिखावै। तेहि पथ चलत सबै सुख पावै॥

(विनय-पत्रिका १३६। १२)

श्रीरामराज्यमें लोग वर्णाश्रमके अनुकूल धर्मोंमें तत्पर हुए सदा वेदमार्गपर चलते थे। परिणामस्वरूप वे सुख पाते थे तथा निर्भय एवं नि:शोक और नीरोग थे—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

(रा०च०मा० ७। २०)

तर्क-वितर्क करके वेदोंपर दोषारोपण करनेवालोंकी दुर्गति बतायी गयी है—

कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥

(रा०च०मा० ७। १००। ४)

वेद पूर्ण हैं। सभी मतावलम्बी वेद-प्रमाणसे अपने मतोंकी पुष्टि करते हैं—

बुध किसान सर बेद निज मतें खेत सब सींच।

(दोहावली ४६५)

अत: जब वेद साक्षात् परमात्मस्वरूप ही हैं, तब उनके निरतिशय महिमाका गुणगान ही कहाँतक किया जा सकता है?—

अतुलित महिमा बेद की तुलसी किएँ बिचार।

(दोहावली ४६४)

इससे वेदोंकी अतुलित महिमा सिद्ध होती है।

श्रीगुरुग्रन्थ साहिब और वेद

(प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय)

श्रीगुरुग्रन्थ साहिबके वाणीकारोंमें वेदोंके प्रति अपार श्रद्धा है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें वेद-ज्ञानकी परम्परासे सम्बन्ध स्थापित करनेका एकमात्र उपाय सच्चा बोलना माना गया है।

सिख साहित्यके प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० तारण सिंहने अपनी पुस्तक 'भक्तिते शक्ति' (पृष्ठ १९)-में लिखा है—'सिख धर्म अपनी धर्म-पुस्तकमें बिलकुल भारतीय है और राष्ट्रिय दृष्टिकोणको धारण करनेवाला है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब अपने-आपमें एक वेद है।'

इतना ही नहीं डॉ० तारण सिंह अपनी एक अन्य पुस्तक (श्रीगुरुग्रन्थ साहिबका 'साहित्यिक इतिहास' पृष्ठ ३१)-में लिखते हैं—'वेद प्रभुके बारेमें परम्परागत ज्ञानका स्रोत है। जबतक किसी मनुष्यको भारतीय धर्मग्रन्थोंका सम्यक् ज्ञान नहीं, जो हमारी परम्परागत निधि हैं, तबतक वह इस वेद (गुरुग्रन्थ)-को नहीं समझ सकेगा। यह महान् ग्रन्थ उसी प्राचीन सनातन ज्ञानसे आविर्भूत हुआ है तथा उसी परम्पराको विकास प्रदान करता है। इस तरह यह नयी कृति भी है, परंतु सर्वथा नयी नहीं है, क्योंकि इसकी जड़ वेदमें है। भारतीय ब्रह्मविद्याका सम्यक् ज्ञान ही किसी मनुष्यको श्रीगुरुग्रन्थ साहिबकी वाणीका बोध प्राप्त करनेके लिये सहायक सिद्ध हो सकता है। इसके बिना इस ग्रन्थके रहस्यमय भेदोंको समझना कठिन है।'

सही बात तो यह है कि श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें वेद-ज्ञानकी परम्परासे सम्बन्ध स्थापित करनेका एकमात्र उपाय सच बोलना कहा गया है। इसीलिये तो गुरु नानकदेवजीने वेदोंकी महिमाका बखान करते हुए कहा है—

केहा कंचन तुहै सारू, अगनी गंढु वाए लोहारू।
गोरी सेती तुटै भतारू, पुतीं गंढु पवै संसारि।
राजा मंगै दिते गंढ पाई, भुखिया गंढु पवैजा खाई।
काला गंढु नदी आ मोह झोल, गंढु परीती मीटे बोल।
बेदा गंढु बोले सचु कोई, मुइआ गंढु ने की सतु होई।

अर्थात् यदि काँसी, लोहा, स्वर्ण टूट जाय तो सोनार अग्निसे गाँठ लगा देते हैं, यदि पत्नीके साथ पति टूट जाय तब संसारमें पुत्रीसे गाँठ बँध जाती है। यदि राजा कुछ माँगे तब देनेसे सम्बन्ध बनता है। भूखे प्राणोंका सुख-साथ तब बनता है, यदि कुछ खाये। अकालसे टूटे हुए जीवोंका सम्बन्ध तब होता है, यदि अत्यन्त वर्षा हो जाय और नदियाँ उतरा कर चलें। प्रीतिमें गाँठ मीठे बोलनेसे बँधती है। यदि कोई सत्य बोले तो उसका वेदोंके साथ सम्बन्ध बन जाता है।

वेदोंके प्रति श्रीगुरुग्रन्थ साहिबके वाणीकारों—

सिख धर्मगुरुओंकी अपार श्रद्धा है। वे तो ऊँचे स्वरसे घोषणा करते हैं कि वेदशास्त्र तो पुकार-पुकार कर मनुष्यको सीधे मार्गपर आनेको कहते हैं, परंतु यदि कोई बहरा सुने ही न तो इसमें वेदशास्त्रोंका क्या दोष है?

सिख पंथके पञ्चम गुरु अर्जुनदेवकी वाणी श्रीगुरुग्रन्थ साहिब (पृ० ४०८)-में इस प्रकार है—

वेद सास्त्रन जन पुकारहि सुनै नाही डोरा।
निपटि बाजी हारि मूका पछताइओ मनि भोस।

अर्थात् वेदशास्त्र, संत-मन आदि पुकार-पुकार कर बतलाते हैं, पर मायाके नशेके कारण बहरा हो चुका मनुष्य उनके उपदेशको सुनता नहीं। जब बिलकुल ही जीवन-बाजी हारकर अन्त समयपर आ पहुँचता है, तब यह मूर्ख अपने मनमें पछताता है।

सिख-धर्मके नवम गुरु तेग बहादुरजीने वेदोंके श्रवण-मननको भी साधु-मार्ग अथवा संत-मतमें अनिवार्य माना है। इसीलिये तो वे गुरुमति-साधना-मार्गमें वेदोंको महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। इस सम्बन्धमें श्रीगुरुग्रन्थ साहिब (पृ० २२०)-में उनकी वाणी इस प्रकार है—

कोउ भाई भूलियो मनु समझावे।
वेद पुरान साध मग सुनि करि निभरन न हरि गुन गावै।

वेद कहता है कि जो उस अक्षर-ब्रह्मको नहीं जानता, वह ऋचाओंके पाठसे क्या प्राप्त कर सकता है? ब्रह्मवेत्ता ही ब्रह्मके आनन्दधाममें समासीन होता है।

श्रीगुरु तेगबहादुरजीका कहना है कि वेद-पुराण पढ़नेका यही लाभ होना चाहिये कि प्रभुका नाम-स्मरण किया जाय, क्योंकि रामशरणमें ही सुख-शान्ति है—

(१) साधो राम सरनि बिसरामा।
वेद पुरान पढ़े को इह गुन सिमरे हरि का नामा।
(२) वेद पुरान जास गुन गावत ता को नामु ही ऐ मो धरू रे।

(श्रीगुरुग्रन्थ साहिब पृ० २२०)

श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें वेदको त्रैगुण्य कहा गया है और उसके बिना बूझे पाठ करनेके कारण दुःखी होनेकी बात इस ग्रन्थमें कही गयी है। इस सम्बन्धमें सिख-धर्मके तृतीय गुरु अमरदासकी वाणी श्रीगुरुग्रन्थ साहिब (पृष्ठ १२८)-में इस प्रकार है—

वेद पुकारै त्रिविध माया।
मन मुख न बूझहि दूजै भाइआ।
त्रै गुन पढ़ाई हरि एकु।
न जाणहि बिनु बुझे दुखु पावणिया।

त्रिगुणात्मक मायाके लिये वेद पढ़ते हैं। मन एवं मुख द्वैतभावके कारण परमेश्वरको नहीं समझते। त्रैगुणी मायाके लिये वेदोंका पठन-पाठन करते हुए एक हरिको नहीं जानते, इसीलिये जाने बिना दुःख पाते हैं।

गीताके सातवें अध्यायमें वर्णन आया है कि सब वेदोंमें मैं 'ॐ' नाम हूँ, आकाशमें मैं शब्द हूँ और पुरुषोंमें पौरुष हूँ। इस विचारकी ध्वनि श्रीगुरु अमरदासकी वाणी (श्रीगुरुग्रन्थ साहिब पृ० ९९९)-में भी सुनायी देती है, जो इस प्रकार है—

वेदा महि नामु उत्तमु सो सुणहि, नाही फिरहि जिउ बेतालिया।

श्रीगुरुग्रन्थ सहिब (पृ० १३५०)-में भक्त कबीरकी भी एक वाणीमें वेदोंकी महिमा पूर्णरूपसे देखी जा सकती है—

वेद कते व कहहु मत झूठे, झूठा जो न बिचारे।

सच तो यह है कि इसके अतिरिक्त भी श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें सिख-धर्म-गुरुओंकी विविध वाणियाँ संकलित हैं, जिनके माध्यमसे उन लोगोंने वेदकी महिमा मुक्त-कण्ठसे स्वीकार की है और वेदविहित सत्योंके कारण उन्हें महान् ज्योतिपुञ्ज माना है—

(१) चारो वेद होए सचिआर । पढ़हि गुणहि तिनु चार विचार।

(पृ० ४७० श्रीगुरु नानकदेव)

(२) वेद पुरान सिम्रिति हरि जपिआ। मुखि पंडित हरि गाइआ।
नाम रसालु जिन मनि वसिआ। ते गुर मुखि पारि पाइआ।

(पृ० ९९५ श्रीगुरु रामदास)

(३) 'दीवा बसे अंधेरा जाई। वेद पाठ मति पाया खाई।
उगवे सुरू न जाये चंदु। जह गिआन प्रगास अगिआन मिटत।
वेद पाठ संसार की कार। पढ़ि पढ़ि पंडित करे विचार।
बिन बूझे सभ होई खुआरू। नानक गुरु मुख उतरसि पार।'

(पृ० ७९१ श्रीगुरु नानकदेव)

इस प्रकार हम देखते है कि सिख-धर्मके श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें वेदोंकी महिमा अपरम्पार है, जिसको सिख-धर्म-गुरुओंने मुक्तकण्ठसे अपनी वाणीके द्वारा स्वीकार किया है।

जम्भेश्वरवाणीमें वेद-मीमांसा

(आचार्य संत श्रीगोवर्धनरामजी शिक्षाशास्त्री, व्याकरणाचार्य, एम्० ए०, स्वर्णपदकप्राप्त)

प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृतिकी मान्यताके अनुसार सृष्टिके आदिमें परमपिता परमात्माने मनुष्योंके कल्याणार्थ चार ऋषियोंके माध्यमसे उन्हें वेदका ज्ञान प्रदान किया था। सृष्टिके प्रारम्भसे इस ज्ञानके आलोकमें मानवीय गुणोंका, उसके ज्ञान-विज्ञानका विकास होता रहा, परंतु कालक्रमसे मनुष्य अपने स्वभावके वशीभूत हो उस ज्ञानसे विरत हो गया, तब विभिन्न ऋषियों तथा आचार्योंने उस मार्गको पुनः प्रशस्त किया। ऋषियोंकी यह परम्परा महाभारत-कालतक अविच्छिन्नरूपसे प्राप्त होती है।

महाभारत-कालके अनन्तर एक दीर्घ कालावधितक ऋषियोंकी वह परम्परा समाप्त होनेके बाद वेदके विभिन्न चिन्तकों और आचार्योंका क्रम दिखायी देता है, जिन्होंने बार-बार वेदोंकी ओर चलनेकी बात कही है और ज्ञान, कर्म एवं उपासनाके आधारभूत ग्रन्थ वेदोंको प्रतिपादित किया है।

गुप्तकालके अनन्तर यह परम्परा भी समाप्त हो गयी और सम्पूर्ण राष्ट्र अनेक प्रकारके अज्ञान एवं सामाजिक दुर्व्यवस्थामें डूब गया, परिणामतः एक लम्बी अवधिका कालखण्ड परतन्त्रताकी स्थितिमें बिताना पड़ा। प्रशासनिक अत्याचार अपनी चरम सीमापर था, इस अवधिमें भी निराश एवं हताश हिन्दू-जातिमें अनेक प्रकारके विचारक हुए, जिन्होंने समय-समयपर हिन्दू-जातिका मार्ग प्रशस्त किया। इन विचारकोंमें एक नाम आता है जाम्भोजीका।

यवनोंके शासन-कालमें भारतीय संस्कृति, परम्परा तथा तत्त्व-चिन्तन सर्वथा लुप्त हो चुका था। अन्याय-अनाचार और पाखण्डका साम्राज्य था। ऐसे समयमें संतोंकी एक परम्परा जाग्रत् हुई, जिसने इस सुप्त जातिको जगानेका प्रयास किया।

श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजका संक्षिप्त जीवन-परिचय

मध्यकालीन १५वीं शताब्दीके प्रारम्भमें निर्गुणोपासक महापुरुषोंमें वैदिक धर्मके सम्प्रसारमें अक्षुण्ण योगदान करनेवाले श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजका प्रादुर्भाव वि०सं० १५०८ के भाद्रपद मासके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथिको कृत्तिका नक्षत्रमें राजस्थानके तत्कालीन नागौर परगनेके पीपासर नामक ग्रामके ग्रामाधिपति क्षत्रिय-परिवारमें हुआ था। उनके पिताका नाम श्रीलोहटजी पँवार और माताका नाम हंसादेवी (अपर नाम केसर) था।

जाम्भोजी जन्मसे ७ वर्षतक मौन रहे एवं २७ वर्षोंतक उन्होंने गोचारण-लीला की तथा ५१ वर्षोंतक वैदिक ज्ञानका उपदेश किया। उनकी मान्यताओंके अनुसार वेद-ज्ञानके वे मानसरोवर हैं, जहाँसे ज्ञानकी विमल धाराएँ विभिन्न मार्गोंसे बहकर भारतके ही नहीं, समस्त जगत्के प्रदेशोंको उर्वर बनाती हैं।

इसी ज्ञान-राशि वेदकी परम्पराका अनुपालन करनेवाले संतोंकी भारतभूमिमें एक लम्बी श्रृंखला मिलती है। इसी श्रृंखलामें श्रीगुरु जाम्भोजीद्वारा प्रस्तावित 'जम्भवाणी' मिलती है। वैदिक संहिताओंके अनुरूप ही संतोंकी वाणियोंके संकलन प्रायः उनके नामसे प्राप्त होते हैं। 'जम्भवाणी' भी एक ऐसा ही अनोखा वेद-सम्मत विचारों, उपदेशों एवं विषयोंका उपदेश करनेवाला परम सम्मानित ग्रन्थ है।

वेदोंका रचना-काल

श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजके अनुसार यह एक ऐसा पारावार है, जो परमपिता—परमात्माके मुखारविन्दसे निःसृत होनेके प्रमाणस्वरूप अपौरुषेय है, अनादि है, ईश्वरीय कृति है। उनकी दृष्टिमें वेद मनुष्यकृत है ही नहीं, प्रत्युत इनका प्रकाश सृष्टिके आरम्भमें उत्कृष्ट आचार-विचारवाले, शुद्ध और सात्त्विक, शान्त-चित्तवाले, जन-जीवनका नेतृत्व करनेवाले, अलौकिक, आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न ऋषियोंकी ध्यानावस्थामें हुआ। यथा—

सरै न बैठा सीख न पूछी।
निरत सुरत सब जाणी॥

(जम्भवाणी १२०।६।४)

उनके मतानुसार ऋषि वेदोंके कर्ता न होकर द्रष्टा हैं—'**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।**' ऐसे मन्त्र-द्रष्टाओंके हृदयमें जिन सत्योंका जिस रूप और भाषामें प्रकाश हुआ, उसी रूप एवं भाषामें उन्होंने दूसरोंको सुनाया, इसीलिये वेदोंको 'श्रुति' भी कहते हैं।

वेदोंके ईश्वरीय ज्ञान एवं अपौरुषेय होनेमें वेदों और उसके बादके साहित्यमें पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। यथा—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(ऋक्० १०।९०।९, यजु० ३१।७)

वेदोंके पश्चात् जिस साहित्यकी रचना हुई, उसमें भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। जिनमें वेदोंको अपौरुषेय, नित्य एवं ईश्वरकृत प्रतिपादित किया गया है। यथा—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(श्वेताश्वतर० ६। १८)

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥ (बृहदारण्यक० २।४।१०)

परंतु वेदोंका अध्ययन करनेवाले पाश्चात्त्य विद्वानोंने एवं इन्हींका अनुकरण करनेवाले वर्तमान भारतीय आलोचकोंने वेदोंको ईश्वरकृत और नित्य होनेके सिद्धान्तको स्वीकार नहीं किया। पाश्चात्त्य विद्वान् मैक्समूलरने १२०० ई० पूर्व ऋग्वेदका रचनाकाल माना है। जबकि भारतीय विद्वान् लोकमान्य तिलकने ऋग्वेदमें आये नक्षत्रोंकी स्थितिके आधारपर गणना करके ४००० ई० से ६००० ई० पूर्वके मध्य इसका रचनाकाल माना है। वेदोंमें जो भूगर्भ-विद्या-सम्बन्धी सिद्धान्त पाये जाते हैं, उनके आधारपर डॉ० अविनाशचन्द्र गुप्तका यह मत है कि वेदोंकी रचना लाखों वर्ष पूर्व हुई होगी।

सभी विद्वानोंने अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं, परंतु यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता कि वेदोंका प्रादुर्भाव कब हुआ। श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजने अपनी वाणीमें परमात्माके प्रथम उपाख्यानको वेदकी संज्ञा प्रदान करते हुए कहा है—

'ओ३म् मोरा उपाख्यान वेदूं'

(जम्भवाणी १२०। १४। १)

इसी प्रकार ऋग्वेदमें वेद-वाणीके स्वरूपको निम्न प्रकारसे अभिव्यक्ति दी गयी है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

(ऋक्० १०।७१।१)

परमात्माका एकत्व

वेदके **'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'** (ऋग्वेद १०। १२१। १; यजुर्वेद १३। ४, २३। १, २५। १०; अथर्ववेद ४। २। ७)—इस मन्त्रके अनुसार परमेश्वरकी एकताका जो प्रतिपादन किया गया है। उसीकी परिपुष्टि श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजकी वाणीमें ***'तद होता एक निरंजन शिंभूं'*** (ज० वा० १३०।४।१३)-के उल्लेखसे होता है।

यज्ञ

यज्ञ निःसंदेह सब प्राणियोंका, सब देवताओंकी आत्मा (जीवन) है। उस यज्ञकी समृद्धिसे यज्ञ करनेवालेकी प्रजा और पशुओंमें वृद्धि होती है (शत० १।७।३।५)। जो विद्वान् अग्निहोत्र करता रहता है, वह सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है (शत० २। ३। १। ६)। यज्ञ-विषयक वाणीका अभिलेख विचारणीय है—

'होम हित चित प्रीत सूं होय बास बैकुण्ठा पावो।'

(ज० वा० २९। ६)

अर्थात् श्रद्धा-विश्वास एवं निष्ठाके साथ सायं-प्रातः अच्छी तरहसे किया गया यज्ञ वैकुण्ठतककी ज्योति है। यज्ञ-त्यागके सम्बन्धमें जम्भेश्वर-वाणीमें कहा गया है कि जब किसी कामधेनुको यह पता चलता है कि मेरे पालकने आज जप-तप-रूप यज्ञ नहीं किया है, उसी समय वह उसका द्वार छोड़कर चली जाती है—

'जां दिन तेरे होम न जाप न तप न किरिया।
जान के भागी कपिला गाई॥'

(ज० वा १२०।७।५)

दान

वेदोंमें दानको यज्ञका आधार कहा गया है। दानसे शत्रु दब जाते हैं। दानसे द्वेषी मित्र हो जाते हैं। दानमें सब प्रतिष्ठित हैं। इसलिये दानको सर्वश्रेष्ठ कहते हैं (तै०आ० १०।६३)।

श्रीगुरु जाम्भोजी महाराज दानकी महत्ता बतलाते हुए कहते हैं कि कुपात्रको दान नहीं देना चाहिये, कुपात्रको दिया गया दान निष्फल होता है। यथा—

ओ३म् कुपात्र कूं दान जु दीयो।
जाणे रैण अन्धेरी चोर जु लीयो॥

(ज० वा० १२०।५६।१)

सुयोग्य पात्रको दिये गये दानकी प्रशंसामें भी जम्भ-वाणी कहती है कि सुपात्रको ही दिया गया दान और सुक्षेत्रमें ही बोया गया बीज सार्थक एवं सफल होता है—

दान सुपाते बीज सुखेते, अमृत फूल फलीजै।
काया कसोटी मन जो गूंटो, जरणा ठाकण दीजै॥

(ज० वा० १२०।५६।३-४)

अपनी शक्तिके अनुसार दान करना चाहिये, शक्ति ज्यादा हो तो अधिक दान करे—यदि कम हो तो कम ही करे, पर करे अवश्य।

ऋग्वेद एवं अथर्ववेदमें भी दानकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'जिसके दानमें कभी भी कमी नहीं होती, ऐसा धनदाता इन्द्रकी स्तुति करे; क्योंकि इन्द्रके प्रति किये गये दान कल्याण करनेवाले हैं। अतः

मनको दानके लिये प्रेरित कर। इन्द्रके अनुकूल कार्य करनेवालेपर वह कदापि रोष नहीं करता—

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः।
सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन्॥

(ऋक्० ८। ९९। ४, अथर्व० २०। ५८। २)

ब्रह्म

समस्त जगत्का आदिकारण और नियामक परब्रह्म हमारे भीतर आत्मरूप होकर स्थित है, उसका अनुभव करना ही हमारा परम कर्तव्य है। इस विषयमें जम्भेश्वरवाणीमें पर्याप्त विचार विद्यमान है। यथा—

ओ३म् रूप अरूप रमू पिण्डे ब्रह्मण्डे।
घट-घट अघट रहायो॥

(ज० वा० १२०। १९। १-२)

अर्थात् उस परम सत्तासे यह सम्पूर्ण जगत् सदा व्याप्त है, जो ज्ञानस्वरूप परमेश्वर निश्चय ही कालका भी महाकाल, सर्वगुणसम्पन्न और सबको जाननेवाला है, उसके द्वारा ही शासित हुआ यह जगत्-रूप व्यापार विभिन्न प्रकारसे चल रहा है और पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश भी उसीके द्वारा शासित होते हैं। यथा—

तिल में तेल पहुप में बास,
पाँच तत्त्व में लियो प्रकाश॥

(ज० वा० १२०। १०१। ८)

उपर्युक्त जम्भेश्वरवाणी, निम्नलिखित उपनिषद्-वचनका रूपान्तरण जान पड़ता है, जिसमें परब्रह्मकी परम सत्ताका स्वरूप प्रतिपादित किया गया है—

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं
ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्॥

(श्वेताश्वतर० ६। २)

मुक्ति

जम्भेश्वरवाणीके अनुसार साधकको जब सबसे परे और सबसे श्रेष्ठ आत्माका ज्ञान हो जाता है, तब उसके हृदयमें पड़ी अज्ञानकी ग्रन्थिका छेदन हो जाता है तथा वह समस्त संशयोंसे निवृत्त हो मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। यथा—

सतगुरु ऐसा तंत बतावै।
जुग-जुग जीव बहुरि न आवै॥

(ज० वा० १२०। १०१। ११)

ऐसा ही उल्लेख ऋग्वेदमें मिलता है—

'मुमुक्ष्वो मनवे मानवस्यते' (ऋक्० १। १४०। ४)।

ऐसी विकट परिस्थितिमें श्रीगुरु जाम्भोजी महाराजने सामाजिक चेतना जगायी, जिनका मूल आधार परम्परासे प्राप्त वेद-ज्ञान था।

वेदार्थका उपबृंहण

(पं० श्रीजानकीनाथजी कौल 'कमल')

पुराणोंमें वेदके अर्थका उपबृंहण अर्थात् किसी तथ्यकी पुष्टि करना तथा उसका विस्तार करनेका उपदेश है। यह तथ्य महाभारत-कालमें अवश्य प्रादुर्भूत हो गया था; क्योंकि महाभारतमें इस तथ्यके साधक अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। जैसे—

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः।

(आदिपर्व १। ८६)

वह प्रख्यात श्लोक, जिसमें इतिहास-पुराणके द्वारा वेदार्थके उपबृंहण करनेका उपदेश है कि अल्पश्रुत व्यक्तिसे वेद सर्वदा डरा करते हैं कि कहीं वह मुझपर प्रहार न कर दे—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्॥
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।

(महा०, आदिपर्व १। २६७-२६८)

'बृंह' धातुका मुख्य अर्थ वर्धन है। वेदके मन्त्रोंद्वारा प्रतिपादित अर्थका, सिद्धान्तका तथा तथ्यका विस्तार एवं पोषण पुराणोंमें किया गया है। श्रीमद्भागवतने (१। १। ३ में) अपनेको निगम-कल्पवृक्षका गलित सुपरिपक्व, अतएव मधुरतम फल माना है—**'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्।'** ग्रन्थके अन्त (१२। १३। १५)- में वह अपनेको **'सर्ववेदान्तसारम्'** बतलाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्य पुराणोंकी अपेक्षा श्रीमद्भागवतमें विशेषरूपसे वेदार्थका उपबृंहण किया गया है।

उपबृंहणके प्रकार

(१) विष्णुस्तुतियोंमें विष्णु-मन्त्रोंके विशिष्ट पद तथा शिवस्तोत्रोंके विशिष्ट पद एवं समग्र भाव अक्षरशः

संचित किये गये हैं। उदाहरण—वायुपुराणके ५५ वें अध्यायमें दी गयी दार्शनिक शिवस्तुति वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्लयजुर्वेद-संहिताके रुद्राध्यायमें १६वें अध्यायके मन्त्रोंके भाव तथा पद बहुशः परिगृहीत हैं। वैष्णवोंमें पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०। ९०)-की महिमा अपरिमेय तथा असीम है। श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्ध (अ० ६, श्लोक १५—३० तथा १०।१।२०)-में नारायणकी स्तुतिके अवसरपर पुरुषसूक्तका विस्तारसे उपयोग किया गया है। इस सूक्तके 'पुरुष' का समीकरण कभी 'नारायण' के साथ और कभी 'कृष्ण' के साथ किया गया है। द्रष्टव्य श्रीमद्भागवत—२। ५। ३५—४२; विष्णुपुराण १। १२। ५६—६४; ब्रह्मपुराण १६१। ४१—५०; पद्मपुराण ५। ४। ११६—१२४ तथा ६। २५४। ६२—८३। श्रीमद्भागवतमें विष्णुके लिये प्रयुक्त 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' विशेषण पूर्णतः वैदिक हैं—द्रष्टव्य ऋग्वेद १। १५४ सू०।

पुराणोंमें वैदिक मन्त्रोंकी व्याख्या

मूल अर्थकी असंदिग्ध तथा परिबृंहित व्याख्या पुराणोंका निजी वैशिष्ट्य है—

(१) विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम्०

(ऋग्वेद १। १५४। १)

—इस मन्त्रकी विशद व्याख्या श्रीमद्भागवत (२। ७। ४०)- में की गयी है, जिससे मूल तात्पर्यका स्पष्टीकरण नितान्त श्लाघ्य और ग्राह्य है—

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।
चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम्॥

अर्थात् अपनी प्रतिभाके बलसे पृथ्वीके एक-एक धूलि-कणको गिन चुकनेपर भी जगत्में ऐसा कौन पुरुष है, जो भगवान्की शक्तियोंकी गणना कर सके। जब वे त्रिविक्रम-अवतार लेकर त्रिलोकीको नाप रहे थे, उस समय उनके चरणोंके अदम्य वेगसे प्रकृतिरूप अन्तिम आवरणसे लेकर सत्यलोकतकका सारा ब्रह्माण्ड काँपने लगा था। तब उन्होंने ही अपनी शक्तिसे उसे स्थिर किया था।

(२) ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईशावास्य० १)

अर्थात् जगत्में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है, वह सब ईश्वरके द्वारा आच्छादनीय है।

इसी उपनिषद्-मन्त्रका सांकेतिक अर्थ श्रीमद्भागवत-महापुराण (८। १। १०)-में मिलता है—

आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किञ्चिजगत्यां जगत्।

अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व और इस विश्वमें रहनेवाले समस्त चर-अचर प्राणी, उन परमात्मासे ही ओतप्रोत हैं। इसलिये संसारके किसी भी पदार्थमें मोह न करके उसका त्याग करते हुए ही जीवन-निर्वाहमात्रके लिये उपभोग करना चाहिये। भला ये संसारकी सम्पत्तियाँ किसकी हैं?

(३) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।

(ऋग्वेद १। १६४। २०; अथर्व० ९। ९। २०)

भाव यह कि सदा साथ रहनेवाले तथा परस्पर सख्यभाव रखनेवाले जीवात्मा-परमात्मारूप दो पक्षी एक ही वृक्षरूपी शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं। (उन दोनोंमेंसे जीवात्मा तो उस वृक्षके फलोंको स्वादपूर्वक खाता है, जबकि परमात्मा उसका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।)

श्वेताश्वतर (४। ६)-के इस विख्यात मन्त्रकी व्याख्या श्रीमद्भागवत (११। ११। ६)-में बड़े वैशद्यसे की गयी है। वायुपुराणमें भी इसका सांकेतिक अर्थ इस प्रकार किया गया है—

दिव्यौ सुपर्णौ सशाखौ वटविद्रुमौ।
एकस्तु यो द्रुमं वेत्ति नान्यः सर्वात्मनस्ततः॥

(४) तत् सवितुर्वरेण्यम्०।

(ऋग्वेद ३। ६२। १०)

अग्निपुराण (२१३। १—८)-में इस प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्रकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि शिव, शक्ति, सूर्य तथा अग्नि-जैसे विविध विकल्पोंका परिहार कर विष्णुको ही गायत्री-मन्त्रद्वारा सांकेतिक देव माना गया है।

(५) प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

(मुण्डक० २। २। ४)

मुण्डकोपनिषद्के इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकार है—प्रणव धनुष है, (सोपाधिक) आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। उसका सावधानतापूर्वक वेधन करना चाहिये और बाणके समान तन्मय हो जाना चाहिये।

इसी श्लोककी व्याख्या श्रीमद्भागवत (७। १५। ४२)-में इस प्रकार की गयी है—

धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति
शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम्॥

अर्थात् ॐकार ही उस रथीका धनुष है, शुद्ध जीवात्मा बाण है और परमात्मा लक्ष्य है।

यह व्याख्या मूलगत संदेहको दूर करती है कि शर यहाँ जीव है, प्रत्यगात्मा ही है, परमात्मा नहीं। श्रीमद्भागवतमें ही एक दूसरे (७। १५। ४१) श्लोकमें 'रथ-शरीर' की कल्पना कठोपनिषद्‌के आधारपर की गयी है।

(६) **आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः।**
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः॥

(श्रीमद्भा० ७। १५। ४०)

अर्थात् आत्माके द्वारा जिसकी सारी वासनाएँ निर्मूल हो गयी हैं और जिसने अपने आत्माको परब्रह्म-स्वरूप जान लिया है, वह किस इच्छा तथा किस भोक्ताकी तृप्तिहेतु इन्द्रियलोलुप होकर अपने शरीरका पोषण करेगा?

श्रीमद्भागवत-महापुराणके इसी श्लोकमें बृहदारण्यक-उपनिषद्‌के निम्नलिखित मन्त्र(४। ४। १२)-के अर्थका परोक्षरूपेण स्पष्टीकरण है—

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

अर्थात् यदि पुरुष आत्माको 'यह मैं हूँ' इस प्रकार विशेषरूपसे जाने तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनासे शरीरके पीछे संतप्त हो?

(७) मुण्डकोपनिषद् (१। २। ४)-में अग्निकी सप्त जिह्वाओंका समुल्लेख है—

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥

अर्थात् काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुचीदेवी—ये सात अग्निकी लपलपाती हुई जिह्वाएँ हैं।

इसकी विशद व्याख्या मार्कण्डेयपुराण (९९। ५२—५८)-में भी की गयी है।

(८) **चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।**

(ऋग्वेद ४। ५८। ३)

—यह बड़ा ही गम्भीरार्थक मन्त्र माना गया है। इस रहस्यार्थक मन्त्रकी विविध व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। महाभाष्यके पस्पशाह्निकमें पतञ्जलिने इसे शब्दकी स्तुति माना है, मीमांसासूत्र (१। २। ४६)-में यज्ञकी स्तुति तथा राजशेखरके काव्यमीमांसामें काव्यपुरुषकी स्तुति मानी गयी है। गोपथ-ब्राह्मण (१। २। १६)-में यागपरक अर्थ ही माना गया है, जो निरुक्तमें भी स्वीकृत है। इस मन्त्रकी दो प्रकारकी व्याख्याएँ पुराणोंमें मिलती हैं। स्कन्दपुराणके काशीखण्ड (अ० ७३,श्लोक ९३—९६)-में इसका शिवपरक अर्थ किया गया है। श्रीमद्भागवतमें इस मन्त्रकी यज्ञपरक व्याख्या कर मानो इसी अर्थके प्राधान्यकी घोषणा की है—

नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःशृङ्गाय तन्तवे।
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः॥

(८। १६। ३१)

अर्थात् आप वह यज्ञ हैं, जिसके प्रायणीय और उदयनीय—ये दो कर्म सिर हैं। प्रातः, मध्याह्न और सायं—ये तीन सवन ही तीन पाद हैं, चारों वेद चार सींग हैं। गायत्री आदि सात छन्द ही सात हाथ हैं। यह धर्ममय वृषभरूप यज्ञ वेदोंके द्वारा प्रतिपादित है और इसकी आत्मा स्वयं आप हैं। आपको मेरा नमस्कार है।

'यज्ञो वै विष्णुः' के अनुसार विष्णुभक्तिके पुरस्कर्ता श्रीमद्भागवतकी दृष्टिमें यह व्याख्या स्वाभिप्रायानुकूल तो है ही; साथ-ही-साथ मूल तात्पर्यकी भी द्योतिका है। यज्ञ ही वेदके द्वारा मुख्यतया प्रतिपाद्य होनेसे इस मन्त्रकी यज्ञिय व्याख्या ही नितान्त समीचीन तथा ऐतिहासिक महत्त्वशाली प्रतीत होती है।

(९) **त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।**
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

(ऋक्० ७। ५९। १२; शुक्लयजु० ३। ६०)

यह महामृत्युञ्जय भगवान् शिवका नितान्त प्रख्यात मन्त्र है। इस मन्त्रकी व्याख्या लिङ्गपुराणमें दो बार की गयी है। वहाँ मन्त्रके पदोंकी विस्तृत व्याख्या दर्शनीय तथा मननीय है।

उपर्युक्त विवेचन-प्रसंगोंमें **'इतिहास और पुराण वेदोंके उपबृंहण हैं अथवा वेदार्थोंके प्रतिपादक हैं'**— इस उक्तिकी अक्षरशः तर्कसंगतता सिद्ध होती है।

'अनन्ता वै वेदाः'

(डॉ० श्रीमुकुन्दपतिजी त्रिपाठी 'रत्नमालीय' एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

महान् गोभक्त, स्वाध्यायनिष्ठ, वेदविद्याव्रती, बृहस्पतितनय, ब्रह्मचारी 'भरद्वाज' ब्राह्म-मुहूर्तमें गम्भीर चिन्तन-मुद्रामें बैठे थे। इधर अनेक दिनोंसे उनके मानस-क्षितिजपर अहर्निश, आर्ष आदर्श वाक्य—'**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**' (इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र कोई अन्य वस्तु नहीं है)-की आँधी उमड़ रही थी। सोते-जागते, उठते-बैठते बारम्बार वे शोकमें पड़ जाते थे—'मेरे श्रेष्ठातिश्रेष्ठ, सुरदुर्लभ मानव-जीवन धारण करनेकी सार्थकता क्या है? मुझे अपने चिर-अभिलषित लक्ष्यकी प्राप्ति किस प्रकार होगी?' वे विचारते—'यह सही है कि वेदकी अनेक ऋचाएँ मुझे कण्ठाग्र हैं, अनेक गूढ सूक्तोंका अति गोपनीय रहस्य भी गुरुकृपासे मेरे लिये हस्तामलकवत् सुस्पष्ट है, किंतु अभी भी अनन्त आकाशकी तरह असंख्य वैदिक विज्ञान मेरी पकड़के बाहर हैं। जिधर भी दृष्टि जाती है, उधर ही सब कुछ अविज्ञात, अनवाप्त ही नजर आता है। अभी तो मैं अगाध रत्नाकरके मुट्ठीभर रत्नकण ही चुन पाया हूँ।' वे विलखते—'कैसे कृतकृत्य होऊँगा मैं अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाकी पूर्तिमें? क्या उपाय है अपनी अल्पज्ञता दूर करनेका? कैसे मैं अक्षुण्ण रख पाऊँगा तेजोनिधान पितृदेवकी गौरवमयी परम्पराको?'

ऊहापोह एवं असमञ्जसकी इस कुहेलिकाको चीरती अन्तरात्माकी आवाज आयी—'हे सौम्य! हे अमृतपुत्र! तुम तप और स्वाध्यायकी शरण लो। तपस्यासे सभी दुर्लभ वस्तुओंकी प्राप्ति सम्भव है। इस वृत्तिका आश्रयण कर देवोंने मृत्युपर भी विजय प्राप्त की है—'**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत**' घबराओ मत। जहाँ चाह वहीं राह है। आशिष्ठ और तपोनिष्ठ बने रहो। तुम वेद, व्याकरण, धनुर्वेद, आयुर्वेदके विश्वविश्रुत विद्वान् बनोगे। शिल्प, प्रौद्योगिकी, वैमानिकीमें भी तुम निष्णात होओगे।'

ब्रह्मचारीको वैसे ही नया आलोक प्राप्त हुआ, जैसे अंधेको नयी आँखें ही प्राप्त हो गयी हों। दृढव्रत भरद्वाज तपश्चर्यामें लीन हो गये। क्षण-प्रतिक्षण बीतने लगे। दिन-पर-दिन बीते। कितनी रातें आयीं और चली गयीं। तन सूख कर काँटा हो गया, किंतु उनका विनिश्चय दृढ़से-दृढ़तर होता गया। उनकी ज्ञाननिष्ठा अविचल थी—'**कार्यं साधयामि शरीरं पातयामि वा**'—कार्य सिद्ध करूँगा या शरीर ही समाप्त हो जायगा—यह उनका जीवन-मन्त्र बन गया। उनके जीवन-घटकी एक-एक बूँद, उनकी एक-एक साँस लक्ष्य-प्राप्तिका पावन पाथेय बन गयी। २४ घंटेमें एक बार थोड़ा-सा दुग्धाहार कर वे ज्ञान-साधना एवं तपस्यामें निमग्न हो जाते थे। कालान्तरमें एक दिन एकाएक ब्राह्मवेलामें ही उनके नेत्रोंके समक्ष दिव्य आलोक फैला गया। दिव्यवसनधारी, तेजोमूर्ति, अनुपम मुकुटयुक्त, वज्रबाहु, वज्रपाणि इन्द्रदेव साक्षात् सम्मुख खड़े थे। वे मुसकरा रहे थे और कह रहे थे—'**वरं ब्रूहि वत्स! वरं ब्रूहि! प्रसन्नोऽस्मि**'—'वर माँगो वत्स! वर माँगो! मैं प्रसन्न हूँ।' अमृत-मधुर, मेघ-मन्द्र-गिरा गूँज उठी। आँखें खोलते ही ऋषि भरद्वाज साष्टाङ्ग प्रणाम-मुद्रामें चरण-नत हो गये। उन्होंने निवेदन किया—'हे अन्तर्यामिन्! हे भक्तवाञ्छाकल्पतरु! हे देवाधिप! मेरी महत्त्वाकाङ्क्षा तो आपको विदित ही है। मेरे हृदयका कौन-सा कोना आपका निहारा हुआ नहीं है? मेरी एकमात्र इच्छा वेदोंका समग्र ज्ञान प्राप्त करनेकी है। मुझे भौतिक अभ्युदयकी अभिलाषा नहीं है। मुझे मोक्ष-अवाप्तिकी कामना भी नहीं है। अतः आप मुझे वेद-विद्याकी साधनाके लिये सौ वर्षोंकी अतिरिक्त आयु प्रदान करें।'

इन्द्रदेवने वत्सलतापूर्वक कहा—'साधु वत्स! साधु! तुम्हारा उद्देश्य अति पवित्र है।' '**तथास्तु**' कहकर वे अन्तर्धान हो गये। ऋषि भरद्वाज फूले नहीं समाये। वे अनन्य उत्साहसे जुट गये अपनी ज्ञान-साधनामें। जीवनका प्रत्येक क्षण उनके लिये ज्ञान-अवाप्तिका शुभ मुहूर्त बन गया। उनके तपोनिरत कलेवरसे ज्ञानकी विमल आभा बिखरने लगी। उनके ज्ञानार्जनमें व्यस्त जीवनके सौ वर्ष कब बीत गये, कुछ पता ही नहीं चला।

इसी क्रममें एक दिन अकस्मात् अपराह्न-कालमें आलोकमूर्ति, देवाधिप इन्द्रदेव पुनः प्रकट हुए। भरद्वाजजीका कुशल-क्षेम पूछकर उन्होंने उनसे उनकी ज्ञान-साधनाके

विषयमें प्रश्न किया—'वत्स! तुम्हारा तप एवं स्वाध्याय निर्विघ्न चल रहा है न?'

ऋषि भरद्वाजने संकोचपूर्वक कहा—'भगवन्! वेदविद्या-संचयनमें मेरी साँस-साँस संलग्न रही है। एकनिष्ठ मनसे, बरसोंसे मैं इस साधनामें निरत हूँ। आपके आशीर्वादसे मैंने महत्त्वपूर्ण ज्ञानराशि भी अर्जित कर ली है, किंतु व्यापक-दृष्टिसे विचार करनेपर यह उपलब्धि अत्यल्प आभासित होती है। इस निमित्त कृपया आप मुझे २०० वर्षोंकी अतिरिक्त आयु प्रदान करनेका अनुग्रह करें।' इन्द्रदेवने कहा—'साधु वत्स! साधु!' तुम्हारा प्रस्ताव अभिनन्दनीय है। मैं तुम्हारी प्रगतिसे संतुष्ट हूँ। मैं तुम्हें सौ वर्षोंकी अतिरिक्त आयु सहर्ष प्रदान करता हूँ।'—इतना कहकर इन्द्रदेव तिरोहित हो गये। ऋषि भरद्वाजकी ज्ञानोपासना तीव्रतम वेगसे चल पड़ी। उन्होंने वैदिक मन्त्रोंके रहस्य अधिदैवत, बीज-सहित सम्पूर्ण वैदिक विज्ञानको आयत्त एवं आत्मसात् करनेमें कोई कसर नहीं रखी। उनकी देहयष्टि कान्तिमयी होती गयी, उनका मस्तिष्क उर्वरतर होता गया। किंतु २०० वर्षोंकी यह परिवर्तित कालावधि किस प्रकार बीत गयी, इसका कुछ पता नहीं चला। ऋषिकी ज्ञान-पिपासा तीव्रतर होती जा रही थी। ऋषिवर कुछ अधीर भी हो रहे थे कि जीवनकी सांध्य-वेला चली आयी। अभी भी ज्ञान-साधना अधूरी ही है।

इसी मनःस्थितिमें वे पड़े थे कि उनके सम्मुख तेजोमूर्ति इन्द्रका दिव्य विग्रह पुनः प्रकट हुआ। श्रद्धालु कृतज्ञ ऋषिने पाद्य, अर्घ्य, आचमनीयादि यथोपलब्ध उपचारोंसे उनका सविधि पूजनपूर्वक स्वागत-सत्कार किया। स्वागतादिसे संतृप्त देवराजने आत्मीयतापूर्वक पूछा—'वत्स! तुम्हारी वेद-विद्योपासनामें कितनी प्रगति हुई? इस पुण्य प्रयासमें किसी प्रकारकी बाधा तो नहीं है?'

ऋषिने भावविह्वल-कण्ठसे कहा—'भगवन्! आपकी कृपासे अभी भी मैंने ज्ञानके थोड़े ही कण बटोर पानेमें सफलता पायी है। कालचक्रकी गति अत्यन्त तीव्र है और मानव-क्षमता कितनी सीमित!' देवराज मुसकराये। उन्होंने कहा—'चिन्ता न करो वत्स! मैं तुम्हारी ज्ञान-निष्ठासे प्रसन्न हूँ। सामनेकी ओर देखो।'

चकित-नयन ऋषिने निहारा। उनके नेत्रोंके समक्ष अत्यन्त उन्नत शिखरवाले तीन पर्वत खड़े थे। उनसे प्रतिफलित होनेवाले तेज-प्रकर्षसे आँखें चौंधिया रही थीं। पुनः देवराजने एक मुट्ठी धूल हाथमें लेकर भरद्वाजसे प्रश्न किया—'वत्स! मेरी मुट्ठीमें क्या है?'

ऋषिने हँसते हुए उत्तर दिया—'भगवन्! मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार आपकी मुट्ठीमें तो थोड़ी-सी धूलमात्र है। वैसे महात्माओंके निगूढ अभिप्रायको भला मैं कैसे जान सकता हूँ!' इन्द्रने समर्थन किया—'साधु वत्स! मेरी मुट्ठीमें थोड़ी-सी धूलमात्र है। उत्तुंग पर्वतोंकी तुलनामें यह नगण्य-सी है। इसी प्रकार तुम्हारा अद्यावधिपर्यन्त अर्जित ज्ञान अत्यल्प है। ज्ञानकी कोई सीमा नहीं, उसका कोई अन्त नहीं,' **'अनन्ता वै वेदाः'**—वेद अनन्त हैं (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। १०। ११। ४)।

'तुम्हारा उत्तम प्रयास अनवरत एवं अविच्छिन्न है। अतः तुम्हारी साधनाका फल मिलेगा ही, किंतु इसके निमित्त तुम्हें सवितृदेवकी आराधना करनी पड़ेगी। सकल-ज्ञान-निधान वे 'त्रयी रूप' ही हैं। वे वेदमूर्ति हैं। उनकी प्रसन्नता-हेतु तुम्हें 'सावित्र-अग्निचयन-यज्ञ' करना चाहिये। तुम यथाशीघ्र इस पुण्य आयोजनमें लग जाओ।'

नयी दिशा पाकर ऋषि दूने उत्साहसे सविताकी साधनामें लग गये। तपोवनमें स्थल-स्थलपर यज्ञवेदियाँ बनायी गयीं। हवन-कुण्डोंमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक आहुतियाँ डाली जाने लगीं।—'**ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥**'—हे सवितादेव! आप हमारे सम्पूर्ण दुरितोंका विनाश करके हमारे लिये मङ्गलका विस्तार-विधान करें। इस होमयज्ञके कारण पर्यावरण दिव्य सुगन्धसे परिपूर्ण एवं परिपूत हो गया। कुछ महीनोंकी मनोयोगमयी साधनाके फलस्वरूप भगवान् सवितादेव प्रकट हुए।

'वरं ब्रूहि, वरं ब्रूहि' के रूपमें मङ्गल-वाणी गूँज उठी। ऋषि भरद्वाज श्रद्धा-समन्वित हो उठ खड़े हुए। यथाप्राप्त उपचारपूर्वक उन्होंने 'सवितादेव' का पूजन किया। उन्होंने करुणापूर्वक ऋषिको आश्वस्त किया—'वत्स! तुम निष्ठापूर्वक मेरी आराधनामें कुछ दिन और लगे रहो। मेरे अनुग्रहसे तुम्हें समग्र वेदज्ञान प्राप्त होगा। कृतज्ञ जगत् तुम्हें ऋषि-समूहमें अग्रगण्य सप्तर्षि-मण्डलमें स्थान देकर सादर स्मरण करेगा। तुम कुछ

दिन और निष्ठापूर्वक गायत्री-पुरश्चरण करो। यदि तुम्हें कहीं विप्रतिपत्ति एवं संशय हो तो तुम मेरे अन्यतम शिष्यों—हनुमान् एवं याज्ञवल्क्यसे भी परामर्श कर लेना। तुम यशस्वी बनोगे। कर्म, ज्ञान, भक्तिकी त्रिवेणी प्रवाहित करनेमें तुम्हारी भूमिका अन्यतम रूपसे महत्त्वपूर्ण रहेगी।'

श्रद्धान्वित तथा आशान्वित ऋषि 'ज्ञानेष्टि'में पुनः लीन हो गये। विपुल वैदिक ज्ञान-राशि उनके सम्मुख अपनी विराटतामें प्रतिफलित होने लगी। ऋग्वेदके षष्ठ मण्डलके अनेक सूक्तोंके द्रष्टा—संकलयिताके रूपमें उन्हें अक्षय कीर्ति प्राप्त हुई।

ऐसी ही दिव्य संततियोंको जन्म देकर भारत-भूमि—'भारत'—(ज्योतिकी साधनामें लीन) संज्ञाको चरितार्थ कर सकी है। वेद, व्याकरण प्रौद्योगिकी, धनुर्वेद, आयुर्वेदके लब्धकीर्ति विद्वान्, 'वैदिक सूक्तों', 'भरद्वाज-स्मृति', 'यन्त्रसर्वस्व', 'अंशुमतन्त्र', 'आकाशतन्त्र', 'भारद्वाज श्रौतसूत्र' एवं 'भारद्वाज गृह्यसूत्र' के यशस्वी प्रणेताको शतशः नमन।

वेदोंमें राष्ट्रियताकी उदात्त भावना

(डॉ० श्रीमुरारीलालजी द्विवेदी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

'वेद' भारत ही नहीं, अपितु विश्वके समस्त मनीषियोंके लिये ज्ञान-स्रोत है। ज्ञानार्थक '**विद**' धातुसे 'वेद' शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है ज्ञान प्राप्त करना। किसी विषयका ज्ञान उसे जानकर ही किया जा सकता है। इस प्रकार 'वेद' शब्द ज्ञानका पर्याय है।

वेदोंकी महिमा अपार है। वे ज्ञानके भण्डार,धर्मके मूल स्रोत और भारतीय संस्कृतिके मूल आधार हैं। वेद-वाक्य स्वतःप्रमाण हैं तथा अनादि और अपौरुषेय हैं, अतः वेद ब्रह्मस्वरूप हैं।

वैदिक साहित्यमें मुख्यतः चार वेद हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेदमें १०५५२ मन्त्र हैं, इनका लक्ष्य मनुष्यको ज्ञान देना ही है। यजुर्वेदमें १९७५ मन्त्र हैं, जो उत्तम कर्मोंकी ओर प्रेरित करते हैं। सामवेदमें १८७५ मन्त्र हैं, जिनमें ईश्वर-स्मरण और साधनाका वर्णन है। अथर्ववेदका विषय योग है। 'अथर्व' शब्दका शाब्दिक अर्थ (अ=थर्व) एकाग्रतासे है। इस वेदके ५९७७ मन्त्रोंमें राष्ट्रधर्म, समाजव्यवस्था, गृहस्थधर्म, अध्यात्मवाद, प्रकृतिवर्णन आदिका विस्तृत एवं व्यावहारिक ज्ञान समाहित है।

वेद-वाक्य राष्ट्रप्रेम, देशसेवा और उत्सर्गके प्रेरक हैं, इसलिये वेद आर्योंके सर्वप्रधान तथा सर्वमान्य धार्मिक ग्रन्थ हैं। इसी कारण वेदोंका आज भी राष्ट्रव्यापी प्रचार है। हमारे देवालयों एवं तीर्थस्थानोंमें आज भी उनका प्रभाव अक्षुण्ण है। वेदोंमें अपने गौरवशाली अतीतकी झाँकी देखकर आज भी हम अपना मस्तक गर्वोन्नत कर सकते हैं।

वेदोंमें राष्ट्रियताकी उदात्त भावनाका भरपूर समावेश है। ऋग्वेद (१०।१९१।२)-में जगदीश्वरसे प्रार्थना की गयी है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

अर्थात् 'हे जगदीश्वर! आप हमें ऐसी बुद्धि दें कि हम सब परस्पर हिलमिल कर एक साथ चलें; एक-समान मीठी वाणी बोलें और एक-समान हृदयवाले होकर स्वराष्ट्रमें उत्पन्न धन-धान्य और सम्पत्तिको परस्पर समानरूपसे बाँटकर भोगें। हमारी हर प्रवृत्ति राग-द्वेषरहित परस्पर प्रीति बढ़ानेवाली हो।'

ऋग्वेदके 'इन्द्र-सूक्त' (१०।४७।२)-में जगदीश्वरसे स्वराष्ट्रके लिये धन-धान्यवान् पुत्रोंसे समृद्ध होनेकी कामना की गयी है—

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥

तात्पर्य यह कि 'हे परमैश्वर्यवान् परमात्मन्! आप हमें धन-धान्यसे सम्पन्न ऐसी संतान प्रदान कीजिये, जो उत्तम एवं अमोघ शस्त्रधारी हो, अपनी और अपने राष्ट्रकी रक्षा करनेमें समर्थ हो तथा न्याय, दया-दाक्षिण्य और सदाचारके

साथ जन-समूहका नेतृत्व करनेवाली हो, साथ ही नाना प्रकारके धनोंको धारण कर परोपकारमें रत एवं प्रशंसनीय हो तथा लोकप्रिय एवं अद्भुत गुणोंसे सम्पन्न होकर जन-समाजपर कल्याणकारी गुणोंकी वर्षा करनेवाली हो।'

राष्ट्रकी रक्षामें और उसकी महत्तामें ऐसी ही अनेक ऋचाएँ पर्यवसित हैं, जिनमेंसे यहाँ कुछका उल्लेख किया जा रहा है, जैसे—

उप सर्प मातरं भूमिम्।

(ऋग्वेद १०। १८। १०)

'मातृभूमिकी सेवा करो।'

निम्न मन्त्रसे मातृभूमिको नमन करते हुए कहा गया है—

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या।

(यजुर्वेद ९। २२)

अर्थात् 'मातृभूमिको नमस्कार है, मातृभूमिको नमस्कार है।'

यहाँ 'पृथ्वी' का अर्थ मातृभूमि या स्वदेश ही उपयुक्त है। अतः हमें अपने राष्ट्रमें सजग होकर नेतृत्व करने-हेतु एक ऋचा यह उद्घोष करती है—

वयःराष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः॥

(यजुर्वेद ९। २३)

अर्थात् 'हम अपने राष्ट्रमें सावधान होकर नेता बनें।'

क्रान्तदर्शी, शत्रुघातक अग्निकी उपासना-हेतु निम्न मन्त्रमें प्रेरित किया गया है—

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥

(सामवेद १। १। ३२)

'हे स्तोताओ! यज्ञमें सत्यधर्मा, क्रान्तदर्शी, मेधावी, तेजस्वी और रोगोंका शमन करनेवाले शत्रुघातक अग्निकी स्तुति करो।'

अथर्ववेदके 'भूमि-सूक्त' में ईश्वरने यह उपदेश दिया है कि अपनी मातृभूमिके प्रति मनुष्योंको किस प्रकारके भाव रखने चाहिये। वहाँ अपने देशको माता समझने और उसके प्रति नमस्कार करनेका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख किया गया है—

सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः॥

(अथर्व० १२। १। १०)

'पृथ्वीमाता अर्थात् मातृभूमि, मुझ पुत्रके लिये दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थ प्रदान करे।'

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

(अथर्व० १२। १। १२)

'भूमि (स्वदेश) मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।'

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।

(अथर्व० १२। १। ६३)

'हे मातृभूमि! तू मुझे अच्छी तरह प्रतिष्ठित करके रख।'

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

(अथर्व० ३। ३०। १)

'परस्पर हृदय खोलकर एकमना होकर कर्मशील बने रहो। तुरंत जन्मे बछड़ेको छेड़नेपर गौ जैसे सिंहिनी बनकर आक्रमण करनेको दौड़ती है, ऐसे तुम लोग सहृदयजनोंकी आपत्तिमें रक्षाके लिये कमर कसे रहो।'

अतएव हमें चाहिये कि अपनी मातृभूमिकी रक्षा-हेतु आत्मबलिदान करनेके लिये हम सदा तत्पर रहें—

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम॥

(अथर्व० १२। १। ६२)

'हे मातृभूमि! तेरी सेवा करनेवाले हम नीरोग और आरोग्यपूर्ण हों। तुमसे उत्पन्न हुए समस्त भोग हमें प्राप्त हों, हम ज्ञानी बनकर दीर्घायु हों तथा तेरी सुरक्षा-हेतु अपना आत्मोत्सर्ग करनेके लिये भी सदा संनद्ध रहें।'

इस प्रकार वेद ज्ञानके महासागर हैं तथा विश्व-वाङ्मयकी अमूल्यनिधि एवं भारतीय आर्यसंस्कृतिके मूल आधार हैं। उनमें राष्ट्रियताकी उदात्त भावनाका भरपूर समावेश है। अतः हम सभी राष्ट्रवासियोंको चाहिये कि हम राष्ट्ररक्षामें समर्थ हो सकें, इसके लिये वेदकी शिक्षाओंको समग्ररूपसे ग्रहण करें।

सभी शास्त्र वेदका ही अनुसरण करते हैं

(श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री)

समस्त शास्त्र, पुराण, इतिहास, रामायण, गीता और महाभारत आदि जो भी हमारे धर्मग्रन्थ हैं, उनके मूल आधार भगवान् वेद ही हैं। क्योंकि वेदके पश्चात् ही ये सब ग्रन्थ लिखे गये एवं इन ग्रन्थोंमें जो धर्मकी व्याख्या हुई उनके आधार वेद ही हैं—'**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।**' भगवान् वेदकी भाषा सर्वगम्य न होनेके कारण आर्षग्रन्थोंके द्वारा ही वेदार्थ प्रकट किया गया। वेदार्थ-ज्ञापक हमारे धर्मग्रन्थ ये हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

(याज्ञ०स्मृ० १ । ३)

'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्राङ्गोंसे युक्त चारों वेद— ये धर्म और विद्याओंके चौदह स्थान हैं।' इसी कारण वेदार्थ निश्चय करनेके लिये इनका अनुशीलन तथा परिशीलन अनिवार्य एवं अपरिहार्य है—

वेदार्थो निश्चेतव्यः स्मृतीतिहासपुराणैः।

वेदार्थका निश्चय स्मृति, इतिहास एवं पुराणोंके द्वारा ही किया जाना चाहिये; क्योंकि इतिहास-पुराणोंका उपबृंहण वेदार्थोंकी बोधगम्यताके लिये ही हुआ है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्॥

(महाभारत, आदिपर्व १। २६७)

वाल्मीकिरामायण, महाभारत, समस्त पुराण, उपपुराण और धर्मशास्त्र आदि आर्षग्रन्थोंमें सर्वत्र ही वेदका अनुसरण किया गया है। यही आर्षग्रन्थोंकी महत्ता है। जिन्होंने वेदोंको नहीं माना, उनका ग्रन्थ अप्रामाण्य ही माना गया—

अतुलित महिमा बेद की तुलसी किएँ बिचार।
जो निंदत निंदित भयो बिदित बुद्ध अवतार॥

(दोहावली ४६४)

वेद अनादि, अपौरुषेय तथा नित्य शाश्वत और त्रैकालिक घटनाओंके दर्पण एवं हमारे पथ-प्रदर्शक हैं, अतएव सनातन सत्य हैं। उपनिषद्का कहना है कि वेद भगवान्के निःश्वासभूत हैं—'**यस्य निःश्वसितं वेदाः**' तथा गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी उक्ति है—'**जाकी सहज स्वास श्रुति चारी**'।

वेदकी शाखाओंका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः।
तेषां शाखा ह्यनेकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा॥
ऋग्वेदस्य शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः।
नवाधिकं शतं शाखा यजुषो मारुतात्मज॥
सहस्रं संख्यया जाताः शाखाः साम्नः परंतप।
अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद् भेदतो हरेः॥
एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता।

ये ही वेद भगवान्की इच्छा एवं प्रेरणासे रामायणके रूपमें महर्षि वाल्मीकिजीके श्रीमुखसे प्रकट हुए; क्योंकि भगवान्को जब धराधामपर प्रकट होना होता है तो अपने अवतारकी पृष्ठभूमि वे स्वयं ही बना लेते हैं। यहाँ भगवदवतारके साथ वेदावतार भी कैसे हुआ? यह स्पष्ट किया जा रहा है। अगस्त्य-संहितामें इसका स्पष्ट वर्णन है—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥

वेदोंके द्वारा जानने योग्य भगवान् जब दशरथनन्दनके रूपमें धराधामपर पधारे तो वेदोंने भी प्राचेतस भगवान् वाल्मीकिजीके श्रीमुखसे स्वयं रामायणके रूपमें अवतार लिया। इस कारण भगवान् शंकरजी भगवती पार्वतीजीसे कहते हैं—'देवि! इस प्रकारसे रामायण स्वयं वेद है, इसमें संशय नहीं है'—

तस्माद् रामायणं देवि वेद एव न संशयः।

उस रामायणके परम विशिष्ट पात्रोंका भी वर्णन किन-किन रूपोंमें किया, उसका भी स्पष्ट संकेत कर दिया है—

तासां क्रिया तु कैकेयी सुमित्रोपासनात्मिका।
ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या वेदो दशरथो नृपः॥
क्रियायां कलहो दृष्टो दृष्टा प्रीतिरुपासने।
ज्ञानेनात्मसुखं नित्यं दृष्टं निर्हेतुनिर्मलम्॥

(शिवसंहिता १८। ४६-४७)

'वेदोंकी क्रिया कैकेयी, उपासना सुमित्रा तथा ज्ञानशक्ति कौसल्या हैं एवं महाराज श्रीदशरथजी साक्षात् वेद हैं। क्रियामें कलह, उपासनामें प्रीति, निर्हेतुक ज्ञानमें निर्मल आत्मसुख देखा—पाया गया। इसी क्रमसे रामायणका स्वरूप भी है। क्रिया महारानी कैकेयी ही श्रीरामावतारके समस्त प्रयोजनको सिद्ध करानेके लिये महाराज दशरथजीसे हठपूर्वक रामको वनवास दिलाती हैं; क्योंकि ये सभी कार्य क्रियाके ही हैं। सुमित्रा उपासना एवं प्रेम हैं।' वे लक्ष्मणजीसे कहती हैं—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

(वा० रा० २। ४०। ९)

ज्ञानशक्ति कौसल्या हैं। समस्त परिस्थितियोंके बिगड़ जानेपर भी वे स्पष्ट आत्माके वास्तविक स्वरूपको पहचान कर परम शान्त, दान्त एवं गम्भीर-मुद्रामें किसीपर भी दोषारोपण न करके स्वात्माराम हैं, क्योंकि—

ब्रह्मणा निर्मितं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम्।
वाल्मीकिना च यत् प्रोक्तं रामोपाख्यानमुत्तमम्॥

(स्कन्दपुराण)

इसीके आधारपर यह भी वर्णन किया गया कि साक्षात् ब्रह्माजीने कहा—'महर्षे! मेरी ही प्रेरणासे तुम्हारे मुखसे '**मा निषाद प्रतिष्ठां०**' इस श्लोकके रूपमें रामायण ग्रन्थ वेदके रूपमें प्रकट हुआ। तुमने महर्षि नारदजीके मुखसे जैसा श्रवण किया है, वैसा ही वर्णन करो। आगेका सारा चरित तुम्हारी ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा तुम्हें स्वयं ही ज्ञात हो जायगा। तुम्हारी कोई भी वाणी इस काव्यमें मिथ्या नहीं होगी।' ब्रह्माजीने कहा—

तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति।
न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति॥

(वा० रा० १। २। ३५)

इस प्रकार ब्रह्माजीसे आदेश पाकर महर्षि वाल्मीकिजीने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा समस्त रामचरितका जैसा साक्षात्कार किया, वैसा ही वर्णन कर दिया है।

स्कन्दपुराणमें तो ऐसा भी वर्णन किया गया है कि—

वाल्मीकिरभवद् ब्रह्मा वाणी वक्तृत्वरूपिणी।
चकार रामचरितं पावनं चरितव्रतः॥

'स्वयं ब्रह्मा ही वाल्मीकि हुए, सरस्वती ही उनकी वाणी—वक्ता बनकर स्फुटित हुई, जिससे वेदरूप श्रीरामायणकी रचना सम्पन्न हुई।'

फिर भगवान् शंकर पार्वतीजीसे कहते हैं—

वाल्मीकिस्तुलसीदासः कलौ देवि भविष्यति।
रामचन्द्रकथा साध्वी भाषारूपां करिष्यति॥

(शिवसंहिता)

पुनः—

वाल्मीकिस्तुलसीदासो भविष्यति कलौ युगे।
शिवेनात्र कृतो ग्रन्थः पार्वतीं प्रतिबोधितुम्॥
रामभक्तिप्रवाहार्थं भाषाकाव्यं करिष्यति।
रामायणं मानसाख्यं सर्वसिद्धिकरं नृणाम्॥

(ब्रह्मरामायण)

अर्थात् 'देवि! वाल्मीकिजीने वेदरूप जो रामायण लिखी, संस्कृतमें होनेके कारण उससे भविष्यमें समस्त समाज लाभान्वित नहीं हो पायेगा। इसलिये स्वयं वाल्मीकिजीने कलियुगी प्राणियोंका कल्याण करानेके लिये श्रीरामचरितमानसके रूपमें तुलसीदास बनकर उसी वेदरूप रामायणकी रचना 'भाषा'में की। जिससे आबाल-वृद्ध, नर-नारी, जन-सामान्यसे लेकर सुयोग्य विद्वान्तक लाभ उठा सकें।'—

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई॥
भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई॥

नाभादासजीने भी अपने भक्तमाल नामक ग्रन्थमें इसीको पुष्ट किया है—

कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो।

इस प्रकार ब्रह्माजी ही प्राचेतस मुनि हुए और उनके द्वारा लिखी रामायण श्रीमद्वाल्मीकिरामायण है। जिसके सम्बन्धमें स्कन्दपुराणमें कहा गया है—

रामायणमादिकाव्यं सर्ववेदार्थसम्मतम्।
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिवर्हणम्॥

महर्षि वाल्मीकिकृत आदिकाव्य रामायण साक्षात् वेदरूप ही है, अतएव परवर्ती समस्त रामायण-लेखकोंने अपनी-अपनी भाषा एवं परम्परानुसार इसी

वेदरूप रामायणका अनुकरण एवं अनुसरण किया है। वेदव्यासजीकी घोषणा है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

इसीलिये कहा गया—'**व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।**' फिर जितने शास्त्र-पुराणादि लिखे गये, तत्तद् ग्रन्थोंके उन सभी लेखकोंने श्रीव्यास एवं वाल्मीकिजीकी ही रचनाओंको आधार मानकर अपने-अपने ग्रन्थोंको लिखा है। श्रीमद्भागवतके वेदान्त-निरूपण एवं वर्षा, शरद्-वर्णनके प्रसंगको लेकर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहीं-कहीं तो अक्षरशः तथा अन्यत्र आधाररूपमें आलंकारिक वर्णन किया है। श्रीमद्भगवद्गीता तो सभी उपनिषदोंका सार ही है, उसके श्लोक (१८। ६६)-का अनुवाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने ज्यों-का-त्यों किया है, जैसे—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

गोस्वामीजीका अनुवाद—

नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू॥

पुनः—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

गोस्वामीजीका अनुवाद—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

उपनिषद्में—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मुण्डकोपनिषद् ३। २। ८)

गोस्वामीजीका अनुवाद—

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरिपाई॥

गीता (१५। ४)-में जैसे '**यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः**' कहा गया है, इसी प्रकार वेद एवं वेदार्थका ही अनुकरण, अनुवर्णन अद्यावधि सभीने अपनी-अपनी भाषा एवं परम्परानुसार किया है। भगवान् वेदके अतिरिक्त कोई कहेगा भी क्या? अतः—

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

गोस्वामीजी—

जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

—इस प्रकार वेद हमारे आर्ष मूल, अपौरुषेय, अनादि, अनन्त, धर्ममूल, सर्वाधार, साक्षात् नारायणरूप, सर्वगुणगणसम्पन्न, सर्वाभीष्टदायक, सर्वारिष्टनिवारक एवं सर्वज्ञान-विज्ञान-प्रदाता हैं और सभी वेद भगवान्‌का ही प्रतिपादन करते हैं। इसीलिये शास्त्रका वचन है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य वै पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त शास्त्र वेदका ही अनुसरण करते हैं। यह सर्वविध प्रमाणित, स्वतःसिद्ध एवं शाश्वत सत्य है।

येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः॥

(अथर्व० ४। ११। ६)

जिस परमात्माकी कृपासे विद्वान् लोग अपना शरीर त्यागकर अमृतके केन्द्ररूप मोक्षको प्राप्त हुए हैं, उस प्रकाशपूर्ण परमात्माके व्रत और तपस्यासे यशके इच्छुक हम उस पुण्यलोकको (मोक्षको) प्राप्त करेंगे।

वैदिक आख्यान, लक्षण और स्वरूप

(डॉ० श्रीविद्यानिवासजी मिश्र)

'आख्यान' शब्दका अर्थ है किसी पूर्वज्ञात (प्रत्यक्ष या प्रामाणिक रूपसे या परम्परागत) घटना या अवस्थितिको समझानेकी क्रिया। 'ख्या' का अर्थ होता है प्रकट करना और 'आ' जोड़नेसे उसका अर्थ होता है भलीभाँति प्रकट करना। अभिनवगुप्तने आख्यानका लक्षण बतलाते हुए कहा कि आख्यान दृष्टार्थकथन है। 'अर्थ' शब्द वस्तुओं और घटनाओंकी तथ्यता है। वस्तुतः जो वस्तु दिखायी पड़ती है या जो घटना घटती है, उसका आधा ही ज्ञान होता है। इन्द्रियोंसे या मनसे आधा ही ज्ञात हो पाता है। उसकी वास्तविकताका पूरा ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वह वास्तविकता केवल इन्द्रियगोचर या केवल मनोगोचर नहीं है। कभी-कभी वह बुद्धिगोचर भी नहीं होती। वह चेतनाके सबसे भीतरके प्रकाशसे उन्मीलित होती है। इसलिये दृष्टार्थ-कथनकी परिभाषा अत्यन्त व्यापक है और इस परिभाषामें यह निहित है कि वह न तो किसी घटनाका इतिहास है और न किसी घटनाका आधिभौतिक विवरण। हमारी प्रवृत्ति हर विषयको उसकी समग्रतासे समझनेकी रही है। इतिहास इस समझका अंशमात्र है। जब आख्यायिकाका संस्कृतमें लक्षण यह किया जाता है कि वह प्रसिद्ध इतिवृत्तोंपर आधारित होता है, तब उसका अर्थ यह होता है कि यह प्रसिद्धि केवल ऐतिहासिक दृष्टिसे नहीं है। यह आभ्यन्तर चक्षुसे प्रमाणपुरुषोंके द्वारा की गयी अपरोक्ष अनुभूतिका परिणाम है। वैदिक आख्यान वैसे तो संहिता भागमें ही मिलने लगते हैं, पर ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदोंमें आये आख्यान विशेष महत्त्व रखते हैं। ब्राह्मणोंमें जब किसी अनुष्ठानकी प्रक्रियाको समझाना होता था तो एक आख्यान सुनाया जाता था। वह आख्यान क्रियाकी अभिव्याप्ति स्पष्ट करता था। इस प्रकारसे यह आख्यान प्रत्येक आनुष्ठानिक सोपानको समझनेके लिये एक बड़ा चौखटा प्रदान करता था। कभी यह आख्यान सादृश्य-मूलक है, कभी प्रतीकात्मक है, कभी अन्योक्तिपरक है, कभी कार्य-विशेषमें घटी घटनाको देशातीत और कालातीत प्रस्तुत करनेवाला है। ऐसे ही आख्यानोंका उपबृंहण पुराणोंमें हुआ है। ये ही हमारे काव्य-साहित्य और नाट्यशास्त्रके बीज बनते हैं और ये ही हमारी कलाओंके संदर्भ बनते हैं। वैदिक आख्यानोंका सौन्दर्य तीन बातोंमें है। एक तो ये अत्यन्त संक्षिप्त हैं, इनमें नाटकीय चढ़ाव-उतार है और मुख्य प्रतिपाद्य ही दिया गया है। उसको सजानेकी कोशिश नहीं की गयी है। भाषा बड़ी ही पारदर्शी है, पर उसके साथ-साथ बड़ी गहरी है, बहुस्तरीय है। उसमें प्रवेश करते ही पटल-पर-पटल खुलते चले जाते हैं। कहीं भी शब्दका अपव्यय नहीं है। हर आख्यानका अन्त किसी-न-किसी प्रकारकी पूर्णताके भावसे होता है, इसीलिये ये आख्यान कालातीत हैं और परिणामतः इतिहाससे भी बाहर हैं। एक प्रकारसे सनातन हैं। इन आख्यानोंमें इतिवृत्तोंका विस्तार सीधी रेखामें नहीं है। जैसे—इस घटनाके बाद यह घटना आदि। न इनका विस्तार एक वृत्तके रूपमें होता है, जहाँसे घटना शुरू हो वहींपर लौट आये। यहाँ जो कुछ भी है, वह एक खुला वृत्त है अर्थात् ऐसा विवरण है जिसमें आगे बढ़ानेकी गुंजाइश मौजूद है। शंखवलय-जैसे होता है। उसमें छोटे वृत्तका विस्तार बड़े-से-बड़े वृत्तोंमें होता चला जाता है। वैसे ही इन आख्यानोंका विस्तार सम्भव होता है। ३-४ पंक्तियोंका आख्यान एक बहुत बड़ी कथा बन जाती है। **दौःषन्ति**—भरतका आख्यान अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक बना। पुरूरवा-उर्वशीके आख्यानमें अरणि-मन्थन (आग धधकानेके लिये जिन लकड़ियोंका प्रयोग होता है, उन्हें 'अरणि' कहते हैं)-के प्रसंगमें और विस्तृत होकर मनुष्य और प्रकृतिके बीच रूपान्तरकी सम्भावनाओंका अत्यन्त संश्लिष्ट रूपक बन जाता है। उत्तरवर्ती साहित्यको पूरी तरह समझनेके लिये ये वैदिक आख्यान चाभी हैं। उदाहरणके लिये छान्दोग्योपनिषद्के घोर आङ्गिरस और देवकीपुत्र कृष्ण-संवादका आख्यान ही गीताकी आधारपीठिका है। यहाँ इस आख्यानको पूरा देना संगत होगा। आख्यान इस प्रकार है—

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः॥ अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति॥ अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति॥ अथ यत्तपो दानमार्जवमहिꣳसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः॥ तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवावभृथः॥ तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसꣳशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः॥ आदित्प्रत्नस्य रेतसः। उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरꣳस्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति॥

(छान्दोग्य० ३। १७। १—७)

इसका अर्थ यह है कि इस आभ्यन्तर पुरुषको जब भूख लगी होती है, प्यास लगी होती है, कहीं उसे चैन नहीं पड़ता, कहीं वह रम नहीं पाता, तभी जीवन-यज्ञमें उसकी दीक्षा होती है। जीवन-यज्ञके लिये वह अपनेको सौंपता है, क्योंकि यह व्याकुलता उसे दीखती है। यह सबकी व्याकुलता है। अकेली उसकी नहीं है। दीक्षाका अर्थ ही है अपनेको पूरी तरह खाली करना और भरे जानेके लिये प्रस्तुत करना।

जो वह खाता है, पीता है और रमता है, वही जीवन-यज्ञकी यज्ञ-वेदीके पास पहुँचना होता है। वही उपसद मन्त्रोंका उपयोग होता है। जब वह खा-पीकर रमकर प्रसन्न होता है, हँसता है, जब वह विविध प्रकारके भोगको आत्मसात् करता है, जब वह अत्यन्त निजत्वको सम्पूर्णत्वमें विलीन करता होता है, जब वह मिथुनीभावके साथ अद्वैतात्मक क्षणमें प्रविष्ट होता रहता है। अमावस्याकी इष्टिके सम्बन्धमें उसकी जो बात कही गयी है, उससे रूपक-शब्दावली लेकर कह सकते हैं कि अग्नि-सोमस्वरूपमें वह निगीर्ण होता रहता है और सोमाभिषव होता रहता है। यह स्थिति ही शास्त्रमन्त्रोंके उपयोगकी स्थिति है, जिनके द्वारा अन्तिम आहुति दी जाती है। वषट्कारके उच्चारणके साथ अन्तिम आहुति दी जाती है कि यह हम सबकी ओरसे सर्वात्मक देवताके लिये आहुति दे रहे हैं। हम सबके लिये यह आहुति कर्मोंका सूक्ष्म रूप है। समस्त जीवोंका साररूप है। समस्त सृष्टिका बीजरूप है। इस यज्ञसे जो तप, दान, आर्जव (निश्छल व्यवहार), अहिंसा और सत्यके आचरणका संस्कार उत्पन्न होता है, वही इस जीवन-यज्ञकी दक्षिणा है। इस यज्ञ-भावनासे जिया गया जीवन मानो अहंकारकी मृत्यु है और यह यज्ञ मृत्युके बाद पुनरुत्पादन है। सृष्टिका पुनः अनुकीर्तन है। इस यज्ञके बाद अवभृथ-स्नान किया जाता है, वह देहकी मृत्यु है। इसके बाद और अधिक स्फूर्तिके साथ नये यज्ञकी तैयारी होती है। इस यज्ञपुरुषरूप विद्याका उपदेश घोर आङ्गिरसने देवकीपुत्र श्रीकृष्णको दी तो उनकी तृष्णा-रूपी प्यास बुझ गयी। वे इस भावमें आजीवन भरे रहे। इस उपदेशसे भरे रहे कि अनिकेतन हो, तुम्हारे लिये कोई घरका घेरा नहीं है। तुम अच्युत हो, तुम्हारा कुछ भी नहीं घटता। तुम अव्यय हो और तुम्हारे प्राण निरन्तर सानपर चढ़कर नये-नये रूपमें ओजस्वी होते रहते हैं। तुम प्राण-संचित हो। यही तुम अनुभव करते रहो। इस सम्बन्धमें दो ऋचाएँ हैं—

प्राचीन बीजका अंकुरण होता रहता है। एक जीवनदीप दूसरे जीवनदीपका प्रदीपक होता है। कुछ भी मूलरूपसे नष्ट नहीं होता। हम अन्धकारके पार जाते रहें। बराबर अपने अङ्ग-ज्योतिका दर्शन करते रहें। अपने आगे प्रकाशात्माको देखते रहें—यही देवताको देखना है। यही स्वयं द्युतिमान् होना है। यही उत्तम-से-उत्तम ज्योतिकी ओर अभिमुख होना है। इसी मार्गसे देवता भी परम प्रकाशके पास पहुँचते रहे हैं और उनसे प्रकाश पाते रहे हैं।

यज्ञके अर्थका विस्तार देते हुए इस छोटेसे आख्यानमें भारतीय जीवनका मूलमन्त्र बड़े ही क्रमबद्ध ढंगसे समझाया गया है—यह अपने-आप स्पष्ट है। जो इस उपदेशको नहीं समझेगा; वह श्रीकृष्णके बालजीवन, कैशोरजीवनकी लीलाओंका रहस्य और उनके उत्तरवर्ती जीवनके निःसंग कर्म-शृंखलाको तथा उनके चुपचाप जराके तीरसे आबद्ध होकर एकान्त 'रूप' में महाप्रयाणके रहस्यको नहीं समझ सकता।

यह आख्यान तो एक इतिहास-पुरुषके स्वरूप

और उनके संदेशको समझनेके लिये बीजके रूपमें है। एक दूसरा आख्यान हम दे रहे हैं, जो मनुष्यके स्वभावकी पहचानसे सम्बद्ध है। वह आख्यान बृहदारण्यकोपनिषद् (५। २। १—३)-में इस प्रकार है—

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्याज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्याज्ञासिष्टेति॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत् त्रयꣳशिक्षेद्दमं दानं दयामिति॥

तात्पर्य यह है कि प्रजापतिके तीन संतान—देवता, मनुष्य और असुर अपने पिता प्रजापतिके आगे ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर तप करने गये। ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करनेके बाद देवताओंने कहा—'अब हमें उपदेश करें'। उनके लिये एक अक्षर पिता बोले—'द' और पूछा—'तुमने समझा'। हाँ, हमने समझा। हमें 'दमन' करना चाहिये (अपने भोगपर नियन्त्रण करना चाहिये)—यही आपने कहा। 'हाँ, तुमने ठीक समझा।' यह पिताने कहा।

इसके बाद मनुष्य व्रत करके गये और बोले—'हमें उपदेश करें'। उनको भी ब्रह्माने एक ही अक्षरका उपदेश दिया—'द' और पूछा—'तुमने समझा'? हाँ, हमने समझा कि आपने कहा 'दान करो'। हाँ, तुमने ठीक समझा।

अब इसके बाद असुर व्रत करके पहुँचे। आप हमें उपदेश करें। उनको भी एक अक्षरका उपदेश दिया—'द'। पूछा—'तुमने क्या समझा?' हाँ, हमने समझा, आपने कहा—'दया करो'। हाँ, तुमने ठीक समझा।

यह उपदेश दैवी वाणीके रूपमें बराबर होता रहता है। जब बादल गरजता है और उसमें 'द-द-द' का स्वर निकलता है। यही ध्वनि निकलती है—'दमन करो', 'दान करो', 'दया करो'। इससे शिक्षा लेनी चाहिये कि ये तीनों आवश्यक हैं। ये तीनों जीवनके मन्त्र हैं। अब इसका व्याख्यान करने बैठे तो मनुष्यके लिये दान ही व्रतका फल है। यह बीजमन्त्र है। इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि दानकी परिभाषा है ममत्वका त्याग करना। अपनेपनका दावा छोड़ना, किसी वस्तुके साथ ममत्व न रखना और रखना तो यह समझ कर कि यह वस्तु जितनी मेरी है, उतनी ही दूसरेकी भी और जितनी ममता मेरी है, उतनी ही दूसरेकी भी। यह दान अपने-परायेको जोड़नेवाला व्यापार है। यही मानवका उसकी दुर्बलताओंसे उद्धार है। दान देकर मनुष्य एकदम बड़ा हो जाता है। दानका कण वह पारसमणि है, जो लोहेको भी सोना बना देती है, पर शर्त यह है कि अपनेपनका नि:शेषभावसे समर्पण होना चाहिये। उसके बिना दान दान नहीं। हमारे यहाँ दानपात्रोंसे पीढ़ी-दर-पीढ़ीको बाँधा गया है। उससे यह पता चलता है कि दानकी नींव हमारी संस्कृतिकी कितनी गहराईमें पड़ी है। जो दान ऋणके रूपमें ब्याजके लिये दिया जाता है—वह दान दान नहीं, दानका उपहास है। मनुष्यके लिये 'दान', असुरोंके लिये 'दया' और देवताओंके लिये 'दमन' क्यों इतना महत्त्वपूर्ण है? इसका कारण है कि मनुष्यके स्वभावमें ममता है। इसलिये दान उस ममताका स्वाभाविक विस्तार होता है, जो मनुष्यके उन्नयनका कारण है। देवताकी योनि भोगयोनि है। उसमें केवल सुखभोग है। यदि उस भोगका स्वभाव इस रूपमें परिवर्तित न किया जाय कि हम दूसरेके भोगकी बात सोचते हुए भोग करें तो वह भोग देवताकी कमजोरी हो जाता है। उसी प्रकार असुरवृत्तिका स्वभाव है दूसरेको दु:ख देकर सुख पाना। अतः उसके लिये यह आवश्यक है कि वह दूसरेके दु:खसे दु:ख भी पाये। उसके लिये वहाँ दयाका उपदेश है। दानवृत्तिका विस्तार ही मानव-संस्कृतिमात्रका विस्तार है, केवल भारतीय संस्कृतिका नहीं।

इन दो उदाहरणोंसे वैदिक आख्यानकी व्याप्तिका कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है और यह भी

संकेत मिल सकता है कि सरल तथा सीधी भाषामें गहरे-से-गहरे सत्यका प्रकाशन जितना हो सकता है, उतना लम्बे-चौड़े व्याख्यानसे नहीं। आज भी लोकजीवनमें जो व्रतकथाएँ प्रचलित हैं, उनका साँचा भी इन्हीं आख्यानों-जैसा सारात्मक और प्रश्नोत्तरके रूपमें मिलता है। वहाँपर अनावश्यक विवरण नहीं है। आख्यानोंकी संरचनामें जो एक ही शब्दकी बार-बार पुनरावृत्ति मिलती है, एक ही वाक्यविन्यासकी बार-बार पुनरावृत्ति मिलती है, उससे उक्तिमें अपने-आप बल पैदा होता है, उक्ति पुष्ट होती है, उसका प्रभाव अनुरणन या बीजके रूपमें होता है।

वैदिक आख्यानोंको किसी गोटीमें बाँधना चाहें तो नहीं बाँध सकते। मोटे रूपमें कह तो सकते हैं कि कुछ आख्यान मनुष्य और देवताके सम्बन्धको समझानेवाले हैं, कुछ आख्यान सृष्टिके क्रमको समझानेवाले हैं, सृष्टिके रहस्यको समझानेवाले हैं, कुछ आख्यान प्रकृतिमें घट रहे विभिन्न परिवर्तनोंके अनुभवको समझानेवाले हैं, कुछ आख्यान देवताओं और असुरोंके प्रतिस्पर्धासे सम्बद्ध हैं, कुछ आख्यान देवताओंके परस्पर तारतम्य-सम्बन्धको और तारतम्यसे अधिक परस्पर अवलम्बनके सम्बन्धको स्थापित करनेवाले हैं और अनेक आख्यान ऐसे भी हैं, जिनमें कई उद्देश्योंका संश्लेष है।

वाक्तत्त्वसे सम्बद्ध आख्यान ऐसे ही संश्लिष्ट आख्यान हैं और सृष्टितत्त्वके भी ख्यापक हैं। मनुष्य और देवताके सम्बन्धके भी ख्यापक हैं। विभिन्न सत्ताओंके परस्पर अवलम्बनके भी ख्यापक हैं। उदाहरणके लिये प्रजापति और वाक्का प्रसिद्ध आख्यान है, जिसमें कहा गया है कि प्रजापतिने वाक्की रचना की और वे वाक्पर मोहित हो गये। यह मोह रुद्रसे सहन नहीं हुआ। उन्होंने ऐसे प्रजापतिका सिर काटना चाहा और बाण लेकर दौड़े। प्रजापतिने मृगका रूप धारण किया। रुद्र व्याध बने और मृगका सिर काट कर रख दिया। वही 'मृगशिरा' नक्षत्र हुआ। ब्रह्माका वह शरीर संध्याके रूपमें रूपान्तरित हुआ। ऊपरसे देखनेपर यह आख्यान एक वर्जित सम्बन्धकी बात करता है और साधारण लोगोंको इससे बड़ा धक्का लगता है; पर यह किसी बड़ी घटनाको समझनेका प्रयासमात्र है। समझानेके लिये ही धक्कामार भाषाका उपयोग किया गया है। रचना या सृष्टि दूसरेके लिये होती है। उसपर आधिपत्य करना रचनाकारके लिये सर्वथा अनुचित है और उतना ही अनुचित है, जितना उपर्युक्त वर्जित सम्बन्ध। अनौचित्यकी तीव्रताको द्योतित करनेके लिये यह बात कही गयी है।

यह बात केवल ब्रह्माकी सृष्टिपर ही लागू नहीं है, प्रत्येक रचनाके लिये लागू होती है। यदि रचनाकारका सिर, उसका अहंकार अलग नहीं हो जाता और रचना अपने कर्तासे विच्छिन्न नहीं हो जाती, वह कोई अर्थ नहीं रखती। रचनाकारका भोक्ताके रूपमें मृत्यु ही रचनाका धर्म है। इस प्रकार यह आख्यान एक सनातन सत्यका ख्यापन है। ऐसे ही सैकड़ों आख्यान वैदिक वाङ्मयमें हैं। उनके गहरे अर्थका अन्वेषण जितना भी करें, उतना कम है; क्योंकि उसमें असीम अर्थकी सम्भावनाएँ हैं। जो लोग उसे तर्ककी कसौटीपर या अवधारणाओंकी नूतन कसौटीपर कसते हैं, वे इन आख्यानोंके भीतर निहित अत्यन्त सघन आध्यात्मिक उत्साहको नहीं पकड़ पाते। वस्तुतः ये आख्यान अपर्याप्त भाषाको पर्याप्त करनेवाले हैं। इनमें केवल सामाजिक, ऐतिहासिक और भौतिक अर्थ ढूँढ़ना इनके समग्र सौन्दर्यको खण्डित करना है। वेदाख्यानको समझनेके लिये—'ये किस व्यापारसे सम्बद्ध हैं, किन-किन ब्राह्मणों तथा आख्यानोंमें आये हैं'—इस सम्बन्धसे कटकर समझनेका प्रयत्न ठीक प्रयत्न नहीं कहा जायगा। उसी प्रकार जिस प्रकार विवाहके अवसरपर मधुबनीमें जो राम-सीताके विवाहकी विविध छवियाँ भीतपर अंकित होती हैं। उन छवियोंको यदि उत्सवके क्षणसे काटकर देखेंगे और उत्सव-देशसे काट कर देखेंगे तो हम उसकी सजीवता नष्ट कर देंगे। निष्कर्षरूपसे हम यह कह सकते हैं कि वेदाख्यान उक्तिमात्र नहीं हैं, कथामात्र नहीं हैं, अपितु ये आख्यान एक बड़े व्यापारके अविभाज्य अङ्ग हैं।

वेदोंमें शिक्षाप्रद आख्यान

[वेदोंमें यत्र-तत्र कुछ आख्यान प्राप्त होते हैं, जो भारतकी सांस्कृतिक धरोहरके रूपमें हमारी अमूल्य निधि हैं। इनमें मानव-जीवनको ऊँचा उठानेवाली अनेक सारगर्भित सरल तथा विचित्र कथाएँ भरी पड़ी हैं। वैदिक मन्त्रों, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदोंमें हमारे ऋषियोंने ऋचाओं, सूत्रों, सूक्तियों तथा कथाओंके माध्यमसे ऐसे मानदण्ड निर्धारित किये, जिनका आधार प्राप्त कर भारतीय संस्कृति विकसित हुई।

वेदों, शास्त्रों एवं उपनिषदोंकी ये कथाएँ केवल कथाएँ ही नहीं हैं जो मनोरञ्जन करती हों, इनमें एक ऐसी दृष्टि है जो हमें जीवन-दर्शनका ज्ञान कराती है, भले-बुरेका विवेक देती है। जीवनकी अनेक ऊहापोहकी विकट परिस्थितियोंमें जब हम किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं, हमारी विवेकशक्ति भ्रमित हो जाती है, तब ये कथाएँ हमारा मार्गदर्शन करती हैं, सही निर्णय लेनेकी शक्ति प्रदान करती हैं, साथ ही सत्कार्य करने तथा सन्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देती हैं।

इन कथाओंमें देवों, दानवों, ऋषियों, मुनियों तथा राजाओंकी ही नहीं, प्रत्युत समस्त जड़-चेतन, पशु-पक्षी, नदी-पर्वत तथा समुद्र आदिसे सम्बन्धित कथाएँ हैं, जो हमें कर्तव्याकर्तव्यका बोध कराती हुई सुखद जीवन जीनेकी प्रेरणा प्रदान करती हैं। अतः वेदोंके कुछ शिक्षाप्रद आख्यान पाठकोंके लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं।—सम्पादक]

वेद-कथामृत-कुञ्ज

(डॉ० श्रीहृदयरंजनजी शर्मा)

अपौरुषेयरूप वेदोंमें ऋग्वेदकी महत्ता, प्रामाणिकता तथा प्रधानताको विशेषरूपसे मान्यता प्रदान की गयी है। ईश्वरके निःश्वाससे प्रकाशित चारों वेदोंके क्रममें भी ऋग्वेदकी प्रथम आविर्भावरूप श्रुति प्राप्त होती है। यथा—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(ऋक्० १०।९०।९)

अर्थात् (साध्यदेवोंने सृष्टिके आरम्भमें जो मानसिक दिव्य यज्ञ सम्पन्न किया) उस सर्वहोमरूप यज्ञसे ऋचाएँ एवं सोम उत्पन्न हुए। उस यज्ञसे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए तथा उससे यजुर्मन्त्र उत्पन्न हुए।

वैदिक वाङ्मयके ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् आदि ग्रन्थोंमें किसी बातकी महत्ता एवं प्रामाणिकताकी पुष्टिके लिये '**तदेतद् ऋ चाभ्युक्तम्**' अर्थात् 'यह बात ऋक्-मन्त्रके द्वारा निरूपित होनेके कारण मान्य है' ऐसा विशेषरूपसे कहा गया है। सायणाचार्य आदि प्रामाणिक आचार्योंने भी ऋग्वेदके प्राथम्यको सर्वत्र स्वीकार किया है। केवल श्रौत आदि यज्ञोंके प्रयोग (अनुष्ठान)-कालमें पूर्वापर-व्यवस्थाके निर्धारण-हेतु यजुर्वेदका प्राथम्य निदर्शित हुआ है।

इस प्रकारके सर्वातिशायी ऋग्वेदमें अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाप्रद आख्यान एवं कथा-प्रसंगोंका वर्णन प्राप्त होता है। इन आख्यान-प्रसंगोंके माध्यमसे ईश्वरकी बात '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः**' अर्थात् अप्रतिहत दिव्य-शक्तिका तथा वेदोक्त धर्म-रूप कर्मकी महत्ताका तात्पर्यरूप प्रतिपादन अधिगत होता है, इस कथामृतरूप सरोवरके कतिपय पुष्पराग यहाँ निम्नलिखितरूपसे अभिव्यञ्जित हुए हैं—

१-नाभानेदिष्ठ-आख्यान

संदर्भ—

यह आख्यान ऋग्वेद-संहिताके दशम मण्डलके अन्तर्गत ६१ वें एवं ६२वें—इन दो सूक्तोंमें वर्णित हुआ है। इसके माध्यमसे यह बतलानेका प्रयास हुआ है कि इस सृष्टिमें चेतन-अचेतनरूप जितने भी पदार्थ हैं, उनके स्वामित्व एवं उपभोगका सम्बन्ध तथा कार्य-क्षेत्रका विस्तार केवल मनुष्यतक ही सीमित नहीं है, अपितु सूक्ष्मरूपसे तत्तद् देवता भी उसके स्वामी एवं अधिकारी हैं। अतः उनकी आज्ञा लेकर ही इन पदार्थोंका ग्रहण एवं उपभोग करनेपर हानिरहित परिपूर्णताकी प्राप्ति होती है।

आख्यान—

नाभानेदिष्ठ मनुके पुत्र थे। वे ब्रह्मचर्य-आश्रमके अन्तर्गत विधीयमान संस्कारोंसे युक्त होकर अपने गुरुके

समीप वेदाध्ययनमें रत रहते। जब पिताकी सम्पत्तिके बँटवारेका समय आया तो नाभानेदिष्ठके अन्य भाइयोंने आपसमें सारी सम्पत्तिका भाग बाँट लिया और उन्हें कुछ भी नहीं दिया। जब उन्हें इस बातका पता लगा तो उन्होंने अपने पिता मनुके पास जाकर पूछा कि क्या आपने मेरे लिये अपनी सम्पत्तिका कोई भी भाग स्वीकृत नहीं किया है? उसके उत्तरमें मनुने उनसे कहा कि यदि पैतृक सम्पत्तिमेंसे तुम्हें भाग नहीं मिला तो कोई बात नहीं, तुम उससे बड़ी एवं उत्कृष्ट सम्पत्तिको पानेके अधिकारी हो। इस उत्तम सम्पत्तिको प्राप्त करनेका उपाय बतलाते हुए उन्होंने उनसे कहा कि आङ्गिरस ऋषिगण स्वर्गफलकी कामनासे सत्रयाग (बारह दिनसे अधिक चलनेवाला सोम-याग)-का संकल्प लेकर आरम्भके छः दिनका अनुष्ठान पूरा कर चुके हैं। इसके आगे अविशिष्ट दिनोंके विधि-सम्मत अनुष्ठानको सम्पन्न करनेमें वे दिग्भ्रमित एवं मोहित हो रहे हैं। तुम उन ऋषिगणोंके पास जाओ और उनके सत्र-यागको पूर्ण करनेमें सहायक बनो—'**इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा ब्रह्म क्रत्वा शच्यामन्तराजौ। क्राणा यदस्य पितरा मंहनेष्ठाः पर्षत् पक्थे अहन्ना सप्त होतॄन्**'—इस मन्त्रसे प्रारम्भ कर अड़तीस मन्त्रयुक्त दो सूक्तों (ऋक्० १०। ६१-६२)-का पाठ वहाँ शस्त्ररूपमें करो। (श्रौत यागोंमें होता नामक ऋत्विक्‌द्वारा यज्ञसे सम्बन्धित देवताओंकी दिव्य स्तुतिरूप शंसना (प्रशंसा)-को 'शस्त्र' के नामसे अभिहित किया जाता है।) श्रीमनुने आगे कहा कि इस शस्त्र-पाठके बदलेमें वे ऋषिगण तुम्हें एक हजार गायोंसे युक्त उत्तम सम्पत्तिको प्रदान करेंगे।

अपने पिताकी प्रेरणासे उत्साहित नाभानेदिष्ठ आङ्गिरसोंके पास गये और उनकी यथाविधि सहायता की। वे आङ्गिरस इन (ऋक्० १०। ६१-६२) दो सूक्तोंके दिव्य सामर्थ्यसे यज्ञकी पूर्णताको प्राप्त किये और स्वर्ग जानेकी सफलतासे युक्त होकर उन्हें सहस्र गोरूप-सम्पत्ति प्रदान की।

इस सम्पत्तिको लेनेके लिये नाभानेदिष्ठ जब तत्पर हुए तो उसी समय एक कृष्णवर्णका अत्यन्त बलशाली पुरुष यज्ञस्थलके उत्तर तरफसे उत्पन्न हुआ और उनसे बोला कि 'यज्ञके समस्त अवशिष्ट भागका अधिकारी मैं हूँ। अतः इन गायोंको तुम स्वीकार न करो।' इसपर नाभानेदिष्ठने यह कहा कि 'आङ्गिरसोंने ये गायें मुझे प्रदान की हैं।' यह सुनकर उस कृष्ण-पुरुषने नाभानेदिष्ठसे कहा कि 'हे ब्रह्मवेत्ता! तुम अपने पिता श्रीमनुसे ही इसका समाधान पूछो कि यह भाग किसे मिलना चाहिये?'

इस समस्याके समाधान-हेतु नाभानेदिष्ठ अपने पिताके पास आये और उनसे न्याय-सम्मत निर्णय देनेका निवेदन किया। इसके उत्तरमें श्रीमनुने कहा कि न्यायतः यज्ञके शेष-भागपर उस कृष्ण-पुरुष (रुद्र)-का ही अधिकार बनता है। इस न्याययुक्त समाधानको नाभानेदिष्ठने सहजरूपसे स्वीकार किया और पुनः यज्ञस्थलपर जाकर उस कृष्ण-पुरुषसे निवेदन किया कि इस यज्ञभागपर आपका ही अधिकार बनता है। उनके इस सहज-भाग एवं सत्यनिष्ठाको देखकर कृष्ण-पुरुष-रूप रुद्रदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने वह समस्त गो-सम्पत्ति उन्हें आशीर्वादके साथ प्रदान कर दी।

(यहाँ यह विशेषरूपसे ध्यातव्य है कि कृष्ण-वर्णके रूपमें उपस्थित रुद्रदेव ही वस्तुतः वास्तु-देवता (वास्तुपुरुष) हैं। ये वास्तु-विज्ञानके मूल आधार हैं। विद्वान् पाठकोंकी जिज्ञासा-शान्ति-हेतु इनके मौलिक-स्वरूप एवं शान्ति-प्रक्रियाके संकेतको द्वितीय कथामृतके रूपमें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—)

२-वास्तुपुरुष-आख्यान

संदर्भ—

वेदोंमें वास्तुपुरुषके सम्बन्धमें अनेक स्थलोंपर सारगर्भित विवेचन उपलब्ध होता है। इसके अनुसार वे इस पृथिवीके समस्त-भू-भागके अभिमानी (अधिकारी) देवता हैं। वे अत्यन्त शक्तिशाली एवं तेजस्वी देव हैं। प्राकृतिक एवं मानवीय समस्त रचनाओंमें उनका उग्र तेज प्रभावी रहता है। उनके इस उग्र तेजको शान्त करके जब किसी वस्तुका उपयोग तथा उपभोग किया जाता है तो वह सबके लिये लाभकारी एवं कल्याणकारी सिद्ध होता है। इस प्रक्रियाके अभावमें किसी वस्तुका उपयोग छोटेसे बड़े स्तरतककी हानिका कारण बन सकता है। भवन-निर्माण, उसमें रहने तथा उसके लाभकारी होनेके संदर्भमें इसका विचार इसलिये और आवश्यक हो जाता है, क्योंकि मनुष्यके प्रकाशित एवं अप्रकाशित (ज्ञात-अज्ञात) समस्त जीवनवृत्तों (प्रतिदिनके क्रिया-कलापों)-का यह भवन साक्षी तथा आश्रय-स्थल बनता है। किसी भी भवनका अन्तः एवं बाह्य रूप, आकार एवं प्रकार व्यक्तित्वके विकास तथा

सुख-समृद्धि-हेतु अत्यन्त प्रभावकारी माना गया है। वेदोंमें इस रहस्यमय कड़ीको सुलझाने एवं अनुकूल बनानेकी महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रक्रिया आज भी सुरक्षित है।

आख्यान—

सृष्टि-प्रक्रियाके सतत क्रममें परमेश्वर अपने लीला-जगत्‌के विस्तारको सस्नेह दिशा प्रदान करते हैं। इसमें सर्वप्रथम आधिदैविक सत्ता-क्रममें पृथिवीके भू-भागपर उषःकालकी लालिमामय पवित्र-आस्थाकी उत्तम वेलामें भूमिके अधिपति वास्तोष्पति (वास्तुपुरुष)-का आविर्भाव होता है।

उपर्युक्त ईश्वरीय संदेशको ऋग्वेदकी यह ऋचा निर्दिशित कर रही है—

पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥

(ऋक्० १०। ६१। ७)

वस्तुतः ईश्वरकी सृष्टि-प्रक्रियाका दिव्य स्वरूप ही यज्ञ-प्रक्रिया है। इस संसारमें स्थूलरूपसे जो भी सृष्टि-क्रम घटित होता है, वह आधिदैविक स्तरपर पहले ही पूर्णतया संकल्पित तथा घटित हो जाता है। जैसे कोई मूर्तिकार या कोई अन्य कलाकार अपनी स्थूल रचनाको, मानसिक स्तरपर सूक्ष्मरूपसे बहुत पहले ही एक आकार प्रदान करनेमें समर्थ होता है, वैसे ही आधिभौतिक सत्तासे पहले आधिदैविक सत्तापर प्रत्येक सृष्टिक्रम घटित होता है। अतः वास्तुपुरुषकी सत्ता एवं प्रतिष्ठाकी प्रक्रियाका शुभारम्भ यहींसे (आधिदैविक स्तरसे) ही शुरू हो जाता है। यथा—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

(ऋक्० १०। ९०। १६)

अर्थात् देवताओंने आधिदैविक स्तपर मानसिक संकल्पके द्वारा सृष्टि-प्रक्रियाके सूक्ष्म स्वरूपको सम्पन्न किया। इस मानसिक यज्ञ-प्रक्रियाको सम्पन्न करनेके लिये जो उपाय 'इतिकर्तव्यता' (दोषरहित क्रियात्मक तकनीक या तरीका)-के साथ अपनाये गये, वही स्थूल सृष्टि-प्रक्रियाके मुख्य धर्म (आचरण-योग्य कर्तव्य) स्वीकृत हुए। इस दोषरहित प्रक्रियाका अन्वेषण तथा निर्धारण करके महान् देवगण द्यावापृथिवी (द्युलोक-सूर्य तथा पृथिवी)-की सीमाके ऊर्ध्वभागमें स्थित अमृतमय नाक (स्वर्गलोक)-को प्राप्त हुए। स्वर्गलोकका एक नाम 'नाक' भी है, क्योंकि '**नास्ति अकं दुःखं यत्र**' अर्थात् जहाँ किसी प्रकारका दुःख न हो वह नाक—स्वर्ग है। इस अमृतमय दिव्य स्थानमें सूर्य, चन्द्र, इन्द्र आदि अनेक कल्पोंके साध्यदेव महात्मा सदा निवास करते हैं।

उपर्युक्त आधिदैविक यज्ञ-प्रक्रियाके दोषरहित अन्वेषण एवं निर्धारणका तात्पर्य यज्ञादि कार्योंमें उस 'वास्तुपुरुष'की सत्ताको पहचानना तथा उसकी उग्रताको शान्त करनेकी वैज्ञानिक प्रक्रियाको संनिहित करना है। इस मूल कड़ीका समाधान निम्नलिखित आख्यान-चर्चा (शतपथ ब्राह्मण १। ६। १। १—२०)-के माध्यमसे और अधिक स्पष्ट होता है। यथा—

आधिदैविक यज्ञ-प्रक्रियाके माध्यमसे देवगण अपने अभीष्ट स्वर्गलोकको प्राप्त किये और पशुओं (सांसारिक-बन्धनोंसे आबद्ध जीवों)-का अधिपति देवता यहीं रह गया अर्थात् यज्ञरूपी वास्तु (भूमि)-पर वास करनेके कारण वह रुद्ररूप देव द्युलोकके स्वर्ग-फलसे वञ्चित रह गया। इस प्रकार वास्तु अर्थात् भूमिपर रहनेके कारण वह 'वास्तव्य' कहलाया। इसके बाद जिस यज्ञ-प्रक्रियाके माध्यमसे देवगण स्वर्ग-फलको प्राप्त किये, उसी यज्ञ-प्रक्रियाको उन्होंने पुनः सम्पन्न किया; परंतु अत्यन्त परिश्रम करनेपर भी वे इस बार यज्ञ-फलको प्राप्त नहीं कर सके, क्योंकि वास्तु (भूमि)-के अधिपति देवने जब यह देखा कि देवगण उसे छोड़कर यज्ञ कर रहे हैं तो उसने यज्ञ-भूमि (वेदि)-के उत्तर भागसे सहसा उत्क्रमण (बाहर निकल) कर उस यज्ञ-प्रक्रियासे स्वयंको अलग कर लिया। यज्ञ-प्रक्रियाके अन्तर्गत 'स्विष्टकृत्' आहुति प्रदान करनेका यह महत्त्वपूर्ण समय था। 'स्विष्टकृत्' आहुतिका मतलब है, वह आहुति जिसको देनेसे यज्ञमें दी गयी समस्त आहुतियाँ अच्छी प्रकारसे इस याग-प्रक्रियाद्वारा देवताओंके भक्षणयोग्य बन जाती हैं, अर्थात् रुद्रदेवद्वारा स्वीकृत होती हैं। यज्ञमें 'स्विष्टकृत्' आहुतिका विधान जबतक दोषरहित रूपसे सम्पन्न नहीं होता, तबतक यज्ञमें दी गयी समस्त आहुतियाँ देवताओंको प्राप्त नहीं होतीं और जबतक देवताओंको आहुतियाँ प्राप्त नहीं होतीं, तबतक यज्ञ अपूर्ण तथा फलरहित ही रहता है।

देवताओंने यज्ञकी इस बाधाके विषयमें जब सूक्ष्मतासे विचार किया तो उन्होंने देखा कि 'स्विष्टकृत्' आहुतिका अधिपति 'अग्निदेव' अपने यज्ञ-स्थानपर उपस्थित नहीं है। यह 'स्विष्टकृत्' विशेषणसे युक्त अग्निदेव सामान्यतया वर्णित वैदिक 'अग्नि' देवतासे सर्वथा भिन्न है और यहाँ वास्तुदेवताके विशेष स्वरूपको प्रकाशित करता है। इसे भव, शर्व, पशुपति तथा रुद्र आदि नामोंसे भी जाना जाता है, परंतु इसका (वास्तुपुरुषका) अग्निमय स्वरूप शान्ततम माना गया है। अतः देवगणोंने इस 'स्विष्टकृत्' आहुतिके अभिमानी वास्तुदेवसे प्रार्थना की कि वह उनके यज्ञसे अलग न हो। इसपर वास्तुदेवने कहा कि यज्ञकी पूर्णता एवं फलप्रदान-सामर्थ्य-हेतु देवताओंको दी जानेवाली प्रत्येक आहुतिमें वास्तुदेवके अंशकी स्वीकृतिका विधान आवश्यकरूपसे किया जाय तथा सभी आहुतियोंके अन्तमें एवं पूर्णाहुतिके पूर्व 'स्विष्टकृत्' आहुति भी दी जाय, तभी यज्ञकी सफलता निश्चित होगी। आप सभी देवगण वास्तुदेवताके लिये अनिवार्यरूपसे देय इस अंशकी स्वीकृतिके बिना ही उपर्युक्त यज्ञ कर रहे हैं, जिससे यज्ञ सफल नहीं हो पा रहा है। देवगणोंने भी यज्ञ-प्रक्रियाके इस सूक्ष्म किंतु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंशके दोषको पहचान कर इसे दूर किया तथा वास्तुदेवताके अस्तित्वको स्वीकार कर प्रत्येक आहुतिके साथ उनकी सहभागिता सम्पन्न की और अपने उद्देश्यमें सफल हुए।

लोकमें व्यवहृत वास्तु-विज्ञानके संदर्भमें वैदिक यज्ञ-प्रक्रियाके इस सूक्ष्म स्वरूपको कुछ युगानुरूप परिवर्तनके साथ निरूपित किया जाता है। इसके अन्तर्गत भवन-निर्माणकी अन्तः एवं बाह्य संरचनाको कुछ इस प्रकारसे दिशा प्रदान की जाती है, जिससे वास्तुपुरुषका वह रुद्ररूप—उग्र तेज परिवर्तित होकर 'अग्नि' रूप शान्ततम भावके साथ सदा सुख-शान्ति तथा समृद्धिकी प्रतिष्ठा प्रदान करता रहे। एतावता वास्तु-विज्ञानका मूल उद्देश्य अग्निरूप वास्तुपुरुषकी यज्ञ, गृह आदि स्थानोंपर अन्तः-बाह्यरूप प्रतिष्ठा ही है।

३-ऋषिभाव-प्राप्ति-आख्यान

संदर्भ—

वेदोंमें ऋषिभावको सर्वोत्तम भावके रूपमें निदर्शित किया गया है। कहा भी गया है—'**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**' अर्थात् ऋषि वे हैं जो वैदिक मन्त्रवाक्योंका साक्षात् दर्शन करते हैं। निरुक्त-शास्त्रमें भी ऋषि शब्दका निर्वचन करते हुए कहा गया है—'**ऋषिर्दर्शनात्**' अर्थात् ऋषि वह है जो अतीत, अनागत तथा वर्तमानकालको एक ही समयमें समग्ररूपसे देख सके। इस स्थितिको 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' के रूपमें भी निरूपित किया जाता है। 'ऋत' का अर्थ है सार्वकालिक सत्य और इस सार्वकालिक सत्यसे परिपूरित प्रज्ञा-विशिष्ट ज्ञान-शक्ति जब समग्रभावसे जगत्को देखने तथा समझनेमें समर्थ हो जाती है तो वह ऋषिभावकी प्रतिष्ठाके साथ व्यवहृत होती है। वेदोंमें यह ऋषिभाव सबसे बड़े सम्मानके रूपमें समादृत हुआ है। इसे निम्नलिखित कथा (ऋक्० ५। ६१। १—१९)-के माध्यमसे देखा जा सकता है—

आख्यान—

किसी समय अत्रिवंशज दार्भ्य ऋषि अपने पुत्रके साथ रथवीति नामक राजाके यहाँ यज्ञ सम्पन्न कराने गये। यज्ञानुष्ठानके क्रममें उन्होंने राजाकी सुशील एवं गुणवती पुत्रीको देखा। उसे देखकर ऋषिने विचार किया कि यह उनकी पुत्रवधू होने योग्य है। अतः यज्ञ समाप्त होनेपर उन्होंने राजासे अपने मनकी इच्छा व्यक्त की। राजाने उनके इस प्रस्तावपर अपनी पत्नीके साथ विचार-विमर्श किया। इसपर राजाकी पत्नीने निवेदन किया कि अबतक हमारे वंशकी कन्याएँ 'ऋषिभाव'-प्राप्त महापुरुषोंको ही प्रदान की गयी हैं। अतः यह ऋषिपुत्र उस परम भावको यदि प्राप्त कर ले तो उन्हें इसमें आपत्ति न होगी। इस युक्तियुक्त समाधानको सुनकर ऋषिपुत्र श्यावाश्व दृढ़ संकल्पके साथ घोर तपस्या तथा सत्यनिष्ठ आचरण सम्पन्न करनेमें मन, वाणी तथा कर्मकी समरसताके साथ प्रवृत्त हुए। उनके इस परम भावसे प्रसन्न होकर यथासमय मरुद्गणोंने उन्हें 'ऋषिभाव'-प्राप्तिका आशीर्वाद प्रदान किया। ऋषिभावके प्रभावसे श्यावाश्वका मुखमण्डल शोभायमान हो उठा। वे अपने पिताके पास वापस आये, इसके पहले ही उनकी यशःकीर्ति सर्वत्र पहुँच चुकी थी। राजा रथवीतिने भी सपरिवार 'ऋषि'-सम्बोधनके साथ उनका सम्मान किया और उन्हें गृहस्थ-धर्ममें प्रवेश-हेतु सविधि अपनी सुयोग्य कन्या प्रदान की। ऋषि श्यावाश्व भी कालक्रमकी मर्यादाके साथ अन्ततः परम पुरुषार्थको प्राप्त हुए।

'ऐतरेय ब्राह्मण' की कथा

[बचपनसे नाम-जप]

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

हारीत ऋषिके वंशमें एक ऋषि हुए। स्कन्दपुराणने उनका नाम माण्डूकि दिया है। उनकी पत्नीका नाम इतरा था। इतरामें वे सभी सद्गुण विद्यमान थे जो एक साध्वीमें हुआ करते हैं[1]। हारीत ऋषि भक्तिके महान् आचार्य थे। उनकी वंशपरम्परामें होनेके कारण दम्पतिमें सहज ही भक्तिकी भावना लहराती रहती थी। पति एवं पत्नी दोनों अनुकूल और पावन जीवन बिता रहे थे। उनके जीवनमें एक ही कमी थी, वह कमी थी संतानका न होना। साध्वी इतरासे कोई संतान नहीं हो रही थी। इसलिये ऋषिने घोर तपका आश्रय लिया। फलस्वरूप उनके घरमें एक पुत्रका जन्म हुआ। जिसे माँके नामपर सब लोग 'ऐतरेय' कहकर पुकारते थे। महान् वंशमें महान् तपके प्रभावसे जिस शिशुने जन्म लिया, वह भी महान् ही था। ऐतरेय ब्राह्मणका आगे चलकर यही द्रष्टा हुआ। इसके अतिरिक्त बिना पढ़े ही ऐतरेयमें सारे वेद प्रतिभासित हो गये। *'होनहार बिरवानके होत चीकने पात'*—इस कहावतके अनुसार ऐतरेयमें बचपनसे ही चमत्कारपूर्ण घटनाएँ घटने लगीं। जब बोलेनका समय आया तो उसके मुखसे पहला शब्द निकला—'वासुदेव[2]'। उच्चारण बिलकुल स्पष्ट था और मिठाससे भरा था। लोगोंके लिये यह विस्मयकी बात थी। लोगोंमें यह विस्मय तब ज्यादा बढ़ गया, जब आठ वर्षोंतक यह बालक निरन्तर 'वासुदेव-वासुदेव' जपता चला गया। आँखें बंद करके भगवान्‌को देखता, मुखपर भगवत्प्रेमकी चमक होती और मुखसे 'वासुदेव-वासुदेव'—इस नामका कीर्तन होता रहता। आठ वर्षतक 'वासुदेव' शब्दको छोड़कर और किसी शब्दका उसने उच्चारण नहीं किया।

ऐतरेयकी इस स्थितिने लोगोंमें तो कुतूहल भर दिया और माता-पिताके हृदयमें आनन्द। माता-पिता सोचते रहे कि हमारे कुलमें एक महाभागवतने जन्म लिया है, जो अनेक पीढ़ियोंको तार देगा; किंतु पीछे चलकर यह कीर्तन पिताके लिये चिन्ताका विषय बन गया। आठवें वर्षमें पिताने पुत्रका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया और उसे वेद पढ़ाना चाहा, परंतु वह बालक 'वासुदेव'को छोड़कर न कुछ सुनता था और न बोलता ही था। वेदका पढ़ना तो दूर रहा। पिता पढ़ाते-पढ़ाते थक गये। उनके सारे उपाय व्यर्थ सिद्ध हुए। अन्तमें वे इस निश्चयपर पहुँचे कि ऐतरेय जड़ है। इसके बाद वे अपने पुत्रसे बहुत निराश हुए।

विवश होकर उन्होंने दूसरा विवाह किया। इस स्त्रीसे उन्हें संतानोंकी प्राप्ति हुई। ये सभी संतान वेदके पारंगत विद्वान् हुए और कर्मकाण्डमें बहुत ही कुशल। ऋषिकी इन संतानोंकी सर्वत्र पूजा होने लगी। साथ-साथ इनके पिता भी उन लड़कोंको और उनकी माँको भरपूर प्यार और सम्मान देते। धीरे-धीरे ऐतरेय और उसकी माँ—ये दोनों घरमें ही उपेक्षित होते चले गये।

पतिकी उपेक्षाने इतराका जीना दूभर कर दिया। एक दिन भारी हृदय लेकर वह मन्दिरमें जा पहुँची। उसका पुत्र ऐतरेय सारा समय मन्दिरमें ही व्यतीत करता था। उसका एक ही काम था 'वासुदेव-वासुदेव' रटना। उसने पुत्रकी तल्लीनता भंग करते हुए कहा कि 'तुम्हारे चलते हम उपेक्षित हैं और तुम तो उपेक्षित हो ही। अब बताओ हमारे जीनेका क्या प्रयोजन है?'

पुत्रने समझाया कि 'माँ! अब तुम संसारमें आसक्त होती जा रही हो। संसार तो निःसार है, सार केवल भगवान्‌का नाम है। मान और अपमान—ये दोनों ही माया हैं, फिर भी मैं तुम्हारी अभिलाषाको पूर्ण करूँगा। तुम दुःखी न होओ। मैं तुम्हें उस पदपर पहुँचाऊँगा, जहाँ सैकड़ों यज्ञ करके

[1] तस्यासीदितरा नाम भार्या साध्वी गुणैर्युता (स्क० पु० माहे० ख० ४२।३०)।

[2] वासुदेवेति नियतमैतरेयो वदत्यसौ (लिङ्गपु० २।७।१९)।

भी नहीं पहुँचा जा सकता' (स्क० पु० मा० कुमा०)।

बच्चेका विवेकपूर्ण आश्वासन पाकर माँको बहुत संतोष हुआ। इस बीच भगवान् विष्णु अर्चा-विग्रहसे साक्षात् प्रकट हो गये। भगवान्के दर्शन पाकर माता विह्वल हो गयी और अपना जन्म लेना सफल समझने लगी। उस दर्शनका ऐतरेयपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वह रोमाञ्चित हो गया। आनन्दसे उसकी आँखोंमें आँसू छलक आये। उसने गद्गद-स्वरसे भगवान्की वह स्तुति की, जो इतिहासमें प्रसिद्ध है।

भगवान्ने ऐतरेयको अपने आशीर्वादसे प्रफुल्लित कर दिया। अन्तमें उसकी माताकी इच्छाकी पूर्ति भी करनी चाहिये, यह सोचकर भगवान्ने ऐतरेयको आदेश दिया कि 'तुम अब सभी वैदिक धर्मोंका आचरण करो। सभी काम निष्कामभावसे करो और मुझे समर्पित करते जाओ। माताकी इच्छाकी पूर्तिमें बाधक न बनो। विवाह करो। यज्ञोंद्वारा भगवान्की आराधना करो और माताकी प्रसन्नताको बढ़ाओ। यद्यपि तुमने वेदोंका अध्ययन नहीं किया है, फिर भी सम्पूर्ण वेद तुम्हें प्रतिभासित हो जायँगे। अब तुम कोटितीर्थमें जाओ। वहाँ हरिमेधाका यज्ञ हो रहा है। वहाँ जानेपर तुम्हारी माताकी सम्पूर्ण इच्छाएँ पूरी हो जायँगी।'

भगवान्के दर्शन और अपने ऊपर उनका स्नेह देखकर इतराका हृदय गद्गद हो गया। जिस पुत्रको वह जड़ मानती थी, उसका महान् प्रभाव देखकर वात्सल्यकी जगह उसमें श्रद्धाका भाव भर गया।

भगवान्के आदेशके अनुसार माता और पुत्र हरिमेधाके यज्ञमें पहुँचे। वहाँ ऐतरेय बोले—

नमस्तस्मै भगवते विष्णवेऽकुण्ठमेधसे।
यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मसागरे॥

इस श्लोकके गम्भीर आशयसे हरिमेधा आदि सारे विद्वान् चमत्कृत हो गये। सभीने ऐतरेयको ऊँचे आसनपर बैठाकर उनकी विधिवत् पूजा की। ऐतरेयने वेदके उस भागको भी निर्भ्रान्त सुनाया, जो वहाँके विद्वानोंको उपस्थित (ज्ञात) थे और वेदके उस भागको भी सुनाया, जो अभी पृथ्वीपर उपलब्ध नहीं थे। हरिमेधाने ऐतरेयसे अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया। सारे विद्वानोंने ऐतरेयकी माताको ऐतरेयसे बढ़कर सम्मानित किया (स्क० पु० मा० कुमा०)।

सायणने अपनी भूमिकामें किसी अन्य कल्पकी रोचक घटना दी है। जब पिताने यज्ञ-सभाके बीचमें ऐतरेयका घोर अपमान किया और उसको झटककर पिङ्गाके पुत्रोंको अपनी गोदमें बैठाया तो माताका हृदय इसको सह न सका। माता तो भगवान्को पृथ्वीमाताके रूपमें भजती ही थी। उसने अपनी उसी कुल-देवताका स्मरण किया। पृथ्वीदेवी दिव्यमूर्ति धारण कर उस सभामें आ गयीं। उन्होंने वहाँ एक ऐसा सिंहासन रखवाया, जिसे किसीने कभी देखा न था। उसी दिव्य आसनपर पृथ्वीमाताने ऐतरेयको बैठाया और सबके सामने घोषित किया कि ऐतरेयके पाण्डित्यके समान किसीका पाण्डित्य नहीं है। इसको मैं वरदान देती हूँ कि यह 'ऐतरेय ब्राह्मण' का द्रष्टा हो जाय। वरदान देते ही ऐतरेयको ४० अध्यायोंवाला ब्राह्मण प्रतिभासित हो गया। तभीसे इस ब्राह्मण-भागका नाम 'ऐतरेय ब्राह्मण' पड़ा है।*

---

* तदानीं खिन्नवदनं महिदासमवगत्य इतराख्या तन्माता स्वकीयकुलदेवतां भूमिमनुसस्मार। सा च भूमिर्देवता दिव्यमूर्तिधरा सती यज्ञसभायां समागत्य महिदासाय दिव्यं सिंहासनं दत्त्वा तत्र एनमुपवेश्य सर्वेष्वपि कुमारेषु पाण्डित्याधिक्यमवगम्य एतद् (ऐतरेय) ब्राह्मण प्रतिभासमानरूपं वरं ददौ। तदनुग्रहात् तस्य मनसा चत्वारिंशदध्यायोपेतं ब्राह्मणं प्रादुरभूत्।

धर्ममें विलम्ब अनुचित

इन्द्रने अगस्त्य ऋषिके साथ संवादमें धर्मका गूढ रहस्य बताते हुए कहा है कि किसी भी धार्मिक कार्यको करनेमें कभी विलम्ब न करे। कारण, चित्त बड़ा चंचल होता है। अभी धर्म करनेका निश्चय करनेवाला चित्त दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है—

विलम्बं नाचरेद् धर्मे चलं चित्तं विनश्यति।
इन्द्रेणागस्त्यसंवाद एष धर्म उदाहृतः॥

अपने यहाँ '**शुभस्य शीघ्रम्**' जो कहा जाता है, यह उपदेश उसीकी छाया है। यहाँ तो चित्तकी चंचलताको लक्ष्य कर वैदिक कथा (ऋक्० १। १६९। १, १। १७०। १) भी इसी बातको पुष्ट करती है, पर अन्यत्र मृत्युको भी लक्ष्य कर ऐसा उपदेश है। कहा गया है कि कलका काम आज करो और अपराह्णका काम पूर्वाह्णमें। मृत्यु आपकी कभी प्रतीक्षा नहीं करेगी कि आपने यह काम पूरा किया है या नहीं। मरणधर्मा मानवके लिये यह कहना उचित नहीं कि 'आज यह कर लें, कल उसे करेंगे'। माना कि यह काम कल हो जायगा, पर उसके करनेवाले आप ही रहेंगे या नहीं, यह कैसे कह सकते हैं? अवश्य ही जिसने मृत्युके साथ मित्रता जोड़ ली है या जो अमृत पिये हुए हैं, वे यदि कहें कि 'यह काम तो कल किया जायगा' तो उचित भी होगा। ध्यान रहे कि कर्तव्य-कर्मका आदान या प्रदान शीघ्र नहीं किया जाता तो मृत्यु उसका सारा रस पी जाती है, चूस लेती है और वह कर्म सीठी-सा निरुपयोगी बन जाता है। इसीलिये प्राणिमात्रका कर्तव्य है कि जो शुभ कार्य है, जिससे धर्म और पुण्य होनेवाला है, उसे आज और अभी पूरा करे। अन्यथा पहले तो आपका चित्त ही आपको धोखा देगा और उससे बचे तो मृत्यु आपका घात करेगी; फिर आप हाथ मलते, कलपते ही रह जायँगे कि हाय मैंने यह काम भला क्यों नहीं कर डाला!

इसके निदर्शनमें वैदिक कथा इस प्रकार है—एक बार अगस्त्य ऋषि कोई यज्ञ कर रहे थे। उस समय उन्होंने '**महश्चित्**' (ऋक्० १। १६९। १)—इस मन्त्रसे पहले इन्द्रकी स्तुति कर उनके लिये हवि आगे किया, पर राज्याभिमानवश इन्द्रके आनेमें विलम्ब हो जानेपर उन्होंने वही हवि मरुतोंको देनेकी ठान ली। देरसे पहुँचनेपर इन्द्रने जब यह रहस्य जाना तो वे शोकाकुल हो बिलखने लगे। अगस्त्यने समझाया—'घबरायें नहीं, आगे मिल जायगा।'

इसपर इन्द्र कहने लगे—'ऋषे! जो आज उपस्थित है, जब वही हमें नहीं मिल पाता तो आगामी दिनोंमें वह मिलेगा, इसका क्या निश्चय? जो अभूतपूर्व है उसे कौन जानेगा? भला क्षण-क्षण सहस्रों विषयोंमें भटकनेवाले किसीके चित्तको कोई जान सकता है?'

इसपर अगस्त्य ऋषिने कहा—'देवेन्द्र! मरुद्गण तो आपके भाई हैं। आप उनसे समझ लीजिये।'

इन्द्र फिर भी क्रुद्ध ही रहे और उन्हें उपालम्भ देने लगे। अगस्त्यने पुनः उन्हें शान्त किया, विश्वास दिलाया। इस प्रकार वह हवि मरुद्गणोंको दे दिया गया। ऋग्वेदमें वर्णित इस कथाकी सूचक ऋचा इस प्रकार है—

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं वि नश्यति॥

(१। १७०। १)

अर्थात् इन्द्र कहते हैं कि जो अद्यतन है, वह निश्चय ही आज नहीं। कल भी उसका निश्चय नहीं। जो अभूतपूर्व है अर्थात् दूसरेके लिये रखा और दिया दूसरेको, उसे कौन जानेगा? तब भावीकी आशा ही क्या? चारों ओर भटकनेवाले परचित्तको भला कौन जान सकता है? फिर, जो चिरकालसे सोचा-समझा भी नष्ट हो जाता है तो अचानक सोचे हुएकी बात ही क्या?

ऋग्वेदके अतिरिक्त बृहद्देवता (४। ४९—५३) एवं निरुक्त (१—५)-में भी इस कथाके संकेत प्राप्त होते हैं।

इस वैदिक कथासे मानवमात्रको यही शिक्षा मिलती है कि वह आलस्य-प्रमादसे रहित होकर शास्त्रविहित समस्त अवश्यकरणीय कर्तव्य-कर्मोंके सम्पादनमें सदैव तत्पर रहे, क्षणमात्रके लिये भी उसमें शिथिलता न बरते।

[वेदोपदेश-चन्द्रिका]

गुरुभक्तके देवता भी सहायक

जिस घरमें गुरुका आदर-सम्मान किया जाता है, दक्षिणा-भोजन-वसन आदिसे उन्हें परितुष्ट किया जाता है, वहाँ इन्द्रादि देव भी सदैव सहायतार्थ प्रस्तुत रहा करते हैं। अभ्यावर्ती नामक राजाने अपने गुरु भरद्वाज ऋषिको नमन आदिसे परितुष्ट किया, फलस्वरूप देवराज इन्द्रकी सहायता प्राप्त करके वह वारशिख असुरोंके वधमें सफल हुआ—

देवाः कुर्वन्ति साहाय्यं गुरुर्यत्र प्रणम्यते।
जघानेन्द्रसहायोऽरीनभ्यावर्ती गुरोर्नतेः॥

एक अन्य श्लोकद्वारा गुरुभक्तिका बहुमूल्य लाभ बतलाते हुए कहा गया है—

गुरुं संतोषयेद् भक्त्या विद्याविनयतत्परम्।
प्रस्तोकाय ददौ पायुः स्तुत्या तुष्टोऽस्त्रमण्डलम्॥

अर्थात् मानवका कर्तव्य है कि विद्या एवं विनयसे सम्पन्न अपने गुरुको भक्ति-श्रद्धापूर्वक पूर्ण संतुष्ट करे। प्रसिद्ध है कि राजा प्रस्तोकने अपने गुरु पायु ऋषिको भक्तिपूर्वक धनादि देकर परितुष्ट किया तो ऋषिने उसे दिव्य अस्त्रमण्डल प्रदान किया, जिसका प्रयोग करके महाराज प्रस्तोकने वारशिख असुरोंपर शानदार विजय प्राप्त की।

वेदमें उल्लेख है कि अभ्यावर्ती और प्रस्तोक इन दोनों राजाओंने वारशिख असुरोंका वध किया। ये असुर अत्यन्त प्रबल थे। जिन्हें जीतना दोनों राजाओंके वशकी बात न थी। एक बार वे उनसे हार भी चुके थे, किंतु जब उन्होंने अपने-अपने कुलगुरु महर्षि भरद्वाज और गुरुपुत्र पायु ऋषिको श्रद्धा-भक्तिके द्वारा पूर्ण संतुष्ट कर लिया तो गुरुजन प्रसन्न हो गये। फलस्वरूप जहाँ भरद्वाजने देवराज इन्द्रसे अभ्यावर्तीके सहायतार्थ पधारनेकी प्रार्थना की, वहीं उनके पुत्र पायु ऋषिने प्रस्तोकको दिव्य अस्त्र प्रदान किया, जिससे दोनों राजा शत्रुओंको मार भगानेमें पूर्ण सफल रहे।

यह रोचक वैदिक कथा इस प्रकार है—

प्राचीन कालमें चायमान अभ्यावर्ती और संजयके पुत्र प्रस्तोक नामके दो परम प्रतापी, अत्यन्त धर्मात्मा एवं परम उदार प्रजापालक राजा हुए हैं। दोनोंके राज्य अत्यन्त निकट एक-दूसरेसे सटकर थे। दोनोंकी सीमाएँ एक-दूसरेसे मिलती थीं। दोनोंके राज्योंमें सदैव यज्ञ-होम, जप-तप, दान-दक्षिणारूप धर्मानुष्ठान चलते रहते। राजा और प्रजाजनोंके बीच ऐसा स्पृहणीय ऐकमत्य पाया जाता, जिसके कारण दोनों राज्य सभी प्रकारके धन-धान्य, शान्ति-सौमनस्य आदिसे सर्वथा सम्पन्न थे। राज्यमें किसीपर शासन करनेकी आवश्यकता ही न पड़ती। सभी अपने-आपमें शासित थे। मात्र बाह्य आक्रमणसे बचनेके लिये दोनों राज्योंका संयुक्त सुरक्षा-मोर्चा बनाया गया था, जिसका संचालन महाराज प्रस्तोक करते रहे।

असुर तो स्वभावतः धर्म-विद्वेषी और परोत्कर्षासहिष्णु होते ही हैं। दोनों राजाओंकी यह सुख-समृद्धि और धर्मनिष्ठा वरशिखके पुत्र वारशिख असुरोंसे देखी नहीं गयी, अतः उन्होंने पूरी तैयारीके साथ इनपर आक्रमण कर दिया। राजाओंका संयुक्त मोर्चा होते हुए भी असुर शत्रु इतने प्रबल थे कि अन्ततः उन्हें पराजयका सामना करना पड़ा। असुर उनका बहुत सारा धन और अनेक दुर्लभतम वस्तुएँ उठा ले गये।

महाराज अभ्यावर्ती और प्रस्तोक इस दुःखद घटनासे अत्यन्त खिन्न हुए। क्या किया जाय, किस तरह असुरोंसे प्रतिशोध लिया जाय और अपहृत सम्पदा वापस प्राप्त की जाय? यह उनके समक्ष यक्ष-प्रश्न रहा। सोचते-सोचते ध्यानमें आया कि कुलगुरु भरद्वाज ऋषिके पास जाकर उनसे प्रार्थना की जाय; यदि वे संतुष्ट हुए और उनकी सहायता मिली तो निश्चय ही हमारा मनोरथ पूर्ण हो सकेगा।

फिर क्या था? शीघ्र ही महाराज अभ्यावर्ती और प्रस्तोक गुरु भरद्वाज ऋषिकी सेवामें पहुँचे। अत्यन्त नम्र हो सरस, भावभरी स्तुतिके साथ उन्होंने अपने-अपने नामोच्चारणके साथ ऋषिका अभिवादन किया।

ऋषिने स्वागतपूर्वक उन्हें आसन दिया। कुशल-वृत्तके पश्चात् आगमनका हेतु पूछनेपर दोनोंने कहा—'ब्रह्मन्! वारशिख असुरोंने हमें बुरी तरह हराया और हमारी कितनी ही बहुमूल्य सम्पदाएँ छीन ली हैं। आपसे यह छिपा नहीं है कि हम लोग शक्तिभर अपने प्रजावर्गके साथ पुत्रवत् व्यवहार करते आये हैं और सदैव धर्मपर अधिष्ठित रहते हैं। खेद है कि फिर भी हमें पराजय झेलनी पड़ रही है।'

अपनी वेदना व्यक्त कर दोनों नरेशोंने अभीष्ट उपायका सूचन करते हुए कहा—'प्रभो! विचार-विमर्शके बाद हम इस निष्कर्षपर पहुचे हैं कि अब आप-जैसे गुरुजनोंकी कृपाके बिना उद्धार सम्भव नहीं। यदि आप इस कार्यमें पुरोहित बनकर हमें बल दें तो निश्चय ही हम पुनः शत्रुको जीत लेंगे।' 'क्षत्र' वही है, जिसका निरन्तर ब्रह्मतेज संगोपन किया करता है।'

ऋषि भरद्वाजने कहा—'नृपतियो! आप लोग चिन्ता न करें। आनन्दसे घर पधारें। मैं आपका अभीष्ट पूर्ण किये देता हूँ।'

दोनों राजा ऋषिको प्रणाम कर वापस लौट गये।

भरद्वाज ऋषिने अपने पुत्र पायु ऋषिको बुलाकर कहा कि 'इन दोनों राजाओंको ऐसा बना दो कि कोई भी शत्रु इन्हें कभी पराजित ही न कर सके। मैं भी इन्द्रदेवसे इन्हें सहायता देनेके लिये प्रार्थना करूँगा।'

अभ्यावर्ती और प्रस्तोक अपने-अपने राज्योंमें लौटे तो सही, पर उन्हें चैन न थी। असुरोंने जिस प्रकार उनकी सारी प्रतिष्ठा मिट्टीमें मिला दी थी, वह उन्हें रह-रहकर शल्य-सा चुभता रहता। यह शंका भी बनी रहती कि ये असुर पुनः आक्रमण न कर दें और इससे भी अधिक मूल्य चुकानेके लिये विवश न कर दें। अवश्य ही महर्षि भरद्वाजके कथनपर उन्हें विश्वास था, पर स्नेह सदैव पापशंकी हुआ करता है।

एक दिन इसी चिन्तामें महाराज अभ्यावर्ती प्रस्तोकके घर पहुँचकर परस्पर विचार कर रहे थे कि उन्हें दूरसे अपनी ओर आते हुए एक ऋषि दीख पड़े। पास आनेपर वे समझ गये कि पाय* ऋषि पधार रहे हैं।

दोनों राजाओंने उठकर ऋषिका अभिवादन किया एवं स्वागतमें आसनादि दिये। अकस्मात् अपने घर पधारे कुलगुरुके पुत्रको देख प्रस्तोककी श्रद्धा-भक्ति उद्बुद्ध हो उठी और उसने पूर्वमें शम्बरयुद्धमें प्राप्त शत्रुकी संचित सम्पत्तिसे विपुल सम्पदा गुप्त-कोशसे निकलवाकर ऋषिके सामने रख दी। ऋग्वेद कहता है कि '**दश रथान् प्रष्टिमतः शतं गा अथर्वभ्यः। अश्वथः (प्रस्तोकः) पायवेऽदात्**' (६। ४७। २४)। ऋषिके सामने सेवा-सामग्री रखकर प्रस्तोकने कहा—'ऋषे! हम लोग वारशिखोंके भय एवं अपमानसे अत्यन्त त्रस्त हैं। अतएव आपके पूज्य पिताके पास पहुँचे थे। उन्होंने आश्वासन भी दिया, किंतु हम लोगोंका पापी मन अभी चैन नहीं पा रहा है।'

पायु ऋषिने कहा—'घबरायें नहीं। पूज्य पिताजीने इसीलिये आपके पास मुझे भेजा है। मैं आपके अस्त्र ऐसे दिव्य किये देता हूँ कि स्वप्नमें भी आपकी पराजय न हो सकेगी। अब आप लोग विजय-यात्रार्थ तैयार हो जायँ। कल प्रातः मैं अभिमन्त्रणके साथ आपके अस्त्रोंको दिव्यास्त्र बना देता हूँ।'

प्रस्तोकने कहा—'जो आज्ञा!' दोनों राजा अपनी-अपनी रण-योजनामें लग गये। ऋषिकी समुचित व्यवस्थाका भार प्रधान मन्त्रीने सँभाल लिया और वे उन्हें सादर अतिथिशालामें ले गये।

दूसरे दिन दोनों राजाओंके तत्परतापूर्ण प्रयत्नसे विजय-यात्रार्थ सेना तैयार हो गयी। ऋषि पायु गङ्गाजल और कुश लेकर सामने आये और उन्होंने ऋग्वेदके प्रसिद्ध विजयप्रद सूक्त '**जीमूतस्य०**' (६। ७५। १)-से, जो अन्तिम आशीर्वचनसहित १९ ऋचाओंका है, एक-एक युद्धोपकरणका अभिमन्त्रण कर उनमें दिव्यास्त्र-शक्तिका आधान करना प्रारम्भ कर दिया।

वैदिक मान्यता है कि जो भी वेद-ऋचाद्वारा स्तुत होते हैं, वे सभी 'देवता' बन जाते हैं। पायु ऋषिने इन उपकरणोंका न केवल अभिमन्त्रण किया, आर्षवाणीमें उन प्रत्येककी स्तुति भी की, जिससे वे सभी देवतारूप दिव्यास्त्र बन गये, जो युद्धमें सदैव अमोघ होते हैं।

ऋषिने उक्त सूक्तको जिस-जिस ऋचासे जिस-जिस युद्धोपकरणका स्तवन एवं अभिमन्त्रण किया, ऋक्-संख्याके क्रमसे उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) कवच-सहित योद्धा, (२) धनुष, (३) प्रत्यञ्चा, (४) धनुषकी कोटियाँ (किनारे), (५) तरकस, (६) सारथि और वल्गाएँ, (७) अश्व, (८) आयुधागार, (९) रथरक्षक, (१०) रणदेवता, (११) बाण, (१२) कवच, (१३) कशा, (१४) हस्तत्राण, (१५) (ऋचाके पूर्वार्धके दो पादोंसे क्रमशः) विषलिप्त इषु, अयोमुख बाण तथा (शेष अर्धऋचासे) वारुणास्त्र, (१६) धनुर्युक्त बाण, (१७) युद्धारम्भमें कवच बाँधनेवाला एवं (१८) युयुत्सु।

* 'पायु' शब्द 'पा रक्षणे' धातुसे उणादिक 'उण्' प्रत्यय करनेसे बना है, जिसका अर्थ है पीडितोंकी मन्त्रशक्तिद्वारा पीडासे रक्षा करनेवाला।

इस प्रकार पायु ऋषिने युद्धके समस्त उपकरणोंके अभिमन्त्रणके साथ उन्हें देवत्वशक्तियुक्त बना दिया और दोनों राजाओंको लेकर पिता भरद्वाज ऋषिके निकट पहुँचे। ऋषिकुमारने पिताको उनके द्वारा आदिष्ट कार्य पूर्ण होनेकी सूचना दी।

भरद्वाजऋषिने राजाओंसे कहा—'चिरंजीव अभ्यावर्तिन् और प्रस्तोक! अब आप लोग निर्द्वन्द्व होकर शत्रुपर चढ़ाई कर दें। आपकी विजय सुनिश्चित है। मुझे पता चला है कि आपके शत्रु वारशिख आपको पराजित करनेके पश्चात् निश्चिन्त हो विश्राम कर रहे हैं। उन्हें कल्पना ही नहीं कि आप उनपर आक्रमण कर सकते हैं। रणनीतिकी दृष्टिसे यह स्थिति किसी प्रहर्ताके लिये स्वर्णसुयोग होती है। इसलिये अब तनिक भी देर न करें।'

ऋषिने आगे कहा—'एक बात और! कदाचित् शत्रुसे कड़ा मुकाबला पड़ जाय तो उसकी भी व्यवस्था किये देता हूँ। देवराज इन्द्रसे अनुरोध करता हूँ कि वे अभ्यावर्तीके सहायतार्थ रणाङ्गणमें स्वयं उतर आयें'—**'शुभास्ते पन्थानः सन्तु!'**

ऋषिका आदेश शिरसा धारण कर अभ्यावर्ती और प्रस्तोक राजाओंने अपने शत्रु वारशिखोंपर जोरदार आक्रमण कर दिया। भरद्वाज ऋषिके कथनानुसार सचमुच शत्रु विजयके गर्वमें अचेत पड़े थे। उन्हें इस आकस्मिक आक्रमणने चक्करमें डाल दिया, किंतु कुछ ही समयमें वे सावधान हो गये तथा पूरे जोर-शोरके साथ जूझने लगे। लड़ाईका समाचार पा शीघ्र ही असुरोंके अन्य साथी भी अपनी-अपनी तैयारीके साथ कुछ ही समयमें रणाङ्गणमें उतर आये।

इधर भरद्वाज ऋषिने **'एतत् त्यत् ते०'** आदि चार ऋचाओं (६।२७।४—७)-द्वारा राजा चायमान अभ्यावर्तीके सहायतार्थ देवराज इन्द्रकी स्तुति की। ऋषिकी स्तुतिसे प्रसन्न हो देवराज उसके सहायतार्थ हर्युपीया नदीके तटपर, जहाँ इन दोनों राजाओका वारशिखोंके साथ युद्ध चल रहा था, आ पहुँचे।

मन्त्राभिमन्त्रित दिव्यास्त्र तो युद्धमें अपना तेज दिखा ही रहे थे। अतिशीघ्र पूरी तैयारीसे असुरोंके आ कूदनेपर भी असुरोंके प्रहार इस बार मोघ हो चले, जबकि राजवर्गका एक-एक अस्त्र लक्ष्यसे अधिक काम करने लगा, फिर जब स्वयं देवराज पहुँच गये तो पूछना ही क्या? उनके वज्रके निर्घोषसे ही वारशिखोंके सर्वप्रमुख योद्धका हृदय विदीर्ण हो गया। देखते-देखते सारे असुरोंका सफाया हो गया।

असुरोंका वध कर देवराजने उनकी सारी सम्पदा राजाओंको सौंप दी। दोनोंने आकर कुलगुरु भरद्वाज एवं इन्द्रका अभिवादन किया और शत्रुसे प्राप्त सम्पत्तिका विपुल भाग गुरुके चरणोंमें निवेदित कर उनसे विदा ली।

ऋग्वेदकी निम्न ऋचाओंमें इस कथाका इस प्रकार संकेत किया गया है—

एतत् त्यत् त इन्द्रियमचेति येनावधीर्वरशिखस्य शेषः।
वज्रस्य यत् ते निहतस्य शुष्मात् स्वनाच्चिदिन्द्र परमो ददार॥

(६।२७।४)

अर्थात् भरद्वाज् ऋषि त्रिष्टुप् छन्दसे इन्द्रकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि 'हे इन्द्र! हम आपके उस पराक्रमको जानते हैं, जिसके बलपर आपने वरशिख असुरके पुत्रोंका वध कर डाला। आपद्वारा प्रयुक्त वज्रके निर्घोषमात्रसे वारशिखोंके सर्वश्रेष्ठ बलीका हृदय विदीर्ण हो गया।'

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद् वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वा जय त्वं स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु॥

(६।७५।१)

अर्थात् पायु ऋषि त्रिष्टुप् छन्दसे वर्मकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि 'संग्राम छिड़नेपर जब यह राजा कवच धारण कर आता है तो लोहमय वर्मसे संनद्ध इस राजाका रूप मेघ-सा दीखने लगता है। हे राजन्! आप शत्रुसे अबाधित-शरीर होकर उन्हें जीतें। वर्मकी वह अपूर्व महिमा आपका रक्षण करे।'

ऋग्वेदकी इन कथासूचक ऋचाओंके अतिरिक्त 'बृहद्देवता' (५। १२४—१४०)-में भी इस कथाका स्पष्टरूपमें उल्लेख हुआ है।

[वेदोपदेश-चन्द्रिका]

ऐतरेय ब्राह्मणकी एक सदाचार-कथा

(डॉ० श्रीइन्द्रदेवसिंहजी आर्य, एम्०ए०, एल्-एल्० बी०, साहित्यरत्न, आर० एम्०पी०)

ब्राह्मणग्रन्थोंमें सदाचारके अनेक प्रेरणा-स्रोत हैं, ऐतेरयब्राह्मणका हरिश्चन्द्रोपाख्यान वैदिक साहित्यका अमूल्य रत्न है। इसमें इन्द्रने रोहितको जो शिक्षा दी है, उसका टेक (Refrain) है—'**चरैवेति**', '**चरैवेति**'—चलते रहो, बढ़ते रहो। इस उपाख्यानके अनुसार सैकड़ों स्त्रियोंके रहते हुए भी राजा हरिश्चन्द्रके कोई संतान न थी। उन्होंने पर्वत और नारद—इन दो ऋषियोंसे इसका उपाय पूछा। देवर्षि नारदने उन्हें वरुणदेवकी आराधना करनेकी सलाह दी। राजाने वरुणकी आराधना की और पुत्र-प्राप्तिपर उससे उनके यजनकी भी प्रतिज्ञा की। इससे उन्हें पुत्र प्राप्त हुआ और उसका नाम रोहित रखा। कुछ दिन बाद जब वरुणने हरिश्चन्द्रको अपनी प्रतिज्ञाका स्मरण कराया तो उन्होंने उत्तर दिया—'जबतक शिशुके दाँत नहीं उत्पन्न होते, वह शिशु अमेध्य रहता है, अतः दाँत निकलनेपर यज्ञ करना उचित होगा' (ऐतरेय० ७। ३३। १-२)

वरुणने बच्चेके दाँत निकलनेपर जब उन्हें पुनः स्मरण दिलाया, तब हरिश्चन्द्रने कहा—'अभी तो इसके दूधके ही दाँत निकले हैं, यह अभी निरा बच्चा ही है। दूधके दाँत गिरकर नये दाँत आ जाने दीजिये, तब यज्ञ करूँगा।' फिर दाँत निकलनेपर वरुणने कहा—'अब तो बालकके स्थायी दाँत भी निकल आये; अब तो यज्ञ करो।' इसपर हरिश्चन्द्रने कहा—'यह क्षत्रियकुलोत्पन्न बालक है। क्षत्रिय जबतक कवच धारण नहीं करता, तबतक किसी यज्ञिय कार्यके लिये उपयुक्त नहीं होता। बस, इसे कवच-शास्त्र धारण करने योग्य हो जाने दीजिये, फिर आपके आदेशानुसार यज्ञ करूँगा।' वरुणने उत्तर दिया—'बहुत ठीक।' इस प्रकार रोहित सोलह-सत्तरह वर्षोंका हो गया और शस्त्र-कवच भी धारण करने लगा। तब वरुणने फिर टोका। हरिश्चन्द्रने कहा—'अच्छी बात है। आप कल पधारें। सब यज्ञिय व्यवस्था हो जायगी' (ऐतरेय० ७। ३३। १४)।

हरिश्चन्द्रने रोहितको बुलाकर कहा—'तुम वरुणदेवकी कृपासे मुझे प्राप्त हुए हो, इसलिये मैं तुम्हारे द्वारा उनका यजन करूँगा।' किंतु रोहितने यह बात स्वीकार नहीं की और अपना धनुष-बाण लेकर वनमें चला गया। अब वरुणदेवकी शक्तियोंने हरिश्चन्द्रको पकड़ा और वे जलोदररोगसे ग्रस्त हो गये। पिताकी व्याधिका समाचार जब रोहितने अरण्यमें सुना, तब वह नगरकी ओर चल पड़ा। परंतु बीच मार्गमें ही इन्द्र पुरुषका वेष धारण कर उसके समक्ष प्रकट हुए और प्रतिवर्ष उसे एक-एक श्लोकद्वारा उपदेश देते रहे। यह उपदेश पाँच वर्षोंमें पूरा हुआ और तबतक रोहित अरण्यमें ही निवास करते हुए उनके उपदेशका लाभ उठाता रहा। इन्द्रके पाँच श्लोकोंका वह उपदेश-गीत इस प्रकार है—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति॥

'रोहित! हमने विद्वानोंसे सुना है कि श्रमसे थककर चूर हुए बिना किसीको धन-सम्पदा प्राप्त नहीं होती। बैठे-ठाले पुरुषको पाप धर दबाता है। इन्द्र उसीका मित्र है, जो बराबर चलता रहता है—थककर, निराश होकर बैठ नहीं जाता। इसलिये चलते रहो।'

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति॥

'जो व्यक्ति चलता रहता है, उसकी पिण्डलियाँ (जाँघें) फूल देती हैं (अन्योंद्वारा सेवा होती है)। उसकी आत्मा वृद्धिंगत होकर आरोग्यादि फलकी भागी होती है तथा धर्मार्थ प्रभासादि तीर्थोंमें सतत चलनेवालेके अपराध और पाप थककर सो जाते हैं। अतः चलते ही रहो।'

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति॥

'बैठनेवालेकी किस्मत बैठ जाती है, उठनेवालेकी उठती, सोनेवालेकी सो जाती और चलनेवालेका भाग्य प्रतिदिन उत्तरोत्तर चमकने लगता है। अतः चलते ही रहो।'

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति॥*

'सोनेवाला पुरुष मानो कलियुगमें रहता है, अँगड़ाई लेनेवाला व्यक्ति द्वापरमें पहुँच जाता है और उठकर खड़ा हुआ व्यक्ति त्रेतामें आ जाता है तथा आशा और उत्साहसे भरपूर होकर अपने निश्चित मार्गपर चलनेवालेके सामने

* यह मन्त्र स्वल्पान्तरसे मनुस्मृति (९। ३०२)-में भी प्राप्त होता है।

सतयुग उपस्थित हो जाता है। अतः चलते ही रहो।'

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति॥

(ऐत० ब्रा० ७। ३३)

'उठकर कमर कसकर चल पड़नेवाले पुरुषको ही मधु मिलता है। निरन्तर चलता हुआ ही स्वादिष्ट फलोंका आनन्द प्राप्त करता है; सूर्यदेवको देखो जो सतत चलते रहते हैं, क्षणभर भी आलस्य नहीं करते। इसलिये जीवनमें भौतिक और आध्यात्मिक मार्गके पथिकको चाहिये कि बाधाओंसे संघर्ष करता हुआ चलता ही रहे, आगे बढ़ता ही रहे।

—इस सुन्दर उपदेशमें रोहितको इन्द्रने बराबर चलते रहनेकी शिक्षा दी है, जो उन्हें किसी ब्रह्मवेत्तासे प्राप्त हुई थी। गीताका मूल उद्देश्य आत्माका उद्बोधन है, जिसमें बताया गया है कि क्या अभ्युदय और क्या निःश्रेयस—दोनोंकी उन्नतिके पथिकको बिना थके आगे बढ़ते रहना चाहिये; क्योंकि चलते रहनेका ही नाम जीवन है। ठहरा हुआ जल, रुका हुआ वायु गंदा हो जाता है। बहते हुए झरनेके जलमें ताजगी और जिंदगी रहती है, प्रवाहशील पवनमें प्राणोंका भण्डार रहता है। कोटि-कोटि वर्षोंसे अनन्त आकाशमें निरन्तर चलते हुए सूर्यदेवपर दृष्टि डालिये, वह असंख्य लोक-लोकान्तरोंका भ्रमण करता हुआ हमारे द्वारपर आकर हमें निरन्तर उपदेश दे रहा है। वेदभगवान् कहते हैं। '**स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव**' (ऋक्० ५। ५१। १५) अर्थात् कल्याण-मार्गपर चलते रहो, चलते रहो—जैसे सूर्य और चन्द्र सदा चलते रहते हैं। ऐतरेय भी कह रहा है—'**चरैवेति, चरैवेति।**' आत्मा उनका ही वरण करती है, जो अपने मार्गमें आगे कदम उठाते बढ़ते जाते हैं। भगवान् उनका कल्याण निश्चितरूपसे स्वयं करते हैं।

अन्तमें रोहितको वनमें ही अजीगर्त मुनि अपने तीन पुत्रोंके साथ भूखसे संतप्त दृष्टिगोचर हुए। रोहितने उन्हें सौ गायें देकर उनके एक पुत्र शुनःशेपको यज्ञके लिये मोल ले लिया। हरिश्चन्द्रका यज्ञ आरम्भ हुआ। उनके यज्ञमें विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वसिष्ठ ब्रह्मा और अयास्य उद्गाता बने। शुनःशेपने विश्वामित्रके निर्देशसे '**कस्य नूनम् अभित्वादेव**' इत्यादि मन्त्रसे प्रजापति, अग्नि, सविता और वरुण आदि देवोंकी स्तुति—प्रार्थना की। इससे वह समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो गया। वरुणदेवने भी संतुष्ट होकर राजा हरिश्चन्द्रको रोगसे मुक्ति प्रदान की। इस प्रकार इन्द्रके उपदेशसे देवोंकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना तथा यज्ञकी सफलतासे रोहितका जीवन भी सफल एवं आनन्दसे परिपूर्ण हो गया। ऐतरेयब्राह्मणके इस उपाख्यानका निष्कर्ष यह है कि सदाचारके मार्गपर चलते रहना चाहिये। '**चरैवेति-चरैवेति**' सदाचारका शाश्वत संदेश है।'

महत्ता गुणसे, धनसे नहीं

मात्र धनसे कोई महान् नहीं कहलाता। जो विनयादि निर्मल गुणोंसे सम्पन्न हो, वही महान् कहा जाता है। अर्थ-कष्टसे पीड़ित होते हुए भी अनेक गुणोंके आगार होनेसे वसिष्ठ ऋषि महान् माने गये; पर मण्डूक (मेढक) धनिक होनेपर भी गुणोंके अभावमें क्षुद्र ही बने रहे।

महत्त्वं धनतो नैव गुणतो वै महान् भवेत्। सीदन् ज्यायान् वसिष्ठोऽभून्मण्डूका धनिनोऽल्पकाः॥

इस सम्बन्धमें कथा यह है कि वसिष्ठ ऋषिने पर्जन्य (वर्षा)-की स्तुति की। मण्डूक उसे सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और उन सभी मण्डूकोंने, जो कि गोमायु (गायकी तरह शब्द करनेवाले), अजमायु (अजाकी तरह शब्द करनेवाले), पृश्निवर्ण (चितकबरे) और हरितवर्णके थे, ऋषिको अपरिमित गायें दीं। बादमें ऋषिने उनकी स्तुति भी की। इस तरह विपुल धन होने और दान देनेपर भी मण्डूक गुणविहीन होनेसे क्षुद्र ही रहे, जबकि गुणी वसिष्ठ प्रतिग्रहीता होनेपर भी महान् माने गये।

गोमायुरदादजमायुरदात् पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि। गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः॥

(ऋक्० ७। १०३। १०)

अर्थात् वसिष्ठ ऋषिने त्रिष्टुप् छन्दसे मण्डूकोंकी स्तुति करते हुए कहा कि '**गोमायु, अजमायु, पृश्नि और हरित सभी प्रकारके मण्डूकोंने हमें अपरिमित गायें दीं। (मैं कामना करता हूँ कि) वे वर्षा-ऋतुमें खूब बढ़ें।**'

नदियोंका अधिदेवत्व

वेद प्रत्येक जड़में उसके अभिमानी देवताका होना मानता है। भगवान् रामने समुद्रसे प्रार्थना की थी कि वह उन्हें लङ्का जानेके लिये मार्ग दे दे। देवतात्मा समुद्रने उनकी प्रार्थना सुनी थी और लङ्का पहुँचनेके लिये उपाय भी बताया था। इस तरह वेदका यह सिद्धान्त हिन्दुओंके जीवनमें व्यवहारके रूपमें उतरा हुआ है। यहाँ वेदकी एक ऐसी घटना प्रस्तुत की जा रही है, जो इस तथ्यको भलीभाँति उजागर करती है।

महर्षि विश्वामित्र पिजवनके पुत्र सुदासके पुरोहित थे। एक बार सुदासने विश्वामित्रके पौरोहित्यमें बहुत बड़ा यज्ञ कराया। यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया। दक्षिणाके रूपमें विश्वामित्रको बहुत-सा धन प्राप्त हुआ। महर्षि विश्वामित्र उस धनको छकड़ेपर और रथपर लादकर अपने आश्रमपर लौट रहे थे। रास्तेमें व्यास (विपाशा) और सतलज (शतद्रु)-का संगम पड़ा। नदियाँ अगाध थीं और वेगसे बह रही थीं। रथसे उनको पार नहीं किया जा सकता था।

महर्षि विश्वामित्र अकेले न थे। उनके साथ अन्य लोग भी थे।[१] दूरसे आ रहे थे। थकानसे चूर-चूर हो रहे थे। अतः महर्षिने नदियोंसे मार्ग माँगना ही उचित समझा। उन्होंने प्रार्थना करते हुए कहा—'हे शतद्रु और विपाशे! तुम दोनों मातासे भी बढ़कर ममतामयी (**'सिन्धुं मातृतमाम्०** ऋक्० ३। ३३। ३) हो। हम तुम्हारे पास आये हैं।'

महर्षि विश्वामित्रकी पुकार सुनकर दोनों नदियाँ विचार करने लगीं। यह विप्र क्या यह चाह रहा है कि हम इसे मार्ग दे दें। महर्षिकी माँगकी पूर्ति तो हमें करनी ही चाहिये, किंतु इसमें अड़चन यह है कि हम दोनोंको देवराज इन्द्रने जो यह आदेश दे रखा है कि हम दोनों वेगसे बहती हुई परिसर प्रदेशको निरन्तर सिंचित करती रहें, इसमें त्रुटि हो सकती है (ऋक्० ३। ३३। ४)।

नदियोंको चुप देखकर महर्षिने फिर विनती की—'हे जलसे लबालब भरी हुई नदियो! मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि तुम अपने प्रबल वेगको बिलकुल रोक ही लो। मैं तो केवल यह कह रहा हूँ कि तुम अपने-अपने जलको इतना कम कर लो कि मैं रथ, छकड़े और लोगोंके साथ पार उतर जाऊँ। फिर जैसी-की-तैसी हो जाओ। दूसरी बात यह है कि पार हो जानेके बाद यज्ञमें हम तुम्हें सोम-रस प्रदान करेंगे' (ऋक्० ३। ३३। ५)।

नदियोंने कहा—'महर्षे! हम दोनों देवराज इन्द्रकी आज्ञाके पालनमें कभी चूक नहीं होने देतीं, क्योंकि उन्होंने वज्रसे खोदकर हमें जन्म दिया है, मेघके द्वारा हमें जीवन दिया है और अपने कल्याणकारी हाथोंसे सहारा देते हुए हमको समुद्रतक पहुँचाया है तथा उसीके हाथमें हमें सौंप दिया है। इस तरह हम दोनों उनकी सदा ऋणी हैं। अतः उन्हींकी आज्ञाका पालन करती हैं' (ऋक्०३। ३६। ६)।

इस तरह नदियोंने पहले तो महर्षि विश्वामित्रका प्रत्याख्यान कर दिया,[२] किंतु फिर उन्होंने उनकी माँगको स्वीकार कर लिया। नदियोंने कहा— 'महर्षे! जैसे ममतामयी माँ अपने बच्चेको दूध पिलानेके लिये झुक जाती है, वैसे ही हम भी तुम्हारे लिये कम जलवाली हो जाती हैं। जल इतना कम कर दे रही हैं कि तुम्हारे रथके धूरे ऊपर रहें, तुम दूरसे आये हो, थक भी गये हो, इसलिये छकड़े और रथ आदिके साथ पार हो जाओ' (ऋक्० ३। ३३। १०)।

इस तरह महर्षि विश्वामित्रने उन दोनों नदियोंको जो **'मातृतमाम्'** कहा था। उसे नदियोंने चरितार्थ कर दिखाया और अपनी वत्सलताका परिचय दिया।

आजके जड़वादी युगको विश्वामित्र तथा नदियोंका यह संवाद खटकता है और इसका दूसरा अर्थ किया जाता है।

किंतु सत्य तो सत्य ही रहता है और सत्य यह है कि यह दो चेतनोंका संवाद है, जैसे—विश्वामित्रका शरीर जड़ है और उसमें चेतनका आवास है, वैसे नदियोंके जलीय शरीर तो जड़ हैं, किंतु उनकी अधिष्ठात्रीदेवी चेतन हैं, इस सम्बन्धमें कुछ आप्त वचन ये हैं—

१. निरुक्तने इसे इतिहास माना है—**'तत्रेतिहासमाचक्षते'** (निरुक्त २। ७)।

२.**'प्रपर्वतानां सप्तोना संवादो नदीभिर्विश्वामित्रस्योत्तितीर्षोरिति'** (अनुक्रमणी का० स० ३। ३३)।

३. **सूक्ते प्रेति तु नद्यश्च विश्वामित्रः समूदिरे।**
पुरोहितः सन्निर्ज्यार्थं सुदासा सः यन्नृषिः।
विपाट्छुतुद्र्वयोः सम्भेदं शमित्येते उवाच ह॥
(बृहद्देवता ४। १०५-१०६)

४. **'विश्वामित्रस्य संवादं नद्यतिक्रमणे जपेद्॥'**
(ऋक्-विधान १७७)

(ला० बि० मि०)

---

१. (क) इतरे अनुययुः (निरुक्त)। (ख) अनुययुरितरे (नीतिमञ्जरी)।
२. प्रत्याख्यायान्तत आशुश्रुवुः (निरुक्त २।७)।

भगवान्‌की असीम दयालुता

मानव-मानसे ब्रह्माके ४ लाख ३२ हजार वर्ष बीत चुके थे। उनके दिनका अवसान हो चला था। रात आ गयी थी। ब्रह्माजीको नींद भी आ रही थी। इस तरह ब्राह्म नामक नैमित्तिक प्रलयका काल आ पहुँचा था। कुछ ही दिनोंमें संसारको समाप्त हो जाना था, किंतु विश्वके लोगोंका ध्यान इधर नहीं जा रहा था। महाराज मनुको भी प्रलयका कोई भान न था। वे सदाकी भाँति अपने नित्य-कृत्यको दुहराने जा रहे थे। शतपथने लिखा है कि प्रात:कालका समय था। हाथ-मुख धोनेके लिये उनके नौकर जल ले आये थे। शिष्टाचारके अनुसार जलपात्र उनके दोनों हाथोंमें थे। मनुजीने जब हाथमें जल लिया तो उसके साथ एक मत्स्य आ गया। मत्स्यने मनुसे करुणाभरे स्वरमें कहा—'तुम मेरा भरण-पोषण करो, मैं भी तुम्हारा भरण-पोषण करूँगा।' मनुने पूछा—'तुम मेरा भरण-पोषण किस प्रकार करोगे?' मत्स्यने कहा—'एक भयानक बाढ़ आनेवाली है, जो सारी प्रजाको बहा ले जायगी। कोई न बचेगा। उस समय मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।'

मनुने पूछा— 'अब यह बताओ कि तुम्हारी रक्षाके लिये मुझे कौन-कौन कार्य करने होंगे।' मत्स्यने कहा कि 'जबतक मैं छोटा हूँ, तबतक मुझे नष्ट करनेवाले बहुत-से जीव-जन्तु हैं। अपनी ही जातिकी बड़ी मछली भी मुझे निगल सकती है। इसलिये मुझे पाल-पोषकर बड़ा बना देना होगा। पहले मुझे घड़ेमें रखो। जब उसमें न आ सकूँ तो गड्ढा खोदकर जलाशय बनाकर उसमें रखो। इस तरह जैसे-जैसे मैं बढ़ता जाऊँ, वैसे-वैसे बड़े-बड़े बनावटी जलाशय बनाकर मेरा पालन-पोषण करो। अन्तमें समुद्रमें पहुँचा देना; फिर मुझे किसीसे भय न होगा।

मत्स्यकी बातें मीठी-मीठी और बहुत मोहक थीं। मत्स्य जो-जो कहता, वह कार्य करनेको मनुका मन करता, अत: उन्होंने उसकी सुरक्षाकी सभी व्यवस्थाएँ कीं। श्रीमद्भागवत (९। ८)-से पता चलता है कि मनुकी आँखें तब खुलीं, जब वह मत्स्य एक ही दिनमें ४ सौ कोसोंमें विस्तृत सरोवरके बराबर हो गया था। तब वे समझ गये कि भगवान् ही कोई लीला कर रहे हैं। शतपथके '**उपासासै**' (मेरी उपासना करते रहो)—इस अंशके कथनका बीज निहित है। मनुको जब यह समझमें आ गया तो भगवान्‌की उस कृपापर उनका हृदय गद्‌गद हो गया। सोचने लगे कि जिनके दर्शन पानेके लिये मुनियोंको जन्म बिताने पड़ते हैं, वे भगवान् मुझे निरन्तर दर्शन देते जा रहे हैं, मुझसे मिठासभरी बातें कर रहे हैं, सर्वसमर्थ होते हुए भी मुझसे सुरक्षा माँगकर मेरा मान बढ़ा रहे हैं, निरन्तर अपना सुखद स्पर्श प्रदान कर रहे हैं और मेरी सुरक्षाके लिये लंबी-लंबी योजनाएँ भी बना रहे हैं। मनुका गद्‌गद-हृदय अब आँकने लगा कि जितने देवता आदि पूज्य वर्ग हैं, वे सब-के-सब मिलकर भी कृपा करें तो भगवान्‌की कृपाके दस हजारवें अंशके भी बराबर नहीं हो सकते।*

शतपथने आगे लिखा कि मत्स्यके कहनेपर मनुने उन्हें समुद्रमें पहुँचा दिया। मत्स्यभगवान्‌का रहस्य प्रकट हो गया था। उन्होंने कहा कि इतने समयमें वह बाढ़ आयेगी। उस बाढ़के आनेसे पहले ही एक नौका बनवा लो, मेरी उपासना भी करते रहना—

नावमुपकल्प्योपासासै। (श० ब्रा० १। ८। १। ४)

बाढ़ आनेपर उसी नौकापर चढ़ जाना। मैं तुझे पार कर दूँगा।

मनु महराजने मत्स्यभगवान्‌की आज्ञाके अनुसार नाव बनाकर मत्स्यभगवान्‌की उपासना करने लगे—**स यतिथीं तत्समां परिदिदेश ततिथीᳪ समां नावमुपकल्प्योपासाञ्चक्रे।**

समयपर वह बाढ़ आयी। मनु महाराज नौकापर चढ़ गये। ठीक उसी समय मत्स्यभगवान् इस विचारसे कि मनुको मैं समीप खींच लूँगा, नौकाके समीप आये। मनु महाराजने नावको मत्स्यके सींगमें बाँध दिया। मत्स्यभगवान् उस नावको उत्तर हिमालय पहाड़पर ले गये। निरापद जगहपर पहुँचाकर भगवान् मत्स्यने मनुको याद दिलायी—'मैंने तुम्हारी रक्षा कर दी। तुम डूबनेसे बच गये। अब नौकाको वृक्षमें बाँध दो। आगे ध्यान देना कि जैसे-जैसे जल बढ़े, वैसे-वैसे तुम भी पहाड़की ऊँचाईकी ओर बढ़ते जाना, ताकि जल तुमको पहाड़से अलग न कर सके।' हिमालय पर्वतपर जिस मार्गसे मनु महराज गये थे, वही स्थान मनुका 'अवसर्पण' कहलाता है। वह इतनी प्रचण्ड बाढ़ थी कि सब कुछ बहाकर ले गयी। केवल मनु ही शेष रह गये।

(**ला० बि० मि०**)

१-न यत्प्रसादायुतभागलेशमन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम्। कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंसः०॥ (श्रीमद्भागवत ८। २४। ४९)

असुरोंका भ्रम

महाराज पृथुने जब पृथ्वीको धन-धान्य देनेवाली बनाया, पृथ्वीपर रहनेवाले प्राणियोंके लिये जब अन्न, जल, कृषि, वनस्पति, धन-धान्यकी व्यवस्था उन्होंने अपने पराक्रमसे की, तब सर्वप्रथम पृथ्वीपर नर-राज्यकी स्थापना हुई। देवों-ऋषियोंने महाराज पृथुसे एक बहुत बड़े यज्ञका आयोजन करनेके लिये कहा।

पृथुने यज्ञ प्रारम्भ किया। सभी प्रमुख ऋषियों तथा इन्द्रादि देवोंने उसमें भाग लिया। यज्ञकी सफलताके लिये देवताओं तथा इन्द्रको भाग लेते देखकर असुरोंने यज्ञको सफल न होने देनेके लिये एक योजना बनायी। क्योंकि असुर तो चाहते थे कि इन्द्रकी प्रतिष्ठा बढ़े नहीं, इसलिये सोचा कि अगर इन्द्रको मार दिया जाय या अपहरण कर लिया जाय तो अन्य देवता भी यज्ञमें भाग न लेकर चले जायँगे। पृथुपर भी कलंक लगेगा कि वे इन्द्रकी रक्षा न कर सके। इस प्रकार यज्ञ पूरा न होगा।

यज्ञ प्रारम्भ हो चुका था। इन्द्रसमेत सभी देवता यज्ञमें हविष्य डाल रहे थे। यज्ञके प्रधान पुरोहित ऋषि गृत्समद थे। हविष्य डालनेके लिये मन्त्र-पाठ करते समय उन्हें लगा कि वातावरणमें कुछ ऐसा है, जो यज्ञमें बाधा डालनेका प्रयास कर रहा है। उन्होंने ध्यान लगाया तो देखा कि कुछ असुर इन्द्रको लक्ष्य कर द्वेषभावसे देख रहे हैं। वे समझ गये कि ये असुर इन्द्रको यज्ञसे अपहृतकर या मारकर यज्ञको नष्ट करेंगे ही, देव-प्रतिष्ठा भी नहीं रहने देंगे।

उन्होंने इन्द्रसे कहा—'देवेन्द्र! आप निश्चिन्त होकर यज्ञमें भाग लेते रहें, मैं अपने शिष्यको प्रधान ऋत्विज्का भार सौंपकर अभी थोड़ी देरमें आता हूँ।' ऐसा कहकर गृत्समद यज्ञ-वेदीसे उठे और उठते ही उन्होंने इन्द्रका रूप धारण कर लिया। उनको उठकर जाते देख घात लगाये असुरोंने समझा कि इन्द्र जा रहे हैं। बस, उन्होंने इन्द्ररूपधारी गृत्समदका पीछा किया। गृत्समदने असुरोंको अपने पीछे आते देख डरके मारे भागना शुरू किया। जब असुरोंने इन्द्रको भागते देखा, तब वे यह समझे कि इन्द्रने शायद हमें देख लिया है, इसी कारण डरकर तेजीसे भाग रहे हैं, फिर तो वे और भी तेजीसे उनका पीछा करने लगे।

इन्द्ररूपधारी गृत्समद भागते गये और असुर उनका पीछा करते गये। ऋषिने उन्हें भगा-भगाकर खूब छकाया, परंतु उनके हाथ न आये। दौड़ते-भागते असुर थककर हाँफने लगे। गृत्समदने जब देखा कि असुर असमर्थ हो गये हैं तो वे भी थकनेका बहाना कर बैठ गये और अपने तपोबलसे तत्काल अपने असली रूपमें आ गये।

असुरोंने इन्द्रके स्थानपर ऋषिको देखा तो चकित हो कहने लगे—'हमारे आगे-आगे तो इन्द्र भाग रहे थे, यह तुम कौन हो?'

गृत्समदने कहा—'मैं तो वनवासी ऋषि हूँ। इन्द्र यहाँ कहाँ? इन्द्र तो महाराज पृथुके यज्ञमें देवोंके साथ भाग ले रहे हैं। वे तो देवोंके देव परम पराक्रमी तेजस्वी देवता हैं। भूमण्डलपर अच्छे कल्याणकारी तथा पुण्यके काम उन्हींके तेज-प्रतापसे सम्पन्न होते हैं। इन्द्रसे तुम्हें क्या काम है?'

असुरोंने कहा—'हम उनका अपहरण करके मारेंगे। यज्ञमें भाग नहीं लेने देंगे।'

गृत्समदने कहा—'इतना गर्व है तो जाओ, यज्ञ तो पूरा होनेवाला होगा। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ यज्ञ-स्थलतक।'

गृत्समद उठे और रास्तेमें इन्द्रके तप-तेज एवं प्रतापकी इतनी बड़ाई करते रहे कि असुरोंका मनोबल टूट गया। यज्ञ-स्थलपर पहुँचे तो ऋषिने इशारेसे दिखाया कि वह देखो इन्द्र यज्ञवेदीपर बैठे हैं। फिर इन्द्रको आवाज देकर बुलाया कि आओ, ये असुर तुम्हें मारने आये हैं।

इन्द्रने पलटकर देखा तो ऋषि असुरोंके पास खड़े थे। इन्द्रने आते ही अपनी गदासे उन असुरोंपर जब प्रहार किया तो वे असुर थके तो थे ही, उनका मनोबल भी टूट चुका था, अतः वे इन्द्रका सामना न कर सके और वहीं धराशायी हो गये।

इन्द्रने कहा—'ऋषिवर! आप कहाँ चले गये थे?'

गृत्समदने जवाब दिया—'यज्ञ निरापद समाप्त हो जाय और ये असुर भी मारे जायँ, इसलिये असुरोंको भ्रममें डालनेके लिये तुम्हारा रूप बनाकर मैं यहाँसे चला गया और इन्हें छकाता रहा। यज्ञ तो पूरा करना ही था। हम ऋषि-तपस्वी इसी प्रकार सबके कल्याणकारी कामोंमें लगे रहें, इसी भावनासे भूमण्डलपर रहते हैं।' [ऋग्वेद]

(श्रीअमरनाथजी शुक्ल)

निर्मल मनकी प्रसन्नता

कनिष्ठाः पुत्रवत् पाल्या भ्रात्रा ज्येष्ठेन निर्मलाः।
प्रगाथो निर्मलो भ्रातुः प्रागात् कण्वस्य पुत्रताम्॥

महर्षि घोरके पुत्र कण्व और प्रगाथको गुरुकुलसे लौटे कुछ ही दिन हुए थे। दोनों ऋषिकुमारोंका एक-दूसरेके प्रति हार्दिक प्रेम था। प्रगाथ अपने बड़े भाई कण्वको पिताके समान समझते थे, उनकी पत्नी प्रगाथसे स्नेह करती थी। उनकी उपस्थितिसे आश्रमका वातावरण बड़ा निर्मल और पवित्र हो गया था। यज्ञकी धूमशिखा आकाशको चूम-चूमकर निरन्तर महती सात्त्विकताकी विजयिनी पताका-सी लहराती रहती थी।

एक दिन आश्रममें विशेष शान्तिका साम्राज्य था। कण्व समिधा लेनेके लिये वनके अन्तरालमें गये हुए थे। उनकी साध्वी पत्नी यज्ञवेदीके ठीक सामने बैठी हुई थी। उससे थोड़ी दूरपर ऋषिकुमार प्रगाथ साम-गान कर रहे थे। अत्यन्त शीतल और मधुर समीरणके संचारसे ऋषिकुमारके नयन अलसाने लगे और वे ऋषिपत्नीके अङ्कमें सिर रखकर विश्राम करते-करते सो गये। ऋषिपत्नी किसी चिन्तनमें तन्मय थी।

× × ×

'यह कौन है, इस नीचने तुम्हारे अङ्कमें विश्राम करनेका साहस किस प्रकार किया?' समिधा रखते ही कण्वके नेत्र लाल हो गये, उनका अमित रुद्ररूप देखकर ऋषिपत्नी सहम गयी।

'देव!' वह कुछ और कहने ही जा रही थी कि कण्वने प्रगाथकी पीठपर पद-प्रहार किया। ऋषिकुमारकी आँखें खुल गयीं। वह खड़ा हो गया। उसने कण्व ऋषिको प्रणाम किया।

'आजसे तुम्हारे लिये इस आश्रमका दरवाजा बंद है प्रगाथ!' कण्व ऋषिकी वाणी क्रोधकी भयंकर ज्वालासे प्रज्वलित थी, उनका रोम-रोम सिहर उठा था।

'भैया! आप तो मेरे पिताके समान हैं और ये तो साक्षात् मेरी माता हैं।' प्रगाथने ऋषिपत्नीके चरणोंमें श्रद्धा प्रकट कर कण्वका शंका-समाधान किया।

कण्व धीरे-धीरे स्वस्थ हो रहे थे, पर उनके सिरपर संशयका भूत अब भी नाच रहा था।

'ऋषिकुमार प्रगाथने सच कहा है देव! मैंने तो आश्रममें पैर रखते ही उनका सदा पुत्रके समान पालन किया है। बड़े भाईकी पत्नी देवरको सदा पुत्र मानती है, इसको तो आप जानते ही हैं; पवित्र भारत देशका यही आदर्श है।' ऋषिपत्नीने कण्वका क्रोध शान्त किया।

'भाई प्रगाथ! दोष मेरे नेत्रोंका ही है, मैंने महान् पाप कर डाला; तुम्हारे ऊपर व्यर्थ शंका कर बैठा।' ऋषि कण्वका शील समुत्थित हो उठा, उन्होंने प्रगाथका आलिङ्गन करके स्नेह-दान दिया। प्रगाथने उनकी चरणधूलि मस्तकपर चढ़ायी।

'भाई नहीं, ऋषिकुमार प्रगाथ हमारा पुत्र है। ऋषिकुमारने हमारे सम्पूर्ण वात्सल्यका अधिकार पा लिया है।' ऋषिपत्नीकी ममताने कण्वका हृदय-स्पर्श किया।

'ठीक है, प्रगाथ हमारा पुत्र है। आजसे हम दोनों इसके माता-पिता हैं।' कण्वने प्रगाथका मस्तक सूँघा।

आश्रमकी पवित्रतामें नवीन प्राण भर उठा—जिसमें सत्य वचनकी गरिमा, निर्मल मनकी प्रसन्नता और हृदयकी सरलताका सरस सम्मिश्रण था।

—[बृहद्देवता अ० ६। ३५—३९]

निर्गुण-निराकार हैं वे ही, निर्विशेष वे ही पर-तत्त्व।
वही सगुण हैं निराकार सविशेष सृष्टि-संचालक तत्त्व॥
वही सगुण-साकार दिव्य लीलामय शुद्ध-सत्त्व भगवान।
अगुण-सगुण-साकार सभी हैं एक अभिन्न रूप सुमहान॥

(पद-रत्नाकर १२७३)

सुकन्याका कन्या-धर्म-पालन

सुकन्या राजा शर्यातिकी पुत्री थी। एक बार राजा गाँवोंका दौरा कर रहे थे। उन्होंने जहाँ अपना शिविर लगाया था, वहाँ च्यवन ऋषि घोर तपस्यामें लीन थे। उनके देहपर मिट्टी जम गयी थी। इसलिये महर्षिका शरीर स्पष्ट दीखता न था। कुमारोंने समझा कि यह कोई अनर्थकारी तत्त्व है, जिससे प्रजाका अहित होगा। ऐसा सोचकर उन लोगोंने ढेला मार-मारकर ऋषिको ढक दिया।

इस पापसे राजाके शिविरमें मतिभ्रम उत्पन्न हो गया। पिता-पुत्रसे लड़ने लगा और भाई-भाईसे। प्रत्येक व्यक्ति उपद्रवी हो उठा था। शिविरमें घोर अशान्ति फैल गयी थी। राजा शर्याति समझ गये कि यहाँपर हम लोगोंमेंसे किसीके द्वारा कोई अपराध हो गया है। पूछनेपर पता चला कि कुमारोंने ढेला मार-मारकर किसीको बहुत चोट पहुँचायी है। अन्तमें यह भी पता चला कि जिनको आहत किया गया है, वे च्यवन ऋषि हैं। उनको प्रसन्न करनेके लिये राजा ऋषिके पास पहुँचे। उनके साथ उनकी लाडली कन्या सुकन्या भी थी। अपराधके लिये क्षमा-याचना करते हुए राजाने कहा—'महर्षे! अनजानसे हम लोगोंके द्वारा आपका तिरस्कार हो गया है। आप हम लोगोंपर प्रसन्न हो जायँ।' महर्षिने कहा कि 'अपनी कन्याको मुझे दे दो, सेवाकी आवश्यकता आ पड़ी है। मैं तुम्हें क्षमा कर दूँगा।' **'स होवाच—सु वै मे सुकन्या देहीति**।' राजा विवश थे। सबके हितके लिये उन्होंने अपने हृदयके टुकड़ेको बूढ़े च्यवनके हाथमें दे दिया। उनको अपनी कन्यापर विश्वास था कि उदात्त विचारवाली उनकी लाडली कन्या प्रजाके हितके लिये अपना बलिदान स्वीकार कर लेगी।

सुकन्याको देते ही सब प्रकृतिस्थ हो गये। सर्वत्र पहलेकी तरह शान्ति छा गयी। सबका चित्त प्रसन्न हो गया। परस्पर एक-दूसरेके प्रति जो राग-द्वेष उत्पन्न हो गया था, उनकी याद भी उन्हें न रही।

उन दिनों दोनों अश्विनीकुमार रोगियोंकी चिकित्साके लिये पृथ्वीपर घूम रहे थे।[१] उन्होंने सुकन्याको देखा। सुकन्या बहुत सुन्दरी थी। दोनों अश्विनीकुमारोंने उसे देखा और कहा—'सुकन्ये! इस जीर्ण-शीर्णको अपना पति क्यों बनाना चाह रही हो?' हम दोनोंमेंसे एकको पति बना लो।[२] सुकन्याने नम्रताके साथ हाथ जोड़कर कहा—'पिताजीने जिस व्यक्तिको मुझे दे दिया है, उसे मैं जीते जी कभी नहीं छोड़ूँगी'—(क) '**नेति होवाच। यस्मा एव मा पिताऽदात् तस्य जाया भविष्यामीति**' (जै० ब्रा०)। (ख) '**सा होवाच यस्मै मां पिताऽदान्नैवाहं तं जीवन्तः हास्यामीति**' (श० ब्रा० ४। १। ५। ९)।

इस तरह सुकन्याने अपने पिताके वचनका पालन किया। जैसे पुत्रका कर्तव्य पिताके वचनका पालन करना होता है, वैसे ही कन्याका भी कर्तव्य होता है कि सभी परिस्थितियोंमें अपने पिताके वचनका पालन करे। सुकन्याने बहुत धीरताके साथ अपने धर्मका पालन किया।

इसका परिणाम बहुत ही अच्छा हुआ। ऋषि दयालु होते हैं। उनसे सबका हित ही होता है। सुकन्याके जीवनको सरस बनानेके लिये एक उपाय बताया। वह उपाय सफल हो गया। अश्विनीकुमार भी सुकन्याके धर्म-पालनसे बहुत संतुष्ट थे। उन्होंने च्यवन ऋषिको युवा बना दिया, केवल युवा ही नहीं बना दिया, अपितु अपने-जैसा रूप और चिर-यौवन प्रदान किया।

(ला० बि० मि०)

१-एतस्मिन् समये भुवं विचरन्तौ 'भिषज्यतौ' (श० ब्रा० ४। १। ५। ८ की व्याख्या)।
२-कुमारो, स्थविरो वा अयम् असर्वो नाक पतित्वेनायावयोर जयैधीति (जै० ब्रा०)।

मनुष्य होकर भी देव कौन?

जो यज्ञिय कर्म करते हैं, वे मनुष्य नहीं, देव होते हैं और वे भी दूसरे देव हैं, जिन्हें याचक पूछने आते हैं कि वह उदार मनुष्य कहाँ है? कारण, वसिष्ठ ऋषि उनकी देववत् स्तुति करते हैं—

न ते मनुष्यास्ते देवा यज्ञियं कर्म कुर्वते।
याचकश्चेति यं पृष्ट्वा वसिष्ठः स्तौति देववत्॥

यज्ञिय कर्म करनेवाला और दान देनेवाला व्यक्ति मनुष्य होता हुआ भी देववत् स्तुतिपात्र होता है। कारण, भारतीय संस्कृतिमें मनीषियोंके पावन कर्मोंमें तीन ही कसौटीके प्रमुख कर्म माने गये हैं—

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(गीता १८। ५)

अर्थात् गीताकार भगवान् श्रीकृष्ण प्रमाणित करते हैं कि यज्ञ, दान और तप मनीषियोंके पावन कर्म हैं। बात भी ठीक है, यज्ञ एक ऐसा रचनात्मक कार्य है, जो सर्ग और स्थिति दोनों काम करता है। जहाँ उसका एक पक्ष '**यज्ञाद्भवति पर्जन्यः**' आदि कार्य-कारणभावद्वारा गीताकारने प्रस्तुत किया है, वहीं दूसरा पक्ष जागतिक वस्तुओंका उपयोगजन्य ह्रास (छीजन) दूर कर सोमादिसे आप्यायन भी विज्ञजन मानते आये हैं। अतएव उभयथा उपकारक यह यज्ञिय कर्म जो लोग किया करते हैं, वे निश्चय ही देववत् पूज्य होने चाहिये। यहाँ प्रसिद्ध उपमानकी दृष्टिसे देव प्रस्तुत हैं। भारतीय प्राचीन वाङ्मयकी तन्मयता रही है कि देव सदैव मानवका पोषण किया करते हैं। अतः हमें भी देव बनना हो तो सदैव यज्ञादि कर्मों एवं दानमें तत्पर रहना चाहिये। वसिष्ठ ऋषिने इन्हीं मानवरूपधारी द्विविध देवोंकी इस ऋचासे स्तुति की है—

स मर्तो अग्ने स्वनीक रेवानमर्त्ये य आजुहोति हव्यम्।
स देवता वसुवनिं दधाति यं सूरिरर्थी पृच्छमान एति॥

(ऋक्० ७। १। २३)

अर्थात् वसिष्ठ ऋषि त्रिष्टुप् छन्दसे अग्निकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे सुतेजा अग्ने! वही मनुष्य धनवान् है, जो निर्धन होकर भी देवस्वरूप आपमें हविका हवन करता है। वही मानव देवताओंको धनवान् बनाता है, जिसके लिये विद्वान् याचक यह पूछता जाता है कि 'कहाँ है वह उदारमना, क्या कर रहा है वह मुक्तहस्त?' वही अपर देवता है।

[वेदोपदेश-चन्द्रिका]

आपद्धर्म

एक समय कुरुदेशमें ओलोंकी बड़ी भारी वर्षा हुई। इससे सारे उगते हुए पौधे नष्ट हो गये और भयानक अकाल पड़ गया। दुष्कालसे पीड़ित प्रजा अन्नके अभावसे देश छोड़कर भागने लगी। वहीं एक उषस्ति नामके ब्राह्मण भी रहते थे। उनकी पत्नीका नाम आटिकी था। वह अभी बालिका ही थी। उसे लेकर उषस्ति भी देश छोड़कर इधर-उधर भटकने लगे। भटकते-भटकते वे दोनों एक महावतोंके ग्राममें पहुँचे। भूखके मारे बेचारे उषस्ति उस समय मरणासन्न दशाको प्राप्त हो रहे थे। उन्होंने देखा कि एक महावत उबाले हुए उड़द खा रहा है। वे उसके पास गये और उससे कुछ उड़द देनेको कहा। महावतने कहा—'मैं इस बर्तनमें रखे हुए जो उड़द खा रहा हूँ, इनके अतिरिक्त मेरे पास और उड़द हैं ही नहीं, तब मैं कहाँसे दूँ?' उषस्तिने कहा—'मुझे इनमेंसे ही कुछ दे दो।' इसपर महावतने थोड़ा-सा उड़द उषस्तिको दे दिया और सामने जल रखकर कहा कि 'लो, उड़द खाकर जल पी लो।' उषस्ति बोले—'नहीं, मैं यह जल नहीं पी सकता; क्योंकि इसके पीनेसे मुझे उच्छिष्ट-पानका दोष लगेगा।'

महावतको इसपर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा कि 'ये उड़द भी तो हमारे जूठे हैं; फिर जलमें ही क्या रखा है, जो इसमें जूँठनका दोष आ पड़ा?'

उषस्तिने कहा—'भाई! मैं यदि यह उड़द न खाता तो मेरे प्राण निकल जाते। प्राणोंकी रक्षाके लिये आपद्धर्मके व्यवस्थानुसार ही मैं उड़द खा रहा हूँ, पर जल तो अन्यत्र भी मिल जायगा। यदि उड़दकी तरह ही मैं तुम्हारा जूठा जल भी पी लूँ, तब तो वह स्वेच्छाचार हो जायगा। इसलिये भैया! मैं तुम्हारा जल नहीं पीऊँगा।' यों कहकर उषस्तिने कुछ उड़द स्वयं खा लिये और शेष अपनी पत्नीको दे दिये। ब्राह्मणीको

पहले ही कुछ खानेको मिल गया था; इसलिये उन उड़दोंको उसने खाया नहीं, अपने पास रख लिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल उषस्तिने नित्यकृत्यके बाद अपनी पत्नीसे कहा—'क्या करूँ, मुझे जरा-सा भी अन्न कहींसे खानेको मिल जाय तो मैं अपना निर्वाह होने योग्य कुछ धन प्राप्त कर लूँ; क्योंकि यहाँसे समीप ही एक राजा यज्ञ कर रहा है, वह ऋत्विक्‌के कार्यमें मेरा भी वरण कर लेगा।'

इसपर उनकी पत्नी आटिकीने कहा—'मेरे पास कलके बचे हुए उड़द हैं; लीजिये, उन्हें खाकर आप यज्ञमें चले जाइये।' भूखसे सर्वथा अशक्त उषस्तिने उन्हें खा लिया और वे राजाके यज्ञमें चले गये। वहाँ जाकर वे उद्गाताओंके पास बैठ गये और उनकी भूल देखकर बोले—'प्रस्तोतागण! आप जानते हैं—जिन देवताकी आप स्तुति कर रहे हैं, वे कौन हैं? याद रखिये, आप यदि अधिष्ठाताको जाने बिना स्तुति करेंगे तो आपका मस्तक गिर पड़ेगा।' और इसी प्रकार उन्होंने उद्गाताओं एवं प्रतिहर्ताओंसे भी कहा। यह सुनते ही सभी ऋत्विज् अपने-अपने कर्म छोड़कर बैठ गये।

राजाने अपने ऋत्विजोंकी यह दशा देखकर उषस्तिसे पूछा—'भगवन्! आप कौन हैं? मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।' उषस्तिने कहा—'राजन्! मैं चक्रका पुत्र उषस्ति हूँ।' राजाने कहा—'ओहो, भगवन् उषस्ति आप ही हैं?' मैंने आपके बहुत-से गुण सुने हैं। इसीलिये मैंने ऋत्विज्‌के कामके लिये आपकी बहुत खोज करवायी थी; पर आप न मिले और मुझे दूसरे ऋत्विजोंको वरण करना पड़ा। यह मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो आप किसी प्रकार स्वयं पधार गये। अब ऋत्विज्-सम्बन्धी समस्त कर्म आप ही करनेकी कृपा करें।'

उषस्तिने कहा—'बहुत अच्छा! परंतु इन ऋत्विजोंको हटाना नहीं, मेरे आज्ञानुसार ये अपना-अपना कार्य करें और दक्षिणा भी जो इन्हें दी जाय, उतनी ही मुझे देना (न तो मैं इन लोगोंको निकालना चाहता हूँ और न दक्षिणामें अधिक धन लेकर इनका अपमान ही करना चाहता हूँ। मेरी देख-रेखमें ये सब काम करते रहेंगे)।' तदनन्तर सभी ऋत्विज् उषस्तिके पास जाकर तत्त्वोंको जानकर यज्ञकार्यमें लग गये और विधिपूर्वक वह यज्ञ सम्पन्न हुआ।

[छान्दोग्य० १। १०-११]

अग्नियोंद्वारा उपदेश

कमलका पुत्र उपकोसल सत्यकाम जाबालके यहाँ ब्रह्मचर्य ग्रहण करके अध्ययन करता था। बारह वर्षोंतक उसने आचार्य एवं अग्नियोंकी उपासना की। आचार्यने अन्य सभी ब्रह्मचारियोंका समावर्तन-संस्कार कर दिया और उन्हें घर जानेकी आज्ञा दे दी। केवल उपकोसलको ऐसा नहीं किया।

उपकोसलके मनमें दुःख हुआ। गुरुपत्नीको उसपर दया आ गयी। उसने अपने पतिसे कहा—'इस ब्रह्मचारीने बड़ी तपस्या की है, ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करते हुए विद्याध्ययन किया है। साथ ही आपकी तथा अग्नियोंकी विधिपूर्वक परिचर्या की है। अतएव कृपया इसको उपदेश कर इसका भी समावर्तन कर दीजिये। अन्यथा अग्नि आपको उलाहना देंगे।' पर सत्यकामने बात अनसुनी कर दी और बिना कुछ कहे ही वे कहीं अन्यत्र यात्रामें चले गये।

उपकोसलको इससे बड़ा क्लेश हुआ। उसने अनशन आरम्भ किया। आचार्यपत्नीने कहा—'ब्रह्मचारी! तुम भोजन क्यों नहीं करते?' उसने कहा—'माँ, मुझे बड़ा मानसिक क्लेश है, इसलिये भोजन नहीं करूँगा।'

अग्नियोंने सोचा—'इस तपस्वी ब्रह्मचारीने मन लगाकर हमारी बहुत सेवा की है। अतएव उपदेश करके इसके मानसिक क्लेशको मिटा दिया जाय।' ऐसा विचार करके उन्होंने उपकोसलको ब्रह्मविद्याका यथोचित उपदेश दे दिया। तदनन्तर कुछ दिनों बाद उसके आचार्य सत्यकाम यात्रासे लौटे। इधर उपकोसलका मुखमण्डल ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान हो रहा था। आचार्यने पूछा—'सौम्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ता-जैसा दीख रहा है; बता तुझे किसने ब्रह्मका उपदेश किया?' उपकोसलने बड़े संकोचसे सारा समाचार सुनाया। इसपर आचार्यने कहा—'यह सब उपदेश तो अलौकिक नहीं हैं। अब मुझसे उस अलौकिक ब्रह्मतत्त्वका उपदेश सुन, जिसे भली प्रकार जान लेनेपर—साक्षात् कर लेनेपर पाप-ताप प्राणीको उसी प्रकार स्पर्श नहीं कर पाते, जैसे कमलके पत्तेको जल।'

इतना कहकर आचार्यने उपकोसलको ब्रह्मतत्त्वका रहस्यमय उपदेश किया और समावर्तन-संस्कार करके उसे घर जानेकी आज्ञा दे दी।

पूज्य सदैव सम्माननीय

वेद-शास्त्रादि विभिन्न ग्रन्थोंमें पूज्योंका आदर करने तथा उनका कभी अपमान न करनेके अनेक वचन और कितने ही उदाहरण मिलते हैं। इसीलिये नीति-वचनमें कहा गया है—

अप्युन्नतपदारूढः पूज्यान् नैवापमानयेत्।
इक्ष्वाकूणां ननाशाग्नेस्तेजो वृशावमानतः॥

अर्थात् कोई कितने ही ऊँचे पदपर पहुँच जाय, भूलकर भी पूज्योंका अपमान न करे, क्योंकि इक्ष्वाकुवंशीय त्रैवृष्ण त्र्यरुण राजाने अपने पुरोहित वृश-ऋषिका अपमान किया तो उनके राज्यमें अग्निका तेज ही नष्ट हो गया। यह अद्भुत वैदिक कथा इस प्रकार है—

(१)

सप्तसिन्धवके प्रतापशाली सम्राटोंमें इक्ष्वाकुवंशीय महाराज त्रैवृष्ण त्र्यरुण अत्यन्त प्रतापी और उच्च कोटिके विद्वान् राजा हुए हैं। सत्यनिष्ठा, प्रजावत्सलता, उदारता आदि सभी प्रशंसनीय सद्गुण मानो उस-जैसे सत्पात्रमें बसनेके लिये अहमहमिकासे लालायित रहते। समन्वयके उस सेतुको पाकर संसारमें प्रायः दीखनेवाला लक्ष्मी-सरस्वतीका विरोध भी मानो सदाके लिये मिट गया।

महाराजकी तरह उनके पुरोहित वृश ऋषि भी उच्च कोटिके अद्वितीय विद्वान्, मन्त्रद्रष्टा, आभिचारिकादि कर्मोंमें अतिनिष्णात ब्रह्मवेत्ता थे। साथ ही वे अत्यन्त शूर-वीर भी थे।

प्राचीन भारतीय राजनीतिमें पुरोहित राजाकी मन्त्रि-परिषद्का प्रमुख घटक माना जाता था। जहाँ राजाकी क्षात्र-शक्ति प्रजामें आधिभौतिक सुख-सुविधा और शान्तिके प्रस्थापनार्थ समस्त लौकिक साधनोंका संयोजन और बाधक तत्त्वोंका विघटन करती थी, वहीं पुरोहितकी ब्राह्मशक्ति आध्यात्मिक एवं आधिदैविक सुख-शान्तिके साधन जुटाने और आधिदैविक बाधाओंके मिटा देनेके काम आती। इस तरह **'इदं ब्राह्ममिदं क्षात्रम्'** दोनों प्रकारसे पोषित महाराज त्रैवृष्णकी प्रजा सर्वविध सुख-सुविधाओंसे परिपूर्ण रहा करती। वृश ऋषि-जैसे सर्वसमर्थ पुरोहितके मणि-काञ्चन-योगसे त्रैवृष्णके राज्यशकटके दोनों चक्र सुपुष्ट, सुदृढ़ बन गये थे। फलतः प्रजावर्गमें सुख-शान्तिका साम्राज्य छाया हुआ था।

एक बार महाराजने सोचा कि दिग्विजय-यात्रा की जाय। इसमें उनका एकमात्र अभिप्राय यही था कि सभी शासक एक राष्ट्रिय भावमें आबद्ध हो कार्य करें। वे किसी राजाको जीत करके उसकी सम्पत्तिसे अपना कोष भरना नहीं चाहते थे। प्रत्युत उनका यही लक्ष्य था कि इस अभियानमें विजित सम्पत्ति उसी विजित राजाको लौटाकर उसे आदर्श शासनपद्धतिका पाठ पढ़ाया जाय और उसपर चलनेके लिये प्रेरित किया जाय। इस प्रसंगमें जो सर्वथा दुष्ट, अभिमानी, प्रजापीडक शासक मिलें, उनका कण्टकशोधन भी एक आनुषंगिक लक्ष्य मान लिया गया।

तुरंत पुरोहित वृश ऋषिको बुलाकर उन्होंने सादर प्रार्थना की कि 'प्रभो मैं दिग्विजय-यात्रा करना चाहता हूँ। इसमें स्वयं आपको मेरा सारथ्य स्वीकार करना होगा।'

ऋषिने कहा—'जैसी महाराजकी इच्छा! क्या आप बता सकते हैं कि मैंने अपने यजमानकी कभी किसी इच्छाका सम्मान नहीं किया?'

महाराजने कहा—'ऋषे! इस कृपाके लिये मैं अनुगृहीत हूँ।'

(२)

आज महाराज ऐक्ष्वाक त्रैवृष्ण त्र्यरुणकी विजय-यात्राका सुमुहूर्त है। इसके लिये कई दिनोंसे तैयारियाँ चली आ रही हैं। चतुरंगवाहिनी पूरे साज-सामानके साथ सज्ज है। सुन्दर भव्य रथ अनेकानेक अलंकरणोंसे सजाया गया है। महाराज त्र्यरुणने प्राचीन वीरोंका बाना पहन लिया है—सिरपर शिप्रा (लौहनिर्मित शिरस्त्राण) और शरीरमें द्रापि (कवच)! वामहस्तमें धनुष तो दक्षिण हस्तमें कुन्त (भाला) एवं बाणखचित तूणीर पीठपर लटक रहा है तथा पैरोंमें पड़े हैं वाराहचर्म निर्मित पादत्राण (जूते)। पुरोहित वृश ऋषि भी, जो कभी वल्कल वसनोंमें विराजते, आज कवच-शिरस्त्राणसे सुशोभित हो घोड़ोंकी रास पकड़े रथके अग्र भागपर विराजते दीख पड़े। विशों (प्रजा)- के आश्चर्यका ठिकाना न रहा; फिर देर क्या थी? रण-दुन्दुभि बज उठी और सवारी निकल पड़ी विजयके लिये।

महाराज त्र्यरुणकी सवारी जिधर जाती, उधर ही विजयश्री हाथमें जयमाला लिये अगवानी करने लगती।

एक नहीं, दो नहीं—दसियों, शतियों, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी दिशाओंके जनपदोंके सामन्त और पुरोंके राजा बहुमूल्य भेटोंके साथ हृदयके भावसुमन महाराजके चरणोंपर चढ़ाते, स्वागतके लिये पलक-पाँवड़े बिछाते तो कुछ ऐसे भी मिलते जो अपने-अपने सुरक्षित बलसे महाराज त्र्यरुणकी सेनाके साथ दो-दो हाथ करनेको तैयार रहते। महाराज जहाँ प्रजापीडक, मदमत्त शासकोंका गर्व चूर कर उन्हें सन्मार्गका पथिक बनाते, वहीं पुत्रकी तरह प्रजाके पालक शासकोंका अभिनन्दन करते और उन्हें सन्मार्गनिष्ठ बने रहनेके लिये प्रोत्साहित करते।

महाराज त्र्यरुणकी यह विजय-यात्रा किसीके लिये उत्पीडक नहीं हुई। उन्होंने प्रत्येक सत्पथ-पथिकका आप्यायन ही किया। यही कारण है कि इस विजय-यात्रासे सर्वत्र जनसाधारणमें उत्साहकी अपूर्व बाढ़ आ गयी। यात्रा जहाँ प्रस्थान करती, वहीं जनसाधारण नागरिक एवं जनपदवासी सहस्रोंकी संख्यामें उसकी शोभा देखने जुट जाते।

कुछ ही दिनोंमें सर्वत्र विजय-वैजयन्ती फहराते हुए महाराज त्र्यरुण बड़े उल्लासके साथ अपनी राजधानीकी ओर लौट रहे थे। राज्यकी सारी जनता उनके दर्शनार्थ उमड़ पड़ी। व्यवस्थापकोंके लिये जनतापर नियन्त्रण पाना कठिन हो रहा था। सर्वत्र उत्साह और उल्लासका वातावरण छाया था कि अकस्मात् रंगमें भंग हो गया। लाख ध्यान देने और बचानेपर भी शोभायात्राके दर्शनार्थ उतावला एक अबोध ब्राह्मण-बालक रथ-चक्रके बीचमें आ गया और सारा मजा किरकिरा हो गया। सर्वत्र '**अब्रह्मण्यम्, अब्रह्मण्यम्**' की ध्वनि गूँज उठी।

राजकीय रथसे कुचलकर एक ब्राह्मण-बालककी हत्या हो जाय, जिसपर आरूढ हों सम्राट् और जिसे हाँकनेवाले हों साम्राज्यके पुरोहित! अब अपराधी किसे माना जाय? प्रजाके लिये यह बहुत बड़ा यक्ष प्रश्न उपस्थित हो गया। वादी थे उनके सम्राट् त्रैवृष्ण और प्रतिवादी थे ब्रह्मवर्चस्वी पुरोहित ऋषि वृश।

उपस्थित जनसमुदाय ही न्यायकर्ता बना। उसके प्रमुख नायकके समक्ष दोनोंने अपने-अपने तर्क रखे। महाराजने कहा—'पुरोहित रथके चालक थे। उन्हें इसकी सावधानी रखनी चाहिये थी। ब्राह्मण-बालककी हत्याका दोष उनपर भी है।'

पुरोहितने कहा—'वास्तवमें रथके स्वामी रथी तो महाराज हैं और मैं तो हूँ सारथि। वे ही मुख्य हैं और मैं गौण। अवश्य ही रथकी बागडोर मेरे हाथमें रही, पर फलके भागी तो महाराज ही हैं। जब सैनिकोंके युद्ध जीतनेपर भी विजयफल, विजयका सेहरा राजाके ही सिरपर रखा जाता है, तो रथी होनेके कारण ब्राह्मण-बालककी हत्याका दोष भी उनपर ही मढ़ा जाना चाहिये।'

निर्णायकोंकी समझमें कुछ नहीं आ रहा था। पुरोहितका कहना न्यायसंगत तो लगता, पर महाराजका मोह और प्रभाव उन्हें न्यायसे विचलित करने लगता। अन्ततः वही हुआ। निर्णायक सत्ताके प्रभावमें आ गये और उन्होंने महाराजको निर्दोष और पुरोहितको दोषी घोषित कर दिया।

पुरोहित राष्ट्रिय हितकी दृष्टिसे मौन रह गये। उन्होंने प्रतिवादमें एक भी शब्द नहीं कहा।

सभी उपस्थित जन स्तब्ध थे। इसी बीच पुरोहितने वार्ष सामका मंजुल गान गाया। फलस्वरूप अकस्मात् मृत ब्राह्मण-बालक जी उठा। सभी यह देख आश्चर्यचकित रह गये, पर पुरोहित यह कहते चले गये कि ऐसे राज्यमें रहना किसी मनस्वी पुरुषके लिये उचित नहीं। सबने रोकनेका बहुत प्रयत्न किया, परंतु ऋषिने किसीकी एक न सुनी।

(३)

ब्राह्मण-बालकके जी जानेसे लोगोंके आनन्दका ठिकाना न रहा, पर पुरोहितको ही अपराधी घोषित करना और उनका राज्यसे चला जाना सबको खटकने लगा। कारण, यह समस्त राज्यके लिये खतरेसे खाली नहीं था; क्योंकि पुरोहितको '**राष्ट्रगोपः**' माना गया है। वे अपने तपोबल और मन्त्रशक्तिसे सारे राष्ट्रकी सब प्रकारसे रक्षा किया करते हैं। वे पाँच ज्वालाओंसे युक्त वैश्वानर कहे गये हैं। उनकी वाणी-स्थित प्रथम ज्वाला स्वागत एवं सम्मानपूर्ण वचनोंसे शान्त की जाती है। पाद्यके लिये जल लानेसे पादस्थित ज्वाला शान्त होती है। शरीरको नाना अलंकरणोंसे अलंकृत कर देनेपर त्वक्-स्थित ज्वालाका शमन होता है, नितान्त तर्पणसे हृदयस्थित ज्वाला और

घरमें पूर्ण स्वातन्त्र्य देनेसे उनकी उपस्थकी ज्वाला शान्त होती है। अतः राजाका कर्तव्य है कि वह पुरोहित-रूप वैश्वानरकी इन पाँचों ज्वालाओंको उन-उन वस्तुओंके संयोजनसे शान्त रखे। अन्यथा वह आग राष्ट्रको भस्म कर डालती है।

यहाँ तो ऋषि वृश पुरोहितके अपमान और उससे क्रुद्ध हो उनके चले जानेसे राष्ट्रको उनकी ज्वालाओंने नहीं जलाया। कारण, वे स्वभावतः बड़े दयालु थे; पर उनके चले जानेके साथ पूरे राज्यसे ही अग्नि उठ गया।

सायंकाल होते-होते राजभवनके बाहर प्रजाजनोंका समुद्र उमड़ पड़ा और एक ही आक्रोश मचा—'हमें आग दो। सारे परिवार दिनभरसे भूखे हैं। आग सुलगाते-सुलगाते पूरा दिन बीत गया, पर उसमें तेज ही नहीं आता। चूल्हा जलता ही नहीं, रसोई पके तो कैसे? हमारे बाल-बच्चे भूखसे छटपटा रहे हैं।'

महाराज त्रैवृष्ण बरामदेमें आ गये। अपनी प्रजाकी यह दशा देख उन्हें भी अत्यन्त दुःख हुआ। यह समझते देर न लगी कि यह पूज्य पुरोहितके अपमानका ही दुष्परिणाम है। उन्होंने प्रजाजनोंसे थोड़ा धैर्य रखनेको कहा और अपने प्रमुख अधिकारियोंको आदेश दिया कि 'जहाँ-कहीं पुरोहितजी मिलें, उन्हें बड़े आदर और नम्रताके साथ मेरे पास शीघ्र-से-शीघ्र लाया जाय।'

सम्राट्का कठोरतम आदेश! उसके पालनमें देर कहाँ? चारों ओर चर भेजे गये और अन्ततः पुरोहितको ढूढ़ ही निकाला गया। वे निकटवर्ती दूसरे किसी सामन्तके राज्यमें एक उद्यानमें बैठे हुए थे।

राजकीय अधिकारी पुरोहितको ले आये तो महाराज उनके चरणोंपर गिर पड़े और कहने लगे—'महाराज! क्षमा करें और किसी तरह प्रजाको उबारें। आपके चले जानेसे अग्निदेव भी क्रुद्ध हो राज्यभरसे लुप्त हो गये।'

ब्राह्मण-हृदय किसीकी पीड़ा देखते ही पिघल जाता है। प्रजाकी यह दुरवस्था देख ऋषि विचारमें पड़े कि आखिर हुआ क्या? उन्होंने पाँच मिनट ध्यान किया और महाराजसे कहा कि 'अन्तःपुरमें चलें।'

महाराज आश्चर्यमें पड़े कि ऋषि क्या कर रहे हैं! फिर भी चुपचाप वे उनके साथ अन्तःपुरमें पधारे। ऋषिने एक खाटके नीचे छिपा रखा एक शिशु महाराजको दिखाया महाराज कुछ समझ न पाये।

ऋषिने कहा—'महाराज! आपकी पत्नियोंमें एक पिशाचिनी बन गयी है। मेरे रहते उसे अपना उत्पात मचानेका अवसर नहीं मिल पाता था। परंतु मेरे यहाँसे जाते ही उसने चट राज्यभरके अग्निसे सारा तेज उठाकर यहाँ शिशुरूपमें छिपा दिया है। यही कारण है कि पूरे राज्यके अग्निसे तेज जाता रहा।'

महाराज स्तब्ध रह गये। वे पुरोहितकी ओर देख करुणाभरी आँखोंसे इस संकटसे उबारनेकी विनम्र प्रार्थना करने लगे।

वृश ऋषि शिशुरूपधारी अग्नि-तेजको सम्बुद्ध कर आर्षवाणीमें स्तुति करने लगे—

'अग्नि-नारायण! आप बृहत्-ज्योतिके साथ प्रदीप्त होते और अपनी महिमासे समस्त सांसारिक वस्तुओंको प्रकाशित करते हैं। प्रभो! आप असुरोंद्वारा फैलायी हुई मायाको दग्ध कर प्रजाजनोंको उसके कष्टोंसे बचाते हैं। राक्षसोंके विनाशार्थ शृङ्गों-सी ऊपर उठनेवाली अपनी ज्वालाएँ तीक्ष्ण करते हैं।'

'जातवेदा! आप अनेक ज्वालाओंसे युक्त हो निरन्तर बढ़ते हुए अपने उपासकोंकी कामनाएँ पूरी करते हैं और उन्हें निष्कण्टक धन-लाभ कराते हैं। स्वयं अन्य देव आपकी स्तुति करते हैं। भगवन् वैश्वानर! हविको सिद्ध करनेवाले आप मानवमात्रका कल्याण करें। प्रभो! आपके तेजके अभावमें आज सारी प्रजा विपन्न हो बिलख रही है। दयामय! दया करें।'

ज्यों ही पुरोहित वृश ऋषिकी स्तुति पूर्ण हुई, त्यों ही वह शिशु अदृश्य पिशाचिनीके बाहुपाशसे छूटकर सामने अग्निरूपमें प्रकट हो गया। पुनः जैसे ही पिशाचिनी उसे पकड़ने चली, वैसे ही ऋषिके मन्त्र-प्रभावसे भस्म हो उसकी राखका ढेर वहाँ लग गया। इस प्रकार अग्निशिशुके मुक्त होनेके साथ घर-घरकी अग्नि प्रज्वलित हो उठी। प्रजावर्गके आनन्दका ठिकाना न रहा।

महाराजने अपने ब्रह्मवर्चस्वी पुरोहित वृश ऋषिको

साष्टाङ्ग नमस्कार किया और क्षमा माँगने लगे—'प्रभो! अपने सम्राट् पदके गर्वमें आकर मैंने अन्यायपूर्वक आपका घोर अपमान किया; फिर भी आपने कुछ नहीं कहा, चुपचाप ब्राह्मण-बालकके जीवनदानका मुझपर अनुग्रह करते हुए चले गये। परंतु मैंने जो पाप किया, उसका फल मेरी प्रजाको बुरी तरह भुगतना पड़ा, इसका मुझे भारी खेद है। धन्य है आपकी क्षमाशीलता और प्रजावत्सलता, जो आज आपने मुझे और मेरी प्रजाको पुनः उबार कर कृतार्थ किया।'

पुरोहितने राजाको यह कहकर उठाया और गले लगाया कि 'महाराज! इसमें मैंने क्या विशेष किया? आपके राज्यका पुरोहित होनेके नाते प्रजाका कष्ट-निवारण मेरा कर्तव्य ही है।'

महाराजके नेत्रोंसे दो अश्रुविन्दु ऋषिके चरणोंपर लुढ़क पड़े।

ऋग्वेदमें इस कथाका इस प्रकार संकेत किया गया है—

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे॥

(५।२।९)

अर्थात्‌में वृश ऋषि त्रिष्टुप् छन्दसे अग्निकी स्तुति करते हुए कहते हैं—'हे अग्निदेव! आप अत्यन्त महत् तेजसे विद्योतित होते हैं और अपनी इसी महिमासे सारे विश्वको प्रकाशित करते हैं। प्रदीप्त अग्नि दुस्सह आसुरी (अदेवी) मायाको नष्ट कर देते हैं। आप राक्षसोंके विनाशार्थ अपनी शृंगसदृश ज्वालाओंको तीक्ष्ण करते हैं।'

ऋग्वेदके अतिरिक्त बृहद्देवता (५। १४—२३), शाट्यायन ब्राह्मण एवं ताण्ड्य महाब्राह्मण (१३। ३। १२)-में भी इस कथाका निदर्शन हुआ है।

(श्रीगंगेश्वरानन्दजी महाराज)

संगतिका फल

(१)

वासनाका राज्य अखण्ड है। वासनाका विराम नहीं। फल मिलनेपर यदि एक वासनाको हम समाप्त करनेमें समर्थ भी होते हैं तो न जाने कहाँसे दूसरी और उससे भी प्रबल अनेकानेक वासनाएँ पनप जाती हैं। प्रबल कारणोंसे कतिपय वासनाएँ कुछ कालके लिये सुप्त अवश्य हो जाती हैं, परंतु किसी उत्तेजक कारणके आते ही वे जाग पड़ती हैं। भला, कोई स्वप्नमें भी सोच सकता था कि महर्षि सौभरि काण्वका दृढ़ वैराग्य मीनराजके सुखद गार्हस्थ्य-जीवनको देख वायुके एक हलके-से झकोरेसे जड़से उखड़कर भूतलशायी बन जायगा।

महर्षि सौभरि कण्व-वंशके मुकुट थे; उन्होंने वेद-वेदाङ्गका गुरु-मुखसे अध्ययन कर धर्मका रहस्य भलीभाँति जान लिया था। उनका शास्त्र-चिन्तन गहरा था, परंतु उससे भी अधिक गहरा था उनका जगत्‌के प्रपञ्चोंसे वैराग्य। जगत्‌के समग्र विषय-सुख क्षणिक हैं। चित्तको उनसे असली शान्ति नहीं मिल सकती। तब कोई विवेकी पुरुष अपने अनमोल जीवनको इन कौड़ीके तीन विषयोंकी ओर क्यों लगायेगा? आजका विशाल सुख कल ही अतीतकी स्मृति बन जाता है। पलभरमें सुखकी सरिता सूखकर मरुभूमिके विशाल बालूके ढेरके रूपमें परिणत हो जाती है; तब कौन विज्ञ पुरुष इस सरिताके सहारे अपनी जीवन-वाटिकाको हरी-भरी रखनेका उद्योग करेगा? सौभरिका चित्त इन भावनाओंकी रगड़से इतना चिकना बन गया था कि पिता-माताका विवाह करनेका प्रस्ताव चिकने घड़ेपर जल-बूँदके समान उसपर टिक न सका। उन्होंने बहुत समझाया, 'अभी भरी जवानी है, अभिलाषाएँ उमड़ी हुई हैं; तुम्हारे जीवनका यह नया वसन्त है, कामना मञ्जरीके विकसित होनेका उपयुक्त समय है, रस-लोलुप चित्त-भ्रमरको इधर-उधरसे हटाकर सरस माधवीके रसपानमें लगाना है। अभी वैराग्यका बाना धारण करनेका अवसर नहीं।' परंतु सौभरिने किसीके शब्दोंपर कान न दिया। उनका कान तो वैराग्यसे भरे, अध्यात्म-सुखसे सने, मंजुल गीतोंको सुननेमें न जाने कबसे लगा हुआ था।

पिता-माताका अपने पुत्रको गार्हस्थ्य-जीवनमें लानेका उद्योग सफल न हो सका। पुत्रके हृदयमें भी देरतक द्वन्द्व मचा रहा। एक बार चित्त कहता—माता-पिताके वचनोंका

अनादर करना पुत्रके लिये अत्यन्त हानिकारक है। परंतु दूसरी बार एक विरोधी वृत्ति धक्का देकर सुझाती— **'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'** आत्म-कल्याण ही सबसे बड़ी वस्तु ठहरी। गुरुजनोंके वचनों और कल्याण-भावनामें विरोध होनेपर हमें आत्म-कल्याणसे पराङ्मुख नहीं होना चाहिये। सौभरि इस अन्तर्युद्धको अपने हृदयके कोनेमें बहुत देरतक छिपा न सके और घरसे सदाके लिये नाता तोड़कर उन्होंने इस युद्धको भी विराम दिया। महर्षिके जवानीमें ही वैराग्य और अकस्मात् घर छोड़नेसे लोगोंके हृदय विस्मित हो उठे।

(२)

पवित्र नदीतट था। कल्लोलिनी कालिन्दी कल-कल करती हुई बह रही थी। किनारेपर उगे हुए तमाल-वृक्षोंकी सघन छायामें रंग-बिरंगी चिड़ियोंका चहकना कानोंमें अमृत उड़ेल रहा था। घने जंगलके भीतर पशु स्वच्छन्द विचरण करते थे और नाना प्रकारके विघ्नोंसे अलग रहकर विशेष सुखका अनुभव करते थे। सायंकाल गोधूलिकी भव्य वेलामें गायें दूधसे भरे थनोंके भारसे झुकी हुई जब मन्द गतिसे दूरके गाँवोंकी ओर जाती थीं, तब यह दृश्य अनुपम आनन्द उत्पन्न करता था। यमुनाकी सतहपर शीतल पवनके हलके झकोरोंसे छोटी-छोटी लहरियाँ उठती थीं और भीतर मछलियोंके झुण्ड-के-झुण्ड इधर-से-उधर कूदते हुए स्वच्छन्दताके सुखका अनुभव कर रहे थे। यहाँ था शान्तिका अखण्ड राज्य। इसी एकान्त स्थानको सौभरिने अपनी तपस्याके लिये पसन्द किया।

सौभरिके हृदयमें तपस्याके प्रति महान् अनुराग तो था ही, स्थानकी पवित्रता तथा एकान्तताने उनके चित्तको हठात् अपनी ओर खींच लिया। यमुनाके जलके भीतर वह तपस्या करने लगे। भाद्रपदमें भयंकर बाढ़के कारण यमुना-जल बड़े ही वेगसे बढ़ने और बहने लगता; परंतु ऋषिके चित्तमें न तो किसी प्रकारका बढ़ाव था और न किसी प्रकारका बहाव। पौष-माघकी रातोंमें पानी इतना ठंडा हो जाता कि जल-जन्तु भी ठंडके कारण काँपते, परंतु मुनिके शरीरमें जल-शयन करनेपर भी किसी प्रकारकी जड़ता न आती। वर्षाके साथ-साथ ऐसी ठंडी हवा चलती कि प्राणिमात्रके शरीर सिकुड़ जाते; परंतु ऋषिके शरीरमें तनिक भी सिकुड़न न आती। ऐसी विकट तपस्याका क्रम बहुत वर्षोंतक चलता रहा। सौभरिको वह दिन याद था, जब उन्होंने तपस्याके निमित्त अपने पिताका आश्रम छोड़कर यमुनाका आश्रय लिया था। उस समय उनकी भरी जवानी थी, परंतु अब? लम्बी दाढ़ी और मुलायम मूँछोंपर हाथ फेरते समय उन्हें प्रतीत होने लगता कि अब उनकी उम्र ढलने लगी है। जो भी उन्हें देखता, आश्चर्यचकित हो जाता। इतनी विकट तपस्या! शरीरपर इतना कठोर नियन्त्रण! सर्दी-गरमी सह लेनेकी इतनी अधिक शक्ति! दर्शकोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहता। परंतु महर्षिके चित्तकी विचित्र दशा थी। वह नित्य यमुनाके श्यामल जलमें मत्स्यराजकी अपनी प्रियतमाके साथ रतिक्रीडा देखते-देखते आनन्दसे विभोर हो जाते। कभी पति अपनी मानवती प्रेयसीके मानभंजनके लिये हजारों उपाय करते-करते थक जानेपर आत्मसमर्पणके मोहनमन्त्रके सहारे सफल होता और कभी वह मत्स्यसुन्दरी इठलाती, नाना प्रकारसे अपना प्रेम जताती, अपना प्रियतमकी गोदका आश्रय लेकर अपनेको कृतकृत्य मानती। झुण्ड-के-झुण्ड बच्चे मत्स्य-दम्पतिके चारों ओर अपनी ललित लीलाएँ किया करते और उनके हृदयमें प्रमोद-सरिता बहाया करते।

ऋषिने देखा, गार्हस्थ्य-जीवनमें बड़ा रस है। पति-पत्नीके विविध रसमय प्रेम-कल्लोल! बाल-बच्चोंका स्वाभाविक सरल सुखद हास्य! परंतु उनके जीवनमें रस कहाँ? रस (जल)-का आश्रय लेनेपर भी चित्तमें रसका नितान्त अभाव था। उनकी जीवन-लताको प्रफुल्लित करनेके लिये कभी वसन्त नहीं आया। उनके हृदयकी कलीको खिलानेके लिये मलयानिल कभी न बहा। भला, यह भी कोई जीवन है। दिन-रात शरीरको सुखानेका उद्योग, चित्तवृत्तियोंको दबानेका विफल प्रयास। उन्हें जान पड़ता मछलियोंके छोटे-छोटे बच्चे उनके नीरस जीवनकी खिल्ली उड़ा रहे हैं।

संगतिने सोई हुई वासनाको जोरोंसे झकझोर कर जगा दिया। वह अपनेको प्रकट करनेके लिये मार्ग खोजने लगी।

(३)

तपका उद्देश्य केवल शरीरको नाना प्रकारके साधनोंसे तप्त करना नहीं है, प्रत्युत मनको तप्त करना है। सच्चा तप मनमें जमे हुए कामके कूड़े-करकटको

जलाकर राख बना देता है। आगमें तपाये हुए सोनेकी भाँति तपस्यासे तपाया गया चित्त खरा उतरता है। तप स्वयं अग्निरूप है। उसकी साधना करनेपर क्या कभी चित्तमें अज्ञानका अन्धकार अपना घर बना सकता है? उसकी ज्वाला वासनाओंको भस्म कर देती है और उसका प्रकाश समग्र पदार्थोंको प्रकाशित कर देता है। शरीरको पीड़ा पहुँचाना तपस्याका स्वांगमात्र है। नहीं तो क्या इतने दिनोंकी घोर तपस्याके बाद भी सौभरिके चित्तमें प्रपञ्चसे विरति (संसारसे वैराग्य) और भगवान्‌के चरणोंमें सच्ची रति न होती?

वैराग्यसे वैराग्य ग्रहण कर तथा तपस्याको तिलाञ्जलि देकर महर्षि सौभरि प्रपञ्चकी ओर मुड़े और गृहस्थी जमानेमें जुट गये। विवाहकी चिन्ताने उन्हें कुछ बेचैन कर डाला। गृहिणी घरकी दीपिका है; धर्मकी सहचारिणी है। पत्नीकी खोजमें उन्हें दूर-दूर जाना पड़ा। रत्न खोज करनेपर ही प्राप्त होता है, घरके कोनेमें अथवा दरवाजेपर बिखरा हुआ थोड़े ही मिलता है। उस समय महाराज त्रसद्दस्युके प्रबल प्रतापके सामने सप्तसिंधुके समस्त नरेश नतमस्तक थे। वह पुरुवंशके मणि थे; पुरुकुत्सके पुत्र थे। उनका 'त्रसद्दस्यु' नाम नितान्त सार्थक था। आर्योंकी सभ्यतासे सदा द्वेष रखनेवाले दस्युओंके हृदयमें इनके नाममात्रसे कम्प उत्पन्न हो जाती थी। वह सप्तसिंधुके पश्चिमी भागपर शासन करते थे। महर्षिको यमुनातटसे सुवास्तु (सिंधुनदकी सहायक स्वात नदी)-के तीरपर राजसभामें सहसा उपस्थित देखकर उन्हें उतना आश्चर्य नहीं हुआ, जितना उनके राजकुमारीसे विवाह करनेके प्रस्तावपर। इस वृद्धावस्थामें इतनी कामुकता! इनके तो अब दूसरे लोकमें जानेके दिन समीप आ रहे हैं; परंतु आज भी इस लोकमें गृहस्थी जमानेका यह आग्रह है! परंतु सौभरिकी इच्छाका विघात करनेसे भी उन्हें भय मालूम होता था। उनके हृदयमें एक विचित्र द्वन्द्व मच गया। एक ओर तो वे अभ्यागत तपस्वीकी कामना पूर्ण करना चाहते थे, परंतु दूसरी ओर उनका पितृत्व चित्तपर आघात देकर कह रहा था—इस वृद्ध जरद्गवके गलेमें अपनी सुमन-सुकुमार सुताको मत बाँधो। राजाने इन विरोधी वृत्तियोंको बड़ी कुशलतासे अपने चित्तके कोनेमें दबाकर सौभरिके सामने स्वयंवरका प्रस्ताव रखा। उन्होंने कहा, 'क्षत्रिय-कुलकी कन्याएँ गुणवान् पतिका स्वयं वरण किया करती हैं। अतः आप मेरे साथ अन्तःपुरमें चलिये। जो कन्या आपको अपना पति बनाना स्वीकार करेगी, उसे मैं आपके साथ विधिवत् विवाह दूँगा।' राजा वृद्धको अपने साथ लेकर अन्तःपुरमें चले, परंतु उनके कौतुककी सीमा न रही, जब वह वृद्ध अनुमप सर्वांगशोभन युवकके रूपमें महलमें दीख पड़ा। रास्तेमें ही सौभरिने तपस्याके बलसे अपना रूप बदल डाला। जो देखता वही मुग्ध हो जाता। स्निग्ध श्यामल शरीर, ब्रह्मतेजसे चमकता हुआ चेहरा, उन्नत ललाट, अङ्गोंमें यौवनसुलभ स्फूर्ति, नेत्रोंमें विचित्र दीप्ति; जान पड़ता था मानो स्वयं अनंग अङ्ग धारण कर रतिकी खोजमें सजे हुए महलोंके भीतर प्रवेश कर रहा हो। सुकुमारी राजकन्याओंकी दृष्टि इस युवक तापसपर पड़ी। चार आँखें होते ही उनका चित्तभ्रमर मुनिके रूप-कुसुमकी माधुरी चखनेके लिये विकल हो उठी। पिताका प्रस्ताव सुनना था कि सबने मिलकर मुनिको घेर लिया और एक स्वरसे मुनिको वरण कर लिया। राजाने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

सुवास्तुके सुन्दर तटपर विवाह-मण्डप रचा गया। महाराज त्रसद्दस्युने एक साथ अपनी पचास पुत्रियोंका विवाह महर्षि सौभरि काण्वके साथ पुलकितवदन होकर कर दिया और दहेजमें विपुल सम्पत्ति दी—सत्तर-सत्तर गायोंके तीन झुण्ड, श्याम वर्ण वृषभ, जो इन सबके आगे-आगे चलता था, अनेक घोड़े, नाना प्रकारके रंग-बिरंगे कपड़े, अनमोल रत्न। गृहस्थ-जीवनको रसमय बनानेवाली समस्त वस्तुओंको एक साथ एक ही जगह पाकर मुनिकी कामना-वल्ली लहलहा उठी। इन चीजोंसे सज-धजकर रथपर सवार हो मुनि जब यमुना-तटकी ओर आ रहे थे, उस समय रास्तेमें वज्रपाणि भगवान् इन्द्रका देवदुर्लभ दर्शन उन्हें प्राप्त हुआ। ऋषि आनन्दसे गद्गद स्वरमें स्तुति करने लगे—

'हे भगवन्! आप अनाथोंके नाथ हैं और हम लोग बन्धुहीन ब्राह्मण हैं। आप प्राणियोंकी कामनाओंकी अति शीघ्र पूर्ति करनेवाले हैं। आप सोमपानके लिये अपने तेजके साथ हमारे यहाँ पधारिये।'

स्तुति किसको प्रसन्न नहीं करती। इस स्तुतिको सुनकर देवराज अत्यन्त प्रसन्न हुए और ऋषिसे आग्रह करने लगे कि वर माँगो। सौभरिने अपने मस्तकको झुकाकर विनयभरे शब्दोंमें कहना आरम्भ किया, 'प्रभो!

मेरा यौवन सदा बना रहे; मुझमें इच्छानुसार नानारूप धारण करनेकी शक्ति हो, अक्षय रति हो और इन पचास पत्नियोंके साथ एक ही समय रमण करनेकी सामर्थ्य मुझमें हो जाय। वह विश्वकर्मा मेरे लिये सोनेके महल बना दें, जिनके चारों ओर कल्पवृक्षसे युक्त पुष्प-वाटिकाएँ हों। मेरी पत्नियोंमें किसी प्रकारकी स्पर्धा, परस्पर कलह कभी न हो। आपकी दयासे मैं गृहस्थीका पूरा-पूरा सुख उठा सकूँ।'

इन्द्रने गम्भीर स्वरमें कहा, 'तथास्तु!' देवताने भक्तकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। भक्तका हृदय आनन्दसे गद्‌गद हो उठा।

(४)

वस्तुके पानेकी आशामें जो आनन्द आता है, वह उसके मिलनेपर नहीं। मनुष्य उसे पानेके लिये बेचैन बना रहता है, लाखों कोशिशें करता है; उसकी कल्पनासे ही उसके मुँहसे लार टपकने लगती है, परंतु वस्तुके मिलते ही उसमें विरसता आ जाती है, उसका स्वाद फीका पड़ जाता है, उसकी चमक-दमक जाती रहती है और रोज-रोजकी गले पड़ी वस्तुओंके ढोनेके समान उसका भी ढोना दूभर हो जाता है। गृहस्थीमें दूरसे आनन्द अवश्य आता है, परंतु गले पड़नेपर उसका आनन्द उड़ जाता है, केवल तलछट बाकी रह जाता है।

महर्षि सौभरिके लिये गृहस्थीकी लता हरी-भरी सिद्ध नहीं हुई। बड़ी-बड़ी कामनाओंको हृदयमें लेकर वे इस घाट उतरे थे, परंतु यहाँ विपदाके जल-जन्तुओंके कोलाहलसे सुखपूर्वक खड़ा होना भी असम्भव हो गया। विचारशील तो वे थे ही। विषयों—सुखोंको भोगते-भोगते वैराग्य—और अब सच्चा वैराग्य—उत्पन्न हो गया। सोचने लगे—'क्या यही सुखद जीवन है, जिसके लिये मैंने वर्षोंकी साधनाका तिरस्कार किया है? मुझे धन-धान्यकी कमी नहीं है; मेरे पास अतुलनीय गो-सम्पत्ति है; भूखकी ज्वालाके अनुभवका अशुभ अवसर मेरे सामने कभी नहीं आया; परंतु मेरे चित्तमें चैन नहीं। कल-कण्ठ कामिनियोंके कोकिल-विनिन्दित स्वरने मेरी जीवन-वाटिकामें वसन्त लानेका उद्योग किया, वसन्त आया भी, पर उसकी सरसता टिक न सकी। बालक-बालिकाओंकी मधुर काकलीने मेरे जीवनोद्यानमें पावसको ले आनेका प्रयत्न किया, परंतु मेरा जीवन सदाके लिये हरा-भरा न हो सका। हृदय-वल्ली कुछ कालके लिये जरूर लहलहा उठी, परंतु पतझड़के दिन शीघ्र आ धमके; पत्ते मुरझाकर झड़ गये। क्या यही सुखमय गार्हस्थ्य-जीवन है? बाहरी प्रपञ्चमें फँसकर मैंने आत्मकल्याणको भुला दिया। मानव-जीवनकी सफलता इसीमें है कि योगके द्वारा आत्मदर्शन किया जाय— '**यद्योगेनात्मदर्शनम्**', परंतु भोगके पीछे मैंने योगको भुला दिया; अनात्माके चक्करमें पड़कर मैंने आत्माको बिसार दिया और प्रेयोमार्गका अवलम्बन कर मैंने '**श्रेयः**'—आत्यन्तिक सुखकी उपेक्षा कर दी। भोगमय जीवन वह भयावनी भूल-भुलैया है, जिसके चक्करमें पड़ते ही हम अपनी राह छोड़ बेराह चलने लगते हैं और अनेक जन्म चक्कर काटनेमें ही बिता देते हैं। कल्याणके मार्गमें जहाँसे चलते हैं, घूम-फिरकर पुनः वहीं आ जाते हैं। एक डग भी आगे नहीं बढ़ पाते।

'कच्चा वैराग्य सदा धोखा देता है। मैं समझता था कि इस कच्ची उम्रमें मेरी लगन सच्ची है, परंतु मिथुनचारी मत्स्यराजकी संगतिने मुझे इस मार्गमें ला घसीटा। सच्चा वैराग्य हुए बिना भगवान्‌की ओर बढ़ना प्रायः असम्भव-सा ही है। इस विरतिको लानेके लिये साधु-संगति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। बिना आत्मदर्शनके यह जीवन भार है। अब मैं अधिक दिनोंतक इस बोझको नहीं ढो सकता।'

दूसरे दिन लोगोंने सुना—महर्षि सौभरिकी गृहस्थी उजड़ गयी। महर्षि सच्चे निर्वेदसे यह प्रपञ्च छोड़ जंगलमें चले गये और सच्ची तपस्या करते हुए भगवान्‌में लीन हो गये। जिस प्रकार अग्निके शान्त होते ही उसकी ज्वालाएँ वहीं शान्त हो जाती हैं, उसी प्रकार पतिकी आध्यात्मिक गतिको देखकर पत्नियोंने भी उनकी संगतिसे सद्‌गति प्राप्त की। संगतिका फल बिना फले नहीं रहता। मनुष्यको चाहिये कि वह सज्जनोंकी संगतिका लाभ उठाकर अपने जीवनको धन्य बनावे। दुष्टोंका संग सदा हानिकारक होता है। विषयी पुरुषके संगमें विषय उत्पन्न न होगा तो क्या वैराग्य उत्पन्न होगा? मनुष्यको आत्मकल्याणके लिये सदा जागरूक रहना चाहिये। जीवनका यही लक्ष्य है। पशु-पक्षीके समान जीना, अपने स्वार्थके पीछे हमेशा लगे रहना मानवता नहीं है।

(पद्मभूषण आचार्य श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

वेदोंमें देवता-तत्त्व

[वेदोंमें सर्वोत्कृष्ट तत्त्व ही 'देव' शब्दसे वाच्य है। यद्यपि धातुकोशों, निरुक्त आदिमें सर्वशक्तिमान् दीपकी कान्ति, आभा, लावण्य, ऐश्वर्य एवं अनन्त तथा अक्षय शोभायुक्त, नित्य अजर-अमर आनन्द एवं सुखमें निमग्न अलौकिक व्यक्तित्वको 'देव' या 'देवता' कहकर निर्दिष्ट कराया गया है, तथापि इतने मात्रसे ही देवता-तत्त्वका सम्पूर्ण परिचय नहीं प्राप्त होता।

*देवताका रहस्य बृहद्देवता बताती है, उसके प्रथमाध्यायके पाँच श्लोकों (६१—६५)-से पता चलता है कि इस ब्रह्माण्डके मूलमें एक ही शक्ति विद्यमान है, जिसे ईश्वर कहा जाता है। वह '**एकमेवाद्वितीयम्**' है। उस एक ब्रह्मकी नानारूपोंमें—विविध शक्तियोंकी अधिष्ठातृरूपोंमें स्तुति की गयी है। नियन्ता एक ही है; इसी मूल सत्ताके विकास सारे देव हैं। इसलिये जिस प्रकार एक ही धागेमें मालाकी सारी मणियाँ ओतप्रोत रहती हैं और उसे केवल माला ही कहा जाता है, इसी तरह सूर्य, विष्णु, गणेश, वाग्देवी, अदिति या जितने देवता हैं—सबको परमात्मरूपसे माना जाता है।*

ऋषियोंने जिन प्राकृतिक शक्तियोंकी प्रशंसा की है—वह उनके स्थूलरूपकी नहीं है; प्रत्युत उनकी अधिष्ठातृ-चेतन-शक्तिकी की है। इस चेतन-शक्तिको वे ऋषि परमात्मासे पृथक् या स्वतन्त्र नहीं मानते—परमात्मरूप ही मानते थे। ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमें ही अग्निकी स्तुति की गयी है, किंतु अग्निको परमात्मासे पृथक् मानकर नहीं। ऋषि स्थूल अग्निरूपके ज्ञाता होते हुए भी सूक्ष्म अग्नि—परमात्म-शक्तिरूपके स्तोता और प्रशंसक थे। वे मरणशील अग्निमें व्याप्त अमरताके उपासक थे। इसी तरह इन्द्रको भी देवता मानते हुए इन्द्रकी सूक्ष्म शक्तिको परमात्म-शक्तिसे पृथक् नहीं समझते थे—परमात्मरूप समझते थे।

*परमात्मा एक हैं। विद्वान् लोग उनकी अनेक प्रकारसे कामना करते हैं। जो कुछ हुआ है, जो कुछ होनेवाला है—वह सब कुछ ईश्वर है। ईश्वर देवताओंके स्वामी हैं। जैसे—जीवात्माके स्वामी होते हुए भी परमात्मा और जीवात्मा एक हैं, उसी तरह देवोंके स्वामी होते हुए भी ईश्वर और देवता एक हैं। इससे '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' का वैदिक उद्घोष सार्थक होता है।*

*वेदोंके प्रत्येक मन्त्रमें देवता-तत्त्व समाहित है। अतः इस स्तम्भमें देवतासे सम्बन्धित तात्त्विक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।—**सम्पादक**]*

वैदिक मन्त्रोंमें देवताका परिज्ञान

वैदिक ऋषियोंने देवताओंके महाभाग्यका प्रत्यक्ष अनुभव किया है। महाभाग्यशाली होनेके कारण ही वे एक देवताका अनेक रूपोंमें प्रत्यक्ष अनुभव कर उनके रूपानुरूप विविध कार्य-कलापोंका वर्णन किये हैं, जैसे—

देवताओंका यह ऐश्वर्य ऋषियोंको भलीभाँति ज्ञात था, इसलिये जिस कामनासे जो ऋषि जिस मन्त्रमें जिस देवताकी स्तुति करते हैं, उस मन्त्रके वे ही देवता माने जाते हैं*। तात्पर्य यह है कि 'अमुक देवताके प्रसादसे अमुक अर्थका स्वामी बनूँगा' इस बुद्धिके साथ जिस मन्त्रमें जिस देवताकी स्तुति की गयी, उस मन्त्रके वे देवता हुए। यह स्तुति चार प्रकारोंसे की गयी है—१-नामसे, २-बन्धुओंसे, ३-कर्मसे और ४-रूपसे। अर्थात् जिन मन्त्रोंमें अग्नि, इन्द्र, वरुण आदिके नामोल्लेखपूर्वक उनकी स्तुति की गयी है, उन मन्त्रोंके अग्नि, इन्द्र आदि देवता हैं। जिन मन्त्रोंमें अग्नि, इन्द्र आदिके बन्धुओंका नाम लेकर स्तुति की गयी है, उन मन्त्रोंके भी प्राधान्यतः अग्नि, इन्द्र आदि देवता होंगे। जिन मन्त्रोंमें अग्नि, इन्द्र आदिके क्रिया-कलापोंकी वर्णनात्मक स्तुति की गयी है, उन मन्त्रोंके भी वे ही अग्नि, इन्द्र आदि देवता माने जायँगे और जिन मन्त्रोंमें अग्न्यादि देवोंके रूपोंके आधारपर स्तुति की गयी है, उन मन्त्रोंके भी वे ही अग्न्यादि देवता होंगे। इस प्रकार नाम, बन्धु, कर्म और रूप—इनमें किसी प्रकारसे जिस मन्त्रमें जिनकी स्तुति की गयी, उस मन्त्रके वे देवता हुए।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट होता है कि नाम, बन्धु, कर्म और रूपसे जिस मन्त्रमें जिस देवताका लक्षण प्रतीत होता है, उस मन्त्रका वही देवता होता है। परंतु जिस मन्त्रमें नाम-रूपादिके वर्णन नहीं होनेसे देवताके स्वरूपका निर्देश नहीं होता, उस मन्त्रका देवता

* यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते। तद्दैवतः स मन्त्रो भवति॥ (निरुक्त ७।१।१)

किसे माना जाय[१] ? इस जिज्ञासाका समाधान करते हुए महर्षि यास्कने बतलाया है—'**यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा, तद्देवता भवति।**'[२] अर्थात् जिस यज्ञका जो देवता है, उस यज्ञमें विनियुक्त होनेवाले अनादिष्ट देवतालिङ्गक मन्त्रोंका वही यज्ञिय देवता होगा। जैसे अग्निष्टोम-यज्ञ आग्नेय—'अग्नि-देवताक' है, वहाँ (अग्निष्टोम-यज्ञमें) विनियुक्त होनेवाले अनादिष्ट-देवताक मन्त्र आग्नेय होंगे। प्रकरणसे वहाँ देवताका निर्णय किया जायगा[३]।

अथवा प्रातःसवनमें विनियुक्त होनेवाले अनादिष्ट-देवताक मन्त्र आग्नेय, माध्यन्दिनसवनमें विनियुक्त होनेवाले ऐन्द्र तथा सायंसवनमें विनियुक्त होनेवाले मन्त्र आदित्य देवताक होंगे।

उपर्युक्त विवेचनसे यज्ञ या यज्ञाङ्ग (प्रातः, माध्यन्दिन तथा सायंसवनों)-में विनियुक्त मन्त्रोंका देवता-परिज्ञान तो होता है, परंतु यज्ञसे भिन्न स्थलमें विनियुक्त अनादिष्ट-देवताक मन्त्रोंमें देवताका परिज्ञान कैसे होगा[४] ?

'**अनिरुक्तो हि प्रजापतिः**'—इस सिद्धान्तके अनुसार वैसे मन्त्र प्राजापत्य[५] माने जायँगे अर्थात् उन मन्त्रोंके देवता प्रजापति होंगे। यह याज्ञिकोंका मत है।

उपर्युक्त याज्ञिक मतसे भिन्न नैरुक्तोंका सिद्धान्त है कि अनादिष्ट-देवताक मन्त्र 'नाराशंस'[६] होते हैं। अर्थात् उन मन्त्रोंके देवता नराशंस माने जाते हैं। वैदिक वाङ्मयमें नराशंसके अर्थ होते हैं—यज्ञ[७] और अग्नि[८]।

यज्ञका अर्थ है विष्णु— '**यज्ञो वै विष्णुः।**' इससे स्पष्ट होता है कि इन मन्त्रोंके देवता विष्णु अथवा अग्नि हैं। अग्नि सर्वदेवस्वरूप हैं, उनमें सभी देवताओंका वास है। इस सिद्धान्तके अनुसार वे मन्त्र आग्नेय माने जाते हैं।

अनादिष्ट-देवताक मन्त्रोंमें देवताके परिज्ञानके लिये पक्षान्तरका प्रतिपादन करते हुए महर्षि यास्कने लिखा है—'**अपि वा सा कामदेवता स्यात्**[९]।' अर्थात् '**कामकल्या देवता यस्याम् ऋषिः सा कामदेवता ऋक्।**' उन मन्त्रोंमें इच्छासे देवताकी कल्पना की जाती है, अतः वे 'कामदेवताक' मन्त्र हैं।

अथवा वे अनादिष्ट-देवताक मन्त्र 'प्रायोदेवत'[१०] होते हैं। 'प्रायः' का अर्थ है अधिकार और बाहुल्य। अधिकार-अर्थमें प्रायोदेवत मन्त्रका तात्पर्य हुआ कि जिस देवताके अधिकारमें वह मन्त्र पढ़ा गया है, वही उसका देवता माना जायगा।

'प्रायः'का बाहुल्य अर्थ माननेपर वैसा मन्त्र 'बहुलदेवत' माना जायगा। लोकमें भी ऐसा व्यवहार होता है कि अमुक द्रव्य देवदेवत्य, अमुक द्रव्य अतिथिदेवत्य और अमुक द्रव्य पितृदेवत्य है[११]। किंतु जिस द्रव्यमें किसीका निर्देश नहीं होता, वह देव-अतिथि और पितर सबके लिये होता है, उसी प्रकार अनादिष्ट-देवताक मन्त्र सर्वसाधारण होनेके कारण बहुलदेवत होते हैं।

इन उपर्युक्त विभिन्न मतोंका उपसंहार करते हुए महर्षि यास्कने कहा—'**याज्ञदैवतो मन्त्रः**[१२] इति।' अर्थात् अनादिष्ट-देवताक मन्त्र याज्ञ अर्थात् यज्ञदेवत होते हैं। '**यज्ञो वै विष्णुः**'के अनुसार वे मन्त्र विष्णुदेवत माने जाते हैं। नैरुक्तसिद्धान्तमें विष्णु द्युस्थानीय आदित्य हैं, अतः वे मन्त्र परमार्थतः 'आदित्यदेवत' हैं।

यदि वे मन्त्र 'दैवत' हैं (**देवता देवता अस्य असौ दैवतः**) अर्थात् उनके देवता 'देवता' हैं तो '**अग्निर्वै सर्वा देवताः**', '**अग्निर्वै देवानां भूयिष्ठभाक्**' इत्यादि सिद्धान्तोंसे यहाँ 'देवता' का अर्थ है अग्नि। फलतः दैवत मन्त्रका तात्पर्य हुआ आग्नेय मन्त्र। इस प्रकार निरुक्तानुसार देवताका परिज्ञान होता है, जो देवता अपने महाभाग्यके कारण अनुष्ठाताके अभीष्टको पूर्ण करनेमें समर्थ होते हैं।

१-२ तद् येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा (निरुक्त ७। १। ४)।

३-प्रकरणाद्धि संदिग्धदेवतेषु देवता नियमः (निरुक्त ७। १। ४ की विवृति)।

४-अथान्यत्र यज्ञात्? (निरुक्त ७। १। ४)।

५-प्राजापत्या इति याज्ञिकाः (निरुक्त ७। १। ४)।

६-नाराशंसा इति नैरुक्ताः (निरुक्त ७। १। ४)।

७-यज्ञ इति कात्थः। 'विष्णुर्वै यज्ञः' इति ह विज्ञायते (निरुक्त ७। १। ४ की विवृति)।

८-'अग्निरिति शाकपूणिः।' 'अग्निर्हि भूयिष्ठभाग्देवतानाम्।' 'अग्निर्वै सर्वा देवताः', 'अत्र वै सर्वा वसति देवता' (निरुक्त ७। १। ४ की विवृति)।

९-१० प्रायो देवता वा (निरुक्त ७। १। ४)।

११-१२ अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके। देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यम् (निरुक्त ७। १। ४)।

देवता-विचार

सिद्धान्तकौमुदीमें '**साऽस्य देवता**' (४। २। २४) सूत्रकी वृत्तिमें 'देवता' शब्दके दो लक्षण दिये गये हैं—(१) '**त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता।**' तथा (२) '**मन्त्रस्तुत्या च।**' प्रथम लक्षणका अर्थ है—'जिसके उद्देश्यसे आज्य आदि हविर्द्रव्यका त्याग किया जाय उसे देवता कहते हैं।' यह लक्षण कल्पश्रौतसूत्रके अनुसार है। द्वितीय लक्षण निरुक्तके अनुसार है, जिसका अर्थ है—'मन्त्रसे जिसकी स्तुति की जाय वह देवता है।' प्रथम लक्षणका केवल यज्ञोंमें उपयोग होता है। देवता-स्वरूपके परिचायक द्वितीय लक्षणका ही सर्वत्र उपयोग होता है।

जिस-किसीकी स्तुति की जाय, उसे 'देवता' मान लेनेपर मन्त्रद्वारा प्रतिपाद्य जड़-चेतन सभी पदार्थ देवताकक्षमें निविष्ट होंगे। मन्त्र-पदाद्यनुक्रमणिकामें अकारादिवर्णानुक्रमसे २७२ देवताओंका निर्देश है। उस सूचीमें द्यूतनिन्दा, दान, विवाहादि सब लौकिक पदार्थोंका भी देवताके रूपमें उल्लेख है।

उक्त सूचीके आधार कात्यायनकृत 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' तथा सायण-भाष्यादि हैं। निघण्टुके ५वें अध्याय तथा निरुक्तके दैवत-काण्डके ७वेंसे १२वेंतक ६ अध्यायोंमें १५१ देवताओंका निरूपण है। निघण्टुके ५वें अध्यायमें ६ प्रकरण हैं, जिनकी यास्कने क्रमशः एक-एक अध्यायमें व्याख्या की है। निघण्टुके ५वें अध्यायके आरम्भके ३ प्रकरणोंमें क्रमशः ३+१३+३६=५२ पृथिवीस्थानीय देवता निर्दिष्ट हैं। चतुर्थ तथा पञ्चम प्रकरणमें क्रमशः ३२+३६=६८ अन्तरिक्षस्थानीय देवताओंका निर्देश है। षष्ठ प्रकरणमें ३१ द्युस्थानीय देवता निर्दिष्ट हैं।

प्रश्न उठता है कि संख्याकी इस विषमताका क्या कारण है ? सुस्पष्ट है कि देवताके लक्षणोंका संकुचित और प्रसारित स्वरूप ही इसका कारण है। ऋक्सर्वानुक्रमणीकी दृष्टिमें देवताका व्यापक लक्षण है—'**या स्तूयते सा देवता, येन स्तूयते स ऋषिः।**' निष्कर्ष यह कि स्तोता ऋषि और स्तुत देवता है। इसीलिये दान तथा विवाहादिको भी अनुक्रमणीकारने देवताओंमें स्थान दिया है। निरुक्तकारका अभिप्राय सम्भवतः 'देवता' शब्दके लक्षणको सीमित रखनेका प्रतीत होता है अर्थात् केवल स्तुतिसे ही देवता नहीं माना जा सकता, अपितु स्तोताकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर जो उसकी अभीष्टसिद्धिमें समर्थ हो, वही देवता-पदका वाच्य है—'**यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति**' (निरुक्त ७।१।१)। यहाँ '**यत्कामः**' का ही विवरण '**यस्यां देवतायाम्**' इत्यादि वाक्य है। तात्पर्य यह कि जिस देवताके प्रसन्न होनेपर अभीष्ट-लाभकी इच्छासे स्तोता ऋषि स्तुति-मन्त्रका प्रयोग करता है, उस मन्त्रका वह देवता होता है। अर्थात् जो देवता अपने भक्तकी अभीष्ट-सिद्धि करनेमें अपूर्व शक्ति रखता हो, वह मन्त्र-स्तुत अग्नि आदि देव उस मन्त्रका देवता कहा जायगा। इस प्रकार देवता शब्दका लक्षण होगा—'**अभीष्टसिद्धिहेतुदिव्यशक्तिसम्पन्नत्वे सति मन्त्रस्तुत्यत्वम्।**' इस आशयकी पुष्टि निम्ननिर्दिष्ट मन्त्र कर रहा है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

(ऋक्० १०। १२१। १०)

अर्थात् हे जगत्स्वामी परमात्मन्! यह सब आपसे ही उत्पन्न हुआ है। आपसे भिन्न इनका कोई पालक या अधिष्ठाता नहीं है। अतः जिस फलकी कामनावाले हम आपको उद्दिष्ट करके हवन (आज्यादि आहुतिका प्रक्षेप) करते हैं या आपका स्तवन करते हैं, आपकी कृपासे हमें वह अभीष्ट फल प्राप्त हो।

इस मन्त्रसे सूचित होता है कि जिसके उद्देश्यसे हवन-स्तवन आदि किये जायँ और जो प्रसन्न होकर आराधककी अभीष्ट-सिद्धिका कारण बने, वही देवता है।

देवताका लक्षण ही नहीं, अपितु 'देव'-शब्दकी निरुक्ति भी स्तवनमात्रके सादृश्यसे संगृहीत लौकिक द्यूत-निन्दा आदि उपदेवोंके संग्रहका परिहार करती है। यथा—'**देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता इति**' (निरुक्त ७। ४। १५)। वेदार्थभास्कर यास्कमुनि लोकोत्तर-चातुरीद्वारा 'देव' शब्दका क्या ही चमत्कारपूर्ण निर्वचन कर रहे हैं, ताकि 'देव' शब्दद्वारा द्यूत-निन्दा आदि लौकिक पदार्थोंका संग्रह न हो। निर्वचनका तात्पर्य है—'दाता, वरप्रदाता, द्योतमान, दिव्यमान' अर्थात् तेजःपुञ्जमूर्ति द्युलोक-निवासी व्यक्तिविशेष। वे इन्द्रादि दिव्य-शक्तिसम्पन्न लोकानुग्राहक देव ही हो सकते हैं।

वेदान्तदर्शनके '**देवादिवदपि लोके**' (२। १। २५)—

इस सूत्र तथा इसके शांकरभाष्यादिके अवलोकनसे भी 'देव' शब्दकी प्रयोगभूमि वही दिव्यपुरुष प्रमाणित होते हैं जो किसी भौतिक साधनकी सहायताके बिना अपनी संकल्पशक्तिसे मनोवाञ्छित विविध कार्य कर सकें।

यदि निरुक्तका अभिप्राय वरप्रदाता, लोकोत्तर, द्युलोक-निवासी इन्द्रादि देववर्गको ही देवता स्वीकार करनेका है, तो देवताभिन्न अश्व, शकुनि एवं मण्डूक क्रमशः पशु-पक्षी, जल-जन्तु एवं जड़-पाषाण, रथ आदि तथा उलूखल-मुसलादि द्वन्द्व पदार्थोंका देवकोटिमें संग्रह कैसे होगा? निघण्टु तथा निरुक्त दोनों ही इनका देव-कोटिमें उल्लेख कर रहे हैं। इसका समाधान निरुक्त (७। १। ४)-में '**आत्मैवैषां रथो भवति, आत्मा अश्वः, आत्माऽऽयुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य**' इस उक्तिद्वारा किया गया है अर्थात् देवोंके रथ-घोड़ा, शस्त्र-बाण, किं बहुना, समस्त उपकरण उन्हींके आत्मस्वरूप होते हैं। देवगण अपेक्षित रथादि साधन-सामग्रीके लिये भौतिक काष्ठादि साधनोंकी अपेक्षा नहीं रखते। उनका स्वरूप ही संकल्पवश पदार्थोंके रूपमें परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें—'**बहु स्याम् प्रजायेय**' इस संकल्पके होते ही ब्रह्मका सब कुछ विश्वाकारमें विवर्त हो जाता है अर्थात् समस्त विश्व ब्रह्मके सृजनविषयक संकल्पका कार्य उसका विवर्त है, अतएव उससे पृथक् नहीं, अपितु उसका स्वरूप है; क्योंकि कल्पित वस्तुकी सत्ता अधिष्ठानसे पृथक् हो ही नहीं सकती। इसी तरह देवसंकल्प-प्रभाव रथादि देवोपकरण देवका विवर्त होनेके कारण वरप्रदाता देवसे भिन्न नहीं, फिर उन देवोपकरण रथादिका 'देव' शब्दसे संग्रह होनेमें आपत्ति ही क्या?

यास्कने इससे सूचित किया कि समस्त देव-प्रपञ्चके मूलमें एक ही परब्रह्म तत्त्व है। उसीकी विचित्र एवं भिन्न-भिन्न शक्तियोंके प्रतीक स्थान-भेदसे अग्नि, वायु तथा सूर्य—ये तीन विभिन्न देव हैं। अन्य समस्त देव उन्हींकी विभूतिमात्र हैं। जब तीन देव हैं और त्रित्व-संख्याका एकत्वसे विरोध है तो फिर वेदाभिमत '**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः**' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। ११)—इस देव-एकत्वकी उपपत्ति कैसे होगी?

इसका समाधान यह है कि जैसे समष्टि-दृष्टिसे '**वन**' यह एकत्व-व्यवहार और व्यष्टिसे '**वृक्षाः**' यह अनेकत्वका व्यवहार एवं समष्टि-दृष्टिसे '**राष्ट्र**' और व्यष्टि-दृष्टिसे '**मनुष्याः**' यह व्यवहार दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही व्यष्टि-दृष्टिसे '**अग्निर्वायुरादित्यस्त्रयो देवाः**' और समष्टि-दृष्टिसे '**आत्मा एको देवः**' इस व्यवहारमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसी अभिप्रायसे यास्कने कहा है—'**तिस्रो देवता इति नैरुक्ताः**' (७। २। ५)।

'**अपि वा कर्मपृथक्त्वात्॥ यथा होताऽध्वर्युर्ब्रह्मोद्गा-तेत्यप्येकस्य सतः॥ तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव**' यह भी वचन है। निष्कर्ष यह कि देवोपकरण दिव्य रथादि वरप्रदाता देवके ही स्वरूप हैं, अतः उनके देवत्वमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं है। किंतु उनमें द्यूत-निन्दादि लौकिक पदार्थोंका संग्रह कदापि सम्भव नहीं। जड़ नदी आदिके संवाद-स्थलोंमें भी नदी आदि पदोंसे उनके अभिमानी देवतारूप अर्थ लेनेपर ऋषियोंसे उनका संवाद (ऋक्० ३। ३३) अनुपपन्न नहीं होता। अतएव आपाततः जड़ प्रतीत होनेवाले प्राण-इन्द्रियादिके संवादोंमें तत्तदभिमानी देवोंका ही वार्तालाप मान लेनेपर प्राण-कलह-कथाकी उपपत्ति ठीक बैठती है। वेदान्तदर्शनके '**अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्**' (२। १। ५) इस सूत्रका यही आशय है।

पाश्चात्त्य विद्वानोंने ब्रह्माद्वैतप्रतिपादक वेदोंमें बहुदेवता-वादका कलंक लगानेकी व्यर्थ ही कुचेष्टा की है। वेदमें तथा वेदानुगामी 'बृहद्देवता' आदि वैदिक निबन्धोंमें एकदेवतावादका ही सुस्पष्ट प्रतिपादन है। निदर्शनके लिये ऋग्वेदके '**चित्रं देवानाम्०**' (१। ११५। १) इस मन्त्रके चतुर्थ चरण '**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**'-में स्थावर-जङ्गम समस्त विश्वका आत्मा एक सूर्य ही कहा गया है। '**ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्०**' (यजु० १३। ३) इस मन्त्रमें भी प्रजापतिरूप एक ही देवता वर्णित है। '**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**' (ऋक्० १। १६४। ४६) अर्थात् एक सच्चिदानन्द परब्रह्म तत्त्वको मेधावी विद्वान् यम, वरुण आदि अनेक देवताओंके रूपमें कह रहे हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदमें एकदेवतावादका ही प्रतिपादन है।

बृहद्देवता (१। ६२। ६३)-में शौनकाचार्य स्पष्टरूपसे सूर्य और प्रजापतिको एक देवताके रूपमें उद्घोषित कर

रहे हैं। यास्क **'एकस्य सतः'** (नि० ७। २। ५) इस उक्तिसे एकदेवतावादका ही मुक्तकण्ठसे समर्थन करते हैं। उनके **'एकस्य सतः'** कथनका तात्पर्य यह है कि वस्तुतः ब्रह्मात्मतत्त्व ही एक देवता है, उसमें त्रित्वव्यपदेशका कारण पृथिव्यादि स्थानभेद एवं दाह-वृष्टि-प्रकाशलक्षण भिन्नकार्यकारिता है।

एकदेवतावादकी पुष्टिमें एक-दो वेदवाक्य और भी देख लेना असंगत न होगा—

रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
(ऋक्० ३। ५३। ८)

तात्पर्य यह कि मघवा इन्द्रदेव जो-जो रूप धारण करनेकी कामना करते हैं, उसी-उसी रूपको तत्काल प्राप्त कर लेते हैं। कारण, वे अनेक शरीरधारकत्वशक्तियुक्त अपनी मायाका विस्तार करते हुए अपने शरीरसे अनेक प्रकारके शरीरोंका निर्माण कर लेते हैं। (**परिशब्दोऽत्र पञ्चम्यर्थे।**) अर्थात् एक ही इन्द्रदेव अपनी मायाशक्तिके प्रभावसे अनन्त देवोंके रूपमें व्यक्त होते हैं।

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋक्० ६। ४७। १८)— इस मन्त्रमें मायाशक्तिके प्रभावसे इन्द्रका बहुरूप-धारण स्पष्ट प्रतिपादित है। इन मन्त्रोंमें क्रमशः मधुच्छन्दाके पिता विश्वामित्र तथा गर्ग भारद्वाज एकदेवतावादका ही अनुमोदन कर रहे हैं। अतः एकदेवतावादको बहुदेवताका विकास मानना असंगत ही है।

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
(ऋक्० १०। ११४। ५)

जैसे आर्त भक्तोंकी पुकार सुनकर उनकी रक्षाके लिये शीघ्र दौड़नेवाला शोभनगतियुक्त आरम्भमें एक ही है, फिर भी मेधावी विद्वान् उसकी अनेक प्रकारसे विविध देवताओंके रूपमें कल्पना करते हैं अर्थात् विद्वानोंके कल्पना-राज्यमें वे एकदेवता ही बहुदेवता-रूपमें अनुभूत होने लगते हैं।

इस मन्त्रमें प्रथम एकदेवतावाद, पश्चात् बहुदेवता-कल्पनाका स्पष्ट उल्लेख है—

यो देवानां नामधा एक एव। (ऋक्० १०। ८२। ३)

—जो परमात्मा एक ही देव है, बादमें वही अनेक देवताओंके नामको धारण करता है।

यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे। (ऋक्० १०। ८२। ६)

—समस्त देव जिस एक देवमें संगत (अन्तर्गत) हैं।

इसके अतिरिक्त एक और बात विचार करनेकी है। कारणसे कार्यका विकास सर्वसम्मत है। कार्यसे कारणका विकास कहनेकी भूल कोई विवेकी नहीं कर सकता। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण, स्मृति आदि प्राचीन समस्त शास्त्र एकमतसे सृष्टिका मूल कारण आरम्भमें एक ही स्वीकार करते हैं। उस एकसे जैसे सृष्टिरूपमें विविध पदार्थोंका विकास हुआ, ठीक उसी तरह एक देवसे अनेक देवताओंका विकास तो बुद्धिग्राह्य है, पर अनेक देवताओंसे एक देवताका विकास कदापि विद्वन्मान्य नहीं।

देवताके विषयमें अन्य ज्ञातव्य विषयोंका निरूपण बृहद्देवताके प्रथम अध्याय तथा द्वितीय अध्यायके २५ वर्गोंमें विस्तारसे है। यास्कके निरुक्तमें ७वें अध्यायके आरम्भके तीन पाद भी विशेष द्रष्टव्य हैं।

लक्षण एवं निर्वचनके आधारपर 'देव' शब्दके अर्थपर उपर्युक्त विचार किया गया। 'प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका'-में चित्सुखाचार्यका वचन है—

अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्याधीपदस्य नः।
सम्भवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासम्भवः कुतः॥

मोदका अर्थ क्षणभंगुर विषयानन्द नहीं, अपितु नित्यनिरतिशयानन्द है। अतः देव शब्दका अर्थ सत् (त्रिकालाबाध्य), चित् (स्वप्रकाश) एवं आनन्दस्वरूप (नित्यनिरतिशयानन्द) ब्रह्मतत्त्व हुआ। वह एक है। मायाके सम्पर्कसे उसमें अनेकत्वकी कल्पना होती है। तब 'देव' शब्दका अर्थ होता है **'मायावशात् दिव्यति क्रीडति विविधसृष्टिरचनालक्षणां क्रीडां कुरुते इति देवः'** अर्थात् मायाशबल ब्रह्म तथा सच्चिदानन्द ब्रह्म ईश्वर है। वह ईश्वर एक है, अनेक नहीं, अतः 'देव' शब्दके यौगिकार्थके अनुसार भी एकदेवतावाद ही प्रमाणित होता है। विभिन्न वेदोंद्वारा स्तुत्य अग्नि आदि देव उसकी विभूति या विभिन्न विचित्र शक्तियोंके प्रतीकमात्र हैं।

वैदिक देवता—सत्ता और महत्ता

(डॉ० श्रीराजीवजी प्रचण्डिया, एम्०ए० (संस्कृत), बी०एस्-सी०, एल्-एल्०बी०, पी-एच्०डी०)

आराध्य देवी-देवता आदिकी परिकल्पना और धारणा आस्थापरक मनोवृत्तिपर केन्द्रित है। आस्थावादी संस्कृतियोंमें वैदिक संस्कृति एक है, जिसके मूलमें वेद प्रतिष्ठित हैं। वेदोंमें अध्यात्मकी प्राचीनता तथा मौलिकताकी अनुगूँज है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति अर्थात् रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, नियम-उपनियम, आचारिक-वैचारिक संहिताएँ, शिक्षाएँ तथा मान्यताएँ आदि सभी कुछ वेदोंपर ही आश्रित हैं—ऐसा वेदोंपर आस्था-श्रद्धा रखनेवाले लोगोंका वैचारिक आलोडन है, जो सर्वथा सत्य और सार्वभौम है।

चूँकि भक्त-समुदायमें जीवनके लिये आराध्य एक अनिवार्य आलम्बन होता है। आराध्य उनमें सदा रचते-बसते हैं। अतः वेदोंमें सम्यक्रूपसे आराध्य देवोंकी चर्चा हुई है। जहाँतक वैदिक देवताओंका प्रश्न है, वहाँ एक-दो नहीं, अनेक देवताओंका वर्णन है। जैसे इन्द्र, अग्नि एवं वरुण आदि। ये सभी देवता आदिशक्तिका ही प्रतिनिधित्व करते हैं। श्रद्धालुजन अपनी-अपनी सुख-सुविधा और मनःकामनाओंके आधारपर इनमेंसे ही किसी एक देवताको अपना आराध्य मानकर पूजते हैं।

देवता और सृष्टि परमात्माकी ही विभूति हैं। चाहे वह देवता वरुण हों या इन्द्र, अग्नि, सूर्य, मित्रावरुण, अश्विनीकुमार, सोम (चन्द्रमा), पृथ्वी, विष्णु और रुद्र आदि कोई भी क्यों न हों। सभीमें सर्वव्यापी परमात्माका एक-एक गुण विद्यमान रहता है। जैसे वेदोंने वरुणको शान्तिप्रिय देवता कहा है। इसकी मर्यादा वैदिक युगमें सर्वाधिक मानी गयी है। वरुणको प्रसन्न रखनेके लिये लोगोंको सदाचारपरक जीवन अर्थात् पवित्रतापूर्ण आचरण व्यतीत करना होता है; क्योंकि वरुणको इस जगत्का नियन्ता और शासक माना गया है। वह प्राकृतिक और नैतिक नियमोंका संरक्षक है। इसका नैतिक नियम 'ऋत' संज्ञासे अभिहित होता है, जिसका पालन करना देवताओंके लिये भी परमावश्यक बताया गया है। इसी प्रकार 'इन्द्र' ऋग्वेदका योद्धा देवता है। वह जगत्की उत्पत्ति, प्रलय आदिका संचालन करता है। इन्द्र बलिष्ठ एवं पराक्रमी देवता है। वह 'अन्तरिक्ष' और 'द्यौ'को धारण करता है। इसके भयसे पृथ्वी और आकाश काँपते दिखायी देते हैं। बिना इस देवताकी सहायताके कोई भी शक्ति युद्ध नहीं जीत सकती। इसी आधारपर वीर योद्धा समरमें जानेसे पूर्व इसकी स्तुति करते हैं। इसी प्रकार 'अग्नि' ऋग्वेदका देवता होनेके साथ-साथ यज्ञका पुरोहित भी है। वह देवताओंको यज्ञमें समर्पित हवि सुलभ कराता है। ऋग्वेदके अधिकांश मण्डल अग्निकी स्तुतिसे ही आरम्भ होते हैं। वैवाहिक संस्कारमें अग्निदेवताका प्राधान्य रहता है। यजुर्वेदमें सर्वाधिक प्रतिष्ठित देवता है 'रुद्र'। जिसे अत्यन्त उग्र स्वभावका माना गया है। यजुर्वेदमें इसकी प्रतिष्ठा इसी बातसे है कि इस वेदका सम्पूर्ण सोलहवाँ काण्ड इसीपर केन्द्रित है। एक देवता है अश्विनीकुमार। इसकी स्तुति और चर्चा भी वेदोंमें पर्याप्तरूपसे परिलक्षित है। यह देवता आयुर्वेदका अधिष्ठाता है। ऐसे ही अनेक देवताओंकी शक्ति और महत्ताका प्रतिपादन वेदोंमें द्रष्टव्य है।

वेदोंमें अग्नि, सोम, पृथ्वी आदि पृथ्वी-स्थानीय देवता एवं इन्द्र, रुद्र, वायु आदि अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता तथा वरुण, मित्र, उषस्-सूर्य आदि द्यु-स्थानीय देवताओंमें परिगणित हैं। इन देवताओंमें ऋग्वेदके सूक्तोंमें इन्द्र सर्वाधिक चर्चित देवता है। अग्नि और सोम क्रमशः द्वितीय और तृतीय स्थानपर आते हैं। यम, मित्र, वरुण, रुद्र और विष्णु आदि देवताओंकी स्तुति इन तीनोंकी तुलनामें तो सामान्य ही है।

इतने सारे देवताओं और उनके कार्योंको देखते हुए मनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि ये समस्त देवता एक साथ रहते हुए अपने कार्यका सम्पादन कैसे करते हैं? इसका उत्तर यह है कि वैदिक देवता परस्पर केवल अविरोधभावसे ही नहीं, अपितु उन्नायकभावसे भी चराचर-जगत्के जो शाश्वत नियम हैं, उनके अनुसार सत्य और ऋतका पालन करते हुए अपने कर्तव्योंका विधिपूर्वक निर्वहन करते हैं और हमें प्रेरणा देते हैं कि सम्पूर्ण मानव-जाति शाश्वत नियमोंका विधिवत् पालन करते हुए समग्र द्वन्द्व तथा द्वेषको मिटाकर एक साथ मिल-जुलकर सत्कर्म करते हुए पवित्रतापूर्ण जीवन-यापन करे। यथा—'**देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना**

उपासते' (ऋक्०१०। १९१। २)। इन देवताओंकी समग्र प्रवृत्तियाँ जगत्के कल्याणार्थ हैं। ये अज्ञान और अन्धकारसे दूर प्रकाशरूप हैं, सतत कर्मशील हैं। अतः मानवमात्रका कल्याण देवताओंके साथ सायुज्य स्थापित करनेमें ही है। वास्तवमें वैदिक देवतावादसे प्राकृतिक शक्तियोंके साथ मनुष्य-जीवनकी समीपता तथा एकरूपताकी आवश्यकताका भी हमें परिज्ञान होता है।

अथर्ववेद और ऋग्वेदमें कहा गया है कि 'सत्' तो एक ही है, किंतु उसका वर्णन विद्वद्वर्ग अग्नि, यम, वायु आदि अनेक नामोंसे करता है। यह एक 'सत्' परमात्मा है, जो इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि अनेक देवताओंमें समाया हुआ है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(अथर्ववेद ९। १०। २८, ऋग्वेद १। १६४। ४६)

इस प्रकार वेदोंमें जिन विविध देवताओंका गान हुआ है, वे सभी एकदेवतावादमें अन्तर्भुक्त हैं। वेदोंके इस एकदेवतावाद या एकेश्वरवादमें अद्वैतवादी, सर्वदेवतावादी तथा बहुदेवतावादी दृष्टियाँ भी समाहित हैं; किंतु वेदोंका यह एकदेवतावाद आधुनिक ईश्वरवादके स्वरूपसे यत्किंचित् भिन्न है।

अन्तमें यही कहा जा सकता है कि वेदोंमें अभिव्यक्त विभिन्न देवताओंका जो स्वरूप है, वह आदिशक्ति और सत्ताके केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं, रूप हैं, शक्तियाँ हैं। जो लोगोंको प्रभावित कर उनके हृदयमें आराध्यरूपमें अवस्थित हैं।

श्रीगणेश—वैदिक देवता

(याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य)

शास्त्रोंमें जिस प्रकार एक ही ब्रह्म (परमात्मा)-के ब्रह्मा, विष्णु और महेश—ये तीनों रूप कहे गये हैं, उसी प्रकार 'गणेश' को भी ब्रह्मका ही विग्रह कहा गया है। जिस प्रकार एक ब्रह्मके होते हुए भी ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न विशेषताएँ हैं, उसी प्रकार 'गणेश' की भी हैं।

समस्त देवताओंमें गणेश ही एक ऐसे देवता हैं, जिनका समस्त शुभ कार्योंके प्रारम्भमें सर्वप्रथम पूजन किया जाता है। इनकी पूजा किये बिना किसी भी शास्त्रीय तथा लौकिक शुभ कर्मका प्रारम्भ नहीं होता। अतएव वेदभगवान्ने भी कहा है—

न ऋते त्वत् क्रियते किं चनारे॥

(ऋक्० १०। ११२। ९)

'हे गणेश! तुम्हारे बिना कोई भी कर्म प्रारम्भ नहीं किया जाता।'

जिन गणेशका प्रत्येक शुभ कार्यके प्रारम्भमें सर्वप्रथम पूजन करना अनिवार्य है, उन्हें पूज्य वैदिक देवता मानकर ही उनका प्रत्येक शुभ कार्यमें पूजनके समय सर्वप्रथम स्मरण करते हुए भक्तगण कहते हैं—

गणानां त्वा गणपतिꣳहवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳहवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳहवामहे।

(शुक्लयजुर्वेद २३। १९)

'हे गणेश! तुम्हीं समस्त देवगणोंमें एकमात्र गणपति (गणोंके पति) हो, प्रिय विषयोंके अधिपति होनेसे प्रियपति हो और ऋद्धि-सिद्धि एवं निधियोंके अधिष्ठाता होनेसे निधिपति हो; अतः हम भक्तगण तुम्हारा नाम-स्मरण, नामोच्चारण और आराधन करते हैं।'

भगवान् गणेश सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके ईश हैं। गुणोंका ईश ही प्रणवस्वरूप 'ॐ' है। प्रणवस्वरूप 'ॐ' में गणेशजीकी मूर्ति सदा स्थित रहती है। अतः 'ॐ'—यह गणेशजीकी प्रणवाकार मूर्ति है, जो वेदमन्त्रके प्रारम्भमें रहती है। इसीलिये 'ॐ' को गणेशकी साक्षात् मूर्ति मानकर वेदोंके पढ़नेवाले सर्वप्रथम 'ॐ' का उच्चारण करके ही वेदका स्वाध्याय करते हैं। वेदके स्वाध्यायके प्रारम्भमें 'ॐ' का उच्चारण करना गणेशजीका ही नाम-स्मरण अथवा नामोच्चारण करना है। अतः सिद्ध है कि प्रणवस्वरूप 'ॐ'कार ही भगवान् गणेशकी आकृति (मूर्ति) है, जो वेदमन्त्रोंके प्रारम्भमें प्रतिष्ठित है।

'गणेशपुराण' में भी लिखा है—

ओंकाररूपी भगवान् यो वेदादौ प्रतिष्ठितः।
यं सदा मुनयो देवाः स्मरन्तीन्द्रादयो हृदि॥
ओंकाररूपी भगवानुक्तस्तु गणनायकः।
यथा सर्वेषु कार्येषु पूज्यतेऽसौ विनायकः॥

'ओंकाररूपी भगवान् जो वेदोंके प्रारम्भमें प्रतिष्ठित

हैं, जिनको सर्वदा मुनि तथा इन्द्रादि देवगण हृदयमें स्मरण करते हैं। वे ओंकाररूपी भगवान् गणनायक कहे गये हैं। वे ही विनायक सभी कार्योंमें पूजित होते हैं।'

गणेशजीके अनन्त नाम हैं, जिनका उल्लेख समस्त श्रुति-स्मृति-पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थोंमें बड़े विस्तारसे मिलता है।

पुराणादिमें जिस प्रकार गणेशजीके अनेक नामोंका उल्लेख है, उसी प्रकार गणेशजीके अवतार, स्वरूप एवं महत्त्व आदिका भी वर्णन है, जो वेदोंके आधारपर ही भगवान् वेदव्यासजीने किया है।

अब हम वैदिक-संहिता तथा वैदिक वाङ्मयके कुछ महत्त्वपूर्ण मन्त्र उद्धृत करते हैं, जिनसे गणेशजीकी वैदिकता और महत्ता स्पष्ट सिद्ध है—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिःसीद सादनम्*॥

(ऋक्० २। २३। १)

'तुम देवगणोंके प्रभु होनेसे गणपति हो, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ ज्ञानी हो, उत्कृष्ट कीर्तिवालोंमें श्रेष्ठ हो। तुम शिवके ज्येष्ठ पुत्र हो, अतः हम तुम्हारा आदरसे आह्वान करते हैं। हे ब्रह्मणस्पते गणेश! तुम हमारे आह्वानको मान देकर अपनी समस्त शक्तियोंके साथ इस आसनपर उपस्थित होओ।'

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत् क्रियते किं चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च॥

(ऋक्० १०। ११२। ९)

'हे गणपते! आप देव आदिके समूहमें विराजमान होइये; क्योंकि विद्वज्जन आपको ही समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कहते हैं। आपके बिना समीपका अथवा दूरका कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता। हे पूज्य एवं आदरणीय गणपते! हमारे सत्कार्योंको निर्विघ्न पूर्ण करनेकी कृपा कीजिये।'

'**गणानां त्वा०**' इत्यादि मन्त्रका उल्लेख तो पहले किया ही गया है।

'**गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्**' में गणेशके विभिन्न नामोंका उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है—

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रमथपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नमो नमः।

'व्रातपति अर्थात् देवसमूहके नायकको नमस्कार; गणपतिको नमस्कार; प्रमथपति अर्थात् शिवजीके गणोंके अधिनायकको नमस्कार; लम्बोदरको, एकदन्तको, विघ्नविनाशकको, शिवजीके पुत्रको और श्रीवरदमूर्तिको नमस्कार, नमस्कार।'

'यजुर्विधान' में '**गणानां त्वा०**' (शुक्लयजुर्वेद २३। १९)— इस मन्त्रको गणपतिदेवतापरक कहा गया है; अतः इस मन्त्रका गणेशके पूजन और हवनादिमें विनियोग होता है।

'शुक्लयजुर्वेद' (२२। ३०)-में '**गणपतये स्वाहा**'-से गणेशजीके लिये आहुति देनेका विधान है।

'कृष्णयजुर्वेदीय काण्वसंहिता' (२४। ४२)-में '**गणपतये स्वाहा**' के द्वारा गणेशजीके निमित्त आहुति देनेके लिये कहा गया है।

'कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणी-संहिता' (३। १२। १३)-में '**गणपतये स्वाहा**' से गणेशजीको आहुति प्रदान करनेके लिये लिखा है।

'बौधायन-गृह्यशेषसूत्र' (३। १०। १)-के विनायक-कल्पमें लिखा है—

मासि मासि चतुर्थ्यां शुक्लपक्षस्य पञ्चम्यां वा अभ्युदयादौ सिद्धिकाम ऋद्धिकामः पशुकामो वा भगवतो विनायकस्य बलिं हरेत्।

अर्थात् 'प्रत्येक महीनेके शुक्लपक्षकी चतुर्थी अथवा पञ्चमी तिथिको अपने अभ्युदयादिके अवसरपर सिद्धि, ऋद्धि और पशु-कामनावाला पुरुष भगवान् विनायक (गणेश)-के लिये बलि (मोदकादि नैवेद्य) प्रदान करे।'

महर्षि पराशरने '**गणानां त्वा०**' (शुक्लयजुर्वेद २३। १९)—इस मन्त्रके अन्तमें '**स्वाहा**' जोड़कर गणेशजीके लिये हवन और पूजन करनेके लिये कहा है—

विनायकाय होतव्या घृतस्याहुतयस्तथा॥
सर्वविघ्नोपशान्त्यर्थं पूजयेद् यत्नतस्तु तम्।
गणानां त्वेति मन्त्रेण स्वाहाकारान्तमादृतः॥
चतस्रो जुहुयात् तस्मै गणेशाय तथाऽऽहुतीः।

(बृहत्पाराशरस्मृति ४। १७६—१७८)

आचार्य आश्वलायनने '**गणानां त्वा०**'—इस मन्त्रसे गणेशजीका पूजन करनेके लिये कहा है।

भगवान् वेदव्यासजीने गणेशजीका मन्त्र '**गणानां त्वा०**' लिखा है—

* यह मन्त्र कृष्णयजुर्वेदसंहिता (२। ३। १४) और त्रिपुरातापिन्युपनिषद् (३)-में भी है।

गणानां त्वेति मन्त्रेण विन्यसेदुत्तरे ध्रुवम्।

(भविष्यपुराण, मध्यपर्व, द्वितीय भाग २०। १४२)

बृहत्पाराशरस्मृति (११। ३३९)-में—

आतून इन्द्रवृत्रहं सुरेन्द्रः सगणेश्वरः।

—इस मन्त्रको गणेश्वरपरक कहा है। ऋग्वेद (८। ८१। १)-में—

आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय। महाहस्ती दक्षिणेन॥

—इस मन्त्रको गणेश्वरपरक माना है। शुक्लयजुर्वेद (३३। ६५—७२)-में—

'आ तू न इन्द्र वृत्रहन्०' इत्यादि आठ मन्त्रोंको गणपतिपरक कहा गया है। अतः इन आठ मन्त्रोंसे गणेशजीका स्मरण, पूजन और हवन करनेका विधान है।

सामवेदीय रुद्राष्टाध्यायीमें 'विनायक-संहिता' है, जिसमें **'अदर्दरूत्०'** इत्यादि आठ मन्त्र (३१५ से ३२२) गणपतिपरक कहे गये हैं। जिनका गणपति-पूजन और गणपति-हवनमें उपयोग होता है।

उपर्युक्त प्रमाणोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गणेशजी वैदिक देवता हैं। अतएव ऋषि-महर्षियोंने **'गणानां त्वा०'** आदि वैदिक मन्त्रोंसे गणेशजीके निमित्त पूजन, हवन आदि करनेके लिये कहा है।

वेदों और उपनिषद् आदिमें गणेशजीकी विविध गायत्रियोंका उल्लेख है, जिनमें गणेशजीके कराट, हस्तिमुख, तत्पुरुष, एकदन्त, वक्रतुण्ड, दन्ती, लम्बोदर, महोदर आदि अनेक नाम आये हैं, जो गणेशजीके ही पर्यायवाचक नाम हैं और वे सभी नाम गणेशजीके स्वरूप और महत्त्वको व्यक्त करनेवाले हैं एवं भक्तोंके लिये शुभ और लाभप्रद हैं। ये गणेश-गायत्रियाँ इस प्रकार हैं—

ॐ तत्कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

(कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणी-संहिता २। ९। १। ६)

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

(नारायणोपनिषद्)

ॐ एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

(गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्)

ॐ लम्बोदराय विद्महे महोदराय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

(अग्निपुराण ७१। ६)

ॐ महोल्काय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

(अग्निपुराण १७९। ४)

उपर्युक्त समस्त वैदिक प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि वेदादिमें तथा समस्त शास्त्रोंमें गणेशजीका विशिष्टरूपमें वर्णन है। अतः गणेशजी वैदिक देवता हैं, यह निर्विवाद है। गणेशजीको वैदिक देवता मानकर ही भक्तगण अपने प्रत्येक कार्यके प्रारम्भमें सर्वप्रथम गणेशजीका पूजन करते हैं और उनका स्मरण करते हैं।

जिस प्रकार गणेशजी वैदिक देवता हैं, उसी प्रकार वे अनादिसिद्ध, आदिदेव, आदिपूज्य और आदि-उपास्य हैं। 'गणेशतापिन्युपनिषद्'के **'गणेशो वै ब्रह्म'** एवं 'गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्'के **'त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि'** के अनुसार गणेशजी प्रत्यक्ष ब्रह्म ही हैं। गणेशजीके 'ब्रह्म' होनेके कारण ही उन्हें कर्ता, धर्ता एवं संहर्ता कहा गया है। गणेशजी जीवात्माके अधिपति हैं। 'गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्'में **'त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुः'** इत्यादि मन्त्रोंद्वारा गणेशजीको 'सर्वदेवरूप' कहा गया है। अतएव गणेशजी सभीके वन्दनीय और पूजनीय हैं। प्राणिमात्रका मङ्गल करना उनका प्रमुख कार्य है, अतः वे 'मङ्गलमूर्ति' कहे जाते हैं। इसलिये जो मनुष्य मङ्गलमूर्ति गणेशजीका श्रद्धा-भक्तिसे प्रतिदिन स्मरण, पूजन और उनके स्तोत्रादिका पाठ तथा गणपतितन्त्रका जप एवं 'गणेशसहस्रनाम' से हवन करता है, वह निष्पाप होकर धर्मात्मा बन जाता है। उसके यहाँ समस्त प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धिका भण्डार भरा रहता है और वह गणेशजीकी कृपासे अपना ऐहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन सुखद बना लेता है। अतः मनुष्यमात्रको आत्मकल्याणार्थ ऋद्धि-सिद्धि-नवनिधिके दाता मङ्गलमूर्ति गणेशजीका सर्वदा समाराधन करना चाहिये।

वैदिक देवता 'अग्नि'

(डॉ० श्रीकैलाशचन्द्रजी दवे)

यह सर्वविदित है कि क्षिति, जल, पावक, गगन एवं समीर—ये पञ्चमहाभूत सृष्टि-संरचनामें मुख्य कारण हैं। सृष्टिमें कोई ऐसा प्राणधारी जीव नहीं है, जिसके शरीर-पिण्डकी संरचनामें उक्त पञ्चतत्त्वोंका योग न हो। शरीरान्त होनेपर ये पञ्चतत्त्व (तन्मात्राएँ) पञ्चमहाभूतोंमें विलीन हो जाते हैं।

यद्यपि अग्निके स्वरूपके विषयमें सब लोग जानते हैं कि अग्नि शब्द 'आग' का पर्याय है। वैदिक मन्त्रोंमें आग्नेय मन्त्र सबसे अधिक हैं, किंतु सभी आग्नेय मन्त्रोंमें 'आग' वाचक अग्नि शब्द नहीं है। वेदमें अग्निका वैदिक देवताके रूपमें स्तवन किया गया है। वेदमें अग्निका वैदिक स्वरूप पौराणिक एवं लौकिक अग्निसे कुछ भिन्न है। 'आग' के अतिरिक्त अग्नि शब्दके अन्य बहुत-से अर्थ हैं, जो 'आग' के अर्थमें कदापि घटित नहीं होते हैं।

वेदमें अग्निके विभिन्न पर्यायवाचक शब्द हैं—जातवेदाः, सप्तार्चिः, सप्तजिह्व, वैश्वानर, तनूनपात्, सहसस्पुत्र इत्यादि। यास्काचार्यने अग्निके पर्यायवाचक जातवेदा, वैश्वानर आदि शब्दोंका भी निर्वचन किया है। नैरुक्तोंके सिद्धान्तको प्रदर्शित करते हुए यास्कने मुख्यरूपसे तीन ही देवताओंका उल्लेख किया है, जिनमें पृथिवी-स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष-स्थानीय वायु या इन्द्र एवं द्यु-स्थानीय सूर्य हैं। इन तीनों देवताओंका अन्य किन-किन देवता तथा पदार्थोंसे सम्बन्ध तथा साहचर्य है, इसका विस्तारसे वर्णन भी किया है। इस प्रकार भक्ति (सम्बन्ध) एवं साहचर्यकी दृष्टिसे पृथिवी-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय एवं द्यु-स्थानीय रूपोंमें देवताओंको विभक्त किया गया है। विवेच्य अग्नि देवता पृथिवी-स्थानीय हैं।

ब्राह्मणग्रन्थोंके अनुसार ही यास्कने अग्नि-पदका निर्वचन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अग्निका अग्नि नाम इसलिये है; क्योंकि वह अगुआ (प्रधान) होता है। अग्नि सब देवोंमें पहले उत्पन्न हुआ है, अतः वह 'अग्रि' है। अग्नि ही परोक्ष नामसे अग्नि है*। वह सब जगह, सब बातोंमें, ऐसा उपकार करता है कि स्वतः ही अगुआ हो जाता है। वह अग्नि इसलिये भी है कि उसे यज्ञ-यागादिमें सबसे पहले ले जाया जाता है। वह सभी तृण-काष्ठादि पदार्थोंका आश्रय पाकर उनको अपने अधीन (आत्मसात्) कर लेता है। यह स्निग्ध नहीं होता है, अपितु सभी रसोंको सुखा देता है। जहाँ जाता है वहाँके सब पदार्थोंको विरूक्ष कर देता है—इसलिये भी यह अग्नि अग्नि कहा जाता है। शाकपूणि आचार्यने तीन क्रियाओं (गति, दहन तथा प्रापण)-के योगसे अग्नि-पदकी सिद्धि की है। अग्निके पर्यायवाचक शब्दोंका जो पहले उल्लेख किया है, उन पर्यायवाचक शब्दोंमें भी अग्निके व्यापक रूपका वर्णन किया गया है। अग्निके पर्यायवाचक वैश्वानर शब्दको लेकर यास्कने कई आचार्योंके मतोंका उल्लेख किया है। कोई आचार्य इस वैश्वानरको मध्यमधर्मा विद्युत् एवं कोई आदित्य मानता है। शाकपूणि आचार्यने अग्निको ही वैश्वानर माना है।

स्वरूप

अग्नि मुख्य वैदिक देवता है, अतः इसके स्वरूपको जानना भी अत्यावश्यक है। निरुक्तशास्त्रके अनुसार देवताओंके आकार-चिन्तनमें यह संशय होता है कि क्या इन अग्नि आदि देवताओंका कोई आकार है कि नहीं? आकारवाले पदार्थ चेतन एवं अचेतन दो प्रकारके होते हैं। मनुष्यादि चेतन हैं एवं पाषाणादि अचेतन हैं। कुछ आचार्योंका मत है कि देवताओंका आकार मनुष्योंकी आकृति-जैसा है; क्योंकि मन्त्रोंमें चेतनावालोंकी तरह देवताओंकी स्तुति की गयी है। चेतनावाले मनुष्योंकी तरह इन देवताओंके परस्पर अभिधान होते हैं। ब्राह्मणग्रन्थोंमें मनुष्योंकी तरह देवताओंमें परस्पर संवाद एवं वाद-विवाद आदि उपलब्ध होता है। कर-चरणादि अङ्ग, सुख-सुविधाके लिये रथ, घोड़े, स्त्री आदि साधन तथा खाना-पीना आदि कार्य मनुष्योंकी तरह देवताओंके भी होते हैं।

* 'तद्वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत। तस्मादग्निरग्निर्ह वै नामैतद्यदग्निरिति' (श० ब्रा० २। २। ४। २)।

अतः देवता मनुष्योंकी तरह ही होते हैं। कुछ आचार्योंका मत है कि देवताओंकी आकृति मनुष्योंकी तरह नहीं होती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा आदिका मनुष्याकार नहीं है। यह जो कहा गया है कि चेतनावालोंकी तरह इन देवताओंकी स्तुति है, वह तो अचेतनमें भी घटित होता है। पाषाण-खण्ड (सोमलताको कूटनेसे हरित वर्णवाले पत्थर) सोमलताको कूटनेसे ध्वनित होकर मानो अपने हरित वर्णवाले मुखोंसे बुला रहे हैं[१]। सिन्धु नदी व्यापक पानीरूपी रथको जोड़े हुए अर्थात् धारण किये हुए है[२]। ग्रावस्तुति (पत्थरोंकी स्तुति)-में आलंकारिक वर्णन किया गया है कि शिलाओं (सोमलताको कूटनेवाले पाषाण एवं आधारभूत पाषाण-खण्ड)-ने होता (ऋत्विक्)-से पहले हविका भक्षण कर लिया[३]। अतः यह सिद्ध हुआ कि देवता मनुष्य-सदृश हैं और नहीं भी हैं अर्थात् अचेतन देवता कर्मस्वरूप है तथा चेतन उसका अधिष्ठातृ देवता है। जैसे यज्ञ अचेतन रूपसे यजमानके अधीन है, किंतु यज्ञका अधिष्ठातृदेव (यज्ञनारायण) चेतन एवं स्वतन्त्र है। वह यजमानका आराध्य है। महाभारतमें आख्यानोंद्वारा इसी सिद्धान्तको प्रदर्शित किया गया है कि पृथिवीने स्त्री-रूप धारण कर ब्रह्माजीसे अपना भार हलका करनेके लिये याचना की। अग्निने ब्राह्मणका रूप धारण कर वासुदेव एवं अर्जुनसे खाण्डव-वन-दहनकी याचना की। मन्त्रार्थ, वर्ग-दृष्टिसे यास्कने देवतावादको चार प्रकारोंमें प्रस्तुत किया है—(१) पुरुषविध, (२) अपुरुषविध, (३) नित्य उभयविध और (४) कर्मार्थ आत्मोभयविध।

प्रस्तुत अग्निदेवता नित्य उभयविध है अर्थात् अपुरुषविध तथा पुरुषविध। अपुरुषविध अग्निके द्वारा दाह, पाक, प्रकाश एवं यज्ञ-यागादिक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। यज्ञ-यागादिक धर्म-कर्ममें अग्निदेवताके नित्य उभयविधा (दोनों प्रकार)-को ही स्वीकार किया गया है। अन्यथा कर्म (कर्मफल) तथा मन्त्रार्थ दोनों ही सम्पन्न नहीं होंगे। मन्त्रोंमें अधिष्ठातृ अग्निदेवताकी ही स्तुति की गयी। यह अग्नि पुरुषविध भी है तो यह अग्निपुरुष कैसा है? यह जिज्ञासा होती है। अतः इस अग्निपुरुषके स्वरूपको समझ लेना चाहिये।

यज्ञ-यागादि कर्ममें अग्निका पूजन कर उसके ध्यानमें बतलाया गया है कि अग्निदेवके सात हाथ, चार सींग, सात जिह्वा[४], दो सिर और तीन पैर हैं[५]। उस अग्निके दाहिने पार्श्वमें स्वाहा तथा बायें पार्श्वमें स्वधादेवी विराजमान हैं। वह दाहिने चार हाथोंमें क्रमशः शक्ति (आयुध), अन्न, स्रुक् एवं स्रुवेको तथा बायें तीन हाथोंमें तोमर (गँड़ासा), व्यजन (पंखा) एवं घृतपात्रको धारण किये हुए सुखपूर्वक यजन करनेवालेके सम्मुख पवित्र, प्रसन्नमुद्रामें विराजमान है। इस अग्निदेवका शाण्डिल्य गोत्र तथा शाण्डिल्य, असित एवं देवल—ये तीन प्रवर हैं। भूमि इसकी माता, वरुण पिता तथा इसकी ध्वजामें मेष (भेड़ा) अंकित है। कहीं-कहीं इसका वाहन भी मेष बतलाया गया है। उपर्युक्त वर्णनमें अग्निके आलंकारिक स्वरूपको समझना चाहिये।

कर्मकाण्डकी दृष्टिसे अग्निके अनेक नाम

श्रौत, स्मार्त एवं गृह्य-कर्मकी दृष्टिसे एक ही अग्निके कई भेद एवं उसके विविध नाम हो जाते हैं।

सोमयागकी अग्निष्टोम आदि सात संस्थाओं एवं अन्य श्रौतयागोंमें मुख्यरूपसे (१) आहवनीय, (२) गार्हपत्य एवं (३) दक्षिणाग्नि—ये तीन श्रौताग्नियाँ कही जाती हैं। सौमिक वेदीमें स्थित आहवनीय एवं गार्हपत्य अग्नि कर्म तथा स्थानके भेदसे शालाद्वार्य और प्राजहितके नामसे भी अभिहित होता है। उक्त आहवनीय अग्निको अरणिमन्थनके द्वारा उत्पन्न किया जाता है। मन्थनद्वारा बलपूर्वक मथकर निकाले जानेके कारण यह सहसस्पुत्र

१-'अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः' (ऋक्० १०। ९४। २)।
२-'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्' (ऋक्० १०। ७५। ९)।
३-'होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत'॥ (ऋक्० १०। ९४। २)
४-काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥ (मुण्डक० १। २। ४)
५-'चत्वारि शृङ्गा०' (शुक्लयजु० १७। ९१)।

या 'बलपुत्र' कहा जाता है। शवको जलानेवाली अग्निका नाम 'क्रव्याद' है। श्रौत या स्मार्त अग्निमें सूक्ष्मरूपसे कहीं 'क्रव्याद' एवं आमाद अग्नि छिपे न हों, अतः स्थण्डिल (वेदी) या कुण्डमें स्थापित करनेके पहले नैर्ऋत्यकोणमें 'क्रव्याद' एवं आमाद अग्निके अंशको बाहर कर दिया जाता है[१]।

श्रौतकर्मके बाद स्मार्तकर्मका क्रम आता है। प्रायः सभी गृह्यकर्म 'गृह्य-आवसथ्य' अग्निमें किये जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति विवाहके समयमें 'आवसथ्य' अग्निका आधान (ग्रहण) नहीं कर पाता है तो सभी गृह्यकर्म लौकिक अग्निमें करने चाहिये। षोडश-संस्कार एवं अन्य स्मार्तकर्मोंमें इस लौकिक अग्निके भिन्न-भिन्न नाम हैं। लौकिक होममें जिस अग्निका स्थापन होता है, उसका सामान्यरूपसे 'पावक' नाम होता है। तत्तत् कर्मविशेषमें जिन-जिन अग्नियोंका स्थापन किया जाता है, उन-उन अग्नियोंके अलग-अलग नाम हैं, जिनका 'संग्रह' एवं 'प्रयोगरत्न' नामक ग्रन्थमें उल्लेख किया गया है।

अग्निदेवताका बीज मन्त्र 'रं' तथा मुख्य मन्त्र '**रं वह्निचैतन्याय नमः**' है।

ध्यान एवं नमस्कार-मन्त्र

प्रपञ्चसार, शारदातिलक तथा श्रीविद्यार्णव आदि तन्त्र-ग्रन्थोंमें उनके ध्यान एवं नमस्कारके कई मन्त्र मिलते हैं, जिनका आशय प्रायः समान ही है। यहाँ शारदातिलकके कुछ ध्यान उद्धृत किये जाते हैं—

इष्टं शक्तिं स्वस्तिकाभीतिमुच्चै-
र्दीर्घैर्दोर्भिर्धारयन्तं जवाभम्।
हेमाकल्पं पद्मसंस्थं त्रिनेत्रं
ध्यायेद्वह्निं बद्धमौलिं जटाभिः॥

(५। ३४)

'अग्निदेव अपनी बड़ी-बड़ी चार भुजाओंमें क्रमशः वरमुद्रा, अभयमुद्रा, शक्ति एवं स्वस्तिकको धारण किये हुए हैं। इनके तीन नेत्र हैं और शिरोभागमें जटाएँ सुशोभित हैं। ये कमलके आसनपर विराजमान हैं तथा इनकी कान्ति जपापुष्पके समान लाल है।'

अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम्।
सुवर्णवर्णममलं समिद्धं विश्वतोमुखम्॥

(५। १९)

'मैं जाज्वल्यमान अग्निदेवकी वन्दना कर रहा हूँ, जो धन-धान्यको देनेवाले हैं तथा समस्त देवताओंके हविर्भागको यथास्थान पहुँचा देते हैं। इनकी कान्ति प्रज्वलित स्वर्णकी-सी है तथा इनकी ज्वालाएँ दसों दिशाओंमें व्याप्त हैं। ये पूर्णरूपसे अपने तेजोमय रूपमें स्थित हैं।'

वैदिक वाङ्मयमें इन्द्रका चरित्र

(श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)

वेदोंमें लगभग ३३ करोड़ देवी-देवताओंकी अभिव्यक्ति की गयी है। उन देवताओंको तीन वर्गोंमें विभक्त किया गया है—(१) द्यु-स्थानीय (आकाशवासी) देवता, (२) अन्तरिक्ष (मध्य)-स्थानीय देवता तथा (३) पृथिवी-स्थानीय देवता।

इनमें अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओंमें 'इन्द्र' का नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। भारतीय आर्योंके सर्वाधिक प्रिय वैदिक देवता 'इन्द्र' की स्तुतिमें ऋग्वेदमें लगभग २५० सूक्त कहे गये हैं तथा आंशिक स्तुतिके सूक्तोंको मिलानेपर इनकी संख्या लगभग ३०० तक पहुँचती है। अतः वेदोंके सर्वाधिक स्तोतव्य इन्द्रदेवके चरित्रका अध्ययन करना आवश्यक दीखता है।

इन्द्र शत्रुसंहारक-रूपमें—ऋग्वेदमें इन्द्रको वृत्रासुरका विनाशक, शत्रुपुरीका विध्वंसक[२], शम्बर नामक दैत्यके पुरोंका नाश करनेवाला[३], रथियोंमें सर्वश्रेष्ठ, वाजिपतियोंका स्वामी[४], दुष्ट-दलनकर्ता[५], शत्रुओंको पर्वतकी गुफाओंमें खदेड़नेवाला[६] तथा वीरोंके साथ युद्धमें विजयी बतलाया गया है[७]। वहाँ ऐसा भी उल्लेख है कि इन्द्र मात्र अपने आयुध वज्रसे ही सम्पूर्ण शत्रुओंको पराजित करनेकी अद्भुत क्षमता रखते हैं। परंतु अथर्ववेदके एक स्थानपर वज्रके आयुधके स्थानपर हाथोंमें बाण एवं तरकश

१- 'निष्क्रव्याद छ सेधा' (शुक्लयजु० १। १७)। २-ऋग्वेद २। २०। ७, ३-ऋक्० ६। २१। ४, ४- ऋक्० १। ११। १, ५-ऋक्० ३। ३०। १७, ६-ऋक्० २। १२। ४, ७-ऋक्० १। १७८। ३।

लेकर उनके युद्ध करनेका उल्लेख भी मिलता है[१]। ब्राह्मणग्रन्थोंमें इन्द्रको वृत्रासुर नामक दैत्यका नाश करनेवाला[२], नमुचि नामक दैत्यका संहार करनेवाला[३], महान् बलवान्[४] तथा देवताओंमें अत्यन्त बलशाली कहा गया है[५]। उपनिषदोंमें इन्हें त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपका, जिसके तीन मस्तक थे, वज्रद्वारा संहार करनेवाला कहा गया है। इन्द्रने आश्रमोचित आचरणसे भ्रष्ट अनेक संन्यासियोंके अङ्ग-भङ्ग कर उनके टुकड़े शृगालोंको बाँट दिये थे। उन्हें प्रह्लादके परिचारक दैत्योंको मौतके घाट उतारनेवाला भी कहा गया है। इसी प्रकार इन्हें पुलोमासुरके परिचायक दानवों तथा पृथ्वीपर रहनेवाले कालकाश्य नामक दैत्यका संहार करनेवाला भी कहा गया है[६]।

इस प्रकार वैदिक वाङ्मयमें ऋग्वेदसे उपनिषद्तक इन्द्रका एक महान् शत्रुसंहारकके रूपमें विशद वर्णन मिलता है। आभिचारिक पूजन-हेतु इन्द्रकी प्रतिमाका निर्माण भी होता था। युद्धके देवताके रूपमें, शत्रुको पराजित करनेवाले स्वरूपको व्यक्ति पूजते थे तथा कामना करते थे कि इन्द्र उन्हें उनके शत्रुओंके विरुद्ध युद्धमें विजय प्राप्त कराते। वैदिक साहित्यमें इन्द्रकी राष्ट्रिय देवता या युद्धके देवताके रूपमें ख्याति सतत बनी हुई देखी जा सकती है।

इन्द्र महान् सत्ताधारी-रूपमें—ऋग्वेदमें इन्द्रके प्रभावको आकाशसे भी अधिक श्रेष्ठ, उनकी महिमाको पृथ्वीसे भी अधिक विस्तीर्ण तथा भीषण, बलमें सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ कहा गया है[७]। उल्लेख है कि उन्होंने आकाशमें द्युलोकको स्थिर किया। द्यावा-पृथ्वी-अन्तरिक्षको अपने तेजसे पूर्ण किया तथा विस्तीर्ण पृथ्वीको धारण कर उसको प्रसिद्ध किया।[८] इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थोंमें इन्द्रको सूर्य[९], वाणी[१०] तथा मन[११]का राजा[१२] कहा गया है। उपनिषदोंमें इन्द्रको अन्य देवताओंसे श्रेष्ठ कहा गया है[१३]। स्वरोंको इन्द्रकी आत्मा[१४] तथा प्राणको स्वयं इन्द्र कहा गया है[१५]। इन्द्रके आश्रित होकर ही समस्त रुद्रगण जीवन धारण करते हैं[१६]। इन्द्रको स्पष्टरूपसे देवता मानते हुए उनकी स्तुति करनेका निर्देश दिया गया है[१७]। गर्भाधानके समय इन्द्रको देवता मानते हुए उनका यजन करनेका उल्लेख है[१८] देवलोकको इन्द्रलोकसे ओतप्रोत बताते हुए[१९] कहा गया है कि दक्षिण नेत्रमें विद्यमान पुरुष इन्द्र ही है[२०]। इन्द्रको आत्मा, ब्रह्मा एवं सर्वदेवमय कहा गया है[२१]। इन्द्रका प्रिय धाम स्वर्ग है[२२] तथा वायुमण्डलमें विद्यमान पुरुष भी इन्द्र ही है[२३]।

इस प्रकार इन्द्र महान् सत्ताधारीके रूपमें सार्वभौमिक स्वरूपको अग्रसर करते हुए अपनी सत्ताको विद्यमान रखनेमें पूर्णरूपसे सफल रहे। वैदिक कालमें उनकी सत्ता, प्रभुता एवं सम्पन्नता निश्चितरूपसे उनकी सार्वभौमिकताको प्रस्तुत करती है। उनका प्रत्येक स्थलपर उपस्थित रहना, सर्वत्र विद्यमान रहना, निश्चितरूपसे उनकी लोकप्रियताको प्रस्तुत करता है।

इन्द्र महाप्रज्ञावान्-रूपमें—ऋग्वेदमें इन्द्रकी बुद्धिकी प्रशंसा की गयी है[२४]। ब्राह्मणग्रन्थोंमें इन्द्रको श्रुति[२५] एवं वीर्य[२६] कहा गया है। पाणिनिने अपने 'अष्टाध्यायी' में इन्द्रको इन्द्रियोंका शासक बताते हुए कहा कि इन्द्रसे ही इन्द्रियोंको शक्ति मिलती है[२७]। उपनिषदोंके अनुसार इन्द्रने प्रजापतिके समीप १०१ वर्षोंतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करते हुए ज्ञान प्राप्त किया था[२८]। उन्होंने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना था[२९] तथा दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन उनके समीप ज्ञान प्राप्त करने गया था, जिसे उन्होंने ज्ञान प्रदान किया[३०]। इन्द्रको ब्रह्ममन्दिरके द्वारका रक्षक कहा गया है[३१] तथा प्रज्ञाका साक्षात् रूप प्राण कहा गया

१-अथर्ववेद १९। १३। ४, २-तैत्तिरीयब्राह्मण २। ४। ३, ३-वही १। ७। १, ४-शतपथब्रा० ११। ४। ३। १२, तैत्तिरीयब्रा० २। ५। ७। ४, मैक्डानल-'वैदिक माइथालोजी' ५३—६३, ५-कौषीतकिब्राह्मण ६। १४, ६-कौषीतकि-उप० ३। १, ७-ऋग्वेद १। ५५। १, ८-वही २। १५। २, ९-शतपथब्राह्मण ८। ५। ३। २, १०-जैमिनीयब्राह्मण १। ३३। २, ११-गोपथब्राह्मण ४। ११, १२-तैत्तिरीयब्रा० ३। ८। २३। २, कौषीतकिब्राह्मण ६। ९, १३-केनोपनिषद् ४। १-२, १४- छान्दोग्योपनिषद् २। २२। २, १५-कठोपनिषद्, १६-छान्दोग्योप० ३। ७, १७-बृहदारण्यक० १। ४। ५-६, १८-छान्दोग्य०, १९-बृहदारण्यक० ३। ६। १, २०-वही ४। २। २, २१-ऐत० उप० १। ३। १४, ३। १। ३, २२-कौषीतकि-उप० ३। १, २३-वही, २४-ऋग्वेद १। ५४। ८, २५-तैत्तिरीयब्राह्मण २। ३। १, २६-ताण्ड्यब्राह्मण ९। ७। ५, ऐतरेयब्राह्मण ८। ७, २७-पाणिनिका अष्टाध्यायी सूत्रपाठ ५। २। ९३, २८-छान्दोग्योपनिषद् ८। ११। ३, २९-केनोपनिषद् ४। २, ३०-कौषीतकि-उपनिषद् ३। १, ३१-कौषीतकि-उप० १। ३।

है[१]। एक स्थानपर तो उनको आयु एवं अमृत भी कहा गया है[२]।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि 'इन्द्र' की प्रसिद्धि उनकी अपरिमित अजेयता, वीरता, सार्वभौमिकता एवं ज्ञान आदिकी पराकाष्ठाके सारभूत तत्त्वोंकी अधिकताके कारण ही रही। इसी कारण उनका चरित्र आज भी एक उल्लेखनीय व्यक्तित्वके रूपमें उपस्थित है। उनकी लोकप्रियताको बनाये रखनेमें उनके चरित्रका विशेष योगदान रहा है, जिसके कारणस्वरूप वे आज भी एक महान् देवताके रूपमें जाने जाते हैं। यद्यपि कालके प्रभावसे देवताओंके महत्त्व घटते-बढ़ते रहे, किंतु इनके चरित्र एवं महत्त्व आज भी उल्लेखनीय हैं। वे आज भी स्वर्गके राजा हैं और उन्हें देवताओंका सहयोग सदा रहा है।

आख्यान—

मरुद्गणोंका देवत्व

दैत्योंकी माता दितिने अपने पति कश्यप ऋषिसे कहा—'देवगण हमेशा हमारी संतानोंको मारनेके लिये तरह-तरहके उपाय करते रहते हैं। हमारी एक ऐसी संतान होनी चाहिये, जो इन्द्रका वध कर सके।

पति-पत्नी दोनोंने ऐसा संकल्प किया। कुछ दिनोंके बाद दिति गर्भवती हुई। इन्द्रको पता लगा कि दितिने ऐसी संतानकी कामना करके गर्भ धारण किया है, जो पैदा होनेके बाद उसका वध कर सके।'

इन्द्रको सदासे अपना पद, अपनी प्रतिष्ठा तथा अपना प्राण प्यारा रहा है। इसको बचानेके लिये वे कोई भी उचित-अनुचित कदम उठा सकते थे। इसके लिये वे किसी नीति-अनीतिका विचार नहीं करते थे।

दितिके प्रसवसे पूर्व एक दिन इन्द्र छलपूर्वक सूक्ष्मरूपसे दितिके पेटमें घुस गये और उस गर्भस्थ शिशुके सात टुकड़े कर दिये। टुकड़ोंमें बँट जानेपर भी वह बच्चा रोता रहा तो इन्द्रने उन्हें चुप करनेके लिये उन सातोंके सात-सात टुकड़े कर दिये। इस प्रकार उनचास टुकड़े हो जानेपर कहा—'**मा रुदत, मा रुदत**' अर्थात् मत रोओ, मत रोओ।

वह बच्चा ऋषि-शक्तिसे सम्पन्न था, अतः टुकड़ोंमें बँटनेपर भी मरा नहीं, बल्कि उनचास खण्डोंमें जन्मा। उतने बच्चोंको एक साथ रोते देखकर माँ दिति घबरा गयी और उसने भी '**मा रुदत**', '**मा रुदत**' कहकर चुप कराया। इस तरह उन बच्चोंका नाम ही 'मरुत्' हो गया। वे सब संख्यामें उनचास थे।

जब इन्द्रको पता चला कि दितिको यह ज्ञात हो गया है कि उसके बच्चेको इस प्रकार उनचास टुकड़ोंमें बाँट देनेका जघन्य कार्य इन्द्रने किया है तो डरके मारे वह कश्यप और दितिके पास आया तथा उसने हाथ जोड़कर क्षमा माँगी। अपने इस पापके प्रायश्चित्तके लिये इन मरुतोंको देवश्रेणी प्रदान करने तथा यज्ञभाग पानेका अधिकारी बनाया। दिति और कश्यपको इससे संतोष हुआ। वे सब मिलकर 'मरुद्गण' कहलाये।

बड़े होनेपर मरुद्गणोंको द्युलोक तथा अन्तरिक्षमें स्थान दिया गया। ये इन्द्रकी बड़ी सहायता करते थे। जिस ओर भी ये चलते थे, वायुमें प्रकम्प पैदा होता था तथा वायुकी वक्रतासे उसमें विद्युत् पैदा होती थी। ऐसे अवसरपर कहा जाता था कि '**चले मरुत उनचास**।'

एक बार इन्द्र तथा मरुद्गणोंमें किसी प्रकारका विवाद हो गया। इन्द्र रुष्ट हो गये और उन्होंने व्यवस्था की कि अब यज्ञमें मरुद्गणोंको दैवों-जैसा यज्ञभाग नहीं मिलेगा। मरुद्गणोंको इन्द्रके इस निर्णयका पता नहीं चला, परंतु एक बार महर्षि अगस्त्यने एक यज्ञ शुरू किया तो उसमें देवों तथा मरुद्गणोंको हविष्य डालनेको कहा।

इन्द्रने कहा—'ऋषिवर! मरुद्गणोंको यज्ञभागसे वञ्चित कर दिया गया है। अब इन्हें यज्ञमें भाग लेनेका अधिकार नहीं और न ही ये यज्ञाग्निमें हविष्य डाल सकेंगे।'

इन्द्रका यह निर्णय सुनकर महर्षि अगस्त्यने कुछ नहीं कहा, पर मरुद्गणोंने इसे अपना अपमान तथा पराभव समझा। क्रोधित होकर वे यज्ञवेदीसे उठ गये। मरुद्गणोंके इस प्रकार यज्ञवेदीसे क्रोधित हो उठकर जाते देख महर्षि अगस्त्यने इन्द्रसे कहा—'इन्द्र! तुम्हारी शक्ति, पद, प्रतिष्ठा तथा पूजा समस्त देवोंके सहयोग

१-कौषीतकि-उप० ३। २, २-कौषीतकि-उप० १। ३।

तथा कार्यसे होती है। चूँकि तुम देवताओंके राजा हो, इसलिये सारा यश और प्रतिष्ठा तुम्हें मिलती है और सर्वत्र सबसे बढ़कर तुम्हारी ही पूजा होती है। यह मत भूलो कि यदि ये देवगण एक-एक कर तुमसे असहयोग करने लगेंगे तो तुम्हारी शक्ति शून्य हो जायगी। इन मरुद्गणोंकी शक्ति नहीं जानते और यह भी नहीं जानते कि इन्हींके सहयोगसे भूमण्डलमें तुम्हें सर्वपूज्य देवता माना गया है।'

'ये मरुद्गण भूमिधर्मा जलको अपने बलसे आकाशमें उठाकर फिर उन्हें वर्षाके रूपमें पृथ्वीपर भेजकर अन्न, फल, फूल तथा वनस्पतियोंके उत्पादनमें सहयोग देते हैं। ये सामान्यरूपसे चलकर समस्त जीवोंको प्राणवायु प्रदान करते हैं। यदि ये रुष्ट हो गये और भूमण्डलमें अकाल पड़ा तो इसके दोषी तुम होओगे और तुम्हारी पूजा तथा प्रतिष्ठाकी हानि होगी। यदि ये सब अपने सामूहिक वेगसे चलने लगेंगे तो कौन उस वेगको सँभालेगा और कौन उसके आगे ठहर सकेगा? तुम्हारे देवलोकको ब्रह्माण्डके किस अन्तरिक्षमें ये फेंक देंगे, किसीको पता भी नहीं चलेगा!'

'इसलिये अहंकारवश अपने विनाशका कारण मत बनो। विवेकवान् होओ, अहंकार त्यागकर विनयशील होओ। सबके सहयोगसे विश्वका कल्याण करो, इसीसे तुम्हारे अस्तित्वकी रक्षा होगी।'

महर्षि अगस्त्यकी यह चेतावनी सुनकर इन्द्रका अहंकार नष्ट हुआ। उन्होंने जाकर मरुद्गणोंसे क्षमा माँगी तथा विनयपूर्वक सबको मनाया एवं उन्हें यज्ञभागका अधिकारी बनाया और देवश्रेणीकी मर्यादा दी। [ऋग्वेद]

[भारतीय संस्कृति-कथा-कोश]

वेदोंमें भगवान् सूर्यकी महत्ता और स्तुतियाँ

(श्रीरामस्वरूपजी शास्त्री 'रसिकेश')

पृथ्वीसे भी अत्यधिक उपकारक भगवान् सूर्य हैं। अतः हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियोंने श्रद्धा-विभोर होकर सूर्यदेवकी स्तुति-प्रार्थना और उपासनाके सैकड़ों सुन्दर मन्त्रोंकी उद्भावना की है। उनके प्रशंसनीय प्रयासका दिग्दर्शन कराया जा रहा है—

सूर्य-स्तुति

वैदिक ऋषियोंका ध्यान भगवान् सूर्यके निम्नलिखित गुणोंकी ओर विशेषरूपसे गया है—(क) अन्धकारका नाश, (ख) राक्षसोंका नाश, (ग) दुःखों और रोगोंका नाश, (घ) नेत्र-ज्योतिकी वृद्धि, (ङ) चराचरकी आत्मा, (च) आयुकी वृद्धि और (छ) लोकोंका धारण।

नीचे भुवन-भास्करके इन्हीं गुणोंके सम्बन्धमें वेद-मन्त्रोंद्वारा प्रकाश डाला जाता है—

अन्धकारका नाश—

अभितपा सौर्य ऋषिकी प्रार्थना है—

येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना।
तेनास्मद्विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुष्ष्वप्न्यं सुव॥

(ऋक्० १०। ३७। ४)

'हे सूर्य! आप जिस ज्योतिसे अन्धकारका नाश करते हैं तथा प्रकाशसे समस्त संसारमें स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं, उसीसे हमारा समग्र अन्नोंका अभाव, यज्ञका अभाव, रोग तथा कुस्वप्नोंके कुप्रभाव दूर कीजिये।'

राक्षसोंका नाश—

महर्षि अगस्त्य ऐसे ही विचारोंको निम्नाङ्कित मन्त्रमें व्यक्त करते हैं—

उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
अदृष्टान् त्सर्वाञ्जम्भयन् त्सर्वाश्च यातुधान्यः॥

(ऋक्० १। १९१। ८)

'सबको दीखनेवाले, न दीखनेवाले (राक्षसों)-को नष्ट करनेवाले, सब रजनीचरों तथा राक्षसियोंको मारते हुए वे सूर्यदेव सामने उदित हो रहे हैं।'

रोगोंका नाश—

प्रस्तुत मन्त्रसे विदित होता है कि सूर्यका प्रकाश पीलिया रोग तथा हृदयके रोगोंमें विशेष लाभप्रद माना जाता था। प्रस्कण्व ऋषिकी सूर्यदेवतासे प्रार्थना है—

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।

हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥

(ऋक्० १। ५०। ११)

'हे हितकारी तेजवाले सूर्य! आप आज उदित होते तथा ऊँचे आकाशमें जाते समय मेरे हृदयके रोग और पाण्डुरोग (पीलिया)-को नष्ट कीजिये।' इस मन्त्रके '**उद्यन्**' तथा '**आरोहन्**' शब्दोंसे सूचित होता है कि दोपहरसे पूर्वके सूर्यका प्रकाश उक्त रोगोंका विशेषतः नाश करता है।

नेत्र-ज्योतिकी वृद्धि—

वेदोंमें विभिन्न देवताओंको पृथक्-पृथक् पदार्थोंका अधिपति एवं अधिष्ठाता कहा गया है। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद (५। २४। ९)-में अथर्वा ऋषि हमें बताते हैं कि जैसे अग्नि वनस्पतियोंके, सोम लताओंके, वायु अन्तरिक्षके तथा वरुण जलोंके अधिपति हैं, वैसे ही 'सूर्यदेवता नेत्रोंके अधिपति हैं। वे मेरी रक्षा करें'—

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु॥

यहाँ नेत्र प्राणियोंके नेत्रोंतक ही सीमित नहीं है; क्योंकि वेद तो भगवान् सूर्यको मित्र, वरुण तथा अग्निदेवके भी नेत्र बताते हैं—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।

(ऋक्० १। ११५। १)

'ये सूर्य देवताओंके अद्भुत मुखमण्डल ही हैं, जो कि उदित हुए हैं। ये मित्र, वरुण और अग्निदेवोंके चक्षु हैं।' सूर्य तथा नेत्रोंके घनिष्ठ सम्बन्धको ब्रह्मा ऋषिने इन अमर शब्दोंमें व्यक्त किया है—

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्त-
रिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।

(अथर्व० ५। ९। ७)

'सूर्य ही मेरे नेत्र हैं, वायु ही प्राण हैं, अन्तरिक्ष ही आत्मा है तथा पृथिवी ही शरीर है।'

इसी प्रकार दिवंगत व्यक्तिके चक्षुके सूर्यमें लीन होनेकी कामना की गयी है (ऋक्० १०। १६। ३)। सूर्यदेवता दूसरोंको ही दृष्टि-दान नहीं करते, स्वयं दूर रहते हुए भी प्रत्येक पदार्थपर पूरी दृष्टि डालते हैं। ऋजिश्वा ऋषिके विचार इस विषयमें इस प्रकार हैं—

वेद यस्त्रीणि विदथान्येषां देवानां जन्म सनुतरा च विप्रः।
ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्नभि चष्टे सूरो अर्य एवान्॥

(ऋक्० ६। ५१। २)

'जो विद्वान् सूर्यदेवता तथा इन अन्य देवताओंके स्थानों (पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ) और इनकी संतानोंके ज्ञाता हैं, वे मनुष्योंके सरल और कुटिल कर्मोंको सम्यक् देखते रहते हैं।'

चराचरकी आत्मा—

वैदिक ऋषियोंकी प्रगाढ अनुभूति थी कि सूर्यका इस विशाल विश्वमें वही स्थान है, जो शरीरमें आत्माका। इसी कारण वेदोंमें ऐसे अनेक मन्त्र सहज सुलभ हैं, जिनमें सूर्यको सभी जड़-चेतन पदार्थोंकी आत्मा कहा गया है। यथा—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ (ऋक्० १। ११५। १)

'ये सूर्यदेवता जंगम तथा स्थावर सभी पदार्थोंकी आत्मा हैं।'

आयु-वर्धक—

यों तो रोगोंके बचाव तथा उनके उपचारसे भी आयु-वृद्धि होती है, फिर भी वेदोंमें ऐसे मन्त्र विद्यमान हैं, जिनमें सूर्य एवं दीर्घायुका प्रत्यक्ष सम्बन्ध दिखाया गया है। यथा—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्०॥ (शुक्लयजु० ३६। २४)

'देवताओंद्वारा स्थापित वे तेजस्वी सूर्य पूर्व दिशामें उदित हो रहे हैं। उनके अनुग्रहसे हम सौ वर्षोंतक (तथा उससे भी अधिक) देखें और जीवित रहें।'

लोक-धारण—

वैदिक ऋषि इस बातका सम्यक् अनुभव करते थे कि लोक-लोकान्तर भी सूर्यदेवताद्वारा धारण किये जाते हैं। निदर्शनके लिये एक ही मन्त्र पर्याप्त होगा—

विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः।
येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता॥

(ऋक्० १०। १७०। ४)

'हे सूर्य! आप ज्योतिसे चमकते हुए द्युलोकके सुन्दर सुखप्रद स्थानपर जा पहुँचे हैं। आप सर्वकर्म-साधक तथा सब देवताओंके हितकारी हैं। आपने ही सब लोक-लोकान्तरोंको धारण किया है।'

सूर्य-देवसे प्रार्थनाएँ

उपर्युक्त अनेक मन्त्रोंमें सूर्यदेवताका गुणगान ही नहीं है, प्रसंगवश प्रार्थनाएँ भी आ गयी हैं। दो-एक अभ्यर्थनापूर्ण मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः
पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः।
स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायु-
र्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम॥

(अथर्व० १३। २। ३७)

'मैं द्यौकी पीठपर उड़ते हुए अदितिके पुत्र, सुन्दर पक्षी (सूर्य)-के पास कुछ माँगनेके लिये डरता हुआ जाता हूँ। हे सूर्यदेव! आप हमारी आयु खूब लम्बी करें। हम कोई कष्ट न पायें। हमपर आपकी कृपा बनी रहे।'

अपने उपास्य प्रसन्न हो जायँ तो उनसे अन्य कार्य भी करा लिये जाते हैं। निम्नलिखित मन्त्रमें महर्षि वसिष्ठ भगवान् सूर्यसे कुछ इसी प्रकारका कार्य करानेकी भावना व्यक्त करते हैं—

स सूर्य प्रति पुरो न उद् गा एभिः स्तोमेभिरेतशेभिरेवैः।
प्र नो मित्राय वरुणाय वोचो ऽनागसो अर्यम्णे अग्नये च॥

(ऋक्० ७। ६२। २)

'हे सूर्य ! आप इन स्तोत्रोंके द्वारा तीव्रगामी घोड़ोंके साथ हमारे सामने उदित हो गये हैं। आप हमारी निष्पापताकी बात मित्र, वरुण, अर्यमा तथा अग्निदेवसे भी कह दीजिये।'

उपासना

स्तुति, प्रार्थनाके पश्चात् उपासककी एक ऐसी अवस्था आ जाती है, जब वह अपने-आपको उपास्यके पास ही नहीं, बल्कि अपनेको उपास्यसे अभिन्न अनुभव करने लगता है। ऐसी ही दशाकी अभिव्यक्ति निम्नलिखित वेद-मन्त्रमें की गयी है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्०॥

(शुक्लयजु० ४०। १७)

'उस अविनाशी आदित्यदेवताका शरीर सुनहले ज्योतिपिण्डसे आच्छादित है। उस आदित्यपिण्डके भीतर जो चेतन पुरुष विद्यमान है, वह मैं ही हूँ।' उपर्युक्त विवरणसे सिद्ध है कि जहाँ हमारे वैदिक पूर्वज भौतिक आदित्यपिण्डसे विविध लाभ उठाते थे, वहाँ उसमें विद्यमान चेतन सूर्यदेवतासे स्व-कामनापूर्तिके लिये प्रार्थनाएँ भी करते थे। तत्पश्चात् उनसे एकरूपताका अनुभव करते हुए असीम आत्मिक आनन्दके भागी बन जाते थे। सचमुच महाभाग सूर्य महान् देवता हैं।

वैदिक वाङ्मयमें चन्द्रमा

(आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है—'नक्षत्रोंमें मैं चन्द्रमा हूँ'—'**नक्षत्राणामहं शशी**' (गीता १०। २१)। कतिपय भारतीय विद्वानोंने भगवान् श्रीकृष्णके कथनके आधारपर नक्षत्रोंका सम्बन्ध चन्द्रमासे जोड़ लिया। नक्षत्रोंको स्त्रियाँ मानकर चन्द्रमाको उनका पति स्वीकार कर लिया गया। सूर्य ग्रहोंके राजा माने गये। सूर्य और चन्द्रमाकी प्रधानता उनके 'प्रकाश' के आधारपर ही स्थापित हुई। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने ज्योतियोंमें अपनेको 'किरणोंवाला' सूर्य कहा है—'**ज्योतिषां रविरंशुमान्**' (गीता १०। २१)।

वैदिक साहित्यमें चन्द्रमाका जो वर्णन है, उसमें चन्द्रमाको एक लोक ही माना गया है। संसारकी संरचनामें उस विराट् पुरुषने अन्यान्य जितनी रचनाएँ की हैं, उनमें सूर्य और चन्द्रलोककी गणना सर्वप्रथम है। इसका स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद-संहिता (१०। १९०। ३)-में इस प्रकार है—'**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चाऽन्तरिक्षमथो स्वः॥**' चन्द्रमा और नक्षत्रोंके सम्बन्धको स्पष्ट करते हुए तैत्तिरीयसंहितामें एक उल्लेख प्राप्त होता है—'**यथा सूर्यो दिवा चन्द्रमसे समनमन्नक्षत्रेभ्यः समनमद् यथा चन्द्रमा नक्षत्रे वरुणाय समनमत्॥**'

एक कथनसे यह भी प्रमाणित होता है कि धरा (पृथ्वी)-पर अग्निकी स्थिति मानी गयी है। अन्तरिक्षमें वायुकी प्रधानता है। द्युलोकमें सूर्यकी और नक्षत्रलोकमें चन्द्रमाकी प्रधानता है। आधुनिक वैज्ञानिक चन्द्रमाको नक्षत्रोंसे बहुत दूर मानते हैं, किंतु चन्द्रमाका सम्बन्ध नक्षत्रोंसे पृथक् नहीं किया जा सकता। जिन-जिन समूहोंको नक्षत्रोंकी परिभाषामें स्वीकारा गया है, उन ताराओंकी आपसी दूरी भी बहुत लम्बी-लम्बी मानी जाती है। विस्तार-भयसे यहाँ अधिक नहीं लिखा जा

सकता। यों तो सूर्यका सम्बन्ध चन्द्रमासे भी है और सूर्य नक्षत्रोंसे भी सम्बन्धित है। नक्षत्रोंसे चन्द्रमाका विशेष सम्बन्ध दर्शानेका यही तात्पर्य है कि रातमें चन्द्रमा और नक्षत्रोंके दर्शन स्पष्ट होते हैं, दिनमें नहीं, क्योंकि दिनमें सूर्यका तीव्र प्रकाश बाधक बनता है।

तैत्तिरीयसंहिताके आधारपर कुछ लोग सूर्यमण्डलसे ऊपर चन्द्रमण्डलकी कल्पना करने लगे थे, किंतु वास्तविकता यह नहीं है। ऋग्वेद-संहिता (१। १०५। ११)- में निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—

सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिवः। ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं·····रोदसी॥

आचार्य यास्क और आचार्य सायणके मतानुसार उपर्युक्त ऋचाका आशय यह है कि 'अन्तरिक्षमें चन्द्रमा सूर्यसे नीचे है। इसी शुक्रकी पहली ऋचामें चन्द्रमाको पक्षी अर्थात् अन्तरिक्षमें संचार करनेवाला कहा गया है।'

संवत्सरोंका निर्णय करते हुए तैत्तिरीयब्राह्मणमें लिखा गया है कि 'अग्नि ही संवत्सर है, आदित्य परिवत्सर है, चन्द्रमा इडावत्सर है और वायु अनुवत्सर है'—

अग्निर्वा संवत्सरः। आदित्यः परिवत्सरः। चन्द्रमा इडावत्सरः। वायुरनुवत्सरः।

श्रीसायणाचार्यने ऋग्वेदकी व्याख्यामें एक स्थलपर लिखा है—'चन्द्रमा सूर्यके प्रकाशसे ही प्रकाशित होता है।' आधुनिक वैज्ञानिक भी इसे स्वीकारते हैं। सूर्यके प्रकाशसे चन्द्रमाको प्रकाशित होनेकी बात ऋग्वेदमें पहले ही कही गयी है। श्रीसायणाचार्य लिखते हैं—**'चन्द्रबिम्बे सूर्यकिरणाः प्रतिफलन्ति।'** अर्थात् चन्द्रबिम्बमें सूर्यकी किरणें ही प्रतिभासित होती हैं।

इस तथ्यको सभी स्वीकारते हैं कि चन्द्रमा सूर्यसे आकार-प्रकारमें बहुत छोटा है। चन्द्रमाका व्यास २१५९ मील ही बताया जाता है। चन्द्रमा पृथ्वीका ही एक उपग्रह माना जाता है। चन्द्रमाका पृथ्वीसे सीधा और संनिकटका सम्बन्ध माना गया है। पृथ्वीसे चन्द्रमा २५२७१० मील ही दूरस्थ है। ब्राह्मणग्रन्थोंमें हजारों वर्ष पूर्व यह स्वीकार लिया गया था कि चन्द्रमामें जो 'दृश्य भाग' धब्बे (कृष्ण)-के रूपमें दीख पड़ता है, वह पृथ्वीका हृदय है—**'यच्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्यां हृदयं श्रितम्।'** (मन्त्र-ब्राह्मण)

चन्द्रमाके जिस काले धब्बेको ब्राह्मणग्रन्थमें पृथ्वीका हृदय बताया गया है, वह पृथ्वी और चन्द्रमाके अटूट सम्बन्धका द्योतक है—बोधक है। अथर्ववेदके एक सूक्तसे अवगत होता है कि चन्द्रमा अपने सत्ताईस नक्षत्रोंसहित अत्यन्त दीर्घायुवाला ग्रह है। 'वह दीर्घायुवाला ग्रह हमें 'दीर्घायु' प्रदान करे।' इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिन नक्षत्रोंको आधुनिक वैज्ञानिक स्थिर और अत्यन्त प्राचीन मानते हैं, उसे अथर्ववेदमें बहुत पहले ही लिख दिया गया है—

चन्द्र आयुष्मान् सनक्षत्रमायुष्मान् समायुष्मान् आयुष्मन्तं कृणोतु॥

ऋग्वेद और सामवेदमें स्पष्ट लिखा है कि चन्द्रमा पृथ्वीका शिशु है—**'शिशुर्महीनाम्।'**

वेदोंके अतिरिक्त उपनिषदोंमें भी चन्द्रमाको वैज्ञानिकोंने स्वीकारा है कि 'चन्द्रमासे औषधियों और पौधोंकी वृद्धि होती है। चन्द्रमा औषधियोंका पोषक माना गया है।' प्रश्नोपनिषद् (१। ५)-में स्पष्ट लिखा गया है कि 'सूर्य प्राण है, चन्द्रमा अन्न है'—

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः॥

श्रीमद्भागवतके रचयिता महर्षि व्यासजीने चन्द्रमाके विषयमें विस्तारसे लिखा है। 'चन्द्रमा सोलह कलाओंसे युक्त मनोमय, अन्नमय, अमृतमय (प्राणमय) परम पुरुष परमात्माका ही रूप है। चन्द्रमा अपने तत्त्वोंसे देव, पितर, मनुष्य, भूत, पशु, पक्षी, सरीसृप, वृक्ष और लता आदि समस्त प्राणियोंका पोषक है। अतः चन्द्रमाको 'सर्वमय' कहा जाता है'—

य एष षोडशकलः पुरुषो भगवान् मनोमयोऽन्नमयोऽमृतमयो देवपितृमनुष्यभूतपशुपक्षिसरीसृपवीरुधां प्राणाप्यायनशीलत्वात्सर्वमय इति वर्णयन्ति॥ (श्रीमद्भा० ५। २२। १०)

चन्द्रमाकी उत्पत्ति विराट् भगवान्‌के मनसे मानी गयी है—**'चन्द्रमा मनसो जातः।'** चन्द्रमा भगवान्‌का मन भी माना गया है। ज्योतिष्फलित-विचारसे चन्द्रमा जीवके मनका 'कारक' माना जाता है।

वेदोंमें शिव-तत्त्व

शिव ही ब्रह्म हैं

श्वेताश्वतरोपनिषद्के प्रारम्भमें ब्रह्मके सम्बन्धमें जिज्ञासा उठायी गयी है। पूछा गया है कि जगत्का कारण जो ब्रह्म है, वह कौन है?—

'किं कारणं ब्रह्म' (१। १)।

श्रुतिने आगे चलकर इस 'ब्रह्म' शब्दके स्थानपर 'रुद्र' और 'शिव' शब्दका प्रयोग किया है—

'एको हि रुद्रः।' (३। २)

'स""शिवः॥' (३। ११)

समाधानमें बताया गया है कि जगत्का कारण स्वभाव आदि न होकर स्वयं भगवान् शिव ही इसके अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥

(श्वेता० ३। २)

अर्थात् जो अपनी शासन-शक्तियोंके द्वारा लोकोंपर शासन करते हैं, वे रुद्रभगवान् एक ही हैं। इसलिये विद्वानोंने जगत्के कारणके रूपमें किसी अन्यका आश्रयण नहीं किया है। वे प्रत्येक जीवके भीतर स्थित हैं, समस्त जीवोंका निर्माण कर पालन करते हैं तथा प्रलयमें सबको समेट भी लेते हैं।

इस तरह 'शिव' और 'रुद्र' ब्रह्मके पर्यायवाची शब्द ठहरते हैं। 'शिव' को 'रुद्र' इसलिये कहा जाता है कि अपने उपासकोंके सामने अपना रूप शीघ्र ही प्रकट कर देते हैं—

कस्मादुच्यते रुद्रः? यस्मादृषिभिः""""""द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते। (अथर्वशिर० उप० ४)

भगवान् शिवको 'रुद्र' इसलिये भी कहते हैं—ये 'रुत्' अर्थात् दुःखको विनष्ट कर देते हैं—**'रुत्=दुःखम्, द्रावयति=नाशयतीति रुद्रः।'**

तत्त्व एक है, नाम अनेक

शिव-तत्त्व तो एक ही है—**'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** (छा० उ० ६। २। १)। उस अद्वय-तत्त्वके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं—**'एकमेव सत्।' 'नेह नानास्ति किञ्चन'** (बृ० उ० ४। ४। १९)। किंतु उस अद्वय-तत्त्वके नाम अनेक होते हैं—**'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति॥'** (ऋक्० १। १६४। ४६) अर्थात् उस अद्वय-तत्त्वको विज्ञगण अनेक नामोंसे पुकारते हैं।

रूप भी अनेक

नामकी तरह उस अद्वय-तत्त्वके रूप भी अनेक होते हैं। ऋग्वेदने **'पुरुरूपम्'** (२। २। ९) लिखकर इस तथ्यको स्पष्ट कर दिया है। दूसरी श्रुतिने उदाहरण देकर समझाया है कि एक ही भगवान् अनेक रूपमें कैसे आ जाते हैं—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

(कठोपनिषद् २। २। ९)

जैसे कण-कणमें अनुस्यूत अग्नि (देव) एक ही है, किंतु अनेक रूपोंमें हमारे सामने प्रकट होता है, वैसे भगवान् शिव एक होते हुए भी अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं। लोक-कल्याणके लिये सद्योजात, वामदेव, तत्पुरुष, अघोर, ईशान आदि अनेक अवताररूपोंमें वे प्रकट हुए हैं (शिवपु०, शतरुद्रसंहिता)।

अनेक नाम-रूप क्यों?

जिज्ञासा होती है कि शिव एक ही हैं, तब वे अनेक नामों और अनेक रूपोंको क्यों ग्रहण करते हैं? इसके उत्तरमें श्रुतिने कहा है—

प्रयोजनार्थं रुद्रेण मूर्तिरेका त्रिधा स्थिता॥

(रुद्रहृदयोपनिषद् १५)

अर्थात् प्रयोजनवश भगवान् शिव अपनी अनेक मूर्तियाँ बना लेते हैं—अब देखना है कि आखिर वह कौन-सा प्रयोजन है, जिसके लिये वह अद्वय-तत्त्व अनेक नामों और रूपोंको ग्रहण करता है।

विविधताका कारण—लीला

इसका समाधान ब्रह्मसूत्रसे होता है। वहाँ बताया गया है कि लीला (क्रीडा)-के अतिरिक्त इस सृष्टिरूप

विविधताका और कोई प्रयोजन नहीं है—

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥'

(ब्रह्मसूत्र २। १। ३३)

अर्थात् वह अद्वय-तत्त्व जो सृष्टिके रूपमें आता है, उसका प्रयोजन एकमात्र 'लीला' है। इसके अतिरिक्त सृष्टिका और कोई प्रयोजन नहीं है।

आप्तकामकी कामना व्याहत नहीं

प्रश्न उठता है कि ईश्वर तो आप्तकाम हैं अर्थात् उनकी सब इच्छाएँ पूर्ण रहती हैं, फिर वे खेलकी भी कामना कैसे कर सकते हैं? ईश्वरको 'आप्तकाम' कहना और फिर उनमें किसी कामनाका कहना तो व्याहत है, हम लोगोंको तो तरह-तरहके अभावोंसे जूझना पड़ता है, जिनकी पूर्तिके लिये हम कामनाएँ किया करते हैं। ईश्वरको तो किसी वस्तुका अभाव है नहीं, फिर वे कामना किसकी करेंगे? यह जिज्ञासा महात्मा विदुरको भी व्यग्र करती थी। उन्होंने मैत्रेयजीसे पूछा था—'ब्रह्मन्! भगवान् तो शुद्ध बोधस्वरूप निर्विकार और निर्गुण हैं, फिर उनके साथ लीलासे ही गुण और क्रियाका सम्बन्ध कैसे हो सकता है? बालकोंमें जो खेलकी प्रवृत्ति होती है, वह कामना-प्रयुक्त होती है, किंतु भगवान् तो असंग हैं और नित्य-तृप्त हैं, फिर लीलाके लिये संकल्प ही कैसे करेंगे?'

ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः।
लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः॥
क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः॥

(श्रीमद्भा० ३। ७। २-३)

लीला स्वरूप-भूत

बात यह है कि ईश्वर प्रेम-रूप हैं—**'तस्मात् प्रेमानन्दात्'** (साम० उप०)। और प्रेममें क्रीडाएँ होती ही हैं; क्योंकि लीला प्रेमका स्वभाव है। प्रेम अपने प्रेमास्पदपर सब कुछ न्योछावर कर देना चाहता है। चाहता है कि वह अपने प्रियको निरन्तर देखता ही रहे। वह कभी नहीं चाहता कि उसका प्रेमास्पद कभी उसकी आँखोंकी ओटमें हो। प्रेममें इस तरहकी अनगिनत लीलाएँ चला ही करती हैं।

शिव ही लीलास्थली और खेलनेवाले भी बन गये

किंतु जब ईश्वर एक है, अद्वितीय है, तब देखा-देखी और अर्पणका यह खेल किसके साथ खेले और कहाँ रहकर खेले?

इसकी पूर्तिके लिये सन्मय, चिन्मय और आनन्दमय प्रभु स्वयं स्थावर भी बन जाते हैं और जङ्गम भी। उनका स्थूल-से-स्थूल रूप है—ब्रह्माण्ड, जो क्रीडास्थलीका काम देता है—

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत्॥

(श्रीमद्भा० २। १। २४)

अर्थात् 'यह ब्रह्माण्ड, जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्यकी समस्त वस्तुएँ दीख पड़ती हैं—भगवान्‌का स्थूल-से-स्थूल शरीर है।'

प्राकृत होनेके कारण प्रारम्भमें यह ब्रह्माण्ड निर्जीव था, भगवान्‌ने इसमें प्रवेश कर इसे जीवित कर दिया— **'जीवोऽजीवमजीवयत्'** (श्रीमद्भा० २। ५। ३४)। 'फिर वे विराट्-पुरुषके रूपमें आये। उसके बाद दो पैरोंवाले और चार पैरोंवाले बहुत-से शरीर बनाये तथा अंशरूपसे इनमें भी प्रविष्ट हो गये'—

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्॥

(बृ० उप० २। ५। १८)

इस तरह क्रीडास्थली भी तैयार हो गयी और खेलमें भाग लेनेवालोंकी भीड़ भी इकट्ठी हो गयी। इन प्राणियोंके जो अनन्त सिर, अनन्त आँखें और अनन्त पैर हैं, ये सब उन्हींके ब्रह्माण्ड-देहमें हैं। इसीसे प्रभुको **'सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात्'** कहा गया है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(श्वेता० उप० ३। १४)

भगवान् शिवने सब जगह आँखें, मुँह और पैर कर लिये—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।

(श्वेता० उप० ३। ३)

इसलिये कि अपने प्रेमियोंको हजार-हजार नेत्रोंसे निरन्तर निहारा करें, अपने प्रेमियोंके अर्पित वस्तुओंका भोग लगा सकें, हजारों हाथोंसे उनका रक्षण कर सकें एवं उन्हें स्नेहसे गले लगा सकें और जहाँ-कहीं बुलाया जाय, वहाँ तत्काल पहुँच भी सकें। श्रुति कहती है—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

(श्वेता० उप० ३। ४)

अर्थात् 'जो रुद्रभगवान् देवताओंकी उत्पत्ति एवं वृद्धिके हेतु हैं, जो विश्वके नाथ और सर्वज्ञ हैं तथा जिन्होंने सृष्टिके आदिमें हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया था, वे हमें शुभ बुद्धिसे संयुक्त करें।'

इस तरह रुद्रभगवान् क्रीडास्थलीका निर्माण कर एवं जीवोंको प्रकट कर इनके 'शरीररूपी नगरमें, बाह्य-जगत्में निवास कर लीला कर रहे हैं'—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।

(श्वेता० उप० ३। १८)

रुचिके अनुरूप रूप

प्रेममें रुचिका अत्यधिक महत्त्व है। लोगोंकी रुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है। रुचिके अनुरूप नाम और रूप न मिले तो उपासनामें प्रगति नहीं हो पाती। रुचिके विपरीत उपासनासे तुकाराम-जैसे संत भी घबराते हैं। संत तुकारामकी रुचि विट्ठलरूप गोपाल कृष्णपर थी। राम, कृष्ण, हरि-नाम ही इन्हें रुचता था। इनके गुरुदेवने स्वप्नमें इन्हें इन्हीं नामों और रूपोंकी उपासनाकी दीक्षा दी। इससे संत तुकारामको बहुत ही संतोष हुआ। उन्होंने कहा है—

'गुरुने मुझे कृपासागर पाण्डुरंग ही जहाज दिया।' 'गुरुदेवने मुझे वही सरल मन्त्र बताया, जो मुझे अतिप्रिय था, जिसमें कोई बखेड़ा नहीं।'

भक्त अपनी रुचिके अनुसार भगवान्के नाम और रूपका वर्णन कर सकें, इसलिये वे अनन्त नामों और रूपोंमें आते हैं—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

(राम० पू० उ० १। ७)

अर्थात् 'ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, प्राकृत शरीरसे रहित है, फिर भी वह उपासकोंके हितके लिये उनकी रुचिके अनुसार वरण करनेके लिये भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होता है।'

वही विराट्-पुरुषके रूपमें आता है, विष्णु, दुर्गा, गणेश और सूर्यके रूपमें आता है—'**ब्रह्मण्येवं हि पञ्चधा**' (राम० पू० उ० १। १०)।

पाँच ही नहीं, सम्पूर्ण व्यक्त और अव्यक्तके रूपमें प्रभु ही तो आये हैं—

उमारुद्रात्मिकाः सर्वाः प्रजाः स्थावरजंगमाः।
व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं तु महेश्वरम्॥

(रुद्रहृदयोपनिषद् १०)

जिसकी रुचि उमापति नीलकण्ठ महादेवपर हो जाती है, वह ब्रह्मको इसी रूपमें पाना चाहता है—

तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्।
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्॥

(कैवल्योपनिषद् ७)

यदि ब्रह्मकी अभिव्यक्ति इस रूपमें न होती तो इस रुचिवाले व्यक्तिकी आध्यात्मिक भूख कभी शान्त नहीं होती। बेचारेकी पारमार्थिक उन्नति मारी जाती। जब वह शास्त्रोंमें देखता है कि 'हमारे उपास्य ही एकमात्र सर्वश्रेष्ठ देव हैं, परब्रह्म हैं, वही ब्रह्मा हैं, वही शिव हैं, वही इन्द्र हैं, वही विष्णु हैं, वही प्राण, काल, अग्नि, चन्द्रमा हैं, जो कुछ स्थावर-जंगम है, सब हमारे ही प्रभु हैं', तब इस रुचिवाले उपासकको सब तरहसे संतोष हो जाता है—

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्।

(कैवल्योपनिषद् ८-९)

वही अद्वय-तत्त्व देवीके रूपमें

इसी तरह यदि किसीकी रुचि जगदम्बाकी ओर है तो उसके लिये परमात्मा देवीके रूपमें आते हैं। वेद

ऐसे उपासकोंको बताता है कि 'सृष्टिके आदिमें एकमात्र ये देवी ही थीं। इन्हीं देवीने ब्रह्माण्ड पैदा किया, इन्हींसे ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र उत्पन्न हुए'—

देवी ह्येकाग्र आसीत् सैव जगदण्डमसृजत्'''। तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरसः किन्नरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्।'''सर्वमजीजनत्। (बह्वृचोपनिषद्)

यदि पराम्बा स्वयं अपने श्रीमुखसे कहें कि 'वत्स! मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही प्रकृति-पुरुषात्मक जगत् हूँ। शून्य और अशून्य मैं ही हूँ। मैं ही आनन्द हूँ और अनानन्द हूँ, मैं ही विज्ञान हूँ और अविज्ञान हूँ' तो इन उपासकोंको कितना आश्वासन प्राप्त होता है—

अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च अहमानन्दानानन्दाः। विज्ञानाविज्ञाने अहम्।

(देव्युपनिषद् १)

वही अद्वय-रूप सूर्यके रूपमें

इसी तरह किसीका रुझान प्रत्यक्ष देवता सूर्यकी ओर होवे, उसका हृदय इस ज्योतिर्मय देवतामें रम गया—ऐसे उपासकके लिये यदि ब्रह्म आदित्यरूपमें न आते तो इसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति कैसे होती? और वह आदित्य पूर्ण ब्रह्म न हो, केवल देवता हो तो भी उपासककी रुचिको ठेस लग सकती है। अतः ब्रह्म आदित्यके रूपमें आये। वेदने सूर्योपासकको आश्वासन दिया कि तुम जिसकी ओर झुके हो, वह परब्रह्म परमात्मा है। वही अद्वय-तत्त्व है, उसीसे सबकी उत्पत्ति होती है—

आदित्याद्वायुर्जायते। आदित्याद्भूमिर्जायते। आदित्यादापो जायन्ते। आदित्याज्ज्योतिर्जायते। आदित्याद् व्योम दिशो जायन्ते। आदित्याद्देवा जायन्ते। आदित्याद्वेदा जायन्ते। आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति। असावादित्यो ब्रह्म।

(सूर्योपनिषद्)

उपर्युक्त पंक्तियोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शिव-तत्त्व एक ही है, उसीके ब्रह्मा, विष्णु, गणपति, दुर्गा, सूर्य आदि भिन्न-भिन्न नाम और रूप हैं। यदि भक्त उपमन्युका मन उस सत्-तत्त्वके शिव-रूप नाम और रूपमें अनुरक्त था तो शैव उपनिषदों, पुराणों एवं आगमोंने उनकी रुचिके अनुसार इस अद्वय-तत्त्वका सर्वविध निरूपण किया। इसी तरह जिनकी रुचि दुर्गामें है, उनके लिये शाक्त उपनिषदों, पुराणों, आगमोंने इस अद्वय-तत्त्वकी सर्वात्मकताका निरूपण किया। यही बात गणपति आदि देवताओंके लिये है।

इस तथ्यकी जानकारी न रहनेसे ही लोगोंको भ्रम हो जाता है कि शैव-ग्रन्थोंमें शिवकी सर्वात्मकता बतायी गयी है और वैष्णव-ग्रन्थोंमें विष्णुकी; जो परस्पर विरुद्ध है।

शिव सर्वात्मक हैं, अतः सबका सम्मान करो

ऊपरकी पंक्तियोंसे ईश्वरके सम्बन्धमें हिन्दू-धर्मकी अन्य धर्मोंकी अपेक्षा एक विशेषता भी दिखायी देती है, वह यह कि अन्य धर्म असत्‌को भगवान् नहीं मानते हैं, किंतु वेद कहता है कि 'सत्-असत् जो कुछ भी है, सब ईश्वर है। ईश्वरके अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं है'—

तदात्मकत्वात् सर्वस्य तस्माद्भिन्नं नहि क्वचित्॥

(रुद्रहृदयोपनिषद् २७)

इस तरह वेदने मानवमात्रके लिये बहुत ही सुगम साधन प्रस्तुत कर दिया है। जब हम समस्त जड-चेतनको भगवन्मय देखते हैं, तब सबका सम्मान करना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। अपमान करनेवालेका भी हमको सम्मान ही करना होगा; क्योंकि वह भी शिव-तत्त्वसे भिन्न नहीं है। हमारे साथ उसका जो अभद्र व्यवहार हो रहा है, उसका मूल कारण तो वस्तुतः हम ही हैं। हमसे जो कभी अभद्रकर्म हो गया था, उसीका परिणाम हम भुगत रहे हैं। निमित्त भले ही कोई बन जाय। हमें तो निमित्तसे भी प्यार ही करना है—

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। २७)

भगवान् आदेश देते हैं कि सब प्राणियोंके भीतरमें बसे हुए मुझ परमात्माको उचित रूपसे दान और सम्मान प्रदान करो, मुझमें मैत्रीभाव रखो तथा सबको समान-दृष्टिसे देखो।

शुक्लयजुर्वेद-संहितामें रुद्राष्टाध्यायी एवं रुद्रमाहात्म्यका अवलोकन

(शास्त्री श्रीजयन्तीलालजी त्रि० जोषी)

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'—श्रीमनु महाराजके कथनानुसार भगवान् वेद सर्वधर्मोंके मूल हैं या सर्वधर्ममय हैं।

वेदों एवं उनकी विभिन्न संहिताओंमें प्रकृतिके अनेक तत्त्व—आकाश, जल, वायु, उषा, संध्या इत्यादिका तथा इन्द्र, सूर्य, सोम, रुद्र, विष्णु आदि देवोंका वर्णन और स्तुति-सूक्त प्राप्त होते हैं। इनमें कुछ ऋचाएँ निवृत्तिप्रधान एवं कुछ प्रवृत्तिप्रधान हैं।

शुक्लयजुर्वेद-संहिताके अन्तर्गत रुद्राष्टाध्यायीके रूपमें भगवान् रुद्रका विशद वर्णन निहित है।

भक्तगण इस रुद्राष्टाध्यायीके मन्त्रपाठके साथ जल, दुग्ध, पञ्चामृत, आम्ररस, इक्षुरस, नारिकेलरस, गङ्गाजल आदिसे शिवलिङ्गका अभिषेक करते हैं।

शिवपुराणमें सनकादि ऋषियोंके प्रश्नपर स्वयं शिवजीने रुद्राष्टाध्यायीके मन्त्रोंद्वारा अभिषेकका माहात्म्य बतलाया है, भूरि-भूरि प्रशंसा की है और बड़ा फल दिखाया है—

मनसा कर्मणा वाचा शुचिः संगविवर्जितः।
कुर्याद् रुद्राभिषेकं च प्रीतये शूलपाणिनः॥
सर्वान् कामानवाप्नोति लभते परमां गतिम्।
नन्दते च कुलं पुंसां श्रीमच्छम्भुप्रसादतः॥

धर्मशास्त्रके विद्वानोंने रुद्राष्टाध्यायीके छः अङ्ग निश्चित किये हैं, जो निम्न हैं—

शिवसङ्कल्पो हृदयं सूक्तं स्यात् पौरुषं शिरः।
प्राहुर्नारायणीयं च शिखा स्याच्चोत्तराभिधम्॥
आशुः शिशानः कवचं नेत्रं विभ्राड् बृहत्स्मृतम्।
शतरुद्रियमस्त्रं स्यात् षडङ्गक्रम ईरितः॥
हृच्छिरस्तु शिखा वर्म नेत्रं चास्त्रं महामते।
प्राहुर्विधिज्ञा रुद्रस्य षडङ्गानि स्वशास्त्रतः॥

अर्थात् रुद्राष्टाध्यायीके प्रथमाध्यायका शिवसङ्कल्पसूक्त हृदय है। द्वितीयाध्यायका पुरुषसूक्त सिर एवं उत्तरनारायण-सूक्त शिखा है।

तृतीयाध्यायका अप्रतिरथसूक्त कवच है। चतुर्थाध्यायका मैत्रसूक्त नेत्र है एवं पञ्चमाध्यायका शतरुद्रिय सूक्त अस्त्र कहलाता है।

जिस प्रकार एक योद्धा युद्धमें अपने अङ्गों एवं आयुधोंको सुसज्ज-सावधान करता है, उसी प्रकार अध्यात्म-मार्गी साधक रुद्राष्टाध्यायीके पाठ एवं अभिषेकके लिये सुसज्ज होता है। अतः हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्र, अस्त्र इत्यादि नामाभिधान दृष्टिगोचर होते हैं।

अब हम रुद्राष्टाध्यायीके प्रत्येक अध्यायका किंचित् अवगाहन करें।

प्रथमाध्यायका प्रथम मन्त्र—**'गणानां त्वा गणपतिः हवामहे'** बहुत ही प्रसिद्ध है। कर्मकाण्डके विद्वान् इस मन्त्रका विनियोग श्रीगणेशजीके ध्यान-पूजनमें करते हैं। यह मन्त्र ब्रह्मणस्पतिके लिये भी प्रयुक्त होता है। शुक्ल-यजुर्वेद-संहिताके भाष्यकार श्रीउव्वटाचार्य एवं महीधराचार्यने इस मन्त्रका एक अर्थ अश्वमेध-यज्ञके अश्वकी स्तुतिके रूपमें भी किया है।

द्वितीय एवं तृतीय मन्त्रमें गायत्री आदि वैदिक छन्दों तथा छन्दोंमें प्रयुक्त चरणोंका उल्लेख है। पाँचवें मन्त्र **'यज्जाग्रतो'** से दशम मन्त्र **'सुषारथि'** पर्यन्तका मन्त्रसमूह 'शिवसङ्कल्पसूक्त' कहलाता है। इन मन्त्रोंका देवता 'मन' है। इन मन्त्रोंमें मनकी विशेषताएँ वर्णित हैं। प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें **'तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु'** पद आनेसे इसे 'शिवसङ्कल्पसूक्त' कहा गया है। साधकका मन शुभ विचारवाला हो, ऐसी प्रार्थना की गयी है। परम्परानुसार यह अध्याय श्रीगणेशजीका माना जाता है।

द्वितीयाध्यायमें **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** से **'यज्ञेन यज्ञम्'** पर्यन्त षोडशमन्त्र पुरुषसूक्तके रूपमें हैं। इन मन्त्रोंके नारायण ऋषि हैं एवं विराट् पुरुष देवता हैं।

विविध देवपूजामें आवाहनसे मन्त्र-पुष्पाञ्जलितकका षोडशोपचार-पूजन प्रायः इन्हीं मन्त्रोंसे सम्पन्न होता है। विष्णुयागादि वैष्णव-यज्ञोंमें भी पुरुषसूक्तके मन्त्रोंसे यज्ञ होता है।

पुरुषसूक्तके प्रथम मन्त्रमें विराट् पुरुषका अति भव्य दिव्य वर्णन प्राप्त होता है। अनेक सिरोंवाले, अनेक आँखोंवाले, अनेक चरणोंवाले वे विराट् पुरुष समग्र ब्रह्माण्डमें व्याप्त होकर दस अंगुल ऊपर स्थित हैं।

द्वितीयाध्यायके सप्तदश मन्त्र **'अद्भ्यः सम्भृतः'** से **'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च'**-अन्तिम मन्त्रपर्यन्तके छः मन्त्र उत्तरनारायण सूक्तके रूपमें प्रसिद्ध हैं। **'श्रीश्च ते**

लक्ष्मीश्च' यह मन्त्र श्रीलक्ष्मीदेवीके पूजनमें प्रयुक्त होता है। द्वितीयाध्याय भगवान् विष्णुका माना जाता है।

तृतीयाध्याय अप्रतिरथसूक्तके रूपमें ख्यात है। कतिपय मनीषी '**आशुः शिशानः**' से आरम्भ करके '**अमीषाञ्चित्तम्**'-पर्यन्त द्वादश मन्त्रोंको स्वीकारते हैं। कुछ विद्वान् इन मन्त्रोंके उपरान्त '**अवसृष्टा**' से '**मर्म्माणिते**'-पर्यन्त पाँच मन्त्रोंका भी समावेश करते हैं।

तृतीयाध्यायके देवता देवराज इन्द्र हैं। इस अध्यायको अप्रतिरथसूक्त माननेका कारण कदाचित् यह है कि इन मन्त्रोंके ऋषि अप्रतिरथ हैं। भावात्मक दृष्टिसे विचार करें तो अवगत होता है कि इन मन्त्रोंद्वारा इन्द्रकी उपासना करनेसे शत्रुओं-स्पर्धकोंका नाश होता है, अतः यह '**अप्रतिरथ**' नाम सार्थक प्रतीत होता है। उदाहरणके रूपमें प्रथम मन्त्रका अवलोकन करें—

ॐ आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्। सङ्क्रन्दनोऽ निमिष एकवीरः शतꣳसेना अजयत् साकमिन्द्रः॥

अर्थात् 'त्वरासे गति करके शत्रुओंका नाश करनेवाला, भयंकर वृषभकी तरह सामना करनेवाले प्राणियोंको क्षुब्ध करके नाश करनेवाला, मेघकी तरह गर्जना करनेवाला, शत्रुओंका आवाहन करनेवाला, अतिसावधान, अद्वितीय वीर, एकाकी पराक्रमी देवराज इन्द्र शतशः सेनाओंपर विजय प्राप्त करता है।'

चतुर्थाध्यायमें सप्तदश मन्त्र हैं। जो मैत्रसूक्तके रूपमें ज्ञात हैं। इन मन्त्रोंमें भगवान् मित्र—सूर्यकी स्तुति है। मैत्रसूक्तमें भगवान् भुवनभास्करका मनोरम वर्णन प्राप्त होता है—

ॐ आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च। हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

अर्थात् रात्रिके समयमें अन्धकारमय तथा अन्तरिक्ष लोकमेंसे पुनः-पुनः उदीयमान देवोंको तथा मनुष्योंको स्व-स्व कार्योंमें निहित करनेवाले, सबके प्रेरक, प्रकाशमान भगवान् सूर्य सुवर्णरंगी रथमें बैठ करके सर्वभुवनोंके लोगोंकी पाप-पुण्यमयी प्रवृत्तियोंका निरीक्षण करते हैं।

रुद्राष्टाध्यायीके पाँचवें अध्यायमें ६६ मन्त्र हैं। यह अध्याय प्रधान है। विद्वान् इसको 'शतरुद्रिय' कहते हैं। '**शतसंख्याता रुद्रदेवता अस्येति शतरुद्रियम्।**' इन मन्त्रोंमें भगवान् रुद्रके शतशः रूप वर्णित हैं।

कई ग्रन्थोंमें शतरुद्रियके पाठका महत्त्व वर्णित है। कैवल्योपनिषद्में कहा गया है कि शतरुद्रियके अध्ययनसे मनुष्य अनेक पातकोंसे मुक्त होता है एवं पवित्र बनता है—

यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आत्मपूतो भवति स सुरापानात्पूतो भवति स ब्रह्महत्यायाः पूतो भवति॥

जाबालोपनिषद्में ब्रह्मचारियों और श्रीयाज्ञवल्क्यजीके संवादमें ब्रह्मचारियोंने तत्त्वनिष्ठ ऋषिसे पूछा कि किसके जपसे अमृतत्व प्राप्त होता है? तब ऋषिका प्रत्युत्तर था कि 'शतरुद्रियके जपसे'—

अथ हैनं ब्रह्मचारिण ऊचुः किं जप्येनामृतत्वं ब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यः। शतरुद्रियेणेत्येतान्येव ह वा अमृतस्य नामानि। एतैर्ह वा अमृतो भवतीति एवमेवैतद्याज्ञवल्क्यः।

विद्वानोंकी परम्पराके अनुसार पञ्चमाध्यायके एकादश आवर्तन और शेष अध्यायोंके एक आवर्तनके साथ अभिषेकसे एक 'रुद्र' या 'रुद्री' होती है। इसे 'एकादशिनी' भी कहते हैं। एकादश रुद्रीसे लघुरुद्र, एकादश लघुरुद्रसे महारुद्र एवं एकादश महारुद्रसे अतिरुद्रका अनुष्ठान होता है। इन सबका अभिषेकात्मक, पाठात्मक एवं होमात्मक त्रिविध विधान मिलता है। मन्त्रोंके क्रमसे रुद्राभिषेकके नमक-चमक आदि प्रकार हैं। प्रदेशभेदसे भी कुछ विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

शतरुद्रियको 'रुद्रसूक्त' भी कहते हैं। इसमें भगवान् रुद्रका भव्यातिभव्य वर्णन हुआ है। प्रथम मन्त्रका आस्वाद लें—

ॐ नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः॥

'हे रुद्रदेव! आपके क्रोधको हमारा नमस्कार है। आपके बाणोंको हमारा नमस्कार है एवं आपके बाहुओंको हमारा नमस्कार है।' भगवान् शिवका रुद्रस्वरूप दुष्टनिग्रहणार्थ है, अतः इस मन्त्रमें रुद्रदेवके क्रोधको, बाणोंको एवं उनके चलानेवाले बाहुओंको नमस्कार समर्पण किया गया है।

रु=दुःखम्, द्रावयति इति रुद्रः। रुत्=ज्ञानम्, राति=ददाति इति रुद्रः। रोदयति पापिनः इति वा रुद्रः। तत्त्वज्ञोंने इस प्रकार रुद्र शब्दकी व्याख्या की है अर्थात् भगवान् रुद्र दुःखनाशक, पापनाशक एवं ज्ञानदाता हैं।

रुद्रसूक्तमें भगवान् रुद्रके विविध स्वरूप वर्णित हैं,

यथा—गिरीश, अधिवक्ता, सुमङ्गल, नीलग्रीव, सहस्राक्ष, कपर्दी, मीढुष्टम, हिरण्यबाहु, सेनानी, हरिकेश, अन्नपति, जगत्पति, क्षेत्रपति, वनपति, वृक्षपति, औषधीपति, सत्त्वपति, स्तेनपति, गिरिचर, सभापति, श्वपति, गणपति, व्रातपति, विरूप, विश्वरूप, भव, शर्व, शितिकण्ठ, शतधन्वा, ह्रस्व, वामन, बृहत्, वृद्ध, ज्येष्ठ, कनिष्ठ, श्लोक्य, आशुषेण, आशुरथ, कवची, श्रुतसेन, सुधन्वा, सोम, उग्र, भीम, शम्भु, शंकर, शिव, तीर्थ्य, व्रज्य, नीललोहित, पिनाकधारी, सहस्रबाहु तथा ईशान इत्यादि।

—इन विविध स्वरूपोंद्वारा भगवान् रुद्रकी अनेकविधता एवं अनेक लीलाओंका दर्शन होता है। रुद्रदेवताको स्थावर-जंगम सर्वपदार्थरूप, सर्ववर्ण, सर्वजाति, मनुष्य-देव-पशु-वनस्पतिरूप मान करके सर्वात्मभाव-सर्वान्तर्यामित्वभाव सिद्ध किया गया है। इस भावसे ज्ञात होकर साधक अद्वैतनिष्ठ जीवन्मुक्त बनता है।

षष्ठाध्यायको 'महच्छिर' के रूपमें जाना जाता है। प्रथम मन्त्रमें सोमदेवताका वर्णन है। सुप्रसिद्ध महामृत्युञ्जय-मन्त्र इसी अध्यायमें संनिविष्ट है—

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः॥

प्रस्तुत मन्त्रमें भगवान् त्र्यम्बक शिवजीसे प्रार्थना है कि जिस प्रकार ककड़ीका परिपक्व फल वृन्तसे मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार हमें आप जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त करें, हम आपका यजन करते हैं।

सप्तमाध्यायको 'जटा' कहा जाता है। '**उग्रश्च भीमश्च**'मन्त्रमें मरुत् देवताका वर्णन है। इस अध्यायके '**लोमभ्यः स्वाहा**' से '**यमाय स्वाहा**' तकके मन्त्र कई विद्वान् अभिषेकमें ग्रहण करते हैं और कई विद्वान् इनको अस्वीकार करते हैं, क्योंकि अन्त्येष्टि-संस्कारमें चिताहोममें इन मन्त्रोंसे आहुतियाँ दी जाती हैं।

अष्टमाध्यायको 'चमकाध्याय' कहा जाता है, इसमें कुल २९ मन्त्र हैं। प्रत्येक मन्त्रमें 'च' कार एवं 'मे' का बाहुल्य होनेसे कदाचित् चमकाध्याय अभिधान रखा गया है।

चमकाध्यायके ऋषि 'देव' स्वयं हैं। देवता अग्नि हैं, अतः यह अध्याय अग्निदैवत्य या यज्ञदैवत्य माना जाता है। प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें '**यज्ञेन कल्पन्ताम्**' यह पद आता है।

यज्ञ एवं यज्ञके साधनरूप जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता हो, वे सभी यज्ञके फलसे प्राप्त होती हैं। ये वस्तुएँ यज्ञार्थ, जनसेवार्थ एवं परोपकारार्थ उपयुक्त हों, ऐसी शुभभावना यहाँ निहित है।

रुद्राष्टाध्यायीके उपसंहारमें '**ऋचं वाचं प्रपद्ये**' इत्यादि चतुर्विंशति मन्त्र शान्त्याध्यायके रूपमें एवं '**स्वस्ति न इन्द्रो**' इत्यादि द्वादश मन्त्र स्वस्ति-प्रार्थनाके रूपमें ख्यात हैं।

शान्त्याध्यायमें विविध देवोंसे अनेकशः शान्तिकी प्रार्थना की गयी है। मित्रताभरी दृष्टिसे देखनेकी बात बड़ी उदात्त एवं भव्य है—

ॐ दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

साधक प्रभुप्रीत्यर्थ एवं सेवार्थ अपनेको स्वस्थ बनाना चाहता है। स्वकीय दीर्घजीवन आनन्द एवं शान्तिपूर्ण व्यतीत हो, ऐसी आकाङ्क्षा रखता है—'**पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतम्।**……।'

स्वस्ति-प्रार्थनाके निम्न मन्त्रमें देवोंका सामञ्जस्य सुचारुरूपमें वर्णित है। '**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**', यह उपनिषद्-वाक्य यहाँ चरितार्थ होता है—

ॐ अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता॥

इस प्रकार शुक्लयजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायीमें भगवान् रुद्रका माहात्म्य विविधता-विशदतासे सम्पूर्णतया आच्छादित है। कविकुलगुरु कालिदासने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटकके मङ्गलश्लोक '**या सृष्टिः स्रष्टुराद्या**' द्वारा शिवजीकी जो अष्ट विभूतियोंका वर्णन किया है, वे अष्टविभूतियाँ रुद्राष्टाध्यायीके आठ अध्यायोंमें भी विलसित हैं। इस संक्षिप्त लेखकी समाप्तिमें शिवजीकी वन्दना वैदिक मन्त्रसे ही करें—

ॐ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम्। ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम्॥

'ॐ तत्सत्'।

महामृत्युञ्जय-जप—प्रकार एवं विधि

'**शरीरं व्याधिमन्दिरम्**'—इस पाञ्चभौतिक शरीरमें नाना प्रकारकी आधि-व्याधियाँ होती रहती हैं। शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये युक्त आहार-विहार, खान-पान, नियमित दिनचर्या आदि बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं। इन सब उपायोंको करते रहनेके बाद भी कर्म-भोगके कारण शरीरमें कोई बलवान् अरिष्ट जब चिकित्सा आदि उपायोंसे ठीक नहीं हो पाता है, तब ऐसे अरिष्टकी निवृत्तिके लिये या शान्तिके लिये शास्त्रोंमें महामृत्युञ्जयके जपका विधान बतलाया गया है। इस जपसे मृत्युको जीतनेवाले महारुद्र-देवता प्रसन्न होते हैं और वे रोगसे पीड़ित व्यक्तिको शान्ति प्रदान करते हैं।

मृत्युञ्जय-जपका मूल मन्त्र

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

(शुक्लयजु० ३। ६०)

अर्थात् 'हम त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकरकी पूजा करते हैं, जो मर्त्यधर्मसे (मरणशील मानवधर्म—मृत्युसे) रहित दिव्य सुगन्धिसे युक्त, उपासकोंके लिये धन-धान्य आदि पुष्टिको बढ़ानेवाले हैं। वे त्रिनेत्रधारी उर्वारुक (कर्कटी या ककड़ी—जो पकनेपर वृन्त या बन्धन-स्थानसे स्वतः अलग हो जाती है) फलकी तरह हम सबको अपमृत्यु या सांसारिक मृत्युसे मुक्त करें। स्वर्गरूप या मुक्तिरूप अमृतसे हमको न छुड़ायें अर्थात् अमृत-तत्त्वसे हम उपासकोंको वञ्चित न करें।'

उपर्युक्त मूल मन्त्रमें '**भूः भुवः स्वः**'—इन तीन व्याहृतियोंमें तथा (**ॐ**) '**हौं जूं सः**'—इन तीन बीजमन्त्रोंमें '**ॐ**' इस प्रणवको लगाकर मृत्युञ्जय-मन्त्रके तीन प्रकार बतलाये गये हैं—

(१) ४८ वर्णात्मक पहला मन्त्र आठ प्रणवयुक्त। (मृत्युञ्जय-मन्त्र)

(२) ५२ वर्णात्मक दूसरा छः प्रणववाला। (मृतसंजीवनी मृत्युञ्जय-मन्त्र)

(३) ६२ वर्णात्मक तीसरा चौदह प्रणववाला। (महामृत्युञ्जय-मन्त्र)

पहला मृत्युञ्जय-जप-मन्त्र—

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ त्र्यम्बकं यजामहे'''मामृतात्। ॐ स्वः ॐ भुवः ॐ भूः ॐ।

दूसरा मृतसंजीवनी-मन्त्र—

ॐ हौं जूं सः ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ त्र्यम्बकं यजामहे'''''मामृतात्।

ॐ स्वः भुवः भूः ॐ सः जूं हौं ॐ।

तीसरा महामृत्युञ्जय-मन्त्र—

ॐ हौं ॐ जूं ॐ सः ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ त्र्यम्बकं यजामहे'''''मामृतात्। ॐ स्वः ॐ भुवः ॐ भूः ॐ सः ॐ जूं ॐ हौं ॐ।

उपर्युक्त मृत्युञ्जयके मन्त्रमें मृत्युञ्जय-मन्त्र, मृतसंजीवनी मृत्युञ्जय-मन्त्र तथा महामृत्युञ्जय-मन्त्र—इन तीनों प्रकारोंमें प्रायः द्वितीय मृतसंजीवनी मृत्युञ्जय-मन्त्र अधिक प्रचलित है।

सूर्यादि नवग्रहोंकी दशा, महादशा, अन्तर्दशा तथा प्रत्यन्तर्दशा यदि किसी व्यक्तिके लिये अरिष्ट उत्पन्न करनेवाली होती है तो उन-उन अरिष्टकारक ग्रहोंकी शान्तिके लिये 'मृत्युञ्जय' देवताकी शरणमें जाना ही पड़ता है। मृत्युञ्जयदेवताकी प्रार्थनामें यह स्पष्ट है कि शरणमें आये पीड़ित व्यक्तिको वे जन्म, मृत्यु, जरा (वृद्धावस्था), रोग एवं कर्मके बन्धनोंसे मुक्त कर देते हैं। इसी आशय (भाव)-से निम्नाङ्कित प्रार्थना है—

मृत्युञ्जयमहारुद्र त्राहि मां शरणागतम्।
जन्ममृत्युजरारोगैः पीडितं कर्मबन्धनैः॥

मृत्युञ्जय-जपकी विधि

सर्वप्रथम शौच-स्नानादिसे पवित्र होकर आसन-शुद्धि करके भस्म तथा रुद्राक्ष धारण करे। तदनन्तर जपका संकल्प कर गणेशादि देवोंका स्मरण करे। यथासम्भव पञ्चाङ्ग-पूजन कर करन्यास एवं अङ्गन्यास करे। अनन्तर मृत्युञ्जयदेवताका इस प्रकार ध्यान करे—

ॐ चन्द्रोद्भासितमूर्धजं सुरपतिं पीयूषपात्रं वहद्ध-
स्ताब्जेन दधत् सुदिव्यममलं हास्यास्यपङ्केरुहम्।
सूर्येन्द्वग्निविलोचनं करतलैः पाशाक्षसूत्रांकुशा-
म्भोजं बिभ्रतमक्षयं पशुपतिं मृत्युञ्जयं संस्मरेत्॥

तात्पर्य यह कि 'मैं उन मृत्युञ्जयभगवान्का स्मरण करता हूँ, जो अक्षय-अविनाशी हैं। जिनके केश चन्द्रमासे सुशोभित हैं। जो देवताओंके स्वामी हैं तथा जिन्होंने अपने करकमलमें अमृतका दिव्य एवं निर्मल विशाल पात्र धारण कर रखा है। जिनका मुखकमल हास्यमय (प्रसन्न) है और जिनके तीनों नेत्र—सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्निमय हैं। जिनके करतलमें पाश, अक्षसूत्र (रुद्राक्षमाला), अंकुश और कमल है।'

इसके बाद मानसोपचार-पूजा करे—

प्रत्येक पुष्पादि पदार्थको अर्पित करनेके लिये आचमनीसे जल छोड़ना चाहिये—

ॐ लं पृथिव्यात्मकं गन्धं समर्पयामि (पृथिवीरूप '**लं**' बीज गन्ध है)।

ॐ हं आकाशात्मकं पुष्पं समर्पयामि (आकाशरूप '**हं**' बीज पुष्प है)।

ॐ यं वाय्वात्मकं धूपं समर्पयामि (वायुरूप '**यं**' बीज धूप है)।

ॐ रं तेजसात्मकं दीपं समर्पयामि (तेजरूप '**रं**' बीज दीपक है)।

ॐ वं अमृतात्मकं नैवेद्यं समर्पयामि (अमृतरूप '**वं**' बीज नैवेद्य है)।

ॐ सं सर्वात्मकं मन्त्रपुष्पं समर्पयामि (सर्वस्वरूप '**सं**' बीज-मन्त्र पुष्प है)।

मानस-पूजा करनेके पश्चात् एकाग्र-मनसे संकल्पित मन्त्रसे मृत्युञ्जयका जप करना चाहिये।

जप समाप्त होनेके बाद पुनः अङ्गन्यास एवं करन्यास करके मृत्युञ्जयदेवताको जप-निवेदन करे तथा हाथमें जल लेकर मन्त्र-जप-सिद्धिके लिये नीचे लिखे गये श्लोकका उच्चारण करे—

गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादान्महेश्वर॥

तत्पश्चात् '**अनेन यथासंख्याकेन**' (जो जपकी संख्या हो, यथा—'**सपादलक्ष** (सवा लाख)-**संख्याकेन मृत्युञ्जयजपाख्येन कर्मणा श्रीमहामृत्युञ्जयदेवता प्रीयतां न मम**।'—यह कहकर जल छोड़ दे।

उपर्युक्त प्रकारसे जपको अर्पित करके प्रार्थना करे—

मृत्युञ्जयमहारुद्र त्राहि मां शरणागतम्।
जन्ममृत्युजरारोगैः पीडितं कर्मबन्धनैः॥

'हे मृत्युञ्जय! महारुद्र! जन्म-मृत्यु तथा वार्धक्य आदि विविध रोगों एवं कर्मोंके बन्धनसे पीड़ित मैं आपकी शरणमें आया हूँ, मेरी रक्षा करो।'

मन्त्रोच्चारण, पूजन एवं जपादि-कर्ममें जाने-अनजानेमें त्रुटि होना सम्भव है, अतः उस दोषकी निवृत्तिके लिये देवतासे क्षमा-याचना करनी चाहिये—

यदक्षरपदभ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत्।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर॥

सभी कर्मों (श्रौत-स्मार्त आदि)-के द्रष्टा एवं साक्षी भगवान् विष्णु होते हैं, अतः उनका स्मरण करनेसे वे प्रमाद, आलस्यादिके कारण कर्ममें जो कुछ कर्तव्य छूट जाता है, उसको पूर्ण करते हैं। अतः अन्तमें '**ॐ विष्णवे नमः**' का तीन बार उच्चारण करना चाहिये। शास्त्रोंमें कहा गया है—

प्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्।
स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः॥
यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या जपयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥

अनुष्ठानरूप जप-संख्या पूर्ण करनेके बाद जप-संख्याका दशांश होम, होमका दशांश तर्पण, तर्पणका दशांश मार्जन एवं मार्जनका दशांश ब्राह्मण-भोजन करानेपर ही सम्पूर्ण अनुष्ठान माना गया है। यदि उक्त तत्तद् दशांश होमादि कर्म करनेमें किसी विशेष कारणवश असमर्थता हो तो जप-संख्याके दशांशका चौगुना (हजार मालाका दशांश एक सौ तथा उसका चौगुना चार सौ मालाके क्रमसे)-संख्या परिमित जप करनेसे ही जप-कर्मकी साङ्गता (पूर्णता) हो जाती है।

वेदमें गायत्री-तत्त्व

(डॉ० श्रीश्रीनिवासजी शर्मा)

विश्व-वाङ्मयमें वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। ये ऋषियोंकी तपःपूत अनुभूतिके प्रकाशपुञ्ज हैं। यास्कने अपने विश्रुतग्रन्थ निरुक्त (१। ६। २०)-में संकेत किया है—'**साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः**' अर्थात् ऋषियोंने धर्मका साक्षात्कार किया था। वे वेदमन्त्रोंके द्रष्टा थे, रचयिता नहीं। वस्तुतः साक्षात्कृतधर्मा ऋषियोंके द्वारा अनुभूत अध्यात्मशास्त्रीय तत्त्वोंके निदर्शन ही वेद हैं। वेद ही भारतीय संस्कृति, समाज, धर्म, दर्शन, जीवन और विविध विद्याओंके मूल उत्स हैं।

वेदके छः अङ्ग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। वेदमन्त्रोंके छोटे-छोटे समूह 'सूक्त' कहलाते हैं। प्रत्येक सूक्तके ऋषि, देवता और छन्दका ज्ञान आवश्यक माना गया है। इनके ज्ञानसे हीन जो व्यक्ति मन्त्रोंसे जप, यज्ञ, उपासना आदि करता है, उसका अभीष्ट फल उसे प्राप्त नहीं होता।

छन्दका वेदोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वेद छन्दोंमें रचित हैं। पाणिनिने छन्दका प्रयोग वेदके अर्थमें अनेक बार किया है[1]। वेदके 'पुरुषसूक्त' में आया है कि सम्पूर्ण रूपसे हुत उस यज्ञसे ऋचाएँ तथा सामवेद उत्पन्न हुए। छन्द तथा यजुष् भी पैदा हुए।[2] इन छन्दोंमें गायत्री प्रमुख छन्द है। अमरकोशमें कहा गया है—'**गायत्री प्रमुखं छन्दः**।' वेदोंमें प्रमुखरूपसे सात छन्दोंका प्रयोग देखनेमें आता है—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, त्रिष्टुभ्, बृहती, पंक्ति तथा जगती। वेदके उपर्युक्त छन्दोंमेंसे गायत्री और उष्णिक्को छोड़कर शेष छन्द चार-चार पाद (चरण)-के हैं। गायत्री और उष्णिक् तीन-तीन पादोंके हैं। इसलिये गायत्रीको त्रिपदा गायत्री कहा गया है।

वेदमन्त्रोंके छन्द वर्णिक छन्द हैं। उनमें लघु-गुरुकी गणनासे छन्द निर्मित नहीं होते। केवल अक्षर गिने जाते हैं। आधे अक्षर गणनामें नहीं आते। गायत्री छन्दमें ८,८,८ के क्रमसे २४ अक्षर होने चाहिये, परंतु गायत्रीके पहले पादमें ७ अक्षर हैं। इसलिये यह भी प्रसिद्धि है कि '**तत्सवितुर्वरेण्यं**' इस पादमें '**वरेण्यं**' की जगह '**वरेणियं**' ऐसा पढ़ना चाहिये, जिससे एक अक्षर बढ़ जायगा—

त त् स वि तु र्व रे णि यं—इस तरह उच्चारण करनेपर पहले पादमें भी ८ अक्षर हो जायँगे।

[बृहदारण्यकोपनिषद्के आधारपर गायत्रीको चार पादवाली कहा गया है। चार पादवाली गायत्रीमें '**भूमिरन्तरिक्षं द्यौः**' को प्रथम पाद कहा गया है। '**ऋचो यजूꣳषि सामानि**' को द्वितीय पाद कहा गया है। '**प्राणोऽपानो व्यानः**' को तृतीय पाद कहा गया है। गायत्रीके ये तीन पाद हैं और परब्रह्म परमात्मा चतुर्थ पाद है।]

गायत्रीमन्त्र गायत्री छन्दमें रचा गया अति प्रसिद्ध मन्त्र है। इस स्तुति-मन्त्रका गायत्रीके साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इस मन्त्रको ही गायत्रीमन्त्र कहा जाता है। मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

यह मन्त्र यजुर्वेद (३। ३५)-में आया है। यही मन्त्र सामवेदमें आया है और प्रायः सभी वेदोंमें किसी-न-किसी संदर्भमें इसका बार-बार संकेत मिलता है। कहीं-कहीं तो गायत्री और वेदको समान अर्थमें भी प्रयुक्त किया गया है। गायत्रीमन्त्रसे पहले 'ॐ' लगानेका विधान है। 'ॐ' को अनेक अर्थोंमें परमात्माका वाचक कहा गया है। उसे प्रणव कहा जाता है। प्रणव परब्रह्मका नाम है—'**तस्य वाचकः प्रणवः**।' उपनिषदोंमें इसकी व्युत्पत्ति बतलाते हुए कहा है—'**प्राणान्सर्वान्परमात्मनि**

१-(क) कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि (अष्टाध्यायी ४। १। ७१)।
(ख) छन्दस्युभयथा (अष्टाध्यायी ६। ४। ५)।

२-तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ (यजु० ३१। ७)

प्रणाययतीत्येतस्मात्प्रणवः' (अथर्वशिखोपनिषद्) अर्थात् प्राणको परमात्मामें लीन करनेके कारण इसे '**प्रणव**' कहा गया है। वेदका आरम्भ '**ॐ**'से किया जाता है—'**ओङ्कारः पूर्वमुच्चार्यस्ततो वेदमधीयते**' इसलिये गायत्रीमन्त्रसे पहले भी '**ॐ**' लगाया जाता है।

बृहन्नारदीयोपनिषद्में 'ओम्'के अ+उ+म्—इन तीन अक्षरोंको क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिवका रूप माना गया है। गीतामें इसको एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है—'**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म**।' ऐसा भी वर्णन आता है कि 'अ' कार परमात्माका वाचक है, 'उ' कारका अर्थ जीवका परमात्मासे अनन्य सम्बन्ध है और 'म' कारका अर्थ है जीवात्मा, जो परमात्माका अंश है।

भूः भुवः स्वः—ये तीनों महाव्याहृति कहलाते हैं। ये महारहस्यात्मक हैं। ये गायत्रीमन्त्रके बीज हैं। गायत्रीमन्त्रसे पहले '**ॐ**' के बाद '**भूः भुवः स्वः**' लगाकर ही मन्त्रका जप करना चाहिये। बीजमन्त्र मन्त्रोंके जीवरूप होते हैं। बिना बीजमन्त्रका मन्त्र-जप करनेसे वे साधनाका फल नहीं देते। विभिन्न देवताओंके बीजमन्त्र अलग-अलग होते हैं; जैसे '**ऐं**' सरस्वतीका, '**ह्रीं क्लीं**' कालीका, '**श्रीं**' लक्ष्मीका, '**गं**' गणपतिका। प्रायः बीजमन्त्रोंके साथ अनुस्वार अर्थात् बिन्दु लगाया जाता है। '**ॐ**' प्रणवको सभी जगह बीजमन्त्रोंके प्रारम्भमें लगानेका विधान है। अन्तमें यथासम्भव '**नमः**' लगाना चाहिये। आदिमें प्रणव अर्थात् '**ॐ**' लगाकर अन्तमें '**नमः**' लगानेवाले मन्त्र शान्ति, भोग एवं सुख देनेवाले होते हैं। अन्तमें '**नमः**' वाले मन्त्र देवताको वशमें करनेवाले होते हैं। बिन्दु अन्तवाले मन्त्र देवताको प्रसन्न करनेवाले होते हैं—

बिन्द्वन्तं प्रीतिकृच्चैव नमोऽन्तं च वशीकृतम्।
तमोऽन्तः प्रणवाद्यश्च शान्तिभोगसुखप्रदा॥

गायत्रीमन्त्रके देवता सविता हैं। यह मन्त्र सावित्री भी इसीलिये कहलाता है। गायत्रीका शाब्दिक अर्थ है—'**गायत् त्रायते**'—गानेवालेका त्राण करनेवाली।

ॐ (प्रणव) और महाव्याहृतियोंसहित गायत्रीमन्त्र इस प्रकार है—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

इसका अर्थ यह है कि 'पृथ्वीलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोकमें व्याप्त उस श्रेष्ठ परमात्मा (सूर्यदेव)-का हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धिको श्रेष्ठ कर्मोंकी ओर प्रेरित करे।

गायत्रीकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें आर्ष-ग्रन्थोंमें विचार किया गया है। कहते हैं ॐकारसे व्याहृति हुई। व्याहृतियोंसे गायत्री हुई—'**ओङ्काराद्व्याहृतिरभवद् व्याहृत्या गायत्री**।' गायत्रीका सम्बन्ध वेदसे इस तरह बताया गया है कि गायत्रीसे सावित्री, सावित्रीसे सरस्वती, सरस्वतीसे सभी वेद, सब वेदोंसे सारे लोक और अन्तमें सब लोकोंसे प्राणी उत्पन्न हुए[१]।

गायत्रीमन्त्रके ऋषि विश्वामित्र हैं। गायत्रीरहस्योपनिषद्में गायत्रीके २४ अक्षर बतलाये गये हैं—'**चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री त्रिपदा वा चतुष्पदा**' अर्थात् २४ अक्षरोंवाली गायत्री तीन पाद या चार पादकी है। प्रत्येक अक्षरके ऋषिके नाम भी दिये हैं। चौबीसवें ऋषिका उल्लेख करते समय बताया गया है कि ये चौबीसवें ऋषि आङ्गिरस विश्वामित्र हैं—**चतुर्विंशमाङ्गिरसं विश्वामित्रमिति प्रत्यक्षराणामृषयो भवन्ति**[२]। अर्थात् चौबीसवें अक्षरके ऋषि आङ्गिरस विश्वामित्र हैं। इस तरह प्रत्येक अक्षरके ऋषि होते हैं अर्थात् गायत्रीके चौबीस अक्षर हैं तो उनके द्रष्टा चौबीस ऋषि हैं।

गायत्रीका महत्त्व श्रीमद्भागवतमहापुराणके उन वचनोंसे सहज ही उभर कर सामने आ जाता है, जहाँ गायत्रीको पुरुषसूक्त, वेदत्रयी, भागवत, द्वादशाक्षर आदिके

१-गायत्र्याः सावित्र्यभवत्। सावित्र्याः सरस्वत्यभवत्। सरस्वत्याः सर्वे वेदा अभवन्। सर्वेभ्यो वेदेभ्यः सर्वे लोका अभवन्। सर्वेभ्यो लोकेभ्यः सर्वे प्राणिनोऽभवन् (गायत्रीरहस्योपनिषद्)।

२-गायत्रीके चौबीस अक्षरोंके चौबीस ऋषियोंके नाम इस प्रकार हैं—पहले अक्षरके ऋषि वसिष्ठ, दूसरेके भारद्वाज, तीसरेके गर्ग, चौथेके उपमन्यु, पाँचवेंके भृगु, छठेके शाण्डिल्य, सातवेंके लोहित, आठवेंके विष्णु, नवेंके शातातप, दसवेंके सनत्कुमार, ग्यारहवेंके वेदव्यास, बारहवेंके शुकदेव, तेरहवेंके पाराशर्य, चौदहवेंके पौण्ड्रकर्म, पंद्रहवेंके क्रतु, सोलहवेंके वक्ष, सत्रहवेंके कश्यप, अठारहवेंके अत्रि, उन्नीसवेंके अगस्त्य, बीसवेंके उद्दालक, इक्कीसवेंके आङ्गिरस, बाईसवेंके नामकेतु, तेईसवेंके मुद्गल और चौबीसवेंके आङ्गिरस विश्वामित्र हैं। (यहींपर २४ अक्षरोंकी २४ शक्तियों और २४ अक्षरोंके २४ तत्त्वोंका भी उल्लेख है।)

समकक्ष वर्णित किया गया है। वहाँ १६ चीजें समान बतलायी गयी हैं—

वेदादिर्वेदमाता च पौरुषं सूक्तमेव च।
त्रयी भागवतं चैव द्वादशाक्षर एव च॥
द्वादशात्मा प्रयागश्च कालः संवत्सरात्मकः।
ब्राह्मणाश्चाग्निहोत्रं च सुरभिर्द्वादशी तथा॥
तुलसी च वसन्तश्च पुरुषोत्तम एव च।
एतेषां तत्त्वतः प्राज्ञैर्न पृथग्भाव इष्यते॥

(माहात्म्य ३। ३४—३६)

अर्थात् वेदादि (ॐकार), वेदमाता (गायत्री), पुरुषसूक्त, वेदत्रयी, भागवत, द्वादशाक्षर (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**), द्वादशात्मा (सूर्यभगवान्), प्रयाग, संवत्सरात्मक काल, ब्राह्मण, अग्निहोत्र (यज्ञ), सुरभि, द्वादशी तिथि, तुलसी, वसन्त और पुरुषोत्तमभगवान्—इनमें विद्वान् पृथक्-भाव नहीं देखते अर्थात् ये सब समान हैं। जो कुछ भी उच्च, श्रेष्ठ, वरेण्य, पवित्र और पूज्य है, वह गायत्री है और वही वेदोंका तत्त्व है।

गायत्री वेदके और अनेक तत्त्वोंकी तरह परवर्ती वाङ्मयमें कैसा प्रभाव रखती है, इसको लक्ष्य करके संतोंने कहा है कि श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणमें २४ हजार श्लोक हैं। उनमें प्रत्येक एक हजारके पहले-पहले अक्षरको ले लिया जाय तो पूरा गायत्रीमन्त्र बन जाता है।

वैदिक वाङ्मयके इस अतिप्रसिद्ध मन्त्रके पढ़ने-जपनेके अनेक प्रशंसापरक माहात्म्य वर्णित किये गये हैं। उसके '**धीमहि**' और '**धियो यो नः प्रचोदयात्**' शब्द शब्दसमूहोंका आश्रय लेकर अनेक देवी-देवताओंकी गायत्री बनायी गयी है। गणपत्युपनिषद्में गणेशकी गायत्री इस प्रकार रचित है—

ॐ एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

देवीभागवतमें भगवतीकी स्तुति इसी मन्त्रकी छवि-छायासे पूर्ण है—

सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि। तन्नो देवी प्रचोदयात्॥

देवीभागवतकी समाप्तिपर भी इसी तरहकी देवी-गायत्री मिलती है—

सच्चिदानन्दरूपां तां गायत्रीप्रतिपादिताम्।
नमामि ह्रींमयीं देवीं धियो यो नः प्रचोदयात्॥

'**विद्महे धीमहि**' और '**धियो यो नः प्रचोदयात्**' शब्दोंको गायत्री-मातासे गृहीत करके और भी देवी-देवताओंकी गायत्री रची गयी है। वे गायत्रीमन्त्रकी पवित्रता, उच्चता और सर्वोत्कृष्ट मन्त्रत्वको प्रकाशित करनेवाली हैं। उनमेंसे कुछके उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

राम-गायत्री—**ॐ दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि। तन्नो रामः प्रचोदयात्** (गायत्रीतन्त्र)।

शिव-गायत्री—**ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्** (शिवोपासना)।

सूर्य-गायत्री—**ॐ आदित्याय विद्महे सहस्रकिरणाय धीमहि। तन्नः सूर्यः प्रचोदयात्** (सूर्योपनिषद्)।

हनुमद्गायत्री—**ॐ आञ्जनेयाय विद्महे वायुपुत्राय धीमहि। तन्नो हनुमान् प्रचोदयात्** (गायत्रीतन्त्र)।

उनके स्मृतिग्रन्थोंमें जहाँ मानवकी आचार-श्रेष्ठताको व्याख्यायित किया गया है, वहाँ गायत्री-तत्त्वको भूयोभूय प्रतिष्ठित किया गया है। लघुहारीत-स्मृतिमें उल्लेख है कि द्विजोंकी गायत्रीमन्त्रसे युक्त अञ्जलि-अर्घ्यसे सूर्यसे युद्ध करनेवाले ये मन्देह राक्षस नष्ट हो जाते हैं*। वहींपर यह भी आया है कि प्रातःकाल गायत्रीका जप खड़े होकर करें और तबतक करें, जबतक सूर्यभगवान्के दर्शन न हो जायँ। संध्याकालकी गायत्रीका जप बैठकर करें और जबतक तारे न दीखें तबतक करें। एक हजार बार किया गया गायत्रीमन्त्र-जप सबसे श्रेष्ठ है। यह कहा गया है कि जो नित्य गायत्रीको जपता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता—'**गायत्रीं यो जपेन्नित्यं न स पापेन लिप्यते।**' संवर्त-स्मृति(२१३)-में आया है—'**मुच्यते सर्वपापेभ्यो गायत्र्या चैव पावितः।**' अर्थात् गायत्रीसे बढ़कर पापका शोधक कोई नहीं है। शङ्खस्मृति (१२। ३)-में कहा गया है—'**न सावित्र्या समं जप्यं न व्याहृतिसमं हुतम्।**' अर्थात् सावित्री-जपके समान कोई जप नहीं है और व्याहृतियोंके द्वारा किये गये हवनके समान कोई हवन नहीं है। सारांश यह है कि गायत्रीकी श्रेष्ठताका

* उदकाञ्जलिनिक्षेपा गायत्र्या चाभिमन्त्रिताः। निघ्नन्ति राक्षसान् सर्वान् मन्देहाख्यान् द्विजेरिताः॥
(लघुहारीत० ४। १४)

श्रुति-स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थोंमें अत्यन्त प्रशंसनीय और आचरणीय व्याख्यान मिलता है। उसके महत्त्वका सारभूत निम्नलिखित श्लोक ईक्षणीय है—

गायत्रीवेदजननी गायत्रीपापनाशिनी॥
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्।

(शङ्खस्मृति १२। ११-१२)

अर्थात् 'गायत्री वेदोंकी माता है। गायत्री पापोंका नाश करनेवाली है। द्युलोकमें और इस लोकमें गायत्रीसे बढ़कर कोई भी पवित्र करनेवाला नहीं है।'

शास्त्रोंमें गायत्रीमन्त्रके जपकी विपुल महत्ता प्रतिपादित है। अतः जपकर्ताको चाहिये कि वह बाह्याभ्यन्तर शुद्धिपूर्वक, संकल्पादि करके अङ्गन्यास, करन्यास एवं विनियोगपूर्वक निम्न ध्यान-श्लोकके साथ जप प्रारम्भ करे—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥

अर्थात् 'सूर्यमण्डलके मध्यमें कमलके आसनपर विराजमान भगवान् नारायणका सदैव ध्यान करना चाहिये। वे तपे हुए स्वर्ण-जैसे कान्तिमान् शरीरको धारण किये हुए हैं। उनके गलेमें हार, सिरपर किरीट और कानोंमें मकर-कुण्डलरत्न शोभित हैं। वे दोनों हाथोंमें शङ्ख-चक्र धारण किये हुए हैं। गायत्रीका जप करते समय सूर्यमण्डलमें भगवान्‌का चिन्तन करना चाहिये।'

गायत्री सम्पूर्ण वेदोंकी जननी है। ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजने माना है कि जो गायत्रीका अभिप्राय है, वही सम्पूर्ण वेदोंका अर्थ है। गायत्रीद्वारा विश्वोत्पादक स्वप्रकाश, परमात्माके उस रमणीय चिन्मय तेजका ध्यान किया जाता है, जो समस्त बुद्धियोंका प्रेरक एवं साक्षी है। इसलिये विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य आदि जिनमें विश्वकारणता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, साकारता, निराकारता आदि है, वे सभी परमेश्वर हैं और सभी गायत्रीमन्त्रके अर्थ हैं। इसलिये पञ्चदेवोंका या अपने किसी भी इष्टदेव—राम, कृष्ण, दुर्गा अथवा हनुमान्‌का ध्यान गायत्रीमन्त्रद्वारा किया जा सकता है। अतः गायत्री वेद और भारतीय संस्कृतिका प्राण है।

आख्यान—

शुद्ध-हृदयके रक्षक देव

सारे उपद्रव, उत्पात और अशान्तिकी जड़ है हृदयकी अशुद्धि। अशुद्ध मनमें विचार भी मलिन ही प्रतिफलित होते हैं, जैसे कि मलिन दर्पणमें स्वच्छतम मुख मलिन दीखता है। फिर जब विचार मलिन (अशुद्ध) हुए तो इच्छा निर्मल कैसे होगी? काले धागेसे काला ही कपड़ा बुना जायगा, सफेद नहीं। विचार (ज्ञान) और इच्छाके मलिन होनेपर उनसे होनेवाली कृतिकी शुद्धताकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। आज संसारमें सर्वत्र अशान्ति, अव्यवस्था और आरक्षणका जो वातावरण छाया हुआ है, उसका एकमात्र कारण मलिन कृति (अशुद्ध आचार) ही है। इस स्थितिको परिवर्तित कर पुनः विश्वमें शान्ति, सुव्यवस्था और सुरक्षाका साम्राज्य लाना हो तो सर्वप्रथम प्रत्येक व्यक्तिको आचारमें शुद्धि लानी होगी। आचारमें शुद्धि आयेगी शुद्ध इच्छासे, शुद्ध इच्छा बनेगी शुद्ध ज्ञानसे और शुद्ध ज्ञान प्रतिफलित होगा शुद्ध-हृदयमें ही। इस प्रकार हृदयकी शुद्धि आजका कर्तव्य सिद्ध होता है।

भारत राष्ट्रने सदैव इसीपर जोर दिया है। यही भारतीय संस्कृतिकी प्राणपदा निष्ठा है। हमारे पूर्वजोंके निर्मल हृदयमें एक ही विचार प्रतिफलित होता रहा; और वह है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

हम चाहते हैं कि सभी सुखी हों, सभी नीरोग रहें, सभी भला-ही-भला देखें, कोई दुःखका भागी न बने। विश्वहितका मूल, सदिच्छारूप यह रत्न एकमात्र शुद्ध हृदयकी खानसे ही सुलभ हो सकता है।

आप कहेंगे बात तो है मार्केकी, पर है केवल अध्यात्मवादियोंतक ही सीमित। राष्ट्ररक्षाके संदर्भमें यह साधन काम नहीं देगा। राष्ट्ररक्षा तो राजनीति और कूटनीतिसे ही होती है और उसके लिये मनमें कुछ, वचनमें कुछ और कृतिमें कुछ रखना ही पड़ता है। सर्वथा शुद्ध-हृदय बननेपर यह कैसे सम्भव है? राष्ट्रनीतिमें भी हम इतने 'भगत' बन जायँ तो हमारे राष्ट्रकी रक्षा भगवान्‌के ही हाथ है! भारतका तो चिर-अनुभूत विचार है—

देवा रक्षन्ति तं नित्यं यस्य स्याद्विमलं मनः।
ररक्षेन्द्रोऽमलान् नर्यतुर्वीतियदुतुर्वशान्॥

अर्थात् 'जिसका चित्त निर्मल हो, उसमें किसी तरहका छल-छद्म, द्वन्द्व न हो, उसकी रक्षा स्वयं देवता किया करते हैं। वैदिक युगमें नर्य-तुर्वीति, यदु और तुर्वश नामके अत्यन्त शुद्ध-हृदय राजा हुए हैं। अवसर पड़नेपर शंवर-जैसे महाबली असुरसे साक्षात् देवराज इन्द्रने उनकी रक्षा की और उन्हें बाल-बाल बचा लिया।'

ध्यान रखिये कि भारतीय वैदिक संस्कृतिकी दुनिया कयामततक सीमित नहीं है। सच तो यह है कि अन्य संस्कृतियोंकी जहाँ 'इति' होती है, वहाँसे भारतीय संस्कृतिका 'अथ' है। इतनी दूरतक हम पहुँच चुके हैं। हमारी मान्यता है कि हमपर एक 'सिक्युरिटी कौन्सिल' (सुरक्षा-परिषद्) है, जो केवल प्रस्ताव मात्र पास करके कृतकृत्य नहीं हो जाती, प्रत्युत स्वयं उसमें पहल करती है। वह निःशस्त्रीकरणका प्रस्ताव मात्र पास कर चुप नहीं बैठती, उसे कार्यान्वित करनेमें सक्रिय भाग लेती और करके छोड़ती है। उसे यह कदापि सह्य नहीं कि कोई प्रस्तावके समय मौखिक रूपमें निःशस्त्रीकरण और सैन्य-विघटनका समर्थन करे और भीतर-ही-भीतर अणुबम-जैसे विध्वंसकास्त्र बनाये, उत्तरोत्तर अरबोंके आँकड़ोंमें सुरक्षाका बजट बढ़ाये और अणु-परीक्षणके नामपर विश्वको आतंकित करता रहे।

हमारे पास एक अद्भुत शक्ति है, जिसे हम 'देवशक्ति' कहा करते हैं। वह विश्वके मङ्गलके लिये वचनबद्ध है; किंतु उसके निकट पहुँचने और उसकी रक्ष्य-सूचीकी सदस्यता पानेकी एकमात्र योग्यता 'विमल-मन' है, राजनीतिक-कूटनीतिक दाँव-पेच कदापि नहीं। अतीतकी गौरवमयी एक वैदिक कथा ही इस कथनकी पुष्टि करती है, जो इस प्रकार है—

प्राचीन कालमें इस देशमें नर्य, तुर्वीति, यदु और तुर्वश* नामके चार राजा हुए, जो अपने-अपने प्रदेशोंका शासन करते हुए प्रजाकी पुत्रवत् रक्षा करते थे। चारोंमें प्रथम नर्यके नामसे ही स्पष्ट है कि वे नरमात्रके हितकारी थे। सरल-विमल-हृदय इन राजाओंके प्रति उनका प्रजावर्ग जन्मदाता-सा आदर और स्नेह रखता और उनके राज्य अत्यन्त शान्ति-सौमनस्यके साथ चलते थे। संक्षेपमें कृतयुगके इस वर्णनकी अस्पष्ट झाँकी इनके राज्यमें पायी जाती थी कि 'तब न राजा था न राज्य, न दण्ड और न दाण्डिक; सभी लोग एकमात्र धर्मसे ही अपने-आप अपना शासन कर लेते थे।'

किंतु संसारमें सभी सत्त्वप्रकृतिके नहीं हुआ करते। प्रकृतिके परस्पर-विरोधी नित्य गुणोंके रहते सबका सत्त्वप्रकृतिमात्र रहना सम्भव ही कहाँ? विधर्मी विदेशी शासक शंवरने अपनी ही विचारधाराके क्रूरकर्मा सहयोगी पिप्रु, कुयव और शुष्ण नामक माण्डलिकोंको साथ ले उन राजाओंपर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने इन राज्योंके दूरवर्ती, सीमाके कितने ही भागोंपर अधिकार जमा लिया और वहींसे आये दिन इन राज्योंमें उपद्रव मचाया करते थे। फलतः प्रजावर्ग अत्यन्त संत्रस्त हो उठा।

इसपर उपाय-योजनाकी दृष्टिसे प्रथम चारों राजाओंकी गोष्ठी हुई। स्वभावतः शान्तिप्रिय होनेसे इन्होंने एकमतसे यही निश्चय किया कि आक्रामक शंवर और उसके सहयोगियोंकी 'गोलमेज परिषद्' बुलायी जाय तथा यह प्रश्न शान्तिसे हल हो। व्यर्थमें उभयपक्षकी धन-जन-हानिसे लाभ ही क्या?

शंवरके पास शान्तिवार्ताके लिये निमन्त्रण भेजा गया। अन्तरसे न चाहते हुए भी कूटनीतिक दाँव-पेचकी दृष्टिसे उसने वह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

शान्ति-परिषद् बैठी। राजाओंने कहा कि 'आप लोग जहाँ हैं, वहीं रह जायँ और वहाँकी प्रजाका हित देखते हुए उसका शासन करें। भविष्यमें और साम्राज्यवादी पंजा फैलाने तथा सारा वातावरण क्षुब्ध करनेकी कुचेष्टा न करें, साथ ही अपनी सेना विघटित कर दें तो आपसे शान्तिपूर्ण समझौता हो सकता है।'

शंवर और उसके सहयोगियोंने कहा—'हमें प्रस्ताव स्वीकार्य है। यदि आप भी अपनी सारी सेना विघटित

---

* ये सभी ऐतिहासिक राजा हैं, जिनका पुराणादिमें उल्लेख पाया जाता है। यदु और तुर्वश तो महाराज ययातिके ही पुत्र हैं। उनके चार पुत्र थे, जिनमेंसे द्रुह्यु सुदासोंद्वारा मारा गया। यदुके यदुवंशी यादव हुए, जिनके वंशमें भगवान् श्रीकृष्णने जन्म लिया। तुर्वश इन्हीं दासोंके भयसे भारतसे बाहर तुर्क देशमें चला गया। वहाँके वातावरणसे प्रभावित हुआ और उसीका सारा विस्तार मध्यपूर्वका राजवंश एवं प्रजा है। वातावरणके प्रभावसे उनका धर्मान्तर भी हो गया, फिर भी चन्द्रवंशके मूल पुरुष चन्द्रके प्रति उनकी निष्ठा बनी रही, जो आज भी ईद आदिके अवसरपर चन्द्रदर्शनकी उनकी उत्कट उत्सुकतासे स्पष्ट है। अनजानमें अपने वंशके इस मूल पुरुषको उन्होंने अपने ध्वजपर भी सम्मान्य स्थान दिया है।

कर दें तथा कभी हमपर आक्रमणकी न सोचें, न हमारी अधिकृत भूमि छीननेका प्रयास करें तो आपकी यह बात मान ली जा सकती है।'

बीचमें ही उनका एक साथी अपने नेता शंवरसे बोल उठा—'यह क्या कर रहे हैं? इस तरह तो सारा खेल बिगड़ जायगा।' शंवरने संकेतसे उसे चुप करा दिया। उसकी आँखोंकी भाषा ही बता रही थी कि यह भी एक कूटनीतिक दाँव है, जिसे साथियोंको समझते देर न लगी।

संधि हो गयी। राजाओंने तो प्रस्तावानुसार पहलेसे ही अत्यल्प अपनी सैन्यशक्तिको और भी विघटित कर दिया तथा वे शान्तिसे रहने लगे।

बड़ी मुश्किलसे इस घटनाको एक वर्ष बीता होगा कि उचित अवसर पाकर शंवरने अपने तीनों साथियोंके साथ चारों राज्योंपर चौतरफा आक्रमण कर दिया। गुप्त संयोजनके फलस्वरूप उसके ९९ किले भी तैयार थे, जहाँ सुरक्षित विशाल वाहिनी और सैन्य-सामग्री कुछ ही दिनोंमें ऐसे कितने ही राज्योंको नामशेष करनेकी क्षमता रखती थी।

इधर शान्तिवार्ता और समझौतेके फलस्वरूप रही-सही सेना भी विघटित कर देनेसे ये भारतीय नरेश अत्यन्त दयनीय हो गये। ऊपरसे सर्वसाधन-सम्पन्न शत्रुके चतुर्दिक् आक्रमणसे उनका धैर्य जाता रहा। बेचारोंके पास सिवा दैवी बलके कोई चारा न था। प्रजा भी इस अदूरदर्शितापर उन्हें कोसती आक्रमणके प्रतीकारार्थ संनद्ध नहीं हो पाती थी।

अन्ततः चारोंने मिलकर अत्यन्त भक्तिभावसे देवराज इन्द्रकी प्रार्थना की। विमलमति इन शासकोंकी प्रार्थना सुनते ही देवराज अपनी स्वर्गीय सेना ले विमानोंसे पृथ्वीपर उतर आये और देखते-देखते शत्रुका सारा आक्रमण उस प्रकार काट-छाँट दिया, जिस प्रकार प्रचण्ड पवन घनीभूत मेघ-पटलको खण्ड-खण्ड कर देता है।

देवराज इन्द्रने न केवल आत्मरक्षाकी लड़ाई लड़कर राजाओंकी रक्षा की, प्रत्युत शत्रुसे आक्रमणात्मक युद्ध लड़कर उसके ९९ किले भी ध्वस्त कर दिये और राष्ट्रविप्लवकारी शंवरसहित चारों आक्रामकोंको मौतके घाट उतार दिया।

शत्रुओंके इस भीषण तूफानको कुछ ही क्षणोंमें शान्त कर देवराज चारों राजाओंके पास पहुँचे और बोले— 'राजाओ! अब आपका क्या प्रिय किया जाय?'

राजाओंने प्रणामपूर्वक कहा—'देवराज! हम आपके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनेके लिये समर्थ शब्द ही नहीं पा रहे हैं। इसी तरह संकटके समय विमलचेताओंकी सदैव रक्षा किया करें, यही प्रार्थना है।'

देवराज '**तथास्तु**' कहकर अपने दलबलसहित स्वर्ग लौट आये।

कथाका आध्यात्मिक रहस्य

प्रस्तुत कथाके आधिभौतिक रहस्य और उपदेशके विषयमें आरम्भमें कुछ कहा गया, किंतु ध्यान देनेकी बात है कि हमारी वैदिक कथाएँ रूपकशैलीमें अपनेमें गूढ आध्यात्मिक रहस्य छिपाये रहती हैं।

प्रस्तुत कथामें राजा शुद्धचित्त साधकोंके प्रतीक हैं और देवराज इन्द्र हैं गुरुदेव। शुद्धचित्त साधकोंद्वारा सभक्ति उपासना करनेपर वे सदैव शंवर और उसके साथियोंको नष्ट कर उनकी रक्षा किया करते हैं। शंवर है मूल अज्ञानका प्रतीक। कारण, वह कल्याणस्वरूप आत्मतत्त्वको आवृत कर देता है (**'शं वृणोतीति शंवरः'**)।

निर्मलचित्त साधकको गुरु आत्मतत्त्वका साक्षात्कार कराकर उसका मूल अज्ञान नष्ट कर देता है तो उस अज्ञानके सारे कार्य उपादान-कारणके नाशसे अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। यह कथाका गूढतम आध्यात्मिक रहस्य है। ऋग्वेद (१। ५४। ६)-में इस कथाका संकेत करते हुए कहा गया है—

त्वमाविथ नर्यं तुर्वशं यदुं त्वं तुर्वीतिं वय्यं शतक्रतो।
त्वं रथमेतशं कृत्व्ये धने त्वं पुरो नवतिं दम्भयो नव॥

अर्थात् सव्य ऋषि जगती छन्दद्वारा देवराज इन्द्रकी स्तुति करते हुए कहते हैं—हे शतक्रतो इन्द्र! आपने नर्य, तुर्वश, यदु और वय्य कुलके तुर्वीति राजाओंकी रक्षा की। आपने संग्राममें इन राजाओंके अश्वोंकी रक्षा की। प्रभो, आपने शंवर दानवके निन्यानबे किलोंको (अज्ञानके समस्त कार्योंको) नष्ट कर दिया।' [अतः हमारे भी समस्त अज्ञानान्धकारको दूर करें।]

इस ऋचाके अतिरिक्त दूसरे स्थलोंपर भी इस कथाके संकेत-सूत्र ऋग्वेद (१। ३८। १८, १। ११२। ९, १। ११२। २३)-में प्राप्त होते हैं।

[संसारमें सर्वत्र सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, दरिद्रता-सम्पन्नता, रुग्णता-स्वस्थता और बुद्धिमत्ता-अबुद्धिमत्ता आदि वैभिन्न्य स्पष्टरूपसे दिखायी पड़ता है, पर यह वैभिन्न्य दृष्ट कारणोंसे ही होना आवश्यक नहीं, कारण कि ऐसे बहुत उदाहरण प्राप्त होते हैं कि एक माता-पिताके एक साथ जन्मे युग्म-बालकोंकी शिक्षा-दीक्षा, लालन-पालन समान होनेपर भी व्यक्तिगत रूपसे उनकी परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जैसे कोई रुग्ण, कोई स्वस्थ, कोई दरिद्र तो कोई सम्पन्न, कोई अङ्गहीन तो कोई सर्वाङ्गसुन्दर इत्यादि। इन बातोंसे यह स्पष्ट है कि जन्म-जन्मान्तरके धर्माधर्मरूप 'अदृष्ट' ही इन भोगोंका कारण है। जीवनमें हम जो कुछ भी कार्य करते हैं, वे ही हमारे प्रारब्ध बनते हैं। मनुष्य जब जन्म लेता है, तब वह अपना अदृष्ट (प्रारब्ध या भाग्य) साथ लेकर आता है; जिसे वह भोगता है। वेद इन सम्पूर्ण विषयोंका विवेचन प्रस्तुत करते हैं और प्राणिमात्रका कल्याण कैसे हो, इसका मार्ग प्रशस्त करते हुए मनुष्यमात्रके कर्तव्यका निश्चय करते हैं। साथ ही ऐहलौकिक जीवनकी सार्थकताके लिये सत्कर्म करनेकी प्रेरणा देते हैं। इसीलिये वेदोंके प्रतिपाद्य विषयोंमें मनुष्यकी दिनचर्या, जीवनचर्या, सामान्यधर्म, विशेषधर्म, वर्णाश्रमधर्म, संस्कार, आचार (सदाचार, शौचाचार), विचार, यम-नियम, दान, श्राद्ध-तर्पण, पञ्चमहायज्ञ, स्वाध्याय, सत्संग, अतिथि-सेवा, देवोपासना, संध्या-वन्दन, गायत्री-जप, यज्ञ, व्रतोपवास, इष्टापूर्त, शुद्धि-तत्त्व, अशौच, पातक, महापातक, कर्म-विपाक, प्रायश्चित्त, पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष), भक्ति और अध्यात्मज्ञान आदि अन्यान्य विषय समाहित हैं। अस्तु!

वेदोंमें जो विषय प्रतिपादित हैं, वे मानवमात्रका मार्गदर्शन करते हैं। मनुष्यको प्रतिक्षण कब क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, साथ ही प्रातःकाल जागरणसे रात्रिपर्यन्त सम्पूर्ण चर्या और क्रिया-कलाप ही वेदोंके प्रतिपाद्य विषय हैं।—सम्पादक]

वैदिक संस्कृति और सदाचार

(डॉ० श्रीमुंशीरामजी शर्मा 'सोम', डी० लिट्०)

वैदिक संस्कृति सदाचारको जितना महत्त्व प्रदान करती है, उतना अन्य उपादानोंको नहीं। आप चाहे अद्वैतको मानिये और चाहे द्वैतको, यदि आप सदाचारी नहीं हैं तो आपकी मान्यता निरर्थक है—बालूमेंसे तेल निकालनेके समान है। यदि आप सदाचारी हैं तो ईश्वरमें विश्वास या अविश्वासका प्रश्न उठेगा ही नहीं और यदि आप सदाचारी नहीं हैं तो वेदके शब्दोंमें **'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः'**— 'दुराचारी सत्यके मार्गको पार कर ही नहीं सकते'—इसपर आपको ध्यान देना होगा। सदाचारी व्यक्ति ही सत्य-पथका अनुगामी है और जो सत्य-पथपर चल रहा है, वह एक दिन उसे पार कर ही जायगा—प्रभुको प्राप्त कर ही लेगा; क्योंकि **'ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्ति'**—तात्पर्य यह कि ऋतके आदेश—सदाचारके संकेत प्रभुका संवर्धन करनेवाले हैं। **'स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः'** अर्थात् स्वर्ग या ज्योतिकी ओर ले जानेवाला देवयान-पथ सुकृती, सदाचारी व्यक्तिके ही भाग्यकी वस्तु है। इस प्रकार सदाचारी सत्पथका पथिक जाने या अनजाने उस परमगति—परमतत्त्वकी ओर अपने-आप चला जा रहा है। वेदमें प्रार्थना आती है—**परि माऽग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज। उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु॥** (यजु० ४। २८)

'सर्वाग्रणी देव! आप सबके नियन्ता हैं। मुझे दुश्चरितसे पृथक् करें और सब ओरसे सदाचारका भागी बनायें। मैं अमर देवोंका अनुकरण करूँ तथा उत्तम आयु एवं शोभन जीवन लेकर ऊपर उठ जाऊँ।' सदाचार ही ऊपर उठाता है। दुराचार तो गिरानेवाला है, आयुको क्षीण करनेवाला है, रोगोंका अड्डा बनानेवाला है। सदाचारसे नीरोगता प्राप्त होती है, आयु बढ़ती है और प्राणी ऊपर उठता है। मानव यहाँ ऊँचा उठनेके लिये आया है, गिरनेके लिये नहीं। अतः जो गिराता है, उसे ही हमें गिरा देना चाहिये और जो उठाता है, उसे अपना लेना चाहिये। इसीमें कल्याण है। वेद सदाचारके लिये मनको शिवसंकल्पमय बनानेकी आज्ञा देते हैं—**'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।'** मनमें शिवसंकल्प उठेंगे तो वे आचरणमें भी फलीभूत होंगे; क्योंकि **'यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति'**—का

सिद्धान्त सर्वांशतः सत्य है। इस मनको सामग्री प्राप्त होती है ज्ञानेन्द्रियोंसे। वेद कहते हैं—'**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।**' अर्थात् 'हम कानोंसे भद्र शब्दोंको सुनें और आँखोंसे भद्रका ही दर्शन करें।' शिवसंकल्पी मन आँखोंसे भद्रका दर्शन करेगा और भद्रदर्शी ही शिवसंकल्पी बनेगा। दोनोंमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जो बात आँख और कानके सम्बन्धमें कही जाती है, वही अन्य ज्ञानेन्द्रियोंके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। इस प्रकारका शिवसंकल्पी मन भद्रदर्शी और भद्रश्रोत्रीके साथ भद्र आचरण ही करेगा। उसके अङ्ग स्थिर होंगे, शरीर देवोंद्वारा स्थापित पूर्ण आयुको प्राप्त करेगा और वह भद्रका आशंसी बनेगा।

स्वस्तिपथ सदाचारका पथ है। यह दानी, अहिंसक और ज्ञानियोंका पथ है। हमें सदाचारकी शिक्षाके लिये उन्हींके सत्संगमें रहना चाहिये। '**अग्ने नय सुपथा**'—'प्रभु हमें इसी सुपथसे ले चलें।' '**युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः**'—'कुटिलताके पापपथसे हमें दूर रखें।' '**सुगः कर्त सुपथा स्वस्तये**'—'सुपथको प्रभु हमारे लिये सुगम कर दें, जिससे हम कल्याणके भाजन बन सकें।' यदि '**न नः पश्चात् अघं नशत्**'—'पाप हमारे पीछे न पड़ा' तो '**भद्रं भवाति नः पुरः**'—'भद्र निश्चितरूपसे हमारे सामने आ जायगा।' हम प्रतिदिन प्रभुसे प्रार्थना करते हैं—'**विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव**'—'प्रभो! हमारे दुरित, दुराचार दूर हों और जो भद्र हैं, मङ्गलमय या कल्याणकारी हैं, वे ही हमें प्राप्त हों।' दुरित, दुराचार या कुत्सित आचरण हमारे विनाशका कारण है। सदाचार हमें प्रतिष्ठित करता है, जीवन देता है। '**स नः पूषाऽविना भुवत्**'—अर्थात् 'सदाचार हमें पोषण देता है और हमारी रक्षा करता है।'

सदाचारमें सत् है, श्रद्धामें श्रत् है। सत् और श्रत् प्रायः एक ही हैं। यही धारण करनेवाले धर्म भी हैं। ऐसे धर्मोंका अध्यक्ष—'**अध्यक्षं धर्माणाम्**'—'अग्नि है, सर्वाग्रणी परमेश्वर है।' वही सत् और श्रत्का निधान है। उसीकी प्राप्ति धर्मकी प्राप्ति है, सत् और श्रत्की उपलब्धि है। इस प्रकार परमेश्वर, सत्य और धर्म एक ही हैं।

'**त्रिशूला न क्रिलयः सुमातरो**.....'—'माताओंके आगे जैसे शिशु क्रीडा करते हैं, वैसे ही हमें भी प्रभुके आगे शिशुकी भाँति क्रीडा करनी चाहिये।' शिशु निरीह और निष्पाप होता है। वह दुराचारका नाम भी नहीं जानता। सदाचार सहजरूपसे उसके अंदर निवास करता है। यदि हम भी शैशव वृत्ति धारण कर लें, बड़े होकर भी शिशुकी भाँति निष्कपट व्यवहार करें तो हम प्रभुके सांनिध्य या सामीप्यमें रहेंगे, सत् हमारा साथी बनेगा, भद्र हमारे पार्श्वमें बसेगा और आनन्द रोम-रोममें रमेगा। सदाचाररूपी वृक्षपर आनन्दका ही फल लगता है।

सदाचार-पथके पथिकको कभी प्रमादमें नहीं पड़ना है और न व्यर्थके प्रलापमें भाग लेना है। '**मा नः निडा ईशत मोत जल्पिः**'—'निद्रा या जल्पना कोई भी हमारे ऊपर शासन न कर सके।' '**इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति**'—क्योंकि 'जो निद्रालु है, सोता है, देव उसकी कामना नहीं करते।' दिव्य गुण या सदाचार उससे कोसों दूर भाग जाते हैं। देव तो उसीसे प्रेम करते हैं जो सदाचारी है, सहनशील है, त्यागपरायण है। सदाचारके क्षेत्रमें इसीलिये कोई छुट्टी नहीं है, अवकाशका दिन नहीं है— There is no holiday in moral life—इसमें एक दिन क्या, एक क्षणके लिये भी छुट्टी मनाना, सदाचारसे पृथक् होना—वर्षोंकी कमाईपर पानी फेर देना है। एक पलका भी प्रमाद अनन्तकालतकके पश्चात्तापका कारण हो सकता है।

'**कृधी न ऊर्ध्वान् चरथाय जीवसे**'—'हम अपने जीवनमें, अपने आचरणमें ऊँचे ही उठते रहें।' हमारा वर्तमान जीवन और उसकी कार्यप्रणाली एक लम्बी शृंखलाकी कड़ीमात्र है। न जाने कबसे प्रयत्न करते-करते हम वर्तमान अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। कितनी ठोकरें खायी होंगी, कितने नीचे गिरे होंगे और फिर उठनेमें कितना प्रयास किया होगा। यदि विगतकी यह स्मृति जाग उठे तो हम प्राप्त क्षणोंको अपने हाथसे कभी न जाने दें। ऊँची चढ़ाई कष्टसाध्य होती है, परंतु जब ऊपर चढ़कर आनन्दका आस्वाद लेते हैं, उन्मुक्त वातावरणमें साँस लेते हैं तो झेले हुए कष्ट फिर कष्ट नहीं रहते, आनन्दावसायी परिणतिमें डूबकर समस्त आयास समाप्त हो जाते हैं। अशिव और अमीव (कष्ट) पीछे छूट जाते हैं। शिव और स्वास्थ्य समक्ष ही नवल लास्य—नर्तन करने लगते हैं। जो वैषम्य पल-पलमें काटनेको दौड़ता था, वह स्वयं कट जाता है और उसके स्थानपर शोभित हो जाता है—सामरस्य, जो सर्वोच्च कोटिकी उपलब्धि है।

ऊर्ध्व स्थितिमें पर्वती उतार-चढ़ाव भी दिखायी नहीं देते। एक सुन्दर समतल प्रदेश—आँगनके समान दृष्टिगोचर होने लगता है। '**अत्रा इन्द्रस्य गिरयश्चिद् ऋष्वा**'—'मुक्त जीवके लिये उच्च, विशाल, पार्वत्य

तुङ्ग-शृङ्ग अजिर-तुल्य हैं' और '**गम्भीरे चिद् भवति गाधमस्मै**'—'गहरे-से-गहरे निराशाजनक स्थलोंमें भी उसके लिये आशाजनक पोत विद्यमान है।'

ऊपर हमने ऋतको सदाचार कहा है। अंग्रेजीमें ऋतका स्थानीय 'Right' है। वेदमें ऋत और सत्यका युग है। ऋतका सम्बन्ध चर और चित्से है, सत्का सम्बन्ध अचर तथा अचित्से है। इस आधारपर सत्य वे नियम हैं, जो विश्वकी सतात्मक (Static) स्थितिसे सम्बन्ध रखते हैं और ऋत वे नियम हैं, जो उसकी गत्यात्मक तथा क्रियात्मक स्थितिसे सम्बन्ध रखते हैं। यही दो नियम विश्वभरकी चराचर जड़-जंगम अथवा चित्-अचित् स्थितियोंका नियन्त्रण करते हैं। एम्नुएल काण्ट कहा करता था—'Two things fill my mind with awe and reverance; the theory heavence above and the moral love within.'—'तारोंभरे आकाशसे उसका लक्ष्य ब्रह्माण्डीय नियमोंकी ओर था, जिन्हें हमने सत्य कहा है।' मौरेल लॉ या सदाचारके नियमको हम सत्य न कहकर ऋत कहेंगे। वैदिक संस्कृतिमें ऋत या सदाचारका नियम महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि संस्कृतिरूपी भवन इसीकी नींवपर खड़ा होता है। वेदमें ऋतकी प्रशंसा अनेक मन्त्रोंमें की गयी है। ऋतकी जड़ें बड़ी गहरी हैं। द्यौ-पुत्र ऋतके ही प्रशंसक हैं। आङ्गिरस प्राणप्रधान व्यक्ति ऋतके द्वारा ही 'विप्र'पदको प्राप्त करते हैं। विप्रकी वाणी ऋतसे ओतप्रोत रहती है। देव ऋतसे सम्पन्न, ऋत-जात तथा ऋतके बढ़ानेवाले होते हैं। ऋतद्वारा ही वे मानवको पापसे छुड़ाते हैं। वे स्वयं ऋतसे द्युम्न या चमकीले बनते हैं। ऋतकी प्रथमजा प्रज्ञाका आश्रय लेकर वे सर्वज्ञ बन जाते हैं। देवोंमें वही देव पवित्र सामर्थ्यवान् तथा यज्ञिय बनते हैं जो ऋतसे अपनेको संयुक्त करते हैं। सदाचार ऋतके इसी नियमपर आधारित हैं। वैदिक संस्कृतिकी आधारशिला भी यही है। ऋत या सदाचारसे विहीन मानवको संस्कृत मानव किसीने कहीं भी नहीं कहा। हमें संस्कृत बनना है तो सदाचारको जीवनमें प्रमुख स्थान देना ही पड़ेगा। ऋतके नियमोंके आधारपर सच्चरित्र बनना होगा। यही जीवनका चरम लक्ष्य-पथ है।

सम-वितरण

विभज्य भुञ्जते सन्तो भक्ष्यं प्राप्य सहाग्निना। चतुरश्चमसान् कृत्वा तं सोममृभवः पपुः॥ (नीतिमञ्जरी)

सुधन्वाके पुत्र ऋभु, विभु और वाज त्वष्टाके विशेष कृपापात्र थे। त्वष्टाने उन्हें अपनी समस्त विद्याओंसे सम्पन्न कर दिया। उनके सत्कर्मकी चर्चा देवोंमें प्रायः होती रहती थी। उन्होंने बृहस्पतिको अमृत तथा अश्विनीकुमारोंको दिव्य रथ और इन्द्रको वाहनसे संतुष्ट कर उनकी प्रसन्नता प्राप्त की थी। वेदमन्त्रोंसे वे देवोंका समय-समयपर आवाहन करते रहते थे। देवोंको सोमका भाग देकर वे अपने सत्कर्मसे देवत्वकी ओर बढ़ रहे थे।

× × ×

ऋभुओंने त्वष्टानिर्मित सोमपानका आयोजन किया। सामवेदके सरस मन्त्रोच्चारणसे उन्होंने सोमाभिषव प्रारम्भ कर उसे चमसमें* रखा ही था कि सहसा उन्हींके आकार-प्रकार, रूप-रंग और वयस्के एक प्राणी दीख पड़े। ऋभुओंको बड़ा आश्चर्य हुआ।

'चमसके चार भाग करने चाहिये।' ज्येष्ठ पुत्र ऋभुने आदेश दिया। उनकी आज्ञाका तत्क्षण पालन हुआ विभु और वाजके द्वारा।

'अतिथिका सत्कार करना हमारा परम धर्म है, आप कोई भी हों, हम लोगोंने आपको सम भागका अधिकारी माना है।' ऋभुओंने सोमपानके लिये अज्ञात पुरुषसे प्रार्थना की।

'देवगण आपसे प्रसन्न हैं, ऋभुओ! मुझे इन्द्रने आपकी परीक्षाके लिये भेजा था। आप लोग संत हैं। आपने अतिथि-धर्मका पालन करके अपना गोत्र पवित्र कर लिया।' अग्नि प्रकट हो गये। उन्होंने सोमका चौथा भाग ग्रहण किया। इन्द्रने भी सोमका भाग प्राप्त किया। प्रजापतिने उन्हें अमरता प्रदान की। वे अपने शुभकर्मसे देवता हो गये।

[बृहद्देवता ३। ८३—९०]

* सोमरस धारण करनेवाले काष्ठपात्र-विशेषका नाम चमस है।

वैदिक कर्म और ब्रह्मज्ञान

(श्रीवसन्तकुमारजी चटर्जी, एम्० ए०)

पाश्चात्य विद्वानोंकी यह कल्पना है कि वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्मज्ञानमें परस्पर-विरोध है। डॉ० विंटरनित्ज लिखते हैं कि 'जब ब्राह्मणलोग यज्ञ-यागादिके निरर्थक शास्त्रमें प्रवृत्त थे, तब अन्य लोग उन महान् प्रश्नोंके विचारमें लगे थे, जिनका पीछे उपनिषदोंमें इतनी उत्तमताके साथ विवेचन हुआ है' (हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० २३१)। मि० मैकडॉनल कहते हैं कि 'उपनिषद् यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थोंके ही भाग हैं, क्योंकि हैं वे उन्हींके ज्ञानकाण्डके विस्तारस्वरूप, तथापि उनके द्वारा एक नये ही धर्मका प्रतिपादन हुआ है, जो वैदिक कर्मकाण्ड या व्यवहारके सर्वथा विरुद्ध है' (हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० २१८)। इन विद्वानोंको यह नहीं सूझा कि एक ही ग्रन्थके दो भाग एक-दूसरेके विरुद्ध कैसे हो सकते हैं! जो लोग भारतीय संस्कृतिकी परम्परामें नहीं जन्मे, नहीं फले-फूले, उन विदेशियोंको तो इस गलतीके लिये क्षमा किया जा सकता है। उनका जन्मजात संस्कार ही वैदिक कर्मकाण्डके विरुद्ध है। उनकी तो यह समझ है कि ये वैदिक कर्म अन्धविश्वासकी उपज हैं, आत्मज्ञानसे इनका कोई सरोकार नहीं। परंतु हम उन अग्रगण्य आधुनिक भारतीय विद्वानोंको क्या कहें, जो वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्मज्ञानके इस पाश्चात्य विद्वानोंद्वारा कल्पित परस्परविरोधका ही अनुवाद किया करते हैं? क्या उन्हें भी यह नहीं सूझता कि श्रीशंकराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य-जैसे महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियोंमें इतनी समझ तो अवश्य रही होगी कि यदि वेदोंके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें परस्पर-विरोध है तो दोनों ही काण्ड सत्य नहीं माने जा सकते? यह बात स्मरण रहे कि श्रीशंकराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य तथा भारतके सभी प्राचीन आचार्योंने यह माना है कि वेद एवं उपनिषद् अपौरुषेय हैं—सर्वथा सत्य हैं।

इस कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके परस्पर-विरोधकी कल्पना जिस आधारपर की जाती है, उसका यदि हम परीक्षण करें तो हमें यह देखकर आश्चर्य होगा कि इतने बड़े-बड़े विद्वान् मूलमें ही इतनी बड़ी गलती कैसे कर गये। वैदिक कर्मकाण्डकी यह फलश्रुति है कि इन कर्मोंके आचरणसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। उपनिषदोंने कहीं भी इसका खण्डन नहीं किया है। इसके विपरीत उपनिषदोंके अनेक वाक्य इसके समर्थक हैं। इसके दो अवतरण नीचे प्रस्तुत हैं—

तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते' (प्रश्नोपनिषद् १। ९)।

'जो लोग यज्ञ करना, वापी-कूप-तडागादि खुदवाना और बगीचा लगवाना आदि इष्टापूर्तरूप कर्म-मार्गका ही अवलम्बन करते हैं, वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं' (चन्द्रलोक स्वर्गका ही एक भेद है)।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥

(मुण्डक० १। २। ५)

'इन दीप्तिमान् जिह्वाओंमें जो यथाकाल आहुति देता हुआ अग्निहोत्र करता है, उसे वे आहुतियाँ सूर्यकी रश्मियोंके साथ मिलकर वहाँ ले जाती हैं, जहाँ देवताओंका एक पति सबसे ऊपर विराजता है।'

मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट ही बतलाता है कि वैदिक कर्मकाण्ड सच्चा अर्थात् अव्यर्थ फलप्रद है। यथा—

तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्०।

(मुण्डक० १। २। १)

'ऋषियोंने मन्त्रोंमें जिन कर्म-विधियोंको देखा, वे सत्य हैं।' प्रथमतः मन्त्र प्रकट हुए, तब उन मन्त्रोंके साथ वैदिक कर्म करनेकी विधियाँ ब्राह्मणग्रन्थोंमें समाविष्ट की गयीं। ये ब्राह्मणग्रन्थ वेदोंके ही अंग हैं और अपौरुषेय वेदमन्त्रोंसे ही निकले हैं। इस प्रकार वेद मन्त्र-ब्राह्मणात्मक हैं, जैसा कि 'यज्ञपरिभाषासूत्र' में महर्षि आपस्तम्ब कहते हैं—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

'वेद नाम मन्त्रों और ब्राह्मणोंका है।'

वैदिक कर्म और औपनिषद ज्ञानके बीच परस्पर-

विरोध केवल आधुनिक पण्डितोंकी कल्पना है, यह बात इससे भी स्पष्ट हो जायगी कि उपनिषदोंने कितने ही स्थानोंमें वेदोंके मन्त्रभागसे प्रमाण उद्धृत किये हैं— यह कहकर कि ऋक्‌में ऐसा कहा गया है अथवा वेदमन्त्र ऐसा है—'**तदेतद् ऋचाभ्युक्तम्**' अथवा '**तदेष श्लोकः**' इत्यादि।

ब्रह्मकी महिमाका वर्णन करते हुए एक जगह मुण्डकोपनिषद् (२।१।६)-में यह मन्त्र आता है—

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥

'उन परब्रह्मसे ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, दीक्षा, यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा, संवत्सर, यजमान और विविध लोक, जिनमें चन्द्र और सूर्य चलते हैं, प्रकट हुए हैं।'

कठोपनिषद्‌में यह देखा जाता है कि नचिकेताको ब्रह्मज्ञान देनेके पूर्व उन वैदिक यज्ञोंको करनेकी दीक्षा दी गयी, जिनसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि उपनिषद् वैदिक यज्ञोंद्वारा स्वर्गकी प्राप्तिका होना घोषित करते हैं। परंतु इस विषयमें यह भी तो कहा जा सकता है कि यज्ञोंसे स्वर्ग-लाभ भले ही होता हो, पर उपनिषदोंका लक्ष्य तो स्वर्ग नहीं प्रत्युत मोक्ष है और इसलिये उपनिषद् ऐसा कैसे कह सकते हैं कि कोई अपना समय और शक्ति वैदिक यज्ञ-यागादिमें व्यर्थ ही व्यय किया करे; परंतु यह कुतर्क ही है। उपनिषद् तो स्पष्ट ही विधान करते हैं कि 'यज्ञ करो।' स्नातकके समावर्तन-संस्कारमें आचार्य शिष्यको स्पष्ट ही आदेश देते हैं—

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।
(तै०उ० १।११।१)

'देवों और पितरोंके लिये यज्ञ करनेमें कभी प्रमाद न करना।' मुण्डकोपनिषद्‌के उपसंहारमें यह कहा गया है कि—

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत
शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥
(मुण्डक० ३।२।१०)

'यह ब्रह्मविद्या उन्हींसे कहे, जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत (एक वैदिक यज्ञ) सम्पन्न किया हो।' कठोपनिषद्‌की कथामें वैदिक यज्ञोंकी विद्या पहले बताकर तब ब्रह्मविद्याको बतलाना इसी बातको ही तो सूचित करता है कि ब्रह्मविद्याका अधिकार वैदिक कर्मका विधिपूर्वक पालन करनेसे ही प्राप्त होता है।

फिर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वैदिक कर्म स्वर्गके ही देनेवाले हैं तो जो मनुष्य स्वर्ग न चाहता हो, मोक्ष ही चाहता हो, उसके लिये वैदिक कर्मकी आवश्यकता ही क्या हो सकती है? इसका उत्तर बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।२२)-के इस वचनसे मिलता है—

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन०।

'ब्राह्मण लोग वेदाध्ययनसे तथा कामनारहित यज्ञ, दान और तपसे उस (ब्रह्म)-को जाननेकी इच्छा करते हैं।' इस वचनमें '**अनाशकेन**' (**कामनारहितेन**)-पद विशेष अर्थपूर्ण है। इसका यही अर्थ है कि वेदोक्त यज्ञादि कर्म जब आसक्तिसहित किये जाते हैं, तब उनसे स्वर्गलाभ होता है और जब आसक्तिरहित किये जाते हैं, तब काम-क्रोधादिकोंसे मुक्त होकर कर्ताका चित्त शुद्ध हो जाता है। यही बात गीता (१८।५-६)-में भगवान्‌द्वारा कही गयी है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

'यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्याज्य नहीं हैं, अवश्य करणीय हैं; क्योंकि वे मनीषियोंको पावन करते हैं। इन कर्मोंको भी आसक्ति और फलेच्छाको छोड़कर करना चाहिये, यही मेरा निश्चित उत्तम मत है।' उपनिषद्‌के '**अनाशकेन**' पदको ही गीताके '**सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च**' शब्दोंने विशद किया है।

अब उपनिषद्‌के उस मन्त्रका भी विचार कर लीजिये, जिससे आधुनिकोंको वैदिक कर्म और औपनिषद ज्ञानमें परस्पर-विरोध दीख पड़ता है और यह कहनेका मौका मिलता है कि उपनिषदोंने तो वैदिक कर्मकाण्डका खण्डन किया है। मन्त्रार्थका ठीक तरहसे विचार करनेपर अवश्य ही यह प्रतीत होगा कि खण्डन वैदिक कर्मकाण्डका नहीं, बल्कि उसके फलस्वरूप स्वर्गभोगकी

इच्छाका खण्डन है। मन्त्र इस प्रकार है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥

(मुण्डक० १। २। ७)

अर्थात् 'जिनपर ज्ञानवर्जित कर्म अवलम्बित है— ऐसी ये अठारह यज्ञसाधनरूप नौकाएँ अदृढ हैं। इन्हें जो श्रेय जानकर इनका अभिनन्दन करते हैं, वे मूढ हैं। वे फिरसे जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं।' यहाँ यज्ञोंको 'अदृढ नौकाएँ' कहा है; क्योंकि ये नौकाएँ मृत्युसागर पार नहीं करातीं, ब्रह्मविद्या ही मृत्युसागरके पार पहुँचाती है। इसका यह मतलब तो नहीं हुआ कि इन यज्ञोंका कोई प्रयोजन ही नहीं है। इसके पूर्वके दो मन्त्रोंमें यह बात कही जा चुकी है कि जो लोग यज्ञ करते हैं, वे मृत्युके पश्चात् स्वर्गको जाते हैं। इस मन्त्रसे यह भी न समझना चाहिये कि इसका अभिप्राय यज्ञोंके खण्डनमें है। कारण, अन्य मन्त्रोंमें, जो पहले उद्धृत किये जा चुके हैं, यज्ञोंका आग्रहपूर्वक विधान किया गया है। यहाँ '**अदृढाः**' पदसे इतना ही सूचित किया गया कि यही अन्तिम और सबसे बड़ी चीज नहीं है।

आधुनिकोंके चित्तमें यह शंका उठ सकती है कि वैदिक यज्ञोंके करनेसे मनकी शुद्धि कैसे हो सकती है? इसका समाधान यह है कि मनकी जो विविध कामनाएँ हैं, जो आत्मवश्यताके न होनेसे ही उत्पन्न होती हैं, वे मनकी मलिनता या अशुद्धि हैं। वैदिक कर्मकाण्ड आत्मसंयमकी शक्तिको ही बढ़ाता है। अतः केवल बाह्य विधिका ही सम्पादन यथेष्ट नहीं होता, अपितु आत्मशुद्धि और ज्ञानप्राप्तिकी सच्ची अभिलाषा भी होनी चाहिये। जहाँ ऐसी इच्छा होती है, वहाँ बाह्य विधिसे बड़ी सहायता मिलती है। मनुष्य शरीर भी है और शरीरी जीव भी। वह जबतक अपने शरीरको योग्य नहीं बना लेता, तबतक वह आध्यात्मिक उत्कर्षका अधिकारी नहीं होता। एकदूसरे ढंगसे भी इस प्रश्नपर विचार किया जा सकता है। हमारा चित्त अनेक प्रकारके कुकर्मोंसे मलिन हो गया है। इन सब मलोंको हटानेके लिये सत्कर्मोंका किया जाना आवश्यक है। सत्कर्म कराना ही वैदिक कर्मकाण्डका उद्देश्य है। ईशावास्योपनिषद्का यह वचन है कि मोक्षके लिये अविद्या और विद्या दोनों आवश्यक हैं। विद्याके बिना केवल अविद्यासे काम नहीं चलता; अविद्याके बिना केवल विद्या उससे भी खराब है। श्रीमद्रामानुजाचार्यने विद्यासे अर्थ ग्रहण किया है ज्ञानका और अविद्यासे शास्त्रोक्त कर्मका—एक साधनाका तात्त्विक अङ्ग है और दूसरा व्यावहारिक। शास्त्रोक्त कर्मोंके करनेसे चित्त शुद्ध होता है और तब ब्रह्मविद्या श्रवण करनेसे फलवती होती है। अशुद्धचेताको उस श्रवणसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें साधनरूपसे वैदिक कर्मोंकी फलवत्ता भगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रोंमें प्रतिष्ठित की है—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्।

(३। ४। २६)

अर्थात् 'परम ज्ञानके लिये वेदोक्त कर्मोंका आचरण वैसे ही आवश्यक है, जैसे एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेके लिये घोड़ेकी सवारी आवश्यक होती है। घोड़ेके साथ जीन और लगाम आदिकी भी जरूरत होती है। इसी प्रकार परम ज्ञानकी प्राप्तिमें केवल वेदानुवचनसे ही काम नहीं चलता, बल्कि वेदोक्त कर्म करनेकी भी आवश्यकता पड़ती है [श्रीरामानुजाचार्यकृत 'श्रीभाष्य']।

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि।

(३। ४। ३२)

सहकारित्वेन च।

(३। ४। ३३)

—इन सूत्रोंमें यह स्पष्ट कहा गया है कि आश्रमकर्मोंका पालन भी ब्रह्मविद्यामें साधक होता है और आहारादिके विषयमें भी शास्त्रविधिसे युक्त आचरण सहकारी होता है। काम-क्रोधादि विकार ईश्वरध्यानमें बाधक होते हैं। वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म काम-क्रोधादिको जीतनेकी सामर्थ्य देता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परम ज्ञानकी प्राप्तिके साधनमें बाह्य आचरणके नियमनकी भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि आन्तर अभ्यासकी।

वेदोंमें 'यज्ञ'

भारतीय संस्कृति और वेद-पुराणोंमें यज्ञोंकी अपार महिमा निरूपित है। यज्ञ तो वेदोंका मुख्य प्रतिपाद्य ही है। यज्ञोंके द्वारा विश्वात्मा प्रभुको संतृप्त करनेकी विधि बतलायी गयी है। अतः जो जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें यज्ञ-यागादि शुभ कर्म अवश्य करने चाहिये। परमात्माके निःश्वासभूत वेदोंकी मुख्य प्रवृत्ति यज्ञोंके अनुष्ठान-विधानमें है। यज्ञोंद्वारा समुद्भूत पर्जन्य—वृष्टि आदिसे संसारका पालन होता है। इस प्रकार परमात्मा यज्ञोंके सहारे ही विश्वका संरक्षण करते हैं। यज्ञकर्ताको अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है।

मनुष्यको अपने जीवनके सर्वविध कल्याणार्थ यज्ञ-धर्मको अपनाना चाहिये। मानवका और यज्ञका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध सृष्टिके प्रारम्भकालसे ही चला आ रहा है। वस्तुतः देखा जाय तो मानव-जातिके जीवनका प्रारम्भ ही यज्ञसे होता है। इस विषयका स्पष्टीकरण गीता (३। १०-११)-में भी किया गया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

'प्रजापति (ब्रह्मा)-ने सृष्टि-रचनाके समय यज्ञके साथ मानव-जातिको उत्पन्न करके उनसे कहा—इस यज्ञके द्वारा तुम्हारी उन्नति होगी और यह यज्ञ तुम्हारे लिये मनोऽभिलषित फल देनेवाला होगा। तुम इस यज्ञके द्वारा देवताओंको संतुष्ट करो और देवता तुम लोगोंको यश, फल-प्रदानके द्वारा संतुष्ट करेंगे। इस प्रकार परस्पर तुम दोनों अत्यन्त कल्याणपदको प्राप्त करो।'

पद्मपुराणमें मानवकी उत्पत्ति ही यज्ञ-कर्मके सम्पादनके लिये बतायी गयी है—

यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार ह।
चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्॥

(सृष्टिखण्ड ३। १२३)

'हे महाभाग! ब्रह्माजीने यज्ञ-कर्मके लिये ही यज्ञके श्रेष्ठ साधन चातुर्वर्ण्यके रूपमें मानवकी रचना की।'

शुक्लयजुर्वेद (३१। ९)-में आता है कि सर्वप्रथम उत्पन्न भगवत्स्वरूप उस यज्ञसे इन्द्रादि देवताओं, सृष्टि-साधनयोग्य प्रजापति आदि साध्यों और मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने यज्ञ[1] भगवान्का यजन किया—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

शतपथब्राह्मण (११।१।८।३)-में भी उल्लेख है कि प्रजापतिने अपनी प्रतिमा (चित्र)-के रूपमें सर्वप्रथम यज्ञको उत्पन्न किया। अतः यज्ञ साक्षात् भगवान्का स्वरूप है—

अथैनमात्मनः प्रतिमामसृजत यद् यज्ञम्, तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ इत्यात्मनो ह्येनं प्रतिमामसृजत॥

यज्ञके सम्बन्धमें कहा गया है कि यज्ञ[2] ही समस्त भुवनोंका केन्द्र है और वही पृथ्वीको[3] धारण किये हुए है। यज्ञ साक्षात् भगवान्का स्वरूप ही है; जिसे विद्वान् लोग विष्णु[4], राम, कृष्ण, यज्ञपुरुष, प्रजापति, सविता, अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि नामोंसे उच्चरित करते हैं।

कर्ममीमांसाके प्रवृत्त होनेपर मानव-देह धारण करते ही द्विज ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण—इन तीन प्रकारके ऋणोंसे ऋणी बन जाता है। श्रीमद्भागवत (१०। ८४। ३९)-में आया है—

ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितॄणां प्रभो।
यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत्॥

तैत्तिरीयसंहिता (३। १०। ५)-में भी कहा गया है—

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान्[5] जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।

१- यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (शुक्लयजुर्वेद ३१। १६)।
२- (क) अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः (शुक्लयजुर्वेद २३। ११)।
(ख) यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः (अथर्ववेद ९। १०। १४)।
३- यज्ञाः पृथिवीं धारयन्ति (अथर्ववेद)।
४- एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋग्वेद १। १६४। २२)।
५- 'ब्राह्मण' यह पद द्विजातिमात्रका उपलक्षण है।

'द्विज जन्म लेते ही ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण—इन तीन प्रकारके ऋणोंसे ऋणी बन जाता है। ब्रह्मचर्यके द्वारा ऋषि-ऋणसे, यज्ञके द्वारा देव-ऋणसे और संततिके द्वारा पितृ-ऋणसे मुक्ति होती है।'

भगवान् मनुने भी '**ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य**' (मनु० ६। ३५)—इत्यादि वाक्योंद्वारा उपर्युक्त ऋणत्रयके अपाकरणको ही मनुष्यका प्रधान कर्म बतलाया है। ऋणत्रयमें 'देव-ऋण'का भी उल्लेख है। देव-ऋणसे मुक्त होनेके लिये उपर्युक्त तैत्तिरीय श्रुतिने स्पष्ट बतला दिया है कि यज्ञोंके द्वारा ही देव-ऋणसे मुक्ति होती है। वह यज्ञादि कर्म अत्यन्त पावन तथा अनुपेक्षणीय है, जैसा कि अनेक मत-मतान्तरोंका निरास करते हुए गीताके परमाचार्य स्वयं भगवान्ने सिद्धान्त उपस्थापित किया है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(१८।५)

इतना ही नहीं, जगत्-कल्याणकी मीमांसा तथा कर्तव्य-सत्पथका निश्चय करते हुए भगवान्ने गीता (३।९)-में स्पष्ट कहा है—'यज्ञिय कर्मोंके अतिरिक्त समस्त कर्म लोक-बन्धनके लिये ही हैं'—

'**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।**'

इस प्रकार अनेक श्रुति-स्मृति-ग्रन्थोंमें तथा उपनिषदोंमें यज्ञको मानवका प्रधान धर्म कहा गया है। अतः प्रत्येक द्विजको यज्ञ करते रहना चाहिये। जो लोग यज्ञके वास्तविक रहस्य और महत्त्वको न समझ कर यज्ञके प्रति श्रद्धा नहीं रखते अथवा यज्ञ नहीं करते, वे नष्ट हो जाते हैं। इस विषयमें शास्त्रोंकी आज्ञा है—

नास्त्ययज्ञस्य लोको वै नायज्ञो विन्दते शुभम्।
अयज्ञो न च पूतात्मा नश्यति छिन्नपर्णवत्॥

'यज्ञ न करनेवाले पुरुष पारलौकिक सुखोंसे तो वञ्चित रहते ही हैं, वे ऐहिक कल्याणोंकी भी प्राप्ति नहीं कर सकते। अतः यज्ञहीन प्राणी आत्मपवित्रताके अभावसे छिन्न-भिन्न पत्तोंकी तरह नष्ट हो जाते हैं।'

गीत (४।३१)-में भी भगवान्ने कहा है—

'**नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥**'

'हे अर्जुन! यज्ञ न करनेवालेको यह मृत्युलोक भी प्राप्त नहीं हो सकता, फिर दिव्यलोक (परलोक)-की तो बात ही क्या है।'

अथर्ववेद (१२।२।३७) भी कहता है—

'**अयज्ञियो हतवर्चा भवति।**'

'यज्ञहीन (यज्ञ न करनेवाले) पुरुषका तेज नष्ट हो जाता है।'

कालिकापुराणके '**सर्वं यज्ञमयं जगत्**' के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है। इस यज्ञमय जगत्में होनेवाले समस्त कर्म यज्ञमय हैं, जो सदा-सर्वदा सर्वत्र होते रहते हैं। जैसे—संध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, देवपूजन, अतिथि-सत्कार, व्रत, जप, तप, कथाश्रवण, तीर्थयात्रा, अध्ययनाध्यापन, खान-पान, शयन-जागरण आदि नित्य और उपनयन-विवाहादि संस्कार नैमित्तिक एवं पुत्रेष्टि, राज्यप्राप्ति आदि काम्य-कर्म—ये सभी व्यवहार यज्ञस्वरूप ही हैं। इतना ही नहीं, जीवन-मरणतकको यज्ञका स्वरूप दिया गया है। गीता (४।२८)-में भगवान्ने द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ तथा स्वाध्याययज्ञ आदिका उल्लेख करके इन सभीको यज्ञका ही रूप दिया है।

पुत्रवत्सला भगवती श्रुति कहती है—

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः सम्भवति॥ योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति॥

(छान्दोग्योपनिषद् ५।७।१-२, ८।१-२)

'गौतम! पुरुष ही अग्नि है, उसकी वाणी ही समिधा है, प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अंगारे हैं, कान चिनगारियाँ हैं; उसी अग्निमें देवगण अन्नका होम करते हैं, उस आहुतिसे रेतरूप शक्तिपुञ्ज उत्पन्न होता है।'

'गौतम! स्त्री ही अग्नि है, उपस्थ ही समिधा है; पुरुष जो उपमन्त्रण (रहः-संलाप) करता है वह धूम है; योनि ज्वाला है; प्रसंग अंगारे हैं और उससे जो सुख प्रतीत होता है, वह चिनगारियाँ हैं। उसी अग्निमें देवगण रेतरूप शक्तिपुञ्जका हवन करते हैं। उन आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है।'

इस प्रकार जब सांसारिक सभी चलाचल वस्तुएँ यज्ञ ही हैं, तब उन सभी यज्ञोंका अनुष्ठान सविधि और सनियम करना चाहिये, जिससे वे यज्ञ मानवमात्रके लिये कल्याणकारी बनें। जो लोग यज्ञोंके प्रति श्रद्धा नहीं रखते, वे विविध अनर्थोंके शिकार बनते हैं और ऐसे

लोगोंके लिये ही '**नास्ति यज्ञसमो रिपुः**' कहा गया है।

इस संसारमें प्राणिमात्रकी यह स्वाभाविक अभिवाञ्छा रहती है कि मैं जीवनपर्यन्त सुखी रहूँ और मुझे इस लोकमें धन-धान्य, पत्नी-पुत्र, गृह-उपवन आदि परम ऐश्वर्यपद भोगपदार्थ प्राप्त हों तथा शरीर-त्यागके अनन्तर मुझे परलोकमें सहृदय-हृदयके द्वारा परिज्ञात अनिर्वचनीय परम पुरुषार्थस्वरूप स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति हो। किंतु पूर्व पुण्यपुञ्जके प्रभावके बिना कोई भी शरीरधारी मानव ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख-विशेषकी प्राप्ति कथमपि नहीं कर सकता, यह शास्त्रोंका अटल और परम सिद्धान्त है। वह पुण्य धर्मका ही दूसरा नाम है, जो कि सत्कर्मानुष्ठानद्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईशावास्योपनिषद् २)

'शास्त्रविहित मुक्तिप्रद निष्काम यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मोंको करते हुए ही जीव इस जगत्में सौ वर्षपर्यन्त जीनेकी इच्छा करे। इस प्रकार किये जानेवाले कर्म तुझ शरीरधारी मनुष्यमें लिप्त नहीं होंगे। इससे पृथक् और कोई मार्ग नहीं है, जिससे मनुष्य कर्मसे मुक्त हो सके।'

इन प्रमाणोंद्वारा इस कर्ममय संसारमें समस्त मनुष्योंको कर्मठ बनानेके लिये, उनका कल्याण करनेके लिये गीता भी माताकी तरह अपने यज्ञप्रेमी पुत्रोंको उपदेश करती है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

(गीता ३। १४)

—इस प्रमाणसे सिद्ध है कि व्यावहारिक और पारमार्थिक सभी कार्य यज्ञादि उत्तम क्रिया-कलापके ऊपर ही निर्भर हैं।

अत्यन्त प्रबल वेगशाली विषय-जालस्वरूप भयंकर सर्पसे ग्रसित इस कराल कलिकालमें यज्ञ ही ऐसा अपूर्व पदार्थ है, जिसको प्राप्त कर अनादिकालसे तीक्ष्ण विषय-विष-वासनाओंसे व्याप्त अन्तःकरणवाले और क्लेश-कर्म-विपाकस्वरूप नाना प्रकारकी कष्टप्रद वासनाओंसे दग्ध होनेवाले एवं त्रिविध तापोंसे तप्त होनेवाले मानव स्वदुःख-निवृत्त्यर्थ अभिलाषा करते हैं। अतः अविद्यासे ग्रसित होनेके कारण घोर कष्टोंसे मुक्त होनेमें असमर्थ होते हुए भी वे यज्ञद्वारा दुस्तर संसार-सागरको भलीभाँति पार कर जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् (१। २। ७)-में यज्ञको संसार-सागरसे पार (मुक्ति) होनेके लिये 'प्लव' अर्थात् 'नौका' कहा गया है—

'**प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः**।'

अधिक क्या, जगन्नियन्ता परमेश्वर भी यज्ञस्वरूपसे ही पूर्ण प्रकाशमान होता हुआ यज्ञपरायण पुरुषोंसे पूजित होकर 'यज्ञपुरुष' पदसे व्यवहृत होता है—'**यज्ञो वै पुरुषः**' (शतपथब्राह्मण)। उस यज्ञ-शब्दकी यौगिक व्युत्पत्ति कल्पवृक्षकी तरह समस्त अभीष्टको परिपूर्ण करनेके लिये पूर्ण समर्थ है तथा किसी सर्वातिशायी विलक्षण अर्थका प्रतिपादन करनेवाली एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है।

'**यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु**' अर्थात् देवपूजा, संगतिकरण एवं दानके अर्थमें पठित '**यज**' धातुसे '**यज्ञयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्**' (३। ३। ९०)—इस पाणिनीय सूत्रद्वारा '**नङ्**' प्रत्यय करनेपर 'यज्ञ' शब्द निष्पन्न होता है। वह यज्ञ विष्णु आदि देवताओंके पूजन, ऋषि-महर्षि एवं सज्जन पुरुषोंके सत्संग और सुवर्ण-रजत आदि उत्तम द्रव्योंके प्रदानद्वारा सम्पादित होता है; उस महामहिमशाली धार्मिक यज्ञका अनुष्ठान कर्तव्यरूपसे यज्ञाधिकारी मानवको अवश्य करना चाहिये। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यज्ञोंमें इन्द्रादि देवताओंका पूजन तथा देव-सदृश ऋषि-मुनि एवं श्रेष्ठ मानवोंके सत्संगका लाभ और विविध वस्तुओंका दान होता है। अतः यज्ञोंमें होनेवाले उक्त तीन प्रकारके सत्कार्योंसे मानवोंके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—ये तीनों ताप अनायास ही समूल नष्ट हो जाते हैं—यह ध्रुव है।

हिंदू-संस्कृतिके साथ यज्ञानुष्ठानका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र है—

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥

—इसमें अग्निदेवकी स्तुति की गयी है, आठ-आठ अक्षरोंके तीन पाद अर्थात् चौबीस अक्षरोंके सुप्रसिद्ध गायत्री छन्दमें मधुच्छन्दा ऋषि स्तुति करते हैं—'मैं अग्निदेवकी स्तुति करता हूँ, याचना करता हूँ। वे पुरोहित, ऋत्विक्, यज्ञके देवता, देवताओंके आह्वाता हैं और श्रेष्ठतम रत्नोंकी खान हैं; वे हमें श्रेष्ठतम रत्नोंको प्रदान करें।' निरुक्तके अनुसार इस ऋक्की यही व्याख्या है।

इस मन्त्रमें देव और यज्ञका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

है। देव नहीं तो यज्ञ नहीं और यज्ञ नहीं तो देवाराधना नहीं; यज्ञका मुख्य उद्देश्य ही है देवाराधना। हिंदू-जीवनमें जो आदर्श संस्कार हैं, वे देव और देवाराधनासे ही निर्मित हैं। ऋषियोंने हिंदू-जीवनमें यज्ञ-विधानके द्वारा जो दिव्य भावनाकी सुर-सरिता प्रवाहित की, वह अविरत गतिसे ऋजु-वक्र-पथमें सृष्टिके आदिकालसे आजतक बहती जा रही है और उसमें अवगाहन कर इस देशके तथा विदेशोंके असंख्यों पुण्यवान् दिव्य जीवनके भागी हुए हैं, हो रहे हैं और आगे होते रहेंगे। ऋग्वेदके इस प्रथम मन्त्रमें यज्ञका उल्लेख इस बातका द्योतक है कि यज्ञका प्रसार आर्य-जीवनमें था और अग्निदेव यज्ञके देव थे, यज्ञमें ऋत्विक् और होता उपस्थित रहते थे। यज्ञानुष्ठानमें ऋग्वेद, यजुर्वेद और समावेद—वेदत्रयीका युगपत् प्रयोग होता है। अतएव यज्ञके साथ वेदोंका नीर-क्षीरवत् अटूट सम्बन्ध है।

तत्त्वत: देवता मन्त्रस्वरूप हैं। इस प्रथम ऋक्के देवता हैं अग्निदेव। अतएव यह मन्त्र अग्निस्वरूप ही है। अग्निकी रचना कौन करेगा? अग्निका आदि नहीं, अन्त नहीं। अतएव मन्त्र भी अनादि और अनन्त हैं।* इसीलिये वेदको शब्दब्रह्म कहते हैं और इसे नित्य तथा सनातन मानते हैं। यज्ञ-भावना भी नित्य और सनातन है। हिंदू-संस्कृति या सनातनधर्मका वास्तविक स्वरूप भी यही यज्ञ-भावना है। इसका किसी भी कालमें अभाव नहीं हो सकता। यज्ञ ही धर्म है और धर्मसे ही प्रजाका धारण हो रहा है। अतएव सांस्कृतिक दृष्टिसे यज्ञकी महिमा सर्वोपरि है और इसके विषयमें कुछ भी आलोचना करना सुसंगत ही है। धर्मका लक्षण करते हुए महर्षि कणाद कहते हैं—

'यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

'जिसके द्वारा अभ्युदय और नि:श्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है।' अभ्युदयका हेतु है कर्मानुष्ठान और नि:श्रेयसका हेतु है ज्ञान-साधना; अतएव कर्म और ज्ञानका समन्वय ही जीवनमें धर्मका स्वरूप है। जो लोग कर्मकी उपेक्षा करके केवल ज्ञानकी रट लगाते हैं और अपनेको श्रुतिमार्गावलम्बी कहते हैं, उनकी प्रतारणाके लिये ही मानो महर्षि जैमिनिने अपने पूर्वमीमांसादर्शनमें कर्मविषयक स्तुत्यात्मक अर्थवादकी अवतारणा करते हुए कहा है—

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।'

(जै० सू० १।२।१)

'आम्नाय अर्थात् वेद यज्ञानुष्ठानके लिये हैं; अतएव यज्ञभावनासे हीन जो विषय हैं, वे अनर्थक हैं, अधर्म ही हैं, जो धर्मके कञ्चुकमें छिपे हुए भूल-भुलैयामें फँसानेके लिये मायाजाल बिछाये हुए हैं।'

जब यज्ञ ही धर्म है, तब यज्ञस्वरूपका ज्ञान तथा उसका अनुष्ठान करना परम आवश्यक हो जाता है इस क्षणभङ्गुर मानव-जीवनकी सफलताके लिये। भगवान् वेदव्यासने जो इस विषयमें चेतावनी दी थी कि **'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः'**, उसकी सत्यताको गत सहस्त्रों वर्षोंकी हमारी पराधीनता, दु:ख-दारिद्र्य और राष्ट्रिय अपमान डंकेकी चोटपर सिद्ध कर रहे हैं। धर्मकी उपेक्षा करके ही वस्तुत: हम मारे गये, अत्यन्त अध:पतनको प्राप्त हो गये। दुर्दशाकी भी सीमा हो गयी, आज आर्य-संतान यज्ञका नामतक नहीं जानती। यज्ञिय जीवन ही हमारा स्वर्गीय जीवन है—भारतका स्वर्णयुग है।

सबसे पहले प्रश्न यह होता है कि यज्ञ किसे कहते हैं? महर्षि कात्यायन अपने सूत्रोंमें **'अथ यज्ञं व्याख्यास्यामः'** इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए यज्ञकी परिभाषा करते हैं—

'द्रव्यदेवतात्यागः।'

'द्रव्य, देवता और त्याग—ये तीन यज्ञके लक्षण हैं।' स्मार्तोल्लास नामक ग्रन्थमें द्रव्य कौनसे पदार्थ हैं, इसका उल्लेख करते हुए लिखा गया है—

तैलं दधि पयः सोमो यवागूरोदनं घृतम्।
तण्डुलाः फलमापश्च दश द्रव्याण्यकामतः॥

सामान्यत: तेल, दही, दूध, सोमलता, यवागू (चावल या जौकी लपसी), भात, घी, कच्चे चावल, फल और जल—ये दस द्रव्य ही वैदिक यज्ञोंमें देवताओंके प्रीत्यर्थ

---

*यहाँ प्रश्न हो सकता है कि मन्त्रोंको कार्यरूपमें देखकर 'यद्यत्कार्यं तत्तत्कारणपूर्वकम्'—इस न्यायके अनुसार उन्हें नित्य नहीं माना जा सकता। इसका उत्तर यह है कि 'मन्त्र कार्य नहीं हैं, वे नित्य हैं और वाणीके रूपमें उनकी अभिव्यक्ति होती है ऋषियोंके अन्त:करणमें। ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहलाते हैं, मन्त्र-रचयिता नहीं। स्वयं ऋचा कहती है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् (ऋक्० १०।७१।३)।

—अर्थात् यज्ञके द्वारा ऋषियोंके अन्त:करणमें प्रविष्ट होकर मन्त्र वाणीरूपको प्राप्त होते हैं। यास्काचार्य कहते हैं—

एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति (निरुक्त ७।१।३)।

यज्ञोंमें तत्तद् वस्तुको अभिप्रेत करके ऋषियोंको मन्त्रदृष्टि प्राप्त होती है अर्थात् ऋषियोंके पुनीत अन्त:करणमें देवस्वरूप मन्त्रोंका दर्शन होता है।

त्यागनेमें आते हैं। देवता आधिदैविक आदि शक्तियोंसे सम्पन्न होते हैं, जो यज्ञको सर्वथा व्याप्त करके मन्त्ररूपमें अभिव्यक्त होते हैं। निरुक्तकार कहते हैं—

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते। तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। (निरुक्त ७। १। १)

'जिस कामनासे ऋषि जिस देवताके प्रति अपने प्रयोजनकी सफलताकी इच्छा करते हुए स्तुतिका प्रयोग करते हैं, उसी देवताका स्वरूप वह मन्त्र होता है।'

इस प्रकार नाना प्रकारके अभिप्रायोंके साथ ऋषिकी मन्त्र-दृष्टि भी नाना प्रकारकी होती है। मन्त्रोंमें जो स्थान-स्थानपर रथ, आयुध, अश्व, इषु आदिका उल्लेख आता है, वे सब पदार्थ देवताओंके स्वरूपभूत ही हैं, उनसे पृथक् नहीं। अतएव आपाततः पदार्थान्तरको देखकर मन्त्रोंके विषयमें अन्यथा सोचना ठीक नहीं। यास्काचार्य इसी कारण कहते हैं—

आत्मैवैषां रथो भवत्यात्मा अश्व आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य॥ (निरुक्त ७। १। ४)

देवताके स्वरूपके विषयमें शंकाएँ की जाती हैं कि वह निराकार है या साकार, जड़ है या चेतन? परंतु ये द्वन्द्वात्मक विकल्प आधिभौतिक सृष्टिमें होते हैं। आधिदैविक लोककी विभूतियोंके विषयमें ये प्रश्न नहीं उठते। देवता यह सब कुछ हैं, या कुछ नहीं हैं—अथवा इस 'हैं-नहीं' से परे कुछ और हैं। जो हो, उपासकके लिये तो मन्त्ररूपमें ही वे सब कुछ प्रदान करते हैं। यज्ञ एक विधान है, जिसके द्वारा देवताओंको तृप्त कर यजमान अपने अभिलषित आनन्दको प्राप्त करता है। स्वर्गलोककी प्राप्ति यज्ञानुष्ठानका एक मुख्य उद्देश्य होता है। यह स्वर्ग है क्या?

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्॥

'जिसमें दुःखका सम्पर्क नहीं, उपभोगके पश्चात् जो दुःखग्रस्त नहीं होता तथा इच्छामात्रसे बिना प्रयत्न किये जो प्राप्त होता है, इस प्रकारका सुख स्वर्ग कहलाता है।'

स्वर्गके उच्चावच अनेक भेद हैं। वेदोंमें असंख्य प्रकारके यज्ञोंका विधान है; परंतु यज्ञ मुख्यतः पाँच प्रकारके होते हैं—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग। इसके अतिरिक्त अवान्तर भेद बहुत होते हैं—जैसे सोमयागके भेदोंमें अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध, एकाह और अहीनयाग। दो दिनसे लेकर एकादश रात्रिपर्यन्त अहीयाग होते हैं, साथ ही त्रयोदश रात्रियोंसे लेकर सहस्रों संवत्सरपर्यन्त असंख्य प्रकारके याग होते हैं, जो सत्र कहलाते हैं। गौतम-धर्मसूत्रमें कहा गया है—

औपासनहोमः, वैश्वदेवः, पार्वणः, अष्टका, मासिश्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव इति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः; अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयो बहिर्होमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः; अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः, आप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः।

—इस प्रकार प्रथम पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ-भेदसे तीन प्रकार दिखलाकर प्रत्येकके सात-सात भेद करके २१ प्रकारके यागोंका उल्लेख किया है। वस्तुतः यज्ञयुगका काल इतना विस्तृत है कि आज हमारे सामने कोई ऐसा साधन नहीं कि उसकी गणनाकी चेष्टा करें। हिंदू-शास्त्रोंकी दृष्टिसे यह युग कोटि-कोटि वर्षोंतक व्याप्त रहा है, यज्ञोंके असंख्य भेद भी इस बातको प्रमाणित करते हैं।

प्रारम्भमें मुख्यतः वैदिक यज्ञोंके उपर्युक्त अग्निहोत्रादि पाँच ही भेद थे। यजुर्वेदका पहला मन्त्र '**इषे त्वोर्जे त्वा०**'- का विनियोग दर्शपौर्णमास-यज्ञके पलाश-शाखा-छेदन-विधिमें होता है और पहले तथा दूसरे अध्यायके सारे मन्त्र दर्शपौर्णमास यज्ञकी विधियोंमें ही विनियुक्त होते हैं; अतएव यहाँ सर्वप्रथम दर्शपूर्णमास-यज्ञकी विधिके ऊपर एक संक्षिप्त दृष्टि दी जाती है।

दर्शपौर्णमास-यज्ञ—

प्रत्येक अमावास्या और पूर्णिमाको अनुष्ठित होनेके कारण इस यज्ञका नाम 'दर्शपौर्णमास' पड़ा। प्रकृतिरूपमें होनेके कारण इसी यज्ञका पहले विधान हुआ है। प्रकृतिसे तात्पर्य यहाँ उस यागसे है, जो अनुष्ठानके समय अन्य यागोंकी अपेक्षा न रखता हो। दर्शपूर्णमासमें अन्य किसी यागकी विधि प्रयुक्त नहीं होती, परंतु अन्य याग दर्शपौर्णमास-विधिसे उपकृत होते हैं; अतएव यजुर्वेदमें पहले इसी यागके मन्त्रोंका विधान है।

इस यागमें पहले व्रतोपायन-विधि अर्थात् उपवास करके यजमान और उसकी पत्नीको संयमपूर्वक रात्रि व्यतीत करनी पड़ती है; शतपथब्राह्मणके प्रारम्भमें इस व्रतोपायन-विधिका उल्लेख आता है। दूसरे दिन यज्ञका सर्वाङ्ग अनुष्ठान किया जाता है। अमावास्याके दिन

अग्निदेवताके लिये पुरोडाश, इन्द्र-देवताके लिये दधिद्रव्य तथा पयोद्रव्यके त्यागरूपमें तीन याग होते हैं। पूर्णिमाको पहला अग्निदेवता-सम्बन्धी अष्टकपालवाला पुरोडाश याग, दूसरा अग्नि और सोम-देवतासम्बन्धी आज्यद्रव्यवाला उपांशु याग और तीसरा अग्नि और सोम-देवतासम्बन्धी एकादश कपालवाला पुरोडाश याग होता है। इस प्रकार दर्शपौर्णमास-यज्ञमें कुल छः याग होते हैं। इसके अनुष्ठानकी विधि इस प्रकार है—

१-अग्नि-उद्धरण—जिसमें गार्हपत्य-अग्निसे आहवनीय और दक्षिणाग्निको पृथक् किया जाता है।

२-अग्नि-अन्वाधान—जिसमें तीनों अग्नियोंमें छः-छः समिधाओंका दान किया जाता है।

३-ब्रह्मवरण—जिसमें यजमान ऋत्विक्को वरण करता है।

४-प्रणीता-प्रणयन—जिसमें चमसमें जल भरकर उसको निर्दिष्ट स्थानमें रखते हैं।

५-परिस्तरण—अग्निके चतुर्दिक् कुशका आच्छादन करना।

६-पात्रासादन—यज्ञिय पात्रोंको यथास्थान रखना।

७-शूर्पाग्निहोत्रहवणीका प्रतपन।

८-शकटसे हवि ग्रहण करना।

९-पवित्रीकरण।

१०-पात्रहविः-प्रोक्षण—हविष्य एवं पात्रोंका प्रमार्जन करना।

११-फलीकरण—जिसमें तण्डुलमेंसे कणोंको दूरकर उसका शोधन किया जाता है।

१२-कपालोपधान—दो अंगुल ऊँचे किनारेवाले मिट्टीके पात्र कपाल कहलाते हैं, उनको यथास्थान रखना।

१३-उपसर्जनीका अधिश्रयण—पिष्ट-संयवनके लिये तप्त जलको उपसर्जनी कहते हैं, उसको नीचे रखना।

१४-वेदिकरण।

१५-स्तम्ब-यजुःहरण—मन्त्रसे दर्भको छिन्न करके रखना।

१६-स्रुवा, जुहू, उपभृत् और ध्रुवा आदि काष्ठनिर्मित यज्ञपात्रोंका सम्मार्जन।

१७-पत्नीसन्नहन—मुञ्जकी रज्जुसे पत्नीकी करधनी बनाना।

१८-इध्म, वेदी और बर्हिकाका प्रोक्षण।

१९-प्रस्तर-ग्रहण—यहाँ कुशमुष्टिको प्रस्तर कहते हैं।

२०-वेदिका-स्तरण—वेदीपर कुशाच्छादन करना।

२१-परिधि-परिधान—वेदीके चारों ओर परिधि बनाना।

२२-इध्मका आधान।

२३-विधृति-स्थापन।

२४-जुहू आदिको वेदीपर रखना।

२५-पञ्चदश-सामिधेनी अनुवचन।

२६-अग्निसम्मार्जन।

२७-आधार अर्थात् वह्निके एक छोरसे दूसरे छोरतक आज्यकी धार प्रक्षेप करना।

२८-होतृ-वरण।

२९-पञ्च प्रयाज—(पाँच प्रकृष्ट याग।)

३०-आज्यभाग—(अग्नि और सोमदेवताके निमित्त।)

३१-प्रधान याग—फलके उद्देश्यसे विहित देवता ही प्रधान देवता होते हैं, उनके निमित्त किया जानेवाला याग।

३२-स्विष्टकृत्—(प्रधान यागको शोभन बनानेवाली याग-विधि।)

३३-प्राशित्रावदान—(ब्रह्माका भाग प्राशित्र होता है, उसका ग्रहण।)

३४-इडावदान आदि।

३५-अन्वाहार्य-दक्षिणा—(ऋत्विक्का भोज्य ओदन अन्वाहार्य कहलाता है।)

३६-तीन अनुयाज—(अनुयाज अर्थात् पीछे किये जानेवाले याग।)

३७-व्यूहन अर्थात् जुहू आदि पात्रोंको हटाना।

३८-सूक्तवाक—स्तुतिविशेष।

३९-शंयुवाक—स्तुतिविशेष।

४०-पत्नी-संयाज—(पत्नी-देवताके निमित्त चार याग।)

४१-दक्षिणाग्नि-होम।

४२-बर्हि-होम।

४३-प्रणीता-विमोक।

४४-विष्णु-क्रम।

४५-व्रत-विसर्ग।

४६-ब्राह्मण-तर्पण।

इस प्रकार मन्त्रसहित प्रधान विधियोंके द्वारा दर्शपौर्णमास-याग समाप्त होता है। यदि आज हम अध्यात्मसाधनके द्वारा अपवर्गको प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं तो कोई कारण नहीं कि यज्ञानुष्ठानोंके द्वारा स्वर्गप्राप्तिकी चेष्टा भी नहीं की जाय। आज यदि कुछ सम्पन्न भारतीय

जन दर्शपौर्णमास-यज्ञके अनुष्ठानमें रत हों तो हमारे देश तथा समाजमें देवत्वकी प्रतिष्ठा होगी और संस्कृतिकी रक्षाके साथ-साथ हम इहलोक एवं परलोकको उज्ज्वल बना सकेंगे। यज्ञानुष्ठानके द्वारा स्वर्गको प्राप्त हुआ एक याज्ञिक कहता है—

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥

(ऋक्० ८।४८।३)

'मैंने सोमपान किया, अमृत हो गया, स्वर्गलोकमें आया, देवताओंको जान लिया। अब शत्रु मेरा क्या करेंगे और मुझ अमरलोकको प्राप्त व्यक्तिके लिये जरा क्या कर सकती है।'

स्वर्गलोकमें कोई भय नहीं, इच्छा करते ही सब सुखोपभोग प्राप्त हो जाते हैं, इच्छामात्रसे सारे पितर अथवा प्रियजन उपस्थित होते हैं और उनके साथ स्वर्गीय सुखोंका उपभोग मिलता है, सदा नवयौवनका आनन्द रहता है। रोग-शोकका कहीं नाम नहीं रहता।

यज्ञस्थली आधिभौतिक लोकके मध्य एक आधिदैविक द्वीपके समान होती है। यज्ञकी वेदी, समिधा, हवि, दर्भ, यज्ञके पात्र तथा अन्यान्य यज्ञाङ्गभूत उपकरण—सब-के-सब अभिमन्त्रित होनेके कारण देवत्वमय हो जाते हैं। इस दिव्य परिस्थितिके मध्यमें बैठे हुए यजमान, उसकी पत्नी तथा विभिन्न ऋत्विक् भी देवत्वमय हो जाते हैं। व्रतके प्रारम्भमें यजमान अग्निकी ओर देखकर व्रत ग्रहण करता है—

ॐ अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥

'हे व्रतपते अग्निदेव! मैं व्रतका आचरण करूँगा, मुझे इस प्रकार प्रेरित कीजिये कि मैं उसमें समर्थ हो सकूँ। अब मैं अनृत अर्थात् मनुष्यत्वसे सत्य अर्थात् देवत्वको प्राप्त हो रहा हूँ।' **'देवो भूत्वा देवं यजेत्'**— इस न्यायके अनुसार अनुष्ठानमें लगनेपर मनुष्यको देवत्वमें परिणत होना पड़ता है। इस प्रकार दैवी कर्मानुष्ठानके परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त होता है। नास्तिक लोग शंका करते हैं कि यज्ञका फल यदि स्वर्ग है तो यज्ञोपरान्त तुरंत स्वर्गकी प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती? उत्तर यह है कि कर्म करनेके बाद उसका अदृष्ट बनता है अर्थात् कर्मकी सूक्ष्म शक्ति अदृष्टरूपमें परिणत होती है और जब कर्मफल परिपाकको प्राप्त होता है, तब वही अदृष्ट स्वर्ग प्रदानका हेतु बनता है। यज्ञानुष्ठानरूप दिव्य कर्मोंके फलस्वरूप दिव्य लोककी प्राप्ति युक्तिसंगत ही है।

वस्तुतः जिस अन्तर्वेदीय सदनुष्ठानद्वारा इन्द्रादिदेवगण प्रसन्न हों, स्वर्गादिकी प्राप्ति सुलभ हो, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विपत्तियाँ दूर हों और सम्पूर्ण संसारका कल्याण हो, वह अनुष्ठान 'यज्ञ' कहलाता है। मत्स्यपुराणमें यज्ञका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते॥

'जिस कर्मविशेषमें देवता, हवनीयद्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विक् एवं दक्षिणा—इन पाँच उपादानोंका संयोग हो उसे यज्ञ कहा जाता है।'

दर्शपूर्णमासके अतिरिक्त वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों तथा आश्वलायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ और पारस्कर आदि सूत्र-ग्रन्थोंमें यज्ञके अनेक भेद-प्रभेद बताये गये हैं, परंतु मुख्यरूपसे इनका समाहार उपर्युक्त कथित तीन प्रकारकी संस्थाओं— हविर्यज्ञ-संस्था, सोमयज्ञ-संस्था और पाकयज्ञ-संस्थाके अन्तर्गत हो जाता है; फिर एक-एकमें सात-सात यज्ञ सम्मिलित हैं। संक्षेपमें इनका परिचय इस प्रकार है—

१-हविर्यज्ञ-संस्था—मुख्य हविर्यज्ञके रूपमें सात यज्ञ-प्रकारोंका उल्लेख मिलता है, इनमेंसे एक-एक यज्ञके कई-कई भेद बतलाये गये हैं। पहला यज्ञ 'अग्न्याधेय' है, जिसे ब्राह्मण वसन्त-ऋतुमें, क्षत्रिय ग्रीष्म-ऋतुमें, वैश्य वर्षा-ऋतुमें तथा कृत्तिका, रोहिणी आदि नक्षत्रोंमें प्रारम्भ करते हैं। इस यज्ञमें कई इष्टियाँ होती हैं और यह तेरह रात्रियोंतक चलता है। घृत तथा दुग्धके द्वारा प्रतिदिनके किये जानेवाले हवनको 'अग्निहोत्र' कहा जाता है। इसीका एक भेद पिण्ड-पितृ-यज्ञ भी है। जिसका सम्पूर्ण विधान श्राद्धके समान होता है। इस क्रममें तीसरे मुख्य हविर्यज्ञके रूपमें '**दर्शपौर्णमास**'का उल्लेख मिलता है। जिसका विस्तृत विवेचन ऊपर किया जा चुका है। हविर्यज्ञका चौथा भेद 'आग्रायण' है, इसमें साँवाँ नामक धान्यविशेषसे चरु बनाकर चन्द्रमाको आहुतियाँ दी जाती हैं। आयुष्यकामेष्टि, पुत्रकामेष्टि और मित्रविन्दा आदि इसीके भेद हैं।

इसी प्रकार वैश्वानरी, कारीरि, पवित्री, व्रात्यपती आदि अनेक इष्टियाँ हैं, जिनके लिये पुराणोंमें कहा गया है कि उन्हें विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न करनेसे कर्ताकी

दस पीढ़ियोंका उद्धार हो जाता है। पाँचवाँ हविर्यज्ञ 'चातुर्मास्य' है, जो चार-चार मासोंमें अनुष्ठेय है। इसके चार भेदोंका उल्लेख मिलता है, जो वैश्वदेवीय, वरुण-प्रघास, साकमेध और शुनासीरीयके नामसे जाने जाते हैं। छठा हविर्यज्ञ 'निरूढपशुबन्ध' है। यह प्रतिवत्सर वर्षा-ऋतुमें किया जाता है। इसमें इन्द्र और अग्निके नामसे हवन होता है। यह पशुयाग कहलाता है। हविर्यज्ञका सातवाँ अन्तिम प्रकार 'सौत्रामणि' है। यह भी पशुयागके अन्तर्गत ही है। इसके विषयमें भागवतमें कई निर्देश दिये गये हैं। विस्तार-भयके कारण यहाँ हविर्यज्ञोंको मात्र संक्षिप्त रूपोंमें संकेतित किया गया है। विस्तृत जानकारीके लिये धर्मसूत्रों एवं ब्राह्मण-ग्रन्थोंका अवलोकन करना समीचीन होगा।

२-सोमयज्ञ-संस्था—यह आर्योंका अत्यन्त प्रसिद्ध याग रहा है। इसे कालावधिके आधारपर एकाह, अहीन और सम—इन तीन रूपोंमें देखा गया है। अग्निमें सोमलताके रसकी आहुति देनेके कारण यह सोमयाग कहलाता है। सोमयज्ञ-संस्थाके अन्तर्गत १६ ऋत्विजोंका उल्लेख आश्वलायन श्रौतसूत्र (४—१६)-में इस प्रकार मिलता है—होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत्, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता, ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंशी, आग्नीध्र, पोता, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य एवं १७ वाँ यजमान व्यक्ति।

सोमयज्ञ-संस्थाके मुख्य सात प्रकारोंमें अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्यामकी गणना होती है। इनके अन्य बहुत-से उपभेद भी हैं, जिनमेंसे एक मासकी अवधितक चलनेवाले यज्ञ उशनस्तोम, गोस्तोम, भूमिस्तोम, वनस्पतिसव, बृहस्पतिसव, गौतमस्तोम, उपहव्य, चान्द्रमसी इष्टि एवं सौरी इष्टि आदि हैं। सूर्यस्तुत यज्ञ और विश्वस्तुत यज्ञ यशकी कामनासे, गोसव और पञ्चशारदीय पशुओंकी कामनासे तथा वाजपेय यज्ञ आधिपत्यकी कामनासे किया जाता है। इनमें वाजपेय यज्ञ महत्त्वपूर्ण है। इस यज्ञकी १७ दीक्षाएँ होती हैं। यह उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रयुक्त पूर्णिमा तिथिको आरम्भ होता है। इस यज्ञको सम्पादित करनेसे राजा सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है, ऐसा पुराणोंमें कहा गया है। पाण्डुके पुत्र धर्मात्मा युधिष्ठिरने राजसूययज्ञ किया था, जिसका विस्तृत वर्णन भागवतपुराणके दशम स्कन्ध तथा अन्य पुराणों एवं महाभारतादि ग्रन्थोंमें भी प्राप्त होता है। पुराणोंमें विश्वजित् यज्ञको सारी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला बताया गया है। इसे सूर्यवंशी राजा रघुने किया था। पद्मपुराणमें विस्तारके साथ यह घटना आती है। इसी प्रकार ज्योति नामका एकाह यज्ञ ऋद्धिकी कामनासे किया जाता है। भ्रातृत्वभावकी प्राप्तिके लिये विषुवत् सोम नामक यज्ञ, स्वर्गकामनासे आङ्गिरस यज्ञ, आयुकी कामनासे आयुर्यज्ञ और पुष्टिकी इच्छासे जामदग्न्य यज्ञका अनुष्ठान किया जाता है। यह ४ दिनोंतक चलता है।

शरद्-ऋतुमें ५-५ दिनोंके सार्वसेन, दैव, पञ्चशारदीय व्रतबन्ध और वावर नामक यज्ञ किये जाते हैं। जिनसे क्रमशः सेना-पशु, बन्धु-बान्धव, आयु एवं वाक्-शक्तिकी वृद्धि होती है। ६ दिनतक चलनेवाले यज्ञोंमें विशेषरूपसे पृष्ठ्यावलम्ब और अभ्यासक्त आदि उत्तम हैं। अन्नादिकी कामनासे अनुष्ठेय सप्तरात्र यज्ञोंमें ऋषि-सप्तरात्र, प्राजापत्य, पवमानव्रत और जामदग्न्य आदि प्रधान हैं। जनकसप्तरात्र यज्ञ ऋद्धिकी कामनासे किया जाता है। अष्टरात्रोंमें महाव्रत ही मुख्य है। नवरात्रोंमें पृष्ठ्य और त्रिकटुककी गणना होती है। दशरात्रोंमें आठ यज्ञ करणीय माने गये हैं, जिनमें अध्यर्ध,चतुष्टोम, त्रिककुप्, कुसुरुबिन्दु आदि मुख्य हैं। ऋद्धिकी कामनासे किया जानेवाला पुण्डरीक यज्ञ दो प्रकारका होता है। यह नवरात्र एवं दशरात्र दोनों ही प्रकारका होता है। मत्स्यपुराणके अ० ५३ के २५ से २७ तकके श्लोकोंमें, कार्तिक पूर्णिमाकी तिथिमें मार्कण्डेयपुराणको दान करनेसे इस यज्ञके फलको प्राप्त करनेकी बात कही गयी है।

द्वादशाह यज्ञोंमें भरत-द्वादशाह मुख्य हैं; वैसे सामान्यरूपसे द्वादशाह यज्ञ ४ बताये गये हैं, जो पृथक्-पृथक् संस्थाओंमें प्रयुक्त होते हैं। जो सभी कामनाओंको प्राप्त करके विश्वजयी होना चाहता है, उसे अश्वमेधयज्ञ करना चाहिये, जो सभी यज्ञोंका राजा है। श्रौतसूत्रोंमें शताधिक पृष्ठोंमें इसके विधानका वर्णन है। एक वर्षतक चलनेवाले इस यज्ञमें एक यज्ञिय अश्व छोड़ा जाता है और उसके पीछे राजाकी सेना चलती है। वह जबतक लौटकर वापस नहीं आता, तबतक पारिप्लव आख्यान चलते हैं। इस क्रममें दस-दस दिनोंपर पहले दिन ऋग्वेद एवं वैवस्वत मनुका आख्यान, दूसरे दिन यजुर्वेद और पितरोंका आख्यान, तीसरे दिन अथर्ववेद और वरुणादित्यका पौराणिक आख्यान, चौथे दिन आङ्गिरस (अथर्वण) वेद एवं विष्णु और चन्द्रमाका आख्यान, पाँचवें दिन भिषग्वेद और कद्रू-विनताका आख्यान, छठे-सातवें दिन असुरोंका आख्यान और आठवें दिन

मत्स्यपुराणका आख्यान तथा कई पुराणोंका पाठ होता है।

इसी प्रकार दस-दस दिनोंपर उसी क्रमसे पाठ चलते हुए ३६० दिनोंके बाद दीक्षा होती है। इस तरहसे उसके बाद भी कई मासतक यह यज्ञ चलता रहता है। पुराणोंके अनुसार महाराज दशरथने राम आदिके जन्मकी कामनासे प्रायः तीन वर्षोंतक यह यज्ञ किया था, जिसमें इस यज्ञके अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण यज्ञोंको भी क्रमशः सम्पादित किया गया था।

३-पाकयज्ञ-संस्था—पाकयज्ञके अन्तर्गत सप्तसंस्थाओंका उल्लेख मिलता है। जो क्रमशः अष्टका, पार्वणश्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री एवं आश्वयुजीके नामसे जानी जाती हैं। पाकयज्ञ-संस्थाओंमें पहला अष्टकाश्राद्ध है। कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष तथा माघ—इन चार मासोंके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथियाँ अष्टका कही जाती हैं। पर अष्टकाश्राद्ध मार्गशीर्ष, पौष और माघ—इन तीन मासोंकी कृष्णाष्टमियोंपर ही सम्पन्न होता है। इनमें पितरोंका श्राद्ध करनेका बहुत बड़ा माहात्म्य है। इसमें स्थालीपाक, आज्याहुतिपूर्वक पितरोंके श्राद्ध होते हैं।

पर्व-पर्वपर या पितरोंकी निधन-तिथिपर और महीने-महीनेपर होनेवाले श्राद्ध पार्वण कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त एकोद्दिष्ट, आभ्युदयिक आदि श्राद्ध भी होते हैं, जिन्हें पाक-यज्ञोंमें गिना गया है। श्रावणी पूर्णिमाको होनेवाले सर्पबलि, गृह्यकर्म और वैदिक क्रियाओंको रक्षाबन्धनसहित श्रावणी कर्ममें गिना गया है, इन्हें चौथा पाकयज्ञ कहा गया है। पारस्कर गृह्यसूत्रके तृतीय काण्डकी द्वितीय कण्डिकाके अनुसार आग्रहायणी कर्म पाँचवीं पाकयज्ञ-संस्था है। उसमें सर्पबलि, स्थालीपाकपूर्वक श्रावणीके समान ही आज्याहुति और स्विष्टकृत्-हवन एवं भूशयनका कार्य होता है। चैत्रीमें शूलगव-कर्म (वृषोत्सर्ग) किया जाता है। पारस्कर गृह्य-सूत्रके तृतीय काण्डकी आठवीं कण्डिकाके अनुसार शूलगवयज्ञ स्वर्ग, पुत्र, धन, पशु, यश एवं आयु प्रदान करनेवाला है। इसमें पशुपति रुद्रके लिये वृषभ (साँड़) छोड़े जानेका आदेश है। इसी दिन स्थालीपाकपूर्वक विधिवत् हवन भी किया जाता है।

सातवीं पाकयज्ञ-संस्था आश्वयुजी कर्म है। इसका वर्णन पारस्कर गृह्यसूत्रके द्वितीय काण्डकी १६ वीं कण्डिकामें विस्तारके साथ हुआ है। इसका पूरा नाम पृषातकयज्ञ है। इसमें ऐन्द्रिय हविष्यका दधि-मधुसे सम्मिश्रण कर इन्द्र, इन्द्राणी तथा अश्विनीकुमारोंके नामसे आश्विन-पूर्णिमाको हवन किया जाता है। उस दिन गायों और बछड़ोंको विशेषरूपसे एक साथ ही रखा जाता है। ब्राह्मणोंको भोजन करा देनेके उपरान्त इस कर्मकी समाप्ति होती है।

यद्यपि साधन-सम्पन्न व्यक्ति इन्हें अब भी करते हैं, परंतु वर्तमानमें इनमेंसे कुछ बड़े-बड़े यज्ञोंका सम्पादन सर्वसामान्यके लिये सम्भव नहीं है। साथ ही कलियुगमें अश्वमेधादि कुछ यज्ञोंका निषेध भी है। वर्तमानमें रुद्रयाग, महारुद्रयाग, अतिरुद्रयाग, विष्णुयाग, सूर्ययाग, गणेशयाग, लक्ष्मीयाग, शतचण्डीयाग, सहस्रचण्डीयाग, लक्षचण्डीयाग, महाशान्तियाग, कोटिहोम, भागवतसप्ताह-यज्ञ आदि विशेष प्रचलित हैं।

ये यज्ञ सकाम भी किये जाते हैं और निष्काम भी। अग्नि, भविष्य, मत्स्य आदि पुराणोंमें जो यज्ञों तथा उनकी विधि आदिका विस्तृत तथा स्पष्ट विवरण मिलता है, वह वेद और कल्पसूत्रों (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र आदि)-पर आधृत है। अनेक राजाओंके चरित्र-वर्णनमें विविध यज्ञानुष्ठानोंके सुन्दर आख्यान-उपाख्यान भी पुराणोंमें उपलब्ध होते हैं। इन यज्ञोंसे परमपुरुष नारायणकी ही आराधना होती है। श्रीमद्भागवत (४। १४। १८-१९)-में स्पष्ट वर्णित है—

यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः॥
तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावनः।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने॥

'जिसके राज्य अथवा नगरमें वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करनेवाले पुरुष स्वधर्म-पालनके द्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करते हैं, हे महाभाग! भगवान् अपनी वेद-शास्त्ररूपी आज्ञाका पालन करनेवाले उस राजासे प्रसन्न रहते हैं, क्योंकि वे ही सारे विश्वकी आत्मा तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके रक्षक हैं।' पद्मपुराणके सृष्टिखण्ड (३। १२४)-में स्पष्ट कहा गया है कि—'यज्ञसे देवताओंका आप्यायन अथवा पोषण होता है। यज्ञद्वारा वृष्टि होनेसे मनुष्योंका पालन होता है, इस प्रकार संसारका पालन-पोषण करनेके कारण ही यज्ञ कल्याणके हेतु कहे गये हैं'—

यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवाः।
आप्यायनं वै कुर्वन्ति यज्ञाः कल्याणहेतवः॥

सभी वेदों-पुराणोंने यज्ञोंके यथासम्भव सम्पादनपर अत्यधिक बल दिया है। यज्ञोंका फल केवल ऐहलौकिक ही नहीं, अपितु पारलौकिक भी है। इनके अनुष्ठानसे

देवों, ऋषियों, दैत्यों, नागों, किन्नरों, मनुष्यों तथा सभीको अपने अभीष्ट कामनाओंकी प्राप्ति ही नहीं हुई है, प्रत्युत उनका सर्वाङ्गीण अभ्युदय भी हुआ है। अतः इनका सम्पादन अवश्यकरणीय है।

यज्ञसे देवताओंकी तृप्ति

आये दिन एक विचारकी एकदेशी लहर उठ पड़ी है, लोग समझने लगे हैं कि यज्ञ केवल वायु-शुद्धिके लिये किया जाता है, इसके अतिरिक्त इसका और कोई प्रयोजन नहीं है; किंतु इस पक्षमें तथ्यका सर्वथा हाथ नहीं है। यज्ञका वायुशुद्धिमात्र प्रयोजन नहीं है, उसे तो नान्तरीयक भी माना जा सकता है। यज्ञका आत्यन्तिक प्रयोजन है यज्ञकर्ताका देवताओंके साथ परस्पर-भावन। शास्त्रोंमें बड़े खुले शब्दोंसे इस बातकी पुष्टि की गयी है।

ऋग्वेदमें यजमान अग्निसे प्रार्थना करता है कि वे उसके हविको देवतातक पहुँचा दें—

'आग्ने वह हविरद्याय देवान्।'

(७। ११। ५)

अग्निमें जब उन-उन देवताओंको उद्देश्य कर मन्त्रोच्चारणपूर्वक द्रव्यका त्याग किया जाता है, तब अग्निके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे उन-उन देवताओंतक उस-उस द्रव्यको पहुँचा दें, जिससे कि उनकी तृप्ति हो जाय। इसीलिये वेदने अग्निके लिये 'देवदूत' और 'देवमुख'-जैसे शब्दोंका प्रयोग किया है—

'अग्निर्हि देवतानां मुखम्।'

(शतपथब्राह्मण ३। ७। २। ६)

इसीलिये होमके समय यह आवश्यक हो जाता है कि जिस देवताके लिये द्रव्य-त्याग किया जा रहा है, उस देवताका उस समय ध्यान अवश्य कर लिया जाय— **'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्। तां मनसा ध्यायेत्'**……।'

(निरुक्त ८। ३। २२)

यही कारण है कि देवताओंमें हविके लिये काफी उत्सुकता बनी रहती है और जो लोग ऐसा नहीं कर पाते उनपर उनकी कठोर दृष्टि बन जाती है।

यद्यपि देवता समर्थ हैं, पर प्रशास्ताका कुछ प्रशासन ही ऐसा है कि इस दीनवृत्ति (यज्ञवृत्ति)-का आश्रयण उन्हें करना ही पड़ता है, जीवन-निर्वाहके लिये यजमानकी बाट देखनी ही पड़ती है—

'तथा च यजमानं देवा ईश्वराः सन्तो जीवनार्थेऽनुगताः, चरुपुरोडाशाद्युपजीवनप्रयोजनेन, अन्यथापि जीवितुमुत्सहन्तः कृपणां दीनां वृत्तिमाश्रित्य स्थिताः, तच्च प्रशास्तुः प्रशासनात् स्यात्।'

(बृ० उ० भा० ३। ८। ९)

मनुष्योंको तो पग-पगपर दैवी सहायताकी आवश्यकता पड़ती है, इसलिये इन्हें तो उधर मुड़ना ही पड़ता है, किंतु देवताओंको भी हविके लिये मनुष्योंकी ओर उन्मुख होना पड़ता है और इस तरह दोनोंका परस्पर-भावन बड़ा दृढमूल हो गया है।

उपर्युक्त प्रमाणोंसे परस्पर-भावनपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसी सत्यसे प्रेरित होकर महर्षि सायणाचार्यने भी बड़ी दृढ़तासे कहा है—

'तस्मान्मनुष्याणां क्रयविक्रयाविव यजमानदेवतयोर्यागतत्फले विश्रम्भेण व्यवहर्तुं शक्यते।'

(तै० सं० का० १ प्रपा० १ अनु० १)

वेदका दूसरा मन्त्र बहुत स्पष्ट एवं निर्धारणात्मक शब्दोंमें बतलाया है कि देवता प्रथम तृप्त होते हैं, फिर यजमानको तृप्त करते हैं—

'तृप्त एव एनमिन्द्रः प्रजया पशुभिश्च तर्पयति।'

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञका केवल अधिभूत ही प्रयोजन नहीं है, उसका वास्तविक प्रयोजन तो आधिदैविक है।

अतएव ऋग्वेद (१०। ९०। १६) एवं यजुर्वेद (३१। १६)-में समवेतरूपसे उद्घोषणा की गयी—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

अर्थात् देवोंने यज्ञपुरुषके साधनसे जो यज्ञका कार्य करना प्रारम्भ किया, वे प्रारम्भसे धर्मश्रेष्ठ थे। ऐसा धर्मयज्ञका आचरण करनेवाले धार्मिक लोग—जहाँ पूर्वसमयके साधनसम्पन्न यज्ञ करनेवाले लोग रहते थे—वे ही महात्मा लोग निश्चयरूपसे उसी सुखपूर्ण स्थानमें जाकर रहने लगे। (भाव यह कि यज्ञके यजन करनेवाले श्रेष्ठ यज्ञकर्ता अपने परम एवं चरम लक्ष्य—यज्ञपुरुषके परमधाम—**'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'**—को प्राप्त कर उन्हीं परम पुरुषमें ऐकात्म्य स्थापित कर लेते हैं।)

वैदिक शिक्षाव्यवस्था एवं उपनयन

(श्रीश्रीकिशोरजी मिश्र)

भारत पुरातन कालसे ज्ञानप्राप्तिद्वारा आध्यात्मिक उन्नतिको ही अपना ध्येय समझता आया है। अपने उन्नत ध्येयके कारण इसे समस्त देशोंका गुरु कहा जाता था। मनुने स्पष्टरूपसे कहा कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः[१]॥

अर्थात् पृथिवीपर निवास करनेवाले समस्त मानव इस पुनीततम भारतमें प्रादुर्भूत ब्राह्मण बालकसे अपने-अपने धर्म एवं चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें। आज भी इस गवेषणाप्रधान युगमें भारतीय आर्योंकी शिक्षाके मूल स्रोत वेद-शास्त्रोंके अतिरिक्त कोई भी ग्रन्थ पुरातन सिद्ध नहीं हो सका है। आर्य वेदको उच्चतम आदर्श ग्रन्थ मानते हैं। आर्योंके अनुसार तो वेद अनादि हैं[२]। पाश्चात्त्य शिक्षाविद् भी इसे विश्वका सर्वप्राचीन ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।

वेद—शास्त्रोंमें वेदका बहुत महत्त्व है। वेद वस्तुतः आदरणीय एवं प्राणिमात्रकी सर्वतोमुखी उन्नतिका उपदेशक, शिक्षाका अनुपम कोष ग्रन्थ है। अत्यन्त प्राचीन कालमें वेद एक ही था। प्रत्येक द्वापरयुगके अन्तमें भगवान् वेदव्यास कलियुगीय मानवोंकी मन्दबुद्धि एवं अल्पजीवनको देखकर एक वेदको चार भागोंमें विभक्त कर देते हैं[३]। जिनको क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद कहा जाता है[४]। प्रत्येक वेदमें कई शाखाएँ होती हैं[५]। वेदोंके दो विशेष विभाग हैं, जिनको 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण' शब्दोंसे अभिहित किया जाता है[६]। पूर्वजोंसे जिस वेदशाखाका अध्ययन-परम्परा समागत हो, उस कुलका वह वेद कहलाता है[७]। यद्यपि सम्प्रति कुलपरम्पराद्वारा प्राप्त वेदोंका अध्ययन समाप्तप्राय हो चला है, तथापि अपनी पितृपरम्परासे जिस वेदशाखाका अनुयायी होना ज्ञात हो तथा जिस वेदशाखाके अनुसार अपना उपनयन-संस्कार हुआ हो, उस वेदका अध्येता स्वयंको मानना चाहिये। यदि किसी कुलमें अशिक्षा या अज्ञानवश अपने कुलपरम्परागत वेदका स्मरण नहीं हो पाता है तो उसे शुक्लयजुर्वेदीय एवं माध्यन्दिनशाखीय समझना चाहिये। प्राचीन भारतमें वेदकी शिक्षा प्रत्येक द्विजके लिये अनिवार्य थी[८]। वैदिक शिक्षाद्वारा ज्ञानका विकास कर व्यक्ति आत्मोन्नतिके पथपर अग्रसर होता था।

ज्ञानप्राप्ति—ज्ञानके स्वरूपका विवेचन भारतीय शास्त्रोंमें विभिन्न रूपोंमें किया गया है। ज्ञान अनुपम आनन्दमय पुनीत ज्योति है[९]। हृदयके अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेका एकमात्र साधन ज्ञान है; परंतु इस ज्ञानज्योतिके किंचिन्मात्र लाभके आनन्दमें ही जिसको थोड़ा-सा प्रकाश प्राप्त हो जाता है और जो संतुष्ट हो जाता है, वह अपने ज्ञानकी इयत्ताको न जान सकनेके कारण उन्मत्त हो जाता है। उन्मादके कारण वह स्वयंको तत्त्ववेत्ताओंसे भी उन्नत समझ लेता है। ऐसे उन्मादावस्थावाले व्यक्तियोंको ही दृष्टिमें रखकर ज्ञानप्राप्तिकी अवस्थाओंका वर्णन भर्तृहरिने अत्यन्त ललित शब्दोंमें इस प्रकार किया है—

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित् किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः[१०]॥

अर्थात् 'जब मैं बिलकुल ही अज्ञ था तब मदोन्मत्त हाथीके समान अभिमानमें अंधा होकर अपनेको सर्वज्ञ समझा करता था, परंतु अब पण्डितोंकी संगतिसे अल्पज्ञानके होते ही वह सब उन्माद जब ज्वरके वेगकी तरह शरीरसे निकल गया तब मैं अपने-आपको मूर्ख समझने लगा हूँ।'

वस्तुतः विनम्र जिज्ञासु संयत व्यक्ति ही ज्ञानोपदेश-का पात्र—अधिकारी होता है[११]। अधिकारी होनेपर उसे तत्त्ववेत्ताओंसे सुखका मूल ज्ञानरूपी धन प्राप्त होता है। इस ज्ञानात्मक अक्षय धनका उपयोग वह अपने जीवनमें करता है तथा अपने अस्तित्वको धारण कर स्थिर रखनेवाले धर्म (आत्मा)-को प्राप्त करता है।

१-मनुस्मृ० (२। २०)।
२-अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा (म० भा० शा० प० २३२। ३५)।
३-श्रीमद्भागवत (१२। ६। ४६-४७)। ४-श्रीमद्भागवत (१। ४। २१-२२)। ५-श्रीमद्भागवत (१। ४। २३-२४)।
६-मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् (प्र० परि० १। २, आप०परि० ३१)।
७-परम्परागतो येषां वेदः सपरिबृंहणः। तच्छाखं कर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं यथा॥ (वी०मि०सं०प्र०, वसिष्ठोक्ति, पृ० ५०५)
८-स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (श० ब्रा० ११। ५। ७। १०)।
९-गीता (४। ३८)। १०-नीतिशतक (८)। ११-निरुक्त (२। ४। १)।

आत्मसाक्षात्कारसे अत्युत्तम आनन्द एवं सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है। इस महत्त्वपूर्ण ज्ञानके लाभोंको समझाने-हेतु ही संक्षेपमें कहा गया है कि—

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम्[१]॥

अधिकारी सत्पात्रको विद्या देनेसे ही विद्याकी पुष्टि होती है। जिज्ञासा एक पिपासा है तथा ज्ञान पुष्टिकारक सुखद अमृतस्वरूप है। पिपासुकी पिपासा शान्त होनेपर सुख होता है।

ज्ञानरूपी ज्योति गुरुसे ही प्राप्त होती है। गुरु उदयकालिक सूर्यके समान आनन्दमय एवं अमृतमय ज्ञानस्रोतका उद्गम-स्थान है। गुरुसे विद्या या ज्ञानप्राप्तिके तीन साधन शास्त्रोंमें प्रतिपादित किये गये हैं। वेदके अङ्ग शिक्षाशास्त्रकी भाषामें वे तीनों साधन सेवा, धन और विद्या नामसे प्रतिपादित हैं[२]। श्रीमद्भगवद्गीतामें इन तीनोंमें उत्तरोत्तरको प्रशस्त बतानेके लिये प्रणिपात (विनम्रता), परिप्रश्न (विद्या) तथा सेवा—यह क्रम रखा गया है[३]। गुरुकी आभ्यन्तरिक पूर्ण इच्छा न रहनेपर भी धनके लोभसे उपदिष्ट विद्याकी अपेक्षा शिष्यद्वारा पूर्वपरिज्ञात विषयके कथनानन्तर जिज्ञासा करनेपर उपदिष्ट परिप्रश्नरूप विद्याका महत्त्व अधिक है। जैसे धनके लोभवश गुरुकी स्वार्थपरायणतासे विपर्यय एवं अपने आत्मानुभवका उपदेश न करना सम्भव है, उसी प्रकार धनदातृत्वके अहंकारसे शिष्यद्वारा उसे ग्रहण न करना भी सम्भव है; परंतु प्रश्न होनेपर उपदिष्ट गुरुवचनोंमें यथार्थ आत्मानुभवका समावेश अवश्य रहता है। इस परिप्रश्नमें ज्ञानार्थीको भी विद्यासे सम्पन्न होना आवश्यक है। अतः शिक्षाविदोंने इस उपायको '**विद्यया विद्या**' शब्दसे व्यवहृत किया है। इस द्वितीय परिप्रश्नात्मक ज्ञानार्जनोपायकी अपेक्षा सेवास्वरूप तृतीय साधन अति प्रशस्त है। सेवात्मक साधनमें अपनी ग्रहणशक्तिके ज्ञानाभिमानमें अथवा उत्तरदाताके प्रतिष्ठा-प्रभावके कारण शिष्यद्वारा न समझनेपर भी स्वीकार कर लेना आदि परिप्रश्नके दुर्गुणोंका समावेश नहीं है। सेवासाधनमें तो '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**'[४] के अनुसार गुरुमें पितृत्वकी भावना होती है। वस्तुतः वह विद्या-गुरुके वात्सल्यका प्रतीक है। धनदाता एवं जिज्ञासु शिष्यकी अपेक्षा सेवक विद्यार्थी गुरुसे अधिक विद्या-सम्पत्ति ग्रहण कर सकता है तथा उन दोनोंकी अपेक्षा उसकी विद्या अधिक सफल बन जाती है[५]।

उपर्युक्त तीनों साधनोंसे गुरुके द्वारा विद्या प्राप्त की जाती है। प्राचीन कालमें विद्या गुरुमुखसे सुन लेनेपर विद्यार्थियोंको ही नहीं, प्रत्युत गुरुकुलमें स्थित पक्षियोंको भी कण्ठस्थ हो जाती थी[६]। परंतु समयके प्रभावसे शिक्षार्थियोंकी धारणामें ह्रास होने लगा। उस समयको ग्रन्थ-रचनाका प्रारम्भिक काल कहा जा सकता है, क्योंकि गुरुजनोंने ग्रन्थोंका प्रणयन किया, तदनन्तर उन प्रणीत ग्रन्थोंको लिपिबद्ध किया गया। इसके फलस्वरूप ग्रन्थोंके अध्ययनके लिये अक्षर-परिचय आवश्यक हो गया। अतः अक्षरोंका परिचय प्राप्त करनेके लिये अक्षरारम्भ नामक कार्य निश्चित किया गया। अक्षरारम्भ बालकके पाँचवें वर्षमें शुभ मुहूर्तमें सविधि सम्पन्न होता है[७]। अक्षरोंके दृढ़ परिचय एवं लेखनका पूर्ण अभ्यास हो जानेपर शुभ दिनमें विद्याग्रहणका कार्य प्रारम्भ होता है।

भारतीय साहित्यमें अनेक विद्याएँ हैं तथा सभी महत्त्वपूर्ण हैं, परंतु देश, धर्म एवं समाजके उन्नयनकी दृष्टिसे उन सभी विद्याओंमें वेदविद्याका महत्त्व सर्वाधिक माना गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने स्पष्टरूपसे यह बतलाया है कि द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य)-के बालकका यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह जीविका आदि किसी बाह्य उद्देश्यसे निरपेक्ष होकर (धर्म, भारतीयता एवं संस्कृतिकी वास्तविक रक्षा तथा बाह्य सांस्कृतिक आक्रमणोंके निराकरणके लिये) षडङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष)-सहित वेदका अध्ययन (एवं उसके मर्मको समझकर तदनुकूल आचरण) करे[८]। मनुने तो भारतके त्रैवर्णिकको वेद न पढ़नेपर अत्यन्त निन्दित माना है तथा कहा है कि 'जो द्विज वेदाध्ययनके बिना अन्य विद्याको पढ़नेमें श्रम करता है, वह जीवित ही दासताको प्राप्त हो जाता है। मात्र वही नहीं, अपितु उसकी संतति भी दासताकी भावनासे ग्रस्त हो जाती है[९]।' राजर्षि मनुका उद्घोष बहुत उग्र है, परंतु वस्तुतः कटु सत्य है।

१-हितोपदेश (६)।
२-गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा। अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नोपपद्यते॥ (या० शि० ११२)
३-तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया (गीता ४। ३४)। ४- गीता (२। ७)। ५-या० शि० (११०-१११)।
६-जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः संसारिकैः पञ्जरवर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणा वटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शङ्किताः॥ (कादम्बरी कथामुख १२)।
७-मु० चि० (५। ३७)। ८-निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च (महाभाष्य)।
९-योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ (मनुस्मृ० २। १६८)

अध्ययन—यों तो विद्याध्ययन सर्वदा ही किया जा सकता है, तथापि शास्त्रकारोंने जीवनके प्राथमिक चतुर्थांशको विद्याध्ययनके लिये परम उपयुक्त समझकर इसे विद्याध्ययनके लिये ही निश्चित कर दिया है। आयुके इस भागकी संज्ञा आगम-काल है[१]। अध्ययनके सुचारु सम्पादनके लिये 'उपनयन' नामक संस्कार निश्चित किया गया है। उपनयन-संस्कारका समय जातिभेदसे भिन्न-भिन्न माना गया है। त्रैवर्णिक बालकको पाँचवें वर्षमें ज्योतिष-शास्त्रानुसार शुभ दिनमें अक्षरारम्भ कराना चाहिये। वर्ण-परिचय तथा लेखन-ज्ञान प्राप्त करनेके बाद शुभ मुहूर्तमें विद्याध्ययन प्रारम्भ करना चाहिये[२]।

संस्कार—जिस प्रकार अनेक रंगोंके उचित उपयोग करनेपर चित्रमें सुन्दरता, आकर्षण एवं पूर्ण वास्तविकता आ जाती है, उसी प्रकार शास्त्रोपदिष्ट अनेक संस्कार करनेसे पुरुषकी बुद्धि और मनमें सात्त्विकता एवं सर्वजनप्रियताका संचार होता है तथा उसको वास्तविक सुख-शान्तिके पथका अनुभव होता है[३]। शास्त्रोंमें संस्कारोंकी संख्या बहुत है,[४] तथापि विद्वानोंने प्रधानरूपसे सोलह संस्कार माने हैं। इन सोलह संस्कारोंके नाम हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, केशान्त, विवाह (गृह्याग्नि), अग्निपरिग्रह तथा अन्त्येष्टि। कतिपय स्थलोंपर त्रेताग्निपरिग्रहको सोलहवाँ संस्कार माना गया है। इन संस्कारोंसे चित्तशुद्धि एवं आध्यात्मिक उन्नति होती है। संस्कार्यकी अपनी वेदशाखाके अनुसार ही संस्कार किये जाते हैं[५]।

उपनयन—त्रैवर्णिकके मुख्य संस्कारोंमें सर्वप्रथम संस्कार 'उपनयन' है। उपनयन-संस्कार होनेपर ही त्रैवर्णिक बालक द्विज कहलाता है[६]। शास्त्रोंका मत है कि इस संस्कारसे बालकका विशुद्ध ज्ञानमय जन्म होता है। इस ज्ञानमय जन्मके पिता आचार्य तथा माता गायत्री हैं[७]। जिस प्रकार अच्छे बीजसे अच्छे अन्नकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार इस ज्ञानमय जन्ममें अच्छे विद्वान्के आचार्य रहनेपर कल्याणदायक शुद्ध भावना-बुद्धिद्वारा विशुद्ध ज्ञान होता है। महर्षि आपस्तम्बने भी इस तथ्यको स्पष्ट लिखा है—'**तमसो वा एष तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयते यश्चाविद्वानिति हि ब्राह्मणम्**[८]।' अर्थात् जिसका अविद्वान् आचार्य (गुरु)-के द्वारा उपनयन-संस्कार कराया जाता है वह अन्धकारसे अन्धकारमें ही जाता है। अतः कहा गया है—

'**तस्मिन्नभिजनविद्यासमुदेतं समाहितं संस्कर्तारमीप्सेत्।**' '**अविच्छिन्नवेदवेदिसम्बन्धे कुले जन्म अभिजनः। षड्भिरङ्गैः सहैव यथावदर्थज्ञानपर्यन्तमधीतो वेदो विद्या**[९]।'

अर्थात् वेद एवं वेदी (यज्ञों)-से सम्बन्धित कुलमें जन्म लेनेवाले, षडङ्गों एवं मीमांसाशास्त्र आदिके अध्ययनद्वारा वेदार्थके परिज्ञाता तथा विहित-निषिद्ध कर्मोंमें सावधान आचार्यको उपनयनमें अपना उपनेता—गुरु बनाना चाहिये।

गोभिल स्मार्तकल्पके भाष्यकार नारायणने एक वचन उपस्थित कर यह बतलाया है कि इस उपनयन-संस्कारद्वारा त्रैवर्णिक बालक अपनी कर्तव्य-शिक्षाके लिये गुरु, वेद, यम, नियम एवं देवताओंके समीप ले जाया जाता है, इसलिये इस संस्कारको उप (समीप)-नयन (ले जाना) कहते हैं[१०]। प्राचीन समयमें उपनेता गुरुओंके पास शिष्यगण ब्रह्मचर्यपूर्वक कई वर्षोंतक अध्ययन करते थे। उपनीत बालकको गुरुकुलवास तथा अध्ययन करनेसे शास्त्रों एवं अपने धर्मका पूर्णरूपेण परिज्ञान हो जाता था। जिसके फलस्वरूप वह विशुद्ध ज्ञान उपार्जित करके सांसारिक कार्योंको करते हुए भी अपने देशकी आध्यात्मिक शान्तिके उन्नत लक्ष्यको प्राप्त करता था। उपनयन-संस्कारके लिये शास्त्रोंमें मुहूर्त निर्दिष्ट किये गये हैं। मुहूर्तका तात्पर्य है कि अध्येताकी आधिदैविक परिस्थिति (जन्मकालिक ग्रहस्थिति)-से उस समयकी आधिदैविक परिस्थिति अनुकूल बन सके, जिससे उसका अध्ययन सकुशल, निर्विघ्न एवं परिपुष्ट हो सके।

उपनयनके काल—ब्राह्मण-जातिका गायत्री छन्दसे सम्बन्ध है[११]। गायत्री छन्दका एक पाद आठ

१-चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति (महाभाष्य)।
२-मु० चि० (५। ३८)।
३-चित्रकर्म यथानेकै रङ्गैरुन्मील्यते शनैः। ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥ (प्र० पा०, पृ० ३, अङ्गिरावचन)।
४-गौ० ध० (१। ८। १४—२२)। ५-स्वे स्वे गृह्ये यथा प्रोक्तास्तथा संस्कृतयोऽखिलाः (प्र० पा०, पृ० ३, अङ्गिरावचन)।
६-जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते। ७-गौ० ध० (१। १। ९ भाष्यमें भी)। ८-आप० ध० (१। १। ११)।
९-आप० ध० (१। १। १२ भाष्यमें भी)।
१०-गुरोर्व्रताय वेदस्य यमस्य नियमस्य च। देवतानां समीपं वा येनासौ संविधीयते॥ (गो०गृ०ना०, ४५३)।
११-गायत्रो वै ब्राह्मणः (ऐ० १। २८)। गायत्रच्छन्दो वै ब्राह्मणः (तै० १। १। ९। ६)। ब्रह्मगायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप् (श० १। ३। ५। ५)।

अक्षरोंका होता है[१]। अतः ब्राह्मण बालकका उपनयन-संस्कार आठवें वर्षमें बतलाया गया है[२]। क्षत्रिय जातिका सम्बन्ध त्रिष्टुप् छन्दसे है[३] तथा त्रिष्टुप् छन्दका एक पाद ग्यारह अक्षरोंका होता है[४]। अतः ग्यारहवें वर्षमें क्षत्रिय बालकका उपनयन-संस्कार बताया गया है[५]। वैश्य जातिका सम्बन्ध जगती छन्दसे है[६] तथा जगती छन्दका एक पाद बारह अक्षरोंका होता है[७]। अतः बारहवें वर्षमें वैश्य बालकके उपनयन-संस्कारका काल माना गया है[८]।

तीन वर्णोंसे इन छन्दोंका सम्बन्ध भी तथ्योंपर आधारित है। गायत्री अपने गायक (उपासक)-की रक्षा (त्राण) करनेके कारण अन्वर्थ है[९]। इसी प्रकार ब्राह्मण वर्ण भी अपने सच्चे उपासक भक्तकी रक्षा कर सकता है। त्रिष्टुप् छन्दमें जिस प्रकार त्रि (तीन)-के स्तोभन करनेकी शक्ति है[१०], उसी प्रकार क्षत्रिय वर्णमें भी राजशासनद्वारा देश, काल एवं समाज—इन तीनोंकी असद्गतिको रोकनेकी शक्ति है। जगती गततम उत्कृष्ट छन्द है[११]। वैश्य जाति भी देशकी सुस्थितिके मूलभूत कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्यके व्यवहारसे देशरक्षामें अन्तिम उत्कृष्ट सहायक है। इन सभी त्रैवर्णिकोंके लिये उपनयन-संस्कार-हेतु वर्षकी गणना गर्भस्थितिसे अथवा जन्मकालसे करनी चाहिये[१२]।

काम्यकाल—त्रैवर्णिक बालकोंके उपनयन-संस्कारके लिये क्रमसे आठ, ग्यारह एवं बारह वर्षका समय नियत किया गया है। किसी विशेष कामना-प्राप्तिकी इच्छापर शास्त्रकारोंने वैज्ञानिक ढंगसे समयका निर्धारण किया है। मनुके अनुसार ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मणका पञ्चम वर्षमें उपनयन होना चाहिये। उसी प्रकार बलप्राप्तिके लिये क्षत्रियका षष्ठ वर्षमें तथा धनप्राप्तिके लिये वैश्यका गर्भकालके साथ अष्टम वर्षमें उपनयन होना चाहिये[१३]। महर्षि आपस्तम्बने सभी द्विज बालकोंके लिये ब्रह्मवर्चस्‌की कामनामें सप्तम वर्ष, आयुकी कामनामें अष्टम वर्ष, तेजकी कामनामें नवम वर्ष, पाचन-शक्तिकी कामनामें दशम वर्ष, इन्द्रियोंकी दृढ़ताकी कामनामें एकादश वर्ष तथा पशुकी कामनामें द्वादश वर्षका समय निर्दिष्ट किया है[१४]। विष्णुने धनकी कामनामें षष्ठ वर्ष, विद्याकी कामनामें सप्तम वर्ष, सर्वकामनाके लिये अष्टम वर्ष तथा कान्तिकी कामनामें नवम वर्षका उपनयन-काल निर्धारित किया है।

उपनयनका अन्तिम समय—सभी शास्त्रकारोंकी सम्मतिसे संस्कार्यके पञ्चम वर्षसे उपनयनका काल प्रारम्भ होता है[१५]। ब्राह्मणके लिये सोलह वर्ष, क्षत्रियके लिये बाईस तथा वैश्यके लिये चौबीस वर्षकी अवस्थातक उपनयनकी परम अवधि बतलायी गयी है[१६]। इस परमावधिके बीत जानेपर प्रायश्चित्त करनेके अनन्तर उपनयन-संस्कारका अधिकार प्राप्त होता है। यह प्रायश्चित्त राजशासन-भंगके दण्डकी भाँति प्राचीन आर्ष-मर्यादाको भंग करनेके दण्डस्वरूप है। जिस प्रकार राजदण्डके योग्य मनुष्य किसी सत्पुरुषके अधिकारों (जमानत आदि)-को नहीं रखता है, उसी प्रकार बिना प्रायश्चित्तके उसका उपनयनाधिकार नहीं माना जाता।

पूर्वपुरुषोंका उपनयन—ज्योतिर्निबन्धकी उक्तिके अनुसार अधिकारी त्रैवर्णिक यदि अपनी परमावधिके बाद भी एक वर्षके अन्तर्गत उपनयन-संस्कार नहीं कराता है तो वह वृषल होता है[१७] अर्थात् वह वृष (धर्म)-का उच्छेद करनेवाला निन्द्य है[१८]। महर्षि आपस्तम्बने अपने पूर्व-पुरुषोंके उपनयन-संस्कार न हुए रहनेपर उन कुलोंको ब्रह्महसंस्तुत[१९] (ब्रह्मघातियोंके समान) तथा श्मशानसंस्तुत[२०] (श्मशानके समान) बतलाया है। इन कुलोंमें उत्पन्न व्यक्तिको अपनी वृषलताके निराकरणके लिये वेदशास्त्रके अध्ययन एवं उपनयन-संस्कारकी इच्छा रहनेपर विशेष विधानद्वारा अधिकारी बनाये जानेकी शास्त्रोंने आज्ञा प्रदान की है[२१]। यह विशेष विधान-प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्तोंमें

१-अष्टाक्षरा वै गायत्री (श० १। ४। १। ३६)। २-आप० ध० (१। १। १९), पा० गृ० (२। २। १)।
३-त्रिष्टुप् छन्दो वै राजन्यः (तै० १। १। ९। ६)। त्रैष्टुभो वै राजन्यः (ऐ० १। २८, ८। २) आदि।
४-एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् (गो० उ० १। १८)। ५-आप० ध० (१। १। १९), पा० गृ० (२। २। २)।
६-जागतो वै वैश्यः (ऐ० १। २८), जगतीच्छन्दो वै वैश्यः (तै० १। १। ९। ७)। ७-द्वादशाक्षरपदा जगती (ष० २। १)।
८-पा० गृ० (२। २। ३), आप० ध० (१। १। १९)। ९- द्र० निरुक्त (७। १२। ५)।
१०-यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते (निरुक्त ७। ३। १२)।
११-जगती गततमं छन्दः (निरुक्त ७। ३। १३)। १२-मनुस्मृ० (२। ३६)। १३-मनुस्मृ० (२। ३७)।
१४-आप० ध० (१। १। २१—२६)। १५-गो० गृ० ना० (४५७)। १६-आप० ध० (१। १। २७), मनुस्मृ० (२। ३८)।
१७-अग्रजा बाहुजा वैश्याः स्वावधेरूर्ध्वमब्दतः। अकृतोपनयाः सर्वे वृषला एव ते स्मृताः॥ (नि० सि०, १९२)।
१८-अ० को० (२। १०। १) रामाश्रयी-व्याख्या। १९-आप० ध० (१। १। ३२)। २०-आप० ध० (१। २। ५)।
२१-आप० ध० (१। १। ३४), (१। २। ६)।

शारीरिक एवं मानसिक शुद्धिके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपवासोंको करनेका ही मुख्य उपदेश है। अशक्तिवश या मुख्य प्रायश्चित्तकी असमर्थतापर गौण (होमादि) प्रायश्चित्तद्वारा भी अधिकार दिया जाता है। इस गौण प्रायश्चित्तका निर्णय समय, कुल, अनुपनीतता आदिके अनुसार होता है। इसका विस्तृत विवेचन धर्मशास्त्र-निबन्धोंमें वर्तमान है।

उपनयनके अधिकारी—गर्भाधानसे उपनयन एवं प्रथम विवाहतकके संस्कारोंको करनेका अधिकार संस्कार्यके पिताको ही होता है[१]। पिताकी अनुपस्थितिमें संस्कार्यके अभिभावकको संस्कार करनेका अधिकार प्राप्त होता है। शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार अभिभावकोंका क्रम भी निश्चित है,[२] जिसमें सर्वप्रथम पिताका अधिकार है। उसके बाद क्रमशः पितामह, पितृव्य, ज्येष्ठ भ्राता, सात पीढ़ियोंके अन्तर्गतके पुरुष, स्वगोत्रीय व्यक्ति तथा संस्कार्यसे ज्येष्ठ आयुवाले गोत्र-भिन्न सत्पुरुष माने गये हैं। लोक-व्यवहारमें कई जगह बालकके पिताके उपस्थित रहते हुए भी अपने कुलके बड़े पुरुषद्वारा ही बालकका उपनयन-संस्कार कराया जाता है, परंतु यह शास्त्र-समनुमत मार्ग नहीं है। यदि बालक स्वयं समर्थ हो गया हो तथा पिता आदि संनिकट-सम्बन्धियोंकी अनुपस्थिति हो तो वह बालक स्वयं ही आचार्यके पास गायत्री-सम्बन्धके लिये प्रार्थना कर सकता है[३]।

यज्ञोपवीत—उपनयन-संस्कारका प्रथम मुख्य कर्तव्य यज्ञोपवीत धारण करना है। यज्ञोपवीत, उपवीत, ब्रह्मसूत्र, यज्ञसूत्र या जनेऊ सभी पर्यायवाची शब्द हैं। उपवीत शरीरकी पेटिका (कंधेसे नाभितक)-के दो विभाग करनेवाला सूत्र है। यह सूत्र उस भागके उप=चारों ओर वीत=बँधा रहता है, अतः इसे उपवीत संज्ञा दी गयी है। इस सूत्रके बनाने एवं पहननेका प्रकार शास्त्रोंमें विशेष प्रकारसे निर्दिष्ट है। शास्त्रकारोंने बतलाया है कि उपवीत बिना पहने हुए जो कार्य किया जाता है, वह निष्फल है। अतः उपवीत सर्वदा धारण करना चाहिये[४]।

यज्ञोपवीत द्विजत्वका महत्त्वपूर्ण चिह्न है। यह चिह्न भी किसी विशेष उद्देश्यसे रखा गया है। चिह्नकी यह विशेषता आवश्यक तथा उचित है कि वह जिस समाज या देशके लिये निश्चित हो उसकी सर्वतोमुखी उन्नतिका लक्ष्यस्वरूप हो। भारतवर्षकी सर्वविध अभ्युन्नति चाहनेवाले ऋषियोंद्वारा प्रणीत शास्त्रोंमें तथा शास्त्रपर विश्वास करनेवाली आर्य-संतानोंके हृदयमें इस जगत्‌का मुख्यतम लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पदार्थोंको स्वायत्त करता रहा है। अतएव इनको 'पुरुषार्थ' शब्दसे भी व्यवहृत किया जाता है, इन चारों पुरुषार्थोंको स्वायत्त करनेके मार्ग-प्रदर्शक शासनों (नियमों)-के समूहको ही शास्त्र कहा जाता है। चतुर्विध पुरुषार्थ एवं इनके स्वायत्तीकरणके साधनोंका उपदेश वेदमें किया गया है। वेदके मन्त्र आर्योंके प्राणप्रिय भावपूर्ण शब्द हैं, इनके सम्पूर्ण भावोंको समझना प्रत्येक व्यक्तिके लिये साधारण नहीं है। अतः लोकपितामह ब्रह्माने लोकोपकारके लिये एक लाख अध्यायोंमें इन चारों पुरुषार्थोंके स्वरूप एवं प्राप्तिसाधनोंका उपदेश दिया है[५]। मानवमें इस विस्तृत उपदेशकी ग्रहण-शक्ति भी न रह सकी, तब महर्षियोंने भिन्न-भिन्न पदार्थोंको लक्ष्य करके भिन्न-भिन्न रचनाएँ कीं। स्वायम्भुव मनु आदि ऋषियोंने धर्म नामक प्रथम एवं मुख्य पुरुषार्थके लिये स्मृतिशास्त्रका निर्माण किया। स्मृतिशास्त्रमें प्रधानरूपसे धर्मका वर्णन है। इसलिये इसको धर्मशास्त्र भी कहते हैं। यज्ञोपवीतके तन्तुओंमें ही समग्र धर्मशास्त्रको सूक्ष्म-रूपसे समाविष्ट किया गया है।

बालकके नौ संस्कार उपनयनके पूर्व सम्पन्न किये जाते हैं। उपनयनके अनन्तर एवं समावर्तन-संस्कारके पूर्व अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रममें एक ही उपवीत धारण करनेका विधान बतलाया गया है[६]। इस उपवीतमें नौ तन्तु होते हैं[७], जो उस बालकके पूर्वभावी नौ संस्कारोंका स्मरण दिलाते हैं। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंके अनुसार भी यह निश्चित है कि मनुष्यकी सर्वविध उन्नतिके लिये उसका उत्साह अत्यन्त सहायक होता है। यह उत्साह विशेष महत्त्वपूर्ण कर्तव्योंकी उपस्थिति या शक्तिसे दृढ़ एवं सक्रिय होता है। व्यक्तिको स्वयंकी वर्तमान शक्तिका

१-पितैवोपनयेत् पुत्रम् (नि० सि० १९५ पृष्ठ, प्रयोगरत्नोक्ति)।

२-पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः। उपनयेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः॥ (वी० मि० सं० प्र०, पृ० ४०७ इत्यादि।

३-वी० मि० संस्कारप्रकाश, मेधातिथिवचन (पृ० ३३६)।

४-सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च। विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम्॥ (वी० मि० संस्कारप्रकाश, कात्यायनोक्ति, पृ० ४२२)।

५-लक्षं तु चतुरो वेदाः (च० व्यू०, खं० ५)। ६-उपवीतं वटोरेकम् (वी० मि० संस्कारप्रकाश, भृगुवचन, पृ० ४२१)।

७-यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतन्तुकम् (वी० मि० संस्कारप्रकाश, देवलोक्ति, पृ० ४१६)।

ज्ञान हृदयमें अद्भुत बल दिलाता है। इसे हम आत्मगौरव कहते हैं। इस अपनी शक्ति या स्वरूपको न समझना ही अपने अस्तित्वको खोना होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार उपनीत वेदाध्यायी ब्रह्मचारी बालकको इन नौ तन्तुओंके उपवीतद्वारा उसके संस्कारोंकी प्रतिक्षण स्मृति दिलाकर अदम्य उत्साह दिया जाता है। ये नौ तन्तु तीन-तीन मिलकर तीन सूत्रोंमें उपस्थित रहते हैं[१]। तीन सूत्र भी नौ संस्कारोंमें किसी विशेषताके ज्ञापक हैं। वे संस्कारोंके तीन त्रिकोंमें विभक्त होनेका निर्देश करते हैं। प्राथमिक त्रिक अर्थात् गर्भाधान, पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन गर्भदशाके संस्कार हैं। द्वितीय त्रिक—जातकर्म, नामकरण एवं निष्क्रमण स्तन्यजीवनदशाके संस्कार हैं। तृतीय त्रिक—अन्नप्राशन, चूडाकरण तथा कर्णवेध अन्नाधारदशाके संस्कार हैं।

समावर्तन-संस्कारमें द्वितीय यज्ञोपवीत भी धारणीय होता है[२]। यह भी पूर्वकी भाँति विशेष स्मारक है। प्रथम सूत्रके तीन तन्तु ब्रह्मचर्य, वेदारम्भ एवं केशान्त—इन ब्रह्मचर्याश्रमके तीन संस्कारोंके द्योतक हैं। द्वितीय सूत्रके तीन तन्तु गृहस्थाश्रमके समावर्तन, विवाह एवं अग्निपरिग्रह—इन तीन संस्कारोंके निर्देशक हैं। तृतीय सूत्रके तीन तन्तुओंमेंसे एक चरम (सोलहवें) संस्कारका परिचायक है तथा अन्तिम दो तन्तु अग्निपरिग्रहके अनन्तर क्रियमाण हविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ-संस्थाओंके सूचक हैं अथवा इन्हें पुरुषत्वका परिचायक भी माना जा सकता है। पुंस्त्वके प्रादुर्भाव या विकासके लिये द्वित्वकी संख्या आवश्यक है। पौरुषकी परीक्षा द्वित्व अर्थात् दूसरे प्रतिद्वन्द्वीके रहनेपर ही हो सकती है; इसी कारण स्मृतिग्रन्थोंमें पुत्रप्राप्तिके लिये युग्मरात्रियोंमें ही अभिगमनका विधान किया गया है[३]।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी परिभाषाके अनुसार यज्ञोपवीत त्रिवृत् है। त्रिवृत् नौ संख्याका बोधक है[४], परंतु त्रिवृत्की नौ संख्या तीन त्रिकोंमें ही विभक्त होनी चाहिये, जिस प्रकार यह यज्ञोपवीतमें होती है। त्रिवृत् एक स्तोम है; यह स्तोम अग्निदेवताका है[५]। अग्नि और ब्राह्मण जगद्बीज पुरुषके मुखकी सृष्टि हैं, अतः सजात हैं[६]। इस कारण अग्नि ब्राह्मणोंसे अधिक सम्बन्ध रखता है। इसे श्रुति **'आग्नेयो वै ब्राह्मणः'** द्वारा प्रतिपादित करती है[७]। ब्राह्मणको ब्रह्मवर्चसी होना चाहिये[८]। ब्रह्मवर्चस्की अग्निके साथ तुलना की जाती है। इसलिये ब्रह्मवर्चस्की प्राप्ति, अग्निकी समानता एवं त्रिवृत् स्तोमकी विशेष उपासनाकी द्योतना कराने-हेतु यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। शास्त्रोंमें इसीलिये ब्रह्मचारीको नित्य अग्निकी परिचर्याका उपदेश दिया गया है[९]। समावर्तनके बाद श्रौत एवं स्मार्त (सभ्य एवं गार्हपत्य) अग्नियोंकी नित्य स्थिति एवं उपासना होती है। इसी दृष्टिसे दूसरे यज्ञोपवीतके भी सर्वदा धारण करनेका विधान है।

यज्ञोपवीतद्वारा अर्थशास्त्रको भी परिलक्षित किया गया है। अर्थशास्त्रमें दो शास्त्रोंका संग्रह कहा जा सकता है— वार्ता तथा दण्डनीति। वार्ताशास्त्र प्रधानतया वैश्यवर्गके लिये अध्येतव्य एवं उपकारक है। वार्ताशास्त्रका विषय पशुपालन, कृषि एवं वाणिज्य है[१०]। ये तीनों ही कर्म भारतीय दृष्टिसे वैश्यवर्गकी आजीविका कहे गये हैं। वार्ताशास्त्र अर्थशास्त्रका एक विशेष सहायक प्रकरण है। आचार्य चाणक्यके अनुसार वार्ताशास्त्र अन्न, पशु, सुवर्ण, सेवक आदिकी प्राप्ति करानेके कारण राजाका उपकारक है। वार्ताशास्त्रके द्वारा राजा अपने पक्षको समृद्धि-विधायक उपायोंसे वशीभूत कर सकता है[११]। वार्ताशास्त्रके तीन मुख्यतम विषयोंका स्मरण एक यज्ञोपवीतके तीन सूत्रोंसे हो रहा है। द्वितीय यज्ञोपवीत अर्थशास्त्रके दूसरे प्रकरण दण्डनीतिकी तीन सिद्धियोंका स्मारक है। इन तीनों सिद्धियोंकी पूर्णप्राप्तिका समुचित उपाय ही दण्डनीतिमें बतलाया गया है अथवा लोकस्थितिके लिये राजाद्वारा निर्णेतव्य अष्टादश विवादस्थानोंको यज्ञोपवीतके अठारह तन्तुओंद्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

कामशास्त्रके रहस्य-परिचायनकी दृष्टिसे भी एक यज्ञोपवीत पुरुष एवं दूसरा स्त्रीके शासनोंका उपदेशक है। वात्स्यायनके अनुसार पुरुष एवं स्त्रीके प्रमाण, भाव एवं काल—ये तीन प्रासंगिक वर्ग होते हैं। प्रत्येक वर्गमें

१-अधोवृतैस्त्रिभिः सूत्रैः (वी० मि० संस्कारप्रकाश, दत्तात्रेयवचन, पृ० ४१६)।
२-स्नातकानां द्वितीयं स्यात् (वी० मि० संस्कारप्रकाश, वसिष्ठवचन, पृ० ४२१)।
३-मनुस्मृ० (३। ४८)। ४-जै० न्या० मा० (१। ३। ५)। ५-अग्निर्वै त्रिवृत् (तै० १। ५। १०। ४)।
६-मा० सं० (३१। ११-१२)। ७-तै० (२। ७। ३। १)। ८-मा० सं० (२२। २२)।
९-अग्नीन्धनं भैक्षचरणे (गौ० ध० १। २। १२)। १०-कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता (कौ० अ० ४। १)।
११-धान्यपशुहिरण्यपुष्पविष्टिप्रदानादौपकारिकी। तया स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम् (कौ० अ० ४। २-३)।

भी तीन अवान्तर भेद हैं। प्रत्येक वर्ग सूत्ररूपसे तथा उनके भेद तन्तुरूपसे यज्ञोपवीतमें द्योतित होते हैं। इस दृष्टिमें सम्पूर्ण यज्ञसूत्रकी ९६ चतुरङ्गुल दीर्घता (चौवा) भी, वात्स्यायन-प्रोक्त आठ अङ्गोंके भेदोंका परिचायक है।

उपर्युक्त गवेषणासे यह स्पष्ट है कि यज्ञोपवीत भारतीय संस्कृतिकी समग्रताका पूर्ण परिचायक है।

गायत्री-उपदेश—उपवीत धारणके अनन्तर बालकका अभिभावक उसे योग्य गुरुकी शरणमें पहुँचा देता है। गुरु उसे योग्य अधिकारी समझकर गायत्री-मन्त्रका उपदेश करते हैं। बालक अपनी योग्यताकी परीक्षा गुरुकुलमें संरक्षणसे लेकर एक वर्षके भीतर समाप्त कर लेता है। यदि गुरु उसे गुरुकुलमें जानेके समय ही मन्त्रोपदेशका अधिकारी समझ लेते हैं तो उसी समय गायत्री-मन्त्रका उपदेश कर देते हैं। अन्यथा तीन दिन, छः दिन, बारह दिन या छः मास अथवा बारह मासमें उसे उपदेश प्राप्त होता है। उपनयनका शुभ मुहूर्त ज्योतिषशास्त्रद्वारा निश्चित किया जाता है। तदनुसार शुभ लग्नमें गायत्री-मन्त्रका उपदेश दिया जाता है। संस्कारके अन्य कार्य अङ्गभूत हैं। अतः उनमें विशेष रूपसे लग्नका विचार नहीं किया जाता।

मन्त्रपरिचय—शुभ लग्नमें योग्य गुरुद्वारा परीक्षित शिष्यको जो मन्त्र नामक अक्षर-समुदाय प्राप्त होता है, वह विशेष शक्तिसे सम्पन्न होता है। उसी मन्त्रको पुस्तकोंमें देखकर, असमयमें ग्रहण करके या गुरुसे प्राप्त कर अभ्यास किया जाय एवं अनुष्ठान आदि वैध प्रयोग किये जायँ तो वे शास्त्रोंके दृढ़ सिद्धान्तके अनुसार कल्याणकारक नहीं हो सकते। क्रियासारमें बतलाया गया है कि जो मूर्ख मनुष्य प्रयोगपद्धतिसहित मन्त्रको पुस्तकसे देखकर उसके आधारपर ही जप करता है, उसके मूलका ही नाश होता है। फलकी बात ही दूर है[1]। भगवान् शङ्करका वचन है कि जो अज्ञ गुरुके उपदेशके बिना ही पुस्तक, चित्र आदिको देखकर जप करता है, वह बन्धन एवं पापका भागी बनता है[2]।

जिस प्रकार पदपर आसीन अधिकारीद्वारा प्रदत्त वैध आदेश या उपदेश ही माननीय एवं करणीय होता है, उसी प्रकार शास्त्रोक्त निश्चित योग्य ब्राह्मण गुरुद्वारा उपदिष्ट मन्त्र एवं आदिष्ट विधान ही कल्याणकारक होता है। जैसे अनधिकृत व्यक्तिका अवैध आदेश या उपदेश लोकमें भी आदरणीय या अनुशीलनीय नहीं होता एवं स्वतन्त्र कर्तव्य लोकहितकारक होनेपर भी शासन-नियमके बहिर्भूत होनेके कारण लाभप्रद न होकर कष्टप्रद ही होता है, उसी प्रकार शास्त्रोक्त अनधिकृत ब्राह्मणेतर व्यक्ति या पुस्तकादिसे उपदिष्ट प्राप्त मन्त्र भी अनादरणीय एवं अनुशीलनीय होते हैं। शास्त्रमर्यादाके व्यतिक्रम करनेके कारण मन्त्रदाता एवं ग्रहणकर्ताके लिये लाभ-प्राप्तिके स्थानपर हानिप्रद ही है। मन्त्रोपदेश करनेका अधिकार ब्राह्मणको ही है। इसके लिये शास्त्रोंमें सर्वत्र निर्देश दिये गये हैं[3]।

उपनयनका वर्तमान स्वरूप—उपर्युक्त विवेचनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतमें शिक्षण-व्यवस्थाको महनीय बनाने-हेतु उपनयन-संस्कारकी भावात्मक विशिष्ट व्यवस्था की गयी थी। उपनयन एवं तदनन्तर ब्रह्मचर्याश्रमद्वारा अध्येतामें तेजस्विता, बुद्धि एवं ज्ञानका पर्याप्त विकास होता था। वर्तमान समयमें उपनयन-संस्कारकी व्यवस्था समाप्त हो चली है। किन्हीं-किन्हीं आस्तिक कुलोंमें बालकका उपनयन-संस्कार किसी तीर्थक्षेत्रमें जाकर अथवा घरमें ही सम्पन्न कराया जाता है, परंतु ब्रह्मचर्याश्रममें बालकको रखनेकी परम्परा मूलरूपसे विच्छिन्न हो चुकी है। उपनयन-संस्कारमें यज्ञोपवीत-धारण एवं गायत्री-उपदेशके अनन्तर तत्काल समावर्तन-संस्कार कराकर बालकका गृहस्थाश्रममें प्रवेश करा दिया जाता है। युगके परिवर्तित परिवेशमें यह उचित ही है। भविष्यको ध्यानमें रखते हुए शास्त्रकारोंने इसे अनुमति भी दी है[4]। भारतीय त्रैवर्णिक यदि उपनयनके वर्तमान स्वरूपका भी निर्वाह कर सकें तो उन्हें प्राचीन संस्कृतिकी रक्षाका विशिष्ट श्रेय प्राप्त होगा।

१-कल्पे दृष्ट्वा तु यो मन्त्रं जपते तु विमूढधीः। मूलनाशो भवेत् तस्य फलमस्य सुदूरतः॥ (स०स० ५१४)

२-गुरुं विना यस्तु मूढः पुस्तकादिविलोकनात्। जपेद् बन्धं समाप्नोति किल्बिषं परमेश्वरि॥ (स०स० ५१४)

३-द्रष्टव्य—नि० सि०, पृ० १९५।

४-(क) युगे युगे तु दीक्षासीदुपदेशः कलौ युगे। चन्द्रसूर्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स उच्यते॥ (ध० सि०, पृ० १८८)

(ख) अनुपाकृतवेदस्य कर्तव्यो ब्रह्मयज्ञकः। वेदस्थाने तु सावित्री गृह्यते तत्समा यतः॥ (नि० सि०, पृ० १९७, जैमिनि)।

तैत्तिरीय आरण्यकमें विहित वेद-संकीर्तन

(श्रीसुब्राय गणेशजी भट्ट)

'वेद' श्रीभगवान्‌के श्वास-प्रश्वाससे उद्भूत पवित्र मन्त्रोंके समुदाय हैं। '**मन्त्रात्मानो देवताः**'—विष्णु-रुद्र आदि देवगण मन्त्रोंकी आत्मा कहे गये हैं। प्रकारान्तरसे प्रत्येक वेदमन्त्र देवताओंके नाम-गुण-कीर्तनसे युक्त हैं। यों तो सभी वेदाक्षर विष्णु-नाम-रूपमय हैं—'**यावन्ति वेदाक्षराणि तावन्ति हरिनामानि**' (सिद्धान्तकौमुदी)। इस प्रकार एक बार एक वेदका पूर्ण पाठ करे तो कई लाख हरिनाम स्मृत हो जायँगे। अतः ब्रह्मचारीको उपनयनके बाद प्रतिदिन वेदाध्ययन अवश्य करना चाहिये, क्योंकि वेदपाठको श्रुतिमें स्वाध्याय या ब्रह्मयज्ञ नामसे अभिहित किया गया है—

ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि ग्रामादच्छदिर्दर्श उदीच्यां प्रागुदीच्यां वोदित आदित्ये दक्षिणत उपवीयोपविश्य······दर्भाणां महदुपस्तीर्योपस्थं कृत्वा······ दक्षिणोत्तरौ पाणी पादौ कृत्वा। (तै० आ० २। ११)

विद्वान् गृहस्थको प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदयके बाद पूर्व, उत्तर या ईशान दिशाकी ओर गाँवसे बाहर (जहाँतक जानेसे घरका छत न दिखायी पड़े) जाकर दर्भासनपर प्राङ्मुख या उदङ्मुख बैठकर बायें पैरके ऊपर दाहिना पैर और बायें हाथके ऊपर दाहिना हाथ रखकर ब्रह्मयज्ञ करना चाहिये। '**मध्याह्ने प्रबलमधीयीत**'—दोपहरमें ऊँचे स्वरसे वेदपाठ करना चाहिये। इस प्रकार प्रतिदिन गाँवसे बाहर जाकर ब्रह्मयज्ञ करना बहुत सरल है।

नियमोंकी कठिनाईके कारण जब ब्रह्मचारिगण प्रतिदिन अधिक वेदपाठ करनेमें असमर्थ हो गये, तब शुचि नामक महर्षिके पुत्र शौच और अह्नि माताके पुत्र आह्नेय—दोनोंने ब्रह्मयज्ञके नियमोंमें परिवर्तन किया—

ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीत दिवा नक्तं वा इति ह स्माऽऽह शौच आह्नेयः उतारण्येऽबल उत वाचोत तिष्ठन्नुत व्रजन्नुताऽऽसीन उत शयानोऽधीयीतैव स्वाध्यायं तपस्वी पुण्यो भवति॥ (तै० आ० २। १२)

'अशक्त हों तो घरपर ही रहकर दिन और रात दोनों समय मानसिक पाठ कर सकते हैं। सशक्त हों तो अरण्यमें बैठकर, उठकर, भ्रमण करते हुए, सोकर, मनसे, ऊँचे स्वरसे या किसी स्वरसे ब्रह्मयज्ञ करना ही चाहिये'—ऐसा क्रम बतलाया। तबसे ब्रह्मयज्ञको संकीर्तनका स्वरूप प्राप्त हुआ, वेद-भक्तोंको तृप्तिका अनुभव होने लगा और तन्मयता आने लगी—

य एवं विद्वान् महारात्र उषस्युदिते व्रजꣳस्तिष्ठन्नासीनः शयानोऽरण्ये ग्रामे वा यावत्तरसꣳ स्वाध्यायमधीते सर्वाँल्लोकान् जयति सर्वाँल्लोकाननृणोऽनुसंचरति। (तै० आ० २। १५)

तन्मयता आनेके बाद महात्मा लोग निःसंकोच मध्यरात्रिमें, उषाकालमें, सूर्योदयके बाद आते-जाते, खड़े होकर, बैठकर, जमीनपर पड़कर, वनमें या गाँवमें जितना हो सका, ऊँचे स्वरसे ब्रह्मयज्ञ करने लगे और चौदह लोकोंमें विजय प्राप्त करके विचरण करने लगे।

वेदके अनध्याय कालके सम्बन्धमें तैत्तिरीय आरण्यक (२। १४)-में ही कहा गया है—

य एवं विद्वान् मेघे वर्षति विद्योतमाने स्तनयत्यवस्फूर्जति पवमाने वायावमावास्यायाꣳ स्वाध्यायमधीते तप एव तत्तप्यते तपो हि स्वाध्याय इति।

श्रावण-भाद्रपदमें अमावास्याके आस-पास आकाश घने मेघोंसे आच्छादित होता है। मेघोंके परस्पर आकर्षणसे स्फोट होकर प्रचण्ड शब्द होता है। तब प्रचण्ड पवनका भी आगमन होकर शब्द बढ़ता है, विद्युत् चमकती है। ऐसे समयमें वेदपाठ वर्जित है। मनुस्मृति (४। १०३)-में उल्लेख है—

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च सम्प्लवे।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत्॥

स्वाध्याय महान् तप है; पर सदा संकीर्तन करनेवाले भी परम धन्य हैं, कृतकृत्य हैं—यदि शरीरमें रोमाञ्च एवं गद्गद स्वर हो जाय, आँखोंसे आँसू बहने लगें। प्रतिपत्, अष्टमी, पूर्णिमा, अमावास्याकी तिथियोंको अनध्यायका नियम है। इन तिथियोंमें वेदका अध्ययन निषिद्ध है, पर ब्रह्मयज्ञ, स्तुति-कीर्तनादि निषिद्ध नहीं है। सायणाचार्यने वेद-भाष्यमें लिखा है—'**ग्रहणाध्ययने यान्यनध्यायकारणानि तानि ब्रह्मयज्ञाध्ययने स्वाध्यायं न निवारयन्ति**'। इस प्रकार अनध्याय आदिके समय भी संकीर्तन सदा चलता है। पुराण-पाठ भी चलते हैं।

संकीर्तनमें तुरीयावस्थामें पहुँच जानेके बाद पहलेके विधि-नियम, काल-नियम, आसनादि नियम भी गौण हो जाते हैं; किंतु कीर्तन-स्थान एवं कर्ताको शुद्ध रहना चाहिये—इन दो बातोंपर ध्यान रखना अनिवार्य है—'**तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वावनध्यायौ यदाऽऽत्माशुचिरशुचिश्च देशः।**' अतः भगवन्नाम-संकीर्तन ही सार्वकालिक शरण है।

वैदिक वाङ्मयमें पुनर्जन्म

(श्रीरामनाथजी 'सुमन')

पुनर्जन्म हिंदूधर्मका प्रधान विश्वास है। यही एक बात उसे इस्लाम तथा ईसाईधर्मसे भिन्न भूमिका प्रदान करती है। पुनर्जन्मका यह विश्वास सिद्धान्तरूपसे अत्यन्त प्राचीन है और हिंदू-ज्ञानका समस्त स्रोत वैदिक होनेके कारण वैदिक वाङ्मयमें उसके सूत्र बिखरे हुए हैं। उपनिषद् तो ऐसी कथाओंसे ओतप्रोत है, जिनसे पुनर्जन्म-सिद्धान्तमें हमारे विश्वासकी पुष्टि होती है; किंतु वेदोंमें भी कुछ कम प्रमाण नहीं हैं—

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति॥
पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः॥

(ऋक्० १०।५९।६-७)

इनमें परमात्माकी 'असुनीति' संज्ञासे स्पष्ट किया गया है कि वह प्राणरूप जीवको भोगके लिये एक देहसे दूसरी देहतक ले जाता है। उस 'असुनीति' परमात्मासे प्रार्थना है कि वह अगले जन्मोंमें भी हमें सुख दे और ऐसी कृपा करे कि सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि हमारे लिये कल्याणकारी सिद्ध हों।

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः॥

(ऋक्० १०।१६।५)

—इस मन्त्रमें ऋषि कहते हैं कि मृत्युके उपरान्त जब पञ्चतत्त्व अपने-अपनेमें मिल जाते हैं, तब जीवात्मा बच रहता है और यह जीवात्मा ही दूसरी देह धारण करता है।

अथर्ववेद तो ऐसे मन्त्रोंसे परिपूर्ण है, जिनसे पुनर्जन्मकी समस्यापर किसी-न-किसी रूपमें प्रकाश पड़ता है। कहीं अगले जन्ममें विशिष्ट वस्तुएँ पानेके लिये प्रार्थना है, कहीं स्पष्ट कहा गया है कि पूर्वजन्मके अच्छे-बुरे कर्मोंके अनुसार ही जीवात्मा नवीन योनियोंमें शरीर धारण करता है। कर्मानुसार पशुयोनिमें जन्म लेनेका भी उल्लेख इन मन्त्रोंमें पाया जाता है—

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव॥

(अथर्व० ७।६७।१)

—इसमें अगले जन्ममें कल्याणमयी इन्द्रियोंकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना है।

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत॥

(अथर्व० ५।१।२)

—इसमें ऋषि कहते हैं कि पूर्वजन्मकृत पाप-पुण्यका भोगी जीवात्मा है और वह पिछले जन्ममें जो पाप-पुण्य किये रहता है, उसीके अनुसार अच्छे-बुरे शरीर धारण करता है। अच्छा कर्म करनेवाला अच्छा शरीर धारण करता है और अधर्माचरण करनेवाला पशु आदि योनियोंमें भी जन्म लेता है।

आत्मा तो नित्य है, किंतु कर्मकी प्रेरणावश ही पिताद्वारा पुत्र-शरीरमें प्रविष्ट होता है। वही जीवात्मा प्राण है और वही गर्भमें जलीय तत्त्वोंसे आवेष्टित पड़ा रहता है—

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः॥

(अथर्व० ११।४।२०)

'जायते पुनः' शब्द बहुत ही स्पष्टरूपसे पुनर्जन्मकी घोषणा करता है।

यजुर्वेदके कुछ मन्त्र लीजिये—

पुनर्मनः पुनरायुर्म आऽगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आऽगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आऽगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥

(४।१५)

—इसमें फिरसे जीवात्माके आगमनकी बात स्पष्टरूपसे कही गयी है। इतना ही नहीं, आगे चलकर तो कर्मगतिका भी विश्लेषण है और बताया गया है कि उसीके अनुसार कुछ लोग मुक्त हो जाते हैं तथा दूसरे मर्त्यपुरुष बार-बार जन्म लेते रहते हैं—

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥

(यजु० १९। ४७)

जहाँ पहलेके उद्धृत मन्त्रोंमें जीवात्माके पश्वादि योनियोंमें जन्म लेनेकी ओर संकेत मिलता है, वहाँ यजुर्वेदमें इसका भी उल्लेख प्राप्त है कि जीवात्मा न केवल मानव या पशु योनियोंमें जन्म लेता है, अपितु जल, वनस्पति, ओषधि इत्यादि नाना स्थानोंमें भ्रमण और निवास करता हुआ बार-बार जन्म धारण करता है—

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे।
गर्भे सञ्जायसे पुनः॥
गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि॥
प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने।
सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनराऽसदः॥
पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने।
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याꣳ शिवतमः॥

(यजु० १२। ३६—३९)

यजुर्वेदके अन्तिमांशमें तो यह भी कहा गया है कि मनुष्यको अपने कर्मोंके अनुसार ही आगे जन्म धारण करना होगा। इसलिये जब मृत्यु सामने खड़ी हो और पञ्चतत्त्वनिर्मित शरीरके भस्मावशेष होनेका समय आ जाय, तब उसे अपने कर्मोंका स्मरण करना चाहिये—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतꣳ स्मर॥

(यजु० ४०। १५)

हमारे प्राचीन वाङ्मयमें यम और नचिकेताका संवाद प्रसिद्ध है। नचिकेता प्रसिद्ध ऋषि वाजश्रवसका पुत्र था। जब वाजश्रवसके संन्यास ग्रहण करनेका समय आया, तब सर्वमेधयज्ञ करनेके पश्चात् वे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तिका वितरण करने लगे। तब पुत्र नचिकेताके मुँहसे कहीं निकल गया कि 'सब चीजें आप दे रहे हैं तो मुझे किसको देंगे?' कुछ अटपटा-सा प्रश्न था, इसलिये पिताने उसपर ध्यान नहीं दिया—समझा, बालक है, यों ही कहता होगा। वे बँटवारेके काममें लगे रहे। उधर बालक नचिकेता बार-बार वही प्रश्न पूछने लगा। इससे खीझकर वाजश्रवसने कह दिया— '**मृत्यवे त्वा ददामीति**'— 'तुझे मृत्युको दूँगा।' कहनेको कह दिया, परंतु पिता ही थे, दुःख और पश्चात्तापसे हृदय भर आया। नचिकेता पिताको दुःखी देखकर बोला— 'आप दुःख क्यों करते हैं? यह शरीर तो धान्यकी भाँति मरता है और उसीकी तरह पुनः उग आता है'—'**सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः**' (कठ० १। १। ६)। बालकका बहुत आग्रह देखकर पिताने पुत्रको मृत्यु-विषयक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आचार्य यमके पास भेज दिया। नचिकेता जब यमके आश्रममें पहुँचा, तब वे कहीं बाहर गये हुए थे। तीन दिन बाद लौटे। उन्हें यह जानकर बड़ा क्लेश हुआ कि हमारे यहाँ अतिथिरूपमें आकर भी नचिकेता तीन दिनोंका भूखा है। उसके परिमार्जनके लिये उन्होंने कहा— 'तुम मुझसे तीन वर माँग सकते हो।'

नचिकेताने और वरोंके साथ तीसरे वरके रूपमें आत्मतत्त्वका रहस्य जानना चाहा। उसने पूछा— 'आत्माकी सत्ता है या नहीं?'— '**अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके**' (कठ० १। १। २०)। यमने सोचा था कि बालक धन-धान्य, पुत्र-पौत्र, दीर्घायु इत्यादिकी याचना करेगा; किंतु उसने तो एक रहस्यका ज्ञान माँगा। उन्होंने बालकको बहुत समझाया कि 'अपने मतलबके भोग्य पदार्थ माँग ले, जो माँगेगा मैं दूँगा; किंतु यह प्रश्न गहन है और तेरे किसी कामका भी नहीं है।'

किंतु नचिकेता तो अपने मनके संशयको दूरकर शुद्ध ज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशित होना चाहता था, इसलिये उसने विनीत भावसे कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥

(कठ० १। १। २६, २९)

नचिकेता कहता है कि 'मैं तो बस उसी आत्मतत्त्वका

रहस्य जानना चाहता हूँ, जिसके बारेमें तरह-तरहके संशय—संदेह उठा करते हैं; जिसके विषयमें कई कहते हैं कि मृत्युके बाद भी बचा रहता है, कई कहते हैं कि नहीं बचता। मुझे निर्णय करके बताइये कि वह क्या नित्य है और मृत्युके बाद भी रहता है या नहीं रहता।'

इसके बाद यमने नचिकेताको आत्मतत्त्वका रहस्य समझाते हुए उसकी विशद व्याख्या की है। अपनी व्याख्यामें यम कहते हैं कि 'जो व्यक्ति इसी लोकके भोगोंमें डूबे रहते हैं, उनका बार-बार जन्म होता है। किंतु जो आत्माको नित्य समझ, परलोकका ध्यान रखकर सत्कार्य करते हैं, वे जन्म-मरणके बन्धनसे छूट सकते हैं।' फिर यम आगे कहते हैं—

हꣳसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षस-
द्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा
गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥

(कठ० २। २। २)

'तं विद्याच्छुक्रममृतं विद्याच्छुक्रममृतम्॥'

(कठ० २। ३। १७)

यह 'हंस' (जीवात्मा) अन्तरिक्षमें, परमात्मामें, हृदयाकाशमें रहता है, यज्ञ करता है, पृथिवीपर जन्म लेता है, परंतु वह शरीरमें अतिथिमात्र है। ………यह स्वयं अमर है।

उत्तरके अन्तमें यमने यह भी कहा है कि 'तर्क वहाँतक नहीं पहुँच सकता'— **'नैष तर्केण मतिरापनेया'** (कठ० १। २। ९)—उसे निश्चित जानो और वह है, यही समझो।

उपनिषद् और गीतामें तो पुनर्जन्मका स्पष्ट निर्देश बार-बार आता है। शास्त्रग्रन्थोंमें वैदिक उक्तियोंपर तर्कसम्मत विवेचन भी प्राप्त है। पुराणोंमें इसका और भी विशद विश्लेषण—विवेचन मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदके ऋषियोंने पुनर्जन्मके जिस सत्यको सूत्रवत् कहा था, बादके हिंदू-धर्मग्रन्थोंमें उसकी अभिवृद्धि होती गयी है। आर्यधर्म—हिंदूधर्म पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्तके जिस मूलाधारपर खड़ा है, वैदिक वाङ्मयसे आजतक बराबर उसकी पुष्टि होती आयी है।

वेदमें योगविद्या

(श्रीजगन्नाथजी वेदालङ्कार)

सभी धर्म, कर्म, योग, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति आदि सत्कर्म वेदोंद्वारा निर्दिष्ट हैं और उनसे ही निःसृत माने गये हैं। यहाँतक कि भविष्यमें होनेवाले ज्ञान-विज्ञान तथा कला-साहित्य आदिका भी वेदोंमें उत्स प्राप्त है—

'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥'

(मनु० १२। ९७)

यहाँ संक्षेपमें योगमूलक कुछ वैदिक मन्त्रोंका निर्देश किया जा रहा है। 'योग' शब्दका अर्थ है जोड़ना अथवा युक्त करना, समाहित अथवा एकाग्र होना। अपने आत्माको परमात्माके साथ युक्त करना ही 'योग' है और जिस साधनसे इस प्रकारका योग एवं सायुज्य प्राप्त होता है, वह भी 'योग' कहलाता है। योग-भाष्यके रचयिता महर्षि व्यास कहते हैं कि पूर्ण एकाग्रतासे परमात्मामें समाहित हो जाना, समाधिकी अवस्था प्राप्त कर लेना भी योग है अर्थात् 'योग' शब्द साधन और साध्य दोनोंका वाचक है।

ऋग्वेदके एक मन्त्रमें यह शब्द इन्हीं अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥

(१। १८। ७)

अर्थात् जिन (इन्द्राग्नि) देवताके बिना प्रकाशपूर्ण ज्ञानीका जीवन-यज्ञ भी सफल नहीं होता, उसीमें ज्ञानियोंको अपनी बुद्धि एवं कर्मोंका योग करना चाहिये, उसी देवमें उन्हें अपनी बुद्धि और कर्मोंको अनन्यरूपमें एकाग्र करना चाहिये। उनकी बुद्धि उस देवके साथ तदाकार हो जाती है और वह उनके कर्मोंमें भी ओतप्रोत हो जाता है।

योगके इस प्रधान लक्षणका प्रतिपादन यजुर्वेदके ११ वें अध्यायके प्रथम पाँच मन्त्रोंमें अत्यन्त स्पष्ट और सरल शब्दोंमें किया गया है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याऽभरत्॥

सबको उत्पन्न करनेवाले परमात्मा पहले हमारे मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको तत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपने दिव्य स्वरूपमें लगायें तथा अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओंकी; जो विषयोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य है, उसे दृष्टिमें रखते हुए बाह्य विषयोंसे लौटाकर हमारी इन्द्रियोंमें स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दें; जिससे हमारी इन्द्रियोंका प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मनकी स्थिरतामें सहायक हो।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या॥

हम लोग सबको उत्पन्न करनेवाले परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमें लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करें अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्‌की आराधनामें लगा रहे और हम भगवत्प्राप्तिजनित अनुभूतिके लिये पूर्णशक्तिसे प्रयत्नशील रहें।

युक्त्वाय सविता देवान्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्र सुवाति तान्॥

वे सबको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको; जो स्वर्ग आदि लोकोंमें एवं आकाशमें विचरनेवाले तथा बड़ा भारी प्रकाश फैलानेवाले हैं। हमारे मन और बुद्धिसे संयुक्त करके हमें प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रेरणा करें, ताकि हम उन परमेश्वरका साक्षात् करनेके लिये प्रकाश फैलाते रहें। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यानमें विघ्न न करें।

इसी प्रकार ऋग्वेद (१। ८६। ९-१०)-में कहा गया है—

यूयं तत् सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना।
विध्यता विद्युता रक्षः॥
गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥

—इन मन्त्रोंमें गौतम ऋषि मरुत्-देवताओंका आवाहन कर उनसे ज्योतिप्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं—'हे सत्यके बलसे सम्पन्न मरुतो! तुम्हारी महिमासे वह परमतत्त्व हमारे सामने प्रकाशित हो गया। विद्युत्‌के सदृश अपने प्रकाशसे राक्षसका विनाश कर डालो। हृदय-गुहामें स्थित अन्धकारको छिन्न-भिन्न कर दो, जिससे वह अन्धकार सत्यकी ज्योतिकी नावमें डूबकर तिरोहित हो जाय। हमारी अभीष्ट ज्योतिको प्रकट कर दो।'

यहाँ मरुत्-देवताओंसे योगपरक अर्थ करनेमें पञ्चप्राण—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यानका भी ग्रहण हो सकता है। इनपर पूर्णप्रभुत्वकी प्राप्तिसे योगाभ्यासीको शक्तिके आरोहणका अनुभव और परमतत्त्वका साक्षात्कार प्राप्त होता है। साक्षात्कारसे जिस ज्योतिके दर्शन होते हैं, वही योगीका अभीष्ट ध्येय है।

अथर्ववेदके एक मन्त्रमें राजयोगकी प्राणायाम-प्रणालीसे होनेवाली शक्तिके आरोहणका वर्णन प्रतीकात्मक भाषामें किया गया है।

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ (४। १४। ३)

—इस मन्त्रमें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ क्रमशः अन्न, प्राण और मनकी भूमिकाओंके प्रतीक हैं तथा स्वर्ज्योति मन और वाणीसे परे स्थित, वाङ्मनस-अगोचर विज्ञानमय भूमिकाका प्रतीक है। प्राणायामसे सिद्धिप्राप्त साधक कहता है 'मैंने पृथ्वीके तलसे अन्तरिक्षके लिये आरोहण किया, अन्तरिक्षसे द्युलोकमें और आनन्दमय द्युलोकसे आरोहण करके मैं स्वर्लोकके ज्योतिर्मयधाममें पहुँच गया।' पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार ये भूमिकाएँ विक्षिप्त, असम्प्रज्ञात और कैवल्य कहलाती हैं।

चेतनाके उत्तरोत्तर आरोहणक्रममें योगीको जो अनुभूतियाँ होती हैं, उनका वेदोंमें अनेकत्र वर्णन किया गया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

(अथर्व० १०। २। ३१)

इस मन्त्रमें यह कहा गया है कि 'आठ चक्रों और नौ द्वारोंसे युक्त हमारी यह देहपुरी एक अपराजेय देवनगरी है। इसमें एक तेजस्वी कोश है, जो ज्योति और आनन्दसे परिपूर्ण है।'

वैदिक योग-साधनाका ध्येय है आत्माका परमात्माके साथ ऐक्य। उसके लिये साधककी अभीप्सा निम्नलिखित मन्त्रमें सुन्दर ढंगसे व्यक्त की गयी है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥

(ऋक् ० ८। ४४। २३)

अर्थात् 'हे अग्निदेव! यदि मैं तू हो जाऊँ अर्थात् सर्वसमृद्धिसम्पन्न हो जाऊँ या तू मैं हो जाय तो इस लोकमें तेरे सभी आशीर्वाद सत्य सिद्ध हो जायँ।'

इस प्रकार यहाँ वेदमन्त्रोंके आधारपर योग-सम्बन्धी कुछ रहस्यात्मक तत्त्व संक्षेपमें निर्दिष्ट किये गये हैं। प्राचीन या अर्वाचीन सभी योगमार्ग वेदमूलक ही हैं, जो वेदोंमें योगके कल्याणके लिये निर्दिष्ट हुए हैं। इस सूक्तके उपदेशोंके आधारपर प्राणिमात्रके प्रति मैत्रीभावना और समदृष्टिका अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास सिद्ध हो जानेपर अपने हृदयके सभी भावोंको भगवान्‌की ओर ही प्रेरित करें, सभी सांसारिक सम्बन्धों और अलौकिक सम्बन्धोंको भगवान्‌के साथ ही जोड़ दें। अनेक वेदमन्त्रोंमें यह उपदेश दिया गया है कि हमें माता-पिता, पुत्र-पुत्री, मित्र, कलत्र, बन्धु-बान्धव आदि सभी सम्बन्ध अपने सच्चे और अनन्यबन्धु भगवान्‌के साथ ही जोड़ने चाहिये, संसारी जनोंके साथ नहीं। सांसारिक आसक्तियोंको दूर करने और भगवान्‌में परम अनुरक्ति तथा रति उत्पन्न करनेका इससे सरल एवं सरस मार्ग अन्य कोई नहीं है। हृदयके सभी भावों और निखिल कामनाओंको भगवान्‌की ओर मोड़ देनेसे ही उनके साथ सारूप्य, साधर्म्य, सायुज्य और ऐकात्म्य सहजतया प्राप्त हो सकता है।

[प्रेषक—श्रीबलरामजी सैनी]

वेदोंमें पर्यावरण-रक्षा

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्०डी०)

भारतके मनीषियोंने हजारों वर्ष पूर्व मानव-जीवनके कल्याणार्थ पर्यावरणका महत्त्व और उसकी रक्षा, प्रकृतिसे सांनिध्य, संवेदनशीलता, रोगोंके उपचार तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी अनेक उपयोगी तत्त्व निकाले थे। वेदकालीन समाजमें न केवल पर्यावरणके सभी पहलुओंपर चौकन्नी दृष्टि थी, वरन् उसकी रक्षा और महत्त्वको भी स्पष्ट किया गया था। उन लोगोंकी भी दृष्टि पर्यावरण-प्रदूषणकी ओर थी, अतः उन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्षरूपमें पर्यावरणकी रक्षा की और समाजका ध्यान इस ओर आकर्षित किया था। वे भूमिको ईश्वरका रूप ही मानते थे। पर्यावरणकी रक्षा पूजाका एक अविभाज्य अङ्ग था, जैसा कि कहा भी गया है—

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

(अथर्ववेद १०। ७। ३२)

अर्थात् 'भूमि जिसकी पादस्थानीय और अन्तरिक्ष उदरके समान है तथा द्युलोक जिसका मस्तक है, उन सबसे बड़े ब्रह्मको नमस्कार है।'

यहाँ परमब्रह्म परमेश्वरको नमस्कारकर प्रकृतिके अनुसार चलनेका निर्देश किया गया है। वेदोंके अनुसार प्रकृति एवं पुरुषका सम्बन्ध एक-दूसरेपर आधारित है। ऋग्वेदमें प्रकृतिका मनोहारी चित्रण हुआ है। वहाँ प्राकृतिक जीवनको ही सुख-शान्तिका आधार माना गया है। किस ऋतुमें कैसा रहन-सहन हो, क्या खान-पान हो, क्या सावधानियाँ हों—इन सबका सम्यक् वर्णन है।

ऋग्वेद (७। १०३। ७)-में वर्षा-ऋतुको उत्सव मानकर शस्यश्यामला प्रकृतिके साथ अपनी हार्दिक प्रसन्नताकी अभिव्यक्ति की गयी है—

ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः।
संवत्सरस्य तदहः परि ष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव॥

अर्थात् 'जैसे जिस दिन पहली वर्षा होती है, उस दिन मेढक सरोवरोंको पूर्णरूपसे भर जानेकी कामनासे चारों ओर बोलते हैं, इधर-उधर स्थिर होते हैं, उसी प्रकार हे ब्राह्मणो! तुम भी रात्रिके अनन्तर ब्राह्म मुहूर्तमें जिस समय सौम्य-वृद्धि होती है, उस समय वेद-ध्वनिसे परमेश्वरके यज्ञका वर्णन करते हुए वर्षा-ऋतुके आगमनको उत्सवकी तरह मनाओ।'

वेदोंमें पर्यावरणको अनेक वर्गोंमें बाँटा जा सकता

है। जैसे—(१) वायु, (२) जल, (३) ध्वनि, (४) खाद्य और (५) मिट्टी, वनस्पति, वनसम्पदा, पशु-पक्षी-संरक्षण आदि। सजीव जगत्के लिये पर्यावरणकी रक्षामें वायुकी स्वच्छताका प्रथम स्थान है। बिना प्राणवायु (ऑक्सीजन)-के क्षणभर भी जीवित रहना सम्भव नहीं है। ईश्वरने प्राणिजगत्के लिये सम्पूर्ण पृथ्वीके चारों ओर वायुका सागर फैला रखा है। हमारे शरीरके अंदर रक्त-वाहिनियोंमें बहता हुआ रक्त बाहरकी तरफ दबाव डालता रहता है, यदि इसे संतुलित नहीं किया जाय तो शरीरकी सभी धमनियाँ फट जायँगी तथा जीवन नष्ट हो जायगा। वायुका सागर इससे हमारी रक्षा करता है। पेड़-पौधे ऑक्सीजन देकर क्लोरोफिलकी उपस्थितिमें, इसमेंसे कार्बनडाईऑक्साइड अपने लिये रख लेते हैं और ऑक्सीजन हमें देते हैं। इस प्रकार पेड़-पौधे वायुकी शुद्धिद्वारा हमारी प्राण-रक्षा करते हैं।

वायुकी शुद्धिपर बल

वायुकी शुद्धि जीवनके लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस तत्त्वको यजुर्वेद (२७। १२)-में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देवः।
पथो अनक्तु मध्वा घृतेन॥

अर्थात् 'उत्तम गुणवाले पदार्थोंमें उत्तम गुणवाला प्रकाशरहित तथा सबको प्राप्त होनेवाला (**'तनूनपात्'**) जो वायु शरीरमें नहीं गिरता, वह कामना करनेयोग्य मधुर जलके साथ श्रोत्र आदि मार्गको प्रकट करे, उसको तुम जानो।'

वायुको शुद्ध तथा अशुद्ध दो भागोंमें बाँटा गया है— (१) श्वास लेनेके योग्य शुद्ध वायु तथा (२) जीवमात्रके लिये हानिकारक दूषित वायु—

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः॥

(ऋक्० १०। १३७। २)

अर्थात् 'प्रत्यक्षभूत दोनों प्रकारकी हवाएँ सागर-पर्यन्त और समुद्रसे दूर प्रदेशपर्यन्त बहती रहती हैं। हे साधक! एक तो तेरे लिये बलको प्राप्त कराती है और एक जो दूषित है, उसे दूर फेंक देती है।'

हजारों वर्ष पूर्व हमारे पूर्वजोंको यह ज्ञान था कि हवा कई प्रकारके गैसोंका मिश्रण है, जिनके अलग-अलग गुण एवं अवगुण हैं; इनमें ही प्राणवायु (ऑक्सीजन) भी है, जो जीवनके लिये अत्यन्त आवश्यक है—

यददौ वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे॥ (ऋक्० १०। १८६। ३)

अर्थात् 'इस वायुके गृहमें जो यह अमरत्वकी धरोहर स्थापित है, वह हमारे जीवनके लिये आवश्यक है।'

शुद्ध वायु कई रोगोंके लिये औषधिका काम करती है, यह निम्न ऋचामें दिखाया गया है—

आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षं ते भद्रमाभार्षं परा यक्ष्मं सुवामि ते॥

(ऋक्० १०। १३७। ४)

अर्थात् यह जानो कि शुद्ध वायु तपेदिक-जैसे घातक रोगोंके लिये औषधिरूप है। 'हे रोगी मनुष्य! मैं वैद्य तेरे पास सुखकर और अहिंसाकर रक्षणमें आया हूँ। तेरे लिये कल्याणकारक बलको शुद्ध वायुके द्वारा लाता हूँ और तेरे जीर्ण रोगको दूर करता हूँ।' हृदयरोग, तपेदिक तथा निमोनिया आदि रोगोंमें वायुको बाहरी साधनोंद्वारा लेना जरूरी है, यहाँ यह संकेत है—

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूँषि तारिषत्॥ (ऋक्० १०। १८६। १)

अर्थात् 'याद रखिये शुद्ध ताजी वायु अमूल्य औषधि है, जो हमारे हृदयके लिये दवाके समान उपयोगी है, आनन्ददायक है। वह उसे प्राप्त कराता है और हमारी आयुको बढ़ाता है।'

जल-प्रदूषण और उसका निदान

जल मानव-जीवनमें पेयके रूपमें, सफाई एवं धोनेमें, वस्तुओंको ठंडा रखने तथा गरमीसे राहत पानेमें, विद्युत्-उत्पादनमें, नदियों-झीलों और समुद्रमें सवारियों और सामानोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पहुँचानेके लिये भाप-इंजनोंको चलानेमें, अग्नि बुझानेमें, कृषि-सिंचाई तथा उद्योगों और भोजन बनानेमें अति आवश्यक है। सभी जीवधारी जलका उपयोग निरन्तर करते रहते हैं, जलके बिना जीवन सम्भव नहीं है। औद्योगिकीकरणके परिणामस्वरूप कल-कारखानोंकी संख्यामें पर्याप्त वृद्धि, कारखानोंसे उत्पन्न अपशिष्ट पदार्थ—कूड़ा-करकट,

रासायनिक अपशिष्ट आदि नदियोंमें मिलते रहते हैं। अधिकांश कल-कारखाने नदियों-झीलों तथा तालाबोंके निकट होते हैं, जनसंख्या-वृद्धिके कारण मल-मूत्र नदियोंमें बहा दिया जाता है, गाँवों तथा नगरोंका गंदा पानी प्रायः एक बड़े नालेके रूपमें नदियों-तालाबों और कुओंमें अंदर-ही-अंदर आ मिलता है। समुद्रमें परमाणु-विस्फोटसे भी जल प्रदूषित हो जाता है। वेदोंमें जल-प्रदूषणकी समस्यापर विस्तारसे प्रकाश पड़ा है।

मकानके पास ही शुद्ध जलसे भरा हुआ जलाशय होना चाहिये—

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना॥

(अथर्ववेद ३। १२। ९)

अर्थात् 'अच्छे प्रकारसे रोगरहित तथा रोगनाशक इस जलको मैं लाता हूँ। शुद्ध जलपान करनेसे मैं मृत्युसे बचा रहूँगा। अन्न, घृत, दुग्ध आदि सामग्री तथा अग्निके सहित घरोंमें आकर अच्छी तरह बैठता हूँ।'

शुद्ध जल मनुष्यको दीर्घ आयु प्रदान करनेवाला, प्राणोंका रक्षक तथा कल्याणकारी है—यह भाव निम्न ऋचामें देखिये—

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शं योरभि स्रवन्तु नः॥ (ऋक्० १०। ९। ४)

अर्थात् 'सुखमय जल हमारे अभीष्टकी प्राप्तिके लिये तथा रक्षाके लिये कल्याणकारी हो। जल हमपर सुख-समृद्धिकी वर्षा करे।'

जल चेहरेका सौन्दर्य तथा कोमलता और कान्ति बढ़ानेमें औषधिरूप है। भोजनके पाचनमें अधिक जल पीना आवश्यक है, यह विचार निम्न ऋचामें देखिये—

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत्ताः।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्॥

(अथर्ववेद ३। १३। ५)

अर्थात् 'याद रखिये, जल मङ्गलमय और घीके समान पुष्टिदाता है तथा वही मधुरताभरी जलधाराओंका स्रोत भी है। भोजनके पचानेमें उपयोगी तीव्र रस है। प्राण और कान्ति, बल और पौरुष देनेवाला, अमरताकी ओर ले जानेवाला मूल तत्त्व है।' आशय यह है कि जलके उचित उपयोगसे प्राणियोंका बल, तेज, दृष्टि और श्रवण-शक्तियाँ बढ़ती हैं।

एक ऋचामें कहा गया है कि जलसे ही देखने-सुनने एवं बोलनेकी शक्ति प्राप्त होती है। भूख, दुःख, चिन्ता, मृत्युके त्यागपूर्वक अमृत (आनन्द) प्राप्त होता है—

आदित्पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम्।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः॥

(अथर्ववेद ३। १३। ६)

तात्पर्य यह है कि 'देखने-सुनने एवं बोलनेकी शक्ति बिना पर्याप्त जलके उपयोगके नहीं आती। जल ही जीवनका आधार है। अधिकांश जीव जलमें ही जन्म लेते हैं और उसीमें रहते हैं। हे जलधारको! मेरे निकट आओ। तुम अमृत हो।'

कृषि-कर्मका महत्त्व निम्न ऋचामें देखिये, किसानोंके नेत्र जलके लिये वर्षा-ऋतुमें बादलोंपर ही लगे रहते हैं—

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः॥ (ऋक्० १०। ९। ३)

'हे जल! तुम अन्नकी प्राप्तिके लिये उपयोगी हो। तुमपर जीवन तथा नाना प्रकारकी औषधियाँ, वनस्पतियाँ एवं अन्न आदि पदार्थ निर्भर हैं। तुम औषधिरूप हो।'

ध्वनि-प्रदूषण एवं उसका निदान

भजन-कीर्तन, धार्मिक गीत-गान, धर्मग्रन्थोंका पाठ, प्रार्थना, स्तुति, गुरुग्रन्थसाहिबका अखण्ड पाठ, रामायण, मीरा तथा नानक एवं कबीरके भक्ति-प्रधान भजन उपयोगी हैं। संगीत भक्ति-पूजाका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। खेद है कि आजकल ध्वनिके साधनका दुरुपयोग हो रहा है। रेडियो, ट्रांजिस्टर, टी.वी. ध्वनि-प्रसारक यन्त्र जोर-जोरसे सारे दिन कान फाड़ते रहते हैं। इससे सिरदर्द, तनाव, अनिद्रा आदि फैल रहे हैं। वेदोंमें कहा गया है कि हम स्वास्थ्यकी दृष्टिसे अधिक तीखी ध्वनिसे बचें, आपसमें वार्ता करते समय धीमा एवं मधुर बोलें—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

(अथर्ववेद ३। ३०। ३)

अर्थात् 'भाई भाईसे, बहन बहनसे अथवा परिवारमें

कोई भी एक-दूसरेसे द्वेष न करे। सब सदस्य एकमत और एकव्रती होकर आपसमें शान्तिसे भद्र पुरुषोंके समान मधुरतासे बातचीत करें'—

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

(अथर्ववेद १। ३४। २)

अर्थात् 'मेरी जीभसे मधुर शब्द निकले। भगवान्‌का भजन-पूजन-कीर्तन करते समय मूलमें मधुरता हो। मधुरता मेरे कर्ममें निश्चयसे रहे। मेरे चित्तमें मधुरता बनी रहे।'

खाद्य-प्रदूषणसे बचाव

वेदोंने खाद्यके सम्बन्धमें वैज्ञानिक आधारपर निष्कर्ष दिया है। जैसे—

मनुष्य पाचनशक्तिसे भोजनको भलीभाँति खुद पचाये, जिससे वह शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर उसे सुखदायक बना सके। इसी प्रकार पेय पदार्थों, जैसे जल-दूध इत्यादिके विषयमें भी उल्लेख है—

यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम्॥

(अथर्ववेद ६। १३५। २)

अर्थात् 'मैं जो कुछ पीता हूँ, यथाविधि पीता हूँ; जैसे यथाविधि पीनेवाला समुद्र पचा लेता है। दूध-जल-जैसे पेय पदार्थोंको हम उचित रीतिसे ही पिया करें। जो कुछ खायें, अच्छी तरह चबाकर खायें'—

यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम्॥

(अथर्ववेद ६। १३५। ३)

अर्थात् 'जो भी खाद्य पदार्थ हम खायें, वह यथाविधि खायें, जल्दबाजी न करें। खूब चबा-चबाकर शान्तिपूर्वक खायें। जैसे, यथाविधि खानेवाला समुद्र सब कुछ पचा लेता है। हम शाक-फल-अन्न आदि रसवर्धक खाद्य पदार्थ ही खायें।'

मिट्टी (पृथ्वी) एवं वनस्पतियोंमें प्रदूषणकी रोकथाम

अथर्ववेदके १२ वें काण्डके प्रथम सूक्तमें पृथ्वीका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। सभी प्राणी पृथ्वीके पुत्र हैं। कहा गया है—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

पृथ्वीका निर्माण कैसे हुआ है, देखिये—

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः॥

(अथर्ववेद १२। १। २६)

अर्थात् 'भूमि चट्टान, पत्थर और मिट्टी है। मैं उसी हिरण्यगर्भा पृथ्वीके लिये स्वागत-वचन बोलता हूँ।'

नाना प्रकारके फल, औषधियाँ, फसलें, अनाज, पेड़-पौधे इसी मिट्टीपर उत्पन्न होते हैं। उनपर ही हमारा भोजन निर्भर है। अतः पृथ्वीको हम माताके समान आदर दें।

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे॥

(अथर्ववेद १२। १। ४२)

—याद रखिये, 'भोजन और स्वास्थ्य देनेवाली सभी वनस्पतियाँ इस भूमिपर ही उत्पन्न होती हैं। पृथ्वी सभी वनस्पतियोंकी माता और मेघ पिता है; क्योंकि वर्षाके रूपमें पानी बहाकर यह पृथ्वीमें गर्भाधान करता है।'

पृथ्वीमें नाना प्रकारकी धातुएँ ही नहीं, वरन् जल और खाद्यान्न, कन्द-मूल भी पर्याप्त मात्रामें पाये जाते हैं, चतुर मनुष्योंको उससे लाभ उठाना चाहिये—

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः॥

(अथर्ववेद १२। १। ६०)

भावार्थ यह है कि 'चतुर मनुष्य पृथ्वीतलके नीचेसे कन्द-मूल खाद्यान्न खोजकर जीवन-विकास करते हैं।'

हम अपनी मिट्टीसे न्याय नहीं कर रहे हैं। अंधाधुंध शहरीकरण, औद्योगिकीकरणके कारण वन तेजीसे काटे जा रहे हैं। मिट्टी ढीली पड़ती जा रही है। खेत अनुपजाऊ हो गये हैं। पेड़ोंके अभावमें वर्षा-ऋतु भी अनियन्त्रित हो गयी है। बढ़ती जनसंख्याकी खाद्य-समस्या मिट्टीके प्रदूषणसे फैली है।

वेदोंमें विमान

(डॉ० श्रीबालकृष्णजी एम्० ए०, पी-एच्० डी०, एफ० आर० ई० एस०)

यूरोपीय विद्वानोंके मतानुसार वेदोंमें उच्च सभ्यताके नमूने नहीं हो सकते। विकासवादके अनुसार वेद एक प्राचीन और प्राथमिक मनुष्योंके गीत ही हो सकते हैं। वस्तुतः विकासवादके सिद्धान्तको सत्य मानकर ही वेद-विषयक ऐसी अटकलें लगायी जाती हैं। मेरे विचारसे तो वेद इनके विकासवादकी सत्यतापर ही कुठाराघात करते हैं। इसका एक प्रमाण वेदोंमें विमानोंका वर्णन होना है। यदि वैदिक युगमें विमान बनाये जाते थे तो उस कालकी सभ्यता अवश्यमेव उच्च होनी चाहिये। निम्न प्रमाणोंसे पाठक स्वयं निश्चित कर सकते हैं कि वेदमें 'उड़नखटोलियों'-का वर्णन है या कवियोंकी 'कपोल-कल्पना'का चित्र है अथवा 'सच्चे विमानों' का वर्णन।

ग्रिफिथने ऋग्वेदके चौथे मण्डलके ३६ वें सूक्तकी इतनी बुरी तरह हत्या की है कि वह बोधगम्य ही नहीं रहा है। यदि सायणके भाष्यसे काम लिया गया होता तो इस विवादग्रस्त प्रश्नपर अवश्य प्रकाश पड़ता। जो हो, इस ऋग्वेदीय सूक्तके निम्नलिखित मन्त्रार्थों एवं भावानुवादोंसे सरलतापूर्वक निर्धारित किया जा सकता है कि जिस वायुयानके विषयमें वर्णन मिलता है, वह काल्पनिक है या वास्तविक। मैंने सायणके अनुवादको ही अपनाया है।

'हे रैभव! तुमने जिस रथका निर्माण किया, उसमें न तो अस्त्रोंकी आवश्यकता है और न धुरीकी। यह तीन पहियोंका प्रशंसनीय रथ वायुमण्डलमें विचरण करता है। तुम्हारा यह आविष्कार महान् है। इसने तुम्हारी तेजोमयी शक्तियोंको पूज्य बनाया है। तुमने इस कार्यमें स्वर्ग एवं मर्त्यलोक, दोनोंको दृढ़ एवं धनी बनाया है' (ऋक्० ४। ३६। १)।

'प्रखरबुद्धि रैभवने ऐसे सुन्दर घूमनेवाले रथका निर्माण किया, जो कभी गलती नहीं करता। हम इन्हें अपना सोमरस पान करनेके लिये आमन्त्रित करते हैं' (ऋक्० ४। ३६। २)।

'हे रैभव! तुम्हारी महत्ताका लोहा बुद्धिमानोंने मान लिया है' (ऋक्० ४। ३६। ३)।

'विशेष तेजस्वी ऋभुओंद्वारा जिस रथका निर्माण हुआ, वे जिसकी रक्षा या जिसे प्यार करते हैं, उस रथकी मानवसमाजमें प्रशंसा है' (ऋक्० ४। ३६। ५)।

ऋभुओंद्वारा निर्मित रथ एक ऐसा अभूतपूर्व आविष्कार था, जिसकी प्रशंसा जन-साधारण एवं विद्वान्—दोनों द्वारा होती थी। इस रथने संसारमें एक सनसनी फैला दी थी।

इस वायुयानसे किसी प्रकारकी आवाज नहीं होती थी। यह अपने निश्चित पथपर वायुमण्डलमें विचरण करता था और इधर-उधर न जाकर सीधे अपने गन्तव्य स्थानको जाता था।

'यह रथ बिना अश्वके संचालित होता था' (ऋक्० १। ११२। १२ और १०। १२०। १०)। यह स्वर्णरथ त्रिकोण एवं त्रिस्तम्भ था।

ऋभुओंने एक ऐसे रथका निर्माण किया था, जो 'सर्वत्र जा सकता था' (ऋक्० १। २०। ३; १०। ३९। १२; १। ९२। २८ और १२९। ४; ५। ७५। ३ और ७७। ३, ८५। २९; १। ३४। १२ और ४७। २; १। ३४। २ और ११८। १-२ तथा १५७। ३)।

कुछ और मन्त्र देखिये—

'हे धनदाता अश्विनो! तुम्हारा गरुडवत् वेगवान् दिव्य रथ हमारे पास आवे। यह मानव-बुद्धिसे भी तेज है। इसमें तीन स्तम्भ लगे हैं, इसकी गति वायुवत् है' (ऋक्० १। ४७। २)। 'तुम अपने त्रिवर्ण, त्रिकोण सुदृढ़ रथपर मेरे पास आओ' (ऋक्० १। ११८। २)।

'अश्विनो! तुम्हें तुम्हारा शीघ्रतासे घूमनेवाला विचरणशील यन्त्रयुक्त गरुडवत् रथ यहाँ ले आवे' (ऋक्० १। ११८। ४)।

यहाँ विल्सन तथा कुछ दूसरोंने अश्वोंद्वारा संचालित पतंग अर्थ किया है, विमान नहीं; किंतु इन उदाहरणोंसे यह अर्थ नहीं निकलता है। कम-से-कम यह तो साफ वर्णित है कि अश्विनोंका रथ यन्त्र-कलासे निर्मित किया गया था और उसके संचालनार्थ अश्व नहीं लगे थे (देखिये—ऋक्० १। ११२। १२ और १। १२०। १०)। एक दूसरे स्थानमें सर्वत्र विचरणशील सुन्दर रथका वर्णन है (ऋक्० १। २०। ३)।

'ऋभुओ! तुम उस रथसे आओ, जो बुद्धिसे भी तेज है, जिसे अश्विनोंने तुम्हारे लिये निर्मित किया है' (ऋक्० १०। ३९। १२)।

'तुम्हारा रथ स्वर्णाच्छादित है। इसमें सुन्दर रंग है। यह बुद्धिसे भी तेज एवं वायुके समान वेगशाली है' (ऋक्० ५। ७७। ३)। 'अश्विनो! अपने त्रिकोण-त्रिस्तम्भ रथके साथ आओ' (ऋक्० १। ४७। २)।

ऋग्वेदमें वायु तथा समुद्रवाले दोनों रथोंका साफ-साफ वर्णन है (ऋक्० १। १८२। ५)।

'तुमने तुग्र-पुत्रोंके लिये महासागर पार करनेके निमित्त जीवनसंयुक्त उड़ते जहाजका निर्माण करके तुग्र-पुत्र भुज्युका उद्धार किया और आकाशसे उतरकर विशाल जल-राशिको पार करनेके लिये रथ तैयार किया।'

इसी प्रकार यजुर्वेदमें भी वायुयान-यात्राका बड़ा ही मनोहर वर्णन है—

'आकाशके मध्यमें यह विमानके समान विद्यमान है। द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष—इन तीनों लोकोंमें इसकी अबाध गति है। सम्पूर्ण विश्वमें गमन करनेवाला और मेघोंके ऊपर भी चलनेवाला, वह विमानाधिपति इहलोक तथा परलोकके मध्यमें सब ओरसे प्रकाश देखता है' (वाजसनेयिसंहिता १७। ५९)।

ऋग्वेद और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे ही इस लेखमें विमानोंकी विद्यमानताके प्रमाण मैंने दिये हैं। अथर्ववेदमें भी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं; परंतु लेखके बढ़नेके भयसे वे यहाँ नहीं दिये गये। आशा है कि वैदिक सभ्यताके इस नमूनेपर पाठक विचार करेंगे।

गोत्र-प्रवर-महिमा

आर्य-संस्कृतिमें गोत्र और प्रवरका विचार रखना सर्वोपरि माना गया है। सनातनधर्मी आर्यजातिकी सुरक्षाके लिये चार बड़े-बड़े दुर्ग हैं। प्रथम गोत्र और प्रवर, जिनके द्वारा अपनी पवित्र कुल-परम्परापर स्थिर लक्ष्य रहता है। द्वितीय रजोवीर्यशुद्धिमूल वर्णव्यवस्था, जिसमें जन्मसे जाति माननेकी दृढ़ आज्ञा है और तपःस्वाध्यायनिरत ब्राह्मण-जातिके नेतृत्वमें संचालित होनेकी व्यवस्था है। तृतीय आश्रमधर्मकी व्यवस्था, जिसमें आर्यजाति सुव्यवस्थितरूपसे धर्ममूलक प्रवृत्ति-मार्गपर चलती हुई भी निवृत्तिकी पराकाष्ठापर पहुँच जाती है और चतुर्थ वर्ग सतीत्वमूलक नारीधर्मकी सहायतासे आर्यजातिकी पवित्रता है—इन चार अटल दुर्गोंमें गोत्र एवं प्रवरपर सदा लक्ष्य रखनेवाला प्रथम दुर्ग कितना महान् और परमावश्यक है, उसको इस समय प्रकाशित करनेकी बड़ी आवश्यकता है। गोत्र-प्रवरका माहात्म्य तथा उसकी परम आवश्यकताका कुछ भी ज्ञान न होनेसे आजकलके राजकर्मचारी और प्रजावर्ग बहुत ही विपथगामी हो रहे हैं। उनके अन्तःकरणमें इतना अज्ञान छा गया है कि प्रवरको तो वे भूल ही गये हैं और सगोत्र-विवाहको कानूनद्वारा चलाना चाहते हैं। आर्यजातिका प्रधान महत्त्व यह है कि वह सृष्टिके आरम्भसे अबतक अपने रूपमें विद्यमान है। चतुर्युगी सृष्टि एवं मन्वन्तरसृष्टिकी तो बात ही क्या है, कल्पादि और महाकल्पादिकी आदिसृष्टिके साथ-साथ गोत्र-प्रवर-सम्बन्ध है; क्योंकि ब्रह्माजीकी उत्पत्तिके साथ ही उनके मानस पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए ऋषियोंसे ही गोत्र-प्रवरका सम्बन्ध चला है। यह गोत्र-प्रवरके विज्ञानकी ही महिमा है कि हिंदू-जाति तबसे अबतक जीवित है। उस समयसे लेकर आजतक पृथ्वीकी लाखों जातियाँ प्रकट हुईं और कालके गालमें चली गयीं; परंतु दैवी जगत्पर विश्वास करनेवाली, वर्णाश्रमधर्म माननेवाली, अपनी पवित्रताकी रक्षा करनेके लिये गोत्र-प्रवरकी शृंखलाके आधारपर चलनेवाली सनातनधर्मी प्रजा अभीतक अपने अस्तित्वकी रक्षा कर रही है। जिस मनुष्य-जातिमें वर्णाश्रम-व्यवस्था नहीं, गोत्र-प्रवरकी सुव्यवस्थाका विचार नहीं, उस मनुष्य-जातिपर अर्यमा आदि नित्य पितरोंकी कृपा न होनेसे वह जाति जीवित नहीं रह सकती। हमारे वेदोंमें, वैदिक कल्पसूत्रोंमें तथा स्मृति और पुराणोंमें गोत्र-प्रवर-प्रवर्तक महर्षियोंकी चर्चा है तथा उससे आर्यजातिको सुरक्षित रखनेके लिये दृढ़ आज्ञा है। अतः आधुनिक अहम्मन्य नेतृवृन्दोंके द्वारा इस व्यवस्थाका नाश न होने देना चाहिये। इस समयकी क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियोंमें अपने पुरोहितके गोत्रसे गोत्र-प्रवर माननेकी व्यवस्था प्रचलित है। इस कारण

उक्त जातियोंकी इस व्यवस्थामें कुछ शिथिलता सम्भव है; परंतु ब्राह्मण-जातिमें वेद और शास्त्रोंमें वर्णित गोत्र एवं प्रवरकी व्यवस्था यथावत् चलनी चाहिये। आजकल ब्राह्मण-जातिमें जो अनेक प्रकारके पतनके लक्षण दिखायी देते हैं, उसका प्रधान कारण यह है कि ब्राह्मण-जाति गोत्र-प्रवरकी महिमाको भूल गयी है। वास्तवमें गोत्र और प्रवरकी महिमाके प्रभावसे ही अभीतक ब्राह्मण-जातिमें कहीं-कहीं ब्रह्मतेज दिखायी देता है तथा वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्थापर गोत्र-प्रवर-महिमाका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। अतः जिनमें स्वजातीय अभिमान है, जो अपने स्वधर्मका गौरव समझते हैं, जो जन्मान्तर-विज्ञान मानते हैं और जो रजोवीर्यकी शुद्धताका गौरव समझते हैं, उनको इस समय प्रमादग्रस्त न होकर इस विषयमें चैतन्य होना चाहिये।

आख्यान—

शासनतन्त्र प्रजाके हितके लिये

शासकका प्रधान कर्तव्य है—प्रजाका हित करना। उसे 'राजा' इसीलिये कहा जाता है कि वह प्रजाको रञ्जित अर्थात् सुखी और संतुष्ट रखता है। जिस व्यक्तिमें प्रजारञ्जनकी यह योग्यता न हो, उसे शासनतन्त्रमें नहीं आना चाहिये। भारतका इतिहास ऐसे उदात्त पुरुषोंके चरित्रसे भरा हुआ है, जिन्हें शासन करनेका पूर्ण अधिकार प्राप्त था, किंतु उन्होंने इस पदको केवल इसलिये त्याग दिया कि वे प्रजाका हित करनेमें अपनेको अयोग्य पाते थे। उन्हीं महापुरुषोंमें 'देवापि' का भी नाम आता है। वेद और वेदानुगत साहित्यमें उनका विस्तृत इतिहास उपलब्ध है।

देवापि ऋष्षिषेणके बड़े पुत्र थे। उनके छोटे भाईका नाम शन्तनु था। देवापि त्वचाके रोगसे पीड़ित थे। इसके अतिरिक्त उनमें और कोई दोष न था। गुण तो उनमें कूट-कूटकर भरे थे। जब इनके पिताका स्वर्गवास हुआ, तब प्रजाने इन्हें राज्य दिया[१], किंतु देवापिने उस राज्यको स्वीकार न किया। वे सोचते होंगे कि अपने इस रोगकी चिकित्सामें जो समय लग जायगा, उतना समय प्रजाके हितमें न लगा सकेंगे। उन्होंने प्यारभरे शब्दोंमें प्रजासे कहा—'मैं शासन करनेके योग्य नहीं हूँ। इसलिये हमारे छोटे भाई 'शन्तनु'- को ही आप लोग राजपदपर अभिषिक्त कर दें।[२]

अपने बड़े भाईकी आज्ञा और प्रजाकी अनुमतिसे शन्तनुने राज्य-भार ग्रहण किया, फिर वे प्रजाके हितमें तत्परतासे लग गये। शन्तनु भी कोई साधारण पुरुष नहीं थे। वे सागरके अवतार थे।[३] इसलिये उनमें कुछ जन्मजात सिद्धियाँ थीं। शन्तनु यदि किसी वृद्ध पुरुषको अपने हाथसे छू देते थे तो वह तरुण बन जाता था। दूसरी सिद्धि यह थी कि उनके स्पर्शमात्रसे प्रत्येक प्राणीको शान्ति प्राप्त हो जाती थी।[४]

महाराज शन्तनु फूँक-फूँककर पैर रखते थे। धर्मके विरुद्ध एक पग भी नहीं उठाते थे, फिर भी अनजानमें ही उन्हें एक पाप लग गया था। इस पापसे महाराज शन्तनुके राज्यमें बारह वर्षोंतक वृष्टि नहीं हुई। राजा समझते थे कि मेरे ही किसी पापसे अवर्षणका यह कुयोग प्राप्त हुआ है। बहुत याद करनेपर भी उनको अपना कोई पाप याद नहीं आ रहा था। तब उन्होंने ब्राह्मणोंसे पूछा—'महानुभावो! मेरा वह कौन-सा पाप है, जिससे मेरे राज्यमें वृष्टि नहीं हो रही है?' ब्राह्मणोंने

१-राज्येन छन्दयामासुः प्रजाः स्वर्गं गते गुरौ (बृहद्देवता ७। १५७)।
२-न राज्यमहमर्हामि नृपतिर्वोऽस्तु शन्तनुः (बृहद्देवता ८। १)।
३-मत्स्यपुराण।
४-यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेति सः।
शान्तिं चाप्नोति येनाग्र्यां कर्मणा तेन शान्तनुः॥ (विष्णुपुराण ४। २०। १३)

बताया कि शास्त्रकी दृष्टिसे इस राज्यका अधिकारी तुम्हारा बड़ा भाई देवापि है। वह योग्य भी है, अतः इस राज्यका संचालन उसे ही करना चाहिये। योग्य बड़े भाईके रहते छोटे भाईका राज्य करना शास्त्र-विरुद्ध है। यही अधर्म तुमसे हो गया है।

शन्तनुने प्रजाका हित करनेके लिये ही शासन सँभाला था। इनके शासनसे प्रजाका अहित हुआ—यह सुनकर उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने नम्रताके साथ ब्राह्मणोंसे पूछा कि 'मुझसे पाप तो हो ही गया, अब आप मेरे कर्तव्यका निर्देश करें।' ब्राह्मणोंने कहा—'यह राज्य अपने बड़े भाईको सौंप दो।'

शन्तनुने शीघ्र ही बड़े भाईको राज्य देनेकी योजना बनायी। देवापि नगरमें विद्यमान नहीं थे। शन्तनुको राज्य देकर वे उसी समय वनमें चले गये थे और वहाँ आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर रहे थे। ब्राह्मणोंको आगे कर शन्तनु वनमें बड़े भाईको राज्य देनेके लिये चल पड़े। उन्होंने भाईके चरणोंमें मस्तक रखा और वेदके वचन प्रस्तुत कर राज्यको स्वीकार करनेके लिये प्रार्थना की।

देवापिने कहा—'प्रिय भाई! मैं राज्यके योग्य नहीं हूँ; क्योंकि त्वचाके रोगसे मेरी शक्ति क्षीण हो गयी है—**'न राज्यमहमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रियः'** (बृहद्देवता ८। ५)। अतः तुम्हीं शासक बने रहो, क्योंकि तुमसे प्रजाका पूरा-पूरा हित हो रहा है। रह गयी अवर्षणकी बात तो इसके लिये मैं यज्ञ कराऊँगा; फिर तो सब दुश्चिन्ताएँ स्वतः मिट जायँगी।' देवापिने यथाविधि वर्षा करानेवाला यज्ञ सम्पन्न किया। उन्होंने **'बृहस्पते प्रति'** (ऋक्० १०। ९८। १—३)— इन मन्त्रोंसे यज्ञ कराया। यज्ञ होते ही वर्षा हुई। प्रजाका सारा कष्ट दूर हो गया।

बृहद्देवताके इस कथासे विश्वके शासकोंको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। देवापिने सर्वथा योग्य होते हुए भी केवल अपने त्वचा-रोगके कारण राज्यका परित्याग कर दिया। केवल इसलिये कि प्रजाके हितमें वे अपने पूरे समयका योगदान न कर सकेंगे। दूसरी तरफ उनके छोटे भाई शन्तनुने भी उस राज्यका एक तरहसे परित्याग ही कर दिया था। फिर विवशतावश उन्हें राज्य ग्रहण करना पड़ा; क्योंकि इसके बिना प्रजाका अनुरञ्जन नहीं हो सकता था। **(ला० बि० मि०)**

वेदोंमें निर्दिष्ट शुद्धि तथा पवित्रताके साधन

(श्रीकैलाशचन्द्रजी दवे)

(१)

आचमनकी आवश्यकता

किसी भी धर्म-कर्म अथवा पुण्य-कार्यके निमित्त सर्वप्रथम शरीर-शुद्धि-हेतु **'ॐ केशवाय नमः'**, **'ॐ नारायणाय नमः'**, **'ॐ माधवाय नमः'** के उच्चारणपूर्वक आचमन किया जाता है। आचमनका विधान क्यों किया गया है, इस सम्बन्धमें श्रुतिका सारांश निम्नाङ्कित है—

धर्मानुष्ठान अथवा पुण्यकर्म करनेवाला व्यक्ति सर्वप्रथम अपने आराध्य देवके सम्मुख उपस्थित होकर पवित्र जलसे आचमन करता है। वेदोंमें आचमनको आवश्यक इसलिये बताया गया है कि सामान्यतः लोक-व्यवहारमें व्यक्तिद्वारा कभी-कभी कुछ ऐसे कार्य हो जाते हैं, जिससे वह अशुद्ध हो जाता है। जैसे (१) वार्तालाप—(क) कटु वाणी—क्रोध अथवा आवेशमें मुखसे कटु-भाषण, (ख) अहितकर वाणी—जिस वचनसे किसीका अहित हो जाय और (ग) असत्य वाणी—अपनी स्वार्थपूर्तिके लिये असत्यका आश्रयण। इसके अतिरिक्त कई अन्य कारणोंसे भी अपवित्रता आ जाती है, इसलिये भोजनके अनन्तर, निद्रा तथा लघुशंका आदिसे निवृत्त होनेपर और खानेके बाद आचमन करना आवश्यक बताया गया है। पवित्र जलके आचमनसे आभ्यन्तरशुद्धि होती है। 'जल पवित्र होता है और इस पवित्र जलसे आचमन करनेपर मैं पवित्र होकर धर्म-कर्मरूपी व्रत ग्रहण करूँ'—**'पवित्रपूतो व्रतमुपयानीति'** (श० ब्रा० १। १। १। १)। इसी व्रतनिष्ठाको ध्यानमें रखकर अनुष्ठाता व्यक्ति आचमन करता है।

(२)

पवित्र-निर्माण एवं उत्पवन

स्मृति-ग्रन्थ सोम-सूर्यकी किरणों एवं वायुको मार्ग-शुद्धिमें हेतु बतलाते हैं। बाह्य आवरणमें वर्तमान

यह वायु एकरूप ही प्रवाहित होता है, किंतु मनुष्यके शरीरमें प्रवेश करता हुआ यह वायु वृत्तिभेदके द्वारा अधोमुख तथा ऊर्ध्वमुख विचरण करता है। इडा एवं पिंगलादि नाडीके द्वारा शरीरसे बाहर निकलता हुआ प्राणवायु 'प्राङ्' तथा नाडी (पिंगला)-द्वारा पुनः भीतर प्रवेश करता हुआ 'प्रत्यङ्' कहलाता है। ये दोनों वृत्तिभेद प्राण एवं अपानके नामसे व्यवहृत होते हैं। तैत्तिरीय श्रुतिमें स्पष्टरूपसे इस बातको कहा गया है कि पवित्र-निर्माणमें दो तृणोंकी दो संख्या प्राण एवं अपान वायुकी दो संख्याका अनुसरण करके ही की गयी है। वस्तुतः प्राणापान ही दो 'पवित्र' हैं और इन दोनोंका यजमानमें दो तृणोंद्वारा निर्मित पवित्ररूप प्रतीकके माध्यमसे आधान किया जाता है।[१] उक्त दो तृणोंसे निर्मित पवित्रके द्वारा प्रोक्षणी (पात्र)-में स्थित जलका उत्पवनकर (ऊपर उछालकर) प्रोक्षणीगत जलको शुद्ध किया जाता है। उस शुद्ध जलसे हवि एवं यज्ञपात्रोंका प्रोक्षण किया जाता है। जलमें अशुद्धि होनेका कारण यह है कि इन्द्रने जब वृत्रासुरको मारा तो मृत वृत्रासुरके शवसे निकली दुर्गन्ध चारों ओर समुद्रके जलमें फैलने लगी। ऐसी स्थितिमें कुछ शुद्ध जलांश भयभीत होकर जलाशयसे बाहर तट-प्रदेशमें आया और दर्भके रूपमें परिणत हो गया। प्रणीतापात्रगत जल कदाचित् हत वृत्रासुरकी दुर्गन्धसे अपवित्र जलके साथ मिला हो, अतः उसको पवित्रीसे उत्पवनके द्वारा पवित्र कर उस शुद्ध प्रणीता-जलसे शुद्धिहेतु अन्य यज्ञिय पदार्थोंका प्रोक्षण करना चाहिये।[२]

श्रौतसूत्रमें पवित्र-निर्माणकी विधि यह है कि दो बराबर कुशपत्र जो अग्रभागयुक्त हों, खण्डित न हों तथा अलग-अलग हों—इस प्रकारके दो कुशपत्रोंके प्रादेश-परिमित अग्रभागपर तीन कुशाओंको रखकर दोनों कुशपत्रोंके मूलसे तीनों कुशपत्रोंको प्रदक्षिण-क्रमसे घुमाकर तीन कुशपत्रोंसे दोनों कुशपात्रोंका छेदन कर उन प्रादेश-परिमित दोनों कुशपत्रोंमें प्रदक्षिणा वृत ब्रह्मग्रन्थि लगानेपर पवित्री बन जाती है।[३]

(३)

कृष्णाजिन (मृगचर्म)

सोमयागमें 'कृष्णाजिन' अनिवार्य है। व्रीहि (धान)-का अवहनन (कूटना) एवं पेषण (पीसना) कृष्णाजिनपर रखकर ही होता है। यज्ञकी समग्रताके लिये कृष्णाजिनका आदान (स्वीकार) आवश्यक है।

कृष्णाजिनकी उत्पत्तिमें एक पुरावृत्त (इतिहास) है। एक बार किसी कारणवश यज्ञ देवताओंसे रूठकर कहीं पलायित हो गया और कृष्णमृगके रूपमें इधर-उधर विचरण करने लगा। देवताओंने समझ लिया कि यज्ञ ही मृगरूप धारण कर पलायित हो रहा है, अतः उन्होंने उसकी त्वचाका ही छेदन कर खींच लिया।

उक्त कृष्णाजिन या मृगचर्मकी यज्ञरूपताका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है कि मृगचर्ममें सफेद एवं काले बाल या चिह्न हैं, वे क्रमशः ऋग्वेद तथा सामवेदके प्रतीक हैं। अथवा जो कृष्णचिह्न है, वह सामका रूप, सफेद चिह्न ऋग्वेदका एवं भूरा चिह्न यजुर्वेदका रूप है। यह वेदत्रयी विद्या ही यज्ञ है। उसी वेदत्रयी विद्याका 'वर्ण' यह मृगचर्म यज्ञ-रूप है, अतः यजमानकी दीक्षा, व्रीहिका कूटना तथा उसका पीसना मृगचर्मपर ही होता है। कूटने-पीसनेमें जो कुछ हविर्द्रव्य गिरता है, वह स्कन्नदोषरहित माना जाता है।[४]

(४)

दूर्वा

दूर्वाकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई? वस्तुतः इसका क्या स्वरूप है, इस रहस्यको शतपथ-श्रुतिका एक आख्यान स्पष्ट करता है।

सृष्टि-संरचनामें संलग्न प्रजापति श्रम (तपस्या)-के कारण इतना शिथिल हो गया कि शरीरके मध्यसे उसका प्राण उत्क्रमण कर गया। इस प्रकार प्राणोत्क्रमणसे विस्रस्त प्रजापतिके लोम (रोम) गिरने लगे। प्रजापतिने जो यह शब्द कहा कि इस प्राणने मेरी हिंसा की है—'**माऽधूर्वीत्**'

१-प्राणापानौ पवित्रे यजमान एवं प्राणापानौ दधाति। (तै० ब्रा० २। १। १०। २)

२-श० ब्रा० (१। १। ३। १—५)

३-का० श्रौ० सू० (२)

४-श० ब्रा० (१। १। ४। १—३)

अतः हिंसावाचक '**धूर्वी**' धातु (**धूर्वी हिंसायाम्**)-का उच्चारण करनेसे वह प्राण 'धूर्वा' पदका वाचक हो गया। देवताओंको परोक्ष नाम प्रिय होता है, अतः उन्होंने प्रत्यक्ष-वृत्ति-वाचक 'धूर्वा' शब्दके स्थानपर परोक्ष-वृत्ति-वाचक 'दूर्वा' शब्दका प्रयोग किया। लोकमें दूर्वा तथा इस प्रकारके बहुतसे शब्द यथा—**सुवेदः**[1]-**स्वेदः**, **इन्धः**[2]-**इन्द्रः**, **आहितयः**[3]-**आहुतयः**, **यजः**[4]-**यज्ञः** इत्यादि इतने प्रचलित हो गये कि हम दूर्वा, वेद, इन्द्र, आहुति एवं यज्ञ आदि शब्दोंको ही तुरंत अर्थबोध होनेके कारण प्रत्यक्ष-वृत्तिवाले समझते हैं। धूर्वा, सुवेद, इन्ध, आहित एवं यज आदि शब्दोंको हम परोक्ष-वृत्तिकी तरह समझते हैं, क्योंकि इन शब्दोंको पढ़कर शीघ्र अर्थावबोध नहीं होता।

उपर्युक्त प्रत्यक्ष एवं परोक्ष-वृत्तिका व्यवहार केवल वेदमें ही नहीं, अपितु लोक-व्यवहारमें भी प्रचलित है। हम किसी विशिष्ट या प्रिय व्यक्तिका मुख्य नाम न लेकर सम्मान-हेतु पिताजी (बाबूजी), भाईसाहब, मुन्ना आदि उपनाम या परोक्ष नामका व्यवहार करते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थोंमें ऐसे कई शब्दोंके निर्वचन किये गये हैं, जो देवताओंकी दृष्टिसे परोक्ष-वृत्तिवाले हैं और उन्हींका लौकिक व्याकरणमें तथा लोक-व्यवहारमें प्रत्यक्ष-वृत्तिमें प्रयोग (व्यवहार) होता है।

दूर्वाका स्वरूप

दूर्वा वस्तुतः प्राणका पोषक पदार्थ या प्राणरूपी रस है। श्रुति स्वयं प्राणको रसात्मक बतलाती है। प्राण ही कर-चरणादि अङ्गावयवोंका रसतत्त्व या सार है।[5]

जब देवताओंने चयनयागके द्वारा प्रजापतिका संस्कार किया, तब उन्होंने प्रजापतिके हृदय (मध्य)-में प्राणरूप रसका स्थापन किया। रसरूप प्राणसे प्रजापतिके लोम एवं उनके लोमोंसे लोमात्मिका दूर्वा एवं सभी औषधियाँ उत्पन्न हुईं।

इस सृष्टिकी संरचनामें श्लथ प्रजापतिको संस्कृत एवं शक्तिशाली बनानेके लिये आत्मरूप परमेष्ठी प्रजापतिने सर्वप्रथम चयनादि अनुष्ठान (तपस्या) किया। परमेष्ठीके द्वारा अनुष्ठित यज्ञ देवताओंको प्राप्त हुआ। देवताओंसे ऋषियोंको एवं ऋषियोंसे परम्परया भारतीय मनीषियोंको यह यज्ञ-सम्पदा प्राप्त हुई। श्रुति स्वयं कहती है—'**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**' (श० ब्रा०), '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**' (यजु० ३१। १६)।

चयन-यागमें चिति (चयन-याग-हेतु कर्मभूमि)-पर पुष्करपर्ण आदि विविध इष्टकाओं (ईंटों)-का उपधान किया जाता है। पुष्करपर्णेष्टकाका स्थापन कर देवोंने सर्वप्रथम सृष्टिमें जलका संचार किया। पुष्करपर्ण ईंट जलके ऊपर स्थित होकर भूमिके रूपमें व्याप्त होती है। यह भूमि चित्याग्निके आश्रम-हेतु प्रथम पदार्थ है। इसके बाद आदित्यरूप 'रुक्मेष्टका' का उपधान होता है। तदनन्तर देवोंने पुरुषेष्टका, दो स्रुक् इष्टका एवं स्वयमातृण्णा इष्टकाओंका चयन—वेदिकापर स्थापन किया। पुरुषेष्टकासे पुरुष, दो स्रुक् इष्टकाओंसे पुरुषकी दो भुजाओं एवं स्वयमातृण्णा इष्टकासे अन्नकी उत्पत्ति की। इसी उपधान-क्रममें पशुओंकी पुष्टिके लिये दूर्वा आदि पोषक औषधियोंकी सृष्टि करनेके लिये 'दूर्वेष्टका' का उपधान किया।[6] पहले यज्ञके द्वारा उत्पन्न तत्तत् पदार्थोंकी वृद्धि एवं उनका पोषण यज्ञके द्वारा ही सम्भव है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है। आज यज्ञोंका अभाव होनेसे ही उन तत्तत् पदार्थोंका ह्रास हो रहा है। ब्राह्मणग्रन्थोंमें जो सृष्टिक्रम बतलाया गया है, उसका मूल कारण यज्ञ ही है। सृष्टिमें जड एवं चैतन्य-रूपमें जो भी विविध पदार्थ हैं, उन सबकी उत्पत्ति यज्ञोंके द्वारा ही हुई है। इसी बातको श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट कहा गया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

(३। १०, १४)

१-एतं सुवेदं सन्तं स्वेदमित्याचक्षते परोक्षेण (गोपथब्राह्मण १। १)।

२-इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोऽक्षम् (श० ब्रा० ६। १। १। २)।

३-आहितयो ह वैता आहुतय इत्याचक्षते परोऽक्षम् (श० ब्रा० १०। ६। २। २)।

४-यजो ह वै नाम यज्ञः (श० ब्रा०)।

५-प्राणो हि वा अङ्गानां रसः (श० ब्रा० १४। १। १। २१)।

६-श० ब्रा० (७। ४। २। १०—१२)।

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः

[*'**वेदो नारायणः साक्षात् भगवानिति शुश्रुम**' इस वचनसे स्पष्ट है कि वेद साक्षात् नारायणस्वरूप हैं और उन्हींके निश्वासरूपमें प्रादुर्भूत होकर प्रत्येक कल्पकी सृष्टिमें ऋषियोंकी ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा मन्त्रविग्रहरूपमें दृष्ट होते हैं। प्रलयमें भी इनका स्वरूप बना रहता है। जब नारायणके नाभिकमलसे पद्मोद्भव भगवान् ब्रह्मा आविर्भूत होते हैं, तब वे तपस्याके द्वारा सृष्टिवर्धन-कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। इसी सृष्टिमें उनके मानसी संकल्पसे नौ (प्रकारान्तरसे दस) ऋषियोंका प्रादुर्भाव होता है, जो 'नवब्रह्माण' के नामसे पुराणेतिहास ग्रन्थोंमें विवृत हैं। ये शक्ति, सामर्थ्य, तप, अध्यात्म, ज्ञान, मन्त्रशक्ति आदि सभी गुणोंमें ब्रह्माजीके ही समान हैं। अपनी प्रजाओंके पालक होनेसे ये 'प्रजापति' भी कहलाते हैं। मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, विश्वामित्र, भारद्वाज, गौतम, जमदग्नि आदि ऋषियोंको सृष्टिके समय अपनी तपस्याके द्वारा वेदकी ऋचाओंका दर्शन हुआ। ऋचाओंका दर्शन होनेके कारण ही ये 'मन्त्रद्रष्टा' कहलाये। आचार्य यास्कके '**ऋषिर्दर्शनात्**' आदि वचनोंमें यह स्पष्ट कहा गया है कि ऋषियोंने मन्त्रोंको देखा, इसलिये उनका नाम 'ऋषि' पड़ा। इससे यह स्पष्ट है कि वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियोंने मन्त्रोंकी रचना नहीं की, प्रत्युत भगवत्कृपासे उन्होंने तपःपूत अपने अन्तःकरणमें मन्त्रशक्तिके स्वरूपका दर्शन किया और श्रुतिमान्‌के द्वारा अपने शिष्य-प्रशिष्योंमें उसे प्रसारित किया, इस प्रकार आगे फिर वेदोंका विस्तार होता गया। श्रुति-परम्परासे अध्यापित होनेसे ही वेदोंको 'श्रुति' कहा जाता है।*

*'ऋषि' पदका जो व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, उससे भी ज्ञात होता है कि '**ऋषी गतौ**' तथा '**दृशिर प्रेक्षणे**' धातुओंसे ज्ञानात्मक अर्थ-दर्शनात्मकरूपमें ही ऋषिका तात्पर्य है। इस प्रकार अपनी तपस्यारूप ज्ञानात्मिका शक्तिके द्वारा वैदिक मन्त्रशक्तिका जिन्होंने दर्शन किया वे 'ऋषि' कहलाये। वेदोंके अनुसार ये ऋषि सत्यवक्ता, धर्मात्मा तथा ज्ञानी थे और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, सदाचार एवं अपरिग्रहके मूर्तिमान् स्वरूप, ब्रह्मतेजसे सम्पन्न तथा दीर्घकालीन समाधिद्वारा तपका अनुष्ठान करते थे। यज्ञोंद्वारा देवताओंका आप्यायन तथा नित्य स्वाध्याय इनकी मुख्य चर्या थी। गृहस्थ होते हुए भी ये मुनिवृत्तिसे रहा करते थे। पवित्र पुण्यतोया नदियोंका सांनिध्य, दिव्य शान्त तपोवन, अरण्यप्रदेश अथवा पर्वतोंकी उपत्यकाओंमें इनका आश्रम हुआ करता था। जहाँ सिंह आदि क्रूर प्राणी भी स्वाभाविक हिंसक-वृत्तिका परित्याग कर परम शान्त तथा मैत्रीभावका आश्रय लिया करते थे। यह प्रभाव इन ऋषियोंके तपोबलका ही था। वेदमें स्पष्ट उल्लेख है कि ऐसे निर्जन एवं शान्त प्रदेशोंमें ही अध्यात्म-साधनाके बीज पल्लवित-पुष्पित और फलित हुए—*

उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।

(ऋग्वेद ८ । ६। २८)

इस प्रकार वैदिक ऋचाओं तथा ऋषियोंका परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, यदि ये ऋषि न होते तो हमें वेद प्राप्त ही न होते और न सृष्टिका वर्धन ही होता। इन्हीं ऋषियोंकी सप्तर्षियोंमें परिणति है। स्वायम्भुव आदि प्रत्येक मन्वन्तरमें अलग-अलग सप्तर्षि वेदोंकी ऋचाओंका दर्शन करते हैं और हमें वेद प्राप्त कराकर जगत्‌का कल्याण करते हैं। इस प्रकार ऋषियों—कवियोंका हमपर महान् उपकार है।

*सृष्टिवर्धनमें मुख्यरूपसे महर्षि मरीचिका योगदान है। उनके पुत्र कश्यप हुए, जिन्हें दक्ष प्रजापतिकी छः कन्याओंमेंसे दिति, अदिति आदि तेरह कन्याएँ स्त्रीरूपमें प्राप्त हुईं। जिनसे देवता, दानव, पशु-पक्षी, मानव आदि चराचर जगत्‌की सृष्टि हुई—'**कश्यपात्तु इमाः प्रजाः।**' इस प्रकार हम इन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी संतान हैं।*

ऋषियोंद्वारा दृष्ट वेद-संहिताके मन्त्र भी यज्ञकर्मकी दृष्टिसे ऋक्, यजुष्, साम तथा अथर्व नामसे चार रूपोंमें

प्रविभक्त हैं। ऋग्वेदकी अधिकांश ऋचाएँ अन्य वेदोंमें भी प्राप्त होती हैं। शाखा-भेदसे इनकी अनेक शाखाएँ भी हैं, जिनका ऋषि और उनके गोत्रज-वंशधरोंसे सम्बन्ध है।

उपलब्ध ऋग्वेद दस मण्डलोंमें विभक्त है। प्रत्येक मण्डलके मन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि अलग-अलग हैं तथा तत्तत् कर्मोंमें उनका विनियोग भी है। जिस मन्त्रका दर्शन जिस ऋषिको हुआ, वही उस मन्त्रका ऋषि है। मन्त्रोंका समूह 'सूक्त' कहलाता है। ऋग्वेदके प्रत्येक मण्डल सूक्तोंमें विभाजित हैं और सूक्तोंके अन्तर्गत मन्त्र हैं। सर्वानुक्रमणी तथा सायण आदिके भाष्योंमें यह निर्दिष्ट है कि अमुक मन्त्रसमूह या अमुक मण्डल अमुक ऋषिद्वारा दृष्ट है। तदनुसार ऋग्वेदके प्रथम मण्डल तथा दशम मण्डलमें मधुच्छन्दा, गौतम, अगस्त्य, भृगु, उशना, कुत्स, अथर्वा, त्रित, शुनःशेप, बृहस्पति-पुत्र संयु तथा गौरवीति आदि अनेक ऋषियोंद्वारा दृष्ट मन्त्र अथवा सूक्त हैं। किंतु द्वितीय मण्डलसे नवम मण्डलतकके द्रष्टा ऋषि प्रायः पृथक्-पृथक् ही हैं, अर्थात् अधिकांश पूरे द्वितीय मण्डलके द्रष्टा ऋषि एक हैं, इसी प्रकार पूरे तृतीय मण्डलके द्रष्टा ऋषि एक हैं। ऐसे ही चतुर्थ आदिमें भी समझना चाहिये।

इस दृष्टिमें प्रायः पूरे द्वितीय मण्डलके मन्त्रद्रष्टा ऋषि गृत्समद हैं, इसलिये ऋग्वेदका दूसरा मण्डल गार्त्समद-मण्डल कहलाता है। तीसरे मण्डलके मन्त्रद्रष्टा ऋषि विश्वामित्र हैं, इसलिये यह वैश्वामित्र-मण्डल कहलाता है। इसी प्रकार चौथे मण्डलके ऋषि हैं वामदेव। पाँचवेंके अत्रि, छठेके भारद्वाज, सातवेंके वसिष्ठ, आठवेंके कण्व तथा नवेंके द्रष्टा अंगिरा ऋषि हैं। नित्य-निरन्तर परमतत्त्वका चिन्तन करनेसे ये ऋषि महर्षि या परमर्षि भी कहलाते हैं। अनेक ऋषिपुत्र, ऋषियोंके वंशधर तथा गोत्रधर भी मन्त्रोंके द्रष्टा हैं। यजुर्वेदकी माध्यन्दिन-शाखा महर्षि याज्ञवल्क्य ऋषिकी कृपासे प्राप्त है। अथर्ववेद आदि महाशाल शौनक तथा पिप्पलाद आदि ऋषियोंसे प्रवर्तित हैं।

इस प्रकार जहाँ ऋषियोंने सृष्टिवर्धनमें योगदान दिया, वहीं अपनी प्रजाकी रक्षाके लिये तपस्याद्वारा वेदोंको प्राप्त किया और इसी कारण वेद किसीकी रचना न होनेके कारण अपौरुषेय कहलाये। इन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंद्वारा वेद हमें प्राप्त हुआ। महर्षि वेदव्यासजीने अपने सुमन्तु, पैल, जैमिनि तथा वैशम्पायन आदि शिष्योंको वेदकी शाखाओंका अध्ययन कराया और फिर लोकमें वेद-मन्त्रोंका प्रसार हुआ। उदात्त-अनुदात्त आदि स्वरों तथा जटा, माला, शिखा आदि अष्टविकृतियोंके माध्यमसे वेदकी रक्षा होती आयी है।

*वेद-मन्त्रोंका अर्थज्ञान अत्यन्त दुरूह होनेसे तथा सभीका अधिकार न होनेसे महर्षि वेदव्यासजीने पञ्चम वेद इतिहास-पुराणकी रचना की। साथ ही वेदोंके सम्यगर्थ-प्रतिपादनके लिये शिक्षा, कल्प आदि छः अङ्गोंके अध्ययनकी आवश्यकता हुई। इतनेपर भी वेदार्थका ठीक अधिगम न होते देख वेदोंपर भाष्योंका निर्माण हुआ। जिनमें स्कन्दस्वामी, सायण, वेंकटमाधव, उव्वट, महीधर आदिके वेदभाष्य बहुत उपयोगी हैं। यहाँ संक्षेपमें कुछ मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके उदात्त चरित्र तथा कतिपय भाष्यकारोंका परिचय दिया जा रहा है—**सम्पादक]***

ऋषि-विचार

'ऋषि' शब्दका अर्थ

'ऋषि' शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयमें कतिपय विद्वानोंका मत है कि '**सर्वधातुभ्य इण्**' (उ० सू० ५६७) तथा '**इगुपधात् कित्**' (उ० सू० ५६९)—इन सूत्रोंके आधारपर '**ऋषी गतौ**' (तु० प० १२८८) धातुसे '**इण्**' प्रत्यय हुआ, '**कित्**' होनेके कारण गुण नहीं हुआ और 'ऋषि' शब्द बन गया। '**ऋषन्ति अवगच्छन्ति इति ऋषयः**' ऐसा विग्रह मानकर वे ज्ञानसम्पन्न व्यक्तिको ऋषि मानते हैं। गत्यर्थक '**ऋषी**' धातुका '**ज्ञान**' अर्थ माननेमें उनका तर्क है—'**ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः।**' किंतु हमें यह क्लिष्ट कल्पना निष्फल-सी लगती है; क्योंकि जब शास्त्राभ्यासी साधारण मनुष्य परोक्ष-ज्ञान भी सरलतापूर्वक प्राप्त कर लेता है, तब '**ऋषी**' धातुका केवल '**ज्ञान**' अर्थ निकालनेका कोई विशेष महत्त्व नहीं प्रतीत होता।

हमारे विचारसे तो '**दृशिर् प्रेक्षणे**' (भ्वा० प० ९८८) धातुसे '**ऋषि**' शब्दकी निष्पत्ति मानी जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। ऐसा माननेपर '**दृशि**' शब्दसे 'दकार' का लोप होकर बने हुए '**ऋषि**' शब्दका अर्थ होगा—'**द्रष्टा**'। सायणभाष्यके अनुसार—'अतीन्द्रिय पदार्थोंका तपस्याद्वारा साक्षात्कार करनेवाला।' स्पष्ट है कि ऐसी योग्यता रखनेवाला कोई साधारण व्यक्ति नहीं हो सकता। ऋषि शब्दका यह अर्थ ऋतम्भरा-प्रज्ञा-सम्पन्न, तपस्याद्वारा वेदमन्त्रोंका आविर्भाव करनेवाले मधुच्छन्दा प्रभृति उन विशिष्ट व्यक्तियोंमें ही समन्वित हो सकेगा, जिन्हें सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन आदि प्राचीन मुनियोंने 'ऋषि' शब्दसे अभिहित किया है।

लोक-व्यवहारके आधारपर भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो किसी घटनाके प्रति श्रोताकी अपेक्षा द्रष्टाको अधिक प्रामाणिक, साक्षी अथवा यथार्थवादी माना जाता है। किसी विवादास्पद विषयमें कोई व्यक्ति कहे कि 'मैंने यह बात सुनी है' और दूसरा कहे कि 'ऐसा नहीं है, मैंने ऐसा देखा है' तो लोग देखनेवालेकी बातपर अधिक विश्वास करेंगे, क्योंकि देखनेवालेको सुननेवालेकी अपेक्षा वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अधिक ज्ञान होता है।

सम्भवतः इसी अभिप्रायसे अमरकोशकारने कहा है—'**ऋषयः सत्यवचसः**' (२। ७। ४३)। यास्कका वचन '**ऋषिर्दर्शनात्**' (निरुक्त २। ३। ११) भी इसी अभिप्रायको स्पष्ट करता है।

अब यदि '**ऋषी**' धातुसे ही '**ऋषि**' शब्दकी निष्पत्ति माननेका आग्रह हो तो '**गति**' का अर्थ '**प्राप्ति**' माननेपर ही काम चलेगा—'**ऋषन्ति प्राप्नुवन्ति तपसा वेदमन्त्रान् इति ऋषयः।**' इस प्रकार 'ऋषि' शब्दका अर्थ होगा—'तिरोहित वेदमन्त्रोंका तपस्याद्वारा आविर्भाव करनेवाला।' महाभारतके निम्नलिखित श्लोकसे इस अर्थको समर्थन प्राप्त होता है—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
तपसा लेभिरे पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

इसके अतिरिक्त यास्कका भी निम्नलिखित वचन इसी अर्थकी पुष्टि करता है—

तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयम्भ्वभ्यानर्षत्''''तदृषीणामृषित्वम्।
(निरुक्त २। ३। ११)

ऋषियोंकी संख्या

'**ऋषि**'-शब्दका वास्तविक अर्थ जान लेनेके अनन्तर यह सहज ही समझा जा सकता है कि ब्रह्माके आदेशसे वेदके आविर्भाव-जैसे पवित्र तथा महत्त्वपूर्ण कार्यके लिये हमारे पूर्वज भारतीय महापुरुषोंने कितना श्रम, कितनी तपस्या की होगी। जिस ऋषिने अधिक तप किया, उसे अधिक मन्त्रों, अधिक सूक्तोंका लाभ हुआ; जिसने कम तपस्या की, उसे कम मन्त्रों, कम सूक्तोंका लाभ हुआ। ऋग्वेदके उन मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी संख्या ४०३ है।

ऋषियोंका वर्गीकरण

ये ऋषि दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं—(१) एकाकी और (२) पारिवारिक।

१-वेदमन्त्रोंके प्रकटीकरणमें जिन ऋषियोंने स्वयं अनवरत प्रयत्न किया, परिवारके किसी सदस्यने कोई सहायता नहीं की, उन्हें 'एकाकी' कोटिमें रखा जाता है। ऐसे ऋषियोंकी संख्या ८८ है। इनका विवरण इसी लेखमें आगे दिया गया है।

(२) 'पारिवारिक' ऋषि वे हैं, जिन्हें इस पावन प्रयत्नमें अपने परिवारके एक या अनेक सदस्योंका सहयोग प्राप्त रहा। इनकी अगली पीढ़ियोंमें भी वेदाविर्भाव-कार्यकी क्रमबद्ध परम्परा चलती रही। ये पारिवारिक ऋषि गणनामें ३१५ हैं, जिनकी नामावली इसी लेखमें आगे दी गयी है।

ऋषिगणोंमें सप्तर्षियोंका विशिष्ट स्थान है। ये सप्तर्षि ऋग्वेदके नवम मण्डलके १०७वें तथा दशम मण्डलके १३७वें सूक्तोंके द्रष्टा हैं।

सात परिवारोंमें इनके विभाजनका क्रम यह है—(१) गोतम, (२) भरद्वाज, (३) विश्वामित्र, (४) जमदग्नि, (५) कश्यप, (६) वसिष्ठ तथा (७) अत्रि।

इनमें गोतम-परिवारके ४, भरद्वाजके ११, विश्वामित्रके ११, जमदग्निके २, कश्यपके १०, वसिष्ठके १३ तथा अत्रि-परिवारके ३८ ऋषि हैं। अन्य परिवार प्रकारान्तरसे इन्हींके कुटुम्बी या सम्बन्धी हैं।

गवेषणात्मक दृष्टिसे अवलोकन करनेपर जो महत्त्वपूर्ण अति दुर्लभ ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हुए, उनके आधारपर इन सात परिवारोंका समावेश मुख्यतया चार ही

परिवारोंमें है—आङ्गिरस, भार्गव, काश्यप और आत्रेय। इनमें भी सबसे अधिक परिवारवाले आङ्गिरस ही हैं। इनकी संख्या ५६ है। गौतम तथा भारद्वाजोंका अन्तर्भाव इन्हींमें है। वैश्वामित्र और जामदग्न्य परिवारोंका समावेश भार्गवोंमें है। वसिष्ठ-परिवार काश्यपके अन्तर्भूत है। आत्रेय-परिवार बिलकुल स्वतन्त्र है।

प्रजापतिने यज्ञद्वारा तीन पुत्र उत्पन्न किये—भृगु, अङ्गिरा तथा अत्रि। भृगुके पुत्र हुए कवि, च्यवन आदि। भृगुके ही एक पुत्र थे ऋचीक, जिनके बनाये हुए चरुओंके भक्षणसे गाधिपुत्र विश्वामित्र तथा स्वयं ऋचीकके पुत्र जमदग्निका जन्म हुआ। जमदग्निके पुत्र परशुराम तथा विश्वामित्रके पुत्र मधुच्छन्दा थे। अपने सौ भाइयोंमें मधुच्छन्दाका प्रमुख स्थान था। मधुच्छन्दाके दो पुत्र थे—जेता और अघमर्षण। अतः वैश्वामित्र-परिवारको भार्गव-परिवारसे भिन्न नहीं समझा जा सकता।

अङ्गिराके दो पुत्र थे उतथ्य (उचथ्य) तथा बृहस्पति। बृहस्पतिके चार पुत्र हुए—भरद्वाज, अग्नि, तपुर्मूधा और शंयु। भरद्वाजके ही पुत्र थे पायु, जिनकी कृपासे राजा अभ्यावर्ती तथा प्रस्तोक युद्धमें विजयी हुए थे। बृहस्पतिके ज्येष्ठ भ्राता उतथ्यके पुत्र दीर्घतमा थे और दीर्घतमाके कक्षीवान्। कक्षीवान्को घोषा काक्षीवती नामकी कन्या तथा शबर और सुकीर्ति नामक दो पुत्र थे। घौषेय, सुहस्त्य कक्षीवान्के दौहित्र थे। इस प्रकार भारद्वाज-परिवार आङ्गिरस-परिवारकी ही शाखा सिद्ध होता है। ३३ सदस्योंवाले जिस काण्व-परिवारका ऋग्वेदके अष्टम मण्डलमें विशेष प्रभाव है, वह आङ्गिरसोंका ही अङ्ग है; क्योंकि उस परिवारके मूल पुरुष काण्वके पिता घोर आङ्गिरस ही थे।

गौतम-परिवार भी आङ्गिरस-परिवारसे ही सम्बद्ध है, क्योंकि गौतमकी अङ्गिरा-सम्बन्धी परम्परा यह है—अङ्गिरा, रहूगण, गोतम, वामदेव, वामदेवके भ्राता नोधा तथा नोधाके पुत्र एकद्यु।

वसिष्ठ-परिवारका समावेश कश्यप-परिवारमें है। इस सम्बन्धकी द्योतक वंश-परम्परा इस प्रकार है—मरीचि, कश्यप, मैत्रावरुण, वसिष्ठ, शक्ति तथा पराशर।

अत्रि-परिवार स्वतन्त्र है। इनका वंश-परिचय यह है—अत्रि, भौम, अर्चनाना, श्यावाश्व तथा अन्धीगुश्यावाश्वि। —ये सभी प्रमुख पारिवारिक ऋषि ४२ परिवारोंमें विभक्त हुए, जिनका विवरण विस्तृतरूपमें आगे इसी प्रकरणमें दिया जा रहा है। इनके अतिरिक्त अवशिष्ट एकाकी ऋषियोंके नाम निम्नलिखित हैं, जिनकी संख्या ८२ है।

अवशिष्ट (एकाकी) ऋषि-नामावलि

अकृष्टा माषाः, अक्षो मौजवान्, आग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः, अग्निः, अग्निः पावकः, अग्निः सौचीकः, अग्निर्गृहपतिः सहसः सुतः, अग्निर्यविष्ठः सहसः सुतः, अग्निर्वैश्वानरः, अग्निश्चाक्षुषः, अङ्ग औरवः, अत्रिः सांख्यः, अदितिर्दाक्षायणी, अदितिः, अरुणो वैतहव्यः, आत्मा, आसङ्गः प्लायोगिः, उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः, उरुक्षय आमहीयवः, उर्वशी, ऋणंचयः, ऋषभो वैराजः शाक्वरो वा, ऋषयो दृष्टलिङ्गाः, कपोतो नैर्ऋतः, कवष ऐलूषः, कुल्मलबर्हिष शैलूषिः, गयः प्लातः, गोधा ऋषिका, जुहूर्ब्रह्मजाया, तान्वः पार्थ्यः, त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः, त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः, त्र्यरुणस्त्रैवृष्णः, त्वष्टा गर्भकर्ता, दुवस्युर्वान्दनः, देवमुनिरैरंमदः, देवाः, देवापिरार्ष्टिषेणः, द्युतानो मारुतिः, नद्यः, नारायणः, पणयोऽसुराः, पृथुर्वैन्यः, पृश्नयोऽजाः, प्रजापतिः, प्रजापतिः परमेष्ठी, प्रजापतिर्वाच्यः, बृहस्पतिर्लौक्यः, भावयव्यः, भृगुर्वारुणिः, मत्स्यः सांमदः, मत्स्याः, मनुः सांवरणः, मनुराप्सवः, मरुतः, मान्धाता यौवनाश्वः, मुद्गलो भार्म्यश्वः, रोमशाः, लुशो धानाकः, वत्सप्रिर्भालन्दनः, वभ्रो वैखानसः, वरुणः, वशोऽश्व्यः, वसुमना रौहिदश्वः, वागाम्भृणी, विवस्वानादित्यः, विश्वमना वैयश्वः, विश्वावसुर्देवगन्धर्वः, वृशो जानः, वैखानसाः शतम्, शिबिरौशीनरः, श्रद्धा कामायनी, सप्त ऋषयः, सप्तिर्वाजम्भरः, सरमा देवशुनी, सिकता निवावरी, सुदाः पैजवनः, सुमित्रा वाध्र्यश्वः, सुवेदाः शैरीषिः, सूनुरार्भवः, सूर्या सावित्री तथा हविर्धान आङ्गिः।

ऋषि-परिवारोंकी सदस्य-संख्या

१-आग्नेयः (४)—कुमारः, केतुः, वत्सः तथा श्येनः।

२-आङ्गिरसः (५६)—अभिवर्तः, अहमीयुः, अयास्यः, उचथ्यः, उरुः, उर्ध्वसद्मा, कुत्सः, कृतयशाः, कृष्णः, घोरः, तिरश्चीः, दिव्यः, धरुणः, ध्रुवः, नृमेधः, पवित्रः, पुरुमीळहः, पुरुमेधः, पुरुहन्मा, पुरुदक्षः, प्रचेताः, प्रभूवसुः, प्रियमेधः, बरुः, बिन्दुः, बृहन्मतिः, बृहस्पतिः, भिक्षुः, मूर्धन्वान्, रहूगणः, वसुरोचिषः, विरूपः, विहव्यः,

वीतहव्यः, व्यश्वः, शिशुः श्रुतकक्षः, संवननः, संवर्तः, सप्तगुः, सव्यः, सुकक्षः, सुदीतिः, हरिमन्तः, हिरण्यस्तूपः, अर्चन् हैरण्यस्तूपः, शश्वत्याङ्गिरसः, विश्वाकः कार्ष्णिः, शकपूतो नार्मेधः, सिन्धुक्षित् प्रैयमेधः, दीर्घतमा ओचथ्यः, कक्षीवान् दैर्घतमसः, काक्षीवती घोषा, सुहस्तो घौषेयः, शबरः काक्षीवतः तथा सुकीर्तिः काक्षीवतः।

३-आत्रेयः (३८)—अत्रिभौमः, अर्चनानाः, अवस्युः, इषः, उरुचक्रिः, एवयामरुत्, कुमारः, गयः, गविष्ठिरः, गातुः, गोपवनः, द्युम्नः, द्वितः, पूरुः, पौरः, प्रतिक्षत्रः, प्रतिप्रभः, प्रतिभानुः, बभ्रुः, बाहुवृक्तः, बुधः, यजतः, रातहव्यः, वव्रिः, वसुश्रुतः, विश्वसामा, श्यावाश्वः, श्रुतवित्, सत्यश्रवाः, सदापृणः, सप्तवध्रिः, ससः, सुतम्भरः, स्वस्तिः, वसूयव आत्रेयाः, अन्धीगुः श्यावाश्विः, अपाला तथा विश्ववारा।

४-आथर्वणः (२)—बृहद्दिवः तथा भिषग्।

५-आप्त्यः (३)—त्रितः, द्वितः तथा भुवनः।

६-ऐन्द्रः (१४)—अप्रतिरथः, जयः, लवः, वसुक्रः, विमदः, वृषाकपिः, सर्वहरिः, इन्द्रः, इन्द्रो मुष्कवान्, इन्द्रो वैकुण्ठः, इन्द्राणी, इन्द्रस्य स्नुषा (वसुक्रपत्नी), इन्द्रमातरो देवजामयः तथा शची पौलोमी।

७-काण्वः (३३)—आयुः, इरिम्बिठिः, कुरुसुतिः, कुसीदी, कृशः, त्रिशोकः, देवातिथिः, नाभाकः, नारदः, नीपातिथिः, पर्वतः, पुनर्वत्सः, पुष्टिगुः, पृषध्रः, प्रगाथः, प्रस्कण्वः, ब्रह्मातिथिः, मातरिश्वाः, मेधातिथिः, मेध्यः, मेध्यातिथिः, वत्सः, शशकर्णः, श्रुष्टिगुः, सध्वंसः, सुपर्णः, सोभरिः, कुशिकः सौभरः, अश्वसूक्ती काण्वायनः, गोषूक्ती काण्वायनः, कलिः प्रागाथः, घर्मः प्रागाथः तथा हर्यतः प्रागाथः।

८-काश्यपः (१०)—अवत्सारः, असितः, कश्यपो मारीचः, देवलः, निध्रुविः, भूतांशः, रेभः, रेभसूनू, विवृहा तथा शिखण्डिन्याप्सरसौ काश्यप्यौ।

९-कौत्सः (२)—दुर्मित्रः तथा सुमित्रः।

१०-गौतमः (४)—गोतमः, नोधाः, वामदेवः तथा एकद्युर्नोधसः।

११-गौपायनः (४)—बन्धुः, विप्रबन्धुः, श्रुतबन्धुः तथा सुबन्धुः।

१२-तापसः (३)—अग्निः, घर्मः तथा मन्युः।

१३-दैवोदासिः (३)—परुच्छेपः, प्रतर्दनः तथा अनानतः पारुच्छेपिः।

१४-प्राजापत्यः (९)—पतङ्गः, प्रजावान्, यक्ष्मनाशनः, यज्ञः, विमदः, विष्णुः, संवरणः, हिरण्यगर्भः तथा दक्षिणा।

१५-बार्हस्पत्यः (४)—अग्निः, तपुर्मूर्धा, भरद्वाजः तथा शंयुः।

१६-ब्राह्मः (२)—ऊर्ध्वनाभा तथा रक्षोहा।

१७-भारतः (३)—अश्वमेधः, देववातः तथा देवश्रवाः।

१८-भारद्वाजः (११)—ऋजिश्वा, गर्गः, नरः, पायुः, वसुः, शासः, शिरिम्बिठः, शुनहोत्रः, सप्रथः, सुहोत्रः तथा रात्रिः।

१९-भार्गवः (१४)—इटः, कविः, कृत्नुः, गृत्समदः, च्यवनः, जमदग्निः, नेमः, प्रयोगः, वेनः, सोमाहुतिः, स्यूमरश्मिः, उशना काव्यः, कूर्मो गार्त्समदः तथा रामो जामदग्न्यः।

२०-भौवनः (२)—विश्वकर्मा तथा साधनः।

२१-माधुच्छन्दसः (२)—अघमर्षणः तथा जेता।

२२-मानवः (४)—चक्षुः, नहुषः, नाभानेदिष्ठः तथा शार्यातः।

२३-मैत्रावरुणिः (२)—वसिष्ठः तथा अगस्त्यः (मान्यः)।

२४-आगस्त्यः (५)—अगस्त्यशिष्या, अगस्त्यपत्नी (लोपामुद्रा), अगस्त्यस्वसा (लौपायनमाता), दृळहच्युतः तथा इध्मवाहो दार्ढच्युतः।

२५-यामायनः (७)—ऊर्ध्वकृशनः, कुमारः, दमनः, देवश्रवाः, मथितः, शङ्खः तथा संकुसुतः।

२६-वातरशनः (७)—ऋष्यशृङ्गः, एतशः, करिक्रतः, जूतिः, वातजूतिः, विप्रजूतिः तथा वृषाणकः।

२७-वातायनः (२)—अनिलः तथा उलः।

२८-वामदेव्यः (३)—अंहोमुक्, बृहदुक्थः तथा मूर्धन्वान्।

२९-वारुणिः (२)—भृगुः तथा सत्यधृतिः।

३०-वार्षागिरः (६)—अम्बरीषः, ऋज्राश्वः, भयमानः, सहदेवः, सुराधा तथा सिन्धुद्वीपः (आम्बरीषः)।

३१-वासिष्ठः (१३)—इन्द्रप्रमतिः, उपमन्युः, कर्णश्रुत्, चित्रमहा, द्युम्नीकः, प्रथः, मन्युः, मृळीकः, वसुक्रः, वृषगणः, व्याघ्रपात्, शक्तिः तथा वसिष्ठपुत्राः।

३२-वासुक्रः (२)—वसुकर्णः तथा वसुकृत्।

३३-वैरूपः (४)—अष्ट्रादंष्ट्रः, नभःप्रभेदनः, शतप्रभेदनः तथा सध्रिः।

३४-वैवस्वतः (३)—मनुः, यमः तथा यमी।

३५-वैश्वामित्रः (१२)—कुशिक ऐषीरथिः (विश्वामित्र-पूर्वजः), विश्वामित्रो गाधिनः, अष्टकः, ऋषभः, कतः, देवरातः, पूरणः, प्रजापतिः, मधुच्छन्दाः, रेणुः, गाथी कौशिकः तथा उत्कीलः कात्यः।

३६-शाक्त्यः (२)—गौरवीतिः तथा पाराशरः।

३७-शार्ङ्गः (४)—जरिता, द्रोणः, सारिसृक्वः,तथा स्तम्बमित्रः।

३८-सर्पः (४)—अर्बुदः काद्रवेयः, जरत्कर्ण ऐरावतः, ऊर्ध्वग्रावा आर्बुदिः तथा सार्पराज्ञी।

३९-सौर्यः (४)—अभितपाः, धर्मः, चक्षुः तथा विभ्राट्।

४०-सौहोत्रः (२)—अजमीळहः तथा पुरुमीळहः।

४१-स्थौरः (२)—अग्नियूतः तथा अग्नियूपः।

४२-सोमपरिवारः (४)—सोमः, बुधः, सौम्यः, तथा पुरूरवा ऐकः (आयुः, नहुषः) ययातिर्नाहुषः।

४३-तार्क्ष्यः (२)—अरिष्टनेमिः तथा सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्रः।

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः

(ऋग्वेद-भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

वेद-विज्ञाताओंको तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है—नित्यतावादी, आर्षमतवादी और ऐतिहासिक। इसमें संदेह नहीं कि यास्काचार्यने वेदार्थ करनेके इन नौ पक्षोंको उद्धृत किया है—अध्यात्म, अधिदैवत, आख्यान-समय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक, याज्ञिक और पूर्वयाज्ञिक। इन बारह निरुक्तकारोंके बारह प्रकारके मत भी लिखे हैं—औपमन्यव, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, गार्ग्य, आग्रायण, शाकपूणि, और्णनाभ, तैटिकि, गालव, स्थौलाष्ठिवि, क्रौष्टुकि और कात्थक्य; परंतु पूर्वोक्त तीन प्रधान मतवादोंमें सारे पक्ष और मत समाविष्ट हो जाते हैं। तीनोंमें पहला मत तो वेदको नित्य मानता है, दूसरा वेदकी ज्ञान-राशिको शाश्वत समझता है और तीसरा वेदको संसारका प्राचीनतम ग्रन्थ समझता है। पुराने और नये—जितने भी ऐतिहासिकोंने वेदके स्वाध्याय या शोधके कार्य किये हैं, उन सबका सुदृढ़ मत है कि ईजिप्शियन, मंगोलियन, जोरॉस्ट्रियन, ग्रीक, रोमन, असीरियन, बैबीलोनियन, सुमेरियन, फिनिशियन, ट्युटनिक, स्लावोनियन, वेंडिक, केलिटक, मूसाई तथा यहूदी आदि जितने भी प्राचीन धर्म हैं, उनमेंसे एकका भी ग्रन्थ वेद—विशेषतः ऋग्वेदके समान प्राचीन नहीं है। इसलिये मानव-जातिके प्राचीनतम धर्म, आचार-विचार, त्याग, तप, कला, विज्ञान, इतिहास, राष्ट्र-संघटन और समाज-व्यवस्था आदिका परिज्ञान प्राप्त करनेके लिये एकमात्र साधन ऋग्वेद ही है। यही कारण है कि संसारकी अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि प्रधान भाषाओंमें ऋग्वेदका अनुवाद हो चुका है और सारी वसुन्धरामें ऐसे अनेक वैदिक संस्थान स्थापित हैं, जहाँ अबतक ऋग्वेदीय वाङ्मयपर अन्वेषण और गवेषणका कार्य चल रहा है। अनेक वेदाध्यायियोंने तो इस दिशामें अपना जीवन ही खपा डाला है। बड़े-बड़े चिन्तनशील पुरुष ऋग्वेदके विमल विज्ञानपर विमुग्ध हैं। पौरस्त्य मनीषी तो इसे धर्म-मूल समझते ही हैं—उनके मतसे तो चराचर-ज्ञानका आधार यह है ही; किंतु अधिकांश पाश्चात्त्य वेद-विद्यार्थी भी ऋग्वेदकी अलौकिकतापर आसक्त हैं।

हिंदू-जातिकी प्रख्यात पुस्तक मनुस्मृति (२। ६)-में कहा गया है—'**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।**' अर्थात् 'समस्त वेद धर्मका मूल है।' मनु महाराज एक-दूसरे स्थलपर कहते हैं—'वेद न पढ़कर और यज्ञ न करके जो मनुष्य मुक्ति पानेकी चेष्टा करता है, वह नरकमें जाता है' (मनुस्मृति ६। ३७)। 'जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य) वेद न पढ़कर किसी भी शास्त्र या कार्यमें श्रम करता है, वह जीते-जी अपने वंशके साथ अति शीघ्र शूद्र हो जाता है' (मनु० २। १६८)। मनुजीने वेदनिन्दकको ही नास्तिक कहा है, ईश्वर न माननेवालोंको नहीं (मनु० २। ११)। 'The Bible in India' में जकोलियटने लिखा है—'धर्म-ग्रन्थोंमें एकमात्र वेद ही ऐसा है,जिसके

विचार वर्तमान विज्ञानसे मिलते हैं; क्योंकि वेदमें विज्ञानानुसार सृष्टि-रचनाका प्रतिपादन किया गया है।' बाल साहबने Sex and Sex-worship में कहा है—'संसारका प्राचीनतम धर्मग्रन्थ ऋग्वेद है।' रैगोजिनका मत है—'ऋग्वेदका समाज बड़ी सादगी, सुन्दरता और निष्कपटताका था।' वाल्टेयरका अभिमत है—'केवल इसी ऋग्वेदकी देनके कारण, पश्चिम पूर्वका सदा ऋणी रहेगा।' विख्यात वेदानुसंधित्सु मैक्समूलरने यह उद्‌गार प्रकट किया है—

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावदृग्वेदमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

अर्थात् 'जबतक इस जगतीतलपर पर्वत और नदियाँ रहेंगी, तबतक मानव-जातिमें ऋग्वेदकी महिमाका प्रचार रहेगा।'

संस्कृत-साहित्यमें ऋग्वेदकी २१ संहिताएँ बतायी गयी हैं; परंतु इन दिनों केवल शाकलसंहिता ही प्राप्त और प्रकाशित है। सैकड़ों वर्षोंसे देश और विदेशमें इसीपर कार्य हुआ है और हो रहा है। इन दिनों ऋग्वेदका अर्थ या तात्पर्य यही संहिता है। इसमें सब १०४६७ मन्त्र हैं। चारों वेदोंकी ११३१ संहिताओंमें केवल साढ़े ग्यारह प्रकाशित हो सकी हैं, जिनमें यह सबसे बड़ी है। सामवेदकी कौथुमसंहितामें इसीके मन्त्र भरे पड़े हैं—केवल ७५ मन्त्र कौथुमके अपने हैं। अथर्ववेदकी शौनकसंहितामें भी शाकलके १,२०० मन्त्र हैं। इसीलिये कहा जाता है कि 'इसके सविधि स्वाध्यायसे प्रायः सारे वेदोंका स्वाध्याय हो जाता है।' परंतु इसके लिये पहले ब्राह्मणग्रन्थ, निरुक्त, प्रातिशाख्य, जैमिनीय मीमांसा, सायण-भाष्य आदिका अध्ययन आवश्यक है।

शाकलसंहितापर स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ, हस्तामलक, वेङ्कटमाधव, धानुष्कयज्वा, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, रावण, मुद्गल, देवस्वामी, चतुर्वेदस्वामी आदिके भाष्य हैं। परंतु कुछ तो अप्रकाशित हैं और जो प्रकाशित भी हैं, वे अधूरे हैं। केवल सायण-भाष्य पूर्ण है। सम्पूर्ण शाकलसंहिताके स्वाध्याय, मनन-चिन्तन और अन्वेषणका आधार एकमात्र यही है। इसी सायण-भाष्यके अवलम्बपर निखिल जगत्के ऋग्वेदके अनुवाद और शोधका कार्य चल रहा है। यह भाष्य परम्परा-प्राप्त अर्थका अनुधावन करनेवाला है, इसीलिये प्रामाणिक माना जाता है। सायण-भाष्य नहीं रहता तो विश्वमें ऋग्वेदका विशद विस्तार भी नहीं होता, इस ओर संसार अन्धकारमें ही रहता।

ऋग्वेदीय मन्त्रोंके द्रष्टा केवल साधारण या उद्भट साहित्यिक ही नहीं थे, वे तपोमूर्ति और सत्यसंध थे। आर्षमतवादी कहते हैं कि 'ईश्वरीय ज्ञान अनन्त और अगाध है। किसी-किसी सत्यकाम योगीको समाधिदशामें इस वैदिक ज्ञान-राशिके अंशका साक्षात् हो जाता है। योगी या ऋषि अपनी अनुभूतिको जिन शब्दोंमें व्यक्त करता है, वे मन्त्र हैं। स्फूर्ति दैवी है, परंतु शब्द ऋषिके हैं।'

ऋग्वेदमें ही ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि 'ऋषि वह है, जिसने मन्त्रगत ज्ञानके साथ मन्त्रोंको भी समाधि-दशामें अपने निर्मल अन्तःकरणमें प्राप्त किया है।' ऋग्वेद मण्डल ३, सूक्त ४३, मन्त्र ५ में उसे ही ऋषि कहा गया है, जो अतीन्द्रिय द्रष्टा है। ५। ५४। ७ और ८। ६। ५ में भी प्रायः यही बात है। १०। ८०। ४ में कहा गया है कि 'सहस्र गायोंके सेवक ऋषिको अग्निदेव मन्त्र-द्रष्टा पुत्र देते हैं।' १०। ७१। ३ में कहा गया है—'विद्वान् यज्ञके द्वारा वचन (भाषा)-का मार्ग पाते हैं। ऋषियोंके अन्तःकरणमें जो वाक् (वेदवाणी) थी, उसको उन्होंने प्राप्त (प्रकट) किया। उसको उन्होंने सारे मनुष्योंको पढ़ाया। सातों छन्द उसी वैदिक भाषा (वाणी)-में स्तुति करते हैं।' कात्यायनके 'सर्वानुक्रमसूत्र' में कहा गया है—'**द्रष्टार ऋषयः स्मर्तारः**।' अर्थात् 'ऋषि मन्त्रोंके द्रष्टा और स्मर्ता हैं।' यास्कने निरुक्त (नैगमकाण्ड २। ११)-में लिखा है—'**ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्श**।' आशय यह है कि 'ऋषियोंने मन्त्रोंको देखा; इसलिये उनका नाम 'ऋषि' पड़ा।' इन सबके अतिरिक्त यह भी विदित होता है कि 'परमात्मासे ऋक्, ऋचा या मन्त्र

प्रकट हुए (१०। ९०। ९)। केवल मन्त्रगत ज्ञानराशिके प्रकटीकरणकी बात कहीं नहीं पायी जाती।'

सभी स्तोता ऋषि 'मानव-हितैषी' कहे गये हैं (७। २९। ४)। यद्यपि द्वितीय मण्डलके ऋषि गृत्समद (शौनक), तृतीयके विश्वामित्र, चतुर्थके वामदेव पञ्चमके अत्रि, षष्ठके भारद्वाज, सप्तमके वसिष्ठ, अष्टमके कण्व और एकमतसे नवमके अङ्गिरा द्रष्टा कहे गये हैं। प्रथम तथा दशम मण्डलोंके द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं तो भी इन ऋषियोंके पुत्र, पौत्र आदि तथा अन्यान्य ऋषि और इनके अपत्य एवं गोत्रज भी मन्त्रद्रष्टा हैं। तत्तद् मण्डलोंमें उक्त ऋषि और उनके वंशधर ही प्रधान द्रष्टा हैं, इसलिये उनके ही नाम कहे गये हैं। पिता, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदिका एक साथ ही रहना सम्भव नहीं है; इसलिये सभी मन्त्र एक साथ ही नहीं प्रकट हुए। ऋग्वेदके दूसरे ही मन्त्रमें प्राचीन और नवीन ऋषियोंकी बात आयी है। १। १७४। ८ में नये ऋषिगणका उल्लेख है; ४। १९। ११ में 'पूर्ववर्ती' और ४। २०। ५ में 'नवीन' ऋषियोंके स्तवनका विवरण है। इसके आगेके २१से २४ सूक्तोंके ग्यारहवें मन्त्रोंमें भी 'पूर्ववर्ती' ऋषियोंका उल्लेख है। ५। १०। ७ में 'पुरातन' और 'आधुनिक' ऋषियोंकी स्तुति की गयी है। ६। २१। ५ में प्राचीन, मध्ययुगीन और नवीन—तीन प्रकारके ऋषियोंका कथन है। ६। ४४। १३ में तो प्राचीन और नवीन स्तोत्रोंकी भी बता आयी है। ७। २२। ९में वसिष्ठ इन्द्रसे कहते हैं—'जितने प्राचीन ऋषि हो गये हैं और जितने नवीन हैं, सभी तुम्हारे लिये स्तोत्र उत्पन्न (अभिव्यक्त) करते हैं।' इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि ऋषियोंने विभिन्न समयोंमें विविध मन्त्र देखे। बहुत पीछे व्यास और उनके शिष्य-प्रशिष्य आदिने मन्त्र-संकलन करके संहिताएँ बनायीं।

ऋग्वेदीय मन्त्रद्रष्टा गृहस्थ थे—प्रायः सबके गोत्र और वंश चले हैं तो भी वे जलमें कमलपत्रके समान गार्हस्थ्यके प्रपञ्च-पाखण्डसे निर्लिप्त थे। वे चेतन-तत्त्वके चिन्तक थे, जीवन्मुक्त थे। वे अरण्यानीमें पावन जीवन बिताते थे, वे एकान्त-शान्त स्थानमें ब्रह्म-द्रवकी साधनामें लीन रहते थे। वे चेतनगत प्राण थे और उनका बाह्य एवं आन्तर अध्यात्म-ज्योतिसे उद्भासित रहता था। वे स्थितप्रज्ञ थे और आत्मरसमें विभोर रहते थे। वे ईश्वरकी दिव्य विभूतियोंमें रमण करते थे। वे चेतनके भव्य भावोंकी अभिरामतामें निमग्न रहते थे। वे विशाल विश्वके प्रत्येक कणमें, प्रत्येक अणुमें, प्रकृतिकी प्रत्येक लयमें परम तत्त्वका विकास पाते थे, प्राञ्जल प्रकाश देखते थे, ललित नृत्य देखते थे, मनः-प्राण-परिप्लुतकारी संगीत सुनते थे। यही कारण है कि वे जड, चेतन—सबको आत्मवत् समझते थे, सबकी स्तुति और पूजन करते थे। वे सभी पदार्थोंको चेतनमय देखते थे—वे चेतनके साथ ही खाते-पीते, सोते-जागते और बोलते-बतलाते थे। वे वस्तुतः ऐसा ही अनुभव करते थे और **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** में अनुस्यूत रहते थे। वे अपनेमें सारी सृष्टिको और सारी सृष्टिमें अपनेको देखते थे। इसीलिये वे जड-पदार्थोंसे भी बातें करते थे, उनका भी नमन करते थे, उनका भी यजन करते थे। जो वीर अपनी तलवारसे बातें नहीं करता, वह भी कोई वीर है? जो वैद्य अपनी ओषधियोंके आगे सिर नहीं झुकाता, वह भेषजका रहस्य क्या जाने। यदि आप भी परमात्माकी दिव्य विभूतियोंको जीवनमें ढाल लें—देवोंसे घिरे रहें तो आपका जीवन भी आनन्दमय, तेजोमय, सुगन्धमय और रसमय हो जाय तथा आप भी समदर्शी होकर प्रत्येक जड-पदार्थको भी चेतन-प्लावित समझने लगें।

मन्त्रद्रष्टा ऋषि सिद्धयोगी थे। वे त्रिकालदर्शी थे। वे 'वर्तमान और भविष्यकी अद्भुत घटनाओंको भी देखते थे' (१। २५। ११)। वे महान् तपस्वी थे। कितने ही ऋषि वल्कल धारण करते थे (१०। १३६। २)। कितने ही 'लौकिक व्यवहार छोड़कर परमहंस बन जाते थे।' वे योगबलसे वायुपर चढ़ जाते थे। वायु भी उनकी वशवर्तितामें आबद्ध थी (१०। १३६। ३)। वे आकाशमें उड़ते और सारे पदार्थोंको देख लेते थे (१। १३६। ४)। वे पूर्व तथा पश्चिम दोनों समुद्रोंमें निवास करते थे और चराचरके सारे ज्ञातव्य विषयोंको जानते थे। वे आत्मरसके उत्पादक एवं आनन्ददाता मित्र थे (१०। १३६। ५-६)।

ऋषि सेवाका मर्म समझते थे; इसलिये वे 'सेवाव्रती'-पर सदा प्रसन्न रहते थे (१। ५३। १)। उनका मत था—सेवक यमपथसे नहीं जाते (१। ३८। ५)। वे पूजाका महत्त्व समझते थे; वे यह भी जानते थे कि देवता तपस्वीके ही मित्र होते हैं (४। ३३। ११); इसलिये वे अपूजकको महान् पापी समझते थे (२। १२। १०)। वे गृहागत अतिथिका यथेष्ट सम्मान करके उसे प्रचुर धन प्रदान करते थे (२। १३। ४; ५। ४। ५)। वे समाजकी सुव्यवस्थाके लिये परस्पर सहायता करना आवश्यक समझते थे (१। २६। ३)। उनका मत था कि दाता दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं और जरा-मरण-शून्य स्थानको जाते हैं (१। १२५। ६)। विद्वान् ही समाजके मस्तिष्क होते हैं; इसलिये 'विद्वान् पुरुषको द्रव्य-दान देना' वे अत्यावश्यक समझते थे (१। १२७। ४)। उनका निर्देश था—दाताके नामकी मृत्यु नहीं होती, दाता दरिद्र नहीं होते; उन्हें क्लेश, व्यथा और दुःख नहीं सताते, उन्हें स्वर्ग और मर्त्यलोकके सारे पदार्थ सुलभ हो जाते हैं (१०। १०७। ८)। उनका अनुभव था—याचकको अवश्य धन देना चाहिये; क्योंकि जैसे रथ-चक्र नीचे-ऊपर घूमता रहता है, वैसे ही धन भी कभी किसीके पास रहता है और कभी दूसरेके पास चला जाता है। वह कभी स्थिर रहनेवाला नहीं है (१०। ११७। ५)। ऋषिका स्पष्ट उद्घोष है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋक्० १०। ११७। ६)

अर्थात् 'जो स्वार्थी है, उसका अन्न-धन उत्पन्न करना वृथा है। मैं सच कहता हूँ, इस प्रकारका उत्पादन उत्पादकका वध करा देता है—जो न तो धनको धर्म-कार्यमें लगाता है, न अपने मित्र-हितैषीको देता है, जो स्वयं पेट पालनेवाला है, वह केवल साक्षात् पापी है और पापी सत्पथसे नहीं जाते' (९। ७३। ६)। ऋषि कक्षीवान् कहते हैं—'जो धनी दूसरेका पालन नहीं करता, उसे मैं घृणित समझता हूँ (१। १२०। १२)।' ऋषि देवलका सिद्धान्त है—'देवता अदाताओंके हिंसक हैं' (९। १३। ९)।

ऋषि हितैषी पुरुषका बड़ा सम्मान करते थे (१। ६९। २)। मन्त्रद्रष्टा इन्द्रके इसलिये उपासक थे कि इन्द्र मनुष्य-हितैषी थे (१। ८४। २०)। वे उसीको सच्चा आर्य-अपत्य समझते थे, जो मनुष्य-पालक है (४। २। १८)। वे 'पुण्यवान्की ही उन्नति सम्भव मानते थे' (२। २३। १०)। पुण्यवान् स्तोताको ही सन्मार्गकी प्राप्ति होती है (३। ३। १)।

ऋषियोंकी उत्कट अभिलाषा थी—'हमारी बुद्धि वेदज्ञान-समर्थ बने' (१। ११२। २४)। वे 'विद्वान् पुत्र' ही चाहते थे (१। ७३। ९)। 'वे ऐसा पुत्र चाहते थे, जो कानोंमें स्वर्ण और गलेमें मणि धारण करनेवाला हो' (१। १२२। १४)। वीर पुत्रमें उनकी बड़ी रुचि थी (१। १२५। ३; ९। ९७। २१, २६)। वे उत्साही, जनप्रिय और विद्याध्ययनमें 'दक्ष पुत्र' की कामना करते थे (१। १४१। ११)। वे देवतासे 'बलवान्, हव्यवाहक, महान्, यज्ञकारी और सत्यबल-विशिष्ट पुत्र' की याचना करते थे (४। ११। ४)। वे 'अपने कार्यसे पिता, पितामह आदिकी कीर्तिको प्रख्यात करनेवाले पुत्रको बहुत पसंद करते थे' (५। २५। ५)। वे अपने 'मानव-हितैषी पुत्र'-रक्षाकी इच्छा करते रहते थे (७। १। २१)।

वे आलसीसे घृणा करते थे (२। ३०। ७)। निन्दक और दुर्बुद्धिको हेय समझते थे (१। १२९। ६; १। १३१। ७)। निन्दकसे कोसों दूर रहना चाहते थे (६। ४५। २७)। द्वेषीसे भी दूर रहना चाहते थे (२। २९। २ तथा २। ३०। ६)। ब्राह्मण-द्वेषी तथा मांस-भक्षकको अपना शत्रु समझते थे (७। १०४। २)। पापियों और हिंसकोंसे त्राण पानेके लिये अग्निदेवसे प्रार्थना करते थे (८। ४४। ३०)। यही बात १। २९। ७ में भी है। उनके देवता मन्त्रद्वेषियोंके संतापक और क्रोधीके हिंसक थे (२। २३। ४-५)। हव्यदाता एवं धार्मिकके हिंसकको ऋषि वध्य समझते थे (६। ६२। ३; ७। २५। ३); परंतु वे उदार और दयालु इतने थे कि राक्षस भी यदि रोगी है तो उसका विनाश नहीं चाहते थे (३। १५। १)।

यज्ञ, दान और तप—धर्मके ये तीन प्रधान अङ्ग

हैं—इन तीनोंके ही उपासक और साधक ऋषि थे। वे यज्ञको 'ऋत' अथवा 'सत्यात्मा' मानते थे (९। ७३। ८-९)। उनकी अनुभूति थी कि 'प्रज्वलित तपसे यज्ञ और सत्यकी उत्पत्ति हुई है' (१०। १९०। १)। यज्ञका वाच्यार्थ है पूजन। मन, वचन एवं कर्मसे चराचरका पूजन, सेवन और आराधन यज्ञ है। इसी यज्ञसे सृष्टि-चक्र संचरणशील है। इसीलिये यज्ञको विश्वका उत्पत्ति-स्थान तथा श्रेष्ठ कर्म कहा गया है (शतपथब्राह्मण १। ७। ४। ५)। ऐतरेयब्राह्मण (१। ४। ३)-का मत है कि 'यज्ञसे एवं मन्त्रोंके उच्चारणसे वायुमण्डलमें परिवर्तन हो जाता है और निखिल विश्वमें धर्मचक्र चलने लगता है।' जैमिनीय मीमांसा तो केवल यज्ञसे ही मुक्ति मानती है। श्रीमद्भगवद्गीतामें सृष्टि-चक्रका संचालक यज्ञको माना गया है। ऋग्वेदके मतसे तो 'यज्ञ ही प्रथम या मुख्य धर्म है' (१०। ९०। १६)। अनेकानेक मन्त्रोंमें यज्ञको 'सत्यभूत' और 'सत्यरूप' कहा गया है (४। २। १६; ४। ३। ९; ९। ६९। ३; ९। ७२। ६; ९। ९७। ३२; १०। ६३। ११)। यज्ञके द्वारा परस्पर हित होता है, समाजका सुचारुरूपसे संचालन होता है और जागतिक समृद्धि होती है। यज्ञाग्निसे मेघ बनते हैं, वृष्टि होती है, अन्न उत्पन्न होता है और अन्ततः प्रजा सुखी होती है। यही नहीं, यज्ञमें आत्मशक्ति और मन्त्रशक्ति जागरित होती तथा दैवी स्फूर्ति प्राप्त होती है, जिससे याज्ञिक मोक्षमार्गमें आरूढ़ हो जाता है; फिर उसके मङ्गलभागी होनेमें क्या संदेह (२। ३८। १)। जो यज्ञहीन है, वह सत्य-शून्य है। उसे नरकके सिवा अन्य स्थान कहाँ मिले (४। ५। ५)।

जैन-बौद्धोंमें अहिंसा, ईसाइयोंमें प्रेम, सिखोंमें भक्ति और मुसलमानोंमें नमाज़का जो महत्त्व है, उससे भी बढ़कर वैदिक धर्ममें यज्ञका महत्त्व है; जो अमोघ शक्ति और मुक्तिकी प्राप्तिका महान् साधन है। वैदिक वाङ्मय ही नहीं, श्रीमद्भगवद्गीता भी यज्ञसे मोक्ष मानती है (४। ३२)। यहाँ गाँधीजीने भी अपने 'अनासक्ति-योग' में लिखा है—'यज्ञके बिना मोक्ष नहीं होता।' इसीलिये आर्य ऋषि याज्ञिक शक्तिको उद्‌बुद्ध रखते थे। इसका सूक्ष्मतम रहस्य उन्हें सम्यक् ज्ञात था। इसीलिये उनके प्रति दैवी शक्ति ही नहीं, परमात्मशक्ति भी जागरूक रहती थी और इसीलिये आर्य-ऋषिको ज्योति अथवा आभ्यन्तर प्रकाश प्रदान किया गया था (२। ११। १८)। कदाचित् इसीलिये उन्हें सारी पृथिवी भी दे दी गयी थी, ताकि वे इसे सुख-समृद्धिसे सम्पन्न रखें तथा अपने सुकर्मों और आदेशोंके द्वारा मानवोंको परमधामका मार्ग दिखाया करें (४। २६। २)।

आदर्श मानवताके लिये जिस सद्‌गुणावलीकी आवश्यकता होती है, उसमें गाँधीजीके समान ही अनेक महापुरुषोंने सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्यको प्राधान्य दिया है। इन तीनों सद्‌गुणोंके सम्बन्धमें ऋग्वेदीय मन्त्र-द्रष्टाओंका अभिमत देखिये। पहले ब्रह्मचर्यको लीजिये। ऋषि ब्रह्मचर्यको परम धन मानते थे। वे इस धनके परम उपासक थे, इसे वे तेजःपुञ्ज समझते थे और याज्ञिकके लिये अनिवार्य मानते थे। ऋषि कहते हैं—

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद् विभाति क्रतुमज्जनेषु।
यद् दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्॥

(ऋक्० २। २३। १५)

अर्थात् 'हे यज्ञजात बृहस्पति! आर्य लोग जिस धनकी पूजा करते हैं, जो दीप्ति और यज्ञवाला धन लोगोंमें शोभा पाता है, जो धन अपने ओजसे प्रदीप्त है, वही विलक्षण तेजःशाली ब्रह्मचर्य-धन हमें दो।'

प्रत्येक धार्मिक तथा धर्म-कार्यके लिये वे ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक और अनिवार्य समझते थे। वे अब्रह्मचारीको यज्ञमें विघ्न जानते थे; इसलिये वे इन्द्रसे प्रार्थना करते थे कि 'हमारे यज्ञमें अब्रह्मचारी (शिश्नदेव) विघ्न न डालने पायें।'

ऋषियोंका अनुभव था कि हिंसककी बुद्धि भ्रष्ट होती है; इसलिये अहिंसा-पालन तो वे और भी आवश्यक समझते थे। ऋषि अगस्त्य मरुद्‌गणोंसे प्रार्थना करते हैं—'मरुतो! अहिंसक होकर हमें (मानवोंको) सुबुद्धि प्रदान करो' (१। १६६। ६)। ऋषि गृत्समद कहते हैं—'हम हिंसाशून्य होकर परम सुखमें निवास करें' (२। २७। १६)। ऋषि वसुश्रुतिकी कामना है—'इला, सरस्वती और मही नामकी तीनों देवियाँ हिंसा-

शून्य होकर इस यज्ञमें आगमन करें' (५।५।८)। अत्रि ऋषिके अपत्य स्वस्ति कहते हैं—'वायु और इन्द्र! अहिंसक होकर सोमरसका सेवन करो।' (५।५१।६)। ऋषि अर्चनानाकी कामना है—'गृहमें हमें अहिंसक मित्रका सुख प्राप्त हो' (५। ६४। ३)। ऋषि वसिष्ठ कहते हैं—'इन्द्र! हम अहिंसक होकर ही तुम्हारी दया प्राप्त करते हैं' (७। २०। ८)। ये ही ऋषि मरुतोंसे विनय करते हैं—'मरुतो! तुमलोग अहिंसक होकर इस यज्ञमें सोमरूप हव्य ग्रहण करो' (७। ५९। ६)। ऐसे कथन प्रभूत मात्रामें पाये जाते हैं, जिनसे जाना जाता है कि आदर्श मानवताके लिये वे अहिंसाको अनिवार्य नियम मानते थे।

सत्यके तो वे प्रबल पक्षपाती थे ही। उनका प्रधान धर्मानुष्ठान (यज्ञ) सत्यस्वरूप (ऋत) था। वे असत्य-पोषकको 'राक्षस' समझते थे (१०। ८७। ११)। उनके देवता सत्य-स्वभाव थे (८। ९। १५)। कण्व-पुत्र प्रस्कण्व ऋषि उषासे याचना करते हैं—'उषा! मुझे सत्य वाक् दो' (१। ४८। २)। शक्ति-पुत्र पराशरका अनुभव है—'सत्य मन्त्रद्वारा ही आकाश धृत है' (१। ६७। ३)। उक्थ्य-पुत्र दीर्घतमा ऋषिका विश्वास था—'सूर्य सत्यकी पूर्ति तथा असत्यका नाश करके संसारका भार वहन करते हैं' (१। १५२। ३)। स्पष्ट है कि ऋषि सत्यको प्रकाश तथा असत्यको अन्धकार समझते थे। अगस्त्य ऋषिकी पत्नी लोपामुद्राका कहना है—'सत्य-रक्षक ऋषि देवोंसे सच्ची बात कहते थे' (२। १७९। २)। आगेके मन्त्रोंमें कहा गया है—'हम सत्यप्रतिज्ञ होकर स्तुति करते हैं' (१। १८०। ७)। उनके इन्द्रदेव 'सत्यसंकल्प' थे (२। १५। १)। यही बात २। २२ के प्रथम तीन सूक्तोंके अन्तमें भी कही गयी है। २। २४। ७ में अङ्गिरा लोगोंको 'सत्यवादी' और 'सर्वज्ञाता' बताया गया है। वाक्-पुत्र प्रजापतिकी उक्ति है—'पुरातन सत्यवादी महर्षियोंने द्यावापृथिवीसे अपना अभिलषित अर्थ प्राप्त किया था' (३। ५४। ४)। ऋषि वामदेवका अनुभव है—'सत्यरहित और सत्य-वचन-शून्य पापी नरक-स्थानको उत्पन्न करता है' (४। ५। ५)। यहीं ११ वें मन्त्रमें वामदेव कहते हैं—'हम नमस्कारपूर्वक अथवा विनम्र होकर सत्य बोलते हैं।' ४। ११। ३ में वे पुनः कहते हैं—'सत्यकर्मा यजमानके लिये शक्तिशाली रूप और धन उत्पन्न हुए हैं।' ५। ४०। ७ में अत्रि ऋषिको 'सत्य-पालक' कहा गया है। ऋषि-वृन्द केवल 'सत्य-धारकों' को ही यज्ञमें बुलाते थे (५। ५१। २)। ६। ५१। १० में लिखा है—'वरुण, मित्र और अग्नि सत्यकर्मा स्तोताओंके एकान्त पक्षपाती हैं।' ७। १०४। १२-१३ में वसिष्ठका उद्गार है—'विद्वान्‌को ज्ञात है कि सत्य एवं असत्य परस्पर प्रतिस्पर्द्धी हैं। इनमें जो सत्य और सरलतम है, सोमदेव उसीका पालन करते हैं तथा असत्यकी हिंसा करते हैं।' 'सोमदेव पापी और मिथ्यावादीको नहीं छोड़ते, मार देते हैं। वे राक्षस तथा असत्यवादीको मार डालते हैं।' १०। ३७। २ में कहा गया है—'सत्य वह है, जिसका अवलम्बन करके आकाश और दिन वर्तमान है, सारा संसार एवं प्राणिवृन्द जिसपर आश्रित हैं, जिसके प्रभावसे प्रतिदिन जल प्रवाहित होता है और सूर्य उगते हैं।' इन उद्धरणोंसे जाना जाता है कि वे सत्यके कितने अनन्य अनुरागी थे और असत्यको कितना जघन्य समझते थे। वे सत्यचक्रके द्वारा ही विश्वचक्रका संचालन मानते थे। सत्यके द्वारा सूर्य अपनी किरणोंको सायंकाल एकत्र करते और सत्यके द्वारा ही प्रातःकाल किरणोंको विस्तृत करते हैं (८। ७५। ५)। मेध्य ऋषिका सिद्धान्त है—'देवताओंकी संख्या तैंतीस है और वे सत्यस्वरूप हैं ('बालखिल्य-सूक्त' ९। २)। यमने यमीसे कहा है—'मैं सत्यवक्ता हूँ। मैंने कभी भी मिथ्या-कथन नहीं किया है' (१०। १०। ४)। ऐसे उद्धरण और भी दिये जा सकते हैं। मुख्य बात यह है कि मन्त्र-द्रष्टाओंका सर्वस्व सत्य था और सर्वाधिक घृणा उन्हें असत्यसे थी। फलतः आदर्श मानवताके लिये जिस सद्गुणावलीकी आवश्यकता है, वह उनमें चूडान्तरूपमें थी।

[शेष पृ०सं० ६०१ से]

मन्त्रद्रष्टा ऋषि
मन्त्रद्रष्टा महर्षि विश्वामित्र

पुरुषार्थ, सच्ची लगन, उद्यम और तपकी गरिमाके रूपमें महर्षि विश्वामित्रके समान शायद ही कोई हो। इन्होंने अपने पुरुषार्थसे, अपनी तपस्याके बलसे क्षत्रियत्वसे ब्रह्मत्व प्राप्त किया, राजर्षिसे ब्रह्मर्षि बने, देवताओं और ऋषियोंके लिये पूज्य बन गये और उन्हें सप्तर्षियोंमें अन्यतम स्थान प्राप्त हुआ। साथ ही सबके लिये वे वन्दनीय भी बन गये। इनकी अपार महिमा है।

इन्हें अपनी समाधिजा प्रज्ञासे अनेक मन्त्रस्वरूपोंका दर्शन हुआ, इसलिये ये 'मन्त्रद्रष्टा ऋषि' कहलाते हैं। ऋग्वेदके दस मण्डलोंमें तृतीय मण्डल, जिसमें ६२ सूक्त हैं, इन सभी सूक्तों (मन्त्रोंका समूह)-के द्रष्टा ऋषि विश्वामित्र ही हैं। इसीलिये तृतीय मण्डल 'वैश्वामित्र-मण्डल' कहलाता है। इस मण्डलमें इन्द्र, अदिति, अग्निपूजा, उषा, अश्विनी तथा ऋभु आदि देवताओंकी स्तुतियाँ हैं और अनेक ज्ञान-विज्ञान, अध्यात्म आदिकी बातें विवृत हैं, अनेक मन्त्रोंमें गो-महिमाका वर्णन है। तृतीय मण्डलके साथ ही प्रथम, नवम तथा दशम मण्डलकी कतिपय ऋचाओंके द्रष्टा विश्वामित्रके मधुच्छन्दा आदि अनेक पुत्र हुए हैं।

वैश्वामित्र-मण्डलका वैशिष्ट्य

वैसे तो वेदकी महिमा अनन्त है ही, किंतु महर्षि विश्वामित्रजीके द्वारा दृष्ट यह तृतीय मण्डल विशेष महत्त्वका है, क्योंकि इसी तृतीय मण्डलमें ब्रह्म-गायत्रीका जो मूल मन्त्र है, वह उपलब्ध होता है। इस ब्रह्म-गायत्री-मन्त्रके मुख्य द्रष्टा तथा उपदेष्टा आचार्य महर्षि विश्वामित्र ही हैं। ऋग्वेदके तृतीय मण्डलके ६२वें सूक्तका दसवाँ मन्त्र 'गायत्री-मन्त्र' के नामसे विख्यात है, जो इस प्रकार है—'**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥**'

यदि महर्षि विश्वामित्र न होते तो यह मन्त्र हमें उपलब्ध न होता, उन्हींकी कृपासे—साधनासे यह गायत्री-मन्त्र प्राप्त हुआ है। यह मन्त्र सभी वेदमन्त्रोंका मूल है—बीज है, इसीसे सभी मन्त्रोंका प्रादुर्भाव हुआ। इसीलिये गायत्रीको 'वेदमाता' कहा जाता है। यह मन्त्र सनातन परम्पराके जीवनमें किस तरह अनुस्यूत है तथा इसकी कितनी महिमा है, यह तो स्वानुभव-सिद्ध है। उपनयन-संस्कारमें गुरुमुखद्वारा इसी मन्त्रके उपदेशसे द्विजत्व प्राप्त होता है और नित्य-संध्याकर्ममें मुख्यरूपसे प्राणायाम, सूर्योपस्थान आदिद्वारा गायत्री-मन्त्रके जपकी सिद्धिमें ही सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार यह गायत्री-मन्त्र महर्षि विश्वामित्रकी ही देन है और वे इसके आदि आचार्य हैं। अतः गायत्री-उपासनामें इनकी कृपा प्राप्त करना भी आवश्यक है। इन्होंने गायत्री-साधना तथा दीर्घकालीन संध्योपासनाकी तपःशक्तिसे काम-क्रोधादि विकारोंपर विजय प्राप्त की और ये तपस्याके आदर्श बन गये।

महर्षिने न केवल वैदिक मन्त्रोंके माध्यमसे ही गायत्री-उपासनापर बल दिया, अपितु उन्होंने अन्य जिन ग्रन्थोंका प्रणयन किया, उनमें भी मुख्यरूपसे गायत्री-साधनाका ही उपदेश प्राप्त होता है। 'विश्वामित्रकल्प,' 'विश्वामित्रसंहिता' तथा 'विश्वामित्रस्मृति' आदि उनके मुख्य ग्रन्थ हैं। इनमें भी सर्वत्र गायत्रीदेवीकी आराधनाका वर्णन दिया गया है और यह निर्देश है कि अपने अधिकारानुसार गायत्री-मन्त्रके जपसे सभी सिद्धियाँ तो प्राप्त हो ही जाती हैं। इसीलिये केवल इस मन्त्रके जप कर लेनेसे सभी मन्त्रोंका जप सिद्ध हो जाता है।

महामुनि विश्वामित्र तपस्याके धनी हैं। इन्हें गायत्रीमाता सिद्ध थीं और इनकी पूर्ण कृपा इन्हें प्राप्त थी। इन्होंने नवीन सृष्टि तथा त्रिशंकुको सशरीर स्वर्ग आदि भेजने और ब्रह्मर्षिपद प्राप्त करने-सम्बन्धी जो भी असम्भव कार्य किये, उन सबके पीछे गायत्री-जप एवं संध्योपासनाका ही प्रभाव था।

भगवती गायत्री कैसी हैं, उनका क्या स्वरूप है, उनकी आराधना कैसे करनी चाहिये, यह सर्वप्रथम आचार्य विश्वामित्रजीने ही हमें बताया है। उन्होंने भगवती गायत्रीको सर्वस्वरूपा बताया है और कहा है कि यह चराचर जगत् स्थूल-सूक्ष्म भेदसे भगवतीका ही विग्रह है, तथापि उपासना और ध्यानकी दृष्टिसे उनका मूल स्वरूप कैसा है—इस विषयमें उनके द्वारा रचित निम्न श्लोक द्रष्टव्य है, जो आज भी गायत्रीके उपासकों तथा नित्य संध्या-वन्दनादि करनेवालोंके द्वारा ध्येय होता रहता है—

गायत्रीमाताका ध्यान—

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम्।
गायत्रीं वरदाभयांकुशकशाः शुभ्रं कपालं गुणं
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे॥

(देवीभागवत १२।३)

अर्थात् 'जो मोती, मूँगा, सुवर्ण, नीलमणि तथा उज्ज्वल प्रभाके समान वर्णवाले (पाँच) मुखोंसे सुशोभित हैं। तीन नेत्रोंसे जिनके मुखकी अनुपम शोभा होती है। जिनके रत्नमय मुकुटमें चन्द्रमा जड़े हुए हैं, जो चौबीस वर्णोंसे युक्त हैं तथा जो वरदायिनी गायत्री अपने हाथोंमें अभय और वर-मुद्राएँ, अंकुश, पाश, शुभ्रकपाल, रस्सी, शङ्ख, चक्र और दो कमल धारण करती हैं, हम उनका ध्यान करते हैं'।

इस प्रकार महर्षि विश्वामित्रका इस जगत्पर महान् उपकार ही है। महिमाके विषयमें इससे अधिक क्या कहा जा सकता है कि साक्षात् भगवान् जिन्हें अपना गुरु मानकर उनकी सेवा करते थे। महर्षिने सभी शास्त्रों तथा धनुर्विद्याके आचार्य श्रीरामको बला, अतिबला आदि विद्याएँ प्रदान कीं, सभी शास्त्रोंका ज्ञान प्रदान किया और भगवान् श्रीरामकी चिन्मय लीलाओंके वे मूल-प्रेरक रहे तथा लीला-सहचर भी बने।

क्षमाकी मूर्ति वसिष्ठके साथ विश्वामित्रका जो विवाद हुआ, प्रतिस्पर्धा हुई, वह भी लोकशिक्षाका ही एक रूप है। इस आख्यानसे गो-महिमा, त्यागका आदर्श, क्षमाकी शक्ति, तपस्याकी शक्ति, उद्यमकी महिमा, पुरुषार्थ एवं प्रयत्नकी दृढ़ता, कर्मयोग, सच्ची लगन और निष्ठा एवं दृढ़तापूर्वक कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है। इस आख्यानसे लोकको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि काम, क्रोध आदि साधनाके महान् बाधक हैं, जबतक व्यक्ति इनके मोहपाशमें रहता है; उसका अभ्युदय सम्भव नहीं, किंतु जब वह इन आसुरी-सम्पदाओंका परित्याग कर दैवी-सम्पदाका आश्रय लेता है तो वह सर्वपूज्य, सर्वमान्य तथा भगवान्का प्रियपात्र हो जाता है। महर्षि वसिष्ठसे जब वे परास्त हो गये, तब उन्होंने तपोबलका आश्रय लिया, काम-क्रोधके वशीभूत होनेका उन्हें अनुभव हुआ, अन्तमें सर्वस्व त्याग कर वे अनासक्त पथके पथिक बन गये और जगद्वन्द्य हो गये। ब्रह्माजी स्वयं उपस्थित हुए, उन्होंने उन्हें बड़े आदरसे ब्रह्मर्षिपद प्रदान किया। महर्षि वसिष्ठने उनकी महिमाका स्थापन किया और उन्हें हृदयसे लगा लिया। दो महान् संतोंका अद्भुत मिलन हुआ। देवताओंने पुष्पवृष्टि की।

सत्यधर्मके आदर्श राजर्षि हरिश्चन्द्रका नाम कौन नहीं जानता? किंतु महर्षि विश्वामित्रकी दारुण परीक्षासे ही हरिश्चन्द्रकी सत्यतामें निखार आया, उस वृत्तान्तमें महर्षि अत्यन्त निष्ठुर-से प्रतीत होते हैं, किंतु महर्षिने हरिश्चन्द्रको सत्यधर्मकी रक्षाका आदर्श बनाने तथा उनकी कीर्तिको सर्वश्रुत एवं अखण्ड बनानेके लिये ही उनकी इतनी कठोर परीक्षा ली। अन्तमें उन्होंने उनका राजैश्वर्य उन्हें लौटा दिया, रोहिताश्वको जीवित कर दिया और महर्षि विश्वामित्रकी परीक्षारूपी कृपाप्रसादसे ही हरिश्चन्द्र राजासे राजर्षि हो गये, सबके लिये आदर्श बन गये।

ऐतरेय ब्राह्मण आदिमें भी हरिश्चन्द्रके आख्यान तथा शुन:शेपके आख्यानमें महर्षि विश्वामित्रकी महिमाका वर्णन आया है। ऋग्वेदके तृतीय मण्डलमें ३०वें, ३३वें तथा ५३वें सूक्तमें महर्षि विश्वामित्रका परिचयात्मक विवरण आया है। वहाँसे ज्ञान होता है कि ये कुशिक गोत्रोत्पन्न कौशिक थे (३।२६।२-३)। ये कौशिक लोग महान् ज्ञानी थे, सारे संसारका रहस्य जानते थे (३।२९।१५)। ५३वें सूक्तके ९वें मन्त्रसे ज्ञात होता है कि महर्षि विश्वामित्र अतिशय सामर्थ्यशाली, अतीन्द्रियार्थद्रष्टा, देदीप्यमान तेजोंके जनयिता और अध्वर्यु आदिमें उपदेष्टा हैं तथा राजा सुदासके यज्ञके आचार्य रहे हैं।

महर्षि विश्वामित्रके आविर्भावका विस्तृत आख्यान पुराणों तथा महाभारत आदिमें आया है। तदनुसार कुशिकवंशमें उत्पन्न चन्द्रवंशी महाराज गाधिकी सत्यवती नामक एक श्रेष्ठ कन्या हुई। जिसका विवाह मुनिश्रेष्ठ भृगुपुत्र ऋचीकके साथ सम्पन्न हुआ। ऋचीकने पत्नीकी सेवासे प्रसन्न होकर अपने तथा महाराज गाधिको पुत्रसम्पन्न होनेके लिये यज्ञिय चरुको अभिमन्त्रित कर सत्यवतीको प्रदान करते हुए कहा—'देवि! यह दिव्य चरु दो भागोंमें विभक्त है। इसके भक्षणसे यथेष्ट पुत्रकी प्राप्ति होगी। इसका एक भाग तुम ग्रहण करना और दूसरा भाग अपनी माताको दे देना। इससे तुम्हें एक श्रेष्ठ महातपस्वी पुत्र प्राप्त होगा और तुम्हारी माताको क्षत्रिय शक्तिसम्पन्न तेजस्वी पुत्र होगा।' सत्यवती यह दोनों चरु-भाग प्राप्तकर बड़ी प्रसन्न हुई।

अपनी श्रेष्ठ पत्नी सत्यवतीको ऐसा निर्देश देकर महर्षि ऋचीक तपस्याके लिये अरण्यमें चले गये। इसी समय महाराज गाधि भी तीर्थदर्शनके प्रसंगवश अपनी कन्या सत्यवतीका समाचार जानने आश्रममें आये। इधर सत्यवतीने पतिद्वारा प्राप्त चरुके दोनों भाग माताको दे दिये और दैवयोगसे माताद्वारा चरु-भक्षणमें विपर्यय हो गया। जो भाग सत्यवतीको प्राप्त होना था, उसे माताने ग्रहण कर लिया और जो भाग माताके लिये उद्दिष्ट था, उसे सत्यवतीने ग्रहण कर लिया। ऋषि-निर्मित चरुका प्रभाव अक्षुण्ण था, अमोघ था। चरुके प्रभावसे गाधिपत्नी तथा देवी सत्यवती— दोनोंमें गर्भके चिह्न स्पष्ट होने लगे।

इधर ऋचीक मुनिने योगबलसे जान लिया कि चरु-भक्षणमें विपर्यय हो गया है। यह जानकर सत्यवती निराश हो गयीं, परंतु मुनिने उन्हें आश्वस्त किया। यथासमय सत्यवतीकी परम्परामें पुत्ररूपमें जमदग्नि पैदा हुए और उन्हींके पुत्र परशुराम हुए। दूसरी ओर गाधिपत्नीने चरुके प्रभावसे दिव्य ब्रह्मशक्ति-सम्पन्न महर्षि विश्वामित्रको पुत्ररूपमें प्राप्त किया। संक्षेपमें यही महर्षि विश्वामित्रके आविर्भावकी कथा है। आगे चलकर महर्षि विश्वामित्रके अनेक पुत्र-पौत्र हुए, जिनसे कुशिकवंश विख्यात हुआ। ये गोत्रकार ऋषियोंमें परिगणित हैं। आज भी सप्तर्षियोंमें स्थित होकर महर्षि विश्वामित्र जगत्‌के कल्याणमें निरत हैं।

महर्षि अत्रि

सम्पूर्ण ऋग्वेद दस मण्डलोंमें प्रविभक्त है। प्रत्येक मण्डलके मन्त्रोंके ऋषि अलग-अलग हैं। उनमेंसे ऋग्वेदके पञ्चम मण्डलके द्रष्टा महर्षि अत्रि हैं। इसीलिये यह मण्डल 'आत्रेय मण्डल' कहलाता है। इस मण्डलमें ८७ सूक्त हैं। जिनमें महर्षि अत्रिद्वारा विशेषरूपसे अग्नि, इन्द्र, मरुत्, विश्वेदेव तथा सविता आदि देवोंकी महनीय स्तुतियाँ ग्रथित हैं। इन्द्र तथा अग्निदेवताके महनीय कर्मोंका वर्णन है।

महर्षि अत्रि वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। पुराणोंमें इनके आविर्भावका तथा उदात्त चरित्रका बड़ा ही सुन्दर वर्णन हुआ है। वहाँके वर्णनके अनुसार महर्षि अत्रि ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं और उनके चक्षुभागसे इनका प्रादुर्भाव हुआ—'**अक्ष्णोऽत्रिः**' (श्रीमद्भा० ३।१२।२४)। सप्तर्षियोंमें महर्षि अत्रिका परिगणन है। साथ ही इन्हें 'प्रजापति' भी कहा गया है। महर्षि अत्रिकी पत्नी अनसूयाजी हैं, जो कर्दम प्रजापति और देवहूतिकी पुत्री हैं। देवी अनसूया पतिव्रताओंकी आदर्शभूता और महान् दिव्यतेजसे सम्पन्न हैं। महर्षि अत्रि जहाँ ज्ञान, तपस्या, सदाचार, भक्ति एवं मन्त्रशक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप हैं; वहीं देवी अनसूया पतिव्रताधर्म एवं शीलकी मूर्तिमती विग्रह हैं। भगवान् श्रीराम अपने भक्त महर्षि अत्रि एवं देवी अनसूयाकी भक्तिको सफल करने स्वयं उनके आश्रमपर पधारे। माता अनसूयाने देवी सीताको पातिव्रतका उपदेश दिया। उन्होंने अपने पातिव्रतके बलपर शैव्या ब्राह्मणीके मृत पतिको जीवित कराया तथा बाधित सूर्यको उदित कराकर संसारका कल्याण किया। देवी अनसूयाका नाम ही बड़े महत्त्वका है। असूया नाम है परदोष-दर्शनका—गुणोंमें भी दोष-बुद्धिका और जो इन विकारोंसे रहित हो, वही 'अनसूया' है। इसी प्रकार महर्षि अत्रि भी 'अ+त्रि' हैं अर्थात् वे तीनों गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्)-से अतीत हैं—गुणातीत हैं। इस प्रकार महर्षि अत्रि-दम्पति एवंविध अपने नामानुरूप जीवन-यापन करते हुए सदाचारपरायण हो चित्रकूटके तपोवनमें रहा करते थे। अत्रिपत्नी अनसूयाके तपोबलसे ही भागीरथी गङ्गाकी एक पवित्र धारा चित्रकूटमें प्रविष्ट हुई और 'मन्दाकिनी' नामसे प्रसिद्ध हुई—

अत्रिप्रिया निज तप बल आनी॥
सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि॥

(रा० च० मा० २।१३२।५-६)

सृष्टिके प्रारम्भमें जब इन दम्पतिको ब्रह्माजीने सृष्टिवर्धनकी आज्ञा दी तो इन्होंने उस ओर उन्मुख न हो तपस्याका ही आश्रय लिया। इनकी तपस्यासे ब्रह्मा, विष्णु, महेशने प्रसन्न होकर इन्हें दर्शन दिया और दम्पतिकी प्रार्थनापर इनका पुत्र बनना स्वीकार किया।

अत्रि-दम्पतिकी तपस्या और त्रिदेवोंकी प्रसन्नताके फलस्वरूप विष्णुके अंशसे महायोगी दत्तात्रेय, ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा तथा शंकरके अंशसे महामुनि दुर्वासा महर्षि अत्रि एवं देवी अनसूयाके पुत्ररूपमें आविर्भूत हुए—

सोमोऽभूद् ब्रह्मणोंऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित्।
दुर्वासाः शंकरस्यांशो०॥ (श्रीमद्भा० ४।१।३३)

वेदोंमें उपर्युक्त वृत्तान्त यथावत् नहीं मिलता है, कहीं-कहीं नामोंमें अन्तर भी है। ऋग्वेद (१०।१४३)-में **'अत्रिःसांख्यः'** कहा गया है। वेदोंमें यह स्पष्टरूपसे वर्णन है कि महर्षि अत्रिको अश्विनीकुमारोंकी कृपा प्राप्त थी। एक बार जब ये समाधिस्थ थे, तब दैत्योंने इन्हें उठाकर शतद्वार-यन्त्रमें डाल दिया और आग लगाकर इन्हें जलानेका प्रयत्न किया, किंतु अत्रिको उसका कुछ भी ज्ञान नहीं था। उस समय अश्विनीकुमारोंने वहाँ पहुँचकर इन्हें बचाया। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ५१वें तथा ११२वें सूक्तमें यह कथा आयी है। ऋग्वेदके दशम मण्डलमें महर्षि अत्रिके दीर्घ तपस्याके अनुष्ठानका वर्णन आया है और बताया गया है कि यज्ञ तथा तप आदि करते-करते जब अत्रि वृद्ध हो गये, तब अश्विनीकुमारोंने इन्हें नवयौवन प्रदान किया (ऋक्० १०।१४३।१)। ऋग्वेदके पञ्चम मण्डलमें अत्रिके वसूयु, सप्तवध्रि नामक अनेक पुत्रोंका वृत्तान्त आया है, जो अनेक मन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि रहे हैं (ऋक्० ५।२५-२६, ५।७८)। इसी प्रकार अत्रिके गोत्रज आत्रेयगण ऋग्वेदके बहुतसे मन्त्रोंके द्रष्टा हैं।

ऋग्वेदके पञ्चम 'आत्रेय मण्डल' का (५२।११—१५) 'कल्याण-सूक्त' ऋग्वेदीय 'स्वस्ति-सूक्त' है, वह महर्षि अत्रिकी ऋतम्भरा प्रज्ञासे ही हमें प्राप्त हो सका है। यह सूक्त 'कल्याण-सूक्त', 'मङ्गल-सूक्त' तथा 'श्रेय-सूक्त' भी कहलाता है। जो आज भी प्रत्येक माङ्गलिक कार्यों, शुभ संस्कारों तथा पूजा-अनुष्ठानोंमें स्वस्ति-प्राप्ति, कल्याण-प्राप्ति, अभ्युदय-प्राप्ति, भगवत्कृपा-प्राप्ति तथा अमङ्गलके विनाशके लिये सस्वर पठित होता है। इस माङ्गलिक सूक्तमें अश्विनी, भग, अदिति, पूषा, द्यावापृथिवी, बृहस्पति, आदित्य, वैश्वानर, सविता तथा मित्रावरुण और सूर्य-चन्द्रमा आदि देवताओंसे प्राणिमात्रके लिये स्वस्तिकी प्रार्थना की गयी है। इससे महर्षि अत्रिके उदात्तभाव तथा लोक-कल्याणकी भावनाका किंचित् स्थापन होता है।

इसी प्रकार महर्षि अत्रिने मण्डलकी पूर्णतामें भी सवितादेवसे यही प्रार्थना की है कि 'हे सवितादेव! आप हमारे सम्पूर्ण दुःखोंको—अनिष्टोंको, शोक-कष्टोंको दूर कर दें और हमारे लिये जो हितकर हो, कल्याणकारी हो, उसे उपलब्ध करायें'—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥

(ऋग्वेद ५।८२।५)

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि महर्षि अत्रिकी भावना अत्यन्त ही कल्याणकारी थी और उनमें त्याग, तपस्या, शौच, संतोष, अपरिग्रह, अनासक्ति तथा विश्वकल्याणकी पराकाष्ठा विद्यमान थी।

एक ओर जहाँ उन्होंने वैदिक ऋचाओंका दर्शन किया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपनी प्रजाको सदाचार और धर्माचरणपूर्वक एक उत्तम जीवनचर्यामें प्रवृत्त होनेके लिये प्रेरित किया है तथा कर्तव्याकर्तव्यका निर्देश दिया है। इन शिक्षोपदेशोंको उन्होंने अपने द्वारा निर्मित आत्रेय धर्मशास्त्रमें उपनिबद्ध किया है। वहाँ इन्होंने वेदोंके सूक्तों तथा मन्त्रोंकी अत्यन्त महिमा बतायी है। अत्रिस्मृतिका छठा अध्याय वेदमन्त्रोंकी महिमामें ही पर्यवसित है। वहाँ अघमर्षणके मन्त्र, सूर्योपस्थानका यह **'उदु त्यं जातवेदसं०'** (ऋग्वेद १।५०।१, साम० ३१, अथर्व० १३।२।१६, यजु० ७।४१) मन्त्र, पावमानी ऋचाएँ, शतरुद्रिय, गो-सूक्त, अश्व-सूक्त एवं इन्द्र-सूक्त आदिका निर्देश कर उनकी महिमा और पाठका फल बताया गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि महर्षि अत्रिकी वेदमन्त्रोंपर कितनी दृढ़ निष्ठा थी। महर्षि अत्रिका कहना है कि वैदिक मन्त्रोंके अधिकारपूर्वक जपसे सभी प्रकारके पाप-क्लेशोंका विनाश हो जाता है। पाठकर्ता पवित्र हो जाता है, उसे जन्मान्तरीय ज्ञान हो जाता है—जातिस्मरता प्राप्त हो जाती है और वह जो चाहता है, वह प्राप्त कर लेता है—

एतानि जप्तानि पुनन्ति जन्तूञ्जातिस्मरत्वं लभते यदीच्छेत्।

(अत्रिस्मृति)

अपनी स्मृतिके अन्तिम ९वें अध्यायमें महर्षि अत्रिने बहुत सुन्दर बात बताते हुए कहा है कि यदि विद्वेषभावसे वैरपूर्वक भी दमघोषके पुत्र शिशुपालकी तरह भगवान्का स्मरण किया जाय तो उद्धार होनेमें कोई संदेह नहीं; फिर यदि तत्परायण होकर अनन्यभावसे भगवदाश्रय ग्रहण कर लिया जाय तो परम कल्याणमें क्या संदेह? यथा—

विद्वेषादपि गोविन्दं दमघोषात्मजः स्मरन्।
शिशुपालो गतः स्वर्गं किं पुनस्तत्परायणः॥

(अत्रि०)

इस प्रकार महर्षि अत्रिने अपने द्वारा दृष्ट मन्त्रोंमें, अपने धर्मसूत्रोंमें अथवा अपने सदाचरणसे यही बात बतायी है कि व्यक्तिको सत्कर्मका ही अनुष्ठान करना चाहिये।

महर्षि गृत्समद

(डॉ० श्रीबसन्तवल्लभजी भट्ट, एम्० ए०, पी-एच० डी०)

वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंमें महर्षि गृत्समदका विशेष माहात्म्य है। ये ऋग्वेदके द्वितीय मण्डलके द्रष्टा ऋषि हैं। इनके विषयमें ऋग्वेद, अथर्ववेद, ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथब्राह्मण, बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी (कात्यायन), महाभारत तथा गणेशपुराण आदिमें बड़े ही रोचक आख्यान प्राप्त होते हैं। कहीं-कहीं कुछ अन्तर भी है, किंतु उन सभीसे इनकी महिमाका ही ख्यापन होता है। उन आख्यानोंसे ज्ञात होता है कि महर्षि गृत्समद आङ्गिरसगोत्रीय शुनहोत्र ऋषिके पुत्र थे और इनका पैतृक नाम शौनहोत्र था। बादमें इन्द्रके प्रयत्नसे भृगुकुलोत्पन्न शुनक ऋषिके दत्तक पुत्रके रूपमें इनकी प्रसिद्धि हुई और ये शौनक 'गृत्समद' नामसे विख्यात हो गये। इनके गृत्समद नामकी आध्यात्मिक व्याख्यामें बताया गया है कि 'गृत्स'का अर्थ प्राण तथा 'मद' का अर्थ है अपान। अतः प्राणापानका समन्वय ही गृत्समद तत्त्व है। इनके द्वारा दृष्ट ऋग्वेदका द्वितीय मण्डल, जिसमें कुल ४३ सूक्त हैं 'गार्त्समद मण्डल' कहलाता है।

आचार्य शौनकने बृहद्देवतामें बतलाया है कि महर्षि गृत्समदमें तपस्याका महान् बल था, मन्त्रशक्ति प्रतिष्ठित थी, वे यथेच्छ रूप बनाकर देवताओंकी सहायता करते थे और असुरोंसे देवताओंकी रक्षा भी किया करते थे। उन्हें इन्द्र और अग्निदेवकी स्तुतियाँ करना अतिप्रिय था। एक बारकी बात है महर्षि गृत्समदका एक महान् यज्ञ सम्पादित हो रहा था। महर्षिका प्रिय करनेके लिये देवताओंके राजा इन्द्र स्वयं उस यज्ञमें उपस्थित हुए। असुर देवताओं, विशेषरूपसे इन्द्रसे द्वेष रखते थे। असुरोंमें भी धुनि तथा चुमुरि नामक दो महाबलशाली असुर थे। वे इन्द्रपर घात करनेके लिये अवसर ढूँढ़ा करते थे। उन्हें जब मालूम हुआ कि इन्द्र महर्षि गृत्समदके यज्ञमें गये हुए हैं तो वे भी बड़ी शीघ्रतासे आयुधोंको लेकर वहाँ जा पहुँचे, जहाँ यज्ञ हो रहा था। असुरोंको दूरसे आते देख और उनके मनोभाव जानकर महर्षि गृत्समदने इन्द्रकी रक्षाके लिये अपनी तपस्या तथा योगके बलसे अपनेको दूसरे इन्द्रके रूपमें परिवर्तित कर लिया और क्षणभरमें वे असुरोंके सामनेसे ही अदृश्य भी हो गये। दोनों असुरोंने सोचा कि इन्द्र हमारे भयसे अदृश्य हो गया है, अतः वे भी इन्द्ररूपधारी गृत्समदको ढूँढ़ने लगे। वे इन्द्ररूपधारी मुनि कभी अन्तरिक्षमें दिखलायी पड़ते तो कभी द्युलोकमें। भयंकर धुनि तथा चुमुरि आयुध लेकर उन्हें मारनेके लिये दौड़ते रहे। मुनिने उन्हें खूब भटकाया और अन्तमें उन दोनों असुरोंको बतलाया कि मैं इन्द्र नहीं हूँ, वास्तविक इन्द्र जो तुम्हारा शत्रु है, वह तो यज्ञस्थलमें ही है। असुरोंको पहले तो विश्वास ही नहीं हुआ, तब गृत्समद महर्षिने इन्द्रकी महनीय कीर्तिका, उनके बल-पराक्रमका और उनके गुणोंका मन्त्रोंद्वारा गुणगान किया। गृत्समदद्वारा इन्द्रकी कीर्तिका वह गुणगान उन असुरोंके लिये वज्रके समान घातक हुआ। गृत्समदने उन दोनोंके समक्ष इन्द्रकी वीरता, शौर्य तथा प्रभुत्वका इतना वर्णन किया कि धुनि तथा चुमुरि नामक उन महादैत्योंका नैतिक बल समाप्त हो गया और उसी समय इन्द्रने उपस्थित होकर उन दोनों महादैत्योंका वध कर दिया। मुनिने भी अपना वह ऐन्द्ररूप त्याग दिया।

महर्षि गृत्समदका ऐसा अद्भुत प्रयत्न और तपोबल देखकर इन्द्र उनपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उन्हें अपना अत्यन्त प्रिय सखा बना लिया। अक्षय तप, वाक्सिद्धि, अद्भुत पराक्रम, मन्त्र-शक्ति तथा अपनी अखण्ड भक्तिका वर उन्हें प्रदान किया। देवराज इन्द्रने अपने सखा गृत्समदका दाहिना हाथ पकड़ा और उन्हें लेकर वे महेन्द्र-सदनमें आये। बड़े ही आदर-भावसे उन्होंने महर्षिका पूजन किया और कहा—

गृणन्मदसखे यस्मात् त्वमस्मानृषिसत्तम।
तस्माद्गृत्समदो नाम शौनहोत्रो भविष्यसि॥

(बृहद्देवता)

तभीसे शौनहोत्र गृत्समद उनका नाम पड़ गया।

बल-वीर्य एवं पराक्रम आदि सम्बन्धी महर्षि गृत्समदद्वारा की गयी इन्द्रकी वह स्तुति जो उन्होंने दैत्योंके समक्ष की थी, ऋग्वेदके द्वितीय मण्डलके १२वें सूक्तमें गुम्फित है। यह सूक्त 'सजनीय सूक्त' भी कहलाता है, क्योंकि इस सूक्तमें आयी हुई प्रायः सभी ऋचाओंके अन्तिम चरणमें '**स जनास इन्द्रः**' यह पद आया है। इस सूक्तमें पंद्रह मन्त्र हैं। उदाहरणके लिये पहला मन्त्र यहाँ दिया जा रहा है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥

(ऋक्० २। १२। १)

महर्षि गृत्समद कहते हैं—'हे असुरो! जो उत्पन्न होते ही देवताओंमें प्रधान एवं श्रेष्ठ हो गये, मनस्वियोंमें अग्रगण्य हो गये, जिन्होंने द्योतित होते हुए वृत्रासुर आदि राक्षसोंका वध कर सभी देवताओंकी रक्षा की और वे सभी देवताओंमें प्रमुख हो गये। जिस इन्द्रके बल, वीर्य, पराक्रमसे द्यावा-पृथिवीके सभी बलशाली भय मानते हैं और जिनके पास महान् शक्तिसम्पन्न सैन्य बल है, वही वास्तविक इन्द्र है। मैं (गृत्समद) इन्द्र नहीं हूँ।'

इसी प्रकार आगेके मन्त्रोंका सारांश है कि जिन्होंने चलायमान पृथ्वीको स्थिर किया, अन्तरिक्षका विस्तार किया, जिन्होंने मेघोंपर आधिपत्य प्राप्त किया, जिन्होंने मेघोंके मध्य विद्युत् भी उत्पन्न किया, जो सर्वत्र व्याप्त हैं, जो सभी धनोंके प्रेरक हैं, जो यजमानकी रक्षा करनेवाले हैं, अपने उपासकोंको सर्वस्व प्रदान करनेवाले हैं, जो अन्तर्यामी-रूपसे स्थित हैं, चराचरके नियन्ता हैं, जिनके अनुशासनमें सभी चलते हैं, जो सबके नेता हैं, जिनके अनुग्रहके बिना विजय प्राप्त करना कठिन है, जो सम्पूर्ण विश्वके प्रतिनिधि हैं, जो दुष्टोंका संहार करनेके लिये वज्र आदि आयुधोंको धारण करते हैं, जिन्होंने शम्बर नामक दैत्यका वध किया, जो अपनी सप्तरश्मियोंके द्वारा वृष्टि कर संसारको जीवन प्रदान करते हैं, जो बलवान् हैं, बुद्धिमान् हैं और यज्ञकी रक्षा करनेवाले हैं, हे असुरो! वास्तवमें वे ही इन्द्र हैं, मैं इन्द्र नहीं हूँ।

इस प्रकार यह सजनीय सूक्त इन्द्रकी महिमामें पर्यवसित है और महर्षि गृत्समदद्वारा गुम्फित है। इससे महर्षि गृत्समदकी उदारता, परोपकारिता, देवसखित्व आदि अनेक गुणोंका परिज्ञान होता है और उनकी दिव्य मन्त्र-शक्तिका भी आभास प्राप्त होता है।

एक दूसरे आख्यानमें यही वृत्तान्त किंचित् परिवर्तनके साथ आया है। तदनुसार—

प्राचीन कालकी बात है कि वेनवंशीय राजाओंके द्वारा एक महान् यज्ञका अनुष्ठान हुआ। इन्द्र आदि सभी देवता उस यज्ञमें उपस्थित हुए। महर्षि गृत्समद भी यज्ञमें आये। इन्द्रको मारनेके उद्देश्यसे अनेक दैत्य भी वहाँ छिपकर पहुँचे हुए थे, किंतु जब इन्द्रको असुरोंके आगमनकी बात ज्ञात हो गयी तब वे भयभीत हो गये और अपना ऐन्द्ररूप छोड़कर उन्होंने गृत्समद महर्षिका रूप धारण कर लिया तथा वे उस यज्ञसे भाग खड़े हुए। असुरोंने समझा कि गृत्समद ऋषि ही डरकर भाग गये हैं और हमारा अभीष्ट इन्द्र गृत्समदका रूप धारण कर यहीं यज्ञस्थलमें बैठा है। इस प्रकारका संशय असुरोंको हो गया। तब उन्होंने वास्तविक गृत्समदको ही इन्द्र समझकर विघ्न उपस्थित किया। तब गृत्समद मुनिने 'सजनीय सूक्त' (पूर्वोक्त)-द्वारा इन्द्रकी कीर्तिका ख्यापन किया कि असली इन्द्र तो इस प्रकारके महनीय गुणोंवाले हैं, मैं इन्द्र नहीं हूँ, परंतु असुरोंने महर्षि गृत्समदको पकड़ लिया। तब वास्तविक इन्द्रने असुरोंको मारकर महर्षिको छुड़ाया और दोनोंमें अत्यन्त प्रीति हो गयी। तत्पश्चात् इन्द्रने उन्हें भृगुकुलमें शुनकके पुत्र शौनकके रूपमें प्रतिष्ठित किया और अन्तमें अपने लोकमें वास करनेका तथा मन्त्रशक्ति प्राप्त करनेका वर प्रदान किया। कात्यायन मुनिने अपने सर्वानुक्रमणीमें इस वृत्तान्तका विस्तारसे वर्णन करते हुए कहा है—

इन्द्रका कथन—

त्वं तु भूत्वा भृगुकुले शुनकाच्छौनकोऽभवत्॥
एतत्सूक्तयुतं पश्य द्वितीयं मण्डलं महत्।
ततो मल्लोकसंवासं लप्स्यसे च महत् सुखम्॥
इतीन्द्रचोदितो जातः पुनर्गृत्समदो मुनिः।
द्वितीयं मण्डलं दृष्ट्वा यो जातीयेन संयुतम्॥
ऐन्द्रं प्राप्य महद्धाम मुमुदे चेन्द्रपूजितः।

महर्षि गृत्समदद्वारा इन्द्रकी प्रियता तथा उनके धामको प्राप्त करनेकी बात ऐतरेय ब्राह्मण (२१। २)-में इस प्रकार कही गयी है—

'एतेन वै गृत्समद इन्द्रस्य प्रियं धामोपागच्छत्। स परमं लोकमजयत्।'

महाभारत-अनुशासनपर्वमें भी पूर्वोक्त कथाका ख्यापन हुआ है। साथ ही महाभारतमें महामुनि गृत्समदका एक अन्य रोचक आख्यान आया है। तदनुसार गृत्समद हैहय क्षत्रियोंके राजा और वीतहव्यके पुत्र थे। एक बार काशिराज प्रतर्दनके भयसे वीतहव्य महर्षि भृगुके आश्रममें जा छिपे। इन्हें खोजते हुए प्रतर्दन भी वहाँ जा पहुँचे। पूछनेपर भृगुने कहा कि 'मेरे आश्रममें क्षत्रिय नहीं रहता'। तपोधन ऋषियोंके वचन झूठे होते नहीं, अमोघ होते हैं। अतः भृगुके उस वचनमात्रसे क्षत्रिय राजा वीतहव्य ब्राह्मण हो गये। ब्रह्मर्षि हो गये और इनके पुत्र भी गृत्समद क्षत्रियसे मन्त्रद्रष्टा परमर्षि हो गये। तबसे इनको भृगुवंशीयता प्राप्त हो गयी। यथा—

भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः॥

वीतहव्यो महाराज ब्रह्मवादित्वमेव च।
तस्य गृत्समदः पुत्रो रूपेणेन्द्र इवापरः॥
शक्रस्त्वमिति यो दैत्यैर्निगृहीतः किलाभवत्।
ऋग्वेदे वर्तते चाग्र्या श्रुतिर्यस्य महात्मनः॥
यत्र गृत्समदो राजन् ब्राह्मणैः स महीयते।
स ब्रह्मचारी विप्रर्षिः श्रीमान् गृत्समदोऽभवत्॥

(महा० अनु० ३०। ५७—६०)

गणेशपुराणमें बताया गया है कि गृत्समद भगवान् गणेशके महान् भक्त थे। उनकी प्रसन्नताके लिये उन्होंने हजारों वर्षपर्यन्त कठिन तप किया था। अनन्तर उन्हें उनके प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हुए और अनेक वर भी प्राप्त हुए।

इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थोंमें महर्षि गृत्समदके अनेक प्रकारके आख्यान प्राप्त होते हैं, जिनसे उनके दिव्य चरित्रका ख्यापन होता है।

गार्त्समद-मण्डल— इस मण्डलमें ४३ सूक्त हैं, जिनमें इन्द्र, अग्नि, आदित्य, मित्रावरुण, वरुण, विश्वेदेव तथा मरुत् आदि देवोंकी स्तुतियाँ हैं। इन्द्र और महर्षिके परस्पर सख्यका वृत्तान्त भी वर्णित है। इस मण्डलमें लगभग १६ सूक्तोंमें इन्द्रकी स्तुतियाँ हैं। अन्तिम ४२ तथा ४३वें सूक्तमें इन्द्रका कपिंजलके रूपमें आख्यापन है। राका, सिनीवाली आदि देवताओंकी भी स्तुतियाँ हैं (३२वाँ सूक्त)। मण्डलके प्रारम्भिक सूक्तोंमें अग्निदेवकी महानताका वर्णन हुआ है। गणेशका ब्रह्मणस्पतिरूपमें वर्णन इस मन्त्रमें हुआ है—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥

(ऋक्० २। २३। १)

मण्डलका अन्तिम ४२वाँ तथा ४३वाँ सूक्त 'वायस सूक्त' भी कहलाता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३। १०। ९)-में बताया गया है कि वायस पक्षीके अमङ्गल शब्दका श्रवण होनेपर इन दो सूक्तों (६ ऋचाओं)-का जप करना चाहिये—'**वयसाममनोज्ञा वाचः श्रुत्वा कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इति सूक्ते जपेत्।**'

इन सूक्तोंके देवता कपिंजलरूपधारी इन्द्र हैं और इनसे प्रार्थना की गयी है कि हे कपिंजल! तुम हमारे लिये प्रकृष्ट कल्याणकारी होओ—'**सुमङ्गलश्च शकुने भवासि।**' (२। ४२। १), '**सुमङ्गलो भद्रवादी वेदेह**' (२। ४२। २)। साथ ही उत्तम बुद्धिकी प्रार्थना भी की गयी है—'**सुमतिं चिकिद्धि नः॥**' (२। ४३। ३)

इस प्रकार महर्षि गृत्समदका 'गार्त्समद-मण्डल' माङ्गलिक अभिलाषाके साथ पूर्ण हुआ है।

महर्षि वामदेव

महर्षि वामदेव ऋग्वेदके चौथे मण्डलके मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। चौथे मण्डलमें कुल ५८ सूक्त हैं। जिनमें महर्षिद्वारा अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम, ऋभु, दधिकाष्ण, विश्वेदेव तथा उषा आदि देवताओंकी स्तुतियाँ की गयी हैं। उन स्तुतियोंमें लोककल्याणकी उदात्त भावना निहित है। महर्षि वामदेव ब्रह्मज्ञानी तथा जातिस्मर महात्मा रहे हैं। वायुपुराणमें आया है कि इन्होंने अपने ज्ञानसे ऋषित्व प्राप्त किया था—'**ज्ञानतो ऋषितां गतः**' (वायु० ५९। ९१)। ऋग्वेदमें ऋषिने स्वयं अपना परिचय दिया है, तदनुसार स्पष्ट होता है कि इन्हें गर्भमें ही आत्मज्ञान और ब्रह्मविद्याका साक्षात्कार हो गया था। ऋग्वेदकी निम्न ऋचाका उन्हें माताके गर्भमें ही दर्शन हो गया था, इसलिये उन्होंने माताके उदरमें ही कहा था—

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्॥१

(ऋक्० ४। २७। १)

ऋचाका भाव यह है कि 'अहो! कितने आश्चर्य और आनन्दकी बात है कि गर्भमें रहते-रहते ही मैंने इन अन्तःकरण और इन्द्रियरूप देवताओंके अनेक जन्मोंका रहस्य भलीभाँति जान लिया अर्थात् मैं इस बातको जान गया कि ये जन्म आदि वास्तवमें इन अन्तःकरण और इन्द्रियोंके ही होते हैं, आत्माके नहीं। इस रहस्यको समझनेसे पहले मुझे सैकड़ों लोहेके समान कठोर शरीररूपी पिंजरोंमें अवरुद्ध कर रखा था। उनमें मेरी ऐसी दृढ़ अहंता हो गयी थी कि उससे छूटना मेरे लिये कठिन हो रहा था। अब मैं बाज पक्षीकी भाँति

१-ऐतरेय-उपनिषद् (अध्याय २, खण्ड १। ५-६)-में जन्म-मृत्युके रहस्य-क्रममें तथा परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके क्रममें इसी वामदेव ऋचाको उद्धृत किया गया है।

ज्ञानरूप बलके वेगसे उन सबको तोड़कर उनसे अलग हो गया हूँ। उन शरीररूप पिंजरोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा, मैं सदाके लिये उन शरीरोंकी अहंतासे मुक्त हो गया हूँ।' इस ऋचामें गर्भस्थित वामदेवने यह उपदेश दिया है कि देह आदिमें आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि देहात्मवाद ही अविद्याजन्य बन्धन है और उस बन्धनका नाश ही मोक्ष है। जैसे पक्षी घोंसलेसे भिन्न है, वैसे ही यह आत्मतत्त्व भी शरीरसे सर्वथा व्यतिरिक्त है।

इस प्रकार गर्भज्ञानी महात्मा वामदेव ऋषिको गर्भमें भी मोह नहीं हुआ। उन्होंने विचार किया कि मेरा आविर्भाव भी सामान्य न होकर कुछ विशिष्ट ढंगसे ही होना चाहिये। उन्होंने सोचा कि माताकी योनिसे तो सभी जन्म लेते हैं और इसमें अत्यन्त कष्ट भी है, अतः मैं माताके पार्श्व भागका भेदन करके बाहर निकलूँगा—

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि।

(ऋक्० ४। १८। २)

इन्द्रादि देवोंने जब गर्भस्थित वामदेवको ऐसा कार्य करनेसे रोका तो उन्होंने अपने समस्त ज्ञान और अनुभवका परिचय देते हुए उनसे कहा—'हे इन्द्र! मैं जानता हूँ कि मैं ही प्रजापति मनु हूँ, मैं ही सबको प्रेरणा देनेवाला सविता देव हूँ, मैं ही दीर्घतमाका मेधावी कक्षीवान् नामक ऋषि हूँ, मैं ही अर्जुनीका पुत्र कुत्स नामक ऋषि हूँ और मैं ही क्रान्तदर्शी उशना ऋषि हूँ। तात्पर्य यह है कि परमार्थ-दृष्टिसे मैं ही सब कुछ हूँ, इसलिये मुझे आप सर्वात्माके रूपमें देखें।' वामदेवी ऋचा इस प्रकार है—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥

(ऋक्० ४। २६। १)

इस प्रकार अपने आत्मज्ञान तथा जन्मान्तरीय ज्ञानका परिचय देकर वामदेवने अपने योगबलसे श्येन (बाज) पक्षीका रूप धारण कर लिया और बड़े वेगसे वे अपनी माताकी कुक्षि-प्रदेशसे बाहर निकल पड़े*। उनके इस कार्यसे इन्द्र रुष्ट हो गये, किंतु वामदेवने अपनी स्तुतियोंद्वारा उन्हें प्रसन्न कर लिया और इन्द्रकी उनपर कृपा हो गयी। कालान्तरमें वामदेव ऋषि जब दरिद्रतासे ग्रस्त हो गये, तब भी इन्द्रदेवताने उनपर कृपा की और उन्हें अमृतके समान मधुर पेय प्रदान किया, इससे वामदेव संतृप्त हो गये। इन्द्रकी प्रशंसामें वामदेव ऋषि कह उठते हैं—'द्योतित होनेवाले अग्नि आदि देवताओंके मध्य मैं इन्द्रके समान अन्य किसी देवताको नहीं देखता हूँ, जो सुख-शान्ति दे सके'—'**न देवेषु विविदे मर्डितारम्**' (ऋक्० ४। १८। १३)। 'उन्होंने ही मुझे मधुर जल प्रदान किया'—'**मध्वा जभार**' (ऋक्० ४। १८। १३)।

महर्षि वामदेवने विश्वामित्रद्वारा दृष्ट संयातसूक्तोंका प्रचार किया—'**विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवोऽसृजत्।**' (ऐत० ब्राह्म० ४। २)। इन्होंने अनेक यज्ञ-यागादिका अनुष्ठान किया था। स्वयं इन्द्र उपस्थित होकर इनके यज्ञकी रक्षा करते थे (ऋक्० ४। १६। १८)। वामदेव ऋषिने स्वयं कहा है कि हम सात (६ अंगिरा और वामदेव) मेधावी हैं, हमने ही अग्निकी रश्मियोंको उत्पन्न किया है (ऋक्० ४। २। १५)।

महर्षि वामदेव गौतमके पुत्र कहे गये हैं। गोत्रकार ऋषियोंमें इनकी गणना है। गायत्री-मन्त्रके चौबीस अक्षरोंके पृथक्-पृथक् ऋषि हैं, उनमें पाँचवें अक्षरके ऋषि वामदेव ही हैं। इनका तप, स्वाध्याय, अनुष्ठान तथा आत्मनिष्ठैक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। मुख्यरूपसे ये इन्द्र, अग्नि तथा सवितादेवके उपासक थे। इनके जीवनमें शौच, संतोष, अपरिग्रह तथा परहितका उदात्तभाव प्रतिष्ठित था। इसी तप, स्वाध्याय और अध्यात्म-साधनाके बलपर उन्हें मन्त्रशक्तिका दर्शन हुआ था। रामायण आदिमें वर्णन आया है कि महर्षि वामदेव राजर्षि दशरथके प्रधान ऋत्विक् और कुलपुरोहित रहे हैं—

---

* आचार्य सायणने इस घटनाका विवरण इस प्रकार दिया है—

गर्भस्थो ज्ञानसम्पन्नो वामदेवो महामुनिः। मतिं चक्रे न जायेय योनिदेशात्तु मातृतः॥
किंतु पार्श्वादितश्चेति.........................। गर्भे शयानं सुचिरं मातुर्गर्भादनिर्गतम्॥
श्येनरूपं समास्थाय गर्भाद्योगेन निसृतः। ऋषिर्गर्भे शयानः सन् ब्रूते गर्भे नु सन्निति॥

(ऋक्० ४। १८ के प्रारम्भमें सायणभाष्य)

ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे॥

(वा० रा० १। ७। ४)

बामदेव रघुकुल गुर ग्यानी।

(रा० च० मा० १। ३६१। १)

बामदेउ बसिष्ठ तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए॥
मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे। कहि परमारथ बचन सुदेसे॥

(रा०च०मा० २। १६९। ७-८)

इस प्रकार महर्षि वामदेवकी मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंमें विशेष महिमा है।

महर्षि वामदेव और 'वामदेव-मण्डल'

ऋग्वेदका चौथा मण्डल महर्षि वामदेवके द्वारा दृष्ट है। इसीलिये वह 'वामदेव-मण्डल' और इनके द्वारा दृष्ट ऋचाएँ 'वामदेवी ऋचाएँ' कहलाती हैं। चतुर्थ मण्डलके प्रारम्भके कई सूक्तोंमें अग्निदेवकी महनीय स्तुतियाँ हैं, जिनमें अग्निदेवके विभिन्न स्वरूपों तथा उनके कार्योंका विवरण है। इस मण्डलमें कई आख्यान भी आये हैं। सोलहवें सूक्तकी ऋचाओंमें राजर्षि कुत्सका आख्यान आया है।

राजर्षि कुत्सका आख्यान—रुरु नामक एक राजर्षि थे, उनके पुत्र थे—कुत्स। एक बार राजर्षि कुत्स जब शत्रुओंद्वारा संग्राममें पराजित हो गये, तब अशक्त रुरुने शत्रुओंके विनाशके लिये देवराज इन्द्रका आह्वान किया। स्तुतिसे इन्द्र प्रसन्न हो गये और उन्होंने स्वयं उपस्थित होकर उनके शत्रुओंको मार गिराया। तदनन्तर इन्द्र तथा कुत्समें अत्यन्त प्रीति हो गयी। इतना ही नहीं, इन्द्र मित्रभावको प्राप्त राजर्षि कुत्सको देवलोकमें ले गये और अपने ही समान उन्हें रूप प्रदान कर अपने अर्धासनपर उन्हें बिठाया। उसी समय देवी शची वहाँ उपस्थित हुईं तो वे दो इन्द्रोंको देखकर सशंकित हो गयीं और निर्णय न कर सकीं कि वास्तवमें उसके स्वामी इन्द्र इनमेंसे कौन हैं!

इस आख्यायिकाको ऋग्वेद (४। १६। १०)-में संकलित किया गया है। इसमें महर्षि वामदेवने इन्द्रदेवताकी महिमामें इस आख्यायिकाको उपन्यस्त बताया है। कथाका भाव यह है कि स्तुतिसे इन्द्रदेवता प्रसन्न होकर अपने भक्तको साक्षात् दर्शन देते हैं, उसका कार्य सिद्ध कर देते हैं और उसे अपना पद भी प्रदान कर देते हैं। अतः देवताओंकी भक्ति करनी चाहिये, इससे भगवान्‌की संनिधि प्राप्त हो जाती है।

ऐसे ही इस मण्डलमें पुरुकुत्स तथा उनके पुत्र राजर्षि त्रसदस्यु आदिके भी अनेक सुन्दर प्रेरणाप्रद आख्यान आये हैं।

सौरी ऋचा—चतुर्थ मण्डलमें एक मुख्य ऋचा (मन्त्र) आयी है जो 'सौरी' ऋचा कहलाती है। इस ऋचाके द्रष्टा वामदेव ऋषि हैं और इसमें भगवान् सूर्य ही सर्वात्मा, सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता, सर्वाधार तथा परब्रह्म परमात्माके रूपमें निरूपित किये गये हैं, अतः इस ऋचाका सूर्य, आदित्य या सविता-सम्बन्धी वेदमें आये सभी मन्त्रोंमें विशेष महत्त्व है। यह ऋचा इस प्रकार है—

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्॥

(ऋक्० ४। ४०। ५)

—यह मन्त्र विशेष महत्त्वका होनेके कारण यजुर्वेद (१०। २४, १२। १४), काण्वशाखा (१६। ५। १८, १५। ६। २५), तैत्तिरीयसंहिता (१। ८। १५। २, ४। २। १। ५), ऐतरेय ब्राह्मण (४। २०) तथा तैत्तिरीय आरण्यक (१०। १०। २) आदिमें यथावत् उपन्यस्त है। आश्वलायन श्रौतसूत्र आदिमें निर्दिष्ट है कि यह सौरी ऋचा मैत्रावरुणशस्त्रयागमें विनियुक्त है। ऋग्विधान (२। २४०)-में एक श्लोक इस प्रकार आया है—

हंसः शुचिषदित्यृचा शुचिरीक्षेद्दिवाकरम्।
अन्तकाले जपन्नेति ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम्॥

—इस श्लोकसे यह भाव स्पष्ट है कि 'पूर्वोक्त ऋचा' **हंसः शुचिषत्**' में भगवान् दिवाकर, जो साक्षात् परमात्माके रूपमें दर्शन दे रहे हैं, उनकी आराधना करनी चाहिये। अन्त समयमें इस ऋचाका जप करने तथा आदित्य-मण्डलमें जो हिरण्मयपुरुष नारायण स्थित हैं, उनका ध्यान करनेसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और उनका शाश्वत परमधाम प्राप्त होता है।'

उपर्युक्त ऋचाका भाव यह है कि आदित्य-मण्डलाधिष्ठातृ हिरण्मय-नारायण जो पुरुष हैं, वे ही

परमात्मा हैं। वे सर्वव्यापक हैं। वे द्युलोकमें प्रतिष्ठित हैं। वे मध्यस्थानीय वायु देवता हैं, वे ही अन्तरिक्षमें संचरण करनेवाले हैं। वे ही होम-निष्पादक होता हैं, वे ही गार्हपत्याग्नि हैं, वे ही अतिथिवत् पूज्य अग्निरूप हैं, वे लौकिकाग्नि हैं। वे ही मनुष्योंमें चैतन्यरूपसे अन्तरात्मामें स्थित हैं, वे ही वरणीय मण्डलमें स्थित और वे ही सत्यस्वरूप हैं। वे ही व्योममें, उदकमें तथा रश्मियोंमें प्रकट होते हैं। इन्द्र आदि अन्य देवता तो अप्रत्यक्ष हैं, किंतु भगवान् आदित्य प्रत्यक्ष सबको नित्य दर्शन देते हैं। यथा—वे विद्युत्के रूपमें चमकते हैं, नित्य उदयाचलपर उदित होते हैं। इस प्रकार आदित्य ही सर्वाधिष्ठान ब्रह्मतत्त्व हैं, उपास्य हैं।

इसी प्रकार इस चतुर्थ मण्डलमें अनेक महत्त्वके सूक्त हैं। वार्ताशास्त्र, कृषिशास्त्र-सम्बन्धी अनेक मन्त्र हैं। क्षेत्रके कर्षण-सम्बन्धी मन्त्र हैं। हलके फाल आदिकी स्तुतियाँ हैं। आज्य-स्तुति है। जैसे—चतुर्थ मण्डलके ५७ वें सूक्तमें '**क्षेत्रस्य पतिना०, शुनं वाहाः०, शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं०**' आदि महत्त्वके मन्त्र हैं। चतुर्थ मण्डलके अन्तिम ५८ वें सूक्तमें ११ ऋचाएँ हैं। ये ऋचाएँ अग्नि, सूर्य, अप्, गोघृत आदि देवतापरक हैं। यह सूक्त आज्यसूक्त भी कहलाता है। इसका आदि मन्त्र इस प्रकार है—

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥

(ऋक्० ४। ५८। १)

'**चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य०**' यह पञ्चदेवतापरक मन्त्र इसी ५८ वें सूक्तका तीसरा मन्त्र है। ऐसे ही '**सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो०**' (४। ५८। ७)—यह मन्त्र भी इसी सूक्तमें है।

इस प्रकार महर्षि वामदेवद्वारा दृष्ट चतुर्थ मण्डल अत्यन्त महत्त्वका है। इसके अध्ययनसे महर्षि वामदेवके महनीय चरित्रका किञ्चित् ख्यापन होता है। औपनिषदिक श्रुति है कि जन्म-जन्मान्तरके ज्ञान रखनेवाले वे ऋषि वामदेव इस शरीरका भेदन कर भगवान्के धामको प्राप्त करके आप्तकाम हो सदाके लिये अमर हो गये—

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन्।
स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत्॥

(ऐतरेयोपनिषद् २। १। ६)

महर्षि भरद्वाज

(आचार्य श्रीदुर्गाचरणजी शुक्ल)

ऋग्वेदके छठे मण्डलके द्रष्टा भरद्वाज ऋषि कहे गये हैं। इस मण्डलमें भरद्वाजके ७६५ मन्त्र हैं। अथर्ववेदमें भी भरद्वाजके २३ मन्त्र मिलते हैं। वैदिक ऋषियोंमें भरद्वाज ऋषिका अति उच्च स्थान है। भरद्वाजके पिता बृहस्पति और माता ममता थीं।

भरद्वाजका वंश—ऋषि भरद्वाजके पुत्रोंमें १० ऋषि ऋग्वेदके मन्त्रद्रष्टा हैं और एक पुत्री जिसका नाम 'रात्रि' था, वह भी रात्रिसूक्तकी मन्त्रद्रष्टा मानी गयी है। भरद्वाजके मन्त्रद्रष्टा पुत्रोंके नाम हैं—ऋजिष्वा, गर्ग, नर, पायु, वसु, शास, शिराम्बिठ, शुनहोत्र, सप्रथ और सुहोत्र। ऋग्वेदकी सर्वानुक्रमणीके अनुसार ऋषिका 'कशिपा' भरद्वाजकी पुत्री कही गयी है। इस प्रकार ऋषि भरद्वाजकी १२ संतानें मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी कोटिमें सम्मानित थीं। भरद्वाज ऋषिने बड़े गहन अनुभव किये थे। उनकी शिक्षाके आयाम अतिव्यापक थे।

भरद्वाजकी शिक्षा—भरद्वाजने इन्द्रसे व्याकरण-शास्त्रका अध्ययन किया था और उसे व्याख्यासहित अनेक ऋषियोंको पढ़ाया था। 'ऋक्तन्त्र' और 'ऐतरेय ब्राह्मण' दोनोंमें इसका वर्णन है।

भरद्वाजने इन्द्रसे आयुर्वेद पढ़ा था, ऐसा चरक ऋषिने लिखा है। अपने इस आयुर्वेदके गहन अध्ययनके आधारपर भरद्वाजने आयुर्वेदसंहिताकी रचना भी की थी।

भरद्वाजने महर्षि भृगुसे धर्मशास्त्रका उपदेश प्राप्त किया और 'भरद्वाज-स्मृति' की रचना की। महाभारत, शान्तिपर्व (१८२। ५) तथा हेमाद्रिने इसका उल्लेख किया है। पाञ्चरात्र-भक्ति-सम्प्रदायमें प्रचलित है कि

सम्प्रदायकी एक संहिता 'भरद्वाज-संहिता' के रचनाकार भी ऋषि भरद्वाज ही थे।

महाभारत, शान्तिपर्वके अनुसार ऋषि भरद्वाजने 'धनुर्वेद' पर प्रवचन किया था (२१०।२१)। वहाँ यह भी कहा गया है कि ऋषि भरद्वाजने 'राजशास्त्र' का प्रणयन किया था (५८।३)। कौटिल्यने अपने पूर्वमें हुए अर्थशास्त्रके रचनाकारोंमें ऋषि भरद्वाजको सम्मानसे स्वीकारा है।

ऋषि भरद्वाजने 'यन्त्रसर्वस्व' नामक बृहद् ग्रन्थकी रचना की थी। इस ग्रन्थका कुछ भाग स्वामी ब्रह्ममुनिने 'विमान-शास्त्र' के नामसे प्रकाशित कराया है। इस ग्रन्थमें उच्च और निम्न स्तरपर विचरनेवाले विमानोंके लिये विविध धातुओंके निर्माणका वर्णन है।

इस प्रकार एक साथ व्याकरणशास्त्र, धर्मशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, राजशास्त्र, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद, आयुर्वेद और भौतिक विज्ञानवेत्ता ऋषि भरद्वाज थे—इसे उनके ग्रन्थ और अन्य ग्रन्थोंमें दिये उनके ग्रन्थोंके उद्धरण ही प्रमाणित करते हैं। उनकी शिक्षाके विषयमें एक मनोरंजक घटना तैत्तिरीय ब्राह्मण-ग्रन्थमें मिलती है। घटनाका वर्णन इस प्रकार है—

भरद्वाजने सम्पूर्ण वेदोंके अध्ययनका यत्न किया। दृढ़ इच्छा-शक्ति और कठोर तपस्यासे इन्द्रको प्रसन्न किया। भरद्वाजने प्रसन्न हुए इन्द्रसे अध्ययनहेतु सौ वर्षकी आयु माँगी। भरद्वाज अध्ययन करते रहे। सौ वर्ष पूरे हो गये। अध्ययनकी लगनसे प्रसन्न होकर दुबारा इन्द्रने फिर वर माँगनेको कहा तो भरद्वाजने पुनः सौ वर्ष अध्ययनके लिये और माँगा। इन्द्रने सौ वर्ष प्रदान किये। इस प्रकार अध्ययन और वरदानका क्रम चलता रहा। भरद्वाजने तीन सौ वर्षोंतक अध्ययन किया। इसके बाद पुनः इन्द्रने उपस्थित होकर कहा—'हे भरद्वाज! यदि मैं तुम्हें सौ वर्ष और दे दूँ तो तुम उनसे क्या करोगे?' भरद्वाजने सरलतासे उत्तर दिया, 'मैं वेदोंका अध्ययन करूँगा।' इन्द्रने तत्काल बालूके तीन पहाड़ खड़े कर दिये, फिर उनमेंसे एक मुट्ठी रेत हाथोंमें लेकर कहा—'भरद्वाज, समझो ये तीन वेद हैं और तुम्हारा तीन सौ वर्षोंका अध्ययन यह मुट्ठीभर रेत है। वेद अनन्त हैं। तुमने आयुके तीन सौ वर्षोंमें जितना जाना है, उससे न जाना हुआ अत्यधिक है।' अतः मेरी बातपर ध्यान दो—'अग्नि है सब विद्याओंका स्वरूप। अतः अग्निको ही जानो। उसे जान लेनेपर सब विद्याओंका ज्ञान स्वतः हो जायगा, इसके बाद इन्द्रने भरद्वाजको सावित्र्य-अग्नि-विद्याका विधिवत् ज्ञान कराया। भरद्वाजने उस अग्निको जानकर उससे अमृत-तत्त्व प्राप्त किया और स्वर्गलोकमें जाकर आदित्यसे सायुज्य प्राप्त किया' (तै० ब्रा० ३।१०।११)।

इन्द्रद्वारा अग्नि-तत्त्वका साक्षात्कार किया, ज्ञानसे तादात्म्य किया और तन्मय होकर रचनाएँ कीं। आयुर्वेदके प्रयोगोंमें वे परम निपुण थे। इसीलिये उन्होंने ऋषियोंमें सबसे अधिक आयु प्राप्त की थी। वे ब्राह्मणग्रन्थोंमें '**दीर्घजीवितम**' पदसे सबसे अधिक लम्बी आयुवाले ऋषि गिने गये हैं (ऐतरेय आरण्यक १।२।२)। चरक ऋषिने भरद्वाजको '**अपरिमित**' आयुवाला कहा (सूत्र-स्थान १।२६)। भरद्वाज ऋषि काशिराज दिवोदासके पुरोहित थे। वे दिवोदासके पुत्र प्रतर्दनके पुरोहित थे और फिर प्रतर्दनके पुत्र क्षत्रका भी उन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषिने यज्ञ सम्पन्न कराया था (जै० ब्रा० ३।२।८)। वनवासके समय श्रीराम इनके आश्रममें गये थे, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे त्रेता-द्वापरका सन्धिकाल था। उक्त प्रमाणोंसे भरद्वाज ऋषिको '**अनूचानतम**' और '**दीर्घजीवितम**' या '**अपरिमित**' आयु कहे जानेमें कोई अत्युक्ति नहीं लगती है।

साम-गायक—भरद्वाजने 'सामगान' को देवताओंसे प्राप्त किया था। ऋग्वेदके दसवें मण्डलमें कहा गया है—'यों तो समस्त ऋषियोंने ही यज्ञका परम गुह्य ज्ञान जो बुद्धिकी गुफामें गुप्त था, उसे जाना, परंतु भरद्वाज ऋषिने द्युस्थान (स्वर्गलोक)-के धाता, सविता, विष्णु और अग्नि देवतासे ही बृहत्सामका ज्ञान प्राप्त किया' (ऋक्० १०।१८१।२)। यह बात भरद्वाज ऋषिकी श्रेष्ठता और विशेषता दोनों दर्शाती है। '**साम**' का अर्थ है (सा+अमः) ऋचाओंके आधारपर आलाप। ऋचाओंके आधारपर किया गया गान 'साम' है। ऋषि भरद्वाजने आत्मसात् किया था 'बृहत्साम'। ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी परिभाषाओंके संदर्भमें हम कह सकते हैं कि ऋचाओंके आधारपर स्वरप्रधान ऐसा गायन जो स्वर्गलोक, आदित्य, मन, श्रेष्ठत्व और तेजस्को स्वर-आलापमें व्यञ्जित करता हो, '**बृहत्साम**' कहा जाता है। ऋषि भरद्वाज ऐसे ही बृहत्साम-गायक थे। वे चार प्रमुख साम-गायकों—गोतम, वामदेव, भरद्वाज और कश्यपकी श्रेणीमें गिने जाते हैं।

संहिताओंमें ऋषि भरद्वाजके इस 'बृहत्साम' की बड़ी महिमा बतायी गयी है। काठकसंहितामें तथा ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा गया है कि 'इस बृहत्सामके गायनसे शासक सम्पन्न होता है तथा ओज, तेज और वीर्य बढ़ता है। 'राजसूय यज्ञ' समृद्ध होता है। राष्ट्र और दृढ़ होता है (ऐत० ब्रा० ३६। ३)। राष्ट्रको समृद्ध और दृढ़ बनानेके लिये भरद्वाजने राजा प्रतर्दनसे यज्ञमें इसका अनुष्ठान कराया था, जिससे प्रतर्दनका खोया राष्ट्र उन्हें पुनः मिला था' (काठक २१। १०)। प्रतर्दनकी कथा महाभारतके अनुशासनपर्व (अ० ३०)-में आयी है।

भरद्वाजके विचार—वे कहते हैं—अग्निको देखो, यह मरणधर्मा मानवोंमें मौजूद अमर ज्योति है। यह अग्नि विश्वकृष्टि है अर्थात् सर्वमनुष्यरूप है। यह अग्नि सब कर्मोंमें प्रवीणतम ऋषि है, जो मानवमें रहती है, उसे प्रेरित करती है ऊपर उठनेके लिये। अतः पहचानो—

पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।

(ऋक्० ६। ९। ४)

प्रचेता अग्निर्वेधस्तम ऋषिः।

(ऋक्० ६। १४। २)

मानवी अग्नि जागेगी। विश्वकृष्टिको जब प्रज्वलित करेंगे तो उसे धारण करनेके लिये साहस और बलकी आवश्यकता होगी। इसके लिये आवश्यक है कि आप सचाईपर दृढ़ रहें। ऋषि भरद्वाज कहते हैं—'हम झुकें नहीं। हम सामर्थ्यवान्के आगे भी न झुकें। दृढ़ व्यक्तिके सामने भी नहीं झुकें। क्रूर-दुष्ट-हिंसक-दस्युके आगे भी हमारा सिर झुके नहीं'—

न वीळवे नमते न स्थिराय न शर्धते दस्युजूताय०

(ऋक्० ६। २४। ८)

ऋषि समझाते हैं कि जीभसे ऐसी वाणी बोलनी चाहिये कि सुननेवाले बुद्धिमान् बनें—'**जिह्वया सदमेदं सुमेधा आ**' (६। ६७। ८)। हमारी विद्या ऐसी हो, जो कपटी दुष्टोंका सफाया करे, युद्धोंमें संरक्षण दे, इच्छित धनोंको प्राप्त कराये और हमारी बुद्धियोंको निन्दित मार्गसे रोके। (ऋक्० ६। ६१। ३,६,१४)

भरद्वाज ऋषिका विचार है कि हमारी सरस्वती, हमारी विद्या इतनी समर्थ हो कि वह सभी प्रकारके मानवोंका पोषण करे। 'हे सरस्वती! सब कपटी दुष्टोंकी प्रजाओंका नाश कर।'

'**नि बर्हय प्रजां विश्वस्य बृसयस्य मायिनः।**'

हे सरस्वती! तू युद्धोंमें हम सबका रक्षण कर। '**धीनामवित्र्यवतु॥**' हे सरस्वती! तू हम सबकी बुद्धियोंकी सुरक्षा कर। '**अवा वाजेषु, नो नेषि वस्यः।**'

(६। ६१। ३,४,६,१४)

इस प्रकार भरद्वाजके विचारोंमें वही विद्या है, जो हम सबका पोषण करे, कपटी दुष्टोंका विनाश करे, युद्धमें हमारा रक्षण करे, हमारी बुद्धि शुद्ध रखे तथा हमें वाञ्छित अर्थ देनेमें समर्थ हो। ऐसी विद्याको जिन्होंने प्राप्त किया है, ऋषिका उन्हें आदेश है—'**श्रुत श्रावय चर्षणिभ्यः**' (६। ३१। ५)। अरे, ओ ज्ञानको प्रत्यक्ष करनेवाले! प्रजाजनोंको उस उत्तम ज्ञानको सुनाओ और जो दास हैं, सेवक हैं, उनको श्रेष्ठ नागरिक बनाओ—'**दासान्यार्याणि करः**' (६। २२। १०)। ज्ञानी, विज्ञानी, शासक, कुशल योद्धा और राष्ट्रको अभय देनेवाले ऋषि भरद्वाजके ऐसे ही तीव्र, तेजस्वी और प्रेरक विचार हैं।

महर्षि भृगु

भगवान् विष्णुके हृदय-देशमें स्थित महर्षि भृगुका पदचिह्न उपासकोंमें सदाके लिये श्रद्धास्पद हो गया। पौराणिक कथा है कि एक बार मुनियोंकी इच्छा यह जाननेकी हुई कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीनों देवोंमें सर्वश्रेष्ठ कौन है? परंतु ऐसे महान् देवोंकी परीक्षाकी सामर्थ्य कौन करे? उसी मुनिमण्डलीमें महर्षि भृगु भी विद्यमान थे। सभी मुनियोंकी दृष्टि महर्षि भृगुपर जाकर टिक गयी, क्योंकि वे महर्षिके बुद्धिबल, कौशल, असीम सामर्थ्य तथा अध्यात्म-मन्त्रज्ञानसे सुपरिचित थे। अब तो भृगु त्रिदेवोंके परीक्षक बन गये।

सर्वप्रथम भृगु अपने पिता ब्रह्माके पास गये और उन्हें प्रणाम नहीं किया, मर्यादाका उल्लंघन देखकर ब्रह्मा रुष्ट हो गये। भृगुने देखा कि इनमें क्रोध आदिका प्रवेश है; अतः वे वहाँसे लौट आये और महादेवके पास जा पहुँचे, किंतु वहाँ भी महर्षि भृगुको संतोष न हुआ। अब वे विष्णुके पास गये। देखा कि भगवान् नारायण शेषशय्यापर शयन कर रहे हैं और माता लक्ष्मी उनकी चरणसेवामें निरत हैं। निःशंकभावसे भगवान्‌के समीप जाकर महामुनिने उनके वक्षःस्थलपर तीव्र वेगसे लात मारी, पर यह क्या? भगवान् जाग पड़े और मुसकराने लगे। भृगुजीने देखा कि यह तो क्रोधका अवसर था, परीक्षाके लिये मैंने ऐसा दारुण कर्म किया था, लेकिन यहाँ तो कुछ भी असर नहीं है। भगवान् नारायणने प्रसन्नतापूर्वक मुनिको प्रणाम किया और उनके चरणको धीरे-धीरे अपना मधुर स्पर्श देते हुए वे कहने लगे—'मुनिवर! कहीं आपके पैरमें चोट तो नहीं लगी? ब्राह्मणदेवता आपने मुझपर बड़ी कृपा की। आज आपका यह चरण-चिह्न मेरे वक्षःस्थलपर सदाके लिये अंकित हो जायगा।' भगवान् विष्णुकी ऐसी विशाल सहृदयता देखकर भृगुजीने यह निश्चय किया कि देवोंके देव देवेन्द्र नारायण ही हैं।

ये महर्षि भृगु ब्रह्माजीके नौ मानस पुत्रोंमें अन्यतम हैं। एक प्रजापति भी हैं और सप्तर्षियोंमें इनकी गणना है। सुप्रसिद्ध महर्षि च्यवन इन्हींके पुत्र हैं। प्रजापति दक्षकी कन्या ख्यातिदेवीको महर्षि भृगुने पत्नीरूपमें स्वीकार किया, जिनसे इनकी पुत्र-पौत्र परम्पराका विस्तार हुआ। महर्षि भृगुके वंशज 'भार्गव' कहलाते हैं। महर्षि भृगु तथा उनके वंशधर अनेक मन्त्रोंके दृष्टा हैं। ऋग्वेद (५।३१।८)-में उल्लेख आया है कि कवि उशना (शुक्राचार्य) भार्गव कहलाते हैं। कवि उशना भी वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। ऋग्वेदके नवम मण्डलके ४७ से ४९ तथा ७५से ७९ तकके सूक्तोंके ऋषि भृगुपुत्र उशना ही हैं। इसी प्रकार भार्गव वेन, सोमाहुति, स्यूमरश्मि, भार्गव आर्वि आदि भृगुवंशी ऋषि अनेक मन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि हैं। ऋग्वेदमें पूर्वोक्त वर्णित महर्षि भृगुकी कथा तो प्राप्त नहीं होती; किंतु इनका तथा इनके वंशधरोंका मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके रूपमें ख्यापन हुआ है। यह सब महर्षि भृगुकी महिमाका ही विस्तार है।

महर्षि कण्व

देवी शकुन्तलाके धर्मपिताके रूपमें महर्षि कण्वकी अत्यन्त प्रसिद्धि है। महाकवि कालिदासने अपने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में महर्षिके तपोवन, उनके आश्रम-प्रदेश तथा उनका जो धर्माचारपरायण उज्ज्वल एवं उदात्त चरित प्रस्तुत किया है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। उनके मुखसे एक भारतीय कथाके लिये विवाहके समय जो शिक्षा निकली है, वह उत्तम गृहिणीका आदर्श बन गयी[१]। वेदमें ये बातें तो वर्णित नहीं हैं, पर इनके उत्तम ज्ञान, तपस्या, मन्त्रज्ञान, अध्यात्मशक्ति आदिका आभास प्राप्त होता है। १०३ सूक्तवाले ऋग्वेदके आठवें मण्डलके अधिकांश मन्त्र महर्षि कण्व तथा उनके वंशजों और गोत्रजोंद्वारा दृष्ट हैं। कुछ सूक्तोंके अन्य भी द्रष्टा ऋषि हैं, किंतु **'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'** के अनुसार महर्षि कण्व अष्टम मण्डलके द्रष्टा ऋषि कहे गये हैं। ऋग्वेदके साथ ही शुक्लयजुर्वेदकी माध्यन्दिन तथा काण्व—इन दो शाखाओंमेंसे द्वितीय 'काण्वसंहिता' के वक्ता भी महर्षि कण्व ही हैं। उन्हींके नामसे इस संहिताका नाम 'काण्वसंहिता' हो गया। ऋग्वेद (१।३६।१०-११)-में इन्हें अतिथिप्रिय कहा गया है। इनके ऊपर अश्विद्वयकी कृपाकी बात अनेक जगह आयी है और यह भी बताया गया है कि कण्वपुत्र तथा इनके वंशधर प्रसिद्ध याज्ञिक थे (ऋक्० ८।१।८) तथा वे इन्द्रके भक्त थे। ऋग्वेदके ८वें मण्डलके चौथे सूक्तमें कण्व-गोत्रज देवातिथि ऋषि हैं; जिन्होंने सौभाग्यशाली कुरुङ्ग नामक राजासे ६० हजार गायें दानमें प्राप्त की थीं।[२] जो राजा ६०-६० हजार गायें एक साथ दान कर सकता है,

१-'महर्षि कण्व शकुन्तलाकी विदाईके समय कहते हैं—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४। १८)

२-धीभिः सातानि काण्वस्य वाजिनः प्रियमेधैरभिद्युभिः। षष्टिं सहस्रानु निर्मजामजे निर्यूथानि गवामृषिः॥ (ऋक्० ८।४।२०)

उसके पास कितनी गायें होंगी?

इस प्रकार ऋग्वेदका अष्टम मण्डल कण्ववंशीय ऋषियोंकी देवस्तुतिमें उपनिबद्ध है। महर्षि कण्वने एक स्मृतिकी भी रचना की है, जो 'कण्वस्मृति' के नामसे विख्यात है।

अष्टम मण्डलमें ११ सूक्त ऐसे हैं, जो 'बालखिल्य-सूक्त' के नामसे विख्यात हैं। देवस्तुतियोंके साथ ही इस मण्डलमें ऋषिद्वारा दृष्टमन्त्रोंमें लौकिक ज्ञान-विज्ञान तथा अनिष्ट-निवारण-सम्बन्धी उपयोगी मन्त्र भी प्राप्त होते हैं। उदाहरणके लिये '**यत इन्द्र भयामहे०**' (८।६१।१३)—इस मन्त्रका दुःस्वप्न-निवारण तथा कपोलशक्तिके लिये पाठ किया जाता है। सूक्तकी महिमाके अनेक मन्त्र इसमें आये हैं (८।९७।५)। गौकी सुन्दर स्तुति है, जो अत्यन्त प्रसिद्ध है। ऋषि गो-प्रार्थनामें उसकी महिमाके विषयमें कहते हैं—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥

(ऋक्० ८।१०१।१५)

गौ रुद्रोंकी माता, वसुओंकी पुत्री, अदितिपुत्रोंकी बहिन और घृतरूप अमृतका खजाना है, प्रत्येक विचारशील पुरुषको मैंने यही समझाकर कहा है कि निरपराध एवं अवध्य गौका वध न करो।

महर्षि याज्ञवल्क्य

वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों तथा उपदेष्टा आचार्योंमें महर्षि याज्ञवल्क्यका स्थान सर्वोपरि है। ये महान् अध्यात्म-वेत्ता, योगी, ज्ञानी, धर्मात्मा तथा श्रीरामकथाके मुख्य प्रवक्ता हैं। भगवान् सूर्यकी प्रत्यक्ष कृपा इन्हें प्राप्त थी। पुराणोंमें इन्हें ब्रह्माजीका अवतार बताया गया है। श्रीमद्भागवत (१२।६।६४)-में आया है कि ये देवरातके पुत्र हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्यके द्वारा वैदिक मन्त्रोंको प्राप्त करनेकी रोचक कथा पुराणोंमें प्राप्त होती है, तदनुसार याज्ञवल्क्य वेदाचार्य महर्षि वैशम्पायनके शिष्य थे। इन्हींसे उन्हें मन्त्रशक्ति तथा वेदज्ञान प्राप्त हुआ। वैशम्पायन अपने शिष्य याज्ञवल्क्यसे बहुत स्नेह रखते थे और इनकी भी गुरुजीमें अनन्य श्रद्धा एवं सेवा-निष्ठा थी; किंतु दैवयोगसे एक बार गुरुजीसे इनका कुछ विवाद हो गया, जिससे गुरुजी रुष्ट हो गये और कहने लगे—'मैंने तुम्हें यजुर्वेदके जिन मन्त्रोंका उपदेश दिया है, उन्हें तुम उगल दो।' गुरुकी आज्ञा थी, मानना तो था ही। निराश हो याज्ञवल्क्यजीने सारी वेदमन्त्रविद्या मूर्तरूपमें उगल दी, जिन्हें वैशम्पायनजीके दूसरे अन्य शिष्योंने तित्तिर (तीतर पक्षी) बनकर श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लिया अर्थात् वे वेदमन्त्र उन्हें प्राप्त हो गये। यजुर्वेदकी वही शाखा जो तीतर बनकर ग्रहण की गयी थी, 'तैत्तिरीय शाखा' के नामसे प्रसिद्ध हुई।

याज्ञवल्क्यजी अब वेदज्ञानसे शून्य हो गये थे, गुरुजी भी रुष्ट थे; अब वे क्या करें? तब उन्होंने प्रत्यक्ष देव भगवान् सूर्यनारायणकी शरण ली और उनसे प्रार्थना की कि 'हे भगवन्! हे प्रभो! मुझे ऐसे यजुर्वेदकी प्राप्ति हो, जो अबतक किसीको न मिली हो—

'अहमयातयामयजुःकाम उपसरामीति'॥

(श्रीमद्भा० १२।६।७२)

भगवान् सूर्यने प्रसन्न हो उन्हें दर्शन दिया और अश्वरूप धारण कर यजुर्वेदके उन मन्त्रोंका उपदेश दिया, जो अभीतक किसीको प्राप्त नहीं हुए थे—

एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः॥

(श्रीमद्भा० १२।६।७३)

अश्वरूप सूर्यसे प्राप्त होनेके कारण शुक्लयजुर्वेदकी एक शाखा 'वाजसनेय' और मध्य दिनके समय प्राप्त होनेसे 'माध्यन्दिन' शाखाके नामसे प्रसिद्ध हो गयी। इस शुक्लयजुर्वेदसंहिताके मुख्य मन्त्रद्रष्टा ऋषि आचार्य याज्ञवल्क्य हैं।

इस प्रकार शुक्लयजुर्वेद हमें महर्षि याज्ञवल्क्यजीने ही दिया है। इस संहितामें चालीस अध्याय हैं। आज प्रायः अधिकांश लोग इस वेदशाखासे ही सम्बद्ध हैं

और सभी पूजा, अनुष्ठानों, संस्कारों आदिमें इसी संहिताके मन्त्र विनियुक्त होते हैं। रुद्राष्टाध्यायी नामसे जिन मन्त्रोंद्वारा भगवान् रुद्र (सदाशिव)-की आराधना होती है, वे इसी संहितामें विद्यमान हैं। इस प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्यजीका लोकपर महान् उपकार है।

इतना ही नहीं, इस संहिताका जो ब्राह्मणभाग 'शतपथब्राह्मण' के नामसे प्रसिद्ध है और जो 'बृहदारण्यक उपनिषद्' है, वह भी महर्षि याज्ञवल्क्यद्वारा ही हमें प्राप्त है। गार्गी, मैत्रेयी और कात्यायनी आदि ब्रह्मवादिनी नारियोंसे जो इनका ज्ञान-विज्ञान एवं ब्रह्मतत्त्व-सम्बन्धी शास्त्रार्थ हुआ, वह भी प्रसिद्ध ही है। विदेहराज जनक-जैसे अध्यात्म-तत्त्ववेत्ताओंके ये गुरुपद्भाक् रहे हैं। इन्होंने प्रयागमें भरद्वाजजीको श्रीरामचरितमानस सुनाया। साथ ही इनके द्वारा एक महत्त्वपूर्ण धर्मशास्त्रका प्रणयन हुआ है, जो 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के नामसे प्रसिद्ध है, जिसपर मिताक्षरा आदि प्रौढ़ संस्कृत-टीकाएँ हुई हैं।

महर्षि अगस्त्य

ब्रह्मतेजके मूर्तिमान् स्वरूप महामुनि अगस्त्यजीका पावन चरित्र अत्यन्त उदात्त तथा दिव्य है। वेदोंमें इनका वर्णन आया है। ऋग्वेदका कथन है कि मित्र तथा वरुण नामक देवताओंका अमोघ तेज एक दिव्य यज्ञियकलशमें पुञ्जीभूत हुआ और उसी कलशके मध्यभागसे दिव्य तेज:सम्पन्न महर्षि अगस्त्यका प्रादुर्भाव हुआ[१]। पुराणोंमें यह कथा आयी है कि महर्षि अगस्त्य (पुलस्त्य)-की पत्नी महान् पतिव्रता तथा श्रीविद्याकी आचार्य हैं, जो 'लोपामुद्रा' के नामसे विख्यात हैं। आगम-ग्रन्थोंमें इन दम्पतिकी देवी-साधनाका विस्तारसे वर्णन आया है।

महर्षि अगस्त्य महातेजा तथा महातपा ऋषि थे। समुद्रस्थ राक्षसोंके अत्याचारसे घबराकर देवता लोग इनकी शरणमें गये और अपना दु:ख कह सुनाया। फल यह हुआ कि ये सारा समुद्र पी गये, जिससे सभी राक्षसोंका विनाश हो गया। इसी प्रकार इल्वल तथा वातापी नामक दुष्ट दैत्योंद्वारा हो रहे ऋषि-संहारको इन्होंने बंद किया और लोकका महान् कल्याण हुआ।

एक बार विन्ध्याचल सूर्यका मार्ग रोककर खड़ा हो गया, जिससे सूर्यका आवागमन ही बंद हो गया। सूर्य इनकी शरणमें आये, तब इन्होंने विन्ध्य पर्वतको स्थिर कर दिया और कहा—'जबतक मैं दक्षिण देशसे न लौटूँ, तबतक तुम ऐसे ही निम्न बनकर रुके रहो।' हुआ ऐसा ही है। विन्ध्याचल नीचे हो गया, फिर अगस्त्यजी लौटे नहीं, अत: विन्ध्य पर्वत उसी प्रकार निम्न रूपमें स्थिर रह गया और भगवान् सूर्यका सदाके लिये मार्ग प्रशस्त हो गया।

इस प्रकारके अनेक असम्भव कार्य महर्षि अगस्त्यने अपनी मन्त्रशक्तिसे सहज ही कर दिखाया और लोगोंका कल्याण किया। भगवान् श्रीराम वनगमनके समय इनके आश्रमपर पधारे थे। भगवान्ने उनका ऋषि-जीवन कृतार्थ किया। भक्तिकी प्रेममूर्ति महामुनि सुतीक्ष्ण इन्हीं अगस्त्यजीके शिष्य थे। अगस्त्यसंहिता आदि अनेक ग्रन्थोंका इन्होंने प्रणयन किया , जो तान्त्रिक साधकोंके लिये महान् उपादेय है।

सबसे महत्त्वकी बात यह है कि महर्षि अगस्त्यने अपनी तपस्यासे अनेक ऋचाओंके स्वरूपोंका दर्शन किया था, इसीलिये ये मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहलाते हैं। ऋग्वेदके अनेक मन्त्र इनके द्वारा दृष्ट हैं। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके १६५ सूक्तसे १९१ तकके सूक्तोंके द्रष्टा ऋषि महर्षि अगस्त्यजी हैं। साथ ही इनके पुत्र दृढच्युत तथा दृढच्युतके पुत्र इध्मवाह भी नवम मण्डलके २५वें तथा २६वें सूक्तके द्रष्टा ऋषि हैं। महर्षि अगस्त्य और लोपामुद्रा आज भी पूज्य और वन्द्य हैं, नक्षत्र-मण्डलमें ये विद्यमान हैं। दूर्वाष्टमी आदि व्रतोपवासोंमें इन दम्पतिकी आराधना-उपासना की जाती है।

१-सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुंभे रेतः सिषिचतुः समानम्। ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो ज्ञातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥

इस ऋचाके भाष्यमें आचार्य सायणने लिखा है—'ततो वासतीवरात् कुंभात् मध्यात् अगस्त्यो शमीप्रमाण उदियाप प्रादुर्बभूव। तत एव कुंभाद्वसिष्ठमप्यृषिं जातमाहुः॥'

इस प्रकार कुंभसे अगस्त्य तथा महर्षि वसिष्ठका प्रादुर्भाव हुआ।

मन्त्रद्रष्टा महर्षि वसिष्ठ

वैदिक मन्त्रद्रष्टा आचार्योंमें महर्षि वसिष्ठका स्थान सर्वोपरि है। ऋग्वेदका सप्तम मण्डल 'वासिष्ठ-मण्डल' कहलाता है। इस मण्डलके मन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि महर्षि वसिष्ठजी ही हैं। ये ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं तथा मित्रावरुणके तेजसे इनके आविर्भूत होनेकी कथाएँ पुराणोंमें प्राप्त हैं। इनकी पत्नी देवी अरुन्धती महान् पतिव्रता हैं। सप्तर्षिमण्डलमें महर्षि वसिष्ठके साथ देवी अरुन्धती भी विद्यमान रहती हैं। इनका योगवासिष्ठ ग्रन्थ अध्यात्मज्ञानका मुख्य ग्रन्थ है। महर्षि वसिष्ठकी मन्त्रशक्ति, योगशक्ति, दिव्यज्ञानशक्ति तथा तपस्याकी कोई इयत्ता नहीं। ये क्षमा-धर्मके आदर्श विग्रह हैं। इनका उदात्त दिव्य चरित्र परम पवित्र है।*

महर्षि अंगिरा

पुराणोंमें बताया गया है कि महर्षि अंगिरा ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं तथा ये गुणोंमें ब्रह्माजीके ही समान हैं। इन्हें प्रजापति भी कहा गया है और सप्तर्षियोंमें वसिष्ठ, विश्वामित्र तथा मरीचि आदिके साथ इनका भी परिगणन हुआ है। इनके दिव्य अध्यात्मज्ञान, योगबल, तप:साधना एवं मन्त्रशक्तिकी विशेष प्रतिष्ठा है। इनकी पत्नी दक्षप्रजापतिकी पुत्री स्मृति (मतान्तरसे श्रद्धा) थीं, जिनसे इनके वंशका विस्तार हुआ।

इनकी तपस्या और उपासना इतनी तीव्र थी कि इनका तेज और प्रभाव अग्निकी अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया। उस समय अग्निदेव भी जलमें रहकर तपस्या कर रहे थे। जब उन्होंने देखा कि अंगिराके तपोबलके सामने मेरी तपस्या और प्रतिष्ठा तुच्छ हो रही है तो वे दु:खी हो अंगिराके पास गये और कहने लगे—'आप प्रथम अग्नि हैं, मैं आपके तेजकी तुलनामें अपेक्षाकृत न्यून होनेसे द्वितीय अग्नि हूँ। मेरा तेज आपके सामने फीका पड़ गया है, अब मुझे कोई अग्नि नहीं कहेगा।' तब महर्षि अंगिराने सम्मानपूर्वक उन्हें देवताओंको हवि पहुँचानेका कार्य सौंपा। साथ ही पुत्ररूपमें अग्निका वरण किया। तत्पश्चात् वे अग्निदेव ही बृहस्पति-नामसे अंगिराके पुत्ररूपमें प्रसिद्ध हुए। उतथ्य तथा महर्षि संवर्त भी इन्हींके पुत्र हैं। महर्षि अंगिराकी विशेष महिमा है। ये मन्त्रद्रष्टा, योगी, संत तथा महान् भक्त हैं। इनकी 'अंगिरा-स्मृति' में सुन्दर उपदेश तथा धर्माचरणकी शिक्षा व्याप्त है।

सम्पूर्ण ऋग्वेदमें महर्षि अंगिरा तथा उनके वंशधरों तथा शिष्य-प्रशिष्योंका जितना उल्लेख है,उतना अन्य किसी ऋषिके सम्बन्धमें नहीं है। विद्वानोंका यह अभिमत है कि महर्षि अंगिरासे सम्बन्धित वेश और गोत्रकार ऋषि ऋग्वेदके नवम मण्डलके द्रष्टा हैं। नवम मण्डलके साथ ही ये आंगिरस ऋषि प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि अनेक मण्डलोंके तथा कतिपय सूक्तोंके द्रष्टा ऋषि हैं। जिनमेंसे महर्षि कुत्स, हिरण्यस्तूप, सप्तगु, नृमेध, शंकपूत, प्रियमेध, सिन्धुसित्, वीतहव्य, अभीवर्त, आङ्गिरस, संवर्त तथा हविर्धान आदि मुख्य हैं।

ऋग्वेदका नवम मण्डल जो ११४ सूक्तोंमें उपनिबद्ध है, 'पवमान-मण्डल'के नामसे विख्यात है। इसकी ऋचाएँ पावमानी ऋचाएँ कहलाती हैं। इन ऋचाओंमें सोम देवताकी महिमापरक स्तुतियाँ हैं, जिनमें यह बताया गया है कि इन पावमानी ऋचाओंके पाठसे सोम देवताओंका आप्यायन होता है।

* महर्षि वसिष्ठका विशेष विवरण इस विशेषाङ्ककी पृष्ठ-संख्या ३१ पर दिया गया है। विशेष जानकारीके लिये वहाँ अवलोकन करना चाहिये। यहाँ प्रसंगोपात्त क्रममें उल्लेखमात्र किया गया है।

महाशाल महर्षि शौनकका वैदिक वाङ्मयमें विनय एवं स्वाध्यायपूर्ण चारित्र्य

(पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

शुभ चरित्रके लिये चारित्र्यज्ञान आवश्यक है। महर्षि शौनक इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। मुण्डकोपनिषद् (१।१।३) तथा परब्रह्मोपनिषद् (१।१) आदिमें इन्हें महाशाल-विश्वविद्यालय आदिका संचालक या कुलपति कहा गया है।[१] भागवत (१।४।१)-में इनका बार-बार उल्लेख आया है। वहाँ इन्हें कुलपतिके साथ '**बह्वृच**' (ऋग्वेदाचार्य) भी कहा गया है—

वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत्।[२]

ब्रह्मपुराण (११।३४), विष्णुपुराण (४।८।६), हरिवंशपुराण (१।३१) एवं वायुपुराण (२।३०।३-४)-के अनुसार ये महर्षि गृत्समदके पुत्र हैं एवं चातुर्वर्ण्यके विशेष प्रवर्तक हुए हैं। भागवत, महाभारत आदिमें जो इन्हें 'बह्वृच' कहा गया है, उससे इनका ऋग्वेदका आचार्यत्व तथा उसके व्याख्यानसे विशेष सम्बन्ध दीखता है। इन्होंने उसकी शाकल एवं बाष्कल शाखाओंको परिष्कृत रूप भी दिया और ये अथर्ववेदके द्रष्टा भी हैं, अतः उसकी मुख्य संहिताको शौनकसंहिता कहते हैं। ऋग्वेदके दूसरे मण्डलके द्रष्टा भी ये ही हैं। ऋष्यनुक्रमणी तथा ऋग्वेदके द्वितीय मण्डलमें सर्वत्र इन्हें पहले आङ्गिरस और बादमें भार्गव होना कहा है।[३] इनके नामसे रचित ग्रन्थ बहुसंख्यक हैं—ऋक्प्रातिशाख्य, चरणव्यूह, बृहद्देवता, अथर्ववेदके ७२ परिशिष्ट, छन्दोऽनुक्रमणी, ऋष्यनुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी आदि; वेदोंके विस्तृत ऋग्विधान, सामविधान, यजुर्विधान, शौनकस्मृति, आयुष्यहोम, उदकशान्ति, संन्यासविधि, स्वराष्टक आदि ग्रन्थ तथा बृहत्सर्वानुक्रमणी, पादविधान, चरणव्यूह, शौनकस्मृति आदि भी इन्हींकी रचनाएँ हैं। अथर्वप्रातिशाख्यका तो दूसरा नाम ही शौनकीय चातुराध्यायिका है। पुरुषसूक्तपर इनका ही भाष्य सर्वोत्तम मान्य है (द्रष्टव्य, वाजसनेयिसंहिता ३१।१ का उवटभाष्य)।

मत्स्यपुराणके अनुसार वास्तुशास्त्रके भी ये ही प्रमुख प्रणेता हैं। शौनकगृह्यसूत्र एवं परिशिष्टसूत्र भी इन्हींकी रचनाएँ हैं। आश्वलायन इन्हें अपने गृह्यसूत्र (४।९।४५)-के अन्तमें दो बार—'**नमः शौनकाय, नमः शौनकाय**' कहकर गुरुरूपमें स्मरण करते हैं। 'वंशब्राह्मण' इन्हें कात्यायनका भी गुरु बतलाता है। इसके अतिरिक्त शौनकीय कल्प, शौनकीय शिक्षा आदि भी इनके ग्रन्थ हैं। इनके सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

पाणिनिसूत्र[४] '**शौनकादिभ्यश्छन्दसि**' (४।३।१०६)-की काशिकावृत्तिमें एक 'शौनकीय शिक्षा' का भी उल्लेख है और इनके द्वारा उक्त शाखासूत्रोंके अध्ययन करनेवालोंके लिये '**वाजसनेयिनः**' की तरह '**शौनकिनः**' पद कहनेकी बात कही गयी है। इस गणमें वाजसनेय, कठ, तलवकार आदि १५ शब्दोंको पीछे रखकर शौनकको विशेष महिमा दिखायी गयी है। 'विकृतिकौमुदी'[५] तथा षड्गुरुशिष्यद्वारा बृहत्सर्वानुक्रमणी वृत्तिमें इनकी विस्तृत चर्चा है। ये शतपथ-ब्राह्मण,बृहदारण्यक एवं गोपथ आदिमें सर्वत्र शास्त्रार्थजयी होते हैं। व्याडिको

१—मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नपानादिना भरेत्। अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः॥ (पद्मपु०, कूर्मपुराण)

२—महाभारत (१।१।१)-में भी ऐसा ही कहा है—शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे।

३—य आङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत्…… द्वितीयं मण्डलमपश्यत्। (ऋग्वेदीय सायणभाष्य-भूमिका)
पुराणोंमें भी—'शुनहोत्रस्य दायादास्त्रयः परमधार्मिकः……। पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकः॥ (ब्रह्मपु० ११।३२-३३, ब्रह्माण्ड० २।६७) ऐसा ही कहा गया है।'

४—पाणिनीय अष्टाध्यायी (४।१।१०४)-के 'विदादिगण' में 'शुनक' पाठ है। उससे गोत्रापत्यमें शौनक शब्द बनता है, इस प्रकार शुनक इनका गोत्र मानना चाहिये। बृहदारण्यकोपनिषद् (शा० भा० ४।३।५)-में ये कपिगोत्रज हैं। पाणिनि (४।१।१०२, ३।१०६) आदि प्रायः सभी ऋषिगणोंमें इनका उल्लेख है।

५—यह 'विकृतिवल्ली' की गङ्गाधरभट्टरचित टीका है।

इनका प्रधान शिष्य कहा गया है। व्याकरण-महाभाष्य (१। २। ६४, ६। २। २९)-के अनुसार व्याडिने लक्षश्लोकीय 'संग्रह' नामक व्याकरण-ग्रन्थकी रचना की थी। इन्होंने—'**गणानां त्वा०**' मन्त्रमें सत्य, वेद और जगत्के स्वामी होनेसे 'ब्रह्मणस्पति-बृहस्पति' की यथा नाम तथा गुणकी चरितार्थता मानी है—'**ब्रह्म वाग् ब्रह्म सत्यं च ब्रह्म सर्वमिदं जगत्। पातारं ब्रह्मणस्तेन बृहस्पतिरितीरितः**' (बृहद्देवता २। ३९-४० तथा निरुक्त १०। १। १२)।

भागवतमें शतानीकको याज्ञवल्क्यका शिष्य कहा गया है। उन्होंने तीनों वेदोंका ज्ञान याज्ञवल्क्यसे प्राप्त किया था, किंतु कर्मकाण्ड एवं शास्त्रका ज्ञान महर्षि शौनकसे ही प्राप्त किया था। इससे इनके दीर्घजीवित्व एवं धनुर्विद्यादिके पाण्डित्यका भी परिचय मिलता है—

तस्य पुत्रः शतानीको याज्ञवल्क्यात् त्रयीं पठन्।
अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं शौनकात् परमेष्यति॥

(श्रीमद्भा० ९। २२। ३८)

इतना होनेपर भी आचार्य शौनककी विनयपूर्ण चरित्रशीलता एवं जिज्ञासा देखते बनती है। इसीलिये 'प्रपन्नगीता'में ये द्वादशमहाभागवतोंमें भी ८वीं संख्यापर परिगणित हैं। ये १८ पुराणों, उपपुराणों तथा महाभारत आदिको उग्रश्रवा, लोमहर्षणादिसे श्रवण करते हैं। अट्ठारह पुराणोंमें उनके प्रश्न, उनकी भगवद्भक्ति आदि अद्भुत हैं। भागवतमें वे कहते हैं कि यदि भगवच्चर्चासे अथवा भक्तोंकी चर्चासे युक्त हो, तभी आप यह कथा कहें, अन्य बातोंसे कोई लाभ नहीं, क्योंकि उसमें आयुका व्यर्थ अपव्यय होता है—

तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम्॥
अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम्।
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः॥

(श्रीमद्भा० १। १६। ५-६)

वे श्रीभगवान्‌की कथा-श्रवण-कीर्तनसे रहित कान-मुँह-जीभको साँपका बिल और मेढककी जीभ कहते हैं (श्रीमद्भा० २। ३। २०)। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी—

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना॥

—आदिमें इन्हींके भाव दिये हैं। वैसे ये नैमिषारण्यवासी ८८ हजार ऋषियोंके नेता या कुलपति थे। यह बात सत्यनारायण-कथासे लेकर सभी पुराणोंमें बार-बार आती है। भविष्यपुराणमें ये सभी ८८ हजार ऋषियोंको लेकर 'म्लेच्छाक्रान्त नैमिषारण्य' को छोड़कर बदरिकाश्रममें जाकर कथाश्रवणका प्रबन्ध करते दीखते हैं। इस प्रकार स्वाध्यायचरित्रशील होनेके साथ ये बड़े विनयी, सभी देवताओंके उपासक तथा विष्णुभक्त भी रहे हैं। 'बृहद्देवता' के ध्यानपूर्वक अवलोकन-आलोचन करनेसे इनके कठोर तप, ब्रह्मचर्य एवं विशाल वैदिक ज्ञानका परिचय मिलता है।

पुराणों, धर्मशास्त्रों आदिके समान वैदिक ग्रन्थ भी असंख्य हैं। परंतु चारित्र्यके अनुष्ठानके लिये इनका अधिकाधिक स्वाध्याय, ज्ञानाप्ति आवश्यक है। यहाँ केवल शौनकरचित ग्रन्थोंका निर्देश हुआ है। याज्ञवल्क्य, व्यास, कात्यायन, जैमिनि, भारद्वाज, विश्वामित्र आदिके भी ग्रन्थ इसी प्रकार असंख्य हैं। बृहद्देवताको देखनेसे स्पष्ट होता है कि शौनकने इन सभी-के-सभी ग्रन्थों, अनेक व्याकरणों तथा अनेक निरुक्तोंका भी अवलोकन कर इसकी रचना की थी। महाभारत-वनपर्वके दूसरे अध्यायमें इन्हें सांख्ययोग-कुशल भी कहा गया है। वहाँके इनके चरित्र-सम्बन्धी उपदेश बड़े ही सुन्दर हैं। वहाँ ये युधिष्ठिरसे कहते हैं कि आसक्तिके कारण दुःख, भय, आयास, शोक-हर्ष सभी उपद्रव आ घेरते हैं। अतः रागको छोड़ विरक्त बनना चाहिये, रागसे तृष्णा उत्पन्न होकर प्राणान्तक रोग बन जाती है। अर्थ भी घोर अनर्थकारी है। उसमें दर्प, अनीति, कार्पण्य आदि अनेक दोष प्रकट होते हैं, अतः तृष्णादिका त्याग करके संतोषका आश्रय लेना चाहिये। इसीमें परम सुख है—

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम्।
तस्मात् संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः॥

(महा० ३। २। ४६)

प्रायः ये ही बातें योगवासिष्ठ, भागवत, स्कन्दपुराण (माहेश्वरखण्डके कुमारिकाखण्ड)-में कही गयी हैं।

वस्तुतः इन शौनक, जैमिनि, व्यासादि ऋषियोंने स्वाध्यायादिके द्वारा लोकरक्षा, धर्मरक्षा, सदाचार एवं चरित्ररक्षाके लिये अपना सारा जीवन ही लगा दिया था। यही आज भी हमारे लिये अवश्यानुष्ठेय-कर्तव्य है।

वैदिक ऋषिकाएँ

(१)

वैदिक ऋषिका देवसम्राज्ञी शची

शची देवराज इन्द्रकी पत्नी हैं। ये भी भगवती आद्याशक्तिकी एक कला मानी गयी हैं। ये स्वयंवरकी अधिष्ठात्री देवी हैं। प्राचीन कालमें जब कहीं स्वयंवर होता था तो पहले शचीका आवाहन और विधिवत् पूजन कर लिया जाता था, जिससे स्वयंवर-सभामें कोई विघ्न या बाधा पड़नेकी सम्भावना अथवा उत्पात, कलह और किसी प्रकारके उपद्रव आदिकी आशंका नहीं रहती थी। ऋग्वेदमें कई ऐसे सूक्त मिलते हैं, जो शचीद्वारा प्रकाशमें लाये गये बतलाये जाते हैं। वे सपत्नियोंपर प्रभुत्व स्थापित करनेके लिये अनुष्ठानोपयोगी मन्त्र हैं। शचीदेवी पतिव्रता स्त्रियोंमें श्रेष्ठ मानी गयी हैं। वे भोग-विलासमय स्वर्गकी रानी होकर भी सतीत्वकी साधनामें संलग्न रहती हैं। उनके मनपर पतिके विलासी जीवनका विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। वे अपनी ओर देखती हैं और अपनेको सती-साध्वी देवियोंके पुण्य-पथपर अग्रसर करती रहती हैं। उनके सर्वस्व देवराज इन्द्र ही हैं। इन्द्रके सिवा दूसरे किसी पुरुषको, भले ही वह इन्द्रसे भी ऊँचे पदपर क्यों न प्रतिष्ठित हो, अपने लिये कभी आदर नहीं देतीं।

रत्न किसी अयोग्य स्थानमें पड़ा हो तो भी रत्न ही है। इससे उसके महत्त्वमें कमी नहीं आती। शचीदेवीका जन्म दानवकुलमें हुआ था, तथापि वे अपने त्याग-तपस्या और संयम आदि सद्गुणोंसे देवताओंकी भी वन्दनीया हो गयीं। शचीके पिताका नाम था पुलोमा। वह दानव-कुलका सम्मानित वीर था। उसीके नामपर शचीको 'पौलोमी' और 'पुलोमजा' भी कहते हैं। बाल्यकालमें शचीने भगवान् शंकरको प्रसन्न करनेके लिये घोर तपस्या की थी और उन्हींके वरदानसे वे देवराजकी प्रियतमा पत्नी तथा स्वर्गलोककी रानी हुईं। शचीका जीवन बड़े सुखसे बीतने लगा। इसी प्रकार कई युग बीत गये। देहधारी प्राणी स्वर्गके देवता हों या मर्त्यलोकके मनुष्य, उनके जीवनमें कभी-कभी दुःखका अवसर भी उपस्थित हो ही जाता है। यह दुःख प्राणियोंके लिये एक चेतावनी होता है। सुखी जीवन प्रमादी हो जाता है। दुःखी प्राणी ही सजग रहते हैं। उन्हें अपनी भूलों और त्रुटियोंको सुधारनेका अवसर मिलता है। सबसे बड़ी बात यह है कि दुःखमें ही भगवान् याद आते हैं और दुःखमें ही धर्मका महत्त्व समझमें आता है। शचीके जीवनमें भी एक समय ऐसा आया, जबकि उन्हें सतीत्वकी अग्निपरीक्षा देनी पड़ी तथा गर्वके साथ कहना पड़ता है कि शचीने अपने गौरवके अनुरूप ही कार्य करके धैर्य और साहसपूर्वक प्राणोंसे भी अधिक प्रिय सतीत्वकी रक्षा की।

देवराज इन्द्रने त्वष्टाके पुत्र भगवद्भक्त वृत्रासुरका वध कर दिया। इस अन्यायके कारण इन्द्रकी सर्वत्र निन्दा हुई। उनपर भयानक ब्रह्महत्याका आक्रमण हुआ। उससे बचनेके लिये वे मानसरोवरके जलमें जाकर छिप गये। स्वर्गको इन्द्रसे शून्य देखकर देवताओंको बड़ी चिन्ता हुई। तीनों लोकोंमें अराजकता फैल गयी। अनेक प्रकारके उत्पात होने लगे। वर्षा बंद हो गयी। नदियाँ सूख गयीं। पृथ्वी धन-वैभवसे रहित हो गयी। इन सारी बातोंपर विचार करके देवताओंने भूतलसे राजा नहुषको बुलाया और उन्हें इन्द्रके पदपर स्थापित कर दिया। नहुष धर्मात्मा तो थे ही, सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके इन्द्रपदके अधिकारी भी हो गये थे, किंतु धर्मात्मा होनेपर भी नहुष इन्द्रपद पानेके बाद अपनेको राजमदसे मुक्त न रख सके। वे विषयभोगोंमें आसक्त हो गये। उन्होंने शचीके रूप-लावण्य आदि गुणोंकी चर्चा सुनी तो उनकी प्राप्तिके लिये भी वे चिन्तित हो उठे। शचीको जब इसका पता लगा तो वे गुरु बृहस्पतिकी शरणमें गयीं। बृहस्पतिने उनको आश्वासन देते हुए कहा—'बेटी! विश्वास रखो, मैं सनातनधर्मका त्याग करके तुम्हें नहुषके हाथमें कभी नहीं पड़ने दूँगा। जो शरणमें आये हुए आर्तजनोंकी रक्षा नहीं करता, वह एक कल्पतक नरकमें पड़ा रहता है। तुम चिन्ता न करो। किसी भी अवस्थामें मैं तुम्हारा त्याग नहीं करूँगा।'

नहुषने सुना, इन्द्राणी बृहस्पतिके शरणमें गयी है। बृहस्पतिने उसे अपने घरमें छिपा रखा है। तब उसे बड़ा क्रोध हुआ। उसने देवताओंसे कहा—'यदि बृहस्पति

मेरे प्रतिकूल आचरण करेगा तो मैं उसे मार डालूँगा।' देवताओंने नहुषको शान्त करते हुए कहा—'प्रभो! आप अपने क्रोधको शान्त कीजिये। धर्मशास्त्रोंमें परस्त्रीगमनकी निन्दा की गयी है। इन्द्रकी पत्नी शची सदासे ही साध्वी जीवन बिताती आ रही हैं। आप इस समय तीनों लोकोंके स्वामी और धर्मके उपदेशक एवं पालक हैं, यदि आप-जैसे महापुरुष भी अधर्मका आचरण करेंगे तो निश्चय ही प्रजाका नाश हो जायगा। स्वामीको सदा ही साधु-पुरुषोंके आचरणका अनुकरण करना चाहिये। आप पुण्यके ही बलसे इन्द्रपदको प्राप्त हुए हैं। पापसे सम्पत्तिकी हानि और पुण्यसे उसकी वृद्धि होती है; इसलिये आप पापबुद्धि छोड़ दीजिये।' जब कामान्ध नहुषपर इस उपदेशका कुछ भी असर न हुआ, तब देवता तथा महर्षि बहुत डर गये, फिर यह कहकर कि 'हम इन्द्राणीको समझा-बुझाकर आपके पास ले आनेकी चेष्टा करेंगे', बृहस्पतिजीके घर चले गये।

देवताओंके मुखसे यह दुःखद समाचार सुनकर बृहस्पतिने कहा—'शची पतिव्रता है और मेरी शरणमें आयी है।' यों कहकर बृहस्पतिने देवताओंके साथ कुछ परामर्श किया और फिर इन्द्राणीको साथ लेकर सब-के-सब नहुषके पास पहुँच गये। इन्द्राणी काँपने लगीं और लजाते-लजाते बोलीं—'देवेश्वर! मैं आपसे वरदान प्राप्त करना चाहती हूँ। आप कुछ कालतक प्रतीक्षा करें। जबतक कि मैं इस बातका निर्णय नहीं कर लेती हूँ कि 'इन्द्र जीवित हैं या नहीं'—इस विषयमें मेरे मनमें संशय बना हुआ है; अतः इसका निर्णय होते ही मैं आपकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगी। तबतकके लिये आप मुझे क्षमा करें।' इन्द्राणीके इस प्रकार कहनेपर नहुष प्रसन्न हो गया और बोला—'अच्छा, जाओ।' इस प्रकार उसके विदा करनेपर देवी शची अन्यत्र जाती हुई सम्पूर्ण देवताओंसे बोलीं—'अब तुम लोग वास्तविक इन्द्रको यहाँ ले आनेके लिये पूर्ण उद्योग करो।' तब देवताओंने जाकर भगवान् विष्णुकी स्तुति की। भगवान्ने कहा—'इन्द्र अश्वमेध-यज्ञके द्वारा जगदम्बाका आराधना करें तो वे पापसे मुक्त हो सकते हैं। इन्द्राणीको भी भगवतीकी आराधनामें लग जाना चाहिये।' यह सुनकर बृहस्पति और देवता उस स्थानपर गये, जहाँ इन्द्र छिपे थे; फिर उन लोगोंने उनसे विधिपूर्वक अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान करवाया। तदनन्तर इन्द्रने अपनी ब्रह्महत्याको वृक्ष, नदी, पर्वत, स्त्री और पृथ्वीको बाँट दिया। इधर इन्द्राणीने भी बृहस्पतिजीसे भुवनेश्वरीदेवीके मन्त्रकी दीक्षा लेकर उनकी आराधना आरम्भ कीं। वे सम्पूर्ण भोगोंका परित्याग करके तपस्विनी बन गयीं और बड़ी भक्तिसे भगवतीकी पूजा करने लगीं।

कुछ कालके बाद देवीने संतुष्ट होकर इन्द्राणीको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और वर माँगनेको कहा। शचीने कहा—'माताजी! मैं पतिदेवका दर्शन चाहती हूँ तथा नहुषकी ओरसे जो भय मुझे प्राप्त हुआ है, उससे भी मुक्ति चाहती हूँ।' देवीने कहा—'तुम्हारी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी। तुम इस दूतीके साथ मानसरोवर पर्वतपर जाओ। वहाँ तुम्हें इन्द्रका दर्शन होगा।' देवीकी आज्ञासे दूतीने शचीको तुरंत ही उनके पतिके पास पहुँचा दिया। पतिको देखते ही शचीके शरीरमें नूतन प्राण आ गये। जिनके दर्शनके लिये कितने ही वर्षोंसे आँखें तरस रही थीं, उन्हें सामने पाकर शचीके हर्षकी सीमा न रही। उन्होंने नहुषकी पाप-वासना और अपने संकटका सारा वृत्तान्त अपने पतिको सुनाया। सुनकर इन्द्रने कहा—'देवि! पतिव्रता नारी अपने धर्मसे ही सदा सुरक्षित रहती है। जो दूसरोंके बलपर अपने सतीत्वकी रक्षा करती हैं, वे उत्तम श्रेणीकी पतिव्रता नहीं हैं। तुम भगवतीका स्मरण करके उचित उपायसे आत्मरक्षा करो।' यों कहकर इन्द्रने शचीको एक गुप्त एवं रहस्यपूर्ण युक्ति सुझायी तथा इन्द्रलोक भेज दिया। नहुषने शचीको देखकर प्रसन्नतापूर्वक कहा—'इन्द्राणी! तुम्हारा स्वागत है। तुमने अपने वचनका पालन किया है। अब तुम्हें मुझसे लज्जा नहीं करनी चाहिये। मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ। मेरी सेवा स्वीकार करो।' शची बोलीं—'राजन्! मेरे मनमें एक अभिलाषा है, आप उसे पूर्ण करें। मैं चाहती हूँ कि आप ऐसी सवारीपर चढ़कर मेरे पास आयें जो अबतक किसीके उपयोगमें न आयी हो।'

नहुषने कहा—'इन्द्राणी! मैं तुम्हारी यह इच्छा अवश्य पूर्ण करूँगा। मेरी शक्ति किसीसे कम नहीं है। मैं ऋषियोंकी पीठपर बैठकर आऊँगा—सप्तर्षि मेरे वाहन होंगे।' यों कहकर नहुषने सप्तर्षियोंको बुलाया और उनकी पीठपर बैठपर इन्द्राणीके भवनकी ओर

प्रस्थान किया। उस समय वह इतना मदान्ध हो रहा था कि महर्षि अगस्त्यको कोड़ोंसे पीटने लगा। इस प्रकार नहुषको मर्यादाका अतिक्रमण करते देख क्षमाशील महर्षिके मनमें भी क्रोधकी आग जल उठी। उन्होंने नहुषको शाप देते हुए कहा—'अरे अधर्मगामी! तू सर्पकी योनिमें चला जा।' महर्षिके शाप देते ही नहुष सर्पका रूप धारण करके स्वर्गसे नीचे जा गिरा। इस तरह शचीने अपने सतीत्वकी रक्षा करके अपने ऊपर आये हुए संकटपर विजय प्राप्त की और पतिको भी पुनः स्वर्गके सिंहासनपर प्रतिष्ठित किया।

(२)

वाचक्नवी गार्गी

वैदिक साहित्य-जगत्में ब्रह्मवादिनी विदुषी गार्गीका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनके पिताका नाम वचक्नु था, उनकी पुत्री होनेके कारण इनका नाम 'वाचक्नवी' पड़ गया; किंतु मूल नाम क्या था, इसका वर्णन नहीं मिलता। गर्ग-गोत्रमें उत्पन्न होनेके कारण लोग इन्हें 'गार्गी' कहते थे और इनका 'गार्गी' नाम ही जनसाधारणमें अधिक प्रचलित था। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में इनके शास्त्रार्थका प्रसंग इस प्रकार वर्णित है—

विदेहराज जनकने एक बहुत बड़ा यज्ञ किया। उसमें कुरुसे पाञ्चाल देशतकके विद्वान् ब्राह्मण एकत्र हुए थे। राजा जनक बड़े विद्या-व्यसनी तथा सत्संग-प्रेमी थे। उन्हें शास्त्रके गूढ तत्त्वोंका विवेचन और परमार्थ-चर्चा दोनों अधिक प्रिय थे। इसीलिये उनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि यहाँ आये हुए विद्वान् ब्राह्मणोंमें सबसे बढ़कर तात्त्विक विवेचन करनेवाला कौन है? इस परीक्षाके लिये उन्होंने अपनी गोशालामें एक हजार गौएँ रखवा कर प्रत्येकके सींगोंमें दस-दस पाद सुवर्ण जड़वा दिया। यह व्यवस्था करके राजाने ब्राह्मणोंसे कहा—'आपलोगोंमें जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो, वह इन सभी गौओंको ले जाय।' राजाकी यह घोषणा सुनकर किसी भी ब्राह्मणमें यह साहस नहीं हुआ कि उन गौओंको ले जाय। सबको अपने ब्रह्मवेत्तापनमें संदेह हुआ। सब सोचने लगे कि 'यदि हम गौएँ ले जानेके लिये आगे बढ़ते हैं तो ये सभी ब्राह्मण हमें अभिमानी समझेंगे और शास्त्रार्थ करने लगेंगे, उस समय हम इन सबको जीत सकेंगे या नहीं; इसका क्या निश्चय है!' यह विचार करते हुए सब चुप ही रहे। सबको मौन देखकर याज्ञवल्क्यजीने सामवेदका अध्ययन करनेवाले अपने ब्रह्मचारीसे कहा—'सोम्य! तू इन सब गौओंको हाँक ले चल।' ब्रह्मचारीने वैसा ही किया।

यह देख ब्राह्मणलोग क्षुब्ध हो उठे। विदेहराजका होता अश्वल याज्ञवल्क्यसे पूछ बैठा—'क्यों? तुम्हीं हम सबमें बढ़कर ब्रह्मवेत्ता हो?' याज्ञवल्क्यने नम्रतासे कहा—'नहीं, ब्रह्मवेत्ताओंको तो हम नमस्कार करते हैं, हमें केवल गौओंकी आवश्यकता है, अतः ले जाते हैं।' फिर क्या था, शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। यज्ञका प्रत्येक सदस्य याज्ञवल्क्यसे प्रश्न करने लगा। याज्ञवल्क्य इससे विचलित नहीं हुए। उन्होंने धैर्यपूर्वक सबके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः देना आरम्भ किया। अश्वलने चुन-चुनकर कितने ही प्रश्न किये, किंतु उचित उत्तर पा जानेके कारण अन्ततः वे चुप होकर बैठ गये। तब जरत्कारु गोत्रमें उत्पन्न आर्तभागने प्रश्न किया, उनको यथार्थ उत्तर मिल गया; अतः वे भी मौन हो गये। तदनन्तर क्रमशः आर्तभाग, भुज्यु, चाक्रायण उषस्त और कौषीतकेय कहोल प्रश्न करके चुप बैठ गये। इसके बाद वाचक्नवी गार्गी बोलीं—'भगवन्! यह जो कुछ पार्थिव पदार्थ है, वह सब जलसे ओतप्रोत है, किंतु जल किसमें ओतप्रोत है?' याज्ञवल्क्यने कहा—'जल वायुमें ओतप्रोत है'।

इस प्रकार क्रमशः वायु, आकाश, अन्तरिक्ष, गन्धर्वलोक, आदित्यलोक, चन्द्रलोक, नक्षत्रलोक, देवलोक, इन्द्रलोक और प्रजापतिलोकके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर होनेपर जब गार्गीने पूछा कि 'ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है'? तब याज्ञवल्क्यने कहा—'यह तो अतिप्रश्न है। गार्गी! यह उत्तरकी सीमा है, अब इसके आगे प्रश्न नहीं हो सकता। अब तू प्रश्न न कर, नहीं तो तेरा मस्तक गिर जायगा।' वाचक्नवी विदुषी थीं, वे याज्ञवल्क्यके अभिप्रायको समझकर चुप हो गयीं। तदनन्तर और कई विद्वानोंने प्रश्नोत्तर किये। उसके बाद गार्गीने दो प्रश्न और किये। इन प्रश्नोंके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने अक्षरतत्त्वका, जिसे परब्रह्म परमात्मा कहते हैं, भाँति-भाँतिसे निरूपण किया। गार्गी याज्ञवल्क्यका लोहा मान गयीं। उन्होंने निर्णय कर दिया कि 'इस सभामें याज्ञवल्क्यसे बढ़कर

ब्रह्मवेत्ता कोई नहीं है, इनको कोई पराजित नहीं कर सकता है। ब्राह्मणो! आपलोग इसीको बहुत समझें कि याज्ञवल्क्यको नमस्कार करनेमात्रसे आपका छुटकारा हो जा रहा है। इन्हें पराजित करनेका स्वप्न देखना व्यर्थ है।'

गार्गीके प्रश्नोंको पढ़कर उनके गम्भीर अध्ययनका पता लगता है; इतनेपर भी उनके मनमें अपने पक्षको अनुचितरूपसे सिद्ध करनेका दुराग्रह नहीं था। वे विद्वत्तापूर्ण उत्तर पाकर संतुष्ट हो गयीं और दूसरेकी विद्वत्ताकी उन्होंने मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की। गार्गी भारतवर्षकी स्त्रियोंमें रत्न थीं। आज भी उनकी-जैसी विदुषी एवं तपस्विनी कुमारियोंपर इस देशको गर्व है।

(३)

ब्रह्मवादिनी ममता

ममता दीर्घतमा ऋषिकी माता थीं। ये महान् विदुषी और ब्रह्मज्ञानसम्पन्न थीं। अग्निके उद्देश्यसे किया हुआ इनका स्तुतिपाठ ऋग्वेदसंहिताके प्रथम मण्डलके दशम सूक्तकी ऋचामें मिलता है। उसका भावार्थ यह है—

'हे दीप्तिमान्! असंख्य चोटियोंवाले और देवताओंको बुलानेवाले अग्नि! दूसरे अग्निकी सहायतासे प्रकाशित होकर आप इस 'मानव-स्तोत्र'को सुनिये। श्रोतागण ममताके सदृश ही अग्निके उद्देश्यसे इस मनोहर स्तोत्रको पवित्र घृतकी भाँति अर्पित करते हैं।'

(४)

ब्रह्मवादिनी विश्ववारा

'प्रज्वलित अग्निदेव तेजका विस्तार करके द्युलोक-तकको प्रकाशित करते हैं। वे प्रातः एवं सायं (हवनके समय) अत्यन्त सुशोभित होते हैं। देवार्चनमें निमग्न परमात्माके उपासक पुरुष तथा विद्वान् अतिथियोंका हविष्यान्नसे स्वागत करनेवाली स्त्रियाँ उस अग्निदेवके समान ही सुशोभित हैं।'

'अग्निदेव! आप प्रकाशमान होनेसे जलके स्वामी हैं। जिस यजमानके पास आप जाते हैं, वह समस्त पशु आदि धन प्राप्त करता है। हम आपके योग्य आतिथ्य-सूचक हवि प्रस्तुत करके आपके समीप (हवनकुण्डके पास) रखती हैं। जो स्त्री श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आपको प्रणाम करती है, वह ऐश्वर्यकी स्वामिनी होती है। उसका अन्तःकरण पवित्र होता है। उसका मन स्थिर होता है। उसकी इन्द्रियाँ वशमें रहती हैं।'

'अग्निदेव! महासौभाग्यकी प्राप्तिके लिये आप बलवान् बनें—प्रज्वलित हों! आपके द्वारा प्राप्त धन परोपकारहेतु उत्तम हो! हम स्त्रियोंके दाम्पत्यभावको सुदृढ़ करें! हम स्त्रियोंके शत्रु—दुष्कर्म, कुचेष्टा, लोभादिपर आपका आक्रमण हो।'

'हे दीप्तिमान् देव! मैं आपके प्रकाशकी वन्दना करती हूँ। आप यज्ञके लिये प्रज्वलित हों। हे प्रकाशराशि प्रभो! भक्तवृन्द आपका आह्वान करते हैं। यज्ञक्षेत्रमें आप सभी देवताओंको प्रसन्न करें।'

'यज्ञमें हव्यवाहक अग्निदेवकी रक्षा करो! इनकी सेवा करो और देवताओंको हव्य पहुँचानेके लिये इनका वरण करो।'

ऋग्वेदके पाँचवें मण्डलके द्वितीय अनुवाकमें पठित अट्ठाईसवें सूक्तमें वर्णित छः ऋचाओंका यह भावार्थ है। अत्रि महर्षिके वंशमें उत्पन्न विदुषी विश्ववारा इन मन्त्रोंकी द्रष्टा ऋषिका हैं। अपनी तपस्यासे उन्होंने इस ऋषिपदको प्राप्त किया था।

इन मन्त्रोंमें बताया गया है कि स्त्रियोंको सावधानीपूर्वक अतिथि-सत्कार करना चाहिये। यज्ञके लिये हविष्य तथा सामग्रियोंको प्रस्तुत करके अपने अग्निहोत्री पतिके समीप पहुँचाना चाहिये। अग्निदेवकी वन्दना करनी चाहिये। इनकी स्तुति करनी चाहिये और पतिके प्राजापत्य अग्निकी सावधानीपूर्वक रक्षा भी पत्नीको ही करनी चाहिये। [पहले प्रत्येक द्विजातिके गृहमें हवनकुण्डके अग्निकी सावधानीसे रक्षा होती थी। प्रत्येक पुरुषके हवनकुण्ड पृथक् होते थे। इनकी अग्निदेवका बुझना भयंकर अमङ्गल माना जाता था] इनके द्वारा दृष्ट मन्त्रोंसे जान पड़ता है कि ये अग्निकी ही उपासिका थीं।

(५)

ब्रह्मवादिनी अपाला

ब्रह्मवादिनी अपाला अत्रिमुनिके वंशमें उत्पन्न हुई थीं। कहते हैं कि अपालाको कुष्ठरोग हो गया था, इससे उनके पतिने उन्हें घरसे निकाल दिया था। वे अपने पीहरमें बहुत दुःखी रहती थीं। उन्होंने कुष्ठरोगसे मुक्त

होनेके लिये इन्द्रकी आराधना की। एक बार इन्द्रको अपने घर बुलाकर सोमपान कराया तथा उन्हें प्रसन्न किया। इन्द्रदेवने प्रसन्न होकर उन्हें वरदान दिया। उनके वरदानसे अपालाके पिताके सिरके उड़े हुए केश फिर आ गये, उनके खेत हरे-भरे हो गये और अपालाका कुष्ठरोग मिट गया। वे ब्रह्मवादिनी थीं। ऋग्वेदके अष्टम मण्डलके ९१ वें सूक्तकी १ से ७ तककी ऋचाएँ इन्हींकी संकलित हैं।

(६)

ब्रह्मवादिनी घोषा

घोषा काक्षीवान् ऋषिकी कन्या थीं। बचपनमें इन्हें कुष्ठरोग हो गया था, इसीसे योग्य वयमें इनका विवाह नहीं हो पाया। अश्विनीकुमारोंकी कृपासे जब इनका रोग नष्ट हुआ, तब इनका विवाह हुआ। ये बहुत प्रसिद्ध विदुषी और ब्रह्मवादिनी थीं। इन्होंने स्वयं ब्रह्मचारिणीके रूपमें ही ब्रह्मचारिणी कन्याके समस्त कर्तव्योंका उल्लेख दो सूक्तोंमें किया है। इन्होंने कहा है—'हे अश्विनीकुमारो! आपके अनुग्रहसे आज घोषा परम भाग्यवती हुई है। आपके आशीर्वादसे घोषाके स्वामीके भलेके लिये आकाशसे प्रचुर वर्षा हो, जिससे खेत लहलहा उठें। आपकी कृपादृष्टि घोषाके भावी पतिको शत्रुकी हिंसासे रक्षा करे। युवा एवं सुन्दर पतिको पाकर घोषाका यौवन चिरकाल अक्षुण्ण बना रहे।'

'हे अश्विनीकुमारो! पिता जैसे संतानको शिक्षा देते हैं, वैसे ही आप भी मुझे सत्-शिक्षा दें। मैं बुद्धिहीन हूँ। आपका आशीर्वाद मुझे दुर्गतिसे बचाये। आपके आशीर्वादसे मेरे पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र आदि सुप्रतिष्ठित होकर जीवनयापन करें। पतिगृहमें मैं पतिकी प्रियपात्री बनूँ।' ऋग्वेदके दशम मण्डलके ३९ से ४१ वें सूक्ततक इस आख्यानका संकेत प्राप्त होता है।

(७)

ब्रह्मवादिनी सूर्या

ऋग्वेदके दशम मण्डलके ८५ वें सूक्तकी ४७ ऋचाएँ इनकी हैं। यह सूक्त विवाह-सम्बन्धी है। आरम्भकी ऋचाओंमें चन्द्रमाके साथ सूर्यकन्या सूर्याके विवाहका वर्णन है। हिंदू वेद-शास्त्रोंमें जितने आख्यान हैं, उन सबके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों अर्थ होते हैं। वेदकी ऋचाओंके भी तीन अर्थ हैं, परंतु वे केवल आध्यात्मिक अर्थरूप ही हैं; इतिहास नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है। चन्द्रमाके साथ सूर्याके विवाहका आध्यात्मिक अर्थ भी है और उसका ऐतिहासिक तथ्य भी है। जहाँ चन्द्र एवं सूर्यको नक्षत्ररूपमें ग्रहण किया गया है, वहाँ आलंकारिक भाषामें आध्यात्मिक वर्णन है और जहाँ उन्हें अधिष्ठात्री देवताके रूपमें लिया गया है, वहाँ प्रत्यक्ष ही वैसा व्यवहार हुआ है।

सूर्या जब विदा होकर पतिके साथ चली, तब उसके बैठनेका रथ मनके वेगके समान था। रथपर सुन्दर चँदोवा तना था और दो सफेद बैल जुते थे। सूर्याको दहेजमें पिताने गौ, स्वर्ण, वस्त्र आदि पदार्थ दिये थे। सूर्याके बड़े ही सुन्दर उपदेश हैं—

'हे बहू! इस पति-गृहमें ऐसी वस्तुओंकी वृद्धि हो, जो प्रजाको और साथ ही तुम्हें भी प्रिय हो। इस घरमें गृह-स्वामिनी बननेके लिये तू जाग्रत् हो। इस पतिके साथ अपने शरीरका संसर्ग कर और जानने-पहचाननेयोग्य परमात्माको ध्यानमें रखते हुए दोनों स्त्री-पुरुष वृद्धावस्थातक मिलते तथा बातचीत करते रहो।' 'हे बहू! तू मैले कपड़ोंको फेंक दे और वेद पढ़नेवाले पुरुषोंको दान कर। गंदी रहने, गंदे कपड़े पहनने, प्रतिदिन स्नान न करनेसे तथा आलस्यमें रहनेसे भाँति-भाँतिके रोग हो जाते हैं, जिससे पत्नीकी मलिनता पतिमें भी पहुँच जाती है। इसलिये पतिका कल्याण चाहनेवाली स्त्रीको स्वच्छ रहना उचित है। मैलेपनसे होनेवाले रोगसे शरीर कुरूप हो जाता है, शरीरकी कान्ति नष्ट हो जाती है। जो पति ऐसी पत्नीके वस्त्रका उपयोग करता है, उसका शरीर भी शोभाहीन और रोगी हो जाता है।'

'हे बहू! सौभाग्यके लिये ही मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूँ। पतिरूप मेरे साथ ही तू बूढ़ी होना।'

'हे परमात्मा! आप इस वधूको सुपुत्रवती तथा सौभाग्यवती बनायें। इसके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न करें और ग्यारहवें पति हों।' 'हे वधू! तू अपने अच्छे व्यवहारसे श्वशुर-सासकी, ननद और देवरोंकी सम्राज्ञी हो अर्थात् अपने सुन्दर बर्तावसे—सेवासे सबको अपने वशमें कर ले'—

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥

(ऋक्० १०।८५।४६)

(८)

वैदिक ऋषिका ब्रह्मवादिनी वाक्

वाक् अम्भृण ऋषिकी कन्या थीं। ये प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानिनी थीं और इन्होंने भगवती देवीके साथ अभिन्नता प्राप्त कर ली थीं। ऋग्वेदसंहिताके दशम मण्डलके १२५ वें सूक्तमें 'देवी-सूक्त' के नामसे जो आठ मन्त्र हैं, वे इन्हींके रचे हुए हैं। चण्डीपाठके साथ इन आठ मन्त्रोंके पाठका बड़ा माहात्म्य माना जाता है। इन मन्त्रोंमें स्पष्टतया अद्वैतवादका सिद्धान्त प्रतिपादित है। मन्त्रोंका अर्थ इस प्रकार है—

'मैं सच्चिदानन्दमयी सर्वात्मा देवी रुद्र, वसु, आदित्य तथा विश्वेदेवगणोंके रूपमें विचरती हूँ। मैं ही मित्र और वरुणको, इन्द्र और अग्निको तथा दोनों अश्विनीकुमारोंको धारण करती हूँ।'

'मैं ही शत्रुओंके नाशक आकाशचारी देवता सोमको, त्वष्टा प्रजापतिको तथा पूषा और भगको भी धारण करती हूँ। जो हविष्यसे सम्पन्न होकर देवताओंको उत्तम हविष्यकी प्राप्ति कराता है तथा उन्हें सोमरसके द्वारा तृप्त करता है, उस यजमानके लिये मैं ही उत्तम यज्ञका फल और धन प्रदान करती हूँ।'

'मैं सम्पूर्ण जगत्की अधीश्वरी, अपने उपासकोंको धनकी प्राप्ति करानेवाली, साक्षात्कार करनेयोग्य परब्रह्मको अपनेसे अभिन्नरूपमें जाननेवाली तथा पूजनीय देवताओंमें प्रधान हूँ। मैं प्रपञ्चरूपसे अनेक भावोंमें स्थित हूँ। सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें मेरा प्रवेश है। अनेक स्थानोंमें रहनेवाले देवता—जहाँ कहीं जो कुछ भी करते हैं, सब मेरे लिये ही करते हैं।'

'जो अन्न खाता है, वह मेरी ही शक्तिसे खाता है; इसी प्रकार जो देखता है, जो साँस लेता है तथा जो कही हुई बात सुनता है, वह मेरी ही सहायतासे उक्त सब कर्म करनेमें समर्थ होता है। जो मुझे इस रूपमें नहीं जानते, वे न जाननेके कारण ही हीन दशाको प्राप्त हो जाते हैं। हे बहुश्रुत! मैं तुम्हें श्रद्धासे प्राप्त होनेवाले ब्रह्मतत्त्वका उपदेश करती हूँ।' सुनो—

'मैं स्वयं ही देवताओं और मनुष्योंके द्वारा सेवित इस दुर्लभ तत्त्वका वर्णन करती हूँ। मैं जिस-जिस पुरुषकी रक्षा करना चाहती हूँ, उस-उसको सबकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बना देती हूँ। उसीको सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, परोक्षज्ञानसम्पन्न ऋषि तथा उत्तम मेधाशक्तिसे युक्त बनाती हूँ।'

'मैं ही ब्रह्मद्वेषी हिंसक असुरोंका वध करके रुद्रके धनुषको चढ़ाती हूँ। मैं ही शरणागतजनोंकी रक्षाके लिये शत्रुओंसे युद्ध करती हूँ तथा अन्तर्यामीरूपसे पृथ्वी और आकाशके भीतर व्याप्त रहती हूँ।'

'मैं ही इस जगत्के पितारूप आकाशको सर्वाधिष्ठान-स्वरूप परमात्माके ऊपर उत्पन्न करती हूँ। समुद्र (सम्पूर्ण भूतोंके उत्पत्तिस्थान परमात्मा)-में तथा जल (बुद्धिकी व्यापक वृत्तियों)-में मेरे कारण (कारणस्वरूप चैतन्य ब्रह्म)-की स्थिति है। अतएव मैं समस्त भुवनमें व्याप्त रहती हूँ तथा उस स्वर्गलोकका भी अपने शरीरसे स्पर्श करती हूँ।'

'मैं कारणरूपसे जब समस्त विश्वकी रचना आरम्भ करती हूँ, तब दूसरोंकी प्रेरणाके बिना स्वयं ही वायुकी भाँति चलती हूँ, स्वेच्छासे ही कर्ममें प्रवृत्त होती हूँ। मैं पृथ्वी और आकाश दोनोंमें परे हूँ। अपनी महिमासे ही मैं ऐसी हुई हूँ।'

भाषा और धर्म-भेदसे भेद नहीं

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

(अथर्व० १२।१।४५)

अनेक प्रकारसे विभिन्न भाषा बोलनेवाले और विविध धर्मोंको माननेवाले लोगोंको एक परिवारके तुल्य धारण करनेवाली पृथिवी, निश्चल एवं न बिदकनेवाली (अर्थात् शान्त-स्थिर) गायकी तरह मुझे ऐश्वर्यकी सहस्रों धाराएँ प्रदान करें।

भाष्यकार एवं वेद-प्रवर्तक मनीषी

वेदार्थ-निर्णयमें यास्ककी भूमिका

(विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजनसूरिदेवजी)

वेदका अर्थ है ज्ञान और ज्ञान वह प्रकाश है, जो मनुष्यके मन-मस्तिष्कमें छाये हुए अज्ञानान्धकारको दूर कर देता है। सृष्टिके प्रारम्भमें जीवन-यात्री मानवके मार्गदर्शक और कल्याणके लिये ईश्वरने जो ज्ञानका प्रकाश दिया, उसीका नाम है 'वेद'। निरुक्तिकी दृष्टिसे ज्ञानार्थक '**विद**' धातुसे '**घञ्**' अथवा '**अच्**' प्रत्ययका योग होनेपर 'वेद' शब्द बना है।

संस्कृत-भाषाकी वैदिक और लौकिक—इन दो शाखाओंमें वेदकी भाषा प्रथम शाखाके अन्तर्गत है। वेदकी भाषा अलौकिक है और इसके शब्दरूपोंमें लौकिक संस्कृतसे पर्याप्त अन्तर है। इसलिये वेदोंमें प्रयुक्त शब्दोंके अर्थमें अनेक भ्रान्तियाँ भी हैं, जो आज भी विद्वानोंके बीच विवादका विषय बनी हुई हैं। वेदोंकी अलौकिक भाषा सृष्टि-प्रारम्भके उस युगकी भाषा है, जब गुण-धर्मके आधारपर शब्दोंका निर्माण हो रहा था, जिसके सहस्राब्दियों बाद संस्कृतका वर्तमान लौकिक रूप या उसका व्याकरणानुमोदित स्वरूप निखर कर सामने आया और गुण-धर्म आदिके आधारपर निर्मित शब्दों या संज्ञाओंके रूढ अर्थ प्रचलित हो गये। वैदिक शब्दोंके रूढ या गूढ अर्थोंके स्पष्टीकरणके निमित्त 'निघण्टु' नामक वैदिक भाषाके शब्दकोशकी रचना हुई तथा विभिन्न ऋषियोंने 'निरुक्त' नामसे उसके व्याख्याग्रन्थ लिखे। महर्षि यास्क-प्रणीत निरुक्तके अतिरिक्त अन्य सभी निरुक्त प्रायः दुष्प्राप्य हैं। महर्षि यास्कने अपने निरुक्तमें अठारह निरुक्तोंके उद्धरण दिये हैं। इससे स्पष्ट है कि गूढ वैदिक शब्दोंकी अर्थाभिव्यक्तिके लिये अठारहसे अधिक निरुक्त-ग्रन्थोंकी रचना हो चुकी थी।

वेदार्थके निर्णयमें महर्षि यास्ककी भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अर्थगूढ वैदिक शब्दोंका अर्थ प्रकृति-प्रत्यय-विभागकी पद्धतिद्वारा स्पष्ट किया है। इस पद्धतिसे अर्थके स्पष्टीकरणमें यह सिद्ध करनेका उनका प्रयास रहा है कि वेदोंमें भिन्नार्थक शब्दोंके योगसे यदि मिश्रित अर्थकी अभिव्यक्ति होती है तो गुण-धर्मके आधारपर एक ही शब्द विभिन्न संदर्भोंमें विभिन्न अर्थोंका द्योतन करता है। उदाहरणार्थ, निरुक्तके पञ्चम अध्यायके प्रथम पादमें 'वराह' शब्दका निर्वचन द्रष्टव्य है।

संस्कृतमें 'वराह' शब्द शूकरके अर्थमें ही प्रयुक्त है, किंतु वेदोंमें यह शब्द कई भिन्न अर्थोंमें भी प्रयुक्त है। जैसे—

१-'**वराहो मेघो भवति वराहारः।**'

—मेघ उत्तम या अभीष्ट आहार देनेवाला होता है, इसलिये इसका नाम 'वराह' है।

२-'**अयमपीतरो वराह एतस्मादेव। वृहति मूलानि। वरं वरं मूलं वृहतीति वा।**' '**वराहमिन्द्र एमुषम्।**'

—उत्तम-उत्तम फल, मूल आदि आहार प्रदान करनेवाला होनेके कारण पर्वतको भी 'वराह' कहते हैं।

३-'**अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते।**'

—तेजस्वी महापुरुष उत्तम-उत्तम गुणोंको ग्रहण करनेके कारण 'वराह' कहलाते हैं।

४-'**वरं वरं वृहति मूलानि।**'

—उत्तम-उत्तम जड़ों या ओषधियोंको खोदकर खानेके कारण शूकर 'वराह' कहलाता है।

महर्षि यास्कने प्रकृति-प्रत्यय-विभाग स्पष्ट दृष्टिगत न होनेवाले परोक्ष शब्दोंके अर्थ करते समय व्याकरण-सिद्ध परम्परित अर्थके स्थानपर लोकप्रचलित अर्थ ग्रहण करनेके सिद्धान्तको भी मान्यता दी है—'**अर्थो नित्यं परीक्ष्यते न संस्कारमाद्रियते।**'

ज्ञातव्य है, शब्दोंकी व्युत्पत्तिका निमित्त तो व्याकरण होता है, परंतु उनकी प्रवृत्तिका निमित्त लोक-व्यवहार होता है, अर्थात् शब्दोंके व्यवहारका नियमन लोकसे होता है। कौन-सा शब्द किस अर्थमें प्रयुक्त होता है, इसकी व्यवस्थामें लोक-व्यवहार ही प्रधान होता है।

व्याकरण तो बादमें अनुगामी बनकर उन शब्दोंके संस्कारमें सहायक होता है।

'समुद्र' शब्द संस्कृतमें केवल सागरका अर्थबोधक है, परंतु वैदिक भाषामें विस्तीर्णका पर्यायवाची होनेसे सागर तथा आकाश—इन दोनों ही अर्थोंमें प्रयुक्त है। हिन्दीमें 'गो' शब्द गायके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है और संस्कृतमें गाय एवं इन्द्रियके अर्थमें व्यवहृत है। वेदोंमें 'गो' गाय तथा इन्द्रियके अर्थमें प्रयुक्त तो है ही, महर्षि यास्कके मतानुसार '**गौर्यवस्तिलो वत्सः**', अर्थात् गो 'यव' के एवं तिल 'वत्स'के अर्थमें भी प्रयुक्त है। इसी प्रकार संस्कृतमें 'दुहिता' शब्द लड़कीके अर्थमें प्रयुक्त है, किंतु निरुक्तके अनुसार दूरमें (पतिगृहमें) रहनेसे जिसका हित हो, वह 'दुहिता' (**दूरे हिता**) है या फिर गाय दुहनेवाली कन्या 'दुहिता' (**गवां दोग्धी वा**) है।

वेद-भाषाका तदनुसार अर्थ न करनेसे कितना अनर्थ होता है, इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम्। इन्द्रः सोमस्य काणुका॥ (ऋक्० ८। ७७। ४)

वेदोंमें इतिहास सिद्ध करनेवाले विद्वानोंने संस्कृत-व्याकरणके आधारपर इस मन्त्रका अर्थ किया है—'सोमप्रिय इन्द्र एक ही बारमें एक साथ सोमरसके तीस प्याले पी गये'; जबकि निरुक्तके निर्वचनानुसार यहाँ इन्द्र 'सूर्य' का और सोम 'चन्द्रमा' का पर्यायवाची है। कृष्णपक्षके पंद्रह दिन तथा पंद्रह रात्रि मिलाकर तीस अहोरात्र (**त्रिंशतम् सरांसि**) कहे जाते हैं। कृष्णपक्षमें सूर्य इस सोमरूप चन्द्रमाकी तीस अहोरात्रवाली कलाओंका पान कर जाता है, यह अर्थ निश्चित होता है।

इसी प्रकार निरुक्तकार महर्षि यास्कने वेदोंमें वृत्रासुरकी कल्पना न कर वेदमन्त्रमें प्रयुक्त 'वृत्र' को मेघके अर्थमें स्वीकार किया है—

तत् को वृत्रो? मेघ इति नैरुक्ताः।

(निघण्टु २। १६)

अर्थात् वृत्र मेघका ही नाम है। इन्द्र शब्द तेजस्वी विद्युत्के अर्थमें प्रयुक्त होनेसे यहाँ यह भाव स्पष्ट होता है कि मेघद्वारा जलका धारण करना तथा विद्युत्के प्रहारोंसे मेघोंका भेदन कर उनसे जलवर्षण कराना ही इन्द्रका वृत्तके साथ संग्राम है, जो इन्द्र-वृत्रासुरके संग्रामकी भूमिकामें आलंकारिक वर्णनके रूपमें प्रसिद्ध हो गया है।

महर्षि यास्कके उल्लेखानुसार वेदमें भारतीय इतिहासके तत्त्व अन्तर्निहित हैं। उन्होंने अपने 'निरुक्त' में वेदमन्त्रोंके विशदीकरणके लिये ब्राह्मणग्रन्थ तथा प्राचीन आचार्योंकी कथाओंको '**इतिहासमाचक्षते**' कहकर उद्धृत किया है। वेदार्थका निरूपण करनेवाले विभिन्न सम्प्रदायोंमें ऐतिहासिकोंका भी अलग सम्प्रदाय था, इसका स्पष्ट संकेत 'निरुक्त' से होता है—'**इति ऐतिहासिकाः।**' भारतीय साहित्यमें पुराण और इतिहासको वेदका समानान्तर माना जाता है। यास्कके मतसे ऋक्संहितामें इतिहास-निरूपक तथ्योंसे युक्त मन्त्र उपलभ्य है। यथा—

'**त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ॥ तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रम्। ऋङ्‌मिश्रं गाथामिश्रं भवति।**' (निरुक्त ४। १। ६)

वेदको इतिहास माननेका निरुक्तकारका आग्रह निराधार नहीं है। निरुक्तकारके आग्रहको स्पष्ट करते हुए अर्वाचीन विद्वानोंने लिखा है कि वैदिक साहित्यमें जो सिद्धान्तरूपमें वर्णित है, उसीका व्यावहारिक रूप 'रामायण' और 'महाभारत'में उपलब्ध होता है। वैदिक धर्मके अनेक अज्ञात तथ्योंको जाननेमें 'रामायण' और 'महाभारत' हमारे लिये प्रकाश-स्तम्भकी भूमिका निबाहते हैं। ये दोनों इतिहास-ग्रन्थ हैं। इतिहासके द्वारा वेदार्थके उपबृंहणका यही रहस्य है। इतिहास और पुराणोंमें जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, वे वेदके ही हैं।

वेदके यथार्थ अर्थको समझनेके लिये इतिहास-पुराणका अध्ययन आवश्यक है। महर्षि व्यासका स्पष्ट कथन है कि वेदका उपबृंहण इतिहास और पुराणके द्वारा होना चाहिये; इतिहास-पुराणसे अनभिज्ञ लोगोंसे वेद सदा भयत्रस्त रहता है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

अर्थात् 'इतिहास और पुराणसे वेदको समृद्ध करना चाहिये। वेदको अल्पश्रुत व्यक्तिसे बराबर इस बातका भय बना रहता है कि यह कहीं मुझपर प्रहार न कर दे।' वेदको इसी भयसे विमुक्त करनेके लिये यास्कने वेदार्थ-निरूपणका ऐतिहासिक प्रयास किया है।

महान् सर्ववेदभाष्यकार श्रीसायणाचार्य

(डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा)

वेद-भाष्यकारोंमें आचार्य सायणका स्थान सर्वोपरि है। वे वैदिक जगत्के सूर्य हैं। उनकी प्रसिद्धि प्रखर प्रतिभासम्पन्न एवं उत्कृष्ट मेधा-युक्त महान् वेद-भाष्यकारके रूपमें सर्वविदित है। वैदिक विद्वानों तथा भाष्यकारोंमें पाण्डित्य तथा विवेचन-कौशलकी दृष्टिसे उनका स्थान अद्वितीय है। वेदार्थ स्पष्ट करते समय जिस तथ्यकी विवेचना उन्होंने अपने भाष्योंमें की है, उसे युक्ति-युक्त प्रमाणसमन्वित शास्त्रोक्त-शैलीमें इतने स्पष्टरूपसे विवेचित किया है कि उस विषयमें फिर पाठकके लिये अन्य कुछ ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता है। वेदार्थ-निरूपणमें उन्होंने षडङ्ग—शिक्षा, कल्पसूत्र, निरुक्त, व्याकरण, छन्द एवं ज्योतिष आदिके साथ संदर्भ स्पष्ट करने-हेतु पौराणिक कथाओंका भी आश्रय लिया है, जिससे उनका भाष्यकार्य परम प्रामाणिक एवं सटीक बन पड़ा है। व्याकरणद्वारा शब्दोंकी व्युत्पत्ति एवं सिद्धि करने तथा स्वराङ्कन करनेकी उनकी पद्धति बड़े-बड़े व्याकरणाचार्योंको भी आश्चर्यचकित करनेवाली है। आधुनिक, पाश्चात्त्य तथा तदनुगामी भारतीय वेदभाष्यकारोंकी भाँति उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भाष्यकारोंकी उपेक्षा नहीं की है, बल्कि स्कन्दस्वामी तथा वेंकटमाधव आदि पूर्ववर्ती भाष्यकारोंके भाष्योंका सारांश भी यथास्थान उद्धृत कर दिया है; जिससे उनके महान् परम्परागत वैदिक ज्ञानका पता चलता है।

याज्ञिक विधानका पूर्ण परिचय

शास्त्रोंके अनुसार यज्ञके चार प्रमुख ऋत्विक् होते हैं—होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। होताका वेद ऋग्वेद, उद्गाताका सामवेद, अध्वर्युका यजुर्वेद और ब्रह्माका अथर्ववेद है। वस्तुतः याज्ञिक विधान वेदकी आत्मा है और इसीलिये यज्ञको वेदका प्रधान विषय माना जाता है। यही कारण है कि याज्ञिक विधानके सम्यक् ज्ञानके बिना कोई वेदका भाष्य करनेमें सफल नहीं हो सकता है। आचार्य सायणको याज्ञिक विधानका पूर्ण ज्ञान था। उनका भाष्य इतना प्रामाणिक, युक्ति-युक्त तथा शास्त्रानुकूल बन गया कि उसमें कहीं भी लेशमात्र संशोधनकी गुंजाइश नहीं दिखायी पड़ती। इसीलिये उन्होंने वेदके प्रत्येक सूक्तकी व्याख्या करनेसे पूर्व ही उस सूक्तके ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग आदिका ऐसा प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया है, जिससे सूक्तगत मन्त्रोंकी प्रसंगानुकूल व्याख्या करनेका मार्ग प्रशस्त होता है। सूक्तमें निहित यदि कोई ऐतिहासिक आख्यान अथवा अन्तर्कथा अर्थनिरूपणमें आवश्यक है तो उसका भी सोपपत्तिक वर्णन उन्होंने प्रस्तुत किया है। उनके भाष्योंका उपोद्घात (भाष्य-भूमिका) तो वैदिकदर्शनसे परिचित होनेके लिये ऐसा सुव्यवस्थित राजमार्ग है, जिसपर चलकर अनेक जिज्ञासुओं और देश-विदेशके विद्वानोंको वेदविद्याका तथ्यपरक ज्ञान प्राप्त हुआ है।

इसी कारण प्रसिद्ध पाश्चात्त्य विद्वान् मैक्समूलरने आचार्य सायणको वेदार्थका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये 'अन्धेकी लकड़ी बताया है।' एच० एच० विल्सनद्वारा उनके भाष्यका अनुसरण करते हुए ऋग्वेदका अंग्रेजी अनुवाद करना भी यही स्पष्ट करता है कि यदि आचार्य सायणके विविधार्थ-संकलित भाष्यरत्न नहीं होते तो किसी भी भारतीय अथवा पाश्चात्त्य विद्वान्का वेदोंके अगम्य ज्ञानदुर्गमें प्रवेश नहीं हो सकता था।

जीवन-परिचय

भारतीय संस्कृतिके महान् उपासक, वैदिक दर्शनके मर्मज्ञ तथा सर्ववेदभाष्यकार सायणाचार्यकी जन्मतिथि आदिके विषयमें निश्चित जानकारी न होना बड़े दुःखका विषय है। प्रसिद्ध विद्वानोंके द्वारा किये गये अनुसंधानके आधारपर उनके जीवन-परिचय तथा भाष्य-कार्योंपर यहाँ प्रकाश डाला जा रहा है। उनका जन्म तुंगभद्रा नदीके तटवर्ती हम्पी नामक नगरमें संवत् १३२४ विक्रमीमें हुआ था। उनके पिताका नाम मायण, माताका नाम श्रीमती तथा दो भाइयोंका नाम क्रमशः माधव और भोगनाथ था। उनके बड़े भाई माधवाचार्य विजयनगर-हिन्दू-साम्राज्यके संस्थापकोंमें थे। यह हिन्दू-साम्राज्य लगभग तीन सौ वर्षोंतक मुस्लिम राजाओंसे लोहा लेता रहा। माधवाचार्यने संवत् १३९२ विक्रमीके लगभग विजयनगरके सिंहासनपर महाराज वीर बुक्कको अभिषिक्त

कर और स्वयं मन्त्री बनकर कई मुस्लिम राज्योंको विजयनगर साम्राज्यके अधीन किया था। वे वीर होनेके साथ-साथ महान् विद्वान् भी थे। 'सर्वदर्शनसंग्रह', 'पराशरमाधव', 'पञ्चदशी', 'अनुभूतिप्रकाश' तथा 'शंकरदिग्विजय' आदि उनके महान् ग्रन्थोंसे पता चलता है कि माधवाचार्य असाधारण प्रतिभासम्पन्न महापुरुष थे। आचार्य सायणके छोटे भाई भी प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनकी बहनका नाम 'सिंगले' था, जिसका विवाह रामरस नामक ब्राह्मणके साथ हुआ था। इस प्रकार उनका परिवार लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों तथा आदर्श महापुरुषोंको जन्म देनेवाला था।

विद्या-गुरु

आचार्य सायण भारद्वाज गोत्री कृष्णयजुर्वेदी ब्राह्मण थे। उनकी वैदिक शाखा तैत्तिरीय थी और सूत्र बौधायन था। उनके तीन गुरु विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ तथा श्रीकृष्णाचार्य उस समयके अत्यन्त प्रख्यात एवं आध्यात्मिक ज्ञानसम्पन्न महापुरुष थे। ये तीनों महापुरुष न केवल आचार्य सायण तथा उनके दोनों भाइयोंके विद्या-गुरु थे, वरन् तत्कालीन विजयनगरके हिन्दू राजाओंके भी आध्यात्मिक गुरु थे। स्वामी विद्यातीर्थ परमात्मतीर्थके शिष्य थे। वे भगवान् आद्य शंकराचार्यजी महाराजद्वारा स्थापित शृंगेरीपीठके सुप्रसिद्ध आचार्य थे। इन्हींके करकमलोंसे संन्यास ग्रहण कर माधवाचार्य विद्यारण्यमुनिके नामसे विख्यात हुए और उनके पश्चात् शृंगेरीपीठके आचार्यपदपर सुशोभित हुए। माधवाचार्य एवं सायणाचार्य स्वामी विद्यातीर्थके विशेष ऋणी थे तथा हिन्दूधर्म एवं वैदिक संस्कृतिके प्रति इन दोनों भाइयोंमें जो अपार श्रद्धा, प्रेम तथा समर्पण था, उसका श्रेय स्वामी विद्यातीर्थको ही है। इसीलिये अपने वेदभाष्योंके प्रारम्भमें मङ्गलाचरण करते हुए आचार्य सायणने उन्हें साक्षात् महेश्वर बताकर उनकी वन्दना की है—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥

महान् वैदिक विद्वान्

आचार्य सायण संस्कृत-भाषा तथा वैदिक साहित्यके महान् विद्वान् थे। उनके ऋग्वेदके प्रथम एवं द्वितीय अष्टकके भाष्यको देखनेसे पता चलता है कि उनका संस्कृत-व्याकरणका ज्ञान असाधारण था। मीमांसा-शास्त्रकी विशेष शिक्षा ग्रहण करनेके कारण वे अपने युगके मीमांसा-दर्शनके अद्वितीय विद्वान् थे। मीमांसा-शास्त्रका उनका उच्च कोटिका ज्ञान उनके भाष्यग्रन्थोंमें देखनेको मिलता है। उनके ऋग्वेद-भाष्यके उपोद्घातको पढ़नेसे पाठकोंको सहज ही उनके मीमांसा-शास्त्रके उत्कृष्ट ज्ञानका पता चल जाता है। उन्होंने ऋग्वेद, कृष्ण एवं शुक्ल-यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदकी प्रमुख संहिताओं, ब्राह्मणों तथा आरण्यकोंका गुरु-परम्परासे विधिपूर्वक अध्ययन एवं मनन किया था। तभी वह इस समस्त वैदिक साहित्यके पूर्ण अधिकारी विद्वान् बनकर इतने उच्च कोटिके भाष्य-प्रणयनका कार्य कर सके, जिसके आलोकसे आज छः शताब्दियाँ व्यतीत होनेपर भी समस्त वैदिक जगत् आलोकित है और आगे भी शताब्दियोंतक आलोकित रहेगा। वस्तुतः उनकी अवतारणा ईश्वरीय विभूतिके रूपमें वेदभाष्य-प्रणयनके लिये हुई थी। इसीलिये उनका समस्त बाल्यकाल इसी महान् लक्ष्य-प्राप्तिकी तैयारीमें व्यतीत हुआ था। संस्कृत-साहित्यकी प्रत्येक विद्यासे परिचित होनेके कारण एक महान् वैदिक विद्वान्के रूपमें आचार्य सायणका आविर्भाव भारतीय इतिहासकी अविस्मरणीय घटना है। अतः उनके वेदभाष्य विद्वानोंके गलेके हार बने हुए हैं।

आदर्श गार्हस्थ्य-जीवन

सायणाचार्य आदर्श गृहस्थ थे। उनका गार्हस्थ्य-जीवन अत्यन्त सुखमय था। उनके कम्पण, मायण तथा शिंगण नामके तीन पुत्र थे। तीनों पुत्रोंका लालन-पालन करते हुए उनके बीचमें वे महान् आनन्दका अनुभव करते थे। उनका पारिवारिक जीवन वस्तुतः कितना सुखमय था? इसकी कल्पना उसीको हो सकती है, जो अपने परिवारमें आनन्दपूर्वक रहता हो। घरके बाहर मन्त्रीके महत्त्वपूर्ण एवं दायित्वपूर्ण कार्योंमें व्यस्त रहना और घर आते ही अपने पुत्रोंके प्रेममय आलाप एवं पठन-पाठनको सुनकर प्रसन्न होनेका सौभाग्य बिरले व्यक्तियोंको ही प्राप्त होता है। वह अपने पुत्रोंको संगीतशास्त्र, काव्य-रचना और वेद-पाठमें दक्षता प्राप्त करनेकी शिक्षा देते रहते थे। इसीके फलस्वरूप ज्येष्ठ पुत्र कम्पण संगीतशास्त्री, मध्यम पुत्र मायण साहित्यकार

तथा कनिष्ठ पुत्र शिंगण वैदिक विद्वान् हुए।

कुशल मन्त्री

आचार्य सायण अपनी ३१ वर्षकी आयुमें एक कुशल राज्य-प्रबन्धक एवं मन्त्रीके रूपमें हमारे सामने आते हैं। वि० सं० १४०३ (सन् १३४६)-में वे हरिहरके अनुज कम्पण राजाके मन्त्री बने और ९ वर्षतक उन्होंने बड़ी कुशलतासे राज्य-संचालनका कार्य किया। कम्पण राजाकी मृत्यु होनेपर उनका एकमात्र पुत्र संगम (द्वितीय) अबोध बालक था। अतः उसकी शिक्षा-दीक्षाका समस्त भार प्रधान मन्त्री पदपर आसीन सायणाचार्यने जिस तत्परता, लगन तथा ईमानदारीसे वहन किया, उसका ही यह परिणाम हुआ कि संगम नरेश राजनीतिमें अत्यन्त पटु होकर आदर्श राजाके रूपमें विख्यात हुए। उनके शासनकालमें प्रजाको सब प्रकारकी सुख-समृद्धि एवं शान्ति प्राप्त थी। वस्तुतः इसका श्रेय सायणाचार्यको ही था। वे केवल कुशल मन्त्री और विद्वान् ही नहीं थे, बल्कि अनेक युद्धोंमें कुशलतापूर्वक युद्ध-संचालन कर उन्होंने महान् विजयश्री प्राप्त की थी। ४८ वर्षकी आयु होनेपर उन्होंने लगभग १६ वर्षों—वि० सं० १४२१ से १४३७ (सन् १३६४ से १३८०) तक विजयनगरके प्रसिद्ध हिन्दू सम्राट् बुक्कके यहाँ मन्त्रीके उत्तरदायी पदपर रहते हुए शासन-प्रबन्धका कार्य सुचारुरूपसे किया।

वैदिक ज्ञानालोक-दाता

इसी कालावधिमें उन्होंने वेदभाष्य-रचनाका अपना सर्वश्रेष्ठ तथा विश्वविख्यात कार्य किया। उन्होंने वेदभाष्य-रचनाका महान् कार्य अपने आश्रयदाता, परम धार्मिक एवं वेदानुरागी महाराज बुक्कको आज्ञासे सम्पादित कर वैदिक ज्ञानका जो आलोक अपने वेदभाष्योंके रूपमें विश्वको प्रदान किया था, वही वैदिक ज्ञानका आलोक आज भी एकमात्र सम्बल बना हुआ है। बुक्क महाराजके स्वर्गवासी होनेपर उनके पुत्र महाराज हरिहरके वे वि० सं० १४३८ से १४४४ (सन् १३८१ से १३८७ ई०) तक मन्त्री रहे। वि० सं० १४४४ (सन् १३८७ ई०)-में ७२ वर्षकी आयुमें वेदभाष्योंके अमर प्रणेता, प्रतिभाशाली साहित्यकार, राजनीतिके धुरंधर विद्वान्, शासन-प्रबन्धके सुयोग्य संचालक, महान् दार्शनिक तथा युद्धभूमिमें शत्रुओंका दमन करनेवाले वीरशिरोमणि एवं हिन्दू साम्राज्यके संस्थापक सुविख्यात मनीषी सायणाचार्यने धर्म, अध्यात्म, संस्कृति, शिक्षा, दर्शन, समाज तथा राजनीतिके विभिन्न क्षेत्रोंको अपने महान् कार्योंसे सुसमृद्ध कर अपनी जीवनलीलाका संवरण करते हुए वैकुण्ठवास किया। अहो! कितना महान् था उनका पावन जीवन-चरित्र!

अमर साहित्य-प्रणयन

वेदोंके गूढ ज्ञानसे लेकर पुराणोंके व्यापक पाण्डित्यतक, अलंकारोंके विवेचनसे पाणिनि-व्याकरणके उत्कृष्ट अनुशीलनतक, यज्ञमीमांसाके अन्तःपरिचयसे लेकर आयुर्वेद-जैसे लोककल्याणकारी शास्त्रके व्यावहारिक ज्ञानतक सर्वत्र आचार्य सायणका असाधारण पाण्डित्य सामान्य जनताके लिये उपकारक तथा प्रतिभाशाली विद्वानोंके लिये विस्मयपूर्ण आदरका पात्र बना हुआ है। डॉ० ऑफ्रेक्टके अनुसार उन्होंने लगभग तीस वर्षकी आयुसे लेकर अपने जीवनके अन्तिम कालतक लगातार अटूट परिश्रम एवं अदम्य उत्साहसे साहित्य-साधना करते हुए छोटे-बड़े पचासों ग्रन्थोंकी रचना की। उनके ये सात ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं—(१) सुभाषित-सुधानिधि, (२) प्रायश्चित्त-सुधानिधि, (३) अलंकार-सुधानिधि, (४) आयुर्वेद-सुधानिधि, (५) पुरुषार्थ-सुधानिधि, (६) यज्ञतन्त्र-सुधानिधि और (७) धातुवृत्ति। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने वेदभाष्योंके अतिरिक्त उपर्युक्त ग्रन्थोंकी रचना कर अपने बहु-आयामी व्यक्तित्वका परिचय दिया था।

वेदभाष्य-प्रणयन

सायणाचार्यका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है उनके द्वारा वेदभाष्योंका प्रणयन किया जाना। उनके ये वेदभाष्य ही उनकी कमनीय कीर्तिको फैलानेमें आज भी समर्थ हैं और भविष्यमें भी समर्थ रहेंगे। यही कारण है कि भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानोंमें किसी एकाधको छोड़कर शेष सभी मूर्धन्य वैदिक विद्वानोंने वेदार्थके यथार्थ ज्ञानके लिये स्वयंको सायणका ऋणी माना है। सोलहवीं शताब्दीमें प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् महीधराचार्य और उनके पूर्ववर्ती उव्वटाचार्य आदि शुक्लयजुर्वेदकी माध्यन्दिनी-शाखापर भाष्य-रचना करनेमें आचार्य सायणके ऋणी रहे। आधुनिक युगमें ऋग्वेदके श्रीसायण-भाष्यके प्रथम सम्पादक प्रो० मैक्समूलरके अनुसार वेदार्थ जाननेमें आचार्य सायण

अन्धेकी लकड़ी हैं। प्रसिद्ध सनातनधर्मी विद्वान् तथा शास्त्रार्थ महारथी पं० श्रीमाधवाचार्यजी और 'सनातन-धर्मालोक' नामक महान् ग्रन्थके प्रणेता पं० श्रीदीनानाथ शास्त्रीजीकी प्रेरणासे विद्वानोंद्वारा रचित वेदभाष्योंका आधार आचार्य सायणके भाष्य ही हैं। प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० श्रीज्वालाप्रसाद मिश्र तथा पं० श्रीरामस्वरूप शर्मा आदिने जो वेदभाष्य लिखे हैं, उन सबके आधार आचार्य सायणके भाष्य ही हैं। वेदका वास्तविक अर्थ जाननेके लिये 'सायणकी ओर लौटो' का सिद्धान्त प्रस्तुत करनेवाले वर्तमान शताब्दीके महान् मनीषी विख्यात वेदोद्धारक धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजने अपने विश्वविख्यात महान् ग्रन्थ 'वेदार्थपारिजात'-में भारतीय और पाश्चात्त्य वैदिक विद्वानोंके विचारोंकी समीक्षा करते हुए आचार्य सायणके वेदभाष्योंको सर्वोत्कृष्ट तथा परम प्रामाणिक सिद्ध कर यह बताया है कि उनके भाष्योंकी सहायताके बिना वैदिक ज्ञानके दुर्गमें प्रवेश करना किसीके लिये भी सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजीका यजुर्वेद-भाष्य सायणाचार्यके भाष्योंके अनुसार ही तैयार हुआ प्रतीत होता है। पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके वैदिक ग्रन्थोंसे प्रेरित होकर उनके दिव्य सन्देशको आगे बढ़ानेके उद्देश्यसे इस लेखका लेखक पिछले लम्बे समयसे आचार्य सायणके ऋग्वेद-भाष्यका हिन्दी अनुवाद लिखनेमें लगा हुआ है, जिससे हिन्दीभाषी सामान्यजन भी सायण-भाष्यसे लाभान्वित हो सके।

वेदभाष्य-निरूपण

'वेद' शब्दका प्रयोग संहिता और ब्राह्मणके समुदायके लिये किया जाता है। 'वेद' शब्द किसी एक ग्रन्थविशेषका बोध न कराकर मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशिका बोध कराता है, अतः वेदके दो भाग माने जाते हैं। मन्त्रभाग (संहिता) और ब्राह्मणभाग—इन दोनों भागोंके अन्तर्गत आरण्यक तथा उपनिषद् भी हैं। इस प्रकार मन्त्र (संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—इन चारोंकी 'वेद' संज्ञा है। इन चारोंमें सायणने मन्त्र (संहिता), ब्राह्मण और आरण्यकपर ही अपने विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे हैं। उपनिषदोंपर भगवान् आद्य जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजीके उत्कृष्ट भाष्य उपलब्ध होनेके कारण सम्भवतः उन्होंने उपनिषदोंपर भाष्य लिखना आवश्यक न समझा हो। अतः वेदके कर्मकाण्ड-सम्बन्धी भाग—मन्त्र, ब्राह्मण एवं आरण्यकपर उन्होंने अपने प्रामाणिक भाष्य लिखकर आचार्य शंकरके महान् कार्यको आगे बढ़ाया और वैदिक कर्मकाण्डियोंका मार्ग प्रशस्त किया।

भाष्य-कार्य-समालोचन

आचार्य सायणने ऋग्वेद, शुक्लयजुर्वेद (काण्व-शाखा), कृष्णयजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—इन पाँचों संहिताओं तथा ऐतरेय, तैत्तिरीय, ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, उपनिषद्, संहितोपनिषद्, वंश, शतपथ और गोपथ नामक उक्त पाँचों संहिताओंके बारह ब्राह्मणों एवं तैत्तिरीय तथा ऐतरेय नामक कृष्णयजुर्वेद और ऋग्वेदके दो आरण्यकोंपर अपने विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे हैं। चारों वेदोंकी उपलब्ध संहिताओं, उनके ब्राह्मणों तथा आरण्यकोंपर भाष्य लिखकर उन्होंने वैदिक जगत्का महान् उपकार किया है। उन्होंने शुक्लयजुर्वेद और सामवेदके समस्त ब्राह्मणोंपर भाष्य-रचना की। शुक्लयजुर्वेदके सौ अध्यायोंवाले शतपथ-ब्राह्मणका उनका भाष्य वैदिक कर्मकाण्डका विश्वकोश है। सामवेदके आठ उपलब्ध होनेवाले ब्राह्मणोंपर उनके भाष्य वैदिक दर्शनके अनूठे उदाहरण हैं। ऋग्वेदकी शाकल-संहितापर उनका जो भाष्य मिलता है, वह भारतीय चिन्तन-मनन एवं ज्ञानका अथाह समुद्र है। उसके समक्ष पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सभी भाष्य अपूर्ण तथा फीके प्रतीत होते हैं। उसीका आश्रय लेकर उत्तरवर्ती भाष्यकारोंने अपने-अपने भाष्योंके प्रणयनका प्रयास किया है। ऋग्वेदके ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय आरण्यकपर उनके भाष्य इतने उत्कृष्ट एवं प्रामाणिक हैं कि विद्वान् उनकी प्रशंसा करते नहीं अघाते। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय-संहिता, उसके ब्राह्मण तथा आरण्यकपर उनके भाष्य यज्ञ-सम्बन्धी महान् ज्ञानके परिचायक हैं। अथर्ववेदकी संहिता और उसके गोपथ ब्राह्मणपर भाष्य लिखकर उन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभाका परिचय दिया है।

आचार्य सायणके इस महान् वेदभाष्य-कार्यको देखनेसे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वैदिक साहित्यके बहुत बड़े भागके ऊपर अपने विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य लिखकर इस क्षेत्रमें अपूर्व कीर्तिमान स्थापित किया है। इसीलिये न तो उनके समान कोई पूर्ववर्ती भाष्यकारोंमें हुआ और न ही उत्तरवर्ती

भाष्यकारोंमें अबतक हुआ तथा न ही भविष्यमें होगा। वस्तुतः उनका कार्य—'**न भूतो न भविष्यति**' की कहावतको चरितार्थ करता है। आजतक किसी भारतीय अथवा पाश्चात्त्य विद्वान्‌ने इतने अधिक वैदिक ग्रन्थोंपर ऐसे सारगर्भित एवं प्रामाणिक भाष्य नहीं लिखे हैं और भविष्यमें भी कोई लिखनेवाला नहीं है। यही कारण है कि वह वैदिक भाष्यकारोंके मध्यमें न केवल आज, बल्कि आगे भी सूर्यकी भाँति प्रकाशित होते रहेंगे। उनसे अधिक कार्य होना तो दूर रहा, उनके बराबर कार्य होना भी असम्भव प्रतीत होता है। अतः पाश्चात्त्य विद्वान् प्रो० मैक्समूलरका यह कथन अत्युक्ति नहीं है कि 'आचार्य सायणके भाष्य-ग्रन्थ वैदिक विद्वानोंके लिये अन्धेकी लकड़ीके समान हैं।' महान् भारतीय मनीषी स्वामी श्रीकरपात्रीजीके द्वारा वैदिक विद्वानोंको सायणकी ओर लौटनेका परामर्श देनेसे भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य सायणका वेदभाष्य-कार्य अतुलनीय—अद्वितीय है।

व्यक्तित्व एवं कृतित्वका मूल्यांकन

सायणाचार्यका महान् व्यक्तित्व इस धराधामपर वेदोद्धारके पावन कार्यको अपने कृतित्वद्वारा सम्पन्न करनेके लिये ईश्वरीय विभूतिके रूपमें अवतरित हुआ था। वस्तुतः वे बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न महापुरुष थे। इसीलिये तत्कालीन महाराज बुक्कने उन्हें सनातन संस्कृतिके सर्वोत्तम रत्नस्वरूप वेदोंके भाष्यका महान् दायित्व सौंपा था। उनका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विकास इतना उच्च कोटिका था कि उन्हें सर्वगुणसम्पन्न महापुरुष कहना अत्युक्ति नहीं होगी। वही एकमात्र ऐसे वेदभाष्यकार हैं, जिन्हें विद्वान् सर्ववेदभाष्यकार कहकर गौरवका अनुभव करते हैं। कहाँ तो सतत शास्त्राभ्याससे विकसित ज्ञानद्वारा वैदिक सिद्धान्तोंकी मीमांसा करनेमें प्रगाढ प्रवीणता और कहाँ लौकिक व्यवहारके बारम्बार निरीक्षणसे उत्पन्न विपुलराज्य-कार्य-संचालनमें समर्थ राजनीतिमें आश्चर्यजनक कुशलता—इन दोनों परस्पर विरोधी प्रतिभाओंका मणिकाञ्चन-जैसा संगम उनके व्यक्तित्वमें देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा?

शास्त्र और शस्त्र दोनोंमें ही उनकी समान पारंगतता देखकर यही कहना समीचीन होगा कि उन-जैसा महान् व्यक्तित्व न हुआ है और न होगा। उनकी समस्त वैदिक एवं लौकिक साहित्यसे सम्बन्धित कृतियाँ मानवजातिकी अमूल्य निधि हैं। उनके भाष्य-ग्रन्थ सनातन संस्कृति, धर्म, अध्यात्म एवं शिक्षाके विश्वकोष हैं। उनके महान् व्यक्तित्व एवं कृतित्वका अवलोकन करनेपर यही मुखसे निकलता है कि धन्य हैं महान् सर्ववेदभाष्यकार सायणाचार्य! धन्य हैं उनकी विलक्षण वीरता एवं अद्भुत कृतियाँ!! धन्य है उनका हिन्दू-साम्राज्य-स्थापनका यशस्वी कार्य!!!

सन् १९९९ के प्रसिद्ध धार्मिक मासिक-पत्र 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित होनेवाले '**वेद-कथाङ्क**' के प्रकाशनके अवसरपर हम आचार्य सायणके श्रीचरणोंमें अपनी विनम्र भावना अर्पित करते हुए श्रीमन्नारायणसे उनके दिव्य सन्देशको आगे बढ़ानेकी प्रार्थना करते हैं।

कुछ प्रमुख भाष्यकारोंकी संक्षिप्त जीवनियाँ

मध्वाचार्य (स्वामी आनन्दतीर्थ)

स्वामी आनन्दतीर्थका विशेष प्रसिद्ध नाम मध्वाचार्य है। ये मध्व एवं गौडीय दोनों सम्प्रदायके प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका जन्म सन् ११९९ में उडुपीनगर (कर्नाटक)-में हुआ था। इनकी माताका नाम वेदवती था। इनके गुरुका नाम महात्मा अच्युततीर्थ महाराज था। इन्होंने इन्हींसे वेद-वेदान्तका अध्ययन किया था और सारे भारतमें भ्रमण कर अपने ज्ञान तथा वैदिक सिद्धान्तोंका प्रचार किया था। इनके लिखे हुए ग्रन्थ जो 'प्रबन्धग्रन्थ'के नामसे हैं, कई हैं। जिसमें ऋग्वेदका भाष्य और वेदोंपर आधृत ब्रह्मसूत्रका अणुभाष्य बहुत प्रसिद्ध है। इनके वेदभाष्यपर अनेक अनुसंधान विश्वविद्यालयोंमें हो रहे हैं और इनका मत द्वैतमतके नामसे प्रसिद्ध है। इनके मतका मुख्य सार भगवान् श्रीहरिकी उपासना ही सर्वोपरि है और भगवान् ही परमतत्त्व हैं। इनका निर्वाण बदरिकाश्रममें सन् १२७८ में हुआ था।

उव्वट

इनके पिताका नाम वज्रट था, जो बहुत विद्वान् थे। ये गुजरात-प्रान्तके आनन्दपुर नगरके निवासी थे। इन्होंने शुक्लयजुर्वेदके वाजसनेयिसंहितापर विस्तृत भाष्य लिखा है। ये मालवाके राजा भोजके दरबारी थे। यजुः-प्रातिशाख्य नामके वैदिक ग्रन्थपर इनका भाष्य है।

महीधर

ये काशीके प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनका समय प्रायः १२वीं शताब्दी है। इनके यजुर्वेदके भाष्यका नाम 'वेदप्रदीप' है, जो सर्वाधिक विस्तृत और सरलतम भाष्य है। इसमें इन्होंने सभी वैदिक ग्रन्थों, श्रौतसूत्रों और ब्राह्मणग्रन्थोंका आश्रय लेकर यज्ञकी पूरी प्रक्रिया दी गयी है। इन्होंने उव्वट और सायण आदिके भाष्योंको पढ़कर अत्यन्त सरल और परिष्कृत भाष्यका निर्माण किया है।

वेङ्कट माधव (विद्यारण्य)

इनका ऋग्वेदका भाष्य बहुत प्रसिद्ध है। देवराजयज्वाका जो निरुक्त—'निघण्टुभाष्य' है, उसमें आचार्य वेङ्कट माधवका सादर उल्लेख प्राप्त होता है। इनके पिताका नाम वेङ्कटार्य था, जो ऋग्वेदके अच्छे ज्ञाता थे। माताका नाम सुन्दरी था। इनके पुत्रका नाम वेङ्कट अथवा गोविन्द था। ये कावेरी नदीके दक्षिण तटपर चोलदेशके उत्तरभागमें स्थित गोमान् गाँवके निवासी थे।

प्रभाकर भट्ट

ये केरल प्रान्तके निवासी थे। ये तत्त्वज्ञानी और न्यायदर्शनके बहुत बड़े विद्वान् थे। इनका मत प्रभाकर मतके नामसे प्रसिद्ध था।

शबरस्वामिन्

ये काश्मीरके रहनेवाले थे। इनके पिताका नाम दीप्तस्वामी था। इन्होंने वेदोंके साथ-साथ मीमांसा-दर्शनपर भाष्यकी रचना की, जो 'शाबर-भाष्य' के नामसे विश्वमें विख्यात है। इनके विषयमें यह श्लोक विद्वानोंकी परम्परामें बहुत प्रचलित और प्रसिद्ध है—

ब्राह्मण्यामभवद् वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणीः
राजा भर्तृहरिश्च विक्रमनृपः क्षत्रात्मजायामभूत्।
वैश्यायां हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शंकुः कृती
शूद्रायाममरः षडेव शबरस्वामिद्विजस्यात्मजाः॥

जयंत भट्ट

इनका समय दशवीं शताब्दीके आस-पास माना जाता है। वाचस्पति मिश्र आदि परवर्ती विद्वानोंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें सादर इनका उल्लेख किया है। इन्होंने अनेक बौद्ध एवं जैन विद्वानोंसे शास्त्रार्थ किया था। न्याय-दर्शनके सूत्रोंपर 'न्यायमञ्जरी' नामकी इनकी टीका बहुत प्रसिद्ध है। इनका मुख्य ग्रन्थ 'अथर्वण-रक्षा' है, जिसमें इन्होंने अथर्ववेदकी महत्तापर प्रकाश डाला है।

मण्डन मिश्र

आचार्य मण्डन मिश्र मण्डला ग्रामके निवासी थे, जिसे आजकल 'माहेश्वर' कहते हैं। इसे माहिष्मतीपुरी भी कहते थे। ये बहुत बड़े संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित और मीमांसा तथा चारों वेदोंके मर्मज्ञ थे। आचार्य शंकर जब बौद्धोंको परास्त करनेके लिये दिग्विजय-यात्रामें निकले थे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि वेदोंके प्रकाण्ड विद्वान् कुमारिल भट्ट हैं, अतः वे उन्हें खोजते हुए प्रयाग पहुँचे। उस समय कुमारिल भट्ट प्रयागमें आत्मदाहके लिये बैठे थे। शंकराचार्यने उन्हें बहुत रोका, पर वे नहीं माने, उन्होंने और कहा कि जिन बौद्ध गुरुओंसे हमने शिक्षा ली थी, उन्हें ही हमने शास्त्रार्थमें परास्त कर दिया, अतः मुझे अत्यन्त मानसिक ग्लानि हो गयी। अतः आप मेरे शिष्य मण्डन मिश्रसे सहयोग प्राप्त करें। इसपर शंकराचार्यजी मण्डला पहुँचे, रास्तेमें कुछ स्त्रियाँ कुएँसे पानी भर रही थीं। वहाँ उन्होंने मण्डन मिश्रके घरका पता पूछा। उस गाँवकी स्त्रियाँ भी इतनी विदुषी थीं कि बोल पड़ीं—

श्रुतिः प्रमाणं स्मृतयः प्रमाणं
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा
अवेहितं मण्डनमिश्रधाम॥
जगद्ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात्
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा
अवेहितं मण्डनपण्डितौकः॥

भाव यह है कि जिसके दरवाजेपर बैठे हुए शुक-शुकी पिंजरेमें स्थिर होकर—'वेद अधिक प्रामाणिक हैं? अथवा धर्मशास्त्र कहाँतक प्रामाणिक हैं? ईश्वर सच्चा है, संसार नश्वर है या सत्य?—इन विषयोंपर कठिन शास्त्रार्थ करते हैं,' उसे ही आप मण्डन पण्डितका घर समझें। आचार्य जब वहाँ पहुँचे तो यह सब देखकर दंग रह गये।

मण्डन मिश्र अपने आँगनमें यज्ञ कर रहे थे। आचार्य आकाशमार्गसे उनके आँगनमें पहुँच गये और वहाँ वेदोंपर उन्होंने उनसे शास्त्रार्थ करना प्रारम्भ कर दिया। एक सप्ताहतक वैदिक वाद-विवाद चलता रहा, फिर मण्डनजी परास्त हो गये और उन्होंने कहा कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ? तब शंकराचार्यजीने कहा कि 'वैदिक धर्मकी पताका फहरानेमें आप मेरा साथ दें।' कहा जाता है कि मण्डन मिश्रकी पत्नी भारती बहुत विदुषी थीं और उन्होंने शंकराचार्यजीको परास्त कर दिया था।

मण्डन मिश्रने आचार्य शंकरका साथ दिया। उन्हींके सहयोगसे शंकराचार्यने पूरे भारतमें सभी बौद्ध-जैनियोंको

परास्त कर वैदिक धर्मकी पताका फहरायी और वेद-विद्याका प्रचार-प्रसार किया। मण्डन मिश्रकी पत्नीने भी बहुत सहयोग दिया और उन्हींके नामपर शृंगेरी मठके सभी आचार्य आपके नामके साथ 'भारती' शब्दका प्रयोग करते हैं। भारतीदेवीकी भव्य प्रतिमा शृंगेरी मठमें आज भी विद्यमान है।

इन्होंने बादमें संन्यास ले लिया और इनका नाम सुरेश्वराचार्य पड़ गया। जिनके द्वारा 'बृहदारण्यक वार्तिकसार', 'तैत्तिरीयारण्यक वार्तिकसार' और दिव्य 'दक्षिणामूर्तिस्तोत्र' आदि अनेक ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जो विद्वत् समाजमें आदरणीय हैं।

भागवताचार्य

भागवताचार्य वेदके संस्कृत-व्याख्याताओंमें सबसे बादके भाष्यकार हैं। रामानन्द सम्प्रदायके प्रचार-प्रसारमें इनका बड़ा योगदान है। इन्होंने चारों वेदोंपर भाष्य लिखा है। ये भगवान्‌के बड़े भारी भक्त थे, इसलिये इनके वेदभाष्योंमें भी भगवद्भक्तिका प्रवाह सर्वत्र प्रवाहित है। अपने भाष्योंका नाम इन्होंने भक्ति-संस्कारपर आधृत होनेके कारण 'संस्कार-भाष्य' रखा है। इनके भाष्योंमें 'साम-संस्कार-भाष्य' एवं 'यजुः-संस्कार-भाष्य' बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने भगवान् रामका नारायण एवं विष्णुके रूपमें वर्णन किया है। वैष्णव-सम्प्रदायमें इनके भाष्योंका बड़ा आदर है।

नारायण

इनका जन्म सन् १३०० के आस-पास है। इन्होंने शाकटायनके द्वारा निर्मित व्याकरणके ग्रन्थ 'उणादिसूत्र' पर 'प्रक्रियासर्वस्व' नामकी टीका लिखी थी। ये वेदोंके विद्वान् थे। इनका भक्ति-ग्रन्थ 'नारायणीयम्' बहुत प्रसिद्ध है, जो 'गीताप्रेस'से प्रकाशित भी है।

वाचस्पति मिश्र

ये वेदके परम तत्त्वज्ञ थे, साथ ही सभी दर्शन-शास्त्रोंका इन्होंने समानरूपसे अध्ययन किया था। गूढतम वैदिक तत्त्वोंके परम दार्शनिक रहस्य इन्हें हस्तामलकवत् थे। ये अहर्निश स्वाध्यायमें लीन रहते थे। इन्होंने वैदिक निबन्धोंके अतिरिक्त सभी दर्शनशास्त्रोंपर 'टीका-ग्रन्थ' लिखा है। इसलिये ये 'द्वादशदर्शन-कानन-पञ्चानन' वेदविद् विद्वान्‌के रूपमें प्रसिद्ध हुए हैं। इतिहासके अनुसार इनकी पत्नीका नाम भामती था, जो इनकी शांकरभाष्यकी व्याख्याका नाम हो गया और वेदान्त ग्रन्थोंमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है। ये राजा नृगके दरबारके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। इनके गुरुका नाम त्रिलोचन शास्त्री था।

महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड—काशीकी अप्रतिम वैदिक विभूति

आवागमनशील इस संसारमें प्रतिदिन न जाने कितने लोग आते हैं और चले जाते हैं, किंतु उनमें यदा-कदा ऐसी विभूतियाँ भी जन्म लेती हैं, जिनके उदात्त कर्म समाजके लिये प्रेरणाप्रद बन जाते हैं। काशीके प्रखर वैदिक विद्वान् पं० श्रीविद्याधरजी गौडका भौतिक अवतरण भी कुछ इसी प्रकारका था। काशीके विद्वज्जगत्‌के देदीप्यमान नक्षत्र पं० श्रीप्रभुदत्तजी गौडके पुत्ररूपमें इनका जन्म पौष कृष्ण १३, शुक्रवारको सन् १८८६ में रोहतक जिलेके पूठी नामक ग्राममें हुआ। पण्डित विद्याधरजीके सम्पूर्ण जातकर्म-संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न हुए। अन्नप्राशन-संस्कारके समय जब अपने सामने रखी हुई अनेक वस्तुओंमेंसे इन्होंने पुस्तक उठायी तो सबने समझ लिया कि यह बालक विद्या-व्यसनी होगा।

अध्ययन

काशीमें अध्ययन, पठन-पाठनके अत्यन्त अनुकूल परिवेश तथा प्राक्तन जन्म-संस्कारके कारण इन्होंने

अपने यशस्वी पिताके द्वारा वेदविद्या और कर्मकाण्डकी अद्भुत ज्ञानराशि अपनी तीक्ष्ण मेधाशक्ति और कुशाग्रबुद्धिसे अल्पकालमें ही अर्जित कर ली। जो वेदमन्त्र आप एक बार अपने पितृमुखसे सुनते थे, वह आपको तत्काल कण्ठस्थ हो जाता था। पण्डित प्रभुदत्तजी शास्त्रीके यहाँ निरन्तर वेदाध्ययन चलता रहता था। देशके कोने-कोनेसे विद्यार्थी काशी आकर अध्ययन और स्वाध्याय करते रहते थे। श्रौताधानके कारण उनके यहाँ नित्य होमके साथ 'दर्शपौर्णमासेष्टि' का क्रम भी चलता रहता था। इस सुसंस्कृत परिवेशका पं० विद्याधरजीपर अमिट प्रभाव पड़ा। पण्डित विद्याधरजी इतने सौम्य स्वभावके थे कि कभी यह विश्वास ही नहीं होता था कि वे वेदके इतने बड़े मर्मज्ञ हैं। वेदका मूलभाग अष्ट-विकृतियोंके साथ उन्हें कण्ठस्थ तो था ही, अन्य अनेक शास्त्रोंका भी उन्हें गहन ज्ञान था। लोग उन्हें गायत्रीवत् वेदका पारायण करते देखकर आश्चर्य करते थे। वेदके साथ-साथ वेदाङ्गोंपर भी उनका अखण्ड अधिकार था। इतना ही नहीं, धर्मशास्त्र, मीमांसा, साहित्य और व्याकरण आदि शास्त्रोंमें भी उनकी अपरिमित गति थी। अहंकार तो उन्हें स्पर्श भी न कर पाया था। अपनी असाधारण प्रतिभा, पितृभक्ति और विनयशीलताके कारण पं० विद्याधरजीने अपने पिताके कोमल मनको वशीभूत कर लिया था।

अध्यापन

पं० विद्याधरजी १६ वर्षकी अवस्थामें अपने पिताजीके साथ यज्ञमें कलकत्ता गये थे। वहाँ उपस्थित विद्वानोंने इनकी अपूर्व विद्वत्ता और पाण्डित्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। वहाँके सम्पन्न व्यक्तियोंने अपने प्रबल आग्रहसे वेद और संस्कृतका अध्यापन करनेके लिये इन्हें विवश किया। फलस्वरूप पं० प्रभुदत्तजीकी आज्ञासे वे कलकत्ताके 'विशुद्धानन्द सरस्वती' विद्यालयमें अध्यापन कार्य करने लगे, परन्तु उनका मन कलकत्ता-जैसे व्यवसायी शहरमें न लगा। वहाँका वातावरण विद्याके अध्ययन-अध्यापनके अनुकूल न था। ये छः मासतक अध्यापन कार्य करके वापस काशी लौट आये। यहाँपर ज्ञानवापीके निकट सत्यनारायण वेद-विद्यालय तथा सरस्वती फाटकके समीप सत्यनारायण वेद-विद्यालयमें कई वर्षोंतक अध्यापन करनेके बाद आप मीरघाट मुहल्लेमें श्रीरामदयाल चुन्नीलाल काजड़िया संस्कृत पाठशालामें पद-क्रम-जटा-घन आदि अष्ट-विकृतियोंके साथ मूल यजुर्वेदसंहिता पढ़ाने लगे। स्वर्गीय सेठ गौरीशंकरजी गोयनकाने 'श्रीजोखीराम मटरूमल गोयनका संस्कृत महाविद्यालय' की स्थापना कर उन्हें अपने यहाँ वेद-अध्यापक नियुक्त किया। कई वर्षोंतक गोयनका महाविद्यालयमें वाचस्पति, आचार्य, शास्त्री आदिके छात्रोंको अध्यापन करानेके बाद सन् १९३९ में आपने त्यागपत्र दे दिया। त्यागपत्र देनेके पश्चात् भी वे विद्यानुरागी सेठ गौरीशंकरजी गोयनका तथा म० म० पं० हरिहरकृपालुजी द्विवेदी आदिके प्रबल आग्रहके कारण आजीवन इस महाविद्यालयसे सम्बद्ध रहे।

विद्वानोंके पारखी महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी निरन्तर यही प्रयत्न करते थे कि सदाचारी और गम्भीर विद्वान् काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे संलग्न हों और अपनी विद्या एवं उज्ज्वल चरित्रसे विद्यार्थियोंको लाभान्वित करें। उन्होंने पं० विद्याधरजीको रणवीर संस्कृत पाठशालामें प्रधानाध्यापक पदपर नियुक्त कर दिया। सन् १९१७ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके धर्म-विज्ञान-विभागमें आपको सर्वप्रथम प्रधानाध्यापक नियुक्त किया गया। धर्म-विज्ञान संकायके विभिन्न पदोंपर रहकर अध्यापन करते हुए इस पदसे १९४० में आपने त्यागपत्र दे दिया। पण्डित विद्याधरजी सन् १९४० से जीवनके अन्तिम क्षणतक काशीके सुप्रसिद्ध संन्यासी संस्कृत कालेज (अपारनाथ मठ)-के प्रधानाचार्य भी रहे।

वेद-प्रचार

आप साक्षात् वेदमूर्ति और वेदमय थे। अध्यापन कार्यके साथ-साथ अपना अधिक समय वेदके प्रचारमें व्यतीत करते थे। आपकी प्रेरणासे महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झाने तत्कालीन गवर्नमेंट संस्कृत कालेजमें शुक्ल-यजुर्वेदके अध्यापन और परीक्षणका कार्य प्रारम्भ किया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और गोयनका संस्कृत महाविद्यालयमें जहाँ पहले केवल शुक्लयजुर्वेदका ही अध्यापन होता था, आपके प्रयत्नोंसे वहाँ चारों वेदोंका अध्ययन-अध्यापन होने लगा। पण्डित विद्याधरजीसे केवल वेद पढ़नेवाले जिज्ञासु छात्र ही वेदाध्ययन नहीं करते थे, वरन् व्याकरण तथा साहित्यके प्रसिद्ध अध्यापक और विद्वान् भी उपस्थित होकर भाष्यसहित वेदोंका अध्ययन करते थे।

सरल जीवन

भारतीय पण्डितोंकी परम्परागत वेशभूषा—बगलबन्दी (मिरजई), सिरपर रेशमी साफा, मस्तकपर भस्मका त्रिपुण्ड्र अंकित किये रहनेवाले पं० श्रीविद्याधरजी गौड बड़े सीधे-साधे और सज्जन व्यक्ति थे। ईश्वरमें इनकी प्रगाढ निष्ठा और अचल श्रद्धा थी। असत्य-भाषण, मिथ्या-व्यवहार तथा छल-प्रपञ्चको वे घोर पातक समझते थे। जितना विराग उन्हें मिथ्या व्यवहारसे था, उतना ही व्यर्थकी चाटुकारितासे भी था। किसी भी संकटकी परिस्थितिमें वे कभी विचलित नहीं होते थे। महासागरके समान शान्तचित्त और स्थिर रहते थे।

उपाधि

वेदविद्यामें पूर्ण पारंगत होने, वैदिक विद्याका समस्त गूढ मर्म समझने, वैदिक कर्मकाण्डमें सविधि वेदका प्रयोग करने, वेद-कर्मकाण्डके अनेक ग्रन्थोंके निर्माण करने तथा सर्वतोमुखी प्रतिभाकी ख्यातिके कारण भारत सरकारने सन् १९४० ई० में विद्वानोंकी सबसे बड़ी उपाधि महामहोपाध्यायसे सरस्वतीके वरदपुत्र पं० श्रीविद्याधरजी गौडको समलंकृत किया।

लेखन-कार्य

पं० श्रीविद्याधरजी गौड कुशल लेखक भी थे। कर्मकाण्डकी लगभग सभी पद्धतियोंका संशोधन इनके द्वारा हुआ। अनेक पद्धतियोंका प्रणयन भी आपने किया। जिनमें स्मार्त-प्रभु, प्रतिष्ठा-प्रभु, विवाह-पद्धति, उपनयन-पद्धति, वास्तु-शान्ति-पद्धति, शिलान्यास-पद्धति तथा चूड़ाकरण-पद्धति आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। आपकी रचित कुछ पद्धतियाँ तथा कात्यायन-श्रौतसूत्रकी भूमिका काशी हिन्दू विश्वविद्यालयकी वेद-कर्मकाण्ड-सम्बन्धी विविध परीक्षाओंमें पाठ्यग्रन्थके रूपमें स्वीकृत हैं। आपद्वारा रचित कात्यायन-श्रौतसूत्र और शुल्बसूत्रकी 'सरला' टीका काफी विद्वत्तापूर्ण मानी जाती है। शतपथ-ब्राह्मण, श्राद्धसार एवं कात्यायन-श्रौतसूत्रकी देवयाज्ञिक-पद्धति आदि अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन तथा 'श्रौतयज्ञ-परिचय' नामक ग्रन्थके निर्माणसे वैदिक जगत् उपकृत है। वस्तुतः अपने पिताजीकी स्मृतिको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये आपने 'स्मार्त-प्रभु' तथा 'प्रतिष्ठा-प्रभु' नामक दो ग्रन्थोंकी रचना की थी।

संस्कृतनिष्ठा

पण्डित विद्याधरजीकी यह भावना थी कि संस्कृत-भाषाके पढ़े बिना हमारे देशका कल्याण नहीं हो सकता। वे संस्कृत-भाषाके अनुरागी मात्र नहीं थे, वरन् अनन्यभक्त भी थे। संस्कृतमें ही पत्र-व्यवहार करते थे। संस्कृतज्ञोंसे सम्पर्क होनेपर संस्कृतमें ही वार्तालाप और सम्भाषण करते थे।

धर्माचरण

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६। ९२)

'धैर्य, क्षमा, आत्मदमन, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियोंका निग्रह, विवेक, विद्या, सत्य और क्रोध न करना'—ये धर्मके दस लक्षण हैं। पण्डित विद्याधरजीमें ये सभी गुण पूर्णरूपसे विराजमान थे। अतुलित धैर्यके साथ ही आप क्षमाशील भी थे। मन, बुद्धि और हृदय सभी दृष्टियोंसे आप पूर्ण पवित्र थे एवं श्रुति, स्मृति, पुराण आदि धर्मग्रन्थोंमें प्रतिपादित परम्परागत सनातन वैदिक धर्मके परम अनुयायी थे। आप प्रतिदिन प्रातः चार बजे उठकर गङ्गास्नान, संध्या-तर्पण, बाबा विश्वनाथ तथा माँ अन्नपूर्णाका दर्शन करके दुर्गापाठ किया करते थे।

गौ-ब्राह्मण-भक्त

अपने पूज्य पिता पं० प्रभुदत्तजी गौडके समान पं० विद्याधरजी भी बड़े निष्ठावान् और ब्राह्मण-भक्त थे। प्रातः उठते ही गौमाताके दर्शन करते थे। काशीसे बाहर जाना होता तो गौमाताका दर्शन और उसकी प्रदक्षिणा करके ही जाते। गौके समान ब्राह्मणोंके भी वे परम भक्त थे। ब्राह्मण- निन्दा उन्हें कभी सह्य न था। हमेशा अन्न-वस्त्रसे ब्राह्मणोंका सत्कार किया करते थे। ब्राह्मणोंका बहुत आदर करते थे, पर उनमें जातिगत कट्टरता तनिक भी नहीं थी।

विविध कार्यदक्षता

आप शतावधानियोंकी तरह एक ही समयमें अनेक कार्य करते थे। एक ओर वेदका मूल पाठ पढ़ाते तो दूसरी ओर वेदभाष्य पढ़ाते थे। इसी प्रकार एक ओर व्याकरण पढ़ाते तो दूसरी ओर साहित्य आदि पढ़ाते थे। अध्यापनके साथ-साथ ग्रन्थ-लेखन, धर्मशास्त्रीय व्यवस्था और पत्रोत्तर आदिका कार्य भी करते रहते थे।

गोलोकवास

पं० श्रीविद्याधरजी गौडका **'काश्यां मरणान्मुक्तिः'** में पूर्ण विश्वास था। आप जीवन-यात्रा-समाप्तिके एक वर्ष पूर्वसे कुछ शिथिल रहने लगे थे। सन् १९४१को प्रातः १०.३० बजे ५५ वर्षकी अल्पायुमें महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड अपने सुयोग्य पुत्रों, शिष्यों और भक्तोंको छोड़कर अपने नश्वर पाञ्चभौतिक शरीरको पवित्र काशीमें त्यागकर मुक्त हो गये।

'मनसे, वचनसे और कर्मसे जो पुण्यके अमृतसे भरे हुए सम्पूर्ण त्रिभुवनको अपने उपकारसे तृप्त करते रहते हैं और दूसरोंके अत्यन्त नन्हें-से गुणको भी पर्वतके समान बनाकर हृदयमें प्रसन्न होते रहते हैं'—ऐसे कम लोग ही माँ धरित्रीकी गोदमें अवतरित होते हैं। वेद-विद्याकी अप्रतिम प्रतिभा महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड ऐसे ही लोगोंमेंसे थे, जिन्हें काशी कभी विस्मृत न कर सकेगी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

अर्वाचीन वैदिक अनुसंधाताओं तथा वेदके भाष्यकारोंमें स्वामी दयानन्द सरस्वतीका भी नाम है। स्वामी दयानन्दजी गुजरात प्रान्तके थे। बचपनसे ही आपकी प्रवृत्ति निवृत्ति-मार्गकी ओर रही, इसलिये गृहस्थ-धर्मसे आप सदा दूर ही रहे। यहाँतक कि गृह-त्याग कर आपने नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका आश्रय ग्रहण किया और 'शुद्धचैतन्य' इस नामसे आपकी प्रसिद्धि हुई, फिर प्रारम्भ हुआ आपका देश-भ्रमणका कार्य। अनन्तर संन्यास ग्रहण कर आप 'शुद्धचैतन्य' से 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' इस नामसे जाने गये। मथुरा पहुँचकर आपने प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्दजी महाराजसे विशेष वेद-ज्ञान प्राप्त किया और फिर आपने वेदोंके प्रचार-प्रसारके कार्यका संकल्प लिया। इस कार्यमें इन्हें महान् संघर्ष करना पड़ा। आपने वेदोंपर भाष्य आदिका प्रणयनकर एक नवीन विचारधाराको पुष्ट किया, जो प्राचीन सनातन परम्परासे मेल नहीं खाती। आपने कई बार शास्त्रार्थ किया और यावज्जीवन आप इस पद्धतिके पोषणमें लगे रहे।

अभिनव वेदार्थचिन्तनमें स्वामी करपात्रीजीका योगदान

(डॉ० श्रीरूपनारायणजी पाण्डेय)

वेद भारतीय धर्म एवं संस्कृतिके मूल उत्स हैं। महर्षियोंके द्वारा वेदावबोधके प्रयासमें वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष)-का प्रणयन किया गया। (वैदिक) आस्तिक दर्शन, विशेषरूपसे मीमांसा एवं वेदान्त, वेदार्थ एवं वेदतत्त्वका गम्भीर विमर्श करते हैं। रामायण, अष्टादशपुराण तथा महाभारतमें भी विविध कथा-प्रसंगोंके माध्यमसे वेदार्थका विस्तार किया गया है।

वेदके प्राचीन भाष्यकारोंमें स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, वेङ्कटमाधव, रावण, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, सायण, उव्वट, महीधर, आनन्दबोध, हलायुध, अनन्ताचार्य, भट्टभास्कर मिश्र, माधव तथा भरतस्वामी आदि विश्वविश्रुत हैं। वेदार्थचिन्तन तथा वैदिक सिद्धान्तोंके प्रतिपादनमें यास्क, व्यास, जैमिनि, मनु, शबर, शंकराचार्य, मण्डन मिश्र, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, वाचस्पति मिश्र, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य तथा जयन्त भट्ट आदिका नाम सादर संस्मरणीय है। आधुनिक वेदभाष्यकारों तथा संस्कृतेतर वेदानुवादकोंमें स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, रमेशचन्द्र दत्त, रामगोविन्द त्रिवेदी, कोल्हट, पटवर्धन सिद्धेश्वर शास्त्री, जयदेव विद्यालंकार, डॉ० सत्यप्रकाश, कपालशास्त्री, श्रीराम शर्मा, ज्वालाप्रसाद मिश्र, वीरेन्द्र शास्त्री तथा क्षेमकरण त्रिवेदी आदिका नाम उल्लेखनीय है। पाश्चात्त्य वेदज्ञों एवं अनुवादकोंमें फ्रीडिशरोजेन, मैक्समूलर, विल्सन, ग्रासमैन, लुडविग, ग्रिफिथ, ओल्डेनवर्ग, वेबर, कीथ, राथ, ह्विटनी तथा स्टेवेन्सन आदि प्रमुख हैं। आधुनिक वेदार्थचिन्तकोंमें पं० मधुसूदन ओझा,

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, अरविन्द, वासुदेव शरण अग्रवाल, सूर्यकान्त तथा रघुनन्दन शर्मा आदि समादरणीय हैं।

स्वामी करपात्रीजी आधुनिक युगके उन वेदार्थचिन्तकोंमें अग्रगण्य हैं, जिन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों तथा भाष्यकारोंकी सुचिन्तित वेदार्थपरम्पराका दृढ़ताके साथ अनुवर्तन करते हुए प्राच्य एवं पाश्चात्त्य वेदज्ञोंके

मतोंकी सम्यक् समालोचना की है तथा भारतीय मान्य वेदार्थपरम्परामें तदनुकूल अभिनव अर्थोंकी सर्जना की है। स्वामीजी(सन् १९०७—१९८२ ई०)-द्वारा प्रणीत वेदविषयक ग्रन्थोंमें 'वेदका स्वरूप और प्रामाण्य' (दो भागोंमें), 'वेदप्रामाण्य मीमांसा', 'वेदस्वरूपविमर्श', 'वेदार्थपारिजात' (भागद्वय) तथा 'वाजसनेयिमाध्यन्दिन-शुक्लयजुर्वेदसंहिता' (करपात्रभाष्यसमन्वित—दस भागोंमें) मुख्य हैं। ऋग्वेदसंहिता (प्रथम मण्डल)-का भाष्य अभी अप्रकाशित है। वैदिक चिन्तन तथा वेदमूलक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन आपके अन्य प्रमुख ग्रन्थों—'मार्क्सवाद और रामराज्य', 'रामायणमीमांसा', 'चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्श' तथा 'भक्तिसुधा' आदिमें उपलब्ध होता है।

वेदभाष्यके क्षेत्रमें युगान्तर उपस्थित करनेवाले स्वामी दयानन्द सरस्वतीने ब्राह्मण-ग्रन्थोंके वेदत्वका खण्डन किया तथा सनातन संस्कृतिके अङ्गभूत मूर्तिपूजा एवं श्राद्ध-तर्पण आदिमें अविश्वास प्रदर्शित किया। उन्होंने आचार्य सायण, महीधर तथा उव्वट आदिके विपरीत अग्नि, अदिति, इन्द्र, रुद्र एवं विष्णु आदिका यास्कके निरुक्तके आधारपर नूतन यौगिक अर्थ किया और परम्पराद्वारा प्रमाणित याज्ञिक अर्थकी घोर उपेक्षा की।

पाश्चात्त्य वेदज्ञोंने भाषाशास्त्रादिके आधारपर न केवल सनातन वेदार्थ-परम्पराका उपहास किया, अपितु आर्य-अनार्य-सिद्धान्तकी परिकल्पना करके 'वेदमन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि भारतके मूल निवासी नहीं हैं'—इस सिद्धान्तकी दृढ़ प्रतिष्ठापना की। वेदमन्त्रोंके द्रष्टा ऋषियोंको उनका रचयिता मानकर मीमांसादि दर्शनोंके दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित वेदोंके नित्यत्व तथा अपौरुषेयत्वका खण्डन किया।

पूज्यपाद स्वामी करपात्रीजीने स्वामी दयानन्द सरस्वतीका गम्भीरतापूर्वक खण्डन करते हुए ब्राह्मणग्रन्थोंके वेदत्वको सुप्रतिपादित किया तथा मूर्तिपूजा एवं श्राद्ध-तर्पण आदिको वैदिक सिद्धान्तोंके अनुरूप सिद्ध किया। स्वामी दयानन्द सरस्वतीके नूतन वेदार्थको सर्वथा अस्वीकृत करते हुए सनातन परम्पराके अनुरूप वेदार्थको अङ्गीकृत किया तथा अपनी विलक्षण प्रतिभाके बलपर वेदमन्त्रोंके नूतन आध्यात्मिक एवं आधिदैविक अर्थोंको स्पष्ट किया। स्वामीजीका यह सुचिन्तित मत है कि यदि लौकिक वाक्योंके अनेक अर्थ हो सकते हैं, तो अलौकिक वेदवाक्योंके अनेक अर्थ क्यों नहीं? हाँ, वेदमन्त्रोंके अर्थप्रतिपादनमें उनके ऋषि, देवता तथा सूत्रानुसारी विनियोगादिकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। स्वामीजीके विचार मन्तव्य हैं—

'त एते वक्तुरभिप्रायवशादर्थान्यथात्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेष्वर्थेषु इयत्तावधारणमस्ति, महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशेष्यात् अश्वः साधु साधुतरं च वहति, एवमेवेमे वक्तृवैशेष्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति। तत्रैवं सति लक्षणोद्देश्यमात्रमेवैतस्मिन् शास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते। क्वचिच्चाध्यात्माधिदेवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्। तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदेवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः। नात्रापराधोऽस्ति। एकेन विदुषा

'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्' इति श्रीमद्भागवतीयाद्यपद्यस्याष्टोत्तरशतसंख्याकानि व्याख्यानानि कृतानि।

'यदा स्थितिरेतादृशी पौरुषेयेषु वाक्येषु तदा परमेश्वरीयनित्यविज्ञानमयानि वैदिकमन्त्रब्राह्मणवाक्यानि बह्वर्थानि भवेयुरित्यत्र नास्ति मनागपि विप्रतिपत्तिः। तथापि प्रामाणिकानि तानि व्याख्यानानि तात्पर्यानुगुणानि उपपत्तिमन्ति भवेयुस्तदैव ग्राह्याणि नान्यथा। तत्रार्षविनियोगवशादर्थभेदो युक्तः। विनियोगवशादुपक्रमादिलिङ्गवशाच्च यत्र मुख्यं तात्पर्यं निश्चीयते तदविरोधेनैवेतराणि व्याख्यानानि ग्राह्याणि। इतरथा ग्रहणे परस्परविरुद्धार्थवादित्वेनाप्रामाण्यमेव स्याद् वेदानाम्।'

(शुक्लयजुर्वेदसंहिता १।१, करपात्रभाष्य)

यज्ञप्रधान शुक्लयजुर्वेदके मन्त्रोंके याज्ञिक अर्थको पुष्ट करते हुए उसके अविरुद्ध उनके रमणीय आध्यात्मिक अर्थको प्रकाशित करके स्वामीजीने वेदार्थ-प्रकाशनके क्षेत्रमें अद्भुत युगान्तकारी क्रान्ति की है। वेदभाष्यभूमिका 'वेदार्थपारिजात' के साथ शुक्लयजुर्वेदके करपात्रभाष्यके प्रकाशनसे यास्क, शौनक, कात्यायन, बौधायन, आश्वलायन, शांखायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ, भारद्वाज, वैखानस, वाधूल, जैमिनि तथा कौशिक आदि ऋषियों तथा आचार्यों एवं स्कन्दस्वामी, महाभास्कर मिश्र, सायण और उव्वट आदि भाष्यकारोंकी अर्थ-परम्परा पल्लवित एवं पुष्पित हो गयी, आधुनिक प्राच्य एवं पाश्चात्य वेदज्ञोंके मतोंकी समीक्षा हो गयी तथा उनके द्वारा भारतीय धर्म एवं संस्कृतिकी मान्यताओंपर किये गये आक्षेपका यथेष्ट विखण्डन हो गया। इस प्रकार स्वामी करपात्रीजीके द्वारा प्रस्तुत अभिनव वेदार्थचिन्तन सनातन वैदिक धर्म एवं संस्कृतिकी विजयकी उद्घोषणा करता है तथा परवर्ती विद्वानोंको परम्पराके अविरुद्ध अभिनव अर्थोंके चिन्तनकी सत्प्रेरणा प्रदान करता है।

स्वामीजीने याज्ञिक अर्थके अनुरूप किस प्रकार प्रत्येकके आध्यात्मिक आदि अर्थोंकी उद्भावना की है? इसे एक उदाहरणके द्वारा उपस्थित करना अनपेक्षित न होगा। शुक्लयजुर्वेद, प्रथम अध्यायके अन्तिम मन्त्र **'सवितुस्त्वा०'** का याज्ञिक अर्थ निम्नलिखित है—

'हे आज्य! प्रेरक सूर्यदेवताकी प्रेरणासे मैं छिद्ररहित पवित्र तथा सूर्य-किरणोंके द्वारा तुम्हें शुद्ध कर रहा हूँ। उसी तरह हे प्रोक्षणी जल! यज्ञ-निवासभूत सूर्यकी किरणोंसे और छिद्ररहित पवित्रसे मैं तुम्हें प्रेरक देवताकी प्रेरणाके कारण शुद्ध कर रहा हूँ। हे आज्य! तुम शरीरकी कान्तिको देनेवाले तेज हो, प्रकाशक हो तथा अविनश्वर हो। उसी तरह हे आज्य! तुम समस्त देवताओंके स्थान हो, सबको झुकानेवाले हो और देवताओंके द्वारा तिरस्कार न करनेके कारण तुम उनके प्रिय हो, तुम उनके यागके साधन हो, इसलिये मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ।'

इसी मन्त्रका आध्यात्मिक अर्थ कितना अभिराम है। देखिये—'भगवान् वेद आत्माको सम्बोधित कर रहे हैं कि हे जीव! प्रपञ्चके उत्पादक स्वप्रकाश परमेश्वरकी आज्ञामें रहनेवाला मैं तुम्हें संशय-विपर्ययादि दोषोंसे रहित पवित्र ज्ञानसे उत्कृष्टतया पावन कर रहा हूँ। अर्थात् स्वप्रकाशज्ञान सूर्यकी रश्मियोंसे अर्थात् तदनुरूप विचारोंके द्वारा समस्त उपाधियोंका निरसन कर परिशोधन करते हुए तुझमें ब्रह्मतादात्म्य प्राप्त करनेकी योग्यता पैदा कर रहा हूँ। हे जीव! तुम परमात्माका आलम्बन करनेवाले तेजके स्वरूप हो। तुम दीप्तिमान्-ज्योतिष्मान् हो, तुम अमृत हो अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि जो मर्त्य (नश्वर) हैं, उनसे भिन्न हो। तुम धाम हो अर्थात् जिसमें चित्तकी वृत्तिको स्थापित किया जाता है, उस परब्रह्मके स्वरूप अर्थात् सर्वाश्रय-स्वरूप हो। **'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥'**—जहाँ पहुँचकर जीव वापस नहीं आता है, वही मेरा परम धाम है (गीता १५।६), ऐसा भगवद्वचन है। तुम नाम हो अर्थात् समस्त प्राणियोंको जो अपने प्रति झुका लेता है, उसे नाम कहते हैं। अभिप्राय यह कि सर्वाधिष्ठान तुम हो। इन्द्रिय, मन, बुद्धिरूप देवताओं और इन्द्रादि ज्योतियोंके परम प्रेमास्पद ब्रह्म तुम्हीं हो। **'महद् भयं वज्रमुद्यतम्'**, **'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः'** इत्यादि श्रुतियोंने तुम्हें अनाधृष्ट अर्थात् अप्रधृष्य बताया है। देवता भी जिसका यजन करते हैं, वह देव-यजन तुम ही हो' (शुक्लयजु० १।३१, करपात्रभाष्य, हिन्दी अनुवाद, प्रथम खण्ड)।

इस प्रकार अभिनव वेदार्थचिन्तनमें स्वामी

करपात्रीजीका योगदान अतीव विलक्षण है तथा चिरकालतक यह सनातन वेदार्थ-परम्पराके अनुयायियोंका प्रेरक रहेगा। इसके स्वाध्यायसे वेदार्थके गूढ रहस्योंका निश्चित उद्घाटन होगा। वेबर, मैक्समूलर तथा याकोबी आदि पाश्चात्त्य पण्डितोंके मतोंकी युक्तियुक्त समीक्षा करते हुए स्वामीजीने सप्रमाण पुष्ट किया है कि आर्य नामकी कोई जाति नहीं है। वेदमन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि भारतके ही मूल निवासी हैं। मानवकी प्रथम सृष्टि भारतमें हुई है। हम भारतीय अनादिकालसे भारतके निवासी हैं। वेद नित्य तथा अपौरुषेय हैं। भारतमें वैदिक स्वाध्यायकी परम्परा कभी विच्छिन्न नहीं हुई। ऋतम्भरा प्रज्ञासे सम्पन्न सत्यवादी ऋषियोंने वेदमन्त्रोंके किसी कर्ताको स्मरण नहीं किया है। ऐसी स्थितिमें ऋषि युगारम्भमें वेदमन्त्रोंके द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं हैं। वेद तो परमात्माके निःश्वासभूत ही हैं। जिस प्रकार प्रत्येक प्राणीमें निःश्वास सहजरूपमें विद्यमान रहता है, उसी प्रकार परमात्मासे वेदोंकी रचना ई०पू० ३००० से ई०पू० ६००० के मध्य हुई होगी। आर्योंके आदि देश, वेद-रचना-काल तथा वेदोंके प्रतिपाद्यके विषयमें पाश्चात्त्य वेदज्ञ पण्डितोंकी मान्यताएँ किसी भी रूपमें अङ्गीकार्य नहीं हैं।

आधुनिक भारतीय वेदभाष्यकारोंके मतके संदर्भमें स्वामीजीका यह स्पष्ट मत है कि संहिताभागके समान ब्राह्मणभाग भी वेदोंके अपरिहार्य अंश हैं। मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनोंकी वेदसंज्ञा है। वेद धर्म तथा ब्रह्मके प्रतिपादक हैं। वेदोंकी श्रौतसूत्रानुसारी व्याख्या की जानी चाहिये तथा उसके अविरुद्ध अन्य आध्यात्मिक आदि अर्थोंको उद्भावित करना चाहिये। आधुनिक विचारधाराके अनुरूप वेदमन्त्रोंका मनमानी अर्थ करना सर्वथा असंगत है। स्वामीजीके इस महनीय योगदान-हेतु सनातन वेदार्थचिन्तन-परम्परा उनका चिरकृतज्ञ रहेगी।

ॐ देवी ह्येकाग्र आसीत् सैव जगदण्डमसृजत्। कामकलेति विज्ञायते। शृङ्गारकलेति विज्ञायते। तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरसः किन्नरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वं शाक्तमजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किञ्चैतत्प्राणिस्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत्। सैषापरा शक्तिः। सैषा शाम्भवी विद्या कादिविद्येति वा हादिविद्येति वा सादिविद्येति वा रहस्यम्। ओमों वाचि प्रतिष्ठा सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देशकालवस्त्वन्तरसङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः।

(बह्वृचोपनिषद्)

ॐ एकमात्र देवी ही सृष्टिसे पूर्व थीं, उन्होंने ही ब्रह्माण्डकी सृष्टि की, वे कामकलाके नामसे विख्यात हैं। वे ही शृङ्गारकी कला कहलाती हैं। उन्हींसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए, विष्णु प्रकट हुए, रुद्र प्रादुर्भूत हुए, समस्त मरुद्गण उत्पन्न हुए, गानेवाले गन्धर्व, नाचनेवाली अप्सराएँ और वाद्य बजानेवाले किन्नर सब ओर उत्पन्न हुए, भोगसामग्री उत्पन्न हुई, सब कुछ उत्पन्न हुआ, समस्त शक्तिसम्बन्धी पदार्थ उत्पन्न हुए, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज तथा जरायुज—सभी स्थावरजङ्गम प्राणी-मनुष्य उत्पन्न हुए। वे ही अपरा शक्ति हैं। वे ही शाम्भवी विद्या, कादि विद्या अथवा हादि विद्या या सादि विद्या अथवा रहस्यरूपा हैं। वे ॐ अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूपसे वाणीमात्रमें प्रतिष्ठित हैं। वे ही (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन) तीनों पुरों तथा (स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन) तीनों प्रकारके शरीरोंको व्याप्तकर बाहर और भीतर प्रकाश फैलाती हुई देश, काल तथा वस्तुके भीतर असङ्ग रहकर महात्रिपुरसुन्दरी प्रत्यक् चेतना हैं।

वेदके सूक्तोंका तात्त्विक रहस्य

[ज्ञात-अज्ञात समस्त ज्ञान-विज्ञानका मूल स्रोत वेद ही है। वेद ज्ञानरूपी अगाध रत्नाकर हैं। इस महापयोधिकी अमृत-कणिकाओंमें अवगाहन करके मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। वेदोंमें यत्र-तत्र सूक्तरूपी अनेक मुक्तामणियाँ बिखरी पड़ी हैं, जिनमें व्यक्तिकी अभीष्ट-सिद्धिके अमोघ उपादान अन्तर्निहित हैं। निष्ठा एवं आस्थाके द्वारा व्यक्ति अपनी विविध कामनाओंकी पूर्ति इनके माध्यमसे करनेमें समर्थ हैं।

वेदके प्रमुख सूक्तोंके स्वरूप-ज्ञान, प्रयोजन-ज्ञान और तत्त्व-ज्ञानके बिना उनके अध्ययन, जप और तत्प्रतिपादित अनुष्ठानोंमें प्रवृत्ति नहीं होती। स्वरूप-ज्ञान और प्रयोजन-ज्ञान ही प्रवृत्ति-प्रयोजक-ज्ञानके आधार हैं। किसी भी कार्यमें व्यक्तिकी प्रवृत्ति तभी होती है, जब उसे भलीभाँति प्रमाणसम्मतरूपमें यह ज्ञात हो जाय कि 'इस कार्यको करनेमें हमारा कोई विशेष अनिष्ट होनेवाला नहीं है, प्रत्युत इससे हमारे उत्कृष्ट इष्टकी ही सिद्धि होनेवाली है,[१]'—ऐसा ज्ञान होनेपर ही वह उस कार्यमें प्रवृत्त होता है। साथ ही उसे यह भी ज्ञात होना चाहिये कि 'यह मेरी सामर्थ्यसे साध्य है और मैं इसका अधिकारी हूँ[२]।' इन दोनों प्रकारके ज्ञानको ही प्रवृत्ति-प्रयोजक-ज्ञान कहा जाता है तथा प्रवृत्ति-प्रयोजकके विषयके रूपमें विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध एवं अधिकारी—इन चार विषयोंका समावेश होनेसे इन्हें अनुबन्ध-चतुष्टय[३] कहा जाता है।

सूक्त किसे कहते हैं? अथवा सूक्तोंका विषय क्या है? सूक्तोंका प्रयोजन क्या है? सूक्तोंसे विषयका सम्बन्ध क्या है? और इन सूक्तोंका अधिकारी कौन है?—इन सबकी जानकारीकी दृष्टिसे अनुबन्धका प्रतिपादन अनिवार्य है। अतः इस सम्बन्धमें कतिपय आवश्यक बातें संक्षिप्तरूपमें यहाँ प्रस्तुत हैं।

*'सूक्त' शब्द '**सु**' उपसर्गपूर्वक '**वच्**' धातुसे '**क्त**' प्रत्यय करनेपर व्याकृत होता है। 'सूक्त' शब्दका अर्थ हुआ—'अच्छी रीतिसे कहा हुआ'। सूक्तका विशेष्य वैदिक मन्त्र है। इस प्रकार यह शब्द विविध उद्देश्योंको लेकर वेदोंमें कहे गये मन्त्रोंका उद्बोधक होता है। इन मन्त्रोंमें तत्तद् देवोंके स्वरूप एवं प्रभावका वर्णन है। इन्हीं मन्त्रोंमें उन देवी एवं देवोंके ध्यान तथा पूजनका सफल विधान भी निहित है।*

*जो वेदमन्त्रसमूह एकदैवत्य और एकार्थ-प्रतिपादक हो, उसे 'सूक्त' कहा जाता है। बृहद्देवतामें 'सूक्त' शब्दका निर्वचन इस प्रकार किया गया है—'**सम्पूर्णं ऋषिवाक्यं तु सूक्तमित्यभिधीयते**'—अर्थात् सम्पूर्ण ऋषि-वचनोंको 'सूक्त' कहते हैं।*

सामान्यतः सूक्त दो प्रकारके माने जाते हैं—(१) क्षुद्रसूक्त और (२) महासूक्त। जिन सूक्तोंमें कम-से-कम तीन ऋचाएँ हों, उनको 'क्षुद्रसूक्त' कहते हैं तथा जिन सूक्तोंमें तीनसे अधिक ऋचाएँ हों, उन्हें 'महासूक्त' कहते हैं।

बृहद्देवता (१। १६)-में चार प्रकारके सूक्तोंका वर्णन प्राप्त होता है। जैसे—(१) देवतासूक्त, (२) ऋषि-सूक्त, (३) अर्थसूक्त और (४) छन्दःसूक्त—

देवतार्षार्थछन्दस्तो वैविध्यं च प्रजायते। ऋषिसूक्तं तु यावन्ति सूक्तान्येकस्य वै स्तुतिः॥
श्रूयन्ते तानि सर्वाणि ऋषेः सूक्तं हि तस्य तत्। यावदर्थसमाप्तिः स्यादर्थसूक्तं वदन्ति तत्॥
समान छन्दसो याः स्युस्तच्छन्दः सूक्तमुच्यते। वैविध्यमेवं सूक्तानामिह विद्याद्यथायथम्॥

अभिप्राय यह कि किसी एक ही देवताकी स्तुतिमें जितने सूक्त पर्यवसित हों, उन्हें 'देवतासूक्त' तथा एक ही ऋषिकी स्तुतिमें जितने सूक्त प्रवृत्त हों, उन्हें 'ऋषिसूक्त' कहा जाता है। समस्त प्रयोजनोंकी पूर्ति जिस सूक्तसे होती हो, उसे 'अर्थसूक्त' कहते हैं और एक ही प्रकारके छन्द जिन सूक्तोंमें प्रयुक्त हों, उन्हें 'छन्दःसूक्त' कहा जाता है। इस प्रकार मान्यक्रमसे सूक्तोंके भेदोंका परिज्ञान करना चाहिये।

१-इदं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनम्। २-इदं मत्कृतिसाध्यम् इत्याकारक कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानम्।
३-प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्।

इन सूक्तोंके जप एवं पाठकी अत्यधिक महिमा बतायी गयी है। इनके जप-पाठसे सभी प्रकारके आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक क्लेशोंसे मुक्ति मिलती है। व्यक्ति परम पवित्र हो जाता है और अन्तःकरणकी शुद्धि होकर पूर्वजन्मकी स्मृतिको प्राप्त करता हुआ वह जो भी चाहता है, उसे वह मनोऽभिलषित अनायास ही प्राप्त हो जाता है—

एतानि जप्तानि पुनन्ति जन्तूञ्जातिस्मरत्वं लभते यदीच्छेत्॥

(अत्रि ६।५)

अर्थात् इन सूक्तोंका जप करनेपर ये प्राणियोंको पवित्र कर देते हैं, जिससे वह व्यक्ति कुलाग्रणीके रूपमें प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

पाठकोंकी जानकारीके लिये वेदके प्रमुख सूक्तोंका अर्थ एवं परिचय यहाँ प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है। वेदके सभी सूक्त महत्त्वपूर्ण हैं। ज्ञानराशिका प्रत्येक कण उपादेय है, ग्राह्य है; परंतु स्थानाभावके कारण कुछ प्रमुख सूक्तोंकी प्रस्तुति ही सम्भव है। **—सम्पादक]**

पञ्चदेवसूक्त

१-श्रीगणपत्यथर्वशीर्षम्

[अथर्वशीर्षकी परम्परामें 'गणपति अथर्वशीर्ष' का विशेष महत्त्व है। प्रायः प्रत्येक माङ्गलिक कार्योंमें गणपति-पूजनके अनन्तर प्रार्थनारूपमें इसके पाठकी परम्परा है। यह भगवान् गणपतिका वैदिक-स्तवन है। इसका पाठ करनेवाला किसी भी प्रकारके विघ्नसे बाधित न होता हुआ महापातकोंसे मुक्त हो जाता है तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको प्राप्त करता है। इसे यहाँ 'गणपतिसूक्त' के रूपमें सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

ॐ नमस्ते गणपतये। त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं कर्तासि। त्वमेव केवलं धर्तासि। त्वमेव केवलं हर्तासि। त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि। त्वं साक्षादात्मासि नित्यम्॥ १॥

गणपतिको नमस्कार है, तुम्हीं प्रत्यक्ष तत्त्व हो, तुम्हीं केवल कर्ता, तुम्हीं केवल धारणकर्ता और तुम्हीं केवल संहारकर्ता हो, तुम्हीं केवल समस्त विश्वरूप ब्रह्म हो और तुम्हीं साक्षात् नित्य आत्मा हो।

ऋतं वच्मि। सत्यं वच्मि ॥ २॥

यथार्थ कहता हूँ। सत्य कहता हूँ।

अव त्वं माम्। अव वक्तारम्। अव श्रोतारम्। अव दातारम्। अव धातारम्। अव अनूचानम्। अव शिष्यम्। अव पश्चात्तात्। अव पुरस्तात्। अवोत्तरात्तात्। अव दक्षिणात्तात्। अव चोर्ध्वात्तात्। अवाधस्तात्। सर्वतो मां पाहि पाहि समन्तात्॥ ३॥

तुम मेरी रक्षा करो। वक्ताकी रक्षा करो। श्रोताकी रक्षा करो। दाताकी रक्षा करो। धाताकी रक्षा करो। षडङ्ग वेदविद् आचार्यकी रक्षा करो। शिष्यकी रक्षा करो। पीछेसे रक्षा करो। आगेसे रक्षा करो। उत्तर (वाम) भागकी रक्षा करो। दक्षिण भागकी रक्षा करो। ऊपरसे रक्षा करो। नीचेकी ओरसे रक्षा करो। सर्वतोभावसे मेरी रक्षा करो, सब दिशाओंसे मेरी रक्षा करो।

त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मयः। त्वमानन्दमयस्त्वं ब्रह्ममयः। त्वं सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि। त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि॥ ४॥

तुम वाङ्मय हो, तुम चिन्मय हो। तुम आनन्दमय हो, तुम ब्रह्ममय हो। तुम सच्चिदानन्द अद्वितीय परमात्मा हो। तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुम ज्ञानमय हो, विज्ञानमय हो।

सर्वं जगदिदं त्वत्तो जायते। सर्वं जगदिदं त्वत्तस्तिष्ठति। सर्वं जगदिदं त्वयि लयमेष्यति। सर्वं जगदिदं त्वयि प्रत्येति। त्वं भूमिरापोऽनलोऽनिलो नभः। त्वं चत्वारि वाक्पदानि॥ ५॥

यह सारा जगत् तुमसे उत्पन्न होता है। यह सारा जगत् तुमसे सुरक्षित रहता है। यह सारा जगत् तुममें लीन होता है। यह अखिल विश्व तुममें ही प्रतीत होता है। तुम्हीं भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश हो। तुम्हीं परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी चतुर्विध वाक् हो।

त्वं गुणत्रयातीतः। त्वं कालत्रयातीतः। त्वं देहत्रयातीतः। त्वं मूलाधारस्थितोऽसि नित्यम्। त्वं शक्तित्रयात्मकः। त्वां योगिनो ध्यायन्ति नित्यम्। त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वं वायुस्त्वं सूर्यस्त्वं चन्द्रमास्त्वं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्॥ ६॥

तुम सत्त्व-रज-तम—इन तीनों गुणोंसे परे हो। तुम

भूत-भविष्यत्-वर्तमान—इन तीनों कालोंसे परे हो। तुम स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों देहोंसे परे हो। तुम नित्य मूलाधार चक्रमें स्थित हो। तुम प्रभु-शक्ति, उत्साह-शक्ति और मन्त्र-शक्ति—इन तीनों शक्तियोंसे संयुक्त हो। योगिजन नित्य तुम्हारा ध्यान करते हैं। तुम ब्रह्मा हो, तुम विष्णु हो, तुम रुद्र हो, तुम इन्द्र हो, तुम अग्नि हो, तुम वायु हो, तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो, तुम (सगुण) ब्रह्म हो, तुम (निर्गुण) त्रिपाद भूः भुवः स्वः एवं प्रणव हो।

गणादिं पूर्वमुच्चार्य वर्णादिं तदनन्तरम्। अनुस्वारः परतरः। अर्धेन्दुलसितम्। तारेण रुद्धम्। एतत्तव मनुस्वरूपम्। गकारः पूर्वरूपम्। अकारो मध्यमरूपम्। अनुस्वारश्चान्त्यरूपम्। बिन्दुरुत्तररूपम्। नादः सन्धानम्। संहिता सन्धिः। सैषा गणेशविद्या। गणक ऋषिः, निचृद्गायत्री छन्दः। गणपतिर्देवता। ॐ गं गणपतये नमः॥ ७॥

'गण' शब्दके आदि अक्षर गकारका पहले उच्चारण करके अनन्तर आदिवर्ण अकारका उच्चारण करे। उसके बाद अनुस्वार रहे। इस प्रकार अर्धचन्द्रसे पहले शोभित जो '**गं**' है, वह ओंकारके द्वारा रुद्ध हो अर्थात् उसके पहले और पीछे भी ओंकार हो। यही तुम्हारे मन्त्रका स्वरूप (**ॐ गं ॐ**) है। 'गकार' पूर्वरूप है, 'अकार' मध्यमरूप है, 'अनुस्वार' अन्त्यरूप है। 'बिन्दु' उत्तररूप है। 'नाद' संधान है। 'संहिता' संधि है। ऐसी यह गणेशविद्या है। इस विद्याके गणक ऋषि हैं, निचृद् गायत्री छन्द है और गणपति देवता हैं। मन्त्र है—**ॐ गं गणपतये नमः**।

गणेशगायत्रीमन्त्रः—

एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥ ८॥

एकदन्तको हम जानते हैं, वक्रतुण्डका हम ध्यान करते हैं। दन्ती हमको उस ज्ञान और ध्यानमें प्रेरित करें।

ध्यान—

एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमङ्कुशधारिणम्।
रदं च वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम्॥
रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम्।
रक्तगन्धानुलिप्ताङ्गं रक्तपुष्पैः सुपूजितम्॥
भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम्।
आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृतेः पुरुषात्परम्॥
एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां वरः॥ ९॥

गणपतिदेव एकदन्त और चतुर्बाहु हैं। वे अपने चार हाथोंमें पाश, अङ्कुश, दन्त और वरमुद्रा धारण करते हैं। उनके ध्वजमें मूषकका चिह्न है। वे रक्तवर्ण, लम्बोदर, शूर्पकर्ण तथा रक्तवस्त्रधारी हैं। रक्तचन्दनके द्वारा उनके अङ्ग अनुलिप्त हैं। वे रक्तवर्णके पुष्पोंद्वारा सुपूजित हैं। भक्तोंकी कामना पूर्ण करनेवाले, ज्योतिर्मय, जगत्के कारण, अच्युत तथा प्रकृति और पुरुषसे परे विद्यमान वे पुरुषोत्तम सृष्टिके आदिमें आविर्भूत हुए। इनका जो इस प्रकार नित्य ध्यान करता है, वह योगी योगियोंमें श्रेष्ठ है।

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रमथपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्ननाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नमः॥ १०॥

व्रातपतिको नमस्कार, गणपतिको नमस्कार, प्रमथपतिको नमस्कार, लम्बोदर, एकदन्त, विघ्ननाशक, शिवतनय श्रीवरदमूर्तिको नमस्कार है।

फलश्रुति—

एतदथर्वशीर्षं योऽधीते। स ब्रह्मभूयाय कल्पते। स सर्वविघ्नैर्न बाध्यते। स सर्वतः सुखमेधते। स पञ्चमहापापात्प्रमुच्यते। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायं प्रातः प्रयुञ्जानो अपापो भवति। सर्वत्राधीयानोऽपविघ्नो भवति धर्मार्थकाममोक्षं च विन्दति। इदमथर्वशीर्षमशिष्याय न देयम्। यो यदि मोहाद्दास्यति स पापीयान् भवति। सहस्रावर्तनाद् यं यं काममधीते तं तमनेन साधयेत्॥ ११॥

इस अथर्वशीर्षका जो पाठ करता है, वह ब्रह्मीभूत होता है, वह किसी प्रकारके विघ्नोंसे बाधित नहीं होता, वह सर्वतोभावेन सुखी होता है, वह पञ्च महापापोंसे मुक्त हो जाता है। सायंकाल इसका अध्ययन करनेवाला दिनमें किये हुए पापोंका नाश करता है, प्रातःकालमें अध्ययन करनेवाला रात्रिमें किये हुए पापोंका नाश करता है। सायं और प्रातःकाल पाठ करनेवाला निष्पाप हो जाता है। (सदा) सर्वत्र पाठ करनेवाला सभी विघ्नोंसे मुक्त हो जाता है एवं धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको प्राप्त करता है। यह अथर्वशीर्ष उसको नहीं देना चाहिये, जो शिष्य न हो। जो मोहवश अशिष्यको उपदेश देगा, वह महापापी होगा। इसकी एक हजार आवृत्ति करनेसे उपासक जो कामना करेगा, इसके द्वारा उसे सिद्ध कर लेगा।

विविध-प्रयोग—

अनेन गणपतिमभिषिञ्चति स वाग्मी भवति। चतुर्थ्यामनश्नञ्जपति स विद्यावान् भवति। इत्यथर्वणवाक्यम्। ब्रह्माद्यावरणं विद्यात्। न बिभेति कदाचनेति॥ १२॥

जो इस मन्त्रके द्वारा श्रीगणपतिका अभिषेक करता है, वह वाग्मी हो जाता है। जो चतुर्थी तिथिमें उपवास कर जप करता है, वह विद्यावान् (अध्यात्मविद्याविशिष्ट)

हो जाता है। यह अथर्वण-वाक्य है। जो ब्रह्मादि आवरणको जानता है, वह कभी भयभीत नहीं होता।

यज्ञ-प्रयोग—

यो दूर्वाङ्कुरैर्यजति स वैश्रवणोपमो भवति। यो लाजैर्यजति स यशोवान् भवति। स मेधावान् भवति। यो मोदकसहस्त्रेण यजति स वाञ्छितफलमवाप्नोति। यः साज्यसमिद्भिर्यजति स सर्वं लभते स सर्वं लभते॥ १३॥

जो दुर्वाङ्कुरोंद्वारा यजन करता है, वह कुबेरके समान हो जाता है। जो लाजाके द्वारा यजन करता है, वह यशस्वी होता है, वह मेधावान् होता है। जो सहस्र मोदकोंके द्वारा यजन करता है, वह मनोवाञ्छित फल प्राप्त करता है। जो घृताक्त समिधाके द्वारा हवन करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है।

अन्य-प्रयोग—

अष्टौ ब्राह्मणान् सम्यग्ग्राहयित्वा सूर्यवर्चस्वी भवति। सूर्यग्रहे महानद्यां प्रतिमासंनिधौ वा जप्त्वा सिद्धमन्त्रो भवति। महाविघ्नात् प्रमुच्यते। महापापात् प्रमुच्यते। महादोषात् प्रमुच्यते। स सर्वविद् भवति। स सर्वविद् भवति। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥ १४॥

जो आठ ब्राह्मणोंको इस उपनिषद्का सम्यक् ग्रहण करा देता है, वह सूर्यके समान तेजःसम्पन्न होता है। सूर्यग्रहणके समय महानदीमें अथवा प्रतिमाके निकट इस उपनिषद्का जप करके साधक सिद्धमन्त्र हो जाता है। सम्पूर्ण महाविघ्नोंसे मुक्त हो जाता है। महापापोंसे मुक्त हो जाता है। महादोषोंसे मुक्त हो जाता है। वह सर्वविद् हो जाता है। वह सर्वविद् हो जाता है—जो इस प्रकार जानता है।

२-(क) विष्णु-सूक्त

[इस सूक्तके द्रष्टा दीर्घतमा ऋषि हैं। विष्णुके विविध रूप, कर्म हैं। अद्वितीय परमेश्वररूपमें उन्हें 'महाविष्णु' कहा जाता है। यज्ञ एवं जलोत्पादक सूर्य भी उन्हींका रूप है। वे पुरातन हैं, जगत्स्रष्टा हैं। नित्य-नूतन एवं चिर-सुन्दर हैं। संसारको आकर्षित करनेवाली भगवती लक्ष्मी उनकी भार्या हैं। उनके नाम एवं लीलाके संकीर्तनसे परमपदकी प्राप्ति होती है, जो मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य है। जो व्यक्ति उनकी ओर उन्मुख होता है, उसकी ओर वे भी उन्मुख होते हैं और मनोवाञ्छित फल प्रदानकर अनुगृहीत करते हैं। इस सूक्तको यहाँ अर्थसहित प्रस्तुत किया जा रहा है—]

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहा॥ १॥

सर्वव्यापी परमात्मा विष्णुने इस जगत्को धारण किया है और वे ही पहले भूमि, दूसरे अन्तरिक्ष और तीसरे द्युलोकमें तीन पदोंको स्थापित करते हैं अर्थात् सर्वत्र व्याप्त हैं। इन विष्णुदेवमें ही समस्त विश्व व्याप्त है। हम उनके निमित्त हवि प्रदान करते हैं।

इरावती धेनुमती हि भूतꣳसूयवसिनी मनवे दशस्या।
व्यस्कभ्नारोदसीविष्णवेतेदाधर्थपृथिवीमभितोमयूखैः स्वाहा॥ २॥

यह पृथ्वी सबके कल्याणार्थ अन्न और गायसे युक्त, खाद्य-पदार्थ देनेवाली तथा हितके साधनोंको देनेवाली है। हे विष्णुदेव! आपने इस पृथ्वीको अपनी किरणोंके द्वारा सब ओर अच्छी प्रकारसे धारण कर रखा है। हम आपके लिये आहुति प्रदान करते हैं।

देवश्रुतौ देवेष्वा घोषतं प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्। स्वं गोष्ठमा वदतं देवी दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः॥ ३॥

आप देवसभामें प्रसिद्ध विद्वानोंमें यह कहें। इस यज्ञके समर्थनमें पूर्व दिशामें जाकर यज्ञको उच्च बनायें, अधःपतित न करें। देवस्थानमें रहनेवाले अपनी गोशालामें निवास करें। जबतक आयु है तबतक धनादिसे सम्पन्न बनायें। संततियोंपर अनुग्रह करें। इस सुखप्रद स्थानमें आप सदैव निवास करें।

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजाꣳसि।
योअस्कभायदुत्तरꣳ सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा॥ ४॥

जिन सर्वव्यापी परमात्मा विष्णुने अपने सामर्थ्यसे इस पृथ्वीसहित अन्तरिक्ष, द्युलोकादि स्थानोंका निर्माण किया है तथा जो तीनों लोकोंमें अपने पराक्रमसे प्रशंसित होकर उच्चतम स्थानको शोभायमान करते हैं, उन सर्वव्यापी परमात्माके किन-किन यशोंका वर्णन करें।

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या
महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा
प्र यच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा॥ ५॥

हे विष्णु! आप अपने अनुग्रहसे समस्त जगत्को सुखोंसे पूर्ण कीजिये और भूमिसे उत्पन्न पदार्थ और अन्तरिक्षसे प्राप्त द्रव्योंसे सभी सुख निश्चय ही प्रदान करें। हे सर्वान्तर्यामी प्रभु! दोनों हाथोंसे समस्त सुखोंको

प्रदान करनेवाले विष्णु! हम आपको सुपूजित करते हैं।

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥ ६॥

भयंकर सिंहके समान पर्वतोंमें विचरण करनेवाले सर्वव्यापी देव विष्णु! आप अतुलित पराक्रमके कारण स्तुति-योग्य हैं। सर्वव्यापक विष्णुदेवके तीनों स्थानोंमें सम्पूर्ण प्राणी निवास करते हैं।

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि। वैष्णवमसि विष्णवे त्वा॥ ७॥

इस विश्वमें व्यापक देव विष्णुका प्रकाश निरन्तर फैल रहा है। विष्णुके द्वारा ही यह विश्व स्थिर है तथा इनसे ही इस जगत्का विस्तार हुआ है और कण-कणमें ये ही प्रभु व्याप्त हैं। जगत्की उत्पत्ति करनेवाले हे प्रभु! हम आपकी अर्चना करते हैं।

२-(ख) नारायण-सूक्त

['नारायण-सूक्त' के ऋषि नारायण, देवता आदित्य-पुरुष और छन्द भूरिगार्षी त्रिष्टुप्, निच्यृदार्षी त्रिष्टुप् एवं आर्ष्यनुष्टुप् है। इस सूक्तमें केवल छः मन्त्र हैं। यह 'उत्तर नारायण-सूक्त' के नामसे प्रसिद्ध है। इसमें सृष्टिके विकासके साथ ही व्यक्तिके कर्तव्यका बोध हो जाता है, साथ ही आदिपुरुषकी महिमा अभिव्यक्त होती है। इसकी विशेषता यह है कि इसके मन्त्रोंके ज्ञाताके वशमें सभी देवता हो जाते हैं। इस सूक्तको अनुवादसहित यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—]

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥ १॥

पृथ्वी आदिकी सृष्टिके लिये अपने प्रेमके कारण वह पुरुष जल आदिसे परिपूर्ण होकर पूर्व ही छा गया। उस पुरुषके रूपको धारण करता हुआ सूर्य उदित होता है, जिसका मनुष्यके लिये प्रधान देवत्व है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ २॥

मैं अज्ञानान्धकारसे परे आदित्य-प्रतीकात्मक उस सर्वोत्कृष्ट पुरुषको जानता हूँ। मात्र उसे जानकर ही मृत्युका अतिक्रमण होता है। शरणके लिये अन्य कोई मार्ग नहीं।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ ३॥

वह परमात्मा आभ्यन्तरमें विराजमान है। उत्पन्न न होनेवाला होकर भी नाना प्रकारसे उत्पन्न होता है। संयमी पुरुष ही उसके स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं। सम्पूर्ण भूत उसीमें सन्निविष्ट हैं।

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥ ४॥

जो देवताओंके लिये सूर्यरूपसे प्रकाशित होता है, जो देवताओंका कार्यसाधन करनेवाला है और जो देवताओंसे पूर्व स्वयं भूत है, उस देदीप्यमान ब्रह्मको नमस्कार है।

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे॥ ५॥

उस शोभन ब्रह्मको प्रथम प्रकट करते हुए देवता बोले—जो ब्राह्मण तुम्हें इस स्वरूपमें जाने, देवता उसके वशमें हों।

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे
नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुं म इषाण
सर्वलोकं म इषाण॥ ६॥

समृद्धि और सौन्दर्य तुम्हारी पत्नीके रूपमें हैं, दिन तथा रात तुम्हारे अगल-बगल हैं, अनन्त नक्षत्र तुम्हारे रूप हैं, द्यावा-पृथ्वी तुम्हारे मुखस्थानीय हैं। इच्छा करते समय परलोककी इच्छा करो। मैं सर्वलोकात्मक हो जाऊँ—ऐसी इच्छा करो,ऐसी इच्छा करो।

३-(क) श्री-सूक्त

[इस सूक्तके आनन्दकर्दम चिक्लीत जातवेद ऋषि, 'श्री' देवता और छन्द अनुष्टुप्, प्रस्तार पंक्ति एवं त्रिष्टुप् हैं। देवीके अर्चनमें 'श्री-सूक्त' की अतिशय मान्यता है। विशेषकर भगवती लक्ष्मीको प्रसन्न करनेके लिये 'श्री-सूक्त' के पाठकी विशेष महिमा बतायी गयी है। ऐश्वर्य एवं समृद्धिकी कामनासे इस सूक्तके मन्त्रोंका जप तथा इन मन्त्रोंसे हवन, पूजन अमोघ अभीष्टदायक होता है—]

हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम्।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह॥ १॥

हे जातवेदा (सर्वज्ञ) अग्निदेव! सुवर्ण-जैसी रंगवाली, किञ्चित् हरितवर्णविशिष्टा, सोने और चाँदीके हार

पहननेवाली, चन्द्रवत् प्रसन्नकान्ति, स्वर्णमयी लक्ष्मीदेवीको मेरे लिये आवाहन करो।

तां म आ वह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम्॥ २॥

अग्ने! उन लक्ष्मीदेवीको, जिनका कभी विनाश नहीं होता तथा जिनके आगमनसे मैं सोना, गौ, घोड़े तथा पुत्रादिको प्राप्त करूँगा, मेरे लिये आवाहन करो।

अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम्।
श्रियं देवीमुप ह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम्॥ ३॥

जिन देवीके आगे घोड़े तथा उनके पीछे रथ रहते हैं तथा जो हस्तिनादको सुनकर प्रमुदित होती हैं, उन्हीं श्रीदेवीका मैं आवाहन करता हूँ; लक्ष्मीदेवी मुझे प्राप्त हों।

कां सोस्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां
ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम्।
पद्मेस्थितां पद्मवर्णां
तामिहोप ह्वये श्रियम्॥ ४॥

जो साक्षात् ब्रह्मरूपा, मन्द-मन्द मुसकरानेवाली, सोनेके आवरणसे आवृत, दयार्द्र, तेजोमयी, पूर्णकामा, भक्तानुग्रहकारिणी, कमलके आसनपर विराजमान तथा पद्मवर्णा हैं, उन लक्ष्मीदेवीका मैं यहाँ आवाहन करता हूँ।

चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं
श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम्।
तां पद्मिनीमीं शरणं प्र पद्ये
अलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणे॥ ५॥

मैं चन्द्रके समान शुभ्र कान्तिवाली, सुन्दर द्युतिशालिनी, यशसे दीप्तिमती, स्वर्गलोकमें देवगणोंके द्वारा पूजिता, उदारशीला, पद्महस्ता लक्ष्मीदेवीकी शरण ग्रहण करता हूँ। मेरा दारिद्र्य दूर हो जाय। मैं आपको शरण्यके रूपमें वरण करता हूँ।

आदित्यवर्णे तपसोऽधि जातो
वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्वः।
तस्य फलानि तपसा नुदन्तु
या अन्तरा याश्च बाह्या अलक्ष्मीः॥ ६॥

हे सूर्यके समान प्रकाशस्वरूपे! तुम्हारे ही तपसे वृक्षोंमें श्रेष्ठ मङ्गलमय बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ। उसके फल हमारे बाहरी और भीतरी दारिद्र्यको दूर करें।

उपैतु मां देवसखः
कीर्तिश्च मणिना सह।
प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन्
कीर्तिमृद्धिं ददातु मे॥ ७॥

देवि! देवसखा कुबेर और उनके मित्र मणिभद्र तथा दक्ष प्रजापतिकी कन्या कीर्ति मुझे प्राप्त हों अर्थात् मुझे धन और यशकी प्राप्ति हो। मैं इस राष्ट्रमें—देशमें उत्पन्न हुआ हूँ, मुझे कीर्ति और ऋद्धि प्रदान करें।

क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्।
अभूतिमसमृद्धिं च सर्वां निर्णुद मे गृहात्॥ ८॥

लक्ष्मीकी ज्येष्ठ बहिन अलक्ष्मी (दरिद्रताकी अधिष्ठात्री देवी)-का, जो क्षुधा और पिपासासे मलिन—क्षीणकाय रहती हैं, मैं नाश चाहता हूँ। देवि! मेरे घरसे सब प्रकारके दारिद्र्य और अमङ्गलको दूर करो।

गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोप ह्वये श्रियम्॥ ९॥

जो दुराधर्षा तथा नित्यपुष्टा हैं तथा गोबरसे (पशुओंसे) युक्त गन्धगुणवती पृथ्वी ही जिनका स्वरूप है, सब भूतोंकी स्वामिनी उन लक्ष्मीदेवीका मैं यहाँ—अपने घरमें आवाहन करता हूँ।

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि।
पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः॥ १०॥

मनकी कामनाएँ और संकल्पकी सिद्धि एवं वाणीकी सत्यता मुझे प्राप्त हों; गौ आदि पशुओं एवं विभिन्न अन्नों—भोग्य पदार्थोंके रूपमें तथा यशके रूपमें श्रीदेवी हमारे यहाँ आगमन करें।

कर्दमेन प्रजा भूता मयि सम्भव कर्दम।
श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम्॥ ११॥

लक्ष्मीके पुत्र कर्दमकी हम संतान हैं। कर्दम ऋषि! आप हमारे यहाँ उत्पन्न हों तथा पद्मोंकी माला धारण करनेवाली माता लक्ष्मीदेवीको हमारे कुलमें स्थापित करें।

आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे।
नि च देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले॥ १२॥

जल स्निग्ध पदार्थोंकी सृष्टि करे। लक्ष्मीपुत्र चिक्लीत! आप भी मेरे घरमें वास करें और माता लक्ष्मीदेवीका मेरे कुलमें निवास करायें।

आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिङ्गलां पद्ममालिनीम्।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह॥ १३॥

अग्ने! आर्द्रस्वभावा, कमलहस्ता, पुष्टिरूपा, पीतवर्णा, पद्मोंकी माला धारण करनेवाली, चन्द्रमाके समान शुभ्र कान्तिसे युक्त, स्वर्णमयी लक्ष्मीदेवीका मेरे यहाँ आवाहन करें।

आर्द्रां यः करिणीं यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम्।
सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह॥ १४॥

अग्ने! जो दुष्टोंका निग्रह करनेवाली होनेपर भी

कोमलस्वभावकी हैं, जो मङ्गलदायिनी, अवलम्बन प्रदान करनेवाली यष्टिरूपा, सुन्दर वर्णवाली, सुवर्णमालाधारिणी, सूर्यस्वरूपा तथा हिरण्यमयी हैं, उन लक्ष्मीदेवीका मेरे लिये आवाहन करें।

तां म आ वह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्।
यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गावो दास्योऽश्वान् विन्देयं पुरुषानहम्॥ १५॥

अग्ने! कभी नष्ट न होनेवाली उन लक्ष्मीदेवीका मेरे लिये आवाहन करें, जिनके आगमनसे बहुत-सा धन, गौएँ, दासियाँ, अश्व और पुत्रादिको हम प्राप्त करें।

यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम्।
सूक्तं पञ्चदशर्चं च श्रीकामः सततं जपेत्॥ १६॥

जिसे लक्ष्मीकी कामना हो, वह प्रतिदिन पवित्र और संयमशील होकर अग्निमें घीकी आहुतियाँ दे तथा इन पंद्रह ऋचाओंवाले 'श्री-सूक्त' का निरन्तर पाठ करे'।

३-(ख) देवी-सूक्त

[भगवती पराम्बाके अर्चन-पूजनके साथ 'देवी-सूक्त' के पाठकी विशेष महिमा है। ऋग्वेदके दशम मण्डलका १२५वाँ सूक्त 'वाक्-सूक्त' है। इसे आत्मसूक्त भी कहते हैं। इसमें अम्भृण ऋषिकी पुत्री वाक् ब्रह्मसाक्षात्कारसे सम्पन्न होकर अपनी सर्वात्मदृष्टिको अभिव्यक्त कर रही हैं। ब्रह्मविद्की वाणी ब्रह्मसे तादात्म्यापन्न होकर अपने-आपको ही सर्वात्माके रूपमें वर्णन कर रही हैं। ये ब्रह्मस्वरूपा वाग्देवी ब्रह्मानुभवी जीवन्मुक्त महापुरुषकी ब्रह्ममयी प्रज्ञा ही हैं। इस सूक्तमें प्रतिपाद्य-प्रतिपादकका ऐकात्म्य सम्बन्ध दर्शाया गया है। यह सूक्त सानुवाद यहाँ प्रस्तुत है—]

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ १॥

'ब्रह्मस्वरूपा मैं रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वदेवताके रूपमें विचरण करती हूँ अर्थात् मैं ही उन-उन रूपोंमें भास रही हूँ। मैं ही ब्रह्मरूपसे मित्र और वरुण दोनोंको धारण करती हूँ। मैं ही इन्द्र और अग्निका आधार हूँ। मैं ही दोनों अश्विनीकुमारोंका भी धारण-पोषण करती हूँ।'

सायणाचार्यने इस मन्त्रकी व्याख्यामें लिखा है कि वाग्देवीका अभिप्राय यह है कि यह सम्पूर्ण जगत् सीपमें चाँदीके समान अध्यस्त होकर आत्मामें विभासित हो रहा है। माया जगत्के रूपमें अधिष्ठानको ही दिखा रही है। यह सब मायाका ही विवर्त है। उसी मायाका आधार होनेके कारण ब्रह्मसे ही सबकी उत्पत्ति संगत होती है।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥ २॥

'मैं ही शत्रुनाशक, कामादि दोष-निवर्तक, परमाह्लाददायी, यज्ञगत सोम, चन्द्रमा, मन अथवा शिवका भरण-पोषण करती हूँ। मैं ही त्वष्टा, पूषा और भगको भी धारण करती हूँ। जो यजमान यज्ञमें सोमाभिषवके द्वारा देवताओंको तृप्त करनेके लिये हाथमें हविष्य लेकर हवन करता है, उसे लोक-परलोकमें सुखकारी फल देनेवाली मैं ही हूँ।'

मूल मन्त्रमें 'द्रविण' शब्द है। इसका अर्थ है—कर्मफल। कर्मफलदाता मायाधिपति ईश्वर हैं। वेदान्त-दर्शनके तीसरे अध्यायके दूसरे पादमें यह निरूपण है कि ब्रह्म ही फलदाता है। भगवान् शंकराचार्यने अपने भाष्यमें इस अभिप्रायका युक्तियुक्त समर्थन किया है। यह ईश्वर-ब्रह्म अपनी आत्मा ही है।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ ३॥

'मैं ही राष्ट्री अर्थात् सम्पूर्ण जगत्की ईश्वरी हूँ। मैं उपासकोंको उनके अभीष्ट वसु—धन प्राप्त करानेवाली हूँ। जिज्ञासुओंके साक्षात् कर्तव्य परब्रह्मको अपनी आत्माके रूपमें मैंने अनुभव कर लिया है। जिनके लिये यज्ञ किये जाते हैं, उनमें मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ। सम्पूर्ण प्रपञ्चके रूपमें मैं ही अनेक-सी होकर विराजमान हूँ। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरमें जीवरूपमें मैं अपने-आपको ही प्रविष्ट कर रही हूँ। भिन्न-भिन्न देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें जो कुछ हो रहा है, किया जा रहा है, वह सब मुझमें मेरे लिये ही किया जा रहा है। सम्पूर्ण विश्वके रूपमें अवस्थित होनेके कारण जो कोई जो कुछ भी करता है, वह सब मैं ही हूँ।'

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥ ४॥

'जो कोई भोग भोगता है, वह मुझ भोक्त्रीकी शक्तिसे ही भोगता है। जो देखता है, जो श्वासोच्छ्वासरूप व्यापार करता है और जो कही हुई बात सुनता है, वह भी मुझसे ही। जो इस प्रकार अन्तर्यामिरूपसे स्थित मुझे नहीं जानते, वे अज्ञानी दीन, हीन, क्षीण हो जाते हैं। मेरे प्यारे सखा! मेरी बात सुनो—'मैं तुम्हारे लिये उस ब्रह्मात्मक वस्तुका उपदेश करती हूँ, जो श्रद्धा-साधनसे उपलब्ध होती है।'

'**श्रद्धि**' शब्दका अर्थ श्रद्धा है। '**श्रत्**' पदमें उपसर्गवत्

वृत्ति होनेके कारण '**कि**' प्रत्यय हो जाता है। '**व**' प्रत्यय मत्वर्थीय है। इसका अर्थ हुआ परब्रह्म अर्थात् परमात्माका साक्षात्कार श्रद्धा—प्रयत्नसे होता है। श्रद्धा आत्मबल है और यह वैराग्यसे स्थिर होती है। अपनी बुद्धिसे ढूढ़नेपर जो वस्तु सौ वर्षोंमें भी प्राप्त नहीं हो सकती, वह श्रद्धासे क्षणभरमें मिल जाती है। यह प्रज्ञाकी अन्धता नहीं है, जिज्ञासुओंका शोध और अनुभवियोंके अनुभवसे लाभ उठानेकी वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥ ५॥

'मैं स्वयं ही इस ब्रह्मात्मक वस्तुका उपदेश करती हूँ। देवताओं और मनुष्योंने भी इसीका सेवन किया है। मैं स्वयं ब्रह्मा हूँ। मैं जिसकी रक्षा करना चाहती हूँ, उसे सर्वश्रेष्ठ बना देती हूँ, मैं चाहूँ तो उसे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा बना दूँ, अतीन्द्रियार्थ ऋषि बना दूँ और उसे बृहस्पतिके समान सुमेधा बना दूँ। मैं स्वयं अपने स्वरूप ब्रह्मभिन्न आत्माका गान कर रही हूँ।'

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥ ६॥

'मैं ही ब्रह्मज्ञानियोंके द्वेषी हिंसारत त्रिपुरवासी त्रिगुणाभिमानी अहंकार-असुरका वध करनेके लिये संहारकारी रुद्रके धनुषपर ज्या (प्रत्यञ्चा) चढ़ाती हूँ। मैं ही अपने जिज्ञासु स्तोताओंके विरोधी शत्रुओंके साथ संग्राम करके उन्हें पराजित करती हूँ। मैं ही द्युलोक और पृथ्वीमें अन्तर्यामिरूपसे प्रविष्ट हूँ।'

इस मन्त्रमें भगवान् रुद्रद्वारा त्रिपुरासुरकी विजयकी कथा बीजरूपसे विद्यमान है।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥ ७॥

'इस विश्वके शिरोभागपर विराजमान द्युलोक अथवा आदित्यरूप पिताका प्रसव मैं ही करती रहती हूँ। उस कारणमें ही तन्तुओंमें पटके समान आकाशादि सम्पूर्ण कार्य दीख रहा है। दिव्य कारण-वारिरूप समुद्र, जिसमें सम्पूर्ण प्राणियों एवं पदार्थोंका उदय-विलय होता रहता है, वह ब्रह्मचैतन्य ही मेरा निवासस्थान है। यही कारण है कि मैं सम्पूर्ण भूतोंमें अनुप्रविष्ट होकर रहती हूँ और अपने कारणभूत मायात्मक स्वशरीरसे सम्पूर्ण दृश्य कार्यका स्पर्श करती हूँ।'

सायणने 'पिता' शब्दके दो अर्थ किये हैं—द्युलोक और आकाश। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें भी उल्लेख है—'**द्यौः पिता**'। तैत्तिरीय आरण्यकमें भी आत्मासे आकाशकी उत्पत्तिका वर्णन है। वेङ्कटनाथने पिताका अर्थ 'आदित्य' किया है।

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव॥ ८॥

'जैसे वायु किसी दूसरेसे प्रेरित न होनेपर भी स्वयं प्रवाहित होता है, उसी प्रकार मैं ही किसी दूसरेके द्वारा प्रेरित और अधिष्ठित न होनेपर भी स्वयं ही कारणरूपसे सम्पूर्ण भूतरूप कार्योंका आरम्भ करती हूँ। मैं आकाशसे भी परे हूँ और इस पृथ्वीसे भी। अभिप्राय यह है कि मैं सम्पूर्ण विकारोंसे परे, असङ्ग, उदासीन, कूटस्थ ब्रह्मचैतन्य हूँ। अपनी महिमासे सम्पूर्ण जगत्के रूपमें मैं ही बरत रही हूँ, रह रही हूँ।'

४-रुद्र-सूक्त

[भूत-भावन भगवान् सदाशिवकी प्रसन्नताके लिये इस सूक्तके पाठका विशेष महत्त्व बताया गया है। पूजामें भगवान् शंकरको सबसे प्रिय जलधारा है। इसलिये भगवान् शिवके पूजनमें रुद्राभिषेककी परम्परा है और अभिषेकमें इस 'रुद्र-सूक्त' की ही प्रमुखता है। रुद्राभिषेकके अन्तर्गत रुद्राष्टाध्यायीके पाठमें ग्यारह बार इस सूक्तकी आवृत्ति करनेपर पूर्ण रुद्राभिषेक माना जाता है। फलकी दृष्टिसे इसका अत्यधिक महत्त्व है। यह 'रुद्र-सूक्त' आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक—त्रिविध तापोंसे मुक्त कराने तथा अमृतत्वकी ओर अग्रसर करनेका अन्यतम उपाय है—]

नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः।
बाहुभ्यामुत ते नमः॥ १॥

हे रुद्र! आपको नमस्कार है, आपके क्रोधको नमस्कार है, आपके बाणको नमस्कार है और आपकी भुजाओंको नमस्कार है।

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि॥ २॥

हे गिरिशन्त! अर्थात् पर्वतपर स्थित होकर सुखका विस्तार करनेवाले रुद्र! हमें अपनी उस मङ्गलमयी मूर्तिद्वारा अवलोकन करें, जो सौम्य होनेके कारण केवल पुण्यका फल प्रदान करनेवाली है।

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिꣳसीः पुरुषं जगत्॥ ३॥

हे गिरिशन्त! हे गिरीश! अर्थात् पर्वतपर स्थित होकर त्राण करनेवाले आप प्रलय करनेके लिये जिस बाणको हाथमें धारण करते हैं, उसे सौम्य कर दें और जगत्के

जीवोंकी हिंसा न करें।

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मꣳ सुमना असत्॥ ४॥

हे गिरीश! हम आपको प्राप्त करनेके लिये मङ्गलमय स्तोत्रसे आपकी प्रार्थना करते हैं। जिससे हमारा यह सम्पूर्ण जगत् रोगरहित एवं प्रसन्न हो।

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परा सुव॥ ५॥

शास्त्रसम्मत वचन बोलनेवाले, देवहितकारी, परम रोगनाशक, प्रथम पूज्य रुद्र हमें श्रेष्ठ कहें और सर्पादिका विनाश करते हुए सभी अधोगामिनी राक्षसियों आदिको भी हमसे दूर करें।

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनꣳ रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाꣳ हेड ईमहे॥ ६॥

ये जो ताम्र, अरुण और पिङ्गल-वर्णवाले मङ्गलमय सूर्यरूप रुद्र हैं और जिनके चारों ओर ये सहस्रों किरणोंके रूपमें रुद्र हैं, हम भक्तिद्वारा उनके क्रोधका निवारण करते हैं।

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।
उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः स दृष्टो मृडयाति नः॥ ७॥

ये जो विशेष रक्तवर्ण सूर्यरूपी नीलकण्ठ रुद्र गतिमान् हैं, जिन्हें गोप देखते हैं, जल-वाहिकाएँ देखती हैं, वह हमारे द्वारा देखे जानेपर हमारा मङ्गल करें।

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः॥ ८॥

सेचनकारी सहस्रों नेत्रवाले पर्जन्यरूप नीलकण्ठ रुद्रको हमारा नमस्कार है। इनके जो अनुचर हैं, उन्हें भी हमारा नमस्कार है।

प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम्।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप॥ ९॥

हे भगवन्! आपके धनुषकी कोटियोंके मध्य यह जो ज्या है, उसे आप खोल दें तथा आपके हाथमें ये जो बाण हैं, उन्हें आप हटा दें और इस प्रकार हमारे लिये सौम्य हो जायँ।

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ उत।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः॥ १०॥

जटाधारी रुद्रका धनुष ज्यारहित, तूणीर फलकहीन बाणरहित, बाण दर्शनरहित और म्यान खड्गरहित हो जायँ।

या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः।
तयाऽस्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परि भुज॥ ११॥

हे संतृप्त करनेवाले रुद्र! आपके हाथमें जो आयुध है और आपका जो धनुष है, उपद्रवरहित उस आयुध या धनुषद्वारा आप हमारी सब ओरसे रक्षा करें।

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः।
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्नि धेहि तम्॥ १२॥

आप धनुर्धारीका यह जो आयुध है, वह हमारी रक्षा करनेके लिये हमें चारों ओरसे घेरे रहे, किंतु यह जो आपका तरकस है, उसे आप हमसे दूर रखें।

अवतत्य धनुष्ट्वꣳ सहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव॥ १३॥

हे सहस्रों नेत्रवाले, सैकड़ों तरकसवाले रुद्र! आप अपने धनुषको ज्यारहित और बाणोंके मुखोंको फलकरहित करके हमारे लिये सुप्रसन्न एवं कल्याणमय हो जायँ।

नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे।
उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने॥ १४॥

हे रुद्र! धनुषपर न चढ़ाये गये आपके बाणको नमस्कार है, आपकी दोनों भुजाओंको नमस्कार है एवं शत्रु-संहारक आपके धनुषको नमस्कार है।

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥ १५॥

हे रुद्र! हमारे बड़ोंको मत मारो। हमारे बच्चोंको मत मारो। हमारे तरुणोंको मत मारो। हमारे भ्रूणोंको मत मारो। हमारे पिता और माताकी हिंसा न करो। हमारे प्रियजनोंकी हिंसा न करो। हमारे पुत्र-पौत्रादिकोंकी हिंसा न करो।

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे॥ १६॥

हे रुद्र! हमारे पुत्रों और पौत्रोंपर क्रोध न करें। हमारी गायोंपर तथा हमारे घोड़ोंपर क्रोध न करें। हमारे क्रोधयुक्त वीरोंको न मारें। हम हविष्य लिये हुए निरन्तर यज्ञार्थ आपका आवाहन करते हैं।

५-(क) सूर्य-सूक्त

[इस ऋग्वेदीय 'सूर्य-सूक्त' (१। ११५)-के ऋषि 'कुत्स आङ्गिरस' हैं, देवता सूर्य हैं और छन्द त्रिष्टुप् है। इस सूक्तके देवता सूर्य सम्पूर्ण विश्वके प्रकाशक ज्योतिर्मय नेत्र हैं, जगत्की आत्मा हैं और प्राणिमात्रको सत्कर्मोंमें प्रेरित करनेवाले देव हैं। देवमण्डलमें इनका अन्यतम एवं विशिष्ट स्थान इसलिये भी है, क्योंकि ये जीवमात्रके लिये प्रत्यक्षगोचर हैं। ये सभीके लिये आरोग्य प्रदान करनेवाले एवं सर्वविध कल्याण करनेवाले हैं; अतः समस्त प्राणधारियोंके लिये स्तवनीय हैं, वन्दनीय हैं—]

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ १॥

प्रकाशमान रश्मियोंका समूह अथवा राशि-राशि देवगण सूर्यमण्डलके रूपमें उदित हो रहे हैं। ये मित्र, वरुण, अग्नि और सम्पूर्ण विश्वके प्रकाशक ज्योतिर्मय नेत्र हैं। इन्होंने उदित होकर द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्षको अपने देदीप्यमान तेजसे सर्वतः परिपूर्ण कर दिया है। इस मण्डलमें जो सूर्य हैं, वे अन्तर्यामी होनेके कारण सबके प्रेरक परमात्मा हैं तथा जङ्गम एवं स्थावर सृष्टिकी आत्मा हैं।

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्त्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम्॥ २॥

सूर्य गुणमयी एवं प्रकाशमान उषादेवीके पीछे-पीछे चलते हैं, जैसे कोई मनुष्य सर्वाङ्ग-सुन्दरी युवतीका अनुगमन करे! जब सुन्दरी उषा प्रकट होती है, तब प्रकाशके देवता सूर्यकी आराधना करनेके लिये कर्मनिष्ठ मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्मका सम्पादन करते हैं। सूर्य कल्याणरूप हैं और उनकी आराधनासे—कर्तव्य-कर्मके पालनसे कल्याणकी प्राप्ति होती है।

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः॥ ३॥

सूर्यका यह रश्मि-मण्डल अश्वके समान उन्हें सर्वत्र पहुँचानेवाला, चित्र-विचित्र एवं कल्याणरूप है। यह प्रतिदिन तथा अपने पथपर ही चलता है एवं अर्चनीय तथा वन्दनीय है। यह सबको नमनकी प्रेरणा देता है और स्वयं द्युलोकके ऊपर निवास करता है। यह तत्काल द्युलोक और पृथ्वीका परिभ्रमण कर लेता है।

तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥ ४॥

सर्वान्तर्यामी प्रेरक सूर्यका यह ईश्वरत्व और महत्त्व है कि वे प्रारम्भ किये हुए, किंतु अपरिसमाप्त कृत्यादि कर्मको ज्यों-का-त्यों छोड़कर अस्ताचल जाते समय अपनी किरणोंको इस लोकसे अपने-आपमें समेट लेते हैं। साथ ही उसी समय अपने रसाकर्षी किरणों और घोड़ोंको एक स्थानसे खींचकर दूसरे स्थानपर नियुक्त कर देते हैं। उसी समय रात्रि अन्धकारके आवरणसे सबको आवृत कर देती है।

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥ ५॥

प्रेरक सूर्य प्रातःकाल मित्र, वरुण और समग्र सृष्टिको सामनेसे प्रकाशित करनेके लिये प्राचीके आकाशीय क्षितिजमें अपना प्रकाशक रूप प्रकट करते हैं। इनकी रसभोजी रश्मियाँ अथवा हरे घोड़े बलशाली रात्रिकालीन अन्धकारके निवारणमें समर्थ विलक्षण तेज धारण करते हैं। उन्हींके अन्यत्र जानेसे रात्रिमें काले अन्धकारकी सृष्टि होती है।

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ६॥

हे प्रकाशमान सूर्य-रश्मियो! आज सूर्योदयके समय इधर-उधर बिखरकर तुमलोग हमें पापोंसे निकालकर बचा लो। न केवल पापसे ही, प्रत्युत जो कुछ निन्दित है, गर्हणीय है, दुःख-दारिद्र्य है, सबसे हमारी रक्षा करो। जो कुछ हमने कहा है; मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथ्वी और द्युलोकके अधिष्ठातृ देवता उसका आदर करें, अनुमोदन करें, वे भी हमारी रक्षा करें।

५-(ख) सूर्य-सूक्त

['सूर्य-सूक्त' के ऋषि 'विभ्राड्' हैं, देवता 'सूर्य' और छन्द 'जगती' है। ये सूर्यमण्डलके प्रत्यक्ष देवता हैं, जिनका दर्शन सबको निरन्तर प्रतिदिन होता है। पञ्चदेवोंमें भी सूर्यनारायणकी पूर्णब्रह्मके रूपमें उपासना होती है। भगवान् सूर्यनारायणको प्रसन्न करनेके लिये प्रतिदिनके 'उपस्थान' एवं 'प्रार्थना' में 'सूर्य-सूक्त' के पाठ करनेकी परम्परा है। शरीरके असाध्य रोगोंसे मुक्ति पानेमें 'सूर्य-सूक्त' अपूर्व शक्ति रखता है। इस सूक्तको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—]

विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम्।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति॥ १॥

वायुसे प्रेरित आत्माद्वारा जो महान् दीप्तिमान् सूर्य प्रजाकी रक्षा तथा पालन-पोषण करता है और अनेक प्रकारसे शोभा पाता है, वह अखण्ड आयु प्रदान करते हुए मधुर सोमरसका पान करे।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ २॥

विश्वकी दर्शन-क्रिया सम्पादित करनेके लिये अग्निज्वाला-स्वरूप उदीयमान सूर्यदेवको ब्रह्मज्योतियाँ ऊपर उठाये रखती हैं।

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि॥ ३॥

हे पावकरूप एवं वरुणरूप सूर्य! तुम जिस दृष्टिसे ऊर्ध्वगमन करनेवालोंको देखते हो, उसी कृपादृष्टिसे सब जनोंको देखो।

दैव्यावध्वर्यू आ गतꣳ रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञꣳ समञ्जाथे।
तं प्रत्नथा ऽयं वेनश्चित्रं देवानाम्॥४॥

हे दिव्य अश्विनीकुमारो! आप भी सूर्यकी-सी कान्तिवाले रथमें आयें और हविष्यसे यज्ञको परिपूर्ण

करें। उसे ही जिसे ज्योतिष्मानोंमें चन्द्रदेवने प्राचीन विधिसे अद्भुत बनाया है।

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदम्।
प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे॥ ५॥

यज्ञादि श्रेष्ठ क्रियाओंमें अग्रणी रहनेवाले और विपरीत पापादिका नाश करनेवाले, श्रेष्ठ विस्तारवाले, श्रेष्ठ आसनपर स्थित, स्वर्गके ज्ञाता आपको हम पुरातन विधिसे, पूर्ण विधिसे, सामान्यविधिसे और इस प्रस्तुत विधिसे वरण करते हैं।

अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपां सङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति॥ ६॥

जलके निर्माणके समय यह ज्योतिर्मण्डलसे आवृत चन्द्रमा अन्तरिक्षीय जलको प्रेरित करता है। इस जल-समागमके समय ब्राह्मण सरल वाणीसे वेन (चन्द्रमा)-की स्तुति करते हैं।

चित्रं देवनामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ ७॥

क्या ही आश्चर्य है कि स्थावर-जंगम जगत्की आत्मा, किरणोंका पुञ्ज, अग्नि, मित्र और वरुणका नेत्ररूप यह सूर्य भूलोक, द्युलोक तथा अन्तरिक्षको पूर्ण करता हुआ उदित होता है।

आ न इडाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानरः सविता देव एतु।
अपि यथा युवानो मत्सथा नो विश्वं जगदभिपित्वे मनीषा॥ ८॥

सुन्दर अन्नोंवाले हमारे प्रशंसनीय यज्ञमें सर्वहितैषी सूर्यदेव आगमन करें। हे अजर देवो! जैसे भी हो, आपलोग तृप्त हों और आगमनकालमें हमारे सम्पूर्ण गौ आदिको बुद्धिपूर्वक तृप्त करें।

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे॥ ९॥

हे इन्द्र! हे सूर्य! आज तुम जहाँ-कहीं भी उदीयमान हो, वे सभी प्रदेश तुम्हारे अधीन हैं।

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचनम्॥ १०॥

देखते-देखते विश्वका अतिक्रमण करनेवाले हे विश्वके प्रकाशक सूर्य! इस दीप्तिमान् विश्वको तुम्हीं प्रकाशित करते हो।

तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥ ११॥

सूर्यका देवत्व तो यह है कि ये ईश्वर—सृष्ट जगत्के मध्य स्थित हो समस्त ग्रहोंको धारण करते हैं और आकाशसे ही जब हरितवर्णकी किरणोंसे संयुक्त हो जाते हैं तो रात्रि सबके लिये अन्धकारका आवरण फैला देती है।

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥ १२॥

द्युलोकके अङ्कमें यह सूर्य मित्र और वरुणका रूप धारण कर सबको देखता है। अनन्त शुक्ल-देदीप्यमान इसका एक दूसरा अद्वैतरूप है। कृष्णवर्णका एक दूसरा द्वैतरूप है, जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं।

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि॥ १३॥

हे सूर्यरूप परमात्मन्! तुम सत्य ही महान् हो। आदित्य! तुम सत्य ही महान् हो। महान् और सद्रूप होनेके कारण आपकी महिमा गायी जाती है। आप सत्य ही महान् हैं।

बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्॥ १४॥

हे सूर्य! तुम सत्य ही यशसे महान् हो। यज्ञसे महान् हो तथा महिमासे महान् हो। देवोंके हितकारी एवं अग्रणी हो और अदम्य व्यापक ज्योतिवाले हो।

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम॥ १५॥

जिन सूर्यका आश्रय करनेवाली किरणें इन्द्रकी सम्पूर्ण वृष्टि-सम्पत्तिका भक्षण करती हैं और फिर उनको उत्पन्न करने अर्थात् वर्षण करनेके समय यथाभाग उत्पन्न करती हैं, उन सूर्यको हम हृदयमें धारण करते हैं।

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ १६॥

हे देवो! आज सूर्यका उदय हमारे पाप और दोषको दूर करे और मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथ्वी तथा स्वर्ग सब-के-सब मेरी इस वाणीका अनुमोदन करें।

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥ १७॥

सबके प्रेरक सूर्यदेव स्वर्णिम रथमें विराजमान होकर अन्धकारपूर्ण अन्तरिक्ष-पथमें विचरण करते हुए देवों और मानवोंको उनके कार्योंमें लगाते हुए लोकोंको देखते हुए चले आ रहे हैं।

प्रमुख देवी-देवताओंके सूक्त

अग्नि-सूक्त

[इस सूक्तके ऋषि मधुच्छन्दा हैं, देवता अग्नि हैं तथा छन्द गायत्री है। वेदमें अग्निदेवताका विशेष महत्त्व है। ऋग्वेदसंहितामें दो सौ सूक्त अग्निके स्तवनमें प्राप्त हैं। ऋग्वेदके सभी मण्डलोंके आदिमें 'अग्नि-सूक्त' के अस्तित्वसे इस देवकी प्रमुखता प्रकट होती है। सर्वप्रधान और सर्वव्यापक होनेके साथ अग्नि सर्वप्रथम, सर्वाग्रणी भी हैं। इनका 'जातवेद' नाम इनकी विशेषताका द्योतक है। भूमण्डलके प्रमुख तत्त्वोंसे अग्निका सम्बन्ध बताया जाता है। प्राणिमात्रके सर्वविध कल्याणके लिये इस सूक्तको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—]

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ १॥

सबका हित करनेवाले, यज्ञके प्रकाशक, सदा अनुकूल यज्ञकर्म करनेवाले, विद्वानोंके सहायक अग्निकी मैं प्रशंसा करता हूँ।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति॥ २॥

सदैवसे प्रशंसित अग्निदेवोंका आवाहन करते हैं। अग्निके द्वारा ही देवता शरीरमें प्रतिष्ठित रहते हैं। शरीरसे अग्निदेवके निकल जानेपर समस्त देव इस शरीरको त्याग देते हैं।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे।
यशसं वीरवत्तमम्॥ ३॥

अग्नि ही पुष्टिकारक, बलयुक्त और यशस्वी अन्न प्रदान करते हैं। अग्निसे ही पोषण होता है, यश बढ़ता है और वीरतासे धन प्राप्त होता है।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद् देवेषु गच्छति॥ ४॥

हे अग्नि! जिस हिंसारहित यज्ञको सब ओरसे आप सफल बनाते हैं, वही देवोंके समीप पहुँचता है।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरा गमत्॥ ५॥

देवोंका आवाहन करनेवाला, यज्ञ-निष्पादक, ज्ञानियोंकी कर्मशक्तिका प्रेरक, सत्यपरायण, विविध रूपोंवाला और अतिशय कीर्तियुक्त यह तेजस्वी अग्नि देवोंके साथ इस यज्ञमें आये हैं।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत् तत् सत्यमङ्गिरः॥ ६॥

'हे अग्नि! आप दानशीलका कल्याण करते हैं। हे शरीरमें व्यापक अग्नि! यह आपका निःसंदेह एक सत्यकर्म है।'

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥ ७॥

हे अग्नि! प्रतिदिन दिन और रात बुद्धिपूर्वक नमस्कार करते हुए हम आपके समीप आते हैं अर्थात् अपनी स्तुतियोंद्वारा हमेशा उस प्रकाशक एवं तेजस्वी अग्निका गुणगान करना चाहिये, दिन और रात्रिके समय उनको सदा प्रणाम करना चाहिये।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे॥ ८॥

दीप्यमान, हिंसारहित यज्ञोंके रक्षक, अटल-सत्यके प्रकाशक और अपने घरमें बढ़नेवाले अग्निके पास हम नमस्कार करते हुए आते हैं।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥ ९॥

हे अग्नि! जिस प्रकार पिता पुत्रके कल्याणकारी काममें सहायक होता है, उसी प्रकार आप हमारे कल्याणमें सहायक हों।

इन्द्र-सूक्त

[इस सूक्तके ऋषि अप्रतिरथ, देवता इन्द्र तथा आर्षी-त्रिष्टुप् छन्द है। इसकी 'अप्रतिरथ-सूक्त' के नामसे भी प्रसिद्धि है। इन्द्र वेदके प्रमुख देवता हैं। इन्द्रके विषयमें अन्य देवताओंकी अपेक्षा अधिक कथाएँ प्रचलित हैं। इनका समस्त स्वरूप स्वर्णिम तथा अरुण है। ये सर्वाधिक सुन्दर रूपोंको धारण करते हैं तथा सूर्यकी अरुण-आभाको धारण करते हैं, अतः इन्हें 'हिरण्य' कहा जाता है। इस सूक्तको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—]

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतꣳ सेना अजयत् साकमिन्द्रः॥ १॥

वेगगामी, वज्रतीक्ष्णकारी, वर्षणकी उपमावाले, भयंकर, मेघतुल्य वृष्टि करनेवाले, मानवोंके मोक्षकर्ता, निरन्तर गर्जनायुक्त, अपलक, अद्वितीय वीर इन्द्रने शत्रुओंकी सैकड़ों सेनाओंको एक साथ जीत लिया है।

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥ २॥

हे योद्धाओ! गर्जनकारी, अपलक, जयशील, युद्धरत, अपराजेय, प्रतापी, हाथमें बाणसहित, कामनाओंकी वृष्टि करने-वाले इन्द्रकी कृपासे शत्रुको जीतो और उसका संहार करो।

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी सꣳस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
सꣳसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता॥ ३॥

वह संयमी, युद्धार्थ उपस्थितोंको जीतनेवाला, शत्रुसमूहोंसे युद्ध करनेवाला, सोमपान करनेवाला, बाहुबलसे युक्त, कठोर धनुषवाला इन्द्र बाणधारी एवं तूणीरधारी शत्रुओंसे भिड़ जाता है और अपने फेंके गये बाणोंसे उन्हें परास्त करता है।

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम्॥ ४॥

हे व्याकरणकर्ता! तुम रथसे संचरण करनेवाले, राक्षस-विनाशक, शत्रुपीडाकारक, उनकी सेनाओंके विध्वंसकर्ता एवं युद्धद्वारा हिंसाकारियोंके जेता हो। हमारे रथोंके रक्षक बनो।

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः।
अभिवीरो अभिसत्त्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित्॥ ५॥

हे दूसरोंके बलको जाननेवाले, पुरातन शासक, शूर, साहसी, अन्नवान्, उग्र, वीरोंसे युक्त, परिचरोंसे युक्त, सहज ओजस्वी, स्तुतिके ज्ञाता एवं शत्रुओंके तिरस्कर्ता इन्द्र! तुम अपने जयशील रथपर आरूढ हो जाओ।

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा।
इमꣳसजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रꣳ सखायो अनु सꣳ रभध्वम्॥ ६॥

हे तुल्यजन्मा इन्द्रसखा देवो! इस असुर-संहारक, वेदज्ञ, वज्रबाहु, रणजेता, बलपूर्वक शत्रु-संहर्ता इन्द्रके अनुरूप ही तुमलोग भी शौर्य दिखाओ और इसकी ओरसे तुम भी आक्रमण करो।

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकꣳ सेना अवतु प्र युत्सु॥ ७॥

शत्रुओंको निर्दयतापूर्वक, विविध क्रोधयुक्त हो सहसा मर्दित करनेवाला और अडिग होकर उनके आक्रमणोंको झेलनेवाला वीर इन्द्र हमारी सेनाकी सर्वथा रक्षा करे।

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥ ८॥

शत्रुओंका मानमर्दन करनेवाली, विजयोन्मुखी—इन देवसेनाओंका नेता वेदज्ञ इन्द्र है। विष्णु इसके दाहिने ओरसे आयें, सोम सामनेसे आयें तथा गणदेवता आगे-आगे चलें।

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुताꣳ शर्ध उग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्॥ ९॥

वर्षणशील इन्द्रकी, राजा वरुणकी, महामनस्वी आदित्यों और मरुतोंकी तथा भुवनोंको दबानेवाले विजयी देवताओंकी सेनाका उग्र घोष हुआ।

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनाꣳसि।
उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥ १०॥

हे इन्द्र! आयुधोंको उठाकर चमका दो। हमारे जीवोंके मन प्रसन्न कर दो। हे इन्द्र! घोड़ोंकी गति तीव्र कर दो और जयशील रथोंके घोष तुमुल हों।

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ उ देवा अवता हवेषु॥ ११॥

हमारी ध्वजाओंके शत्रु ध्वजाओंसे जा मिलनेपर इन्द्र हमारी रक्षा करें। हमारे बाण विजयी हों। हमारे वीर शत्रुवीरोंसे उत्कृष्ट हों तथा युद्धोंमें देवता हमारी रक्षा करें।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥ १२॥

हे व्याधिदेवि! इन शत्रुओंके चित्तोंको मोहित करती हुई पृथक् हो जा। चारों ओरसे अन्यान्य शत्रुओंको भी समेटती हुई पृथक् हो जा। उनके हृदयोंको शोकाकुल कर

दो और वे हमारे शत्रु तामस अहंकारसे ग्रस्त हो जायँ।

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसꣳशिते।
गच्छामित्रान् प्र पद्यस्व मामीषां कं चनोच्छिषः॥ १३॥

ब्रह्ममन्त्रसे अभिमन्त्रित हे हमारे बाण-ब्रह्मास्त्रो! हमारे द्वारा छोड़े जानेपर तुम शत्रुओंपर जा पड़ो। उनके पास जाओ और उनके शरीरोंमें प्रविष्ट हो जाओ तथा उनमेंसे किसीको भी न छोड़ो।

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथाऽसथ॥ १४॥

हे हमारे नरो! जाओ और विजय करो। इन्द्र तुम्हें विजय-सुख दे। तुम्हारी भुजाएँ उग्र हों, जिससे तुम अघर्षित होकर टिके रहो।

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना।
तां गूहत तमसाऽपव्रतेन यथाऽमी अन्यो अन्यं न जानन्॥ १५॥

हे मरुद्गण! यह जो शत्रुसेना बलमें हमसे स्पर्धा करती हुई हमारी ओर चली आ रही है। उसे कर्महीनताके अन्धकारसे आच्छादित कर दो, ताकि वे आपसमें ही एक-दूसरेको न जानते हुए लड़ मरें।

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव।
तत्र इन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु॥ १६॥

शिखाहीन कुमारोंकी भाँति शत्रुप्रेरित बाण जहाँ-जहाँ पड़ें, वहाँ-वहाँ इन्द्र, बृहस्पति और अदिति हमारा कल्याण करें। विश्वसंहारक हमारा कल्याण करें।

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजाऽमृतेनानुवस्ताम्।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वाऽनु देवा मदन्तु॥ १७॥

हे यजमान्! मैं तुम्हारे मर्मस्थानोंको कवचसे ढँकता हूँ, ब्राह्मणोंके राजा सोम तुमको मृत्युके मुखसे बचानेवाले कवचसे आच्छादित करें, वरुण तुम्हारे कवचको उत्कृष्ट बनायें और अन्य सभी देवता विजयकी ओर अग्रसर हुए तुम्हारा उत्साहवर्धन करें।

यम-सूक्त

[ऋग्वेदके दशम मण्डलका चौदहवाँ सूक्त 'यम-सूक्त' है। इसके ऋषि वैवस्वत यम तथा १ से ५ मन्त्रोंके देवता यम, छठे मन्त्रके देवता अंगिरा पित्रथर्वभृगुसोम, ७ से ९वें मन्त्रतकके लिङ्गोक्त देवता पितर, १० से १२ वें तकके देवता श्वान हैं। १ से १२ तकके मन्त्रका छन्द त्रिष्टुप्, १३ वें, १४ वें तथा १६वें का छन्द अनुष्टुप् तथा १५वें मन्त्रका छन्द बृहती है। प्रस्तुत 'यम-सूक्त' तीन भागोंमें विभक्त है। ऋचा १ से ६ तकके पहले भागमें यम एवं उनके सहयोगियोंकी सराहना की गयी है और यज्ञमें उपस्थित होनेके लिये उनका आवाहन किया गया है। ऋचा ७ से १२ तकके दूसरे भागमें नूतन मृतात्माको श्मशानकी दहन-भूमिसे निकलकर यमलोक जानेका आदेश दिया गया है। १३ से १६ तककी ऋचाओंमें यज्ञके हविको स्वीकार करनेके लिये यमका आवाहन किया गया है—]

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥ १॥

उत्तम पुण्य-कर्मोंको करनेवालोंको सुखद स्थानमें ले जानेवाले, बहुतोंके हितार्थ योग्य-मार्गके द्रष्टा, विवस्वान्के पुत्र राजा यमको हवि अर्पण करके उनकी सेवा करें, जिनके पास मनुष्योंको जाना ही पड़ता है।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः॥ २॥

पाप-पुण्यके ज्ञाता सबमें प्रमुख यमके मार्गको कोई बदल नहीं सकता। पहले जिस मार्गसे हमारे पूर्वज गये हैं, उसी मार्गसे अपने-अपने कर्मानुसार हम सब जायँगे।

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान् त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति॥ ३॥

इन्द्र कव्यभुक् पितरोंकी सहायतासे, यम अंगिरसादि पितरोंकी सहायतासे और बृहस्पति ऋक्वदादि पितरोंकी सहायतासे उत्कर्ष पाते हैं। देव जिनको उन्नत करते हैं तथा जो देवोंको बढ़ाते हैं, उनमेंसे कोई स्वाहाके द्वारा (देव) और कोई स्वधासे (पितर) प्रसन्न होते हैं।

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाऽङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व॥ ४॥

हे यम! अङ्गिरादि पितरोंके साथ इस श्रेष्ठ यज्ञमें आकर बैठें। विद्वान् लोगोंके मन्त्र आपको बुलावें। हे राजा यम! इस हविसे संतुष्ट होकर हमें प्रसन्न कीजिये।

अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥ ५॥

हे यम! यज्ञमें स्वीकार करनेयोग्य अङ्गिरस ऋषियोंको साथ लेकर आयें। वैरूप नामक पूर्वजोंके साथ यहाँ आप भी प्रसन्न हों। आपके पिता विवस्वान्को भी मैं यहाँ निमन्त्रित करता हूँ (और प्रार्थना करता हूँ)

कि इस यज्ञमें वह कुशासनपर बैठकर हमें संतुष्ट करें।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ६ ॥

अङ्गिरा, अथर्वा एवं भृग्वादि हमारे पितर अभी ही आये हैं और ये हमारे ऋषि सोमपानके लिये योग्य ही हैं। उन सब यज्ञार्ह पूर्वजोंकी कृपा तथा मङ्गलप्रद प्रसन्नता हमें पूरी तरह प्राप्त हो।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥ ७ ॥

हे पिता! जहाँ हमारे पूर्व पितर जीवन पारकर गये हैं, उन प्राचीन मार्गोंसे आप भी जायँ। स्वधाकार—अमृतान्नसे प्रसन्न—तृप्त हुए राजा यम और वरुणदेवसे जाकर मिलें।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥ ८ ॥

हे पिता! श्रेष्ठ स्वर्गमें अपने पितरोंके साथ मिलें। वैसे ही अपने यज्ञ, दान आदि पुण्यकर्मोंके फलसे भी मिलें। अपने सभी दोषोंको त्यागकर इस (शाश्वत) घरकी ओर आयें और सुन्दर तेजसे युक्त होकर (संचरण करनेयोग्य नवीन) शरीर धारण करें।

अपेत वीत वि च सर्पतातो ऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै॥ ९ ॥

हे भूत-पिशाचो! यहाँसे चले जाओ, हट जाओ, दूर चले जाओ। पितरोंने यह स्थान इस मृत मनुष्यके लिये निश्चित किया है। यह स्थान दिन-रात और जलसे युक्त है। यमने इस स्थानको मृत मनुष्यको दिया है (इस ऋचामें श्मशानके भूत-पिशाचोंसे प्रार्थना की गयी है कि वे मृत व्यक्तिके अन्तिम विश्राम, स्थलके मार्गमें बाधा न उपस्थित करें)।

अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथा पितृन् त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति॥ १०॥

(हे सद्यः मृत जीव!) चार नेत्रोंवाले चित्रित शरीरके सरमाके दोनों श्वान-पुत्र हैं। उनके पास अच्छे मार्गसे अत्यन्त शीघ्र गमन करो। यमराजके साथ एक ही पंक्तिमें प्रसन्नतासे (अन्नादिका) उपभोग करनेवाले अपने अत्यन्त उदार पितरोंके पास उपस्थित हो जाओ (मृत व्यक्तिसे कहा गया है कि उचित मार्गसे आगे बढ़कर सभी बाधाओंको हटाते हुए यमलोक ले जानेवाले दोनों श्वानोंके साथ वह जल्द जा पहुँचे)।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।
ताभ्यामेनं परि देहि राजन् त्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि॥ ११॥

हे यमराज! मनुष्योंपर ध्यान रखनेवाले, चार नेत्रोंवाले, मार्गके रक्षक ये जो आपके रक्षक दो श्वान हैं, उनसे इस मृतात्माकी रक्षा करें। हे राजन्! इसे कल्याण और आरोग्य प्राप्त करायें।

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥ १२॥

यमके दूत, लम्बी नासिकावाले, (मुमूर्षु व्यक्तिके) प्राण अपने अधिकारमें रखनेवाले, महापराक्रमी (आपके) दोनों श्वान मर्त्यलोकमें भ्रमण करते रहते हैं। वे हमें सूर्यके दर्शनके लिये यहाँ आज कल्याणकारी उचित प्राण दें।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ १३॥

यमके लिये सोमका सवन करो तथा यमके लिये (अग्निमें) हविका हवन करो। अग्नि उसका दूत है, इसलिये अच्छी तरह तैयार किया हुआ यह हमारा यज्ञिय हवि यमके पास पहुँच जाता है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायुः प्र जीवसे॥ १४॥

घृतसे मिश्रित यह हव्य यमके लिये (अग्निमें) हवन करो और यमकी उपासना करो। देवोंके बीच यम हमें दीर्घ आयु दें, ताकि हम जीवित रह सकें।

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः॥ १५॥

अत्यधिक माधुर्ययुक्त यह हव्य राजा यमके लिये अग्निमें हवन करो। (हे यम!) हमारा यह प्रणाम अपने पूर्वज ऋषियोंको, अपने पुरातन मार्गदर्शकोंको समर्पित हो जाय।

त्रिकद्रुकेभिः पतति षळुर्वीरेकमिद्बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता॥ १६॥

त्रिकद्रुक नामक यज्ञोंमें हमारा यह (सोमरूपी सुपर्ण) उड़ान ले रहा है। यम छः स्थानों—द्युलोक, भूलोक, जल, औषधि, ऋक् और सूनृतमें रहते हैं। गायत्री तथा अन्य छन्द—ये सभी इन यममें ही सुप्रतिष्ठित किये गये हैं।

पितृ-सूक्त

[ऋग्वेदके १० वें मण्डलके १५वें सूक्तकी १—१४ ऋचाएँ 'पितृ-सूक्त' के नामसे ख्यात हैं। पहली आठ ऋचाओंमें विभिन्न स्थानोंमें निवास करनेवाले पितरोंको हविर्भाग स्वीकार करनेके लिये आमन्त्रित किया गया है। अन्तिम छः ऋचाओंमें अग्निसे प्रार्थना की गयी है कि वे सभी पितरोंको साथ लेकर हवि-ग्रहण करनेके लिये पधारनेकी कृपा करें। इस सूक्तके ऋषि शङ्ख यामायन, देवता पितर तथा छन्द त्रिष्टुप् (१—१०, १२—१४) और जगती (११) हैं।—]

उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ १॥

नीचे, ऊपर और मध्यस्थानोंमें रहनेवाले, सोमपान करनेके योग्य हमारे सभी पितर उठकर तैयार हों। यज्ञके ज्ञाता सौम्य स्वभावके हमारे जिन पितरोंने नूतन प्राण धारण कर लिये हैं, वे सभी हमारे बुलानेपर आकर हमारी सुरक्षा करें।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥ २॥

जो भी नये अथवा पुराने पितर यहाँसे चले गये हैं, जो पितर अन्य स्थानोंमें हैं और जो उत्तम स्वजनोंके साथ निवास कर रहे हैं अर्थात् यमलोक, मर्त्यलोक और विष्णुलोकमें स्थित सभी पितरोंको आज हमारा यह प्रणाम निवेदित हो।

आहं पितॄन् त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ ३॥

उत्तम ज्ञानसे युक्त पितरोंको तथा अपानपात् और विष्णुके विक्रमणको, मैंने अपने अनुकूल बना लिया है। कुशासनपर बैठनेके अधिकारी पितर प्रसन्नतापूर्वक आकर अपनी इच्छाके अनुसार हमारे द्वारा अर्पित हवि और सोमरस ग्रहण करें।

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शंतमेनाऽथा नः शं योररपो दधात॥ ४॥

कुशासनपर अधिष्ठित होनेवाले हे पितर! आप कृपा करके हमारी ओर आइये। यह हवि आपके लिये ही तैयार की गयी है, इसे प्रेमसे स्वीकार कीजिये। अपने अत्यधिक सुखप्रद प्रसादके साथ आयें और हमें क्लेशरहित सुख तथा कल्याण प्राप्त करायें।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ ५॥

पितरोंको प्रिय लगनेवाली सोमरूपी निधियोंकी स्थापनाके बाद कुशासनपर हमने पितरोंका आवाहन किया है। वे यहाँ आ जायँ और हमारी प्रार्थना सुनें। वे हमारी सुरक्षा करनेके साथ ही देवोंके पास हमारी ओरसे संस्तुति करें।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥ ६॥

हे पितरो! बायाँ घुटना मोड़कर और वेदीके दक्षिणमें नीचे बैठकर आप सभी हमारे इस यज्ञकी प्रशंसा करें। मानव-स्वभावके अनुसार हमने आपके विरुद्ध कोई भी अपराध किया हो तो उसके कारण हे पितरो! आप हमें दण्ड मत दें (पितर बायाँ घुटना मोड़कर बैठते हैं और देवता दाहिना घुटना मोड़कर बैठना पसन्द करते हैं)।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात॥ ७॥

अरुणवर्णकी उषादेवीके अङ्कमें विराजित हे पितर! अपने इस मर्त्यलोकके याजकको धन दें, सामर्थ्य दें तथा अपनी प्रसिद्ध सम्पत्तिमेंसे कुछ अंश हम पुत्रोंको देवें।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासो ऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥ ८॥

(यमके सोमपानके बाद) सोमपानके योग्य हमारे वसिष्ठकुलके सोमपायी पितर यहाँ उपस्थित हो गये हैं। वे हमें उपकृत करनेके लिये सहमत होकर और स्वयं उत्कण्ठित होकर यह राजा यम हमारे द्वारा समर्पित हविको अपने इच्छानुसार ग्रहण करें।

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ९॥

अनेक प्रकारके हवि-द्रव्योंके ज्ञानी अर्कोंसे, स्तोमोंकी सहायतासे जिन्हें निर्माण किया है, ऐसे उत्तम ज्ञानी, विश्वासपात्र घर्म नामक हविके पास बैठनेवाले 'कव्य' नामक हमारे पितर देवलोकमें साँस लगनेकी अवस्थातक प्याससे व्याकुल हो गये हैं। उनको साथ लेकर हे अग्निदेव! आप यहाँ उपस्थित होवें।

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ १०॥

कभी न बिछुड़नेवाले, ठोस हविका भक्षण करनेवाले, द्रव हविका पान करनेवाले, इन्द्र और अन्य देवोंके साथ एक ही रथमें प्रयाण करनेवाले, देवोंकी वन्दना करनेवाले, घर्म नामक हविके पास बैठनेवाले जो हमारे पूर्वज पितर हैं, उन्हें सहस्रोंकी संख्यामें लेकर हे अग्निदेव! यहाँ पधारें।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन॥ ११॥

अग्निके द्वारा पवित्र किये गये हे उत्तम पथ-प्रदर्शक पितर! यहाँ आइये और अपने-अपने आसनोंपर अधिष्ठित हो जाइये। कुशासनपर समर्पित हविर्द्रव्योंका भक्षण करें और (अनुग्रहस्वरूप) पुत्रोंसे युक्त सम्पदा हमें समर्पित करा दें।

त्वमग्न ईळितो जातवेदो ऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ १२॥

हे ज्ञानी अग्निदेव! हमारी प्रार्थनापर आप इस हविको मधुर बनाकर पितरोंके पास ले गये, उन्हें पितरोंको समर्पित किया और पितरोंने भी अपनी इच्छाके अनुसार उस हविका भक्षण किया। हे अग्निदेव! (अब हमारे द्वारा) समर्पित हविको आप भी ग्रहण करें।

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥ १३॥

जो हमारे पितर यहाँ (आ गये) हैं और जो यहाँ नहीं आये हैं, जिन्हें हम जानते हैं और जिन्हें हम अच्छी प्रकार जानते भी नहीं; उन सभीको, जितने (और जैसे) हैं, उन सभीको हे अग्निदेव! आप भलीभाँति पहचानते हैं। उन सभीकी इच्छाके अनुसार अच्छी प्रकार तैयार किये गये इस हविको (उन सभीके लिये) प्रसन्नताके साथ स्वीकार करें।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व॥ १४॥

हमारे जिन पितरोंको अग्निने पावन किया है और जो अग्निद्वारा भस्मसात् किये बिना ही स्वयं पितृभूत हैं तथा जो अपनी इच्छाके अनुसार स्वर्गके मध्यमें आनन्दसे निवास करते हैं। उन सभीकी अनुमतिसे, हे स्वराट् अग्ने! (पितृलोकमें इस नूतन मृतजीवके) प्राण धारण करने योग्य (उसके) इस शरीरको उसकी इच्छाके अनुसार ही बना दो और उसे दे दो।

पृथ्वी-सूक्त

*[अथर्ववेदके बारहवें काण्डके प्रथम सूक्तका नाम 'पृथ्वी-सूक्त' है। इसमें कुल ६३ मन्त्र हैं। ऋषिने इन मन्त्रोंमें मातृभूमिके प्रति अपनी प्रगाढ भक्तिका परिचय दिया है। हिंदू-शास्त्रोंके अनुसार प्रत्येक जडतत्त्व चेतनसे अधिष्ठित है। चेतन ही उसका नियन्ता और संचालक है। हमारी इस पृथ्वीका भी एक चिन्मयस्वरूप है। यही इस स्थूल पृथ्वीका अधिदेवता है। इसीको 'श्रीदेवी' और 'भूदेवी' भी कहते हैं। '**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ**' इस मन्त्रमें 'श्री' पदसे इन्हीं 'भूदेवी'का स्मरण किया गया है। ये चिन्मयीदेवी इस स्थूल पृथ्वीकी अधिष्ठात्री हैं। ये ही इसका हृदय हैं। ये अमृत हैं; क्योंकि चिन्मय हैं। जडतत्त्व ही मृत्युका ग्रास बनता है। अतएव ये मृत्युलोकसे परे परम व्योममें प्रतिष्ठित हैं—*

यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।

*ऋषिने इस सूक्तमें पृथ्वीके आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों रूपोंका स्तवन किया है। कहीं भौगोलिक दृष्टिसे इसके नैसर्गिक सौन्दर्यका चित्रण है और कहीं पौराणिक वर्णनका बीज भी उपलब्ध होता है। पुराणोंमें पृथ्वीके अधिदेवताका रूप 'गौ' बताया गया है। इस सूक्तमें भी '**कामदुघा**', '**पयस्वती**', '**सुरभिः**', तथा '**धेनुः**' आदि पदोंद्वारा उक्त स्वरूपकी यथार्थता सूचित की गयी है। यहाँ सम्पूर्ण भूमि ही माताके रूपमें ऋषिको दृष्टिगोचर हुई है और उसने बड़ी भक्तिसे इस विश्वगर्भा वसुधाके गुण-गौरवका गान किया है। यह 'भूदेवी' अपने सच्चे सेवकके लिये 'श्री' एवं 'विभूति' के रूपमें परिणत हो जाती है। इसके ही द्वारा सबका जन्म और पालन होता है। अतः ऋषिने माताकी इस महामहिमाको हृदयङ्गम करके उससे उत्तम वरके लिये प्रार्थना की है।*

सायणाचार्यने इस सूक्तके मन्त्रोंका अनेक लौकिक लाभोंके लिये भी विनियोग बताया है। अनेक धर्मसूत्रकारोंका भी यही मत है। आग्रहायणीकर्म, पुष्टिकर्म, कृषिकर्म तथा पुत्र-धनादि सर्ववस्तुकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले कर्ममें एवं अन्न, सुवर्ण, मणि आदिकी प्राप्ति; ग्राम-नगर आदिकी रक्षा, भूकम्प, प्रायश्चित्त, सोमयज्ञ तथा पार्थिव महाशान्ति आदिके कर्ममें भी इन मन्त्रोंका प्रयोग किया जाता है। प्रयोगविधि अथर्ववेदी विद्वानोंसे जाननी चाहिये। तात्पर्य यह कि सभी दृष्टियोंसे यह सूक्त बहुत ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। केवल इसके

पाठसे भी बहुत लाभ होता है। इस सूक्तमें कुल ६३ मन्त्र बताये गये हैं, परंतु स्थानाभावके कारण प्रमुख १२ मन्त्रोंको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—]

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

भूतकाल और भविष्यकालकी पत्नी वह पृथ्वी; जिसे सत्य, महत्त्व, ऋत, उग्रता, दीक्षा, तपस्या, ब्रह्म और यज्ञ धारण करते हैं; हमारे लोकको व्यापक करे।

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥

मानवोंके मध्य जिसके उच्च-निम्न-सम आदि नानारूप बाधारहित स्थित हैं तथा नाना शक्तियोंवाली औषधियाँ धारण करती हैं, वह पृथ्वी हमारे लिये विस्तृत एवं समृद्ध हो।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥

जिस पृथ्वीपर समुद्र, नदियाँ और जल हैं, जिसपर अन्नादि कृषि-सामग्रियाँ उत्पन्न हुई हैं तथा जिसपर यह प्राणवान् और गतिमान् जगत् चलता-फिरता है, वह पृथ्वी हमें हर प्रकारसे प्रचुरतामें रखे।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥

जिस पृथ्वीकी चार दिशाएँ हैं, जिसपर अन्न और कृषि-सामग्रियाँ उत्पन्न हुई हैं तथा जो प्राणवान् एवं गतिमान् जगत्का नाना प्रकारसे पोषण करती है, वह पृथ्वी हमें गायों और अन्नकी प्रचुरतामें रखे।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥

प्राचीन कालमें पूर्वजोंने इस पृथ्वीपर विशिष्ट कर्म किये, देवोंने असुरोंको भगाया तथा गायों, घोड़ों और पक्षियोंकी निवासस्थली यह पृथ्वी हमें ऐश्वर्य और तेज दे।

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥

समुद्र-जलके मध्यमें स्थित पृथ्वी जिसे मनीषियोंने बुद्धिके द्वारा प्राप्त किया, जिस पृथ्वीका अमर्त्य-हृदय परमाकाशमें सत्यसे आच्छादित था, वह पृथ्वी हमें बल और तेज दे तथा उत्तम राष्ट्रमें रखे।

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥

सर्वत्र प्रवाहित होनेवाला जल जिसपर रात-दिन समान भावसे गतिशील रहता है, वह अनेक धाराओंवाली पृथ्वी हमारे लिये दूध बहानेवाली हो और हमें तेजसे सिक्त करे।

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः॥

जिसे अश्विनीकुमारोंने नापा, जिसपर विष्णुने विचरण किया और शक्तिके स्वामी इन्द्रने जिसे अपने लिये शत्रुहीन किया; वह हमारी माता पृथ्वी मुझ पुत्रके लिये दूधका सृजन करे।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥

हे पृथ्वी! तुम्हारे गिरि-पर्वत हिमाच्छादित हों। तुम्हारे वन सुखदायी हों। भूरी, काली, लाल, चित्रा, स्थिर और व्यापक पृथ्वीपर तथा इन्द्ररक्षिता पृथ्वीपर मैं अपराजित, अनाक्रान्त और अक्षत होकर रहूँ।

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥

हे पृथ्वी! अपने मध्यभागमें स्थित नाभि जो कि ऊर्जाका केन्द्र है, उनमें हमें स्थित करो अर्थात् हम यहाँ सारग्राही हों। हमें सब ओरसे पवित्र करो। पृथ्वी मेरी माँ है और मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ। पिता पर्जन्य हमारा पालन करें।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥

तुमसे उत्पन्न प्राणी तुममें गतिशील हैं। तुममें ही दो पैरवाले और चार पैरवाले समस्त जीव मृत्युको प्राप्त करते हैं। हे पृथ्वी! ये सब मनुष्य तुम्हारे हैं। उदीयमान् सूर्य नित्य मर्त्योंको प्रकाशितामृतरूपिणी किरणोंसे आच्छादित करता है।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

यह पृथ्वी तरह-तरहकी वाणी बोलनेवाले, विविध धर्मोंका आचरण करनेवाले तथा विभिन्न स्थानोंमें रहनेवाले प्राणियोंका अनेक प्रकारसे भरण-पोषण करती है। यह मेरे लिये अचल-स्थिर गायके समान द्रव्यकी सहस्रों धाराएँ बहाये।

गो-सूक्त

[अथर्ववेदके चौथे काण्डके २१वें सूक्तको 'गो-सूक्त' कहते हैं। इस सूक्तके ऋषि ब्रह्मा तथा देवता गौ हैं। इस सूक्तमें गौओंकी अभ्यर्थना की गयी है। गायें हमारी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नतिका प्रधान साधन हैं। इनसे हमारी भौतिक पक्षसे कहीं अधिक आस्तिकता जुड़ी हुई है। वेदोंमें गायका महत्त्व अतुलनीय है। यह 'गो-सूक्त' अत्यन्त सुन्दर काव्य है। इतना उत्तम वर्णन बहुत कम स्थानोंपर मिलता है। मनुष्यको धन, बल, अन्न और यश गौसे ही प्राप्त है। गौ घरकी शोभा, परिवारके लिये आरोग्यप्रद और पराक्रमस्वरूप हैं, यही इस सूक्तसे परिलक्षित होता है—]

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥ (पा० गृ० सू० १। ३। २७, ऋक्० ८। १०१। १५)

गाय रुद्रोंकी माता, वसुओंकी पुत्री, अदितिपुत्रोंकी बहिन और घृतरूप अमृतका खजाना है, प्रत्येक विचारशील पुरुषको मैंने यही समझाकर कहा है कि निरपराध एवं अवध्य गौका वध न करो।

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥

गौओंने हमारे यहाँ आकर हमारा कल्याण किया है। वे हमारी गोशालामें सुखसे बैठें और उसे अपने सुन्दर शब्दोंसे गुँजा दें। ये विविध रंगोंकी गौएँ अनेक प्रकारके बछड़े-बछड़ियाँ जनें और इन्द्र (परमात्मा)-के यजनके लिये उषःकालसे पहले दूध देनेवाली हों।

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः स च ते गोपतिः सह॥

वे गौएँ न तो नष्ट हों, न उन्हें चोर चुरा ले जाय और न शत्रु ही कष्ट पहुँचाये। जिन गौओंकी सहायतासे उनका स्वामी देवताओंका यजन करने तथा दान देनेमें समर्थ होता है, उनके साथ वह चिरकालतक संयुक्त रहे।

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥

गौएँ हमारा मुख्य धन हों, इन्द्र हमें गोधन प्रदान करें तथा यज्ञोंकी प्रधान वस्तु सोमरसके साथ मिलकर गौओंका दूध ही उनका नैवेद्य बने। जिसके पास ये गौएँ हैं, वह तो एक प्रकारसे इन्द्र ही है। मैं अपने श्रद्धायुक्त मनसे गव्य पदार्थोंके द्वारा इन्द्र (-भगवान्)-का यजन करना चाहता हूँ।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु॥

गौओ! तुम कृश शरीरवाले व्यक्तिको हृष्ट-पुष्ट कर देती हो एवं तेजोहीनको देखनेमें सुन्दर बना देती हो। इतना ही नहीं, तुम अपने मङ्गलमय शब्दसे हमारे घरोंको मङ्गलमय बना देती हो। इसीसे सभाओंमें तुम्हारे ही महान् यशका गान होता है।

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥

गौओ! तुम बहुत-से बच्चे जनो, चरनेके लिये तुम्हें सुन्दर चारा प्राप्त हो तथा सुन्दर जलाशयमें तुम शुद्ध जल पीती रहो। तुम चोरों तथा दुष्ट हिंसक जीवोंके चंगुलमें न फँसो और रुद्रका शस्त्र तुम्हारी सब ओरसे रक्षा करे।

गोष्ठ-सूक्त

[अथर्ववेदके तीसरे काण्डके १४वें सूक्तमें गौओंको गोष्ठ (गोशाला)-में आकर सुखपूर्वक दीर्घकालतक अपनी बहुत-सी संततिके साथ रहनेकी प्रार्थना की गयी है। इस सूक्तके ऋषि ब्रह्मा तथा देवता गोष्ठदेवता एवं नानादेवता हैं। गौओंके लिये उत्तम गोशाला, दाना-पानी एवं चाराका प्रबन्ध करना चाहिये। गौओंको प्रेमपूर्वक रखना चाहिये। उन्हें भयभीत नहीं करना चाहिये। इससे गौके दूधपर भी असर पड़ता है। गौओंकी पुष्टि और नीरोगताके संदर्भमें भी पूरा ध्यान रखना चाहिये—यही इस सूक्तका सार है—]

सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभूत्या।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि॥ १॥

गौओंके लिये उत्तम, प्रशस्त और स्वच्छ गोशाला बनायी जाय। गौओंको अच्छा जल पीनेके लिये दिया

जाय तथा गौओंसे उत्तम संतान उत्पन्न करानेकी दक्षता रखी जाय। गौओंसे इतना स्नेह करना चाहिये कि जो भी अच्छा-से-अच्छा पदार्थ हो, वह उन्हें दिया जाय।

सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः।
समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद्वसु॥ २॥

अर्यमा, पूषा, बृहस्पति तथा धन प्राप्त करनेवाले इन्द्र आदि सब देवता गायोंको पुष्ट करें तथा गौओंसे जो पोषक रस (दूध) प्राप्त हो, वह मुझे पुष्टिके लिये मिले।

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन॥ ३॥

उत्तम खादके रूपमें गोबर तथा मधुर रसके रूपमें दूध देनेवाली स्वस्थ गायें इस उत्तम गोशालामें आकर निवास करें।

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः॥ ४॥

गौएँ इस गोशालामें आयें। यहाँ पुष्ट होकर उत्तम संतान उत्पन्न करें और गौओंके स्वामीके ऊपर प्रेम करती हुई आनन्दसे निवास करें।

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि॥ ५॥

(यह) गोशाला गौओंके लिये कल्याणकारी हो। (इसमें रहकर) गौएँ पुष्ट हों और संतान उत्पन्न करके बढ़ती रहें। गौओंका स्वामी स्वयं गौओंकी सभी व्यवस्था देखे।

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम॥ ६॥

गौएँ स्वामीके साथ आनन्दसे मिल-जुलकर रहें। यह गोशाला अत्यन्त उत्तम है, इसमें रहकर गौएँ पुष्ट हों। अपनी शोभा और पुष्टिको बढ़ाती हुई गौएँ यहाँ वृद्धिको प्राप्त होती रहें। हम सब ऐसी उत्तम गौओंको प्राप्त करेंगे और उनका पालन करेंगे।

आध्यात्मिक सूक्त

'तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु'

*[मनुष्यके शरीरमें सभी कुछ महत्त्वका है—हाथकी छोटी-से-छोटी अँगुली भी अपना महत्त्व रखती है, परंतु मनका महत्त्व सर्वाधिक है। इसमें विलक्षण शक्ति निहित है। मनुष्यके सुख-दुःख तथा बन्धन और मोक्ष मनके ही अधीन हैं। संसारमें कोई ऐसा स्थल नहीं जो मनके लिये अगम्य हो, मन सर्वत्र जा सकता है, एक पलमें जा सकता है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ जहाँ नहीं पहुँच सकतीं, जिसे नहीं देख सकतीं; मन वहाँ जा सकता है, उसे ग्रहण कर सकता है। जिस आत्मज्ञानसे शोकसागरको पार कर नित्य निरतिशय सुखका अनुभव किया जा सकता है, वह मनके ही अधीन है। मन ही आत्मसाक्षात्कारके लिये नेत्रवत् है। श्रुति भी कहती है—'**मनसैवानुद्रष्टव्यम्।**' संसारमें हम जो भी उत्कर्ष प्राप्त करते हैं, उनकी मुख्य हेतु हैं—हमारी स्वस्थ और सक्षम ज्ञानेन्द्रियाँ। कानोंसे सुनायी न देता हो, आँखोंसे दिखायी न देता हो तो कोई कितना भी कुशाग्रबुद्धि क्यों न हो, कैसे विद्या प्राप्त करेगा? विज्ञान एवं कलाके क्षेत्रमें कैसे और क्या वैशिष्ट्य सम्पादन करेगा? अर्थोपार्जन भी कैसे करेगा? ऐसा व्यक्ति तो संसारमें दीन-हीन ही रहेगा। अपनी जीवनयात्राके लिये भी वह दूसरोंपर आधारित होकर भारभूत ही होगा। अतः इस सत्यसे कोई इनकार नहीं कर सकता कि हमारे उत्कर्षके प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण साधन हैं—हमारी स्वस्थ और सक्षम ज्ञानेन्द्रियाँ। परंतु यह नहीं भूलना चाहिये कि इन्द्रियोंका प्रवर्तक है मन। यदि मन असहयोग कर दे तो स्वस्थ तथा सक्षम इन्द्रियाँ भी अपने विषयको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं रह जायँगी। जब इन्द्रियोंका प्रवर्तन-निवर्तन मनपर आधारित है और कर्म-सम्पादन इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिके अधीन है तथा अभ्युदयकी प्राप्ति सम्यक् कर्म-सम्पादनपर आधारित है, तब यह अपने-आप स्पष्ट हो जाता है कि हमारा अभ्युदय मनके शुभसंकल्पयुक्त होनेपर निर्भर है। इसीलिये मन्त्रद्रष्टा ऋषि इस शिवसङ्कल्प-सूक्तके माध्यमसे प्रार्थना करते हैं*—]*

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
(शुक्लयजु० ३४। १)

मेरा वह मन धर्मविषयक संकल्पवाला (**शिवसङ्कल्पम्**) हो, मनमें कभी पापभाव न हो, जो जाग्रदवस्थामें देखे-सुने दूर-से-दूर स्थलतक दौड़ लगाता है—(**दूरमुदैति**) और सुषुप्तावस्थामें पुनः अपने स्थानपर लग जाता है। जो ज्योतिःस्वरूप (**दैवम्**) आत्माको

* इस सूक्तका अनुवाद इसी अंकमें पृ० १४ पर भी देखना चाहिये।

ग्रहण करनेका एकमात्र साधन होनेसे दैव कहा जाता है। जो भूत, भविष्य और वर्तमान तथा विप्रकृष्ट और व्यवहित पदार्थोंको भी ग्रहण करनेमें समर्थ है (**दूरङ्गमम्**), दूरगामी तथा विषयोंको प्रकाशित करनेवाली इन्द्रियों—ज्योतियोंका एकमात्र प्रकाशक (**ज्योतिरेकम्**) अर्थात् प्रवर्तक है। मेरा वह मन शुभसंकल्पोंवाला हो।

मनके ही निर्मल, उत्साहयुक्त और श्रद्धावान् होनेपर बुद्धिमान् यज्ञ-विधि-विधानज्ञ कर्मपरायणजन यज्ञोंकी सब क्रियाओंको सम्पन्न करते हैं। मेधावी पुरुष बुद्धिके सम्यक् प्रयोगसे वेदादि सच्छास्त्रोंका प्रामाण्य समझ सकते हैं। न्याय और मीमांसा आदि दर्शनशास्त्रोंकी प्रक्रियाका गूढ अनुशीलन कर अप्रामाण्यकी सब शंकाओंको दूरकर अपने हृदयमें दृढ़तापूर्वक यह निश्चय कर सकते हैं। वेदादिशास्त्र अपने विषयमें (धर्म और ब्रह्मके विषयमें) निर्विवाद प्रमाण हैं। अङ्गोंसहित वेदोंका अध्ययन करके विविध फलोंका सम्पादन करनेवालेके विधि-विधान और अनुष्ठानकी सम्पूर्ण प्रक्रियाको भी सीख सकते हैं। परंतु यह सब कुछ होनेपर भी प्रत्यक्ष यज्ञमें प्रवृत्ति तथा आवश्यक क्रियाओंका सम्पादन तभी हो सकता है, जब मन निर्मल, श्रद्धोपेत तथा उत्साहयुक्त हो। वैदिक क्रियाओंकी ही भाँति सभी लौकिक कर्म भी मनके ही प्रसन्न रहनेपर ठीक प्रकारसे किये जा सकते हैं। अतः हम और किसी भी बातकी उपेक्षा कर दें, पर मनको प्रसन्न रखनेके लिये तो हमें विविध प्रकारके उपाय करने ही पड़ेंगे। समग्र क्रियाकलाप मनकी अनुकूलतापर निर्भर हैं। हम एक-आध बार भले ही मनकी उपेक्षा कर दें, परंतु हम सदा ऐसा नहीं कर सकते। मनको सदा खिन्न रखकर हम अपना जीवन भी नहीं चला सकते। मनको भगवान् स्वयं अपनी 'विभूति' बतलाते हैं—'**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**' (गीता १०। २२)—'इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ।' अतः मन पूज्य है। हमें उसकी पूजा करनी ही पड़ेगी, उसका रुख देखना ही पड़ेगा। इसीलिये ऋषि दूसरी ऋचामें प्रार्थना करते हैं—

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(शुक्लयजु० ३४। २)

जिस मनके स्वस्थ और निर्मल होनेपर मेधावी पुरुष (**मनीषिणः**) यज्ञमें कर्म करते हैं—(**कर्माणि कृण्वन्ति**), मेधावी जो कर्मपरायण हैं (**अपसः**) तथा यज्ञसम्बन्धी विधि-विधान (**विदथेषु**)-में बड़े दक्ष (**धीराः**) हैं तथा जो मन संकल्प-विकल्पोंसे रहित हुआ साक्षात् आत्मरूप ही है। '**यदपूर्वम्**' इत्यादि श्रुति इन लक्षणोंसे आत्माका ही लक्ष्य कराती है और पूज्य (**यक्षम्**) है, जो प्राणियोंके शरीरके अंदर ही स्थित है (**अन्तः प्रजानाम्**); मेरा वह मन शुभसंकल्पवाला हो।

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके माध्यमसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञानवस्तु मनके द्वारा ही उत्पन्न होता है। सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकारके ज्ञानोंका जनक मन ही है। क्षुधा और पिपासा इत्यादिकी पीड़ासे मन जब अत्यन्त व्यथित हो जाता है, तब बुद्धिमें कुछ भी ज्ञान स्फुरित नहीं हो पाता। ज्ञान ही मनुष्यकी विशेषता है। ज्ञानके ही बलसे वह मर्त्यलोकके अन्य जीवोंसे श्रेष्ठ बना, उनका सिरमौर बना। ज्ञानकी ही वृद्धि करके उसने अतुल सुख और सम्पत्ति प्राप्त की। ज्ञानके ही द्वारा उसने पशुओंकी अपेक्षा अपने जीवनको मधुर बनाया। मोक्ष भी आत्मज्ञानसे ही प्राप्त किया जाता है। उस ज्ञानका जनक यह मन ही है।

हमारी जीवनयात्रा निष्कण्टक नहीं। अनेक विघ्नबाधाएँ इसमें उपस्थित होती हैं। अभ्युदय और उत्कर्षका कोई मार्ग अपनाओ, वह निरापद नहीं होगा। कठिनाइयाँ और क्लेश हमारे सामने आयेंगे ही। यदि हम उन कठिनाइयोंको जीतनेमें समर्थ नहीं तो मार्गपर आगे प्रगति नहीं कर सकते। यदि प्रगति अभीष्ट है तो कठिनाइयोंसे संघर्ष करके उनपर विजय प्राप्त करना होगा। इसके लिये धैर्य चाहिये। थोड़ी-थोड़ी कठिनाइयोंमें अधीर हो जानेवाले व्यक्ति तो कोई उद्यम नहीं कर सकते। कार्य उद्यम करनेसे सिद्ध होते हैं, मनोरथमात्रसे नहीं। अतः सफलतारूप प्रासादका एक मुख्य स्तम्भ धैर्य है। धैर्य मनमें ही अभिव्यक्त होता है, अतः धैर्यका उत्पादक होनेसे जलको जीवन कहनेकी भाँति मनको ही धैर्यरूप कहा गया है। मनके बिना कोई भी लौकिक-वैदिक कर्म सम्पादित नहीं किया जा सकता। अतः तीसरी ऋचासे ऋषि कामना करते हैं—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(शुक्लयजु० ३४। ३)

जो मन प्रज्ञान अर्थात् विशेषरूपसे ज्ञान उत्पन्न करनेवाला है तथा पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला (**चेतः**) सामान्य ज्ञानजनक है, जो धैर्यरूप है, सभी प्राणियोंमें (**प्रजासु**) स्थित होकर अन्तर्ज्योति अर्थात् इन्द्रियादिको

अथवा आभ्यन्तर पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला है एवं जिसकी सहायता और अनुकूलताके बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, मेरा वह मन शुभसंकल्पवाला हो।

चक्षुरादि इन्द्रियाँ केवल उन पदार्थोंको ग्रहण कर सकती हैं, जिनसे उनका साक्षात् सम्बन्ध हो, पर मन अप्रत्यक्ष पदार्थोंको भी ग्रहण करनेमें समर्थ है। चौथी ऋचासे ऋषि यही भाव व्यक्त करते हैं—

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(शुक्लयजु० ३४। ४)

जिस मनके द्वारा यह सब भलीप्रकार जाना जाता है, ग्रहण किया जाता है (**परिगृहीतम्**), भूत, भविष्यत् और वर्तमानसम्बन्धी सभी बातोंका परिज्ञान होता है (**भूतं भुवनं भविष्यत्**), जो मन शाश्वत है—संकल्प-विकल्पसे रहित हुआ आत्मरूप (**अमृतेन**) ही है, जिस श्रद्धायुक्त और स्वस्थ मनसे सप्त होताओंवाला अग्निष्टोम-यज्ञ (अग्निष्टोममें सप्त होता होते हैं) किया जाता है (**तायते**), मेरा वह मन शुभसंकल्पवाला हो।

हमारा जितना भी ज्ञान है, वह सब शब्द-राशिमें ओतप्रोत है। शब्दानुगमसे रहित लोकमें कोई ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। जैसे आत्माकी अभिव्यक्ति शरीरमें होती है, वैसे ही ज्ञानकी अभिव्यक्ति शब्दरूप कलेवरमें ही होती है। वे शब्द मनमें ही प्रतिष्ठित होते हैं। मनके स्वस्थ होनेपर उनकी स्फूर्ति होगी और मनके व्यग्र होनेपर वे स्फुरित नहीं होंगे। छान्दोग्योपनिषद्‌में कहा गया है—'**अन्नमयं हि सोम्य मनः**'—'हे सोम्य! मन अन्नमय है।' इस सत्यका अनुभव करानेके लिये शिष्यको कुछ दिनोंतक भोजन नहीं दिया गया। भोजन न मिलनेसे जब वह बहुत कृश हो गया, तब उसे पढ़े हुए वेदको सुनानेके लिये कहा गया। वह बोला कि 'इस समय वह पढ़ा हुआ कुछ भी मनमें स्फुरित नहीं हो रहा है।' अनन्तर उसे भोजन कराया गया। भोजनसे तृप्त होनेपर उसके मनमें वह पढ़ा हुआ वेद स्फुरित हो गया। इस अन्वय और व्यतिरेकसे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञानकी प्रतिष्ठा तथा स्फूर्ति मनमें ही होती है। यदि मन प्रसन्न है तो ज्ञान-सम्पादन और विचार-विमर्श सफल होंगे। यदि वह व्यग्र एवं अधीर हो रहा है तो कोई भी कार्य सफल न होगा। अतः मनका निर्मल और प्रसन्न होना सबसे अधिक महत्त्वका है। इसीलिये पाँचवीं ऋचामें ऋषि प्रार्थना करते हैं—

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(शुक्लयजु० ३४। ५)

जिस मनमें ऋक्, यजुः और सामरूप वेदत्रयी ठीक उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे रथचक्र-नाभिमें चक्के-अरे, जिस मनमें प्राणियोंका लोकविषयक ज्ञान (**चित्तम्**) पटमें तन्तुकी भाँति ओतप्रोत है, मेरा वह मन शुभसंकल्पवाला हो।

बुद्धिमान् जन जानते हैं कि मन ही मनुष्यको सब जगह भटकाता रहता है। यही आग्रह करके उन्हें किसी मार्गमें प्रवृत्त करता है अथवा उससे निवृत्त करता है। नयन और नियमन मनके ही अधीन हैं। यदि मन पवित्र संकल्पवाला होगा तो उत्तम स्थानपर ले जायगा और सत्प्रवृत्तियोंसे इसका नियमन करेगा। यदि मन पाप-संकल्पोंसे आक्रान्त होगा तो मनुष्यको बुरे मार्गमें लगाकर उसके विनाश और दुर्गतिका कारण बन जायगा। छठी ऋचामें ऋषिने यही बात कहकर मनके पवित्र होनेकी प्रार्थना समाप्त की है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

(शुक्लयजु० ३४। ६)

जैसे कुशल सारथि (**सुषारथिः**) चाबुक हाथमें लेकर (**अश्वान्**) घोड़ोंको जिधर चाहता है, ले जाता है (**नेनीयते**), वैसे ही जो मन मनुष्योंको (**मनुष्यान्**) जिधर चाहता है, ले जाता है तथा जिस प्रकार सुसारथि बागडोर हाथमें लेकर (**अभीशुभिः**) घोड़ोंको अपने मनचाहे स्थानपर ले जाता है (**वाजिनः नेनीयते**), वैसे ही जो मन मनुष्योंको ले जाता है, जो प्राणियोंके हृदयमें प्रतिष्ठित है (**हृत्प्रतिष्ठम्**), शरीरके वृद्ध होनेपर भी जो वृद्ध नहीं होता, जो अत्यन्त वेगवान् है (**जविष्ठम्**), मेरा वह मन शुभसंकल्पवाला हो।

दो दृष्टान्त देकर बतलाया कि 'मन शरीरका नयन और नियमन दोनों करता है। शरीरके शिथिल होनेपर भी मनका वेग कम नहीं होता है। अत्यन्त वेगवान् होनेसे जल्दी वशमें नहीं आता है।' बिगड़ उठे तो बलवान् होनेसे व्यक्तिको बुरी तरह झकझोर देता है। यदि मन शुद्ध और पवित्र बन जाय तो हमारे जीवनकी धारा बदल जायगी और हमारी समस्त शक्तियाँ मङ्गलमय कार्योंमें ही लगेंगी।

सौमनस्य-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वें मण्डलका यह १९१ वाँ सूक्त ऋग्वेदका अन्तिम सूक्त है। इस सूक्तके ऋषि आङ्गिरस, पहले मन्त्रके देवता अग्नि तथा शेष तीनों मन्त्रोंके संज्ञान देवता हैं। पहले, दूसरे तथा चौथे मन्त्रोंका छन्द अनुष्टुप् तथा तीसरे मन्त्रका छन्द त्रिष्टुप् है। प्रस्तुत सूक्तमें सबकी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले अग्निदेवकी प्रार्थना आपसी मतभेदोंको भुलाकर सुसंगठित होनेके लिये की गयी है। संज्ञानका तात्पर्य समानता तथा मानसिक और बौद्धिक एकता है। समभावकी प्रेरणा देनेवाले इस सूक्तमें सबकी गति, विचार और मन-बुद्धिमें सामञ्जस्यकी प्रेरणा दी गयी है—]

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ १॥

समस्त सुखोंको प्रदान करनेवाले हे अग्नि! आप सबमें व्यापक अन्तर्यामी ईश्वर हैं। आप यज्ञवेदीपर प्रदीप्त किये जाते हैं। हमें विविध प्रकारके ऐश्वर्योंको प्रदान करें।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ २॥

हे धर्म-निरत विद्वानो! आप परस्पर एक होकर रहें, परस्पर मिलकर प्रेमसे वार्तालाप करें। समान मन होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार श्रेष्ठजन एकमत होकर ज्ञानार्जन करते हुए ईश्वरकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार आप भी एकमत होकर विरोध त्याग करके अपना काम करें।

समानो मन्त्रःसमितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ३॥

हम सबकी प्रार्थना एक समान हो, भेद-भावसे रहित परस्पर मिलकर रहें, अन्तःकरण—मन-चित्त-विचार समान हों। मैं सबके हितके लिये समान मन्त्रोंको अभिमन्त्रित करके हवि प्रदान करता हूँ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ४॥

तुम सबके संकल्प एक समान हों, तुम्हारे हृदय एक समान हों और मन एक समान हों, जिससे तुम्हारा कार्य परस्पर पूर्णरूपसे संगठित हो।

संज्ञान-सूक्त

[यह अथर्ववेदके तीसरे काण्डका तीसवाँ सूक्त है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि अथर्वा तथा देवता चन्द्रमा हैं। यह सूक्त सरल, काव्यमय भाषामें सामान्य शिष्टाचार और जीवनके मूल सिद्धान्तोंको निरूपित करता है। सभी लोगोंके बीच समभाव तथा परस्पर सौहार्द उत्पन्न हो, यह भावना इसमें व्यक्त की गयी है। समाजके मूल आधार परिवारके सभी सम्बन्धी परस्पर मिल-जुलकर रहें, मधुर वाणी बोलें, सबके मन एक समान हों, सब एक-दूसरेके प्रति सहानुभूतिपूर्ण हों। ऐसी भावनासे परिपूर्ण प्रेरक इस सूक्तके पाठसे सामाजिक एकता एवं सद्भाव उत्पन्न होता है।—]

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ १॥

आप सबके मध्यमें विद्वेषको हटाकर मैं सहृदयता, संमनस्कताका प्रचार करता हूँ। जिस प्रकार गौ अपने बछड़ेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक-दूसरेसे प्रेम करें।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥ २॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो। पत्नी अपने पतिसे शान्तियुक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ ३॥

भाई-भाई आपसमें द्वेष न करें। बहिन-बहिनके साथ ईर्ष्या न रखें। आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदु वाणीका प्रयोग करें।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ ४॥

जिस प्रेमसे देवगण एक-दूसरेसे पृथक् नहीं होते और न आपसमें द्वेष करते हैं, उसी ज्ञानको तुम्हारे परिवारमें स्थापित करता हूँ। सब पुरुषोंमें परस्पर मेल हो।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥ ५॥

श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदयसे एक साथ मिलकर रहो, कभी विलग न होओ। एक-दूसरेको प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझेको खींच ले चलो। परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्तजनोंसे सदा मिले हुए रहो।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ ६॥

अन्न और जलकी सामग्री समान हो। एक ही बन्धनसे सबको युक्त करता हूँ। अतः उसी प्रकार साथ मिलकर अग्निकी परिचर्या करो, जिस प्रकार रथकी नाभिके चारों ओर अरे लगे रहते हैं।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥ ७॥

समान गतिवाले आप सबको सममनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान-भावोंके साथ एक अग्रणीका अनुसरण करें। देव जिस प्रकार समान-चित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सायं और प्रातः आप सबकी उत्तम समिति हो।

नासदीय-सूक्त

*[ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १२९वें सूक्तके १ से ७ तकके मन्त्र 'नासदीय-सूक्त' के नामसे सुविदित हैं। इस सूक्तके द्रष्टा ऋषि प्रजापति परमेष्ठी, देवता भाववृतम् तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस सूक्तमें ऋषिने बताया है कि सृष्टिका निर्माण कब, कहाँ और किससे हुआ। यह बड़ा ही रहस्यपूर्ण और देवताओंके लिये भी अगम्य है। सृष्टिके प्रारम्भमें द्वन्द्वात्मकता-विहीन सर्वत्र एक ही तत्त्व व्याप्त था। इसके बाद सलिलने चतुर्दिक् इसे घेर लिया और सृष्टि-निर्माणकी प्रक्रिया हुई। सृष्टिका निर्माण इसी 'मनके रेत' से होना था। सूक्तद्रष्टा ऋषिने अपने हृदयाकाशमें देखा कि सत्का सम्बन्ध असत्से है। यही सृष्टि-निर्माणकी कड़ी '**सोऽकामयत्**', '**तदैक्षत**' है। इसीके एक अंश 'रेतोधा' और दूसरे अंश 'महिमा'में परस्पर आकर्षण हुआ। इसके बाद स्वाभाविक सृष्टि सुविदित ही है'।—]*

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ १॥

प्रलयकालमें न सत् था और न असत् था। उस समय न लोक था और आकाशसे दूर जो कुछ है, वह भी नहीं था। उस समय सबका आवरण क्या था? कहाँ किसका आश्रय था? अगाध और गम्भीर जल क्या था? अर्थात् यह सब अनिश्चित ही था।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ २॥

उस समय न मृत्यु थी, न अमृत था। सूर्य और चन्द्रमाके अभावमें रात और दिन भी नहीं थे। वायुसे रहित उस दशामें एक अकेला ब्रह्म ही अपनी शक्तिके साथ अनुप्राणित हो रहा था, उससे परे या भिन्न कोई और वस्तु नहीं थी।

तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ ३॥

सृष्टिसे पूर्व प्रलयकालमें अन्धकार व्याप्त था, सब कुछ अन्धकारसे आच्छादित था। अज्ञातावस्थामें यह सब जल-ही-जल था और जो था वह चारों ओर होनेवाले सत्-असत्-भावसे आच्छादित था। सब अविद्यासे आच्छादित तमसे एकाकार था और वह एक ब्रह्म तपके प्रभावसे हुआ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ ४॥

सृष्टिके पहले ईश्वरके मनमें सृष्टिकी रचनाका संकल्प हुआ, इच्छा पैदा हुई; क्योंकि पुरानी कर्मराशिका संचय जो बीजरूपमें था, सृष्टिका उपादान कारणभूत हुआ। यह बीजरूपी सत्पदार्थ ब्रह्मरूपी असत्से पैदा हुआ।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥ ५॥

सूर्यकी किरणोंके समान सृष्टि-बीजको धारण करनेवाले पुरुष (भोक्ता) हुए और भोग्य वस्तुएँ उत्पन्न हुईं। इन भोक्ता और भोग्यकी किरणें ऊपर-नीचे, आड़ी-तिरछी फैलीं। इनमें चारों तरफ भोग्यशक्ति निकृष्ट थी और भोक्तृशक्ति उत्कृष्ट थी।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव॥ ६॥

यह सृष्टि किस विधिसे और किस उपादानसे प्रकट हुई? यह कौन जानता है? कौन बताये? किसकी दृष्टि वहाँ पहुँच सकती है? क्योंकि सभी इस सृष्टिके बाद ही उत्पन्न हुए हैं, इसलिये यह सृष्टि किससे उत्पन्न हुई? यह कौन जानता है?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥ ७॥

इस सृष्टिका अतिशय विस्तार जिससे पैदा हुआ, वह इसे धारण किये है, रखे है या बिना किसी आधारके ही है। हे विद्वन्! यह सब कुछ वही जानता है, जो परम आकाशमें रहनेवाला इस सृष्टिका नियन्ता है या शायद परमाकाशमें स्थित वह भी नहीं जानता?

हिरण्यगर्भ-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १२१वें सूक्तको 'हिरण्यगर्भ-सूक्त' कहते हैं। इसके ऋषि प्रजापतिपुत्र हिरण्यगर्भ, देवता 'क' शब्दाभिधेय प्रजापति एवं छन्द त्रिष्टुप् है। ऋग्वेदमें विभिन्न देवताओंके नामोंके अन्तर्गत जो एकात्मभावना व्याप्त है, उसीको दार्शनिक शब्दोंमें सृष्टि-उत्पत्तिके प्रसंगमें यह सूक्त व्यक्त करता है। हिरण्यको अग्निका रेत कहते हैं। हिरण्यगर्भ अर्थात् सुवर्णगर्भ सृष्टिके आदिमें स्वयं प्रकट होनेवाला बृहदाकार-अण्डाकार तत्त्व है। यह सृष्टिका आदि अग्नितत्त्व माना गया है। महासलिलमें प्रकट हुए हिरण्यगर्भकी तीन गतियाँ बतायी गयी हैं—१-आपः (सलिल)-में उर्मियोंके उत्पन्न होनेसे समेषण हुआ। २-आगे बढ़नेकी क्रिया (प्रसर्पण) हुई। ३-उसने तैरते हुए चारों ओर बढ़ने (परिप्लवन)-की क्रिया की। इसके बाद हिरण्यगर्भ दो भागोंमें विभक्त होकर पृथ्वी और द्युलोक बना—]

संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत। स इदं हिरण्यमाण्डं व्यसृजत्।

अतः यह हिरण्यगर्भ ही सृष्टिका मूल है। मन्त्रद्रष्टा ऋषिने सृष्टिके आदिमें स्थित इसी हिरण्यगर्भके प्रति जिज्ञासा प्रकट की है—जो सृष्टिके पहले विद्यमान था।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १॥

सूर्यके समान तेज जिनके भीतर है, वे परमात्मा सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहले वर्तमान थे और वे ही परमात्मा जगत्के एकमात्र स्वामी हैं। वे ही परमात्मा जो इस भूमि और द्युलोकके धारणकर्ता हैं, उन्हीं ईश्वरके लिये हम हविका समर्पण करते हैं।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २॥

जिन परमात्माकी महान् सामर्थ्यसे ये बर्फसे ढके पर्वत बने हैं, जिनकी शक्तिसे ये विशाल समुद्र निर्मित हुए हैं और जिनकी सामर्थ्यसे बाहुओंके समान ये दिशाएँ-उपदिशाएँ फैली हुई हैं, उन सुखस्वरूप प्रजाके पालनकर्ता दिव्यगुणोंसे सबल परमात्माके लिये हम हवि समर्पण करते हैं।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

जो परमात्मा अपनी महान् सामर्थ्यसे जगत्के समस्त प्राणियों एवं चराचर जगत्के एकमात्र स्वामी हुए तथा जो इन दो पैरवाले मनुष्य, पक्षी और चार पैरवाले जानवरोंके भी स्वामी हैं, उन आनन्दस्वरूप परमेश्वरके लिये हम भक्तिपूर्वक हवि अर्पित करते हैं।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

जो परमात्मा आत्मशक्ति और शारीरिक बलके प्रदाता हैं, जिनकी उत्तम शिक्षाओंका देवगण पालन करते हैं, जिनके आश्रयसे मोक्षसुख प्राप्त होता है तथा जिनकी भक्ति और आश्रय न करना मृत्युके समान है, उन देवको हम हवि अर्पित करते हैं।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ५॥

जिन्होंने द्युलोकको तेजस्वी तथा पृथ्वीको कठोर बनाया, जिन्होंने प्रकाशको स्थिर किया, जिन्होंने सुख और आनन्दको प्रदान किया, जो अन्तरिक्षमें लोकोंका निर्माण करते हैं, उन आनन्दस्वरूप परमात्माके लिये हम हवि अर्पित करते हैं। उनके स्थानपर अन्य किसीकी पूजा करनेयोग्य नहीं है।

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ६॥

बलसे स्थिर होते हुए परंतु वास्तवमें चलायमान, गतिमान्, काँपनेवाले अथवा तेजस्वी, द्युलोक और पृथ्वीलोक मननशक्तिसे जिनको देखते हैं और जिनमें उदित होता हुआ सूर्य विशेषरूपसे प्रकाशित होता है, उन आनन्दमय परमात्माके लिये हम हवि अर्पित करते हैं।

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ७ ॥

निश्चय ही गर्भको धारण करके अग्निको प्रकट करता हुआ अपार जलसमूह जब संसारमें प्रकट हुआ, तब उस गर्भसे देवताओंका एक प्राणरूप आत्मा प्रकट हुआ। उस जलसे उत्पन्न देवके लिये हम हवि समर्पित करते हैं।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ८ ॥

जिन परमात्माने सृष्टि-जलका सृजन किया और जिनके द्वारा ही जलमें सर्जन शक्ति पैदा हुई तथा सृष्टिरूपी यज्ञ उत्पन्न हुआ अर्थात् यह यज्ञमय सृष्टि उत्पन्न हुई, उन्हीं एकमात्र सर्वनियन्ताको हम हविद्वारा अपनी अर्चना अर्पित करते हैं।

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ९ ॥

इस पृथ्वी और नभको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर हमें दुःख न दें। जिन परमात्माने आह्लादकारी जलको उत्पन्न किया, उन्हीं देवको हम हविद्वारा अपनी पूजा समर्पित करते हैं।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ १० ॥

हे प्रजाके पालनकर्ता! आप सभी प्राणियोंमें व्याप्त हैं। दूसरा कोई इनमें व्याप्त नहीं है। अन्य किसीसे अपनी कामनाओंके लिये प्रार्थना करना उपयुक्त नहीं है। जिस कामनासे हम आहुति प्रदान कर रहे हैं, वह पूरी हो और हम (दान-निमित्त) प्राप्त धनोंके स्वामी हो जायँ।

ऋत-सूक्त

[ऋग्वेदके १०वें मण्डलका १९०वाँ सूक्त 'ऋत-सूक्त' है। इसके ऋषि माधुच्छन्द अघमर्षण, देवता भाववृत तथा छन्द अनुष्टुप् है। यह सूक्त सृष्टिविषयक है। ऋषिने परमपिता परमेश्वरकी स्तुति करते हुए कहा है कि महान् तपसे सर्वप्रथम ऋत और सत्य प्रकट हुए। परम ब्रह्मकी महिमासे क्रमशः प्रलयरूपी रात्रि, समुद्र, संवत्सर, दिन-रात, सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक और पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई। इस सूक्तका प्रयोग नित्य संध्या करते समय किया जाता है।—]

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ १ ॥

परमात्माकी उग्र तपस्यासे (सर्वप्रथम) ऋत और सत्य पैदा हुए। इसके बाद प्रलयरूपी रात्रि और जलसे परिपूर्ण महासमुद्र उत्पन्न हुआ।

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी॥ २ ॥

जलसे भरे समुद्रकी उत्पत्तिके बाद परमपिताने संवत्सरका निर्माण किया; फिर निमेषोन्मेषमात्रमें ही जगत्को वशमें करनेवाले परमपिताने दिन और रात बनाया।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चाऽन्तरिक्षमथो स्वः॥ ३ ॥

इसके बाद सबको धारण करनेवाले परमात्माने सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथ्वीलोक, अन्तरिक्ष और सुखमय स्वर्ग तथा भूतल एवं आकाशका पहलेके ही समान सृजन किया।

श्रद्धा-सूक्त

[ऋग्वेदके दशम मण्डलके १५१वें सूक्तको 'श्रद्धा-सूक्त' कहते हैं। इसकी ऋषिका श्रद्धा कामायनी, देवता श्रद्धा तथा छन्द अनुष्टुप् है। प्रस्तुत सूक्तमें श्रद्धाकी महिमा वर्णित है। अग्नि, इन्द्र, वरुण-जैसे बड़े देवताओं तथा अन्य छोटे देवोंमें भेद नहीं है—यह इस सूक्तमें बतलाया गया है। सभी यज्ञ-कर्म, पूजा-पाठ आदिमें श्रद्धाकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। ऋषिने इस सूक्तमें श्रद्धाका आवाहन देवीके रूपमें करते हुए कहा है कि 'वह हमारे हृदयमें श्रद्धा उत्पन्न करें'—]

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥ १ ॥

श्रद्धासे ही अग्निहोत्रकी अग्नि प्रदीप्त होती है। श्रद्धासे ही हविकी आहुति यज्ञमें दी जाती है। धन-ऐश्वर्यमें सर्वोपरि श्रद्धाकी हम स्तुति करते हैं।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि॥ २ ॥

हे श्रद्धे! दाताके लिये हितकर अभीष्ट फलको दो।

हे श्रद्धे! दान देनेकी जो इच्छा करता है, उसका भी प्रिय करो। भोगैश्वर्य प्राप्त करनेके इच्छुकोंके भी प्रार्थित फलको प्रदान करो।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि॥ ३॥

जिस प्रकार देवोंने असुरोंको परास्त करनेके लिये यह निश्चय किया कि 'इन असुरोंको नष्ट करना ही चाहिये', उसी प्रकार हमारे श्रद्धालु ये जो याज्ञिक एवं भोगार्थी हैं, इनके लिये भी इच्छित भोगोंको प्रदान करो।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥ ४॥

बलवान् वायुसे रक्षण प्राप्त करके देव और मनुष्य श्रद्धाकी उपासना करते हैं, वे अन्तःकरणमें संकल्पसे ही श्रद्धाकी उपासना करते हैं। श्रद्धासे धन प्राप्त होता है।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥ ५॥

हम प्रातःकालमें श्रद्धाकी प्रार्थना करते हैं। मध्याह्नमें श्रद्धाकी उपासना करते हैं। हे श्रद्धा देवि! इस संसारमें हमें श्रद्धावान् बनाइये।

लोकोपयोगी-कल्याणकारी सूक्त

दीर्घायुष्य-सूक्त

[अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखाका यह 'दीर्घायुष्य-सूक्त' प्राणिमात्रके लिये समानरूपसे दीर्घायु-प्रदायक है। इसमें मन्त्रद्रष्टा ऋषि पिप्पलादने देवों, ऋषियों, गन्धर्वों, लोकों, दिशाओं, ओषधियों तथा नदी, समुद्र आदिसे दीर्घ आयुकी कामना की है—]

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः।
सं मायमग्निः सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ १॥

मरुद्गण, पूषा, बृहस्पति तथा यह अग्नि मुझे प्रजा एवं धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चन्त्वादित्याः सं मा सिञ्चन्त्वग्नयः।
इन्द्रः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ २॥

आदित्य, अग्नि, इन्द्र मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चन्त्वरुषः समर्का ऋषयश्च ये।
पूषा समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ३॥

अग्निकी ज्वालाएँ, प्राण, ऋषिगण और पूषा मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चन्तु गन्धर्वाप्सरसः सं मा सिञ्चन्तु देवताः।
भगः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ४॥

गन्धर्व एवं अप्सराएँ, देवता और भग मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चतु पृथिवी सं मा सिञ्चन्तु या दिवः।
अन्तरिक्षं समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ५॥

पृथ्वी, द्युलोक और अन्तरिक्ष मुझे प्रजा एवं धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चन्तु प्रदिशः सं मा सिञ्चन्तु या दिशः।
आशाः समस्मान् सिञ्चन्तु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ६॥

दिशा-प्रदिशाएँ एवं ऊपर-नीचेके प्रदेश मुझे प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चन्तु कृषयः सं मा सिञ्चन्त्वोषधीः।
सोमः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ७॥

कृषिसे उत्पन्न धान्य, ओषधियाँ और सोम मुझे प्रजा एवं धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चन्तु नद्यः सं मा सिञ्चन्तु सिन्धवः।
समुद्रः समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ८॥

नदी, सिन्धु (नद) और समुद्र मुझे प्रजा एवं धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

सं मा सिञ्चन्त्वापः सं मा सिञ्चन्तु कृष्टयः।
सत्यं समस्मान् सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।
दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ ९॥

जल, कृष्ट ओषधियाँ तथा सत्य हम सबको प्रजा और धनसे सींचें तथा मुझे दीर्घ आयु प्रदान करें।

धनान्नदान-सूक्त

[ऋग्वेदके दशम मण्डलका ११७वाँ सूक्त जो कि 'धनान्नदान-सूक्त' के नामसे प्रसिद्ध है, दानकी महत्ता प्रतिपादित करनेवाला एक भव्य सूक्त है। इसके मन्त्र उपदेशपरक एवं नैतिक शिक्षासे युक्त हैं। सूक्तसे यही तथ्य प्राप्त होता है कि लोकमें दान तथा दानीकी अपार महिमा है। धनीके धनकी सार्थकता उसकी कृपणतामें नहीं, वरन् दानशीलतामें मानी गयी है। इस सूक्तके मन्त्रद्रष्टा ऋषि 'भिक्षुराङ्गिरस' हैं। पहली और दूसरी ऋचाओंमें जगती छन्द एवं अन्यमें त्रिष्टुप् छन्द है—]

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते॥ १॥

देवोंने भूख देकर प्राणियोंका (लगभग) वध कर डाला। जो अन्न देकर भूखकी ज्वाला शान्त करे, वही दाता है। भूखेको न देकर जो स्वयं भोजन करता है, एक दिन मृत्यु उसके प्राणोंको हर ले जाती है। देनेवालेका धन कभी नहीं घटता, उसे ईश्वर देता है। न देनेवाले कृपणको किसीसे सुख प्राप्त नहीं होता।

य आध्राय चकमानाय पित्वो ऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते॥ २॥

अन्नकी इच्छासे द्वारपर आकर हाथ फैलाये विकल व्यक्तिके प्रति जो अपना मन कठोर बना लेता है और अन्न होते हुए भी देनेके लिये हाथ नहीं बढ़ाता तथा उसके सामने ही उसे तरसाकर खाता है, उस महाक्रूरको कभी सुख प्राप्त नहीं होता।

स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥ ३॥

घर आकर माँग रहे अति दुर्बल शरीरके याचकको जो भोजन देता है, उसे यज्ञका पूर्ण फल प्राप्त होता है तथा वह अपने शत्रुओंको भी मित्र बना लेता है।

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ ४॥

मित्र अपने अङ्गके समान होता है। जो अपने मित्रको माँगनेपर भी नहीं देता, वह उसका मित्र नहीं है। उसे छोड़कर दूर चले जाना चाहिये। वह उसका घर नहीं है। किसी अन्य देनेवालेकी शरण लेनी चाहिये।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा ऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥ ५॥

जो याचकको अन्नादिका दान करता है, वही धनी है। उसे कल्याणका शुभ मार्ग प्रशस्त दिखायी देता है। वैभव-विलास रथके चक्रकी भाँति आते-जाते रहते हैं। किसी समय एकके पास सम्पदा रहती है तो कभी दूसरेके पास रहती है।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ ६॥

जिसका मन उदार न हो, वह व्यर्थ ही अन्न पैदा करता है। संचय ही उसकी मृत्युका कारण बनता है। जो न तो देवोंको और न ही मित्रोंको तृप्त करता है, वह वास्तवमें पापका ही भक्षण करता है।

कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्॥ ७॥

हलका उपकारी फाल खेतको जोतकर किसानको अन्न देता है। गमनशील व्यक्ति अपने पैरके चिह्नोंसे मार्गका निर्माण करता है। बोलता हुआ ब्राह्मण न बोलनेवालोंसे श्रेष्ठ होता है।

एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः॥ ८॥

एकांशका धनिक दो अंशके धनीके पीछे चलता है। दो अंशवाला भी तीन अंशवालेके पीछे छूट जाता है। चार अंशवाला पंक्तिमें सबसे आगे चलता हुआ सबको अपनेसे पीछे देखता है। अतः वैभवका मिथ्या-अभिमान न करके दान करना चाहिये।

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् संतौ न समं पृणीतः॥ ९॥

दोनों हाथ एक समान होते हुए भी समान कार्य नहीं करते। दो गायें समान होकर भी समान दूध नहीं देतीं। दो जुड़वाँ संतानें समान होकर भी पराक्रममें समान नहीं होतीं। उसी प्रकार एक कुलमें उत्पन्न दो व्यक्ति समान होकर भी दान करनेमें समान नहीं होते।

कृषि-सूक्त

*[अथर्ववेदके तीसरे काण्डका १७वाँ सूक्त 'कृषि-सूक्त' है। इस सूक्तके ऋषि विश्वामित्र तथा देवता 'सीता' हैं। इसमें मन्त्रद्रष्टा ऋषिने कृषिको सौभाग्य बढ़ानेवाला बताया है। कृषि एक उत्तम उद्योग है। कृषिसे ही मानव-जातिका कल्याण होता है। प्राणोंके रक्षक अन्नकी उत्पत्ति कृषिसे ही होती है। ऋतुकी अनुकूलता, भूमिकी अवस्था तथा कठोर श्रम कृषि-कार्यके लिये आवश्यक है। हलसे जोती गयी भूमिको ('**इन्द्रः सीतां निगृह्णातु**') वृष्टिके देव इन्द्र उत्तम वर्षासे सींचें तथा सूर्य अपनी उत्तम किरणोंसे उसकी रक्षा करे—यही कामना ऋषिने की है—]*

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नयौ॥ १॥

देवोंमें विश्वास करनेवाले विज्ञजन विशेष सुख प्राप्त करनेके लिये (भूमिको) हलोंसे जोतते हैं और (बैलोंके कन्धोंपर रखे जानेवाले) जुओंको अलग करके रखते हैं।

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमा यवन्॥ २॥

जुओंको फैलाकर हलोंसे जोड़ो और (भूमिको) जोतो। अच्छी प्रकार भूमि तैयार करके उसमें बीज बोओ। इससे अन्नकी उपज होगी, खूब धान्य पैदा होगा और पकनेके बाद (अन्न) प्राप्त होगा।

लाङ्गलं पवीरवत्सुशीमं सोमसत्सरु।
उदिद्वपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पबरीं च प्रफर्व्यम्॥ ३॥

हलमें लोहेका कठोर फाल लगा हो, पकड़नेके लिये लकड़ीकी मूठ हो, ताकि हल चलाते समय आराम रहे। यह हल ही गौ-बैल, भेड़-बकरी, घोड़ा-घोड़ी, स्त्री-पुरुष आदिको उत्तम घास और धान्यादि देकर पुष्ट करता है।

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ ४॥

इन्द्र वर्षाके द्वारा हलसे जोती गयी भूमिको सींचें और धान्यके पोषक सूर्य उसकी रक्षा करें। यह भूमि हमें प्रतिवर्ष उत्तम रससे युक्त धान्य देती रहे।

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै॥ ५॥

हलके सुन्दर फाल भूमिकी खुदाई करें, किसान बैलोंके पीछे चलें। हमारे हवनसे प्रसन्न हुए वायु एवं सूर्य इस कृषिसे उत्तम फलवाली रसयुक्त ओषधियाँ देवें।

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥ ६॥

बैल सुखसे रहें, सब मनुष्य आनन्दित हों, उत्तम हल चलाकर आनन्दसे कृषि की जाय। रस्सियाँ जहाँ जैसी बाँधनी चाहिये, वैसी बाँधी जायँ और आवश्यकता होनेपर चाबुक ऊपर उठाया जाय।

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्।
यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम्॥ ७॥

वायु और सूर्य मेरे हवनको स्वीकार करें और जो जल आकाशमण्डलमें है, उसकी वृष्टिसे इस पृथ्वीको सिंचित करें।

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः॥ ८॥

भूमि भाग्य देनेवाली हैं, इसलिये हम इसका आदर करते हैं। यह भूमि हमें उत्तम धान्य देती रहे।

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना॥ ९॥

जब भूमि घी और शहदसे योग्य रीतिसे सिंचित होती है और जल, वायु आदि देवोंकी अनुकूलता उसको मिलती है, तब वह हमें उत्तम मधुर रसयुक्त धान्य और फल देती रहे।

गृह-महिमा-सूक्त

[अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखामें वर्णित इस 'गृह-महिमा-सूक्त' की अतिशय महत्ता एवं लोकोपयोगिता है। इसमें मन्त्रद्रष्टा ऋषिने गृहमें निवास करनेवालोंके लिये सुख, ऐश्वर्य तथा समृद्धिसम्पन्नताकी कामना की है—]

गृहानैमि मनसा मोदमान ऊर्जं बिभ्रद् वः सुमतिः सुमेधाः।
अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण गृहाणां पश्यन्पय उत्तरामि॥ १॥

ऊर्ज (शक्ति)-को पुष्ट करता हुआ, मतिमान् और मेधावी मैं मुदित मनसे गृहमें आता हूँ। कल्याणकारी तथा मैत्रीभावसे सम्पन्न चक्षुसे इन गृहोंको देखता हुआ, इनमें जो रस है, उसका ग्रहण करता हूँ।

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वामस्य तिष्ठन्तस्ते नो जानन्तु जानतः॥ २॥

ये घर सुखके देनेवाले हैं, धान्यसे भरपूर हैं, घी-दूधसे सम्पन्न हैं। सब प्रकारके सौन्दर्यसे युक्त ये घर हमारे साथ घनिष्ठता प्राप्त करें और हम इन्हें अच्छी तरह समझें।

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
अक्षुध्या अतृष्यासो गृहा मास्मद् बिभीतन॥ ३॥

जिन घरोंमें रहनेवाले परस्पर मधुर और शिष्ट सम्भाषण करते हैं, जिनमें सब तरहका सौभाग्य निवास करता है, जो प्रीतिभोजोंसे संयुक्त हैं, जिनमें सब हँसी-खुशीसे रहते हैं, जहाँ कोई न भूखा है, न प्यासा है, उन घरोंमें कहींसे भयका सञ्चार न हो।

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुपह्वयाम यान् ते नो जानन्त्वायतः॥ ४॥

प्रवासमें रहते हुए हमें जिनका बराबर ध्यान आया करता है, जिनमें सहृदयताकी खान है, उन घरोंका हम आवाहन करते हैं, वे बाहरसे आये हुए हमको जानें।

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः॥ ५॥

हमारे इन घरोंमें दुधार गौएँ हैं; इनमें भेड़, बकरी आदि पशु भी प्रचुर संख्यामें हैं। अन्नको अमृत-तुल्य स्वादिष्ट बनानेवाले रस भी यहाँ हैं।

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसन्मुदः।
अरिष्टाः सर्वपूरुषाः गृहा नः सन्तु सर्वदा॥ ६॥

बहुत धनवाले मित्र इन घरोंमें आते हैं, हँसी-खुशीके साथ हमारे साथ स्वादिष्ट भोजनोंमें सम्मिलित होते हैं। हे हमारे गृहो! तुममें बसनेवाले सब प्राणी सदा अरिष्ट अर्थात् रोगरहित और अक्षीण रहें, किसी प्रकार उनका ह्रास न हो।

रोगनिवारण-सूक्त

[अथर्ववेदके चतुर्थ काण्डका १३वाँ सूक्त तथा ऋग्वेदके दशम मण्डलका १३७ वाँ सूक्त 'रोगनिवारण-सूक्त' के नामसे प्रसिद्ध हैं। अथर्ववेदमें अनुष्टुप् छन्दके इस सूक्तके ऋषि शंताति तथा देवता चन्द्रमा एवं विश्वेदेव हैं। जबकि ऋग्वेदमें प्रथम मन्त्रके ऋषि भरद्वाज, द्वितीयके कश्यप, तृतीयके गौतम, चतुर्थके अत्रि, पञ्चमके विश्वामित्र, षष्ठके जमदग्नि तथा सप्तम मन्त्रके ऋषि वसिष्ठजी हैं और देवता विश्वेदेव हैं। इस सूक्तके जप-पाठसे रोगोंसे मुक्ति अर्थात् आरोग्यता प्राप्त होती है। ऋषिने रोगमुक्तिके लिये ही देवोंसे प्रार्थना की है—]

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥ १॥

हे देवो! हे देवो! आप नीचे गिरे हुएको फिर निश्चयपूर्वक ऊपर उठाओ। हे देवो! हे देवो! और पाप करनेवालेको भी फिर जीवित करो, जीवित करो।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद्रपः॥ २॥

ये दो वायु हैं। समुद्रसे आनेवाला वायु एक है और दूर भूमिपरसे आनेवाला दूसरा वायु है। इनमेंसे एक वायु तेरे पास बल ले आवे और दूसरा वायु जो दोष है, उसे दूर करे।

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे॥ ३॥

हे वायु! ओषधि यहाँ ले आ। हे वायु! जो दोष है, वह दूर कर। हे सम्पूर्ण ओषधियोंको साथ रखनेवाले वायु! निःसंदेह तू देवोंका दूत-जैसा होकर चलता है, जाता है, बहता है।

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत्॥ ४॥

हे देवो! इस रोगीकी रक्षा करो। हे मरुतोंके समूहो! रक्षा करो। सब प्राणी रक्षा करें। जिससे यह रोगी रोग-दोषरहित होवे।

आ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते॥ ५॥

आपके पास शान्ति फैलानेवाले तथा अविनाशी करनेवाले साधनोंके साथ आया हूँ। तेरे लिये प्रचण्ड बल भर देता हूँ। तेरे रोगको दूर कर भगा देता हूँ।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः*॥ ६॥

* ऋग्वेदमें 'अयं मे हस्तो०' के स्थानपर यह दूसरा मन्त्र उल्लिखित है—

'आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः। आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥'

जल ही निःसंदेह ओषधि है। जल रोग दूर करनेवाला है। जल सब रोगोंकी ओषधि है। वह जल तेरे लिये ओषधि बनाये।

मेरा यह हाथ भाग्यवान् है। मेरा यह हाथ अधिक भाग्यशाली है। मेरा यह हाथ सब औषधियोंसे युक्त है और यह मेरा हाथ शुभस्पर्श देनेवाला है।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि॥ ७॥

दस शाखावाले दोनों हाथोंके साथ वाणीको आगे प्रेरणा करनेवाली मेरी जीभ है। उन नीरोग करनेवाले दोनों हाथोंसे तुझे हम स्पर्श करते हैं।

वैदिक सूक्तोंकी महत्ताके प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण निबन्ध

पुरुषसूक्त और श्रीसूक्तका दिव्य दर्शनात्मक संदेश

(डॉ० केशवरघुनाथजी कान्हेरे)

अनन्त एवं अपौरुषेय वेदोंके अन्तर्गत अनेक कल्याणकारी सूक्तोंका समावेश है। देवी-देवताओंके शास्त्रोक्त पूजन और अभिषेक आदिमें इन सूक्तोंका प्रयोग किया जाता है। इन सूक्तोंमें 'पुरुषसूक्त' तथा 'श्रीसूक्त'—ये दोनों विशेष रूपसे प्रचलित हैं। वेदोक्त पूजा-अर्चामें पुरुषसूक्तकी ऋचाओंका उच्चारण किये बिना पूजा अपूर्ण मानी जाती है।

वस्तुतः 'पुरुषसूक्त' तथा 'श्रीसूक्त'—ये दोनों स्तोत्र सम्पूर्ण विश्वसृष्टिके सामाजिक परिवेशका सम्यक् दर्शन कराकर सम्पूर्ण समाजको सुखमय जीवन प्राप्त करनेका संदेश प्रदान करते हैं।

ऋग्वेदके दसवें मण्डलके ९०वें सूक्तको 'पुरुषसूक्त'-की संज्ञा दी गयी है। इस सूक्तमें १६ ऋचाएँ परिगणित हैं। नारायण इसके ऋषि हैं और देवता 'पुरुष' तथा छन्द 'अनुष्टुप्' एवं 'त्रिष्टुप्' हैं।

यह सूक्त तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण है। उस विराट् आदिपुरुषके संदर्भमें मन्त्रद्रष्ट्य ऋषियोंने चिन्तन करके जो खोज की और उन्हें जो साक्षात्कार हुआ, उसीका समग्र वर्णन इस सूक्तमें संनिहित है। सूक्तकारको सम्पूर्ण विश्व ईश्वरमय प्रतीत हुआ है। इसके अतिरिक्त इस सूक्तमें ईश्वर और जगत्‌की एकरूपता प्रतिपादित है तथा ईश्वरकी अनन्तता एवं व्यापकताका परिज्ञान हुआ है। यज्ञकी प्रधानता प्रस्थापित हुई है और यह भी प्रामाणिक रूपसे मन्त्रद्रष्टा ऋषिने सिद्ध किया है कि यज्ञसे ही सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति हुई है।

उस विराट् पुरुषका समग्र दर्शन एवं दिव्य स्वरूप कैसा है, इसका वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(ऋक् १०। ९०। १)

अर्थात् उस विराट् पुरुषके हजारों अर्थात् अगणित मस्तक हैं तथा उसके हजारों नेत्र एवं असंख्य चरण हैं। ऐसा यह विराट् पुरुषका स्वरूप है, जिसने सम्पूर्ण विश्वको अपनेमें समाविष्ट कर लिया है, उसके पश्चात् भी वह दस अंगुल शेष है—'**दशाङ्गुलम्**'।

उस विराट् पुरुषके अवयवोंसे मानव-जातिकी उत्पत्ति हुई। सूक्तकार कहते हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋक् १०। ९०। १२)

—मन्त्र-द्रष्टा देवताओं और ऋषियोंने कहा है कि ऊरु आदि विराट् पुरुषद्वारा (सृष्टिरूपी यज्ञद्वारा) उसके मुखसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, जंघाओंसे वैश्य और चरणोंसे शूद्रोंकी उत्पत्ति हुई। मनसे चन्द्रमा, नेत्रोंसे सूर्य, मुखसे इन्द्र और अग्नि तथा प्राणसे वायुका प्रादुर्भाव हुआ।

अभिप्राय यह है कि मनके अधिष्ठातृ देवता चन्द्रमा, आँखोंसे सूर्य, कर्णके वायु और वाणीके देवता अग्नि हैं। ब्राह्मण तथा अग्निका प्रादुर्भाव एक ही स्थानसे होनेके कारण दोनोंको समान स्थान दिया गया है। इसीलिये अग्निको आहुति देने योग्य माना गया। जहाँ अग्निको घी समर्पित कर होम किया जाता है वहीं ब्राह्मणको भोजन कराकर उसे तृप्त किया जाता है। ब्राह्मण अग्निस्वरूप होनेसे श्रेष्ठ है।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्॥

(ऋक्० १०। ९०। १४)

उस विराट् पुरुषके नाभिसे अन्तरिक्ष (आकाश), मस्तकसे द्युलोक (स्वर्ग), चरणोंसे पृथ्वी, कर्णोंसे दिशाएँ निर्मित हुईं। इस प्रकार ईश्वरके अवयवोंसे भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोककी कल्पना की गयी है।

विश्व और सम्पूर्ण प्राणिमात्रकी सृष्टि किस प्रकार हुई, इनका आधारस्तम्भ कौन है? उसका दिव्य दर्शन पुरुष-सूक्तार्थसे ज्ञात होता है।

प्राणिमात्रकी सृष्टि करनेके पश्चात् उसके भरण-पोषण एवं संरक्षणकी समस्या स्वाभाविक थी। इसी समस्याके समाधान-हेतु संशोधन करना क्रम-प्राप्त था और उसी चिन्तन-मनन एवं आविष्कारका परिणाम है—'श्रीसूक्त'।

'श्रीसूक्त' या 'लक्ष्मीसूक्त' ऋग्वेदके परिशिष्ट सूक्तके 'खिलसूक्त' में दृग्गोचर होता है। अथर्ववेदमें भी इसका उल्लेख है। अलग-अलग संहिताग्रन्थोंमें इस सूक्तके ऋचाओंकी संख्या २५ से २८ तक है। तथापि हमारे विद्वान् संशोधकोंने प्रथम पंद्रह ऋचाओंको स्वीकार कर उसे 'मुख्य-सूक्त' की मान्यता दी है। सोलहवीं उपसंहारात्मक तथा फलश्रुति-दर्शक है। जैसा कि ऋचासे स्पष्ट है—

सूक्तं पञ्चदशर्चं च श्रीकामः सततं जपेत्॥

—इस सूक्तके संदर्भमें कुछ विद्वान् कहते हैं कि इसके ऋषि चार हैं। जैसे—आनन्द, कर्दम, चिक्लीत और इन्दिरासुत। देवताके संदर्भमें दो मत प्रचलित हैं—कोई 'श्री' एवं 'अग्नि' दो देवता कहते हैं तो कोई 'श्री' यही एक देवता हैं—ऐसा मानते हैं।

वस्तुतः 'श्रीसूक्त' काम्य-सूक्तके रूपमें अधिक प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। श्रद्धावानोंकी कसौटीमें यह खरा उतरा है। देवीकी आराधनामें जप, अभिषेक तथा हवन-हेतु इस सूक्तका उपयोग किया जाता है।

'श्री' ऐहिक देवता हैं, श्रीसूक्तमें सम्पत्ति, वैभव, खेती-बारी, पशुधन, धन-धान्य-सम्पदा, पुत्र-पौत्र-सुख, सेवक तथा परिवार-सुख और कीर्ति—इन सभीकी लौकिक समृद्धि प्राप्त होकर उसके समुचित उपभोगका सामर्थ्य प्राप्त करने एवं आयु-आरोग्यके प्राप्तिकी सुन्दर कल्पना अनुस्यूत है।

श्रीसूक्तसे प्रमुखतया दो बातें प्रकट होती हैं—'**कुर्वन्नेवेह कर्माणि**' और '**जीवेम शरदः शतम्**' की भावना। अर्थात् वैदिक जीवनादर्शके अनुरूप कर्म करते हुए ऐश्वर्यादिसे सम्पन्न होकर सौ वर्षतक जीनेकी अवधारणा।

देवीके स्वभावके विषयमें वर्णन करते हुए सूक्तकार कहते हैं कि वह दयालु, स्वयंतृप्त और अन्योंको तृप्त करनेवाली है।

सूक्तकार सम्पूर्ण राष्ट्रकी समृद्धिके लिये राष्ट्र-निवासियोंकी सुख-शान्ति-प्राप्ति-हेतु प्रार्थना करते हैं—

उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह।
प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धिं ददातु मे॥

हे देवि! देवसखा कुबेर और उनके मित्र मणिभद्र तथा दक्ष प्रजापतिकी कन्या कीर्ति मुझे प्राप्त हों—अर्थात् मुझे धन और यशकी प्राप्ति हो। मैं इस राष्ट्रमें उत्पन्न हुआ हूँ, मुझे कीर्ति और ऋद्धि प्रदान करें।

हमारे वैदिक समाजने आलसी, अकर्मण्य एवं दूसरोंके भरोसेपर बिना परिश्रम किये अपना जीवन-यापन करनेवाले व्यक्तियोंको समाजमें स्थान नहीं दिया है। ऐसे व्यक्ति समाज एवं राष्ट्रके लिये घातक सिद्ध होते हैं। ऐसे लोगोंसे हमें सावधान किया गया है। स्वार्थी, लूटपाट करनेवाले, धन-लोलुपोंका तिरस्कार किया गया है। पद्मवासिनी माँ लक्ष्मीका अस्तित्व उसकी सुगंधसे ज्ञात होता है। साथ ही उसे शुष्क गोमयके समूह—अर्थात् गाय उसे प्रिय है। इन गुणोंसे सम्पन्न होनेके कारण उसे सम्पूर्ण भूतोंकी ईश्वरी कहा गया है (**सर्वभूतानामीश्वरी**)।

हमारा वैदिक समाज केवल धान्यसे भरपूर भण्डारोंकी ही कामना नहीं करता, अपितु '**सुजलाम्, सुफलाम्, शस्यश्यामलाम्**' भूमि माँगता है। वह केवल दूध ही नहीं माँगता, मधुर दूध देनेवाली कामधेनुकी भी कामना करता है। साथ ही बैल, घोड़े, उत्तम पशु-पक्षी, घर-बार, पुत्र-पौत्र, खेती-बारी तथा धन-धान्यकी सदैव पूर्णता रहे—ऐसी कामना-पूर्ति-हेतु श्रीसे प्रार्थना करता है। साथ ही वह श्रीवर्चस्व, आयुष्य एवं आरोग्य-प्राप्ति-हेतु विनती करता है। सम्माननीय जीवनकी आकांक्षा रखते हुए लक्ष्मी माँसे कहता है—हे माँ लक्ष्मी! तेरा स्मरण-चिन्तन, पूजन-अर्चन और अभिषेक आदि करनेवाले भक्तोंमें क्रोध-लोभ, मत्सर और दुर्बुद्धिका प्रवेश न हो, इन षड्रिपुओंसे उन्हें मुक्त रखो (श्रीसूक्त)।

श्रीसूक्तद्वारा अर्थ-व्यवहारका वैदिक तत्त्वज्ञान प्रतिपादित है। साथ ही सूक्तमें अर्थार्जनका निःस्वार्थ मार्ग एवं उपभोगकी सुसंस्कृत अभिरुचिका सम्यक् दर्शन होता है।

इस प्रकार हमारे धर्मधुरीणोंने दैनिक ईश्वर-पूजा-अर्चनामें 'पुरुषसूक्त' का समावेश कर विराट् विश्वशक्तिका सुन्दर दर्शन कराया है और यज्ञद्वारा त्यागाश्रित उपासनाकी शिक्षा देकर 'श्रीसूक्त' का समावेश कर धरित्री माँके मङ्गलमय उदार वैभवका दर्शन कराकर, मानव-समाजको सम्पन्न निरामय जीवनका दिव्य संदेश दिया है।

वैदिक चिन्तनमें कृषि-चर्चा

[कृषिसूक्त, गोसूक्त, गोष्ठसूक्त, वृषभसूक्त एवं वर्षासूक्तकी महत्ता]

(डॉ० श्रीविश्वम्भरनाथजी पाण्डेय)

यद्यपि कृषि एवं कृषिसे सम्बन्धित विषयोंकी विशिष्ट एवं विशद चर्चा अथर्ववेदके तीसरे और चौथे काण्डके विविध अध्यायोंमें ही है, फिर भी इस आलेखके शीर्षकमें 'अथर्ववेदीय चिन्तन' के स्थानपर 'वैदिक चिन्तन' पदका व्यवहार वैदिक वाङ्मयके अखण्ड-रूपकी दृष्टिसे किया गया है। तत्त्वतः चारों वेद एक ही हैं—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(ऋक् १०।९०।९)

अर्थात् उस '**सर्वहुत यज्ञ**' अर्थात् सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे ऋचाएँ (ऋग्वेद), साम, छन्द (अथर्व) और यजुः उत्पन्न हुए। अतः उनमें किसी प्रकारका भेद या अन्तर करना अनुचित तथा दोषपूर्ण है। वेदत्रयीके नामपर जो लोग ऋक्, साम और यजुर्वेदको ही मूल वेद मानकर अथर्ववेदको इन्हीं तीनोंके आधारपर अथर्वण ऋषिके द्वारा रची गयी बादकी कृति करार देते हुए वेदत्रयीका परिशिष्ट बताते हैं; वह नितान्त भ्रामक है। वैदिक साहित्यके ज्ञाता वेदत्रयीका शुद्ध अर्थ वेदके ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्डके रूपमें लेते हैं। वेदत्रयीका अर्थ वेदत्रय कदापि नहीं हो सकता। उक्त तीनों काण्डोंकी पृथक्ता यज्ञ-कर्मकी उपयोगिताकी दृष्टिसे स्वीकार की गयी है, जो वेदके अखण्ड अपौरुषेय ज्ञानका विभाजक नहीं है। आर्ष और शुद्ध मान्यता यही है कि चारों वेद मूलतः एक हैं। इसमें ऋग्वेदका निम्नलिखित मन्त्र स्वतः प्रमाण है—

अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या।

(ऋक् १०।२१।५)

अर्थात् 'अथर्ववेदसे उत्पन्न विद्वाने समस्त काव्योंका ओजस्वी ज्ञान प्राप्त किया।' स्पष्टतः अथर्वा अथवा अथर्ववेदकी रचना यदि बादमें पृथक्-रूपसे हुई होती तो इसकी चर्चा ऋग्वेदमें नहीं होती।

अथर्ववेदके तीसरे काण्डके १७वें सूक्तको 'कृषिसूक्त' कहते हैं। इसमें कुल ९ मन्त्र हैं। इसी काण्डके २४वें सूक्तमें सात मन्त्र समाहित हैं, जिनमें कृषकोंके घरको धन-धान्यसे परिपूर्ण करनेकी प्रार्थना की गयी है। चौथे काण्डके २१वें सूक्तमें 'गोसूक्त' उद्गीत है, जिसके आरम्भिक मन्त्रमें ही गौओंसे अपने घरमें आकर दुग्ध-घृतसे मङ्गल प्रदान करनेकी प्रार्थना की गयी है। इसमें सात मन्त्र हैं। इससे पूर्व तीसरे काण्डके १४वें सूक्तमें मन्त्र-संख्या एकसे छः में गौओंकी महिमाका बखान करते हुए चारा आदिसे सम्पन्न गोष्ठों (गोशालाओं)-में आजीवन अपनी समस्त संततिके साथ सुखपूर्वक निवास करनेकी प्रार्थना गो-धनसे की गयी है; जिसे 'गोष्ठसूक्त' कह सकते हैं। चौथे काण्डके ११वें सूक्तमें, जिनमें कुल बारह मन्त्र हैं, कृषिमें अप्रतिम योगदानके लिये बैलों (वृषभदेव)-की स्तुति की गयी है, जो 'वृषभसूक्त'से अभिधेय है। तीसरे काण्डके १३वें सूक्तमें खेतोंकी सिंचाईके मूल स्रोत वर्षासे जल प्रदान करनेके लिये वरुणदेवकी प्रार्थना की गयी है, जिसे 'वर्षासूक्त' या 'वरुणसूक्त' कहेंगे। इस सूक्तमें सात मन्त्र प्रयुक्त हैं।

अथर्ववेदके अतिरिक्त ऋग्वेदके १०वें मण्डलके सूक्त-संख्या १०१ के तीसरे और चौथे मन्त्रमें कृषिको श्रेष्ठ उद्योग बताते हुए उत्तम ढंगसे खेतकी जमीन तैयार करने, उत्तम बीज डालने तथा फसल पकनेपर ही धान काटनेके लिये हँसिया (**सृण्यः**)-का प्रयोग करनेके निर्देश दिये गये हैं। कुछ मन्त्रोंका पाठ अथर्ववेद और ऋग्वेदमें पूर्णतः या आंशिक रूपसे शब्दशः समान मिलता है।

उपर्युक्त सूक्तोंको पढ़नेसे कृषि, कृषि-कार्य, गो, गोष्ठ (गोशाला), कृषिसे जुड़े कृषकों तथा गाँवों आदिके बारेमें जो बिम्ब बनता है तथा धारणा तैयार होती है, उसका सारभूत विवरण नीचेकी पंक्तियोंमें दिया जा रहा है—

कृषिसूक्त

कृषिसूक्तके प्रथम मन्त्रमें ही अत्यन्त आलंकारिक ढंगसे कहा गया है कि कृषि एक उत्तम उद्योग है।

इसका उपयोग बुद्धिमान् और ज्ञानीजन दैवी सुख प्राप्त करनेके लिये करते हैं अर्थात् कृषिसे ही मानव-जातिका कल्याण होता है—

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नयौ॥ (अथर्व० ३। १७। १)

इसीके आगे मन्त्र-संख्या दोसे पाँचतकमें कृषिकर्मका पूरा चित्र उभारते हुए कहा गया है कि 'हे शोभावान् किसानो! हलोंको जोतो। लकीरें बनाकर बीच बोओ। भूमिको सुन्दर ढंगसे जोतो और बैलोंके पीछे किसान ठीक ढंगसे सुखपूर्वक चलें'—

युनक्त सीरा वि युगा तनोत
कृते योनौ वपतेह बीजम्।

× × ×

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं
शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्।

(अथर्व० ३। १७। २, ५)

लकीरें बनाकर बीज डालनेके निर्देशसे पता चलता है कि वेदोंमें वैज्ञानिक ढंगसे खेती करनेपर जोर दिया गया था। आजकल कृषकोंको 'किसान' कहते हैं, जो वैदिक शब्द '**कीनाश**' का ही अक्षर-विपर्यय तथा स्वर-भेदसे बना अपभ्रंशित रूप है। ***'उत्तम खेती मध्यम बान'*** की उक्ति भी वैदिक मूलकी है।

कृषिसूक्तमें खेती करनेके उपदेशोंके साथ ईश्वरसे भरपूर अन्न उपजानेकी प्रार्थना भी की गयी है—'**नः श्नुष्टिः सभरा असत्।**' यह भी प्रार्थना की गयी है कि अच्छी सिंचाईके लिये खेतोंको पूरा जल मिले तथा वायु और सूर्य हमारा परिश्रम सफल करें—

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्।
यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम्॥

(अथर्व० ३। १७। ७)

आश्चर्य तो तब होता है जब यह पढ़नेको मिलता है कि धान आदि जब पक जाते हैं तभी दरैंती (सृणि) हँसियासे स्पर्श करने योग्य होते हैं; तात्पर्य यह है कि कच्ची फसल नहीं काटनी चाहिये। यह उक्ति ऋग्वेद (१०। १०१। ३)-में भी मिलती है—'**नेदीय इत् सृण्यः पक्वमेयात्**'; क्योंकि इससे प्रशंसनीय सुफलमयी खेती हमें प्राप्त होगी—'**गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो**' (ऋक्० १०। १०१। ३)। इसके साथ-साथ यह भी निर्देश है कि खेतोंमें बीज बोनेके समय यह खयाल रखना चाहिये कि खेतोंके बीच तथा एक गाँवसे दूसरे गाँव जानेके लिये जमीन अवश्य छोड़ी जाय—'**उदिद्वपतु गामवि प्रस्थावद्रथवाहनं०**' (अथर्व० ३। १७। ३)। सूक्तके अन्तमें प्रार्थना है कि हमारी भूमि जलसे सिंचित हो, धान्यादि (विविध अन्न) देनेवाली हो। कृषक सुखपूर्वक खेत जोतें, वृषभ उन्हें सुख देनेवाले हों, हल और डोरियाँ अनुकूल हों—

·········सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै॥
शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥

(अथर्व० ३। १७। ५-६)

गोसूक्त

भारत आदिकालसे 'गङ्गा' और 'गौ' को अपनी माँ मानता है। अतः नदियोंके साथ गायका महत्त्व वेदोंमें होना अनिवार्य है। अथर्ववेदके चौथे काण्डके २१ वें सूत्र (गोसूक्त)-का पहला ही मन्त्र इस प्रकार है—

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे। प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥

अर्थात् 'गौएँ हमारी ओर आयें, हमारा मङ्गल करें। वे गोष्ठमें बैठकर हमें दुग्धादिसे प्रसन्न करें। संतानवती अनेक रंगोंकी गौएँ यजमानके घरमें बढ़ती रहें और अनेक उषाकालमें दुहाती हुई इन्द्रका आह्वान करानेवाली हों।' इस मन्त्रार्थके विविध महत्त्वपूर्ण पक्ष स्वतः स्पष्ट हैं। इस सूक्तके पाँचवें मन्त्रमें कहा गया है कि ये गौएँ ही पुरुषके लिये धन हैं तथा इन्हींके दुग्ध- घृतादिसे युक्त हविद्वारा मैं हार्दिक भावसे इन्द्रकी पूजा करता हूँ। आगेका छठा मन्त्र कहता है कि 'हे गौओ! तुम अपने दुग्धादि-रससे निर्बल प्राणीको पुष्ट करो और असुन्दर अङ्गवाले पुरुषको सुन्दर करो। तुम हमारे घरको सुशोभित करो। तुम्हारा दुग्धादि परम प्रशंसित है'—

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।

× × ×

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥

(अथर्व० ४। २१। ५-६)

इन वेदोक्त भावोंसे स्पष्ट हो जाता है कि गायें हमारे भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नतिका प्रधान बल

हैं। इनसे हमारी भौतिक भलाई ही नहीं, सात्त्विक आस्तिकता भी जुड़ी है।

गोष्ठसूक्त

यह सूक्त अथर्ववेदके तीसरे काण्डके १४वें सूक्तमें वर्णित है, जिसके छः मन्त्रोंमें सर्वथा सुरक्षित और चारा आदिसे सुसम्पन्न गोशालाओंमें गौओंको आकर सुखपूर्वक दीर्घकालतक अपनी बहुत-सी संततिके साथ निर्भय रहनेका आह्वान तथा प्रार्थना की गयी है—

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः।

× × ×

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।

(अथर्व० ३। १४। ३, ५)

इस सूक्तकी मन्त्र-संख्या तीनमें यह भी कामना की गयी है कि हमारी गौएँ रोगरहित, मधुर दूध धारण करनेमें समर्थ तथा स्थूल थनवाली हों। चारा और धनसहित असंख्य होती हुई वे चिरकालतक नीरोग होकर जीवित रहें और हमें भी चिर आयुष्य दें तथा उसी रूपमें हमलोग भी तुम्हें प्राप्त हों—'**रायस्पोषेण**', '**बहुला भवन्ती**', '**अनमीवा जीवन्तीः**', '**वः जीवा उपसदेम।**' इन मन्त्रांशोंमें गो-आभार, गो-प्रेम ही नहीं; अपितु गो-संवर्धनकी भी कामना प्रकट की गयी है।

वृषभसूक्त

वृषभसूक्तमें बैलकी महिमा गायी गयी है तथा इसे अग्नि, ब्रह्मा एवं प्रजापतिके समान स्मरण करते हुए गाड़ी खींचने, खेत जोतने तथा भार ढोनेके सुकर्मोंद्वारा पृथ्वीका पोषण-कर्ता कहा गया है। अथर्ववेदमें साररूपसे वृषभकी महान् सेवाओंके बारेमें सब कुछ कह दिया गया है—

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयं छक्रो वि मिमीते अध्वनः।
भूतं भविष्यद्भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि॥

अर्थात् 'जैसे इन्द्र वृष्टिकी जलसे इस चराचरात्मक संसारका पालन करता है, वैसे ही यह अनड्वान्—बैल अपने वीर्य-सिंचनसे पशुओंकी उत्पत्ति करते हुए (तथा अपने पराक्रमसे खेतोंको जोतते हुए) दूध-दही-धान्यादि अन्न प्राप्त कराता हुआ संसारका पोषण करता है।' इस सूक्तका १०वाँ मन्त्र काव्यात्मक ढंगसे कहता है कि—

पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन्।
श्रमेणानड्वान्कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः॥

अर्थात् यह अनड्वान् अलक्ष्मी (दरिद्रता)-को परास्त कर उसपर चढ़ता और अपनी जाँघोंसे भूमिको उद्भिन्न करता हुआ अपने सामनेवाले परिश्रमी किसानको अन्न प्राप्त कराता है। इसकी महिमाको सप्तर्षि ही जानते हैं—'**सप्त ऋषयो विदुः।**'

वर्षासूक्त

यह अथर्ववेदके तीसरे काण्डका १३वाँ सूक्त है। इसके मन्त्रोंकी सम्पूर्ण संख्या सात है। इसमें जलको नदी, अप् तथा उदक नामसे स्मरण करते हुए कल्याणकारी घृतका स्वरूप बताया गया है और मधुर रसके रूपमें खेतोंमें प्रविष्ट करता हुआ देखा गया है। साथ ही यह प्रार्थना की गयी है कि 'हे जल! जिस खेतमें मैं तुम्हें प्रविष्ट कराऊँ, उसमें तुम इस प्रकार स्थिर हो जाओ, जिस प्रकार मण्डूककी पीठपर फेंका हुआ शैवाल चिपक जाता है'—

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः।
इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः॥

(अथर्व० ३। १३। ७)

वस्तुतः वैदिक चिन्तन एक ऐसी शस्यश्यामला कृषिका दिग्दर्शन कराता है, जिसके कृषक परिश्रमी हैं, कृषिको मूल तथा श्रेष्ठ उद्योग मानते हैं, बैल पुष्ट और स्वस्थ हैं, कृषकोंको बल-वीर्य देनेवाली गायें दुधारू, हृष्ट-पुष्ट, नीरोग तथा स्थूल थनोंवाली अनेक संततियाँ प्रदान करनेमें सक्षम हैं तथा चारा-घाससे सम्पन्न अच्छी गोशालाओंमें रहती हैं, खेतोंके लिये सम्यक् वर्षा और सिंचाई सुलभ है एवं खेत तथा गाँव इस रूपमें अवस्थित हैं कि उनतक रथों तथा गाड़ियोंद्वारा पहुँचा जा सकता है। ऐसी कृषिके स्वामी गोवंश-प्रेमी कृषकोंकी समृद्धिका पता इस मन्त्रसे चलता है—

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम्।
एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम्॥

(अथर्व० ३। २४। ४)

अर्थात् 'सहस्रों धाराओंसे सम्पन्न होनेपर भी जलकी उत्पत्तिका स्थान जिस प्रकार क्षीणतारहित होता है, उसी प्रकार हमारा यह संचित धान्य अनेक धाराओंको प्राप्त करता हुआ (अनेकविध उपभोगमय होता हुआ) भी क्षीण न हो।' दूसरे शब्दोंमें हमारी कृषि सदा-सर्वदा ही समृद्ध रहे।

'नासदीय सूक्त'—भारतीय प्रज्ञाका अनन्य अवदान

(डॉ० श्रीरामकृष्णजी सराफ़)

भारतीय संस्कृतिमें वेदोंका अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। वेद भारतीय वाङ्मयकी अमूल्य निधि हैं। वे मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके प्रातिभ ज्ञानकी अन्यतम उपलब्धि हैं। हमारे ऋषियोंकी अनन्त ज्ञानराशिका दुर्लभ संचय हैं। भारतीय मनीषाके अक्षय भण्डार हैं। वेद केवल भारतके ही नहीं— विश्वके—निखिल मानव-जातिके प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। प्राचीन कालमें हमारे ऋषियोंने अपने गम्भीर चिन्तन-मननद्वारा जो ज्ञान अर्जित किया, वह हमें वेदोंमें उपलब्ध होता है।

चारों वेदोंमें ऋग्वेदका स्थान प्रमुख है। ऋग्वेदके वर्णित सूक्तोंमें इन्द्र, विष्णु, रुद्र, उषा, पर्जन्य प्रभृति देवताओंकी अत्यन्त सुन्दर एवं भावाभिव्यञ्जक प्रार्थनाएँ हैं। वैदिक देवताओंकी स्तुतियोंके साथ ऋग्वेदमें लौकिक एवं धार्मिक विषयोंसे सम्बद्ध तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण अनेक सूक्त हैं। इनमें आध्यात्मिक सूक्त दिव्य ज्ञानसे ओतप्रोत हैं। इन्हें दार्शनिक सूक्तके रूपमें भी जाना जाता है। ऋग्वेदके दार्शनिक सूक्तोंमें पुरुषसूक्त (ऋक्०१०। ९०), हिरण्यगर्भसूक्त (ऋक्० १०। १२१), वाक्सूक्त (ऋक्० १०। १२५) तथा नासदीय-सूक्त (ऋक्० १०। १२९) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेदके ये सूक्त अपनी दार्शनिक गम्भीरता एवं प्रातिभ अनुभूतिके कारण विशेष महिमा-मण्डित हैं। सूक्तोंमें ऋषियोंकी ज्ञान गम्भीरता तथा सर्वथा अभिनव कल्पना परिलक्षित होती है। समस्त दार्शनिक सूक्तोंके बीच नासदीय-सूक्तका अपना विशेष महत्त्व है। प्राञ्जलभावोंसे परिपूर्ण यह सूक्त ऋषिकी आध्यात्मिक चिन्तन-धाराका परिचायक है।

नासदीय-सूक्तमें सृष्टिके मूलतत्त्व, गूढ रहस्यका वर्णन किया गया है। सृष्टि-रचना-जैसा महान् गम्भीर विषय ऋषिके चिन्तनमें किस प्रकार प्रस्फुटित होता है, यह नासदीय-सूक्तमें देखनेको मिलता है। गहन भावाकाशमें ऋषिकी मेधा किस प्रकार अबाध विचरण करती है, यह नासदीय-सूक्तमें उत्तम प्रकारसे प्रदर्शित हुआ है। सूक्तमें सृष्टिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अत्यन्त सूक्ष्मतासे विचार किया गया है। इसीलिये यह सूक्त 'सृष्टिसूक्त' अथवा 'सृष्ट्युत्पत्तिसूक्त'के नामसे भी जाना जाता है।

नासदीय-सूक्तमें कुल सात मन्त्र हैं। सूक्तमें ऋषि सर्वप्रथम कहते हैं कि सृष्टिके पूर्व प्रलयावस्थामें न तो (नामरूपविहीन) असत् था और न उस अवस्थामें (नामरूपात्मक) सत् ही अस्तित्वमें था। उस समय न तो अन्तरिक्ष था न कोई लोक था और न व्योम था। न कोई आवश्यक तत्त्व था अथवा न भोक्ता-भोग्यकी सत्ता थी। उस समय जल-तत्त्वका भी अस्तित्व नहीं था।

उस अवस्थामें न तो मृत्यु थी और न अमरत्व था। न निशा थी और न दिवस था। सृष्टिका अभिव्यञ्जक कोई भी चिह्न उस समय नहीं था। केवल एक तत्त्व था, जो बिना वायुके भी अपनी ऊर्जासे श्वास ले रहा था और बस उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था—

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

(ऋक्० १०। १२९। २)

सृष्टिसे पूर्व प्रलयावस्थामें तम ही तमसे आच्छन्न था अर्थात् सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार था। उस अवस्थामें नाम-रूपादि विशेषताओंसे परे कोई एक दुर्ज्ञेय तत्त्व था, जो सृष्टि-सर्जनाके संकल्पकी महिमासे स्वयं आविर्भूत हुआ। सृष्टिसे पूर्वकी अवस्थामें उस एकाकीके मनमें सृजनका भाव उत्पन्न हुआ। उसीकी परिणति सृष्टिके जड-चेतनरूप असंख्य आकारोंमें हुई। यही सृष्टि-तन्तुका प्रसार था। सृष्टिका विस्तार था।

ऋषि कहते हैं कि सृष्टिके पूर्व प्रलयावस्थामें जब नाम-रूपात्मक सत्ता ही नहीं थी, तब यथार्थरूपमें कौन जानता है कि विविधस्वरूपा यह सृष्टि कहाँसे और किससे उत्पन्न हुई? देवता इस रहस्यको नहीं बतला सकते, क्योंकि देवता भी तो सृष्टि-रचनाके अनन्तर ही अस्तित्वमें आये थे।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥

(ऋक्० १०। १२९। ७)

'गिरिसरित्समुद्रादियुक्त विविधरूपा यह सृष्टि उपादानभूत जिन परमात्मासे उत्पन्न हुई, वे इसे धारण करते हैं (अथवा नहीं), अन्यथा कौन इसे धारण करनेमें समर्थ है? अर्थात् परमात्माके अतिरिक्त इस सृष्टिको

धारण करनेमें कोई समर्थ नहीं है। इस सृष्टिके अधिष्ठाता जो परम उत्कृष्ट आकाशवत् निर्मल स्वप्रकाशमें अवस्थित हैं, वे ही इस सृष्टि-रहस्यको जानते हैं (अथवा नहीं जानते हैं), अन्यथा कौन दूसरा इसे जाननेमें समर्थ है अर्थात् वे सर्वज्ञ ही इस गूढ सृष्टि-रहस्यको जानते हैं, उनके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जानता।'

नासदीयके तीन भाग हैं—

प्रथम भागमें सृष्टिके पूर्वकी स्थितिका वर्णन है। उस अवस्थामें सत्-असत्, मृत्यु-अमरत्व अथवा रात्रि-दिवस कुछ भी नहीं था। न अन्तरिक्ष था, न आकाश था, न कोई लोक था, न जल था। न कोई भोग्य था, न भोक्ता था। सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार था। उस समय तो बस, केवल एक तत्त्वका ही अस्तित्व था, जो वायुके बिना भी श्वास ले रहा था।

द्वितीय भागमें कहा गया है कि जो नाम-रूपादि-विहीन एकमात्र सत्ता थी, उसीकी महिमासे संसाररूपी कार्य-प्रपञ्च प्रादुर्भूत हुआ। इस परम सत्तामें सिसृक्षाभाव उत्पन्न हुआ और तब चर-अचररूप निखिल सृष्टिने आकार ग्रहण किया।

तृतीय भागमें सृष्टिकी दुर्ज्ञेयताका निरूपण किया गया है। समस्त ब्रह्माण्डमें ऐसा कोई भी नहीं है, जो यह कह सके कि यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई? सामर्थ्यवान् देवता भी नहीं कह सकते, क्योंकि वे भी तो सृष्टि-रचनाके बाद ही अस्तित्वमें आये थे। संसार-सृष्टिके परम गूढ रहस्यको यदि कोई जानते हैं तो केवल वे जो इस समस्त सृष्टिके अध्यक्ष हैं, अधिष्ठाता हैं। उनके अतिरिक्त इस गूढ तत्त्वको कोई नहीं जानता।

नासदीय-सूक्तमें ऋषिने सृष्टि-सर्जनाके गुह्यतम रहस्यको निरूपित किया है। हमारे लिये यह परम गौरवका विषय है कि दर्शनके इस अतिशय गूढ सिद्धान्तका विवेचन सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, जनक, व्यास, शंकराचार्य प्रभृति दार्शनिक महाविभूतियोंकी प्रादुर्भाव-भूमि भारतवर्षमें हुआ। ऋग्वेदके नासदीय-सूक्तकी गणना विश्वके शिखर साहित्यमें होती है। जगत्-सर्जनाके रहस्यको उद्घाटित करनेकी भावनासे विश्वके किसी भी मनीषी (कवि)-के द्वारा नासदीय-सूक्तसे अधिक गम्भीर एवं प्रशस्त काव्यकृति आजतक नहीं रची गयी। यह अपने-आपमें इस सूक्तकी उत्कृष्टताका संदेश देता है। दर्शन एवं कविता दोनोंकी उच्चतम कल्पनाकी अभिव्यक्ति इस सूक्तमें मिलती है। सूक्तमें आध्यात्मिक धरातलपर विश्व-ब्रह्माण्डकी एकताकी भावना स्पष्ट-रूपसे अभिव्यक्त हुई है। विश्वमें एकमात्र सर्वोपरि सर्जक एवं नियामक सत्ता है, इसका भी सूक्तमें स्पष्ट संकेत मिलता है। नासदीय-सूक्तके इसी विचार-बीजका पल्लवन एवं विकास आगे अद्वैतदर्शनमें होता है। भारतीय संस्कृतिमें यह धारणा—मान्यता बद्धमूल है कि विश्वब्रह्माण्डमें एक ही सर्वोच्च सत्ता है, जिसका नाम-रूप कुछ भी नहीं है। नासदीय-सूक्तमें इसी सत्यकी अभिव्यक्ति है।

ऋग्वेदका 'कितवसूक्त'—कर्मण्य जीवनका सदुपदेश

(डॉ० श्रीदादूरामजी शर्मा)

वेद मानवीय सभ्यता और संस्कृतिके आदिग्रन्थ हैं। वे सबलता-दुर्बलतासमन्वित मानवीय व्यक्तित्वके सजीव-सस्फूर्त दर्पण हैं। जहाँ प्रकृतिकी संचालिता शक्तियोंके साक्षात्कारकी उन्हें भी तथा उनके द्वारा सम्पूर्ण विश्वको संचालित करनेवाली आदिशक्ति—परमात्मतत्त्व (पुरुष)-के गूढ दार्शनिक विवेचनकी तथा उनसे तादात्म्य लाभके लिये छटपटाहटकी हृदयावर्जक झाँकी भी उनमें है, वहीं मानवके सहज-सरल और प्राकृत जीवनका प्रवाह भी उनमें तरलित-तरंगित हो रहा है।

सम्भवतः जगत्स्रष्टाने मानवके भीतर सत्प्रवृत्तियोंके साथ-साथ असत्प्रवृत्तियोंका और शक्तिके साथ दुर्बलताका सन्निवेश इसलिये किया है कि भौतिक उपलब्धियोंसे गर्वित होकर मानव उसे भुला न बैठे। उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्वको एक झटका लगे तथा उसे वास्तविकताका ज्ञान हो सके, इसके लिये ही उसने उसमें जन्मजात दुर्बलताएँ भी भर दी हैं। मानवीय मेधाके सर्वांगीण विकासका सर्वप्रथम और समग्र संकलन है 'ऋग्वेद'। उसमें जहाँ भावुक ऋषिकी स्फीत भावधारा अपने सहज-सरल रूपमें 'उषा' आदि सूक्तोंके उत्कृष्ट कवित्वमें तरलित हुई है, 'अग्नि' आदि सूक्तोंमें वैज्ञानिक गवेषणाकी प्रवृत्ति तथा 'पुरुष' और 'नासदीय-सूक्तों'में आध्यात्मिक-दार्शनिक चिन्तनका सहज परिपाक दिखायी देता है,

वहाँ 'कितव' जैसे सूक्त उसकी अधोगामिनी सामाजिक प्रवृत्तिको प्रकट करते हैं।

वैदिक युगसे ही जुआ खेलना एक सामाजिक दुर्व्यसन रहा है। 'ऋग्वेद' के दशम मण्डलका ३४वाँ सूक्त है 'कितव'। जिसका अर्थ होता है—द्यूतकर या जुआरी। 'कितवसूक्त' के अनुष्टुप् और जगती छन्दोंमें रचित १४ मन्त्रोंमें कवष एलूष ऋषिने स्वगत-कथन या आत्मालापपरक शैलीमें जुआरीकी हीन-दयनीय वैयक्तिक और पारिवारिक दशाका, उसके पराजयजन्य पश्चात्तापका, उसकी संकल्प-विकल्पात्मक मनोदशाका और शाश्वत सामाजिक संदेशका बड़ा ही यथार्थ और प्रेरक दृश्य खींचा है। भारतमें वैदिककालसे ही जुएका खेल चौसरद्वारा होता था।

कितव कहता है— 'चौसरके फलकपर बार-बार नाचते हुए ये पाशे सोमके पेयकी तरह मेरे मनको स्फूर्ति और मादकतासे भर देते हैं[१]।' फलतः वह बार-बार इस दुर्व्यसनके परित्यागका निश्चय करके भी उससे छूट नहीं पाता। पाशेके शब्दोंको सुनकर स्वयंको रोक पाना उसके लिये कठिन है। 'वह सब कुछ छोड़ सकता है, अपनी प्राणवल्लभा पत्नीका परित्याग भी उसे सहज है, किंतु जुएके खेलको वह छोड़ नहीं सकता। जब द्यूतका मद उतर जाता है और वह अपनी सामान्य स्थितिमें आता है तो उसे अपनी पति-परायणा पत्नीके अकारण परित्यागके लिये बड़ा पश्चात्ताप होता है[२]।' इस बुरी आदतके कारण परिवारमें अपनी हेय और तिरस्कृत स्थितिपर उसे अनुताप होता है—'सास मेरी निन्दा करती है, पत्नी घरमें घुसने नहीं देती। जरूरत पड़नेपर मैं अपने इष्ट-मित्रों या रिश्तेदारोंसे धन माँगता हूँ तो कोई मुझे देता नहीं। मेरी वास्तविक आवश्यकताको भी लोग बहाना समझते हैं। सोचते हैं, यह बहाना बनाकर जुआ खेलनेके लिये ही धन माँग रहा है। बूढ़ा घोड़ा जैसे बाजारमें किसी कीमतका नहीं रह जाता, उसी तरह मैं भी अपना मूल्य खो बैठा हूँ[३]।'

द्यूतमें पराजित कितवकी पत्नीका दूसरे विजेता कितव बलपूर्वक संस्पर्श करते हैं[४]। इस मन्त्रसे यह ज्ञात होता है कि वैदिक युगमें भी लोग अपनी पत्नीको दाँवपर लगा देते थे और हार जानेपर उन्हें अपनी आँखोंसे अपनी पत्नीकी बेइज्जतीका दृश्य देखना पड़ता था।

नवें मन्त्रमें विरोधाभास अलंकारद्वारा पाशोंकी शक्तिमत्ताका बड़ा ही सजीव और काव्यात्मक चित्र खींचा गया है— 'यद्यपि ये पाशे नीचे स्थान (फलक)-पर रहते हैं, तथापि ऊपर उछलते या प्रभाव दिखलाते हैं—जुआरियोंके हृदयमें हर्ष-विषाद आदि भावोंकी सृष्टि करते हैं, उनके मस्तकको जीतनेपर ऊँचा कर देते हैं तो हारनेपर झुका भी देते हैं। ये बिना हाथवाले हैं, फिर भी हाथवालोंको पराजित कर देते हैं। ऐसा लगता है मानो ये पाशे फलकपर फेंके गये दिव्य अंगारे हैं, जिन्हें बुझाया नहीं जा सकता। ये शीतल होते हुए भी पराजित कितवके हृदयको दग्ध कर देते हैं'—

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति॥

दसवें मन्त्रमें जुआरीकी पारिवारिक दीन-दशा और वैयक्तिक अधःपतनका बड़ा ही मार्मिक दृश्य अंकित किया गया है— 'धनादि साधनोंसे वञ्चित और पतिद्वारा उपेक्षित जुआरीकी पत्नी संतप्त होती रहती है। इधर-उधर भटकनेवाले जुआरी पुत्रकी माँ बेटेकी अपने प्रति उपेक्षा या उसके अधःपतनपर आँसू बहाती रहती है। ऋणके बोझमें दबा हुआ जुआरी आयके अन्य साधनोंसे वञ्चित हो जाता है और कर्ज चुकानेके लिये रातमें दूसरोंके घरोंमें चोरी करता है'—

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद् धनमिच्छमानो ऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति॥

(ऋक्० १०। ३४। १०)

दूसरोंकी सजी-धजी और सुखी-सम्पन्न स्त्रियों तथा सुसज्जित गृहोंको देखकर एवं अपनी दीन-हीन

१-ऋग्वेद (१०।३४।१)।
२-न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्॥ (ऋक्० १०।३४।२)
३-द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्॥ (ऋक्० १०।३४।३)
४-ऋग्वेद (१०।३४।४)।

विपन्न पत्नी तथा जीर्ण-शीर्ण विद्रूप घरको देखकर जुआरीका चित्त संतप्त हो उठता है। वह निश्चय करता है—'अब मैं प्रातः-कालसे पुरुषार्थका जीवन जिऊँगा। सही रास्तेपर चलकर अपने पारिवारिक जीवनको सुख-समृद्धिसे पूर्ण करूँगा।' किंतु प्रभात होते ही वह पूर्वाभ्यासवश फिर जुआ खेलनेके लिये द्यूतागारका मार्ग पकड़ लेता है।

तेरहवें मन्त्रमें जुआरीको कर्मण्य जीवन जीनेकी प्रेरणा दी गयी है। वास्तवमें जुआ, सट्टा, लाटरी आदिसे धन पानेकी इच्छा मानवकी अकर्मण्य या पुरुषार्थहीन वृत्तिका परिचायक है। वह बिना परिश्रम किये दूसरोंका धन हथिया लेना या पा लेना चाहता है। यह प्रवृत्ति उसे पुरुषार्थहीन या निकम्मा बना देती है और अन्ततः उसके दुर्भाग्य एवं पतनका कारण बनती है। इसलिये ऋषि कहते हैं—'जुआ मत खेलो। खेती करो। अपने पौरुष या श्रमसे उपार्जित धनको ही सब कुछ मानो। उसीसे सुख और संतोषका अनुभव करो। पुरुषार्थसे तुम्हें अमृततुल्य दूध देनेवाली गायें मिलेंगी, पतिपरायणा सेवामयी पत्नीका साहचर्य मिलेगा। सबके प्रेरक भगवान् सूर्यने मुझे यह संदेश दिया है'—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥

(ऋक्० १०। ३४। १३)

—यही इस सूक्तका सामाजिक संदेश भी है।

ऋग्वेदका 'दानस्तुति-सूक्त'

(सुश्री अलकाजी तुलस्यान)

'दानमेकं कलौ युगे' यह वचन मनुस्मृति (१। ८६), पद्मपुराण (१। १८। ४४०), पराशरस्मृति (१। २३), लिङ्गपुराण (१। ३९। ७), भविष्यपुराण (१। २। ११९), बृहत् पराशरस्मृति (१। २२-२३) आदिमें मिलता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

'जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥'

(रा० च० मा० ७। १०३ ख)।

शतपथब्राह्मण एवं 'बृहदारण्यक' में 'द' की आख्यायिकामें भी मनुष्यका धर्म 'दान' ही निर्दिष्ट है। राजनीतिमें भी 'दान' नीति बड़े महत्त्वकी है। महाभारतके अनुशासनपर्वका दूसरा नाम ही 'दानधर्मपर्व' है; फिर 'दानसागर', 'दानकल्पतरु', 'हेमाद्रिदानखण्ड'-जैसे सैकड़ों विशाल निबन्ध तो एक स्वरसे आद्योपान्त दानकी ही महिमा गाते हैं। विष्णुधर्म, शिवधर्म, बृहद्धर्म एवं मत्स्यादि पुराण भी दान-महिमासे भरे हैं। स्कन्दपुराणमें दानके २ अद्भुत हेतु, ६ अधिष्ठान, ६ अङ्ग, ६ फल, ४ प्रकार और ३ नाशक बतलाये गये हैं। प्रिय वचन एवं श्रद्धासहित दान दुर्लभ है। वैसे बौद्ध, जैन, पारसी, ईसाई आदि धर्मोंमें भी दानकी अपार महिमा है, पर सबके मूल स्रोत 'ऋग्वेद'के दानसूक्त ही मान्य हैं।

'बृहद्देवता' आदिके अनुसार ऋग्वेदमें (८। ६८। १५—१९, ५। ३८) सैकड़ों दानस्तुतियाँ हैं, पर उसके दशम मण्डलका ११७ वाँ सूक्त सामान्यतया दानकी स्तुतिका प्रतिपादन करनेवाला एक बड़ा ही भव्य सूक्त है। वस्तुतः यह परमोच्च अर्थोंमें 'दानस्तुति' है। इसमें दाताकी प्रशंसा या सिफ़ारिश नहीं है, वरन् इसके मन्त्र उपदेशपरक हैं। इसमें महान् नैतिक शिक्षा है, जो अन्य दानस्तुतियोंमें भी दुर्लभ है। यह सूक्त 'भिक्षुसूक्त'के नामसे भी प्रसिद्ध है। इसमें १ से ३ तथा ५ से ८ ऋचाओंतक धनवान् व्यक्तिको तथा ऋचा ४ एवं ९ में क्षुधार्त याचकको उपदिष्ट किया गया है। इस सूक्तके ऋषि 'आङ्गिरस भिक्षु' हैं।

सूक्तकी पहली ऋचामें कहा गया है—'देवताओंने केवल क्षुधाकी ही सृष्टि नहीं की, अपितु मृत्युको भी बनाया है। जो बिना दान दिये हुए ही खाता है, उस खानेवाले पुरुषको भी मृत्युके ही समीप जाना पड़ता है। दाताका धन कभी क्षीण नहीं होता। इधर दान न करनेवाले मनुष्यको कभी सुख नहीं प्राप्त होता*। जो

* (क) न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते॥ (ऋक्० १०। ११७। १)
(ख) विष्णुपुराण (३। ११। ७३-७४)-में भी कहा है—अस्नाताशी मलं भुङ्क्ते ········अदत्त्वा विषमश्नुते॥

क्षुधाको अन्न-दानसे शान्त करता है, वह सर्वश्रेष्ठ दाता है। जो दान नहीं करता, जरूरत पड़नेपर उसकी भी कभी कोई सहायता नहीं करता अथवा उसके प्रति सहानुभूति नहीं दिखाता तथा जो पुरुष स्वयं अन्नवान् होनेपर भी घर आये हुए दुर्बल एवं अन्नकी याचना करनेवाले भिक्षुकके प्रति दान देनेके लिये अपने अन्तःकरणको स्थिर कर लेता है, उसे कभी सुख नहीं मिलता[१]।'

अन्नकी कामनासे घर आये हुए याचकको जो अन्न देता है, वही श्रेष्ठ दाता है। उसे सम्पूर्ण फल मिलता है और सभी उसके मित्र हो जाते हैं[२]।

चौथी ऋचा याचक-पक्षके संदर्भमें है। तदनुसार 'वह पुरुष मित्र नहीं है, जो सर्वदा स्नेह रखनेवाले मित्रको अन्नदान नहीं करता। ऐसे पुरुषसे दूर हट जाना ही श्रेयस्कर है। उसका वह गृह गृह नहीं है। अन्न-प्रदान करनेवाले किसी अन्य पुरुषके यहाँ जाना ही उसके लिये श्रेयस्कर है[३]।'

सूक्तकी पाँचवीं ऋचामें धनवान् पुरुषको दानके लिये प्रेरित किया गया है। इसमें धनकी चञ्चलताका वर्णन करते हुए कहा गया है—'धनवान् पुरुषके द्वारा घर आये हुए याचकको धन अवश्य दिया जाना चाहिये, जिससे याचकको दीर्घमार्ग (पुण्य-पथ) प्राप्त होता है। रथके चक्रके समान धन एक स्थानपर स्थिर नहीं रहता। वह अन्य पुरुषका आश्रय लेता रहता है[४]।'

'जो प्रकृष्ट ज्ञानवाला है अथवा जिसकी दानमें अभिरुचि नहीं है, वह व्यर्थ ही अन्न प्राप्त करता है। वह अन्न उसकी हानिका ही कारण होता है। जो न देवताका हविष-प्रदानादिसे पोषण करता है, न मित्रवर्गको देता है और केवल स्वयं ही खाता है, वह वास्तवमें केवल पापको ही खाता है'—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋक्० १०। ११७। ६)

इस ऋचामें प्रयुक्त '**केवलाघो भवति केवलादी**' यह अन्तिम चरण वैदिक संस्कृतिकी उत्कृष्टताका प्रतीक है[५]।

'जिस प्रकार न बोलनेवाले ब्रह्मन् (पुरोहित)-की अपेक्षा बोलनेवाला वाक्पटु पुरोहित श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार दाता सदैव अदातासे श्रेष्ठ होता है[६]।'

सूक्तकी आठवीं ऋचा एक प्रहेलिकाके समान है, जो मानव-मनकी चञ्चलताकी ओर संकेत करती है। इसमें कहा गया है—'जिसके पास एक अंश सम्पत्ति है, वह दो अंश धनकी कामना करता है, जिसके पास दो अंश सम्पत्ति है, वह तीन अंश धनवाले पुरुषके पास जाता है और जिसके पास चार अंश धन है, वह उससे अधिकवालेके पास जाता है। अल्प धनी अधिक धनीकी कामना करता है[७]।' तात्पर्य यह कि एक-

---

१-'य आध्राय चकमानाय पित्वो ऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे। स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते'॥ (ऋक्० १०। ११७। २)

२-'स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय। अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्'॥ (ऋक्० १०। ११७। ३)

३-'न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्'॥ (ऋक्० १०। ११७। ४)

ऋक्० (१०। ११७। ४)-में प्रयुक्त 'ओक' ('गृह') शब्दके लिये डॉ० अविनाशचन्द्र लिखते हैं—A home belonging to an inhabitant of the land, bound by ties of kingship. A home is not meant only for its members, but also for others in need of food and shelter. (Hymns from the Vedas. P. 199)

४-'पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्। ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा ऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः'॥ (ऋक्० १०। ११७। ५)

डॉ० अविनाशचन्द्र इस ऋचाके संदर्भमें लिखते हैं—'The rich man should take a long view of life and think that he may also one day become poor and would need anothers help.' (Hymns from the Vedas. P. 199)

५-मनु० (३। ११८)-का—'अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्' तथा गीताका 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः'। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'॥ (३। १३)—श्लोक भी इसी उपर्युक्त मन्त्रकी ओर संकेत करता है।

६-'वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्'॥ (ऋक्० १०। ११७। ७)

७-'एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्। चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः'॥ (ऋक्० १०। ११७। ८)

इस ऋचाके लिये विशेष द्रष्टव्य हैं—वेलंकर, ऋक्सूक्तशती, पृ० २९१, नोट ८, 'ग्रिफिथ द हिम्स आफ दि ऋग्वेद', पृ० ६२६, नोट ८, विल्सन, ऋग्वेद-संहिता, विण्टरनित्ज, प्राचीन भारतीय साहित्यका इतिहास पृ० ८६, म्योर, ओ० सं० टे०, भाग ५ आदि।

दूसरेकी अपेक्षा सभीको है, अतः स्वयंको ही धनवान् नहीं मानना चाहिये, अपितु अतिथि याचकको अपना कल्याणकारी मान करके उसे श्रद्धासे धन-दान करना चाहिये। एक धनीकी महत्ता इसीमें है कि वह याचकको धन दे।

सूक्तकी अन्तिम ऋचामें मानव एवं मानव-स्वभावकी असमानताकी ओर संकेत है। वहाँ कहा गया है—'हमारे दोनों हाथ समान हैं, किंतु उनका कार्य भिन्न है। एक ही मातासे उत्पन्न दो गायें समान दुग्ध नहीं देतीं। दो यमज भ्राता होनेपर भी उनका पराक्रम समान नहीं होता। एक ही कुलमें उत्पन्न होकर भी दो व्यक्ति समान दाता नहीं होते[1]।'

अन्ततः सम्पूर्ण सूक्तके पर्यालोचनसे यही तथ्य प्राप्त होता है कि वैदिक आर्योंकी दृष्टिमें दान एवं दानीकी अपार महत्ता थी। धनीके धनकी सार्थकता उसकी कृपणतामें नहीं, वरन् दानशीलतामें मानी गयी है। सम्पूर्ण सूक्तमें दानशीलताकी स्तुति है और इसके प्रत्येक मन्त्र उपदेशपरक हैं।

वैदिक सूक्ति-सुधा-सिन्धु

[१-वेद-वाणी]

१—ऋग्वेदके उपदेश—

१- **न स सखा यो न ददाति सख्ये।** (१०। ११७। ४)
'वह मित्र ही क्या, जो अपने मित्रको सहायता नहीं देता।'

२- **सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्॥** (९। ७३। १)
'धर्मात्माको सत्यकी नाव पार लगाती है।'

३- **स्वस्ति पन्थामनु चरेम।** (५। ५१। १५)
'हे प्रभो! हम कल्याण-मार्गके पथिक बनें।'

४- **अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।** (१। ९४। ४)
'परमेश्वर! हम तेरे मित्रभावमें दुःखी और विनष्ट न हों।'

५- **शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः।** (१०। १८। २)
'शुद्ध और पवित्र बनो तथा परोपकारमय जीवन-वाले हो।'

६- **सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुः।** (४। ३३। ६)
'पुरुषोंने सत्यका ही प्रतिपादन किया है और वैसा ही आचरण किया है।'

७- **सुगा ऋतस्य पन्थाः।** (८। ३१। १३)
'सत्यका मार्ग सुखसे गमन करने योग्य है, सरल है।'

८- **ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः।** (९। ७३। ६)
'सत्यके मार्गको दुष्कर्मी पार नहीं कर पाते।'

९- **दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते।** (१। १२५। ६)
'दानी अमरपद प्राप्त करते हैं।'

१०- **समाना हृदयानि वः।** (१०। १९१। ४)
'तुम्हारे हृदय (मन) एक-से हों।'

११- **सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते।** (१०। १७। ७)
'देवपदके अभिलाषी सरस्वतीका आह्वान करते हैं।'

१२- **उद्‌बुध्यध्वं समनसः सखायः।** (१०। १०१। १)
'एक विचार और एक प्रकारके ज्ञानसे युक्त मित्रजनो उठो! जागो!!'

१३- **इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।** (८। २। १८)
'देवता यज्ञकर्ता, पुरुषार्थी तथा भक्तको चाहते हैं,

---

[1] -'समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चित्र समं दुहाते। यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः'॥ (ऋक्० १०।११७।९)

यहाँ प्रथम तीन पङ्क्तियाँ तीन दृष्टान्त-चित्र प्रस्तुत करती हैं और अन्तिम पङ्क्तिमें प्रस्तुत नैतिक वस्तुका निर्देश हुआ है। इस ऋचाके संदर्भमें ग्रिफिथने उचित ही लिखा है—

All Men should be liberal, but we must not expect all to be equally generous.
(The HYMNS of the Vavda, P.626 note g.)

तथा—

Yet mere greatness is no indication of corresponding charity and so a needy person must be discriminating in his approach to rich men for begging. (R.Ksu Ktasati P. 291.note 9.)

आलसीसे प्रेम नहीं करते।'

१४- **यच्छा नः शर्म सप्रथः॥** (१। २२। १५)
'भगवन्! तुम हमें अनन्त अखण्डैकरसपरिपूर्ण सुखोंको प्रदान करो।'

१५- **सुम्नमस्मे ते अस्तु।** (१। ११४। १०)
'हे परमात्मन्! हमारे अंदर तुम्हारा महान् (कल्याणकारी) सुख प्रकट हो।'

१६- **अस्य प्रियासः सख्ये स्याम॥** (४। १७। ९)
'हम देवताओंसे प्रीतियुक्त मैत्री करें।'

१७- **पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥** (५। ५१। १५)
'हम दानशील पुरुषसे, विश्वासघातादि न करनेवालेसे और विवेक-विचार-ज्ञानवान्से सत्संग करते रहें।'

१८- **जीवा ज्योतिरशीमहि।** (७। ३२। २६)
'हम जीवगण प्रभुकी कल्याणमयी ज्योतिको प्रतिदिन प्राप्त करें।'

१९- **भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।**
(१०। २५। १)
'हे परमेश्वर! हम सबको कल्याणकारक मन, कल्याणकारक बल और कल्याणकारक कर्म प्रदान करो।'

२—यजुर्वेदके उपदेश—

१- **तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥** (३१। १९)
'उस परमात्मामें ही सम्पूर्ण लोक स्थित हैं।'

२- **अस्माकः सन्त्वाशिषः सत्याः।** (२। १०)
'हमारी कामनाएँ सच्ची हों।'

३- **भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनम्।** (३०। १७)
'जागना (ज्ञान) ऐश्वर्यप्रद है। सोना (आलस्य) दरिद्रताका मूल है।'

४- **सं ज्योतिषाभूम॥** (२। २५)
'हम ब्रह्मज्ञानसे संयुक्त हों।'

५- **अगन्म ज्योतिरमृता अभूम।** (८। ५२)
'हम तुम्हारी ज्योतिको प्राप्तकर मृत्युके भयसे मुक्त हों।'

६- **वैश्वानरज्योतिर्भूयासम्।** (२०। २३)
'मैं परमात्माकी महिमामयी ज्योतिको प्राप्त करूँ।'

७- **सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।** (२०। ५१)
'सर्वज्ञ प्रभु हमारे लिये सुखकारी हों।'

८- **वयं देवानां सुमतौ स्याम॥** (३४। ३७)
'हम देवताओंकी कल्याणकारिणी बुद्धिको प्राप्त करें।'

९- **अप नः शोशुचदघम्॥** (३५। ६)
'देवगण हमारे पापोंको भलीभाँति नष्ट कर दें।'

१०- **स्योना पृथिवि नः।** (३५। २१)
'हे पृथ्वी! तुम हमारे लिये सुख देनेवाली हो।'

११- **इहैव रातयः सन्तु॥** (३८। १३)
'हमें अपने ही स्थानमें अनेक प्रकारके ऐश्वर्य प्राप्त हों।'

१२- **ब्रह्मणस्तन्वं पाहि।** (३८। १९)
'हे भगवन्! तुम ब्राह्मणके शरीरका पालन (रक्षण) करो।'

३—सामवेदके उपदेश—

१- **भद्रा उत प्रशस्तयः।** (१११)
'हमें कल्याणकारिणी स्तुतियाँ प्राप्त हों।'

२- **वि रक्षो वि मृधो जहि।** (१८६७)
'राक्षसों और हिंसक शत्रुओंका नाश करो।'

३- **जीवा ज्योतिरशीमहि।** (२५९)
'हम शरीरधारी प्राणी विशिष्ट ज्योतिको प्राप्त करें।'

४- **नः सन्तु सनिषन्तु नो धियः॥** (५५५)
'हमारी देवविषयक स्तुतियाँ देवताओंको प्राप्त हों।'

५- **विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञम्।** (६११)
'सम्पूर्ण देवगण मेरे मान करनेयोग्य पूजनको स्वीकार करें।'

६- **अहं प्रवदिता स्याम्॥** (६११)
'मैं सर्वत्र प्रगल्भतासे बोलनेवाला बनूँ।'

७- **यः सपर्यति तस्य प्राविता भव।** (८४५)
'जो तेरी पूजा करता है, उसका तू रक्षक हो।'

८- **मनौ अधि पवमानः राजा मेधाभिः अन्तरिक्षेण यातवे ईयते।** (८३३)
'मनुष्योंमें शुद्ध होनेवाला अपनी बुद्धिसे उच्च मार्गसे जानेकी कोशिश करता है।'

९- **जनाय उर्जं वरिवः कृधि।** (८४२)
'लोगोंमें श्रेष्ठ बल पैदा करो।'

१०- **पुरन्धिं जनय।** (८६१)
'बहुतसे उत्तम कर्म करनेमें समर्थ बुद्धिको उत्पन्न करो।'

११- **विचर्षणिः, अभिष्टिकृत, इन्द्रियं हिन्वानः,**

ज्यायः,महित्वं आनशे। (८३९)

'विशेष ज्ञानी और इष्टकी सिद्धि करनेवाला अपनी शक्तिको प्रयोगमें लाकर श्रेष्ठत्व प्राप्त करता है।'

१२- **ऋतावृधौ ऋतस्पृशौ बृहन्तं क्रतुं ऋतेन आशाथे।** (८४८)

'सत्य बढ़ानेवाले, सत्यको स्पर्श करनेवाले सत्यसे ही महान् कार्य करते हैं।'

१३- **यः सखा सुशेवः अद्वयुः।** (६४९)

'जो उत्तम मित्र, उत्तम प्रकारसे सेवाके योग्य तथा अच्छा व्यवहार करनेवाला है, वह उत्तम होता है।'

१४- **ईडेन्यः नमस्यः तमांसि तिरः दर्शतः वृषा अग्निः सं इध्यते।** (१५३८)

'जो प्रशंसनीय नमस्कार करने योग्य, अन्धकारको दूर करनेवाला दर्शनीय और बलवान् है, उसका तेज बढ़ता है।'

४—अथर्ववेदके उपदेश—

१- **स एष एक एकवृदेक एव।** (१३। ५। २०)

'वह ईश्वर एक और सचमुच एक ही है।'

२- **एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।** (२। २। १)

'एक परमेश्वर ही पूजाके योग्य और प्रजाओंमें स्तुत्य है।'

३- **तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः।** (१०। ८। ४४)

'उस आत्माको ही जान लेनेपर मनुष्य मृत्युसे नहीं डरता।'

४- **रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्॥** (७। ११५। ४)

'पुण्यकी कमाई मेरे घरकी शोभा बढ़ाये, पापकी कमाईको मैंने नष्ट कर दिया है।'

५- **मा जीवेभ्यः प्रमदः।** (८। १। ७)

'प्राणियोंकी ओरसे बेपरवाह मत हो।'

६- **वयं सर्वेषु यशसः स्याम।** (६। ५८। २)

'हम समस्त जीवोंमें यशस्वी होवें।'

७- **उद्यानं ते पुरुष नावयानम्।** (८। १। ६)

'पुरुष! तुम्हें तेरे लिये ऊपर उठना चाहिये, न कि नीचे गिरना।'

८- **मा नो द्विक्षत कश्चन।** (१२। १। २४)

'हमसे कोई भी द्वेष करनेवाला न हो।'

९- **सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।** (३। ३०। ३)

'समान गति, समान कर्म, समान ज्ञान और समान नियमवाले बनकर परस्पर कल्याणयुक्त वाणीसे बोलो।'

१०- **मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युः।** (१७। १। २९)

'मुझे पाप और मौत न व्यापे।'

११- **अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।** (६। ७८। २)

'मनुष्य दुग्धादि पदार्थोंसे बढ़े और राज्यसे बढ़े।'

१२- **अरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः।** (५। ३। ५)

'हम शरीरसे नीरोग हों और उत्तम वीर बनें।'

१३- **सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम।** (६। ११७। ३)

'हमलोग ऋणरहित होकर परलोकके सभी मार्गोंपर चलें।'

१४- **वाचा वदामि मधुमद्।** (१। ३४। ३)

'वाणीसे माधुर्ययुक्त ही बोलता हूँ।'

१५- **ज्योगेव दृशेम सूर्यम्।** (१। ३१। ४)

'हम सूर्यको बहुत कालतक देखते रहें।'

१६- **मा पुरा जरसो मृथाः।** (५। ३०। १७)

'हे मनुष्य! तू बुढ़ापेसे पहले मत मर।'

१७- **शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।** (३। २४। ५)

'सैकड़ों हाथोंसे इकट्ठा करो और हजारों हाथोंसे बाँटो।'

१८- **शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्।** (६। ७१। ३)

'मेरे लिये अन्न कल्याणकारी और स्वादिष्ट हो।'

१९- **शिवा नः सन्तु वार्षिकीः।** (१। ६। ४)

'हमें वर्षाद्वारा प्राप्त जल सुख दे।'

२०- **पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्।** (२। १३। १)

'हे भगवन्! जिस प्रकार पिता अपने अपराधी पुत्रकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप भी इस (हमारे) बालककी रक्षा करें।'

२१- **विश्वकर्मन्! नमस्ते पाह्यस्मान्।** (२। ३५। ४)

'हे विश्वकर्मन्! तुमको नमस्कार है, तुम हमारी रक्षा करो।'

२२- **शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः।** (३। १२। ६)

'हम स्वभिलषित पुत्र-पौत्रादिसे परिपूर्ण होकर सौ वर्षतक जीवित रहें।'

२३- **निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक्।** (१६। २। १)

'हमारी शक्तिशालिनी मीठी वाणी कभी भी दुष्ट स्वभाववाली न हो।'

[२-वेदामृत-मन्थन]

१—ऋग्वेदीय संदेश—

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु। तद् वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

(ऋग्वेद, शान्तिपाठ)

मेरी वाणी मनमें और मन वाणीमें प्रतिष्ठित हो। हे ईश्वर! आप मेरे समक्ष प्रकट हों। हे मन और वाणी! मुझे वेदविषयक ज्ञान दो। मेरा ज्ञान क्षीण नहीं हो। मैं अनवरत अध्ययनमें लगा रहूँ। मैं श्रेष्ठ शब्द बोलूँगा, सदा सत्य बोलूँगा, ईश्वर मेरी रक्षा करे। वक्ताकी रक्षा करे। मेरे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, त्रिविध ताप शान्त हों।

जानन्ति वृष्णो अरुषस्य शेवमुत ब्रध्नस्य शासने रणन्ति।
दिवोरुचः सुरुचो रोचमाना इळा येषां गण्या माहिना गीः।

(ऋग्वेद ३। ७। ५)

जिनकी वाणी महिमाके कारण मान्य और प्रशंसनीय है, वे ही सुखकी वृष्टि करनेवाले अहिंसाके धनको जानते हैं तथा महत्‌के शासनमें आनन्द प्राप्त करते हैं और दिव्यकान्तिसे देदीप्यमान होते हैं।

जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः।
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्॥

(ऋग्वेद ३। ८। ५)

जिस व्यक्तिने जन्म लिया है, वह जीवनको सुन्दर बनानेके लिये उत्पन्न हुआ है। वह जीवन-संग्राममें लक्ष्य-साधनके हेतु अध्यवसाय करता है। धीर व्यक्ति अपनी मननशक्तिसे कर्मोंको पवित्र करते हैं और विप्रजन दिव्य भावनासे वाणीका उच्चारण करते हैं।

स हि सत्यो यं पूर्वे चिद् देवासश्चिद् यमीधिरे।
होतारं मन्द्रजिह्वमित् सुदीतिभिर्विभावसुम्॥

(ऋग्वेद ५। २५। २)

सत्य वही है जो उज्ज्वल है, वाणीको प्रसन्न करता है और जिसे पूर्वकालमें हुए विद्वान् उज्ज्वल प्रकाशसे प्रकाशित करते हैं।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

(ऋग्वेद ७। १०४। १२)

उत्तम ज्ञानके अनुसन्धानकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिके सामने सत्य और असत्य दोनों प्रकारके वचन परस्पर स्पर्धा करते हुए उपस्थित होते हैं। उनमेंसे जो सत्य है, वह अधिक सरल है। शान्तिकी कामना करनेवाला व्यक्ति उसे चुन लेता है और असत्यका परित्याग करता है।

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः॥

(ऋग्वेद १०। ३७। २)

वह सत्य-कथन सब ओरसे मेरी रक्षा करे, जिसके द्वारा दिन और रात्रिका सभी दिशामें विस्तार होता है तथा यह विश्व अन्यमें निविष्ट होता है, जिसकी प्रेरणासे सूर्य उदित होता है एवं निरन्तर जल बहता है।

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवत्॥

(ऋग्वेद ७। ३२। १३)

यज्ञ-भावनासे भावित सदाचारीको भली प्रकारसे विवेचित, सुन्दर आकृतिसे युक्त, उच्च विचार (मन्त्र) दो। जो इन्द्रके निमित्त कर्म करता है, उसे पूर्वजन्मके बन्धन छोड़ देते हैं।

त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्ध्यर्कं हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्।
वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्यपश्यत्॥

(ऋग्वेद ३। २६। ८)

मनुष्य या साधक हृदयसे ज्ञान और ज्योतिको भली प्रकार जानते हुए तीन पवित्र उपायों (यज्ञ, दान और तप अथवा श्रवण, मनन और निदिध्यासन)-से आत्माको पवित्र करता है। अपने सामर्थ्यसे सर्वश्रेष्ठ रत्न 'ब्रह्मज्ञान'को प्राप्त कर लेता है और तब वह इस संसारको तुच्छ दृष्टिसे देखता है।

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे॥

(ऋग्वेद १०। १३४। ७)

हे देवो! न तो हम हिंसा करते हैं, न विद्वेष उत्पन्न करते हैं; अपितु वेदके अनुसार आचरण करते हैं। तिनके-जैसे तुच्छ प्राणियोंके साथ भी मिलकर कार्य करते हैं।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

(ऋग्वेद १०। ७१। ६)

जो मनुष्य सत्य-ज्ञानके उपदेश देनेवाले मित्रका परित्याग कर देता है, उसके वचनोंको कोई नहीं सुनता। वह जो कुछ सुनता है, मिथ्या ही सुनता है। वह सत्कार्यके मार्गको नहीं जानता।

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥

(ऋग्वेद १०। ११७। ३)

अन्नकी कामना करनेवाले निर्धन याचकको जो अन्न देता है, वही वास्तवमें भोजन करता है। ऐसे व्यक्तिके पास पर्याप्त अन्न रहता है और समय पड़नेपर बुलानेसे, उसकी सहायताके लिये तत्पर अनेक मित्र उपस्थित हो जाते हैं।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।

(ऋग्वेद १०। ११७। ५)

मनुष्य अपने सम्मुख जीवनका दीर्घ पथ देखे और याचना करनेवालेको दान देकर सुखी करे।

ये अग्ने नेरयन्ति ते वृद्धा उग्रस्य शवसः।
अप द्वेषो अप ह्वरो ऽन्यव्रतस्य सश्चिरे॥

(ऋग्वेद ५। २०। २)

वास्तवमें 'वृद्ध' तो वे हैं, जो विचलित नहीं होते और अति प्रबल नास्तिककी द्वेषभावनाको एवं उसकी कुटिलताको दूर करते हैं।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥

(ऋग्वेद १०। १५१। १)

श्रद्धासे अग्निको प्रज्वलित किया जाता है, श्रद्धासे ही हवनमें आहुति दी जाती है; हम सब प्रशंसापूर्ण वचनोंसे श्रद्धाको श्रेष्ठ ऐश्वर्य मानते हैं।

स नः पितेव सूनवे ऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥

(ऋग्वेद १। १। ९)

जिस प्रकार पिता अपने पुत्रके कल्याणकी कामनासे उसे सरलतासे प्राप्त होता है, उसी प्रकार हे अग्नि! तुम हमें सुखदायक उपायोंसे प्राप्त हो। हमारा कल्याण करनेके लिये हमारा साथ दो।

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।
अप नः शोशुचदघम्॥

(ऋग्वेद १। ९७। २)

सुशोभन क्षेत्रके लिये, सन्मार्गके लिये और ऐश्वर्यको प्राप्त करनेके लिये हम आपका यजन करते हैं। हमारा पाप विनष्ट हो।

स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये।
अप नः शोशुचदघम्॥

(ऋग्वेद १। ९७। ८)

जैसे सागरको नौकाके द्वारा पार किया जाता है, वैसे ही वह परमेश्वर हमारा कल्याण करनेके लिये हमें संसार-सागरसे पार ले जाय। हमारा पाप विनष्ट हो।

स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः॥

(ऋग्वेद ५। ५१। १२)

हम अपना कल्याण करनेके लिये वायुकी उपासना करते हैं, जगत्‌के स्वामी सोमकी स्तुति करते हैं और अपने कल्याणके लिये हम सभी गणोंसहित बृहस्पतिकी स्तुति करते हैं। आदित्य भी हमारा कल्याण करनेवाले हों।

अपि पन्थामगन्महि स्वस्तिगामनेहसम्।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥

(ऋग्वेद ६। ५१। १६)

हम उस कल्याणकारी और निष्पाप मार्गका अनुसरण करें। जिससे मनुष्य सभी द्वेष-भावनाओंका परित्याग कर देता है और सम्पत्तिको प्राप्त करता है।

शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ४)

ज्योति ही जिसका मुख है, वह अग्नि हमारे लिये कल्याणकारक हो; मित्र, वरुण और अश्विनीकुमार हमारे लिये कल्याणप्रद हों; पुण्यशाली व्यक्तियोंके कर्म हमारे लिये सुख प्रदान करनेवाले हों तथा वायु भी हमें शान्ति प्रदान करनेके लिये बहे।

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ५)

द्युलोक और पृथ्वी हमारे लिये सुखकारक हों, अन्तरिक्ष हमारी दृष्टिके लिये कल्याणप्रद हों, ओषधियाँ एवं वृक्ष हमारे लिये कल्याणकारक हों तथा लोकपति इन्द्र भी हमें शान्ति प्रदान करें।

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ८)

विस्तृत तेजसे युक्त सूर्य हम सबका कल्याण करता हुआ उदित हो। चारों दिशाएँ हमारा कल्याण करनेवाली हों। अटल पर्वत हम सबके लिये कल्याणकारक हों। नदियाँ हमारा हित करनेवाली हों और उनका जल भी हमारे लिये कल्याणप्रद हो।

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः॥

(ऋग्वेद ७। ३५। ९)

अदिति हमारे लिये कल्याणप्रद हों, मरुद्गण हमारा कल्याण करनेवाले हों। विष्णु और पुष्टिदायक देव हमारा कल्याण करें तथा जल एवं वायु भी हमारे लिये शान्ति प्रदान करनेवाले हों।

शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः॥

(ऋग्वेद ७। ३५। १०)

रक्षा करनेवाले सविता हमारा कल्याण करें, सुशोभित होती हुई उषादेवी हमें सुख प्रदान करें, वृष्टि करनेवाले पर्जन्य देव हमारी प्रजाओंके लिये कल्याणकारक हों और क्षेत्रपति शम्भु भी हम सबको शान्ति प्रदान करें।

शं नो देवा विश्वेदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।

(ऋग्वेद ७। ३५। ११)

सभी देवता हमारा कल्याण करनेवाले हों, बुद्धि प्रदान करनेवाली देवी सरस्वती भी हम सबका कल्याण करें।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥

(ऋग्वेद ८। ९८। ११)

हे आश्रयदाता! तुम ही हमारे पिता हो। हे शतक्रतु! तुम हमारी माता हो। हम तुमसे कल्याणकी कामना करते हैं।

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥

(ऋग्वेद १०। १८। ३)

ये जीव मृत व्यक्तियोंसे घिरे हुए नहीं हैं, इसीलिये आज हमारा कल्याण करनेवाला देवयज्ञ सम्पूर्ण हुआ। नृत्य करनेके लिये, आनन्द मनानेके लिये दीर्घ आयुको और अधिक दीर्घ करते हुए उन्नति-पथपर अग्रसर हों।

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।

(ऋग्वेद १०। २५। १)

हे परमेश्वर! हमें कल्याणकारक मन, कल्याण करनेका सामर्थ्य और कल्याणकारक कार्य करनेकी प्रेरणा दें।

२—यजुर्वेदीय संदेश—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥

(यजुर्वेद १। ५)

हे व्रतरक्षक अग्नि! मैं सत्यव्रती होना चाहता हूँ। मैं इस व्रतको कर सकूँ। मेरा व्रत सिद्ध हो। मैं असत्यको त्याग करके सत्यको स्वीकार करता हूँ।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

(यजुर्वेद १९। ३०)

व्रतसे दीक्षाकी प्राप्ति होती है और दीक्षासे दाक्षिण्य की, दाक्षिण्यसे श्रद्धा उपलब्ध होती है और श्रद्धासे सत्यकी उपलब्धि होती है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥

(यजुर्वेद ५। ३६)

हे अग्नि! हमें आत्मोत्कर्षके लिये सन्मार्गमें प्रवृत्त कीजिये। आप हमारे सभी कर्मोंको जानते हैं। कुटिलतापूर्ण पापाचरणसे हमारी रक्षा कीजिये। हम आपको बार-बार प्रणाम करते हैं।

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

(यजुर्वेद ३६। १८)

मेरी दृष्टिको दृढ कीजिये; सभी प्राणी मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखें; मैं भी सभी प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ; हम परस्पर एक-दूसरेको मित्रकी दृष्टिसे देखें।

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(कृष्णयजुर्वेदीय शान्तिपाठ)

हम दोनों साथ-साथ रक्षा करें, एक साथ मिलकर पालन-पोषण करें, साथ-ही-साथ शक्ति प्राप्त करें। हमारा अध्ययन तेजसे परिपूर्ण हो। हम कभी परस्पर विद्वेष न करें। हे ईश्वर! हमारे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—त्रिविध तापोंकी निवृत्ति हो।

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथाः। अप नः शोशुचदघम्॥

(यजुर्वेद ३५। २१)

हे पृथ्वी! सुखपूर्वक बैठने योग्य होकर तुम हमारे लिये शुभ हो, हमें कल्याण प्रदान करो। हमारा पाप विनष्ट हो जाय।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥

(यजुर्वेद ३६। २)

जो मेरे चक्षु और हृदयका दोष हो अथवा जो मेरे मनकी बड़ी त्रुटि हो, बृहस्पति उसको दूर करें। जो इस विश्वका स्वामी है, वह हमारे लिये कल्याण-कारक हो।

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ (यजुर्वेद ३६। ३)

सत्, चित्, आनन्दस्वरूप और जगत्के स्रष्टा ईश्वरके सर्वोत्कृष्ट तेजका हम ध्यान करते हैं। वे हमारी बुद्धिको शुभ प्रेरणा दें।

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥

(यजुर्वेद ३६। १७)

द्युलोक शान्त हो; अन्तरिक्ष शान्त हो, पृथ्वी शान्त हो, जल शान्त हो, ओषधियाँ शान्त हों, वनस्पतियाँ शान्त हों, समस्त देवता शान्त हों, ब्रह्म शान्त हों, सब कुछ शान्त हो, शान्त-ही-शान्त हो और मेरी वह शान्ति निरन्तर बनी रहे।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥

(यजुर्वेद ३६। २२)

जहाँ-जहाँसे आवश्यक हो, वहाँ-वहाँसे ही हमें अभय प्रदान करो। हमारी प्रजाके लिये कल्याणकारक हो और हमारे पशुओंको भी अभय प्रदान करो।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥

(यजुर्वेद ३६। २४)

ज्ञानी पुरुषोंका कल्याण करनेवाला, तेजस्वी ज्ञान-चक्षु-रूपी सूर्य सामने उदित हो रहा है, उसकी शक्तिसे हम सौ वर्षतक देखें, सौ वर्षका जीवन जियें, सौ वर्षतक सुनते रहें, सौ वर्षतक बोलें, सौ वर्षतक दैन्यरहित होकर रहें और सौ वर्षसे भी अधिक जियें।

३—सामवेदीय संदेश—

शं नो देवीरभिष्टये शं नो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः॥

(सामवेद १। ३। १३)

दिव्य-गुण-युक्त जल अभीष्टकी प्राप्ति और पीनेके लिये कल्याण करनेवाला हो तथा सभी ओरसे हमारा मङ्गल करनेवाला हो।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

(सामवेद २१। ३। ९)

विस्तृत यशवाले इन्द्र हमारा कल्याण करें, सर्वज्ञ पूषा हम सबके लिये कल्याणकारक हों, अनिष्टका निवारण करनेवाले गरुड हम सबका कल्याण करें और बृहस्पति भी हम सबके लिये कल्याणप्रद हों।

४—अथर्ववेदीय संदेश—

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

(अथर्ववेद १। ३४। २)

मेरी जिह्वाके अग्रभागमें माधुर्य हो। मेरी जिह्वाके मूलमें मधुरता हो। मेरे कर्ममें माधुर्यका निवास हो और हे माधुर्य! मेरे हृदयतक पहुँचो।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥

(अथर्ववेद १। ३४। ३)

मेरा जाना मधुरतासे युक्त हो। मेरा आना माधुर्यमय हो। मैं मधुर वाणी बोलूँ और मैं मधुर आकृतिवाला हो जाऊँ।

प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्।

(अथर्ववेद ११। ४। ११)

प्राण सत्य बोलनेवालेको श्रेष्ठ लोकमें प्रतिष्ठित करता है।

सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम्।

(अथर्ववेद १६। २। ४)

शुभ और शिव-वचन सुननेवाले कानोंसे युक्त मैं केवल कल्याणकारी वचनोंको ही सुनूँ।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥

(अथर्ववेद ३। ३०। ५)

वृद्धोंका सम्मान करनेवाले, विचारशील, एकमतसे कार्यसिद्धिमें संलग्न, समान धुरवाले होकर विचरण करते हुए तुम विलग मत होओ। परस्पर मधुर सम्भाषण करते हुए आओ। मैं तुम्हें एकगति और एकमतिवाला करता हूँ।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥

(अथर्ववेद ३। ३०। ७)

समानगति और उत्तम मनसे युक्त आप सबको मैं उत्तम भावसे समान खान-पानवाला करता हूँ। अमृतकी रक्षा करनेवाले देवोंके समान आपका प्रातः और सायं कल्याण हो।

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥

(अथर्ववेद ३। २८। ३)

(हे नववधू!) पुरुषोंके लिये, गायोंके लिये और अश्वोंके लिये कल्याणकारी हो। सब स्थानोंके लिये कल्याण करनेवाली हो तथा हमारे लिये भी कल्याणमय होती हुई यहाँ आओ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

(अथर्ववेद ३। ३०। २)

पुत्र पिताके अनुकूल उद्देश्यवाला हो। पत्नी पतिके प्रति मधुर और शान्ति प्रदान करनेवाली वाणी बोले।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

(अथर्ववेद ३। ३०। ३)

भाई-भाईके साथ द्वेष न करे। बहिन-बहिनसे विद्वेष न करे। समान गति और समान नियमवाले होकर कल्याणमयी वाणी बोलो।

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥

(अथर्ववेद १४। १। ४३)

जिस प्रकार समर्थ सागरने नदियोंका साम्राज्य उत्पन्न किया है, उसी प्रकार पतिके घर जाकर तुम भी सम्राज्ञी बनो।

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥

(अथर्ववेद १४। १। ४४)

ससुरकी सम्राज्ञी बनो, देवरोंके मध्य भी सम्राज्ञी बनकर रहो, ननद और सासकी भी सम्राज्ञी बनो।

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति।

(अथर्ववेद ९। ६। २६)

जिसके अन्नमें अन्य व्यक्ति भाग नहीं लेते, वह सब पापोंसे मुक्त नहीं होता।

हिरण्यस्त्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत्।
गृहे वसतु नोऽतिथिः॥

(अथर्ववेद १०। ६। ४)

स्वर्णकी माला पहननेवाला, मणिस्वरूप यह अतिथि श्रद्धा, यज्ञ और महनीयताको धारण करता हुआ हमारे घरमें निवास करे।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्।
श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् .... ॥

(अथर्ववेद १५। १०। १-२)

ज्ञानी और व्रतशील अतिथि जिस राजाके घर आ जाय, उसे इसको अपना कल्याण समझना चाहिये।

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥

(अथर्ववेद ४। २१। ३)

मनुष्य जिन वस्तुओंसे देवताओंके हेतु यज्ञ करता है अथवा जिन पदार्थोंको दान करता है, वह उनसे संयुक्त ही हो जाता है; क्योंकि न तो वे पदार्थ नष्ट होते हैं, न ही उन्हें चोर चुरा सकता है और न ही कोई शत्रु उन्हें बलपूर्वक छीन सकता है।

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥

(अथर्ववेद १। ३१। ४)

हमारे माता-पिताका कल्याण हो। गायों, सम्पूर्ण संसार और सभी मनुष्योंका कल्याण हो। सभी कुछ सुदृढ़ सत्ता, शुभ ज्ञानसे युक्त हो तथा हम चिरन्तन कालतक सूर्यको देखें।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥

(अथर्ववेद ६। ४५। १)

हे मेरे मनके पाप-समूह! दूर हो जाओ। अप्रशस्तकी कामना क्यों करते हो? दूर हटो, मैं तुम्हारी कामना नहीं करता। वृक्षों तथा वनोंके साथ रहो, मेरा मन घर और गायोंमें लगे।

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः॥

(अथर्ववेद १९। ९। ३)

ब्रह्माद्वारा परिष्कृत यह परमेष्ठीकी वाणीरूपी सरस्वतीदेवी, जिसके द्वारा भयंकर कार्य किये जाते हैं, वही हमें शान्ति प्रदान करनेवाली हो।

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः॥

(अथर्ववेद १९। ९। ४)

परमेष्ठी ब्रह्माद्वारा तीक्ष्ण किया गया यह आपका मन, जिसके द्वारा घोर पाप किये जाते हैं, वही हमें शान्ति प्रदान करें।

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः॥

(अथर्ववेद १९। ९। ५)

ब्रह्माके द्वारा सुसंस्कृत ये जो पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन, जिनके द्वारा घोर कर्म किये जाते हैं, उन्हींके द्वारा हमें शान्ति मिले।

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विवस्वांछमन्तकः।
उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः॥

(अथर्ववेद १९। ९। ७)

मित्र हमारा कल्याण करे; वरुण, सूर्य और यम हमारा कल्याण करें; पृथ्वी एवं आकाशमें होनेवाले अनिष्ट हमें सुख देनेवाले हों तथा स्वर्गमें विचरण करनेवाले ग्रह भी हमारे लिये शान्ति प्रदान करनेवाले हों।

पश्येम शरदः शतम्॥ जीवेम शरदः शतम्॥
बुध्येम शरदः शतम्॥ रोहेम शरदः शतम्॥
पूषेम शरदः शतम्॥ भवेम शरदः शतम्॥
भूयेम शरदः शतम्॥ भूयसीः शरदः शतात्॥

(अथर्ववेद १९। ६७। १—८)

हम सौ वर्षतक देखते रहें। सौ वर्षतक जियें, सौ वर्षतक ज्ञान प्राप्त करते रहें, सौ वर्षतक उन्नति करते रहें, सौ वर्षतक हृष्ट-पुष्ट रहें, सौ वर्षतक शोभा प्राप्त करते रहें और सौ वर्षसे भी अधिक आयुका जीवन जियें।

वैदिक जीवन-दर्शन

[मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य है स्वयंका कल्याण करना। जीवका यथार्थ कल्याण है जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना अथवा भगवत्प्राप्ति। इसके लिये जीवनका प्रत्येक क्षण परमात्मप्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये इनके आराधनमें परिणत होना चाहिये। यह वेद-निर्दिष्ट मार्गके द्वारा जीवनयापन करनेसे ही सम्भव है। जन्मसे मृत्युपर्यन्त तथा प्रातः जागरणसे रात्रि-शयनपर्यन्तके सम्पूर्ण कर्तव्योंका निर्देश वेदोंमें उपलब्ध है। अतः यहाँ अनुकरणीय वैदिक जीवनचर्याके कुछ प्रेरक अंश प्रस्तुत हैं। जिनका अनुपालन परम अभ्युदय-प्राप्तिमें सहायक हो सकेगा।—सं०]

वैदिक संहिताओंमें मानव-जीवनका प्रशस्त आदर्श

मानवोंका कौटुम्बिक आदर्श

माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी आदिके समुदायका नाम कुटुम्ब है। उसके साथ सर्वतः प्रथम हम सब मानवोंका कैसा धर्ममय प्रशस्त आदर्श होना चाहिये, इसके लिये वेदभगवान् उपदेश देते हैं—

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु।

(अथर्व० १। ३१। ४)

—इसका तात्पर्य यह है कि अपने-अपने माता-पिताके प्रति हम सब मानवोंका स्वस्तिमय सद्भाव एवं प्रशस्त आचरण होना चाहिये, जिससे वे स्वगृहावस्थित प्रत्यक्ष देवरूप माता-पिता सदैव संतुष्ट तथा प्रसन्न बने रहें और हमें शुभाशीर्वाद देते रहें अर्थात् वृद्ध माता-पिताकी कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत उनकी अभीष्ट देववत् परिचर्या करते रहना चाहिये। श्रीरामवत् उनकी प्रशस्त आज्ञाका पालन करना हमारा कर्तव्य है। कदापि कहीं भी प्रमादवश या उच्छृंखलतावश उनके साथ कष्टजनक अनिष्ट एवं अशिष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिये। वेदभगवान्‌के इन सदुपदेशमय शब्दोंके द्वारा ऐसी शुभ भावना सदैव स्मृतिमें रखनी चाहिये—

यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्।
एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया॥

(शु० य० १९। ११)

'जब मैं छोटा-सा सर्वथा असमर्थ शिशु था, उस समय जिस विपुल स्नेहमयी माताकी मधुरतामयी गोदमें लेटकर प्रमुदित होकर जिसके अमृतमय स्तन्यका पान करता हुआ पैरोंके आघातद्वारा उसे पीड़ित करता रहा, अब मैं उसके लालन-पालनादिके द्वारा बड़ा हो गया हूँ और वे मेरे पूजनीय जनक एवं जननी वृद्ध तथा अशक्त हो गये हैं। अतः मेरे द्वारा मेरे वे वन्दनीय माता-पिता कदापि किसी भी प्रकारसे पीड़ित (व्यथित) न हों, प्रत्युत मेरी प्रशस्त सेवा-सत्कार आदिके द्वारा वे सदा संतुष्ट ही बने रहें, इस प्रकार हे परमात्मन्! मैं उनकी सेवा एवं प्रसन्नताद्वारा आनृण्य (ऋण-भार-निवारण) सम्पादन कर रहा हूँ।'

अतएव अतिधन्य वेदभगवान् परिवारके सभी सदस्योंके प्रति ऐसा उपदेश देते हैं कि—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

(अथर्व० ३। ३०। २-३)

'पुत्र पिताके अनुकूल ही कार्य करे, प्रतिकूल कार्य कदापि न करे। माताके साथ भी अच्छे मनवाला बना रहे, खराब मनवाला नहीं अर्थात् पिता-माता दोनोंके प्रति सदा प्रेम—सद्भाव बनाये रहे। इस प्रकार उपलक्षण-न्यायसे पुत्री भी माता-पिताके अनुकूल ही कार्य करे और भार्या—पत्नी भी अपने स्वामी—पतिके प्रति मधुर—आह्लादक, सुखमयी वाणी ही बोले अर्थात् द्वेष एवं कुभावपूर्वक क्षोभप्रद कटु वाणी कदापि न बोले। इस प्रकार पति भी अपनी धर्मपत्नी—भार्याके प्रति भी वैसी ही अच्छी वाणी बोले, खराब नहीं। भाई भाईके प्रति भी दायभागादि-निमित्तसे विद्वेष न करे, अपितु श्रीराम एवं भरतकी भाँति परस्पर प्रेमसे अपना स्वार्थत्याग करनेके लिये उद्यत रहे तथा बहिनके प्रति बहिन भी द्वेष न करे बल्कि सदैव प्रेम—सद्भाव बनाये रहे। उपलक्षण-न्यायसे भाई एवं बहिन भी परस्पर द्वेष न करें। इस प्रकार परिवारके सभी सदस्य सास-बहू, देवरानी-जिठानी आदि भी अच्छे मनवाले बनकर परस्पर शुभाचरण रखते हुए सुख-सम्पादक भद्रवाणी ही बोलते रहें।'

इसलिये वेदभगवान् पुनः विशेषरूपसे दृष्टान्त-

प्रदर्शनपूर्वक यही उपदेश देते हैं कि—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

(अथर्व० ३। ३०। १)

'मैं (वेदभगवान्) सदुपदेशके द्वारा कुटुम्बके छोटे-बड़े—तुम सब सदस्योंका हृदय सहृदय यानी परस्पर प्रेम-सद्भावयुक्त बनाता हूँ। समान भाववाला हृदय ही सहृदय कहा जाता है। जैसे अपना यह हृदय अपना अनिष्ट न कभी चाहता है न कभी करता है, प्रत्युत सर्वदा अपना इष्ट ही चाहता एवं करता रहता है, वैसे ही जो हृदय अन्योंका भी अनिष्ट न कभी चाहता है, न कभी करता है, प्रत्युत इष्ट ही चाहता एवं करता रहता है, वह प्रशस्त समभाववाला हृदय ही सहृदय हो जाता है। इस प्रकार मैं तुम्हें सांमनस्यका उपदेश देता हूँ अर्थात् तुम सब अपने मनको अच्छे संस्कारोंसे, अच्छे विचारोंसे, अच्छे संकल्पोंसे एवं पवित्र भावनाओंसे सदा भरपूर रखो, वैमनस्यका निवारण करते हुए ऐसा सांमनस्य सदा धारण करते रहो। मैं सहृदय एवं सांमनस्यके द्वारा विद्वेषाभावसे उपलक्षित प्रेम, सद्भाव, सरलता, सुशीलता, विनय, विवेक आदि गुणोंसे युक्त शरीरादिके सभी व्यवहारोंका तुम्हें कर्तव्यरूपसे बोधन कर रहा हूँ। जैसे गाय अपने सद्योजात अभिनव वत्सके प्रति अत्यन्त स्नेह रखती है, वैसे ही तुम सब परस्पर विशुद्ध स्नेह रखो और निष्कपट, विनम्र—सरल स्वभाव बनाये रहो।'

इस प्रकार वेदभगवान् हम मानवोंके गृहोंमें पूर्वोक्त सद्गुणोंके विकासद्वारा स्वर्गीय आनन्दका उपभोग करनेके लिये ऐसा उपदेश देकर हमारे लिये कौटुम्बिक आदर्श प्रदर्शित कर रहे हैं।

सुमति-लाभकी प्रार्थना

मानवोंमें रहा हुआ स्व-पर-हितकर सद्भावनारूप धर्म ही मानवता कहा जाता है, इसीका दूसरा नाम सुमति है। यह सुमति ही मानवको सच्चा मानव बनाकर सद्गुणमयी सुख-सम्पत्तियोंके सदा प्रफुल्लित-सुगन्धित-रमणीय-स्वादु-फलाढ्य आनन्दरूपी भवनमें स्थापित कर धन्य बना देती है और जिसमें कुमति बनी रहती है, वह मानव मानव ही नहीं रहता, अपितु पूरा दानव बन जाता है तथा विविध विपत्तियोंके कुत्सित गर्तमें पड़कर दुःखी ही बना रहता है।

यह सुमतिकी प्रार्थना प्राचीनतम वैदिक कालसे ही चली आ रही है। अतएव हमारे अतिधन्य वेदोंमें भी सुमति-लाभकी प्रार्थनाएँ इस प्रकार की गयी हैं—

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥

(ऋक्० १। १५६। ३)

उर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।

(ऋक्० १। २४। ९)

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां
देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।

(ऋक्० १। ८९। २; शु० य० २५। १५)

'हे विष्णो! तुझ महान् परमात्माकी सर्वजन-सुखकर-हितकर सुमतिका हम सेवन करते हैं। सद्गुरु महर्षि आशीर्वाद देता है कि—'हे शिष्य! तुझे उर्वी यानी उदार—विशाल सद्भाववाली एवं गम्भीर सुमति प्राप्त हो।' 'हम सब मानव कुटिलतारहित सौम्य—स्व-परहितकर सरल स्वभावका सम्पादन करना चाहते हैं; अतः हमें इन महान् देवोंकी कल्याणकारिणी भद्रा-सुमतिका लाभ हो, वे महान् कृपालु देव हमें सुमतिका दान दें।'

भद्रा-सुमतिके द्वारा अभिनव-सर्जित मानव-जीवन अतीत प्रशस्त—भद्रमय हो जाता है, इसलिये ऋग्वेदसंहिताके '**देवानां भद्रा सुमतिः**' इस मन्त्रपर अध्यात्म-ज्योत्स्नाविवृतिका संस्कृत-व्याख्यान किया गया है जिसका भाव इस प्रकार है—

'देवोंके अनुग्रहसे प्राप्त भद्रा-सुमतिके प्रभावसे हम सब मानव सदा सत्यका ही परिशीलन (सेवन) करें, सर्वदा सम-शान्त-प्रसन्न प्रेम एवं कृपारूपी अमृतमयी दृष्टिकी पावन वृष्टिसे हम समस्त विश्वका परिसिञ्चन करते रहें, प्राणप्रिया सुन्दरीके समान विश्वहितेच्छुता हृदयमें सदा धारण करें; मन, वाणी एवं क्रियामें समभाव रखनेकी प्रीतिका हम वरण करें। सर्वजनके हितकर सत्कार्योंमें अपने मन, वाणी एवं शरीरके कर्मोंकी प्रवृत्तियोंको लगाते रहें। हम विपत्तियोंमें व्याकुलताका एवं सम्पत्तियोंमें उच्छृंखलताका अवलम्बन न करें। अन्योंके सुख-दुःख भी अपने सुख-दुःखके समान ही इष्टानिष्ट हैं—अर्थात् जैसे हम अपने लिये सुख ही चाहते हैं, दुःख नहीं चाहते, वैसे ही हमें दूसरोंके लिये भी सुखकी कामना रखनी चाहिये, दुःखकी नहीं। इस प्रकारके समभावका सम्पादन करनेका आग्रहशाली स्वभाव हम अङ्गीकार करें, कभी भी उद्वेग करनेवाले वचनका उच्चारण न करें, अन्यायसे परधनका हरण न करें, कुत्सित दृष्टिसे परायी स्त्रियोंको न देखें। पुरुष-मानव एकपत्नीव्रतका एवं पत्नी-मानव पातिव्रत्यका

पालन करें। ब्राह्ममुहूर्तमें उठना, संध्योपासना-मन्त्रजपादि नित्यकर्म पथ्यभोजन, व्यायाम, स्वाध्याय, सत्संग एवं दानादिका प्रतिदिन अनुष्ठान करते रहें। अपनी सज्जनतासे प्रादुर्भूत यशका उपार्जन करें। परमेश्वरकी भक्तिरूपी सर्वथा सुन्दरतम कल्पवृक्षकी शान्त-सुखप्रद छायाका हम एक क्षणके लिये भी परित्याग न करें। ब्रह्मचर्य, अभय, पराक्रम, अहिंसा आदि देवगुणोंको धारण करें। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-पूर्ण-अद्वय-अनन्त-आनन्दनिधिरूप आत्माका निरन्तर हम अनुसंधान बनाये रहें।'

जैसे तपस्विनी वृद्धकुमारीके प्रति इन्द्र देवताने कहा कि 'तु मुझसे वरदान माँग।' इसपर उसने ऐसा वर माँगा कि 'मेरे पुत्र काँसीके पात्रमें बहुक्षीर एवं बहुघृतसे युक्त भात खायें' और इस प्रकार एक ही वाक्यसे उसने पति, पुत्र, गायें, चावल आदि सबका संग्रह कर लिया। वैसे ही यहाँ भी सुमतिके ग्रहणसे सभी सद्भाव-सदाचारादि शुभ गुण संगृहीत हो जाते हैं। इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीरामचरितमानसमें कहते हैं—

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

अर्थात् सुमति ही विविध सद्गुणरूपी सम्पत्तियोंकी जननी है और कुमति विविध दुर्गुणरूपी विपत्तियोंकी।

स्व-पर-मित्रता-लाभकी प्रार्थना

शुक्लयजुर्वेदसंहितामें सर्वभूतसुहृद् भगवान्‌से मानव इस प्रकार स्व-पर-मित्रता-लाभके लिये प्रार्थना करते हैं—

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

(शु० य० ३६। १८)

'हे दृते! अर्थात् सर्वजनोंके द्वारा आदरणीय-प्रार्थनीय अनन्तानन्दनिधे भगवन्! या निखिलशोक-संताप-विदारक परमात्मन्! तू मेरे दुर्गुणादिका निवारण करके मुझे मैत्र्यादि सद्भावनासे युक्त बना! मनुष्यादि विविध समस्त प्राणिवर्ग मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखें, शत्रुकी दृष्टिसे नहीं—ऐसी मैं प्रार्थना करता हूँ। मैं सबको मित्रकी सुखकर-हितकर प्रिय दृष्टिसे देखता हूँ, यह मेरी व्यक्तिगत प्रतिज्ञा है और हम सब मानव मित्रकी दृष्टिसे ही एक-दूसरेको देखते हैं, यह हम सबकी समष्टि-प्रतिज्ञा है अर्थात् मैं समस्त मानवादि प्राणिवर्गको आत्मवत् प्रिय मानूँ—केवल प्रिय ही नहीं, किंतु उनका हितकर-सुखकर भी बना रहूँ और वे भी मुझे प्रिय मानें, मेरे प्रति हितकर-सुखकर ही बने रहें।'

अथर्वसंहितामें भी ऐसी ही प्रार्थनाएँ की गयी हैं—

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।

(अथर्व० १९। १५। ६)

असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु
न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु।

(अथर्व० १९। १४। १)

मा नो द्विक्षत कश्चन।

(अथर्व० १२। १। १८)

अर्थात् समस्त दिशाओंमें अवस्थित निखिल मानवादि प्राणी मेरे मित्र—हितकारी ही बने रहें और मैं भी उन सबका हितकर मित्र ही बना रहूँ। समस्त प्रदेशोंमें अवस्थित जन मेरे प्रति संताप एवं उपद्रवके बीजभूत शत्रुभावसे रहित हों। तुम्हारे या अन्य किसीके प्रति भी हम द्वेषभाव नहीं रखते, प्रत्युत प्रेम—सद्भाव ही रखते हैं, इसलिये हमें परस्पर अभय ही बने रहना चाहिये। कोई भी मानव हमारे प्रति द्वेषभाव न रखे, प्रत्युत प्रेम—सद्भाव ही रखे। इस प्रकार परस्पर मित्रभाव रखनेसे ही मानव सच्चा मानव बनकर सर्वत्र सुखपूर्ण स्वर्गीय दृश्यका निर्माण कर सकता है।

मधुरतापूर्ण समग्र जीवनकी प्रार्थना

कैसे जीना और कैसे मरना? ये दो प्रश्न समस्त मानवोंके प्रति प्रतिक्षण उपस्थित रहते हैं। जैसा जीवन वैसा मरण—यह सामान्य नियम है। जिसका जीवन मधुर है, उसका मरण भी मधुर ही रहता है। जिसका जीवन कटु है, उसका मरण भी कटु ही बन जाता है। जो अपने जीवनको सुधारता है, उसका मरण भी स्वतः सुधर जाता है; जिसका वर्तमान अच्छा है, उसका भविष्य भी अच्छा ही रहता है। अतः स्वतःप्रमाण वेदभगवान् प्रथम हमें अपने इस वर्तमान जीवनको मधुरतापूर्ण ही बनानेके लिये हमारी प्रार्थनाद्वारा इस प्रकार आदेश देते हैं—

ॐ मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥

(अथर्व० १। ३४। ३)

'निक्रमण यानी मेरी समस्त प्रवृत्तियाँ मधुरतापूर्ण—सर्वत्र सदा प्रसन्नता-सम्पादक ही बनी रहें और परायण यानी मेरी निखिल निवृत्तियाँ भी मधुरतासे युक्त ही होनी चाहिये (जैसे अनीतिपूर्वक परद्रव्य-ग्रहणसे निवृत्ति—जो संतोषरूपा है तथा उच्छृंखल विषय-लालसाकी निवृत्ति—जो संयमरूपा है—इत्यादि निवृत्तियाँ यहाँ

समझनी चाहिये)। जिह्वाके द्वारा मैं मधुर ही बोलता हूँ और मैं बाहर-भीतर सबमें पूर्ण सन्मात्र-चिन्मात्र-परमानन्दरूप मधुब्रह्मका ही सतत दर्शन करता रहता हूँ (इस प्रकार मेरा समग्र जीवन मधुमय बन जाय तो मेरी मृत्यु न रहकर मधुमय—अमृतमय ही बन जायगी और मैं मानवताके उच्चतम आदर्शके दिव्यतम शिखरपर आरूढ़ होकर धन्य एवं कृतार्थ बन जाऊँगा)।'

पापिनी लक्ष्मीके निवारणकी एवं भद्रा—पुण्यमयी लक्ष्मीके लाभकी प्रार्थना

अन्यायोपार्जिता एवं अनीतिपूर्वक संगृहीता लक्ष्मी पापिनी लक्ष्मी मानी जाती है। ऐसी दोषपूर्ण लक्ष्मी मानवसमाजमें संघर्ष पैदा कर देती है; जो मानवके लिये दुर्गतिकारिणी होती है और जो लक्ष्मी नीति, धर्म एवं परिश्रमसे उपार्जित है, जिसके लिये किसीके प्रति अत्याचार नहीं किया गया, वह लक्ष्मी पुण्यमयी भद्रा लक्ष्मी है। वह शिष्ट प्रशंसा, यश, पुण्य एवं ईश्वर-कृपालाभद्वारा मनुष्यको सद्गति प्रदान करती है। इसलिये अथर्वसंहितामें ऐसी प्रार्थना की गयी है—

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत्सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥

(अथर्व० ७। ११५। २)

'जो लक्ष्मी दुर्गतिकारिणी है—जिसका लोभ मानवको धर्म एवं नीतिसे भ्रष्ट कर देता है, शिष्ट मानव जिसका सेवन नहीं करते एवं जिसमें प्रीति नहीं रखते, वस्तुतः ऐसी लक्ष्मी लक्ष्मी ही नहीं है, अपितु अलक्ष्मी है। जिस प्रकार वन्दना नामकी लता हरे-भरे वृक्षका शोषण करती है, उसी प्रकार वह मेरा भी शोषण करती है। इसलिये हे सवितादेव! उस दोषपूर्ण लक्ष्मीको मेरे समीप मत रहने दें, मत आने दें, उसे अन्यत्र ही रहने दें। सुवर्णके समान ज्योतिर्मय हस्तवाले सवितादेव मुझे धर्म, नीति एवं श्रमद्वारा प्राप्त होनेवाला प्रशस्त धन देकर मुझपर अनुग्रह करें।'

इस प्रकार अथर्ववेदके अन्य मन्त्र भी पापमयी लक्ष्मीके निवारणका एवं पुण्यमयी लक्ष्मीके लाभका उपदेश दे रहे हैं। जैसे—

शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ।

(अथर्व० ७। ११५। ३)

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।

(अथर्व० ७। ११५। ४)

प्र पतेतः पाप लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत।

(अथर्व० ७। ११५। १)

अर्थात् हे सर्वज्ञ परमेश्वर! हमें कल्याणकारिणी—पुण्यमयी ही लक्ष्मी देना। पवित्र लक्ष्मी ही हमारे गृहोंमें रहकर हमें सुखी बनाये और जो पापिनी लक्ष्मी है, उसका नाश हो जाय। हे पापमयी धनरूपी लक्ष्मी! इस गृहसे तू चली जा—अदृष्ट हो जा एवं अति दूरस्थलसे भी तू भाग जा।

दुश्चरित-दुर्भावनादिरूप कल्मषोंके निवारणद्वारा ही मानवताका विकास

मानव जबतक दुश्चरित-दुर्भावनादिरूप कल्मषोंका निवारण नहीं करता, तबतक उसमें अवस्थित सुप्त मानवताका विकास नहीं होता; इसलिये हमारे अतिधन्य वेदोंमें इन कल्मषोंके निवारणके लिये एवं अपनी रक्षाके लिये सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे पुनः-पुनः प्रार्थनाएँ की गयी हैं—

श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।
पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि॥

(ऋक्० २। ३३। ३)

अर्थात् हे रुद्र—दुःखद्रावक भगवन्! उत्पन्न हुए समग्र विश्वके मध्यमें अपरिमित ऐश्वर्यसे तू ही एकमात्र श्रेष्ठ है। हे वज्रबाहो! विविध शक्तियोंके द्वारा बढ़े हुए देवोंके मध्यमें एकमात्र तू ही अतिशय बढ़ा हुआ महादेव है। वे—आप भगवान् हम सभी मानवोंको दुश्चरितरूप पापसे, जो पशुता एवं दानवताका विकासक है—अनायास ही पार कर दें, उस पापके दुःसङ्ग-दुर्भावना आदि सभी कारणोंसे भी हमें पृथक् कर दें।

यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु॥

(ऋक्० १०। १६४। ३)

'जागते हुए या सोते हुए अर्थात् जानते हुए या नहीं जानते हुए हमने झूठी आशासे या कामादि दोषोंसे अथवा बुरे संस्कारोंसे एवं दुष्ट संगतिसे जो-जो दुश्चरितरूप पाप किये हैं या करते हैं, अग्नि भगवान् शिष्ट (श्रेष्ठ) पुरुषोंके द्वारा असेवित उन सभी पापमय दुष्कृतोंको हम सब मानवोंसे अलग करके दूर भगा दें।'

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥

(ऋक्० १०। १३७। १, अथर्व० ४। १३। १)

'हे देवो! आप सब मुझ मानवको अच्छे पुण्यमय सच्चरितरूप मार्गमें जानेके लिये ही सावधान करें, प्रेरित करें तथा हे देवो! विषयासक्तिरूप प्रमादसे मुझ मानवको अलग करके समुन्नत बनायें, पुनः हे देवो! पाप—

अपराध किये हुए या करते हुए मुझ मानवको आप सब पुनः उससे बचायें—रक्षा करें तथा हे देवो! मुझे शोभन, पवित्र, शान्तिमय, आनन्दमय जीवनसे युक्त करें।' यहाँ यह समझना चाहिये कि एक ही भगवान्‌की अनेकविध शक्तियों एवं दिव्य विभूतियोंका नाम ही देवगण है। इसलिये यह देवोंकी प्रार्थना भी वस्तुतः भगवत्प्रार्थना ही है।

श्रमोंकी पराकाष्ठारूप कृषिके लिये उपदेश

मानव जब श्रमसे मुख मोड़ता है और नितान्त सुविधाप्रिय, विलासी एवं आलसी बन जाता है तथा परिश्रमके बिना मुफ्तमें ही धन-धान्यादि-प्राप्तिकी अभिलाषा रखता है, तब उसमें मानवता-विरोधी दानवताके पोषक दुर्गुणोंकी भरमार हो जाती है। श्रमद्वारा पसीना बहाकर कुटुम्ब-निर्वाहके लिये जिससे धन-धान्यादि प्राप्त किया जाता है, वही कृष्यादि उत्कृष्ट साधन हृदयका शोधक एवं मानवताका विकासक बन जाता है। प्रसिद्ध अनेकविध श्रमोंमेंसे एकमात्र कृषि ही श्रमोंकी पराकाष्ठारूप मानी गयी है, अतएव उत्तमताका विरुद (टाइटल) उसे ही दिया गया है। इस समय भारतमें—जहाँ बेकारी एवं दरिद्रता नग्नरूपसे नाच रही है और जनसंख्या भी अनियन्त्रितरूपसे बढ़ रही है, वहाँ विशेषरूपसे उत्पादक कृषकवर्गकी समुन्नतिकी खास आवश्यकता है। इसलिये हमारे अतिधन्य वेदभगवान् भी मानवोंके प्रति कृषिके लिये इस प्रकार उपदेश देते हैं—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥

(ऋक्० १०। ३४। १३)

'हे कितव! तू पाशोंसे जुआ मत खेल। जीवन-निर्वाहके लिये तू कृषि कर अर्थात् परिश्रमी बन। नीतिके मार्गसे कमाये हुए धनको बहुत मानता हुआ तू उसमें ही रमण कर अर्थात् संतोष रखकर प्रसन्न रह। उस उत्तम व्यवसायरूप कृषिमें ही गौ आदि पशु भी सुरक्षित रहते हैं एवं उसमें ही स्त्री आदि कुटुम्बीजन भी प्रसन्न रहते हैं। ऐसा मुझ मन्त्रद्रष्टा ऋषिके प्रति इन विश्वस्वामी सवितादेवने मानवोंको उपदेश देनेके लिये कहा है।'

इस प्रकार अन्य अनेक वेदमन्त्र भी कृषिके लिये ऐसा उपदेश देते हैं—

सुसस्याः कृषीस्कृधि।

(शुक्लयजु० ४। १०)

कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।

(शुक्लयजु० ९। २२)

नो राजा नि कृषिं तनोतु।

(अथर्व० ३। १२। ४)

ते मनुष्याः कृषिं च सस्यं च उपजीवन्ति।

(अथर्व० ८। १०। १२)

सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना।

(अथर्व० १२। १। १३)

'हे मानव! तू चावल, गेहूँ आदि अच्छे धान्यवाली कृषि कर। कृषिके लिये, तल्लभ्य निर्वाहके लिये, धनके लिये एवं परिवारादिके पोषणके लिये मैं परमेश्वर तुझ मानवको नियुक्त करता हूँ। हमारे राजा या नेता कृषिका अच्छी प्रकारसे विकास एवं विस्तार करते रहें। वे सब मानव कृषि एवं धान्यका ही उपजीवन करते हैं। शोभन कृषिके द्वारा अभिवर्धित एवं सुशोभित हुई भूमि माता हमें सभी प्रकारसे समुन्नत एवं सुखी बनाये।'

अभ्युदय-प्रयोजक संघट्टनादिका उपदेश

समस्त अभ्युदयोंका प्रयोजक है समाजमें एवं राष्ट्रमें परस्पर संघट्टन, संवदन, सद्भाव तथा अपने ही न्यायोचित भाग (हिस्से)-में एकमात्र संतोष रखना, दूसरोंके भागोंको लेनेकी इच्छातक भी नहीं करना—यही मानवताका विकास—आदर्श चरित्र है। इसका निखिल वसुधानिवासी मानवोंके हितके लिये जगद्‌गुरु वेदभगवान् इस प्रकार उपदेश देते हैं—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

(ऋक्० १०। १९१। २)

आप सब मानव धर्म एवं नीतिसे संयुक्त हुए परस्पर प्रेमसे सम्मिलित—संघटित बनें। सब मिलकर अभ्युदयकारक अच्छे सत्य—हित-प्रिय वाक्योंको ही बोलें तथा आप सबके मन, सुख-दुःखादिरूप अर्थको सबके लिये समानरूपसे जानें। जिस प्रकार पुरातन इन्द्र-वरुणादिदेव धर्म एवं नीतिकी मर्यादाको जानते हुए अपने ही हविर्भागको अङ्गीकार करते हैं, उसी प्रकार आप सब मानव भी अपने ही न्यायोचित भागको अङ्गीकार करें, अन्यके भागको अन्यायसे ग्रहण मत करें।

अथर्ववेद भी हमें इस प्रकारके संघटनका उपदेश देता है—

मा वि यौष्ट अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत।

(अथर्व० ३। ३०। ५)

एक-दूसरेसे प्रेमपूर्वक सत्य, प्रिय एवं हितकर

भाषण करते हुए तुम सब मानव आगे बढ़ो, अलग-अलग मत होओ, परस्पर विरोध मत करो, प्रत्युत सम्मिलित होकर शान्तिसे रहो।

समभावका सदुपदेश

विषमभाव अशान्ति एवं दुःखका प्रयोजक है तथा समभाव शान्ति और आनन्दका आविर्भावक है। इसका प्रत्यक्षानुभव मानवोंको अपने लौकिक व्यवहारोंमें भी होता रहता है। परमार्थ—कल्याणमार्गमें तो विषमभावका त्याग नितान्त अपेक्षित है, इसके बिना समभावका लाभ कदापि नहीं हो सकता। अतः विषमभावका विषके समान परित्याग करके अमृतके समान समभावको धारण करनेके लिये वेदभगवान् इस प्रकार उपदेश देते हैं—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(ऋक्० १०। १९१। ४)

आप सब मानवोंकी आकूति अर्थात् संकल्प, निश्चय, प्रयत्न एवं व्यवहार समान—समभाववाले, सरल—कापट्यादिदोषरहित; स्वच्छ रहें एवं आप सब मानवोंके हृदय भी समान—निर्द्वन्द्व, हर्ष-शोकरहित समभाववाले रहें तथा आप सब मानवोंका मन भी समान—सुशील, एक प्रकारके ही सद्भाववाला रहे। जिस प्रकार आप सबका शोभन (अच्छा) साहित्य (सहभाव)—धर्मार्थादिका समुच्चय सम्पादित हो, उस प्रकार आपके आकृति—हृदय एवं मन हों।

उपसंहार

इस प्रकार स्वतःप्रमाण अतिधन्य वेदोंकी संहिताओंमें मानवोंके प्रशस्त आदर्शोंका वर्णन बहुत ही प्रचुररूपमें किया गया है। अन्तमें ऋग्वेदसंहिताके निम्नाङ्कित दो प्रार्थनामन्त्रोंको उद्धृत करके इस लेखका हम उपसंहार करते हैं। मानव-जीवनको आदर्शमय (चारित्र्यशील) बनानेमें भगवत्प्रार्थना एक मुख्य प्रयोजक साधन माना गया है। जो मानव उन अपने अन्तर्यामी सर्वात्मा भगवान्पर दृढ़ विश्वास रखता है, उनके शरणापन्न बना रहता है, उनके इष्टानिष्ट सभी विधानोंमें जो संतुष्ट रहता है, सभी परिस्थितियोंमें उनकी पावन मधुर ध्रुवा स्मृति बनाये रखता है और विश्वके अभ्युदय एवं निःश्रेयसके लिये हृदयके सद्भावोंके साथ उन सर्वसमर्थ प्रभुकी प्रार्थना करता रहता है, उस मानवमें पशुता एवं दानवताका ह्रास होकर मानवताका विकास हो जाता है। केवल मानवताका ही नहीं, किंतु उन करुणासागर भगवान्‌की अनुपम कृपासे उसमें क्रमशः देवत्व एवं महादेवत्वका विकास होकर उसका मानव-जीवन धन्य एवं चरितार्थ बन जाता है।

विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये
वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये
स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः॥

(ऋक्० ५। ५१। १३)

'भगवत्स्वरूप समस्त देव इस समय हम सब मानवोंके स्वस्ति (कल्याण)-लाभके लिये अनुकूल हों। वैश्वानर वसु अग्निदेव भी हमारे मङ्गलके लिये प्रयत्नशील हों। ऋभु यानी स्वर्गनिवासी देव हमारे कल्याणके लिये हमारा रक्षण करें। रुद्रभगवान् भी हमारे कल्याणकी सिद्धिके लिये पशुता एवं दानवतारूप पापसे हम सब मानवोंकी रक्षा करें।'

शं नो देवः सविता त्रायमाणः
शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः
शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः॥

(ऋक्० ७। ३५। १०; अथर्व० १९। १०। १०)

'भय एवं संतापोंसे रक्षा करते हुए सवितादेव हम सबके शान्ति-सुखके लिये अनुकूल हों। सूर्यप्रकाशसे प्रथम अपना मधुर एवं शान्त प्रकाश फैलानेवाली एवं अन्धकारको भगा देनेवाली उषा देवियाँ हम सबके कल्याणके लिये प्रयत्नशील हों। पर्जन्य (मेघ) हमारी सब प्रजाके लिये सुखकारी हो। क्षेत्रके पति शम्भुभगवान् हम सबके सुख-शान्ति एवं कल्याण-हेतु प्रसन्न हों।'

हरिः ॐ तत्सत्, शिवोऽहं शिवःसर्वम्, शिवं भूयात् सर्वेषाम्।

वैदिक गृह्यसूत्रोंमें संस्कारीय सदाचार

(डॉ० श्रीसीतारामजी सहगल 'शास्त्री', एम्० ए०, ओ० एल्०, पी-एच्० डी०)

प्राचीन भारतमें अन्तर्हृदयकी ग्रन्थियोंको सुलझाने तथा भगवत्प्राप्तिके लिये व्यक्तिका जन्मसे लेकर मृत्युतकका जीवन संस्कारोंसे संस्कृत होता रहता था। इसकी ध्वनि वेदसे ही सुनायी देती है। वेदोंका गृह्यसूत्र-साहित्य अपने-आपमें बड़ा व्यापक है, जिसका कारण हमारे देशके विस्तृत भूभाग, विविध भाषाएँ, विविध धर्म तथा विविध जातियोंकी आचार-धाराएँ रही हैं। आचार-विविधताओंके कारण अनेक गृह्यसूत्रोंकी रचना युक्तिसंगत ही प्रतीत होती है।

ऋग्वेदके तीन गृह्यसूत्र हैं—आश्वलायन, शांखायन तथा कौषीतकि। शुक्लयजुर्वेदके दो गृह्यसूत्र हैं—पारस्कर और वैजवाप। कृष्णयजुर्वेदके बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशीय, वैखानस, अग्निवेश्य, मानव, काठक तथा वाराह—ये नौ गृह्यसूत्र हैं। सामवेदके—गोभिल, खादिर तथा जैमिनि—ये तीन गृह्यसूत्र हैं। अथर्ववेदका कोई गृह्यसूत्र नहीं है, उसका केवल वैतानकल्पसूत्र या कौशिकसूत्र प्रसिद्ध है, जिसमें गृह्यसूत्रादिके सभी कर्म निर्दिष्ट हैं।

हम यहाँ ऋग्वेदीय शांखायन गृह्यसूत्रके प्रधान कर्मोंकी सूची उद्धृत करते हैं, जिससे सब संस्कारोंका परिचय सम्भव हो सकेगा। उदाहरणार्थ—स्वाध्यायविधि (१। ६), इन्द्राणीकर्म (१। ११), विवाहकर्म (१। १२), पाणिग्रहण (१। १३), सप्तपदक्रमण (१। १४), गर्भाधान (१। १९), पुंसवन (१। २०), सीमन्तोन्नयन (१। २२), जातकर्म (१। २४), नामकरण (१। २५), चूडाकरण (१। २८), उपनयन (२। १), वैश्वदेवकर्म (२। १४), समावर्तन (३। १), गृह्यकर्म, प्रवेशकर्म (२, ३,४), श्राद्धकर्म (४। १), उपाकरण (४। ५), उपाकर्म (४। ७), सपिण्डीकरण-कर्म (४। ३), आभ्युदयिक श्राद्ध-कर्म (४। ४), उत्सर्गकर्म (४। ६), उपरमकर्म (४। ७), तर्पण (४। ९) और स्नातकधर्म (४। ११)—ये संस्कार सत्ययुगसे लेकर भगवान् राम, कृष्ण एवं हर्षवर्धनके समयतक जीवन्तरूपमें रहे। महाकवि कालिदासने इनमेंसे कुछ संस्कारोंकी चर्चा अपने ग्रन्थोंमें की है; जैसे—पुंसवन (कुमारसम्भव ३। १०), जातकर्म (रघुवंश ३। १८), नामकरण (रघु० ३। २१), चूडाकरण (रघु० ३। २८), उपनयन (कुमार० ३। २९), गोदान (रघु० ३। ३), विवाह (कुमार० ६। ४९), पाणिग्रहण (रघु० ७। २१), दशाह (रघु० ७। ७३)। संस्कारोंके इस वर्णनसे यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि राजासे रंकतक—सबकी परम्परागत इन कर्मोंमें श्रद्धा होती थी। यही कारण है कि भारतमें समय-समयपर होनेवाले आक्रमणकारियोंके बर्बरतापूर्ण आक्रमण निष्फल रहे। ये थीं हमारे पूर्वजोंकी अमर योजनाएँ, जिन्होंने देशको अखण्डित तथा हमें स्वाधीन बनाये रखा और जिनके द्वारा संस्कृत होनेके कारण हम सब एकतामें आबद्ध रहे।

गृह्यसूत्रोंमें आश्रमोंकी व्यवस्थाका व्यापकरूपसे वर्णन मिलता है। ब्रह्मचर्य, विवाह और वानप्रस्थ—ये तीन आश्रम व्यापकरूपसे समाजमें प्रचलित रहे। 'तैत्तिरीयसंहिता' के एक मन्त्रमें प्रकारान्तरसे इनसे सम्बद्ध तीन ऋण कहे गये हैं—**'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी'** (६, ३, १०, १३) अर्थात् 'जब ब्राह्मण पैदा होता है तो उसपर तीन ऋण लदे रहते हैं। ऋषि-ऋणके अपाकरणके लिये ब्रह्मचर्यव्रत (शिक्षा), देव-ऋण देनेके लिये यज्ञ (समाज) तथा पितृ-ऋणसे मुक्तिके लिये वह श्रेष्ठ परिवारमें विवाह करता है।' 'शांखायनगृह्यसूत्र' के उपनयन-संस्कारमें तीनों वर्णोंकी अवधिका उल्लेख है, जो इस प्रकार है—**'गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत'** (२। १), **'गर्भैकादशेषु क्षत्रियम्'** (२। ४)। **'गर्भद्वादशेषु वैश्यम्'** (२। ५), **'आ षोडशाद् वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतकालः'** (२। ७), **'आ द्वाविंशात् क्षत्रियस्य'** (२। ७), **'आ चतुर्विंशाद् वैश्यस्य'** (२। ८)। अर्थात् 'गर्भाधान-संस्कारके बाद आठवें वर्षमें ब्राह्मणका, ग्यारहवें वर्षमें क्षत्रियका तथा बारहवें वर्षमें वैश्यका उपनयन-संस्कार करे। विशेष कारणवश इस अवधिमें न होनेपर ब्राह्मणके संस्कार सोलह वर्षतक, क्षत्रियके बाईस वर्षतक और वैश्यके चौबीस वर्षतक करनेकी बात कही गयी है। यदि तीनों वर्ण इस अवधिके बीच अपना संस्कार सम्पन्न नहीं कर लेते थे

नों वे उपनयन, शिक्षा तथा यज्ञके अधिकारोंसे वञ्चित समझे जाते थे।'

आजके युगमें भी शिक्षाको राज्यकी ओरसे अनिवार्य बनानेकी योजना उसी प्राचीन महनीय परम्पराकी ओर संकेत करती है। उपर्युक्त उद्धरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अर्थात् पचहत्तर प्रतिशत लोग उस युगमें शिक्षित ही नहीं होते थे, अपितु वे राष्ट्रमें संस्कृत या संस्कारवान् कहलानेके अधिकारी भी होते थे। वर्णाश्रम-व्यवस्था भारतीय जीवनका मेरुदण्ड था। यह हमारे जीवनके उत्कर्षकी ध्वजा समझी जाती थी। कुछ आधुनिक शिक्षाके आलोकमें अपनेको प्रबुद्ध माननेवाले भ्रान्तलोग इस व्यवस्थाको हमारी सात सौ वर्षोंकी गुलामीका कारण बतलानेका साहस करते हैं। किंतु प्राचीन कालमें जितने भी शक, हूण आदि विदेशी जातियोंके आक्रमण हुए, उनसे सुरक्षित रखनेकी क्षमता इसी वर्णव्यवस्थामें थी। इस वर्णाश्रमधर्मको माननेवालोंमें स्वधर्मके प्रति गर्व और गौरवकी भावना इतनी अधिक थी कि वे दूसरोंकी अपेक्षा अपनेको श्रेष्ठ समझते थे।

पाश्चात्त्य चिन्तकोंने अपने ग्रन्थोंमें हृदय खोलकर इस उत्कर्षके लिये भारतीयोंकी प्रशंसा की है। सिडनीने अपने ग्रन्थ 'भारतीय अन्तर्दृष्टि' में कहा है कि 'हिन्दुओंने विदेशी आक्रमणों तथा प्राकृतिक प्रकोपोंका सामना करनेमें जो शक्ति दिखलायी है, उसका कारण उनकी अजस्र, अमर और अजर वर्णाश्रमधर्मकी व्यवस्था है।' इसी तरह सर लारेन्सने अपनी पुस्तक 'भारतीय चिन्तन' में लिखा है—'हिन्दुओंकी जातीय प्रथाने संघका काम किया है, जिससे उसे शक्ति मिली है और उसने विभिन्न वर्णोंको सुसंगत रखा है।' गार्डीनरने भी अपनी पुस्तक 'समाजके स्तम्भ' में लिखा है 'वर्णाश्रमधर्मने भारतीय विश्वास तथा परम्पराओंको जीवन्त रखा है।' पश्चिममें आदर्शोंके स्थानपर धन-दौलतको आधार माना गया है, जो बालूकी दीवारकी तरह अस्थिर है।

पर हमारे यहाँ आचार्योंका समाजमें ही नहीं, अपितु राष्ट्रभरमें आचारसे ही आदर होता था। वे आचरणके क्षेत्रमें उदाहरणीय-अनुकरणीय व्यक्ति समझे जाते थे। ईसासे आठ सौ वर्ष पूर्व भगवान् यास्कने अपने ग्रन्थ 'निरुक्त' में आचार्यका निर्वचन करते हुए लिखा था—'**आचार्यः कस्मात्? आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा।**' (१।४)—अर्थात् 'आचार्य किसे कहते हैं?—जो शिष्यको सदाचरण सिखलाता है अथवा शिष्यको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थोंको समझा देता है।' गृह्यसूत्रोंका तात्पर्य संस्कारके संनिदेशसे है। इन्हीं संस्कारोंके कारण सम्राट् तपस्वियोंके चरण छूकर अपने जीवनको धन्य मानते थे और क्षत्रसे ब्रह्म पूज्यतर समझा जाता था।

वेदोंमें गार्हस्थ्य-सूत्र

[गार्हस्थ्य-सम्बन्धी कतिपय प्रमुख महत्त्वपूर्ण एवं अत्यन्त उपादेय वैदिक सूत्रोंको सानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—]

ऊर्ध्वा धीतिः प्रत्यस्य प्रयामन्यधायि शस्मन्त्समयन्त आ दिशः।
स्वदामि धर्मं प्रति यन्त्यूतय आ वामूर्जानी रथमश्विनारुहत्॥

(ऋक्० १।११९।२)

हे विद्वान् स्त्री-पुरुषो! जिस प्रकार रथके उत्तम मार्गको सुविधापूर्वक चलने योग्य बनाया जाता है, जिससे रथपर सवार होकर सुविधापूर्वक दूर देशको पहुँचा जा सके, उसी प्रकार तुम दोनोंकी प्रशंसायुक्त जीवन-यात्रामें—उत्तम मोक्ष-मार्गमें जानेके लिये इस शरीर और आत्माके धारण-पोषणका कार्य प्रतिक्षण चले। हमारी इन क्रियाओंपर नियन्त्रण रखने-हेतु उपदेश करनेवाले गुरुजन हमें भलीभाँति प्राप्त हों। मैं जिज्ञासु पुरुष, गुरुसे प्राप्त अति प्रदीप्त उज्ज्वल ज्ञानरसका मेघसे गिरते जलके समान उत्तम रीतिसे उपयोग करूँ, रमण करने योग्य रथके समान गृहस्थ-आश्रमको सब ओरसे अन्न, सम्पत्ति और पराक्रमशक्ति प्राप्त हो।

कथा ते अग्ने शुचयन्त आयोर्ददाशुर्वाजेभिराशुषाणाः।
उभे यत् तोके तनये दधाना ऋतस्य सामन् रणयन्त देवाः॥

(ऋक्० १।१४७।१)

हे ज्ञानी विद्वान्! पुत्रों तथा पौत्रों आदिके विभाजनमें दो प्रकारका चरित्र रखनेवाले (अलग-अलग प्रकारका असमान व्यवहार करनेवाले) जो मनुष्य अपने लिये पुत्र-पौत्रादिसे पवित्र व्यवहारकी आशा रखते हैं, सामवेदमें सत्य-व्यवहार क्या कहा है? वे इसपर कैसे वाद-विवाद करें (तात्पर्य यह कि जो इतने मूर्ख हैं कि संतानोंके प्रति असमानताका व्यवहार करके उनसे अपने लिये पवित्र व्यवहारकी आशा करते हैं, उनका

वेदमें सत्य-व्यवहार क्या है, क्या नहीं— इसपर वाद-विवाद करना व्यर्थकी बकवास ही है)।

अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः।
गाथान्यः सुरुचो यस्य देवा आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ताः।

(ऋक्० १। १९०। १)

हे विद्वान् गृहस्थ! धर्मयुक्त कामोंमें रुचि रखनेवाले, धर्मोपदेश करनेवाले शास्त्रवेत्ता, शास्त्रानुकूल आचरण करनेवाले, पैदल धर्म-प्रचार-हेतु घूमनेवाले अतिथिकी भलीभाँति भोजनादिकी व्यवस्था करो, उनकी सेवा-सत्कार करो।

साध्वपांसि सनता न उक्षिते उषासानक्ता वय्येव रण्विते।
तन्तुं ततं संवयन्ती समीची यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती॥

(ऋक्० २। ३। ६)

दिन-रात्रि जिस प्रकार मानवको उत्तम कर्म करनेकी प्रेरणा देते हैं, वस्त्र बुननेवाले करघेपर सूत ताने-बानेके रूपमें निरन्तर शब्द करता हुआ चलता है, उसी प्रकार घरमें स्त्री-पुरुष दोनों ही उषाकालके समान कान्तियुक्त तथा रात्रिकी सुखनिद्राके समय विश्रामदायक हों। वे दोनों विनययुक्त कर्म करनेवाले, सुखदाता, परस्पर प्रेमसे परिपूर्ण, हृष्ट-पुष्ट तथा किसी भी कामको करनेमें अथवा उसका निषेध करनेमें समर्थ हों। वे दोनों परस्पर रमणीय मनोहर शब्द बोलते हुए एक-दूसरेके प्रति आत्मदानी एवं सुसंगतिजनक गृहस्थ यज्ञके स्वरूपको परस्पर मिलकर भलीभाँति सुन्दर बनाते हैं। वे परस्परकी कामनाओंको भलीभाँति पूर्ण करते हुए अन्न-दुग्धादिसे भरपूर होकर रहें।

प्रातर्यावाणा रथ्येव वीरा ऽजेव यमा वरमा सचेथे।
मेने इव तन्वा शुम्भमाने दंपतीव क्रतुविदा जनेषु॥

(ऋक्० २। ३९। २)

हे वर और वधू! तुम दोनों रथमें जुते दो अश्वोंके समान या रथमें लगे दो पहियोंके समान एक साथ मिलकर प्रातःसे ही कार्योंमें व्यास होकर वीर्यवान् वीर होकर, अनुत्पन्न-अनादि दो आत्माओंके समान परस्पर एक-दूसरेके ऊपर प्रेमयुक्त होकर, यम-नियमके पालक एवं जितेन्द्रिय होकर श्रेष्ठ कार्य करो और धन प्राप्त करो। तुम दोनों परस्पर सम्मान करनेवाले दो स्त्री-पुरुषोंके समान या दोनों नर-मादा मेना पक्षीके समान शरीरसे शोभायमान और आदर्श पति-पत्नीके समान दाम्पत्य-सम्बन्धका पालन करते हुए सब मनुष्योंके बीच यज्ञ आदि उत्तम कर्म तथा श्रेष्ठ ज्ञानको प्राप्त करके परस्पर मिलकर रहो।

अत्यं हविः सचते सच्च धातु चाऽरिष्टगातुः स होता सहोभरिः।
प्रसर्स्राणो अनु बर्हिर्वृषा शिशुर्मध्ये युवाजरो विस्रुहा हितः॥

(ऋक्० ५। ४४। ३)

हे मनुष्यो! जो दानवीर (हिंसित वाणीवाले—कटुभाषी नहीं हैं अर्थात् सबको सुख देनेवाले) एवं मधुरभाषी हैं, वे चिरकालतक जरारहित यौवनावस्थाको प्राप्त शक्तिमान् होते हैं, जिस भाँति यज्ञमें आहूत सामग्री रोगोंको नष्ट करके वायुमण्डलको सुगन्धित करती है, उसी भाँति वे मानव अपनी मधुर, सर्वहितकारी वाणीसे सर्वत्र प्रेमका संचार करते हुए, जैसे मातासे पुत्रको प्रेम प्राप्त होता है, सबसे प्रेम प्राप्त करते हैं।

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती॥

(ऋक्० ६। ७५। ३)

हे शूरवीर! जैसे धनुषपर प्रत्यञ्चा (अर्थात् धनुषमें लगी ताँत-'डोरी' पर) चढ़ाकर ही शर-संधान किया जाता है, उसी भाँति वीर विदुषी पत्नी अपने प्यारे पतिके साथ हर समय हर प्रकारसे सहयोग करनेके लिये संलग्न रहती है। जैसे धनुषकी प्रत्यञ्चापर शर-संधान करके ही संग्राममें विजय प्राप्त होती है, उसी भाँति (समानकर्मा) पति-पत्नी समान कर्म तथा समान विचारवाले होकर परस्पर सहयोगपूर्वक जीवन-संग्राममें विजयको प्राप्त करते हैं।

य आध्राय चकमानाय पित्वो ऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते॥

(ऋक्० १०। ११७। २)

जो पालन करने योग्यको, भूखेको, दुःखी जनको, भोजनके लिये समीप आये हुएको देखकर अन्न-धनवाला होते हुए भी मनको कठोर कर लेता है (अर्थात् भोजनादि या जो सहायता उसे अपेक्षित है, नहीं देता) तथा उसको देनेके पूर्व ही खा लेता है, वह दयालु परमात्माको नहीं पाता।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋक्० १०। ११७। ६)

अनुदार चित्तवाला व्यक्ति अन्न-धनको व्यर्थ ही पाता है। मैं सत्य कहता हूँ, उसकी यह मृत्यु ही है (संचित धनैश्वर्यके अपहरणका भय ही इस सुख-स्वरूप जीवकी अभयतामें सर्वप्रमुख बाधक है, कभी-कभी तो धनके कारण शरीर भी छोड़ना पड़ता है), क्योंकि वह न तो सत्कर्म, दान तथा उपासनादिद्वारा परमप्रभुको तृप्त करता है, न सहयोग-सहायताद्वारा मित्रोंको

ही पुष्ट करता है, केवल अपने भोगोंकी ही पूर्ति करनेवाला मानव पाप खाता है, साक्षात् पापरूप ही होता है।

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः।
यद्दित्ससि स्तुतो मघम्॥

(अथर्ववेद २०। २७। ४)

तेरी प्रवृत्ति यदि जगत्के हितार्थ दान देनेकी हो तो तेरे ऐश्वर्यको बढ़ानेसे रोकनेका सामर्थ्य देव भी नहीं रखते, फिर तो सामान्य मनुष्य तेरे ऐश्वर्यवान् होनेमें क्या बाधा बनेगा?

[प्रस्तुति—श्रीनाथूरामजी गुप्त]

वैदिक कालमें सात्त्विक आहार

(श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)

मनुष्यके जीवनमें भोजनका अत्यन्त विशिष्ट महत्त्व है। वह जिस प्रकारका भोजन करता है, उससे उसकी प्रकृति एवं आचार-विचारका ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण जीवनका स्वरूप आँका जा सकता है। मनुष्यद्वारा ग्रहण किया हुआ भोजन सूक्ष्मरूपसे मानव-शरीर एवं मस्तिष्कको प्रभावित करता है; जबकि इस ग्रहण किये हुए भोजनका स्थूल भाग मल आदिमें बदलकर शरीरके बाहर प्रेषित हो जाता है।

भोजनमें सात्त्विक आहारके विषयमें वैदिक कालसे ही निर्देश दिया गया है अर्थात् वैदिक कालमें भोजनसे उसकी मानसिकता (मानसिक प्रभाव)-को प्रभावित बताया गया है। सात्त्विक, शुद्ध एवं पवित्र आहारसे व्यक्ति शारीरिक-मानसिक एवं बौद्धिक रूपोंमें अपेक्षाकृत अधिक शीघ्र उन्नत-अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। अतः अनेक विद्वानोंने भोजनमें प्रायः सात्त्विक आहार लेनेपर ही अधिक जोर दिया है।

वेदोंमें भोजनकी स्तुति की गयी है[१] तथा बैठकर भोजन करनेका निर्देश दिया गया है[२]। वेदोंके साथ ब्राह्मणग्रन्थोंमें उल्लेख है कि भोजन दो बार दिनमें करना चाहिये[३]। वृक्षका लाल द्रवरस या वृक्ष काटनेपर जो स्राव निकलता है, उसे नहीं खाना चाहिये[४]। बच्चा देनेपर गायका दूध १० दिनतक नहीं पीना चाहिये[५]। वैदिक यज्ञके लिये दीक्षित व्यक्तिको होमके समाप्त होनेपर ही भोजन करना चाहिये, उसके पूर्व नहीं[६]। इसी प्रकार आरण्यक-ग्रन्थोंमें भी भोजन-सम्बन्धी कतिपय प्रतिबन्धोंका स्पष्ट उल्लेख है[७]।

छान्दोग्योपनिषद्में वर्णित उषस्ति चाक्रायणकी कथासे ज्ञात होता है कि भोजन न मिलनेपर (आपद्धर्ममें) उच्छिष्ट आदि भी खाया जा सकता है—चाहे वह निम्नजातिके व्यक्तिका जूठा भोजन ही क्यों न हो; ऐसे आपत्तिकालमें प्राणका बचाना कर्तव्य एवं धर्म हो जाता है; क्योंकि वह अमूल्य होता है[८]। आहार शुद्ध होना चाहिये[९] तथा भोजन करनेके पूर्व और पश्चात् दो बार आचमन करना चाहिये[१०]। भोजन सात्त्विक होना आवश्यक है[११]। भोजनमें अन्नको देवता मानकर उसके संवर्धनकी कामना की गयी है[१२] तथा कहा गया है कि जिसका अन्न दूसरे व्यक्ति खायें वह पुण्यवान् होता है[१३]। अन्न सर्वश्रेष्ठ होता है; क्योंकि १० दिनतक उपवास करनेपर जीवित रहते हुए भी व्यक्ति दर्शन-मनन-श्रवण-बोध-अनुष्ठान आदि अनुभव करनेमें असमर्थ रहता है[१४]। अतः अन्नकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनी चाहिये[१५]। अन्नको देवता बताते हुए कहा गया है कि समस्त प्राणी अन्नको ग्रहण करके ही जीवित रहते हैं[१६]। उपनिषद्वर्णित राजा जनश्रुत पौत्रायणके गृहपर अतिथियोंके लिये बहुत-सा अन्न पकता था[१७]। मनुष्यद्वारा खाये हुए अन्नका परिणाम तीन प्रकारका होता है। स्थूलभाग मल, मध्यभाग मांस तथा सूक्ष्मभाग मन बनता है। इसमें शरीर

१-ऋग्वेद १।१८७।१—७; २-वही ६।३०।३, ३।५२।३—६; ३- वही ३।५२।३—६; तैत्तिरीयब्राह्मण १।४।९; शतपथब्रा० २।२।२।६; ४-तैत्तिरीयब्रा० २।५।१।१; ५- वही २।१।१, ३।१।३; ६-ऐतरेयब्राह्मण ६।९; कौषीतकिब्रा० १२।३; ७-ऐतरेय आरण्यक ५।३।३; ८-छान्दोग्योपनिषद् १।१०।१—५; ९-वही ७।२६।२; १०-वही ५।२।२; बृहदारण्यकोपनिषद् ६।१।१४; ११-वही ६।४।१; १२-अथर्ववेद ६।१४२; १३-वही ९।६।२५; १४-छान्दोग्योपनिषद् ७।९।२, २।८।३; १५-वही १।११।९; १६-वही ४।१।४; १७-वही ६।६।२;

प्राणके आश्रित है तथा प्राण शरीरके। जो मनुष्य यह जान लेता है कि वह अन्नमें ही प्रतिष्ठित है, वह प्रतिष्ठावान् हो जाता है। अन्नवान्, प्रजावान् एवं पशुवान् हो जाता है[1]। वह ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होकर महान् बनता है तथा कीर्तिसे सम्पन्न होकर भी महान् ही बनता है। (विहित उपवासको छोड़कर) अन्नका कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिये[2]। अन्नमें अन्न निहित है, अन्नवान् अन्नभक्षक होता है। अन्नकी वृद्धि करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य एवं व्रत होना चाहिये[3]। अन्नसे ही इस पृथ्वीपर रहनेवाले समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही समस्त प्राणी जीवित रहते हैं तथा अन्तमें अन्नमें ही विलीन हो जाते हैं और नष्ट होनेके पश्चात् अन्ततोगत्वा एकरूप हो जाते हैं[4]।

सात्त्विक खाद्य पदार्थके रूपमें व्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु (सावाँ), प्रियंगु (काँगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खाल्व (वाल) और खाल्कुल (कुल्थी)—ये दस ग्रामीण अन्नका स्पष्ट उल्लेख मिलता है[5]। इसके अतिरिक्त दूधके साथ घीमिश्रित चावल (खीर), दहीमें पकाये चावल, जलमें चावल बनाया भोज्य, तिल-चावलकी खिचड़ी, उड़द-चावलकी खिचड़ी आदि भोजन करनेका वर्णन है[6]। इसके अतिरिक्त आँवला, बेर (कोल) तथा बहेड़ेका भी वर्णन है[7] तथा आम्र (आम) गूलर एवं पिप्पलफल खानेका विधान भी है[8]।

इस प्रकारसे स्पष्ट है कि सात्त्विक आहार वैदिक कालसे ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है तथा भोजनकी अतिशय शुद्धतापर स्पष्टरूपसे बल दिया गया है। कौन-सा भोजन लाभदायक है तथा कौन-सा हानिकारक है—यह स्पष्ट किया गया है। अतः सात्त्विक आहार एवं उसको किस प्रकार खाया जाय अथवा न खाया जाय, इस विषयपर अच्छा ज्ञान वैदिक साहित्योंसे जानना चाहिये।

[वेदानुगामी शास्त्रोंमें भी सात्त्विक आहारपर बहुत बल दिया गया है। आज आहारकी अशुद्धिसे संसार तमोगुणी और अपावन भावनावाला हो गया है। भक्ष्याभक्ष्यका विचार शिथिल हो गया है। अतएव मानव दानवताकी दिशामें बढ़ चला है। आवश्यकता है कि विश्वमङ्गलके लिये सात्त्विक आहारका अधिकाधिक प्रचार किया जाय। गीता (१७। ८)-में बतलाया गया है कि आयु, ओज, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाला रसीला, चिकना, स्थिर एवं हृदयके लिये हितकारी भोजन सात्त्विक जनोंको प्रिय होता है। अतः हमें सात्त्विक भोजन कर सात्त्विक बनना चाहिये। तभी हम अपना तथा विश्वका कल्याण कर सकेंगे।]

नारी और वेद

(पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, वेदाचार्य, धर्मशास्त्राचार्य, मीमांसादर्शन-शास्त्री)

विवाहकालमें कन्यादान—पाणिग्रहणके बाद लाजाहोममें कन्या अपने लिये अपने मुखसे 'नारी' शब्दका सबसे पहले प्रयोग करती है (पा० गृ० १। ६। २, अ० १४। २। ६३); क्योंकि इससे पहले उसका नर-सम्बन्ध नहीं रहा है। 'नारीत्व' को प्राप्त करते ही वह दो प्रधान आदर्श अपने सामने अपने ही वचनमें जीवनके लिये रखती है—१-'**आयुष्मानस्तु मे पतिः।**', २-'**एधन्तां ज्ञातयो मम।**' मेरा पति पूर्ण आयुसम्पन्न हो और मेरी जाति (समाज)-की अभिवृद्धि हो। नारी होनेके बाद ही इसे 'सौभाग्य' की प्राप्ति होती है (अ० १४। १। ३८, पा० गृ० १। ८। ९)। सौभाग्यका प्रधान अर्थ पतिकी नीरोग स्थिति है (ऋक्० १०। ८६। ११)। पतिमती स्त्रियाँ अविधवा (सधवा) कहलाती हैं। घरमें सधवा स्त्रियोंका प्रथम स्थान है (ऋक्० १०। १८। ७)। इनको सर्वदा नीरोग, अञ्जन एवं घृतादि स्निग्ध पदार्थोंसे विभूषित, मूल्यवान् धातुओंसे समलंकृत अश्रुविहीन (ऋक्० १०। १८। ७), सुरूपिणी, हँसमुखी (३। ५८। ८), शुद्ध कर्तव्यनिष्ठ, पतिप्रिया (१। ७६। ३), सुवस्त्रा (१०। ७१। ४), विचारशीला (१। २८। ३), पतिपरायणा (१०। ८५। ४७) एवं पातिव्रत-धर्मनिष्ठ (पा० गृ० १। ८। ८) होना चाहिये। इन्हें अपने सत्-कर्तव्योंसे सास, ससुर, देवर तथा ननदके ऊपर साम्राज्य प्राप्त करना चाहिये। नारी होनेके साथ ही इनको 'पत्नी' पद भी प्राप्त हो जाता है, जिसके कारण ये अपने पतिके लिये

१-तैत्तिरीयोपनिषद् ३।७; २-वही ३।८; ३-तैत्तिरीयोपनिषद् ३।९; ४-तैत्तिरीयोपनिषद् २।३; ५-बृहदारण्यकोपनिषद् ६।३।१३; ६-बृहदारण्यकोपनिषद् ६।४।१६-१७; ७-छान्दोग्योपनिषद् ७।३।१; ८-बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।३६।

कर्तव्यका फल प्राप्त कर लेती हैं (पाणिनि० ४। १। ३३)। शास्त्रीय विधानसे पुरुष-सम्बन्ध होनेपर ही स्त्री व्यक्ति-पत्नी कहलाती है। पत्नी पुरुषका आधा स्वरूप है (तै० ब्रा० ३। ३। ५)। इस पत्नीके बिना पुरुष अधूरा रहने (श० ५। २। १। १०)-के कारण सब यज्ञोंका अधिकारी नहीं बनता (तै० २। २। २। ६)। पत्नी लक्ष्मीका स्वरूप है (श० १३। २। ६। ७)। इसका पूजन (सत्कार) करना चाहिये (मनु० ३। ५६)। पुरुषोंद्वारा स्त्रियोंकी पूजा उनके कर्तव्योंसे की जाती है। पुरुषको संसारमें फँसा देनेमात्रसे पूजा प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं हो सकती (१। ९२। ३)। पुरुषोंद्वारा सम्मानित होनेके कारण स्त्रियोंका वैदिक नाम 'मेना' (निरु० ३। ४। २१) है। पति इसमें गर्भरूपसे उत्पन्न होता है, इसलिये इसे 'जाया' कहते हैं (ऐ० ब्रा० ७। १३)। पुत्र-संततिसे स्त्रीकी प्रशंसा है (ऋक्० १०। ८६। ९)। बीस संतति होनेपर भी जिसके शरीरमें विकृति न आये, वह स्त्री महत्त्वशालिनी है (ऋक्० १०। ८६। २३), साधारण स्त्रीमें दस संततिका आधान होना चाहिये (१०। ८५। ४५)। अधिक संतति होनेसे जीवन कष्टमय हो जाता है (२। ३। २०)। स्त्रीके अङ्गोंमें बाहु, अँगुली (२। ३२। ७), भग (१०। ८६। ६)-की शोभनता, केशकी पृथुता (१०। ८६। ८), कटिभाग (श० ३। ५। १। ११), जघनकी विशालता (१०। ८६। ८), मध्यभागकी कृशता (श० १। २। ५। १६)-की प्रशंसा वेदोंमें मिलती है। स्त्रीको इस तरह (लज्जापूर्ण) रहना चाहिये कि दूसरा मनुष्य उसका रूप देखता हुआ भी न देख सके, वाणी सुनता हुआ भी पूरी न सुन सके (अर्थात् मन्दवाणी बोलनी चाहिये) (१०। ७१। ४)। स्त्रियोंको पुरुषोंके सामने भोजन नहीं करना चाहिये (श० १। ९। २। १२), स्त्रियोंको पुरुषोंकी सभामें बैठना उचित नहीं (श० १। ३। १। २१), स्त्री-समाजका मुखिया पुरुष होता है (श० १। ३। १। ९)। सूतका कातना, बुनना, फैलाना स्त्रियोंका कर्तव्य है (अथर्व० १४। १। ४५)। स्त्रियोंको अपने मस्तकके बालोंको साफ रखना चाहिये। मस्तकपर आभूषण भी पहनना चाहिये तथा 'शयन-विदग्धा'—सोनेमें चतुर भी अवश्य होना चाहिये (यजु० ११। ५६)। स्त्रीके पहने हुए वस्त्र पुरुषको नहीं पहनने चाहिये। इससे अलक्ष्मीका वास होता है (१०। ८५। ३०, ३४)। नारियोंको अपने नेत्रमें शान्ति रखनी चाहिये, पशुओं, मनुष्यों अर्थात् प्राणिमात्रके लिये हितकारिणी एवं वर्चस्विनी होना चाहिये (१०। ८५। ४४)। किसीकी हिंसाका भाव नहीं रखना चाहिये (श० ६। ३। १। ३९)। स्त्रीके हाव-भाव-विलासोंका प्राकृतिक उदाहरण देकर शिक्षाशास्त्रियोंने उच्चारणका प्रकार भी बतलाया है (या० शि० १। ६९; २। ६३, ६७, ७०)। स्त्रीको पति, श्वशुर, घर एवं समाजकी पुष्टिका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये (अ० १४। २। २७)। पति-पत्नीका सम्बन्ध सुगम एवं कल्याणप्रद है। इस मार्गके आश्रयसे हानि नहीं होती, अपितु प्रशंसा एवं धनका लाभ प्राप्त होता है (अ० १४। २। ८)। वैदिक मार्गके अनुकरणसे दम्पति अपने संसारके दुर्गम मार्गको सुगमतासे पार कर सकते हैं (अ० १४। २। ११)।

इस संक्षिप्त लेखमें ऋ०—ऋग्वेद, य०—यजुर्वेद (शुक्ल), सा०—सामवेद, अ०—अथर्ववेद, श०—शतपथब्राह्मण, नि०—निरुक्त, या० शि०—याज्ञवल्क्य शिक्षा, पा० गृ०—पारस्करगृह्यसूत्रका संकेत है।

वैदिक युगीन कृषि-व्यवस्था

(प्रो० श्रीमाँगीलालजी मिश्र)

वेदोंमें प्राचीन वैदिक आर्योंके आर्थिक जीवनका विशिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। उनको देखनेसे ज्ञात होता है कि वैदिक आर्योंमें कृषि-कर्मका प्रचार तथा प्रसार विशेषरूपसे था। उनकी जीविकाका प्रधान साधन खेती तथा पशु-पालन था। कृषि एवं कृषकोंके सम्बन्धमें ऋग्वेदमें उल्लेखनीय चित्रण किया गया है। आर्य कृषिको बड़ा महत्त्व देते थे। वैदिक उपदेश है—'जुआ खेलना छोड़ दो और खेती करनेका अभ्यास करो'—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्वः०।

(ऋक्० १०। ३४। १३)

क्षेत्र (खेत)

ऋग्वेदमें क्षेत्र (खेत) शब्दका प्रयोग इस बातका स्पष्ट संकेत करता है कि अलग-अलग खेतोंका अस्तित्व था (ऋक्० १०। ३३। ६)। कुछ स्थलोंपर यह शब्द कृषि-भूमिका द्योतक है (ऋक्० १। १००। १८)। अथर्ववेदमें और बादके ग्रन्थोंमें भी इस शब्दसे

पृथक् एक अन्य प्रकारके खेतका आशय स्पष्ट है।

खेत दो प्रकारके होते थे—उपजाऊ (**अप्रस्वती**) तथा बंजर (**आर्तना**) (ऋक्० १। १२७। ६)। ऋग्वेदके अनुसार खेत सतर्कतापूर्वक नपे होते थे। यह तथ्य कृषिके लिये भूमिपर वैयक्तिक प्रभुत्वका स्पष्ट संकेत करता है। इस निष्कर्षकी पुष्टि ऋग्वेदके एक सूक्त (८। ९१। ५)-द्वारा भी होती है, जिसमें अपालाका अपने पिताकी उर्वरा भूमिपर प्रभुत्व उसी समान माना गया है, जैसे उसके सिरके बाल उसके व्यक्तिगत अधिकारमें थे। भूमि विजित करना (उर्वराजित्) आदि विशेषण भी इसी मतके अनुकूल है, जबकि एक देवताके लिये प्रयुक्त (ऋक्० ८। २१। ३) 'भूमिका स्वामी' सम्भवतः मानवीय विशेषण (उर्वरापति)-का स्थानान्तरणमात्र है। तैत्तिरीय (३। २), काठक (५। २) और मैत्रायणी (४। १२। ३)संहिताओंमें खेतोंकी विजयका भी उल्लेख है। पिशल (वैदिशे स्टूडियन)-का विचार है कि यह अधिक सम्भव है कि कृषि भूमिके चारों ओर घासयुक्त भूमि-सम्पत्ति रही होगी। वैदिक साहित्यमें किसी प्रकारके सम्पूर्ण जातिके प्रभुत्वके आशयमें किसी जातिगत (सामूहिक) सम्पत्तिका कोई संकेत नहीं है और न जातीय कृषिका ही (बेडेन पावेल—इंडियन विलेज कम्युनिटी, १८९९)। छान्दोग्य-उपनिषद् (७। २४। २)-की सम्पत्तिके उदाहरणस्वरूप दी गयी वस्तुओंके अन्तर्गत खेत और घर (आयतानादि) भी आते हैं। अधिकांश अवस्थाओंमें एक परिवार भूमिके हिस्सोंको बिना बाँटे ही सम्मिलित रूपसे रखता था। भूमि-सम्पत्तिके उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियम सूत्रों (गौतमधर्मसूत्र १८। ५, बोधा० धर्म० २। २। ३, आप० धर्म० ३। ६। १४)-के पहले नहीं मिलते।

गाँवकी सामाजिक अर्थव्यवस्थाके सम्बन्धमें वैदिक साहित्य बहुत कम विवरण प्रस्तुत करता है। इस बातको सिद्ध करनेके लिये कोई सामग्री नहीं है कि लोग भूमिपर सामुदायिक अधिकार रखते थे, जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है। भूमिपर व्यक्तिगत अधिकार ही प्रचलित था, किंतु व्यवहारतः इसका आशय भूमिपर एक व्यक्तिकी अपेक्षा एक परिवारके अधिकारसे है। फिर भी 'गाँवकी इच्छा रखनेवाला' (ग्राम-काम)—इससे सम्बन्धित व्याहति, जो बादकी संहिताओं (तैत्ति० २। १। १। २, मैत्रा० २। १। ९ आदि)-में प्रायः मिलती है, वह इस प्रचलनका संकेत करती है कि जहाँतक फसली विषयोंका सम्बन्ध था, राजा गाँवोंपरके अपने राजकीय विशेषाधिकार अपने प्रिय पात्रोंको प्रदान कर देता था। बेडेन पावेल (इंडियन विलेज कम्युनिटी)-के अनुसार बादमें यह विचार विकसित हो गया कि राजा भूमिका स्वामी है और इसी विचारके समानान्तर यह दृष्टिकोण भी विकसित हुआ कि उक्त प्रकारसे भूमि प्राप्त करनेवाले लोग जमींदार होते हैं, किंतु इन दोनोंमेंसे किसी भी विचारको पुष्ट करनेके लिये वैदिक साहित्यमें 'ग्राम-काम' शब्दके अतिरिक्त अन्य कोई संकेत नहीं है।

कृषि-कर्म

वैदिक कालमें कृषि-कर्मके प्रकारोंपर दृष्टिपात करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय खेती आजकी भाँति ही होती थी। इसमें संदेह नहीं कि ईरानियोंसे पृथक् होनेसे पूर्व ही भारतीय कृषिसे परिचित थे। यह ऋग्वेदके '**यवंकृष्**' और '**सस्य**' तथा अवेस्ताकी '**यओ करेश**' और '**हव्य**' व्याहृतियोंकी समानतासे स्पष्ट होता है, जिनसे जोतकर बोये हुए बीज और उनसे उपजे हुए अन्नका आशय है। किंतु यह बात भी महत्त्वहीन नहीं कि जोतनेसे सम्बद्ध व्याहृतियाँ प्रमुखतः ऋग्वेदके केवल प्रथम तथा दशम मण्डलोंमें ही प्राप्त होती हैं और तथाकथित पारिवारिक मण्डलों (२। ७)-में अत्यन्त दुर्लभ हैं। अथर्ववेद (८। १०। २४)-में कृषि आरम्भ करनेका श्रेय पृथुको दिया गया है। ऋग्वेद (८। २२। ६)-के अनुसार अश्विनीकुमारोंमें सर्वप्रथम आर्य लोगोंको हल (वृक)-के द्वारा बीज बोनेकी कला सिखलायी (**'दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः'**)। बादकी संहिताओं और ब्राह्मणोंमें भी कृषिका बार-बार उल्लेख है।

वैदिक युगमें खेत (उर्वर-क्षेत्र)-को हलोंसे जोतकर बीज बोनेके योग्य बनाया जाता था। हलका साधारण नाम 'लांगल' या 'सिर' था, जिसके अगले नुकीले भागको 'फाल' कहते थे। इसकी मूठ बड़ी कठोर और चिकनी होती थी। (सोमसत्सरु, अथर्व० ३। १७। ३)। हलमें एक लंबा मोटा बाँस बाँधा जाता था। (ईषा) जिसके ऊपर जुआ (युग) रखा जाता था, जिसमें रस्सियोंसे बैलोंका गला बाँधा जाता था। हल खींचनेवाले बैलोंकी संख्या छः, आठ और बारहतक होती थी, जिससे हलके, भारी तथा बृहदाकार होनेका अनुमान किया जा सकता है। हलवाहा (कीनाश) अपने पैनों (चाबुक या तोत्र)-से इन बैलोंको हाँकता था।

वैदिक कालमें वैश्य ही प्रायः खेती किया करते थे। खेत उपजाऊ होते थे। उनके उपजाऊ न होनेपर खाद डालनेकी व्यवस्था थी। खादके लिये गायका गोबर (करीष) काममें लाया जाता था। यह अथर्ववेद (४। २।७)-द्वारा प्रकट होता है कि खेतोंके लिये पशुओंकी प्राकृतिक खादका महत्त्व स्वीकार किया जाता था।

कृषि-सम्बन्धी विभिन्न क्रियाएँ शतपथब्राह्मण (१। ६।१।३)-में स्पष्टरूपसे इस प्रकार वर्णित हैं—'जोतना, बोना, काटना और मांडना (**कृषन्तः, वपन्तः लुनन्तः' मृणन्तः**)। पकी फसलको हँसिया (दात्र, सृणि)-से काटा जाता था, उन्हें गट्ठरोंमें बाँधा जाता था (दर्ण) और अन्नागार (खन)-की भूमिपर पटका जाता था। इसके बाद या तो चलनी (तितउ)-से चालकर अथवा शूर्पसे औसाकर तृणभरे भूसेसे अनाजको अलग कर लिया जाता था (ऋक्० १०।७१।२)। औसानेवालेको 'धान्याकृत्' (ऋक्० १०।६४।१३) कहा जाता था। एक पात्रमें जिसे 'उर्दर' कहते थे, उसीमें अन्नको भरकर नापा जाता था।

उपार्जित अन्नके प्रकारोंके सम्बन्धमें ऋग्वेद हमें अनिश्चित रखता है, क्योंकि 'यव' एक संदिग्ध आशयका शब्द है और 'धाना' भी अस्पष्ट है। बादकी संहिताओं (वाज० संहिता)-में वस्तुस्थिति भिन्न है। यहाँ चावल (व्रीहि) आता है और 'यव' का अर्थ 'जौ' तथा उसकी एक जातिका नाम उपवाक है। मुद्ग, माष, तिल तथा अन्य प्रकारके अन्न जैसे अणुखल्व, गोधन, नीवार, प्रियङ्गु, मसूर, श्यामाक तथा उर्वारु और उर्वारुकका भी उल्लेख है। यह निश्चित नहीं है कि फलोंके वृक्ष लगाये जाते थे अथवा वह वनोंमें स्वतः उगते थे। ऋक्० ३। ४५। ४ में पके फल तोड़नेका उल्लेख है; किंतु कर्कन्धु, कुवल, बदरका प्रचुरतासे उल्लेख है।

ऋतु

कृषिकी ऋतुओंका तैत्तिरीय संहिता (७।२।१०।२)-में संक्षिप्त उल्लेख है—'जौ' ग्रीष्म-ऋतुमें पकता था और इसमें संदेह नहीं है कि जैसा इस समय भारतमें होता है, इसे जाड़ेमें बोया जाता था। चावल (धान) शरद्-ऋतुमें पकता था तथा वर्षाके आरम्भमें बोया जाता था, परंतु माष और तिल ग्रीष्म-ऋतुकी वर्षाके समय बोया जाता था और जाड़ेमें पकता था। तैत्तिरीय संहिता (५।१।७।३)-के अनुसार वर्षमें दो बार फसल (सस्य) काटी जाती थी। कौषीतकिब्राह्मण (१९। २)-के अनुसार जाड़ेकी फसल चैत्र महीनेतक पक जाती थी।

कृषकोंकी अनेक कठिनाइयाँ होती थीं। बिलमें रहनेवाले जीव (जैसे—चूहे-छछुंदर आदि) बीजोंको नष्ट कर देते थे, पक्षी और विभिन्न प्रकारके सर्पश्रेणीके अन्य जीव (उपक्वस, जम्य, तर्द, पतंग) नये अङ्कुरोंको हानि पहुँचाते थे, अतिवृष्टि तथा अनावृष्टिसे भी फसलको क्षति पहुँचती थी। अथर्ववेदमें इन विपत्तियोंसे बचावके लिये अभिचारीय मन्त्र दिये गये हैं। छान्दोग्य-प्रामाण्यके अनुसार टिड्डियों (मटची)-से भी बड़ी हानि होती थी। कभी-कभी ये पूरा देश-का-देश साफ कर डालती थीं। एक बार टिड्डियोंके कारण समग्र कुरु जनपदके नष्ट होनेकी घटनाका उल्लेख किया गया है—'**मटचीहतेषु कुरुषु**' (छान्दोग्य० १। १०। १)।

वृष्टि

वैदिक आर्य लोग अपने कृषि-कर्मके लिये वृष्टिपर ही अवलम्बित रहते थे। इसी कारण वेदमें वृष्टिके देवताका प्राधान्य माना गया है। वृष्टिको रोकनेवाले दैत्यका नाम था वृत्र (आवरणकर्ता), जो अपनी प्रबल शक्तिसे मेघोंके गर्भमें होनेवाले जलको रोक देता था। इन्द्र अपने वज्रसे वृत्रको मारकर छिपे हुए जलको बरसा देता था तथा नदियोंको गतिशील बनाता था। वैदिक देवता-मण्डलमें इन्द्रकी प्रमुखताका रहस्य आर्योंके कृषिजीवी होनेकी घटनामें छिपा है।

सिंचाई

उस समय खेतोंकी सिंचाईका भी प्रबन्ध था। एक मन्त्रमें जल दो प्रकारका बतलाया गया है—'खनित्रिमा' (खोदनेसे उत्पन्न होनेवाला) तथा 'स्वयंजा' (अपने-आप होनेवाला, नदी-जल आदि) (ऋक्० ७। ४९। २)। कूप (कुआँ), कवट (खोदकर बनाये गये गड्ढे)-का उल्लेख ऋग्वेदके अनेक स्थलोंमें मिलता है। ऐसे कुओंका जल कभी कम नहीं होता था। कुओंसे पानी पत्थरके बने चक्के (अश्मचक्र)-से निकाला जाता था, जिनमें रस्सियों (वरत्रा)-के सहारे जल भरनेवाले कोश बँधे रहते थे (ऋक्० ११। २५। ४)। कुएँसे निकालनेके बाद जलको लकड़ीके बने पात्र (आहाव)-में उड़ेला जाता था। कूपोंका उपयोग मनुष्यों तथा पशुओंके निमित्त जल निकालनेके लिये ही नहीं किया जाता था; बल्कि कभी-कभी इनसे सिंचाई भी होती थी। कुओंका जल बड़ी-बड़ी नालियोंसे बहता हुआ खेतोंमें पहुँचता (ऋक्० ८। ६९। १२) और उनको उपजाऊ बनाता था। कुओंसे जल निकालनेका यह ढंग अब भी पंजाब तथा दिल्लीके

आस-पासके क्षेत्रोंमें देखनेको मिलता है। ऋग्वेदमें 'कुल्या' शब्द भी आया है। मुईरके अनुसार सम्भवतः यह जलाशयमें गिरनेवाली कृत्रिम जल-धाराओंका द्योतक है। आज भी पर्वतीय जलको खेतोंमें पहुँचानेवाली छोटी नहरको कूल्ह (कुल्या) ही कहते हैं।

क्षेत्रपति

वैदिक आर्योंके जीवन-निर्वाहके लिये कृषिका इतना अधिक महत्त्व एवं उपयोग था कि उन्होंने 'क्षेत्रपति' नामक एक देवताकी स्वतन्त्र सत्ता मानी है तथा उनसे क्षेत्रोंके सस्य-सम्पन्न होनेकी प्रार्थना की है। क्षेत्रपतिका वर्णन ऋग्वेद (४। ५७। ८)-में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं
शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः
शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥

अर्थात् 'हमारे फाल (हलका अग्रभाग) सुखपूर्वक पृथ्वीका कर्षण करें। हलवाहे (कीनाश) सुखपूर्वक बैलोंसे खेत जोतें। मेघ मधु तथा जलसे हमारे लिये सुख बरसाये तथा शुनासीर हमलोगोंमें सुख उत्पन्न करे।'

वैदिक युगमें राष्ट्रध्वज

(श्रीयोगेशचन्द्रजी शर्मा)

ध्वजकी परम्परा सभ्यताके आदिकालसे ही रही है। प्रारम्भमें ध्वजका उद्देश्य किसी स्थानविशेषकी पहचान करवाना मात्र रहा होगा। कालान्तरमें ध्वज स्थानविशेषके साथ ही वर्ण, वर्ग या विचारधारा-विशेषके भी प्रतीक हो गये। तदनुसार ध्वजके आकार, प्रकार और रंगोंमें भी विभिन्नताएँ आ गयीं। ये ही ध्वज आगे चलकर राष्ट्रिय ध्वजके रूपमें परिवर्तित हो गये।

हमारे यहाँ राष्ट्रिय ध्वजकी चर्चा वैदिक कालमें भी हुई है। अथर्ववेदके कुछ मन्त्रों (जैसे—५। २१। १२; ११। १२। २ तथा ११। १०। ७)-में राष्ट्रिय ध्वजके आकार-प्रकारका स्पष्ट उल्लेख है। इन मन्त्रोंके अनुसार उन दिनों राष्ट्रिय ध्वजका रंग लाल होता था तथा उसपर श्वेत रंगमें सूर्यका चिह्न अङ्कित होता था। राष्ट्रिय ध्वजका यह स्वरूप हमारी संस्कृति और प्रवृत्तिका प्रतीक था।

लाल रंग रक्त या हिंसाके प्रतीकके रूपमें नहीं, अपितु प्रेमके प्रतीकरूपमें था। प्रेम और स्नेहका रंग भी हमारे यहाँ लाल माना गया है। '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की विचारधारासे युक्त हमारे देशकी संस्कृतिने सदैव अन्ताराष्ट्रिय सद्भावनाका परिचय दिया है तथा प्राणिमात्रके कल्याणकी कामना करते हुए '**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः**' की भावना व्यक्त की है। उसी आपसी प्रेम, भाईचारा और सम्पूर्ण विश्वके हितकी कामना राष्ट्रिय ध्वजके लाल रंगमें समायी हुई थी।

सूर्यका तेज हमारे लिये सदैव प्रेरणाका स्रोत रहा है और इसलिये ऋग्वेदकी प्रारम्भिक ऋचाओंमें भी हमें सूर्य-उपासनाकी बात पढ़नेको मिलती है। सूर्य प्रकाश एवं शक्तिका भण्डार है। इस रूपमें वह हमारे लिये प्रेरक भी है और राष्ट्रिय क्षमताओंका प्रतीक भी। प्रकाशसे अभिप्राय केवल उजालेसे ही नहीं, अपितु सत्य तथा ज्ञानकी प्राप्तिसे भी है। असत्य और अज्ञानके अन्धकारको मिटाकर हम सदैव सत्य और ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं। परब्रह्म प्रभुसे भी हमारी कामना यही रही है—

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय॥

प्रकाश-पुञ्ज सूर्यको अपने राष्ट्रिय ध्वजमें स्थान देनेके पीछे भी हमारी भावना उसी सत्य और ज्ञानके प्रकाशको प्राप्त करनेकी रही है। इसी प्रकार सूर्यकी शक्तिको अपनानेका अर्थ किसी भौतिक शक्ति या अत्याचार करनेकी शक्तिको अपनानेमें नहीं है। ऐसा करना तो किसी भी रूपमें हमारी संस्कृतिका अंग रहा ही नहीं। शक्तिसे अभिप्राय बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक शक्तिसे रहा है। हम अपने वैदिक ऋषियों तथा अन्य मनीषियोंके समान ही अपनी बौद्धिक क्षमताओंका विकास करके प्रतिभासम्पन्न बनें। इस प्रकार शक्तिसम्पन्न सूर्यको अपने ध्वजमें स्थान देकर वैदिक कालसे विद्वानोंने नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियोंसे सम्पन्न होनेकी कामना व्यक्त की है। हमारी संस्कृति नैतिक एवं आध्यात्मिक विजयकी संस्कृति

रही है। भौतिक शक्ति तथा भौतिक विजयको तो हमारे यहाँ सदैव हेय-दृष्टिसे देखा गया।

सूर्यके चिह्नको श्वेत-वर्णमें अंकित करना भी महत्त्वपूर्ण है। श्वेतवर्ण शान्तिका प्रतीक है। शक्तिपुञ्ज सूर्यको श्वेतवर्णमें अङ्कित करनेका अभिप्राय यह है कि हम शक्ति और शान्ति दोनोंकी उपासना करते हैं। जन-विरोधी कार्योंका दमन करनेके लिये हम शक्तिको अपनाते हैं, परंतु जन-हितकारी कार्योंके लिये हम शान्तिके अग्रदूत हैं। वैदिक साहित्यमें केवल आक्रमणकारियों और अत्याचारियोंके विरुद्ध ही युद्ध करनेकी बात कही गयी है, अन्यत्र नहीं। साम्राज्य-प्रसारके लिये तो युद्धकी बातका कहीं उल्लेख है ही नहीं। युद्धके बादकी व्यवस्था देते हुए भी कहा गया है कि हमें अपने शत्रु-राष्ट्रको पराजित करनेके उपरान्त उससे मित्रवत् व्यवहार करना चाहिये। युद्धका उद्देश्य केवल आत्मरक्षा है और आत्मरक्षाके उपरान्त युद्ध या अशान्तिका कोई प्रश्न ही नहीं है। अथर्ववेद (१९। १५। ६)-में कहा गया है—

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मित्रं भवन्तु॥

अर्थात् हमें मित्र और अमित्रसे अभय प्राप्त हो, परिचितसे तथा अपरिचितसे अभय प्राप्त हो, रात्रि एवं दिनमें अभय प्राप्त हो, सारी दिशाएँ हमारी मित्र हो जायँ।

युद्धमें विजय प्राप्त करनेके उपरान्त हमें पराजित राष्ट्रको अपने अधीन करनेकी बात सोचनी भी नहीं चाहिये। अथर्ववेद (११। ९। २६)-में ऋषि सैनिकोंको आदेश देते हुए कहते हैं—'इस संग्रामको जीतकर अपने-अपने स्थानमें जाकर बैठ जाओ'—

इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम्॥

इस प्रकार वैदिक युगका राष्ट्रिय ध्वज आपसी प्रेम, भाईचारा, शान्ति और मित्रताका प्रतीक है। इसी आधारपर वैदिक साहित्यमें विश्वराज्यकी भी कल्पना की गयी है और उसके लिये ध्वजका समर्थन किया गया है।

विवाह-संस्कार अनादि कालसे प्रचलित है

(महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड़)

'वि' उपसर्गपूर्वक **'वह'** धातुसे भावमें **'घञ्'** प्रत्यय करनेसे **'विवाह'** शब्दकी निष्पत्ति हुई है। **'विवाह'** का अर्थ है विशिष्ट वहन। अन्यकी कन्याको आत्मीय बनाते हुए उसमें संस्कारका आधान है विशिष्ट वहन। अन्यकी वस्तुको आत्मीय बनाना प्रतिग्रहके बिना सम्भव नहीं और प्रतिग्रह दानके बिना नहीं बन सकता। अतः सिद्ध हुआ कि कन्याके पिताद्वारा दान करनेपर उसको प्रतिग्रहपूर्वक आत्मीय बनाकर पाणिग्रहण, होम आदि संस्कारोंसे संस्कृत (संस्कार-सम्पन्न) करना ही **'विवाह'** है। इस प्रकार विवाहमें दान, प्रतिग्रह (दान-स्वीकार), पाणिग्रहण तथा होम—ये चार कर्म प्रधान हैं, शेष सब वरके कृत्य हैं।

विवाह-कृत्य जैसे स्त्रीमें भार्यात्वका सम्पादन करता है, वैसे ही पुरुषमें पतित्वका भी वह सम्पादक है। अतः यह स्त्री और पुरुष दोनोंका संस्कार है, केवल स्त्रीका ही या केवल पुरुषका ही संस्कार नहीं है। जैसे उपनयन-संस्कार बालकमें अध्ययनकी योग्यताका सम्पादक है, वैसे ही विवाह स्त्री-पुरुष दोनोंमें अग्न्याधान, अग्निहोत्र, पाकयज्ञ आदि श्रौत और स्मार्त-कर्मानुष्ठानकी योग्यताका सम्पादक है। अविवाहित स्त्री अथवा अविवाहित पुरुषका किसी भी श्रौत या स्मार्त-कर्मके अनुष्ठानमें अधिकार नहीं है। इसलिये विवाह स्त्रीके लिये ही नित्य संस्कार है, किंतु पुरुषका वह काम्य यानी ऐच्छिक है—ऐसा मानना निर्मूल है। क्योंकि विवाहके स्त्री-संस्कार होनेमें जो युक्तियाँ हैं, वे पुरुष-संस्कार होनेमें भी समान हैं। अतएव गौतम आदिने **'अष्टचत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतः'** (४८ संस्कारोंसे संस्कृत) इस प्रकार आरम्भ करके उन (संस्कारों)-में विवाहकी भी **'सहधर्मचारिणीसंयोगः'** (धर्मपत्नीका संयोग)—यों पुरुष-संस्कारोंमें गणना की है। इसलिये जैसे अग्न्याधान, अग्निहोत्र आदि नित्य (अवश्य अनुष्ठेय) हैं तथा स्त्री एवं पुरुष दोनोंके संस्कार हैं; वैसे ही विवाह भी नित्य एवं स्त्री-पुरुष दोनोंका संस्कार है। किंतु द्वितीय आदि विवाह पुरुषका ऐच्छिक है, स्त्रीका तो वह होता ही नहीं।

यद्यपि '**रतिपुत्रफला दारा**' इत्यादि वचनोंके अनुसार विवाह रतिसुख तथा पुत्रोत्पत्तिका साधन है, तथापि अन्यान्य देशोंकी भाँति हम भारतीयोंको उसके केवल वे ही प्रयोजन अभीष्ट नहीं हैं, किंतु हमारे मतमें उसका मुख्य प्रयोजन धर्म ही है। हमारे मतमें पुत्रोत्पत्ति भी नित्य ही है। जैसे जिस व्यक्तिने यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का अर्चन-पूजन नहीं किया और वह यदि मोक्षकी कामना करे तो श्रुतियोंमें उसके लिये दोष कहा गया है, वैसे ही जिसने पुत्र उत्पन्न नहीं किया, वह यदि मोक्षेच्छा करे तो श्रुति और स्मृति दोनोंने इसे दोष बतलाया है। इसीलिये निम्ननिर्दिष्ट श्रुति अध्ययन, यज्ञ एवं पुत्रोत्पादन नित्य हैं, ऐसा बतलाती है—

'**जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी**' (तै० सं० ६। १। ११)।

अर्थात् उत्पन्न होते ही ब्राह्मण तीन ऋणोंसे ऋणवान् होता है, वह ब्रह्मचर्यद्वारा ऋषि-ऋणसे, यज्ञोंद्वारा देव-ऋणसे और पुत्रोत्पादनद्वारा पितृ-ऋणसे उऋण होता है—जो कि पुत्रवान् हो, यज्ञ कर चुका हो तथा ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुलमें वेदाध्ययन कर चुका हो। यहाँपर पूर्वोक्त श्रुति ही अध्ययन, यज्ञ और पुत्रोत्पादनकी ऋणरूपता तथा अवश्य अपाकरणीयताका संकेत करती है।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम॥

(अथर्व० ६। ११७। ३)

अर्थात् हे अग्निदेव! आपके अनुग्रहसे हम इस लोकमें लौकिक और वैदिक दोनों प्रकारके ऋणोंसे उऋण हों, देह छूटनेपर स्वर्ग आदि परलोकमें भी हम उऋण हों तथा स्वर्गसे भी उत्कृष्ट तृतीय लोकमें हम उऋण हों। इनसे अतिरिक्त जो देवलोक (जिनमें देवता ही जाते हैं) और पितृलोक (पितरोंकी असाधारण भोग-भूमियाँ) हैं, उन लोकोंको तथा उनकी प्राप्तिके उपायभूत पथों एवं भोगोंको हम उऋण होकर प्राप्त हों। ऋण न चुकानेके कारण उन लोकोंके उत्तम भोगोंको भोगनेमें हमारे सामने विघ्न-बाधा उपस्थित न हो।

यह अथर्ववेदकी श्रुति भी पूर्वोक्त तैत्तिरीय प्रतिपादित अर्थका प्रतिपादन (समर्थन) करती है।

इन श्रुतियोंके सहारे ही महर्षि जैमिनिने भी अध्ययन आदिकी नित्यता अपने सूत्रमें दिखलायी है—

ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन संयोगात्।

(जै० सू० ६। २। ३१)

यज्ञ, अध्ययन और पुत्रोत्पादन—ये नित्य हैं या अनित्य, यों संशय कर ऋण-वाक्यसे संयोग होनेसे ये नित्य हैं, यह निश्चय किया है। अवश्यकर्तव्य ही ऋण कहे जाते हैं। इसलिये देव-ऋण और पितृ-ऋणसे यदि उऋण होना हो तो विवाह अवश्य करना चाहिये। विवाह करनेपर आनुषङ्गिकरूपसे रतिसुख-लाभ होता है, इसलिये हमारे आचार्योंने उसे मुख्य फल नहीं माना है।

विवाहकी प्रथा कबसे हमारे देशमें प्रचलित हुई? किन्हीं विचारशीलोंके इस प्रश्नका 'यह (विवाह) नित्य ही है' यही उत्तर समुचित है। मीमांसकोंकी तरह हम वैदिकोंके मतमें—

वाचा विरूपनित्यया। (तै० सं० १०)

अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्।

(तै० आ० २। ९। १)

'**अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा**'।

—इत्यादि श्रुति, स्मृति और पुराण आदिसे वेदकी अनादिता ही सिद्ध है, पुरुषकृतत्वरूप पौरुषेयत्वका उसमें गन्ध भी नहीं है। अतएव ऋग्वेद आदि सब वेद बिना किसी क्रमके सनातन ही हैं, यह सिद्ध होता है।

ऋग्वेदके दशम मण्डलमें विवाहका विशद विवेचन हुआ है—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।

(ऋक्० १०। ८५। ३६)

हे वधू! मैं तुम्हारा हाथ सौभाग्यके लिये ग्रहण करता हूँ, तुम मुझ पतिके साथ पूर्ण वार्धक्यको प्राप्त होओ।

तुभ्यमग्रे पर्यवहन् त्सूर्यां वहतुना सह।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह॥

(ऋक्० १०। ८५। ३८)

हे अग्निदेव! पहले गन्धर्वोंने सूर्या (सूर्यसुता) दहेजके साथ तुम्हें दी और तुमने उसे दहेजके साथ सोमको दिया। उसी प्रकार इस समय भी हे अग्निदेव! फिर हमारे (पतियोंके) लिये पत्नीको संततिके साथ दो।

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्॥

(ऋक्० १०। ८५। ३९)

फिर स्वगृहीत पत्नीको अग्निने आयु और तेजके साथ दिया। इस अग्निद्वारा दी गयी स्त्रीका जो पति (पुरुष) है, वह दीर्घायु होकर सौ वर्षतक जीये।

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।

(ऋक्० १०। ८५। ४७)

सब देवता हम दोनोंके हृदयों (मनों)-को दुःख आदि क्लेशसे विहीन कर लौकिक और वैदिक व्यवहारोंमें प्रकाशमान करें, जल भी हम दोनोंके हृदयोंको क्लेश—विरहित कर प्रकाशयुक्त करें, वायु हमारी बुद्धिको परस्पर अनुकूल करें, प्रजापति भी हमारी बुद्धिको परस्पर अनुकूल करें तथा फल देनेवाली सरस्वतीदेवी भी हमारे मन और बुद्धिका परस्पर मेल करें।

ऐसे ही बहुतसे मन्त्र पाणिग्रहणरूप विवाहके लिये प्रवृत्त हुए हैं और उसीका प्रतिपादन करते हैं।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥

(ऋक्० १०। ८५। ४२)

इस लोकमें तुम दोनों कभी वियुक्त न होओ, पूर्ण आयु पाओ एवं पुत्र और पौत्रोंके साथ अपने घरमें खूब आनन्द लूटो।

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥

(ऋक्० १०। ८५। ४३)

प्रजापति देव हमारी संतति उत्पन्न करें, सूर्य वृद्धावस्थापर्यन्त हमें जीवनयुक्त करें (जीवन दें), तुम दुर्मङ्गलरहित यानी सुमङ्गली होकर पतिके निकट आओ तथा हमारे घरके सब मनुष्योंके लिये मङ्गलप्रद होओ एवं हमारे चौपायोंके लिये मङ्गलप्रद होओ।

—ये मन्त्र वधू और वर दोनोंके लिये आशीर्वादरूप फलका प्रतिपादन करते हैं।

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥

(ऋक्० १०। ८५। ४६)

हे वधू! तुम ऐसी धीर गम्भीर मञ्जुभाषिणी सर्वहितैषिणी बनो कि श्वशुर तुम्हारी सलाह मानें, सास तुम्हारा वचन न टालें, ननदें तुम्हारा गौरव करें और देवरोंपर तुम्हारा स्निग्ध आधिपत्य रहे।

इस मन्त्रमें केवल वधूके लिये आशीर्वादरूप फलका प्रतिपादन किया गया है।

इसी तरह सभी वेदोंमें विवाह-मन्त्र प्रसिद्ध हैं। ये मन्त्र कहीं यज्ञ आदिमें यज्ञ-क्रियाओंके अङ्गरूपसे प्रवृत्त (विनियुक्त) होंगे, सूत्रकारने मङ्गल आदिके मन्त्रोंकी तरह इनका विवाहमें भी विनियोग कर दिया होगा। इसलिये ये केवल विवाहके लिये ही प्रवृत्त हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, ऐसी शंका करना उचित नहीं, क्योंकि इनका विवाहके अतिरिक्त अन्यत्र यज्ञ-यागादिमें कहीं विनियोग दिखायी नहीं देता। माधवाचार्यने समस्त वैदिक मन्त्रोंमेंसे उन-उन विविध यज्ञोंके अङ्गभूत शस्त्र आदिके अङ्गरूपसे विनियोग करते हुए इन मन्त्रोंका केवल विवाहमें ही विनियोग किया है।

उन्होंने भाष्यमें लिखा है— '**विवाहे कन्याहस्तग्रहणे गृभ्णामीत्येषा।**' अर्थात् विवाह-कृत्यमें कन्याके हस्तग्रहणमें '**गृभ्णामि**' (ऋक्० १०। ८५। ३६) यह ऋचा विनियुक्त है। सूत्रकारने इसीके अनुसार सूत्र रचा है— '**गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तमित्यङ्गुष्ठमेव गृह्णीयात्**' (आ० गृ० सू० १। ७। ३)।

'**उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येषा विश्वावसुं मनसा गीर्भिरीडे**'—इस मन्त्रका विवाहके स्तावकरूपसे माधवाचार्यने व्याख्यान किया है। इसपर यह भाष्य है— '**आभिर्नृणां विवाहः स्तूयते**' इत्यादि।

इस प्रकार यह प्रकरण साक्षात् अथवा परम्परासे विवाहकी अङ्गभूत मन्त्रराशिसे संगठित है। इन सब मन्त्रोंका विवाहमें ही विनियोग है, अन्यत्र कहींपर भी नहीं।

इसी तरह वेदोंमें हजारों बार पति-पत्नी-सम्बन्ध प्रतिपादित है। वह सारा-का-सारा विवाहमूलक ही सिद्ध होता है, यह भलीभाँति सर्वविदित है। चारों वेदोंमें उपासना और ज्ञानकाण्डको छोड़कर अन्य समग्र भाग यज्ञके लिये ही प्रवृत्त हैं, यह तो निश्चित ही है। यज्ञानुष्ठान प्रायः पति-पत्नी (दम्पति)-द्वारा ही अनुष्ठित होता है और दाम्पत्य एकमात्र विवाहसे ही सिद्ध होता है। इसलिये यज्ञ-यागोंका विधान कर रहे वेदभागोंद्वारा अपनी सार्थकताके लिये विवाहका भी आक्षेप किया जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि वैदिकी प्रथा (विवाह) अनादिकालसे हमारे देशमें चली आ रही है।

इस प्रकार विवाहकी अनादिता, धर्ममूलता तथा नित्यता (अवश्यकर्तव्यता) वेदसे ही सिद्ध होनेपर जो

कोई सज्जन महाभारतके श्वेतकेतुके उपाख्यान आदिसे विवाहकी सादिता, स्त्रियोंकी स्वेच्छाचारिता तथा सर्वोपभोग्यता सिद्ध करना चाहते हैं, वे भ्रान्त हैं। उनसे पूछना चाहिये कि महाभारत आदिकी प्रामाणिकता वेद-सापेक्ष है या स्वतन्त्ररूपसे? यदि वे कहें कि महाभारत आदिकी प्रामाणिकता स्वतन्त्ररूपसे है, तब तो वे नमस्करणीय हैं, उनसे कुछ कहना निरर्थक है; क्योंकि हम सब लोग स्मृति, पुराण, इतिहास आदिकी प्रामाणिकता वेदमूलक ही मानते हैं। इससे बहिर्भूत उनसे हमारा कोई व्यवहार उचित नहीं। यदि वे कहें कि महाभारतकी प्रामाणिकता वेदमूलक ही है तो वेदसे ही सिद्ध हो रही विवाहकी अनादिताको वेद-सापेक्ष महाभारत कैसे निषिद्ध करेगा? यदि वह प्रतिषेध करे भी तो प्रमाण कैसे हो सकता है? इसलिये यह मानना होगा कि यह उपाख्यान विवाहकी सादिता आदिका प्रतिपादक नहीं है, किंतु यह अन्यपरक ही है। यही उचित भी है। वहाँ लिखा है कि महर्षिके शापसे पाण्डु स्त्री-सम्भोग-निवृत्त हो गया था। पाण्डुने पुत्रोत्पत्तिकी अभिलाषासे कुन्तीका अन्यत्र नियोजन किया था। वह राजी नहीं हुई। वहाँका प्रसंग यों है—

न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथंचन।
धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचने॥
त्वमेव च महाबाहो मय्यपत्यानि भारत।
वीर वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि॥
स्वर्गं मनुजशार्दूल गच्छेयं सहिता त्वया।
अपत्याय च मां गच्छ त्वमेव कुरुनन्दन॥
न ह्यहं मनसाप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम्।
त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुवि मानवः॥

(महाभारत आदिपर्व १२०। २—५)

[कुन्ती अपने पति कुरुश्रेष्ठ पाण्डुसे कहती है—] 'हे धर्मज्ञ! मैं आपकी धर्मपत्नी आप कमललोचनमें अनुरक्त हूँ, इसलिये आपको मुझसे ऐसा कथमपि नहीं कहना चाहिये। हे वीर! आप ही मुझमें वीर्यवान् पुत्रोंको धर्मतः उत्पन्न करेंगे। हे मनुष्यश्रेष्ठ! इस तरह मैं आपके साथ स्वर्गमें जाऊँगी, इसलिये हे कुरुनन्दन! संतानार्थ आप ही मेरे प्रति गमन करें। मैं आपके सिवा किसी अन्य मानवके प्रति गमनकी बात सोच भी नहीं सकती। आपसे अधिक श्रेष्ठ भूलोकमें कौन मनुष्य है?'

इस प्रकार अनाचरणीय दोषसे अत्यन्त भयभीत हो रही कुन्तीसे पुत्राभिलाषी पाण्डुने उसके भयको दूर करने तथा नियोगमें प्रवृत्तिसिद्धिके लिये श्वेतकेतुका उपाख्यानादि कहा। इसलिये पाण्डु-वचनका उपाख्यानमें तात्पर्य नहीं है, अपितु उसको नियोगमें प्रवृत्त करनेमें तात्पर्य है।

कुमारिलभट्टने तन्त्रवार्तिकमें कहा है—

'एवं भारतादिवाक्यानि व्याख्येयानि। तेषामपि हि श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।' अर्थात् इस प्रकार भारतादि वाक्योंकी व्याख्या करनी चाहिये। उनको भी ब्राह्मणको आगे करके चारों वर्णोंको सुनाना चाहिये। इस विधिके अनुसार पुरुषार्थत्व अन्वेषण होनेके कारण अक्षर आदिके अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-फल हैं। उनमें भी दानधर्म, राजधर्म, मोक्षधर्म आदिमें कोई परकृति[1] और कोई पुराकल्प[2] रूपसे अर्थवाद है। सब उपाख्यानोंमें तात्पर्य होनेपर **'श्रावयेत्'** इस विधिके निरर्थक होनेके कारण कथञ्चित् प्रतीत हो रही निन्दा या स्तुतिमें उनका तात्पर्य स्वीकार करना पड़ेगा। स्तुति और निन्दामें तात्पर्य होनेसे उपाख्यानोंमें अत्यन्त प्रामाण्याभिनिवेश (प्रमाणका आग्रह) नहीं करना चाहिये।

इससे और भी जो लोग अन्य अर्थकी स्तुतिके लिये प्रवृत्त उपाख्यानरूप अर्थवादोंके सहारे अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहते हैं, उनका भी खण्डन हुआ। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि महाभारत आदिके सब उपाख्यानोंको हम असत्य ही मानते हैं। यदि प्रबल प्रमाणका विरोध न आये तो हम उन्हें भी प्रमाण मानते ही हैं। किंतु अनन्यपरक अत्यन्त बलवान् वेद-भागसे सिद्ध हो रहे अर्थको वेदकी अपेक्षा दुर्बल—इस तरहके उपाख्यान कथमपि डिगा नहीं सकते। इससे यह सिद्ध हुआ कि हम भारतवासियोंकी यह वैवाहिक प्रथा अनादि कालसे सिद्ध है।

१-प्रशंसा या निन्दारूप अर्थवादका जहाँ परकृतरूपसे वर्णन होता है, वह अर्थवाद 'परकृति' कहलाता है।
२-जहाँ इतिहासके रूपमें स्तुति अथवा निन्दारूप अर्थवादका वर्णन किया जाता है, वह अर्थवाद 'पुराकल्प' कहलाता है।

वैदिक जीवन-दर्शनके विविध आयाम

[वेदोंमें जहाँ आध्यात्मिक चर्या एवं साधनाके मौलिक सूत्र प्राप्त होते हैं, वहीं लौकिक जीवन-चर्याको किस प्रकार संयमित करके शास्त्र-मर्यादानुरूप बनाकर भगवत्प्राप्ति-योग्य बनाया जा सकता है, इसका भी सुस्पष्ट निर्देश हमें प्राप्त होता है। वर्ण एवं आश्रमधर्मी जनोंका क्या कर्तव्य है, गृहस्थधर्ममें किस प्रकार रहा जाय, पारिवारिक सदस्योंका परस्पर कैसा भाव होना चाहिये, उनकी जीवन-चर्या किस प्रकार होनी चाहिये, प्रातर्जागरणसे रात्रिशयन-पर्यन्त उसके लिये कौन-से कर्तव्य निर्दिष्ट हैं, इत्यादि अनेक बातोंका ज्ञान हमें वेदमन्त्रोंमें प्राप्त होता है। वेदोंके कुछ ऐसे ही जीवन-चर्या-सम्बन्धी मन्त्रोंका भावार्थसहित संकलन यहाँ दिया जा रहा है, तदनुसार अपनी जीवन-शैली बनाने और वैसा ही आचरण करनेसे महान् अभ्युदयकी प्राप्तिमें सहायता मिलेगी। अस्तु, इस प्रशस्त मार्गका अनुसरण करना चाहिये।—स०]

(१) ब्राह्मणवर्चसकी प्राप्तिके उपाय

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम्।
सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम्॥

(अथर्व० १०।५।३७)

सूर्यकी रीति है नियमबद्ध संचरण करना। सूर्य नियमसे उदित और अस्त होता है तथा नियमसे ही ऋतुओंमें परिवर्तन करता है। नियमको यदि हम अपने जीवनमें अपना लें तो हम वृद्धिके मार्गपर पदार्पण कर सकेंगे। इससे हमें आत्मिक बल प्राप्त हो सकेगा तथा हम भी सूर्यके समान तेजस्वी बन सकेंगे। आदित्य-ब्रह्मचारीका तेज जो सूर्यके समान होता है, उसका कारण है उसके जीवनका नियमबद्ध होना। इसीलिये उसे आदित्य-ब्रह्मचारीकी संज्ञा मिली है।

ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम्॥

(अथर्व० १०।५।४१)

यजुर्वेद (३०।५)-में ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिहेतु ब्राह्मणको प्राप्त करनेकी आज्ञा दी गयी है—'**ब्रह्मणे ब्राह्मणम्**'। ब्रह्म कहते हैं वेद और परमात्माको। अतः ब्राह्मण वे हैं—जो वेदोंको जानते हैं, वेद पढ़ा सकते हैं, वेदानुकूल आचरण करते हैं तथा ब्रह्मवेत्ता हैं। ऐसे ब्राह्मणोंका सत्संग करना चाहिये। ऐसे ब्राह्मणोंके सत्संगसे हममें भी वैदिक तेज, परमात्मतेज और ब्राह्मणका तेज आ जायगा।

(२) जीवनकी पवित्रता

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा॥

(अथर्व० ६।१९।१)

देवजनाः—दिव्य गुणोंवाले वे जन दिव्य गुणोंको मुझे देकर पवित्र करें। सत्यभाषण, परोपकार, दया आदि दिव्य गुण हैं। इन गुणोंको धारण करनेसे मनुष्य-जीवन पवित्र हो जाता है। जिन जनोंमें ये दिव्य गुण रहते हैं, उन्हें देवजन कहते हैं।

मनवः—मननशील मनुष्य मेरी बुद्धिको पवित्र कर मुझे पवित्र करें। पवित्र और अपवित्र कर्मोंका मूल बुद्धि है। इसलिये श्रेष्ठ गायत्री-मन्त्रमें भी बुद्धिके लिये प्रार्थना है। बुद्धिके पवित्र हो जानेपर कर्म स्वयं पवित्र हो जाते हैं। मन्त्रमें बुद्धि और उसके द्वारा जीवको पवित्र करनेका सामर्थ्य मनुष्य (**मनवः**)-को दिया गया है। '**मनवः**' का अर्थ है—मननशील मनुष्य। अतः इस वर्णनसे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि बुद्धिको पवित्र करनेका मुख्य साधन मनन है। जैसे-जैसे हम सत्कर्मों और सद्विचारोंका मनन करेंगे, वैसे-वैसे हममें मानसिक स्थिरताके साथ-साथ, सत्कर्मों तथा सद्विचारोंमें अनुराग बढ़ता जायगा। जिसका कर्मोंपर भी अवश्य प्रभाव पड़ेगा।

विश्वा भूतानि—विश्वभूत मुझे पवित्र करें, यह तीसरा प्रक्रम है। जब हमारे जीवनमें विश्व-भूत-हितका भाव जाग्रत् होता है तो यह भाव हमें पवित्र बना देता है। जैसे-जैसे स्वार्थके भावोंके स्थानमें परार्थके भाव आते-जाते हैं, वैसे ही शनैः-शनैः जीवन भी पवित्र होता जाता है।

पवमानः—चौथा प्रक्रम है परमात्मासे पवित्रताकी याचना। परमात्मा पवित्रसे भी पवित्र हैं, इनसे बढ़कर कोई पवित्र नहीं। अतः परमात्माकी स्तुति-प्रार्थना और

उपासनाद्वारा अपने जीवनको पवित्र बनाना, यह अन्तिम साधन है। इस प्रकार इस मन्त्रमें पवित्रताके चार साधन-फल माने गये हैं—(१) देवजनोंकी सत्संगतिद्वारा दिव्य गुणोंका लाभ, (२) मननशीलोंकी सत्संगतिद्वारा मननका लाभ, (३) विश्वभूतहित-चिन्तनका पुण्यलाभ तथा (४) परमात्माकी स्तुति-प्रार्थना और उपासनालाभ—इन चारों साधनोंसे एवं उनके दिव्य फलोंसे हमारा जीवन पवित्र हो सकता है।

(३) पवित्रताके बिना उत्तम बुद्धि, उत्तम कर्म और उन्नत जीवन तथा अहिंसा असम्भव है

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये॥

(अथर्व० ६। १९। २)

—इस मन्त्रमें पवित्र परमात्मासे पवित्रता माँगी गयी है। बिना पवित्रताके बुद्धि-शक्ति एवं कर्मयोग, चतुर्मुख-वृद्धि तथा शारीरिक-मानसिक और आत्मिक बल एवं उत्तम जीवन—ये नहीं हो सकते। इनकी प्राप्तिके बिना अहिंसाभावका विस्तार हम नहीं कर सकते। पवित्रता साधन है क्रतु, दक्ष और पवित्र जीवनमें। क्रतु, दक्ष तथा उत्तम जीवन साधन हैं अरिष्टताति अर्थात् अहिंसाभावके विस्तारमें। अतः प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह पवित्रताको प्राप्त करके क्रतु, दक्ष तथा उत्तम जीवनको प्राप्त करे और इनको प्राप्त कर संसारमें अहिंसाका प्रचार करे। अहिंसा-वृत्तिके मूलमें पवित्रताका निवास है। जीवनमें पवित्रताके बिना अहिंसाका भाव जाग्रत् नहीं हो सकता। एक बात और स्मरण रखनी चाहिये। हिंसकोंके प्रति हिंसाका व्यवहार न करनेमें दो भाव हैं—(क) कायरता और (ख) अहिंसा-वृत्ति। यदि मनुष्य कायर है, तब तो वह हिंसकोंके प्रति हिंसाका व्यवहार कर ही नहीं सकता। यदि वह प्रत्यपकारके लिये बल रखता हुआ भी हिंसा नहीं करता तो वह इसलिये नहीं कि वह कायर है, अपितु इसलिये कि वह इस मार्गका अवलम्बन करना ही नहीं चाहता। यही वृत्ति अहिंसा-भावकी है। बल न होनेपर क्षमा कर देना क्षमा नहीं, अपितु कायरता है और बलके रहते हुए क्षमा कर देना वास्तवमें क्षमा है। यही अहिंसा है। इसीलिये मन्त्रमें दक्ष अर्थात् बलकी प्राप्तिके बाद अरिष्टताति अर्थात् अहिंसाका वर्णन है। अतः बिना पवित्रताके क्रतु, दक्ष और उत्तम जीवनका पूर्ण विकास नहीं हो सकता तथा बिना इनके पूर्ण विकासके अहिंसा-धर्मका विस्तार नहीं हो सकता।

(४) पाप-निराकरणके उपाय

१—यज्ञ और सत्य संकल्प

मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु।
एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवा अभि रक्षन्तु मेह॥

(अथर्व० ५। ३। ४)

—इस मन्त्रद्वारा तीन इच्छाएँ प्रकट की गयी हैं—

(१) मैंने भूतकालमें जो देवपूजन, सत्संग तथा दान किया है, उसे मैं अब भी करता रहूँ, वे कर्म मुझे सर्वदा प्राप्त रहें, मैं उन्हें कभी न छोड़ूँ।

(२) मेरा मानसिक संकल्प सत्यस्वरूप हो। मैं कभी असत्य संकल्प न करूँ। जो इच्छाएँ करूँ, वे सर्वदा सत्यरूप ही हों।

(३) मैं किसी भी पापकर्मको न करूँ।

—ऐसी सदिच्छाओंसे प्रवृत्तियाँ भी सत् होती हैं, क्योंकि इच्छा ही प्रवृत्तिका कारण है। देवपूजन, सत्संग और दानसे प्रवृत्त्यात्मक विधिरूप धर्मका निर्देश किया गया है। इनमें प्रवृत्त रहनेसे मनुष्यका चित्त एक ओर लगा रहता है, अतः वह पापकर्मोंकी ओर नहीं झुकता। देवपूजनसे अभिमान और दानसे स्वार्थका भाव भी शिथिल हो जाता है। अभिमान तथा स्वार्थभाव स्वयं भी पापोंकी ओर ले जानेवाले हैं। इनके हट जानेसे मन पापोंसे भी हट जाता है। सत्संगद्वारा सद्गुणोंका संक्रम सत्संग करनेवालेके चित्तमें होता है। इस प्रकार देवपूजन, दान और सत्संग—ये तीनों ही पापमार्गसे हटानेवाले हैं। देवपूजन, दान और सत्संग—ये चेष्टारूप अर्थात् क्रियारूप धर्म हैं।

इस चेष्टारूप धर्मके साथ-साथ इच्छारूप धर्म भी

होना चाहिये। सत्य और शुभ इच्छाओंके बारम्बार करनेसे भी मन पापोंकी ओर नहीं जाता। अतः चेष्टारूप सत्कर्म एवं सदिच्छारूप सत्कर्म (सत्य संकल्प) जब मिल जाते हैं तो वे अवश्य ही मनुष्यको पापकर्मोंसे हटा देते हैं। मैं किसी पापकर्मको न करूँ, इस प्रकारकी तीसरी इच्छा भी मनुष्यकी पापकर्मोंसे रक्षा करती है तथा यह पापकर्मकी साक्षात् विरोधिनी है।

अतः उपर्युक्त तीनों इच्छाओंके प्रबल हो जानेपर मनुष्यकी पुनः पापकर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं होती। इन इच्छाओंके होते हुए एक और वस्तु भी अपेक्षणीय है, जो सदाचारके लिये अत्यावश्यक है। वह है 'देवसंरक्षण'। दिव्य गुणोंवाले सज्जनोंकी संरक्षामें रहना, उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्गपर चलना, सदाचारी होनेका अतिसुगम और निश्चित उपाय है। इसीलिये वैदिक सिद्धान्तमें सदाचार आदिकी शिक्षाके लिये ब्रह्मचारीको आचार्यदेवके संरक्षणमें छोड़नेका विधान पाया जाता है।

२—पापोंमें दोषदर्शन और पापोंकी कामनाका त्याग

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परोहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥

(अथर्व० ६। ४५। १)

पाप तीन प्रकारके होते हैं। मानसिक, वाचिक और शारीरिक। मानसिक पाप वाणी और शरीरद्वारा किये जानेवाले पापोंके कारण हैं। मनमें यदि कोई पाप नहीं तो वचन और शरीर भी पापरहित रहेंगे। अतएव इस मन्त्रमें मानसिक पापोंके हटानेका वर्णन है।

पापरूपी जालमें फँसा हुआ मन सर्वदा अकर्तव्य-कर्मोंकी प्रशंसा किया करता है। यथा—'इस कामको कर लेना चाहिये', 'यह काम अच्छा है', 'देखो उसने भी किया था', 'संसारमें ऐसा ही होता चला आया है', 'देखो संसारमें ऐसे काम करनेवाले कितने समृद्ध बने हुए हैं'— ऐसे अनेक वाक्योंमें मन पापकी प्रशंसा किया करता है।

इस मन्त्रमें मानसिक पापको सम्बोधित किया गया है। उसको हटानेके लिये उसे कल्पनाद्वारा मनके सम्मुख खड़ा किया है और उसके लिये कहा है कि 'तू दूर हट जा, बुरे कार्योंकी प्रशंसा मत कर, चला जा, मैं तुझे नहीं चाहता'—इस प्रकारके अन्य वाक्योंके वाग्भाषण अथवा मनोभाषणके प्रवक्ताके चित्तमें पापके विरुद्ध दृढ़ भावना पैदा हो जाती है। इस प्रकारसे पापोंके विरुद्ध यदि मनुष्य लगातार अभ्यास करेगा तो वह उनपर विजय पा लेगा। अभ्यास करते-करते अभ्यासीके मनमें पापोंके लिये घृणा पैदा हो जाती है। अतः हर प्रकारसे सदिच्छाओं एवं सत्य संकल्पोंका प्रत्येक मनुष्यको अभ्यास करना चाहिये, जिससे सदैव शुभ कार्योंमें ही प्रवृत्ति हो।

यह मन्त्र गृहस्थके सम्बन्धमें प्रतीत होता है, क्योंकि मन्त्रमें '**गृहेषु गोषु मे मनः**'—ये पद आये हैं। इन पदोंमें एक और सिद्धान्त भी सूचित होता है। वह यह कि 'पापवृत्तियोंको जीतनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य सुस्त न बैठे, किसी-न-किसी उत्तम काममें अवश्य लगा रहे।' इसीलिये मन्त्रमें उल्लेख है कि मेरा मन गृहकृत्यों और गोसेवामें लगा रहे; क्योंकि मानसशास्त्रका यह नियम है कि मन निकम्मा नहीं रह सकता, उसमें दो भाव इकट्ठे नहीं रह सकते। अतः जिस भावपर विजय पाना हो, उससे विरोधी भावको मानस-स्थलीमें उपस्थित रखना चाहिये। मन्त्रमें '**परोहि न त्वा कामये**' आदि सद्भाव पापभावोंके विरोधी हैं। अतः पापवृत्तियोंको हटानेके लिये ऐसे भावोंको चित्तमें स्थान देना चाहिये।

(५) वैदिक मेधासे दिव्य गुणोंकी रक्षा

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे॥

(अथर्व० ६। १०८। २)

इस मन्त्रमें उस मेधाका वर्णन है, जिसका सभी वेदोंमें प्रतिपादन है। वह अनादिकालसे वर्तमान है; क्योंकि वेद अनादि हैं। ब्रह्मज्ञानी लोग ऐसी मेधाका ही सेवन करते हैं। ऋषिजन ऐसी मेधाकी ही स्तुति करते हैं। ब्रह्मचारी इसी वैदिक मेधाकी प्राप्तिके लिये तप तथा ब्रह्मचर्यव्रतमें निष्ठावान् होते हैं। इसी मेधाकी प्राप्तिसे हममें दिव्य गुण आ सकते हैं। मनुष्यगत दिव्य गुणोंकी रक्षा इस मेधाकी प्राप्तिके बिना असम्भव है। इस वैदिक मेधाकी प्राप्तिके लिये वेदोंका स्वाध्याय नित्य करना चाहिये।

(६) कामना दो प्रकारकी है—भद्र और अभद्र

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः॥

(अथर्व० ९।२।२५)

—इस मन्त्रमें इच्छाका ही वर्णन है। इच्छाकी तनु अर्थात् देह दो प्रकारकी है। यहाँ तनुका अर्थ है स्वरूप अथवा प्रकार। अतः अभिप्राय यह हुआ कि इच्छाके दो स्वरूप हैं या इच्छा दो प्रकारकी है। एक शुभ और दूसरी अशुभ। एक शिव और दूसरी अशिव। एक भद्र और दूसरी अभद्र। इच्छाके इन दो प्रकारोंका वर्णन महर्षि व्यासने योगभाष्यमें किया है—'**चित्तनदीनामोभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय च वहति पापाय च**' (योगदर्शन १।१२)। इसका अभिप्राय यह है कि चित्त एक नदी है, जो दो ओर बहती है—कल्याणकी ओर तथा पापकी ओर। मन्त्रमें भी काम अर्थात् इच्छाके दो रूप दर्शाये गये हैं। एक '**शिवास्तन्वः**' दूसरा '**पापीर्धियः**' इन शब्दोंसे शिवका अर्थ होता है कल्याण। 'पाप' पद मन्त्र तथा योगभाष्य—इन दोनोंमें समान है।

मन्त्रमें यह भी कहा गया है कि शुभ इच्छाओंमें बहुत बल होता है। शुभ इच्छाओंवाला मनुष्य जो चाहता है, वह पूरा हो जाता है। इसीलिये मन्त्रमें '**सत्यं भवति यद् वृणीषे**' कहा गया है। पापीजनकी इच्छाओंमें वह बल नहीं होता। योगकी आश्चर्यकारी सिद्धियाँ भी इसी शुभ इच्छाके परिणाम हैं। अतः शुभ इच्छाओंकी प्राप्ति और अशुभ इच्छाओंका त्याग नित्य करना चाहिये। इसीमें परम कल्याण संनिहित है।

(७) संसार-ग्राहसे बचनेका उपाय—संसारमें लिप्त न होना

इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि।
यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि॥

(अथर्व० १४।१।३८)

'**ग्राभ**' पदमें '**ग्रह**' धातु है। वस्तुतः यह ग्राह शब्द है। 'ह' को 'भ' हो गया है। ग्राहका अर्थ नाक (मगरमच्छ) होता है। इस मन्त्रमें संसारका ग्राहरूपसे वर्णन है।

यह संसार-ग्राह बड़ा चमकीला-भड़कीला है। यह अपनी चमकसे जनताको अपनी ओर खींच लेता है। जो मनुष्य इस संसार-ग्राहकी ओर खींच जाते हैं, उनकी देह दूषित हो जाती है। भोगका यह परिणाम स्वाभाविक है और अन्तमें वे भोगी इस संसार-ग्राहके ग्रास बनकर नष्ट हो जाते हैं। 'रुश' का अर्थ हिंसा भी है। जिससे यह भाव सूचित होता है कि चमकीला संसार-ग्राह हिंसक है। यह हुआ प्रेयमार्गका वर्णन।

श्रेयमार्गका वर्णन इसी मन्त्रके उत्तरार्ध भागमें है। प्रकृतिमें न फँसकर परमात्माकी ओर झुकना यह श्रेयमार्ग है। परमात्मा भद्र है, रुचिर है। उसको प्राप्त करनेके लिये प्रथम संसार-ग्राहका त्याग करना चाहिये। इस प्रकार मनुष्य अपने-आपको उत्तम बनाकर उस परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है।

परंतु प्रश्न पैदा होता है कि संसारका त्याग क्या वैदिक सिद्धान्तानुकूल है? उत्तर है—नहीं; क्योंकि संसार साधन है परमात्माकी प्राप्तिका। संसार और परमात्मा—ये दो विरोधी मार्ग नहीं।

(८) मन, वाणी और कर्ममें मधुरता

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

(अथर्व० १।३४।२)

—इस मन्त्रमें यह दर्शाया गया है कि माधुर्यकी प्राप्तिके लिये दृढ़ इच्छा-शक्ति या दृढ़ संकल्पका प्रयोग करना चाहिये। यदि मनुष्य दृढ़ संकल्प कर ले कि मुझे कभी भी कटु वचन नहीं बोलना है, सर्वदा मधुर वचन ही बोलना है तो वह मनुष्य कटु वचनोंपर या अपनी वाणीपर अवश्य विजय पा लेगा।

मन्त्रमें जिह्वा, क्रतु और चित्त—इन तीनका वर्णन है। परंतु इनका अर्थ-सम्बन्ध-क्रम इस प्रकारसे होना चाहिये—चित्त, जिह्वा और क्रतु। जैसा कि कहा गया है—'**यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति।**' अर्थात् मनुष्य मनसे जिसका मनन करता है, उसे वह वाणीद्वारा बोलता है और जो वाणीसे बोलता है, उसे कर्मद्वारा करता है। मन्त्रमें 'चित्त' शब्दसे

मनका, 'जिह्वा' से वाणीका और 'क्रतु' से कर्मका ग्रहण करना चाहिये। अतः इस मन्त्रमें मन, वाणी तथा कर्म—इन तीनोंकी मधुरताका वर्णन है। इस मधुरताके लिये किसी बाह्य औषधकी आवश्यकता नहीं और न कोई ऐसी बाह्य औषध भी है कि जिसके खान-पानसे मनुष्य दूसरोंके लिये भला सोचने, बोलने और करने लग जाय। इसके लिये तो आन्तरिक औषध ही चाहिये। उसीके निरन्तर श्रद्धापूर्वक सेवनसे हमें मधुरता मिल सकती है। वह आन्तरिक औषध दृढ़ शक्ति या दृढ़ संकल्पमात्र ही है।

(९) चेष्टा, स्वाध्याय और वाणीमें माधुर्य

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥

(अथर्व० १। ३४। ३)

—इस मन्त्रमें भी भावनाका वर्णन करते हुए कहा गया है कि मधुर बननेकी भावनाको प्रबल बनाना चाहिये तथा चलने-फिरने, उठने-बैठनेमें मधुरता होनी चाहिये।

स्वाध्यायमें मधुरताका अभिप्राय है कर्कश आवाजसे न पढ़ना। पढ़नेमें अतिशीघ्रता, अस्पष्टोच्चारण, शब्दोंके मध्य-मध्यमें अनुच्चारण आदि दोष भी स्वाध्यायमें माधुर्य-गुणके विरोधी हैं। वाणीसे भी मधुर बोलना चाहिये।

क्रूरदृष्टिमनुष्य मधुरदृष्टि नहीं हो सकते। मधुर-दृष्टि वे मनुष्य होते हैं, जिनकी आँखोंसे प्रेमधारा निकले। मनुष्यके प्रत्येक अङ्गमें मधुरता होनी चाहिये। इसे अपने-आपको मधुरूप बनाना चाहिये। मधु जिस प्रकार मीठा होता है, उसी प्रकार व्यवहारमें जिसके सारे अङ्ग दूसरोंके लिये मधुर हैं, वह मधुरूप कहलाता है।

(१०) जगत्‌भरके लिये कल्याणेच्छा

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥

(अथर्व० १। ३१। ४)

—इस मन्त्रमें स्वार्थभावकी जड़पर कुठाराघात किया गया है। मन्त्रमें चित्तवृत्तियोंको शुद्ध तथा हृदयको विशाल करनेका साधन बताया गया है। वास्तवमें परार्थ-जीवन ही चित्तके मलोंको दूर करता और हृदयको महान् बनाता है। प्रत्येक बुरे कर्मकी जड़ मनुष्यकी इच्छाओंमें रहती है, इसलिये यदि अपनी इच्छाओंको शुद्ध कर लिया जाय तो बुरे कर्म कभी भी नहीं हो सकते। इस मन्त्रद्वारा वेद शिक्षा देता है कि तुम अपने चित्तमें 'दूसरोंके लिये भला हो'—ऐसी इच्छाएँ पैदा करो। यदि तुम दूसरोंका भला सोचोगे, उनका हित चाहोगे तो उनके लिये भला करनेवाले कामोंमें भी तुम अनायास प्रवृत्त हो सकोगे। मन जैसा सोचता है, वैसी ही इच्छा करता है और जैसी इच्छा करता है, काम भी उससे वैसे ही होते हैं। इसलिये यदि अपनी इच्छाएँ शुद्ध एवं पवित्र कर ली जायँ तो हमारे कार्य भी उसी प्रकारके शुद्ध तथा पवित्र हो सकते हैं।

मन्त्रमें माताके लिये, पिताके लिये, अपने लिये, गौओं अर्थात् पशुओंके लिये, पुरुषों तथा सम्पूर्ण जगत्‌के लिये 'स्वास्थ्य और कल्याण हो'—ऐसी इच्छा करनेका उपदेश पाठकोंको दिया गया है।

साथ ही पाठक चित्तमें यह भावना भी करें कि सारा संसार ऐश्वर्यशाली तथा उत्तम ज्ञानवाला हो जाय। जगत्‌में पाठक आत्मबुद्धि भी करें। जगत्‌को जब हम अपना कुटुम्ब जान लें तो जगत्‌की वृद्धि देखकर हमें प्रसन्नता होगी और हम ईर्ष्या-द्वेषकी भट्ठीमें नहीं जलेंगे, अपितु जगत्‌की वृद्धि देखकर हमारा आनन्द और बढ़ेगा। चूँकि जगत् हमारा एक परिवार बन गया है। इसलिये वसुधाको ही हमने कुटुम्ब मान लिया है।

मन्त्रके चौथे चरणमें दीर्घायुष्य और इन्द्रिय-शक्तियोंकी चिर-स्थिरताके लिये प्रार्थना है।

इस श्रुति-उपदेशका सार-सिद्धान्त यही है कि हम '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की भावनासे ओत-प्रोत होकर दृढ़ इच्छासे जगत्‌के कल्याणार्थ सत्संकल्प ही करें—वैसी ही भावना रखें, क्योंकि संकल्प ही समस्त कर्मोंका मूल है—

'**संकल्पो वै जायते कर्ममूलम्।**'

वेदमें आध्यात्मिक संदेश

(‘मानस-रत्न’ संत श्रीसीतारामदासजी)

वेद ज्ञान-विज्ञानके सागर हैं। उनका अक्षर-अक्षर सत्य है। वेद ही मानव और पशुके अन्तरको स्पष्ट करते हैं। क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये—यह वेदोंसे ही हमें पता चलता है। वेदोंके प्रति पूर्ण निष्ठा रखकर उनके बताये गये मार्गपर चलकर ही मानव-जीवनको सार्थक बनाया जा सकता है।

देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीरका प्रयोजन सकल दुःख-निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति है। केनोपनिषद् (२।५)-में कहा गया है—‘**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।**’ अर्थात् इस मानव-शरीरमें यदि परम तत्त्वका बोध हो गया तो मानव-शरीर सार्थक हो गया, अन्यथा मानो महान् विनाश या सर्वनाश हो गया। अतः हमलोग सबको उत्पन्न करनेवाले परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमें लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करें—

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥

(यजु० ११।२)

अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्‌की आराधनामें लगा रहे और हम भगवत्प्राप्तिजनित अनुभूतिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्नशील रहें।

हम भगवान्‌का ही एकमात्र आश्रय लेकर उनमें ही तन्मय बनें—यही वेदोंका आध्यात्मिक संदेश है—

मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥

(ऋक्० ८।१।१)

‘हितकारी उपासको! सब एकाग्र होकर प्रसन्न होनेपर अभीष्टको पूर्ण करनेवाले परमेश्वरकी ही स्तुति करो एवं उनके ही गुणों तथा महिमाका बारम्बार चिन्तन करो—कीर्तन करो। परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी उपासना न करो; आत्मश्रेयका नाश न करो।’

वैदिक संस्कृतिकी मूलभित्ति त्याग और तपस्यापर आधृत है। वह नरको नारायण बनाती है—

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः॥

(अथर्व० १९।५१।१)

‘मैं परिपूर्ण हूँ, मैं अखण्ड हूँ। मेरी आत्मा अखण्ड है, चक्षुशक्ति अखण्ड है, श्रीशक्ति अखण्ड है। मेरे प्राण विश्वात्माके प्राणसे संयुक्त हैं, मेरे श्वासोच्छ्‌वास भी विश्वपुरुषके श्वास-प्रश्वाससे सम्बद्ध हैं। मेरी आत्मा विश्वात्मासे विभक्त नहीं है। मेरी सम्पूर्ण सत्ता उससे अविभिन्न एवं अखण्ड है।’

आत्मविकासके लिये भगवान्‌की कृपाको साध्य एवं साधन मानकर उसे ही पथ-प्रदर्शक, आत्मबलदायक एवं प्रेरणादायी स्रोत मानते हुए वेद प्रार्थना करते हैं—

नह्यन्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो। त्वं न इन्द्र मृळय॥

(ऋक्० ८।८०।१)

‘विश्वरूप प्रभो! आपसे भिन्न अन्य कोई सुखदाता नहीं है, फिर हम अन्यत्र क्यों भटकें। हे सुखस्वरूप! सत्यतः आप ही सब सुखोंके मूल स्रोत हैं। हमें वही सुख चाहिये जो साक्षात् आपसे प्राप्त हुआ हो। उसी सुखसे हमारा चित्त तुष्ट हो।’

वेद चाहते हैं कि व्यक्तिके चित्तवृत्तिरूप राज्यमें प्रतिपल पवित्र, वरेण्य एवं उर्वर विचार-सरिता बहती रहे, जिससे अन्तःकरण दैवी सम्पदाओंका केन्द्र बने—

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ (ऋक्० ३।६२।१०)

‘सच्चिदानन्दरूप परमात्मन्! आपके प्रेरणादायी विशुद्ध तेजःस्वरूपभूत दिव्य रूपका हम अपने हृदयमें नित्य ध्यान करते हैं। उससे हमारी बुद्धि निरन्तर प्रेरित होती रहे। आप हमारी बुद्धिको अपमार्गसे रोककर तेजोमय शुभमार्गकी ओर प्रेरित करें। उस प्रकाशमय पथका अनुसरण कर हम आपकी ही उपासना करें एवं आपको ही प्राप्त हों। हमारी इस प्रार्थनाको आप पूर्ण करें; क्योंकि आप ही पूर्णकाम हैं, सर्वज्ञ हैं एवं परम शरण्य और वरेण्य हैं।’

वेदोंकी भावना है कि हम अनन्य एकाग्रतासे, उपासनासे ईश्वरको प्रसन्न करें और वह हमारे योग-क्षेमादिको सर्वदा सम्पन्न करे—

नू अन्यत्रा चिदद्रिवस्त्वन्नो जग्मुराशसः। मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिः॥ (ऋक्० ८।२४।११)

'संसारको धारण करनेवाले हे भगवन्! हमारी अभिलाषाएँ आपको छोड़कर अन्यत्र कहीं कदापि न गयी हैं, न जाती हैं, अतः आप अपनी कृपाद्वारा हमें सब प्रकार सामर्थ्यसे सम्पन्न करें।'

ज्ञानकी पराकाष्ठापर भक्तिका उदय होकर भक्तिके सदा परिपूर्ण होनेसे वृत्तिमें मुक्तिकी वासना भी नहीं उठती। ऐसा जीवन ही वैदिक संस्कृतिका आदर्श है—

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ (अथर्व० १। ५। २, ऋक्० १०। ९। २)

'प्रभो! जो आपका आनन्दमय भक्तिरस है, हमें वही प्रदान करें। जैसे शुभकामनामयी माता अपनी संतानको संतुष्ट एवं पुष्ट करती है, वैसे ही आप (मुझपर) कृपा करें।'

ज्ञान एवं कर्मका अन्तिम परिणामरूप भक्ति और उस भक्तिके अन्तिम परिणामरूप उन विराट् विश्वरूप पुरुषोत्तमकी शरणागतिको ही वेद श्रेयमार्गमें महत्त्वपूर्ण मानते हैं—

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे। मृळा सुक्षत्र मृळय॥ (ऋक्० ७। ८९। ३)

'हे परम तेजोमय! परम पवित्र परमेश्वर! दीनता-दुर्बलताके कारण मैं अपने संकल्पसे, प्रज्ञासे, कर्तव्यसे उलटा चला जाता हूँ। शुभशक्तिशालिन्। मुझपर कृपा करके मुझे सुखी करें।'

वेद ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि ईश्वर हमें सन्मार्गपर लाये, वह हमारे अन्तःकरणको उज्ज्वल कर आत्मश्रेयके सर्वोच्च शिखरको प्राप्त करा दे—

भद्रं मनः कृणुष्व॥ (साम० १५६०)

'हे प्रभु! हमारे मनको कल्याणमार्गमें प्रेरित करें।'

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥ (ऋक्० ५। ८२। ५)

'हे सारे जगत्के उत्पादक—प्रेरक देव! तू हमारे सारे दुराचरणोंको दूर कर दे और सभी कल्याणकारी गुण हममें भर दे।'

मानव-मनको मोह, क्रोध, मत्सर, काम, मद और लोभकी दुर्वृत्तियाँ सदैव घेरे रहती हैं। इन छः मानसिक शत्रुओंके निवारणके लिये वैदिक मन्त्रोंमें पशु-पक्षियोंकी उपमासे दमन करनेकी सम्मति दी गयी है, जैसे—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥
(अथर्व० ८। ४। २२, ऋक्० ७। १०४। २२)

'**उलूकयातुम्**' (उलूकयातु)—यह अन्धकारप्रिय, प्रकाशके शत्रु उल्लूकी वृत्ति है—'संशयीवृत्ति'।

'**शुशुलूकयातुम्**' (शुशुलूकयातु)—यह क्रोधी और क्रूर भेड़ियेकी वृत्ति है—'आक्रामकवृत्ति'।

'**श्वयातुम्**' (श्वयातु)—यह दूसरों और अपनोंपर भी गुर्राकर दौड़नेवाले कुत्तेकी वृत्ति है—'चाटुकारवृत्ति'।

'**कोकयातुम्**' (कोकयातु)—यह चकवा-चकवीकी वृत्ति है—'असामाजिकवृत्ति'।

'**सुपर्णयातुम्**' (सुपर्णयातु)—यह ऊँची उड़ान भरनेवाले गरुडकी वृत्ति है—'अभिमानीवृत्ति'।

'**गृध्रयातुम्**' (गृध्रयातु)—यह दूसरोंकी सम्पत्ति छीन लेनेवाले गिद्धकी वृत्ति है—'लोलुपवृत्ति'।

अतः ओ मनुष्य! तू साहसी बनकर उलूकके समान 'मोह', भेड़ियेके समान 'क्रोध', श्वानके समान 'मत्सर', कोकके समान 'काम', गरुडके समान 'मद' और 'लोभ' को गिद्धके समान समझकर मार भगा। अर्थात् तू प्रभुसे बल माँगकर इन छः प्रकारकी राक्षसीय भावनाओंको पत्थरके सदृश कठोर साधनोंसे मसल दे।

वेदोंकी मान्यता है कि तपःपूत जीवनसे ही मोक्षकी उपलब्धि होती है—

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव तो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।
यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥
(अथर्व० ४। ३५। ६)

'जो प्रभुगुण गानेवाली गायत्रीद्वारा अपने जीवनकी आत्मशुद्धि कर स्वामी बन गया है, जिसने सब पदार्थोंका निरूपण करनेवाले ईश्वरीय ज्ञान वेदको जीवनमें पूर्णतः धारण कर लिया है, वही मानव वेदज्ञानरूपी पके हुए ओदनके ग्रहण-सदृश मृत्युको पारकर मोक्षपद प्राप्त करता है, जो मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य है।'

वेद भगवान्के संविधान हैं। इनमें ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनसे शिक्षा प्राप्त कर मनुष्य अध्यात्मके सर्वोच्च शिखरपर पहुँच सकता है। जैसे—

ऋतस्य पथा प्रेत। (यजु० ७। ४५)

'सत्यके मार्गपर चलो।'

ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतᳲस्मर॥
(यजु० ४०। १५)

'यज्ञादि कर्मोंको स्मरण रखो। अपनी सामर्थ्य एवं दूसरेके उपकारको स्मरण रखो।'

वेदोंमें इस लोकको सुखमय तथा परलोकको कल्याणमय बनानेकी दृष्टिसे मनुष्यमात्रके लिये आचार-

विचारोंके पालनका विधान तो किया ही गया है, साथ ही आध्यात्मिक साधनामें बाधक अनेक निन्दित कर्मोंसे दूर रहनेका निर्देश भी दिया गया है। जैसे—

अक्षैर्मा दीव्यः। (ऋक्० १०। ३४। १३)

'जूआ मत खेलो।'

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ (यजु० ४०। १)

'पराये धनका लालच न करो।'

मा हिंसीः पुरुषान् पशूंश्च।

'मनुष्य और पशुओंको (मन, कर्म एवं वाणीसे) कष्ट न दो।'

वैदिक सत्य सुख

जीवनके उदात्त सुखके लिये बल (ब्रह्मचर्य)-की आवश्यकता होती है। उस बलके साधनका एकमात्र उपाय है 'वीर्यरक्षा'। इसी वीर्यरक्षाका नाम है—'ब्रह्मचर्य'।

वेदोंमें ब्रह्मचर्य एवं ब्रह्मचारीकी बहुत प्रशंसा मिलती है। अथर्ववेदमें एक ही स्थलपर पचीसों मन्त्र ब्रह्मचर्यके महत्त्वको बतलाते हैं। उनमें बतलाया गया है कि—

राजा अपने राष्ट्रकी रक्षा, आचार्य अपने ब्रह्मकी रक्षा, कन्या अपने लिये तरुण पतिकी प्राप्ति, गौ-अश्व आदि पशु घास (तृण) खानेकी सामर्थ्य, देवता अपना अमरत्व और इन्द्र अपना स्वर्गाधिपत्य ब्रह्मचर्यद्वारा ही प्राप्त कर सकता है (अथर्व० ११। ५)।

वेदमें मनुष्यमात्रको ही ब्रह्मचर्यका उपदेश नहीं दिया गया है, अपितु स्थावर-जंगम, जड-चेतनरूप सारे संसारको उसका उपदेश दिया गया है। यथा—

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः॥

(अथर्व० ११। ५। २०-२१)

—इन मन्त्रोंमें कहे हुए पशु-पक्षी आदि सभी अबतक वेदाज्ञाके नियमानुसार चलते हैं, परंतु मनुष्य उनसे बुद्धिमें वैशिष्ट्य प्राप्त करके भी इस वेदोल्लिखित आवश्यक कर्तव्यकी अवहेलना करता है। इसी अवहेलनाके फलस्वरूप आज समस्त देशमें दुःख-दारिद्र्यकी पताका फहरा रही है और इस पताकाको ध्वंस करनेके लिये देश-विदेशके विज्ञान एवं संततिशास्त्रके विशेषज्ञ संतति-निग्रहकी आवाज उठा रहे हैं तथा उसके लिये अवैध उपायोंका भी निर्देश करते हैं। यदि अब भी मनुष्य-समाज अपने नियम (ब्रह्मचर्य)-पर अटल हो जाय तो उसका परम कल्याण हो सकता है। शतपथ-गोपथ आदि ब्राह्मणोंमें तो यह बतलाया गया है कि ब्रह्मचारीके ऊपर मृत्यु भी अपना असर नहीं कर सकती। यथा—

ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत् तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्।

परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्मने सम्पूर्ण संसारको मृत्युके अधिकारमें कर दिया, परंतु ब्रह्मचारीको उसके अधिकारमें नहीं किया। ऋग्वेदने ब्रह्मचारीको देवताओंका एक अङ्ग बतलाया है और प्रशंसामें वैदिक साहित्यकी प्रसिद्ध गुरु सोम-कलहकी घटनामें ब्रह्मचारीको प्रधान सहायक बतलाया है—

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद्बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः॥

(ऋक्० १०। १०९। ५)

समाजमें रहनेवाला ब्रह्मचारी देवताओंका एक अङ्ग होता है। इस ब्रह्मचारीके द्वारा ही बृहस्पतिने सोमसे हरण की हुई अपनी स्त्रीको प्राप्त किया।

कठोपनिषद्में वाजश्रवाके पुत्र नचिकेताको यमदेवने ब्रह्मविद्याके परिज्ञानमें कठिनता बतलाते हुए अनेक प्रलोभन दिया। यहाँतक कि—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।

(क० उ० १। १। २५)

हे नचिकेता! जो पदार्थ पृथ्वीमें नहीं मिल सकते हैं, उन सब पदार्थोंको तुम निःसंकोच इच्छानुसार माँगो। मेरे द्वारा प्रदत्त सुन्दर रथ और गाजे-बाजोंसे युक्त मनुष्योंके लिये दुष्प्राप्य इन कमनीय दिव्य अप्सराओंसे अपनी सेवा कराओ।

सर्वलोकाधिपति यमराजके इतने प्रलोभन देनेपर भी अपने विचारोंमें अटल, वीर-धीर नचिकेताका मन

जरा भी विचलित नहीं हुआ। उसने झटसे उत्तर दिया कि—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।

(क० उ० १। १। २६-२७)

हे यमदेव! सांसारिक पदार्थ नश्वर हैं और भोगके साधन सम्पूर्ण इन्द्रियोंके वास्तविक बलको हर लेते हैं। प्राणिमात्रका जीवन भी परिमित है। भोगके साधनोंसे भोगतृष्णा शान्त नहीं होती है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।

(मनु० २। ९४)

इसलिये थोड़ेसे जीवनके लिये इन नश्वर, अशान्तिप्रद नृत्य-गीतरत अप्सरादिकोंको रहने दें। आपके दर्शनसे हमें सब कुछ मिल गया। इस तरह यमराजद्वारा दिये गये प्रलोभनोंको नचिकेताने दूषित बतलाकर ठुकरा दिया। इस नचिकेताके आदर्श उपदेशसे सच्चे सुख और सच्ची शान्तिके पुजारियोंको ब्रह्मचर्यका आश्रय लेना अत्यावश्यक है।

ब्रह्मचर्यके लिये आहार (कर्म)—खान-पानका भी विचार रखना परमावश्यक है। प्राणिमात्रके लिये जिस प्रकार सात्त्विक जीवन उपयोगी है, उसी प्रकार सात्त्विक भोजन भी लाभकर है। जिसका स्वरूप सूत्ररूपसे भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१७। ८)-में कहा है—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

प्रधानतया घी-दूध ही सात्त्विक पदार्थ हैं। यज्ञोंमें भी भगवती श्रुतिने घृतप्रधान द्रव्यको सात्त्विक आहार मानकर उसे खानेका उपदेश दिया है—

अमृताहुतिराज्याहुतिः। अमृतं वा आज्यम्।
आज्यं वै देवानां सुरभिः घृतं मनुष्याणाम्॥

घृत अमृत है। घृत खाना यानी अमृतको पीना है। आज्य (वैदिक विधिसे संस्कृत घृत) देवताओंको प्रिय है। घृत मनुष्योंको प्रिय है।

घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥ (शुक्लयजु० १२। ४४)

तुम अपने शरीरको घृतसे बढ़ाओ।

पयसो रेत आभृतं तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तराᳬसमाम्।

(यजुर्वेद ३८। २८)

दूधमें वीर्य (चरम धातु) संचित है। इसलिये हमलोग सदा-सर्वदा दूधको प्राप्त करते रहें।

पयसा शुक्रममृतं जनित्रᳬ सुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः। अपामतिं दुर्मतिं बाधमाना०॥

(यजुर्वेद १९। ८४)

अश्विनी देवता दूधसे दुर्बुद्धिको नाश करके अमृतस्वरूप शुद्ध जीवन (वीर्य)-को उत्पन्न करते हैं।

वाक्-साधन—सात्त्विक जीवनके लिये वाक्-साधन भी परमावश्यक है। यह दो प्रकारका है—

१- स्ववाक्-साधन—अपनी वाणीको सदा शुद्ध (लोकप्रिय) रखना।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

(ऋक्० १०। ७१। २)

विद्वान् मनुष्य चलनीसे छाने गये सत्तूकी तरह मनसे विचारकर वाणीका प्रयोग करते हैं। जिस वाणीके बलसे अमित्र भी मित्र होते हैं और उनकी वाणीमें भद्रा (कल्याण करनेवाली) लक्ष्मी सदा संनिहित रहती है।

२- परवाक्-साधन—दूसरेकी वाणीको अपने अनुकूल करना।

चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयादा निधातोः।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत्॥' (ऋक्० १। ४१। ९)

चार पासोंको हाथमें रखनेवाले जुआरीसे लोग जैसे डरते हैं, उसी प्रकार अपनी निन्दासे सर्वदा डरता रहे। कभी भी निन्दाकी चाह न करे।

'निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥'

(गीता २। ३६)

ऊपर सात्त्विक जीवनके लिये मनद्वारा (ब्रह्मचर्य, कर्म,आहार और वचन आदि) अनेक साधनोंके उपायोंका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। आशा है पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

वेदमें परलोक

प्राणिमात्रको एक दिन वर्तमान देह छोड़कर अपने-अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार किसी-न-किसी लोकमें अवश्य जाना है, क्योंकि बिना भोगे कर्म नष्ट नहीं होते हैं। लिखा भी है—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

अनेक कल्पकोटिमें भी बिना भोगा हुआ कर्म क्षीण नहीं होता। इस कर्मफलको भोगनेके लिये मानव इस जीवलोकमें या परलोकमें शरीर धारण करता है। जो प्राणी अच्छा कर्म करता है, वह 'पुण्यलोक' में जाता है और जो बुरा कर्म करता है वह 'पापलोक' में जाता है।

यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥

(अथर्व० १८। २। ८)

—इस मन्त्रमें अग्निकी प्रार्थना है कि हे अग्ने! जो आपके सुखप्रद स्वरूप हैं, उनसे इस प्रेतको अच्छे कर्म करनेवाले प्राणी जिस लोकमें जाते हैं, उस लोकमें ले जाइये।

इस मन्त्रसे यह सिद्ध होता है कि अच्छे कर्म करनेवालोंका लोक अलग है।

यजुर्वेदमें भी अच्छे कर्म करनेवालोंका लोक अलग बतलाया गया है। यथा—

नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके। (शु० य० १५। ५०)

अथर्ववेदमें भी परलोकका इस प्रकार निर्देश किया गया है—

यदू यमसादनात्पापलोकान्। (अथर्व० १८। ५। ६४)

स्वर्ग या नरकमें जानेके लिये यम देवताकी सम्मति ली जाती है। पापका फल भोगनेके लिये ही प्राणी यमके पास जाते हैं। इसमें उपर्युक्त '**यमसादनात्पापलोकान्**' प्रमाण है। स्वर्गमें भी यमकी सम्मति ली जाती है, क्योंकि '**यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधिरोहयैनम्**'—इस यजुर्वेदीय मन्त्रमें यम और यमीका ऐकत्व प्राप्त कर इसको उत्कृष्ट स्वर्गमें पहुँचाओ—यह कहा गया है।

इन प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि इस लोकसे अन्य कोई परलोक अवश्य है, जिसकी ऋचाओंने अनेकविध महत्ता प्रतिपादित की है।

वेदमें प्रसिद्ध तीन लोक हैं—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। इन लोकोंके एक-एक देवता हैं। पृथ्वीलोकके देवता अग्नि, अन्तरिक्षलोकके देवता इन्द्र या वायु और द्युलोकके देवता सूर्य हैं। इन अग्नि, इन्द्र तथा सूर्य आदि देवताओंके भागमें अलग-अलग कार्य एवं वस्तुएँ हैं। उनमें प्रातःसवन (प्रातःकालीन यज्ञ), वसन्त (चैत्र और वैशाखमास) तथा शरत् (आश्विन तथा कार्तिक-मास)-ऋतु, गायत्री और अनुष्टुप् छन्द, त्रिवृत् और एकविंशस्तोमु, रथन्तर तथा वैराज सामके भागी स्थानीय अग्निदेवता हैं और हविको ले जाना, देवताओंका आवाहन एवं दृष्टि-विषयक प्रकाश, प्रदीप आदि कर्म हैं एवं जातवेदा आदि देवता एवं आग्नायी, पृथिवी और इला—इन तीन स्त्रियोंके भागी भी अग्निदेव हैं।

अन्तरिक्षस्थानीय इन्द्रके माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म (ज्येष्ठ तथा आषाढ़मास) और हेमन्त (मार्गशीर्ष और पौषमास) ऋतु, त्रिष्टुप् और पंक्ति छन्द, पञ्चदश तथा त्रिणवस्तोम, बृहत् और शाक्वर मास भागी हैं। वायु आदि देवता तथा राका, अनुमति, इन्द्राणी आदि स्त्रियोंके भागी भी इन्द्र हैं। इन्द्रका कर्म है—वृष्टि-रस प्रदान करना, मेघोंको हटाना और बलकर्म-सम्पादन।

द्युस्थानीय सूर्यदेवताके भागमें तृतीय सवन, वर्षा (श्रावण तथा भाद्रपदमास) और शिशिर (माघ तथा फाल्गुनमास) ऋतु, अतिच्छन्द तथा जगती छन्द, सप्तदश और त्रयस्त्रिंशस्तोम, वैरूप और रैवत साम, अश्विनी आदि देवता तथा सूर्या आदि स्त्रियाँ हैं।

इनका कर्म रसका आकर्षण करना, किरणोंद्वारा रसको धारण करना और वनस्पत्यादि औषधियोंकी वृद्धि तथा पुष्टि करना है।

द्युलोकका अथर्ववेदमें तीन भाग बतलाया गया है। जैसे—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते॥

(१८। २। ४८)

नीचेकी ओर स्थित द्युलोक '**उदन्वती**' है। मध्यमें द्युलोकका नाम '**पीलुमती**' है। इसमें पालन करनेवाले ग्रह-नक्षत्र आदि रहते हैं। तीसरा द्युका भाग '**प्रद्यौ**' नामक है। वह प्रकृष्ट फल देनेके कारण '**प्रद्यौ**' अच्छे कर्म करनेवालोंको प्राप्त होता है—

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः॥

(अथर्व० १८। २। ४७)

जो ऊर्ध्वगमन करनेवाले अग्रगामी पितर पुत्ररहित होनेपर भी द्वेष करने योग्य (पापों)-को त्यागते हुए

परलोकको प्राप्त हुए हैं, वे अन्तरिक्षका अतिक्रमण कर ऊपर जाकर दुःख-संस्पर्शनसे रहित स्वर्गके ऊपरके भागमें देदीप्यमान होते हुए पुण्यफलके भोगके स्थानको प्राप्त करते हैं।

यजुर्वेदमें भी—'**नाकस्य पृष्ठे अधिरोचने दिवः**' इस मन्त्रसे 'द्यु' के तीन भागका संकेत मिलता है। उपर्युक्त वैदिक प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि इस लोक (पृथ्वी)-से अतिरिक्त कोई अन्य लोक अवश्य है और द्युलोकके तृतीय भाग '**प्रद्यौ**' में अच्छे कर्म करनेवालोंका वास होता है।

'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'

(श्रीरामनाथजी 'सुमन')

संसारको दो प्रकारसे देखा जाता है—मित्र-दृष्टिसे और द्वेष-दृष्टिसे। ऋषि कहते हैं—

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

(शुक्लयजुर्वेद)

अर्थात् 'हमलोग मित्रकी दृष्टिसे संसारको देखें।' यह उपदेशकी वाणी नहीं है, यह युगोंके अनुभवकी वाणी है। जितना ही तुम दूसरोंसे प्रेम करोगे, दूसरोंसे जुड़ते जाओगे, उतने ही सुखी होगे और जितना ही दूसरोंको द्वेष-दृष्टिसे देखोगे, उनसे कटते जाओगे, उतने ही दुःखी होओगे। यह जुड़ना ही प्रेम है, यह जुड़ना ही आनन्द है। यहाँ पराया कोई नहीं; जो हैं अपने हैं। मित्रताभरी आँखोंसे देखकर तुम मित्रोंकी संख्या बढ़ाओगे—उनकी ओर हाथ बढ़ाओगे तो वे अपने हो जायँगे और न भी हुए तो उनके परायेपनकी धार कुंद पड़ जायगी।

ईसाइयोंमें एक सम्प्रदाय है—वेज्लियन मेथडिस्ट (Wesleyan Methodist) सम्प्रदाय। इसके संस्थापक जॉन वेस्ली (John Wesley)-ने लिखा है—'छटाँकभर प्रेम सेरभर ज्ञानसे कहीं अच्छा है।' प्रेम ज्ञानसे अच्छा तो है ही, एक अर्थमें वह स्वयं ज्ञान है तथा सच्चे ज्ञानका उद्गमस्थल है। संत ग्रेगोरी (St. Gregory)-ने कहा है—'समस्त ज्ञानकी उत्पत्ति प्रेमसे होती है।' गेटे (Goethe)-ने भी कहा है—'परिश्रमसे जो काम सारी उम्रमें कठिनाईसे होता है, वह प्रेमके द्वारा एक क्षणमें हो जाता है।'

मित्रताकी आँख—अर्थात् प्रेमकी आँख और अमित्रताकी आँख अर्थात् द्वेषकी आँख—इन दोनोंमें पहलेसे धरती स्वर्ग बनती है और दूसरेसे दुर्व्यवहार, दुर्वचन, अहंकार बनता है, जिससे नरकका जन्म होता है।

महाभारतके आदिपर्वमें एक छोटी-सी कथा है। पञ्चाल देशके राजा यज्ञसेनका पुत्र द्रुपद पढ़नेके लिये भरद्वाजके आश्रममें गया। वहाँ वह बहुत दिनोंतक रहा और उसने अनेक प्रकारकी विद्याएँ सीखीं। आश्रममें रहते हुए मुनिपुत्र द्रोणसे उसकी खूब मित्रता और घनिष्ठता हो गयी। आश्रमसे विदा होते समय द्रुपदने द्रोणसे कहा—'यदि तुम कभी हमारे देशमें आओगे तो हम तुम्हारा हर तरहसे सम्मान करेंगे और तुम्हें अपना कुलगुरु बनायेंगे।' कुछ समय बाद यज्ञसेनकी मृत्यु हो गयी तथा द्रुपद राजा हुआ।'

उधर उसके सहपाठी द्रोणका भी समयपर गौतम-पुत्री कृपीके साथ विवाह हो गया। इस विवाहसे अश्वत्थामाका जन्म हुआ। इन दिनों द्रोण बड़ी तंग स्थितिमें थे, उनकी आर्थिक अवस्था शोचनीय थी—यहाँतक कि वे अपने पुत्रको दूध भी नहीं दे सकते थे। बालक अश्वत्थामा अपने साथियोंको दूध पीता देखकर स्वयं भी दूधके लिये हठ करता था, किंतु द्रोण अपनी निर्धनताके कारण अपने प्यारे पुत्रकी इच्छा-पूर्ति करनेमें असमर्थ थे। बालकको बहलानेके लिये उसकी माँ कृपी पानीमें घोले हुए आटेको दूध कहकर उसे पिला देती थी। वह अपने साथियोंसे जाकर कहता—'मैं भी दूध पीकर आता हूँ,' किंतु साथी बालक उसका उपहास करते हुए कहते—'तुमको दूध कहाँ मिलेगा? पानीमें घुले आटेको तुम दूध कहते हो?' इस अपमानसे क्षुब्ध होकर अश्वत्थामा एक दिन अपने पिताके पास गया और रोते हुए ये सब बातें उसने उन्हें सुनायीं। सुनकर पिताका हृदय उमड़ आया, उनकी आँखें भींग गयीं और उन्होंने सहधर्मिणीसे कहा—'अब मुझसे नहीं सहा जाता; अब तो मुझे कोई उपाय करना ही होगा।'

सोचते-सोचते द्रोणको अपने बाल-सखा द्रुपदद्वारा दिये हुए आश्वासनकी याद आयी। वे पञ्चाल देशकी ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचनेपर जब वे राजा द्रुपदके सामने लाये गये, तब उन्होंने अनजान बनकर इनका परिचय पूछा। जब इन्होंने पुरानी बातोंकी याद दिलाकर कहा कि 'आश्रममें तुम हमारे घनिष्ठ मित्र थे और तुमने मुझसे कुछ प्रतिज्ञा भी की थी', तब द्रुपदने कहा—

'राजा और याचकको कैसी मित्रता? मैंने तुमसे कोई प्रतिज्ञा नहीं की।' सुनते ही द्रोण उलटे पाँव वहाँसे लौट आये तथा उनसे इस अपमानका बदला लेनेके लिये ही उन्होंने कौरव-पाण्डवोंको धनुर्वेदकी शिक्षा देना आरम्भ किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अर्जुनने मुश्कें बाँधकर द्रुपदको द्रोणके सामने उपस्थित किया।

प्रतिहिंसाकी जो लहर उठी, वह शान्त नहीं हुई; द्रुपदके इस अपमानका बदला उनके बेटे धृष्टद्युम्नने द्रोणका सिर काटकर लाया और फिर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने धृष्टद्युम्नको मारकर पितृ-ऋण चुकाया। सम्पूर्ण महाभारत इसी दुष्ट दृष्टिका परिणाम था।

ठीक इसके विपरीत उदाहरण कृष्ण-सुदामाका है। दोनोंके बीच ठीक वही सम्बन्ध था, जो द्रुपद और द्रोणके बीच था; किंतु जब सुदामा निर्धनताकी मारसे विकल हो श्रीकृष्णके पास पहुँचे, तब श्रीकृष्णने देखते ही दौड़कर उन्हें छातीसे लगा लिया। कवि तो कहता है कि अपनी अश्रुधारासे ही उन्होंने अपने बाल-सखाके पाँव धोये, अपने और मित्रके बीच कहीं वैभवको नहीं आने दिया। वे बराबर नम्रता एवं स्नेह ही उड़ेलते रहे तथा जो कुछ भी कर सकते थे, बिना मित्रके कहे ही उन्होंने कर दिया।

इन दोनों दृष्टान्तोंमें प्रकारान्तरसे उसी मित्र-दृष्टि और द्वेष-दृष्टिके परिणामोंका निदर्शन है। मानव मानव होता ही तब है, जब वह प्रेमको—मैत्रीकी दृष्टिको ग्रहण करता है। प्रेम ही जीवनका उत्स है, प्रेम ही उसका पथ है, प्रेम ही उसका गन्तव्य है।

जब ईसाने कहा था—'अपने शत्रुओंसे प्रेम करो', तब संसार उनकी बातपर हँस पड़ा था। जब बुद्धने कहा—'**अक्कोधेन जयेत् कोधम्**', तब आस्थाहीन लोगोंने उनका उपहास किया। जब गाँधीजीने कहा—'विरोधीके प्रति भी अहिंसक व्यवहार करो', तब लोगोंने सूखी हँसी हँस दी। आज भी प्रेमकी, क्षमाकी, अहिंसाकी, जीव-मैत्रीकी बातें करनेपर लोग सिर हिला देते हैं, कहते हैं—ये सब हवाई बातें हैं। परंतु प्रेम क्या सचमुच हवाई है? यह ठीक है कि मनुष्यमें पशुताका अंश भी दिखायी पड़ता है; परंतु वह आरोपमात्र है। मनुष्यमें प्रेमका अंश उससे कहीं अधिक है और यह बात इससे कहीं अधिक सत्य है कि प्रेम किये बिना मनुष्य जी ही नहीं सकता। जबतक वह प्रेम न करेगा, स्वरूपके दर्शन न कर सकेगा। आनन्द और रससे दूर जीवनके नरकमें भटकता ही रहेगा।

तुम किसीको शत्रु-दृष्टिसे देख सकते हो, तुम उससे बदला ले सकते हो, तुम उसे हानि पहुँचा सकते हो। परंतु ऐसा करके तुम आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते, सुखी नहीं हो सकते; क्योंकि उसको हानि पहुँचानेके पहले तुम अपनेको हानि पहुँचा चुकते हो; आत्मद्रोह कर चुकते हो। इसीलिये जब तुम ऊपरसे क्षणभरके लिये उल्लसित हो उठते हो, तब भी अंदरसे अत्यन्त संतप्त, व्याकुल, अतृप्त और प्यासे रह जाते हो। सुख तथा आनन्दके लिये प्यारके सिवा दूसरा रास्ता ही नहीं है। इसलिये जगत्‌में जितने महापुरुष हुए हैं, सब इसी प्रेम-मार्गकी ओर संकेत करते हैं। जिसे नीचेसे ऊपर उठना है, जिसे जीवनकी उच्च भूमिकापर पहुँचना है, जिसे सच्चे आनन्द और सुखकी खोज है, उसके लिये दूसरा रास्ता नहीं है।

सुकरातसे उसके किसी विरोधीने एक बार कहा था—'यदि मैं तुमसे बदला न ले सकूँ तो मर जाऊँ।' सुकरातने उत्तर दिया—'यदि मैं तुम्हें अपना मित्र न बना सकूँ तो मर जाऊँ।'

आज संसार नरक हो गया है। सारी विद्या-बुद्धि, प्रगति और वैज्ञानिक उपलब्धियोंके होते हुए भी जीवन भाररूप हो गया है। ईर्ष्या-द्वेष तथा घृणाका अन्धकार फैलता ही जा रहा है। हमारा बहुत-सा दुःख दूसरोंके प्रति हमारे संशय और अविश्वाससे पैदा हुआ है। जिसे हम आँखोंकी कोरोंमें जरा-सी मुस्कानकी किरण फैलाकर अपना बना सकते हैं, जिसे हम अधरपर फूटे दो प्रेम-वचनोंसे जीत सकते हैं, उसे हम अपनी शंकालु दृष्टि, चढ़ी हुई भौंहों और व्यंग्यके कटु शब्दोंसे दूर हटाते जा रहे हैं। सहानुभूतिके स्पर्शसे पत्थर द्रवित हो जाता है, प्रेमकी एक चितवन दुर्भावनाओंकी काईको काटकर सदाके लिये बहा देती है, वह हृदयमें सीधे प्रवेश कर वहाँ अपना घर बना लेती है। जब मन रससे भरा होता है, तभी हम आनन्दकी भूमिमें प्रवेश करते हैं; जब मानव स्नेहका दान करता है, तभी उसका जीवन सार्थक होता है। इसलिये जो आनन्द चाहता है, उसे अपने हृदय-कपाट खोल देने होंगे। क्या यह कठिन है? क्या यह असम्भव है? जरा भी नहीं; किंतु इसके लिये हमें दृष्टि बदलनी होगी। निश्चय कर लेना होगा कि आजसे प्रतिदिन हम एक नया मित्र बनायेंगे, प्रतिदिन हृदयकी कोई-न-कोई गाँठ खुलेगी और हृदयमें पत्थर बनी वासना एवं कटुताकी अहल्याएँ मानवी बनती जायँगी। कठिनाई यह नहीं कि प्रेम दुर्लभ है; अपितु

वह तो संसारमें सबसे अधिक सुलभ है, प्रत्येक प्राणीमें उसे प्राप्त किया जा सकता है। किंतु कठिनाई यह है कि हम दिलका दरवाजा बंद किये बैठे रहते हैं और पाहुन कुंडी खटखटाकर लौटते जाते हैं।

जरा हृदयके कपाट खोल दीजिये और प्रतिदिन सुबह उठकर निश्चय कीजिये कि आज आप एक नया मित्र बनायेंगे। इसकी खोजमें कहीं दूर जाना नहीं है। राह चलते हुए, अपने प्रतिदिनके सामान्य कामोंको करते हुए आप उसे पा लेंगे। आप चाहे जितने व्यस्त हों, आगन्तुकके लिये स्नेहभरी मुस्कान तो आप बिछा ही सकते हैं। चीजें खरीदनेके लिये आनेवाले ग्राहक, यात्राके लिये टिकट पानेको व्याकुल मुसाफिर, अकेली यात्रा करती अरक्षित बहिन, रास्ता भूले यात्री, आफिसमें आपके पास कामसे आनेवाले आदमी, अध्ययनकी गुत्थियोंमें उलझे हुए छात्र, दिनभरकी हारी-थकी गृहिणियाँ और द्वारकी ओर उत्सुकताकी दृष्टि बिछाये बच्चे, कष्टसे तड़पते रोगी, भूख-प्याससे शिथिल मानव—न जाने कितने रूपोंमें तुम्हारे स्नेह तथा सहानुभूतिके प्यासे भक्त बिखरे हुए हैं। केवल देखनेका साहस करो और बंद दरवाजे खोल दो। प्राणवायुको अंदर आने दो—प्रेमकी प्राणवायु, स्नेह और मित्रताकी जादूभरी वायु; बस तुम्हारा काया-कल्प हो जायगा।

पग-पगपर प्रेम तुम्हें पुकार रहा है और तुम हो कि अपनी आँखें बंद किये, अपने कान बंद किये, पथपर चले जा रहे हो—निरानन्द थकावटसे भरे, प्रभुको उलाहना देते, भाग्यको कोसते। जरा आँखें खोलो, पाहुन तुम्हारे द्वारपर खड़ा है; जरा कान खोलो, भगवद्विभूति तुम्हें पुकार रही है। अगणित मित्र तुम्हारा आवाहन कर रहे हैं। केवल देखने-देखनेकी बात है; आनन्द तुम्हारा है, प्रेम तुम्हारा है; स्वर्ग तुम्हारा है, प्रभु तुम्हारे हैं।

वेदोंमें विद्या-उपासना

(महामहोपाध्याय पण्डित श्रीसकलनारायणजी शर्मा)

ईश्वरप्राप्तिके वैदिक साधन

ईश्वरकी प्राप्ति महान् धर्म है; क्योंकि उससे सुख-शान्तिका लाभ अवश्य ही होता है और वह सर्वदा एकरस एवं नित्य होता है। धर्मकी तीन शाखाएँ हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। छान्दोग्योपनिषद् (२।२३।१)-में कहा गया है—'**त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानम्।**' भक्ति और तपस्या यज्ञ हैं, दान कर्म है और अध्ययन ज्ञान है। ज्ञानके बिना कोई काम नहीं होता। जो ज्ञान भक्ति और कर्मका सहायक है, वह कारण है। जो इन दोनोंके बलसे उत्पन्न होता है, वह कार्य है। दोनों प्रकारके ज्ञान धर्म हैं। ज्ञानका पर्यायवाची शब्द वेद है। वेदका मुख्य तत्त्व 'ॐ' है। शास्त्रोंमें ज्ञानके अर्थमें 'विवेक' और 'विद्या' शब्दका भी व्यवहार हुआ है। ज्ञानसे मुक्ति निश्चितरूपसे सम्पन्न होती है। इसीलिये विद्यासे अमरताकी प्राप्ति मानी गयी है—'**विद्ययामृतमश्नुते।**'

उद्गीथविद्या

ज्ञान तो उपासनासे होता है, वह कैसे की जाय? 'ॐ' के द्वारा परमात्माका ध्यान करना—यह भी एक उपासना है। हे ॐस्वरूप परमात्मन्! मुझे स्मरण रखो, कहीं मुझे भूल न जाना—'**ॐ क्रतो स्मर।**' प्रणव अर्थात् 'ॐ' परमात्माका सर्वश्रेष्ठ नाम है, क्योंकि इसके द्वारा उन्नत भावपूर्वक परमात्माका गायन होता है। इसीसे प्रणवको उद्गीथ कहते हैं। उपनिषदोंमें और योगदर्शनमें कहा गया है कि प्रणवका जप करनेसे आत्मज्ञानकी उपलब्धि एवं विघ्नोंका नाश हो जाता है। आचार्य लोग इसे अक्षर—अविनाशी मानते हैं। पृथ्वी सब प्राणियोंको धारण करती है, वही प्राणियोंका आश्रय है; उसका सार है जल। जलने ही ओषधियोंमें सार-तत्त्वका दान किया है। उसीसे पुरुष परिपुष्ट होते हैं। पुरुषमें सार वस्तु है वाक् (वाणी)। उसमें ऋक् और साम यथार्थ तत्त्व हैं। उनका सार 'ॐ' है। शक्ति अथवा अर्थके ध्यानसे 'ॐ' से बढ़कर ईश्वरका दूसरा नाम नहीं है—'**स एष रसानाᳬ रसतमः**' (छान्दोग्य० १।१।३)। इसके उच्चारणके समय वाक् और प्राणमें एकता सम्पन्न होती है। इससे जप करनेवालोंके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं—'**आपयिता ह वै कामानां भवति**' (छान्दोग्य० १।१।७)। प्रणव शब्दका एक अर्थ स्वीकार अर्थात् 'हाँ' भी होता है। जो इसे धारण करनेमें तत्पर है, उसके सब कार्य और सभी इच्छाएँ स्वीकृत हो जाती हैं।

संवर्गविद्या

'संवर्ग' शब्दका अर्थ है ग्रहण कर लेना अथवा ग्रास कर लेना। अग्नि बुझनेपर कहाँ जाती है? सूर्य तथा चन्द्रमा अस्त होनेपर कहाँ रहते हैं? इसका उत्तर है कि ये तीनों वायुसे ग्रस्त हो जाते हैं। इनपर वायुका आवरण

पड़ जाता है; क्योंकि इनकी उत्पत्ति वायुसे है और ये तीनों ही अग्निरूप हैं। प्रकाशमय होनेके कारण सूर्य और चन्द्रके अग्नित्वमें भी संदेह नहीं हो सकता। वेदने इनका आविर्भाव अग्निसे माना है। जल भी वायुमें लीन हो जाता है। सुषुप्तिके समय वाणी, आँखें, कान तथा मन प्राणमें व्याप्त रहते हैं। उस समय केवल श्वास—प्राणवायु चलता रहता है। दूसरी इन्द्रियोंकी क्रियाएँ भी लुप्त हो जाती हैं। यह प्राणमें इन्द्रियोंका संवर्ग हुआ। प्राण एवं वायुका संवर्ग कहाँ होता है? इनका संवर्ग परमात्मा है। यह ज्ञान जिसे हो जाता है, वह परमात्माका भक्त बन जाता है।'

एक समय शौनक और काक्षसेनि भोजन कर रहे थे। उसी समय एक ब्रह्मचारीने आकर उनसे भोजनकी भिक्षा माँगी। उन लोगोंके अस्वीकार करनेपर ब्रह्मचारीने कहा—'जो सबका पालन करनेवाला है, जिसमें सबका संवर्ग होता है, उसे तुमलोग नहीं देखते; इसीसे अन्न नहीं दे रहे हो।' इसपर दोनों महर्षियोंने उसे अन्न देकर कहा—'हम जानते हैं कि तुम्हारे वचनका तात्पर्य ब्रह्म है। जो सबको खाता है, जिसे कोई नहीं खा सकता, जिसमें सब लीन हो जाते हैं और जो किसीमें लीन नहीं होता, वह महामहिमशाली मेधावी ब्रह्म है, जो सबको उत्पन्न करता है'—

आत्मा देवानां जनिता प्रजानाꣳहिरण्यदꣳष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानः।

(छान्दोग्य० ४। ३। ७)

मधुविद्या

ब्रह्माण्डमें कौन ऐसा मनुष्य है, जो माधुर्य पसंद नहीं करता। मधुविद्यामें जो 'मधु' शब्द है, वह मीठे पदार्थका बोधक है। मनुष्यजातिका स्वाभाविक खाद्य मीठा दूध है। परमात्मा उससे भी माधुर्यशाली हैं। उस माधुर्यकी प्राप्ति सूर्यके द्वारा हो सकती है; क्योंकि सूर्य खट्टे फलोंको पकाकर मीठा बना देता है। इसीसे उपनिषद् कहती है कि सूर्य देवताओंके मधु हैं। मधुका छाता किसी लकड़ी आदिमें लगता है। सबसे ऊपरका द्युलोक इसके लिये आश्रय है। अन्तरिक्ष छाता है और सूर्यरश्मियाँ भ्रमरोंकी पंक्तियाँ हैं। चारों वेदोंके अनुसार किये हुए कर्म पुष्प-पराग हैं। उनसे अमृतस्वरूप मोक्ष, जो कि मधु है, उत्पन्न होता है। कर्म-प्रवर्तक सूर्य ही मुख्यरूपसे मधु है—यदि उसकी उपासना करें तो परम मधु ब्रह्मकी प्राप्ति सहज हो जाती है।

असौ वा आदित्यो देवमधु""वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि॥
(छान्दोग्य० ३। १। १; ३। ५। ४)

पञ्चाग्निविद्या

जो लोग सूर्यके उत्तरायण होनेपर शरीर-त्याग करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं; उन्हें फिर लौटना नहीं पड़ता। जो दक्षिणायनमें प्राण-त्याग करते हैं, वे संसारमें फिर जन्म ग्रहण करते हैं। उत्तरायणका अर्थ ज्ञानमार्ग है और दक्षिणायनका कर्ममार्ग। ज्ञानमार्गके पथिकको पञ्चाग्निविद्याका पूर्ण परिचय होना चाहिये। श्वेतकेतु पाञ्चालोंकी राजसभामें गया, वहाँ उससे पाँच प्रश्न पूछे गये, परंतु श्वेतकेतु किसीका उत्तर न दे सका। उसने वहाँसे लौटकर अपने पिता गौतम आरुणिसे कहा—'पिताजी, आपने मुझे सब विद्याएँ नहीं सिखायीं। मैं पाञ्चाल-नरपति प्रवाहणके प्रश्नोंका उत्तर नहीं दे सका। आप मुझे उन विद्याओंका उपदेश कीजिये।' इसपर आरुणिने उन विद्याओंके सम्बन्धमें अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। श्वेतकेतुने पुनः राजा प्रवाहणके पास जाकर उन विद्याओंका उपदेश प्राप्त किया। राजाने पञ्चाग्निविद्याका उपदेश किया—

'यह लोक अग्नि है, इसको प्रज्वलित करनेके लिये सूर्य लकड़ी है। उसकी किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गार हैं तथा अवान्तर-दिशाएँ स्फुलिङ्ग हैं। इस अग्निमें देवता लोग श्रद्धारूपी हविका हवन करते हैं। इस हवनसे सोमकी उत्पत्ति होती है। श्रुति कहती है कि यहाँ श्रद्धा जलस्वरूप है। अतएव देवता जलसमूह मेघरूप अग्निमें सोम (चन्द्रमा)-को, लोकरूप अग्निमें वृष्टिको और वृष्टिसे उत्पन्न अन्नको पुरुषरूप अग्निमें जलाते हैं। उससे वीर्य उत्पन्न होता है, उसका हवन स्त्रीरूप अग्निमें होता है। मनुष्योंकी उत्पत्तिमें लोक, मेघ, पुरुष और स्त्री कारण हैं। पुरुष और स्त्रीको चिताकी आग भस्म करती है। यही पाँच अग्नियाँ हैं। इन पाँचोंमें परमात्मा व्याप्त हैं। इनके द्वारा जो परमात्माको जानता है, वह नित्यमुक्त हो जाता है। वेदान्तमें इस पञ्चाग्निविद्याका बड़ा विस्तार है; संक्षेपमें यहाँ उसका उल्लेख किया गया है। इसका ज्ञाता पुनरावृत्तिहीन मुक्तिको प्राप्त होता है'—

पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः॥

(बृहदारण्यक० ६। २। १५)

उपकोसलकी आत्मविद्या

उपकोसल जाबाल सत्यकामके पास बहुत दिनोंतक शिष्यभावसे रहा, परंतु महर्षिने उसे ब्रह्मतत्त्वका उपदेश नहीं किया। उनके बाहर चले जानेपर मानसिक व्याधिसे पीड़ित होकर उपकोसलने भोजन और भाषणका परित्याग कर दिया। यह देख सत्यकामको अग्नियोंने करुणावश

होकर उपदेश किया कि '**प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म।**' इसपर यह संदेह होता है कि प्राणवायु जो कि अचेतन है, 'क' अर्थात् सुख जो कि परिमित है और 'ख' अर्थात् आकाश जो कि शून्य है—ये भला, ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? उस वचनका यह अभिप्राय नहीं है। जिस परमात्माके बलसे प्राण अपना कर्म करते हैं, वही प्राण है। वह आकाशके समान व्यापक और असीम आनन्दस्वरूप है। इस विद्यामें लौकिक प्राण, सुख और आकाशका वर्णन नहीं है। इसके पश्चात् अग्नियोंने पृथक्-पृथक् उपदेश किया तथा जाबाल सत्यकामने लौटकर और भी उपदेश किया। इन्हीं सब विद्याओंका नाम 'उपकोसल-विद्या' है। जो ईश्वरको विद्योक्तरूपमें समझता है, वह उसकी उपासना करता है। यह उपासना मननसे दृढ़ होती है—'**प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म।**'

शाण्डिल्यविद्या

महर्षि शाण्डिल्य भक्तिशास्त्रके आचार्य थे। उनका बनाया हुआ शाण्डिल्यसूत्र संस्कृत-साहित्यका आदरणीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमें भक्तिका वर्णन करते हुए कहा गया है कि परमात्माका मुख्य गुण करुणा है—'**मुख्यं हि तस्य कारुण्यम्**' (शाण्डिल्यसूत्र)। महर्षिका कथन है कि सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म है, उपासनामें यह भावना रखनी चाहिये। इसका कारण यह है कि परमात्मा '**तज्जलानिति**' है। अर्थात् यह संसार उसीसे उत्पन्न होता है, उसीमें लीन होता और उसीसे प्रतिपालित होता है। पुरुष अध्यवसायमय अर्थात् भावनामय है। उसकी जैसी भावना होगी, वैसी ही उसे गति मिलेगी। परमात्मा इच्छामय, प्रज्ञाचैतन्यस्वरूप, सत्यसंकल्प, सर्वगत, सर्वकर्ता तथा रस-गन्धोंका आदि स्थान है। जितनी अच्छी अभिलाषाएँ हैं, सब उसीकी प्रेरणासे होती हैं। इन्द्रियोंके बिना जो सब कुछ करता है, जो सबसे महान् तथा सबसे सूक्ष्म है, वह दयालु हमलोगोंके हृदयमें ही विराजमान है। यदि हमलोग उसका आश्रय लें तो उसे अवश्य प्राप्त कर सकते हैं, इसमें संदेह नहीं—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।'
'एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति।'

(छान्दोग्य० ३। १४। १, ४)

दहरविद्या

जैसे इस लोकमें पुरुषार्थसे पैदा की हुई सम्पत्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही पुण्यबलसे उत्पन्न उत्तमोत्तम पारलौकिक सुख भी नष्ट हो जाता है। जिसे परमात्माका ज्ञान हो गया है, उसके सुख नित्य होते हैं। ये कभी नष्ट नहीं होते। परमात्माका ज्ञान उपासनाके बिना नहीं होता। उपासनाका अर्थ है समीप रहना। जिसका कोई पता-ठिकाना ही नहीं, उसके समीप कोई कैसे रहे? श्रुति कहती है कि 'मनुष्यका शरीर ही ब्रह्मपुर है, उसका दहर—हृदयकमल भगवान्का निवासस्थान है; उसीमें परमात्माको खोजो। वहीं उनका साक्षात्कार करो। यह मत सोचो कि सबसे बड़े भगवान् इतने छोटे-से स्थानमें कैसे रहेंगे।' जितना बड़ा यह बाहरका आकाश है, उतना ही बड़ा—बल्कि उससे भी बड़ा हृदयाकाश है। उसमें अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु आदि सभी हैं। उसमें रहनेवाले परमेश्वर शरीरके धर्मोंका स्पर्श नहीं करते। जरा-मृत्यु, क्षुधा-पिपासा उनका स्पर्श नहीं कर सकतीं। बाहरकी अभिलाषाएँ वहाँ पूर्ण रहती हैं। कोई दुःख-शोक वहाँ नहीं सताता—

यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्।

(छान्दोग्य० ८। १। १)

भूमाविद्या

जगत्के प्राणी जो कुछ करते हैं, उसका उद्देश्य सुख है। सुखकी जानकारीके बिना सुख नहीं हो सकता। यह सभी जानते हैं कि क्षणस्थायी अल्प वस्तुमें सुख नहीं होता। जगत्में जितने पदार्थ हैं—वे नाशवान् हैं, अल्प हैं और किसी-न-किसी रूपमें दुःखमय हैं। सबसे महान्—सबसे बड़ी वस्तु ईश्वर है, वही सुख है। उसका स्वरूप आनन्दमय है—'**आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्**'। यहाँ एक बात विचार करने योग्य है कि हम जगत्में बहुत कुछ खाते-पीते, देखते-सुनते हैं, परंतु तृप्ति नहीं होती। इसका कारण क्या है? जगत्की वस्तुएँ परिमित हैं, अल्प हैं। परमात्मा सबसे बड़े—असीम हैं, उनके मिल जानेपर दूसरे किसी पदार्थकी इच्छा नहीं होती और पूर्णता आ जाती है; क्योंकि सब वस्तुओंकी स्थिति परमात्माके आश्रयसे ही है। सब वस्तुएँ विनाशशील हैं तथा परमात्मा अमृतस्वरूप भूमा (अनन्त) हैं—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। (छान्दोग्य० ७। २३। १)

दीर्घायुष्यविद्या

जो मनुष्य चौबीस, चौवालीस अथवा अड़तालीस वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन करके यज्ञादि करते हैं, वे नीरोग रहते हुए सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहते हैं। जो ब्रह्मज्ञानी उपासक हैं, उनकी मृत्यु उनकी इच्छाके अधीन होती है। महिदास नामके एक उपासक ज्ञानी

सोलह सौ वर्षोंतक जीवित रहे—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः.........स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्। (छान्दोग्य० ३।१६।७)

जो बहुत दिनोंतक जीवित रहना चाहते हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञानरूपकी उपासना करनी चाहिये।

मन्थविद्या

सिद्ध अथवा शरण-प्रपन्न हो जानेपर धनकी आवश्यकता नहीं होती, परंतु साधनावस्थामें उसकी आवश्यकता होती है। तदर्थ मन्थाख्य कर्म किया जाता है। इससे धन प्राप्त होता है। उस कर्ममें ईश्वरसे प्रार्थना की जाती है कि—'हे अग्निस्वरूप देव भगवन्! सब देवता विपरीत होकर मेरे अभिजयों (सफलताओं)-को नष्ट कर देते हैं। मैं उनकी तृप्तिके लिये आहुति देता हूँ।' किसी अच्छे मुहूर्तमें दुग्धपायी रहकर कुशकण्डिका करे और ओषधियों तथा फलोंसे हवन करे। बृहदारण्यकोपनिषद् (६।३।२)-के '**ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा०**' इत्यादि मन्त्रोंसे आहुति देनी चाहिये।

जिसको मोक्षप्राप्तिकी इच्छा है, उसको किसी कामनासे ईश्वरकी उपासना नहीं करनी चाहिये। सकाम उपासना तो मोक्षमें विघ्नकारक है। भगवान् निष्काम कर्मसे प्रसन्न होते हैं। जबतक हृदयमें कामनाएँ भरी हुई हैं, तबतक परमात्माके लिये स्थान कहाँ है? कामना-दूषित हृदयके सिंहासनपर परम पवित्र परमात्मा कैसे विराजमान होंगे? इसीसे बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।६)-में कहा गया है—

'**योऽकामो निष्काम आप्तकामः।**'

अर्थात् जो अकाम है, निष्काम है, आप्तकाम है, वही भगवत्प्राप्तिका अधिकारी है।

'जीवेम शरदः शतम्'

(पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, का० व्या० सां० स्मृ० तीर्थ)

अधिक दिनोंतक जीवित रहनेकी इच्छा प्राणिमात्रकी होती है। धर्म-प्रधान भारतवर्षमें इसी उद्देश्यसे संध्योपासनका विधान वेदोंमें किया गया है। संध्योपासनमें बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धिके लिये अनेक मन्त्रोंसे जलको पवित्र करके आचमन करनेका विधान है और बाह्य शुद्धिके लिये मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित जलसे शरीरका अभिषेक करनेको लिखा है। साथ-ही-साथ आयुवृद्धिके लिये प्राणायामका विधान है।

इसके पश्चात् भुवनभास्कर भगवान् सूर्यकी उपासनाका क्रम लिखा है। चन्दन, पुष्प आदि अर्घ्यकी वस्तु जलके साथ लेकर सूर्यके लिये अर्घ्य प्रदान करनेकी विधि है। इसके पश्चात् सूर्योपस्थानके चार मन्त्र हैं। उनमें सूर्यकी स्तुतिके साथ उनसे अपने जीवनकी वस्तुओंके लिये प्रार्थना है। चौथा मन्त्र इस प्रकार है, यथा—

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनां स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥

(शु० यजु० ३६।२४)

इससे यह प्रतीत होता है कि मनुष्यकी परमायु एक सौ वर्षकी है और वह कर्म करते हुए एक सौ वर्षतक जीवित रहना चाहता है। ईशोपनिषद्के दूसरे मन्त्रमें भी यही बात लिखी है। यथा—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् मनुष्यको कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा रखनी चाहिये। इस तरह विहित कर्म—अग्निहोत्रादि करते रहनेसे मनुष्य कर्मफलसे लिप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि कर्मफलको प्राप्त करनेकी इच्छासे काम्यकर्म भव-बन्धनका कारण होता है, अन्यथा निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर कर्म करनेसे प्रारब्धका भोग हो जाता है और संचित कर्मकी उत्पत्ति होती ही नहीं, इससे परम शान्ति मिल जाती है।

प्राचीन ऋषिगण अपने इन्हीं कर्तव्योंका पालन करते थे जिससे उनकी इन्द्रियाँ जीवनभर शिथिल नहीं होती थीं, सौ वर्षतक कर्तव्य-पालन करते हुए जीवित रहते थे।

हमलोगोंके नेत्रोंमें जो ज्योति है, वह सूर्यकी ज्योति है। सूर्य ही प्रकाशके अधिष्ठाता हैं, अतः आजीवन हमारे नेत्रोंकी ज्योति बनी रहे, ऐसी प्रार्थना हम सूर्यसे करते हैं। इसी तरह अन्य इन्द्रियोंमें जो शक्ति प्राप्त है, वह सूर्यसे ही प्राप्त है। अतः हमें प्रतिदिन सूर्यकी उपासना करनी चाहिये—'**पश्येम शरदः शतम्**'—हम सौ वर्षतक देखें, हमारे नेत्रोंकी ज्योति कम न हो। '**जीवेम शरदः शतम्**'—हम सौ वर्षतक जीवित रहें, हम

अपनी पूर्ण आयुको भोगकर कर्तव्य-पालन करके भगवान्‌को प्राप्त करें। '**शृणुयाम शरदः शतम्**'—तात्पर्य यह है कि हम सौ वर्षतक सुनें—अर्थात् सौ वर्षतक सत्संग करें, श्रीभगवान्‌के गुणोंको सुनें और अन्तःकरणको पवित्र करें। '**प्र ब्रवाम शरदः शतम्**'—हम सौ वर्षतक बोलें अर्थात् शास्त्रोंका अध्ययन और अध्यापन करें तथा भगवान्‌का भजन करके अन्तमें उन्हींमें लीन हो जायँ। '**अदीनाः स्याम शरदः शतम्**'—अर्थात् जबतक हम जीवित रहें, दीन न हों, जिससे आश्रममें आये हुए अतिथियोंका सत्कार कर सकें। अतः हमारे पास इतना धन रहे, जिससे स्वयं भोजन करें तथा समागत अतिथिको भी भोजन करायें।

इस तरह अपनी आयु और इन्द्रियोंमें शक्तिके लिये सर्वत्र उपनिषदोंमें प्रार्थनाके मन्त्र पाये जाते हैं। प्रश्नोपनिषद्‌के शान्तिपाठके मन्त्रमें भी ऐसी ही प्रार्थना प्राप्त होती है। यथा—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

'हे देवगण! हम कानोंसे शुभ वचन सुनें। यज्ञादि अनुष्ठान करते हुए नेत्रोंसे माङ्गलिक वस्तुओंको देखें। हमलोगोंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग दृढ़ रहें, जिससे हमलोग देवताओंका हित करते हुए अपनी पूर्ण आयुका उपभोग करें।'

ऋषिगण इसी तरह यज्ञादि-अनुष्ठान तथा अपने नित्यकर्म नियत समयपर करते हुए पूर्ण आयुका उपभोग करते थे और उनकी इन्द्रियाँ सबल रहती थीं। उनके शरीरके सभी अवयव दृढ़ एवं मजबूत रहते थे। इससे उनका जीवन भारभूत नहीं होता था।

आजकल हम नित्यकर्म भूल गये हैं, जिससे न तो हमारा शरीर सबल होता है, न मन दृढ़ रहता है, बुद्धिकी शक्ति दिनोंदिन क्षीण होती जा रही है। पचास वर्षके बाद ही हमारा जीवन हमें भार मालूम पड़ने लगता है। इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। नेत्रमें ज्योति नहीं रहती। साठ वर्षकी उम्र होनेपर हम किसी कामको करने योग्य नहीं समझे जाते। हमारी परमायु ६० से ७० के अंदर हो गयी है।

जबकि वैदिक शास्त्रके अनुसार मनुष्यकी आयु सौ वर्षकी कही गयी है। वहाँ ज्योतिष शास्त्रके अनुसार तो मनुष्यकी आयु १०८ और १२० वर्ष कही गयी है; क्योंकि मनुष्यके जीवनभरमें नौ ग्रहोंकी दशा एक बार बारी-बारीसे आती है तथा एक राशिपर उनकी स्थिति जितने दिनकी होती है, उनको जोड़नेसे १२० वर्ष होती है। कुछ ज्योतिर्विदोंके मतके अनुसार १०८ ही वर्षकी परमायु होती है।

इस समय मृत्यु-संख्याको देखनेसे और अल्प अवस्थामें मृत्युकी संख्यासे पता चलता है कि जितना ही हमलोग अपने कर्तव्यसे दूर हट रहे हैं, उतनी ही हमारी इन्द्रियाँ अल्पकालमें ही कार्य करनेके योग्य नहीं रह जातीं। बाह्य कृत्रिम उपकरणोंको काममें लाते हैं, जिससे लाभके स्थानमें हानि ही प्रतीत होती है।

पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंने भी इस बातको स्वीकार किया है कि आध्यात्मिक विज्ञानके समक्ष यह भौतिक विज्ञान अत्यन्त क्षुद्र है, क्योंकि आध्यात्मिक विज्ञानसे जिस वस्तुकी प्राप्ति होती है, वह अक्षय होती है और भौतिक विज्ञानसे प्राप्त होनेवाली वस्तु नश्वर होती है।

आध्यात्मिक विज्ञानकी सफलताके लिये अन्तःकरणकी शुद्धि अपेक्षित है, जो प्रतिदिन संध्या-वन्दन करनेसे शुद्धताको प्राप्त करती है। अतः यदि हम इस संसारमें अपने जन्मको सफल बनाना चाहते हैं और अपनी इन्द्रियोंद्वारा भगवान्‌का भजन करते हुए पूर्णायुको भोगना चाहते हैं तो हमें अपने वर्णोचित संध्या-तर्पण आदिसे चित्तको शुद्ध करके ईश्वरका भजन करते हुए १०० वर्षतक जीनेकी इच्छा रखनी चाहिये। '**शतायुर्वै पुरुषः**'—इस शास्त्रीय वचनको सत्य बनाना चाहिये।

वैदिक निष्ठा और भूमा

(**चक्रवर्ती श्रीरामाधीनजी चतुर्वेदी**)

छान्दोग्योपनिषद्‌के सातवें अध्यायमें देवर्षि नारद तथा आचार्य सनत्कुमारका संवाद है, जिसमें परमसुख-स्वरूप—मूलतत्त्व भूमाका निरूपण आधाराधेयभावके क्रमसे हुआ है। उसका प्रसंग यह है कि एक समय नारदने सनत्कुमारके समीप जाकर कहा—'भगवन्! मुझे पढ़ाइये' (**अधीहि भगव इति**)। सनत्कुमारने कहा—'पहले आप यह तो बताइये कि अबतक क्या पढ़े हैं?' नारदने कहा—'भगवन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा इतिहासपुराणरूप पाँचवें वेदको भी मैं जानता हूँ। इसके अतिरिक्त मैं वेद-व्याकरण, श्राद्ध-कल्प, गणित, उत्पात-ज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, निरुक्त, शिक्षा, कल्प, छन्द, ब्रह्मविद्या, नृत्य-गान और विज्ञान आदि

भी जानता हूँ, किंतु मैं केवल मन्त्रोंको जानता हूँ, आत्मतत्त्वका अनुभव मुझे नहीं है, क्योंकि आप-जैसे महानुभावोंसे मैंने सुन रखा है कि जो आत्माको जान लेता है, वह शोकको पार कर जाता है— (**तरति शोकमात्मवित्**)।' मैं अभी शोक करता हूँ, अतः आत्मज्ञ नहीं हूँ। आप मुझे आत्मोपदेश प्रदान कर शोकरूपी सागरसे पार कर दीजिये (**शोकस्य पारं तारयतु**)। सनत्कुमारने कहा कि अबतक जो कुछ आप पढ़े हैं, वह सब नाम ही है, विकारमात्र है, केवल वाणीका विषय है। वास्तविक तत्त्व जो सत्य है, वहाँ तो वाणी मौन हो जाती है, क्योंकि उस एकको जान लेनेके बाद पुनः जिज्ञासा नहीं होती।

इसके बाद नारदकी जिज्ञासाके अनुसार सनत्कुमारने नाम, वाक्, मन एवं संकल्प आदिके क्रमसे एक-दूसरेको पहलेका आधार बताते हुए उस तत्त्वका निर्देश किया। जिसमें उन्होंने बताया कि तत्त्व-जिज्ञासुको निष्ठावान् होना चाहिये, क्योंकि निष्ठाशील मनुष्य ही श्रद्धालु होता है। इसीलिये उन्होंने कहा—'**यदा वै निस्तिष्ठति अथ श्रद्दधाति**' अर्थात् जब मनुष्यकी निष्ठा होती है, तभी वह श्रद्धा करता है। अतः हे नारद! निष्ठाको जानना चाहिये। निष्ठा शब्दका अक्षरार्थ है—दृढ़ स्थिति। साधककी दृढ़ स्थिति ही निष्ठा है। श्रीशंकराचार्यजीने इसके भाष्यमें लिखा है—'**निष्ठा गुरुशुश्रूषादिस्तत्परत्वं ब्रह्मविज्ञानाय**' अर्थात् गुरुसेवा आदि तथा ब्रह्म-विज्ञानके लिये तत्परता निष्ठा है। तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम साधककी दृढ़ स्थिति गुरुभक्तिसे होती है। उससे ही वह अपने लक्ष्यकी ओर तत्पर होता है। अस्तु, परतत्त्वमें निष्ठा दो प्रकारसे होती है—ज्ञानयोगसे तथा कर्मयोगसे। कर्मसंन्यास करनेवाले ज्ञानीजन नित्य और अनित्य वस्तुओंका विचार कर व्यापक तत्त्वके साथ अभिन्न-भावसे अपनी दृढ़ स्थिति रखते हैं। इसलिये उनके लौकिक कर्म छूट जाते हैं। इस मार्गके अनुयायी वामदेव, जडभरत, शुक आदि ज्ञानी प्रसिद्ध हैं। दूसरे निष्कामकर्म करनेवाले योगी फलकी इच्छाओंको त्यागकर अपने कर्तव्यकर्मसे उसी तत्त्वमें निरत रहते हैं। इस पथके प्रमुख प्रदर्शक राजा जनक हैं। इन दो निष्ठाओंका विस्तृत निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता (३। ३)-में हुआ है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

यद्यपि लोकमें निष्ठाके ये दो पक्ष विख्यात हैं, फिर भी दोनोंका लक्ष्य एक ही है, क्योंकि परतत्त्वकी अनुभूतिमें ही दोनोंका पर्यवसान है। अतः ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठामें कोई मौलिक भेद नहीं है। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट कहा है—

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता ५। ५)

इस प्रकार सिद्धान्तरूपसे एक ही निष्ठाके ये दो पक्ष हैं। पुनः वहाँ नारदने जिज्ञासा प्रकट की कि निष्ठाका कारण क्या है? सनत्कुमारने कहा कि कृति है। कृतिका अर्थ भाष्यकारने इन्द्रिय-संयम और चित्तकी एकाग्रता किया है—'**कृतिरिन्द्रियसंयमश्चित्तैकाग्रताकरणं च**'। इससे ही पूर्वोक्त निष्ठा लक्षित होती है। पुनः कृतिके कारणकी जिज्ञासाके समाधानमें सनत्कुमारने कहा कि कृतिका कारण परम सुखकी उपलब्धि है, जो भूमा-भावरूप है—'**यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति**'। अर्थात् जो भूमा है वही सुख है, अल्पतामें सुख नहीं है। अतः उसीको जानना चाहिये। इसके बाद भूमाकी परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा—'**यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा**' अर्थात् जिस समय मनुष्य न दूसरी वस्तुको देखता है, न सुनता है, न जानता है वही भूमा है। तात्पर्य यह है कि भूमा वह व्यापक भाव है, जिसे प्राप्त कर लेनेपर मनुष्यके समक्ष किसी अन्य पदार्थकी सत्ता ही नहीं रहती, प्रकृतिका सारा प्रपञ्च उस समय बिलकुल नष्ट हो जाता है। द्रष्टा-दृश्य, श्रोता-श्रव्य, ज्ञाता-ज्ञेयका भी भेद मिट जाता है। केवल चित्-प्रकाश ही शेष रह जाता है, जिसके लिये श्रुतिका उद्घोष है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(कठोपनिषद् २। २। १५)

अर्थात् जहाँ सूर्य, तारागण तथा विद्युत्का प्रकाश काम नहीं करता, वहाँ अग्निके प्रकाशकी बात ही क्या है, बल्कि वस्तुस्थिति तो यह है कि उसके प्रकाशसे यह सब भासित हो रहे हैं। भाव यह है कि जैसे सूर्योदय होनेपर आकाशमण्डलमें रहते हुए भी तारागण दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार चित्प्रकाशरूप भूमाकी अनुभूतिमें ये छोटे-बड़े सभी प्रकाश तिरोहित हो जाते हैं और यह सारा संसार स्वप्नके समान मिथ्या हो जाता है। तभी—'**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**'-का वास्तविक बोध होता है।

यह भूमा-भाव ही परमपद है, जिसकी उपलब्धि गुरुकृपा, ईश्वरानुग्रह तथा सत्संगसे होती है। जो मानव अपने जीवनमें इस पदकी अनुभूतिसे वञ्चित रह जाते

हैं, वे ही शोक, मोह तथा भयसे ग्रस्त होकर विषयानन्दके पीछे मृगतृष्णाके समान चक्कर काटते फिरते हैं। सांसारिक विषयोंकी तृष्णा तभी छूटती है, जब कल्याणरूप भूमा-भाव प्राप्त होता है। जैसा कि कहा भी है—

निःस्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिराजतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति।
चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति
ब्रह्मा विष्णुपदं हरिः शिवपदं तृष्णावधिं को गतः॥

अर्थात् जिसके पास कुछ भी नहीं है अथवा बहुत गरीब है, वह पहले सौ रुपयेकी इच्छा करता है। किसी प्रकार जब उसके पास सौ रुपये हो जाते हैं तो उससे संतुष्ट न होकर हजारके लिये उत्सुक होता है। हजारकी सिद्धि होनेपर लाखकी इच्छा उसे व्यग्र करती है। इस प्रकार जब वह लखपति बन जाता है तो पुनः उसमें सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलका मालिक बननेकी अभिलाषा जाग उठती है, यों तृष्णा आगे बढ़ती ही जाती है; क्योंकि सार्वभौम राजाके मनमें भी यह इच्छा होती है कि इन्द्रपदके सामने यह पद तुच्छ है, अतः मुझे स्वर्गका इन्द्रपद प्राप्त हो जाय। इसी प्रकार इन्द्रको ब्रह्माके पदकी और ब्रह्माको विष्णुपदकी तथा विष्णुको भी शिवपदकी अभिलाषा रहती ही है। इसलिये तृष्णाकी अवधि पार करना बड़ा ही कठिन है। इस तृष्णा-समुद्रकी अवधि तो तब मिटती है, जब मनुष्य नित्य-प्रकाश भूमारूप शिवपदकी अनुभूतिमें अपने-आपको समर्पित कर देता है।

निष्कर्ष यह है कि नित्य-सुखकी लालसासे मनुष्यको पहले कर्मयोगमें निष्ठा होती है। निष्ठासे श्रद्धाका भाव उदित होता है, जिससे अज्ञानरूप आवरणके भंग होते ही वह शोक-सागरको पारकर नित्यानन्दरूप भूमा-भावमें मग्न हो जाता है।

वेद और आत्मज्ञानकी कुंजी

(श्रीअभयदेवजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

शुक्लयजुर्वेदसंहिताके अन्तिम चालीसवें अध्यायके निम्नलिखित सत्रहवें मन्त्रमें एक ओर जहाँ आत्मबोधके उपायका प्रतिपादन है, वहीं वेदोंके अभिप्रायको ठीक-ठीक समझनेकी कुंजी भी विद्यमान है। 'जीव' और 'परम'—इन दोनों दृष्टियोंसे वेदका परम प्रतिपाद्य विषय आत्मा है। वेदमें जीवात्मा और परमात्माका प्रतिपादन होनेके कारण प्रकारान्तरसे स्वयं वेदको समझनेके लिये समीचीन दृष्टिका भी इस मन्त्रमें अनायास प्रतिपादन हो जाना स्वाभाविक है। प्रसंगोपात्त मन्त्र इस प्रकार है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

'हे सबका भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर! सत्यस्वरूप आप सर्वेश्वरका श्रीमुख ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप पात्रसे ढका हुआ है; आपकी भक्तिरूप सत्यधर्मका अनुष्ठान करनेवाले मुझको अपने दर्शन करानेके लिये उस आवरणको आप हटा लीजिये।'

—इस मन्त्रमें साधक स्वयंको 'सत्यधर्मा' कह रहा है। जिसका धर्म सत्य है, उसे 'सत्यधर्मा' कहते हैं। धर्म वह होता है, जो धारण करनेवाला है अर्थात् जीवनका जो भी आधार है, उसका नाम 'धर्म' है। जीवन निराधार नहीं है, उसका कोई-न-कोई आधार अवश्य है। चालीसवें अध्यायके आदिम मन्त्र (**ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्**)-में इस आधारको 'जगती' कहा गया प्रतीत होता है। वैदिक कोश 'निघण्टु'के अनुसार 'जगती'का अर्थ है—'गौ'। 'गौ' शब्द पशु-विशेषकी संज्ञाके साथ-साथ इन्द्रियवाचक भी है। मनुष्यके जगत्‌की सीमा उसकी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और ज्ञानकर्म—उभयात्मक इन्द्रिय—मनद्वारा निर्धारित होती है। जिस मनुष्यका जो और जितना इन्द्रियानुभूत है, वह और उतना उसका संसार है।

साधक सत्यको अपने जगत्‌का आधार या धर्म बनाना चाहता है। सत्यसे बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं। वस्तुतः सत्य ही वह धर्म या धारक तत्त्व है, जिसे ईश्वर कहते हैं। मात्र लोकव्यवहारके लिये ही सत्य आवश्यक नहीं है; बल्कि वह स्वतः एक नित्य-सनातन, शाश्वत-स्वतन्त्र आधार या धर्म भी है। वह चरम और पूर्ण तत्त्व है। आत्मा इसी 'शाश्वतधर्म' का गोप्ता कहा गया है। आत्मा स्वरूपसे सत्यधर्मा है।

सत्यधर्मा आत्माको अपना नाम सार्थक करनेके लिये अर्थात् सत्यको अपना धर्म बना पानेके लिये उसे सत्यका दर्शन हो, यह अपेक्षित है। दर्शनके लिये 'दृष्टि' चाहिये। देखनेके लिये आँखें सब प्राणियोंको प्राप्त हैं, परंतु आँखोंसे वे केवल अपना भोग देखते हैं। भोगसे राग-द्वेष पैदा होते हैं। अतः सत्यके दर्शनके लिये एक

अलग ही दृष्टि अपेक्षित है। जीवनके प्रति भोगपरक दृष्टिकी अपेक्षा आत्मोन्मुख दृष्टिकोणद्वारा ही आत्म-सत्य अनुभवमें आ सकता है। अतः मन्त्रमें सत्यधर्मा साधकद्वारा दर्शनके लिये **'सत्यधर्माय दृष्टये'**—ऐसा कहा गया है। जिस किसीको भी सत्यात्माका साक्षात्कार करना हो, उसे योगोन्मुख जीवन-पद्धति ग्रहण करना होगा, ऊपर-ऊपरसे भोगमयी जीवन-पद्धतिद्वारा आत्म-सत्य प्रत्यक्ष नहीं होता।

आत्मा स्वरूपसे सत्य है ही, पर सबको ऐसा अनुभव नहीं होता। अपने अजर-अमर-सनातन स्वरूपकी प्रायः विस्मृति ही रहती है। ऐसा क्यों होता है? उत्तर मन्त्रमें विद्यमान है कि सत्यपर एक आवरण पड़ा हुआ है। इस आवरणको चालीसवें अध्यायके तृतीय, नवम और द्वादश मन्त्रोंमें पुनः-पुनः **'अन्धेन तमसावृताः'**, **'अन्धं तमः'**, **'अन्धं तमः'** कहा गया है। इन 'अन्धतम' का स्वरूप भी इसी अध्यायमें यत्र-तत्र संकेतित है। भोगवृत्ति (मन्त्र १), वित्तलोभ (मन्त्र १), कर्मलेप (मन्त्र २), आत्म-हनन (मन्त्र ३), विजुगुप्सा अथवा विचिकित्सा (मन्त्र ६), मोह और शोक (मन्त्र ७), विद्या-अविद्यासे और सम्भूति-असम्भूतिसे पृथक् आत्माकी सत्ताको न समझ पाना (मन्त्र १०, १३)—ये आत्मापर पड़े हुए 'अनृत' या असत्यके आवरण हैं।

चूँकि आत्मा स्वरूपसे सत्य है, अतः असत्य उसे अच्छा नहीं लगता। कोई हमसे झूठ बोले या हमें धोखा दे तो हमें विषाद इसी कारण होता है। प्रायः हम असत्यको जानते-पहचानते हैं, फिर भी उससे चिपके रहते हैं। कौन नहीं जानता कि संसार अनित्य है। ***'जो आया है सो जायगा, क्या राजा क्या रंक।'*** तथापि 'सुत, दारा अरु लक्ष्मी' से असक्ति होती ही है, पुत्र-वित्त-लोककी एषणाएँ सताती ही हैं। इतना ही नहीं, ये बड़ी आकर्षक, सुन्दर और प्रिय लगती हैं। इनके बिना जीवन-यात्रा दुष्कर है, ऐसी अनिवार्यता हम इनकी मानते हैं। इसी स्थितिको मन्त्रमें 'हिरण्मय पात्र'—हित-रमणीय या सुन्दर—सुनहरा ढक्कन कहा गया है। ढक्कनसे प्यार है, ढक्कनसे ढके हुए सत्यसे मात्र वाचिक औपचारिकता है। मन्त्रके पूर्वार्धको हम अपने जीवनका, जीवनके प्रति अपने दृष्टिकोणका, अपनी वर्तमान जीवन-पद्धतिका यथार्थ वर्णन मान सकते हैं।

सत्यके चारों ओर चमकीला आवरण है। अतः आवरणकी चकाचौंधसे मनुष्यकी दृष्टि चौंधियाई हुई है। आत्मबोधके लिये इस आवरणका हटना बहुत जरूरी है। इसके हटे बिना सब परिश्रम व्यर्थ है। जप-तप, पूजा-पाठ, सत्संग, व्रत-उपवास, सब कुछ तभी सार्थक हैं, यदि इनसे अनृतका अपिधान या ढक्कन हटे। अन्यथा ये सब मनको बहलाना, फुसलानामात्र हैं। मनुष्य पत्तोंको सींचनेमें लगा हुआ है, जबकि मूल सूखे जा रहे हैं। यह सब हिरण्मय पात्रद्वारा सत्यका ओझल हो जाना ही तो है। मनुष्य ज्ञान-विज्ञानके क्षेत्रमें बहुत आगे निकलता जा रहा है। उसमें कर्मठता और परिश्रम भी खूब है, पर अपनी प्रभूत सामर्थ्यके होते हुए भी वह अनात्मके पंकमें धँसा हुआ है। आत्माके खोजका उसे स्पर्श भी नहीं हुआ है।

लगता है, मनुष्यका निस्तार अपनेसे विराट् विश्वात्म-शक्तिकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है। अतः मन्त्रमें प्रार्थना है उस पोषकसे, जो साधकको वास्तविक पोषण प्रदान कर सकता है। वित्तलोभ (मन्त्र १) मनुष्यको इस कारण ही तो होता है कि वित्तसे पोषणकी आशा होती है, पर पोषकतत्त्व धन नहीं है, बल्कि कुछ दूसरा ही है। उसे सुझानेके लिये ईश्वरको पूषा या पोषक कहा गया है। अनृतसे तो समूल परिशोषण ही होना है। जब पूषा अपना दाहिना हाथ हमारे ऊपर परोक्षसे रखेंगे तभी हमारा सतत विनाश रुक पायेगा। तभी तो एक वेदमन्त्रमें साधक ऋषि प्रार्थना करता है—

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु॥

(ऋक्० ६। ५४। १०)

अर्थात् पूषा परोक्षसे दाहिने हाथको धारण करे, जिससे हमारा नष्ट-वैभव पुनः आ जाय। सत्यात्माको 'पूषा' कहना, यह प्रेम या भक्तिका शब्द है। ज्ञान और कर्मकी पूर्णता भक्तिमें है। भक्तिका अभिप्राय है आत्माके गुणोंको जीवनमें सँजोना। सर्वत्र आत्मदर्शन होना ही घृणा-मोह तथा शोकसे उबरनेका उपाय है। यह जगत् आत्मामें विद्यमान दिखायी पड़े और जगत्में सर्वत्र आत्माकी अनुभूति हो, आत्मा ही 'जगत्' हो गया है—यह विज्ञान, यह एकत्वानुदर्शन (मन्त्र ६, ७) जीवनमें भक्तिके फलित हो जानेपर ही उभरता है, यही आत्मज्ञान है। इसके हो जानेपर कोई पराया नहीं रहता और साधककी प्रत्येक चेष्टा प्रेममय भगवत्सेवा हो जाती है।

वेदकी कुंजी

जिस प्रकार मन्त्रमें आत्मज्ञानकी कुंजी है—राग-द्वेषके हिरण्मय पात्रका दैवी कृपासे दूर होना, उसी प्रकार उसमें वेदके तत्त्वको समझनेकी कुंजी भी है।

वेदोंकी शैली देव-स्तवनकी है। अग्नि, वायु, आदित्य, इन्द्र, वरुण, मित्र, मरुत्, पर्जन्य, विष्णु, वसु, रुद्र, ऋभु, विश्वेदेव आदि बहुतसे देवोंकी स्तुतियाँ

वेदोंमें हैं। ये सब देव 'हिरण्मय पात्र' हैं और आत्मा वह सत्य है, जो इन देवोंकी ओटमें विद्यमान है। ज्ञान और कर्मको भक्तिमय कर देनेपर, जगत् और जीवनमें सर्वत्र आत्माके गुणोंका सागर लहराता हुआ अनुभवमें आयेगा। वेदोंका स्थूल अभिप्राय यज्ञपरक, कर्मकाण्डपरक है। उनका सूक्ष्म आशय देवतापरक है और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तात्पर्य आत्मापरक है। स्वयं वेदने इस तथ्यका स्पष्टरूपसे वर्णन किया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋक्० १। १६४। ४६)

अर्थात् 'अग्निको इन्द्र, मित्र तथा वरुण भी कहते हैं और वह दिव्य गरुत्मान् सुपर्ण है। 'एक सत्' को ज्ञानीजन अनेक प्रकारसे बोलते हैं और अग्निको यम एवं मातरिश्वा कहते हैं।'

इस मन्त्रमें अग्निदेवताको 'हिरण्मय पात्र' समझें। अग्नि-प्रतीकमें आत्मतत्त्वका दर्शन या ध्यान करना चाहिये। आत्माग्नि वही 'एक सत्' (**ॐ तत् सत्**) है—जो अन्यत्र इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा-जैसे प्रतीकोंके रूपमें विद्यमान है। ज्ञानी इस तथ्यको जानते हैं कि सत्य सर्वत्र वही है और एक है, हिरण्मय आवरण भले ही विभिन्न प्रकारके हों। उस 'एक सत्' को इस चालीसवें अध्यायमें 'ॐ' नाम दिया गया है। 'ॐ' वेदका वह ढाई अक्षर है, जिसे पढ़ लेनेपर वैदिक एकेश्वरवादके विषयमें कोई शंका नहीं रहती; क्योंकि यही 'ॐकार' वेदज्ञान एवं आत्मज्ञानका मूल है।

आचार्यका दीक्षान्त-उपदेश

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति।

वेद-विद्या पढ़ा देनेके पश्चात् आचार्य शिष्यको उपदेश करता है, दीक्षान्त-भाषण देता हुआ कहता है—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ १॥

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳसुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि॥ २॥

ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्॥ ३॥

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः॥ ४॥

एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्॥ ५॥

एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥ ६॥

(तैत्तिरीयोपनिषद्)

तुम सत्य बोलना। धर्माचरण करना। स्वाध्यायसे प्रमाद न करना। आचार्यको जो प्रिय हो, उसे दक्षिणा-रूपमें देकर गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करना और संततिके सूत्रको न तोड़ना। सत्य बोलनेसे प्रमाद न करना। धर्मपालनमें प्रमाद न करना। जिससे तुम्हारा कल्याण होता हो, उसमें प्रमाद न करना। अपना वैभव बढ़ानेमें प्रमाद न करना। स्वाध्याय और प्रवचनद्वारा अपने ज्ञानको बढ़ाते रहना, देवों और पितरोंके प्रति तुम्हारा जो कर्तव्य है, उसे सदा ध्यानमें रखना॥ १॥

माताको, पिताको, आचार्यको और अतिथिको देवस्वरूप मानना, उनके प्रति पूज्य-बुद्धि रखना। हमारे जो कर्म अनिन्दित हैं, उन्हींका स्मरण रखना, दूसरोंका नहीं। जो हमारे सदाचार हैं, उन्हींकी उपासना करना, दूसरोंकी नहीं॥ २॥

हमसे श्रेष्ठ विद्वान् जहाँ बैठे हों, उनके प्रवचनको ध्यानसे सुनना, उनका यथेष्ट आदर करना। दूसरोंकी जो भी सहायता करना, वह श्रद्धापूर्वक करना, किसीको वस्तु अश्रद्धासे न देना। प्रसन्नताके साथ देना, नम्रतापूर्वक देना, भयसे भी देना और प्रेमपूर्वक देना॥ ३॥

ऐसा करते हुए भी यदि तुम्हें कर्तव्य और अकर्तव्यमें संशय पैदा हो जाय, यह समझमें न आये कि धर्माचार क्या है तो जो विचारवान् तपस्वी, कर्तव्यपरायण, शान्त और सरस स्वभाववाले विद्वान् हों, उनके पास जाकर अपना समाधान कर लेना और जैसा वे बर्ताव करते हों, वैसा बर्ताव करना॥ ४॥

यही आदेश है। यही उपदेश है। यही वेद और उपनिषद्का सार है॥ ५॥

यही हमारी शिक्षा है। इसके अनुसार ही अपने जीवनमें आचरण करना॥ ६॥

[प्रेषक—श्रीरघुवीरजी पाठक]

वेदकथाङ्कके साधारण अङ्कोंमें प्रकाशित लेखोंकी विषय-सूची

[परिशिष्ट-भाग]

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' (डॉ० सुश्री शशिप्रभा कुमार, एम०ए०,पी-एच०डी)	५२८
२-वैदिक राज्यशासन (पं० श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर, वेदाचार्य, साहित्यवाचस्पति, गीतालंकार)	५३४
३-वेदोंमें आयुर्वेद (डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत)	५४०
४-वैदिक सिद्धान्तोंके प्रवर्तक मनीषी कुमारिल भट्ट (श्रीहरिविष्णुजी अवस्थी)	५४७
५-अतिथि-सत्कारके लिये अभ्युत्थान	५५१
६-वैदिक और स्मृतिकार मनु (श्रीरवीन्द्रनाथजी बी० ए०, एल० एल० बी)	५५२
७-पवमान-सूक्त	५५६
८-वैदिक जीवन-दर्शनके विविध आयाम	५५७--५६१
(१) जीवनकी सात मर्यादाएँ	५५७
(२) सत्य और प्रिय भाषण	५५८
(३) राष्ट्ररक्षाके उपाय	५५८
(४) हृदय और मनसे परस्पर प्रेमी बनो	५५९
(५) पति और पत्नीमें प्रेम	५५९
(६) परिवारमें वृद्धोंकी सेवा करो	५५९
(७) गृहस्थी गृहस्थके प्रत्येक व्यक्तिका सत्कार करे	५५९
(८) अतिथि देव-यजन-रूप है	५६०
(९) पितृभक्ति	५६०
(१०) अन्नदान तथा यज्ञद्वारा दान	५६०
(११) सर्वदिङ्निर्वैरता	५६१
९-वैदिक साहित्यमें नारी (पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)	५६१
१०-रात्रिदूत	५६५
११-सर्वकल्याणकारी वेद (ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)	५६७
१२-वेदोपनिषदीय महापुरुष-मीमांसा (डॉ० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०)	५६८
१३-वेदमें मृतात्माकी अष्टविध दशा (वेद-दर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर पूज्य स्वामी श्रीगंगेश्वरानन्दजी महाराज)	५७३
१४-महर्षि पिप्पलाद	५८२
१५-भगवान् वेदके कतिपय अनमोल उपदेश (आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)	५८७
१६-देहात्मबुद्धि सर्वथा त्याज्य	५८९
१७-वैदिक कर्मकाण्डका वैज्ञानिक आधार (आचार्य पण्डित श्रीसीतारामजी चतुर्वेदी)	५८९
१८-स्वर्गकी सवारी यज्ञ-नौका किसे?	५९५
१९-वेदोऽखिलो धर्ममूलम् (स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी)	५९६
२०-शंख और घंटा-ध्वनिसे रोगोंका नाश (श्रीयमुनाप्रसादजी)	५९८
२१-वैदिक गंगा (डॉ० श्रीभागीरथप्रसादजी त्रिपाठी 'वागीश')	५९९
२२-ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः (ऋग्वेद-भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)	६०१
२३-अग्निं वन्दे!	६२२
२४-वैदिक उपासनाका मूलाधार (श्रीबेचूजी मिश्र शास्त्री, एम० ए०, एल-एल० बी०)	६२५
२५-विकासप्रेरक अथर्ववेदकी प्रासंगिकता (डॉ० श्रीगोपीवल्लभजी नेमा एम० ए०, पी-एच०डी०)	६२८
२६-ऐतरेय आरण्यकमें प्राणविद्या (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य)	६३०
२७-काशीस्मरणमात्रेण	६३५
२८-वेदोंमें राष्ट्रिय एकताका संदेश (वेद-दर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर पूज्य स्वामी श्रीगंगेश्वरानन्दजी महाराज)	६३६
२९-तुलसी-साहित्य और वेद (डॉ० श्रीशुकदेवजी राय, एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न)	६३७
३०-वेदोंमें राजनीतिके कुछ सूत्र (श्रीनाथूरामजी गुप्त)	६४०
३१-वैदिक ऋचाओंमें विराट्-दर्शन (आचार्य श्रीजगमोहनलालजी दीक्षित)	६४३
३२-वेदकी अपौरुषेयताका मर्म (पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)	६४५
३३-ईश्वरप्राप्तिके लिये वैदिक साधन (महामहोपाध्याय पण्डित श्रीसकलनारायणजी शर्मा)	६६५
३४-प्राचीन भारतका धनुर्वेद-विज्ञान (डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूड़ामणि)	६६९
३५-वेदोंका रचनाकाल (ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् वेदभाष्यकार स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)	६७१
३६-ब्रह्मविद्याका मूल्य (श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)	६७८
३७-वेदोंमें जल-इंजीनियरी (डॉ० श्रीरमाशंकरजी वार्ष्णेय)	६८१
३८-संध्योपासना और ब्रह्मविद्या (पं० श्रीश्यामसुन्दरजी झा, न्याय-वेदान्ताचार्य)	६८४
३९-कृष्णभक्तोंकी भावुकता	६८८

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'

(डॉ० सुश्री शशिप्रभा कुमार, एम० ए०, पी-एच० डी०)

'भूमि मेरी माता है और मैं पृथिवीका पुत्र हूँ'—यह भावपूर्ण वाक्य अथर्ववेदके 'भूमिसूक्त[१]' का है और इस छोटेसे वाक्यमें मनुष्य और उसकी मातृभूमिके मध्य गहन आत्मीयताका सार्थक सम्बन्ध-सूत्र संनिविष्ट है। अपनी मातृभूमिके प्रति भक्तिकी भावना अथवा राष्ट्रियता या देशप्रेमकी भावना विश्वकी सनातन, सार्वभौम परम्परा है, किंतु प्रस्तुत सूक्तको पढ़कर निःसंदेह कहा जा सकता है कि इस भावनाका मूल बीज इन वैदिक मन्त्रोंमें ही संनिहित है। इसीलिये इस सूक्तको 'मातृभूमिका वैदिक गीत[२]' या 'वेदका राष्ट्रिय गीत[३]' कहा गया है, जो सर्वथा समीचीन है। इसमें मातृभूमिके रूपमें पृथिवीका गौरव-गान और उसके संरक्षण तथा समुन्नयन-हेतु उसपर रहनेवाले पुत्ररूप नागरिकोंके लिये आदर्श प्रेरणा एवं उद्बोधन है। जो वर्तमान संदर्भमें भी पूर्णतः प्रासंगिक है—इसी दृष्टिसे प्रकृत प्रपत्रमें संक्षिप्त प्रतिपादन अभीष्ट है।

६३ मन्त्रोंवाला 'भूमिसूक्त' वैदिक वाङ्मयमें अप्रतिम स्थान रखता है। इस सूक्तका ऋषि अथर्वा है, देवता या विषय भूमि है और छन्द त्रिष्टुप् है। उक्त वाक्यमें एवं अन्यत्र इसी सूक्तमें 'अहम्' पदके प्रयोगसे सूचित होता है कि अथर्ववेदके इस सूक्तकी शैली आध्यात्मिक[४] है, क्योंकि यहाँ ऋषि अथर्वाने प्रायः उत्तम पुरुषमें अपना उद्गार प्रकट किया है तथा स्वयंको 'पृथिवी-पुत्र' कहा है।

वस्तुतः वैदिक परम्परामें मातृभूमिको केवल निवास या आश्रयस्थल नहीं, अपितु कर्मभूमि माना गया है। इसलिये यहाँ राष्ट्रियताका अर्थ केवल जड़ या अचेतन पृथिवीके लिये देश-भक्ति नहीं है, बल्कि उसके विराट् अमूर्त स्वरूपके प्रति श्रद्धा एवं आदरका गहन, भावनात्मक सम्बन्ध है। यहाँ मातृभूमिके प्रत्येक पत्थर और उसकी मिट्टीके प्रत्येक कणमें दिव्य भावोंकी प्रतिष्ठा कर उसे पवित्रतम पदकी अधिकारिणी बना दिया गया है। अतः पृथिवी केवल भूमिके रूपमें आदरणीय नहीं, अपितु माता[५]के रूपमें माननीय भी है—यही भाव अथर्ववेदके उक्त वाक्यमें सम्पुष्ट एवं सुस्पष्ट हुआ है, जहाँ मानव एवं उसकी भूमिके मध्य पुत्र एवं माताका सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

अध्ययन-विश्लेषण करनेपर यह स्पष्ट होता है कि भूमिको मातारूपमें माननेकी कल्पना अत्यन्त प्राचीन है और वैदिक वाङ्मयमें इसके अनेक आधार उपलब्ध हैं। तदनुसार पृथिवी सबसे पहले जन्म लेनेवाली कही गयी है—'**इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा**[६]।' इसे 'पृथिवी' इसलिये कहते हैं कि यह सर्वत्र प्रथनशीला, विस्तारवती है—'**प्रथनात्पृथिवीत्याहुः**[७]'। इसका 'भूमि' नाम भी बड़ा सार्थक है, यह 'भूमि' इसलिये कही जाने लगी कि सत्तामें आयी[८]। इसके 'भूमि' कहलानेका एक कारण यह भी है कि इसीपर सब प्राणी उत्पन्न होते हैं[९]। यही इसके मातृत्वका आधार है।

अतः पृथिवी अत्यन्त विस्तृत है, उर्वी या व्यापक प्रतिष्ठा[१०]वाली है, तो भूमि वह है जिसपर समस्त संसार जन्म लेता है। इसीलिये वेदमें कहा गया है कि तीनों लोकोंकी तीनों पृथिवियोंमें भूमि ही उत्तम है[११]। यही महिमामयी माता और मही 'पृथिवी[१२]' है।

१-द्वादश काण्डका प्रथम सूक्त।

२-अथर्ववेद, सातवलेकरकृत सुबोध-भाष्य, भाग २, पृष्ठ ११।

३-प्रियव्रत वेदवाचस्पति, वेदका राष्ट्रिय गीत, गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार।

४ 'अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगाः॥ अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना।' (निरुक्त ७।२)

५-'मान्' धातुसे 'तृच्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होनेवाला 'माता' शब्द माननीयताको ही द्योतित करता है, जैसा कि निम्न वचनसे सुव्यक्त है—'माता स्यान्माननाच्च सा'।

६-शतपथ० (१४।१।२।१०)। ७-निरुक्त (१।४।२)

८-'अभूद्वा इदमिति। तद् भूम्यै भूमित्वम्' (तैत्ति० ब्रा० १।१।३।५)

९-'इयं पृथिवी वै भूमिरस्यां वै स भवति यो भवति' (शतपथ ब्रा० ७।२।१।११)।

१०-अथर्व० (१२।१।६)। ११-'इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा' (अथर्व० ६।२१।१)।

१२-'माता पृथिवी महीयम्' (अथर्व० ९।१०।१२)।

मातृरूपा यह भूमि सारे भूत और भव्य पदार्थोंकी 'पालयित्री[१]' है; सब कुछ सहन करनेवाली 'क्षमा[२]' है; समग्र विश्वका धारण-पोषण करनेवाली 'विश्वम्भरा[३]' है; धन-सम्पत्तिकी खान होनेसे 'वसुधानी[४]' है; सब कुछ इसीके गर्भमें संनिहित है, अतः यह 'विश्वगर्भा[५]' है; इसके वक्षमें सुवर्णादि निधियाँ संचित हैं, अतः यह 'हिरण्यवक्षा'[६] है और इन सबसे बढ़कर यह धरती हमारी 'माता' है, मातृभूमि है।

यह माता भूमि सारे जगत्‌को बसानेवाली,[७] सबको सहारा देनेवाली[८] और विश्वकी धायरूपा[९] है। हम सब मनुष्योंकी रहनेकी जगह होनेसे यह अत्यन्त सुविस्तृत है[१०]। ऐसी यह मातृभूमि सुखदायिनी[११], कल्याणकारिणी[१२] धन-सम्पत्तिको देनेवाली, दानशीलादेवी और सदा प्रसन्न रहनेवाली[१३], शान्तिप्रदा, सुरभि, अन्नवती और पयस्वती[१४] है। मातृत्वकी इससे उदात्त एवं उत्कृष्ट परिकल्पना कहाँ मिलेगी? इसीलिये इस माताकी दिव्यताका स्तवन करते हुए ऋषि कह उठता है कि इस विस्तृत पृथिवीका विस्तार स्वयं प्रजापति परमात्माने किया है[१५] और जब भी इसमें कोई कमी आती है, तब वही इसे दूर करता है[१६]।

यहाँ शंका हो सकती है कि ऐसी गरिमामयी, दिव्य मातृभूमिमें कमीका क्या प्रयोजन? इस कमी या न्यूनताका आशय यह है कि वह माता होनेसे स्त्री है, अतः अकेली स्वयं अपनेमें बीज-वपन तो नहीं कर सकती, बीज-वपन करनेवाला ही प्रजापति[१७] है। अन्य शब्दोंमें जैसे मानव-शिशुको जन्म-ग्रहणके लिये माता-पिता दोनोंकी आवश्यकता होती है, उसी भाँति यदि प्रश्न हो कि विश्वकी माता भूमि है तो पिता कौन है? इस प्रश्नका उत्तर ऋषिने वहीं दे दिया है और कहा है कि पालन करनेवाला 'पर्जन्य' हमारा पिता है, वही हमारा पालन करे[१८]।

वैदिक वाङ्मयमें 'पर्जन्य' के त्रिविध अर्थ किये गये हैं। तदनुसार परम जनयिता परमात्मा भी पर्जन्य है[१९]। जिसे प्रस्तुत सूक्तमें '**ऋतस्य प्रथमजा**' या '**प्रजापति**' कहा गया है और मेघ या बादल भी 'पर्जन्य' हैं[२०], क्योंकि जब वह जलकी वृष्टि करता है, तभी पृथ्वीपर अन्न-वनस्पतियाँ उगते हैं तथा उनके उपयोगसे सब प्राणी जीवित रहते हैं। इसी भाँति सम्राट् भी 'पर्जन्य' है, क्योंकि वह भी जन-जनका पालन करता[२१] है और उसके संरक्षणमें राष्ट्र फलता-फूलता है। अतः पर्जन्यके इन सभी अर्थोंसे उसका जनकत्व या पालकत्व सूचित होता है और उसे 'पिता' कहना भी सार्थक सिद्ध होता है। इसीलिये प्रस्तुत सूक्तमें अथर्वा ऋषिने माता भूमिको 'पर्जन्यपत्नी' कहकर प्रणाम किया है और पर्जन्यसे होनेवाली वर्षाको ही उसकी 'प्रजनन-शक्ति' कहा है[२२]। एक अन्य मन्त्रमें कहा गया है कि वह विस्तृत भूमि पर्जन्यद्वारा प्रदत्त वर्षासे घिरी होनेपर हम पुत्रोंको अपनी कल्याणमयी गोदमें समेट लेती है[२३]।

इस प्रकार पिता 'पर्जन्य' की पत्नी इस मातृभूमिके अपने पुत्रोंपर अनन्त उपकार हैं। वह न केवल सारे जीवोंकी आश्रयभूता है, अपितु अन्न, जल, रस, गन्ध,

---

१-'भूतस्य भव्यस्य पत्नी' (अथर्व० १२। १। १)। २-अथर्व० (१२। १। २९)। ३-अथर्व० (१२। १। ६)।
४-अथर्व० (१२। १। ६)। ५-अथर्व० (१२। १। ४३)। ६-अथर्व० (१२। १। ६,२६)।
७-'जगतो निवेशनी' (अथर्व० १२। १। ६)। ८-'सर्वस्य प्रतिशीवरि' (अथर्व० १२। १। ३४)।
९-'विश्वधायसं' (अथर्व० १२। १। २७)। १०-'महत्सधस्थं महती बभूविथ' (अथर्व० १२। १। १८)।
११-'स्योना' (अथर्व० १२। १। १६)। १२-'शिवा' (अथर्व० १२। १। १७)।
१३-'वसुदा, रासमाना, देवीदधातु सुमनस्यमाना' (अथर्व० १२। १। ४४)।
१४-'शान्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोघ्नी पयस्वती' (अथर्व० १२। १। ५९)।
१५-'भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम्' (अथर्व० १२। १। २९)।
१६-'यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य' (अथर्व० १२। १। ६१)।
१७-डॉ० फतहसिंह, मातृभूमिकी वैदिक वन्दना, अथर्ववेदीय पृथिवीसूक्त, पृ० ५३।
१८-'पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु' (अथर्व० १२। १। १२)। १९-'पर्जन्यः परो जनयिता' (निरुक्त)।
२०-'पर्जन्यो वै भवः पर्जन्याद्धीदꣳ सर्वं भवति' (शतपथ ब्रा० ६। १। ३। १५)।
२१-'पिपर्त्ति जनं पर्जन्यः' (अमरकोश टीका और स्वामीकृत श्लोक ३। १४६)।
२२-'भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे' (अथर्व० १२। १। ४२)।
२३-'जीवानां लोकम्' (अथर्व० २। ९। १)।

ऊर्जा, पुष्टि, घृतादि देकर उनका पालन-पोषण भी करती है[१]। यह धरती केवल द्विपाद मनुष्योंको ही नहीं, चतुष्पाद पशुओंको भी आश्रय प्रदान करती है[२] तथा इसीपर सतत प्रवाहशील जल दिन-रात बहता है, जिसकी प्रचुर धाराओंसे भाँति-भाँतिके भोज्य और पेय पदार्थ उत्पन्न होते हैं एवं इसके पुत्रोंको वर्चस्वी बनाते हैं[३]।

उल्लेखनीय है कि माता भूमि और उसके पुत्रोंके मध्य इस रागात्मक सम्बन्धकी प्रतिष्ठा पूर्ण तभी हो सकती है, जब माता और पुत्र अपने-अपने आदर्शोंपर अडिग रहें। अतः यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि वैदिक विवेचनके अनुसार वह माता भूमि कैसी है और उसके पुत्र कैसे होने चाहिये? तदनुसार पहले भूमिमाताका स्वरूप विचारणीय है।

माताका सर्वप्रमुख दायित्व होता है अपनी संतानको जन्म देना और फिर अपने अङ्कमें आश्रय देना तथा उसका पालन-पोषण करना। इस धरतीमाताके पुत्र इसीपर जन्म लेते हैं, इसीकी गोदमें चलते-फिरते हैं[४] और इसीपर उगनेवाला अन्न खाकर इसके पुत्र जीवित रहते हैं[५] इसलिये यह उनकी विशाल आधारस्थली है[६] तथा पोषयित्री भी है। जैसे माता अपने पुत्रोंको दूध पिलाकर उनका लालन-पालन करती है, वैसे ही धरतीमाता अपने पुत्रोंको अन्न-जल-दुग्ध देकर उनका पोषण करती है। अतः अथर्वा ऋषिने बड़े स्नेह एवं अधिकारसहित भूमिमाँसे प्रार्थना की है कि वह अपना पवित्र पय हम पुत्रोंको दे[७]।

जैसे ममतामयी माता अपने सब पुत्रोंको समान रूपसे चाहती है तथा कुपुत्रके लिये भी अपनी ममता और वात्सल्यमें कमी नहीं आने देती, वैसे ही यह धरती संसारपर रहनेवाले सभी मनुष्योंकी समान संरक्षिका है। इसपर भाँति-भाँतिके लोग रहते हैं, जो भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते हैं, अलग-अलग धर्मोंका पालन करते हैं, किंतु यह पृथ्वी उन सबका एक ही घर है[८]। ऋग्वेदमें भी कहा गया है कि भूमिको माता माननेवाले सब मनुष्योंमें न कोई ज्येष्ठ है, न कनिष्ठ और न ही कोई मध्यम है, उन सबका दर्जा समान है। वे सब अपने ऊपर आयी आपत्तियोंको भेदकर ऊपर उठनेवाले हैं[९]। यह भूमि अपने भले-बुरे पुत्रोंमें भी भेदभाव नहीं करती, वे दोनों इसके मार्गोंपर विचरण करते हैं[१०]। दोनों प्रकारके मनुष्य इसी धरतीपर जन्म लेते हैं और यह विशालहृदया भूमि माताके समान उन दोनोंका भार, यहाँतक कि उनका निधन भी सहन करती है[११]— यह इसकी सहनशीलताकी पराकाष्ठा है।

अतः यह भूमि ऐसी उदारशीला माता है, जो अपने सभी पुत्रोंका सर्वविध कल्याण करती है। इसीलिये जैसे पुत्र अपनी मातासे निःसंकोच बहुत कुछ माँगनेका अधिकार रखता है, वैसे ही अथर्वा ऋषिने पृथिवीसे अनेक प्रकारकी वस्तुएँ माँगी हैं, यथा—तेज, बल[१२], वृद्धि[१३], समृद्धि[१४], आयु और मङ्गल[१५]। यहाँ ऋषिने

१-'ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृत·····। (अथर्व० १२।१।२९)।
२-'त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः' (अथर्व० १२।१।१५)।
३-'सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा' (अथर्व० १२।१।९)।
४-'त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः' (अथर्व० १२।१।१५)।
५-'भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः' (अथर्व० १२।१।२२)।
६-'आवपनी जनानाम्' (अथर्व० १२।१।६१)।
७-'सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः' (अथर्व० १२।१।१०)।
८-'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्' (अथर्व० १२।१।४५)।
९-'ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदो ऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥' (ऋक्० ५।५९।६)।
१०-'यैः संचरन्त्यभये भद्रपापाः' (अथर्व० १२।१।४७)। ११-'भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः' (अथर्व० १२।१।४८)।
१२-'सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे' (अथर्व० १२।१।८)।
१३-'सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना'॥ (अथर्व० १२।१।१३)।
१४-'सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे' (अथर्व० १२।१।४०)।
१५-'सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु'॥ (अथर्व० १२।१।२२) तथा 'यच्छिवं तेन नो मृड'॥ (अथर्व० १२।१।४७)।

स्वयंको पुत्र और पृथिवीको श्रद्धास्पदा, मूर्तिमती माताके रूपमें मानकर उसकी स्तुति की है और अटल विश्वासके साथ उसके समक्ष इतनी सारी प्रार्थनाएँ रख दी हैं, क्योंकि उसे विदित है कि माता भूमि अपने पुत्रको निराश नहीं करेगी। अन्यत्र पृथिवीको धेनुरूपमें मानकर और उससे धन-धान्यरूपी दुग्धको सहस्रों धाराओंमें दुहनेकी इच्छा व्यक्त करते हुए भी ऋषिने माताकी उदारता एवं पुत्रवत्सलता ही प्रकट की है[१]।

भूमिमाता 'विश्वरूपा' है—इसके अनेक रूप हैं, किंतु फिर भी यह 'ध्रुवा' है[२], क्योंकि इसकी ध्रुवता धर्मके द्वारा धारित है[३]। जैसे माता सदा अपने धर्मपर टिकी रहती है, वैसे ही माता भूमि अपने धर्मपर अविचल, अखण्डित है, इसीलिये इसे 'अदिति' कहा जाता है, जो कभी क्षीण नहीं होती और अपने पुत्रोंकी सब कामनाएँ पूर्ण करती है, अतः यह '**कामदुघा**' कही गयी है[४]।

अब प्रश्न उठता है कि ऐसी ममत्वशीला, सर्वसहा, ध्रुवा एवं उदारहृदया माता धरित्रीके पुत्र कैसे होने चाहिये? माताके प्रति अनुराग एवं सेवाभाव पुत्रका सहज, स्वाभाविक धर्म है, अतः वेदमन्त्रोंमें इस विषयमें भी सनातन संदेश दिया गया है, जो निम्नलिखित है—

(क) 'पृथिवी-सूक्त' के प्रथम मन्त्रमें ही कहा गया है कि पृथिवी-पुत्रोंके ये छः गुण इस धरतीके धारक तत्त्व हैं—महान् सत्य, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ज्ञान और यज्ञ[५]। इन्हीं तत्त्वोंसे संसारकी व्यवस्था सुचारुरूपसे चलती है और पृथ्वी अपने केन्द्रपर स्थिर रह पाती है। ऋग्वेदमें भी कहा गया है कि भूमि सत्यपर ही टिकी हुई है[६]। ऋतको भी वेदोंमें अनेक प्रकारकी शान्तिका तथा व्यवस्थाका स्रोत माना गया है[७]। इसलिये ऋतकी जड़ोंको सुदृढ़ रखना भी हम मनुष्योंका ही कर्तव्य है। व्रत या संकल्पकी एकाग्रता निष्ठाको दीक्षा[८] कहते हैं और मन तथा इन्द्रियोंकी विजयको तप कहा जाता है[९]। इन सब तत्त्वोंका सम्यक् ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) होनेपर ही मनुष्य दान और त्यागके महत्त्वको समझ सकता है, वही यज्ञ है।

अतः पृथिवीके पुत्रोंको इन षड्गुणोंसे सदा सम्पन्न होना चाहिये, तभी पृथिवीकी 'श्री' एवं 'महिमा' अक्षुण्ण रह सकेगी, यह अथर्वा ऋषिका महान् उद्घोष है।

(ख) भूमिपर भाँति-भाँतिके लोग रहते हैं और वे सब उसके पुत्र हैं, किंतु वह भूमि प्रथित और समृद्ध तभी होती है, जब उसके मननशील—विवेकी पुत्रोंमें नीचता-उच्चता रहनेपर भी परस्पर 'असम्बाध[१०]' अर्थात् अविवाद या ऐक्य रहता है। इसी संदर्भमें ऋग्वेदका वह मन्त्र भी उद्धरणीय है, जहाँ कहा गया है कि ऐसे समान विचारवाले मनुष्य परस्पर भाई होते हैं और मिल-जुलकर अपने धनको बढ़ानेके लिये प्रयत्न करते हैं[११]।

वस्तुतः मातृभूमिके वत्सल पुत्रोंको अपनी मानवता, मननशीलताके द्वारा आपसमें मैत्रीभावसे रहना अनिवार्य है, तभी पृथिवी विविध स्वास्थ्यवर्धक वनस्पतियोंको जन्म देती है और अपने पुत्रोंको समृद्ध-सम्पुष्ट बनाती है, इसमें संदेह नहीं।

१-'सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती'॥ (अथर्व० १२।१।४५)।
२-'विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं……' (अथर्व० १२।१।११)।
३-'ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्' (अथर्व० १२।१।१७)।
४-'अदितिः कामदुघा पप्रथाना' (अथर्व० १२।१।६१)।
५-'सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति' (अथर्व० १२।१।१)।
६-'सत्येनोत्तभिता भूमिः' (ऋक्० १०।८५।१)।
७-ऋक्० (४।२३।८-९)।
८-'व्रतेन दीक्षामाप्नोति……' (यजु० १९।३०)।
९-'मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं परमं तपः।'
१०-'असंबाधं बध्यतो मानवानां……' (अथर्व० १२।१।२)।
११-'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय' (ऋक्० ५।६०।५)।

(ग) भूमिमाताके पुत्र आपसमें एकतासे रहें, इसके लिये अपेक्षित है कि उनमें परस्पर द्वेषकी भावना न हो। यही कारण है कि एक मन्त्रमें पृथिवीसे ही यह प्रार्थना की गयी है कि जो कोई हमसे द्वेष करे, उसे तू नष्ट कर दे[१]। अथर्वा ऋषिने अन्यत्र भी अनेकशः यह कामना की है कि हममेंसे कोई भी किसीसे द्वेष न करे[२]। वेदका यही संदेश अन्यत्र भी मुखरित हुआ है, जहाँ यह कहा गया है कि सब मनुष्योंमें परस्पर सहृदयता, सांमनस्य और अविद्वेष रहना चाहिये[३]। जब सबकी माता एक ही है, तब उस सुखदायिनी माता भूमिके पुत्रोंमें स्नेह और सांमनस्यका होना स्वाभाविक एवं काम्य ही है।

(घ) पृथिवी माता पयस्वती, मधुमती एवं सुरभि हैं; उसकी सुगन्ध सर्वत्र व्याप्त है—पुरुषोंमें, स्त्रियोंमें, कन्याओंमें, पशुओंमें और पुष्पोंमें[४]। अतः यह प्रार्थना की गयी है कि उसके पुत्रोंके जीवन भी सुरभित हों और मधुसिक्त हों। ग्रामोंमें, अरण्योंमें, सभाओंमें और समितियोंमें—सर्वत्र अपनी भूमिमाताके विषयमें वे सुन्दर वचन बोलें[५]। हम जो भी बोलें, वह मधुर ही बोलें और जो भी देखें, वह हितकर ही देखें[६]। वास्तवमें परस्पर मैत्री और अविद्वेषका सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये मधुरभाषिता अतीव आवश्यक है, अतः यह कामना की गयी है कि धरती-माता अपने पुत्रोंकी वाणीमें मधुरताको धारण कराये[७]। परस्पर माधुर्यभरी वाणी बोलनेसे पृथिवी-निवासियोंमें सौहार्द समुद्भूत होगा और वे सब एक-दूसरेके स्नेही मित्र बनकर रहेंगे।

(ङ) ऐसे स्नेह-बन्धनमें बँधे हुए, व्यवहारकुशल मनुष्य ही 'देव' कहलाते हैं[८] तथा अपनी माता भूमिकी सम्पदाके संरक्षण-हेतु सतत सावधान और समुद्यत रहते हैं; उन्हें ही यह धरती अपने वक्षमेंसे मधुर और हितकर प्रिय पदार्थ दुहने देती है[९]। ऐसे जागरूक एवं अप्रमत्त रहनेवाले विद्वान् पुत्रोंकी सतत साधनासे ही यह मातृभूमि सुरक्षित रह पाती है तथा उन्हें ही यह तेजस्वी बनाती है, क्योंकि उन्होंने ही अपने बुद्धिकौशलसे इसकी सेवा करके इसके दिव्य हृदयकी थाह पायी है[१०]। वे ही इसके नाभिस्थ केन्द्रमें विद्यमान बलयुक्त पदार्थोंका पोषण प्राप्त कर इसके सच्चे 'पुत्र' बनते हैं।

(च) मातृभूमि सुखदायिनी (स्योना) और कल्याणकारिणी (शिवा) बनी रहे, इसके लिये यह भी अपेक्षित है कि उसके पुत्रोंका चरित्र पवित्र हो। जैसे धरतीपर बहनेवाला शुद्ध जल मनुष्य-शरीरको स्वच्छ बनाता है, उसी भाँति आचरणकी शुद्धता उनके हृदयको निर्मल करती है। अतः ऋषिकी कामना है कि जितने भी अशुद्ध, अप्रिय आचरण हैं, वे समाप्त हों और हम पवित्र बनें[११]।

(छ) ऐसे पुनीत आचरणवाले पुत्र सदा अपनी मातृभूमिके लिये सेवा एवं अनुसरण करनेको तत्पर रहते हैं[१२] और माता भूमि भी उन्हें तीक्ष्ण एवं

१-(अथर्व० १२।१।१४)।
२-'मा नो द्विक्षत कश्चन॥' (अथर्व० १२।१।२३—२५)।
३-'सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः' (अथर्व० ३।३०।१)।
४-'अथर्व० (१२।१।२३—२५)।
५-'(अथर्व० १२।१।५६)।
६-'यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा' (अथर्व० १२।१।५८)।
७-'वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्' (अथर्व० १२।१।१६)।
८-'दीव्यन्ति विविधं व्यवहरन्ति इति देवा व्यवहारकुशलाः प्रजाः।'......'विद्वांसो ह वै देवाः' (शतपथ०)।
९-'यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥' (अथर्व० १२।१।७)।
१०-अथर्व० (१२।१।८)।
११-'पवित्रेण पृथिवी मोत् पुनामि' (अथर्व० १२।१।३०)।
१२-'शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा'॥ (अथर्व० १२।१।१७)।

कान्तिमान् बनाती है[१]। सेवाभावी पुत्रोंको माँका आशीर्वाद अधिक मात्रामें सुलभ होता है और वे दीर्घायु तथा सम्पन्न होते हैं, यह तो अनुभवसिद्ध तथ्य है। इसी बातको अथर्वा ऋषिने इन शब्दोंमें व्यक्त किया है कि पृथिवी माता शुद्ध करनेवाली 'विमृग्वरी' है, इसलिये यह सर्व-प्रकृतिके कुटिल पुत्रोंसे परे रहती है; वह 'इन्द्र' का या ऐश्वर्यशालीका वरण करती है, 'वृत्र' या उन्नतिके रोधक पापी पुरुषोंका नहीं[२]।

(ज) माता भूमिमें अद्भुत धारण-क्षमता और सहनशीलता है, वह अपने भीतर अथाह सागर, नदियाँ, भारी पर्वत, विशाल नगर, भयंकर जीव-जन्तु, उनसे संकुल वन, अग्नि, और वायु—इन सब तत्त्वोंको धारण करती है तथा अपने ऊपर होनेवाले युद्ध, नृत्य, यज्ञ, तप, सर्दी-गर्मी[३] आदि सभी ऋतु-परिवर्तनोंको सहन करती है, फिर भी अक्षुण्ण-अविचल बनी रहती है। अतः स्वाभाविक ही है कि उसका पुत्र भी सहनशील, उत्कृष्ट कीर्तिमान्, पराक्रमी, सब ओरसे विरोधी शक्तियोंका पराभव करनेवाला और सब दिशाओंमें विजय प्राप्त करनेवाला होना चाहिये[४]।

(झ) स्पष्ट है कि ऐसा श्रेष्ठ, विवेकी और 'अथर्वा[५]' (अकम्प)-पुत्र अपनी मामाके लिये सर्वस्व बलिदान करनेको तत्पर रहता है[६], क्योंकि वह उस माँके अगणित उपकारोंके प्रति कृतज्ञ है। इसलिये कृतज्ञता पृथिवी-पुत्रका सबसे बड़ा गुण है, क्योंकि ऐसे कृतज्ञ पुत्र ही 'मातृमान्' होते हैं तथा उन्हें ही माता भूमिके गर्भमें निहित निधियोंका वरदान मिलता है[७]।

इस भाँति माता भूमि और उसके श्रेष्ठ पुत्रोंके बीच जब परस्पर भावात्मक सम्बन्ध स्थिर होता है, तब उन्नति और समृद्धिके सुअवसर स्वयमेव समुपस्थित हो जाते हैं। जब भूमि माताके समान 'सुमनस्यमाना' होती है और उसके पुत्र अपनी पोषयित्री पृथिवीके प्रति श्रद्धावान् होते हैं, तभी यह प्रार्थना[८] सार्थक होती है कि—'हे माता भूमि! मुझे भलीभाँति प्रतिष्ठित करो! हे गतिशीले! तुम स्वयं प्रकाशसे संयुक्त रहो और मुझमें भी शोभा तथा ऐश्वर्य धारण कराओ'—

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥

(अथर्व० १२।१।६३)

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥

(श्वेताश्वतर० २।१४)

जिस प्रकार दर्पण श्वेत मिट्टी (चूने)-से माँजनेपर शुद्ध होकर प्रकाशयुक्त हो चमकने लगता है, उसी प्रकार जीव अद्वितीयरूपसे आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करके शोकरहित और कृतार्थ हो जाता है।

१-'त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु॥' (अथर्व० १२।१।२१)।

२-'याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी·····।' 'इन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्॥' (अथर्व० १२।१।३७)।

३-अथर्व० (३९, ४१, ३६)।

४-'अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः'॥ (अथर्व० १२।१।५४)।

५-'थर्वति गतिकर्मा, न थर्व इति अथर्वा'।

६-'वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम' (अथर्व० १२।१।६२)।

७-'भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः'॥ (अथर्व० १२।१।६०)।

८-अथर्व० (१२।१।६३)

वैदिक राज्यशासन

[हिंदुओंकी प्राचीन राज्यशासन-व्यवस्था]

(पं० श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर, वेदाचार्य, साहित्यवाचस्पति, गीतालङ्कार)

१-श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त धर्म

हिंदू सदासे अपना धर्म श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त मानते आये हैं और अपनी समाजव्यवस्था तथा शासनसंस्था भी उसी प्रकार समझते हैं। इसलिये हिंदुओंकी प्राचीन राज्यशासन-व्यवस्थाका अर्थ श्रुतिके द्वारा प्रतिपादित राज्यशासन-व्यवस्था ही है। श्रुतिका अर्थ वेद और वेदमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्के समावेश-परम्पराको माननेवालोंकी दृष्टिसे होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेदका ब्राह्मण है और वह महीदासकी रचनासे प्रसिद्धिमें आया है। इसमें वैदिक धर्मियोंकी शासनविषयक एक घोषणा है, जो यहाँ देखने योग्य है—

२-ऋषियोंकी घोषणा

स्वस्ति। साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यं आधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात्, सार्वभौमः सार्वायुधः आन्ताद् आ परार्धास्तु, पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराड् इति॥ (ऐ० ब्राह्मण)

—इस मन्त्रमें ऋषियोंकी तपस्यासे उस समय जितने राज्यशासन प्रचलित हुए थे, उनकी गणना इस प्रकार है, जैसे—साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, महाराज्य, आधिपत्यमय, समन्तपर्यायी। इन आठ प्रकारके राज्योंके उल्लेखके अतिरिक्त जनराज्य, (जानराज्य), गणराज्य और राज्य—इनका भी वर्णन वेदमें है। संहितामें केवल थोड़ा-सा उल्लेख ही आता है; पर किस प्रकारका राज्य भारतवर्षके किस भागमें अथवा भारतवर्षके बाहर भी किस दिशामें था, इसका स्पष्ट उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थोंमें है अर्थात् यह एक इतिहासकी घटना है, केवल कवि-कल्पना नहीं है।

उक्त मन्त्रमें जिन आठ राज्योंका उल्लेख है, उनका स्वरूप हम आगे देखेंगे; परंतु इसमें जो ऋषियोंकी घोषणा है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतएव सबसे पहले उस घोषणापर विचार करना आवश्यक है। वह घोषणा यह है—

पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराड्।

'समुद्रपर्यन्त जहाँतक पृथ्वी है, उस सम्पूर्ण भूभागका एक ही आर्य राजा हो।' सम्पूर्ण पृथ्वी एक ही वैदिक शासनसे शासित हो। सम्पूर्ण पृथ्वीपर एक ही आर्य-राज्य हो और पूरी पृथ्वीपर एक ही आर्य-परिवार—'**वसुधैव कुटुम्बकम्**'—हो। '**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**' इस ऋग्वेदके वचनका यही स्पष्ट अर्थ है। यह था ऋषियोंका ध्येय। ऋषि इस महान् ध्येयको सत्यतापूर्वक सृष्टिमें लानेके लिये यत्न करते थे, परंतु यह ध्येय इस समयतक सत्यरूपमें सृष्टिमें उतरा नहीं है; इतना ही नहीं, प्रत्युत आर्योंका—हिंदुओंका—भारतवर्षियोंका संकोच ही होता चला आया है।

३-हिंदुओंका संकोच

संक्षेपसे ही देखिये—कैलास पर्वत पौराणिक युगमें हमारा था, वह आज नहीं रहा। गान्धार देश भारतवर्षके साम्राज्यमें था, वह आज नहीं है। इस समय तो सिंधु नदी भी भारतराज्यमें नहीं रही! गत सहस्रों वर्षोंसे लगातार हमारा संकोच हो रहा है। हम अपनी समाज-व्यवस्थाकी कितनी भी प्रशंसा करें, पर आर्योंके राज्य-क्षेत्रका संकोच हो रहा है—इसमें संदेह नहीं है।

ऋषियोंकी घोषणा तो सम्पूर्ण समुद्रवलयाङ्कित पृथ्वीका एक आर्य सम्राट् बनानेकी और सब भूमि वैदिक शासनसे शासित करनेकी थी। वे स्वर्गसे हमारे संकोचको देखते ही होंगे और अपने अन्तःकरणमें तड़पते ही होंगे। क्या होना चाहिये था और क्या हो रहा है।

इस समय विश्वकी समस्या-समाधानहेतु 'राष्ट्रसंघ' स्थापित है, पर इसका कार्य सर्वथा स्वार्थपूर्ण है। इसके विषयमें यहाँ अधिक न लिखना ही अच्छा है, परंतु वह ऋषियोंका ध्येय कदापि नहीं है। तपस्वी ऋषियोंका ध्येय तो संयममय ही हो सकता है। अब हम देखेंगे कि पूर्वोक्त मन्त्रमें जो इतने राज्यशासन कहे गये हैं, उनका ध्येय और स्वरूप क्या है—

१-साम्राज्य—सबसे प्रथम साम्राज्य है, पर यह आजकलके साम्राज्य-जैसा राक्षसी साम्राज्य नहीं।

उदाहरणरूपमें हम यहाँ दो ही साम्राज्योंको उल्लेख करते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराजने रावणके साम्राज्यका नाश किया, परंतु रावणके राज्यको अपने राज्यमें नहीं मिलाया। रावणके राज्यको उसके भाई विभीषणके अधीन करके उसे 'आर्य-विधान' (Aryan consitution) देकर तथा इस आर्य-विधानके अनुसार अपना राज्यशासन चलानेकी आज्ञा करके वे स्वयं वापस आ गये और अयोध्यामें अपना राज्य करने लगे। शत्रुको परास्त करना और उसे आर्य-विधान देना—प्राचीन कालमें इतना ही साम्राज्यका अर्थ था। भगवान् श्रीरामचन्द्रने लंकाकी लूट नहीं की थी। वे तो लंका नगरमें गये भी नहीं। आर्य-विधान देकर विभीषणको पूर्ण स्वतन्त्रता दी, परंतु आर्य-विधानसे बाहर न जाने योग्य उन्हें आज्ञाङ्कित करके रखा। किसीके स्वातन्त्र्यका अपहरण करनेकी नीति उस समय नहीं थी।

रावणका साम्राज्य उस समय अत्यन्त ही निकृष्ट समझा जाता था। रावणने राजाओंको परास्त किया था, लूटा भी था, उनकी स्त्रियोंका हरण भी किया था; परंतु जो स्त्री रावणपर अनुरक्त होती थी, उसीको वह अपने अन्तःपुरमें रखता था। इसीलिये वाल्मीकि मुनिने लिखा है कि जो रावणपर अनुरक्त न हुई हो, ऐसी एक भी स्त्री उसके अन्तःपुरमें सती सीतादेवीको छोड़कर दूसरी नहीं थी। आर्योंकी और ऋषि-मुनियोंकी दृष्टिमें रावण बुरे-से-बुरा था; पर उसने भी दूसरोंके राज्योंका हरण नहीं किया। इस रावणमें दूसरे राज्योंको लूटना, स्त्रियोंका अपहरण करना और उनको वशमें करके अन्तःपुरमें रखना—ये दोष अवश्य थे, जो ऋषियोंको असह्य हुए थे।

इसके पश्चात् हम देखते हैं कि मुसलमानोंने साम्राज्य स्थापित किये, अंग्रेजोंने किये, पोर्तुगीज आये। इन सबोंने राज्योंका हरण किया, स्त्रियोंपर अत्याचार किये, लूट की, पराजितोंको बुरी तरहसे दबाकर रखा। ये सब बातें इतिहासमें प्रसिद्ध हैं। इनको यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं।

आजका 'साम्राज्यवाद' और प्राचीन ऋषि-मुनियोंकी 'साम्राज्यकी कल्पना'—इन दोनोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। हम यहाँ जिस 'साम्राज्य' शब्दका प्रयोग कर रहे हैं, वह ऋषियोंका शब्द है, 'आधुनिक साम्राज्यवाद' का नहीं।

ऋषियोंके साम्राज्यमें एक समर्थ राजाके द्वारा दूसरे अनेक राजाओंको परास्त करना, उनको अपना माण्डलिक बनाना और उनको 'आर्य-विधान' देकर इस विधानके अनुसार अपना राज्य चलानेका आदेश देना—इतना ही होता था। मुसलमानों और ईसाइयोंके 'आधुनिक साम्राज्यवाद' में क्या होता था, वह भारतवर्षके गत इतिहाससे प्रसिद्ध है। अस्तु, ऋषियोंका सुसंयत साम्राज्य था। इसमें पराजितोंपर किसी प्रकारके अत्याचार नहीं होते थे, परंतु पराजितोंकी उन्नति करनेके लिये उनको अधिक उत्तम शासन-विधान दिया जाता था।

२-भौज्य—यह दूसरा राज्य-शासन है। इसके मुख्यतः दो अर्थ होते हैं। **'भु-ज'**—अर्थात् पृथ्वीकी नैसर्गिक मर्यादाओंसे परिवेष्टित राज्य। जिस तरह भारतवर्ष उत्तरमें हिमालयसे तथा दक्षिणमें समुद्रसे वेष्टित है। अतः यह 'भौज्य' है। चूँकि इस देशके लिये निसर्गकी मर्यादा है, अतः यहाँका राजा इतने ही भू-विभागपर राज्य करे और बाहरके देशोंपर आक्रमण न करे। इंग्लिस्तान समुद्रसे मर्यादित है, इसलिये अंग्रेज उतने ही टापूमें रहें। इस तरह कई ऋषियोंने 'भौज्य'के नियम निर्धारित किये थे। 'भौज्य'का दूसरा अर्थ जो दूसरे ऋषिमण्डलसे निर्धारित हुआ था, वह था '**भुज पालनाभ्यवहारयोः**' (To protect and govern)— 'प्रजाका भोजन-प्रबन्ध करना और उनको सुरक्षित रखकर उनपर राज्य करना।' इस अर्थमें प्रजाको खानेके लिये पर्याप्त अन्न, ओढ़नेके लिये पर्याप्त वस्त्र और रहनेके लिये सुखदायी घर देने तथा उनकी अन्तर्बाह्य सुरक्षिता सम्पन्न करनेका भार राज्य-शासनपर आता है। राजा जितनी प्रजाका भार उठा सके, उतनी ही प्रजापर वह राज्य कर सकता है। इस अर्थमें भी कुछ स्वारस्य है।

इसके पश्चात् 'स्वाराज्य'-शासनका विधान है, पर अपने विषयकी सुबोधताके लिये हम इसका विचार अन्तमें करेंगे। अतः अब 'वैराज्य' का विचार करते हैं—

३-वैराज्य—(विगतराजकं वैराज्यम्) जिसमें कोई राजा नहीं होता, सब जनता ही मिलकर अपना शासन चलाती है। कोई एक राजा, शासक, नियामक, अध्यक्ष अथवा प्रधान नहीं होता। सम्पूर्ण जाति एक स्थानपर

जमा होती है और निर्णय करती है, उस निर्णयका पालन वे लोग करते हैं। भारतवर्षमें ऐसी अन्य जातियाँ भी हैं, जो इस 'वैराज्य'-के अवशेषको आज भी बताती हैं। इसमें दोष यह है कि इस प्रकारका शासन बहुत बड़े भू-भागपर नहीं हो सकता। छोटे-छोटे स्थानोंपर थोड़ी संख्यामें चलनेवाला यह शासन है। अथर्ववेदमें कहा गया है—

विराट् वा इदमग्र आसीत्।

(८।१०।१)

'प्रारम्भमें राजा अथवा शासक नहीं था।' इसीका नाम 'वैराज्य' है। जिसमें सारी जनता, अपने प्रतिनिधियोंद्वारा नहीं, अपितु स्वयं जो अपना प्रबन्ध करती है, वह 'वैराज्य' कहलाता है। यह मानव-समाजकी प्रारम्भिक अवस्थामें ही होना स्वाभाविक था और वैसा ही था।

इसके पश्चात् 'पारमेष्ठ्य-राज्य' का नाम है। इसका विचार भी हम लेखके अन्तमें करेंगे।

४-महाराज्य—जिस राज्यमें अनेक छोटे-छोटे राज्य स्वकीय इच्छासे एक होते हैं और एक विधानके अंदर अपने-आपको रखते हैं, वह 'महाराज्य' कहलाता है। इसमें किसीपर जबर्दस्ती या आघात नहीं, परंतु इसमें सबका लाभ ही है। जगत्की स्पर्धामें छोटे-छोटे राज्य रह नहीं सकते, इसलिये उनका परिवर्तन 'महाराज्य' में होना युक्त ही है; इसी तरह परिवर्तन होते-होते समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका एक विशाल 'महाराज्य' हो सकता है और यदि इसमें स्वार्थ न बढ़ा, तो सबको अत्यन्त सुख भी मिल सकता है।

५-आधिपत्यमय—पति और अधिपति—ये राज्यके अधिकारियोंके नाम हैं। इनकी सम्मतिसे जो राज्य चलता है, वह 'आधिपत्यमय' राज्यशासन है। अंग्रेजीमें इसका नाम 'ब्यूरोक्रेसी' है। स्वार्थ बढ़ जानेके कारण आज इसका बहुत ही घृणित अर्थ हो गया है। पाठक उस घृणित भावको इसमें न देखें और इतना ही समझें कि इसमें राज्याधिकारियोंके अधीन ही शासन-तन्त्र रहता है।

६-समन्तपर्यायी—(सामन्तपर्यायी राज्य) जो राज्य-शासन सामन्तोंके अधीन रहता है, उसका यह नाम है। सामन्त माण्डलिक राजाओंका नाम है। उनके अधीन यह राज्य-शासन रहता है। एक आर्य-विधानके अनुसार जो सामन्त राज्य करेंगे, उनका शासन इतना निन्दनीय नहीं हो सकता। भरत और भगवान् रामचन्द्रके अधीन भी अनेक सामन्त थे; पर उनके होते हुए भी वह 'रामराज्य' कहलाया और इस समयतक उसकी प्रशंसा गायी जा रही है। आज तो यह सामन्त-मण्डलका राज्य भी संकीर्ण, स्वार्थपरक घृणित अर्थोंमें दूषित हो गया है।

७-पारमेष्ठ्य-राज्य—परमेष्ठी नाम प्रजापतिका है। परमेश्वरका यह नाम है। सबपर परमेश्वरका राज्य-शासन है, यह जानकर इसके अनुकूल अपना राज्य-शासन चलाना है। सामन्त-राज्य हो अथवा अधिपति-मण्डलका राज्य हो, यदि वे पारमेष्ठ्य-राज्यको सर्वोपरि मानकर अपना राज्य चलायेंगे तो वह निर्दोष हो सकता है।

वैदिक समयमें ऐसा ही होता था। सब आर्य एक वेदानुशासनके नीचे रहकर पारमेष्ठ्य-राज्यको सर्वोपरि मानकर अपना कर्तव्य निष्काम भावसे करते थे। इसलिये मानवी स्वार्थके कारण जिन दोषोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना है, वे दोष उस शासनमें नहीं होते थे।

४-स्वाराज्य-शासन

स्वाराज्य—(स्वराज्य) स्वराज्य-शासन भी वैदिक समयका एक उत्तम राज्य-शासन है। आज भी इसी स्वराज्यका प्रयोग हम करते हैं, परंतु यह 'स्वाराज्य' है और आजकलका 'स्व-राज्य' है। इस स्वरभेदको पाठक स्मरण रखें। इस स्वरभेदके कारण जो विधान-भेद और अनुशासन-भेद होता है, वह बड़ा भारी है। यहाँ उसका परिपूर्ण विवरण करनेके लिये स्थान नहीं है, परंतु संक्षेपसे 'स्वाराज्य' में 'स्व' की शुद्धिपर अधिक ध्यान दिया जाता है और 'स्व-राज्य' में राज्य-शासनके अधिकार अपने अधीन रखनेके लिये विशेष यत्न होता है।

५-आत्मशुद्धि या अधिकारमद

पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इससे राज्य-शासनमें आकाश-पातालका अन्तर हो जाता है। 'स्वा-राज्य' में 'स्व' की शुद्धता, पवित्रता और निर्दोषता रखने अथवा करनेका यत्न होता है और ऐसे संयमी पुरुष ही राज्याधिकारपर रखे जाते हैं; इसलिये सम्पूर्ण राज्य-शासन परिशुद्ध रहता है। रिश्वतखोरी, दम्भ, असत्य, लोभ, अधिकारलिप्सा आदि उक्त 'स्वा-राज्य'-शासनतन्त्रमें नहीं रहते।

परंतु जो 'स्व-राज्य' है, उसमें 'स्व' की शुद्धिकी उपेक्षा और 'राज्य' तन्त्रकी शक्तिसे स्वकीयोंके सुखका संवर्धन करनेका प्रयत्न होता है, इसलिये गुटबंदी उत्पन्न होती है। एक गुट दूसरे गुटको दबानेका प्रयत्न करता

है और सर्वत्र संघर्षका वायुमण्डल बढ़ता जाता है। आजकल हम सर्वत्र यही देख रहे हैं। जनतन्त्रमें राज्य-शासन करनेकी घोषणाएँ तो होती रहती हैं, पर अंदर-अंदरसे अपने गुटोंको संवर्धित करना और दूसरोंको दबाना ही सब देशोंमें चल रहा है। अपना भारत देश भी आज इसी मार्गपर चल रहा है; इसका आदर्श इस समय 'आर्य-आदर्श' नहीं है, यूरोप-अमेरिकाके विधानको ही इसने अपना आदर्श मान रखा है। आर्य-विधानका इसको पता ही नहीं और जो बल महात्मा गाँधीजी 'आत्मशुद्धि' पर देते थे तथा जिस प्रकार अधिकार-ग्रहणसे दूर रहते थे, वह भाव अब दूर होता जा रहा है। इससे 'स्वा-राज्य' और 'स्व-राज्य' का भाव ठीक तरहसे पाठकोंके ध्यानमें आ जायगा। 'स्वा-राज्य' शासन वह है जिसमें परिशुद्ध-पवित्र, धर्मनिष्ठ, निष्पक्ष-निष्काम पुरुषोंके अधीन शासनाधिकार रहते हैं; और 'स्व-राज्य' शासन वह है, जिसमें अपने लोगोंके अधीन राज्य-शासन रहता है और वैयक्तिक परिशुद्धतापर कोई सच्चा बल नहीं दिया जाता।

'स्वराज्य' का यह भाव पाठक ध्यानमें धारण करें **'स्वराज्यमेव स्वाराज्यम्'**—'स्वराज्य' ही 'स्वाराज्य' है; परंतु इसमें आत्मशुद्धिपर विशेष लक्ष्य रहता है।

संक्षेपमें स्वराज्यकी वैदिक कल्पना इस विवरणसे पाठकोंके ध्यानमें आ सकती है। उन दिनों यम-नियमोंका पालन—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिकी शिक्षा प्रारम्भसे ही—विद्यार्थी-दशामें ही दी जाती थी। गुरुगृहमें रहकर लोग यम-नियमसम्पन्न हो जाते थे और राज्यशासनके अधिकारी समझे जाते थे। आज पाठशालाओंमें, विद्यालयोंमें, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयोंमें न तो यम-नियमकी शिक्षा है, न आत्मसंयमकी ओर ध्यान है और न निष्काम सेवाकी ही कल्पना है। सर्वत्र असंयम, भोगलालसा, इन्द्रियचरितार्थता, अर्थ-पैशाचिकता तथा घोरतम स्वार्थपरताका प्रसार हो रहा है। इसीलिये वैदिक समयमें 'स्व' की पूर्णतापर बल था और आज 'राज्य' की शक्तिपर बल है। इसी कारण प्राचीन समयमें 'राम-राज्य' बन सका; इस समय उसमेंसे 'राम' तो चला गया और केवल 'राज्य' ही हाथमें आ गया है।

अस्तु! अधिक विवरणकी आवश्यकता नहीं है। स्वाराज्य और स्वराज्य दोनों स्वराज्य ही हैं। दोनों जनराज्य ही हैं, पर एकमें व्यक्ति-सुधारपर बल दिया जाता है और दूसरेमें शासनशक्तिको अपने हाथमें रखनेपर बल दिया जाता है।

६-जानराज्य

वैदिक समयमें 'जान-राज्य' शब्द भी था। इसमें 'जान' अर्थात् जनताके सुधारपर बल है और दूसरा 'जनराज्य' है। इसमें राज्यव्यवस्थापर बल है। ये भी वैसे ही शब्द हैं और वैसा ही गम्भीर भाव बता रहे हैं। बोलनेमें जिस पदके जिस स्वरपर जोर दिया जाता है, वही पद उस वाक्यमें मुख्य भाव बतानेवाला होता है। स्वरशास्त्रका यह नियम जैसा वैदिक समयमें था, वैसा ही इस समय भी विद्वत्सम्मानित है। इसीलिये विधानसभामें 'स्व' पर जोर है अथवा 'राज्य' पर जोर है, यही देखना चाहिये। वैदिक समयमें जो स्वराज्य था, उसमें 'स्व' पर जोर था और आत्मशुद्धिका विचार प्रबल था। शिक्षाका प्रारम्भ ही आत्मशुद्धिसे होता था। यम-नियम पालन करनेवालोंको ही सब विद्याएँ प्राप्त होती थीं। आर्योंकी प्रणाली यही थी। असुरोंकी प्रणाली भोगप्रधान थी, जिसका विस्तार रावणराज्यके रूपमें हमें मिलता है। जिसको देखना हो, वह देखे।

७-स्वराज्यके अधिकारी

इस तरहसे वैदिक स्वराज्यकी यह परिशुद्ध कल्पना सदा वन्दनीय ही है। इसीलिये वैदिक समयके ऋषिगण भी स्वराज्य-शासनमें यत्न करते रहनेकी अभिलाषा रखते थे। अत्रिगोत्रके रातहव्य ऋषिका मन्त्र ही इस विषयमें देखिये—

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥

(ऋग्वेद ५।६६।६)

इस मन्त्रके **'स्वराज्ये'** पदके स्वर भी **'स्व-राज्ये'** ऐसे ही हैं। वेदमें सर्वत्र स्वराज्यके 'स्व' पर ही बल दिया गया है। अर्थात् जहाँ आत्मशुद्धिपर ही विशेष बल दिया जाता है, ऐसा यह स्वराज्य है। इस मन्त्रका मुख्य वाक्य यह है—

व्यचिष्ठे 'बहु'-पाय्ये 'स्व'-राज्ये आ यतेमहि।

'विस्तृत और बहुतोंद्वारा जिसका पालन होता है, ऐसे स्वराज्य-शासनमें हम जनताकी भलाईके लिये यत्न करते रहेंगे।'

यह तो इस मन्त्रभागका शब्दार्थ है। इसका विशेष अर्थ ध्यानमें लानेके लिये इस वाक्यके प्रत्येक शब्दपर विचार करनेकी आवश्यकता है।

व्यचिष्ठे (व्यचिष्ठ)—विस्तृत, व्यापक, सर्वतोगामी, संकुचित भाव जिसमें नहीं है, अर्थात् जो राज्य-शासन जनताके प्रत्येक मनुष्यको अर्थात् धर्मानुसार आचरण करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको सुख देनेका प्रयत्न करता है, अपना परिवार, अपनी जाति, अपने मतवाले आदिका पक्षपात जहाँ नहीं है, प्रत्येक वस्तुमें समानतया ईश्वरभाव देखकर जो व्यवहार होता है, उस असंकुचित व्यापक भावका नाम 'व्यचिष्ठ' है। वैदिक स्वराज्यमें पक्षान्धता, गुटबाजी आदि नहीं थीं, यह भाव इससे स्पष्ट हो जाता है।

बहु-पाय्ये (बहुपाय्य)—बहुतोंद्वारा बहुसम्मतिसे जिसका पालन होता है, वह शासन यहाँ अभीष्ट है। एकको सम्मतिसे कितना भी अच्छा शासन हुआ, तो भी वह अनेक आत्मसंयमी पुरुषोंके शासनसे अधिक अच्छा नहीं हो सकता; इसलिये बहुतोंकी सम्मतिसे पालित होनेवाला राज्य ही श्रेष्ठ होता है। स्वराज्यके शासनके लिये ही यह विशेषण वेदमें लगाया गया है।

इन दो विशेषणोंसे वैदिक 'स्व-राज्य' का अर्थ विशेष रूपसे स्पष्ट हो जाता है। जहाँ संकुचितताका भाव नहीं है और जहाँ बहुसम्मतिसे राज्यका संचालन होता है, वही 'स्वराज्य' है। जिसमें ऋषि लोग (**आ यतेमहि—**) 'हम अखिल मानवोंके हितार्थ प्रयत्न करेंगे', ऐसा भाव मनमें धारण करते थे। इस मन्त्रभागमें 'हम प्रयत्न करेंगे'—यह कहा गया है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यहाँके 'हम' कौन हैं? कौन राष्ट्रकल्याणका प्रयत्न कर सकते हैं? कौन राष्ट्रकल्याण करनेके सच्चे अधिकारी हैं? किनके प्रयत्नसे सचमुच राष्ट्रका कल्याण हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर इसी मन्त्रके पूर्वार्धमें दिया गया है।

८-राष्ट्रकल्याण कौन कर सकेंगे?

हे ईयचक्षसा मित्र सूरयः (एते) वयं स्वराज्ये आ यतेमहि।

'हे व्यापक दृष्टिवालो! हे मित्रत्वका व्यवहार करनेवालो! आप दोनों और हम सब विद्वान् मिलकर उक्त स्वराज्यमें सबके कल्याणके लिये प्रयत्न करेंगे।'

इस मन्त्रभागमें स्वराज्य-शासन चलानेके लिये कौन योग्य हैं, यह दिखलाया गया है—

(१) व्यापक दृष्टिवाले अर्थात् जिनमें संकुचित दृष्टि नहीं है, अपने पक्षवालोंका—अपनी जातिका ही हित करना और अपने पक्षसे भिन्न मतवालोंको कुचलना—यह दुष्टभाव जिनमें नहीं है, जो सबके हितकी व्यापक दृष्टि रखते हैं, उनका नाम '**ईयचक्षसा**' है। इनको व्यापक दृष्टिवाले कहते हैं। ये लोग स्वराज्य-शासन चलानेके अधिकारी हैं।

(२) दूसरे 'मित्रवत्' व्यवहार करनेवाले जनताके मित्र, जो सबका कल्याण करनेमें दत्तचित्त रहते हैं, जो कभी किसीसे द्वेष नहीं करते, वे 'मित्रवत्' व्यवहार करनेवाले स्वराज्य-शासन चलानेके अधिकारी हैं।

(३) तीसरे '**सूरयः**' अर्थात् ज्ञानी, सत्यज्ञानसे प्रकाशित होनेवाले विद्वान्, यथार्थ ज्ञान धारण करनेवाले—ये भी स्वराज्य-शासन चलानेके अधिकारी हैं।

इसका फलितार्थ यह हुआ—

स्वराज्यके अधिकारी

१-व्यापक दृष्टिवाले।

२-मित्रवत् व्यवहार करनेवाले।

३-ज्ञानी।

स्वराज्यके लिये अयोग्य

१-संकुचित दृष्टिवाले।

२-शत्रुता बढ़ानेवाले।

३-अज्ञानी।

जो स्वराज्यके लिये योग्य हैं, वे ही स्वराज्यमें शासक हो सकते हैं। अर्थात् वैदिक स्वराज्यमें व्यापक दृष्टिवाले, 'मित्रवत्' व्यवहार करनेवाले और ज्ञानियोंको ही अधिकारके स्थान प्राप्त हो सकते हैं; परंतु जो संकुचित दृष्टिवाले, शत्रुता करनेवाले और अज्ञानी हैं, उनको वैदिक स्वराज्यमें मताधिकार भी नहीं होगा।

९-सबको मताधिकार

आज हमारे नेता कह रहे हैं कि 'सभी वयस्क (१८ वर्षकी) आयुवालोंको इस स्वराज्यमें मताधिकार होगा।' अब आप देखिये कि इसमें यम-नियमकी कोई आवश्यकता नहीं है, व्यापक दृष्टिकी कोई योग्यता नहीं, मित्रवत् व्यवहार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँतक कि विद्याकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। देखिये वैदिक स्वराज्य और आजका स्वराज्य कैसा है—

वैदिक स्वराज्यके मताधिकारी

१-व्यापक दृष्टिवाले।
२-मित्रवत् व्यवहार करनेवाले।
३-ज्ञानी और विद्वान्।
४-आत्मसंयमी।

आजके स्वराज्यके मताधिकारी

१-केवल १८ वर्षकी आयुवाले।
२-सज्जन और दुर्जन।
३-विद्वान् और मूर्ख।
४-सबको मताधिकार।

वैदिक धर्मके स्वराज्यमें 'स्व' की उन्नतिपर ध्यान दिया जाता था; इसीलिये यम-नियम-पालन, व्यापक दृष्टि, मित्र-दृष्टि और सत्यज्ञानवालोंको ही मताधिकार दिया जाता था। आजके स्वराज्यमें 'राज्याधिकार' प्राप्त करना ही सबका लक्ष्य है, इसलिये केवल आयुकी ही मर्यादा रखी गयी है। यह महत्त्वपूर्ण भेद है वैदिक स्वराज्यमें और आजके स्वराज्यमें। यही स्वर-भेदसे 'स्वा-राज्य' अथवा 'स्व-राज्य' लिखा जाता है। पाठक ही विचार करें कि 'स्व' की शुद्धिपर बल देना चाहिये अथवा राज्यका शासनाधिकार ही केवल प्राप्त करना चाहिये। किससे जनताका सच्चा कल्याण हो सकता है?

१०-विश्व-कल्याणका ध्येय

वैदिक ऋषि जनताके सच्चे कल्याणका ही ध्येय अपने सामने रखते थे—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विद-
स्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं
तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥

(अथर्व० १९।४१।१)

'समस्त जनताका कल्याण करनेकी इच्छा रखनेवाले आत्मज्ञानी ऋषियोंने प्रारम्भमें दीक्षा लेकर तप किया। इससे राष्ट्र, बल और ओजका निर्माण हुआ; अतएव सब विबुध इस राष्ट्रकी भक्ति करें।'

ऋषियोंकी तपस्यासे राष्ट्रभावकी उत्पत्ति हुई है, राष्ट्रभावनासे राष्ट्रिय बल बढ़ता है और बड़ी शक्ति प्राप्त होती है—'**ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातम्**'—यह क्रम वेदमें ही निश्चित हो चुका है। राष्ट्रियता, बल तथा ओज—इनमें एकके साथ दूसरेका घनिष्ट सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अटूट है। जिनका राष्ट्र है उनमें बल और ओज होंगे, जो शताब्दियोंसे परतन्त्र होंगे, उनमें राष्ट्रिय भावना नहीं होगी; सांधिक बल भी नहीं होगा और ओज भी नहीं रहेगा।

ऋषियोंकी तपस्यासे जिस राष्ट्रियताकी उत्पत्ति हुई, वह राष्ट्रियता यम-नियम-पालनके बिना कदापि विकसित नहीं हो सकती। इसीलिये ऋषियोंद्वारा जो पूर्वोक्त अनेक राज्य-शासन निर्मित हुए, उनकी शासन-प्रणालीमें यम-नियम-पालन करनेवालोंके लिये ही स्थान है। इसमें *'सब धान बाईस पसेरी'* या *'टके सेर खाजा और टके सेर ही भाजी'*-के अनुसार सज्जन-दुर्जन सब एक ही मापसे मापे नहीं जा सकते। उसमें इन्द्रियलोलुप, उच्छृंखल, द्वेष-दम्भसे युक्त तथा दुष्कृत्यरत लोगोंको स्थान नहीं।

वैदिक स्वराज्य-शासनका यही महत्त्व है और यही वैदिक स्वराज्यकी विशेषता है। देखिये—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।

(अथर्व० ११।५।१७)

'ब्रह्मचर्यरूप तप करके ही राजा और राष्ट्रपुरुष राज्य-पालन-व्यवहारके अधिकारी होते हैं।' ब्रह्मचर्य-पालनमें 'यम-नियम' आ गये हैं। यह वैदिक राज्य-शासनका सूत्र है। ऋषियोंके तपका यह फल है। जिस शासन-प्रणालीसे जनताका सच्चा सुख बढ़ सकता है, वह यही शासन है।

सम्पूर्ण तरुणोंको अथवा प्रौढोंको मताधिकार रहनेसे बहुसम्मति तो मूढोंकी ही सम्मति होगी, इसमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। जनतामें मूढ ही बहुसंख्यक हैं और सच्चे ज्ञानी अल्पसंख्यक हैं। इसलिये वेदने जानराज्यमें ज्ञानियोंका ही अधिकार रखा है, सदाचारियोंका ही अधिकार रखा है। लोग ज्ञानी बनें, सदाचारी बनें और स्वराज्य-शासनमें अपना कर्तव्य करनेके अधिकारी हों।

इतने प्राचीन समयमें जिन ऋषियोंने इतने आठ-दस राज्य-शासनके नामाभिधान रखे तथा उनका पृथक्-पृथक् निर्देश किया, उनको राज्य-शासन-विषयक कल्पना नहीं थी और जो सब-की-सब जनताको शासनाधिकार देते हैं, उनको शासनतन्त्रका ज्ञानविशेष है—यों कई यहाँ कहेंगे; परंतु इसका निर्णय तो अनुभवसे ही हो सकेगा।

वैदिक राज्य-शासन 'गुणी और धार्मिक सज्जनोंका शासन' है तथा इसकी जो विशेषता है, वह पूर्वोक्त वर्णनसे पाठक जान सकते हैं। यह एक परिपूर्ण शासन-व्यवस्था है, जिससे समस्त जनताका सच्चा कल्याण हो सकता है।

वेदोंमें आयुर्वेद

(डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत)

आयुर्वेद अथर्ववेदका उपाङ्ग है। अथर्ववेद मानव-जीवनसे अधिक सम्बन्धित है। ज्ञान-कर्म तथा उपासना इन तीनोंका ही अथर्ववेदमें समावेश है।

प्राणिमात्रमें आधि-व्याधिरहित दीर्घ जीवनकी कामना नैसर्गिक रूपमें है। वेदका यही उपदेश है कि मनुष्यको कर्मरत रहते हुए सौ वर्ष (पूर्णायु) जीनेकी अभिलाषा रखनी चाहिये[१]। सक्रिय यशस्वी जीवनके लिये शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी दृढ़ता, मानसिक प्रफुल्लता एवं यज्ञ-कर्मोंसे सम्पृक्ति अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं। अतएव इनके लिये वेदमन्त्रोंमें प्रार्थना की गयी है[२]। वेदोंमें सुस्वास्थ्यके लिये न केवल आध्यात्मिक एवं आधिदैविक उपचार वर्णित हुए, अपितु आधिभौतिक उपचारोंकी भी स्थापना हुई, जिसे भैषज्यविज्ञान, आयुर्विज्ञान या चिकित्साविज्ञान शाखाके रूपमें प्रसिद्धि प्राप्त हुई। आयुर्विज्ञानका वेदसे साक्षात् सम्बन्ध होनेके कारण ही भारतीय आचार्योंने इसे भी अनादि एवं नित्य माना है। इस संदर्भमें आचार्य चरककी ये पंक्तियाँ अत्यन्त माननीय हैं—

'सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च[३]।'

वेद-प्रतिपादित आयुर्विज्ञान-शाखामें प्राचीन ऋषि-महर्षियोंने निरन्तर शोध-प्रक्रिया चालू रखी और कालान्तरमें इस शाखाको इतना विकसित एवं समृद्ध किया कि इसे उपवेदके रूपमें मान्यता मिली, जिसका उपजीव्य अथर्ववेद माना गया है[४]।

विश्वके सम्पूर्ण वैज्ञानिक पुरातत्त्ववेत्ताओं तथा इतिहासवेत्ताओंका कहना है कि सबसे प्राचीन वेद हैं। आयुर्वेद-शास्त्र वेदोंमें विशेषकर अथर्ववेदमें विस्तारसे वर्णित है। आयु-सम्बन्धी ज्ञानसे सम्बद्ध होनेके कारण इसे 'आयुर्वेद' कहा गया। चरकने भी कहा है—

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्॥

—यह उस आयुका पुण्यतम वेद है, अतएव आयुर्वेद विद्वानोंद्वारा पूजित है; क्योंकि यह मनुष्योंके लिये इस लोक और परलोकमें हितकारी है। अतः हम (चरक) इस आयुर्वेदका उपदेश कर रहे हैं।

आयुर्वेदको पुण्यतम ज्ञान बताया गया है। मनुष्यको आयुर्वेद-विहित कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे इस लोकमें आयु-आरोग्यादिकी प्राप्ति होती है और स्वस्थ रहते हुए वह धर्मादिका अनुष्ठान कर स्वर्गकी भी प्राप्ति कर सकता है। जैसा कि कहा भी गया है—

'धर्मार्थकामोक्षणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।'

आयुर्वेद आयुके हित-अहित, द्रव्य-गुण-कर्मोंका प्रतिपादक विज्ञान है और विज्ञानकी उत्पत्ति न होकर स्मृति ही हुआ करती है। सम्प्रति जो भी आविष्कार हो रहे हैं, निरन्तर अनुसंधान हो रहे हैं, उनमें व्यस्त उच्च आत्माएँ भी मूर्ति-स्वरूप हैं। इसलिये चरकने स्पष्ट कहा है—

ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदं प्रजापतिमजीग्रहत्।
सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन्॥
तेऽग्निवेशादिकास्ते तु पृथक् तन्त्राणि तेनिरे॥

ब्रह्माने आयुर्वेदका स्मरण कर उसे विश्वके उपकारार्थ प्रजापतिको सिखाया। प्रजापतिने दोनों अश्विनीकुमारोंको उन दोनों बन्धुओंने इन्द्रको, इन्द्रने आत्रेयादि मुनियोंको, आत्रेयादि महर्षियोंने अग्निवेश, पराशर, क्षीणपाणि और हारीत आदिको आयुर्वेदकी शिक्षा दी। तत्पश्चात् उन लोगोंने आयुर्वेदमें महान् दक्षता प्राप्त कर अपने नामपर ग्रन्थोंकी रचना की। ब्रह्माने अपने नामसे एक ग्रन्थ रचा, जिसका नाम 'ब्रह्मसंहिता' रखा, उसमें एक लक्ष श्लोक थे; किंतु आजकल वह अप्राप्त है। आचार्य चरकने अपने नामका एक ग्रन्थ रचा, जिसका नाम 'चरक-संहिता' है। वह संसारमें विख्यात है। विश्वमें चरककी

१-कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः (ईश० २)।
२-स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ (यजुर्वेद २५।२१)
३-चरकसूत्र (३।२५)।
४-इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः।

बड़ी प्रतिष्ठा है। पश्चात्त्य विद्वानोंने भी लिखा है कि 'यदि चरककी रीतिसे चिकित्सा की जाय तो सारा विश्व रोगमुक्त हो जाय।'

चरकके पश्चात् सुश्रुतका स्थान है। ये महात्मा महर्षि विश्वामित्रके पुत्र थे। इन्होंने अपने पिताकी आज्ञासे प्राणिमात्रके उपकारार्थ एक सौ ऋषिपुत्रोंके साथ काशी आकर तत्कालीन काशिराज दिवोदाससे आर्युर्वेदकी शिक्षा ग्रहण की। सुश्रुत तीव्रबुद्धि थे, उपदेशोंको पूर्ण ध्यानसे श्रवण करते थे। कहते हैं इसीलिये उनका नाम 'सुश्रुत' पड़ गया। सुश्रुतने अपने नामका जो ग्रन्थ लिखा, उसीको आजकल 'सुश्रुत-संहिता' कहते हैं। इस ग्रन्थमें 'शल्य-चिकित्सा' या 'सर्जरी' ('जर्राही')-का विशेषरूपसे वर्णन है।

चरक एवं सुश्रुतके पश्चात् वाग्भटका स्थान है। इनका 'अष्टाङ्गहृदय' ग्रन्थ भी उच्च कोटिका है। विद्वज्जन इस संहिताको 'वाग्भट' के नामसे जानते हैं। चरक, सुश्रुत तथा वाग्भटको 'बृहत्त्रयी' कहते हैं।

भरद्वाज और भगवान् धन्वन्तरि एवं उनके शिष्य-प्रशिष्योंने आयुर्वेदका अध्ययन कर मानव-कल्याणके निमित्त मानव-समाजमें उसका प्रचार किया। भरद्वाज इन्द्रसे आयुर्वेदका अध्ययन कर मनुष्य-लोकमें उसका प्रचार करनेवाले सर्वप्रथम व्यक्ति हैं। रसायन और दिव्य ओषधियोंके प्रभावसे ऋषिगण दीर्घजीवी होते थे। आयुर्वेदके प्रभावसे भरद्वाज सबसे अधिक दीर्घायु हुए।

प्रारम्भमें समग्र आयुर्विज्ञान एक रूपमें तथा इस समग्र शास्त्रका ज्ञान एक ही साक्षात्कृतधर्मा पुरुष (ऋषि) कर लेता था। कालान्तरमें दूरदृष्टिवाले महर्षियोंने आगामी संततिको अल्पायु एवं अल्पमेधा जानकर इसके आठ विभागकी आयोजना की; जिसे द्वापरयुगमें भगवान् धन्वन्तरिने परिष्कृत एवं विकसित कर लोकहितकी दृष्टिसे प्रवर्तित किया[1]। ये आठ विभाग इस प्रकार हैं—

१-काय-चिकित्सा, २-शल्य-चिकित्सा, ३-शालाक्य-चिकित्सा, ४-कौमारभृत्य (बाल-चिकित्सा), ५-भूतविद्या (ग्रह-चिकित्सा), ६-आगद-तन्त्र (विष-विज्ञान), ७-रसायन-तन्त्र और ८-वाजीकरण-तन्त्र। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१-काय-चिकित्सा—आयुर्वेदके जिस अङ्गमें सर्व-शरीरगत व्याधियों—ज्वर, रक्त, पित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ट, प्रमेह, अतिसार आदिकी शान्तिका वर्णन है, उसे 'काय-चिकित्सा' कहते हैं।

२-शल्य-चिकित्सा—शल्य-चिकित्साको ही पाश्चात्त्य वैद्यकमें 'सर्जरी' कहते हैं। आयुर्वेदके जिस अङ्गमें अनेक प्रकारके तृण, काष्ठ, पत्थर, रज:कण, लौह, मृत्तिका, अस्थि (हड्डी), केश, नाखून, पूय-स्राव, दूषित व्रण, अन्त:शल्य तथा मृत गर्भकी शल्य-चिकित्साका ज्ञान, यन्त्र, शास्त्र, क्षार, अग्निकर्मका ज्ञान व्रणोंका आम पच्यमान और पक्व आदिका निश्चय किया जाता है, उसे 'शल्य-चिकित्सा' कहते हैं।

३-शालाक्य-चिकित्सा—आयुर्वेदके जिस अङ्गमें शरीरके ऊर्ध्वभाग-स्थित नेत्र, मुख, नासिका आदिमें होनेवाले व्याधियोंकी शान्तिका वर्णन किया गया है तथा शालाक्य-यन्त्रोंके स्वरूप तथा प्रयोग करनेकी विधि बतलायी गयी है, उसे 'शालाक्य-चिकित्सा' कहते हैं।

४-कौमारभृत्य (बाल-चिकित्सा)—आयुर्वेदके जिस अङ्गमें बालकोंकी पोषिका धात्रीके दुग्धके दोषोंके संशोधन, उपाय तथा दूषित दुग्धपान और ग्रहोंसे उत्पन्न व्याधियोंकी चिकित्साका वर्णन है, उसे 'कौमारभृत्य' कहा जाता है। इसे 'बाल-चिकित्सा' कहते हैं।

५-भूतविद्या (ग्रह-चिकित्सा)—आयुर्वेदके जिस अङ्गमें देव, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग आदि ग्रहोंसे पीड़ित चित्तवाले रोगियोंकी शान्तिके लिये शान्ति-पाठ, बलि-प्रदान, हवन आदि ग्रहदोषशामक क्रियाओंका वर्णन किया गया है, उसे 'भूतविद्या' कहा जाता है। इसे 'ग्रह-चिकित्सा' कहते हैं।

६-आगद-तन्त्र (विष-विज्ञान)—सर्प, कीट, मकड़ी, चूहे आदिके काटनेसे उत्पन्न विष-लक्षणोंको पहचाननेके लक्षण तथा अनेक प्रकारके स्वाभाविक, कृत्रिम और संयोग विषोंसे उत्पन्न विकारोंके प्रशमनका जहाँ वर्णन है, उसे 'आगद-तन्त्र' कहा जाता है। इसे 'विष-विज्ञान' कहते हैं।

७-रसायन-तन्त्र—जिससे बुढ़ापा और रोग नष्ट हो उसका नाम 'रसायन' है—'**जराव्याधिनाशनं रसायनम्।**'

१-वायुपुराण (४०। २३)।

तरुणावस्था दीर्घकालतक बनी रहे, इसे रोकनेके उपाय, धारणा-शक्ति और बलकी वृद्धि करनेके प्रकार एवं शरीरकी स्वाभाविक रोगप्रतिरोधक शक्तिकी वृद्धिके नियमोंका जहाँ वर्णन है, उसे 'रसायन-तन्त्र' कहा जाता है।

८-**वाजीकरण-तन्त्र**—शरीर-पुष्ट्यर्थ 'वाजीकरण-तन्त्र' है। आयुर्वेद-शास्त्रमें पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पञ्चमहाभूतों तथा आत्माके संयोगको 'पुरुष' कहा गया है। इसी पुरुषकी चिकित्सा की जाती है। '**तद्दुःखसंयोगाद् व्याधय उच्यन्ते**'—जिनके संयोगसे पुरुषको दुःख होता है, उन्हें 'रोग' कहते हैं। ये रोग चार प्रकारके होते हैं—आगन्तुक, शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक। इनका परिचय इस प्रकार है—

१-**आगन्तुक रोग**—शस्त्र, लाठी, पाषाण आदिके आघातसे उत्पन्न होते हैं। २-**शारीरिक रोग**—हीन, मिथ्या और अतिमात्रामें प्रयुक्त खान-पानके कारण कुपित हुए या विषम हुए वात, पित्त, कफ, रक्त या इनके संनिपातसे उत्पन्न रोग। ३-**मानसिक रोग**—क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, अभ्यसूया, मनोदैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ आदिसे तथा इच्छा और द्वेषके अनेक भेदोंसे उत्पन्न होते हैं। ४-**स्वाभाविक रोग**—भूख, प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु और निद्रा आदि हैं। ये चारों प्रकारके रोग मन और शरीरको आश्रित मानकर उत्पन्न होते हैं—'**एते मनःशरीराधिष्ठानाः**'। इन रोगोंका निग्रह या प्रतिकार देश, काल, वय, मात्रा आदि रूपसे सम्यक्-प्रयुक्त संशोधन, संशमन, आहार और विहारसे होता है।

वेदोंमें रोगोत्पत्तिके सिद्धान्त—वैदिक ग्रन्थोंमें रोगकी उत्पत्तिके प्रमुख चार कारण माने गये हैं, जैसे—(१) आन्तरिक विष-संचय, (२) जीवाणु या क्रिमि,, (३) त्रिदोष और (४) मनस्ताप या मनोविकार। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) आन्तरिक विष-संचय—अथर्ववेदके मन्त्रोंके अनुसार जीव-शरीरके भीतर विभिन्न रासायनिक दूषण एवं अन्य अस्वास्थ्यकर कारणोंसे विषकी मात्रा शनैः-शनैः संचित होने लगती है, जो समय पाकर शरीरमें विकार उत्पन्न कर देती है। इसके शमन-हेतु अथर्ववेदके मन्त्रोंमें विभिन्न रोगोंके कारणभूत विषोंको बाहर निकालनेका उल्लेख किया गया है। आजके चिकित्साशास्त्री भी विषरूप मलको रोगोत्पत्तिका एक कारण स्वीकार करते हैं। आयुर्वेदज्ञोंने मलकी व्याख्या करते हुए कहा—'**मलिनीकरणान्मलाः**'। अर्थात् जो विजातीय तत्त्व (मल या विष) दूषण पैदा करते हैं, वे मलपद-वाच्य हैं। इन विजातीय तत्त्वोंके शरीरगत प्रतिरोधक क्षमतासे अधिक मात्रामें संचित हो जानेपर रोगोत्पत्ति होती है। 'विष' शब्द '**विष्लृ व्याप्तौ**' धातुसे बना है; जो खाते ही शरीरमें व्याप्त हो जाता है। विषके पर्याय-रूपमें वेदमें 'मदावती' शब्दका प्रयोग भी मिलता है, जिसका अर्थ है—'खानेसे मद उत्पन्न करनेवाला'। नशीले पदार्थ इसी कोटिके विष हैं, जो मद उत्पन्न करते हैं; किंतु जिनका अधिक सेवन घातक हो जाता है। विषकी दो श्रेणियाँ मानी गयी हैं—(१) स्थावर विष और (२) जंगम विष। इनमें पृथ्वी, पर्वत, औषधि और कन्द आदिसे निकाला गया 'स्थावर विष' तथा सर्प, वृश्चिक, मशक, क्रिमि आदिसे प्राप्त होनेवाला 'जंगम विष' कहा गया है।

(२) जीवाणु या क्रिमि—क्रिमिद्वारा रोगोत्पत्तिका वेदोंमें विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। आचार्य यास्कने 'क्रिमि' पदका विवेचन करते हुए कहा—**क्रव्ये मेद्यति, क्रमतेर्वा स्यात्सरणकर्मणः कामतेर्वा**। क्रव्य अर्थात् कच्चे मांस (अथवा दूषित वस्तु)-में भेदन अर्थात् पुष्ट होनेसे 'क्रिमि' कहे जाते हैं, जो कि सरणशील (रेंगनेवाले) होते हैं। अथर्ववेदके मन्त्रोंमें जलीय जीवाणुओं, पार्थिव क्रिमियों एवं वायवीय जीवाणुओंका उल्लेख किया गया है। क्रिमि या जीवाणु स्थूलरूपसे दो प्रकारके हैं। एक वे जो इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं तथा दूसरे वे जो अदृश्य होते हैं। इसके अतिरिक्त वेदमन्त्रोंमें क्रिमियोंकी नयी श्रेणियाँ (प्रजातियाँ) भी बतलायी गयी हैं, उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

जायान्य—एक पुरुषसे दूसरेके शरीरमें संक्रमित होनेवाले जीवाणुओंकी 'जायान्य' संज्ञा बतलायी गयी है। ये छींक, जँभाई एवं श्वासादिके माध्यमसे बाहर निकलकर दूसरेके शरीरमें प्रविष्ट होते हैं। राजयक्ष्माके क्रिमियोंको वैदिक साहित्यमें इसी श्रेणीका माना गया है।

अन्वान्त्र—मनुष्यों और पशुओंकी आँतोंमें उत्पन्न होनेवाले क्रिमि 'अन्वान्त्र' कहे गये हैं।

खलजा (शकधूमजा)—मल-मूत्रेन्द्रियोंके माध्यमसे

संसर्ग-दोषोंके कारण प्रविष्ट होनेवाले क्रिमि 'खलजा' कहे गये हैं।

राक्षस—'**रक्षितव्यमस्माद् रहसि क्षिणोति इति वा रात्रौ न क्षत इति वा**'—इन व्युत्पत्तियोंके आधारपर ये वे क्रिमि हैं, जो प्राकृतिकसे असंतुलन, दूषित पदार्थोंके प्रयोग तथा दूषित वातावरणसे मानव-शरीरमें प्रविष्ट होकर विकार पैदा करते हैं।

पिशाच—'**पिशितमश्नाति**'—इस व्युत्पत्तिके आधारपर कच्चे मांस खाने अथवा अपक्व या अर्धपक्वादि भोजन करनेसे उत्पन्न क्रिमिको 'पिशाच' शब्दसे व्यवहृत किया गया है।

यातुधान—'**याता (गन्ता) धीयते (अभिधीयते) तथा यातनां दुःखं दधति ते यातुधानाः**'—इन व्युत्पत्तियोंके आधारपर उड़नेवाले, डंक मारनेवाले कीट (मत्कुण) आदि 'यातुधान' कहे गये हैं।

गन्धर्व—'**गां वाणीं धारयतीति**'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार गायक (गुंजन करनेवाले) क्रिमिको 'गन्धर्व' कहा गया है। मच्छर आदि इसी कोटिमें आते हैं।

अप्सरस्—ऐसे कीटाणु जो जलमें अत्यन्त सूक्ष्म रूपमें घुले-मिले रहते हैं तथा जल पीनेके माध्यमसे मनुष्य-शरीरमें, प्रविष्ट होकर रोग पैदा करते हैं। इसकी व्युत्पत्ति '**अप्सारिणी भवति**' यह कहकर की गयी है।

क्रिमिदी—शरीरके फेफड़े, श्वास-नली, हृदयकी झिल्ली आदि आवरणोंको छलनी करनेवाले क्रिमि इस कोटिमें आते हैं। इनके अतिरिक्त वेद-मन्त्रोंमें शताधिक अन्य क्रिमि-प्रजातियोंका वर्णन मिलता है, जिनका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। क्रिमिजन्य रोगोंकी चिकित्साका भी वर्णन विस्तृत रूपसे वेदोंमें मिलता है। इस प्रकार आधुनिक चिकित्सा-पद्धतिके जीवाणुवादका सिद्धान्त वेद-प्रसूत ही है।

(३) त्रिदोष—तीन धातुओं—वात, पित्त, कफ (श्लेष्म)-के असंतुलनसे रोगोत्पत्ति होती है, यह वैदिक सिद्धान्त है, जिसे आयुर्वेदमें विस्तृत रूपसे विकसित किया गया है। '**या एकमोजं त्रेधा विचक्रमे**' इस अथर्ववेदीय मन्त्रमें प्रयुक्त '**त्रेधा**' पदका विश्लेषण करते हुए आचार्य सायणने '**वातपित्त-श्लेष्मलक्षणदोषत्रयकारि देवतात्मना**' यह अर्थ किया है। इसके अतिरिक्त '**यो आभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्**'—इस मन्त्रकी व्याख्यामें आचार्योंने 'अभ्र' शब्दसे कफ तथा 'शुष्म' शब्दसे पित्तका ग्रहण किया है। ऋग्वेदके अन्य मन्त्रमें देवभिषक् अश्विनीकुमारोंसे शरीरके त्रिधातुओंके संतुलनकी प्रार्थना की गयी है।

त्रिदोषके संदर्भमें यह बात ध्यातव्य है कि इसका मूलाधार वैदिक त्रिदेवतावाद है। निरुक्तकार आचार्य यास्कने अग्नि, वायु (या इन्द्र) तथा सूर्य (सोम)—ये तीन मूलभूत दैवत तत्त्व माना है। इन त्रिदेवोंका सीधा सम्बन्ध त्रिदोष वात-पित-कफसे है। इस सिद्धान्तकी ओर संकेत करते हुए आचार्यने '**सोमसूर्यानिलास्तथा**' इस पंक्तिके द्वारा वात-पित्त-कफकी इनके प्रतिनिधि-रूपमें शरीरमें अवस्थिति बतायी है और कहा है कि—'**वायोरात्मेवात्मा, पित्तमाग्नेयः श्लेष्मा सौम्य इति।**' आचार्य चरकने उपर्युक्त सिद्धान्तके उपबृंहणमें त्रिविध रोगोंका उल्लेख करते हुए कहा—'**अतस्त्रिविधा व्याधयः प्रादुर्भवन्ति, आग्नेयाः, सौम्याः, वायव्याश्च।**' प्राच्य आयुर्वैज्ञानिकोंके अनुसार पित्तके अन्तर्गत अग्नि ही कुपित होनेपर अशुभ एवं अकुपित रहनेपर शुभ कारण बनता है। इसी प्रकार श्लेष्मा (कफ) एवं वातके अन्तर्गत क्रमशः सोम एवं वायु कुपित या अकुपित रहनेपर अशुभ या शुभके कारण बनते हैं। जिस प्रकार सोम, सूर्य और अग्नि विसर्ग, आदान और विक्षेप—इन तीन क्रियाओंके द्वारा जगत्को धारण करते हैं, उसी प्रकार इन्हीं क्रियाओंके द्वारा वात, पित्त और कफ मानव-शरीरको धारण करते हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट होता है कि आयुर्विज्ञानके वेत्ताओंने त्रिदेववादके आधारपर त्रिदोषकी अवधारणाकी तथा रोगोंके आधिदैविक उपचार—मन्त्राराधन, जप, यज्ञ, वैदिक शान्तिकर्म आदिकी ओर संकेत किया और इसके अनुष्ठानसे रोगशमन एवं सुस्वास्थ्यकी प्राप्तिका दिग्दर्शन कराया है।

(४) मनोविकार या मनस्ताप—मनके शोक मोहग्रस्त होने तथा शिवेतर-संकल्पयुक्त होनेसे ईर्ष्या, शोक, क्रोध, अहंकार, द्वेष आदि मनोविकार उत्पन्न हो जाते हैं। जो मानव-मस्तिष्क, बुद्धि एवं शरीरको असंतुलित कर देते हैं, जिससे प्राणीका अनुदिन क्षय होने लगता है। इन सभी रोगोंकी उत्पत्तिका मूल कारण आचार्य

चरकने प्रज्ञापराध माना है। प्रज्ञापराधयुक्त मनुष्य धी, धृति, स्मृति-विभ्रष्ट होकर होकर अनुचित कार्य करने लगता है, जिससे उसके शारीरिक एवं मानसिक दोष प्रकुपित हो जाते हैं। इसके कारण उन्माद, नशाखोरी आदि रोगोंकी उत्पत्ति होती है। मनस्ताप या मनोविकारजन्य व्याधियोंकी निवृत्तिके लिये वेदोंमें 'शिवसङ्कल्पसूक्त' का प्रयोग तथा कई अन्य उपचार निर्दिष्ट किये गये हैं।

शरीर, इन्द्रिय, मन तथा आत्माका योग ही आयु है। आयुका पर्याय चेतनानुबन्ध अथवा जीवितानुबन्ध भी है। आयुका ज्ञान ही आयुर्वेद है। आधुनिक मतके अनुसार आयुर्वेदका सम्बन्ध केवल शरीर तथा इन्द्रियसे ही है। मन तथा आत्मा उसके क्षेत्रसे परे है। इसके विपरीत सुश्रुत आदि ग्रन्थोंमें मन तथा आत्माको भी आयुर्वेदका विषय बतलाया गया है।—'**आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।**'

वेदोंमें अग्नि, अप्, इन्द्र, रुद्र आदि देवताओंके साथ ही अश्विनीकुमारोंका वर्णन भी मिलता है। इनका मुख्य सम्बन्ध चिकित्सासे है। इन्होंने वैदिक देवताओंकी चिकित्सा की थी। देवताओंमें अश्विनी ही युगल-रूप हैं। 'काय-चिकित्सा' तथा 'शल्य-चिकित्सा' में प्रवीण होनेके कारण ही इनकी कल्पना युगल-रूपमें की गयी है। ये प्रकाश, आनन्द तथा अन्य सुख-सामग्रीके प्रदाताके रूपमें चिरकालसे प्रतिष्ठित हैं। इनकी स्तुति पचास सूक्तोंमें हुई है। ऋग्वेदमें इन्हें दीर्घ हाथवाले तथा नित्य-युवा कहा गया है—'**इमे ब्रह्माणि युवयून्यग्मन्**'। साथ ही सौन्दर्य, सुनहली चमक तथा कमलकी मालाओंसे विभूषित भी बतलाया गया है। इनका मार्ग स्वर्ण-निर्मित है। इनका रथ शहदके रंगका है, शहदके अंकुशसे हाँका जाता है तथा उसीके समान धीरे-धीरे चलता है। इस रथको ऋभु नामक देवताओंने बनाया था। '**वध्रिणश्च भुजस्तम्भस्ताभ्यामेव चिकित्सतः**'—अर्थात् इन्होंने इन्द्रके भुजस्तम्भ-रोगकी चिकित्सा की थी, च्यवन ऋषिको युवत्व प्रदान किया था तथा राजा भुज्युको समुद्रमें डूबनेसे बचा लिया था, इस प्रकारके अनेक उल्लेख वैदिक ग्रन्थोंमें मिलते हैं।

उपासक भक्त इन्हें अश्वमधा तथा गोमधा अर्थात् अश्वधन तथा गोधनवाले बतलाते हैं। वह प्रार्थना करता है कि हमसे दरिद्रता और रोगको दूर कर दो। हे मधुसे परिपूर्ण अश्विनीदेवो! हमारी दिन-रात रक्षा करो। इन्हें मनुष्योंका रक्षक भी कहा गया है। निचेतास, मधुयुवा आदि विशेषणोंसे इन्हें सम्बोधित किया गया है। इनकी विशेषताओंका वर्णन निम्नलिखित मन्त्रमें इस रूपमें है—

युवं च्यवानं जरसोऽमुमुक्तं नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम्।
निरंहसस्तमसः स्पर्तमत्रिं नि जाहुषं शिथिरे धातमन्तः॥

(ऋक्० ७।७१।५)

अर्थात् हे अश्विनीकुमारो! तुम दोनोंने च्यवन ऋषिको वृद्धावस्थासे मुक्त किया था। पेदु नामक राजाके लिये तेज चलनेवाले घोड़ेको युद्धमें पहुँचाया था। अत्रि नामक ऋषिको पापसे तथा गुफाके अन्धकारसे पार कराया था और जाहुष नामक नृपतिको राज्यसे भ्रष्ट हो जानेपर पुनः राजगद्दीपर बैठाया था।

वेदोंमें 'अश्विनी' के समकक्ष ही 'रुद्र' माने गये हैं। रुद्रके लिये 'भिषक्' तथा 'भिषक्तम' शब्द प्रयुक्त हुए हैं—**तक्म, अन्येद्यु, तृतीयक** आदि समस्त ज्वरोंकी उत्पत्ति रुद्रके द्वारा किये गये यज्ञोंके विध्वंससे हुई है, ऐसा उल्लेख मिलता है। यहाँ 'ज्वर' शब्द रोग-विशेषके लिये नहीं, वरन् सभी रोगोंके लिये है। इन रोगोंका निदान भी रुद्रके पास है। 'जलाष' तथा 'जलाषभेषज' विशेषण इस बातके सूचक हैं कि रुद्रके पास सैकड़ों औषधियाँ हैं। इन औषधियोंकी याचना करते हुए कहा गया है—'**स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मे**' (ऋक्० २।३३।१२) अथवा '**क्वस्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः**' (ऋक्० २।३३।७)। हे श्रेष्ठतम चिकित्सक! जो औषधियाँ आपके पास हैं, मुझे दें तथा मेरे रोगोंका उपचार करें। पुराणोंमें काशीपति, दिवोदास, धन्वन्तरि आदि शब्द एक ही व्यक्ति (**अश्विनौ**)-के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

ऋग्वेदमें अगस्त्य खेलकी पत्नी विश्पलाके लिये लोहेकी टाँगकी अश्विनौसे प्रार्थना करते हुए कहा गया है—

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्॥

(ऋक्० १।११६।१५)

अर्थात् विश्पलाकी टाँग युद्धमें कट गयी है, इसलिये तुम जल्दी आकर रात्रिमें ही पक्षीके परके समान लोहेकी हलकी टाँग चलनेके लिये लगा दो। एक

अन्य आख्यानमें ऋज्राश्वको नेत्रदानका उल्लेख मिलता है। ऋज्राश्वको उसके पिता वृषगिरिने शापसे अंधा बना दिया था। चूँकि उसने वृकके लिये सौ भेड़ें दी थीं, इसलिये वृक-रूप अश्विनीने ऋज्राश्वके अंधेपनका उपचार किया था—

शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार।
तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन्॥

(ऋक्० १।११६।१६)

इनके अतिरिक्त वृद्धावस्थामें जीर्ण हुए च्यवन ऋषिका अश्विनीकुमारोंसे पुनः यौवनकी प्राप्ति (१।११७।१३), दासोंद्वारा अग्नि और जलमें फेंकनेपर भी बचे हुए दीर्घतमा ऋषिका पुनः दासद्वारा सिर और छातीके काट देनेपर अश्विनीकुमारोंद्वारा जीवन देकर युगपर्यन्तद्वय बिना वृद्धावस्थाके जीवित रहना (१।१५८।५), अश्विनीकुमारोंद्वारा दध्यङ् आथर्वण ऋषिके सिरको अलग करके उसके स्थानपर घोड़ेके सिरको लगाकर उनसे मधुविद्या ग्रहण करके पुनः घोड़ेके सिरको हटाकर वास्तविक सिर (मनुष्यका) जोड़ देना (१।११६।१२, १।११७।४), बहरे नार्षदको श्रोत्रदान (१।११७।८) तथा नपुंसक पतिवाली वध्रिमतीको भी पुत्रोत्पादन (१।११६।१३) आदि अनेक चमत्कारिक कार्य अश्विनीकुमारोंके वर्णित हैं। विभिन्न प्रकारके विष और उनके प्रतिकार (१०।१६३।१—६), सूर्यचिकित्साद्वारा हृद्रोग आदिको दूर करना (१।५०।११—१३), जलका भेषजत्व (१०।१३७।६, १।२३।१९), औषधियोंका वर्णन (१०।९७।१—२३), यक्ष्मा, अज्ञात यक्ष्मा तथा राजयक्ष्मा आदिका विवेचन भी ऋग्वेदमें मिलता है। इस प्रकार विभिन्न उपाख्यानोंके माध्यमसे ऋग्वेदमें आयुर्वेदको पर्याप्त प्रतिष्ठा प्रदान की गयी है।

सुश्रुत-संहितामें रोग सात प्रकारके बतलाये गये हैं। वे हैं—'आदिबल-प्रवृत्त' (कुष्ठ, अर्श आदि जो माता-पिताके कारण होते हैं), 'जन्मबल-प्रवृत्त' (जन्मसे ही बहरा, गूँगा, लूला होना आदि), 'दोष-बल-प्रवृत्त' (मिथ्या आहार-विहारसे उत्पन्न ज्वर, अतिसार आदि), 'संघात-बल-प्रवृत्त' (जो आगन्तुक होते हैं, जैसे शस्त्र या हिंसक पशुसे चोट लगना), 'कालबल-प्रवृत्त' (शीत, उष्ण, वायु, धूप आदिसे उत्पन्न रोग), 'दैवबल-प्रवृत्त' (देवताओंके अभिशापसे या अथर्वणद्वारा किया गया आभिचारिक कार्य जैसे—उन्माद) तथा 'स्वभावबल-प्रवृत्त' (भूख-प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु, निद्रा आदि)। अथर्ववेदमें इनकी संख्या निन्यानबे बतलायी गयी है। इन सब रोगोंका मूल कारण त्रिदोष—वायु, पित्त तथा कफ हैं। **'सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एवं मूलम्, तल्लिङ्गत्वात् दृष्टफलत्वात् आगमाच्च।'** (ऋग्वेद १।३४।६)—इस मन्त्रमें भी इन्हीं त्रिधातुओंकी विषमताको रोगका कारण माना गया है।

वेदोंमें औषधि-चिकित्सा, जल-चिकित्सा तथा सौर-चिकित्साका विस्तृत वर्णन है। औषधि-चिकित्साके क्रममें औषधिका अर्थ बतलाते हुए कहा गया है—**'ओषं रुजं धयति इति ओषधिः'** अर्थात् वेदनाको दूर करनेवाली वस्तु औषधि है। ओष नाम रसका भी है। यह रस जिसमें रहे, वही औषधि है—**'ओषो नाम रसः सोऽस्यां धीयते इति ओषधिः।'** ओषधि दोषों या रोगोंको नष्ट कर आरोग्य प्रदान करती है—**'ओषधिरारोग्यमाधत्ते तस्मादौषधिरोषधः'** (काश्यप-संहिता)। ओषधिके लिये 'माता' शब्दका भी प्रयोग हुआ है—**'ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे'** (ऋक् १०।९७।४) अर्थात् हे मातृवत् ओषधियो! तुम अत्यन्त तेजस्विनी हो। ऋग्वेदमें ओषधियोंके लिये एक सम्पूर्ण सूक्त ही है। इसी सूक्तमें यक्ष्मारोगके नाशका वर्णन भी है। अश्विनीकुमारोंका यक्ष्माके रोगीसे निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है—

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते॥

(ऋक्० १०।१६३।१)

यक्ष्म-रोगसे पीड़ित हे व्यक्ति! तेरी आँखोंसे, नासिकासे, छिबुक (ठोढी)-से, सिरसे, मस्तिष्कसे और जिह्वासे रोगको पृथक् करता हूँ। यह मन्त्र अथर्ववेदमें भी है। इसी आशयका एक अन्य मन्त्र है—

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते॥

(ऋक्० १०।१६३।२)

तुम्हारे कण्ठकी धमनियों, हड्डियोंकी संधियों, दोनों बाहुओं, दोनों कंधों तथा स्नायु आदिमें प्राप्त हुए रोगको बाहर करता हूँ।

अथर्ववेदमें औषधि-चिकित्साके अन्तर्गत २८९ औषधियाँ उल्लिखित हैं, जिनमें ९४ प्रमुख हैं। इन ओषधियोंका प्रयोग मिश्रितरूपमें न होकर स्वतन्त्ररूपमें होता था।

ऋग्वेदमें सोम-प्रकरणमें जलकी महिमाका विशद वर्णन है। इस क्रममें कहा गया है कि जलके अंदर सम्पूर्ण ओषधियाँ हैं। जल ही सब ओषधि है (१।२३।२०)। पानीमें अमृत है, पानीमें ओषधि है (१०।१३७।६), जल निःसंदेह ओषधि है, जल निःसंशय रोगोंको दूर करनेवाला है, जल सब रोगोंकी एक दवा है, यह जल तुम्हारे लिये ओषधि है। इसी कारण संध्यामें भी प्रथम मन्त्रमें जलकी स्तुति है—'**शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः॥**' अथर्ववेदके तृतीय काण्डका सम्पूर्ण तृतीय सूक्त जल-चिकित्सासे ही सम्बन्धित है। एक अन्य सूक्तमें जलको '**सुभिषक्तमाः**' कहा गया है।

वास्तवमें जल शरीरकी शुद्धि करनेवाला है, ओषधियोंमें भी यही जल सोमरूपमें स्थित है। '**सोमो भूत्वा रसात्मकः**' गीताके इस कथनमें भी इसी मान्यताकी पुष्टि है। इस जलका ओषधिरूपमें प्रयोग प्राकृतिक चिकित्साके अन्तर्गत माना गया है।

केवल जल ही नहीं, सूर्यकी किरणोंके द्वारा चिकित्सा भी इसी कोटिमें आती है। ऋग्वेदमें कहा गया है—'**उदयन्नादित्यः क्रिमीन् हन्ति**'। अर्थात् निकलते हुए सूर्यकी किरणोंसे रोगके कीटाणु समाप्त हो जाते हैं। सूर्यकी प्रार्थनामें भी इस बातपर बार-बार बल दिया गया है—'**नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः**' (ऋक्० २।३३।१)। अर्थात् सूर्यके समान हमारा कल्याण करनेवाला अन्य कोई भी देवता नहीं है। एक अन्य स्थानपर '**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' (ऋक्० १।११५।१) कहकर सूर्यको जगत्के आत्माके रूपमें प्रतिष्ठित किया गया है। प्रश्नोपनिषद्में आदित्यको ही प्राण माना गया है—'**आदित्यो ह वै प्राणः**' (१।५)। जिस समय सूर्य उदित होकर पूर्व दिशामें प्रवेश करता है उस समय वह पूर्व दिशाके प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण करता है। भाव यह है कि उसके उदय होते ही जन-जीवन प्राणवान् हो उठता है, निष्प्रभ भी प्रभासित हो उठते हैं।

वास्तवमें सूर्य हमारा परम हितैषी है। इसीलिये ऋग्वेदमें सौर-चिकित्सापर पर्याप्त बल दिया गया है। अथर्ववेदमें उदित होती हुई ('**उद्यन्**') तथा अस्त होती हुई ('**निम्लोचन्**') सूर्यकी किरणोंके सम्बन्धमें बतलाया गया है कि उनमें एक विशेष घातक गुण होता है, जिससे छोटे-छोटे जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। ठीक सामनेसे दिखायी पड़नेवाला सूर्य अदृश्यमान रोगाणुओंको भी अपनी तीक्ष्ण किरणोंद्वारा नष्ट कर देता है—

येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः।
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम्॥

(अथर्व० ५।२३।७)

इसीलिये सूर्योपासना, सूर्यस्नान तथा सूर्यनमस्कार आवश्यक बतलाये गये हैं।

वायु-चिकित्सा, मानस अथवा आश्वासन-चिकित्सा, सोम-चिकित्सा तथा अग्नि-चिकित्सा अथवा हवन-चिकित्साका भी वेदोंमें उल्लेख है। अथर्ववेदमें वायुको '**विश्वभेषजः**' (४।१३।३) कहा गया है। वह अनेक रोगोंका विनाशक है। आश्वासन-चिकित्सामें रोगीको पूर्ण स्वास्थ्य-लाभके लिये आश्वस्त किया जाता है। अथर्ववेदके अनेक मन्त्र मानस-चिकित्सासे ही सम्बन्धित हैं। '**मा बिभेर्न मरिष्यसि**' (५।३०।८) अथवा '**सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः**' (८।२।२४)—इस प्रकारकी आश्वस्ति रोग-निवारणमें नितान्त सहायक है।

सोम-चिकित्साका ही विकसित रूप होम्योपैथी है। इसमें रोगके कीटाणुओंको उसीके समजातिवाले रोगाणुओंसे समाप्त किया जाता है। अथर्ववेदका निम्नलिखित मन्त्र सर्प-विष-चिकित्सासे सम्बन्धित है—

तस्तुवं न तस्तुवं न घेत्त्वमसि तस्तुवम् तस्तुवेनारसं विषम्॥

(५।१३।११)

भाव यह है कि तस्तुव नामक सर्पका विष भी तस्तुव नामक ओषधिसे ही निर्बल किया जा सकता है।

अग्नि अथवा हवन-चिकित्साका वर्णन अथर्ववेदके (६।१०६।३ तथा ५।२२।१ आदि) मन्त्रोंमें है। ऋग्वेद-संहिताका प्रारम्भ ही अग्निसूक्तसे हुआ है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

(१।१।१)

ऋग्वेदमें प्रसूति-सम्बन्धी उल्लेख भी पर्याप्त मात्रामें

मिलते हैं। दसवें मण्डलके १६२वें सूक्तमें इस आशयके अनेक उल्लेख हैं। इसी सूक्तके प्रथम चार मन्त्रोंमें गर्भाशय तथा योनिके रोगोंको दूर करनेके लिये अग्नि-चिकित्साका उपयोग लाभदायक बतलाया गया है। इस क्रममें कहा गया है कि 'ब्रह्ममन्त्रके साथ एकमत हुए राक्षसोंका नाश करनेवाली अग्नि इस स्थलसे राक्षसोंको दूर करे। जो राक्षस रोग-रूप होकर तेरे गर्भाशयमें रहते हैं उनको मारे।' एक दूसरा उल्लेख इस प्रकार है—'हे योषित्! तेरे गर्भाशयमें रेत-रूपमें आकर रहनेवाले गर्भको जो राक्षस आदि नष्ट करते हैं, तीन मासके गतिशील गर्भको जो राक्षस नष्ट करते हैं, दस मासमें उत्पन्न तेरे शिशुको जो राक्षस नष्ट करते हैं, उनका इस स्थानसे नाश कर दे। चरक (१४।६) या सुश्रुत-सूक्त (३।१८)-के एतद्विषयक कथन ऋग्वेदके उक्त उल्लेखोंसे बहुत मिलते-जुलते हैं। उक्त स्तुतियोंके उत्तरमें अग्निदेवका प्रस्तुत कथन द्रष्टव्य है—

यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये।
योनिं यो अन्तरारेळिह तमितो नाशयामसि॥

(१०।१६२।४)

अर्थात् हे योषित्! तेरे पादमूलोंमें जो राक्षस आदि गर्भनाशके लिये चिपके हैं, पति-पत्नीके बीचमें जो सोते हैं, जो शरीरमें घुसकर रेतको चाटते हैं, उन सबका मैं नाश करता हूँ।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदोंमें आयुर्वेदके विभिन्न सिद्धान्तोंका विस्तृत वर्णन है। इन्हीं सिद्धान्तोंको चरक आदि वैद्यने ग्रन्थोंमें यथारूप ग्रहण किया है। यदि आधुनिक चिकित्सा-शास्त्रमें वेदोंमें वर्णित इन उपचारोंको सम्मिलित कर लिया जाय तो निश्चय ही बड़ा जन-कल्याण होगा।

हमारे पूर्वज भारतीय चिकित्साके प्रभावसे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य-लाभ-द्वारा धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चारों पदार्थोंकी प्राप्ति करते थे और आजकी अपेक्षा दीर्घजीवी, बली एवं स्वस्थ हुआ करते थे। आयुर्वेद न केवल ओषधिमात्रका भण्डार है, अपितु उसमें मानव-जीवनका मार्ग सरलता, शुद्धता एवं पुरुषार्थके साथ प्रदर्शित किया गया है। उसके अनुसार आचरण करते रहनेसे मनुष्य आदर्श तथा सुखी दीर्घ-जीवन प्राप्त कर सकता है।

अब विचारणीय विषय यह है कि स्वतन्त्र भारतमें आयुर्वेदका पुनरुद्धार किस प्रकार हो सकता है, इसपर कुछ दृष्टि रखना उचित ही होगा। आयुर्वेद हम लोगोंके लिये अपने पूर्वजोंसे प्राप्त एक पुनीत थाती है, जिसका उपयोग तथा जिसकी रक्षा हमारे ही हाथोंमें निहित है। अतः समस्त भारतीयोंको इसकी रक्षा करनी चाहिये। इसे उत्तम रीतिसे अध्ययन कर सुन्दर अनुभव एवं उपयोग करना चाहिये। भारतीय अधिकारियोंका भी कर्तव्य है कि आयुर्वेदके उद्धार एवं प्रचारकी ओर विशेष ध्यान दें, जिससे पाश्चात्त्य देशोंमें अपना धन न जाकर भारतमाताके ही पास सुरक्षित रहे। इसीमें हमारे राष्ट्र तथा जनताका कल्याण है।

वैदिक सिद्धान्तोंके प्रवर्तक मनीषी कुमारिल भट्ट

(श्रीहरिविष्णुजी अवस्थी)

'मनुष्य-जातिके साहित्यमें सबसे पुरानी और पहली शब्द-रचना वेद हैं। जो पुराने लोग वेदकी ऋचाओंको ही अपना मार्गदर्शक मानते, उन्हींमें प्रभु और प्रकृतिका गान भी करते थे, उनका सामूहिक नाम आर्य था' (भा० सं०-का प्रवाह, पृ० १३)।

भारतीय धर्म एवं संस्कृतिका यह स्वरूप ईसा-पूर्व आठवीं सदीतक बना रहा। समयके साथ इसमें कुछ दोष उत्पन्न हो गये। इसकी उदारता क्षीण हो गयी, योगका स्थान हठयोगने ले लिया, यज्ञोंमें कुछ विकृतियाँ आ गयीं—इसके फलस्वरूप सहस्रों वर्षोंसे प्रवाहित वैदिक धर्मकी अजस्र धारा अवरुद्ध होने लगी।

किसी भी धर्मको राज्याश्रय मिल जानेपर उसके अनुयायियोंका बढ़ना स्वाभाविक है। सम्राट् अशोकने जब बौद्धधर्म ग्रहण किया तो उसके मनमें आया कि सारी पृथ्वीपर बौद्धधर्मका प्रचार किया जाय। उसने अपने राज्यकी पूरी शक्तिके साथ बौद्धधर्मका प्रचार

करवाया। इस कारण वैदिक धर्मका बहुत पराभव हुआ और देशका सांस्कृतिक प्रवाह अवरुद्ध हो गया। मध्यकालमें भारतमें दो ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने देशके सांस्कृतिक प्रवाहपर बहुत गहरा प्रभाव डाला। ये दोनों आचार्य कुमारिल भट्ट और आदि शंकराचार्य थे। यहाँ श्रेष्ठ मीमांसक आचार्यप्रवर कुमारिल भट्टकी चर्चा प्रस्तुत की जा रही है—

कुमारिल भट्टके पृथ्वीपर अवतरणकी कथाका वर्णन 'श्रीशंकरदिग्विजय-ग्रन्थ' के प्रथम सर्गमें किया गया है। जिसके अनुसार शिवजीने स्कन्दसे कहा कि—

विशिष्टं कर्मकाण्डं त्वमुद्धर ब्रह्मणः कृते।
सुब्रह्मण्य इति ख्यातिं गमिष्यसि ततोऽधुना॥

(शं० दि० १।५४)

अर्थात् ब्राह्मणोंके लिये तुम विशेषकर कर्मकाण्डका उद्धार करो, जिससे लोकमें 'सुब्रह्मण्य' नामसे तुम्हारी ख्याति होगी।

ब्रह्मापि ते सहायार्थं मण्डनो नाम भूसुरः।
भविष्यति महेन्द्रोऽपि सुधन्वा नाम भूमिपः॥

(शं० दि० १।५६)

अर्थात् तुम्हारी सहायता करनेके लिये ब्रह्मा 'मण्डन' नामक ब्राह्मण तथा इन्द्र 'सुधन्वा' नामक राजा बनेंगे।

कुमारिल भट्टका जन्म चोल देश (दक्षिण भारत)-के जयमंगल नामक ग्राममें हुआ। आपके पिताका नाम यज्ञेश्वर तथा माताका नाम चन्द्रकण्ठा था। कुमारिलके पिताने श्रेष्ठ गुरुके पास उनकी शिक्षा-दिक्षाकी व्यवस्था की। गुरुके चरणोंमें बैठकर कुमारिलने वेद-वेदाङ्ग आदि शास्त्रोंका गहन अध्ययन किया। अल्प समयमें ही उन्होंने गुरुके हृदयमें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया। अध्ययन समाप्त कर वे भारत-भ्रमणके लिये निकल पड़े।

उस समय देशमें बौद्धधर्मका जोर था। देशभ्रमण करते समय उन्हें बौद्ध धर्माचार्योंकी शास्त्रार्थकी चुनौतियोंको भी स्वीकार करना पड़ा, किंतु बौद्धधर्मका अध्ययन न होनेके फलस्वरूप उन्हें पराजित होना पड़ा। कुमारिल भट्ट इससे निराश नहीं हुए, अपितु उन्होंने बौद्धधर्मके अध्ययनका निश्चय किया।

'हिन्दू पंच' नामक ग्रन्थ (पृष्ठ ४१)-के अनुसार वे एक बौद्ध धर्माचार्य श्रीनिकेतनके पास विद्यार्थीके रूपमें गये और बौद्धधर्मका अध्ययन करने लगे। 'भारतके महान् साधक' नामक ग्रन्थ (प्रथम खण्ड पृ० १४७)-में उल्लेख है कि बौद्ध-न्याय-शास्त्रको पढ़ने एक बार मैं नालंदा (बिहार) गया था। वहाँ आचार्य धर्मकीर्तिके निकट कई वर्षोंतक अध्ययन किया।

एक दिन बौद्ध धर्माचार्यद्वारा वैदिक धर्मकी निन्दा सुनकर कुमारिल भट्टकी आँखें भर आयीं। इसे देखकर अन्य बौद्ध छात्र समझ गये कि यह तो वैदिक धर्मावलम्बी प्रतीत होता है। उस दिनसे बौद्ध छात्र कुमारिलसे बदला लेनेका अवसर ढूँढ़ने लगे। एक दिन अवसर पाकर उन्होंने कुमारिलको एक ऊँचे महलकी अटारीसे नीचे धकेल दिया।

कुमारिल एक अटारीसे दूसरी अटारीपर गिरते हुए नीचे आ रहे थे। कुमारिलको लगा कि अब तो मृत्यु निश्चित है। उन्होंने कहा कि 'यदि श्रुति प्रमाण है तो विषम स्थानपर भी गिरकर मैं जीवित रह जाऊँगा। मेरे जीवनका साधन वेदोंकी प्रामाणिकता ही है।' चूँकि कुमारिलने 'यदि' संदेहसूचक पदका प्रयोग किया था, इस कारण नीचे गिरनेपर उनकी एक आँख फूट गयी।

इस घटनाने कुमारिलको बौद्धोंका कट्टर शत्रु बना दिया। उन्होंने अब पूरी शक्तिसे बौद्धधर्मके विरोध एवं वैदिक कर्मकाण्डका प्रचार करनेका दृढ़ संकल्प किया। वे भ्रमणपर पुनः निकल पड़े। अनेक बौद्धोंको अपने तर्कोंसे पराजित कर कुमारिलने वैदिक धर्म एवं कर्मकाण्डकी पुनःस्थापना की।

समस्त दिशाओंको जीतते हुए कुमारिल राजा सुधन्वाकी चम्पा नगरीमें पहुँचे। राजा सुधन्वा बौद्ध धर्मावलम्बी था, किंतु उसकी रानी वैदिक धर्मको मानती थी। रानी वैदिक धर्मके पुनरुत्थानके विषयमें सदैव चिन्तित रहती थी। एक दिन जब कुमारिल, रानीके महलके समीप मार्गसे गुजर रहे थे, उन्हें किसी महिला-कण्ठकी आवाज सुनायी दी। वे रुक गये और ध्यानसे उस आवाजको सुनने एवं समझनेका प्रयास करने लगे। बार-बार एक ही आवाज सुनायी देती थी। उन्होंने सुना—

किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति।

अर्थात् क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? वेदोंका उद्धार कौन करेगा? रानीके ये शब्द सुनकर कुमारिलने कहा—

मा विषीद वरारोहे भट्टाचार्योऽस्मि भूतले।

अर्थात् हे रानी! खेद न कर। मैं भट्टाचार्य पृथ्वीपर हूँ।

कुमारिलका उत्तर सुनकर रानी चौंक पड़ी। उसने दासीको भेजकर कुमारिलको महलमें बुलाकर उन्हें पूरी स्थितिसे अवगत कराया। कुमारिलने रानीको बौद्धधर्मके खंडनकी अनेक युक्तियाँ समझायीं और कहा कि समय-समयपर इन तर्कोंद्वारा तुम राजाके तर्कोंका खंडन करती रहना। रानीको इससे बहुत बल मिला और वह राजाको बहुत कुछ अंशोंमें बौद्ध धर्मसे विमुख करनेमें सफल हुई। राजा सुधन्वा भी कुमारिलसे प्रभावित हुए बिना न रह सके।

स्थिति अनुकूल हो जानेपर कुमारिलने राजासे भेंट की उन्होंने सुधन्वाको एक बृहत् शास्त्रार्थ-सभाका आयोजन करने-हेतु मना लिया। देशके श्रेष्ठ बौद्ध धर्माचार्योंको शास्त्रार्थ-हेतु आमन्त्रण-पत्र भेजे गये। राज्य-स्तरपर शास्त्रार्थके आयोजनकी विधिवत् तैयारी होने लगी। धीरे-धीरे समय निकट आता गया।

चम्पा नगरके एक शासकीय उपवनमें विशाल पांडाल लगाकर भव्य सभा-भवनका निर्माण कराया गया। एक विशाल मंच तैयार हुआ। मंचके बीचों-बीच सुधन्वाका सिंहासन शोभित हो रहा था। उसके दोनों ओर जो मंच बनाये गये थे, उनमेंसे एक मंच बौद्ध धर्माचार्योंके लिये तथा एक वैदिक धर्माचार्योंके लिये निर्मित था। शास्त्रार्थ सुनने-हेतु अपार जन-समुदाय उमड़ पड़ा था, सभीके बैठनेकी यथोचित व्यवस्था की गयी थी।

सभी अपना-अपना स्थान ग्रहण कर चुके थे। कुमारिल भट्टकी प्रतीक्षा की जा रही थी। 'शंकरदिग्विजय' में उल्लेख है कि जैसे ही कुमारिल भट्ट सभा-भवनमें प्रविष्ट हुए 'राजाने आगे जाकर उनका स्वागत किया और विधिवत् पूजन किया। सोनेके आसनपर बैठे हुए कुमालि भट्टने राजाको आशीर्वादसे अभिनन्दित कर उस सभाको उसी प्रकारसे सुशोभित किया, जिस प्रकार वसंत स्वर्गकी वाटिकाको प्रफुल्लित करता है।' सभी शास्त्रार्थ प्रारम्भ होनेकी प्रतीक्षा करने लगे—

सभासमीपविटपिश्रितकोकिलकूजितम्।
श्रुत्वा जगाद तद्व्याजाद्राजानं पण्डितोऽग्रणीः॥

(शं० दि० १।६४)

अर्थात् इसी बीच उपवनके वृक्षोंपर बैठी कोकिलें कूकने लगीं। उनका कूकना सुनकर कुमारिल भट्टने राजा सुधन्वाको लक्ष्य करके कहा—

मलिनैश्चेन्न संगस्ते नीचैः काककुलैः पिक।
श्रुतिदूषकनिर्ह्रादैः श्लाघनीयस्तदा भवेः॥

(शं० दि० २।६५)

'अरे कोयल! मलिन, नीच और श्रुति-दूषक काककुलसे यदि तेरा सम्बन्ध न हो तो तू वास्तवमें प्रशंसाके योग्य है।'

श्लोकका अभिप्राय है कि राजाके गुणी होनेपर भी उसमें यह महान् दोष है कि वह आचरणहीन शून्यवादी बौद्धोंकी संगति करता है, यदि वह उनका संग छोड़ दे तो सचमुच श्लाघनीय होगा।

शास्त्रार्थका शुभारम्भ कुमारिल भट्टके गुरु बौद्ध धर्माचार्य धर्मकीर्तिने किया। उनके तर्क थे कि (१) वेद प्रमाण-भूत नहीं हैं, क्योंकि कुछ मन्त्र अर्थबोध नहीं कराते। जैसे—ऋग्वेद १०।१०६।६ मन्त्रमें जर्भरी, तुर्फरी आदि शब्द निरर्थक हैं। (२) वेद प्रमाण-भूत नहीं हैं, क्योंकि कुछ मन्त्र संदिग्ध अर्थवाले हैं। जैसे—ऋग्वेद १०।१२९।५ में कहा गया है कि वह ऊपर भी है, नीचे भी है। एक ही वस्तुको ऊपर तथा नीचे बताकर मन्त्र उस वस्तुकी स्थितिके विषयमें संदेह उत्पन्न करता है। (३) वेद प्रमाण-भूत नहीं हैं, क्योंकि कुछ मन्त्र विपरीत अर्थका प्रतिपादन करते हैं। जैसे—तैत्तिरीय सं० १।३।१३।१ में पत्थरोंसे सुननेके लिये प्रार्थना की गयी है। भला जड़ पत्थरोंके भी कान होते हैं, जो ऋषिकी बात सुनेंगे? (४) वेद प्रमाण-भूत नहीं हैं, क्योंकि कुछ मन्त्र परस्पर-विरुद्ध बातें बतलाते हैं। जैसे—यजुर्वेदके रुद्रसूक्तमें एक मन्त्र रुद्रको एक बताता है और दूसरा मन्त्र रुद्रकी संख्या सहस्रोंमें बताता है। हम किसे मानें, पहलेको या दूसरेको? (५) वेद प्रमाण-भूत नहीं हैं, क्योंकि कुछ मन्त्र लोक-प्रसिद्ध बातोंका अनुवाद मात्र करते हैं। किसी नयी बातका बोध ही नहीं कराते।

कुमारिल भट्टने अपने बौद्ध धर्मगुरु धर्मकीर्तिके तर्कोंका खंडन करते हुए कहा—(१) वेदका कोई भी मन्त्र अनर्थक नहीं है। व्याकरण तथा निरुक्त इन दोनोंकी सहायतासे प्रत्येक शब्दका ठीक अर्थ समझा जा सकता है। (२) मन्त्रोंमें संदिग्ध अर्थके लिये कोई अवकाश नहीं है। ध्यानकी अपेक्षा है। जगत्‌के कारणरूप होनेसे वह परमतत्त्व नितान्त गम्भीर है, सर्वव्यापक है; इसलिये वह नीचे भी है और ऊपर भी है। (३) अचेतन वस्तुओंमें भी उस चेतन देवताका निवास है, उसीको लक्ष्य करके जड़ पदार्थोंकी स्तुति की जाती है। (४) रुद्र एक है और रुद्रकी संख्या हजारों है, इसमें किसी प्रकारका व्याघात नहीं है; क्योंकि रुद्र तत्त्व हैं और अपनी महिमासे वे सहस्र मूर्तियाँ धारण करते हैं, कर सकते हैं। (५) लोकप्रसिद्ध बातोंमें भी उस अभिमानी (चैतन्यस्वरूप) देवताका अनुग्रह पानेके लिये मन्त्रोंमें उसका उल्लेख आवश्यक है और न्यायसंगत भी।

पंडितश्रेष्ठ कुमारिलके द्वारा अपने तर्कोंसे बौद्धपक्ष (न्यायसम्बन्धी पूर्वपक्ष)-के खंडित कर दिये जानेपर बौद्ध धर्माचार्य पराजित हो गये। राजा सुधन्वाने निर्णय दिया कि जय और पराजय तो विद्याके अधीन हैं। पहाड़की चोटीसे गिरकर जो घायल भी न हो, उसीके मतको मैं सत्य मानूँगा।

सुधन्वाकी बात सुनकर बौद्ध धर्माचार्य एक-दूसरेका मुँह देखने लगे, किंतु कुमारिल वेदोंका स्मरण करते हुए उपवनके समीप ही स्थित पर्वत-शिखरपर चढ़ गये। शिखरपर खड़े होकर कुमारिलने कहा—'यदि वेद प्रमाण हो तो मेरी किसी प्रकारकी क्षति न हो—' यह कहकर कुमारिल शिखरसे कूद पड़े। रूईके ढेरके समान कुमारिल नीचे जमीनपर आ गिरे, उन्हें किसी तरहकी कोई चोट भी नहीं आयी। राजा सुधन्वा वेदोंकी महत्ताका साक्षात् प्रमाण पाकर कुमारिलके समक्ष नतमस्तक हो गया और उसने श्रद्धा-भक्तिके साथ कुमारिलसे दीक्षा ग्रहण कर ली।

६३ वर्षकी आयुतक कुमारिल भट्टने देशके विभिन्न भागोंमें जाकर वैदिक धर्मका प्रचार किया और बौद्ध धर्मको निर्मूल करनेके कार्यमें प्राण-पणसे लगे रहे। कुमारिल भट्ट देशके एक प्रतिष्ठित, सर्वमान्य, प्रतापी धर्माचार्य थे। प्रतिष्ठा और समृद्धि उनके चरण चूमती थी, किंतु उनके हृदयमें दो बातें काँटेकी तरह चुभती रहती थीं। पहली बात थी गुरुके साथ विश्वासघात। कुमारिलका मानना था कि 'एक अक्षरका उपदेश देनेवाला भी गुरु कहलाता है तो समग्र शास्त्रका उपदेश देनेवाला व्यक्ति गुरु है, इसमें क्या कहना है।' उनके मनमें सदैव यह विचार आता रहता कि जिस बौद्ध धर्माचार्य धर्मकीर्तिके निकट मैंने कई वर्षोंतक अध्ययन किया, उन्हींको शास्त्रार्थमें मैंने पराजित किया। इसे कुमारिल अपने द्वारा किये गये महान् पापकी संज्ञा देते थे। दूसरी बात जो उन्हें शूलकी भाँति चुभती थी, वह थी 'जैमिनी मुनिके द्वारा प्रवर्तित शास्त्र' (पूर्वमीमांसा)-का अभिनिवेश रखकर परमेश्वरका निराकरण करना। शं० दि० (७।८९)-के अनुसार उन्हें क्षोभ था कि उन्होंने अपने शास्त्रज्ञानसे (लोकसे सिद्ध) ईश्वरका निराकरण किया था। अस्तु शास्त्रानुसार कुमारिलने अपने द्वारा किये गये पापोंके प्रायश्चित्त-स्वरूप तुषाग्निमें जलकर प्राण त्यागनेका निश्चय किया।

कुमारिलने इस कार्य-हेतु प्रयागके त्रिवेणी-संगमका चयन किया। संगमपर भूसीका ऊँचा ढेर लगाया गया। उसके ऊपर कुमारिल भट्ट बैठ गये। इस अवसरपर कुमारिलके चारों प्रमुख शिष्य—मंडन मिश्र, भवभूति, प्रभाकर, पार्थ-सारथि एवं उनके पुत्र जया मिश्रके अतिरिक्त कुमारिलके सहस्रों प्रशंसक भी उपस्थित थे। जया मिश्रद्वारा भूसीके ढेरमें अग्नि प्रज्वलित की गयी। धीरे-धीरे अग्नि तीव्र होने लगी। आचार्य कुमारिल शान्त-मुद्रामें निःस्पृह-भावसे उस ढेरपर ऐसे बैठे थे मानो वे साधनामें लीन हों। अग्निके तापसे कुमारिलका शरीर जलने लगा। मुख-मण्डलसे रविरश्मियोंकी भाँति तेज प्रस्फुटित हो रहा था। सभी शान्त-भावमें खड़े यह हृदय-द्रावक दृश्य देख रहे थे कि इसी समय आदि शंकराचार्यजी अपनी शिष्य-मंडलीके साथ संगमतटपर उपस्थित हुए।

कुमारिलने शंकराचार्यके सम्बन्धमें सब सुन रखा था। उन्हें त्रिवेणीतटपर आया देख उन्होंने अपने शिष्योंको उनकी पूजा करनेका संकेत किया। कुमारिलने कहा कि मैंने 'जिससे ज्ञान सीखा है, उसे ही अपमानित करते हुए उस ज्ञानसरणिको समाप्त करनेका सफल प्रयत्न किया तथा श्रुतिसे प्रतिपादित और लोकमें सिद्ध ईश्वरका निराकरण किया। इन दो दोषोंके निराकरण करनेकी इच्छासे मैंने अग्निमें प्रवेश किया है। यह निराकरण आपके दर्शनसे पुनरुक्तिके समान हो गया है। हे योगीन्द्र! आपने भाष्य बनाया है, यह मैंने सुन रखा है। उसपर वृत्ति बनाकर यश प्राप्त करनेकी मुझे पहले इच्छा थी, परंतु इस समय इस बातका कथन ही व्यर्थ है।'

'मैं जानता हूँ कि आर्यजनके कल्याण-हेतु तथा अद्वैत-मार्गकी रक्षाके लिये आपने अवतार ग्रहण किया है। यदि आपका दर्शन मुझे पहले हो गया होता तो मैं तभी कृतार्थ हो जाता और पापोंको दूर करनेके लिये यह आचरण करनेका अवसर नहीं आता।'

शंकराचार्यने कहा—'मैं आपको श्रुति-प्रतिपादित कर्ममार्गसे विमुख बौद्धोंको मारनेके लिये पृथ्वीपर अवतार लेनेवाला स्वामी कार्तिकेय मानता हूँ। आपके चरित्रमें पातककी सम्भावना भी नहीं है। आप सज्जनोंको सिखलानेके लिये सत्य-व्रत कर रहे हैं। मैं हाथमें कतिपय जल-बिन्दुओंको छिड़ककर आपको जिला देता हूँ, आप मेरे भाष्यपर अपने सुन्दर 'वार्तिक' की रचना कीजिये।'

कुमारिलने इसे स्वीकार नहीं किया और शंकराचार्यसे प्रार्थना की कि—'आप तारक ब्रह्म राम-नामका उपदेश देकर मुझे कृतार्थ कीजिये।' इन अन्तिम शब्दोंके साथ कुमारिलने मौन धारण कर लिया। तुषाग्निकी तीव्र ज्वालामें देखते-ही-देखते कुमारिल भस्मीभूत हो गये।

कुमारिल भट्टने अपने पाण्डित्य एवं आचार्यत्वके बलसे बौद्ध धर्माचार्योंके तर्कोंका खण्डन कर वेदोंकी रक्षा की। उसीका परिणाम है कि आजतक वेदभगवान् और वेदमाता गायत्रीका पूजन-अर्चन अत्यन्त श्रद्धा-भावसे किया जाता है। वेदोंके उद्धारकके रूपमें कुमारिल भट्टको सदैव श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा।

अतिथि-सत्कारके लिये अभ्युत्थान

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति॥ (अथर्व० १५।११।१-२)

'जब विद्वान् और व्रती अतिथि घरोंमें आवें, तब गृहस्थीको स्वयं इसकी अगुवाई करनी चाहिये। नौकरोंके ऊपर अतिथि-सेवाका भार नहीं डालना चाहिये। अगुवाईके पश्चात् वह अतिथिसे कुशल-प्रश्न पूछे। उसे हाथ-पैर धोनेके लिये जल दे और कहे कि घरके ये सब पदार्थ आपके ही लिये हैं। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार अतिथिकी इच्छा हो, उसी प्रकार उसका अन्नादिद्वारा सत्कार करे।'

वैदिक और स्मृतिकार मनु

(श्रीरवीन्द्रनाथजी बी० ए०, एल-एल० बी०)

वैदिक वाङ्मयमें सृष्टिके इस सप्तम मन्वन्तरमें वैवस्वत मनुकी उत्पत्ति प्रथम मानवके रूपमें वर्णित है[१]। मनुको ऋग्वेदकी अनेक ऋचाओंमें मानवजातिके पिताके रूपमें सम्बोधित किया गया है[२]। शतपथब्राह्मणमें निर्दिष्ट इतिहासके अनुसार जलप्रलयके पश्चात् मात्र एक मनु ही सुरक्षित बचे थे, शेष सभी जड-चेतन प्राणी नष्ट हो गये थे[३]। यह वृत्त भी मनुको सृष्टिके आदिमें मानवके रूपमें मान्यता देता है। इन वैदिक विवरणोंसे यह पता चलता है कि मनुसे मानवजातिके इतिहासका प्रारम्भ हुआ।

मनुस्मृति और श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें विगत विभिन्न मनुओंका भी उल्लेख है। ये मनु हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तम (उत्तम), तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत[४]। स्वायम्भुव मनुद्वारा रचित स्मृतिमें ही छः अन्य विगत मनुओंका उल्लेख होनेसे यह धारणा बनती है कि यह एक प्रकारकी उपाधि थी। इसमें अनेक मन्वन्तर व्यतीत हो जानेके उल्लेखके साथ प्रत्येक मन्वन्तरके पृथक् मनुका उल्लेख है। एक श्लोकमें कहा गया है कि महातेजस्वी स्वायम्भुवादि सात मनुओंने अपने-अपने मन्वन्तरमें इस चराचर जगत्को उत्पन्न किया[५]। कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मन्वन्तरका प्रारम्भ किसी-न-किसी मनुसे होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेदसे भी यह सूचना मिलती है कि वर्तमान सातवें मन्वन्तरके मनुका नाम वैवस्वत मनु है[६]। एक ऋग्वेदीय ऋचासे यह भी पता चलता है कि इस कल्पके पूर्व अनेक कल्प व्यतीत हो चुके हैं। वहाँ कहा गया है कि प्रजापतिने इस कल्पमें सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और रात्रि-दिन उसी प्रकार बनाये, जिस प्रकार पूर्व कल्पोंमें बनाये थे[७]।

ऋग्वेदके एक मन्त्रमें मनुको विवस्वान् (सूर्य)-का पुत्र कहा गया है[८]। उसीके पूर्वके सूक्तमें उन्हें संवरणका पुत्र बताया गया है[९]। 'संवरण' का प्रचलित अर्थ है—'समेटना' या 'दूर हटाना'। यदि दूर हटानेका आशय अन्धकारको दूर हटाना माना जाय तो वह सूर्य है। इस अर्थमें 'संवरण' सूर्यका पर्याय हो जाता है। जीवोंकी रचनाके लिये तेजकी आवश्यकता होती है। तेज प्रजापति और सूर्य दोनोंसे ही प्राप्त होता है। प्रयोगशालामें जीवनके लिये तेजको आवश्यक सिद्ध किया जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टिसे तेज जीवित जगत्का उत्पादक है। तेजका भौतिक स्रोत सूर्यके होनेसे वैज्ञानिक क्षेत्रमें मनुको सूर्यका पुत्र मानना अनुचित नहीं प्रतीत होता। वेद-वर्णित इसी वैज्ञानिक आधारपर महाभारतमें मनुके पिताका नाम विवस्वान् बताया गया है[१०]। स्पष्टतया ये मनु एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और अनुकूल भौगोलिक अथवा प्राकृतिक वातावरणमें इनकी सूर्यसे उत्पत्ति विधानसम्मत भी है।

यहाँ प्रमुख विचारणीय विषय यह है कि जिन मनुको वेदादि ग्रन्थोंने आदि मानवके रूपमें घोषित

१-यथा मनौ विवस्वति (ऋक् ० ८।५२।१)।

२-यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत। तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम्॥ (ऋक्० १।८०।१६) मृळा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीरीय नमसा विधेम ते। यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु॥ (ऋक्० १।११४।२) यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि॥ (ऋक्० २।३३।१३)

३-शत० ब्रा० (१।१।४।१४)

४-स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे। सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः॥ (मनु० १।६१) स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा। चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च॥ (मनु० १।६२)

५-स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः। स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम्॥ (मनु० १।६३)

६-यथा मनौ विवस्वति (ऋक् ० ८।५२।१), तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्सः (अथर्व० ८।१०।४।१०)।

७-सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चाऽन्तरिक्षमथो स्वः॥ (ऋक् ० १०।१९०।३)

८-यथा मनौ विवस्वति सोमं शक्रापिबः सुतम् (ऋक्० ८।५२।१)।

९-यथा मनौ सांवरणौ सोममिन्द्रापिबः सुतम्। (ऋक्० ८।५१।१) ये ऋग्वेदके पाँचवें मण्डलके ३३वें-३४वें सूक्तोंके द्रष्टा हैं।

१०-महा०, आदि० (अ० ९५)।

किया है, क्या वे ही राजवंशके संस्थापक, वैदिक सूक्तोंके द्रष्टा तथा गृह्यसूत्रों और धर्मशास्त्रके रचयिता हैं अथवा इनके द्रष्टा या रचयिता विभिन्न व्यक्ति हैं, जिन्हें मनु कहते थे? इस विषयपर आगम-प्रमाणके आधारपर ही विचार करना उचित है। एक ऋचामें इन्द्रकी स्तुति करते हुए कहा गया है कि उन्होंने धन चाहनेवाले नमुचिको मारा। उन्होंने मनुके समीप जानेवाले नमुचिकी मायाको भी नष्ट कर दिया तथा देवताओंको मध्यस्थ बनाया, जिनके द्वारा सरलतासे देवलोकमें जाया जा सकता था[१]। नमुचि असुर था और मायाद्वारा मनुके धन तथा राजपदको नष्ट करना चाहता था, जिसे इन्द्रने सफल नहीं होने दिया।

अथर्ववेदमें वैवस्वत मनुको स्पष्ट रूपसे पृथ्वीका शासक घोषित किया गया है[२]। ऋग्वेदीय ऐतरेयब्राह्मणमें कथा आती है कि देवता और असुर परस्पर युद्ध करते थे। असुरोंने देवताओंको परास्त कर दिया। देवताओंने कहा हमारे यहाँ अराजकता (राजा-विहीनता)-के कारण असुर विजयी हुए हैं। हम भी राजाका चुनाव करें। सब लोग सहमत हो गये[३]। यदि देवताओंको सात्त्विकशक्ति मान लिया जाय और असुरोंको दुष्ट स्वभावका तो कथाका भाव स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि-समाजको भी अपनी सुरक्षा-हेतु चरित्रवान् शासककी आवश्यकता पड़ी। यह सामान्य गाथा न होकर उस स्थितिका ऐतिहासिक विवरण है, जिसमें व्यवस्थाके अभावमें शक्तिशाली विद्वान् भी अरक्षित रहते हैं।

रामायणके अनुसार कृतयुगमें सारी प्रजा बिना राजाके थी। कालान्तरमें शतक्रतु (सौ यज्ञकर्ता इन्द्र) देवताओंके राजा हुए[४]। अन्यत्र रामायणमें मनुको मनुष्योंका प्रथम राजा माना गया है[५]। महाभारतमें भी ब्रह्माद्वारा मनुको राजा बनाये जानेका उल्लेख मिलता है[६]। ऋग्वेदमें मनुको पृथ्वीका प्रथम यज्ञकर्ता माना गया है[७]। जिस व्यक्तिने विश्वमें सर्वप्रथम यज्ञ करना प्रारम्भ किया, उससे यह आशा की जाती है कि उसने यज्ञकी उपयोगिताको भी समझनेमें सफलता प्राप्त की होगी। अन्वेषककी यह भी इच्छा रहती है कि वह अनेक बार अपने सिद्धान्तका प्रयोग कर उसकी पुष्टि करे। मनुकी भी यह इच्छा स्वाभाविक ही रही होगी और उन्होंने अनेक बार विभिन्न प्रकारके यज्ञ किये होंगे, जिनकी संख्या सौ या अधिक भी हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि विशिष्ट विद्वानोंने सौ यज्ञ कर लेनेपर उन्हें भी शतक्रतुकी उपाधिसे विभूषित किया है। अन्य वैदिक वचनोंपर भी इस संदर्भमें विचार करना आवश्यक है। अथर्ववेद स्पष्ट रूपसे मनुको पृथ्वीका प्रथम शासक मानता है[८]। उन्होंने तैंतीस देवताओंके निमित्त सर्वप्रथम यज्ञ किया[९]। उन्होंने अन्य प्रकारके भी यज्ञ किये थे[१०]। इतना ही नहीं उन्हें स्वर्ग-प्राप्ति-सम्बन्धी यज्ञकी पूर्ण जानकारी थी, जिसकी शिक्षा अपने पुत्र नाभानेदिष्ठको देकर उन्होंने अङ्गिराके यज्ञको पूर्ण कराने-हेतु उसे भेजा था[११]। स्पष्टतया मनु ही वैदिक वाङ्मयमें आदिशासकके रूपमें देखनेको मिलते हैं।

मनुका नाम वेदोंके मन्त्रद्रष्टा ऋषिके रूपमें भी आता है। ऋग्वेदके ८वें मण्डलके २७ से ३१ वें सूक्ततकके द्रष्टा वैवस्तव मनु ही हैं। इन सूक्तोंकी विषयवस्तु मुख्यतया यज्ञ है। ये सूक्त इस बातके सूचक हैं कि मनुने यज्ञके विषयमें विस्तृत चिन्तन किया था। उनका यज्ञ-सम्बन्धी चिन्तन न केवल पारलौकिक हितोंके लिये था, वरन् सांसारिक सुख-समृद्धिके लिये भी था[१२]। इस दिशामें

१-त्वं जघन्थ नमुचिं मखस्युं दासं कृण्वान ऋषये विमायम्। त्वं चकर्थ मनवे स्योनान् पथो देवत्राञ्जसेव यानान्॥ (ऋक्० १०।७३।७)

२-तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्पृथिवी पात्रम्॥ (अथर्व० ८।१० (४) १०) ३-ऐत० ब्रा० (१।१४)।

४-आसन् कृतयुगे राम ब्रह्मभूते पुरायुगे। अपार्थिवाः प्रजाः सर्वाः सुराणां तु शतक्रतुः॥ (वाल्मी० रामा० उत्तर० ७६।३७)

५-वाल्मी० रामा० उत्तर० (७९।५)। ६-ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः॥ (महा०, शान्ति० ६७।२१)

७-मनुष्वदग्निं मनुना समिद्धं समध्वराय सदमिन्महेम॥ (ऋक्० ७।२।३)

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः (ऋक्० १०।६३।७)। यज्ञो मनुः प्रमतिर्नः पिता हि कमा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे॥ (ऋक्० १०।१००।५) ८-अथर्व० (८।१० (४) १०)।

९-इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च। मनोर्देवा यज्ञियासः॥ (ऋक्० ८।३०।२)

१०-यदद्य सूर उदिते यन्मध्यंदिन आतुचि। वामं धत्थ मनवे विश्ववेदसो जुह्वानाय प्रचेतसे॥ (ऋक्० ८।२७।२१)

११-तैत्ति० सं० (३।१।९।२९), ऐतरेयब्रा० (५।२।१४)।

१२-ऋक्० ८।३१ के मन्त्र।

प्र स क्षयं तिरते वि महीरिषो यो वो वराय दाशति। प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्पर्यरिष्टः सर्व एधते॥ (ऋक्० ८।२७।१६)

चिन्तन करके मनुने जो ज्ञान अर्जित किया, वही धर्मशास्त्रके रूपमें लोगोंके सम्मुख आया। इस धर्मशास्त्रको तत्कालीन मानव-समाज आदरकी दृष्टिसे देखता था, जो एक ऋचासे विदित होता है। ऋचामें प्रार्थना की गयी है कि मनुके पैतृकमार्गसे हम च्युत न हों[1]। जबतक कोई व्यक्ति अपने आचार-विचारसे इतनी प्रतिष्ठा अर्जित नहीं कर लेता कि उसे समाजके सभी वर्गोंमें आदरकी दृष्टिसे देखा जाय तथा उसकी योग्यता और क्षमतापर किसीको संदेह न हो, तबतक उसके द्वारा आचरित विधि दैवी-विधिकी भाँति मान्य नहीं हो सकती। ऋग्वेदकी उक्त ऋचासे यह स्पष्ट है कि मनुकी विधि और धार्मिक व्यवस्थाएँ तथा उनके आचार न केवल समाजमें आदरकी दृष्टिसे देखे जाते थे, अपितु लोग उनका पालन और अनुकरण भी करते थे।

मनुको जीवन-प्रदायिनी ओषधियोंका अनुसंधान और धारण करनेवाला माना गया है। जिस ओषधिकी खोज मनुने की थी और जिसका उन्होंने वरण किया, वह लोगोंके कष्टका निवारण करनेवाली थी, इसलिये लोग उस ओषधिको प्राप्त करनेकी कामना करते थे[2]। निगमनिर्दिष्ट यज्ञ रोग-नाशक भी हैं। विधि और हवि दोनों ही मानव-प्राणीके लिये समान रूपसे उपयोगी हैं। मनुने इन दोनोंका वरण और पालन सर्वप्रथम स्वयं किया। उन्होंने प्रथम शासकके रूपमें विधिके आधारपर समाज-व्यवस्थाका निर्माण किया और सर्वप्रथम यज्ञ करके लोगोंको ओषधियोंके प्रयोगकी जानकारी दी। तैत्तिरीयसंहिता[3] और ताण्ड्यब्राह्मणमें[4] स्पष्टतया मनुके वचनोंको भेषज कहा गया है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि मनुकी व्यवस्थाएँ भेषज मानी जाती थीं। वैदिक वाङ्मयकी इन सूचनाओंसे यह भी प्रमाणित है कि आदिराज मनुने प्राचीन कालमें ही किसी ऐसे धर्मशास्त्रकी रचना की थी, जिसे अन्य सभी मनु तथा परवर्ती विद्वान् जीवन-प्रदायिनी ओषधि मानते थे[5]।

तैत्तिरीयसंहिता एवं मैत्रायणीसंहिता,[6] ऐतरेय-ब्राह्मण, निरुक्त तथा प्रायः पुराणोंमें[7] मनुपुत्रोंके एक ऐसे आचारका वर्णन है, जिसका सम्बन्ध पिताके जीवनकालमें ही पैतृक सम्पत्तिके विभाजनसे है। कथाका सारांश इस प्रकार है—'मनुका एक पुत्र (श्रीमद्भागवत ९।४ आदिके अनुसार पौत्र, नभगका पुत्र) नाभानेदिष्ठ ब्रह्मचर्याश्रमें विद्याध्ययन कर रहा था। उसके भाइयोंने उसको सम्पत्तिमें भाग दिये बिना पिताकी अनुमतिसे पैतृक सम्पत्तिका विभाजन कर लिया। उसने भाइयोंके पास आकर अपना भाग माँगा। भाइयोंने उसे पिताके पास जानेको कहा। वह पिताके पास गया और कहा कि मेरे भाई मेरा हिस्सा बाँटकर खा गये। पिताने उसे आश्वस्त किया और कहा कि तुम अङ्गिरा ऋषिके पास जाओ। वह स्वर्गलोक जानेके लिये यज्ञ कर रहे हैं, किंतु छठे दिनके कृत्यको वह भूल जाते हैं। तुम जाकर वहाँ ऋग्वेदके दसवें मण्डलके ६१वें और ६२वें सूक्तोंका गान करो। वे तुम्हें एक सहस्र गौ दक्षिणामें देंगे। नाभानेदिष्ठ अङ्गिराके पास गया और उन्हें छठे दिनके कृत्यके मन्त्रोंको पढ़ाया। जिससे उन्हें स्वर्ग जानेका मार्ग सुलभ हो गया। स्वर्ग जाते समय अङ्गिराने नाभानेदिष्ठको एक सहस्र गौ दक्षिणामें दी। यही उसकी सम्पत्ति हुई।'

मनुकी पारिवारिक समस्याओंसे सम्बन्धित उक्त कथासे हमें यह प्रतीत होता है कि लोग उनके प्रत्येक क्रिया-कलापके प्रति रुचि रखते थे और उनके जीवनकी महत्त्वपूर्ण घटनाओंके आधारपर साहित्यकी रचना भी करते थे। यह घटना संक्षेपमें ऋग्वेदके दसवें मण्डलके

१-मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः॥ (ऋक्० ८।३०।३)

२-या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शंतमा वृषणो या मयोभु। यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि॥ (ऋक्० २।३३।१३)

३-य द्वै किं च मनुरवदत्तद् भेषजम् (तैत्ति० सं० २।२।१०।२)।

४-मनुर्वै यत्किं चावदत्तद् भेषजं भेषजतायाः (ताण्ड्यब्रा० २३।१६।१७)।

५-मनुस्मृति (१।१०२), महाभा० (१।७३।९), श्रीमद्भा० (३।२२।२८) आदि।

६-(क) मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत् सना भानेदिष्ठं ब्रह्मचर्यं वसन्तं निरभजत्। आगच्छत् सोऽब्रवीत् कथा मा निभागिति न त्वा निरभाक्षमित्यब्रवीदंङ्गिरस इमे सत्रमासते ते॥ (तैत्ति० सं० ३।१।९।२९)

(ख) मनोर्वै जाया आसन् दश पुत्रा-अष्टपुत्राः—सप्तपुत्राः-चतुष्पुत्रा-द्विपुत्रैकपुत्रा ये नवासंस्तानेक उपसमक्राम पञ्चासस्ता इमाः पञ्चदर्शत इमान्पञ्च निरभजन्यदेव किंच वै मनुमेवोपाधावन्मना अनाथन्त तेभ्य एता, समिधः प्रायच्छत् भ्रातृत्वं भावयति य एवं विद्वानेताः समिध आदधाति (मैत्रा० सं० १।५।८)।

७-ऐत० ब्रा० (५।२।१४)-में भी उपर्युक्त कथा आयी है।

६१वें और ६२वें सूक्तोंमें भी आयी है। इन सूक्तोंके ऋषि नाभानेदिष्ठ ही हैं। उन्हें '**नाभानेदिष्ठो मानवः**' कहा गया है। इससे यह सिद्ध है कि नाभानेदिष्ठ मनुके पुत्र थे। इन ऋग्वेदीय सूक्तोंमें भाइयोंद्वारा नाभानेदिष्ठको पैतृक सम्पत्तिका भाग न दिये जाने, नाभानेदिष्ठका अङ्गिराके यज्ञमें जाने, सप्त होताओंको यज्ञके छठे दिनके कृत्यके भूले मन्त्रोंका पाठ कराने और यज्ञको पूर्ण करानेकी कथा लगभग उसी प्रकार वर्णित है,[१] जिस प्रकार तैत्तिरीयसंहिता, मैत्रायणीसंहिता और ऐतरेयब्राह्मण तथा भागवतादि पुराणोंमें वर्णित है। एक मन्त्रमें नाभानेदिष्ठका नाम भी आया है[२] और अनेक मन्त्रोंमें उन्होंने अपना परिचय मनु-पुत्रके रूपमें दिया है[३]। इन मन्त्रोंमें अङ्गिराका भी नाम आया है[४]। ऐसा प्रतीत होता है कि तैत्तिरीयसंहिता, मैत्रायणीसंहिता और ऐतरेयब्राह्मणकी उक्त कथाका आधार ऋग्वेदीय उपर्युक्त दो सूक्त हैं। ये विवरण ऐसे नहीं हैं, जिन्हें पौराणिक अथवा काल्पनिक गाथा कहकर टाल दिया जाय। यह समग्री मनु-परिवारकी एक ऐसी घटनाका प्रदर्शन कराती है, जो सभी परिवारोंमें सामान्यतया घटित होती रहती है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र और बौधायनधर्मसूत्रमें भी मनु-पुत्रोंद्वारा पैतृक सम्पत्तिके विभाजनका उल्लेख है[५]। इससे यह पता चलता है कि वैदिककालसे धर्मसूत्रकालतक मनु-पुत्रोंद्वारा सम्पत्ति-विभाजनकी घटना एक ऐतिहासिक तथ्य मानी जाती रही। जब कोई घटना ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें लंबे कालतक विद्वानोंद्वारा स्वीकार की जाती रही हो, तब उससे सम्बन्धित पात्र या पात्रोंको ऐतिहासिक व्यक्ति माननेमें किसीको कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये।

पराशरस्मृतिके एक श्लोकमें कहा गया है कि 'सत्ययुगमें मनुस्मृति, त्रेतामें गौतमस्मृति, द्वापरमें शङ्ख-लिखितस्मृति और कलियुगमें पराशरस्मृति मान्य है[६]। इससे भी प्रमाणित होता है कि आदि मनुने सत्ययुगके आरम्भमें ही किसी धर्मशास्त्रकी रचना की और ये वही मनु थे, जिन्होंने वैदिक सूक्तोंकी रचना की थी। मनुके उस धर्मशास्त्रको सभी लेखकोंने आधारग्रन्थ मानकर धर्मसूत्रों अथवा स्मृतियोंकी रचनाएँ की हैं। मनुकी व्यवस्थाओंका किसीने विरोध नहीं किया है। इससे यह भी सिद्ध है कि मनुकी व्यवस्थाओंको जो आदर प्रारम्भिक युगमें ही मिला, वह विक्रमी संवत् १०वीं शतीतक बना रहा। कुछ विद्वानोंका यह मत कि मनुस्मृति बहुत बादकी रचना होनेसे वैदिक मनु और स्मृतिकार मनु एक ही व्यक्ति नहीं माने जा सकते, भ्रामक है। इस भ्रमका समाधान ऊपरकी विवेचनामें किया जा चुका है।

वस्तुस्थिति यह है कि वैदिक मनु और स्मृतिकार मनुको दो भिन्न व्यक्ति माननेमें ही कठिनाई है। जब वेदमें ही यह उल्लिखित है कि मनुके पैतृक मार्गसे च्युत नहीं होना चाहिये[७]। तब इस बातकी शंका उठानेकी गुंजाइश नहीं रह जाती कि वैदिक मनु और स्मृतिकार मनु दो भिन्न व्यक्ति थे। मनुकी जिन व्यवस्थाओंकी ऋग्वेदने प्रशंसा की है, उन्हींको तैत्तिरीयसंहिता[८] और ताण्ड्यब्राह्मणमें[९] भेषज कहा गया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ऋग्वेदीय मनु और तैत्तिरीयसंहिता तथा ताण्ड्यब्राह्मणके मनु एक ही व्यक्ति हैं। इस विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि वैदिक मनु और स्मृतिकार मनु एक ही व्यक्ति हैं[१०]।

१-इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा ब्रह्म क्रत्वा शच्यामन्तराजौ। क्राणा यदस्य पितरा मंहनेष्ठाः पर्षत् पक्थे अहन्ना सप्त होतॄन्॥ (ऋक्० १०।६१।१)

२-तद्बन्धुः सूरिर्दिवि ते धियंधा नाभानेदिष्ठो रपति प्र वेनन्। (ऋक्० १०।६१।१८)।

३-प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥ (ऋक्० १०।६२।१ से ४) ४-अङ्गिरसो वो अस्तु॥ (ऋक्० १०।६२।१ से ४)

५-आप० धर्मसू० (२।६।१४।११) बौधा० धर्मसू० (२।२।३।२)।

६-कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः। द्वापरे शङ्खलिखितौ कलौ पाराशरः स्मृतः॥ पराशरस्मृ० श्लो० २४ (बीस स्मृतियाँ, भाग २)

७-ऋक्० (८।३०।३), ८-तैत्ति० सं० (२।२।१०।२), ९-ताण्ड्यब्रा० (२३।१६।१७)।

१०-कुछ लोग भार्गवीय मनुस्मृतिको स्वायम्भुव मनुकी और नारदीय मनुसंहिताको वैवस्वत मनुकी या नारदजीकी रचना मानते हैं। भार्गवीयपर प्रायः २० संस्कृत टीकाएँ हैं तथा नारदीयमनु-संहितापर भवस्वामीकी टीका प्रकाशित है। जो हो, मानवकल्पसूत्र या श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्रके साथ भार्गवीय मनुस्मृतिके रचयिता स्वायम्भुव मनु ही प्रसिद्ध हैं। रूपोंके मूलवक्ता इन्हें ही मानकर शेष मनुष्योंको इनका मर्मज्ञ तथा अनुसरण-कर्ता माननेसे कोई विप्रतिपत्ति नहीं होती।

पवमान-सूक्त

सहस्राक्षं शतधारमृषिभिः पावनं कृतम्। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १ ॥
येन पूतमन्तरिक्षं यस्मिन्वायुरधिश्रितः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ २ ॥
येन पूते द्यावापृथिवी आपः पूता अथो स्वः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ३ ॥
येन पूते अहोरात्रे दिशः पूता उत येन प्रदिशः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ४ ॥
येन पूतौ सूर्याचन्द्रमसौ नक्षत्राणि भूतकृतः सह येन पूताः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ५ ॥
येन पूता वेदिरग्नयः परिधयः सह येन पूताः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ६ ॥
येन पूतं बर्हिराज्यमथो हविर्येन पूतो यज्ञो वषट्कारो हुताहुतिः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ७ ॥
येन पूतौ व्रीहियवौ याभ्यां यज्ञो अधिनिर्मितः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ८ ॥
येन पूता अश्वा गावो अथो पूता अजावयः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ९ ॥
येन पूता ऋचः सामानि यजुर्ब्राह्मणं सह येन पूतम्। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १० ॥
येन पूता अथर्वाङ्गिरसो देवताः सह येन पूताः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ ११ ॥
येन पूता ऋतवो येनार्तवा येभ्यः संवत्सरो अधिनिर्मितः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १२ ॥
येन पूता वनस्पतयो वानस्पत्या ओषधयो वीरुधः सह येन पूताः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १३ ॥
येन पूता गन्धर्वाप्सरसः सर्पपुण्यजनाः सह येन पूताः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १४ ॥
येन पूताः पर्वता हिमवन्तो वैश्वानराः परिभुवः सह येन पूताः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १५ ॥
येन पूता नद्यः सिन्धवः समुद्राः सह येन पूताः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १६ ॥
येन पूता विश्वेदेवाः परमेष्ठी प्रजापतिः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १७ ॥
येन पूतः प्रजापतिर्लोकं विश्वं भूतं स्वराजभार। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १८ ॥
येन पूतः स्तनयित्नुरपामुत्सः प्रजापतिः। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ १९ ॥
येन पूतमृतं सत्यं तपो दीक्षां पूतयते। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ २० ॥
येन पूतमिदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। तेना सहस्रधारेण पवमानः पुनातु माम्॥ २१ ॥

जो सहस्रों नेत्रवाला, सैकड़ों धाराओंमें बहनेवाला तथा ऋषियोंसे पवित्र किया गया है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे अन्तरिक्ष पवित्र हुआ है, वायु जिसमें अधिष्ठित है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे द्युलोक और पृथिवी, जल और स्वर्ग पवित्र किये गये हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे रात-दिन और दिशा-प्रदिशाएँ पवित्र हुई हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे सूर्य और चन्द्रमा, नक्षत्र और भौतिक सृष्टि रचनेवाले पदार्थ पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे वेदी, अग्नि और परिधि पवित्र की गयी हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे कुशा, आज्य, हवि, यज्ञ और वषट्कार तथा हवन की हुई आहुति पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिसके द्वारा व्रीहि और जौ (अर्थात् प्राणापान) पवित्र हुए हैं, जिससे यज्ञका निर्माण हुआ है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे अश्व, गौ, अजा, अवि और [पुरुषसंज्ञक] प्राण पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिसके द्वारा ऋचाएँ, साम, यजु और ब्राह्मण पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे अथर्वाङ्गिरस और देवता पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे ऋतु तथा ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले रस पवित्र हुए हैं एवं जिससे संवत्सरका निर्माण हुआ है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे वनस्पतियाँ, पुष्पसे फल

देनेवाले वृक्ष, ओषधियाँ और लताएँ पवित्र हुई हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे गन्धर्व और अप्सराएँ, सर्प और यक्ष पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे हिममण्डित पर्वत, वैश्वानर अग्नि और परिधि पवित्र हुई हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे नदियाँ, सिंधु आदि महानद और सागर पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे विश्वेदेव और परमेष्ठी प्रजापति पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे पवित्र होकर प्रजापतिने समस्त लोकको, भूतोंको और स्वर्गको धारण किया है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे विद्युत् और जलोंके आश्रय प्रजापालक मेघ पवित्र हुए हैं, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे ऋत और सत्य पवित्र हुए हैं, जो तप और दीक्षाको पवित्र करता है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे। जिससे जो कुछ भूत और भविष्य है, सभी पवित्र हुआ है, उस सहस्रधार सोमसे पवमान मुझे पवित्र करे।

[अथर्ववेद पैप्पलादसंहिता]

वैदिक जीवन-दर्शनके विविध आयाम

(१) जीवनकी सात मर्यादाएँ

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥

(अथर्व० ५।१।६)

मनुष्यके जीवनके लिये वेदने सात मर्यादाएँ निश्चित की हैं। जिनका वर्णन यास्कमुनिने निरुक्तमें किया है। वे निम्नलिखित हैं—

(१) स्तेय-चोरी, (२) तल्पारोहण-व्यभिचार, (३) (४) ब्रह्महत्या-नास्तिकता, (४) भ्रूणहत्या-गर्भघात, (५) सुरापान-शराब पीना, (६) **दुष्टस्य कर्मणः पुनः-पुनः सेवा**—दूषित कर्मका बार-बार सेवन और (७) **पातकेऽनृतोद्यम**—पाप करनेके बाद उसे छिपानेके लिये झूठ बोलना। मर्यादा कहते हैं सीमाको। कर्तव्य-शास्त्रकी ये सात सीमाएँ हैं। कर्तव्य-शास्त्र इन सीमाओंके अंदर रहता है। इन सीमाओंका अतिक्रमण न करना सत्कर्तव्य या धर्म है।

इन मर्यादाओंमेंसे एक मर्यादाका भी जो उल्लंघन करता है, वह पापी होता है।

जो इन सातों मर्यादाओंमें रहता है, वह परमात्माका उपमान अर्थात् उन्हींके समान बन जाता है। परमात्मामें और उसमें परस्पर उपमानोपमेय भाव हो जाता है।

परमात्मा जो स्कम्भरूप अर्थात् भुवनरूप प्रासादका स्तम्भरूप है, वह उपमीभूत मनुष्यके हृदय-नीडमें रहता है। इसी हृदय-मन्दिरमें मर्यादाबद्ध मनुष्य परमात्माका भजन और उसका प्रत्यक्ष कर सकता है।

मनुष्यके हृदयमें ही परमात्माका भान क्यों होता है, इस प्रश्नके उत्तरके लिये ही मन्त्रमें '**उपमस्य**' यह पद दिया गया है। जीवात्माकी उपमा परमात्मासे और परमात्माकी जीवात्मासे है। ये दोनों ही अप्राकृतिक हैं, प्रकृतिसे विलक्षण हैं। इसीलिये वेद तथा उपनिषदोंमें प्रकृति-वृक्षपर बैठे दो पक्षियोंसे जीवात्मा और परमात्माको रूपित किया गया है। रूपकका अभिप्राय यही है कि जीवात्मा तथा परमात्मा परस्पर सदृश हैं और प्रकृतिसे विलक्षण भी। तभी तो जीवात्मा एवं परमात्मामें परस्पर सादृश्य अर्थात् उपमानोपमेय भाव है। जब मनुष्यकी देहमें साधारण जीवात्मा भी परमात्माके साथ सादृश्य रखता है, तब मनुष्यकी उस आत्माको तो, जिसने कि सात मर्यादाओंमें रहकर अपने आपको पवित्र कर लिया है, अवश्य ही परमात्माका उपमीभूत होना चाहिये।

परमात्मा पथोंकी समाप्तिपर है। सभी धर्मपथोंका केन्द्र-स्थान वेद है। इसी केन्द्रसे धर्मके भिन्न-भिन्न पथ निकले हैं। इन सब पथोंका विसर्ग अर्थात् समाप्ति वेदपर होती है। इसी समाप्तिपर परमात्मा बैठा हुआ है। अर्थात् परमात्माके सत्यस्वरूपका ज्ञान सब धर्मपथोंके केन्द्रीभूत वेदोंद्वारा ही सम्भव है। '**पथां विसर्गे**' का एक और अभिप्राय भी सम्भव है। वेदोंमें जगत् एवं ब्रह्मकी व्याप्य-व्यापकताका निरूपण है। जगत् व्याप्य और ब्रह्म

व्यापक है। ब्रह्ममें जगत् व्यापक नहीं, अपितु सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मके एकदेशमें विद्यमान रहता है। इसी आशयको अधिक स्पष्ट करनेके लिये वेदोंमें ब्रह्म और जगत्की दैशिक सत्ताका दृष्टान्त नीड और वृक्षसे दिया जाता है। उसमें ब्रह्मको वृक्ष और जगत्को नीड बताया गया है। नीड कहते हैं घोंसलेको। घोंसला वृक्षके एक देशपर आश्रित रहता है और वृक्ष घोंसलेसे बहुत बड़ा होता है। इसी प्रकार परमात्मारूपी वृक्ष इस जगत्रूपी नीडका आश्रय है और जगत्से बहुत बड़ा है। ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र और तारादिकोंके समुदायको ही जगत् कहते हैं। ये ग्रह-नक्षत्रादि अपने-अपने नियत पथोंपर घूम रहे हैं, इनमेंसे कोई भी विपथगामी नहीं होता। अतः जहाँ-जहाँ जगत्की सत्ता है, वहाँ-वहाँ हम पथोंकी सत्ताकी कल्पना भी कर सकते हैं; परंतु जहाँ जगत्की अन्तिम सीमा है, जिससे परे जगत्की सत्ता नहीं, वहाँ पृथिव्यादिके घूमनेका कोई पथ भी नहीं, यह स्पष्ट है। वह स्थान '**पथां विसर्गे**' है। वहाँ पथोंका विसर्ग अर्थात् समाप्ति हो जाती है। उससे आगे कोई पथ नहीं, परंतु परमात्मा वहाँ भी विद्यमान है। अतः परमात्माकी स्थिति '**पथां विसर्गे**' पर भी है।

वह स्कम्भरूप परमात्मा धारक पदार्थोंमें भी स्थित है। स्कम्भका अर्थ है—धारण करनेवाला, पकड़नेवाला। परमात्माके स्कम्भरूपका वर्णन अथर्ववेद (१०।७)-में बहुत उत्तम शब्दोंमें किया गया है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा, वायु पृथिवी आदि पदार्थ संसारमें धारक-रूपसे प्रसिद्ध हैं। ये सब प्राणी जगत्को तथा परस्परको धारण करनेवाले हैं। परमात्मा इन धारकोंका भी धारक है। वह इन धारकोंमें भी स्कम्भरूप (धारकरूप)-से स्थित है। अर्थात् संसारका मूलाधार या मूलधारक परमात्मा ही है। अतः भक्ति, उपासना और मनन इसी महान् शक्तिका करना चाहिये; क्योंकि यही सर्वोच्च है, सर्वश्रेष्ठ है, सर्वाधार है।

(२) सत्य और प्रिय भाषण

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः॥

(अथर्व० १२।१।५८)

—इस मन्त्रमें मनुष्य कैसा बोले यह प्रश्न है? मन्त्रमें ही उत्तर दिया गया है कि '**यदीक्षे**'—जैसा देखे वैसा ही बोले, विपरीत न बोले। अर्थात् सदैव सत्य बोले।

प्रश्न हो सकता है कि क्या सत्यको कड़वे रूपमें भी बोल दे, उत्तर है, नहीं। अपितु मीठा बोले '**मधुमतः**'। कड़वा न बोले। इस प्रकार बोले कि सत्य भी हो और मीठा भी हो।

मनुष्य तेजस्वी बने—'**त्विषीमान्**'। सत्यके पालनसे मनुष्यमें तेज आ जाता है। इस तेजकी प्राप्ति अवश्य करनी चाहिये।

मनुष्यको क्रियाशील होना चाहिये—'**जूतिमानवान्**'। सुस्त होना और समय खराब करना मनुष्यके लिये उचित नहीं।

क्रोधी शत्रुओंका नाश भी करना चाहिये—'**दोधतः**'। जिनके स्वभावमें ही क्रोध है, ऐसे शत्रुओंके साथ उदासीनता या क्षमावृत्ति नहीं रखनी चाहिये।

(३) राष्ट्ररक्षाके उपाय

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥

(अथर्व० ११।५।१७)

राजाको स्वयं कृतब्रह्मचर्य तथा तपस्वी होना चाहिये। वह प्रजामें ब्रह्मचर्यके आचरण तथा तपोमय जीवनद्वारा ही प्रजाकी रक्षा कर सकता है। आचार्य जब ब्रह्मचारीकी इच्छा करे, तब उस आचार्यको स्वयं भी ब्रह्मचारी होना चाहिये। उस समय वह गृहस्थ-वृत्तिवाला न हो।

(४) हृदय और मनसे परस्पर प्रेमी बनो

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

(अथर्व० ३।३०।१)

परमात्मा परिवारके लोगोंको उपदेश देते हैं कि मैंने तुम सबके लिये यह मार्ग नियत किया है कि— तुम परस्पर एक-हृदय और एक-मन होकर रहो तथा परस्पर द्वेष न करो। अपितु एक दूसरेके साथ ऐसी प्रीति करो, जैसे गौ अपने नवजात बछड़ेके साथ करती है।

मन्त्रमें गौका नाम अघ्न्या है। अघ्न्याका अर्थ है— न मारने योग्य। अतः गोमेधका पौराणिक भाव वेदाभिमत नहीं, क्योंकि अघ्न्या पद ही गोघातका निषेधक है।

(५) पति और पत्नीमें प्रेम

यद्यज्जाया पचति त्वत् परःपरः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः।
सं तत् सृजेथां सह वां तदस्तु संपादयन्तौ सह लोकमेकम्॥

(अथर्व० १२।३।३९)

पति और पत्नीको मिलकर गृहस्थ-लोकका सम्पादन करना है। अतः इस गृहस्थ-लोकमें उनमें परस्पर कलह विद्वेष न होने चाहिये। इस लोकमें जाया और पति मिलकर ही सभी कार्योंको करें। ऐसे कल्याणकारी आचरणों एवं कार्योंके सम्पादनसे ही अभीष्ट सिद्ध होता है।

(६) परिवारमें वृद्धोंकी सेवा करो

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तःसधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥

(अथर्व० ३।३०।५)

ज्यायस्वन्तः—तुम्हारे परिवारमें बूढ़ोंका वास हो। परिवारमें बूढ़े माता-पिताओंके वाससे भाई और बहिनोंमें परस्पर द्वेष-कलहकी सम्भावना कम हो जाती है तथा उनके अधिक अनुभवी होनेके कारण परिवार कई प्रकारके दुःखों और कष्टोंसे बचा रहता है। अतः इस मन्त्रमें पारिवारिक जनोंके प्रति परमात्माने उपदेश दिया है कि तुम वृद्धजनोंवाले होओ। उनका निरादर-तिरस्कार करके उन्हें घरसे बाहर मत कर दो।

संराधयन्तः—अकेला मनुष्य कार्यसिद्धि भलीप्रकार नहीं कर सकता। अतः उसे सहयोगकी आवश्यकता रहती है। इसलिये इस मन्त्रमें उपदेश दिया गया है कि हे पारिवारिक जनो! तुम सब परस्पर मिलकर कार्योंकी सिद्धि करो।

सधुराः—परिवाररूपी रथकी एक धुरामें मिलकर कंधे लगाओ।

वि यौष्ट—सम्पत्ति बाँटकर अलग-अलग न हो जाओ, मिलकर रहनेमें बहुत बुद्धिमत्ता है। साथमें मिलकर कार्य करो, इससे प्रत्येक परिवार छोटे रूपमें एक सहोद्योग-समितिका काम दे सकता है।

वल्गु—जब-जब मिलो, तब-तब प्रिय मधुर वाक्य परस्पर बोला करो।

संमनसः—साथ ही तुम बहुदेह और एकमन होकर रहो।

(७) गृहस्थी गृहस्थके प्रत्येक व्यक्तिका सत्कार करे

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये॥

(अथर्व० ९।५।३०)

उपह्वये—अपना, पिताका, पुत्रका, पौत्रका पितामहका, धर्मपत्नीका, जन्मदात्री माताका, चाची, ताई आदि जो मातृतुल्य हैं उन सभीका तथा सभी प्रियजनोंका सत्कार करना प्रत्येक गृहस्थीका अवश्यकर्तव्य धर्म है।

अभिप्राय यह कि इन सम्बन्धियोंके अतिरिक्त

अन्य जितने भी पूज्य गुरुजन समादरणीय-सेवनीय जन हैं—उन सबका अपने माता-पितादिके समान ही तन-मन-धनसे निष्कपट-निश्छल होकर सेवा करनी चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्य सतत अभ्युदयको प्राप्त करता है।

(८) अतिथि देव-यजन-रूप है

यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते॥

(अथर्व० ९।६।३)

अभिप्राय यह है कि अतिथियोंका दर्शनमात्र भी लाभकारी है तो फिर उनका पूजन और सत्कार तो अवश्य ही श्रेयस्कर होना चाहिये।

अतः **'अतिथिदेवो भव'** के वैदिक उद्घोषके अनुसार अतिथि-अभ्यागतकी देववत् सेवा-परिचर्या करनी चाहिये। अतिथिकी सेवा देव-सेवा ही है। उसके प्रसन्न होनेपर समस्त देवता प्रसन्न होकर कल्याणका मार्ग प्रशस्त करते हैं।

(९) पितृभक्ति

उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्वस्तये।
दर्शन्नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आवर्व्रततः कृणवो वपूंषि॥

(अथर्व० ५।१।८)

उपर्युक्त मन्त्रमें यह बताया गया है कि पुत्रको कैसे पिताका सत्कार करना चाहिये। इसके लिये पितृ-विषयमें निम्नलिखित गुण मन्त्रमें दर्शाये हैं—

(क) **'क्षत्रम्'**—जो दुःखितों, पीड़ितों और अनाथोंका रक्षक अर्थात् पालक हो।

(ख) **'ज्येष्ठम्'**—जो उम्रमें पुत्रकी आयुकी अपेक्षा अधिक आयुवाला हो। अभिप्राय यह कि नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यकी समाप्तिके बाद जो गृहस्थाश्रममें प्रवृत्त हो।

(ग) **'मर्यादम्'**—सात वैदिक मर्यादाओंके अनुकूल जो अपना जीवन व्यतीत करे।

(घ) **'वरुण'**—वह जो श्रेष्ठ कर्मोंको करे।

प्राचीन लोग भी ऐसे ही पिताओंका वाक् आदि द्वारा सत्कार करते आये हैं। अतः पितृसेवा अवश्यकर्तव्य वैदिक शिष्टाचार है।

पितृजनोंको चाहिये कि वे जिन मर्यादाओंके अनुसार अपना जीवन सार्थक करते आये हैं, उन मर्यादाओंका उपदेश अपनी संतानों तथा अन्य लोगोंके प्रति अवश्य करें, ताकि ये लोग भी उनके क्रियात्मक जीवन-पथपर चल सकें।

उन्हें यह भी चाहिये कि वे गृहस्थमें गृहस्थ-धर्मके व्रतोंको न तोड़ें; अपितु गृहस्थ-धर्मोंके अनुसार व्रती होकर अक्षुण्ण वंश-वृद्धिके लिये ईश-प्रार्थना करें।

पितृसेवासे स्वस्ति अर्थात् कल्याण होता है। अतः पिता-पुत्र दोनोंको वैदिक मर्यादाओंकी सीमामें रहकर अपने-अपने कर्तव्योंका सम्यक्तया पालन करते रहना चाहिये।

(१०) अन्नदान तथा यज्ञद्वारा दान

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम्।

(अथर्व० ६।१२३।४)

'पचामि'—अन्नदानकी यही महिमा है कि स्वयं पकाकर अन्नदान किया जाय। यही अन्नदान श्रद्धाका सूचक है। **'श्रद्धया देयम्'** का भी यही आशय है। दाताके चित्तकी शुद्धि दान कितना दिया, इससे नहीं होती, अपितु दान कितनी श्रद्धासे दिया, इसीसे उसके चित्तकी शुद्धि होती है।

'यजे'—यज्ञ करना भी दान ही है। वस्तुतः यह महादान है। इससे बहुतोंका उपकार होता है।

'दत्तान्मा यूषम्'—वैदिक समाजके प्रत्येक व्यक्तिके मुखसे ये शब्द निकलने चाहिये कि 'मैं दान-कर्मसे पृथक् न होऊँ'।

सम्पूर्ण वैदिक जीवन-दर्शन ही यज्ञमय-परोपकारमय एवं स्वस्तिमय जीवन जीनेकी प्रेरणा प्रदान करता है। अतः मानवमात्रको वेद-निर्दिष्ट कर्मोंका अवश्य पालन करना चाहिये।

(११) सर्वदिङ्निर्वैरता

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात्।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि॥

(अथर्व० ६।४०।३)

इस मन्त्रका अभिप्राय यह है कि किसी भी दिशासे चाहे कोई व्यक्ति हो या समाज अथवा राष्ट्र हमारे साथ वैर-विरोध करनेवाला न हो, और न हम ही किसी भी दिशामें स्थित किसी भी व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्रके साथ वैर-विरोध करनेवाले हों। अर्थात् हम सबको मित्रकी दृष्टिसे देखें तथा और सब हमको मित्रकी दृष्टिसे देखें।

इस मन्त्रमें वैयक्तिक वैर-त्यागका वर्णन ही नहीं, अपितु निर्वैरताका बहुत ऊँचा आदर्श प्रस्तुत है। क्योंकि इसमें समाज, राष्ट्र तथा अन्य संगठनोंके साथ भी वैर-विरोध-त्यागका मूल पाया जाता है और यह भाव वैयक्तिक वैर-त्यागके भावसे बहुत ऊँचा है। इस मन्त्रमें वर्णित वैर-त्यागके सिद्धान्तोंको सदा दृष्टिमें रखना चाहिये।

वैर-त्याग दोनों ओरसे होना चाहिये। तभी परस्पर मैत्री और स्नेह हो सकता है। वैर-त्यागके लिये मनमें वैसी ही भावना भी हो और यह भावना उत्कट हो। दबी हुई अवस्थामें न हो, प्रत्युत इतनी उत्कट हो कि उसका प्रभाव व्यक्तिकी दैनिक प्रार्थनाओंमें भी हो, जिससे वेद हमारे जीवनका एक अंग बन जाय, वास्तवमें तभी परस्पर मैत्री हो सकती है। मनमें वैर-भावके होते हुए कर्मोंमें मैत्रीका होना सर्वथा असम्भव है।

अतः परस्पर मैत्री एवं वैर-त्यागके लिये यह अनिवार्य सिद्धान्त है कि सहज संत-स्वभावकी भाँति हम मन-वचन-कर्मसे एक-समान हों।

अर्थात् जो मनमें हो, वैसी ही वाणी बोलें और जैसी वाणी बोलें वैसे ही कर्मोंका सम्पादन करें—आचरण एवं व्यवहार करें।

वैदिक साहित्यमें नारी

(पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

वेदोंके मुख्य विषय हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान, जो समस्त मानव-जातिके धर्म हैं। इनमें केवल स्त्री अथवा केवल पुरुषको लक्ष्य करके अधिक बातें नहीं कही गयी हैं। जो कुछ है, सबके लिये है। वेद इतिहास भी नहीं हैं, जिससे स्त्री और पुरुषवर्गके विषयमें कुछ विशेष चर्चाका प्रसंग आये; तथापि उनमें इतिहासके बीज और साधन-सामग्री अवश्य हैं। वेद ज्ञानके भण्डार हैं; उस भण्डारमें खोज करनेपर नारीके महत्त्वको प्रकाशित करनेवाले विषय भी अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। वेद चार हैं—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। इनमेंसे ऋग्वेदमें ही कुछ ऐसी बातें पायी जाती हैं, जो प्राचीन कालसे चली आनेवाली आर्य नारीकी सभ्यता और संस्कृतिपर प्रकाश डालती हैं। कुछ विदुषी नारियाँ अपने सद्गुणोंके कारण तथा मन्त्रोंका साक्षात्कार करनेके कारण ऋषिकाओंके रूपमें प्रतिष्ठित हुई हैं। यजुर्वेदमें नारीके विषयमें बहुत कम चर्चा है। सामवेदमें तो है ही नहीं। अथर्ववेदमें चर्चा अवश्य है, पर ऋग्वेदसे अधिक नहीं; अतः इस लेखमें जो कुछ कहा जायगा, उसमें ऋग्वेदमें आयी हुई बातोंका ही प्रायः दिग्दर्शन होगा। अन्य वेदों तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थोंकी मुख्य-मुख्य बातोंका भी इसीमें समावेश समझना चाहिये।

पहले उन महिमामयी नारियोंके सम्बन्धमें निवेदन किया जाता है, जो मन्त्र-द्रष्ट्री ऋषिकाओं अथवा देवियोंके रूपमें प्रसिद्ध हैं। जैसे धनकी देवी लक्ष्मी, शक्तिकी दुर्गा और विद्याकी देवी सरस्वती हैं, वैसे ही अदिति, उषा, इन्द्राणी, इला, भारती, होला, सिनीवाली, श्रद्धा, पृश्नि आदि वैदिक देवियाँ अनेक तत्त्वोंकी अधिष्ठात्री हैं। इन्हें कहीं देवमाता और कहीं देवकन्या बताया गया है। इन सबमें अदितिदेवीका उल्लेख सबकी अपेक्षा अधिक है। ये सर्वशक्तिमती, विश्वहितैषिणी, सर्वग्राहिणी और स्वाधीन मानी गयी हैं। अदिति ही आकाश, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र और समस्त देवता हैं। पञ्चजन (गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस)

भी वे ही हैं। अदिति ही जन्म और उसके कारण हैं[१]। कहीं-कहीं अदितिके साथ दितिका भी उल्लेख है—'**अदितिं दितिं च।**' इन्हीं दितिको पुराणोंमें दैत्योंकी माता कहा गया है।

ऋग्वेदमें कई स्थलोंपर सीताकी स्तुति देवी कहकर की गयी है—'सौभाग्यवती सीता! हम तुम्हारी स्तुति करते हैं। तुम हमें धन और सुन्दर फल दो। पूषा सीताको नियमित करें' (४।५७।६-७)। उषाका अर्थ प्रभात है, किंतु ऋग्वेदमें लगभग तीन सौ बार 'उषा' का 'देवी'-रूपमें स्तवन किया गया है। सूक्त-के-सूक्त उषादेवीकी स्तुतिसे भरे पड़े हैं। वहाँ इनके लिये सत्यमनीषिणी और दीप्तिमती आदि गुणबोधक विशेषण दिये गये हैं[२]। वे नित्य यौवन-सम्पन्ना, शुभ्रवसना और धनाधीश्वरी बतायी गयी हैं। सूर्यकी पुत्रीका नाम सूर्या है। इन्हें ऋग्वेदमें देवी और ऋषिका भी कहा गया है। सूर्याने दशम मण्डलके ८५ वें सूक्तका साक्षात्कार किया था। उसमें बहुत-सी ज्ञातव्य बातें हैं। सूर्याके विवाहका जो वर्णन उपलब्ध होता है, उससे कई तत्कालीन प्रथाओंका परिचय मिलता है, जो आज भी न्यूनाधिकरूपमें पायी जाती हैं। इन्द्राणी इन्द्रदेवकी पत्नी हैं। इनका एक नाम शची भी है। ऋग्वेदके दशम मण्डलके १४५ वें सूक्तकी ऋषिका भी ये ही हैं। १५९ वें सूक्तकी ऋषिका प्रलोमपुत्री शची कही गयी हैं। 'वाक्' भी एक देवीका नाम है। इन्हें अन्न-जलकी दात्री एवं हर्षप्रदायिनी माना गया है। ये अम्भृण ऋषिकी पुत्री हैं। दशम मण्डलके १२५ वें सूक्तका प्रथम दर्शन इन्होंने ही किया है। वैदिक देवी-सूक्तकी ऋषिका ये ही हैं। ये वाग्देवी ही मित्र और वरुणको धारण करनेवाली, धनदात्री, ज्ञानवती, प्राणिव्यापिनी, उपदेशिका तथा आकाशजननी आदि कही गयी हैं। इला भी एक देवी हैं; इन्हें घृतहस्ता, अन्नरूपिणी, हविर्लक्षणा, गोसन्धकी निर्मात्री तथा मनुके यज्ञमें हविष्यका सेवन करनेवाली बताया गया है।

सरस्वतीदेवी पतितपावनी, धनदायिनी, सत्यकी ओर प्रेरित करनेवाली, शिक्षिका और ज्ञानदात्री मानी गयी हैं (१।३।१०—१२)। इनके द्वारा अनेक मन्त्रोंका आविष्कार भी हुआ है। इसी प्रकार भारती, होला, सरण्यू, सिनीवाली, राका, गुङ्गु, असु तथा श्रद्धा आदि देवियोंकी महिमाका भी यथास्थान वर्णन है। पृश्नि, अरण्यानी, वरुणानी तथा अग्नायी प्रभृति देवियोंका भी स्तवन किया गया है।

दैवी संसृतिके अनन्तर मानव-जगत्पर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि आर्यलोग नारियोंका बड़ा सम्मान करते थे। वे घरको घर नहीं, अपितु नारीको ही घर मानते थे और गृहस्थ-धर्मके पालनमें नारीकी ही प्रधानता समझते थे। उनके विवाहका प्रयोजन था नारीके साथ रहकर धर्मानुष्ठान और यज्ञ-सम्पादन। 'नारीके बिना गृहका अस्तित्व ही कहाँ है और गृहके बिना गृहस्थ-धर्मका सम्पादन ही कैसे हो सकता है।' इस धारणाके अनुसार गृहस्थ-धर्मकी प्रतिष्ठा एकमात्र गृहिणीपर ही निर्भर थी। संतान पुत्र हो या पुत्री—दोनों उन्हें समान-रूपसे प्रिय थे। वे पूषादेवतासे कमनीय कन्याके लिये प्रार्थना करते थे। कन्याओंका उनके यहाँ बड़ा आदर होता था। कन्याका विवाह हो जानेपर उससे जो पुत्र होता, उसको अर्थात् अपने दौहित्रको वे अपने धनका उत्तराधिकारी भी बनाते थे। पुत्र अथवा पौत्रके अभावमें ही दौहित्रको यह अधिकार मिलता था। कन्याका एक नाम दुहिता भी है। यह शब्द 'दुह' धातुसे बना है, इसका अर्थ है दुहना। इसके आधारपर कई विद्वानोंका यह कहना है कि 'कन्याएँ पहले समयमें दूध दुहनेका काम करती थीं। घरमें गोरक्षाका प्रधान कार्य इन्हींके हाथमें था। दूध, दही, घी आदिकी व्यवस्था ये ही करती थीं।' कन्याएँ तथा स्त्रियाँ रूई धूनतीं, सूत काततीं, वस्त्र बुनतीं और कसीदा भी काढ़ती थीं। इन बातोंके समर्थक अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं (२।३।६ तथा २।३८।४ आदि)। कन्याएँ कलशमें जल भरकर भी लाती थीं। वे माता-पिताको पानी नहीं भरने देती थीं। खेत रखानेका कार्य भी वे ही करती थीं। कन्याकी रक्षा पिता करते थे, पिता न हों तो बड़े भाईपर उसकी

१-अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ (शुक्लयजुर्वेद २५।२३)

२-ग्रीकोंमें 'दहना', 'एथेना' आदि कई नाम और कहानियाँ 'उषा' के लिये प्रचलित हैं। वे लोग 'उषा' के पूरे भक्त हैं। लैटिन-भाषा-भाषी 'उषा' को 'मिनर्वा' कहते हैं।

रक्षा और विवाह आदिका भार रहता था। आमरण अविवाहित रहनेवाली कन्या पिताके धनमें हिस्सा पाती थी। वृद्धावस्थातक नारी अपने घरमें प्रभुता रखती थी (१०।८५।३०)। पशु-रक्षिणी और वीरप्रसविनी नारीका उस समय विशेष आदर था। ऐसी नारीकी प्राप्तिके लिये देवताओंसे प्रार्थना की जाती थी (१०।८५।४४)। नारी स्त्री-धनसे भी ब्राह्मणोंको दान देती थी (१०।८५।२९)। स्त्रीको अपने लिये धनका कुछ नियत भाग प्राप्त होता था, जिसपर केवल उसीका अधिकार होता था।

इस प्रकार आर्य-जातिमें प्राचीन कालसे ही नारीका सदा समादर होता आया है। अन्य जातियोंके प्राचीन इतिहासमें यह बात नहीं पायी जाती। कई जातियाँ तो ऐसी हैं, जो स्त्रियोंको पैरकी जूती समझती थीं। उनके यहाँ स्त्रियोंके खरीदने-बेचनेकी भी जघन्य प्रथा थी। मुहम्मदसाहबके पहले अरबमें जन्मते ही लड़कियाँ जला दी जाती थीं। एथेंस और स्पार्टामें स्त्रियोंकी जैसी नारकीय दशा थी, वह इतिहासके विद्यार्थियोंसे छिपी नहीं है।

ऋग्वेदके अनुशीलनसे जान पड़ता है कि आर्योंमें स्त्रीशिक्षाका यथेष्ट प्रचार था। ब्रह्मवादिनी घोषाके द्वारा साक्षात्कृत दशम मण्डलके ३९वें और ४० वें सूक्तोंमें कुछ ऐसे मन्त्र हैं, जिनसे सूचित होता है कि आर्यलोग विवाहके समय वर और कन्याको विविध वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके बहुत सम्मान करते थे। लोग स्त्रीकी प्राण-रक्षा और मर्यादा-रक्षाके लिये भारी-से-भारी कष्ट सहन करनेसे भी पीछे नहीं हटते थे। स्त्रियाँ यज्ञ-कार्यमें नियुक्त होती थीं। समाजमें उनको बहुत ही प्यार और दुलारसे रखा जाता था। सूर्याके द्वारा आविष्कृत मन्त्रोंमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि स्त्री अपने पतिके अधीन रहती थी, परंतु घरके अन्य सब पदार्थोंपर उसीका प्रभुत्व रहता था। नौकर-चाकरपर भी वही शासन करती थी। वर और वधू जब विवाहमें एक साथ बैठते थे, उस समय गुरुजनों और देवताओंसे वधूके सौभाग्यके लिये प्रार्थना की जाती थी। यह प्रथा आर्योंमें अबतक प्रचलित है। आज भी निम्नांकित मन्त्र पढ़कर सिन्दूर एवं सौभाग्यवर्धक आशीर्वाद अर्पण किया जाता है—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाऽथास्तं वि परेतन॥

'यह परम कल्याणमयी वधू यहाँ बैठी है, गुरुजनो तथा देवताओ! आप सब लोग यहाँ आयें, इसे कृपादृष्टिसे देखें तथा इसको सौभाग्यसूचक आशीर्वाद देकर अपने-अपने स्थानको पधारें।'

कुछ मन्त्रोंसे यह भी सूचित होता है कि उस समय स्त्रियाँ संगीत आदिमें भी निपुण होती थीं। पतिके साथ स्त्रियाँ भी युद्धमें जाती थीं। विश्पला अपने पतिके साथ युद्धमें गयी थी और वहाँ उसकी जाँघ टूट गयी थी, जिसे अश्विनीकुमारोंने ठीक किया था। नमुचिके पास भी स्त्रियोंकी सेना थी। वृत्रासुरके साथ उसकी माता दनु भी युद्धमें गयी थी, जो इन्द्रके द्वारा मारी गयी।

वेद-मन्त्रोंसे यह भी ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्र पहनती थीं, सूती वस्त्र वे केवल पहनती ही नहीं, बुनती भी थीं। ऊनी वस्त्र पहननेका भी रिवाज था। कपड़ा बुननेवाले तन्तुवाय भी उस समय होते थे। हाथोंमें कड़ा पहननेकी प्रथा थी। आभूषण, आयुध, माला, हार, वलय आदि सुवर्णके बनते थे। लोहे और सोनेके घर बननेकी भी चर्चा आती है (७।३।७ और ७।१५।४)। हजार दरवाजोंवाले विशाल भवन बनाये जाते थे (७।२८।५)। द्वारपर द्वारपाल रखा जाता था (२।१५।९)। एक हजार खंभोंवाले दुमंजिले मकान बनते थे (५।६२।६)। कुछ मन्त्रोंसे स्वयंवर-प्रथा भी सूचित होती है। एक मन्त्रमें कहा गया है—'पति स्त्रीके वस्त्रको न ओढ़े, अन्यथा श्री नष्ट हो जाती है।' (१०।८५।३०)। वर कन्याको वधूरूपमें ग्रहण करते समय उसका हाथ पकड़कर कहता था—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

(ऋक्० १०।८५।३६)

'कल्याणी! मैं तुम्हारे और अपने सौभाग्यके लिये तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ। तुम मुझ पतिके साथ वृद्धावस्थातक बनी रहो। भग, अर्यमा, सविता, पुरंधि आदि देवताओंने गृहस्थधर्मकी रक्षाके लिये मुझे तुमको दिया है।'

आर्य-विवाह-पद्धतिमें इस विधिका आज भी पालन कराया जाता है। पत्नी भी लाजा-हवनके समय

पति और कुटुम्बीजनोंकी मङ्गल-कामना करती थी। यह परम्परा भी आजतक कायम है। हिंदू-धर्ममें पति-पत्नी एक-दूसरेके सखा और सहधर्मी हैं। दोनोंका समान स्थान है। कोई किसीसे छोटा या बड़ा नहीं है। सप्तपदीके विधानद्वारा नव-दम्पतिके इसी सख्यभावको सुदृढ किया जाता है। ऋग्वेद (१०।८५।४२)-में ही कहा गया है—'तुम दोनों दम्पति कभी एक-दूसरेसे अलग न होना।' यहीं आगे ४३वें मन्त्रमें पतिका कथन है—'प्रजापति हमें संतति दें, अर्यमा बुढ़ापेतक हमें साथ रखें। वधू! तुम मङ्गलमयी होकर पति-गृहमें रहो। घरके मनुष्यों और पशुओंके लिये कल्याणकारिणी बनो।' फिर परमात्मासे प्रार्थना की जाती है—

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥

(ऋक्० १०।८५।४५)

'परमात्मन्! इस वधूको सुयोग्य पुत्रवाली तथा सौभाग्यवती बनाओ। इसके गर्भमें दस पुत्रोंको स्थापित करो। इसके दस पुत्र और ग्यारहवें पति—सब मौजूद रहें।'

तत्पश्चात् वधूको आशीर्वाद मिलता है—

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥

(ऋक्० १०।८५।४६)

'वधू! तुम घरमें सास, ससुर, ननद और देवर—सबके हृदयकी महारानी बनो। सबको अपने प्रेम, सेवा और सद्व्यवहारसे जीत लो।'

इन दिव्य आदर्शोंका पालन वधू करती थी, आज भी विवाहके समय ये शिक्षाएँ दी जाती हैं; परंतु आजके युगमें नूतन शिक्षाके विषाक्त प्रभावसे लोगोंका ध्यान इन विधियोंकी ओरसे हटकर व्यर्थके दिखावेमें जा लगा है। प्रत्येक हिंदू-धर्मावलम्बीको चाहिये कि वे वर और वधूको इन मन्त्रोंके दिव्य आदर्श हृदयङ्गम करा दें। लज्जा स्त्रीका सद्‌गुण है। वेद कहता है—

अधः पश्यस्व मोपरि संतरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥

(ऋक्० ८।३३।१९)

'साध्वी नारी! तुम नीचे देखा करो (तुम्हारी दृष्टि विनयसे झुकी रहे)। ऊपर न देखो। पैरोंको परस्पर मिलाये रखो (टाँगोंको फैलाओ मत)। वस्त्र इस प्रकार पहनो, जिससे तुम्हारे ओष्ठ तथा कटिके नीचेके भागपर किसीकी दृष्टि न पड़े।' इससे सिद्ध है कि स्त्री सलज्ज हो और मुखपर घूँघट डाले रहे।

यजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहिता (६।५।८।२)-में बताया गया है कि पिताके धनपर कन्याका कोई अधिकार नहीं है (उसका अधिकारी पुत्र ही है)। वाजसनेयिसंहिता (१२।३।१७-१८)-में लिखा है कि ब्रह्मचारिणी और शिक्षिता कन्याका विवाह होना चाहिये। अथर्ववेदमें बताया गया है कि कन्या ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर तरुण पतिको प्राप्त करती है—'**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**' (११।५।१८)। माता-पिताके निरीक्षणमें कन्या पतिका चुनाव करती थी (६।६१।१)। कन्याकी विदाईके समय उसके पिता पलंग, गद्दा और कोच आदि देते थे (१४।२।३१, ४१)। कन्याको खजानेकी संदूक आदि भी दी जाती थी (१४।२।३०; ४।२०।३), गाय और कम्बल आदि भी कन्याको दहेजमें प्राप्त होते थे। स्त्रीका अपने पतिपर इस लोक और परलोकमें भी अधिकार माना जाता था—'**त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य**' (अथर्व० १४।१।४३)।

आपस्तम्ब धर्मसूत्रमें उल्लेख है—

जायापत्योर्न विभागो दृश्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु तथा पुण्यफलेषु द्रव्यपरिग्रहेषु च॥

'स्त्री और पतिमें कोई विभाग या बँटवारा नहीं देखा जाता। दोनों एक हैं, दोनोंके सब कुछ एक हैं। पति जब पाणिग्रहण कर लेता है, तबसे प्रत्येक कर्ममें दोनोंका सहयोग अपेक्षित रहता है। इसी प्रकार पुण्यफलमें तथा द्रव्य-संग्रहमें भी दोनोंका सहयोग तथा समानाधिकार है।' कोई-कोई यह भी अर्थ करते हैं कि स्त्री-पुरुष सदासे एक हैं, इनमें विभाग नहीं है।

शतपथ ब्राह्मणका कथन है कि 'पत्नीके बिना पुरुष स्वर्ग नहीं जा सकता।' इसलिये स्वर्ग आदिकी कामनासे किये जानेवाले यज्ञमें पत्नीकी उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक समझी जाती थी—

स रोक्ष्यञ्जायामामन्त्रयते। जाय एहि स्वो रोहावेति रोहावेत्याह जाया। तद्याज्जायामामन्त्रयतेऽर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया (५।१।६।१०)।

वह पुरुष स्वर्गलोकपर आरूढ़ होते समय पत्नीको सम्बोधित करता है—'जाये! चलो, स्वर्गलोकमें चलें।' पत्नी कहती है—'स्वर्गलोकमें चलें।' इसीलिये 'जाया'-को आमन्त्रित करता है, क्योंकि जाया (पत्नी) इस शरीरका अर्धाङ्ग है।

ऐतरेय ब्राह्मणमें नारीको सखा माना गया है—'**सखा ह जाया**' (८।३।१३)।

इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्यके अनुशीलनसे यह पता लगता है कि वेदोंमें नारीके प्रति बड़े ही सम्मान और उदारताका भाव है। नारी घरकी रानी है—यही वैदिक सभ्यताका आदर्श है।

रात्रि-दूत

[दूतकाव्यका स्रोत]

श्यावाश्वने अङ्गों और उपाङ्गोंके साथ वेदोंका अध्ययन अपने पितासे ही किया था। उसके पिता अर्चनानाने श्यावाश्वको पढ़ानेमें बहुत ही श्रम किया था। पिता-पुत्रके सम्मिलित श्रमसे वहाँका वातावरण वेदकी सुगन्धसे गुंजित और सुवासित रहता था।

एक बार राजर्षि रथवीति दार्भ्यने अर्चनानासे यज्ञ कराया। उस यज्ञमें श्यावाश्व भी सम्मिलित था। यज्ञका कार्य सुचारु-रूपसे सम्पन्न हो रहा था। एक दिन राजर्षिके साथ उनकी कन्या भी यज्ञस्थलमें आयी। राजर्षि-कुलमें जन्म लेनेके कारण उसकी सुन्दरताके साथ-साथ पवित्रता भी बिखर रही थी। उस पवित्रताने अर्चनानाके मनमें उसे पुत्रवधू बनानेके लिये प्रेरित किया। वह प्रेरणा बहुत सशक्त थी। इसलिये अर्चनानाने राजासे अपनी इच्छा व्यक्त कर दी। इसी बीच श्यावाश्वने भी राजकन्याको देखा। देखते ही उसका पवित्र मन उसपर आसक्त हो गया[1]। उसके बिना उसका जीवन अधूरा दिखायी देने लगा था। विद्वान् तो था ही, समझ गया कि इस राजकन्याके साथ जन्म-जन्मान्तरसे उसका सम्बन्ध चलता चला आ रहा है। अतः मेरा मन इसमें आसक्त हो गया है। उसके बिना उसके हृदयमें एक शून्यता कसकने लगी थी। इसलिये पिताकी वह माँग उसे बहुत सुहायी। राजर्षिको भी अर्चनानाका प्रस्ताव बहुत भाया, क्योंकि श्यावाश्वकी पाण्डित्यसे भरी सुभगताने उसे पहलेसे ही आकृष्ट कर लिया था। कन्याके अनुरूप वर समझकर वह अर्चनानाके प्रस्तावको माननेके लिये तैयार हो गया, किंतु अपनी पत्नीकी रायके बिना एक धार्मिक राजा अपने विचारको पूर्णता कैसे प्रदान कर सकता था?

राजाने महारानीसे बताया कि 'मैं अपनी कन्या श्यावाश्वको देना चाह रहा हूँ। तुम्हारी क्या राय है? रानीने कहा—'मैं[2] और आप दोनों ही राजर्षियोंके कुलमें उत्पन्न हुए हैं। ऐसी स्थितिमें जो ऋषि नहीं है, उसे हमारा जामाता नहीं होना चाहिये।'

राजा रथवीतिको अपनी पत्नीकी राय उचित जँची; क्योंकि इसके पहले इस कुलकी सभी कन्याएँ वेद-द्रष्टाओंको ही दी गयी थीं, किसी अनृषिको नहीं[3]। राजाने श्यावाश्वके सामने ही उसके पितासे कहा—'जो ऋषि नहीं है, वह हमारा जामाता नहीं हो सकता।'

महर्षि अर्चनानाको भी राजाका कथन यथार्थ मालूम पड़ा। उनको अपनी उदात्त इच्छाको दबानेके लिये बाध्य होना पड़ा। यज्ञ सम्पन्न हो जानेपर वे अपने पुत्रके साथ अपने आश्रममें लौट आये।

श्यावाश्व लौट तो आया, किंतु उसका मन नहीं लौट सका।[4] उस राजकन्याकी याद उसे रह-रहकर सताने लगी। साथ-ही-साथ उसका अनृषित्व भी उसे सताने

१-श्यावाश्वस्य च तस्यां वै सक्तमासीत् तदा मनः (बृ० दे० ५।५५)।
२-(क) राजानमब्रवीत् सापि नृपर्षिकुलजा ह्यहम् (बृ० दे० ५।५७)।
(ख) राजर्षिरभवद्दार्भ्यो रथवीतिरिति श्रुतः (बृ० दे० ५।५०)।
३-इतः पूर्वं सुता दत्ता नासीदनृषये क्वचित् (ऋक्०५।६१ सायण)।
४-श्यावाश्वस्य तु कन्याया मनो नैव न्यवर्तत (बृ० दे० ५।६०)।

लगा, किंतु ऋषि होना कोई साधारण बात तो है नहीं। इसके लिये घोर तपकी आवश्यकता पड़ती है, तपकी उस ऊँचाईपर पहुँचना पड़ता है, जहाँ भगवान्‌के द्वारा निरन्तर प्रेषित वेदके नित्य-नूतन शब्द और उच्चारणको अन्तःकरण आध्यात्मिक रेडियो बनकर प्रतिफलित कर देता है, इसके साथ-साथ अर्थका भी साक्षात्कार कर देता है। सचमुच यह कार्य असम्भव-सा है, किंतु प्रेम किसी कठिनाईको नहीं गिनता। वह सिरसे पहाड़को तोड़नेके लिये तैयार हो जाता है। श्यावाश्व भी उस पहाड़को तोड़नेके लिये तैयार हो गया।

तपमें श्यावाश्व लीनसे लीनतर होता गया, दुनिया उससे दूर हो गयी। उसकी लीनताको तोड़ती केवल भूख। राजा तरंत और पुरुमिलहने श्यावाश्वको इस चिन्तासे भी मुक्त कर दिया। रानी सशीयसी इन दोनोंसे भी अधिक देखभाल कर रही थी। श्यावाश्वकी दुनिया अब अपने उपास्यदेव और प्रेयसीमें ही सिमट कर रह गयी।

प्रेमने तपस्यामें पूर्णता ला दी। मरुद्गण श्यावाश्वके सम्मुख प्रकट हो गये। वे मनुष्य-रूपमें आये थे। उनका अग्नितप्त ताम्रकी तरह प्रदीप्त (ऋक् ५।११।४)-स्वरूप देखकर श्यावाश्वने आश्चर्यमें पड़कर पूछा—**'केष्ठा नरः'** (ऋक्० ५।११।१) अर्थात् आप कौन हैं? पूछनेके तुरंत बाद ही श्यावाश्वको भान हो गया कि ये दिव्य मरुद्गण हैं। उसका हृदय मरुद्गणोंके दर्शनसे गद्गद हो गया। उसने आर्द्रचित्तसे मरुद्गणोंकी स्तुति की। उस स्तुतिसे मरुद्गण बहुत प्रसन्न हुए और अपने गलेसे उतार कर दिव्य सोनेकी माला श्यावाश्वको पहना दी तथा ऋषि होनेका वरदान भी दे दिया—**'तदाभवदृषिः सूक्तद्रष्टा श्यावाश्वनामकः'** (नीति मञ्जरी ८३।१४)। इसके बाद मरुद्गण देखते-देखते आँखोंसे ओझल हो गये।

अब श्यावाश्वका मन एकमात्र राजबालापर जा टिका। रातका समय था। राजर्षि रथवीति वहाँसे बहुत दूर थे। उनके पास इस शुभ संदेशको पहुँचानेके लिये वह व्यग्र हो उठा। विवश होकर उसने रात्रिकी अधिष्ठात्री देवीको ही अपना दूत बनाया—**'दौत्ये रात्रिं न्ययोजयत्'** (बृ० दे० ५।७४)। श्यावाश्वने रात्रि देवीसे प्रार्थना की कि मेरे द्वारा दृष्ट इस स्तुतिको राजर्षि रथवीतितक पहुँचा दे—**'एतं मे स्तोममूर्म्ये दार्भ्याय परा वह। गिरो देवि रथीरिव॥'** (ऋक्०५।६१।१७)।

श्यावाश्वकी चिन्तनीय मनःस्थिति देखकर रात्रि देवीको दया हो आयी। उन्होंने तत्काल दूत-कर्म करना स्वीकार कर लिया। इस देवीको कहीं जानेमें देर नहीं लगती। परंतु वे समझ नहीं पा रही थीं कि रथवीति इस समय कहाँ मिलेगा। तब श्यावाश्वने आर्षदृष्टिसे देखकर बताया कि आपको हिमगिरिके पास जाना है—

एष क्षेति रथवीतिर्मघवा गोमतीरनु। पर्वतेष्वपश्रितः॥

(ऋक्० ५।६१।१९)

अर्थात् हे रात्रि देवी! धनवान् रथवीति गोमतीके तटपर निवास करते हैं, उनका गृह हिमगिरिके ऊपरी प्रान्तमें है। देवि! राजर्षिसे तुम यह भी कहना—'तुम्हारी पुत्रीके प्रति हमारी कामना कम नहीं हुई है, अपितु दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है'—

उत मे वोचतादिति सुतसोमे रथवीतौ।
न कामो अप वेति मे॥

(ऋक्० ५।६१।१८)

रात्रि देवीने राजर्षि रथवीतिसे ऋषि श्यावाश्वका संदेश कह सुनाया। राजा और रानी इस संदेशसे बहुत ही प्रसन्न हुए। वे दोनों अर्चनानाके आश्रममें पहुँचे और बहुत ही आदरके साथ कन्यादान कर दिया।

सर्वकल्याणकारी वेद

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

वेदाध्ययन आचार्यपूर्वक ही है। जैसे गुरुओंने अध्ययन किया है, वैसे ही अध्येता अध्ययन करना चाहते हैं। स्वतन्त्र पहला कोई भी वेदोंका अध्येता नहीं है। कोई भी वेदोंका कर्ता निश्चित नहीं है, प्रत्युत वेदोंकी नित्यता सिद्ध होती है। इस तरह वेदोंकी ही शास्त्रता एवं मान्यता सिद्ध है।

वेद ही सार्वदेशिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे किसी देश-विशेषकी भाषामें नहीं हैं। जैसे परमेश्वर सर्वसाधारण है, वैसे ही उसका वेद भी सर्वसाधारणकी भाषामें ही है। अन्यान्य धर्म-ग्रन्थ भिन्न-भिन्न देशोंकी भाषाओंमें हैं। कहा जा सकता है कि वेद भी तो आर्योंकी संस्कृत-भाषामें ही हैं, फिर वे ही कैसे सार्वदेशिक हो सकते हैं? परंतु यह कहना संगत नहीं है, क्योंकि संस्कृत भाषा देव-भाषा है, मानुषी भाषा नहीं। इसलिये वाल्मीकीय रामायणके सुन्दरकाण्डमें संस्कृता वाक्का मानुषी वाक्से पृथक् उल्लेख है। श्रीहनुमान्जी सोचते हैं कि मुझे अवश्य ही मानुषी वाणी बोलनी चाहिये, दूसरी तरहसे महाभागा श्रीजानकीको समझाया नहीं जा सकता—

अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्।
मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता॥

यदि मैं ब्राह्मणकी तरह संस्कृता वाक् बोलूँगा, तब तो मुझे रावण समझकर श्रीसीता माता भयभीत होंगी—

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥

द्विजातियोंकी भी संस्कृत निजी भाषा नहीं, अपितु देवभाषा ही है। ब्राह्मण शब्द-शास्त्राभ्यासी होनेके कारण ही संस्कृता वाक् बोलते थे। इसीलिये 'नैषध' में लिखा है कि भिन्नदेशीय राजाओंके संस्कृत भाषा बोलनेके कारण देवताओंकी पहचान नहीं हुई—'**सौवर्गवर्गो न नैरचिह्नि।**'

इसके अतिरिक्त वेद देवभाषा संस्कृता वाक्में भी नहीं हैं, इसीलिये शब्दोंके लौकिक तथा वैदिक दो प्रकारके संस्कार होते हैं। लौकिक संस्कार लोक तथा वेद दोनोंमें ही बराबर हैं। वे व्याकरणादि-सूत्रोंके ही अनुसार होते हैं। इसीलिये शाब्दिकोंका कहना है '**छन्दसि दृष्टानुविधिः।**'

अभिप्राय यह कि छन्दमें दृष्ट लक्ष्यके अनुसार ही संस्कार मान्य हैं। व्याकरणमें वैदिकी प्रक्रिया पृथक् है, अतः वहाँ लक्ष्यका ही प्राधान्य है, संस्कारका नहीं। वैदिक मन्त्र शब्द, स्वर और छन्दोंसे नियन्त्रित होते हैं, लौकिक नहीं। वैदिक वाक्योंका स्वरूप और अर्थ निरुक्त एवं प्रातिशाख्यसे ही नियमित है, संस्कृत वैसी नहीं है। अतः वेदभाषा संस्कृत भाषासे भी विलक्षण है। यह दूसरी बात है कि उसके साथ कुछ तुल्यता अधिक मिल जाय। इसीलिये वेद किसीके पक्षपाती नहीं हैं।

जैसे भगवान् सर्वत्र समान हैं, वैसे ही उनका वैदिक धर्म भी साक्षात् या परम्परया प्राणिमात्रका परम उपकारी है। परंतु पूर्वकथनानुसार अधिकारविशेष-निर्णय इनका असाधारण गुण है। जैसे कोई औषधि किन्हींके लिये हितकर और किन्हींके लिये अहितकर होती है, किन्हीं औषधियोंका किन्ही यन्त्रों तथा पात्रोंमें सुपरिणाम और उन्हींका दूसरे यन्त्रों तथा पात्रोंमें दुष्परिणाम होता है, वैसे ही उन विचित्र शक्तिसम्पन्न वैदिक शब्दों तथा कुछ कर्मोंका कहीं सुपरिणाम और कहीं दुष्परिणाम भी हो जाता है। उसी स्थितिके आधारपर वेदोंके उच्चारण, श्रवण और अग्निहोत्रादि कर्मोंमें शुद्ध द्विजाति पुरुषोंको ही अधिकार है। अशौचग्रस्त तथा पतित त्रैवर्णिकों या व्रात्योंका उक्त कार्योंमें अधिकार नहीं है। अधिकार-विवेचनमें पक्षपातशून्य केवल हितकामनासे ही नियम हैं। राजसूय यज्ञमें केवल क्षत्रियका अधिकार है, ब्राह्मण और वैश्यका नहीं। वैसे ही वैश्यस्तोममें केवल वैश्यका ही अधिकार है। इसी तरह किसीमें रथकारका ही और किसीमें स्थपतिका ही अधिकार है। ब्राह्मणको मद्यबिन्दुपानमें ही मरणान्त प्रायश्चित्त है, औरोंको वैसा नहीं। ब्राह्मणको सर्वत्याग, क्षत्रियको साम्राज्य, गृहस्थको द्रव्यदानमें पुण्य, सर्वमान्य संन्यासीको द्रव्यदानमें पाप, स्वधर्मबहिर्मुख ब्राह्मणको भी नरक, स्वधर्मनिष्ठ अन्त्यजको भी दिव्यलोकप्राप्ति, यह सब केवल वस्तुस्थितिका अनुसरण है। माता

शिशुके हाथसे ईख छीन लेती है, परंतु मिसरी दे देती है। क्या यहाँ द्वेष है?

कहा जा सकता है कि श्रवणादिके अनधिकारियोंको श्रवणादिद्वारा वेद अनुपकारक होनेसे वेदोंमें विषमता आ जायगी, परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि धनुष आदि धारण करनेमें असमर्थोंके लिये धनुष-धारणका निषेध और कटु औषधियोंसे भीरु लोगोंके लिये उन औषधियोंका निषेध जैसे विषमताका मूल नहीं होता, वैसे ही अनधिकारियोंके लिये वेद तथा तदुक्त कर्मोंका निषेध अनुचित नहीं है। कहा जा सकता है कि जैसे योग्यता-सम्पादनके अनन्तर बालकोंका भी अधिकार है, वैसे ही स्वधर्मानुष्ठानद्वारा जन्मान्तरमें द्विजत्व-सम्पादनसे यहाँ भी अधिकार हो ही जाता है। परंतु जैसे जड़, अन्ध, षंढ, बधिर, उन्मत्त, मूक आदिकोंमें श्रवणादिका लौकिक सामर्थ्य नहीं है, वैसे ही कुछ असामर्थ्य शास्त्रसे ही गम्य हैं। जैसे लौकिक सामर्थ्य सबको नहीं है, वैसे ही अलौकिक सामर्थ्य भी सबको नहीं है। पुराणोंद्वारा वेदार्थ-ज्ञान, शम-दमादि मानव-सामान्य धर्मों तथा सर्वशास्त्रफल भगवद्भक्ति और ज्ञानमें मनुष्यमात्रका अधिकार है और उसीके द्वारा सबका परम कल्याण भी होता है। भगवन्नाम आदि वैदिक धर्मसे मनुष्यकी तो कौन चलाये, गृध्र, बंदर, भल्लूक तककी परम सद्गति हुई और होती है—

'पाई न केहिं गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना।'

अतः स्पष्ट है कि देश-जाति-पक्षपातके बिना यथाधिकार वेद सर्वकल्याणकारी हैं।

वेदोपनिषदीय महापुरुष-मीमांसा

(डॉ० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम० ए०, डी० लिट०)

महापुरुष किसे कहते हैं? उसमें क्या विशेषताएँ होती हैं? उन विशेषताओंका व्यक्तित्व एवं सामाजिक मूल्य क्या है? महापुरुषके सम्बन्धमें चिन्तन करते हुए इस प्रकारकी प्रश्नावली स्वभावतः एक जिज्ञासुके मानसमें उत्पन्न होने लगती है।

महापुरुषकी महत्ताका प्रमाण क्या है? इस महत्ताको हमें किस कसौटीपर कसना चाहिये? तत्त्व-चिन्तकोंने इन प्रश्नोंपर अनेक प्रकारसे विचार किया है। पाश्चात्त्य मनीषियोंने मानव-मस्तिष्कका विश्लेषण करते हुए उसमें तीन शक्तियोंकी प्रधानता स्वीकार की है। ये तीन शक्तियाँ हैं—Cognition Will and Feeling अर्थात् ज्ञान, इच्छा और अनुभूति। न्यायदर्शनमें आत्माके छः चिह्न बतलाये गये हैं—ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख। पूर्वोक्त तीन शक्तियोंमें इन छः चिह्नोंका समावेश सुगमतासे हो सकता है। मानव-विकासमें इन तीन शक्तियोंका अत्यधिक महत्त्व है; जिस मनुष्यने अपनी इन तीन शक्तियोंका समुचित विकास किया है, वह वास्तवमें महापुरुष है। इस महापुरुषमें उच्च कोटिका ज्ञान होगा। सत्कार्य करनेकी उत्कट इच्छा और उसकी पूर्तिके लिये प्रचण्ड पराक्रम इस पुरुषकी विशेषता होगी। महापुरुष आर्तपरायण होता है। उसके अन्तर्गत व्यथित व्यक्तिके प्रति सहानुभूति एवं उसके सुख-दुःखकी विशेष अनुभूति पायी जाती है।

वेदने मानवके बाह्य एवं आन्तरिक मूल्यका विश्लेषण करते हुए उसके विकासकी पाँच कोटियाँ निर्धारित की हैं। द्विज-पावमानी वरदायिनी वेदमाताकी स्तुति करता हुआ ऋषि कहता है—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥ (अथर्व० १९।७१।१)

विश्वमें ऐसे मानवोंकी संख्या बहुत अधिक है, जो सुखपूर्वक लंबी आयु भोगना चाहते हैं। इन्हें निश्चिन्त रहते हुए जीवन-यापन करना अच्छा लगता है। अपनेको जोखिममें डालना, जान-बूझकर स्वेच्छासे दुःखको वरण करना, दूसरेके दुःखको दूर करनेके लिये प्राणोंपर खेल जाना—इन व्यक्तियोंके वशके बाहरकी बात है। ये लंबी आयुके भूखे होते हैं। इन्हें अपने प्राणोंकी विशेष चिन्ता रहती है। उदर-दरीको भर लेना और साँस लेते रहना—बस, यही इनके जीवनकी विशेषता होती है।

दूसरी कोटि ऐसे मानवोंकी है, जिन्हें आयु और प्राणोंकी अपेक्षा पशु तथा द्रविण (धन)-की विशेष चिन्ता होती है। पशु-पालनमें अपनी प्राण-रक्षाके साथ उस पशुके प्राणोंकी रक्षा भी आवश्यक होती है। पशुके पालनकी भावना मानवके ऊपर एक प्रकारके उत्तरदायित्वका भार रख देती है, जिसका निर्वाह करना उसके लिये अनिवार्य हो जाता है। धन कमानेमें भी अनेक आपत्तियों और विघ्नोंका सामना करना पड़ता है। व्यापारीवर्ग अपने घरमें सर्वदा सुखकी नींद नहीं सो सकता। घर-बार छोड़कर उसे विदेश-यात्रा करनी पड़ती है। लोकोक्ति है—*घर छोड़ा तो आराम कहाँ?* शारीरिक सुख इस वर्गको धनके आधारपर मिल जाता है, पर निश्चिन्त जीवन कभी नहीं रह पाता। धनकी चिन्ता सर्वदा इसे सताया करती है। प्रथम कोटिके मानवोंकी अपेक्षा इस कोटिके मानवोंकी संख्या कम होती है।

तीसरी कोटिके मानव वे हैं, जिन्हें न अपने प्राणोंकी चिन्ता है और न धन पैदा करनेकी। इस कोटिके मानव कीर्तिके पिपासु होते हैं। कीर्तिकी कामना, यश-विस्तारकी भावना इनके जीवनमें प्रमुख होती है। यश:प्राप्तिके लिये ये मानव अपने प्राणोंको हथेलीपर रखे रहते हैं और धनको पानीकी तरह बहा देते हैं। इन्हें कीर्ति और सम्मान चाहिये। यशके पीछे इन्हें अपना सर्वस्व भी खोना पड़े तो कोई चिन्ताकी बात नहीं। संस्कृतके एक सूक्तिकारने ऐसे ही प्राणियोंके लिये कहा है—

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्॥

अर्थात् अधम व्यक्ति धनकी इच्छा करता है, मध्यम कोटिका मानव धन और मान दोनों चाहता है; पर उत्तम मानव केवल मानकी आकांक्षा करता है। इस सूक्तिकारने वेद-निर्दिष्ट मानव-विकासकी प्रथम कोटिपर विचार ही नहीं किया। द्वितीय कोटिको भी यह अधम श्रेणीमें रखता है और सम्मानकी भूखी तीसरी कोटिको यह उत्तम स्थान देता है, पर वेद मानव-विकासको कीर्ति-कामनापर ही समाप्त नहीं कर देता। कीर्तिके पिपासु मानवोंसे भी बढ़कर वह ऐसे मानवोंकी कल्पना करता है, जिन्हें न तो आयुकी आकांक्षा है, न धन कमानेकी चिन्ता है और न वे अपना यश ही चाहते हैं। इन्हें अपने जीवनमें केवल एक ही भूख लगती है—यह भूख है ज्ञानकी। ज्ञानके पीछे ये मतवाले बन जाते हैं। एक समस्याका हल ढूँढ़ लेना इन्हें पुत्र-प्राप्तिसे बढ़कर सुख देता है। इनके ज्ञानमें जितनी ही वृद्धि होती जाती है, उतना ही अधिक ये ज्ञानके पीछे पड़ते जाते हैं—यहाँतक कि ज्ञान ही इनका चिर-जीवन-संगी बन जाता है। आर्य-संस्कृतिने ज्ञानी व्यक्तिको बहुत ऊँचा स्थान दिया है। मनुस्मृतिमें लिखा है कि ज्ञानी ब्राह्मणके सभामें पदार्पण करते ही राजाको सिंहासन छोड़कर खड़े हो जाना चाहिये। राजा एक वेदज्ञ ब्राह्मणकी बात स्वीकार करे, पर सैकड़ों कामी व्यक्तियोंकी मन्त्रणापर ध्यान न दे। रथारूढ राजाके मार्गमें यदि सामनेसे ब्रह्मचारी (ज्ञानमें विचरण करनेवाला) आ जाय तो राजा अपने रथको रोक दे और ब्रह्मचारीको निकल जानेके लिये मार्ग दे दे। इस प्रकारके अनेक कथन आर्य-संस्कृतिमें ज्ञानकी मान्यताका उल्लेख करते हैं। प्राचीन यूनानमें भी तत्त्व-चिन्तकोंको सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो चुका है। एक स्थानपर वेदने ब्राह्म और क्षात्र दो शक्तियोंके समन्वयपर भी बल दिया है।

पर वेद मानव-विकासको ज्ञानपर भी समाप्त नहीं करता; वह मानवको इसके भी ऊपर ले जाता है। वह मानवकी निर्बलताको पकड़ता है और उस निर्बलताका समूल नाश करके उसे शुद्ध आत्मतत्त्वपर प्रतिष्ठित करना चाहता है। मानवकी यह निर्बलता उसके जन्मसे ही प्रारम्भ हुई है। जन्मका अर्थ यहाँ आविर्भाव है। प्रकृति जब विकृतिकी ओर चलती है, तब उसका सर्वप्रथम विकार महत्तत्त्व होता है। इस महत्तत्त्वसे अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार ही आत्माकी सबसे बड़ी निर्बलता है। मानवको जिस प्रकार धनका अहंकार होता है, उसी प्रकार सम्मानका भी; और धन तथा मानके अहंकारकी भाँति ज्ञानका भी अहंकार हो सकता है। जबतक यह अहंकार चिपटा है, तबतक मानव अपने आत्मतत्त्वसे दूर रहता है। अपने स्वरूपमें अवस्थित होना तो तभी सम्भव है, जब अहंकारका नाश हो जाय। इसी हेतु वेद मानवद्वारा अर्जित इन सभी शक्तियोंके समर्पणकी भावनाको ऊँचा स्थान देता है। अहंकार मानवको क्षीणता, ह्रास और अल्पताकी ओर

ले जाता है। वेद उसे ब्रह्म अर्थात् बड़प्पनकी ओर ले जाना चाहता है। जो महान् है, वह अल्पतासे क्यों प्रेम करेगा?

वेदने इस प्रकार मानव-विकासकी पाँच कोटियाँ निर्धारित की हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद्के ऋषिने मानव-विकासको एक दूसरे क्रमसे समझानेका प्रयत्न किया है। इसने सर्वप्रथम मानव-आनन्दकी व्याख्या की है। मानव-आनन्द क्या है? ऋषिके शब्दोंमें मानव-आनन्दके लिये निम्नांकित बातोंकी आवश्यकता है—

सैषाऽऽनन्दस्य मीमा॑ꣳसा भवति। युवा स्यात् साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।

अर्थात् मनुष्य-सम्बन्धी सुख प्राप्त करनेके लिये पुरुषको युवा, श्रेष्ठ युवा, पठित, सुदृढ़, अतिशय बलवान् और उच्चाकांक्षायुक्त होना चाहिये। इसके अतिरिक्त धनसे पूर्ण यह समग्र वसुधा उसके अधिकारमें होनी चाहिये। इस प्रकारकी विशेषताओंसे युक्त मानवको आनन्द प्राप्त होता है। यदि इस आनन्दकी संख्या हम एक मान लें तो इसका सौगुना आनन्द संगीत-नृत्य-निपुण एक मनुष्य-गन्धर्वको प्राप्त होता है, जिसने वाणी, स्वर अथवा शब्दकी साधना की है तथा जो श्रोत्रिय (वेदज्ञ) है और अकामहत अर्थात् कामनाओंके वशीभूत नहीं है। मनुष्य-गन्धर्वद्वारा जो आनन्द प्राप्त किया जाता है, उसका सौगुना आनन्द वेदज्ञ, कामनारहित एक देव-गन्धर्वको प्राप्त होता है। मानव और देवका अन्तर समझनेके लिये हमें एक साधारण अध्यापक और प्रोफेसरका अन्तर ध्यानमें रखना चाहिये। मानव-गन्धर्व भी कलाकार है और देव-गन्धर्व भी; परंतु एक साधारण कला-नैपुण्य रखता है तो दूसरा उसका विशेषज्ञ है। देवका अर्थ ही है चमकनेवाला, अपनी प्रतिभा-प्रदीप्तिसे चतुर्दिक् प्रकाशित होनेवाला। बलवान्-से-बलवान्, धनी, मानी, सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत व्यक्ति नृत्यकलाका आनन्द लूटनेके लिये अपने ऐश्वर्यको पानीकी तरह बहा देता है। इसी हेतु मानव-गन्धर्व तथा देव-गन्धर्वके आनन्दको मानव-आनन्दसे बढ़कर माना गया है। पर एक विशेषता गन्धर्वके साथ लगी हुई है, फिर वह चाहे मानव-कोटिका हो, चाहे देवकोटिका। यह विशेषता है—उसका श्रेत्रिय तथा अकामहत होना। यदि गन्धर्व श्रोत्रिय नहीं है, वेद-पाठसे वञ्चित है तथा कामनाओंके वशीभूत है तो उसे यह गौरवशाली पद प्राप्त नहीं हो सकता। जिसने नृत्य-कला अथवा संगीतको धन कमानेका साधन बना रखा है, जिसने लोभके ऊपर विजय प्राप्त नहीं की, जो वासनाओंका शिकार बना हुआ है, वह केवल दर-दरका भिखारी बना घूमेगा; उसकी कलाका आदर सम्भ्रान्त सज्जनोंमें नहीं हो सकेगा। संगीत-कलाको उसके समुचित आसनपर समासीन करनेके लिये आवश्यक है कि वह वेदज्ञ तथा कामनारहित कलाकारके हाथमें हो।

तैत्तिरीयोपनिषद्का ऋषि स्वर-साधक, वाणीके अधिष्ठाता, गन्धर्वोंसे ऊपर पितरोंको स्थान देता है। ये पितर भी वेदज्ञ तथा कामनारहित हों। समाजमें पितर कौन है? संस्कृतमें 'पितृ' पालक तथा रक्षकको कहते हैं। अतः समाजमें जिन व्यक्तियोंके ऊपर रक्षाका भार है, जो समाजकी सुरक्षा एवं सुव्यवस्थाका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिये हुए हैं, जो प्रजाके परित्राणके लिये अपने प्राणोंकी बाजी लगा सकते हैं, वे ही पितर हैं। समाजमें यह कार्य क्षत्रियों, योद्धाओं तथा शूरवीरोंका है। परंतु जब शूरवीरता अवैदिक भाव धारण कर लेती है, अपना उद्देश्य अपने अंदर ही स्थापित कर लेती है तथा वह सकाम धनोपार्जनका साधन अथवा भाड़ेका टट्टू बन जाती है, तब वह भी अपने उचित आसनसे पदच्युत हो जाती है। क्षात्र-शक्तिके सम्मानके लिये आवश्यक है कि वह वैदिक भावना, यज्ञिय अर्थात् कल्याणकारिणी भावनासे ओतप्रोत हो। कामनाएँ, वासनाएँ, लालसाएँ उसका प्रयोग अपने स्वार्थसाधनके लिये न कर सकें। वह सांसारिक एषणाओंसे ऊपर उठी रहे। जन-कल्याणकारिणी, मानव-हित-साधिका, प्रजा-पालन-परायणताकी भावना ही उसका उद्देश्य तथा लक्ष्य बने। गन्धर्वोंके आनन्दसे सौगुना आनन्द ऐसे पितरोंका एक आनन्द कहा गया है।

उपनिषद्का ऋषि पितरोंसे भी बढ़कर देव-आनन्दको मानता है। रक्षण-शक्तिसे भी ऊपर उसने देव-शक्तिको स्वीकार किया है। यह देवशक्ति ब्रह्मशक्ति

है। ऋषिने देवों, ब्राह्मणों अथवा ज्ञानियोंके तीन भेद किये हैं—आजानजदेव, कर्मदेव तथा देव। आजानजदेव तत्त्व-चिन्तनशील ज्ञानी हैं, जो कोरी सिद्धान्तवादिताके क्षेत्रमें रमण किया करते हैं, जिन्होंने केवल तात्त्विक सिद्धान्तोंका ही अध्ययन किया है, उनका परीक्षात्मक प्रयोग नहीं किया। साहित्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र अथवा विज्ञानके सिद्धान्तोंको समझ लेना और उनको पढ़ा देना एक बात है; पर उनको क्रियात्मकरूपमें प्रदर्शित कर देना दूसरी बात है। कोरे सिद्धान्तवादियोंको हम आजानजदेव कहेंगे; पर जो अनुसंधान, परीक्षण तथा क्रियात्मक प्रयोगद्वारा उन सिद्धान्तोंको स्पष्ट करनेमें लगे हुए हैं, उन्हें हम कर्मदेव कहेंगे। सापेक्षताके सिद्धान्त (Theory of Relativity) अथवा अणु-विश्लेषक सिद्धान्तको पढ़कर विद्यार्थियोंके समक्ष प्रस्तुत करनेवाला प्रोफेसर आजानजदेव है तो ऑटो हैन अथवा सर सी० वी० रामन्‌के समान अपनी प्रयोगशालामें उसका परीक्षण करनेवाला विद्वान् कर्मदेव है। तीसरी कोटिमें शुद्ध देव आते हैं। ये कर्मदेवोंके अनुसंधान, परीक्षण तथा प्रयोगको संचालित करनेवाले हैं, उनके मार्ग-प्रदर्शक हैं, निरीक्षक हैं। इस प्रकार पितरोंके आनन्दका सौगुना आनन्द आजानज—सिद्धान्तवादी ज्ञानी ब्राह्मणों अथवा देवोंका एक आनन्द है; कोरे सिद्धान्तवादी देवोंके आनन्दका सौगुना आनन्द कर्मदेवोंका एक आनन्द है और कर्मदेवोंके आनन्दका भी सौगुना आनन्द शुद्ध देवकोटिमें पहुँचे हुए ब्राह्मणोंका एक आनन्द है।

ऋषिने ज्ञानी ब्राह्मणोंसे भी उच्च पद इन्द्रको प्रदान किया है। देवोंके आनन्दका सौगुना आनन्द इस इन्द्रका एक आनन्द है। इन्द्रका अर्थ राजा है। पितर क्षत्रिय हैं, देव ब्राह्मण हैं, तो इन्द्र अपनी प्रजाके श्रेष्ठ भाग क्षत्रिय और ब्राह्मणका भी शासन करनेवाला है, उनके कार्य तथा शक्तियोंके विकास एवं प्रदर्शनके लिये समुचित क्षेत्र तैयार करनेवाला, विघ्न-बाधारहित वातावरणको उपस्थित करनेवाला और सब प्रकारसे उनकी सहायता करनेवाला है। इन्द्रको इसी कारण देवोंका स्वामी कहा गया है। ऋषिने आगे चलकर इन्द्रके आनन्दका सौगुना आनन्द बृहस्पतिके एक आनन्दको माना है। समाजमें यह बृहस्पति कौन हो सकता है? पौराणिक अनुश्रुतिमें बृहस्पति इन्द्रके गुरु कहे गये हैं। अतः बृहस्पतिका स्थान समाजमें वही व्यक्ति ले सकता है, जिसकी मन्त्रणा प्राप्त करनेके लिये राजा भी लालायित हों। दण्डी संन्यासीका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये अनेक देशोंका विजयी अलक्षेन्द्र सिन्धुतटपर बनी उसकी एक साधारण कुटियातक पैदल चलकर गया था। गाँधीकी मन्त्रणा प्राप्त करनेके लिये अनेक राजपुरुष लालायित बने रहते थे। गुरु वसिष्ठ तथा महर्षि व्यास इसी कोटिके व्यक्ति थे। हाँ, एक बात रह गयी। जिस प्रकार वेदज्ञ तथा अकामहत (कामनारहित) होना कलाकारों अथवा पितरों (क्षत्रियों)-के लिये आवश्यक था, उसी प्रकार वह ब्राह्मण, राजा तथा बृहस्पतिके लिये भी आवश्यक है। आर्य-संस्कृतिकी यह मूल बात मानव-विकासकी आधारशिला है। पाश्चात्त्य संस्कृति वेदज्ञता अथवा ज्ञान-प्राप्तिपर तो बल देती है, पर कामनाओंको वशीभूत करनेकी अपेक्षा वह उनकी लगाम ढीली छोड़ देना चाहती है। इच्छाएँ जितनी बढ़ सकें, उन्हें बढ़ने दो; उन्हें रोकनेसे, नियन्त्रण करनेसे मानव अपना विकास नहीं कर सकेगा। यह ऐसी बात है, जो आर्य-संस्कृतिके मूलाधारसे एकदम विपरीत है। अकामहत होकर ही वसिष्ठ, बृहस्पति तथा व्यास राजगुरुका पद प्राप्त कर सके हैं। यदि ये सकाम होते तो राजा अन्य ज्ञानी ब्राह्मणोंकी भाँति इनको भी वेतनभोगी बनाकर अपने शासनमें रख सकता था। ऐसे गुरुओंका पद पाश्चात्त्य-संस्कृतिमें कदाचित् ही कहीं प्राप्त हो। वेतनभोगी, शासन-व्यवस्थाके अन्तर्गत रहनेवाला ब्राह्मण भी कामनारहित हो सकता है, पर सांसारिकता कुछ-न-कुछ अनायास उसके साथ लग ही जाती है।

ऋषिने आगे चलकर मानव-विकासकी दो कोटियाँ और वर्णित की हैं। ये कोटियाँ प्रजापति और ब्रह्मकी हैं। प्रजापति वीतराग, विदेह, राजर्षि, चक्रवर्ती सम्राट्‌की संज्ञा है और ब्रह्म परमेश्वरमें लीन मुक्तात्माओंका नाम है। बृहस्पति निःस्पृह, उच्च कोटिका ज्ञानी महात्मा है; पर उसका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध सांसारिकताके साथ है ही। राजाओंका गुरु होना स्वतः सांसारिकताके साथ सम्बन्ध स्थापित कर देता है। इस प्रकारके राजगुरुओंकी

अपेक्षा राजर्षि विदेह प्रजापतिका आसन निःसंदेह ऊँचा है। यह प्रजापतिका पद 'लीग आफ नेशन्स' के अधिपतिके समान है, पर उस अधिपतिको वेदज्ञ और अकामहत होना चाहिये। राजर्षि जनकके समान इस अधिपतिको '**पद्मपत्रमिवाम्भसा**' बनना चाहिये। विदेहराजके पास बड़े-से-बड़े ज्ञानी भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जाते थे। प्रजापति वेदज्ञ और कामनारहित होकर एक ओर अपनी प्रजाका अनुरञ्जन और पालन करता है तो दूसरी ओर वह अध्यात्मविद्याकी निधि है, आत्मज्ञानी है। प्रजापतिसे ऊँचा पद वेदज्ञ, कामनारहित ब्रह्मलीन मुक्तात्माका है। मानव-विकासकी यही सीमा है। इससे बढ़कर कोई आनन्द नहीं। आत्मा आनन्दसे ही आविर्भूत हुआ था। सांसारिकतामें पड़कर वह इस आनन्दसे वञ्चित होता गया, पर पुनः वेदज्ञ तथा कामनारहित होकर उसने अपना विकास किया। ज्ञान और अनासक्तिने उसे मानव, गन्धर्व, पितर, देव, इन्द्र, बृहस्पति और प्रजापतिकी कोटियोंमें क्रमशः ले जाकर उसकी सांसारिकताका नाश कर दिया और अन्तमें विकासकी सर्वोच्च कोटि ब्रह्मलीनता, परमानन्दमयता-तक उसे पहुँचा दिया। आत्मा जहाँसे चला था, विकसित होकर पुनः वहीं जा मिला।

वेदके मन्त्रकी संगति औपनिषद ऋषिके अनुभवके साथ भलीभाँति बैठ जाती है। मन्त्रमें मानव-विकासकी पाँच कोटियाँ वर्णित हुई हैं—शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण और सर्वस्व समर्पण करनेवाला ब्रह्मलीन आत्मा। शूद्र निश्चिन्त होकर जीवनयापन करना चाहता है। उसे ज्ञानी, शक्तिशाली अथवा धनी होनेकी चिन्ता नहीं होती। चिन्ता केवल एक बातकी है कि वह अपने पुत्र-पौत्रोंके साथ बहुत दिनोंतक जीवित बना रहे। वैश्यको धनोपार्जनकी चिन्ता रहती है। उपनिषद्के मानव-आनन्दसे ये दोनों कोटियाँ कुछ हीन ही ठहरती हैं। पर वैश्यकोटि ऐसी हो सकती है, जिसमें मानव-आनन्दका अनुभव हो सके। वैश्यसे उच्च कोटि कलाकारोंकी है। ये कलाकार वैश्य और क्षत्रिय (पितर)-के मध्यमें पड़ते हैं, पर इनके भी दो विभाग हैं—मानव और देव। मानव कलाकार (गन्धर्व) वैश्यसे ऊपरकी विकसित अवस्थाको प्राप्त कर चुके होते हैं। इसके विपरीत देव-गन्धर्व, देव-गायक ज्ञानी अथवा ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय-कोटिसे कुछ निम्न स्तरपर विराजमान हैं। इनके पश्चात् पितरोंकी, क्षत्रियोंकी विकसित अवस्था आती है। क्षत्रियोंके ऊपर भावप्रधान क्रान्तद्रष्टा कवि, विप्र अथवा ब्राह्मणोंका पद है। मन्त्रमें इस कोटिके पश्चात् ही ब्रह्मलीन आत्माओंकी अन्तिम कोटि वर्णित है; पर उपनिषद्के ऋषिने इन दोनोंके बीच इन्द्र, बृहस्पति और प्रजापतिकी तीन कोटियाँ और मानी हैं। संक्षिप्त वर्णनके लिये, सूत्ररूपमें विकासका क्रम प्रदर्शित करनेके लिये, वेदमन्त्र अतीव उपयुक्त हैं; परंतु विस्तृत वर्णनके लिये, विकास-क्रमको और भी अधिक सुचारु-रूपसे प्रकट करनेके लिये, उपनिषद्के ऋषिका अनुभव लाभकारी है।

डार्विनका विकासवाद जहाँ समाप्त होता है, वहाँसे वैदिक विकासवादका प्रारम्भ होता है। इसके समझनेमें पाठकोंको अधिक कठिनाईका अनुभव नहीं होगा। डार्विनके विकासवादको विकासका नाम देना कदाचित् भ्रमात्मक भी है; पर ऊपर जिस वैदिक विकासवादकी स्थापना की गयी है, वह मानव-बुद्धिगम्य और ऋषियोंका अनुभूत ज्ञान है। डार्विनके विकासवादको स्वीकार करनेमें बुद्धिने बहुत आगा-पीछा किया है। डार्विनके विपक्षी कई विद्वानोंने उसके सिद्धान्तोंकी धज्जियाँ उड़ा दी हैं, पर वैदिक ऋषियोंद्वारा वर्णित विकासवाद तर्क, युक्ति और अनुभवकी कसौटीपर कसा जानेपर खरा एवं सत्य सिद्ध हो रहा है। वैदिक विकासवादकी सिद्धान्तधारा त्रिकालाबाधित है, वह देश और समय दोनोंकी परिधियोंसे अपरिच्छिन्न है।

वैदिक विकासवादके अनुसार महापुरुष वही है, जिसने अपना सर्वोच्च कोटिका विकास किया है। गीता (१५।१८)-में योगिराज श्रीकृष्णने जब कहा था—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(१५।१८)

—तो उनके इस कथनमें '**पुरुषोत्तम**' शब्द उनके परम उच्च कोटिके विकासका ही सूचक था।

वेदमें मृतात्माकी अष्टविध दशा

(वेद-दर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर पूज्य स्वामी श्रीगंगेश्वरानन्दजी महाराज)

मरणोत्तर जीवात्माकी दशाएँ प्रथमतः दो प्रकारकी होती हैं—'गति' और 'अगति'।

'अगति' शब्दकी परिभाषा लोकान्तरमें गमनाभाव है। अतः अगति चार प्रकारकी बन जाती है। सर्वोत्तम अगति तत्त्वदर्शीकी है, जो तत्त्वदर्शनसे अविद्या और अविद्याके कार्य लिङ्गशरीरका बाध होनेसे कहीं जाता ही नहीं, अपने वास्तविक स्वरूप—ब्रह्मभावमें स्थित हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें 'जीवभूमि' से उठकर 'स्वयं ब्रह्म' बन जाता है। तात्पर्य यह कि उपाधि-सम्बन्धसे कल्पित जीवभाव मिटकर विशुद्ध ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थित होता है। जैसे दर्पणके सम्बन्धसे कल्पित सूर्य-प्रतिबिम्ब दर्पण-उपाधिके हट जानेसे शुद्ध अपने बिम्बस्वरूप सूर्यमें ही मिल जाता है।

इस 'अगति' का नाम 'मुक्ति' भी है। वह दो प्रकारकी है—'**क्षीणोदर्क**' और '**भूमोदर्क**'। 'क्षीणोदर्क मुक्ति' वह है जो शरीर-इन्द्रिय-प्राणादि अनात्म-पदार्थोंमेंसे आत्मव्याप्तिको 'नेति-नेति' की प्रक्रियाद्वारा हटाकर निराकार-निर्विशेष विशुद्धात्मदर्शनसे प्राप्त होती है। '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**', '**इदं सर्वं यदयमात्मा**', '**वासुदेवः सर्वमिति**' आदि प्रक्रियाद्वारा आत्मव्याप्तिके विस्तार होनेपर विश्वात्मदर्शनसे जो प्राप्त होती है, वह 'भूमोदर्क मुक्ति' है।

पृथिवीमें ही मरणोत्तर कीट-पतंग-वृक्षादि योनि प्राप्त होनेपर 'तृतीय अगति' है और पशु-पक्षी आदि योनि 'चतुर्थ अगति' है; क्योंकि मृतात्माको पृथिवीको छोड़कर लोकान्तरमें जाना नहीं पड़ता।

इससे ज्ञात होता है कि सर्वथा गतिशून्य स्वरूपस्थितिके कारण द्विविध मुक्ति दो प्रकारकी सर्वश्रेष्ठ अगति हुई और किसी लोकान्तरमें न जाकर इसी लोकमें वृक्ष-कीट-पतंग आदि एवं पशु-पक्षी आदि योनिमें प्रविष्ट होनेपर निकृष्ट दो प्रकारकी अगति हुई। इसे अगति इसलिये कहा जाता है, क्योंकि इसमें जीवात्माको पृथिवीलोक छोड़कर कहीं अन्यत्र जाना नहीं पड़ता। अब आगे चार प्रकारकी गतिका परिचय प्रस्तुत किया जाता है—

ब्रह्मलोकगति, देवलोकगति, पितृलोकगति और निकृष्ट नरकगति। सर्वोत्कृष्ट विविध तत्त्वदर्शीकी अगतिके साथ उत्क्रान्तिका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं। कारण, उसके प्राण '**न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति**'—इस श्रुति-वचन (बृह० ४।४।६)-के अनुसार उत्क्रमण किये बिना ही '**अत्रैव समवलीयन्ते**'—इस वचनके आधारपर यहाँ ही ज्ञानके द्वारा सविलास अविद्याकी निवृत्ति हो जानेसे अपने अधिष्ठान ब्रह्मतत्त्वमें विलीन हो जाते हैं। वेदान्तशास्त्रका उद्घोष है—'**अधिष्ठानाविशेषो हि बाधः कल्पितवस्तुनः**'।—अर्थात् 'कल्पित वस्तुकी निवृत्ति अपने अधिष्ठानसे अतिरिक्त नहीं, अपितु तत्स्वरूप ही है।' शिष्ट द्विविध अगति तथा चतुर्विध गतिके साथ उत्क्रान्तिका अविनाभाव है। अर्थात् उनका होना उत्क्रान्तिपूर्वक ही सम्भव है। इसी प्रकार गतिके साथ कहीं-कहीं अगति—पुनरावृत्तिका सम्पर्क अवश्यम्भावी है। अतएव वेदान्तदर्शन (२।३।१९)-में कहा गया है—

'**उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्**।'

'जीवात्माकी उत्क्रान्ति, गति तथा अगतिका श्रुतियोंमें स्फुट वर्णन है।' यथा—

'**स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति**।'

(कौषीतकि० ३।४)

'**ये वैके चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति**।'

(कौषीतकि० १।२)

'**तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे**।'

(बृहदारण्यक ४।४।६)

अर्थात् 'वह जीवात्मा जब इस शरीरसे उत्क्रमण करता है—निर्गत होता है, तब इन सब प्राणोंका साथ ही उत्क्रमण होता है।' 'जो-जो प्राणी इस लोकसे मरणोत्तर प्रस्थान करते हैं, वे सब चन्द्रलोकको ही प्राप्त होते हैं।' 'उस लोक (चन्द्रलोक)-से जीवात्मा इस लोकके लिये भुक्तशेष कर्मके फलभोगनिमित्त '**पुनरेति**' फिर वापस आता है।' तात्पर्य यह कि वह स्वर्गसे भुक्तशेष कर्मोंका फल भोगनेके लिये पृथिवीपर लौटता है। इसीको शास्त्रमें 'प्रत्यावृत्ति' अथवा 'आगति' कहा गया है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या बिना मार्गके भी कोई कहीं जा-आ सकता है? इसके उत्तरमें मार्गका वर्णन वेदने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥

(ऋक्० १०।८८।१५)

(शुक्लयजु० १९।४७; तै० ब्रा० १, ४, २, ३; २, ६, ३, ५; श० ब्रा० १४, ९, १, ४; बृह० ६, २, २)।

'मैंने मनुष्योंके दो मार्गोंका श्रवण किया—एक देवोंका, दूसरा पितरोंका (देवयान तथा पितृयान)। जब समस्त विश्वके प्राणी इस लोकसे लोकान्तरको प्रस्थान करते हैं, तब '**मातरं पितरमन्तरा**'—पृथिवी और स्वर्गके मध्यवर्ती अन्तरिक्षसे उन्हीं दोनों मार्गोंमें होकर '**समेति**'—भलीभाँति जाते हैं।'

इस मन्त्रसे पृथिवी और अन्तरिक्ष तथा द्यु (स्वर्ग)—इस त्रिलोकी तथा पृथिवीलोकसे लोकान्तर-गमनके दोनों मार्गोंका स्पष्ट वर्णन किया है। वेदमें पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा द्युलोकका ही नहीं, अपितु उन लोकोंके निवासी मुख्य (ग्यारह-ग्यारह) देवोंका भी परिचय प्राप्त होता है। स्मरण रहे, जीवात्माकी गतिमें देवोंका सहयोग माना गया है। अतः पृथिवी आदि लोकोंके मुख्य देवोंका उल्लेख अनिवार्य हो जाता है।

देखिये—ऋग्वेदके १।१३९।११ वें मन्त्रमें तीनों लोक, उनके शासक ग्यारह-ग्यारह देवोंका कैसा मनोहर चित्रण हुआ है—

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥

ऋषि देवताओंसे प्रार्थना करते हैं—'पूजनीय देवगणो! आप सब एकादशकी संख्यामें जो द्युलोकमें रह रहे हैं, '**पृथिव्यामधि**'—पृथिवीके ऊपर जो उतनी ही संख्यामें विराजमान हैं, एवं इसी प्रकार **अप्सुक्षितः***—अन्तरिक्षमें निवास कर रहे हैं, वे सभी आप लोग हमारे इस यज्ञका सेवन करें।'

ये देवा दिव्येकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्॥
ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्॥
ये देवा पृथिव्यामेकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्॥

(अथर्ववेद १९।२७।११—१३)

अथर्ववेदके इन मन्त्रोंसे पृथिव्यादि त्रिलोकी एवं उसके क्रमशः ग्यारह-ग्यारह देवोंके गणोंकी पूर्ण पुष्टि हो जाती है।

'निघण्टु' के ५वें अध्यायमें तथा 'निरुक्त' के ७ से १२ तक ६ अध्यायोंमें पृथिवी-स्थानीय ५२ देव, अन्तरिक्षनिवासी ६८ देव एवं दिविस्थित ३१ देव—इस प्रकार १५१ देवोंका उल्लेख है। फिर भी तीनों स्थानोंके क्रमशः मुख्य देव—'अग्नि', 'वायु' और 'आदित्य' हैं। इनके दस-दस सहायक देव हैं, जो इनके आदेशानुसार कार्य किया करते हैं। पाठकोंको अवगत करानेके लिये उन देवोंके क्रमशः नाम नीचे दिये जाते हैं—

पृथिवीके मुख्य देव—अग्नि और उनके सहकारी दस देव—(१) जातवेदा, (२) वैश्वानर, (३) द्रविणोदा, (४) तनूनपात, (५) नाराशंस, (६) त्वष्टा, (७) वनस्पति, (८) ग्रावाण, (९) रथ और (१०) अप्।

अन्तरिक्षके मुख्य देव—वायु और उनके सहकारी दस देव—(१) वरुण, (२) रुद्र, (३) इन्द्र, (४) पर्जन्य, (५) बृहस्पति, (६) यम, (७) मित्र, (८) क, (९) विश्वकर्मा और (१०) सविता।

द्युलोकके मुख्य देव (आदित्य) सूर्य तथा उनके सहकारी दस देव—(१) अश्विनीकुमार, (२) उषा, (३) सूर्या, (४) त्वष्टा, (५) सविता, (६) भग, (७) पूषा, (८) विष्णु, (९) यम और (१०) अज एकपात्—यों संकलित ३३ देव बनते हैं।

जीवात्मा पृथिवीसे जब लोकान्तरके लिये प्रस्थानोन्मुख होता है, तब अग्नि अपने सहकारी दस देवोंके साथ उसकी सहायता करते हैं। इसी तरह वायु अन्तरिक्षमें और द्युलोकमें आदित्य गन्ता जीवात्माको सहयोग देते हैं—

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति।

(छान्दोग्य० ५।४।२)

इस श्रुतिवचनसे देवोंका सहयोग स्पष्ट अवगत होता है। व्याख्याकारोंने 'देव' शब्दका अर्थ आध्यात्मिक प्राण,

* 'अप्' शब्दका अर्थ बलकी प्रधानताके कारण अन्तरिक्ष है।

जो व्यष्टि-समष्टि-लय-सिद्धान्तके अनुरूप आधिदैविक अग्न्यादि भावको प्राप्त हो चुके हैं, ऐसा किया है। तात्पर्य यह कि आध्यात्मिक चक्षु सूर्य, आध्यात्मिक वाक् अग्नि, आध्यात्मिक प्राण वायु बनकर द्युलोकरूपी अग्निमें श्रद्धाकी आहुति डालते हैं, जिससे प्रकाशमान चन्द्रलोकवर्ती वृद्धि-क्षययुक्त सोमात्मक यजमानका दिव्य शरीर निष्पन्न होता है। अर्थात् उसी शरीरके द्वारा यजमान अपने किये हुए पुण्यकर्मोंका फलोपभोग स्वर्गमें करता है।

ऋग्वेदके १०वें मण्डलके १४वें सूक्तसे १८वेंतक ५ सूक्तोंमें जीवात्माकी लोकान्तर-गतिके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण मन्त्र उपलब्ध होते हैं। उनमेंसे कतिपय मन्त्र निम्न-निर्दिष्ट हैं—

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥

(ऋक्० १०।१६।३; तै० आ० ६।१।४; निरुक्त ७।३)

पूर्वार्धमें—'**सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।**'

—इस प्रकारसे स्वल्प पाठभेदके साथ यही मन्त्र अथर्ववेद (१८।२।७)-में उद्धृत है।

छान्दोग्योपनिषद्के पञ्चम अध्यायके ३ से १० तक ८ खण्डोंमें पञ्चाग्निविद्याका निरूपण है। उसका संक्षेप मुण्डकोपनिषद्के मुण्डक २, खण्ड १, मन्त्र ५ में इस प्रकार है—

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः
सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां
बह्वीः प्रजा पुरुषात् सम्प्रसूताः॥

—इस मन्त्रमें उसी पञ्चाग्निविद्याका बीज '**सूर्यं चक्षुर्गच्छतु**' इस मन्त्रमें उपलब्ध है। पाठकोंको समझानेके लिये बीजभूत मन्त्रकी व्याख्यासे पहले पञ्चाग्निविद्याका सार दिया जाता है। पाँच अग्नि हैं—द्युलोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष तथा योषित् (स्त्री)। क्रमशः इन पाँचों अग्नियोंमें जो प्रक्षिप्त की जाती हैं, वे पाँच आहुतियाँ हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और रेतः (शुक्र)। अग्निहोत्रादि यज्ञ-प्रक्रियाओंके अनुसार आवहनीय अग्निमें दूध-दधि-घृतादिकी यजमान श्रद्धापूर्वक आहुति डालता है। अग्निसंयोग होते ही वे दध्यादि द्रव्य सूक्ष्म वाष्परूपको धारण कर लेते हैं*। पहलेकी अपेक्षा कुछ नवीनता आ जानेके कारण इन्हें व्याख्याकारोंने 'अपूर्व' शब्दसे कहा है।

यजमानका जीवात्मा जब मनुष्य-शरीरसे निकलता है तो स्थूलशरीर यहाँ पड़ा रहता है। उसकी कहीं जानेकी सम्भावना ही नहीं। वैराग्यशास्त्रमें उसकी तीन गतियाँ—दशाएँ वर्णित की गयी हैं। यदि उसका अग्नि-संस्कार किया जाय तो वह भस्मकी ढेरी बनेगा। यदि किसी मांसाहारी सिंहादि पशुने उसे अपना आहार बना दिया तो वह घृणित विष्ठाका रूप धारण करेगा। यदि पृथिवीमें गाड़ दिया जाय और यों ही पड़ा रह जाय तो सड़ जानेसे उसमें कीड़े पड़ जायँगे, अर्थात् वह कृमिरूपको प्राप्त हो जायगा। अतः जीवात्माका साथ देनेवाला मरणोत्तर सूक्ष्मशरीर या लिङ्गशरीर ही है; जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन तथा बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंका संघात है। उसमें मनस्तत्त्वकी प्रधानता होनेके कारण उसमें केवल '**मनः**' शब्दका भी प्रयोग किया जाता है। वह केवल शक्तिस्वरूप होनेसे भौतिक शरीरकी सहायता बिना कहीं गमन करनेमें असमर्थ है। अतः जैसे किसी पदार्थको घी, दूध या तैल—किसी स्निग्ध द्रव्यमें डाल दिया जाय और पुनः उसे निकाल ही क्यों न दिया जाय फिर भी, कुछ सूक्ष्म अंश संलग्न अवश्य रह जाता है। इसी प्रकार भले ही सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीरसे पृथक् हो गया हो, फिर भी स्थूलशरीरके आरम्भिक कुछ भौतिक अंश उस सूक्ष्मशरीरसे संलग्न रह जाते हैं। इन्हींको शास्त्रने 'भूतसूक्ष्म' कहा है। अतः जब लिङ्गशरीरके साथ जीवात्मा प्रस्थान करेगा तो कतिपय भूतसूक्ष्म उसका साथ अवश्य देंगे। इधर अग्निप्रक्षिप्त वाष्पभावको प्राप्त हुए आहुतिद्रव्य दुग्ध-दध्यादिके सूक्ष्म परमाणु भी साथ मिल जायँगे। जैसे किसी पदार्थको कितना ही सुरक्षित घरमें क्यों न रखा जाय, धीरे-धीरे उसपर धूलि पड़नेसे एक मृत्तिकाका परत या स्तर जम जाता है, इसी प्रकार लिङ्गशरीरके ऊपर स्थूलशरीर-आरम्भक भूतसूक्ष्म-मिश्रित आहुतिद्रव्यके सूक्ष्मांशोंका एक स्तर-सा बन जाता है; वही इस

* उन्हींका 'श्रद्धा' शब्दसे श्रुतिमें उल्लेख हुआ है। कारण, उनके प्रक्षेपके मूलमें श्रद्धा ही हेतु है।

लिङ्गशरीरका गमन करनेमें आश्रयका काम देता है। दूसरे शब्दोंमें उसीके आश्रित हो लिङ्गशरीर परलोकयात्रा आरम्भ करता है। कहना न होगा, उसी लिङ्गशरीरके आधारपर भूतान्तरसहित श्रद्धा-निष्पाद्य आहुतिद्रव्यके सूक्ष्म वाष्पसे ही एक जीवात्माके यातनाशरीरका निर्माण होता है। अन्तर केवल इतना है—पुण्यात्मा अपने गन्तव्य स्वर्गादिमें पहुँचकर नये दिव्य विग्रहोंको धारण करता है। उसी समय उसके यातनाशरीरका अन्त हो जाता है। नरकगतिमें यातनाशरीरका अन्त नहीं होता। उसीके द्वारा जीवात्मा रौरवादि भयंकर नरक-यातनाओंका उपभोग करता है। नरकगामी जीवात्माके यातनाशरीरमें केवल भूतसूक्ष्मोंका ही अस्तित्व है, आहुतिद्रव्यके अपूर्वीभूत सूक्ष्म वाष्पांशोंका नहीं। उनका सम्पर्क केवल ऊर्ध्वगति पुण्यात्मा जीवके ही आतिवाहिक शरीरमें सम्भव है। यद्यपि लोकान्तर-गमनमें सहकारी शरीर यातनाशरीर ही है, तथापि यातनाशरीरका व्यवहार पुण्यात्माके लोकान्तरगति सहकारी शरीरमें शास्त्रकारोंने इस आशयसे नहीं किया कि पुण्यात्माको यातना होगी ही क्यों? अतः कतिपय विद्वानोंका मत है कि स्वर्ग या नरकतक पहुँचानेवाले शरीरको आतिवाहिक शरीर कहना ही अधिक उपयुक्त है। यातनाशरीर तो पापात्माओंको उसी समय मिलेगा, जब वे नरकमें यातना भोगनेके लिये ढकेल दिये जायँगे।

उपर्युक्त विवेचनासे प्रमाणित होता है कि पुण्यात्मा चन्द्रलोकमें द्युलोक-अग्निमें आहुत श्रद्धाशब्दित सूक्ष्म अप् (जल)-सदृश दुग्ध-दध्यादिके द्रुतद्रव्य वाष्पापन्न अंशोंसे निष्पन्न दिव्य विग्रहमें स्वर्गसुखका चिरकालतक उपभोग करता है। फिर उस दिव्य शरीरके आरम्भक भूतसूक्ष्म जलसदृश द्रुतद्रव्यके घनीभूत अंश-भोगद्वारा पुण्यके क्षय होनेपर अनुताप अग्निसे विलीन हो जाते हैं। उन्हीं विलीन भूतसूक्ष्मसहित जलोंसे वेष्टित जीवात्मा स्वर्गसे वापस लौट आता है। फिर पर्जन्याग्निमें दिव्य शरीरारम्भक विलीन सोमकी आहुति होती है, जिससे वृष्टिकी निष्पत्ति होती है। उस वृष्टिकी तृतीय पृथिवी-अग्निमें आहुति पड़नेसे पृथिवीमें व्रीहि-यवादि अन्न उत्पन्न होता है। उस व्रीह्यादि जाति स्थावर व्रीहि-यवादिमें स्वर्गच्युत जीवात्मा चिरकालतक संसृष्ट रहता है। इस व्रीह्यादि संश्लेषका अन्त कष्ट-साध्य है। दूसरे शब्दोंमें इस व्रीह्यादि अन्नके पौधोंसे जीवात्माका निष्क्रमण अति कठिन है। इसीलिये श्रुतिमें कहा है—

'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्।'

(छान्दोग्य० ५।१०।६)

अर्थात् 'इस व्रीह्यादिभावसे जीवात्माका निष्क्रमण दूसरे शब्दोंमें निष्क्रमण अति कृच्छ्रसाध्य है।'

अस्तु जब चतुर्थ पुरुषाग्निमें अन्नकी आहुति दी जायगी तो रेतः—शुक्र (रसादिक्रमसे निष्पन्न सप्तम धातु)-की निष्पत्ति होगी। पश्चात् योषारूप (स्त्री) पञ्चमाग्निमें उस शुक्रकी आहुतिसे मातृकुक्षिस्थ गर्भका जन्म होगा; फिर वही गर्भ क्रमशः मातृकुक्षिमें नौ या दस मास रहकर परिपूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गादियुक्त हो जाता है। पश्चात् मातृयोनिसे निर्गत हो शिशु, बाल एवं कुमार नामोंसे व्यपदिष्ट होता है। कहनेका अभिप्राय है कि द्युलोकादि पाँच अग्नियोंमें क्रमशः श्रद्धादि पञ्चाहुतियोंके प्रक्षेपका परिणाम ही मानव-शरीर है। निष्कर्ष यह कि यज्ञाग्निमें हवन करनेसे अग्नि-संयोगद्वारा विलीन हो द्रुतद्रव्य बने; अतएव उन्हें अप् या जल कहा गया। वे ही क्रमशः मनुष्य-शरीरमें परिणत होकर अब पुरुष कहे जायेंगे। अर्थात् पञ्चमाहुतिमें पहले 'जल' शब्दसे कहे जानेवाले जल अब 'पुरुष' नामसे व्यवहृत होंगे। अब उन्हें 'अप्' संज्ञा न देकर 'पुरुष' संज्ञा दी जायगी। अतएव श्रुति भगवतीका वचन है—**'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति।'**—तात्पर्य, 'पञ्चमी आहुतिके प्रक्षिप्त होते ही पहलेके द्रुतद्रव्य, जिन्हें जल कहा जाता था, 'पुरुष' संज्ञाको प्राप्त कर लेते हैं।' इसी अभिप्रायको संक्षेपमें मुण्डक (२।१।५)-का **'तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः।'**—यह मन्त्र व्यक्त करता है।

जिसका भाव इस प्रकार है—उस अक्षरब्रह्मसे द्युलोक अग्निका जन्म हुआ। सूर्य ही इस द्युलोक-अग्निका ईंधन है; क्योंकि काष्ठसे भौतिक अग्निकी तरह यह द्युलोक सूर्यसे समिद्ध, प्रदीप्त अर्थात् चमकता है। उस द्युलोकाग्निमें पूर्वोक्त हुतद्रव्यात्मक श्रद्धाकी आहुतिसे सोम (चन्द्र) स्वर्गीय दिव्य शरीर निष्पन्न होता है। जब भोगद्वारा पुण्यक्षयके कारण दिव्य शरीरधारी जीवात्माको अनुताप अथवा पश्चात्ताप होता है, तब उस विलीन

सोमसे पर्जन्यकी उत्पत्ति होती है। पुनः द्वितीय पर्जन्याग्निसे तृतीय पृथिवीरूपाग्निमें वृष्टिकी आहुतिद्वारा व्रीहि-यवादि ओषधियोंका प्रादुर्भाव होता है। चतुर्थ पुरुषाग्निमें अन्नरूपसे प्राप्त उन ओषधिद्रव्योंसे रेतः (शुक्र)-की निष्पत्ति होती है। जब चतुर्थाग्नि-पुरुष योषित् (स्त्री) पञ्चमाग्निमें रेतःका सिंचन करता है, तब पुरुषशरीर माताके गर्भमें धीरे-धीरे पुष्ट हो शिशुभावमें प्रकट होता है। इस क्रमसे ब्राह्मणादि समस्त प्राणिवर्ग उस अक्षर पुरुषसे ही प्रादुर्भूत होता है।

इसी पञ्चाग्निविद्याका बीज '**सूर्यं चक्षुर्गच्छतु**' अथर्ववेदके (१०।१६।३) मन्त्रमें उपलब्ध है। उसका मन्त्रार्थ इस प्रकार है—[प्रेतात्माको सम्बोधित कर कहा जा रहा है कि] 'हे मृतात्मन्! तेरी चक्षु-इन्द्रिय अपने समष्टि आधिदैविक सूर्यस्वरूपको प्राप्त हो।' आत्मा=प्राण, वात—समष्टि आधिदैविक वायुमें मिल जाय। पहले कहा जा चुका है कि आध्यात्मिक चक्षुरादि प्राण आधिदैविक सूर्याग्नि आदि देवभावको प्राप्त हो मृतात्माके प्रस्थानमें सहायक होते हैं। उसी अभिप्रायको मन्त्रका प्रथम चरण व्यक्त कर रहा है। अथवा इस मन्त्रांशसे उत्क्रान्तिका वर्णन किया है, जिसके बिना लोकान्तर-गति असम्भव है।

ज्ञातव्य है कि उत्क्रान्ति (देहत्याग)-के समय जीवात्माको अति दुःसह चतुर्विध भयंकर यातना (दुःख) सहन करनी पड़ती है। अतएव उत्क्रान्ति (मृत्यु)-का नाम सुनते ही मानव-हृदय काँप जाता है। वे दुःख इस प्रकार हैं—'विश्लेषज', 'मोहज', 'अनुतापज' और 'आगामी-दृश्यदर्शनज-दुःख'। गोंदसे चिपकाये हुए दो कागजोंको अलग करना बहुत कठिन है। कभी-कभी अलग करनेके समय अलग न होकर वे फट जाते हैं। ठीक यही स्थिति अहंता-ममताके गोंदद्वारा स्थूलशरीरसे संलग्न सूक्ष्मशरीरकी है। जब सूक्ष्मशरीरसे स्थूलशरीरको पृथक् होना पड़ता है, तो असह्य वेदनाका अनुभव करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जैसे दोका भार एक मनुष्यको उठानेमें अति क्लेश होता है, वैसे ही स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरोंका भार अब अकेले सूक्ष्मशरीरपर ही आनेके कारण महती पीड़ा होती है। बस, यही 'विश्लेषज-दुःख' है।

मरणोन्मुख प्राणीको चारों ओरसे कुटुम्बीजन घेरे रहते हैं। सामने साश्रुनयना पत्नी या पति है, लाड़ले बेटे कह रहे हैं—'माताजी! पिताजी! आप हमें अनाथ छोड़कर जा रहे हैं।' पुत्रवत्सला माँ आर्तनाद कर रही है—'पुत्र! तू क्यों कठोर हो वृद्धा माताको असहाय-दशामें छोड़े जा रहा है', तब उसका तीव्र मोह (कुटुम्बासक्ति) उद्बुद्ध हो हृदयको अत्यन्त संतप्त करता है—'हाय! जिनसे मैं पलभर भी पृथक् होना नहीं चाहता था, उन्हें छोड़नेके लिये विवश हूँ।' इसीको 'मोहज-दुःख' कहा गया है।

'मैंने जन्मभर पाप किये। भूलकर भी भगवद्भजन, साधुसेवा, दानादि पुण्य-कार्य नहीं किये। अब मैं यमराजके दरबारमें क्या उत्तर दूँगा।' इन विचारोंसे अनुतापकी पराकाष्ठामें असह्य वेदना मुमूर्षुको होती है। इसीका नाम 'अनुतापज-दुःख' है।

मृत्युके समय भावी दृश्य उपस्थित हो जाता है, जिससे पापात्माको बड़ी घबराहट होती है। वह काँपता है—'मुझे रौरवादि भयंकर नरकोंमें ढकेला जायगा। मैं असहाय हो वहाँकी कठोर यातनाएँ भोगूँगा। जिन कुटुम्बियोंके लिये अगणित चोरी, ठगी, डकैती आदि कुकर्म किये, वे मेरा वहाँ साथ न देंगे।' श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि पापात्माको निगृहीत करनेके लिये भयंकर आकृतिवाले दण्डपाणि, रक्तनयन यमदूत उपस्थित होते हैं, जिनके देखनेमात्रसे मुमूर्षुका हृदय भयभीत हो जाता है। इतना ही नहीं, अधिक भयके कारण शय्यापर ही मल-मूत्रतकका त्याग हो जाता है। इसीको 'आगामी-दृश्यदर्शनज-दुःख' कहते हैं। अतएव जन्म, जरा तथा व्याधि—इन दुःखोंकी तुलनामें मरण-दुःखको सर्वाधिक भयंकर दुःख माना गया है।

पुण्यात्माके पास इस प्रकारके दुःख कभी फटकते-तक नहीं। प्रत्युत वह आगामी स्वर्गीय दृश्यदर्शनसे अत्यन्त प्रसन्न हो हँसते-हँसते प्राणोंका विसर्जन करता है। उत्क्रान्त जीवात्माको पुण्यवश कहाँ, किस प्रकार जाना होगा और वहाँसे प्रत्यावर्तित हो किस स्थितिमें आना होगा—इसका विवरण शिष्ट तीन चरणोंमें दिया गया है।

परलोकगामी जीवात्मासे कहा जा रहा है कि तुम '**धर्मणा**'—अपने अर्जित पुण्यके प्रभावसे '**द्याम्**'—

स्वर्गको '**गच्छ**'—प्राप्त करो। फिर स्वर्गप्रापक पुण्यके क्षीण होनेपर अनुतापाग्निसे विलीन सोमद्वारा '**अपो वा गच्छ**'—अन्तरिक्षको प्राप्त होओ। तात्पर्य यह कि अन्तरिक्षस्थित मेघके जलमें प्रवेश करो। तत्पश्चात् वृष्टिके द्वारा '**पृथिवीं गच्छ**'—स्वर्गसे प्रत्यावर्तित हो पृथ्वीको प्राप्त करो। फिर पृथिवीमें प्रादुर्भूत व्रीहि-यवादि ओषधियोंमें स्थित (संश्लिष्ट) होओ। '**शरीरैः**'—शरीर-धारणके निमित्त यह तृतीय फल—उद्देश्य लक्षण-हेतु-अर्थमें है। यथा—'**अध्ययनेन वसति**'—अध्ययनके उद्देश्यसे रह रहा है। अर्थात् उसके निवासका फल—उद्देश्य और लक्ष्य अध्ययन ही है। भट्टोजि दीक्षितने 'सिद्धान्तकौमुदी' में '**फलमपीह हेतुः**' इस उक्तिसे दण्डादि कारणकी तरह क्रियाके फलको भी हेतु मानकर हेतु तृतीयाका समर्थन किया है। निष्कर्ष—ओषधिमें जीवात्माकी स्थिति या संश्लेषका लक्ष्य भावी पुरुषशरीर-धारण ही है। ओषधि-नाम व्रीहि-यवादि अन्नका है। वही अन्न पुरुष (पिता)-के द्वारा भुक्त हो रसादि परम्परासे सप्तम धातु—शुक्र बनेगा। वह शुक्र स्त्रीमें निषिक्त हो 'गर्भ' बनकर कुछ महीनोंमें पुरुषाकृतिमें परिणत हो, मातृयोनिसे निर्गत होनेपर शिशु, बाल तथा कुमार आदि शब्दोंमें व्यवहृत होगा। अतः प्रमाणित होता है कि ओषधिमें स्वर्गसे प्रत्यावर्तित जीवात्माके अवस्थानका उद्देश्य शरीर-धारण ही है। इस मन्त्रके द्वारा अति संक्षिप्त शब्दोंमें पञ्चाग्निविद्याके समस्त सिद्धान्तोंको गागरमें सागरकी तरह भर दिया गया है।

प्रसन्नताकी बात है, जिस पञ्चाग्निविद्याका गूढ वर्णन संहितामें किया, उसीका कुछ विस्तारके साथ मुण्डकमें दिग्दर्शन हुआ। छान्दोग्योपनिषद्के पञ्चमाध्यायके ३ से १० तक आठ खण्डोंमें एवं बृहदारण्यकोपनिषद् षष्ठाध्यायके द्वितीय ब्राह्मणमें अति विस्तारके साथ इसका निरूपण किया गया है।

विस्तारभयसे लेखनीको विराम ही देना पड़ेगा। फिर भी कतिपय शब्दोंमें पञ्चाग्निविद्याके पाँच प्रश्न और उनके उत्तरोंका दिग्दर्शन अनिवार्य है।

प्रश्न १—पृथिवीलोकसे मरणोत्तर प्राणी ऊपरके किस लोकमें जाता है?

उत्तर—ज्ञानी, उपासक, कर्मठ और कुकर्मी—चार श्रेणियोंमें प्राणिवर्ग विभक्त हैं। ज्ञानीको कहीं जाना ही नहीं। यह पहले कहा जा चुका है। वह यहीं जीवभावका अन्त होनेसे अपने ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है। उपासक दो तरहके हैं—पञ्चाग्नि-उपासक एवं ब्रह्मोपासक। दोनों ही ब्रह्मलोकमें अवश्य जायँगे। अन्तर केवल इतना है कि पञ्चाग्नि-उपासक जिस कल्पमें ब्रह्मलोकको प्राप्त हुआ है उस कल्पमें उसकी पुनरावृत्ति न होगी; क्योंकि श्रुति (छान्दोग्य० ४।१५।५)-में लिखा है कि '**एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते॥**' इस विशेषणसे उसी कल्पमें, जिस कल्पमें वे ब्रह्मलोक गये हैं, पुनरावृत्तिका निषेध हुआ है। कल्पान्तरमें पुनः प्रतीकोपासककी पुनरावृत्ति अनिवार्य है। ब्रह्मोपासककी पुनरावृत्ति न होकर क्रममुक्ति ही होगी।

कल्पके अन्तमें जब ब्रह्मलोकके अध्यक्ष हिरण्यगर्भ मुक्त होंगे तो उनके साथ उनके उपदेशसे सब-के-सब ब्रह्मलोकवासी उपासक मुक्त हो जायँगे। कारण, उस समय हिरण्यगर्भके उपदेशसे वहाँके निवासी आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर लेते हैं। इस विषयका निरूपण वेदान्तदर्शन '**कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्।**' '**स्मृतेश्च॥**' (४।३।१०-११)-में देखना चाहिये।

कर्मठ देवलोक या पितृलोककी गतिको प्राप्त होते हैं। भेद केवल इतना है कि पितृलोकसे ग्राह्य चन्द्रलोक पृथिवी तथा द्युलोकके मध्यवर्ती अन्तरिक्षमें है। देवलोक-ग्राह्य स्वर्ग, चन्द्रलोक, द्युलोक अथवा द्युलोकसे उपरिस्थित परमेष्ठि-मण्डल है। वैदिक प्रक्रियामें पाँच मण्डल हैं—स्वयम्भूमण्डल, परमेष्ठिमण्डल, सूर्यमण्डल, पृथिवीमण्डल तथा पृथिवीके ऊपर अन्तरिक्षके एक देशमें स्थित लघु-चन्द्रमण्डल। '**आकाशाच्चन्द्रमसम्**'—इस श्रुतिवाक्य (छान्दोग्य० ५।१०।४)-में इसी लघु-चन्द्रमण्डलका उल्लेख है। '**संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसम्**' इस श्रुतिवाक्य (छान्दोग्य० ५।१०।२)-में आदित्यमण्डलके उपरिवर्ती परमेष्ठिमण्डलकी ओर संकेत है; क्योंकि परमेष्ठि-मण्डलात्मक चन्द्रमण्डलका ही आदित्यमण्डलके ऊपर होना न्यायसंगत है। इन पाँचों मण्डलोंमें भूरादि सप्तलोकोंका समावेश हो जाता है और एक-एक लोककी दो-दो बार

गणना करनेसे तीन त्रिलोकियोंका स्वरूप निष्पन्न होता है। जैसे भूलोक—पृथिवी, जिसपर नश्वर प्राणिवर्ग रह रहा है। द्युलोक—जिसमें सूर्य देदीप्यमान है, जिसे सूर्यमण्डल कहा जायगा। इन पृथिवी-द्युलोकके मध्यवर्ती अवकाशात्मक आकाश अन्तरिक्ष है। इन तीनोंकी एक त्रिलोकी बनी। दो मण्डलोंकी दृष्टिसे इस त्रिलोकीका वैदिक नाम '**रोदसी**' है। द्युलोक और '**जनः**' या जनलोक—इन दोनोंके मध्यवर्ती '**महः**' नामक आकाशको मिला लेनेसे **स्वः**, **महः**, **जनः**—इन तीनोंकी द्वितीय त्रिलोकी बनी। द्युलोकका अपर नाम स्वः या सूर्यमण्डल है। जनलोकका नामान्तर ही 'परमेष्ठिमण्डल' है*। जनः और सत्य तथा उनके मध्यवर्ती तपोलोकको मिला लेनेसे इन तीनोंकी तीसरी त्रिलोकी बनेगी। परमेष्ठिमण्डल, स्वयम्भूमण्डल—इन दो मण्डलोंकी दृष्टिसे इस त्रिलोकीका द्विवचनान्त वैदिक नाम 'संयती' है।

इन सातों लोकोंका अनुस्मरण वेदानुगामी द्विज प्रतिदिन संध्योपासनके समय करते ही हैं। अनन्त आकाशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। उनका आभासमात्र हमारे साहित्यमें कहीं-कहीं अवश्य है। विस्तृत विवरण इन त्रिलोकियोंकी समष्टि हमारे इस ब्रह्माण्डका ही यत्र-तत्र पाया जाता है।

अस्तु, पितृलोकात्मक चन्द्रलोकके स्पष्टीकरणके लिये प्रसंगवश मण्डलादिका उल्लेख किया गया। आकाशके शीत कटिबन्ध, उष्ण कटिबन्ध, मध्य कटिबन्ध एवं नागवीथि, अजवीथ्यादि नौ वीथियोंका शास्त्रवर्णित विवरण आवश्यक होनेपर भी स्थान-संकोचके कारण नहीं किया जा सका। उनके लिये पाठक पुराणशास्त्रकी शरण लें। कर्मठोंको कर्मफलभोगके अनन्तर पृथिवीपर अवश्य लौटना ही होगा, जिसका विवरण द्वितीय प्रश्नके उत्तरमें दिया जायगा।

प्रश्न २—स्वर्ग या पितृलोकमें गये हुए प्राणियोंके प्रत्यावर्तनका प्रकार क्या होगा?

उत्तर—वे स्वर्ग अथवा पितृलोकके प्रापक कर्मसमूहके भोगके अनन्तर वहाँसे वक्ष्यमाण मार्गसे प्रत्यावर्तन करते हैं। पहले वे आकाशको प्राप्त होंगे, पश्चात् वायुको, फिर वायु-सदृश होकर धूम-सदृश होंगे। अनन्तर अभ्र, तदनु मेघ बनकर वृष्टिद्वारा पृथिवीपर पहुँचेंगे। वे साक्षात् धूमादि-स्वरूप न बनकर उनके समान-स्वभावके होते हैं। पृथिवीपर पहुँचकर जातिस्थावर—व्रीहि-यवादि पौधोंके साथ संश्लिष्ट होते हैं। स्वयं स्थावर-योनिको प्राप्त नहीं होते। इसको समझनेके लिये वेदान्तदर्शनके निम्न सूत्र शांकरभाष्यसहित द्रष्टव्य हैं—

'तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः'॥ 'नातिचिरेण विशेषात्॥'
'अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्॥'
(३।१।२२—२४)

प्रश्न ३—देवयान तथा पितृयान—इन दोनों मार्गोंका विभाग अथवा अन्तर क्या है? तात्पर्य, ये दोनों मार्ग कहाँसे पृथक् होते हैं तथा इन दोनोंके विश्राम-स्थल—पड़ाव-स्टेशन समान हैं या न्यूनाधिक?

उत्तर—पितृयानमार्ग (धूमयान)-के क्रमशः सात पर्व हैं—धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायनके षण्मास—ये प्रथम चार पर्व हैं। ज्ञातव्य है कि धूमादि शब्दोंका सिद्धार्थ यहाँ विवक्षित नहीं, अपितु तदभिमानी 'आतिवाहिक देवता' अभिप्रेत है '**आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्॥**' (वेदान्तदर्शन ४।३।४)।

इस मार्गसे जानेवाले कर्मठ प्राणी संवत्सराभिमानी आतिवाहिक देवताको मिल नहीं पाते। बस, यहींसे इस पितृयानमार्गका देवयानमार्गसे विभाग हो जाता है। पञ्चम पर्व पितृलोक, षष्ठ आकाश, सप्तम चन्द्रलोक है। (देखिये छान्दोग्योपनिषद् ५।१०।३,४)

देवयानमार्गके १४ पर्व हैं—(१) अर्चिः—अग्निज्वाला, (२) दिवस, (३) शुक्लपक्ष, (४) उत्तरायणके षण्मास, (५) संवत्सर, (६) देवलोक, (७) वायु, (८) आदित्य, (९) चन्द्र (जनः) परमेष्ठिमण्डल, (१०) विद्युत् (तपः), (११) वरुण, (१२) इन्द्र, (१३) प्रजापति और (१४) ब्रह्मलोक (सत्यलोक)।

विद्युत्-लोकमें उपासकके पहुँचते ही उसके स्वागतके लिये ब्रह्मलोकसे अमानव (दिव्य पुरुष) भेज दिया जाता है। वह उसे साथ ले वरुणलोकादिद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुँचा देता है। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।१,२)-में यद्यपि देवलोक, वायुलोक, वरुण, इन्द्र और प्रजापति—

* इस त्रिलोकीका वेदमें उल्लेख 'कन्दसी' इस द्विवचनान्त प्रयोगसे हुआ है।

इन पाँचों पर्वोंका उल्लेख नहीं, तथापि कौषीतकि आदि अन्य श्रुतिवचनोंके आधारपर वे मार्गकी पर्वपूर्तिके लिये अवश्य उपादेय हैं। इसका विवरण वेदान्तदर्शन (४।३।१—३)-के सूत्रों तथा उनके भाष्यमें द्रष्टव्य है।

प्रश्न ४—क्या आजतक अनन्त पुण्यात्माओंके स्वर्गमें चले जानेसे वह स्वर्ग परिपूर्ण न हो गया होगा, अर्थात् आजकल जिन देशोंमें अधिक जनसंख्या हो जाय, वहाँ नये विदेशियोंके आनेपर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। सम्भव है स्वर्गलोकमें अधिक प्राणिवर्गकी उपस्थितिके कारण नये परलोकयात्रियोंके लिये प्रतिबन्ध तो नहीं लगा दिया गया?

उत्तर—प्रथमतः पुण्यात्माओंकी संख्या स्वल्प होती है, और गये हुओंका प्रत्यावर्तन भी पहले कहा जा चुका है। कुकर्मीको वहाँ जानेका आदेश ही नहीं। कारण, कुकर्मी वहाँ जाते ही नहीं। उनके लिये जन्म-मरण-परम्परारूप तृतीय स्थान निर्धारित है। निष्कर्ष—कुकर्मी लोग क्षुद्र कीट-पतंग आदि योनिमें चले जाते हैं। वे बार-बार जन्मते तथा मरते हैं। इसलिये वे पृथिवीपर ही जन्म-मरणके चक्रमें फँसे रहते हैं। अतएव अनन्त कुकर्मियोंके पृथिवीमण्डलमें ही तिर्यक्-योनियोंमें प्रविष्ट होनेके कारण स्वर्गलोकके परिपूर्ण होनेकी सम्भावना ही नहीं। कतिपय स्वर्गमें गये हुए पुण्यात्माओंको भी कुछ सीमित समयतक निवासका आदेश है। भोगसे कर्मक्षय होनेपर उन्हें भी वहाँसे निर्वासित किया जाता है। भला, ऐसी स्थितिमें स्वर्गका भरना तो दूर रहा, वहाँके रिक्त स्थानोंकी पूर्ति होना भी कठिन है; क्योंकि जनसमाजका अधिक झुकाव पापकी ओर है। पुण्यकी ओर अङ्गुलिगण्य बिरले व्यक्तियोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। इसके अतिरिक्त अति कुकर्मी, जिन्हें रौरवादि नरकोंमें जाकर यातना भुगतनी होगी, उनकी तुलना अपराधी कैदियोंसे करनी होगी। न्यायालयमें दण्डित होकर कैदी कारा (जेल)-में भेज दिये जाते हैं। वहाँ कारावासकी कठोर यातनाएँ उन्हें भोगनी पड़ती हैं।

दक्षिणायन नामक चौथे पर्वतक वे जा सकते हैं; उसके पश्चात् दक्षिण दिशामें वर्तमान यमालयमें उन्हें जाना पड़ेगा। यहाँ मृत पुरुषोंके अपराधके दण्डका निर्णय वैवस्वत यमदेव करते हैं। इस कार्यके लिये वे प्रभुकी ओरसे नियुक्त हैं। इसीलिये उन्हें पितृलोक नामक यमालयमें पहुँचे हुए प्राणिवर्गका शासक होनेके कारण अभिधानकोशमें 'पितृपति' या 'धर्मराज' कहा गया है। इस विषयका स्पष्टीकरण निम्न निर्दिष्ट मन्त्रोंके अवलोकनसे होगा—

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषाँल्लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥

(शुक्लयजु० १९।४५)

—इस मन्त्रमें पितृवर्गकी यमराज्यमें सत्ताका उल्लेख है।

भाष्यकार महीधर—'**यमस्य राज्यं यस्मिन् तत्र यमलोके ये पितरो वर्तन्ते धर्मराजः पितृपतिरित्यभिधानात्।**' इस उक्तिद्वारा यमालय (यमलोक) और वहाँ नियुक्त दण्डपाणि धर्मराजके अस्तित्वका स्पष्ट प्रतिपादन कर रहे हैं। केवल दण्डपाणि यमकी नियुक्ति नहीं, उसकी सहायताके लिये पाशपाणि वरुण भी नियुक्त हुए हैं—

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥

(ऋक्० १०।१४।७, अथर्व० (कुछ पाठान्तरसे) १८।१।५४)

[पुत्र अपने मृत पितासे कह रहा है कि] 'मेरे पूज्य पिताजी! पूर्वकालमें होनेवाले अनादिकाल-प्रवृत्त मार्गोंसे आप वहाँ अति शीघ्र जायँ। द्विरुक्तिसे आदरातिशय अथवा अतिशीघ्रताकी सूचना है। यहाँ हमारे पूर्वपुरुष पितामहादि पहले पहुँच चुके हैं तथा वहाँ पहुँचकर 'स्वधया'—अमृतसे तृप्त यम और वरुणदेव दोनों राजाओंके दर्शन करें।' इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यमालयमें मृतात्माओंके भोगका निर्णय करनेके लिये दो अधिकारी नियुक्त हैं—यम और वरुण। उनमेंसे वरुणका उत्कर्ष बतलानेके लिये 'देव' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कारण, ऋग्वेदमें केवल वरुणदेवके लिये 'सम्राट्' शब्दका प्रयोग हुआ है। अतएव यमके हाथमें दण्ड और वरुणके हाथमें पाश शासकका चिह्न है—

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥

(तै० आ० ६।४।२; ऋग्वेद १०।१४।८ अथर्व० १८।३।५८)

[पुत्र अपने मृत पितासे पुनः प्रार्थना करता है—] 'हे पिताजी! '**अवद्यम्**'—पापको '**हित्वायः—हित्वा**'—परित्याग करके अनुष्ठान किये हुए इष्टापूर्त श्रौतस्मार्त दानरूप

कर्मके प्रभावसे आप यमसे मिलें। तदनन्तर उनसे शासित पितरोंसे सामीप्य स्थापित करें। जो यम और पितृगण, '**परमे व्योमन्**'—उत्कृष्ट स्थान—उत्तम पितृलोक—स्वर्गमें रह रहे हैं। '**अस्तम्**'—भोगसे कर्मक्षयके होनेपर फिर पृथिवीपर '**एहि**'—आगमन करें। अथवा कर्मभोगानन्तर, '**अस्तम्**'-सर्व प्राणियोंके गृह—निवासस्थान पृथिवीको प्राप्त हों। इतना ही क्यों? पृथिवीपर आकर '**सुवर्चाः—सुवर्चसा। शोभनदीप्तियुक्ततन्वा**'—सुन्दर कान्तिवाले शरीरसे संगत हों अर्थात् पितृलोकसे पृथिवीमें लौटकर सुन्दर शरीरको धारण करें।'

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः॥

(ऋग्वेद० १०।१६।५; तै० आ० ६।४।२)

[**व्याख्या**—] हे अग्ने! '**यः**'—जो मृत पुरुष, '**ते**'—तुझे, '**आहुतः**'—चितामें वेदमन्त्रसे समर्पण किया गया है एवं 'स्वधाकार' उच्चारणपूर्वक समर्पित उदकादिके सहित '**चरति**'—इधर-उधर चक्कर काट रहा है, उसे '**पितृभ्यः**'—पितरोंकी प्राप्तिके निमित्त अर्थात् पितृलोककी प्राप्तिके लिये, पुनः '**अव**'—'**सृज**'—फिर प्रेरित करें। पितृलोकमें कर्मभोगके अनन्तर वह पुरुष हे जातवेदा! आपकी कृपाद्वारा शरीरसे, '**सं गच्छताम्**'—संगत हो, अर्थात् पितृलोकसे प्रत्यावृत हो शरीर धारण करे। यही क्यों, आपकी कृपासे '**आयुर्वसानः**'—जीवनको धारण करनेवाला दीर्घायु संतान '**उप वेतु**'—'**उपगच्छतु**'—उस पुरुषको प्राप्त हो।

तात्पर्य—पृथिवीपर शरीर धारण करके पितृलोकसे लौटा हुआ पुण्यात्मा पुरुष दीर्घजीवी पुत्ररत्नको प्राप्त हो। अथवा शेष भुक्तकर्म उस पितृलोकसे प्रत्यावृत पुरुषको '**उप वेतु**'—**उपगमयतु**'—पृथिवीपर शरीर धारण करायें और वह '**आयुर्वसानः**'—आयुयुक्त दीर्घजीवी हो, '**पृथिव्यां तिष्ठतु**'—पृथिवीमें रहे।

—इन मन्त्रोंसे मृतात्माके लोकान्तरमें पहुँचने और प्रत्यावृत होकर पृथिवीमें शरीर धारण करनेका स्पष्ट वर्णन है। प्रसन्नताकी बात है कि जब हमने वैदिक संहिताओंमें परलोकसम्बन्धी खोज आरम्भ की, तब एक-दो नहीं, असंख्य मन्त्र अहं-अहमिकासे उपस्थित हुए। तब हमें निःसीम आश्चर्य हुआ। भगवान् वेद विश्वकल्याणके लिये जिन पदार्थोंका प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे ज्ञान सम्भव नहीं, उनकी अवगति करानेमें सर्वथा सचेष्ट हैं। इसी अभिप्रायकी अभियुक्तोक्ति है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

'प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे जिस अलौकिक साधनका ज्ञान अशक्य है, उसे वेदके द्वारा ही मनुष्य जानते हैं। यही वेदका वेदत्व है।'

वेदवर्णित यमालय तथा उसके स्वामी यमराज एवं उसके द्वारा पापकी जाँच कर नरकगतिके निर्णयका उल्लेख वेदान्तदर्शनमें ३।१।१३,१४ वें तथा १५ वें सूत्र एवं उनके भाष्यमें द्रष्टव्य है।

'संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्॥'
'स्मरन्ति च॥' 'अपि च सप्त॥' 'पूषा त्वेतः।'

(ऋग्वेद १०।१७।३; अथर्व० १८।२।५४; तै० आ० ६।१।१; निरुक्त ७।९)

'द्यौर्मे पिता जनिता'

(ऋक्० १।१६४।३३; अथर्व० ९।१०।१२; निरुक्त० ४।२१)

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तद् प्रजापतिरब्रवीत्॥

(अथर्व० ६।११।२)

—इत्यादि वेद-मन्त्र पञ्चाग्निविद्याके मौलिक तत्त्व तथा परलोकसम्बन्धी तथ्योंकी जानकारीके लिये विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। विस्तारभयसे उनकी व्याख्या नहीं की गयी।

सुबन्धु-उपाख्यान, ऋग्वेदीय १० वें मण्डलके सूक्त ५७ से ६० तक ४ सूक्तोंसे सम्बद्ध है। उन सूक्तोंकी संकलित ऋचाएँ क्रमशः ६, १२ १० तथा १२ कुल ४० हैं। उस उपाख्यानके परिशीलनसे परलोकसम्बन्धी मनोरञ्जक तथ्य अवगत होते हैं। नीतिमञ्जरी, सामवेदीय शाट्यायण ब्राह्मण, बृहद्देवता, कात्यायन ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी तथा सायण भाष्य उसके आधार हैं।

हमारे प्राचीन महर्षियोंको एक अपूर्व विद्या अवगत थी, जिसके द्वारा वे मृत व्यक्तिके जीवात्माको जिस शरीरसे वह उत्क्रान्त हुआ है, उसीमें फिरसे आह्वान कर सकते थे।

अस्याति राजा मानवी असुरोंके मायाजालमें फँस गये और अपने कुलगुरु पुरोहितोंको छोड़कर कीराताकुली नामक मायावी असुरोंको उन्होंने अपना पुरोहित बनाया। इससे क्रुद्ध होकर उसके सुबन्धु, बन्धु, श्रुतबन्धु तथा विप्रबन्धु—इन चार पुरोहितोंने अभिचार-प्रयोगसे राजाका अनिष्ट करना चाहा। राजाके द्वारा इसकी सूचना नवनियुक्त असुर पुरोहितोंको दी गयी। उन्होंने अपनी माया तथा योगशक्तिसे प्राचीन पुरोहितोंके अभिचार-प्रयोगको निष्फल बना दिया तथा राजाका बाल बाँका नहीं हो सका। प्राचीन पुरोहितोंके समक्ष एक नया संकट उपस्थित हुआ। असुर पुरोहितोंने सुप्त—असावधान उनके सुबन्धु भ्राताके प्राणोंका हरण कर लिया। वे स्वदृष्ट उक्त सूक्तोंके प्रभावसे सुबन्धुके निर्गत प्राणोंको वापस बुलानेमें सफल हुए और मृत सुबन्धु चेतनामें आये और जीवित हो गये। तब उनके बन्धु आदि भ्राताओंने सुबन्धुके लब्धसंज्ञ शरीरको हाथसे सस्नेह स्पर्श करते हुए मन्त्र पढ़ा—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजो ऽयं शिवाभिमर्शनः॥

(ऋग्वेद १०।६०।१२)

'मेरा हाथ क्या ही सौभाग्यशाली है! यह अत्यन्त सौभाग्यशाली है, यह सबके लिये भेषज है। इसके स्पर्शसे कल्याण होता है।'

अथर्ववेदमें भी जब मनुष्यकी आयु क्षय हो रही हो, मरणोन्मुख-दशामें उसका कण्ठ कफावरोधके कारण भयंकर शब्द कर रहा हो एवं मनुष्य ऊर्ध्व श्वास ले रहा हो या उसके प्राण शरीरसे विदा हो गये हों, उसे दीर्घजीवी बनानेके लिये मन्त्र है—

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय॥

(अथर्व० ३।११।२)

'यदि आयु क्षीण हो चुकी हो अथवा प्राणी मर गया है या मृत्युके समीप ही पहुँच गया है, इस '**अस्पार्श**'—निर्जीव पुरुषको मृत्युके मुखसे मैं '**आहरामि**'—वापस ला रहा हूँ; जिससे वह, '**शतशारदाय**'—सौ वर्षतक जीवित रहे।'

श्रीकृष्ण प्रभुने मृत गुरुपुत्र, मृत अपने भ्राता देवकीके छः पुत्रों तथा मृत ब्राह्मण-पुत्रोंको वापस लाकर हमारी मृतसंजीवनी वेदविद्याके अद्भुत चमत्कारका ही प्रदर्शन किया है। श्रीमद्भागवतमें इन वृत्तान्तोंका विस्तृत वर्णन द्रष्टव्य है।

महर्षि पिप्पलाद

आचार्य पिप्पलाद वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। अथर्ववेदकी पैप्पलाद शाखाके मन्त्रोंके द्रष्टा महर्षि पिप्पलाद ही हैं। इसीलिये वह शाखा पैप्पलाद शाखाके नामसे विश्रुत है। '**नवधाऽथर्वणो वेदः**' इस वचनके अनुसार अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ थीं, किंतु वर्तमानमें शौनकीय तथा पैप्पलाद—इन्हीं दो शाखाओंका विशेष अनुवर्तन है। शौनकीय शाखा महर्षि शौनकसे सम्बद्ध है और पैप्पलाद शाखा महर्षि पिप्पलादसे। वेदोंके नित्य स्वाध्यायक्रममें पूरे वेदका पाठ न हो पानेकी स्थितिमें प्रायः वेदोंके प्रथम मन्त्रका पाठ करनेकी परम्परा भी है। जैसे ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र है—'**अग्निमीळे०**', तथा यजुर्वेदका—'**इषे त्वोर्जे०**', सामवेदका—'**अग्न आ याहि०**' और अथर्ववेदका—'**शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः॥**' परंतु आजकल प्रचलित शौनकीय अथर्ववेद-संहिताके आदिमें यह मन्त्र उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत वह मन्त्र प्रथम काण्डके छठे सूक्तका पहला मन्त्र है। '**शं नो देवी०**' यह मन्त्र पैप्पलाद-संहिताके आदिमें ही मिलता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पूर्वकालमें अथर्ववेदकी यही पैप्पलाद शाखा मुख्य शाखा रही हो। इस पैप्पलाद शाखामें ऋगादि मन्त्रोंका भी पाठ मिलता है तथा इसके अध्ययनसे महर्षि पिप्पलादकी महानताका परिचय प्राप्त होता है।

महर्षि पिप्पलाद अद्वितीय ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष रहे हैं। वे न केवल संहिताभागके द्रष्टा महर्षि हैं, अपितु औपनिषदिक ब्रह्मविद्याके भी तत्त्वज्ञ रहे। प्रश्नोपनिषद् महर्षि पिप्पलादके ही दिव्य ज्ञान-विज्ञानका परिचायक है। यह प्रश्नोपनिषद् पैप्पलाद शाखाके ब्राह्मणभागके अन्तर्गत कहा गया है। प्रश्नोपनिषद्में अध्यात्म-विद्या तथा परमात्मतत्त्वको प्रश्नोत्तररूपमें समझाया गया है। इसके उपदेष्टा महर्षि पिप्पलाद ही हैं।

एक बार ब्रह्मज्ञानकी जिज्ञासासे भरद्वाजके पुत्र सुकेशा, शिविके पुत्र सत्यकाम, सूर्यके पुत्र गर्गगोत्रोत्पन्न गार्ग्य, अश्वलके पुत्र कौसल्य, भृगुगोत्रोत्पन्न विदर्भदेशीय वैदर्भी और कत्यके प्रपौत्र कबन्धी (कात्यायन)—ये छः ऋषि महर्षि पिप्पलादके पास आये। उन्होंने बड़े ही विनय एवं श्रद्धासे उनकी पूजा की और उनसे ब्रह्मज्ञान-सम्बन्धी प्रश्नोंको पूछा। महर्षिने उन्हें एक वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए गुरुकुलमें निवास करनेकी आज्ञा दी और बताया कि बिना संयम और बिना गुरुशुश्रूषाके विद्या ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं आती, साथ ही तत्त्वका बोध भी नहीं होता।

गुरुकी आज्ञा स्वीकार कर शिष्य-भावको प्राप्त करके उन महर्षियोंने वर्षपर्यन्त नियमोंका पालन करते हुए गुरु पिप्पलादके आश्रममें निवास किया। अनन्तर गुरुकी आज्ञा प्राप्तकर छहों शिष्योंने ब्रह्मज्ञान-सम्बन्धी प्रश्न पूछे और गुरुका दिव्य उपदेश प्राप्त करके वे सदाके लिये कृतार्थ हो गये। कृतार्थ हुए शिष्योंने विनीत-भावसे उन्हें प्रणाम कर उनकी पूजा करते हुए कहा—भगवन्! आप तो हमारे पिता हैं, क्योंकि विद्यारूपी नौकाके द्वारा आपने हमें अविद्याके पार कर दिया है। आप परम ऋषि हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, आपको हमारा बार-बार नमस्कार है—

नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥

(प्रश्नोपनिषद् ६।८)

आचार्य पिप्पलादके प्रश्नोपनिषद्-सम्बन्धी कुछ उपदेश इस प्रकार हैं—

शिष्योंद्वारा यह प्रश्न किया गया कि ब्रह्मलोक किसे प्राप्त होता है? इसके उत्तरमें महर्षिने कहा कि जिनमें तप और ब्रह्मचर्य है, जिनमें सत्य प्रतिष्ठित है, उन्हींको ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। यथा—

तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥

(प्रश्नोपनिषद् १।१५)

इसी प्रकार एक दूसरे उपदेशमें उनका कहना है कि उस अविनाशी परमात्माको जो जान लेता है, वह सर्वज्ञ है तथा वह सर्वस्वरूप परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है—

तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य
स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति॥

(प्रश्नोपनिषद् ४।११)

इस प्रकार शिष्योंद्वारा प्रश्न करनेके कारण इस उपनिषद्का नाम 'प्रश्नोपनिषद्' पड़ गया।

वेदादिमें महर्षि पिप्पलादके विषयमें तात्त्विक बातें तो प्राप्त होती हैं, किंतु उनके दिव्य चरित्रके विषयमें सामग्री कम प्राप्त होती है। ब्रह्म, शिव, स्कन्द आदि पुराणोंमें महर्षिका उदात्त चरित्र बड़े ही विस्तारपूर्वक प्राप्त होता है, इसीका सार भाग यहाँ प्रस्तुत है।

त्याग, तपस्या, मन्त्रशक्ति तथा ब्रह्मज्ञानके अधिष्ठान आचार्य पिप्पलाद ऋषियोंमें परमादरणीय ऋषि हैं। उनमें तपस्याका असीम बल प्रतिष्ठित था। देवर्षि नारदसे उन्हें भगवद्भक्तिका उपदेश प्राप्त था। गोत्रकार ऋषियोंमें आपका परिगणन है। पुराणोंमें आचार्य पिप्पलादको महर्षि दधीचिका पुत्र बतलाया गया है। इनकी माताका नाम गभस्तिनी (सुवर्चा) था। महर्षि दधीचिके त्याग, तपस्या, परोपकारका तथा समस्त लोकों एवं देवताओंके कल्याणके लिये और साथ ही वृत्रासुर आदि आसुरी शक्तियोंका विनाश करनेके लिये अपने जीवन-दान (अस्थिदान) करनेका वृत्तान्त सर्वविश्रुत ही है। महर्षि दधीचिके समान ही देवी गभस्तिनी भी अत्यन्त साध्वी, सदाचारपरायणा और पतिव्रताओंमें श्रेष्ठ थीं। आचार्य पिप्पलादमें माता-पिताके संस्कार व्याप्त थे। अतः वे जन्मसे ही दिव्य शक्तिसे सम्पन्न थे। देवताओं और ऋषियोंका उनपर महान् अनुग्रह था। वे जीवमात्रकी कल्याण-कामनासे तपस्यामें निरत रहते थे।

महर्षि पिप्पलादके आविर्भावका आख्यान

देवासुर-संग्रामकी बात है, उस समय देवता विजयी हुए और असुर पराजित। अब उन्हें असुरोंसे भय जाता रहा, किंतु असुर उनके दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंको चुरा लेंगे—यह भय बना रहा। उन्हें यह ज्ञात था कि पृथ्वीमण्डलमें इस समय महर्षि दधीचिके समान महान् परोपकारी, तपस्वी तथा उदारचेता महामनीषी हैं नहीं और उनके तपोबलके प्रभावसे उनका आश्रम-प्रदेश असुरोंके लिये सर्वथा अजेय है, अतः अपने अस्त्र-शस्त्रोंको उनके पास सुरक्षित रख दिया जाय, जिसे आवश्यकता पड़नेपर पुनः प्राप्त कर लिया जायगा। ऐसा विचारकर इन्द्रादि देवता अपने-अपने अस्त्र-शस्त्रोंके साथ महर्षिके पास आये और अनुनय-विनयकर अपने

अस्त्र-शस्त्र महर्षिके समीप रख गये। महर्षिकी धर्मपत्नी देवी गभस्तिनीने मना भी किया, किंतु दैव-योगकी प्रबलतावश महर्षि दधीचिने अस्त्र अपने पास रख लिये।

हजारों वर्ष बीत गये, किंतु देवता अस्त्र लेने आये नहीं। अस्त्रोंकी रक्षाके भारसे महर्षि चिन्तित रहा करते थे। एक दिन उन्होंने अस्त्रोंको अभिमन्त्रित कर वह तेजोरूप जल पी लिया और वही दिव्य तेज उनकी अस्थियोंमें समा गया।

कुछ दिन ऐसे ही और बीत गये। इस बीचमें पराजित वृत्र आदि असुरोंने पुनः आसुरी शक्तियोंको एकत्र कर लिया। जब देवताओंको असुरोंकी शक्ति ज्ञात हुई तो उन्हें भी अपने आयुधोंकी आवश्यकता प्रतीत हुई। वे महर्षि दधीचिके पास आये और अस्त्रोंको लौटानेकी प्रार्थना की। उस समय महर्षि-पत्नी गभस्तिनी आश्रम-प्रदेशसे बाहर गयी हुई थीं। देवता उनके पातिव्रत्यको जानते थे, इसलिये वे जान-बूझकर उनकी अनुपस्थितिमें वहाँ आये।

देवताओंको महर्षिने बताया कि अस्त्र-शस्त्रोंकी सुरक्षाकी चिन्तासे उन्होंने उनका तेज पान कर लिया है और अब वह अस्त्र-शक्ति उनकी अस्थियोंमें प्रविष्ट हो गयी है। अतः बिना मेरे प्राणत्याग किये अस्थियोंको प्राप्त करना कैसे सम्भव है?

देवता बोले—भगवन्! इस समय जैसे भी हो वृत्र आदि असुरोंने संसारके विनाशका संकल्प लिया है, उनका वध होना आवश्यक है। अतः जैसे भी उनका वध हो, आप वह उपाय बतायें?

महर्षि कुछ देरतक विचार करते रहे और फिर उन्होंने समस्त ब्रह्माण्डके कल्याणके लिये अपने प्राणोंका उत्सर्ग करनेका निर्णय लिया। वे समाधिमें बैठ गये तथा योग-धारणसे उन्होंने अपने प्राणोंको परम-तत्त्वमें विलीन कर लिया। अनन्तर इन्द्रादि देवताओंने सुरभी आदि गौओंका आह्वानकर दधीचिके तेजोमय देहको चटवा डाला और अस्थियोंके तेजःपुञ्जको लेकर वे देवलोक चले आये तथा उन्हीं अस्थियोंसे वज्र बनाकर वृत्रासुर आदि राक्षसोंका संहार किया। महर्षि दधीचि सदाके लिये अमर हो गये।

इधर देवी गभस्तिनी जब आश्रम-प्रदेशमें वापस आयीं तो अग्निदेवसे सारा समाचार जानकर उन्हें अत्यन्त कष्ट हुआ। पतिव्रता स्त्रीके लिये पतिकी मृत्युसे बढ़कर और कौन बड़ा दुःखका हेतु हो सकता है! वे मूर्च्छित हो गिर पड़ीं। चेतना आनेपर उन्हें देवताओंका कपटपूर्ण व्यवहार समझमें आया। वे शाप देनेके लिये उद्यत हो गयीं, किंतु फिर दैवगति और पतिदेवकी इच्छा जानकर वे शान्त हो गयीं; तत्पश्चात् उन्होंने पतिका अनुगमन करना ही ठीक समझा, वे एक क्षण विचार करनेके लिये रुक गयीं।

एक विशेष बात यह थी कि उस समय देवी गभस्तिनीके गर्भमें महर्षि दधीचिका तेज विद्यमान था। ऐसी स्थितिमें प्राणोंका त्याग करना तो महान् पाप होगा, तो फिर क्या हो? तब उन्होंने बालककी किसी प्रकार रक्षाका प्रबन्ध करनेके अनन्तर ही अग्नि-प्रवेशका निर्णय लिया।

अपने पतिदेवका ध्यान लगाकर वे समाधिमें स्थित हो गयीं और उन्होंने अपनी कुक्षिको विदीर्ण कर बालकको हाथमें ले लिया। माता गभस्तिनी उस समय अत्यन्त विह्वल हो उठी थीं, उनके आँसू रोके न रुकते थे। एक ओर पातिव्रत्यका पालन और दूसरी ओर वात्सल्यकी पराकाष्ठा। बड़ी ही कठिन घड़ी थी; तथापि पुत्रका मोह त्यागकर उन्होंने पतिके अनुगमनको ही श्रेष्ठ समझा। अपने नवजात शिशुकी रक्षाका दायित्व वे वहाँकी वनस्पतियों, औषधियों तथा लोकपालोंको सौंपते हुए कहने लगीं—

हे अमृतरूपा वनस्पतियो! हे लोकपालो! हे प्राणियो! यह मेरा बालक सब प्रकारसे माता-पिता, बन्धुओं और गोत्रजोंसे रहित है। इसके पिता तो जन्मसे पहले ही देवलोक चले गये। मैं इसकी माँ हूँ, किंतु मैंने पतिका अनुगमन करनेका निश्चय किया है। सामने प्रज्वलित ये अग्निदेव मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस नवजात शिशुका कोई बन्धु-बान्धव भी नहीं है, अतः आप लोग सब प्रकारसे इस अनाथ शिशुकी रक्षा करें, आप सबपर ही इसका भार है। यदि आप लोग ऐसा नहीं करेंगे तो यह

जीवित नहीं रहेगा। जो लोग माता-पितासे हीन बालककी अपने औरस पुत्रकी भाँति देख-रेख करते हैं, पालन करते हैं, रक्षा करते हैं, वे निश्चित ही ब्रह्मा आदि देवोंके लिये भी वन्दनीय होते हैं[१]।

ऐसा कहकर देवी गभस्तिनीने अपने उस रोते हुए बालकको समीपमें स्थित पीपलके वृक्षोंके नीचे रख दिया, उसे नमस्कार कर[२] अपने पतिका ध्यान करते हुए वे अग्निमें प्रवेश कर गयीं, उन्हें पतिलोक प्राप्त हुआ।

अग्निप्रवेशका वह कारुणिक दृश्य देखकर आश्रम-प्रदेशके वृक्ष, पशु-पक्षी, मृग आदि जिनका महर्षि दधीचि तथा उनकी पत्नीने लाड़-प्यारसे पालन किया था, मूर्तिमान् होकर रो पड़े और कहने लगे—आज इस बालककी भाँति हम भी अपने माता-पितासे वियुक्त हो गये, अब हमारा यह परम कर्तव्य है कि हम इस बालककी जैसे भी हो रक्षा करें। ऐसी प्रतिज्ञा कर वे वनस्पतियाँ अपने स्वामी सोम (चन्द्रमा)-के पास गयीं और उनसे अमृतरूपी दुग्ध प्राप्तकर उस बालकको पिला दिया। अमृतरूपी उन पिप्पल-वृक्षोंके नवीन पत्तोंका उस बालकको भक्षण कराया। वह बालक शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा।

चूँकि पिप्पल-वृक्षोंके द्वारा उस बालकका पालन हुआ और उसका भक्षण कर उसकी रक्षा हुई, इसलिये उस बालकका नाम 'पिप्पलाद' हो गया—

पिप्पलैः पालितो यस्मात् पिप्पलादः स बालकः।

(ब्रह्मपु० ११०।८०)

शिवपुराणमें यह कथा आयी है कि साक्षात् भगवान् शिवने ही पिप्पलाद नामसे दधीचिपत्नीके गर्भसे जन्म लिया था और जब पुत्रकी माताने पुत्रको छोड़कर अपने पतिका अनुगमन किया तो उस समय ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता पिप्पलाद नामसे अवतरित शिवरूप उस बालकका दर्शन करने वहाँ आये। बालकका शरीर अत्यन्त तेजोमय था। देवताओंने पीपल-वृक्षके नीचे स्थित उस बालकको प्रणाम किया। उस समय देवलोकसे पुष्प-वृष्टि होने लगी। ब्रह्मा आदि देवताओंने उस बालकके सभी संस्कार किये और प्रसन्न होकर उसका 'पिप्पलाद' यह नाम रखा—

पिप्पलादेति तन्नाम चक्रे ब्रह्मा प्रसन्नधीः।

(शिव० शतरुद्र० २४।६१)

उसे अनेक आशीर्वाद प्रदान कर और सभी विद्याओंका ज्ञाता होनेका वर देकर देवता अपने-अपने स्थानोंको चले गये।

जब पिप्पलाद कुछ बड़े हुए तो उन्हें स्वयंको देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि मेरे माता-पिता तो कहीं दिखलायी नहीं देते, फिर मेरा जन्म कहाँसे हुआ, मैं इन पीपल-वृक्षोंके नीचे कैसे आ गया? तब मूर्तिमान् पीपल-वृक्षोंने इनके पिताके अस्थिदान तथा माताके अग्निप्रवेशकी सारी घटना उन्हें बतला दी, जिसे सुनकर बालक पिप्पलादको बड़ा दुःख हुआ और देवताओंपर क्रोध भी हुआ कि उनके छलके कारण पिताको प्राणोंका परित्याग करना पड़ा। तब वनस्पतियोंके स्वामी सोमने उन्हें शान्त किया और सम्पूर्ण विद्याओंको प्राप्त करनेका तथा उत्तम तप, शुभ वाणी, शौर्य, उत्तम रूप, बल और बुद्धि भी प्रदान की। साथ ही भगवान् शङ्करकी भक्तिका उपाय भी बतला दिया। पिप्पलादने अखण्ड तपस्यासे भगवान् शङ्करको प्रसन्नकर उनका अनुग्रह भी प्राप्त कर लिया। अतः प्रसन्नमुद्रामें पिप्पलादको समझाते हुए भगवान् शङ्करने कहा—

वत्स! तुझमें तपस्याका असीम बल है, इससे तुम देवताओंको भी जीत सकते हो, किंतु तुम्हें क्रोध करना अच्छा नहीं। तुम्हारे पिताने देवकार्यकी सिद्धिके लिये ही अपने प्राणोंका बलिदान कर दिया। इस संसारमें उनके समान दीन-दुःखियोंपर करुणा करनेवाला दूसरा और कौन होगा? महामुने! आपकी माता गभस्तिनी पतिव्रताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, वे भी लोकहितके लिये पतिलोक चली गयीं। तुम्हारे माता-पिताने महान् यश फैलाया है। सारा संसार उनका गुणगान कर रहा है। देवता उनके त्यागकी प्रशंसा करते हैं। ऐसे माता-

---

१- पित्रा हीनो बन्धुभिर्गोत्रजैश्च मात्रा हीनो बालकः सर्व एव। रक्षन्तु सर्वेऽपि च भूतसंघास्तथौषध्यो बालकं लोकपालाः॥
ये बालकं मातृपितृप्रहीणं सनिर्विशेषं स्वतनुप्ररूढैः। पश्यन्ति रक्षन्ति त एव नूनं ब्रह्मादिकानामपि वन्दनीयाः॥
(ब्रह्मपुराण ११०।६९-७०)

२- पिप्पलाना समीपे तु न्यस्य बालं नमस्य च॥ (ब्रह्मपु० ११०।७१)

पिताका पुत्र होनेका गौरव तुम्हें प्राप्त है, अतः तुम भी तपस्याद्वारा लोकहितमें लग जाओ। देवाधिदेवके उपदेशसे पिप्पलाद शान्त हो गये। वे भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़े। शङ्करने उन्हें अनेक वर दिये और मन्त्र-शक्ति प्रदान की। उसी समय अन्य देवता तथा मूर्तिमान् पिप्पलाद-वृक्ष भी वहाँ उपस्थित हो गये और वर माँगनेको कहा। इसपर पिप्पलादने कहा—यदि आप लोग वर प्रदान करना चाहते हैं तो मुझे अपने माता-पिताका दर्शन करानेकी कृपा करें। उनकी मातृ-पितृ-भक्तिसे देवता प्रसन्न हो गये और बोले—मुने! आपकी अभिलाषा अवश्य पूर्ण होगी। ऊपर आकाशकी ओर देखिये, उत्तम विमानपर विराजमान तुम्हारे माता-पिता तुम्हें दर्शन देनेके लिये आ रहे हैं। क्षणभरमें ही विमान नीचे उतर पड़ा। माता-पिताका दर्शन कर उनकी आँखोंमें आँसू आ गये। वे माता-पिताके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—वंशको धारण करनेवाले दूसरे पुत्र अपने माता-पिताका उद्धार करते हैं, किंतु मैं ऐसा अभागा निकला कि माताके उदरमें आकर केवल उनके दुःखका कारण बना, इस प्रकार कहते हुए पिप्पलादका कण्ठ रुँध गया। तब देवताओंने उन्हें आश्वस्त किया और माता-पिताने कहा—

पुत्र! तुम तीनों लोकोंमें धन्य हो, तुम्हारी कीर्ति स्वर्गमें भी पहुँच गयी है। तुम-जैसा पुत्र पाकर आज हम धन्य हो गये, कृतकृत्य हो गये। तुम महान् भाग्यशाली हो, तुम्हें भगवान् शङ्करका अमोघ दर्शन हुआ है। ये सभी देवता तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं। तुम्हें पाकर आज सारा संसार धन्य है। अब तुम शोकका त्याग करो और गृहस्थधर्मका पालन करो। मुनिवृत्तिसे रहो, यज्ञोंका अनुष्ठान करो, गौर-ब्राह्मणोंका आदर करो, जीवमात्रकी सेवा करो। ऐसा उपदेश और वर प्रदानकर उनके माता-पिता तथा देवगण यथास्थानोंको चले गये।

महर्षि पिप्पलाद सफल-मनोरथ हो गये। उन्होंने माता-पिताकी आज्ञा स्वीकारकर गृहस्थधर्म-पालनका निश्चय किया।

महर्षि पिप्पलादका गार्हस्थ्य जीवन

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कथा आयी है कि एक बार जब महामुनि पिप्पलाद स्नान करनेके लिये नदीकी ओर जा रहे थे तो मार्गमें उन्हें चक्रवर्ती सम्राट राजर्षि अनरण्यकी अत्यन्त सुलक्षणा कन्या दिखलायी दी। उस कन्याको प्राप्त करनेकी अभिलाषासे वे राजा अनरण्यके पास गये और अपना प्रस्ताव निवेदित किया। महर्षिकी अवस्था आदि देखकर राजा अत्यन्त चिन्तित हो गये, किंतु उनकी तपस्याके प्रभावको वे जानते थे। न चाहते हुए भी उन्होंने अपनी कन्या उन्हें समर्पित कर दी। पद्माको पत्नीरूपमें ग्रहणकर वे अपने आश्रममें लौट आये। पद्मा भी परमेश्वरका रूप समझकर उनकी सेवा-शुश्रूषामें लग गयी। एक आदर्श पतिव्रताके रूपमें वह आश्रममें तापस-जीवन बिताने लगी। उसके पातिव्रत्यकी चर्चा दूर-दूरतक फैल गयी। देवगण भी उससे प्रभावित हुए।

उसके पातिव्रत्यकी परीक्षाके लिये धर्मदेवता सुन्दर मोहक रूप बनाकर आश्रम-प्रदेशमें आये और उन्होंने अनेक प्रकारसे वृद्ध पिप्पलादकी निन्दा कर उसे लुभाना चाहा, किंतु पद्माके पातिव्रत्यके सामने धर्मदेवताकी एक न चली। क्रोधावेशमें उसने उन्हें क्षीण हो जानेका शाप दे डाला।

उसी समय धर्मदेवता अपने वास्तविक रूपमें आ गये। धर्मदेवताको साक्षात् देखकर पद्माको बड़ी लज्जा हुई, उसने क्षमा माँगते हुए कहा—भगवन्! मैं आपको पहचान न सकी। अज्ञानमें मैंने आपको शाप दे डाला, किंतु शापको तो लौटाया नहीं जा सकता, परंतु मैं यह व्यवस्था करती हूँ कि चारों युगोंमें आपके एक-एक चरणका क्रमसे ह्रास होता रहेगा। सत्ययुगमें आप चारों चरणोंसे रहेंगे, त्रेतायुगमें एक चरणसे हीन होंगे, द्वापरयुगमें दो चरणसे तथा कलियुगमें आपका एक ही चरण रहेगा। पुनः अगले सत्ययुगमें चारों चरणोंवाले हो जायँगे। यही क्रम चलता रहेगा। इससे शापकी मर्यादा भी रह जायगी और आपका पूर्ण क्षय भी नहीं होगा।

धर्मदेवता बोले—पतिव्रते! तुम धन्य हो। लोकमें तुम्हारा पातिव्रत्य आदर्श बनेगा और तुम्हें अक्षय कीर्ति प्राप्त होगी। मेरे आशीर्वादसे तुम्हारे पति रूपवान्, गुणवान् और अखण्ड युवा हो जायँगे और सभी प्रकारकी मन्त्रशक्तियोंसे सम्पन्न होंगे। तुम्हारे श्रेष्ठ दस पुत्र होंगे और वे सभी श्रेष्ठ पथवाले होंगे—ऐसा वर

देकर धर्मदेव अन्तर्धान हो गये तथा पद्मा पुनः विशेष श्रद्धासे पतिसेवामें लग गयी[1] (ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्म० अ० ४२)।

शनैश्चर ग्रहका शमन

भविष्यपुराणमें आख्यान आया है कि एक दिन देवर्षि नारद महर्षि पिप्पलादके आश्रममें आये। तब पिप्पलाद महर्षिने उनसे पूछा—भगवन्! यह मेरे किस कर्मका फल है, जो बचपनमें ही मेरे माता-पिताका मुझसे बिछोह हो गया।

इसपर नारदजीने बताया कि शनैश्चर ग्रहके प्रभावसे ही आपको यह सब देखना पड़ा और शनिकी क्रूर दृष्टिके कारण ही आपका मातृ-पितृ-वियोग बना।

यह सुनकर महर्षि पिप्पलादको अत्यन्त क्रोध हुआ, उन्होंने उसे ग्रहमण्डलसे नीचे गिरा दिया। यह अद्भुत बात देखकर देवता वहाँ उपस्थित हुए और उन्होंने उनका क्रोध शान्त किया। तब पिप्पलादने शनैश्चरको ग्रहरूपमें पुनः प्रतिष्ठित कर दिया और यह मर्यादा स्थापित कर दी कि आजसे सोलह वर्षतकके बालकोंको शनि पीड़ा नहीं पहुँचायेगा—

अद्यप्रभृति बालानां वर्षादाषोडशाद् ग्रह।
पीडा त्वया न कर्तव्या एष मे समयः कृतः॥

(स्कन्द० रेवाखण्ड ४२।३५)

अतः महर्षि पिप्पलादका[2] नाम लेनेसे विकृत भी शनैश्चर शान्त हो जाता है। शिवपुराणने बताया है कि गाधि, कौशिक तथा महामुनि पिप्पलाद—इन मुनित्रयका स्मरण करनेसे शनि-ग्रह-कृत पीड़ा दूर हो जाती है। यथा—

गाधिश्च कौशिकश्चैव पिप्पलादो महामुनिः।
शनैश्चरकृतां पीडां नाशयन्ति स्मृतास्त्रयः॥

(शिवपुराण, शतरुद्र० २५।२०)

ये ही महर्षि पिप्पलाद देवताओंके वरदान, मातृ-पितृ-भक्ति और अपने तपोबलसे वैदिक मन्त्रोंके दर्शन करनेमें सफल हुए और इन्हींकी कृपासे अथर्ववेदीय पैप्पलादसंहिता तथा प्रश्नोपनिषद्-जैसा ज्ञान-विज्ञानका ग्रन्थ हमें प्राप्त हुआ। इन महर्षिका अखिल जगत्पर महान् उपकार है।

भगवान् वेदके कतिपय अनमोल उपदेश

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)

वेद धर्मके आधार[3] हैं, धर्मके प्रथम प्रकाश-स्थान[4] हैं तथा पुरुषार्थ-चतुष्टयके अद्वितीय साधन हैं। ये कर्म और ज्ञान उभयमार्गका निर्देश—उपदेश करते हैं।

नारायणस्वरूप भगवान् वेदने[5] सामाजिक सुव्यवस्था, व्यावहारिक संतुलन एवं शान्तिमय जीवनयापनके लिये जो अनेक महत्त्वपूर्ण उपदेश दिये हैं; वे सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सर्वथा प्रासङ्गिक हैं। निम्नलिखित उपदेश इसके प्रमाण हैं—

(१) केवलाघो भवति केवलादी[6]—जो केवल अपना ही उदर-पोषण करता है, अपने ही लिये पर-धनका संचय करता है, वह केवल पापका भोग करता है।

तात्पर्य यह है कि समस्त वस्तु-जात ईश्वरीय[7] है। ईश्वरद्वारा नियन्त्रित है। मनुष्यका अपना अंश केवल उतना ही है जो उसके सत्कर्मसे उपार्जित है और उसकी आवश्यकता मात्रके लिये है। उससे अधिक वस्तु दूसरेकी है, उसे अपने उपभोगमें लाना चोरी है। ऐसी स्थितिमें अपने निमित्त ही वस्तुका उपभोग करनेवाला पापका ही भोग करता है। इसे ही भगवान्

१-यही कथा शिवपुराण शतरुद्रसंहितामें भी आयी है।

२-स्कन्दपुराण (रेवाखण्ड)-में महर्षि पिप्पलादको याज्ञवल्क्यकी बहनका पुत्र तथा भविष्यपुराणमें कौशिक मुनिका पुत्र बताया गया है।

३-(क) वेदोऽखिलो धर्ममूलम् (मनु० २।६)। (ख) वेदप्रणिहितो धर्मः (श्रीमद्भागवत ६।१।४०)।

४-वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ (मनु० ५।४४)। ५-वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम (श्रीमद्भागवत ६।१।४०)

६-ऋग्वेद (१०।११७।६)। ७-ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥ (ईशावास्योपनिषद् १)

वासुदेवने गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—'**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्**[१] ॥'

श्रीमद्भागवतमें महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासने इस बातको और स्पष्ट करते हुए बतलाया है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति[२] ॥

अर्थात् मनुष्यका अपना उतना ही है, जितनेसे उसका पेट भरता है। उससे अधिक वस्तुको जो आत्मसात् करता है, वह दण्डनीय चोर है।

(२) **अक्षैर्मा दीव्यः**[३]— द्यूत-क्रीडा कभी न करे। वेदने द्यूत-क्रीडा नहीं करनेका सदुपदेश दिया है। जूआ खेलनेका जो दुष्परिणाम होता है, वह महाभारत, पुराण आदिमें नल, युधिष्ठिर आदिके वृत्तान्तोंद्वारा बतलाया गया है। द्यूतमें विजयसे तात्कालिक उल्लास मनानेवाले दुर्योधनादिका भी परिणाममें सर्वनाश ही देखा गया है।

(३) **कृषिमित् कृषस्व**[४]—कृषिकर्म अर्थात् सहज स्वकर्म ही करे।

मनुष्यका अपना जो विहित कर्म है, केवल वही करना चाहिये। गीतामें इसे ही सहज[५] कर्म कहा गया है, जो अवश्य कर्तव्य है। आपाततः अच्छा दीखनेवाला पर-कर्म कर्तव्य नहीं है। उसका परिणाम प्रतिकूल होता है।

(४) **वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः**[६]—सत्कर्मद्वारा उपार्जित धनसे पूर्ण संतोष कर खूब प्रसन्न रहे। कहा भी गया है—

संतोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद् धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

अर्थात् संतोषरूपी अमृतको पीकर तृप्त शान्त पुरुषको जो सुख मिलता है, वह सुख धनके पीछे जहाँ-तहाँ दौड़नेवाले अशान्त व्यक्तिको कहाँ नसीब होता है? इसके पीछे भी वही भाव है कि अपने अंशमें जितना धन हो, उतनेमें ही मगन रहना चाहिये। दूसरेके अंशको कभी नहीं हड़पना चाहिये।

(५) **इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।**
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥[७]

दाम्पत्य-सूत्रमें आबद्ध वर-वधूको सम्बोधित कर उपदिष्ट इस मन्त्रमें कहा गया है कि वधू और वर प्रेमपूर्वक अपने घरमें रहें, कभी भी एक दूसरेसे वियुक्त न हों। आजीवन सुखपूर्वक साथ-साथ रहें। पोते, नातीके साथ खेलते हुए अपने घरमें ही प्रसन्न रहें। पारिवारिक जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करनेका जो उपदेश यहाँ दिया गया है। उसका अनुसरण करनेसे वर्तमान पारिवारिक कलह आसानीसे दूर किया जा सकता है।

(६) **बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश**—बहुसंततिवाले कष्ट भोगते हुए विपत्तिमें पड़ते हैं।

संतुलित परिवार ही सुखी परिवार होता है—इस उपदेशके द्वारा संयमित जीवनयापन करनेका संदेश दिया गया है।

उपर्युक्त मन्त्रोपदेशमें एक दूसरा भी भाव निहित है। मनुष्य यदि सत्कर्म नहीं करता है तो बार-बार जन्म लेकर अत्यन्त कष्ट भोगता है। अतः सत्कर्म करना चाहिये।

(७) **सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**[८]

मनुष्य एक विशिष्ट सामाजिक प्राणी है। समाज परस्पर सहभाव, सहयोग, सद्भाव और सुन्दर सम्बन्धसे सुचारुरूपेण चलता है। आज विश्वमें इसी सहयोग और सद्भावके अभावमें अशान्तिका वातावरण व्याप्त है।

हम साथ-साथ चलें। एक मनसे परस्पर सहयोगकी बातें करें। विश्वको एक कुटुम्ब समझें और सभी सर्वत्र प्रसन्न रहें। इस वैदिक उदात्त भावनाको वस्तुतः आदर करते हुए अपने आचरणमें लावें। तभी—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

—यह परमोच्च आदर्श प्राप्त किया जा सकता है।

१-गीता (३।१३)। २-श्रीमद्भागवत (७।१४।१८)। ३-ऋग्वेद (१०।३४।१३)। ४-ऋग्वेद (१०।३४।१३)। ५-गीता (१८।४८)। ६-ऋग्वेद (१०।३४।१३)। ७-ऋग्वेद (१०।८५।४२)। ८-ऋग्वेद (१०।१९१।२)।

देहात्मबुद्धि सर्वथा त्याज्य

आत्मबुद्धिर्न कर्तव्या देहादावात्मवेत्तृभिः। वामदेव इति प्राह भिन्नो नीडाच्छकुन्तवत्॥

अर्थात् ब्रह्मज्ञानी कभी भी देह-गेहादिमें आत्मबुद्धि न करें। वामदेव ऋषि कहते हैं कि जैसे घोंसलेमें रहनेवाला पंछी घोंसलेसे अलग है, घोंसला नहीं; वैसे ही आत्मा भी अपने आश्रय देह-गेहादिसे सर्वथा पृथक् है।

बताया गया है कि अनात्मभूत देह-गेहादि वस्तुओंमें आत्मबुद्धि ही 'अविद्या' या 'अज्ञान' है। प्राणीको जो बन्धन होता है, वह दुःख-शोकादिसे जो जकड़ जाता है, उसका कारण यही अविद्या है। इसी अविद्याका नाश है मोक्ष। वास्तवमें आत्मामें ये शोक-मोहादि कुछ भी नहीं होते। वह मात्र सच्चिदानन्दघन है। अस्ति, भाति, प्रिय यही उसका वास्तविक रूप है। शोक-मोहादि तो देहादिके धर्म हैं, जो व्यर्थ ही आत्मापर कल्पित किये जाते हैं। अन्ततः देहादि अविद्याका विलास मात्र है, वास्तवमें एक आत्मतत्त्वसे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इसी आत्मज्ञानका स्पष्टीकरण निम्न वैदिक आख्यानके माध्यमसे किया गया है—

वामदेव ऋषि पूर्वजन्ममें तपो-योगादि कठोरतम साधनासे बहुत ऊँचे उठ गये थे, फिर भी कुछ जीवनादृष्ट शेष रह जानेसे उन्हें माताके गर्भमें आना पड़ा। आत्मज्ञ तो थे ही। एक दिन श्येनका रूप धारण कर गर्भसे बाहर आये और अत्यन्त खिन्न हो निम्न ऋचासे ब्रह्मकी स्तुति की—

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्॥

(ऋग्वेद० ४। २७। १)

अर्थात् हे ब्रह्म, मैंने (वामदेवने) गर्भमें ही रहते इन इन्द्रादि देवताओंके सभी जन्मोंको यथाक्रम जान लिया कि ये सारे देव परमात्मासे ही उत्पन्न हुए हैं। इससे पूर्व अयोवत् अभेद्य असंख्य शरीरोंने मुझ आत्माको बाँध रखा था, जिससे मैं जान ही न सका कि इन देहादिसे भिन्न कोई आत्मतत्त्व है। इस समय श्येन-सा स्थित मैं बड़े वेगसे इस शरीरसे बाहर निकल आया हूँ।

वैदिक कर्मकाण्डका वैज्ञानिक आधार

(आचार्य पण्डित श्रीसीतारामजी चतुर्वेदी)

सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड किसी-न-किसी प्रकारके संस्कार अथवा दुरितक्षय करनेके साथ-साथ जीवनमें सुख-समृद्धिकी अक्षुण्ण रूपसे अनवरत अभिवृद्धिके लिये ही किया जाता है। गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितकके मानव-जन्म-संवर्धन और अवसानकी समस्त प्रक्रियाएँ जबतक संस्कारके द्वारा शुद्ध और परिष्कृत नहीं हो जातीं, तबतक जीवात्माका न तो उचित परिष्कार होता है न उसे उस प्रकारका सुख ही प्राप्त होता है, जैसा वास्तवमें उसे होना चाहिये। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, कर्णवेध, यज्ञोपवीत तथा समावर्तन आदि जितने भी संस्कार हैं—उन सबका आधार मनुष्यके जीवात्माका परिष्कार ही है और यह परिष्कार तबतक सम्भव नहीं है, जबतक कि इसका कोई वैज्ञानिक आधार न हो। वैज्ञानिक आधारके लिये तीन वस्तुएँ अपेक्षित होती हैं—परिस्थिति या लक्षण, परीक्षण या प्रयोग और परिणाम। यदि किसी एक-सी परिस्थितिमें एक-से विशेष लक्षणोंवाले स्थलमें किसी विशेष प्रकारकी रीतिसे परीक्षण या प्रयोग किया जाय तो उसका परिणाम निश्चितरूपसे एक ही होगा। हमारे यहाँ पुराणोंमें गर्भाधान-संस्कारके सम्बन्धमें ही अनेक ऐसी कथाएँ हैं, जिनसे

स्पष्ट है कि यदि किसी अमङ्गल-मुहूर्तमें किसी ऋतुस्नाता स्त्रीके मनमें पुरुष-समागमकी इच्छा हुई तो उसका परिणाम यही हुआ कि विश्रवा-जैसे प्रसिद्ध ऋषिके घरमें ही रावण-जैसा भयंकर पुत्र उत्पन्न हुआ।

यदि वैदिक कर्मकाण्डके समस्त कृत्योंका विश्लेषण किया जाय तो यह सिद्ध होगा कि सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्डमें दो वैज्ञानिक तत्त्व अवश्य निहित होते थे—पहला वाग्विज्ञान और दूसरा काल-विज्ञान। जितना कुछ वैदिक कृत्य या संस्कार अथवा यज्ञ होता या कराया जाता है, उसमें इस बातपर विचार किया जाता है कि यह विधान किस मुहूर्तमें अर्थात् किस दिन, किस नक्षत्रमें और किस समय आरम्भ किया जाय। यदि उसमें तनिक भी हेर-फेर होता था तो वह कार्य या संस्कार स्थगित कर दिया जाता था। यह समयका सम्पूर्ण विज्ञान गणितकी गणनापर अवलम्बित था। इसी गणितके आधारपर ज्यौतिष-शास्त्रमें ग्रहों और नक्षत्रोंकी गतिका पूर्ण विवरण संग्रह किया गया और अपने सूक्ष्म अनुभवसे यह भी निश्चय किया गया कि किस अवस्थामें, किस मुहूर्तपर, किस प्रकारका कार्य करनेसे क्या फल होता है, किस मुहूर्तमें जन्म लेनेवाले बालकका क्या भविष्य होता है। हमारा सम्पूर्ण दैनिक जीवन इसी काल-विज्ञानके आधारपर ही निर्धारित कर दिया गया था। यहाँतक कि किस मुहूर्तमें खेत बोना चाहिये, अन्न काटना चाहिये, औषधियाँ ग्रहण करनी चाहिये, धान घर लाना चाहिये, यात्रा या युद्धके लिये प्रस्थान करना चाहिये तथा पशुओंका क्रय करके अपने घरमें प्रवेश करना चाहिये, यह सब भी ज्यौतिष-शास्त्रमें निश्चित कर दिया गया था। सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्डका आधार यह काल-विज्ञान आज भी विचारशील पुरुषोंके लिये मान्य सिद्धान्त है।

इसी काल-विज्ञानके साथ विज्ञानकी दूसरी शाखा वाग्विज्ञान है, जिसके सम्बन्धमें अभी यूरोपमें या विदेशी वैज्ञानिक क्षेत्रोंमें कोई अन्वेषण-कार्य नहीं हुआ। वाणीका प्रत्यक्ष फल हम नित्यप्रति अपने सामाजिक व्यवहारमें देखते हैं—जहाँ मधुरताके साथ कोमल और प्रिय शब्दोंमें कही हुई बातसे सुननेवालेको प्रसन्नता होती है, उसपर इष्ट प्रभाव पड़ता है और उससे इच्छित कार्यकी पूर्ति होती है। दूसरी ओर किसीको यदि कठोर मुद्रा धारण करके कटु और अप्रिय शब्दोंमें तर्जन किया जाय तो उसे लाभके बदले हानि ही होती है और वह व्यक्ति प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्षरूपसे अवश्य ही विरोधी हो जाता है। इस प्रत्यक्ष और स्पष्ट वाणीके प्रभावके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष प्रभाव भी होता है, जिसे साधारण रूपसे समझा नहीं जा सकता।

भौतिक विज्ञानमें ध्वनि और ध्वनिकी लहरोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाले प्रभावका अन्वेषण करके यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि ध्वनिका प्रभाव केवल मनुष्योंपर ही नहीं, वरन् अन्य प्राणियों तथा वनस्पतियोंपर भी पड़ता है। सर जगदीशचन्द्र बसुने अपनी कलकत्तेकी प्रयोगशालामें प्रत्यक्षरूपसे यह प्रयोग करके दिखला दिया है कि संगीत तथा मेघ-गर्जन आदि ध्वनियोंका वनस्पतियोंपर ऐसा अनुकूल प्रभाव पड़ता है कि वे प्रसन्न और प्रफुल्ल हो जाते हैं, जबकि कठोर वाणी या चिल्लाहटका उनके ऊपर ऐसा बुरा प्रभाव पड़ता है कि वे क्षुब्ध, त्रस्त और व्याकुल हो जाते हैं। वैदिक वाग्विज्ञानने इससे कहीं आगे वाणीके अत्यन्त सूक्ष्म क्षेत्रका अध्ययन और मनन करके विस्तृत परीक्षणोंके द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि यदि कुछ विशेष अक्षरोंसे युक्त उचित स्थान, प्रयत्न और स्वरके साथ ध्वनि उच्चरित की जाय तो उसका केवल मनुष्यपर ही नहीं, सम्पूर्ण प्रकृतिपर प्रभाव पड़ता है। हमारे मुँहसे जो भी ध्वनि निकलती है, अथवा बाहर बिजलीकी कड़क, समुद्रका गर्जन, घण्टानाद, कोलाहल अथवा अन्य किसी प्रकारकी भी निरुक्ता या अनिरुक्ता वाणी मुँहसे निकलती है तो उसका एक विशेष कम्पन अनेक प्रकारकी लहरियाँ बनाता हुआ वायुमण्डलमें व्याप्त हो जाता है और उस वायुमण्डलमें व्याप्त स्वरलहरीके प्रभावसे समस्त वातावरणमें विक्षोभ होने लगता है। इस स्वरलहरीके तीव्र-भावित क्षेत्रमें जो विक्षोभ उत्पन्न होता है, उसका कभी मङ्गल परिणाम होता है और कभी अमङ्गल। हमारा सम्पूर्ण मन्त्र-शास्त्र इसी भौतिक

विज्ञानके सिद्धान्तपर अवलम्बित है। मन्त्रविद्याके सम्बन्धमें गुरुके लिये यह स्पष्ट निर्देश है कि जो सुपात्र हो उसीको विद्या देनी चाहिये, कुपात्रको नहीं और इसीलिये शस्त्र चलाते समय, शाप देते समय, वरदान देते समय अथवा किसी प्रकारकी कामनासे मन्त्र जपते समय इस प्रकारका वातावरण उपस्थित हो जाता है कि उस मन्त्र-जपसे इष्टफलकी प्राप्ति सम्भव हो जाती है।

वेदके अङ्गोंमें जहाँ ज्यौतिष और कल्पका महत्त्व था, वहाँ शिक्षाका सबसे अधिक महत्त्व था। हमारे यहाँके प्राचीन गुरुजन इस बातके लिये बड़े सावधान रहते थे कि कोई भी शिष्य किसी प्रकारसे अशुद्ध उच्चारण न करे, यहाँतक कि उसे स्वरके प्रयोगमें भी बड़ा सावधान रहना पड़ता था। महाभाष्यकारने इसीका संकेत करते हुए कहा है—

'उदात्ते कृते योऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायः तस्मै चपेटां ददाति।'

यदि कोई शिष्य उदात्तके बदले अनुदात्त उच्चारण करने लगता है तो उपाध्यायजी तत्काल उसे एक चपेटा लगा देते हैं।

वाग्विज्ञानके सम्बन्धमें इतनी सटीकता संसारके किसी देशकी भाषामें नहीं देखा जाता।

हमारे यहाँ शब्दके उच्चारणकी प्रक्रिया केवल भौतिक ही नहीं थी, अपितु वह शुद्ध आध्यात्मिक थी और इसीलिये केवल कण्ठके कुछ अङ्गोंके संचालनमात्रसे उत्पन्न ध्वनियोंका वे कोई महत्त्व नहीं मानते थे। वे तो शब्दके उच्चारणकी समस्त प्रक्रियाको परम वैज्ञानिक रीतिसे आध्यात्मिक मानते थे।

शब्दोच्चारणकी प्रक्रिया

कोई कार्य करनेसे पूर्व हमें उस कार्यका ज्ञान होता है, तदनन्तर इच्छा होती है और तब मनुष्य उसके लिये यत्न करता है। इसी प्रकार शब्दोच्चारणमें भी अनेक प्रक्रियाएँ पहले हो चुकती हैं, तब मनुष्य शब्दोच्चारण करता है। पाणिनिमुनिने इस विषयमें कहा है—

आत्मा बुद्ध्या समर्थ्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृत॥
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः॥

(पाणिनीय शिक्षा ६-७, ९-१०)

शब्दोच्चारणके पूर्व बुद्धिके साथ मिलकर आत्मा पहले अर्थज्ञान करता है तदनन्तर वह मनको बोलनेकी इच्छासे प्रेरित करता है। शरीरकी अग्निपर मन आघात करता है, जिसके कारण वायुको अग्नि प्रेरित करती है। वह वायु हृदय-स्थानमें पहुँचनेपर गम्भीर ध्वनि उत्पन्न करती है। वहाँसे चलकर फिर वह ऊपर जाकर मूर्धासे टक्कर खाकर लौटता है और मुख-मार्गसे बाहर निकलते हुए विभिन्न प्रकारकी ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। कारणके अनुसार इन वर्णोंके पाँच भेद माने जाते हैं—१-स्वरकृत भेद (अर्थात्) उदात्त (ऊँचे स्वरसे), अनुदात्त (नीचे या मन्द स्वरसे) और स्वरित (समाहार अर्थात् न बहुत ऊँचे स्वरसे न बहुत नीचे स्वरसे बोलने)-के अनुसार भेद), २-कालकृत भेद (अर्थात् एक स्वरके उच्चारणमें लगनेवाले समयके अनुसार भेद, जैसे इ, ई, ई३), ३-स्थानकृत भेद (अर्थात् मुखके भीतर जिन स्थानोंसे ध्वनिका उच्चारण हुआ है उनके अनुसार भेद), ४-आभ्यन्तर प्रयत्नकृत भेद (अर्थात् ध्वनि उच्चरित करनेमें मुखके भीतर जीभके संयोगसे जितना प्रयत्न करना पड़े उसके अनुसार भेद) और ५-बाह्य प्रयत्नकृत भेद (अर्थात् वर्णको जितनी साँसके साथ ध्वनित करके मुखसे बाहर व्यक्त करना पड़े उसके अनुसार भेद)।

उच्चारण-रीति

पाणिनीय शिक्षा और याज्ञवल्क्य-शिक्षामें शब्दोच्चारण करनेका अत्यन्त सुन्दर ढंग बतलाया गया है—

यथा व्याघ्री हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभिर्न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत्॥
मधुरं च न चाव्यक्तं व्यक्तं चापि न पीडितम्।
सनाथस्येव देशस्य न वर्णाः संकरंगताः॥
यथा सुमत्तनागेन्द्रः पदात्पदं निधापयेत्।

एवं पदं पदाद्यन्तं दर्शनीयं पृथक् पृथक्॥

(याज्ञवल्क्य-शिक्षा)

जिस प्रकार बाघिन अपने बघौटों (बच्चों)-को मुँहमें लेकर चलती है, उस समय न तो बच्चोंको दाँत ही चुभते हैं और न वे मुँहसे ही गिर पाते हैं, ठीक उसी प्रकार शब्दोच्चारण भी करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि न तो अक्षर ऐसे चबा-चबाकर बोले जायँ कि मुँहमें ही रह जायँ और न ऐसा हो कि वे मुँहसे गिर-गिर पड़ें और स्पष्ट एक दूसरेसे अलग टूटे हुए सुनायी दें।

वर्ण मधुर हो, स्पष्ट हो, दूसरे वर्णोंसे दबा हुआ न हो। सब वर्ण पूरे उच्चरित किये जायँ, एक दूसरेमें मिल न जायँ। जैसे मतवाला हाथी एक पैरके पश्चात् दूसरा पैर रखता हुआ चलता है, उसी प्रकार एक-एक पद और पदान्तको अलग-अलग स्पष्ट करके बोलना चाहिये।

शंकितं भीतमुद्घृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं शिरसिगं तथा स्थानविवर्जितम्॥
उपांशुदष्टं त्वरितं निरस्तं
विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम्।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च
वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम्॥

(पाणिनीय शिक्षा ३४-३५)

शंकित होकर, डरकर, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्टताके साथ, नकियाकर, कौवेके स्वरमें, मूर्धास्थानसे उच्चारण करके, उचित स्थानोंसे उच्चारण न करके, मुँहमें ही वर्णोंको काटकर, फेंकते हुए-से, रुक-रुककर, गद्गद स्वरमें, गा-गाकर, वर्णोंको चबा-चबाकर, पदों और अक्षरोंका पूर्णरूपसे उच्चारण न कर, अपूर्ण उच्चारण करके दीनतायुक्त स्वरमें और सभीको अनुनासिक बनाकर बोलना उचित नहीं है।

याज्ञवल्क्य-शिक्षामें भी ये ही बातें दुहरायी गयी हैं—

गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति।
प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभनौ॥
प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति।
शंकितं भीतमुद्घृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्॥
काकस्वरं मूर्धिगतं तथा स्थानविवर्जितम्॥
विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्।
व्याकुलं तालहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश॥

(याज्ञवल्क्य-शिक्षा)

बोलनेमें कण्ठका गद्गद होना और जीभका बँध जाना उचित नहीं है। इस प्रकार बोला नहीं जा सकता। जिसका रूप सुन्दर है, जिसके दाँत और होंठ अच्छे हैं, जो उच्चारणमें प्रगल्भ एवं विनीत है, वही वर्णोंका उचित उच्चारण कर सकता है। शंकित, भयभीत, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्ट, नकिया-नकियाकर, कौवेके स्वरमें, मूर्धासे ही सभीका उच्चारण करके, उचित स्थानसे उच्चारण न करके, सुस्वररहित, नीरस ध्वनिमें, अलग-अलग बेढंगे रूपसे, बलाघात करके, व्याकुलतापूर्वक एवं ताल-हीन पढ़ना—ये पढ़नेवालेके चौदह दोष हैं।

पाठकके गुण-दोष

उसी याज्ञवल्क्य-शिक्षामें यथेच्छ (भले-बुरे) ढंगसे पढ़नेवालोंके गुण-दोष भी बतलाये गये हैं—

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥
गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥

(याज्ञवल्क्य-शिक्षा)

मधुरता, अक्षरोंकी स्पष्टता, पदोंका पृथक्-पृथक् उच्चारण, स्वरोंका उचित उतार-चढ़ाव, धीरता और लयके अनुसार पढ़ना—ये पाठकर्ताके छः गुण हैं। इसके विपरीत गाकर, हड़बड़ी करके, सिर हिलाते हुए, चुपचाप जैसा लिखा है वैसा पढ़ते हुए, अर्थ समझे बिना या दबे स्वरसे पढ़नेवाला पाठक अधम होता है।

अशुद्ध स्वर और वर्ण

शब्दोच्चारणकी सम्यक् शिक्षा देते समय प्राचीन भारतीय आचार्यगण स्वर और वर्णपर बहुत बल देते थे, क्योंकि यदि स्वर और वर्ण ठीक न हों तो शब्दोंका ठीक-ठीक उच्चारण हो ही नहीं सकता। एक छोटा-सा वाक्य 'मैंने मारा है' लेकर देखिये कि शब्दोंका शुद्ध

उच्चारण करनेपर भी स्वर और वर्णका मिथ्या प्रयोग कितना उलटफेर कर देता है। इसे कहते समय यदि 'मैंने' पर बल दिया जाय तो ऐसा जान पड़ेगा मानो प्रश्न किया जा रहा है कि क्या मैंने मारा है? 'मारा' के साथ 'है' पर बल देनेसे यही वाक्य यह अर्थ देने लगेगा कि 'मैंने ही मारा है' और इसके लिये मैं किसीसे डरता नहीं हूँ। इस सम्बन्धमें एक वैदिक कथा उल्लेखनीय है—जिसमें इन्द्रके वधकी कामनासे उसके शत्रु वृत्रासुरने मन्त्र जपवाना प्रारम्भ किया, परंतु स्वरके मिथ्या-प्रयोगके कारण वह स्वयं ही मारा गया—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

(पा० शि० ५२)

यदि स्वर या वर्ण बिगाड़कर कोई मन्त्र अशुद्ध बोला जाय तो वह वाणीरूपी वज्र यजमानको उसी प्रकार मार डालता है, जैसे स्वर बिगाड़कर बोलने मात्रसे इन्द्रका शत्रु वृत्रासुर मारा गया।

उच्चारण-शुद्धतापर या केवल ध्वनियोंकी शुद्धतापर ही नहीं, वरन् स्वरोंकी शुद्धतापर भी प्राचीन कालसे ही बड़ा बल दिया जाता था।

याज्ञवल्क्य-शिक्षा और पाणिनीय शिक्षामें पाठ-दोष और पाठ-गुण एवं स्वरकी शुद्धतापर जो विचार किये गये हैं, वे इस बातके सूचक हैं कि भारतीय प्राचीन शुद्ध उच्चारणकी परम्परामें स्वरोंका यथार्थ प्रयोग बड़े महत्त्वका विषय था।

इतना ही नहीं, हमारे यहाँके ऋषियोंने और भी अधिक सूक्ष्मताके साथ इस ध्वनि-विज्ञानका अन्वेषण किया है। जिसकी कल्पना भी अभीतक यूरोपवाले नहीं कर सकते। हमारे यहाँ वर्ण दो प्रकारके माने गये हैं—ध्वन्यात्मक तथा अक्षरात्मक। शारदातिलक नामक तन्त्रग्रन्थमें बताया गया है कि प्राणियोंके मूलाधारमें (गुदा और लिङ्गके बीच दो अंगुलका वह स्थान जिसे त्रिकोण कहते हैं, जो इच्छात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक होती है और जहाँ करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशसे युक्त स्वयम्भू लिङ्ग विराजमान है) साँपके समान कुण्डली मारी हुई एक सूक्ष्मशक्ति है, जो सब वर्णोंमें मिलकर मन्त्रमय जगत्को प्रकाशित करती है, जो शब्द और अर्थमें परिवर्तन लाती है तथा जो उदात्त, अनुदात्त आदि स्वर-समाहारको व्यक्त करती है। यह कुण्डली इस क्रमसे वर्णमाला उत्पन्न करती है कि कुण्डलीसे शक्ति, शक्तिसे ध्वनि, ध्वनिसे नाद, नादसे निरोधिका, निरोधिकासे अर्धेन्दु, अर्धेन्दुसे बिन्दु, बिन्दुसे अन्य बयालीस वर्णोंकी वर्णमाला उत्पन्न होती है। चित्-शक्ति जब सत्त्वसे संयुक्त होती है तब वह शब्द, पद और वाक्ययुत हो जाती है। वह चित्-शक्ति जब सत्त्वसे युक्त अवस्थामें आकाशमें पहुँचकर रजोगुणसे मिलती है, उस समय उत्पन्न होनेवाली ध्वनि ही शब्द कहलाती है। जब ध्वनि अक्षर-अवस्थामें तमोगुणसे मिलती है, तब वह पद और वाक्यका रूप धारण करती है।

योगशास्त्रके अलङ्कारकौस्तुभ और पदार्थादर्श आदि ग्रन्थोंमें वर्णके चार भेद बताये गये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। जब मूलाधारसे सर्वप्रथम नाद-रूपमें वर्णकी उत्पत्ति होती है, तब उसे 'परा' कहते हैं। जब वर्ण नाद-रूपमें मूलाधारसे उठकर धीरे-धीरे हृदयमें पहुँचता है, तब वह 'पश्यन्ती' कहलाता है और इसके पश्चात् जब हृदयसे उठकर वह क्रमसे बुद्धि और संकल्पके साथ मिलता है, तब उसे 'मध्यमा' कहते हैं। इसके पश्चात् जब वह बुद्धिसे उठकर कण्ठमें पहुँचकर मुखसे प्रकट होता है, तब वह 'वैखरी' कहलाता है।

वैदिक कर्मकाण्डके इस वाग्विज्ञानके अतिरिक्त उसका प्रत्यक्ष लोक-कल्याणकारी पक्ष भी है। वैदिक कर्मकाण्डकी प्रतिक्रियामें मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे मण्डप, कुण्ड और वेदीकी सजावट, अनेक प्रकारके रंगोंसे और अनेक ज्यामितीय आकारोंमें उनकी बनावट, अनेक प्रकारकी कलात्मक रीतियोंसे तोरणद्वार और वन्दनवारकी रूपसज्जा, कलशका बहुविध सौन्दर्य और उसके साथ पञ्चपल्लव, नारिकेल तथा दीप आदिसे उसका अलङ्करण स्वयं नेत्र और हृदयके लिये आह्लादजनक

है। किंतु इसके अतिरिक्त वैदिक कर्मकाण्डकी हवन-क्रिया मानवमात्रके लिये कल्याणकारी है। आज हम जिस विज्ञानकी चर्चा करते हैं, उसके विनाशकारी साधन चारों ओर व्याप्त हैं। यह बात सभी वैज्ञानिक जानते हैं कि कोयला जलानेसे जो दूषित गैस 'कार्बनडाइ-ऑक्साइड' निकलती है, वह मनुष्यके लिये प्राणघातक है। जाड़ेके दिनोंमें अँगीठीमें कोयला सुलगाकर रातको कमरा बंद करके सो जानेपर प्रातःकाल लोगोंके निष्प्राण हो जानेकी घटनाएँ प्रायः प्रतिवर्ष सुनायी ही पड़ती रहती हैं। इसीलिये हमारे यहाँ आरने या कंडे (कंडिका) अर्थात् जंगलमें स्वाभाविक रूपसे गौके सूखे हुए कंडे ही हवनके लिये काम आते थे, क्योंकि उसके धूएँसे किसी प्रकारकी हानि नहीं होती, वरन् उसकी राख कृमिनाशक होती है और उसका धुआँ भी स्वास्थ्यके लिये लाभकारी होता है। इसके अतिरिक्त हवन-क्रियामें घी, सुगन्धित द्रव्य और हविष्यसे जो यज्ञ-धूम निकलता है, वह सम्पूर्ण वातावरणके दोषोंको दूर करके वायुको शुद्ध करता है और मनुष्यको किसी प्रकारके रोग आदिसे आक्रान्त नहीं होने देता। इस प्रकारकी अग्निका सेवन करनेसे तेज भी बढ़ता है। कहा भी गया है—

'आरोग्यं भास्करादिच्छेद्धनमिच्छेद् हुताशनात्।'

सूर्यकी सेवा और आराधना करनेसे आरोग्य प्राप्त होता है और अग्निकी उपासना करनेसे लक्ष्मी और तेज प्राप्त होता है।

इस प्रकार प्राणिमात्रके स्वास्थ्यके उद्देश्यसे यज्ञ-धूमका विधान किया गया था और यह नियम बनाया गया था कि ब्रह्मचारी नियमपूर्वक अग्निका पूजन करे और उनसे प्रार्थना करे—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि,
बलमसि बलं मयि धेहि,
ओजोऽसि ओजो मयि धेहि॥ (शुक्लयजुर्वेद १९।९)

आप तेज हैं, आप मुझमें तेज स्थापित कीजिये। आप बल हैं, आप मुझमें बल स्थापित कीजिये। आप कान्तिस्वरूप हैं, आप मुझमें कान्ति स्थापित कीजिये।

इस प्रकार अग्नि-सेवनकी तपस्यासे ब्रह्मचारियोंमें ब्रह्मचर्यका वर्चस्व, विद्या, बल, तेज और स्फूर्तिका विकास होता था। अतः व्यक्तिगत और सामाजिक स्वास्थ्यके लिये वैदिक कर्मकाण्ड आवश्यक ही नहीं, अनिवार्यतः वैज्ञानिक-रूपसे प्रयोजनीय माना जाता है।

वेदके अन्य अङ्गोंमें ज्यौतिषका विवरण ऊपर दिया जा चुका है कि किस प्रकार हमारे यहाँ ऋषियों, मुनियों और आचार्योंने समस्त विश्वके नक्षत्रों और ग्रहोंको, उनकी गतियोंको, उनके स्वरूपको, उनकी उत्पत्ति और प्रकृतिको भलीभाँति जान लिया था और उनकी गणना इतनी प्रौढ तथा सटीक होती थी कि कहीं एक पलका भी अन्तर नहीं होता था। इस ज्यौतिष-विद्याने इतनी अधिक उन्नति कर ली थी कि इसके आधारपर जो फल विचारकर कहा जाता था वह अक्षरशः शुद्ध और निश्चित होता था। आजकल ज्योतिर्विद्याके सम्बन्धमें जो अनास्था उत्पन्न हो गयी है, उसका कारण यही है कि जिस सूक्ष्मता और वैज्ञानिक सटीकताके साथ प्राचीन आचार्योंने इस विद्याके सम्बन्धमें विचार किया था उतना न तो आजकल अध्ययन ही होता है और न परिश्रम ही।

ज्यौतिष-शास्त्रके अतिरिक्त आयुर्वेद-शास्त्र भी वैदिक विज्ञानका बड़ा भारी चमत्कार है, जो वेदका उपवेद माना जाता है। इस विज्ञानने मनुष्यशरीर और उसमें होनेवाली बाधाओंसे मनुष्यकी रक्षा करनेके लिये पूरा विधान बना दिया था, जिससे मनुष्य केवल शतायु ही नहीं, वरन् वह इच्छामृत्यु हो सकता था, कायाकल्पके द्वारा अपना जीवन बढ़ा सकता था और अनेक प्रकारके दिव्य प्रयोगोंके द्वारा आकाशचारी भी हो सकता था। वेदके दूसरे-दूसरे उपवेद धनुर्वेदका चमत्कार तो महाभारत और रामायणमें स्थान-स्थानपर प्राप्त होता है। जैसे किस प्रकार बाणको अभिमन्त्रित करके छोड़नेसे सम्पूर्ण शत्रुसेना मूर्च्छित हो जाती थी, बाणोंके पिंजरमें आबद्ध हो जाती थी, जलने लगती थी। गान्धर्व-वेदका चमत्कार तो आज भी प्रत्यक्ष है। **'संगीतं कं न मोहयेत्'** संगीत किसको मोहित नहीं करता? सामवेद तो स्वयं इस गान्धर्व-वेदका आधार है। इस गान्धर्व-वेदमें स्वरों और श्रुतियोंके प्रयोगसे अनेक राग-रागिनियोंकी परिकल्पना

करके उन्हें ऐसा सिद्ध कर दिया था कि केवल रागके द्वारा ही लौकिक इष्टकी भी सिद्धि हो सकती थी और पारलौकिककी भी।

इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड आदिसे अन्ततक ऐसे लोक-कल्याणकारी विज्ञानसे ओतप्रोत है, जिसमें सभी सभ्य, शिष्ट, लोकमङ्गलकारी सृष्टिके कल्याणकी भावना ही आदिसे अन्ततक निहित है। यदि विस्तारसे वैदिक कर्मकाण्डके वैज्ञानिक आधारका अनुसंधान किया जाय तो निश्चय ही ऐसे अद्भुत संजीवन-तत्त्व प्राप्त होंगे जिनके सम्मुख वर्तमान तथाकथित ज्ञान-विज्ञानके समस्त उपादान और अनुसंधान व्यर्थ सिद्ध होंगे। इस प्रसंगमें वैदिक कर्मकाण्डके वैज्ञानिक आधारका अत्यन्त अल्प विचार किया गया है। यदि विस्तारसे इसका सूक्ष्म विवेचन किया जाय तो सभीको मुक्तकण्ठसे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वैदिक कर्मकाण्ड पूर्णतः वैज्ञानिक पद्धति है, जिसके लोप होनेसे ही हमारे देखमें आयु-क्षय, मन-क्षय और बल-क्षय हो रहा है, धन-धान्यकी समृद्धि घट रही है, किंतु यदि वैदिक नियमके अनुसार अग्निका सेवन किया जाय और वैदिक कर्मकाण्डको यथाविधि पुनः जीवित किया जाय तो भारतवर्ष पुनः संसारका विद्या-वैभव-गुरु हो सकता है, परंतु उसके लिये आवश्यक है कि होता, यजमान, सामग्री और विधान सब शुद्ध और सात्त्विक हों। खेदकी बात यही है कि न होताओंमें ही सात्त्विकता और शुद्धता रह गयी है, न यजमानोंमें ही सात्त्विक श्रद्धा है, न सामग्री ही शुद्ध मिल पाती है और न विधान ही कोई शुद्ध जानता है। आवश्यकता इस बातकी है कि इस पथपर चलनेके लिये कुछ विद्वान् उत्साहित हों और वैदिक कर्मकाण्डके स्वाध्याय और अध्ययनमें संलग्न हो जायँ।

स्वर्गकी सवारी यज्ञ-नौका किसे ?

जो एहिक लोग हैं यानि इस लोकके सिवा परलोकको न माननेवाले नास्तिक हैं, वे यज्ञरूप नौकापर चढ़ नहीं पाते। पर जो आस्तिक हैं, परलोकमें विश्वास करते हैं, वे उस नावपर चढ़कर सीधे स्वर्ग पहुँच जाते हैं; ऐसा कृष्ण आङ्गिरस कहते हैं—

ऐहिका नाव आरोढुं न शक्नुवन्ति यज्ञियाः। आरोहन्त्यास्तिकास्ता ये कृष्णस्तान् स्वर्गिणोऽब्रवीत्॥

यहाँ भगवान् कृष्ण आङ्गिरस बनकर जो बात कह रहे हैं, महाभारतमें धनुर्धर पार्थके सारथि बनकर वे दूसरे शब्दोंमें यही गाते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३। १३)

अर्थात् जो सज्जन पुरुष यज्ञकर्म करके यज्ञशेषसे जीवनयापन करते हैं, वे समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। किन्तु जो केवल अपने लिये पकाते हैं, वे अन्न नहीं, पाप खाते हैं। कृष्ण आङ्गिरसकी अग्रिम ऋचा और पार्थ-सारथिकी इस उक्तिमें कितना साम्य है, उसकी तुलना दर्शनीय है।

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयो ऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा। न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥

(ऋ० १०। ४४। ६)

तात्पर्य यह है कि कृष्ण आङ्गिरस जगती छन्दसे इन्द्रदेवकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे देवराज, आपकी कृपासे यज्ञमयी नौकापर चढ़नेमें समर्थ वे यज्ञकर्ता धार्मिक जन, जो देवताओंका आह्वान करते हैं, प्रमुख बनकर औरोंसे अलग हो (पहले) स्वर्गलोकमें पहुँचते हैं। वे इस लोकमें भी अन्य लोगोंके लिये दुस्तर, दुष्प्राप्य यशोंको फैलाते हैं, अन्यदुर्लभ अपनी कीर्ति यहाँ प्रतिष्ठित करते जाते हैं (ताकि मरनेपर भी कीर्ति-कायासे जीवित रह सकें)। परन्तु जो लोग आपके प्रसादसे रहित हो यज्ञमयी नौकापर चढ़ नहीं पाते, वे कुत्सितकर्मा नास्तिक पापी-जन नीचे ही गिरते हैं, अधोगति प्राप्त करते हैं।

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी)

सर्वश्रेष्ठ धर्मशास्त्र-विधाता मनुमहाराजने लिखा है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

(मनु० २। १६८)

तात्पर्य है, जो द्विज वेद न पढ़कर किसी भी अन्य शास्त्र-ग्रन्थ या कर्ममें परिश्रम करता है, वह जीवित होते हुए ही अपने कुल-सहित शीघ्र शूद्रत्व (पतितावस्था)-को प्राप्त हो जाता है।

चेतावनीके साथ निर्देश देते हुए वे तो यह भी कहते हैं कि—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

(मनु० २। १०-११)

वेद श्रुतिके और धर्मशास्त्र स्मृतिके परिचायक हैं। ये दोनों सभी विषयोंसे तर्करहित हैं; क्योंकि इनसे ही धर्मकी उत्पत्ति हुई है। जो द्विज धर्मके इन दोनों मूलोंका तर्कशास्त्रके सहारे अपमान करता है, उस वेद-निन्दक नास्तिकको साधुजनोंद्वारा (समाजसे) बहिष्कृत कर दिया जाना चाहिये।

भगवान्‌के श्वासोच्छ्वाससे निःसृत अपौरुषेय वेद पुस्तक नहीं वरन् नित्य, शाश्वत, अप्रमेय और ज्ञानाकार साक्षात् वाङ्मय श्रीविग्रह है—

अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।
मीमांसान्यायविद्याश्च प्रमाणाष्टकसंयुताः॥

(मत्स्य० पु० ३। ४)

अर्थात् ब्रह्माके मुखसे वेद, आठों प्रमाण (—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द (आप्त-वचन), अनुपलब्धि, अर्थापत्ति, ऐतिह्य और स्वभाव)-सहित मीमांसा और न्यायशास्त्रका आविर्भाव हुआ।

शतपथब्राह्मणमें उल्लेख है कि—

'स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात् पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि॥'

(शतपथ० १४। २। ४। १०, बृहदारण्यक उप० २। ४। १०)

जिस प्रकार गीले काठद्वारा उत्पन्न अग्निसे पृथक् धुआँ भी निकलता है, उसी प्रकार चारों वेदोंके साथ ही इतिहास, पुराण, उपनिषद्, मन्त्र-विवरण और अर्थवाद आदि हैं। ये सब महान् परमात्माके निःश्वास हैं—अर्थात् बिना प्रयत्नके परमात्मासे ही उत्पन्न हुए हैं।

कौषीतकि-ब्राह्मण (१०। ३०)-का मत है कि वेदके मन्त्र तपःपूत ऋषियोंद्वारा आविर्भूत हुए हैं या देखे गये हैं, बनाये नहीं गये। ऐतरेय ब्राह्मण (३। १९)-का कहना है कि गौरवीतिने सूत्रों या मन्त्र-समूहोंको देखा था। ये दोनों ग्रन्थ स्वयं वैदिक-साहित्यके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इससे विदित होता है कि सनातन-कालसे ही वेद भारतीय जन-जीवनके प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। संस्कृत-साहित्यके सभी ग्रन्थ वेदोंको नित्य मानते हैं। भारतकी आञ्चलिक भाषाओंके ग्रन्थ भी वेदोंको शाश्वत मानते हैं। भट्टभास्कर, स्कन्दस्वामी, सायणाचार्य, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य आदि वेदकी नित्यता स्वीकार करते हैं। असंख्य सनातनी वेदोंको हिरण्यगर्भसे सम्भूत स्वीकार करते हैं।

कुछ आँग्ल विद्वान् ऐसे हैं जो वेदोंको नित्य तो नहीं स्वीकार करते, किंतु ऐतिहासिक दृष्टिसे उसका अतीव महत्त्व स्वीकार करते हैं। वेदोंसे मनुष्य-जातिकी प्राचीनतम रीति-नीतियाँ जानी जाती हैं। इस विचारसे वे वेदोंको रत्नराजिकी तरह संचित करते हैं। ऐतिहासिक महत्ता स्वीकारना ही इस बातका प्रमाण है कि वे परोक्षरूपमें वैदिक-साहित्यके मनोभावोंका ही प्रतिपादन करते हैं। शतपथ-ब्राह्मण (१४। ५। ४। १०) और अथर्ववेद इतिहासको एक कला मानते हैं। मनुस्मृति (२। ७२)-में भी इतिहासकी महिमा है। छान्दोग्योपनिषद् और कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें इतिहासको पञ्चम वेद माना गया है। महाभारत (आदि० १। १। ८७)-में इतिहासको

मोहान्धकार दूर करनेवाला बताया गया है। वैदिक संहिताओंमें विविध ऋषियों और राजाओंके वंशोंका विवरण है। शतपथमें मिथिला, विदेह, दुष्यन्त, भरत, जनमेजय, उग्रसेन आदिका वर्णन है। ताण्ड्य-ब्राह्मणमें भी विदेह आदिकी कथाएँ हैं। तैत्तिरीय आरण्यकमें कालकंज असुर और वाराहावतारकी बातें हैं। ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय और शांखायन आरण्यकोंमें शुनःशेप, अहल्या, खाण्डव, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, काशी, पाञ्चाल आदिकी स्पष्ट कथाएँ हैं। ऋग्वेदमें उर्वशी-पुरूरवा, यम-यमी आदिकी कथाएँ हैं। ऋग्वेदका दाशराज-युद्ध सूर्य-चन्द्रवंशियोंका प्रमुख युद्ध है। इस प्रकार वेदों और वैदिक-साहित्यमें अति प्राचीन ऐतिहासिकता और ऐतिहासिक महत्त्व रहनेके कारण ऐतिहासिकोंकी दृष्टिमें वेद-विद्याका अध्ययन अनिवार्य होना चाहिये।

अशान्ति और अव्यवस्थामें परिवेष्टित ह्रासोन्मुखी विचारधाराको नवीन सभ्यता कहकर स्वयंको विकासवादी युगका परिष्कृत बुद्धिजीवी माननेवाला वर्तमानका दम्भी मानव कितना निरीह और लाचार होकर रह गया है। *'जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पर आवै'* की परिस्थितिमें घिरकर *'कालहि कर्महि ईस्वरहि'* को मिथ्या दोष लगाकर अपने कर्तव्यकी इतिश्री मान बैठा है। ऐसी विषम परिस्थितिमें पाँच हजार वर्ष पूर्वका वेदोद्धारक गीताके माध्यमसे कहता है—

वेदके तात्पर्यको हृदयङ्गम करने-हेतु इस संसार-वृक्षको जानना आवश्यक है, जिसकी शाखाएँ नीचेकी ओर है। यह अश्वत्थ-वृक्ष आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाला और ब्रह्मारूप मूल-शाखावाला है। वेद इसके पत्ते हैं और यह अविनाशी है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

(गीता १५।१)

वर्तमान परिस्थितिमें वेद जनसाधारणके लिये अत्यन्त क्लिष्ट विषय बनकर रह गया है। इस धारणाको स्वीकार करनेका अर्थ यह तो कदापि नहीं कि वेद हमारे लिये अनुपयोगी हैं। '**नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा**·····' की उक्तिको चरितार्थ करना बुद्धिमत्ता नहीं। किसी विषयको समझनेका परिश्रम न कर पाना, परिस्थितियोंकी निर्भरता कहकर भले ही टाला जा सकता हो, पर जिन्होंने गुरु-चरणोंमें बैठकर वर्षों वेदविद्याका स्वाध्याय और चिन्तन किया हो, उनकी न सुनना तो बौद्धिक अपरिपक्वताका स्पष्ट प्रमाण ही होगा।

स्वयं भगवान् व्यासदेव इस कुतर्कके प्रति सचेष्ट थे, तभी उन्होंने वेदोंके इस दुरूह समझे जानेवाले ज्ञानको चार भागोंमें विभक्त किया—

ऋगथर्वयजुस्साम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव॥
तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः।
एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः॥

(श्रीमद्भा० १२।६।५०-५१)

जैसे मणियोंके समूहोंमेंसे विभिन्न जातिकी मणियाँ पृथक् कर अलग-अलग कर दी जाती हैं, वैसे ही महामति भगवान् व्यासदेवने मन्त्र-समुदायमेंसे भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके अनुसार मन्त्रोंका संग्रह करके उनसे ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—ये चार संहिताएँ बनायीं और अपने चार शिष्योंको बुलाकर प्रत्येकको एक-एक संहिताकी शिक्षा दी।

शिष्य-परम्परानुगत पैल, वैशम्पायन, जैमिनि, सुमन्तु-जैसे शिष्योंके माध्यमसे इन संहिताओंका विस्तार किया गया। इन्द्रमिति वाष्कल, बोध्य, याज्ञवल्क्य, पराशर, अग्निमित्र, माण्डूकेय, शाकल्य, वात्स्य, मुद्गल, शालीय, गोखल्य, शिशिर, जातूकर्ण्य, बलाक, पैल, वैताल, विराज, बालायनि, भज्य एवं कसार-जैसे अमिततेजा महामुनियोंने इस परम्परामें अपना योगदान देकर वेदोंके गूढ तत्त्वका विवेचन किया।

वेदविषयक शंकाओंका समाधान करके एक परमात्मामें सबके समन्वयका नाम वेदान्त है। भगवान् कहते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

(गीता १५।१५)

मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे स्थित हूँ। मुझमें ही स्मृति-ज्ञान तथा अपोहन (संशय-विपर्यय आदि वितर्क-जालका छेदन) भासित है। वेद

ही मुझे जाननेके सक्षम माध्यम हैं तथा मैं ही वेदान्तका कर्ता और वेदोंका ज्ञाता हूँ।

निश्चित-रूपसे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही वेदोंका विधेय है—

सकलवेदगणेरितसद्गुणस्त्वमिति सर्वमनीषिजना रताः।
त्वयि सुभद्र गुणश्रवणादिभिस्तव पदनुस्मरणेन गतक्लमाः॥

(श्रीश्रीधर स्वामी)

सारे वेद आपकी प्रशस्तिका गुणानुवाद करते हैं, इसीलिये विश्वके समस्त बुधजन आपके मङ्गलमय कल्याणकारी गुणोंके श्रवण-स्मरण आदिके द्वारा आपसे ही अपनत्व रखते हैं और आपके चरणारविन्दोंका स्मरण करके समस्त क्लेशोंसे मुक्त हो जाते हैं। 'जो लोग प्रतिदिन तीनों समय वेद-विधिसे आपकी उपासना करते हैं, उनके समस्त पाप और दुःखोंके बीजोंको आप भस्म कर देते हैं (श्रीमद्भा० १२। ६। ६८)।'

धर्म, संस्कृति, विचारधारा, परम्परा, वाङ्मय तथा आचारसंहिता-जैसे शब्दोंके साथ 'वैदिक' शब्दका मात्र अनुस्यूत हो जाना ही उसकी महत्ताका द्योतक बन जाता है। काल-गणनामें भी वैदिक काल सर्वोपरि माना जाता है।

वेद तो स्वयं ज्ञानके अक्षय कोष हैं, उनकी प्रत्येक ऋचाओंमें पाण्डित्यपूर्ण एवं ओजपूर्ण माधुर्यका मणि कांचन-संयोग है। वेदोंकी इस दिव्य स्वर्ण-मंजूषामेंसे किस मनोरम समुज्ज्वल पक्षका वर्णन किया जाय? यह चयन दुष्कर है। अस्तु,

'**तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**' 'मेरा मन कल्याणकारी संकल्पोंवाला हो'—इस श्रुतिप्रतिपादित कामनाके साथ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि क्रान्तदर्शी ऋषि-मुनियोंद्वारा की गयी यह उद्घोषणा कितनी सारगर्भित, सटीक और मार्मिक है।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यताकी अथसे इतितककी सारी बातें वेदोंमें निहित हैं, मनुष्य-जातिकी उच्चतम सम्पत्ति वेदोंमें है, जो वेदोंमें नहीं वह कहीं भी नहीं। अतः वेद ही अखिल धर्मोंके मूल हैं—सर्वस्व हैं—'**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**'।

शंख और घंटा-ध्वनिसे रोगोंका नाश

(श्रीयमुनाप्रसादजी)

सन् १९२८ ई० में बर्लिन विश्वविद्यालयने शंख-ध्वनिका अनुसंधान करके यह सिद्ध कर दिया कि शंख-ध्वनिकी शब्द-लहरें बैक्टीरियाको नष्ट करनेके लिये उत्तम एवं सस्ती औषधि हैं। प्रति सेकेंड सत्ताईस घन फुट वायु-शक्तिके जोरसे बजाया हुआ शंख १२०० सौ फुट दूरीके बैक्टीरियाको नष्ट कर डालता है और २६०० फुटकी दूरीके जन्तु उस ध्वनिसे मूर्च्छित हो जाते हैं। बैक्टीरियाके अलावा इससे हैजा, मलेरिया और गर्दनतोड़-ज्वरके कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं; साथ ही ध्वनिविस्तारक स्थानके पासके स्थान निःसंदेह कीटाणुरहित हो जाते हैं। मिर्गी, मूर्च्छा, कंठमाला और कोढ़के रोगियोंके अन्दर शंख-ध्वनिकी प्रतिक्रिया रोगनाशक होती है। शिकागोके डॉ० डी० ब्राइनने तेरह सौ बहरे रोगियोंको शंख-ध्वनिके माध्यमसे अबतक ठीक किया है। अफ्रीकाके निवासी घंटाको ही बजाकर जहरीले सर्पके काटे हुए मनुष्यको ठीक करनेकी प्रक्रियाको पता नहीं कबसे आजतक करते चले आ रहे हैं। ऐसा पता चला है कि मास्को सैनेटोरियममें घंटा-ध्वनिसे तपेदिक रोगको ठीक करनेका प्रयोग सफलतापूर्वक चल रहा है।

सन् १९१६ ई० में बर्मिंघममें एक मुकदमा चल रहा था। तपेदिकके एक रोगीने गिरजाघरमें बजनेवाले घंटेके सम्बन्धमें अदालतमें यह दावा किया था कि इसकी ध्वनिके कारण मेरा स्वास्थ्य निरन्तर गिरता जा रहा है तथा इससे मुझे काफी शारीरिक क्षति होती है। इस बातपर अदालतने तीन प्रमुख वैज्ञानिकोंको घंटा-ध्वनिकी जाँचके लिये नियुक्त किया। यह परीक्षण लगातार सात महीनोंतक चला और अन्तमें वैज्ञानिकोंने यह घोषित किया कि घंटाकी ध्वनिसे तपेदिक रोग ठीक होता है न कि इससे नुकसान। साथ ही तपेदिकके अलावा इससे कई शारीरिक कष्ट भी दूर होते हैं तथा मानसिक उत्कर्ष होता है।

वैदिक गङ्गा

आर्योंके भारत प्रवेशकी भ्रान्त धारणाके खण्डनमें सहायक

(डॉ० श्रीभागीरथप्रसादजी त्रिपाठी 'वागीश')

पश्चिमी विद्वानों और उनके अनुयायी कुछ सुधीजनोंकी भ्रान्त विचारधाराके अनुसार आर्योंने मध्य एशिया आदि भूभागोंसे चलकर भारतमें प्रवेश किया था। इस मान्यताकी पुष्टिमें वे ऋग्वेदमें उल्लिखित पर्वतों, नदी-नदोंके साक्ष्योंको प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है कि आर्यजनोंका भारत-प्रवेश पश्चिम दिशासे हुआ था। इसलिये उनका सर्वप्रथम परिचय पश्चिम दिशामें प्रवहमान नदियों एवं पर्वतोंके साथ होना स्वाभाविक था। सिन्धु सप्रसिन्धु, कुभा इत्यादि नदियोंका सर्वाधिक वर्णन ऋग्वेद-संहितामें हुआ है। पाश्चात्त्य देशीय विद्वज्जनोंकी यह भी मान्यता है कि ऋग्वेद-संहिताका दशम मण्डल अन्य मण्डलोंकी अपेक्षा परवर्त्ती है। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि दशम मण्डलकी रचना तब हुई, जब आर्यजन भारतवर्षमें पूर्णरूपसे स्थापित हो चुके थे। अतः आर्यजन पूर्व दिशामें प्रवहमान गङ्गा, यमुना इत्यादि नदियोंका वर्णन इस मण्डलमें ही कर सके।

भारतीय संस्कृतिकी प्रकृति एवं सुदीर्घ परम्पराओंकी अतलस्पर्शी गहराइयोंको नापनेमें झिझकते पश्चिमी संस्कृतिके भक्तोंद्वारा उद्भावित ये भ्रान्त धारणाएँ सर्वथा हास्यास्पद एवं उनके अपरिपक्व ज्ञानकी सूचक हैं। यदि आर्योंने पश्चिम दिशासे भारत-प्रवेश किया होता और अफगानिस्तान, सिन्धुप्रदेश तथा पंजाबमें सर्वतः प्रथम स्थापित हुए होते तो पूर्व दिशामें स्थापित होते हुए भी उन्होंने भारतके पश्चिम भागमें प्रवहमान नदियोंकी पूज्यताको भुला न दिया होता। वे सर्वतः प्रथम पश्चिमी नदियों एवं भूभागोंका ही स्मरण करते। ऋग्वेदीय दशम मण्डलके पचहत्तरवें नदीसूक्तमें नदियोंकी स्तुति की गयी है। इस नदीसूक्तके प्रथम मन्त्रमें बताया गया है कि सिन्धु नदी अपने बलसे सभी नदियोंको अतिक्रान्त करके प्रवहमान है। इसके परवर्ती सभी मन्त्रोंमें सिन्धुका वर्णन हुआ है। केवल पञ्चम मन्त्रमें पूर्व दिग्भागकी ओर प्रवहमान गङ्गा, यमुना, सरस्वती नदियोंकी स्तुति की गयी है—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥

(ऋग्वेद १०।७५।५)

इस मन्त्रमें नदियोंकी प्रार्थनाका जो क्रम रखा गया है, वह दिखाता है कि आर्यजन पूर्व दिशासे पश्चिम दिशाकी ओर अग्रसर हुए थे। गङ्गाके पश्चिममें यमुना हैं, उनके पश्चिम सरस्वती, उनके पश्चिम पंजाबकी सतलज, इरावती, चिनाव, मरुद्वृधा (चन्द्रभागा), झेलम और आर्जीकीया (व्यास) नामक नदियाँ प्रवहमान हैं। इस मन्त्रके परवर्ती छठे मन्त्रमें गोमती (गोमल—अफगानिस्तानके अराकोसियामें प्रवहमान) तथा कुभा (काबुल) नदियोंका नामोल्लेख हुआ है। अन्तिम नवम मन्त्रमें सिन्धु नदीकी महिमा बतायी गयी है। अष्टम मन्त्रमें बताया गया है कि सिन्धु नदीके तटवर्ती स्थान ऊनी कम्बलों, विविध ओषधियों और धन-धान्यसे समृद्ध थे। सिन्धु नदीमें आध्यात्मिकताकी अपेक्षा भौतिकता अधिक झलकती है। परवर्ती कुछ पुराणोंमें सिन्धुमें तर्पण आदि धार्मिक कृत्योंके अनुष्ठानकी चर्चाके अतिरिक्त बहुत महत्त्व नहीं दिया गया है। आर्यजन पूर्व दिशासे पश्चिमाभिमुख यात्रा करते हुए कुछ समयतक सिन्धु क्षेत्रमें ठहरे होंगे। वहाँसे शक-स्थान आदि देशोंमें फैल गये।

भारतसे समय-समयपर आर्योंके निष्क्रमण होते रहे हैं। 'जिप्सीभाषा' नामक ग्रन्थसे पता चलता है कि रोमा नामसे प्रसिद्ध यायावर कबीले पुराणोंमें निर्दिष्ट 'राम' नामक क्षेत्रसे ईसवी पूर्व और पश्चात्तन शताब्दियोंमें ईरान तथा मिस्र (ईजिप्ट) होते हुए सम्पूर्ण यूरोप, तुर्किस्तान इत्यादि देशोंमें फैल गये। 'राम' नामक क्षेत्रसे सम्बन्धित होनेके कारण वे आज भी स्वयंको 'रोमा' कहते हैं। ईजिप्टसे यूरोपमें प्रवेश करनेके कारण उन्हें जिप्सी कहा

जाने लगा। यह 'राम' नामक क्षेत्र वहाँ है, जहाँ राजस्थान, पंजाब एवं सिन्धु प्रदेशकी सीमाएँ परस्पर मिलती हैं। समय-समयपर हुए इन निष्क्रमणोंका सम्यक् अनुशीलन करनेपर सिन्धु घाटीकी सभ्यताके रहस्योद्घाटनपर नया प्रकाश पड़नेकी सम्भावना है। भारतसे आर्योंके ये निष्क्रमण चिरन्तन हैं। पश्चिमी संस्कृतिमें वैदिक देवताओंकी नामोपलब्धिका रहस्य आर्यजनोंके निष्क्रमणोंमें निहित है।

पाश्चात्य विद्वानोंका यह वक्तव्य सत्यसे सर्वथा परे है कि ऋग्वेद-संहितामें गङ्गाकी स्पष्ट चर्चा एक बार ही की गयी है। ऋग्वेदीय खिल पाठमें नदीसूक्तका एक खिल मन्त्र '**सितासिते सरिते यत्र संगथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति**' मिलता है। इसमें श्रीगङ्गा और यमुनाके श्वेत एवं श्याम जलकी पावनता तथा दिव्यताको लक्षित करके वहाँ उनका स्मरण 'सिता' और 'असिता' के रूपमें भी किया गया है। उनका यह कहना अवश्य सत्य है कि ऋग्वेद-संहिताके अतिरिक्त यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद-संहिताओंमें गङ्गाकी चर्चा नहीं आयी है। यजुर्वेदसंहिताके शतपथब्राह्मण तथा कृष्णयजुर्वेदके तैत्तिरीय आरण्यकमें गङ्गाका स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद-संहिताके (१।१५८।४—६) मन्त्रोंमें दीर्घतमस् (पूर्वनाम दीर्घतपस्) नामक महर्षिकी कथा आयी है। ऐतरेय ब्राह्मण (८, २३)-में बताया गया है कि ये महर्षि भरत राजाओंके पुरोहित थे। उन्होंने भरत दौष्यन्तिका 'ऐन्द्र अभिषेक' यमुनाके किनारे किया था। कथा है कि एक बार अंग देशके राजा गङ्गा नदीमें जल-क्रीड़ा कर रहे थे। इन्होंने दीर्घतमस्को गङ्गाधारामें बहता हुआ देखकर उनका उद्धार किया था। बृहद्देवता नामक ग्रन्थमें इस कथाका उपबृंहण हुआ है। गङ्गा और यमुना नदियोंके मध्यवर्ती भूभागोंपर भरत दौष्यन्तिद्वारा प्राप्त की गयी विजयका अंकन शतपथब्राह्मणमें हुआ है। गङ्गा और यमुनाके मध्यवर्ती क्षेत्र (दोआब)-के निवासियोंकी तैत्तिरीय आरण्यकमें विशेषतः प्रशंसा की गयी है।

ऋग्वेद-संहिताके प्रथम एवं अष्टम मण्डलोंके अतिरिक्त षष्ठ मण्डलमें गङ्गा-सम्बन्धी चर्चा हुई है। वहाँ भरद्वाज ऋषि तथा कृपण पणियोंके बृबु नामक काष्ठकारका ऐसा प्रसंग है, जिसके अनुसार भरद्वाजने बृबुद्वारा दिये गये दानको स्वीकार किया था। बृबुकी प्रशंसामें भरद्वाजजीने जो ऋचा पढ़ी, उसमें बृबुकी दानोच्चताकी समानता गङ्गाके ऊँचे तटपर लगे विस्तीर्ण वृक्षके साथ की थी—

वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात्। उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः।

(६।४५।३१)

गङ्गा शब्दसे सम्बन्धित 'गाङ्ग्य' शब्दका व्यवहार किया गया है। यह कक्षवृक्षका विशेषण है। '**गाङ्ग्यः कक्षः**'-का तात्पर्य हुआ—गङ्गाका वृक्ष।

वैदिक वाङ्मयकी विविध व्याख्याएँ हैं, जो भौगोलिक स्थानोंका परिचय कराती हैं। महाभारत, पुराण इत्यादि वाङ्मयमें वैदिक कथाओंका विशदीकरण मिलता है। ऋग्वेदीय अष्टम मण्डलका उन्नीसवाँ सूक्त सौभरिसूक्तके नामसे प्रसिद्ध है। इसमें पुरुकुत्स-पुत्र राजा त्रसदस्युके दानकी प्रशंसा है। इसके ३६ वें और ३७ वें मन्त्रोंमें सौभरि ऋषिने राजा त्रसदस्युद्वारा किये गये कन्यादानकी प्रशस्ति की है—

अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम्।
मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः॥
उत मे प्रयियोर्वयियोः सुवास्त्वा अधि तुग्वनि।
तिसॄणां सप्ततीनां श्यावः प्रणेता भुवद्वसुर्दियानां पतिः॥

राज त्रसदस्युसे कन्यादान लेनेके पूर्व सौभरि ऋषि नदीके जलमें खड़े होकर तपस्या कर रहे थे। ऋग्वेद-संहितामें नदीके नामका उल्लेख नहीं है। उक्त दोनों मन्त्रोंमें ऋषिको दिये गये दानका संकेतभर मिलता है। बृहद्देवतामें भी केवल नदी कहा है। द्याद्विवेदने उस नदीको गङ्गा बताया है। श्रीमद्भागवतपुराणमें राजा त्रसदस्युके स्थानपर सम्राट् मान्धाता तथा गङ्गाके स्थानपर यमुना नाम दिया गया है। दोनोंकी राजधानियोंकी विभिन्नताके कारण नदियोंका भी नाम-भेद हुआ है। दोनों ग्रन्थोंमें गङ्गा-यमुनाके मध्यवर्ती भूभागकी पावनता दिखाना मुख्य लक्ष्य है। बृहद्देवता और पुराणोंमें इस सांकेतिक कथाका विशदीकरण उपलब्ध होता है।

इतिहास-पुराण वेदोंकी सांकेतिक कथाओंका उपबृंहण करते हैं। इनकी सहायताके बिना वेदोंका अर्थ-निश्चय करनेपर समग्र परम्पराका उल्लंघन होता है।

पाश्चात्य विद्वज्जन और उनके कुछ अनुयायियोंद्वारा इतिहास-पुराणकी उपेक्षा करके जो मनमाना अर्थ किया जाता है, उससे वेदोंको चोट पहुँचती है। उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद-संहिताके पहले, छठे और आठवें मण्डलमें भी गङ्गाका स्मरण किया गया है। आर्यजनोंकी प्रारम्भसे ही गङ्गाके प्रति आदर भक्ति रही आयी है। आर्यजनोंका बाहरसे भारतमें आगमन नहीं हुआ, अपितु समय-समयपर उनका भारतसे अन्य देशोंमें निष्क्रमण अवश्य होता रहा।

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः

(ऋग्वेद-भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

[विशेषांक पृ० सं० ३९८ से आगे]

वस्तुतः मन्त्रद्रष्टा ऋषि आदर्श मानव थे—उनमें अधिकांश तो महामानव थे। यदि उनके जीवनादर्श अपनाये जायँ तो मानवताके लोक और परलोक—दोनों सरस, सुखद और मधुर-मञ्जुल बन जायँ।

यहाँ यह बात भी ध्यान देनेकी है कि आधुनिक उपन्यास-कहानियोंकी तरह क्रमबद्ध सांसारिक प्रपञ्च-पाखण्डोंका वर्णन ऋषि नहीं करते थे। उनकी शैली भिन्न थी, उनके कथन और चिन्तनकी दिशा ही पृथक् थी। वे अध्यात्म-शक्तिमें रमण करते थे और छल-छद्मपूर्ण मानवकथा लिखनेकी अपेक्षा परमात्मा और उनकी विभूतियोंकी आराधना करना और विवृति लिखना श्रेयस्कर समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने न तो मानवेतिहास लिखा, न शृङ्गार-रसकी कविताएँ ही बनायीं। यों दैवी शक्तियोंका स्तवन करते-करते कुछ विषयोंका सूक्ष्मतम उल्लेख हो गया है। इन्हीं सूक्ष्मतम उल्लेखोंको लेकर संस्कृत-साहित्यमें विशद विस्तार किया गया है। कभी-कभी तो दो-एक मन्त्रोंको लेकर एक-एक पुस्तक रच डाली गयी है। शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेय-संहिताके ४० वें अध्यायके प्रथम दो मन्त्रोंको लेकर भगवद्गीताके ७०० श्लोक निर्मित हुए और गायत्री मन्त्रके २४ अक्षरोंमेंसे एक-एक अक्षरपर वाल्मीकि-रामायणके २४ हजार श्लोक रचे गये। वेद ऐसी ही मुक्तामणिमाला है।

यद्यपि जगत्प्रसिद्ध सातों ऋषि मण्डलों या सूक्त-समूहोंके द्रष्टा नहीं हैं, तो भी इनका ऋग्वेदमें यथेष्ट उल्लेख है। ऋग्वेदीय भाष्यकार सायणने सप्तर्षियोंमें इनकी गणना की है—भरद्वाज, कश्यप, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, जमदग्नि और वसिष्ठ। ऐसी मान्यता है कि भरद्वाज, अत्रि, विश्वामित्र और वसिष्ठके निर्मल और वीतराग अन्तःकरणमें, समाधिदशामें चार मण्डलोंके अधिकांश मन्त्र अवतीर्ण हुए। अवशिष्ट तीन ऋषि विशिष्ट मण्डलोंके द्रष्टा या स्मर्ता नहीं हैं, तो भी इन सातों ऋषियोंका अनेक स्थलोंमें एक साथ ही उल्लेख है। १।२४।१० में कहा गया है—'ये जो सप्तर्षि नामक नक्षत्र हैं, वे आकाशमें स्थापित हैं और रात्रिमें दिखायी देते हैं।' ४।४२।८ में लिखा है—'राजा दुर्गहके पुत्र पुरुकुत्सके बंदी होनेपर पृथिवीके पालयिता सप्तर्षि हुए थे। उन्होंने इन्द्र और वरुणके अनुग्रहसे पुरुकुत्सकी स्त्रीके लिये यज्ञ करके त्रसदस्यु (पुत्र)-को प्राप्त किया था।' ९।९२।२ में कहा गया है—'सात मेधावी ऋषि (सप्तर्षि) यज्ञमें सोमके पास जाते हैं।' १०।२७।१५ का कथन है—'इन्द्ररूप प्रजापतिके शरीरसे विश्वामित्र आदि सात ऋषि उत्पन्न हुए। उनके उत्तरी शरीरसे वालखिल्य आदि आठ उत्पन्न हुए। पीछेसे भृगु आदि नौ उत्पन्न हुए। अङ्गिरा आदि दस आगेसे उत्पन्न हुए। ये यज्ञांश भक्षण करनेवाले द्युलोकके उन्नत प्रदेशकी संवर्द्धना करने लगे।' १०।६४।५ से ज्ञात होता है कि 'सूर्यका जन्म नाना प्रतीकोंमें होता है, जिनके आह्वानकर्ता

सप्तर्षि हैं।' १०।८२।२ में विश्वकर्माको सप्तर्षियोंके परवर्त्ती स्थानोंका दर्शक बताया गया है। १०।१०९।४ में सप्तर्षियोंको तपस्यामें प्रवृत्त बताया गया है। १०।१३०।७ का कथन है—'सात दिव्य ऋषियोंने स्तोत्रों और छन्दोंका संग्रह करके पुनः-पुनः अनुष्ठान किया और यज्ञका परिमाण स्थिर किया। विद्वान् ऋषियोंने पूर्व-पुरुषोंकी प्रथाके प्रति दृष्टि रखकर यज्ञानुष्ठान किया।' नवम मण्डलके १०७ और दशम मण्डलके १३७ सूक्तोंके सप्तर्षि समवेतरूपसे द्रष्टा हैं। संस्कृतके कई ग्रन्थोंमें मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु और वसिष्ठ सप्तर्षि माने गये हैं; परंतु ऋग्वेदमें तो पुलह, पुलस्त्य आदिके नाम भी नहीं मिलते।

ऋग्वेदोक्त सप्तर्षियोंमें कश्यप, गौतम और जमदग्नि किसी मण्डलके द्रष्टा नहीं हैं; तो भी ये कुछ सूक्तोंके द्रष्टा हैं और अनेक मन्त्रोंमें इनका उल्लेख है। इनके सम्बन्धमें कुछ विवरण भी पाया जाता है।

पुराणोंके अनुसार कश्यप देव, दैत्य आदिके जनक हैं। ब्रह्माके पुत्र मरीचि इनके पिता थे और कला माता थी। दक्ष प्रजापतिकी १२ वीं या १३ वीं कन्यासे इनका विवाह हुआ था। इन्होंने वरुणकी गायका हरण किया था; इसलिये ब्रह्माने इन्हें शाप दे दिया था, जिसके फलसे ये मर्त्यमें वसुदेव हुए; परंतु ऋग्वेदमें ये विषय नहीं हैं।

अष्टम मण्डलके २९ वें सूक्तके द्रष्टा मरीचि-पुत्र कश्यप हैं। ९।६७ के कुछ मन्त्रोंके स्मरणकर्ता भी ये ही हैं। नवम मण्डलके ६४ तथा ९१-९२ और ११३-११४ सूक्तोंके स्मारक भी ये ही माने गये हैं। ९१ में नहुषवंशियों, ९२ के द्वितीय मन्त्रमें सप्तर्षियों, चतुर्थमें ३३ देवों और पञ्चममें राजर्षि मनुका उल्लेख है। ११३ वेंके ८ वें मन्त्रमें राजा वैवस्वत और मन्दाकिनी नदी तथा ११४ वेंके द्वितीय मन्त्रमें स्वयं कश्यपका संज्ञा-कथन है। ३।४८।२ में ऋषि विश्वामित्र कहते हैं—'इन्द्र! तुम्हारे महान् पिता कश्यपके सूतिका-गृहमें तुम्हारी माता अदितिने स्तन्य-पानके पहले तुम्हारे मुँहमें सोमरसका ही सेचन किया था।' इससे ज्ञात होता है कि कश्यपके पुत्र इन्द्र थे। ९।९९-१०० के द्रष्टा काश्यप रेभ और सूनु ऋषि हैं। कश्यपके पुत्र भूतांश ऋषि १०।१०६ के स्मर्ता हैं। इसीका छठा मन्त्र प्रसिद्ध **'जर्भरि, तुर्फरि'** मन्त्र है, जिसके अर्थ-ज्ञानमें आजतक संदेह है। ११ वें मन्त्रमें भूतांशने स्वयं कहा है—'यह स्तोत्र करके मैंने अश्विनीकुमारोंका मनोरथ पूर्ण किया।' दशम मण्डलके प्रसिद्ध 'यक्ष्म-नाशन' सूक्तके दर्शक कश्यपगोत्रज विबृहा ऋषि हैं। नवम मण्डलके ६३ वें सूक्तके द्रष्टा कश्यपगोत्रीय निध्रुव हैं। इसमें सोमकी विवृति है। अवत्सार ऋषि कश्यपके अपत्य थे। ५।४४।१० में इन्हें 'ज्ञानी' माना गया है और इसी सूक्तके १३ वें मन्त्रसे विदित होता है कि ये परम गोभक्त थे तथा बिना द्रव्य लिये दुग्ध-वितरण करते थे। इस ४४ वें सूक्तके ये ही ऋषि हैं। नवम मण्डलके ५३ से ६० सूक्तोंके ऋषि भी ये ही हैं।

गोतम ऋषिके पुत्र गौतम थे। ब्रह्माने अहल्याको इनके पास रक्षार्थ छोड़ रखा था। बहुत दिनोंके अनन्तर गौतमने ब्रह्माकी थाती लौटा दी। इसपर इनके जितेन्द्रियत्व और तपस्यापर ब्रह्माने प्रसन्न होकर अहल्यासे इनका विवाह करा दिया। शतानन्द ऋषि इनके पुत्र थे। श्रीरामचन्द्रने इन्हीं अहल्याका उद्धार किया था। ऋग्वेदमें इतना विस्तार नहीं है। ऋग्वेदके १।६०।५, १।६१।१६ और १।६३।९ के गोतमवंशीय या गौतम-पुत्र नोधा ऋषि द्रष्टा हैं। १।१८३।५ में गौतम अश्विद्वयके आह्वान-कर्ता कहे गये हैं। ४।४।११ में वामदेव ऋषिने गोतमको 'पिता' बताया है। नहीं कहा जा सकता कि न्यायदर्शनके प्रणेता ये ही गौतम या गोतम थे।

१।७४ से ९३ सूक्तोंके ऋषि रहूगणके पुत्र गोतम हैं। ७८ वें सूक्तके पूर्व मन्त्रमें ये रहूगणवंशीय कहे गये हैं। मरुतोंने पिपासित गोतमको जल प्रदान किया था। इससे मिलती-जुलती बात १।८८।४ में भी है। नवम मण्डलके ३१।३७ और ३८ सूक्तोंके ऋषि भी ये ही हैं। ये सप्तर्षियोंमें नहीं हैं।

जमदग्नि भृगुवंशीय ऋचीक मुनिके पुत्र थे। इनकी माता गाधिपुत्री सत्यवती थी। इन्हींके भाई प्रसिद्ध

शुनःशेप भी कहे जाते हैं। वैदिक वाङ्मय और अस्त्रविद्यामें जमदग्नि पारंगत थे। इनकी स्त्री रेणुका थी और कनिष्ठ पुत्र परशुराम थे। इनकी नन्दा नामकी कामधेनुके पीछे इनसे और कार्त्तवीर्य अर्जुनसे जो विकट संग्राम हुआ था, वह भी प्रसिद्ध है। ऋग्वेदमें यह सब तो नहीं है; परंतु कई मन्त्रोंमें ये 'भार्गव' बताये गये हैं। ३।५३।१६ में जमदग्निको विश्वामित्रने दीर्घजीवी कहा है। ३।६२ के अन्तिम तीन मन्त्रोंके ये ही ऋषि कहे गये हैं। ७।९६।३ से विदित होता है कि ये सरस्वतीके उपासक थे। ९।९७।५१ में इनका सादर उल्लेख है। ८।९० के ऋषि ये हैं। इसमें इन्हें भृगुगोत्रीय कहा गया है। ८ वेंमें ये अश्विद्वयके स्तोता कहे गये हैं। ९।६२ के ऋषि ये ही भार्गव जमदग्नि २४ वें मन्त्रमें सोमदेवसे अपनेको गो-सम्पन्न बनानेको कह रहे हैं। ९।६५ के स्मर्ता भी ये ही हैं। १०।११० के तो ऋषि ये हैं ही और ८ वें मन्त्रमें अपने यज्ञमें इला, भारती (सूर्यरश्मि) और सरस्वतीको बुला रहे हैं। १०।१६७ के द्रष्टा जमदग्निको इन्द्रदेव स्तुति करनेको कह रहे हैं।

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेदके अतीव सूक्ष्म उल्लेखोंके आधारपर संस्कृत-साहित्यके अन्यान्य ग्रन्थोंमें विस्तार किया गया है या पूरा विवरण लिखा गया है। ऋषि याज्ञिक थे, वे यज्ञ करते थे अर्थात् चराचरमें अपना अर्पण कर चिदानन्द-लहरीमें गोते लगाते रहते थे। उनके पास मानवीय कथाओंका विस्तार करनेका अवकाश ही कहाँ था।

ऋग्वेदके १० मण्डलों (विभागों)-मेंसे द्वितीय मण्डलके द्रष्टा गृत्समद थे। ये आङ्गिरोवंशीय शुनहोत्र ऋषिके पुत्र थे। एक बार इन्हें असुर पकड़ ले गये। इन्द्रने इनका उद्धार करके इनका नाम शौनक रख दिया। शौनककी 'अनुक्रमणी'-से भी ऐसा ही विदित होता है। महाभारत (अनुशासनपर्व)-से ज्ञात होता है कि गृत्समद हैहय क्षत्रियोंके राजा और वीतहव्यके पुत्र थे। एक बार काशिराज प्रतर्दनके भयसे वीतहव्य भृगुके आश्रममें जा छिपे। इन्हें खोजते हुए प्रतर्दन भी वहीं जा पहुँचे। पूछनेपर भृगुने कहा कि 'मेरे आश्रममें क्षत्रिय नहीं रहता।' तपोधन ऋषियोंके वचन झूठे नहीं होते; इसलिये इसी समयसे वीतहव्य ब्राह्मण हो गये और इनके पुत्र गृत्समद ब्रह्मर्षि। तबसे इनको भृगुवंशीयता प्राप्त हो गयी। किसीके मतसे नैमिषारण्यमें जो द्वादशवर्षव्यापी यज्ञ हुआ था, उसमें ये ही प्रधान थे। ऋग्वेदमें ऐसी बातें नहीं हैं।

द्वितीय मण्डलके १ से ३ और ८ से ४३ सूक्तोंके द्रष्टा गृत्समद हैं। २।४।९ में इनके वंशीय अग्निदेवका स्तवन करते दिखायी देते हैं। २।१९।८ में इन्द्रसे कहा गया है—'इन्द्र! गृत्समदगण तुम्हारे लिये मनोरम स्तुतिकी रचना (अभिव्यञ्जन) करते हैं।' २।३९।८ का कथन है—'अश्विद्वय! गृत्समद ऋषिने तुम्हारे संवर्द्धनके लिये ये सब स्तोत्र और मन्त्र प्रकट किये हैं।' २।१९।९ में तो ये पुत्र-पौत्रके साथ इन्द्रकी स्तुतिके अभिलाषी दिखायी दे रहे हैं। ९।८६ के ४६ से ४८ मन्त्रोंके द्रष्टा भी गृत्समद हैं।

चतुर्थ मण्डलके द्रष्टा वामदेव हैं। प्रसिद्धि है कि ये महाराज दशरथके प्रधान ऋत्विक् और कुलपुरोहित थे। परंतु ऋग्वेदमें तो दशरथका नाम भी नहीं है। ऋग्वेदीय वामदेव चतुर्थ मण्डलके १ से १७ और १८के कुछ मन्त्रोंके तथा १९ से ४१ मन्त्रोंके द्रष्टा हैं। इस मण्डलके ४५ से ५८ सूक्त भी इन्हींके देखे हुए हैं। इनके रक्षक अश्विद्वय थे (१।११९।७)।४।२।१५ में स्वयं वामदेवने कहा है कि 'हम ७ (अर्थात् ६ अङ्गिरा और वामदेव) मेधावी हैं। हमने ही अग्निकी रश्मियोंको उत्पन्न किया है।' इनके यज्ञ-रक्षक इन्द्र थे (४।१६।१८)। ४।२७।१ में वामदेव कहते हैं—'गर्भमें रहकर ही मैंने जाना था कि परमात्माके समीपसे सब देव उत्पन्न हुए हैं।' इससे ज्ञात होता है कि वामदेव जातिस्मर और ब्रह्मज्ञानी थे। इसमें शंका नहीं कि इन्हीं ब्रह्मर्षियोंके ज्ञानके प्रतापसे प्रायः सारे विश्वके आस्तिक आर्यजातिको अग्रगण्य आत्मज्ञानी मानते हैं।

१०।५४ से ५६ के ऋषि वामदेव-पुत्र बृहदुक्थ हैं। ५६ वें सूक्तमें बताया गया है कि मृत्युके अनन्तर जीव कहाँ जाता है और उसकी क्या गति होती है। कुल सात मन्त्र हैं और सभी मननीय और चिन्तनीय हैं। ७ वें

मन्त्रमें ऋषि कहते हैं—'जैसे लोग नौकासे जल पार करते हैं, जैसे लोग पृथिवीकी भिन्न दिशाका अतिक्रम करते हैं और जैसे कल्याणके द्वारा सारी विपदाओंसे उद्धार पाते हैं, वैसे ही मैंने अपनी शक्तिसे अपने मृत पुत्र (बाजी)-को अग्नि आदि पार्थिव पदार्थों और सूर्य आदि आकाशीय पदार्थोंमें मिला दिया।'

षष्ठ मण्डलके द्रष्टा भरद्वाज हैं। पुराणानुसार ये बृहस्पतिके पुत्र थे, इनके पालक भरत थे। इन्होंने प्रयागमें आश्रम बनाया, तपस्या की और यज्ञ किया। जब ये हिमालयपर तप करने गये, तब 'घृताची' नामकी अप्सरासे इनका सम्बन्ध हो गया, जिससे द्रोणाचार्यका जन्म हुआ। वन जाते और आते समय श्रीरामचन्द्र इनके आश्रमपर गये थे। ऋग्वेदका कथन इससे भिन्न है।

१।११७।११ से विदित होता है कि अश्विद्वयने भरद्वाजको अन्न दिया था। भरद्वाज-गोत्रज निर्दोष स्तोत्र करनेमें प्रसिद्ध थे (६।१०।६)। ६।१५।३ में अङ्गिराके पुत्र वीतहव्य भरद्वाजके गृहके लिये अग्निदेवसे विनय कर रहे हैं। ६।१६।५ में भरद्वाज 'रमणीय धनके लिये प्रार्थना कर रहे हैं।' यहीं छठे मन्त्रमें भरद्वाज मेधावी बताये गये हैं। ३३ वेंमें भरद्वाज अग्निदेवसे 'विपुल सुख' माँग रहे हैं। ६।२६।२ में भरद्वाजकी माताका नाम वाजिनी कहा गया है। ६।२७।८ में भरद्वाजने कहा है—'राजा पृथुके वंशधर और चयमानके पुत्र राजा अभ्यवर्तीने मुझे रथ और बीस गायें दी थीं।' ६।३५।४ में भरद्वाजके पुत्रोंका उल्लेख है। ६।३७।१ में ये 'गुण-सम्पन्न' बताये गये हैं। ६।५०।१५ में पुनः इनके गोत्रका उल्लेख है। ऋषि अपना नाम ले-लेकर स्तुति करते थे (६।६५।६)। १०।१५०।५ में कहा गया है कि 'युद्धभूमिमें अग्निने भरद्वाजकी रक्षा की थी।' षष्ठ मण्डलके १ से ३० सूक्तों, ३७ से ४३ सूक्तों और ५३ से ७४ सूक्तोंके द्रष्टा भरद्वाज हैं। इनमें ये बृहस्पतिपुत्र कहे गये हैं। नवम मण्डलके ६७ सूक्तके कुछ मन्त्रोंके वक्ता भी बार्हस्पत्य भरद्वाज हैं। छठे मण्डलके ७५ वें सूक्तके ऋषि भरद्वाज-पुत्र पायु हैं। १०।८७ के स्मर्ता भी ये ही हैं। ६।४७ के ऋषि भरद्वाजके पुत्र गर्ग हैं, इसी छठे मण्डलके ४९ से ५२ सूक्तोंके ऋषि भारद्वाज-पुत्र ऋजिश्वा हैं। १०।१८१ के द्वितीय मन्त्रके ऋषि भारद्वाज सप्रथ ऋषि हैं। १०।१५५ के द्रष्टा भरद्वाज-पुत्र शिरिम्बिठ हैं। १०।१५२ के ऋषि भारद्वाज शास हैं। नवम मण्डलके ८० से ८२ सूक्तोंके स्मारक भारद्वाज वसुनामा हैं।

कण्व ऋषि आदि अनेक ऋषि आठवें मण्डलके द्रष्टा हैं। शुक्ल-यजुर्वेदीय 'काण्व-संहिता' के वक्ता भी कण्व ही हैं। संस्कृत-साहित्यमें ये शकुन्तलाके 'पालक पिता' कहे गये हैं। कहीं-कहीं ये पुरुवंशीय अप्रतिरथके पुत्र और कण्डु मुनिके जनक कहे गये हैं। परंतु ऋग्वेदमें इन सारी बातोंका अभाव है। दसवें मण्डलके १०३ वें सूक्तके ऋषि अप्रतिरथ हैं; परंतु ये इन्द्रपुत्र बताये गये हैं। कण्व ऋषिसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता।

प्रथम मण्डलके ३६ वें सूक्तसे ४३ वें सूक्ततकके द्रष्टा घोर-पुत्र कण्व हैं। ३६ वें सूक्तके ८ वें मन्त्रमें 'कण्व ऋषिके लिये यथेच्छ द्रव्य-वर्षाकी बात आयी है।' १० और ११ में कण्वको 'अतिथि-प्रिय' कहा गया है। १।३७।७ में कण्वगोत्रोत्पन्न ऋषियोंको मरुतोंके उद्देश्यसे गानेको कहा गया है। १।४८।४ की उक्ति है—'अतिशय मेधावी कण्व ऋषि दानशील मनुष्योंके प्रख्यात नाम उषा-कालमें ही लेते हैं।' १।११२।५ से विदित होता है कि असुरोंने कण्वको घनान्धकारमें फेंक दिया था, जहाँसे अश्विद्वयने उन्हें बचाया था। यही बात १।११८।७ में भी है। १।१३९।९ में दिवोदासके पुत्र परुच्छेद कहते हैं कि 'कण्व पूर्वकालके ऋषि हैं और दीर्घायु हैं।' यहाँ इन्हें 'प्रियमेध कण्व' कहा गया है। ८।५।२३ की उक्ति है, कण्व असुरोंके द्वारा एक प्रासादके नीचे बाँधे गये थे। वहीं अश्विद्वयने इन्हें बचाया था। कण्व नित्य स्तोता थे (८।६।११)। ८।३४।१ में कण्वगोत्रीय 'सुन्दर स्तोता' कहे गये हैं। १०।३१।११ में कण्वको नृसदका पुत्र और श्यामवर्ण कहा गया है। यहीं यह भी है कि 'अग्निके लिये कण्वके समान किसीने यज्ञ नहीं किया था।' यह तो ठीक है; परंतु इसका पता नहीं चलता कि नृसद और अप्रतिरथ एक

थे या दो। ९।९४ के ऋषि आङ्गिरस कण्व हैं। कहीं-कहीं 'प्रियमेध कण्व' भी लिखा है। ये प्रियमेध अङ्गिराके पुत्र भी कहे गये हैं, तो क्या कण्व नामके कई ऋषि थे?

आश्वलायनने अष्टम मण्डलका ऋषि प्रगाथ-परिवारको माना है; परंतु षड्गुरुशिष्यने प्रगाथको कण्व ही माना है। अष्टम मण्डलका विहंगावलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि अनेकानेक ऋषियोंके साथ आङ्गिरस कण्व ही इस मण्डलके ऋषि हैं।

कण्वपुत्र और कण्ववंशधर प्रसिद्ध याज्ञिक थे (८।१।८)। वे इन्द्रके भक्त थे, (८।३।१६)। इन्द्रके वे स्तोता थे (८।६।३४)। कण्वपुत्र यज्ञोंमें अश्विद्वयके लिये सोमाभिषव करते थे (८।८।३-४)। अश्विद्वयका स्तोत्र बार-बार करनेमें कण्वपुत्रोंको बड़ा आनन्द मिलता था (८।९।९)। प्रथम मण्डलके १२से २३ सूक्तोंके द्रष्टा कण्वपुत्र मेधातिथि हैं। सुदास राजाका यज्ञ करानेवालोंमें मेधातिथि थे (३।५३।७)। नवम मण्डलके द्वितीय सूक्तके ऋषि भी ये ही हैं। ८ वें मण्डलके १-२ और ३२ वें सूक्तोंके द्रष्टा भी मेधातिथि हैं। मेधातिथिके साथ ही ८ वें मण्डलके प्रथम-तृतीय सूक्तोंके ऋषि कण्वपुत्र मेध्यातिथि हैं। ८। १। ३० में राजर्षि असंग कह रहे हैं—मेध्यातिथि! मेरी प्रशंसा करो। मैं सबसे धनी हूँ।' नवम मण्डलके ४१ से ४३ सूक्तोंके स्मर्ता मेध्यातिथि हैं। ४३वेंके छठे मन्त्रमें ये 'सुन्दर और वीर्यशाली' पुत्र सोमदेवसे माँग रहे हैं।

कण्वगोत्रज देवातिथि ८ वें मण्डलके चतुर्थ सूक्तके ऋषि हैं। इन्होंने 'सौभाग्यशाली' कुरुङ्ग राजासे दानमें ६० हजार गायें प्राप्त की थीं। जो राजा ६०-६० हजार गायें एक साथ दान करता था, उसके पास कितने लाख गायें होंगी। वह आधिभौतिक अभ्युदयमें कितना बढ़ा होगा? नीपातिथि भी इन्द्रोपासक थे (वालखिल्यसूक्त ३।१)। ये भी कण्वगोत्रीय और ८।३४ के ऋषि हैं। कण्वगोत्रज ब्रह्मातिथि ८।५ के ऋषि हैं। कण्वगोत्रीय नाभाक ऋषि इन्द्र और अग्निके पूजक थे। उनका विश्वास था—'इन्द्र और अग्निमें यह सारा संसार विद्यमान है। इन्द्र और अग्निकी गोदमें महती मही और द्युलोक स्थित हैं' (८।४०।४)।८।३९ से ४२ सूक्तोंके ऋषि नाभाक थे। ४२ वेंके कुछ मन्त्रोंके आविष्कर्ता अर्चनाना ऋषि थे। ये अत्रि ऋषिके अपत्य हैं और ५।६३ से ६४ के भी द्रष्टा हैं।

आठवें मण्डलके ६५ से ६७ सूक्तोंके कुरुसुति, ६८ के कृत्नु, ७० से ७२ के ऋषि कुसीदी हैं। तीनों ही कण्वगोत्रीय हैं। ८।६३ के ऋषि हैं गोपवन। इनका गोत्र नहीं बताया गया है। ११ वें मन्त्रमें इनकी स्तुतिसे अग्निका अन्नदाता होना लिखा है। ८।१२ के ऋषि कण्वगोत्रीय पर्वत ऋषि हैं। ९।१०४ से १०५ तकके ऋषि भी पर्वत हैं; परंतु वहाँ ये कश्यप-पुत्र कहे गये हैं। कदाचित् दोनों दो पुरुष थे। ये ही नहीं, एक ही नामके कई अन्यान्य ऋषि भी ऋग्वेदीय मन्त्रद्रष्टा हैं। ऋषियोंके सम्बन्धमें वैदिक और पौराणिक विवरणोंमें जो भिन्नता पायी जाती है, उसका कारण कई पुरुषोंका एक ही नाम रखा जाना भी हो सकता है। परंतु अधिकांश वैदिक ऋषियोंके वर्णनोंका पुराणोंमें विशदीकरण हुआ है। अनेक व्यक्तियोंसे होकर इन वर्णनोंके आनेके कारण पुराणादिमें विस्तारके साथ कहीं-कहीं कुछ रूपान्तर-सा हो गया है। कितने ही ऋषियोंकी कथाएँ नयी आ घुसी हैं और कितने ही ऋषियोंके नामपर नये ग्रन्थोंकी भी रचनाएँ हुई हैं। ये सब बातें साम्प्रदायिक या कुछ अन्य कारणोंसे हुई जान पड़ती हैं।

८।८ के ऋषि कण्वगोत्रज सध्वसांख्य और १० तथा ४८ सूक्तोंके कण्व-पुत्र प्रगाथ हैं। ५१ से ५४ सूक्तोंके ये ही ऋषि हैं। इसी आठवें मण्डलके ४९-५० सूक्तोंके भर्ग, ६१ के हर्यत और ५५ के ऋषि त्रिशोक हैं। ये तीनों ही प्रगाथपुत्र हैं। ८।६१।१८ में कहा गया है कि 'हर्यत ऋषिका जो स्थान हव्य-स्थापनके लिये उपयुक्त है, वहींसे अग्नि अपनी शिखाके द्वारा द्युलोकको व्याप्त करते हैं।' कलिके सम्बन्धमें १।११२।१५ में कहा गया है कि 'अश्विद्वयने कलि ऋषिकी रक्षा की थी।' १०।३९।८ में कथन है—'अश्विद्वयने अत्यन्त वृद्ध कलिको तारुण्य प्रदान किया था।'

ऋग्वेदके बहुत मन्त्रोंमें अश्विनीकुमारोंकी औषध-

विषयक चमत्कारिता बतायी गयी है। ये प्रसिद्ध भिषक् थे।

विश्व-विदित भक्त देवर्षि नारदकी लीलाएँ, अलौकिकताएँ और अपूर्वताएँ कौन नहीं जानता? ये ब्रह्माके मानस पुत्र थे। इन्हें ब्रह्माने सृष्टि करनेकी आज्ञा दी; परंतु इसे अपने भजनमें विघ्न समझकर इन्होंने अस्वीकार कर दिया। चिन्मय तत्त्वका प्रेमी और भक्ति-रसका पिपासु इस झमेलेमें क्यों पड़े? फलतः ब्रह्माके शापसे इन्हें गन्धर्व और मनुष्यकी योनियाँ भी मिली थीं। ये 'कामचर' थे, अर्थात् इनकी गति सर्वत्र अबाध थी। इन्होंने बड़े-बड़े काम किये—बहुत बार ऋषियों, देवों और मानवोंको संकटसे उबारा। ये संगीतके प्रेमी थे। उलूकेश्वरसे संगीत-विद्या सीखकर इन्होंने उसमें पारदर्शिता प्राप्त की थी। कृष्णावतारके समय गान-शिक्षा लेकर इन्होंने परमानन्द-पद प्राप्त किया था। इनकी चिर-सहचरी वीणा थी। इनके नामपर संगीत, स्मृति, भक्ति और पुराण आदिपर बहुत ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

परंतु ऋग्वेदमें नारद कण्वगोत्रीय कहे गये हैं। ये ८।१३ और ९।१०४-१०५ के ऋषि माने गये हैं। परंतु इन सूक्तोंमें इनका कुछ विवरण प्राप्त नहीं होता।

८।१४ से १५ सूक्तोंके कण्व-गोत्रज गोसूक्ति और अश्वसूक्ति ऋषि हैं। त्रिशोक ऋषि ८।४५ के द्रष्टा हैं। १।११२।१२ से विदित होता है कि इन्होंने अपनी अपहृत गौओंका उद्धार अश्विद्वयकी सहायतासे किया था। ८।४६ के वक्ता हैं अश्व-पुत्र वश। ऋषि अश्वके महान् स्तोता पुत्र वशको संकटसे अश्विद्वयने बचाया था (१।११२।१० और ८।८।२०)। ८।५६ के वरुण-पुत्र मान्य और ८।५९ के पुरुहम्मा ऋषि हैं।

१।४४ से ५० सूक्तोंके ऋषि कण्व-पुत्र प्रस्कण्व हैं। १।४४।६ में ये 'देव-भक्त' और यही ८ वें मन्त्रमें 'हव्यवाही' कहे गये हैं। ये अग्निभक्त थे (१।४५।५)। इन्द्रने इन्हें संकटसे बचाया था (८।३।९)। 'पार्षद्वाण ऋषिने वृद्ध और सोये हुए प्रस्कण्वको बैठाया था' (वालखिल्यसूक्त ३।२)। ये प्रथम वालखिल्य सूक्तके भी ऋषि हैं। ९।९५ के ऋषि भी प्रस्कण्व हैं; परंतु वहाँ वे कवि-पुत्र बताये गये हैं। कदाचित् लिपिकारोंके प्रमादसे कण्वके स्थानपर कवि हो गया हो।

वसिष्ठ या वशिष्ठ सूर्यवंशी राजाओंके कुलपुरोहित थे। ये ब्रह्माके मानस पुत्र थे। महाराज निमिने एक यज्ञमें इन्हें वरण किया था; परंतु ये इसके पहले इन्द्रके यज्ञमें वृत हो चुके थे, इसलिये निमिको रुकनेके लिये कहकर देवलोक चले गये। वहाँ यज्ञ सम्पन्न कराकर लौटे तो सुना कि अगस्त्य आदिसे निमिने यज्ञ करा डाला। इसपर क्रुद्ध होकर इन्होंने निमिको चेतनाशून्य हो जानेका शाप दे दिया। निरपराध निमिने भी इन्हें ऐसा ही शाप दे डाला। अन्तमें ब्रह्माके उपदेशसे मित्रावरुणके पुत्ररूपसे वसिष्ठ उत्पन्न हुए। महाराज इक्ष्वाकुने अपने वंशके हितार्थ इन्हें पुनः कुलपुरोहित बनाया।

वसिष्ठके पास एक कामधेनु थी। उससे जब जो चाहते थे, ये प्राप्त कर लेते थे। एक बार इनके आश्रमपर ससैन्य विश्वामित्र उपस्थित हुए। कामधेनुके प्रतापसे इन्होंने सारी सेनाको यथेष्ट भोजन कराया। कामधेनुकी ऐसी अद्भुत शक्ति देखकर वसिष्ठसे विश्वामित्र कामधेनु माँग बैठे। वसिष्ठके अस्वीकार करनेपर बात बढ़ गयी और युद्ध छिड़ गया। ब्रह्मदण्डके द्वारा वसिष्ठने ससैन्य विश्वामित्रको परास्त कर दिया। फलतः विश्वामित्र इनके परम शत्रु हो रहे।

वसिष्ठने कर्दम-पुत्री अरुन्धतीसे विवाह किया, जिससे शक्ति आदि अनेक पुत्र हुए। एक बार कारण-विशेषसे सूर्यवंशी राजा कल्माषपादको शक्तिने राक्षस बना दिया। विश्वामित्रके कौशलसे यह राक्षस शक्ति आदि सारे भाइयोंको खा गया। परंतु शक्तिकी पत्नी अदृश्यन्तीको गर्भ था, जिससे पराशरकी उत्पत्ति हुई।

ऋग्वेदमें ऐसा क्रमबद्ध विवरण तो नहीं है; परंतु ऋग्वेदभरमें वसिष्ठके सम्बन्धमें जितना स्पष्ट विवरण पाया जाता है, उतना किसी भी ऋषिके सम्बन्धमें नहीं पाया जाता। वसिष्ठ अश्विद्वयके कृपा-पात्र थे (१।११२।९)। ये सप्तम मण्डलके मन्त्र-द्रष्टा थे। इनके आश्रममें अग्नि अखण्डरूपसे प्रज्वलित रहता था

(७।१।२)। ये अग्निदेवके विशिष्ट स्तोता थे (७।७।७)। ये हजार गायोंके अधिपति और विद्या तथा कर्ममें महान् थे (७।८।६)। वसिष्ठ-वंशधरोंके स्तोत्रोंसे अग्नि संवर्द्धित होते थे (७।१२।३)। वसिष्ठ और पराशरकी जानके ग्राहक अनेक राक्षस थे; किंतु इन्द्रकी उपासनाके कारण इनकी कोई हानि नहीं हो सकी (७।१८।२१)। अपनी रक्षाके लिये ही नहीं, प्रत्युत प्रजाके अभीष्टके लिये भी सोमाभिषवमें वसिष्ठ इन्द्रकी अर्चनीय स्तुति करते थे (७।२६।५)। 'श्वेतवर्ण और कर्मनिष्ठ वसिष्ठके पुत्र अपने सिरके दक्षिण भागमें चूड़ा धारण करते थे' (७।३३।१)। दूसरेका यज्ञ छोड़कर इन्द्र इनके यज्ञमें आते थे (वहीं द्वितीय मन्त्र)। 'इन्द्र-कृपासे वसिष्ठ-पुत्रोंने अनायास ही सिन्धु नदीको पार किया था। इसी प्रकार भेद (नास्तिक) नामके शत्रुका भी इन्होंने वध किया था। इन्होंके मन्त्र-बलसे 'दाशराज्ञयुद्ध' में इन्द्रने सुदास राजाकी रक्षा की थी' (तीसरा मन्त्र)। ये 'शक्करी ऋचाओंके द्वारा शक्तिशाली हुए थे' (चौथा मन्त्र)। 'वसिष्ठ-पुत्रोंने दस राजाओंके साथ संग्राममें सूर्यके समान इन्द्रको ऊपर उठाया था' (पाँचवाँ मन्त्र)। दाशराज्ञयुद्धमें तृत्सु-भरतगण सुदासकी ओर थे। वसिष्ठ ही इनके भी पुरोहित थे। वसिष्ठकी कृपासे ये अल्पसंख्यकसे बहुसंख्यक हो गये थे (छठा मन्त्र)। 'वसिष्ठपुत्रोंकी महिमा सूर्यकी ज्योतिके समान प्रकाशमान, समुद्रके समान गम्भीर और वायुके समान वेगशाली थी' (आठवाँ मन्त्र)।

वसिष्ठके पुत्रोंने योगबलसे समाधि-दशामें वसिष्ठके जन्म-रहस्यका ज्ञान प्राप्त किया था। उसीका विवरण इस ७।३३ वे सूक्तके अगले मन्त्रोंमें है। इस सूक्तके ऋषि वसिष्ठ-पुत्रगण ही हैं। वे दसवें मन्त्रमें कहते हैं—'वसिष्ठ! देह धारण करनेके लिये विद्युत्के समान अपनी ज्योतिका त्याग करते हुए तुम्हें मित्र और वरुणने देखा था। उस समय तुम्हारा एक जन्म हुआ'। 'वसिष्ठ! तुम मित्र और वरुणके पुत्र हो। ब्रह्मन्! तुम उर्वशीके मनसे उत्पन्न हुए हो' (ग्यारहवाँ मन्त्र)। 'सर्वनियन्ता (यमराज)-द्वारा विस्तीर्ण वस्त्र (संसार-प्रवाह)-को बुननेकी इच्छासे तुम उर्वशीके पुत्र हुए थे' (बारहवाँ मन्त्र)। 'यज्ञमें दीक्षित मित्र और वरुणने स्तुतिद्वारा प्रार्थित होकर कुम्भ (वसतीवर कलश)-में एक साथ ही शक्ति प्रदान किया था। उसी कुम्भसे वसिष्ठ और अगस्त्य उत्पन्न हुए थे (तेरहवाँ मन्त्र)। 'तृत्सुओ! तुम्हारे पास वसिष्ठ आ रहे हैं। प्रसन्नचित्त होकर तुम इनकी पूजा करो। अग्रवर्ती होकर वसिष्ठ उक्थ (ऋक्) और सोमके धारणकर्ता तो हैं ही, प्रस्तरसे अभिषव करनेवाले अध्वर्युको भी धारण करते और कर्तव्यका भी उपदेश देते हैं' (चौदहवाँ मन्त्र)।

संस्कृतके इतिहास-पुराणोंकी कथाओंसे उक्त वर्णनका पूरा साम्य न होते हुए भी बहुत कुछ समता तो है ही। जैसा कि पहले कहा गया है, ऋग्वेदमें ऋषियों, उनके वंशों और गोत्रोंका अतीव संक्षिप्त विवरण है, जिसका विस्तार संस्कृत-साहित्यमें किया गया है। हाँ, जहाँ-तहाँ विपर्यास भी देखा जाता है।

वसिष्ठके सम्बन्धकी कुछ और विवृति भी देखिये। 'मित्र और वरुण, ये याज्ञिक, प्रसिद्ध ब्राह्मण और चिरश्रोता वसिष्ठ तुम दोनोंके लिये मननीय स्तुति करते हैं। तुम लोग बहुत दिनोंसे वसिष्ठके कर्मकी पूर्ति करते रहे हो' (७।६१।२)। 'अश्विद्वय, वसिष्ठ उषाके पहले जागकर सूक्तोंद्वारा तुम्हारी स्तुति करते हैं' (७।६८।९)। 'उषा! ब्राह्ममुहूर्तमें ही उठकर वसिष्ठगण तुम्हारी स्तुति करते हैं' (७।७६।६) इन मन्त्रोंसे यह भी ज्ञात होता है कि ब्राह्ममुहूर्त ही यज्ञ, ध्यान और उपासनाके लिये उपयुक्त है।

एक बार वरुण और वसिष्ठ नौकापर समुद्र-पर्यटनके लिये गये थे। वहाँ जल-तरङ्गोंके थपेड़ोंसे नौका हिलती-डोलती थी। तब उन्हें झूलेकी क्रीड़ाका सुख मिला था। वह दिन भी बड़ा सुहावना था (७।८८।३-४)। वरुणके औरस पुत्र होते हुए भी वसिष्ठने कदाचित् कभी वरुणकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया था; किंतु पीछे वरुण प्रसन्न हो गये थे (वहींका छठा मन्त्र)। सरस्वतीसे कहा गया है—सुधना सरस्वती! तुम्हारे लिये वसिष्ठ यज्ञका द्वार खोलते हैं (७।९५।६) तो क्या सरस्वतीके प्रथम उपासक वसिष्ठ ही थे?

वसिष्ठ और विश्वामित्रके मनोमालिन्यके स्पष्ट उदाहरण भी मन्त्रोंमें मिलते हैं।

वसिष्ठके समान ही उनके वंशज भी महान् याज्ञिक थे। कहा गया है—'वसिष्ठके समान ही उनके वंशजोंने स्तुति की। उन्होंने मङ्गलके लिये वसिष्ठके समान देवपूजा की (१०।६६।१४)।

सप्तम मण्डलके १ से ३२ सूक्तों, ३३ के १ से ९ मन्त्रों और ३४ से १०४ सूक्तोंके मन्त्रद्रष्टा वसिष्ठ हैं। ३३वें सूक्तके १० से १४ मन्त्रोंके ऋषि वसिष्ठ-पुत्रगण हैं और किसी-किसीके मतसे १०१ सूक्तके ऋषि अग्निपुत्र कुमार हैं। ९ वें मण्डलके ९० सूक्तके ऋषि भी वसिष्ठ हैं। इसी मण्डलके ९७ सूक्तके ऋषि वसिष्ठ, उनके पौत्र पराशर और उनके गोत्रज नाना ऋषि हैं।

वसिष्ठ, पराशर आदिके शत्रु अनेक असुर थे (७।१८।२१)। शक्ति-पुत्र पराशर प्रथम मण्डलके ६५ से ७३ सूक्तोंके ऋषि हैं। ९।१०८ के शक्ति आदि कई ऋषि हैं। ९।९७ के १६ से १८ मन्त्रोंके वसिष्ठ-गोत्रज व्याघ्रपाद, १३ से १५ के उपमन्यु, ७ से ९ के वृषगण, २२ से २४ के कर्णश्रुत, २५ से २७ के मृळीक, २८ से ३० के वसुक्र और १० से १२ के मन्यु ऋषि हैं। वृषगण वाद्यके साथ यज्ञमण्डपमें मन्त्र गाते थे (७।९७।८)। दशम मण्डलके ८३ से ८४ सूक्तोंके ऋषि भी ये ही तपःपुत्र मन्यु हैं। वसिष्ठ-गोत्रीय प्रथ १०।१८१ के प्रथम मन्त्रके ऋषि हैं और ८।७६ के कुछ मन्त्रोंके ऋषि वसिष्ठ-पुत्र द्युम्नीक हैं। १०।१२२ के ऋषि वसिष्ठ-पुत्र चित्रमहा हैं।

यह बात ध्यान देनेकी है कि वंशधरोंके अतिरिक्त शिष्य-प्रशिष्य भी अपने गुरु या आचार्यके गोत्रसे ही अभिहित होते थे। सभी गोत्रज वंशधर नहीं थे।

विश्वामित्र चन्द्रवंशी राजा गाधिके पुत्र थे। इनके पास अतुल ऐश्वर्य और अपार सैन्य-बल था। कामधेनुके लिये वसिष्ठके साथ जो इनका संग्राम हुआ था, उसमें ये ससैन्य पराजित हो गये थे—यह लिखा जा चुका है। इसके अनन्तर इन्होंने महादेवको प्रसन्नकर धनुर्वेद या युद्ध-विद्याको हस्तगत किया। पुनः आक्रमण करके इन्होंने वसिष्ठका तपोवन ध्वस्त-विध्वस्त कर डाला। वसिष्ठने इन्हें ब्रह्मदण्डसे पुनः परास्त कर दिया। इन्होंने ही त्रिशङ्कु राजाको नक्षत्रपुञ्जमें स्थापित करनेमें साहाय्य किया।

जिन दिनों विश्वामित्र पुष्कर क्षेत्रमें तपोनिरत थे, उन दिनों मेनका नामकी अप्सराने विघ्न डाला। फलस्वरूप शकुन्तलाका जन्म हुआ। कई बार विकट तप करनेपर ब्रह्माने इन्हें ब्राह्मणत्व प्रदान किया। अनन्तर इन्होंने वेदाध्ययन किया। इन्होंने परीक्षाके लिये राजा हरिश्चन्द्रका सारा राजैश्वर्य ले लिया। राजाकी महिषी शैव्या और पुत्र रोहिताश्व काशीमें एक ब्राह्मणकी नौकरी करने लगे और स्वयं विश्वामित्रको दक्षिणा देनेके लिये राजाने चाण्डालकी नौकरी कर ली। सर्पदंष्ट होनेपर जब रोहिताश्व मर गया, तब शैव्या उसे लेकर वहीं पहुँची, जहाँ हरिश्चन्द्र नियुक्त थे। राजा करुण विलाप करने लगे, तब विश्वामित्र पहुँचे, सारा राजैश्वर्य लौटा दिया और रोहिताश्वको भी जीवित कर दिया। राक्षसोंका उपद्रव जब इनके यज्ञमें होने लगा, तब ये राम और लक्ष्मणको अपने साथ ले गये और इन्हें मार्गमें ही बला और अतिबला नामके मन्त्र बताये। श्रीरामचन्द्रने ताड़काका वध करके विश्वामित्रका यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न कराया। यहाँसे विश्वामित्र इन्हें लेकर गौतम ऋषिके आश्रमपर गये और अहल्याका उद्धार किया। अनन्तर इन्होंने ही मिथिलामें रामचन्द्र आदि चारों भाइयोंका विवाह कराया। अन्तमें वसिष्ठसे इनकी मैत्री भी हो गयी थी।

ऋग्वेदमें ऐसी कथा तो नहीं है, परंतु वसिष्ठसे शत्रुतावाली बातोंकी झलक मिलती है। ये तृतीय मण्डलके मन्त्रद्रष्टा हैं। इनके यहाँ अखण्ड अग्नि-कुण्ड प्रज्वलित रहता था (३।१।२१)। ३।१८।४ में विश्वामित्रके वंशधरोंके लिये अग्निदेवसे अभय और आरोग्यकी माँग की गयी है। ३।२६।२-३ से ज्ञात होता है कि ये 'कुशिकगोत्रोत्पन्न—कौशिक' थे। ये कौशिक लोग महान् ज्ञानी थे—सारे संसारका रहस्य जानते थे (३।२९।१५)। ये स्वर्ग-सुखाभिलाषी भी बताये गये हैं (३।३०।२०)। ३।३३।५ और ९ में विश्वामित्र अपनेको कुशिकनन्दन बताकर

विपाशा (व्यास) और शुतुद्री (सतलज) नदियोंसे मार्ग माँग रहे हैं। ३।५३।७ में ये रुद्रके बलशाली पुत्र मरुतोंसे अश्वमेध-यज्ञमें अन्न-धनकी याचना कर रहे हैं। इसी ५३ वें सूक्तके ९ वें मन्त्रमें कहा गया है—'अतिशय सामर्थ्यशाली, अतीन्द्रियार्थद्रष्टा, देदीप्यमान तेजोंके जनयिता और अध्वर्यु आदिके उपदेष्टा विश्वामित्रने सिन्धुको शान्त किया।' इसी सूक्तके १० से १३ मन्त्रोंमें विश्वामित्रने अपने पुत्रोंके यज्ञमण्डपमें 'हंसके समान मन्त्र-पाठ करने' और अपने कर्मोंका वर्णन किया है। १० वें मन्त्रमें इन्होंने कुशिकगोत्रजोंको भी अतीन्द्रियद्रष्टा बताया है। ३।५३।२३-२४ मन्त्रोंमें विश्वामित्र कहते हैं—'वसिष्ठके भृत्यो! अवसान करनेवाले विश्वामित्रकी मन्त्र-शक्तिको तुम नहीं जानते। तपस्याका नाश न हो जाय, इसी लोभसे चुपचाप बैठे हुएको पशु जानकर ले जा रहे हो। वसिष्ठ मेरे साथ स्पर्द्धा करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि प्राज्ञ व्यक्ति मूर्ख व्यक्तिको उपहसनीय नहीं बनाते; अश्वके सम्मुख गर्दभ नहीं लाया जाता।' 'भरतवंशीय वसिष्ठके साथ पार्थक्य जानते हैं, एकता नहीं। शिष्टोंके साथ उनकी संगति नहीं है।' वसिष्ठ और भरतगणके साथ विश्वामित्रका वैमनस्य था, इसका आभास इन दोनों मन्त्रोंमें है।

मन्त्र-शक्तिकी बात भी ऊपर आयी है। जैमिनीय मीमांसाके मतसे 'जिस मन्त्रमें जिस देवताका वर्णन है, उस देवताकी समस्त शक्ति उस मन्त्रमें निहित रहती है। मन्त्रोंमें अनुस्यूत शक्तिको दिखानेके लिये ही दिव्य शक्तियोंका वर्णन किया गया है। वस्तुतः मन्त्रगत दिव्य और अतिदिव्य शक्तियोंका ही यह वर्णन है, तत्तद्देवोंकी शक्तिका नहीं। प्रत्येक मन्त्रमें अद्भुत शक्ति है। यह शक्ति अबतक देश-विदेश सर्वत्र देखी जाती है। बड़े-बड़े पाश्चात्त्य मनीषियोंने कुछ ही वर्ष पहले तिब्बतमें मन्त्रोंकी अलौकिक शक्ति देखकर बड़ी-बड़ी पोथियाँतक लिख डाली हैं। इस सम्बन्धमें उन लोगोंका स्पष्ट अनुभव है, जो वैदिक और तान्त्रिक मन्त्रोंके अनन्य अनुरागी और अदम्य अभ्यासी हैं।'

९।६७ के ऊपर 'गाथिन विश्वामित्र' का नाम आया है। १।१०।११ में 'कुशिक-पुत्र' का उल्लेख है। १०।१२७ में कुशिकके पिता सौभर ऋषि कहे गये हैं। ३।३१ में कुशिकके पिता इषीरथ कहे गये हैं। तब क्या कई कुशिक थे? ३।१ से १२ और २४ से ३२ सूक्तों, ३३ के ९ मन्त्रों, ३४ से ३५ सूक्तों, ३७ से ५३ सूक्तों तथा ५७ से ६१ सूक्तोंके द्रष्टा विश्वामित्र हैं। २६ वें और ३३ वें सूक्तोके साथ ४।६।८ और १० मन्त्रोंके वक्ता दूसरे हैं। ३६ वेंके घोर आङ्गिरस ऋषि हैं। ६२ वें सूक्तके ऋषि भी विश्वामित्र हैं—मतान्तरमें अन्तिम तीन ऋचाओंके जमदग्नि हैं। मतान्तरके ही कारण ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिनके द्रष्टा कई विभिन्न ऋषि बताये गये हैं। १०।१६७ के ऋषि विश्वामित्र और मतान्तरमें जमदग्नि हैं। किसी-किसी पौराणिक मतसे जमदग्निके पिता भी कुशिक थे। कुशिक ऋषि ब्राह्मण थे।

विश्वामित्रके पुत्र मधुच्छन्दा ऋग्वेदके १।१ से १० सूक्तोंके ऋषि हैं। ११ वें सूक्तके ऋषि मधुच्छन्दाके पुत्र जेता हैं। ९।१ के वक्ता भी ये मधुच्छन्दा ही हैं। १०।१९० के इनके पुत्र अघमर्षण द्रष्टा हैं। ३।१३-१४ के ऋषि विश्वामित्र-पुत्र 'अपत्य' हैं। ३।५४ से ५६ के द्रष्टा विश्वामित्र-पुत्र प्रजापति हैं। ३।१५-१६ के कन-गोत्रीय उत्कील, ३।१७-१८ के ऋषि विश्वामित्रके अपत्य कत और ३।१९।२२ के कुशिकके अपत्य गाथी हैं। ९।७० के ऋषि विश्वामित्र-गोत्रीय रेणु और १०।८७ के विश्वामित्र-पुत्र रेणु कहे गये हैं। कदाचित् रेणु नामक दो ऋषि थे। रेणुने १७ वें मन्त्रमें अपनेको विश्वामित्रकी संतति बताया है। ९।७१ के ऋषि विश्वामित्र-गोत्रीय ऋषभ और ९।१०४ के विश्वामित्र-पुत्र अष्टक हैं। १०।१६० के द्रष्टा विश्वामित्र-पुत्र पूरण हैं।

सत्त्व, रज और तम नामके तीनों गुणोंसे जो परे अर्थात् गुणातीत है, उसका नाम अत्रि है। ये जीवन्मुक्त योगी थे। ये ब्रह्माके मानस पुत्र थे। दक्ष-पुत्री अनसूया इनकी सहधर्मिणी थीं। दत्त, सोम और दुर्वासा नामके इनके तीन पुत्र थे। वनवास-कालमें रामभद्रने इनका आतिथ्य स्वीकार किया था। अत्रिके नेत्रसे चन्द्रमाकी उत्पत्ति कही गयी है; चन्द्रमाका एक नाम ही है 'अत्रिनेत्रज'।

परंतु ऋग्वेद १०।१४३ में अत्रि संख्य-पुत्र कहे गये हैं। इस सूक्तके द्रष्टा ये ही हैं। पञ्चम मण्डलके द्रष्टा अत्रि हैं। एक बार असुरोंने अत्रिके ऊपर 'शतद्वार' नामका संहारक अस्त्र फेंका था (१।५१।३)। असुरोंके घरका नाम भी 'शतद्वार' था, जिसमें अंगारे धधकते रहते थे। इस घरमें उन्होंने अत्रिको झोंक दिया था। अश्विद्वयने इनकी रक्षा की थी (१।११२।७)। इनके प्रधान रक्षक ये अश्विद्वय ही थे (१।१८०।४)।५।७।१० में इस ऋषिका कथन है—'जो अग्निको हव्यदान नहीं करता, उस दस्युको अत्रि ऋषि पुनः-पुनः अभिभूत करें और विरोधियोंको भी पुनः-पुनः अभिभूत करें।' स्पष्ट है कि ऋषि लोग हवनके कट्टर पक्षपाती थे। दैवी शक्तिको जाग्रत् करने और अपना अर्पण करनेका श्रेष्ठ साधन हवन है। इस शब्दमें महती अभिव्यञ्जनाशक्ति भी है। यही कारण है कि नास्तिक भी बात-बातपर अपने 'प्राणोंकी आहुति' देते रहते हैं और छोटे-मोटे कार्योंकी समाप्तिपर 'यज्ञ सम्पन्न' करते रहते हैं। उच्चतम भावोंको व्यक्त करनेके लिये 'होम' और 'यज्ञ' शब्दोंसे बढ़कर संस्कृतमें वस्तुतः कोई शब्द नहीं है। ये दोनों धर्मके क्रियात्मक रूप हैं और किसी भी धर्मका प्राण उसका क्रियात्मक रूप ही है।

५।३८।५ की उक्ति है कि 'अत्रि-पुत्र इन्द्रके पास ही स्तोत्रोंको उच्च स्वरसे पढ़ते और इन्द्रको उद्दीप्त करते हैं।' प्रसिद्ध राजा और राजर्षि कक्षीवान्के होता भी अत्रि थे (५।४१।५)। ये 'सर्वदा पाठ करते रहते थे' (५।७४।१)। ६।५०।१० में भी अश्विद्वयके द्वारा अत्रि ऋषिको अन्धकारसे छुड़ानेकी बात है। यही बात ७।७१।५ में भी है। अत्रिके ऊपर इन्द्र प्रसन्न रहते हैं, यह बात अन्य ऋषियोंको भी विदित थी (८।३६।७ और ३७।७)। अग्निमें फेंके हुए अत्रिके लिये अश्विद्वयने अग्निदहनका निवारण हिम-जलसे किया था (८।६२।३)। असुरोंने 'सात बन्धनोंमें बाँधकर जलते अग्निकुण्डमें अत्रिको फेंका था (१०।३९।९)। एक स्थानपर यह भी कहा गया है कि 'प्रबल पराक्रमी शत्रुओंने अत्रिको घोड़ेके समान बाँध रखा था' (१०।१४३।२)। 'यज्ञ करके अत्रि ऋषि वृद्ध हो गये थे। उन्हें अश्विद्वयने नवयौवन प्रदान किया था' (१०।१४३।१)।

पञ्चम मण्डलके ३७ से ४०, ४३, ८५ और ८६ सूक्तोंके द्रष्टा अत्रि हैं। ५।१ के ऋषि अत्रिवंशीय बुध और गविष्ठिर हैं। १०।१०१ सूक्तके वक्ता भी बुध हैं। वहाँ वे सोम-पुत्र कहे गये हैं। युद्धके समय अग्निने गविष्ठिरकी रक्षा की थी। (१०।१५०।५)।५।२ के ऋषि अत्रिपुत्र कुमार या जरपुत्र वृश हैं। अत्रि-गोत्रोत्पन्न वृश निन्दकोंके शत्रु थे (५।२।६)।५।२४ में चार मन्त्र हैं और चारोंके ऋषि क्रमशः बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु और विप्रबन्धु हैं। १०।५७ से ६० सूक्तोंके ऋषि भी ये ही हैं। १०।५९।८ में सुबन्धुके माता-पिता द्यावा-पृथिवी कहे गये हैं। ५।११—१४ के ऋषि सुतम्भर हैं। ये अवत्सार ऋषिके यज्ञमें फलोंके पालक थे (५।४४।१३)।५।४१।११ में अत्रिके अपत्य भौम ऋषि पर्वतका भी सम्मान कर रहे हैं। ये ५।४१-४२,७६-७७ और ८३-८४ सूक्तोंके द्रष्टा हैं। ५।३३।१ से ज्ञात होता है कि संवरण ऋषि दुर्बल थे और बलशाली बननेके लिये इन्द्रकी स्तुति करते थे। इसी ३३ वें सूक्तके दसवें मन्त्रमें कहा गया है कि लक्ष्मणके पुत्र ध्वन्यने संवरणको प्रचुर धन प्रदान किया था। ५।३३-३४ के ऋषि ये ही हैं। अत्रिके अपत्य अवस्यु उद्भट विद्वान् थे और दानमें उन्हें वायुवेगशाली अश्व मिले थे (५।३१।१०)। ये अश्विद्वयके उपासक थे और रथालंकरण-कलाके ज्ञाता थे (५।७५।१)।५।३१ और ७५ सूक्तोंके द्रष्टा ये ही हैं। अत्रिके अपत्य वसूयु ऋषि ५।२५-२६ सूक्तोंके वक्ता हैं। ये अग्निके उपासक थे। इनके भी बहुत शत्रु थे (५।२५।१ और ९)। सप्तवध्रि ऋषि मायाकी पेटिका (बाक्स)-में बंद थे। अश्विद्वयने उसे विभक्त करके उन्हें निकाला था (५।७८।५-६)। ये ही आत्रेय सप्तवध्रि ५।७८ और ८।६२ के ऋषि हैं। इसी ७८के १८वें मन्त्रमें कहा गया है कि 'ये काली पेटिकामें बंद थे, जिसे पीछे इन्द्रोंने जला डाला।' आत्रेय एवयामरुत् विष्णु और मरुतोंके विशिष्ट स्तोता थे। ५।८७ के ऋषि ये ही हैं। ५।३०

के द्रष्टा वभ्रु हैं। ये इन्द्रके स्तोता थे। 'रुशम देशके राजा ऋणंचयके किंकर देशवासियोंने अलंकार और आच्छादनसे सुसज्ज गृह, चार हजार गायें और हिरण्मय कलश इन्हें दिया था' (५।३०।१२—१५)। आत्रेय द्युम्न ५।२३ के ऋषि हैं। ये अग्निदेवसे इसी सूक्तके १-२ मन्त्रमें 'शत्रु-विजेता' और शत्रु-सेना-पराभवकारी पुत्र माँग रहे हैं। अत्रिके अपत्य विश्वसामा ऋषि अग्निको वर्द्धित और स्तोत्रद्वारा अलंकृत करते थे। (५।२२।४)। ये ५।२२ के द्रष्टा हैं। अत्रि-पुत्र द्वित ऋषि विशुद्ध हव्य-वाहक थे (५।१८।२)। इस १८ वें सूक्तके ये ही वक्ता हैं। आत्रेय वव्रि ५।१९ के ऋषि हैं। अत्रिके गोत्रज गय ऋषि अग्नि-जागरण करनेमें दक्ष थे (५।१०।४)। इनके पिता प्लुति थे। गयका कहना है—'देवोंकी प्रसन्नतासे मनुष्य प्रभुत्व पाया करते हैं (१०।६३।१७)। १०।६४।१७ में भी यही बात है। ये ५।९-१० और १०।६३-६४ के द्रष्टा हैं। अत्रिके अपत्य श्यावाश्व ऋषि मरुतोंके स्तोता थे तथा अश्विद्वयके भी उपासक थे। राजा तरत्की स्त्री शशीयसीने इन्हें 'शतमेषात्मक पशु-यूथ प्रदान किया था।' ये अपना अनुभव बताते हैं—जो पुरुष देवोंकी आराधना और धन-दान नहीं करता, उसकी अपेक्षा शशीयसी सर्वांशतः श्रेष्ठ है (५।६१।५-६)। ये ५।५२—६१ तथा ८१-८२ सूक्तोंके द्रष्टा हैं। ९।३२ के ऋषि भी ये ही हैं। इनके पुत्र अन्धीगु ९।१०१ के तीन मन्त्रोंके ऋषि हैं। एक कण्वगोत्रीय श्यावाश्व भी थे, जो ८।३५—३८ के द्रष्टा हैं। पञ्चम मण्डलके ३—६ सूक्तोंके वसुश्रुत, ७-८ के इष, ३२ के गातु, ६९-७० के उरुचक्रि, ६६—६८ के यजत, ७३-७४ के पौर, १७-१८ के पुरु, २१ के सस, ४६ के 'सर्वज्ञ' प्रतिक्षत्र, ४७ के प्रतिरथ, ६५ के रातहव्य, ७१-७२ के बाहुवृक्त, ६२ के श्रुतविद्, ४५ के सदापृण, ७९-८० के सत्यश्रवा, २० के प्रयस्वत्, ६३-६४ के अर्चनाना, ४८ के प्रतिभानु, ४९ के प्रतिप्रभ, ५०-५१ के स्वस्ति और १५ के धरुण ऋषि हैं।

सम्पूर्ण ऋग्वेदमें अङ्गिरा और उनके वंशधरों और शिष्य-प्रशिष्योंका जितना उल्लेख है, उतना किसी भी ऋषिके सम्बन्धमें नहीं है। प्रसिद्धि है कि अङ्गिरा ब्रह्माके मानस पुत्र थे। इनकी स्त्रीका नाम श्रद्धा या किसी मतसे स्मृति था। इनके दो पुत्र थे—बृहस्पति और उतथ्य।

अङ्गिराके वंशीय और गोत्रीय किसी-किसी मतसे नवम मण्डलके मन्त्र-द्रष्टा हैं। अङ्गिरोवंशीयोंके स्तोत्र द्वार-स्थित स्तम्भके समान अचल बताये गये हैं (१।५१।१४)। अङ्गिरा लोगोंने पणियों (अनार्यों)-के द्वारा अपहृत गौओंका उद्धार किया था। इन गायोंको खोजनेमें सरमा नामकी कुतिया इनके साथ थी। ये दस-दस महीने लगातार यज्ञ करते थे (१।६२।२—४)। इन्होंने मन्त्रद्वारा गो-हर्ता पण्योंका विनाश किया था (१।७१।१)। इन्होंने 'अग्नि प्रज्वलित करके सुन्दर योगके द्वारा इन्द्रकी पूजा की थी' (१।८३।४)। अङ्गिराके पुत्र कुत्स १।१०१ से ११५ सूक्तोंके द्रष्टा हैं और पणियोंके द्वारा अपहृत गौओंकी कथा इन्होंने भी कही है (१।१०१।५ आदि)। राक्षसोंने इन्हें भी कूपमें डाल दिया था। इन्द्रने इनका उद्धार किया था (१।१०६।६)। दिवोदासके पुत्र परुच्छेदका मत है कि दधीचि, अङ्गिरा, प्रियमेध (अङ्गिराके पुत्र), कण्व, अत्रि और मनु प्राचीन ऋषि हैं (१।३९।९)। अर्बुद राक्षसके वधके समय इन्द्रने अङ्गिरा लोगोंकी सहायता ली थी (२।११।२०)। आङ्गिरस लोग 'नयी स्तुति' करनेमें निपुण थे (२।१७।१)। यज्ञ-स्थानसे चुरायी हुई अङ्गिरा लोगोंकी गायोंका पता इन्द्रसे ज्ञात हुआ (२।२१।५)। वे पर्वतोंमें छिपायी गयी थीं (२।२३।१८)। वहीं पणियोंका दुर्ग था। 'सत्यवादी' और 'सर्वज्ञाता' अङ्गिरा लोगोंने पणियोंकी माया जानकर वहीं अग्निको फेंका था (२।२४।७)। सात मेधावी अङ्गिरा लोग पर्वतपर इन्द्रके साथ गये थे। पहले सरमा पर्वतके टूटे हुए द्वारपर पहुँची थी और शब्द पहचानकर गायोंके पास पहुँच गयी थी। इन्द्रकी सहायतासे गौओंका उद्धार होनेके कारण इन्होंने इन्द्रकी पूजा की (३।३१।५—७)। आङ्गिरसोंके साथ इन्द्रने 'परकीय सेनाको परास्त

किया था' (३।३४।४)। सूर्यवंशी राजा सुदासके याजक अङ्गिरा थे (३।५३।७)। अङ्गिरा लोग कर्मोंके नेता और अग्निकी कामनावाले थे और उन्होंने ही पहले-पहल वाग्माताके स्तुति-साधक वचनोंको जाना और पश्चात् वचन-सम्बन्धी २७ छन्दोंको प्राप्त किया (४।१।१५-१६)। ये 'प्रथम मेधावी, अग्नि-ज्वालाओंके जनक और आदित्य-पुत्र' भी बताये गये हैं (४।२।१५)। ये पुनः 'नौ और दस महीनोंमें यज्ञ समाप्त करनेवाले' कहे गये हैं (५।२९।१२)। पर्वतके बीच गुप्तरूपसे रखी गयी गायोंका उद्धार तो इन्द्रके साथ अङ्गिरा लोगोंने किया और पणियोंको पराभूत किया, इसका उल्लेख बहुत मन्त्रोंमें है (६।३९।२; ८।१४।८; ६।६५।५; ७।१०।४ आदि)। अङ्गिरा लोग 'सत्यसंध, कवि और प्राचीन समयके पालक तथा गूढ़ तेजस्वितासे सम्पन्न थे' (७।७७।४)। अङ्गिरा अथर्वा और भृगु प्राचीन पितृगण कहे गये हैं (१०।१४।६)। 'दस अङ्गिराओंकी उत्पत्ति प्रजापतिसे हुई थी' (१०।२७।१५)। इनमें एक कपिल थे (वहींका १६)। अङ्गिरा लोगोंने यज्ञके प्रतापसे इहलोक और परलोक—दोनोंमें संवर्द्धन प्राप्त किया था (१०।६१।१०)। वे अमरत्व भी पा चुके थे। उन्होंने यज्ञ करके बलासुरका विनाश किया था। उन्होंने 'सत्यरूप यज्ञ' करके पृथिवीको प्रसिद्ध किया। ये ब्रह्मतेज भी प्राप्त कर चुके थे। ये गम्भीर कर्मठ थे। नौ और दस मास यज्ञ करनेमें तो ये प्रख्यात थे ही। इनके काम लंबे-लंबे थे (१०।६२।१—७)। अङ्गिरा लोगोंने सात छन्दोंवाले विशाल स्तोत्रका आविष्कार किया था, जिसका मूल सत्य था। ये 'सत्यवादी' थे, इनके मनका भाव सरल था, ये स्वर्गके पुत्र थे, महाबली थे और बुद्धिमानोंके समान आचरण करते थे (१०।६७।१-२)। ये सामगाता भी थे (१०।७८।५)।

पणियोंके यहाँसे गायोंके उद्धारके लिये जो सरमा कुक्कुरी पर्वतपर गयी थी, वह नदी लाँघकर गयी थी। यह इन्द्रकी दूती थी। इसने इन्द्र, अङ्गिरा और देव-गुरु बृहस्पतिकी तेजस्विता, अजेयता और प्रतापशालिताकी बातें करके और पणियोंको भयभीत करके गौओंके उद्धारमें सहायता दी थी। यह पूरी कथा १०।१०८ में है। बात यह है कि गोदुग्धके बिना ऋषियोंका न तो सोमरस तैयार हो सकता था और न गो-घृतके बिना यज्ञ हो सकता था। इसीलिये ऋषि लोग गायोंके अनन्य अनुरागी, सेवक और भक्त थे तथा उनकी रक्षाके लिये प्राणतक देनेको तैयार रहते थे। यह वैदिक संस्कार अबतक हममें विद्यमान है। यही क्यों, अधिकांश वैदिक संस्कार हमारे अंदर अभीतक वर्तमान हैं। वस्तुतस्तु वैदिक शब्दोंके आधारपर ही सारे संसारके प्राणियोंके नाम, कर्म और व्यवस्थापन निर्मित और निश्चित किये गये। मनुजीका भी ऐसा ही अभिमत है (मनुस्मृति १।२१)।

अङ्गिराके पुत्र हिरण्यस्तूप १।३१ से ३५। ९।४ और ९।६९ सूक्तोंके द्रष्टा हैं। इनके पुत्र अर्चत् १०।१४९ के ऋषि हैं। आङ्गिरस सप्तगु 'सत्यकर्मा, शोभन-प्रज्ञ और मन्त्र-स्वामी' तथा १०।४७ के द्रष्टा थे। नृमेध और पुरुमेध अङ्गिराके वंशज थे। ये ८।७८-७९ के ऋषि हैं। नृमेध ८।८७-८८ के भी द्रष्टा हैं। ९।२७ और २९ सूक्तोंके द्रष्टा भी ये ही हैं। इनके पुत्र शकपूत १०।१३२ के ऋषि स्मर्ता हैं। प्रियमेध प्रौढ़ 'प्रौढ़कर्मा' थे (१।४५।४)। प्रियमेध जातिस्मर भी थे (१।१३९।९)। प्रियमेध और इनके वंशज इन्द्रके उपासक थे (८।३।१६)। ये अत्यन्त प्रतिष्ठित ऋषि थे (८।४।२०)। इनके सहायक अश्विद्वय थे (८।८।१८)। आङ्गिरस प्रियमेध ८।२ के कुछ मन्त्रों, ८।५७-५८ सूक्तों, ८।७६ के कई मन्त्रों तथा ९।२८ सूक्तके ऋषि हैं। कण्वगोत्रोत्पन्न प्रियमेध ८।३३ के द्रष्टा हैं। प्रियमेधके पुत्र सिन्धुक्षित् १०।७५ के ऋषि हैं। अङ्गिराके पुत्र सव्य १।५१—५७ के, आङ्गिरस प्रभुवसु ५।३५-३६ और ९।३५-३६ के, अङ्गिराके पुत्र वीतहव्य ५।१५ के, अङ्गिराके पुत्र विरूप ८।४३-४४ और ६४ के, आङ्गिरस तिरश्ची ८।८४ के, आङ्गिरस बिन्दु ९।३० के, आङ्गिरस बृहन्मति ९।३९—४४ के, आङ्गिरस अमहीयु ९।६१ के, आङ्गिरस हरिमन्त या पवित्र ९।७२ और ९।८३ के, आङ्गिरस कण्व ९।९४ के, आङ्गिरस शिशु

९।११२ के, आङ्गिरस अभीवर्त १०।१७४ के, आङ्गिरस ध्रुव १०।११३ के, आङ्गिरस संवर्त्त १०।१७२ के, आङ्गिरस प्रचेता १०।१६४ के, आङ्गिर विहव्य १०।१२८ के, आङ्गिरस भिक्षु १०।११७ के, आङ्गिरस दिव्य १०।१०७ के, आङ्गिरस वरु १०।९६ के, आङ्गिरस सप्तगु १०।४७ के, और अङ्गिराके पुत्र हविर्धान १०।११-१२ सूक्तोंके द्रष्टा हैं। मरुत्पुत्र तिरश्ची वा द्युतान ८।८५ के ऋषि हैं।

३।३६ की १० वीं ऋचाके द्रष्टा घोर आङ्गिरस हैं। आङ्गिरस कृष्ण ८।७४ (एक मतसे ८।७६)-के और १०।४१ तथा ४४ के ऋषि हैं। यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है। छान्दोग्योपनिषद्के तृतीय प्रपाठकमें कहा गया है कि 'घोर आङ्गिरससे धर्मोपदेश सुनकर देवकीनन्दन श्रीकृष्ण भूख-प्यास भूल गये थे'। तो क्या वे ही घोर और वे ही वंशीधर कृष्ण इन सूक्तों और मन्त्रोंके द्रष्टा हैं? जब श्रीकृष्णचन्द्रके समकालीन अनेक ऋषियों और राजाओंको मन्त्रद्रष्टा कहा गया है, तब क्यों नहीं वनमाली कृष्णको भी मन्त्रद्रष्टा माना जाय? यह मननीय विषय है। ८। ७४।३-४ में कृष्ण ऋषिको 'स्तोत्र-परायण' और 'मेधावी स्तोता' कहा गया है। क्षत्रिय राजर्षि भी अनेक सूक्तोंके द्रष्टा हैं ही।

कृष्णके पुत्र विश्वकाय ऋषि सरल स्वभावके थे (१।११६।२३)। इनके पुत्र विष्णाप्व नष्टप्राय थे, जिनकी रक्षा अश्विद्वयने की थी (१।११७।७)। कृष्णके पुत्र विश्वक ८।७५ के ऋषि हैं। अश्विद्वयकी उपासनासे इन्हें विष्णाप्व पुत्र रूपमें प्राप्त हुए थे, जो इन्हींकी सहायतासे धनाढ्य हो गये थे (८।७५।३)। विश्वकाय और विश्वक एक ही पुरुषके दो नाम हैं।

मनु ब्रह्माके मानस पुत्र थे। इनकी संख्या चौदह है—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, धर्मसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि। प्रतिकल्पमें ये चौदह मनु होते हैं। इस समय वैवस्वत मनुका अधिकार है। परंतु ऋग्वेदमें ये बातें नहीं हैं। मनुके सम्बन्धमें ऋग्वेदमें जो कुछ लिखा है, वह आगेकी पङ्क्तियोंमें द्रष्टव्य है—

मानवोंके पिता मनु थे (१०।६०।३)। ये कहीं राजा, कहीं राजर्षि और कहीं प्रजापति कहे गये हैं। वैवस्वत मनु और सावर्णि मनुका भी उल्लेख है। मनुने अग्निदेवसे स्वर्गकी कथा सुनी थी (१।३१।४)। इसी ३१ सूक्तके ४ में पुरूरवा राजा और ११ वें पुरूरवाके पौत्र नहुषका उल्लेख है। १७ वेंमें मनुके साथ ही ययातिका भी नाम आया है। १।४५।१ में तो देवोंको भी 'मनु-पुत्र' बताया गया है। १।४६।१३ में मनु 'सेवक यजमान' कहे गये हैं। १।८०।१६ में मनु समस्त प्रजाके 'पितृ-भूत' बताये गये हैं। १।९६।२ का कथन है—'मनुके प्राचीन और स्तुति-गर्भ मन्त्रसे संतुष्ट होकर अग्निदेवने मानवीय सृष्टि की थी।' अश्विद्वयने मनुको प्रथम गमनमार्ग दिखाया था और अन्न देकर उनकी रक्षा की थी (१।११२।१६ और १८)। मनुके लिये गायें 'सर्वार्थ-माता' थीं (१।१३०।५)। मनु प्रख्यात याज्ञिक थे (३।३२।५)। मनु 'स्वर्ग-प्रदर्शक' थे (६।१५।४)।७।३५।१५ में मनु 'यजनीय प्रजापति' कहे गये हैं। ८।१९।२४ में मनु 'अग्नि-स्थापक' बताये गये हैं। ८।२७।७ में 'मनु-वंशधरोंकी यज्ञ-परायणता' का कथन है। वहीं २१ वें मन्त्रमें मनुऋषि 'हव्यदाता' और 'प्रकृष्टज्ञानी' कहे गये हैं। बालखिल्य सूक्त ४।१ में विवस्वान् मनुका उल्लेख है। ९।९२।५में मनु 'राजर्षि' बताये गये हैं। मनु 'अश्वमेध-यज्ञ-कर्ता' थे (१०।६१।२१)।१०।६२।८-९ में सौ अश्वों और हजार गायोंके दाता सावर्णि मनु कहे गये हैं। इसी ९ वें मन्त्रमें लिखा है—'मनुके समान कोई भी दान देनेमें समर्थ नहीं है। सावर्णि मनुका दान नदीके समान सर्वत्र विस्तृत है।' १०।६३।१ में विवस्वान्के पुत्र मनुका उल्लेख है। मनुके यज्ञमें इला, भारती और सरस्वती उपस्थित थीं (१०।७०।८)।८।२७-२८ और ३०-३१ सूक्तोंके द्रष्टा वैवस्वत मनु हैं। ९।१०६ (७—९ मन्त्रों)-के अप्सु-पुत्र मनु ऋषि हैं और १०।१३ के विवस्वान् मनु हैं।

मनुके पुत्र नाभानेदिष्ट थे। ये १०।६१-६२ के मन्त्र-द्रष्टा हैं। इन्होंने १०।६१।१८ में अपनेको सूर्यका बन्धु बताया है। इन्होंने अपनेको 'अश्वमेध-यज्ञ-कर्ता मनुका पुत्र' और 'सर्वज्ञ' कहा है।

अगस्त्य महान् तेजस्वी और महान् तपस्वी ऋषि थे। समुद्रस्थ राक्षसोंके अत्याचारसे घबराकर देवता लोग इनकी सेवामें गये और अपना दुःख कह सुनाये। फल यह हुआ कि ये सारा समुद्र पी गये और राक्षसोंका समूल विनाश हो गया। इनकी स्त्री लोपामुद्रा ब्रह्मवादिनी थी। अगस्त्य द्रविड़ सभ्यताके प्रवर्तक माने जाते हैं। तमिळ भाषाका आदि व्याकरण इन्हींका माना जाता है। इनके नामपर संस्कृतके अनेक ग्रन्थ प्रचलित हैं। अगस्त्य नक्षत्र भी प्रसिद्ध है।

ऋग्वेद ७।३३।१३ से विदित होता है कि मित्र और वरुणके द्वारा कुम्भ अथवा वसतीवर कलशसे अगस्त्यका जन्म हुआ था। यही बात १।११७।११ में भी है। १।१७९ सूक्तमें अगस्त्य और लोपामुद्राका कथोपकथन है। अगस्त्य हजार स्तुतिवाले कहे गये हैं (१।१८०।८)। अगस्त्यके दौहित्र बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु, विप्रबन्धु आदि कहे गये हैं (१०।६०।६)। १।१६५—१९१ सूक्तोंके ऋषि ये ही माने जाते हैं।

अगस्त्यके पुत्र दृढच्युत ९।२५ के और दृढच्युतके पुत्र इध्मवाह ९।२६ के मन्त्र-द्रष्टा हैं।

भृगु ब्रह्माके मानस पुत्र थे। ये अन्यतम प्रजापति भी माने जाते हैं। दक्ष-पुत्री ख्यातिसे इनका विवाह हुआ था। इनकी कन्या लक्ष्मी हैं और धाता, विधाता नामके दो पुत्र हैं। ये भृगु भृगु-वंशके प्रवर्तक और धनुर्विद्याके कर्ता माने गये हैं। एक बार मुनियोंकी इच्छा यह जाननेकी हुई कि ब्रह्मा, विष्णु और शिवमें कौन श्रेष्ठ है। परीक्षक बनकर भृगु ब्रह्मा और शिवके पास गये तो परंतु मर्यादानुकूल प्रणाम नहीं किये, जिससे ये दोनों रुष्ट हो गये। बहुत अनुनय-विनयके पश्चात् इन्हें संतुष्ट कर अन्तमें भृगु विष्णुके पास गये। विष्णु सो रहे थे। भृगुने उनके वक्षःस्थलपर लात मारकर जगाया। परंतु विष्णु रुष्ट होनेके स्थानपर संकोच और शालीनताके साथ मुनिवरसे यह चिन्ता प्रकट करने लगे कि 'मेरे कठोर वक्षःस्थलपर लगनेसे कहीं पैरमें व्यथा तो नहीं हो गयी?' साथ ही भृगुकी चरण-सेवा भी करने लगे। विष्णुकी ऐसी विशालहृदयता और उच्चातिशयता देखकर भृगुने निश्चय किया कि देव-श्रेष्ठ और ब्राह्मणोंके पूज्य विष्णु ही हैं। विष्णुके हृदय-देशपर आजतक भृगु-पद-चिह्न विद्यमान है।

ऐसी पौराणिक कथा ऋग्वेदमें तो नहीं है; किंतु भृगु और भार्गवोंके सम्बन्धमें यथेष्ट उल्लेख है। भार्गव विख्यात याज्ञिक थे। ये भृगुओंके पास प्रथम मातरिश्वा अग्निदेवको ले आये थे (१।६०।१)। भार्गवोंने अग्निकी सेवा करके उन्हें जल, स्थल और वायुमें स्थापित किया था (२।४।२)। इनके अभिलाषा-दाता अग्निदेव थे (३।२।४)। भृगुओंने ही दावानलरूपमें अग्निको वनमें स्थापित किया था (४।७।१)। अपने आश्रमपर भी इन्होंने अग्निको स्थापित कर रखा था (६।१५।२)। इन्द्र अकर्मण्योंका धन लेकर भार्गवोंको देते थे (८।३।९)। ये इन्द्रके भी उपासक थे (८।३।१६)। अग्निदेवोंके उपासकोंमें भृगु और मनु कहे गये हैं (८।४३।३)। यज्ञ-विघ्नकारी मखका विनाश भी भृगुओंने किया था (९।१०१।१३)। प्रजापतिके शरीरसे नौ भृगुओंकी उत्पत्ति हुई थी (१०।२७।१५)। भार्गव रथका भी निर्माण करते थे (१०।३९।१४)। ये ऋषियोंमें भी 'पण्डित' बताये गये हैं (१०।४६।२)। इन्होंने स्तुतिके द्वारा अग्निको प्राप्त किया था (१०।४६।९)। प्रथम अथर्वाने यज्ञके द्वारा देवोंको संतुष्ट किया था। अनन्तर भृगुओंने यज्ञ-सम्पादन किया (१०।९२।१०)।

भार्गव वेन सोमाभिषवकर्ता थे (९।८५।१०)। ये ९।८५ और १०।१२३ के मन्त्र-द्रष्टा हैं। भार्गव वेन बड़े तेजस्वी ऋषि थे। उन्होंने इन्द्रपर भी कभी शङ्का की थी (८।८९।३)। इस ८९ वें सूक्तके ये ही वक्ता हैं। भार्गव इट १०।१७१ के, भृगुके अपत्य सोमाहुति २।४— ७ के और भार्गव स्यूमरश्मि १०।७७-७८ के ऋषि हैं। स्यूमरश्मिके शत्रुको अश्विद्वयने तीर मारा था

(१।११२।१६)। भार्गव और्व और आप्रवान् भी प्रसिद्ध अग्नि-सेवक थे (८।९१।४)। वेनके पुत्र पृथु प्रसिद्ध स्तोता थे (१०।१४८।५)। इस १४८ सूक्तके ये ही ऋषि हैं। इनके पुत्र तान्व १०।९३ के ऋषि हैं। इसी सूक्तके १४ वें मन्त्रमें बली राजा रामका नाम आया है। यदि ताड़काका वध करानेके लिये राम और लक्ष्मणको ले जानेवाले विश्वामित्र मन्त्रद्रष्टा विश्वामित्र हैं तो मन्त्र-लिखित राजा राम भी दाशरथि राम हैं। ऋग्वेदमें ऐसे अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों और राजा-राजर्षियोंका भी विवरण है, जिनका साक्षात्कार श्रीरामचन्द्रसे हुआ था।

कवि उशनाका बहुत उल्लेख पाया जाता है। उशना शुक्राचार्यका नाम है, परंतु ऋग्वेद (५।३१।८)-में ये भार्गव बताये गये हैं। ९।४७—४९ और ७५—७९ सूक्तोंके ऋषि भी भृगु-पुत्र कवि उशना हैं। ये इन्द्रके उपासक थे (१।५१।१०-११)। गायोंके उद्धारमें उशनाने इन्द्रकी सहायता की थी (१।८३।५)। वृत्र-वधके लिये उशनाने इन्द्रको वज्र दिया था (१।१२१।१२)। इन्द्रने उशनाकी रक्षा की थी (१।१३०।९)। भावावेशमें वामदेवने कहा है कि 'मैं ही उशना कवि हूँ' (४।२६।१)। इनके विशिष्ट उपकारक इन्द्र थे (६।२०।११)। मनुके गृहमें उशनाने ही अग्निको स्थापित किया था (८।२३।१७)। काव्य अथवा स्तोत्र करनेमें उशना प्रवीण थे (९।९७।७)। अश्विद्वयने उशनाको संकटसे बचाया था (१०।४०।७)। इन्द्रने उशनाके मङ्गलके लिये अत्कको मारा था (१०।४९।३)।८।७३ और ९।८७—८९ के द्रष्टा उशना हैं।

अङ्गिराके पुत्र एक कुत्स ऋषि १।९४—९८ और १।१०१—११५ सूक्तों तथा ९।९७ के ४५—५८ मन्त्रोंके वक्ता हैं। दूसरे अर्जुन-पुत्र कुत्स ऋषि थे (४।२६।१ और ८।१।११)। इनके सहायक इन्द्र थे (१।६३।४)। कुत्स एक बार कूएँमें गिर गये थे। इन्द्रने उनका उद्धार किया था (१।१०६।६)। इन्द्रको भी अर्जुन कहा गया है (१।११२।२३)। कुत्सके समस्त शत्रुओंका वध इन्द्रने कर डाला था (२।१४।७)। इन्द्र कुत्सके गृहमें तो जाते ही थे, दोनों एक साथ रथपर भी जाते थे (४।१६।९—१२)। कुत्ससे डरकर अपनी 'शत' संख्यक सेनाओंके साथ पणि असुर भाग गया था (६।२०।४)। कुत्सके शत्रु शुष्णका वध इन्द्रने किया था (६।३१।३ और ७।१९।२)। इन्द्रने कुत्स राजर्षिके लिये दो प्रकारसे शत्रुनाश किया था (८।२४-२५)। एक अन्य मन्त्र (२।१९।६)-में भी कुत्स राजर्षि कहे गये हैं। एक दूसरे स्थान (१०।२९।२)-पर भी इन्द्रके साथ कुत्सका रथपर गमन लिखा है। इन्द्रने प्रसन्न होकर कुत्सको वेतसु नामका देश दे दिया था (१०।४९।४)। पता नहीं वेतसु देश कहाँ था। उद्धरणोंसे ज्ञात होता है कि कुत्स नामके कई ऋषि और राजर्षि थे।

अथर्वा ऋषि ब्रह्माके ज्येष्ठ पुत्र थे। ब्रह्माने इनको ब्रह्मविद्या पढ़ायी थी, जिसे इन्होंने अन्य ऋषियोंको दिया था। यह भी कहा जाता है कि अथर्वाने ही अरणि-मन्थन करके सर्वप्रथम अग्निको उत्पन्न किया और सबसे पहले इन्होंने ही यज्ञ किया—कराया था। कर्दम-ऋषिकी पुत्री शान्तिसे इनका विवाह हुआ था, जिससे दधीचि-ऋषिका जन्म हुआ। दधीचिको दध्यङ् भी कहा गया है। ऋग्वेदमें ऐसी कोई कथा नहीं है। हाँ, दधीचिके पिता अथर्वा कहे गये हैं।

१।८०।१६ से विदित होता है कि अथर्वा, मनु और दधीचिने बहुत यज्ञ किये थे। यज्ञमें चुरायी गयी गायोंका मार्ग अथर्वाने ही बताया था (१।८३।५)। अथर्वाने अरणि-मन्थन करके अग्निको उत्पन्न किया और दधीचिने अग्निको समुज्ज्वलित किया (६।१६।१३-१४)। सत्यको असत्यसे दबानेवाले राक्षसोंको दध्यङ् अथर्वा मार डालते थे (१०।८७।१२)। एक मन्त्र (१०।९२।१०)-में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि अथर्वाने सबसे प्रथम यज्ञके द्वारा देवोंको संतुष्ट किया था। अथर्वाके पुत्र भिषक् १०।९७ के ऋषि हैं। अथर्वाके दूसरे पुत्र बृहद्दिव १०।१२० के ऋषि हैं। ये ऋषि 'श्रेष्ठ' और 'महाबुद्धि' कहे गये हैं (१०।१२०।८-९)।

अथर्वाके पुत्र दधीचि विख्यात शैव थे। इन्होंने अपने शिष्य नन्दीको शिव-मन्त्रसे दीक्षित किया था।

इन्होंने ही दक्षप्रजापतिको शिव-हीन यज्ञ करनेसे मना किया था। दक्षके न माननेपर ये यज्ञ-स्थलसे चले गये थे। वृत्रासुरके द्वारा स्वर्गसे खदेड़े जानेपर देवोंने जाना कि दधीचिकी हड्डीसे बने अस्त्रके द्वारा ही वृत्रका नाश होगा। फलतः इन्द्रने इनकी सेवामें पहुँचकर सारा अभिप्राय कह सुनाया। ये देवोपकारके लिये शरीरका दान 'अद्भुत संयोग' समझकर शान्तचित्त हो गये और योग-बलके द्वारा शरीरका त्याग कर दिया। इन्द्रने इनकी हड्डीसे वज्रास्त्र बनाकर उससे वृत्रका वधकर डाला। किंतु ऋग्वेदके उल्लेखसे इसमें थोड़ा भेद है।

१।८४।१३-१४ में कहा गया है कि 'इन्द्रने दधीचिकी हड्डियोंसे वृत्तादि असुरोंको नवतिर्नव (९९) बार मारा।' पर्वतमें छिपे हुए दधीचिके अश्व-मस्तकको पानेकी इच्छासे इन्द्रने उस मस्तकको शर्यणावत् सरोवर (कुरुक्षेत्रस्थ)-में प्राप्त किया। हो सकता है कि पहले इस सरोवरके पास पर्वत रहा हो, जहाँ दधीचिने शरीर छोड़ा हो। १।११६।१२ में कहा गया है—'अथर्वाके पुत्र दधीचि ऋषिने घोड़ेका मस्तक धारणकर अर्थात् सुदृढ़ मस्तिष्कसे अश्विद्वयको मधु-विद्या सिखायी थी। यही बात १।११७।२२ में भी है। यह विद्या इन्द्रसे दधीचिको मिली थी। यही विद्य 'प्रवर्ग विद्या-रहस्य' कहलायी। कक्षीवान् ऋषि कह रहे हैं—'अश्विद्वय! तुमने दधीचि ऋषिका मनोरथ पूर्ण किया था। उनके अश्व-मस्तकने तुम्हें मधुविद्या प्रदान की थी' (१।११९।९)। मनु अङ्गिरा आदिके साथ दधीचि 'पूर्वकालके ऋषि' कहे गये हैं (१।१३९।९)। इन्द्रके मना करनेपर भी दधीचिने अश्विद्वयको मधुविद्या सिखायी थी; इसलिये इन्द्रने दधीचिका सिर काट डाला अर्थात् दधीचिके मस्तिष्कसे वह विद्या निकल गयी।

च्यवन ऋषिके पिता भृगु थे और माता पुलोमा थीं। इनके गर्भस्थ रहते ही इनकी माताको एक राक्षस ले जाने लगा। घबराहटमें ये गर्भसे च्युत हो गये, इसलिये इनका नाम च्यवन पड़ गया। शिशुके प्रचण्ड तेजसे राक्षस जलकर भस्म हो गया। यथासमय ये तपस्या करने लगे। अनेक वर्षोंतक समाधिस्थ रहनेके कारण इनका शरीर दीमकोंसे छिप गया। एक बार राजा शर्याति अपने दल-बलके साथ वहाँ जा पहुँचे। दीमकमें छीपी ऋषिकी आँखें चमक रही थीं। राजाकी पुत्री सुकन्याने कौतूहलवश आँखोंमें काँटे गड़ा दिये। ऋषि रुष्ट हुए। अन्तमें राजाने सुकन्याका विवाह च्यवनसे कर दिया। इन्हें प्रमति नामका पुत्र हुआ। अश्विद्वयके प्रतापसे इनको तारुण्य प्रप्त हुआ।

ऋग्वेद (१।११६।१०)-में कहा गया है कि 'अश्विद्वयने च्यवनका वार्द्धक्य दूर किया था। १।११७।१३ से ज्ञात होता है कि भैषज्यके द्वारा ही अश्विद्वयने ऋषिको नव यौवन प्रदान किया था। ५।७४।५ में कहा गया है—तुम दोनों (अश्विद्वय)-ने जराजीर्ण च्यवनके हेय और पुरातन कुरूपको कवचके समान विमोचन किया था। जब तुम दोनोंने उन्हें पुनः वीर युवा किया था, तब उन्होंने सुन्दरी कामिनीके द्वारा वाञ्छित मूर्ति (पुत्र)-को प्राप्त किया था।' प्रायः यही बात ७।७१।५ और १०।३९।४ में भी है।

त्रित ऋषि भी ब्रह्माके मानसपुत्र थे। मतान्तरमें ये गौतम ऋषिके पुत्र थे। इनके द्वित और एकत नामके दो सहोदर भाई इन्हें पिताके समान मानते थे। एक बार जंगलमें ये भेड़िया देखकर भागे और कुएँमें गिर पड़े। स्तुति करनेपर देवोंने इनको बचाया। सभी बातें तो नहीं, परंतु अन्यान्य ऋषियोंके समान ऋग्वेदसे इनकी कुछ बातें मिलती हैं।

जैसे दूसरे ऋषि अपने नाम ले-लेकर मन्त्रोंमें अपना कथानक कहते हैं, वैसे ही त्रितने भी कहा है। अनेक स्थानोंमें इनका नाम आप्त्य त्रित आया है। ये अपने देखे १।१०५ सूक्तके ९ वें मन्त्रमें कहते हैं—'ये जो सूर्यकी सात किरणें हैं, उनमें मेरी नाभि, मर्मात्मा वा वासस्थान है। यह बात आप्त्य त्रित जानते हैं और कूएँसे निकलनेके लिये रश्मिसमूहकी स्तुति करते हैं।' इसी सूक्तके १७ वें मन्त्रमें पुनः कहते हैं—'कूएँमें गिरकर त्रितने रक्षाके लिये देवोंको पुकारा। बृहस्पतिने उनका उद्धार किया।' त्रितके द्वारा वर्द्धित होकर इन्द्रने अर्बुद असुरको नष्ट किया था (२।११।२०)।

त्रितके शत्रुओंका विनाश मरुतोंने भी किया था (२।३४।१०)। इनके रक्षक इन्द्र भी थे (बालखिल्य ४।१)। त्रितने स्वयं क्लिन्न और हरित सोमको प्रस्तुत किया था (९।३२।२ और ३८।२)। त्रित अनन्य पितृभक्त थे। इन्होंने अपने पिताके युद्धास्त्रोंको लेकर युद्ध किया और त्रिशिरा असुरका वध कर डाला (१०।८।७-८)। सम्भवतः त्रित नामके कई ऋषि थे (१०।४६।३)।

८।४७, ९।३३ और १०२-१०३ तथा १०।१—७ सूक्तोंके द्रष्टा आप्त्य त्रित हैं। इनके पुत्र भुवन ऋषि १०।१५७ के द्रष्टा हैं।

सौभरि ऋषि प्रसिद्ध तपस्वी थे। अन्य कई ऋषियोंके समान इनका भी विवाह महाराजा मान्धाताकी कन्यासे हुआ था। परंतु अन्तमें ये गृहस्थीका त्यागकर गहन कान्तारमें तपोनिरत हो गये। इनको कहीं सौभर और कहीं सोभरि भी कहा गया है। इस प्रकारकी गड़बड़ी अनेक ऋषियोंके नामोंके अक्षर-विन्यासमें है। कदाचित् यह लिपिकारों और मन्त्र सुन-सुनकर कण्ठस्थ करनेवालोंके कारण हुई है।

सोभरिके वंशजोंके रक्षक अग्निदेव थे (८।१९।३२)। ये और इनके पिता अश्विद्वयके पूजक थे (८।२२।१५)। इन्होंने अग्निका आवाहन बार-बार किया था (८।९२।१४)। इस ९२ वें सूक्तके ये ही ऋषि हैं। कण्वगोत्रीय सोभरि ८।१९-२० के और कण्वपुत्र सोभरि ८।२१-२२ के द्रष्टा हैं। कदाचित् इस नामके कई ऋषि थे। १०।१२७ के द्रष्टा सोभरि-पुत्र कुशिक कहे गये हैं।

अश्विद्वयके उपासक कण्वगोत्रीय वत्स ऋषि थे (८।८।८)। यहीं ११वें मन्त्रमें ये मेधावी और मेधावीके पुत्र कहे गये हैं। इनका स्तोत्र मधुमय होता था। ये स्तोत्रोंसे अश्विद्वयको संवर्द्धित करते थे (वहीं १५ और १९)। अश्विद्वय इनकी रक्षामें रहते थे। इन्होंने सोम और धर्म (हविर्विशेष)-से यज्ञ किया था (८।९।१ और ७)। देवोंको इनकी स्तुति अत्यन्त प्रिय थी (८।११।७)। ये ८।६।७ और ११ सूक्तोंके ऋषि हैं। १०।१८७ के ऋषि अग्नि-पुत्र वत्स हैं।

ऋचीक ऋषिके मँझले पुत्र और विश्वामित्रके भागिनेय शुनःशेप थे। विश्वामित्रने इनका नाम देवरथ रखकर इन्हें पोष्यपुत्र बना लिया।

परंतु ऋग्वेद (१।२४।१३)-में कहा गया है कि 'शुनःशेपने धृत और तीन काठोंमें आबद्ध होकर अदितिके पुत्र वरुणका आह्वान किया था। इस सूक्तमें शुनःशेपने पहले अग्नि और सूर्यकी स्तुति की है तथा अन्तमें वरुणदेवकी। ऋग्वेदमें ये अजीगर्तके पुत्र कहे गये हैं। ऋचीकका नाम अजीगर्त भी था।'

१।२४—३० और ९।३ सूक्तोंके द्रष्टा शुनःशेप हैं।

रथ और एतश ऋषियोंका एक साथ ही बहुत बार उल्लेख है। इनके रक्षक इन्द्र थे (१।५४।६)। इन्हें युद्धमें इन्द्रने बचाया था (१।६१।१५)। एतशने इन्द्रको सोम प्रदान किया था (२।१९।५)। इन्द्रके द्वारा रक्षाकी बात अनेक मन्त्रोंमें है (४।३०।६ और ५।३१।११)। इन्हीं एतशको एक मन्त्र (८।१।११)-में राजर्षि भी कहा गया है।

आङ्गिरस अयास्य ऋषि विख्यात देवपूजक थे (९।४४।१)। ये संसारके हितैषी बताये गये हैं (१०।६७।१)। पणियोंद्वारा चुरायी गायोंके उद्धारमें अयास्यका भी हाथ था (१०।१०८।८)। ये ९।४४—४६ और १०।६७-६८ सूक्तोंके ऋषि हैं।

विमद ऋषि प्रजापतिके पुत्र थे। ये इन्द्रोपासक थे (१।५१।३)। पुरुमित्र राजाकी कन्यासे अश्विद्वयने इनका विवाह कराया था (१।११२।१९; १।११७।२० और १०।२९।७)। ये परम याज्ञिक थे (१०।२०।१०; १०।२१।१ और ६)। इनके वंशजोंने 'विलक्षण' और 'विस्तृत' स्तोत्र आविष्कृत किये थे (१०।२३।६)। ये १०।२०—२६ के ऋषि हैं।

शंयु ऋषि बृहस्पतिके पुत्र थे (१।३४।६ और १।४३।४)। अश्विद्वयने इनकी गायको दुग्ध-पूर्ण किया था (१।११७।२० और १।११८।८)। अश्विद्वय इनके रक्षक थे (१०।४०।८)। ६।४४—४६ और ४८ सूक्तोंके ये ही ऋषि हैं।

गौरवीति ऋषि इन्द्रके विशिष्ट स्तोता थे (५।२९।११)।

ये शक्ति ऋषिके पुत्र थे। ५।९, ९।१०८ और १०।७३-७४ के ये ऋषि हैं।

देवल ऋषिके पिता असित थे और उनके अनुजका नाम धौम्य था। इन्हीं देवलके आश्रमपर विख्यात राजर्षि जैगीषव्य इनके पहले ही सिद्ध पुरुष हो गये। फलतः देवलने इनका शिष्यत्व ग्रहणकर मोक्ष प्राप्त किया। ९।५—२४ सूक्तोंके ऋषि असित और देवल हैं। ये कश्यप-गोत्रज थे।

बालखिल्य मुनि ब्रह्माके मानसपुत्र थे। कहा जाता है कि इनकी संख्या साठ हजार थी।

परंतु ऋग्वेद (१०।२७।१५)-में कहा गया है कि 'इन्द्ररूप प्रजापतिके उत्तरी शरीरसे बालखिल्य आदि आठ ऋषि उत्पन्न हुए।' अष्टम मण्डलके अन्त और नवम मण्डलके आदिमें इनके देखे ११ सूक्त हैं। प्रथम सूक्तके ऋषि कण्वपुत्र प्रस्कण्व, द्वितीय सूक्तके प्रष्टिगु, तृतीय सूक्तके श्नुष्टिगु, चतुर्थ सूक्तके आयु, पञ्चम सूक्तके मेध्य, षष्ठ सूक्तके मातरिश्वा, सप्तम सूक्तके कृषि, अष्टम सूक्तके पृषध्र, नवम-दशम सूक्तके भी मेध्य और एकादश सूक्तके सुपर्ण ऋषि हैं। इन सूक्तोंपर सायणने भाष्य नहीं लिखा है।

वम्र ऋषि इन्द्रके उपासक थे (१।५१।९)। इनके रक्षक अश्विद्वय भी थे (१।११२।१५)। ये विखनाके पुत्र थे। १०।९९ के ये ऋषि हैं।

अतिथिग्व और आयु ऋषिके शत्रुओंका वध इन्द्रने किया था (३।१४।७)। इन्द्रने आयुके वशमें इनके शत्रुओंको कर दिया था (१०।४९।५)। इन्द्र इनके सदा रक्षक थे (बालखिल्य ५।२)। ये बालखिल्य सूक्त ४ के ऋषि हैं।

इन्द्रने प्रवाहशील जलके पार जानेके लिये तुर्वीति और वय्य ऋषियोंको मार्ग दिया था (२।१३।१२)।५।७९-८० सूक्तोंके द्रष्टा सत्यश्रवा ऋषिके वय्य पिता थे।

'इन्द्रने तुर्वीति ऋषिके निवास योग्य एक स्थान बनाया था (१।६१।११)। ये अर्जुन या इन्द्रके पुत्र कहे गये हैं (१।११२।२३)।'

पुरुकुत्स ऋषिके सहायक इन्द्र थे (१।६३।७)। अश्विद्वयने इनकी रक्षा की थी (१।११२।७)। इनके अश्वके रक्षक भी ये ही थे (१।११२।२१)। पुरुकुत्स बन्दी हो गये थे। दुर्गहके पुत्र पुरुकुत्सकी स्त्रीकी प्रार्थनापर सप्तर्षियोंने यज्ञ करके उसे त्रसदस्यु नामका पुत्र प्रदान किया था (४।४२।८-९)। पुरुकुत्स गिरिक्षिति गोत्रीय थे।

इनके पुत्र त्रसदस्यु थे। इनके रक्षक इन्द्र थे (७।१९।३)।१०।३३।४ में कहा गया है कि ये कुरुश्रवण राजाके पिता थे। सोभरि ऋषिका कहना है कि पुरुकुत्सके पुत्र त्रसदस्युने मुझे पचास मित्र दिये हैं। वे बड़े दानी, आर्य और स्तोत्रपालक हैं। त्रसदस्यु राजा महान् दानी थे (४।३८।१)। त्रसदस्युके पुत्र तृक्षिको अश्विद्वयने प्रचुर धन दिया था (८।२२।७)। त्रसदस्युको इन्द्रने धन प्रदान किया था (बालखिल्य १।१०)। युद्धके समय अग्निने त्रसदस्युकी रक्षा की थी (१०।१५०।५)।४।४२ सूक्त और मतान्तरमें ५।२७ तथा ९।११० के ऋषि त्रसदस्यु हैं।

त्रिवृष्णके अपत्य राजर्षि त्र्यरुणने शकट-युक्त दो बैल, दो अश्व, बीस गौएँ और दस हजार स्वर्ण दान किये थे (५।२७।१-२)। कुछके मतसे ५।२७ और ९।११० के ऋषि त्र्यरुण हैं।

अश्वमेध भरतके अपत्य थे। वे किसी याचकको खाली हाथ नहीं जाने देते थे। ये सौ-सौ बैल एक साथ देते थे (५।२७।४—६)। किसीके मतसे ५।२७ के ये ही ऋषि हैं। कहते हैं—'पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, त्र्यरुण और अश्वमेध क्षत्रिय थे।'

भरतके पुत्र देवश्रवा और देववात अरणि-मन्थनसे अग्नि उत्पन्न करते थे (३।२३।२-३)। भरतवंशीय विपाशा (व्यास) और शुतुद्रु (सतलज)-के पार चले गये थे (३।३३।१-२)। ये ३।२३ के ऋषि हैं। ये क्षत्रिय तो थे; परंतु पता नहीं, सूर्यवंशमें थे, चन्द्रवंशमें थे अथवा किस वंशमें थे। भरत नामके राजा इन सभी वंशोंमें थे।

कक्षीवान् उशिज्-पुत्र कहे गये हैं (१।१८।१)। वृद्ध राजा थे (१।५१।१३)।१।११७।६ में ये आङ्गिरस

कहे गये हैं। १।१२०।५ में ये वज्रवंशी कहे गये हैं। सिन्धु-निवासी राजा स्वनयसे कक्षीवान्‌ने सौ बैल, सौ घोड़े, एक हजार साठ गायें, दस रथ, सौ निष्क दानमें पाये थे (१।१२६।२-३)।४।२६।१ में ये दीर्घतमाके पुत्र कहे गये हैं। ये अश्विद्वयके विशिष्ट स्तोता थे (८।९।१०)। अश्विद्वयने इन्हें नवयौवन दिया था (१०।१४३।१)। ये १।११६—१२५ और ९।७३ के ऋषि हैं। १०।१३१ के ऋषि इनके पुत्र सुकीर्ति और १०।१६९ के इनके पुत्र शबर हैं। उद्धरणोंसे ज्ञात होता है कि कक्षीवान् नामके कई पुरुष थे।

गोतम-पुत्र नोधा ऋषिने इन्द्र-पूजा करके महती शक्ति प्राप्त की थी (१।६१।१४)। इन्होंने प्रिय वस्तुका आविष्कार भी किया था (१।१२४।४)।१।५८—६४,९।७७ और ९।९३ सूक्तोंके द्रष्टा नोधा हैं। इनके पुत्र एकद्यु ऋषि ८।६९ के द्रष्टा हैं। ये देव-तृप्तिकारक थे (८।६९।१०)।

व्यश्वके पुत्र वैयश्व प्रख्याता स्तोता थे (८।२४।१४)। इस २४ वें सूक्तके ये ही ऋषि हैं। वैयश्वका ही नाम विश्वमना भी था। ये 'सर्वार्थ-दर्शक' कहे गये हैं (८।२३।२)। विश्वमनाके यज्ञमें इन्द्र पधारते थे (८।२४।७)। ८।२३।२६ सूक्तोंके ऋषि हैं।

रेभ ऋषिको बाँधकर एक राक्षसने कुएँमें फेंक दिया था। अश्विद्वयने उन्हें बचाया था (१।११२।५)। उस कुएँमें ये नौ दिन, दस रात पड़े थे। रेभके जो अङ्ग टूट गये थे, उन्हें औषधिसे अश्विद्वयने ठीक किया था (१।११६।२४; १।११३।४ और १२)। ये कश्यपगोत्रीय रेभ ऋषि इन्द्रके विशिष्ट भक्त थे (८।८६।१२)। एक बार इन्हें शत्रुओंने मृत-प्राय करके गुफामें रख दिया था। अश्विद्वयने इनको उबारा था (१०।३९।९)।८।८६ के ये ऋषि हैं।

वन्दन ऋषि भी कुएँमें फेंके गये थे (१।११२।५; १।११६।११)। अश्विद्वयने इन्हें कुएँसे निकाला था (१। ११७। ५; १। ११८। ६; १। ११९।६ और १०।३९।८)। वन्दनके पुत्र और इन्द्र-भक्त द्युवस्यु ऋषि १०।१०० के द्रष्टा हैं।

बृहस्पतिके ज्येष्ठ भ्राता उतथ्यके पुत्र दीर्घतमा थे। इनकी माता ममता थी। ये जन्मांध थे। प्रद्वेषीसे इनका विवाह हुआ था, जिससे गौतम आदि पुत्र उत्पन्न हुए थे। ऋग्वेदमें इससे मिलती-जुलती कथा है। परंतु उतथ्यको कहीं उक्थ्य लिखा गया है और कहीं उचथ।

दीर्घतमा तपोमूर्ति थे। बृहस्पतिके शापसे ये अंधे हुए थे। अग्निदेव और सोमदेवने शापसे मुक्तकर इन्हें आँखें दी थीं (४।४।१३ और १०।२५।११)। उचथ-पुत्र दीर्घतमा १।१५८।१ में अश्विद्वयकी प्रार्थना कर रहे हैं। इसी सूक्तके ६ठें मन्त्रमें कहा गया है कि 'दसवें काल (रात)-के बीतनेपर ही ये जीर्ण हुए थे।' १।१४०—१६४ सूक्तोंके मन्त्र-द्रष्टा ये ही हैं। विख्यात 'अस्यवामीयसूक्त' के द्रष्टा भी ये ही हैं।

परावृज लँगड़े थे, साथ ही अंधे भी थे। इन्द्रने इन्हें पैर और आँखें दी थीं (१।११३।८; २।१३।१२; २।१५।७ और १०।२५।११)।

ऋजाश्व भी अंधे थे। अश्विद्वयने इन्हें नेत्र दिये थे (१।११२।८ और १।१२०।६)।१।१०० सूक्तके द्रष्टाओंमें ये हैं। ये वृषागिर्‌के पुत्र कहे गये हैं।

ऋजिश्वा उशिज्‌के पुत्र थे। इनके पिता थे विदथि। एक बार क्रुद्ध होकर इन्द्रने इन्हें बन्दी बनाया था। (४।१६।१३)। पीछे प्रसन्न होकर इन्द्रने इनके लिये प्रिय असुरको वशीभूत किया था (५।२९।११)। ऋजिश्वा नामके दूसरे ऋषिने इन्द्रकी पूजा की थी (वहीं)। इन्द्रने इन्हें गौ और सुवर्ण दिया था (बालखिल्य १।१०)। उशिज्-पुत्रने इन्द्रकी स्तुति करके वज्रद्वारा पिप्रुके गृहको विदीर्ण किया था (१०।९९।११)। यही बात १०।१३८।३ में भी है। भरद्वाज-पुत्र ऋजिश्व ६।४९।५२ और ९।९८ तथा १०८ के कुछ मन्त्रोंके द्रष्टा हैं। इस नामके कई ऋषि थे।

वसुक्रके पुत्र वसुकर्ण वसिष्ठवंशधर थे (१०।६५।१५)। ये समस्त भुवनोंमें विचरण करते थे (१०।६६।१५)।१०।६५।६६ के ये वक्ता हैं। इन्द्रके एक पुत्र वसुक्र ऋषि भी १०।२७—२९ के द्रष्टा हैं।

वध्यश्वके पुत्र सुमित्र महान् याजक थे। सुमित्रने

इन्द्रके लिये एक सौ स्तोत्र पढ़े थे। इनके भाई दुर्मित्रने भी पढ़े थे (१०।६९।८-९ और १०।१०५।११)। १०।६९-७० और १०।१०५ के ये ही ऋषि हैं।

१०।८१-८२ के ऋषि भुवन-पुत्र विश्वकर्मा हैं। ये सृष्टि-कर्ता बताये गये हैं। इन्होंने स्वयं सारे संसारका हवन करके अग्निमें प्रवेश किया। फिर प्रथम जलको उत्पन्न किया। अनन्तर द्यावापृथिवीको बनाया। ये सबसे महान् सर्वश्रेष्ठ और सर्वद्रष्टा हैं। ये उत्पादक और पालक भी हैं। देवोंके नाम-कर्ता भी ये ही हैं। विश्वकर्माकी नाभिमें ब्रह्माण्ड है। इन दोनों सूक्तोंमें स्वाधीन चिन्तनकी पराकाष्ठा है। दोनों कण्ठस्थ करने योग्य हैं। समस्त मन्त्र देखनेपर स्पष्ट विदित होता है कि ये विश्वकर्मा और कोई नहीं साक्षात् परमात्मा हैं।

ऐसा ही ८२ सूक्तके ७ वें मन्त्रमें कहा भी गया है—'जिन विश्वकर्माने सारे प्राणियोंको उत्पन्न किया है, उन्हें तुम लोग (मानव) नहीं जानते। तुम्हारा अन्तःकरण उन्हें समझनेकी शक्ति नहीं रखता। हिमरूप अज्ञानसे आच्छन्न होकर लोग नाना प्रकारकी कल्पनाएँ करते हैं। लोग अपना पेट पालते और केवल 'स्तोत्र-पाठ' करके स्वर्ग-प्राप्तिकी चेष्टा करते हैं—ईश्वर-तत्त्वका विचार नहीं करते।' 'विश्वकर्मा भुवन-पुत्र हैं'। इसका आशय यह है कि जड-चेतनका रक्षण और सारे प्राणियोंकी परिचर्या परमात्मा वैसे ही करते हैं, जैसे पिताकी सेवा अहैतुकी की जाती है। ऋग्वेदके 'नासदीयसूक्त', 'पुरुषसूक्त', 'हिरण्यगर्भसूक्त' और 'अस्यवामीयसूक्त' के समान ही इन दोनों सूक्तोंका भी महत्त्व है।

विश्वकर्माका अर्थ भी ईश्वर है। पुराणोंमें सूर्य और देवशिल्पी विश्वकर्माको बताया गया है। इनके पिता प्रभासमरुत् और माता योगसिद्धा थीं। सूर्य-पत्नी संज्ञा इनकी कन्या थी। वृत्रासुरके वधके लिये इन्होंने ही दधीचिकी हड्डियोंसे वज्रास्त्र बनाया था। परंतु ऋग्वेदमें ऐसा कुछ नहीं है।

यमराज दक्षिण दिशाके दिक्पाल हैं। ये सूर्य-पुत्र हैं। सूर्यसे प्राप्त एक कुत्ता इनका साथी है। ये जीवोंके पाप-पुण्यके निर्णायक हैं। इनके मन्त्री चित्रगुप्त हैं। इन्हींके अवतार विदुर थे। इनके तेरह पुत्र थे। इनके प्रधान नाम हैं—यम, शमन, कृतान्त, अन्तक, दण्डधर, दण्डपाण, धर्मराज तथा पितृपति आदि। ये धर्मराजके रूपमें पुण्यका और यमराजके रूपमें पापका विचार करते हैं। ऋग्वेदमें ये वैवस्तव कहे गये हैं।

ऋग्वेदके १० वें मण्डलके १४—१८ सूक्तोंमें यमराज, धर्मराज, यमधानी, नरक, स्वर्ग, पितर, कुक्कुर, स्वधा, कल्प, यमदूत, यमपुरीमार्ग, श्मशान, प्रेत, पिशाच, अग्निदाह एवं चिता आदिका विस्तृत विवरण है, जो यथेष्ट मनोरञ्जक और ज्ञातव्य है। स्थानाभावसे यहाँ विवरण नहीं दिया जा सका।

दशम मण्डलके १४ वें सूक्तके द्रष्टा वैवस्तव यम, १५ वेंके शङ्ख, १६वेंके दमन, १७ वेंके देवश्रवा, १८ वेंके संकुसुक और १९ वेंके मथित हैं। ये शङ्ख आदि पाँचों ऋषि यमराजके पुत्र हैं। १०।१३५ के ऋषि यमगोत्रज कुमार हैं। १०।१८४ के त्वष्टा, ८-९ के त्वष्टृ-पुत्र त्रिशिरा, १० के यम-यमी, ४१ के घोषा-पुत्र सुहस्त्य, ५३ के देववृन्द, ७९ के वाजम्भर-पुत्र सप्ति, ८० के सौचीक वैश्वानर, ८८ के मूर्धन्वान्, ९० के नारायण, ३७ के सूर्य-पुत्र अभितपा, १५८ के सूर्य-पुत्र चक्षु, १८१ के सूर्य-पुत्र धर्म, १७० के सूर्य-पुत्र विभ्राट्, ३५-३६ के धनाक-पुत्र लुश, १११के वैरूप अष्टादंष्ट्र, ११४ के वैरूप सध्रि १२६ के शिलूष-पुत्र कुल्मलबर्हिष, १३६ के जूति आदि, ११२ के विरोपगोत्रज नभःप्रभेदन, ११३ के वैरूप शतप्रभेदन, ११५ के वृष्टिहव्य-पुत्र उपस्तुत, ११६ के स्थूल-पुत्र अग्नियुत, ११८ के अमहीयगोत्रीय उरुक्षय, १४६ के ऐरम्मदपुत्र देवमुनि, १४७ के शिरीष-पुत्र सुवेदा, १६६ के वैराज ऋषभ, १८५ के वरुण-पुत्र सत्यधृति, १६८ के वातगोत्रीय अनिल और १८६ के वातगोत्रीय उलऋषि हैं। १०।८४ सूक्तके तपस्-पुत्र मन्यु, १२९ के परमेष्ठी प्रजापति, १८३ के प्रजापति-पुत्र प्रजावान्, १३१ के कक्षीवान्-पुत्र सुकीर्ति, १६१ के यक्ष्मनाशन, १३० के यज्ञ और १७७ के पतङ्ग ऋषि हैं १०।९३ सूक्तके पृथु-पुत्र तान्व, ८१।८२ के विश्वकर्मा, ८३ के तपस्-पुत्र मन्यु, १३८

के उरु-पुत्र अङ्ग, १३९ के विश्वावसु गन्धर्व, १४०, १२४, १४१ और ५१-५२ के अग्नि, १५६ के अग्नि-पुत्र केतु, १८८ के अग्नि-पुत्र श्येन, ४८—५० के इन्द्र, ३८ के मुष्कवान इन्द्र, ११९ के लवरूपी इन्द्र, १८० के इन्द्र-पुत्र जय, १०२ के भर्माश्व-पुत्र मुद्गल, ७६ के इरावान्‌के पुत्र जरत्कर्ण, १६५ के निर्ऋति-पुत्र कपोत, ७१ के अंगिरस्-पुत्र बृहस्पति, ७२ के लोकनाना-पुत्र बृहस्पति, १८२ के बृहस्पति-पुत्र तपुर्मूर्द्धा, १९१ के संवनन, १६२ के ब्रह्मपुत्र रक्षोहा, १०८ के पणिगण और सरमा, १४२ के जरिता आदि पक्षी, १४४ के तार्क्ष्य-पुत्र सुपर्ण, ९० के नारायण और १७५ सूक्तके अर्बुद-पुत्र ऊर्ध्वग्रीवा ऋषि हैं।

जरिता आदि पक्षी गरुडवंशीय हैं। गरुड दिव्य प्राणी और भगवत्संनिधानमें रहनेवाले हैं। इन पक्षियोंको साधारण पक्षी नहीं, दैवी समझना चाहिये। १०८ सूक्तके ऋषि आङ्गिरस दिव्य हैं; परन्तु इसमें पणियों और सरमाकी उक्तियाँ हैं, इसलिये ये ही ऋषि कह दिये गये हैं। इसी प्रकार जिन सूक्तोंमें इन्द्र, अग्नि आदिके कथन हैं, उनके ऋषि ये ही कहे गये हैं। वस्तुतः केवल मन्त्रद्रष्टा ही ऋषि कहलाते हैं। १।१६५ सूक्तके ऋषि इन्द्र, मरुत् और अगस्त्य—तीनों हैं; क्योंकि सूक्तमें तीनोंमें बातचीत हुई है। ९।९७ (४—६ मन्त्रों)-के ऋषि इन्द्र-पुत्र प्रमति हैं। इन्द्र और इन्द्र-पुत्र वृषाकपि १०।८६ के कुछ मन्त्रोंके ऋषि हैं ४।१८ के ऋषि इन्द्र, अदिति और वामदेव हैं; क्योंकि इसमें तीनोंकी उक्तियाँ हैं।९।५०—५२ के उतथ्य, ३।५४—५६ के विश्वामित्र-पुत्र प्रजापति, ८।६० के प्रगाथ-पुत्र भर्ग, ६।३५-३६ के नर, ६।३३-३४ के शुनहोत्र और ६।३१-३२ के सुहोत्र हैं। सुहोत्रके पुत्र अजमीव्ह और पुरुमीव्ह यशस्वी और ज्ञानी थे। इन्होंने श्यावाश्व ऋषिको सौ गायें और मूल्यवान् धन प्रदान किया था (५।६१।९-१०)।४।४३-४४ के ऋषि ये ही हैं। ८।९१ की अपाला, ९।१०६ (१—३ और १०—१४ मन्त्रों)-के चक्षुःपुत्र अग्नि और ९।१०९ के ईश्वर-पुत्र अग्नि ऋषि हैं। कदाचित् अग्नि नामके कई ऋषि थे। ९।८६ (११—२० मन्त्रों)-के सिकता और निवावरी, २१—३० मन्त्रोंके अज और पृश्नि, ४१—४५ के अत्रि, ४६—४८ के गृत्समद और शेषके आकृष्ट और माष ऋषि हैं। ८-९ के कण्वगोत्रीय शशकर्ण तथा ९।६६ के शतवैखानस ऋषि हैं।

भालन्दन वत्सप्रि ९।६८ और १०।४५-४६ सूक्तोंके ऋषि हैं। ऐतिहासिकोंके मतसे ये वैश्य थे।

चन्द्रवंशी राजा प्रतीकके पुत्र और भीष्मके पिता शंतनु थे। इन्हें स्पर्श करनेपर वृद्ध भी यौवन प्राप्त कर शान्त हो जाते थे; इसलिये इनका शंतनु पड़ा। इनकी प्रथम पत्नी गङ्गादेवीसे भीष्म (देवव्रत) और द्वितीय पत्नी मत्स्यगन्धासे चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य हुए थे। इनके भाई थे देवापि, जो तपोबलसे विश्वामित्र और सिन्धुद्वीपके समान ब्राह्मणत्व प्राप्त कर चुके थे।

ऋग्वेदमें देवापिके पिता ऋषि ऋषिषेण कहे गये हैं। देवापि १०।९८ के द्रष्टा हैं। इस ९८ सूक्तके ७ वें मन्त्रमें देवापिको शंतनुका पुरोहित बताया गया है। शंतनुके यज्ञमें देवापिने पौरोहित्य किया था। इस सूक्तमें इन दोनोंके सम्बन्धमें अनेक ज्ञातव्य विषय हैं। सायणाचार्यने शंतनुको कौरव बताया है। पूरा सूक्त द्रष्टव्य है।

१।१०० सूक्तके ऋषि अम्बरीष और सहदेव, ९।९८ के वृषागिर् राजाके पुत्र अम्बरीष, ९।१०१ (४—६ मन्त्रों)-के नहुष-पुत्र ययाति, ९।१०८ के उरु, कृतयशा और ऋणञ्चय आदि।१।१२७—१३९ के दिवोदास-पुत्र परुच्छेद, ९।९६ के दिवोदास-पुत्र प्रतर्दन, ९।१११ के परुक्षेप-पुत्र अनानत, १०।१३३ के पिजवन-पुत्र सुदास, १०।१३४ के यौवनाश्व मान्धाता, १०।१७९ के द्वितीय मन्त्रके काशीनरेश प्रतर्दन और तृतीयके रोहिदश्व-पुत्र वसुमना, १०।३०—३४ के ईलूष-पुत्र कवष और १०।९१ के वीतहव्य-पुत्र अरुण ऋषि हैं। ऐतिहासिकोंके मतसे अम्बरीषसे अरुणतक सब क्षत्रिय ऋषि हैं।

क्षत्रिय और वैश्य ही नहीं, अनेक देवियाँ भी ऋषिकाएँ हो गयी हैं। १०।९५ सूक्तमें राजा पुरूरवा और उर्वशीका कथोपकथन है। ९ मन्त्रोंमें उर्वशीकी

उक्तियाँ हैं; इसलिये वह इन मन्त्रोंकी ऋषिका मानी गयी है। १०।१३४ के ७ वें मन्त्रकी ऋषिका गोधा हैं। ६।१० के द्वितीय मन्त्रकी ममता हैं। ८।१ के ३४ वें मन्त्रकी ऋषिका अङ्गिराकी पुत्री और असङ्गकी स्त्री शश्वती हैं। १।१२६ के ६ठे मन्त्रकी लोमशा, १०।१५४ की विवस्वान्‌की पुत्री यमी, १०।१२५ की आम्भृणपुत्री वाक्, १०।१०९ की जुहू, ५।२८ की विश्ववारा, १०।१८९ की सार्पराज्ञी, ८।९१ की अत्रिपुत्री अपाला, १।१७९ के १-२ मन्त्रोंकी लोपामुद्रा, १०।८५ की सूर्या, १०।१५३ की इन्द्रमाता, १०।१४५ और १०।८६ के कुछ मन्त्रोंकी इन्द्राणी, १०।१५९ की पुलोमपुत्री शची तथा १०।१५१ की कामगोत्रीय श्रद्धा ऋषिका हैं। १०।३९-४० सूक्तोंकी ब्रह्मवादिनी ऋषिका घोषा हैं। ये कक्षीवान् ऋषिकी पुत्री थीं। इन्हें कुष्ठरोग हो गया था। ये बुढ़ापेतक पितृ-गृहमें अविवाहिता रहीं। इनका कोढ़ अश्विद्वयने दूर किया (१।११७।७)। अश्विद्वय प्रख्यात चिकित्सक थे ही। उन्होंने इनको तारुण्य प्रदानकर इनका विवाह करा दिया था (१०।३९।३)। इन्हींके पुत्र सुहस्त ऋषि थे।

वह मन्त्र-द्रष्टाओंका अत्यन्त संक्षिप्त बाह्य विहंगावलोकन है। आन्तर विहंगावलोकन कठिन, जटिल और विकट है, जो किसी दूसरे लेखकका विषय है। वस्तुतः ऋग्वेदीय मन्त्रोंके कहीं आध्यात्मिक, कहीं आधिदैविक और कहीं आधिभौतिक अर्थ हैं। कहीं समाधि-भाषा, कहीं परकीय भाषा और कहीं लौकिक भाषाका प्रयोग है। सायणने तीनोंका अर्थ और रहस्य बतानेका प्रयास किया है। मन्त्रोंमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, लाटानुप्रास, दृष्टान्त, उदाहरण, पुनरुक्तवदाभास आदि अलंकार भी हैं। इन सब अर्थों, भाषाओं और अलंकारोंको ध्यानमें रखकर वेदार्थ करनेकी चेष्टा करनेपर ही ऋषियों और उनकी उक्तियोंका रहस्य समझमें आ सकेगा।

वैदिक ऋषियोंकी दृष्टि व्यापक और विशाल थी। उनकी माता पृथिवी थीं और पिता स्वर्ग थे (१।८९।४)। वे प्रत्येक अवसरपर सारे ब्रह्माण्डका स्मरण करते थे। उनके वचन उदार थे, उनके मन विराट् थे, उनके कर्म पिण्ड-ब्रह्माण्डव्यापी थे। वे अपनेमें विश्वको देखते थे और विश्वमें अपनेको देखते थे। वे मानव ही नहीं, अतिमानव, महामानव और मानवेन्द्र थे। ऐसे दिव्य पुरुषोंका सर्वत्र देवता और चेतन-लीला देखना स्वाभाविक था।

सेतिहास वेद विशेषतः अध्यात्म-विद्याका अनन्त आगार है। वह विश्वके शाश्वत नियमोंका प्रतिपादन करता है। उसके एक-एक मन्त्रमें निगूढ रहस्य भरा पड़ा है। उसे समझनेके लिये महान् धैर्य और सतत स्वाध्यायकी आवश्यकता है। यह मानवधर्म और संस्कृत-साहित्यका जनक है। आश्चर्य है कि इधर अध्येताओंका ध्यान अत्यल्प है।

अग्निं वन्दे!

हरि सर्वत्र व्यापक हैं। वे ही एकमात्र भक्तोंके सहारा हैं। जो व्यक्ति ऐसे व्यापक तत्त्वकी पूजा-उपासनासे विमुख रहता है, उसकी कोई गति नहीं।

प्रश्न होगा, 'ऐसे व्यापक श्रीहरिकी पूजा कहाँ और कैसे की जाय?' अल्पज्ञ और परिच्छिन्नमति मानवके लिये व्यापकका पूजन टेढ़ी खीर है। किंतु 'ऋग्विधान' देखनेपर समस्याका सहज समाधान हो जाता है। वहाँ हरि-पूजनके ६ स्थान बताये गये हैं, जहाँ आराधना करनेपर वह सीधे हरितक पहुँचती है। वे स्थान हैं—जल, अग्नि, हृदय, सूर्य, सर्वतोभद्रादि मण्डल और प्रतिमाएँ। यही नहीं, उक्त ग्रन्थने तो तत्तत् अधिकारीके लिये तत्तत् स्थान नियत कर दिये हैं। यथा—

अग्नौ क्रियावतां देवो दिवि देवो मनीषिणाम्।
प्रतिमास्वल्पबुद्धीनां योगिनां हृदये हरिः॥

अर्थात् वेदाध्ययनशील, श्रौत-स्मार्तकर्मनिष्ठ पुरुषको प्रज्ज्वलित अग्निमें हरिका पूजन करना चाहिये। आत्मनिष्ठ

विद्वान् पुरुष आकाशस्थित सवितृमण्डल-मध्यवर्ती सूर्यनारायणमें हरिका पूजन करें। स्थूलबुद्धि मानव गणेश, गौरी, शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदिके विग्रहोंमें हरि-पूजन करें तो योगिजन अपने हृद्देशमें स्थित आत्माको ही हरिरूपमें पूजें।

इसीलिये अन्यत्र कहा गया है कि वर्णाश्रमाचारनिष्ठ पुरुष ही परम पुरुष विष्णुकी वास्तविक आराधना किया करता है। उसीसे वे प्रसन्न होते हैं। उनकी प्रसन्नताका अन्य कोई साधन नहीं—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्थाः नान्यस्तत्तोषकारकः॥

इस प्रकार सभी प्रमाणोंसे सिद्ध है कि ब्राह्मणादि वर्णाश्रमाचारनिष्ठोंके लिये अग्निदेवकी उपासनाके सिवा हरि-पूजनका दूसरा प्रशस्त मार्ग नहीं।

अग्निदेवकी यह उपासना एकमात्र हविसे होती है। दूसरे शब्दोंमें घृत, जौ, चावल आदिसे अग्निमें विधिवत् होम ही श्रेष्ठतम हरि-पूजन है। अग्निदेव अपने उपासक यजमानद्वारा हविकी जो आहुति पाते हैं, उसीसे सदैव भगवान् श्रीहरिका पोषण किया करते हैं। वे न केवल श्रीहरिका, बल्कि सभी देवोंका पोषण करते हैं। अग्निके माध्यमसे ही इन्द्रादि देवोंके निकट यजमानद्वारा प्रदत्त वस्तुएँ ठीक-ठीक पहुँच पाती हैं। जैसे कोई पुरोहित किसी राजाकी अभीष्ट-सिद्धि करता है, वैसे ही अग्नि भी मुखरूपेण समस्त देवताओंका हित साधते हैं। जबसे संसार है, उनका यह कार्य अखण्ड चला आ रहा है और यही कारण है कि मधुच्छन्दा नामक सुख्यात ऋषिने वेदारम्भमें सर्वप्रथम अग्निदेवकी ही स्तुति की—

'**अग्निमीळे पुरोहितम्**' (ऋ० १।१।१) प्रस्तुत वैदिक ऋचासे यह हितोपदेश मिलता है कि जो विष्णु आदि देवताओंका पोषण करता है, उसे सर्वत्र अग्रणी (नेता) बननेका बहुमान प्राप्त होता है। अतः हमें भी सदैव देवोंके पोषणमें तत्पर रहना चाहिये। इसी अनुकरणीय गुणका उल्लेख करते हुए अग्नि-वन्दनाका एक नीति-वचन है—

हविषा यो हरिं पुष्येत्तं वन्देऽग्निं पुरोहितम्।
यज्ञदेवं मधुच्छन्दा यं चास्तौच्छन्दसो मुखे॥

इसी ऋचाके सन्दर्भमें एक और सुभाषित है—

अग्निवद् दाहकं स्तौति कृष्णमग्निमिति श्रुतिः।
हिनस्ति दम्भिनं देवस्तस्मै दम्भो न रोचते॥

अर्थात् भगवान् कृष्णको दम्भ कभी नहीं भाता। जहाँ वे किसीको घातक दम्भ करते पाते हैं, अग्निकी तरह जला देते हैं। '**अग्निमीळे**' यह श्रुति वेदारम्भमें न केवल अग्निदेवकी, प्रत्युत उन दम्भशत्रु भगवान् श्रीकृष्णकी भी स्तुति करती है।

अग्निकी स्तावक इस ऋचासे एक और उपदेशात्मक कथा सम्बद्ध है, जिसका संकेत इन शब्दोंमें पाया जाता है—

अग्निं वै पूजयेद् भक्त्या नरो रत्नाभिलाषुकः।
छन्दोमुखे मधुच्छन्दा आचष्टे रत्नधातमम्॥

अर्थात् जो मनुष्य रत्नादि बहुमूल्य साधन-सम्पत्तिकी इच्छा करता है, उसे बड़े भक्तिभावसे अग्निकी पूजा करनी चाहिये। यही कारण है कि मधुच्छन्दा ऋषि वेदारम्भमें अग्निकी '**रत्नधातमम्**' इस साभिप्राय विशेषणसे स्तुति करते हैं।

इस सम्बन्धकी कथा महाभारतमें पायी जाती है। श्वेतकी राजाने यज्ञोंकी लम्बी खासी परम्परा लगा दी थी। लगातार घृत, हवि होमे जाने लगे, जिससे अग्निदेवको अजीर्ण हो गया।

वे भगवान् कृष्णके पास आये और कहने लगे कि हमें अजीर्ण मिटानेके लिये खाण्डव-वन जलानेमें सहयोग दें। बात यह थी कि खाण्डव-वनमें अनेक ओषधियाँ, वनस्पतियाँ थीं। जहाँ वृक्ष, वनस्पतियाँ अधिक होती हैं, वहाँ पर्जन्य-मेघ उनकी रक्षा किया करते हैं। मेघराज इन्द्रदेवकी उस प्रदेशपर असीम कृपा-दृष्टि रहती है। इसलिये अग्निदेवको भय था कि खाण्डव-वनको जलाने बैठूँगा, तो इन्द्रदेव तीक्ष्ण शरोंके आसारोंद्वारा मुझपर उग्र आक्रमण कर देंगे। तब मैं कहींका न रह पाऊँगा। अतएव उन्होंने सोचा कि भगवान् कृष्णकी सहायता मिलते तो मेरा यह काम बन जायगा। उन्हें विश्वास था कि गोवर्धन-धारणके समय

भगवान्ने देवराजके छक्के छुड़ा दिये। इस बार भी मेरी मददमें आयें तो इन्द्रके सम्भाव्य आक्रमणका डटकर सफल सामना करेंगे।

श्रीकृष्णने कहा—'अग्निदेव, आप खाण्डव-वन तो जला सकते हो। उस कार्यमें कोई आड़े आये तो मैं और अर्जुन उससे निबट लेंगे, किंतु आज अर्जुनके पास पर्याप्त आयुधरत्न नहीं हैं। उसे दिव्य रथ, गाण्डीव धनुष, अटूट तूणीर, तथा बाण आदि चाहिये। यदि आप इन साधनोंकी सुविधा कर दें तो यह काम बनते देर नहीं।'

अग्निदेवने '**तथाऽस्तु**' कहा। शीघ्र ही वह सारी सामग्री, जो युद्धके लिये मानो रत्नरूप थी, वरुणदेवसे लाकर जुटा दी गयी और नर-नारायणकी मददसे अग्निदेव खाण्डव-वन-दाहमें सफल हो गये।

कथाका आशय यह कि जिन्हें अपने किसी कामके लिये उपयोगी जो भी रत्नादि सामग्री अपेक्षित हो, वे भक्तिभावसे अग्निकी अभ्यर्थना करें। उनकी कृपासे वे वस्तुएँ उन्हें सहज सुलभ हो जायँगी। इसी अभिप्रायसे उक्त ऋचामें '**रत्नधातमम्**' इस साभिप्राय विशेषणसे अग्निदेवका स्मरण किया गया है।

'**सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति**'—संसारका सभी कुछ अमर भारतीय वाङ्मय वेदसे प्रकाशित होता है। सबका मूलस्रोत वेद है। प्रमाणस्वरूप पीछे वर्णित 'श्रीमद्भागवत' एवं 'महाभारत' की कथाओंका मूल इसी '**अग्निमीळे**' ऋचामें है। परवर्ती सभी ग्रन्थोंने इन्हीं वैदिक तत्त्वोंका विस्तारमात्र किया है। इस प्रकार उनकी वेदमूलकता सुस्पष्ट है। यही नहीं, भारतीय इतिहासका अमररत्न 'वाल्मीकीय रामायण' भी वेदमूलक है। यह बात इसी ऋचासे निकलनेवाली और रामायणमें विस्तारित एक घटनासे स्पष्ट है। उस सम्बन्धकी एक सूक्ति इस प्रकार है—

शिवं स तनुतां रामो यस्य दूतं महाबलम्।
स्तौति वायुसुतं वीरमग्निमीळ इति श्रुतिः॥

अर्थात् भगवान् राम सबका कल्याण करें, जिनके महाबलशाली दूत वीरशिरोमणि (महावीर) वायुपुत्र हनुमान्जीकी '**अग्निमीळे**' यह श्रुति स्तुति करती है।

आशय यह कि वेदके आरम्भमें शाश्वत मर्यादाके प्रतिष्ठापक और मूर्तिमान् अवतार भगवान् रामको भी कैसे भुलाया जा सकता है? फिर भी '**अग्निमीळे**' इस श्रुतिने उनका प्रत्यक्ष नाम लेनेकी धृष्टता न कर व्यंजना-वृत्तिद्वारा उनका स्मरण किया। साहित्यिकोंके यहाँ ध्वनिकी सर्वोत्कृष्ट काव्यता सुस्पष्ट है। दूसरी बात यह कि जो श्रुति एक जगह उन्हें '**नेति नेति**' कहकर अवर्णनीय बताये, वही दूसरी ओर शब्दशः उनकी स्तुति करने लगे तो परस्पर विरोध हो जायगा, जिससे उसके अखण्ड प्रामाण्यपर आँच आयेगी। अतएव शब्दशः प्रत्यक्ष भगवान् रामकी स्तुति न कर सर्वाभीष्टदाता और संकटहर्ता उनके भक्तकी स्तुति करती हुई श्रुति सूचित करती है कि जिनके भक्त हमारे लिये सर्वप्रथम स्तुत्य हैं, उनके स्तुत्य होनमें पूछना ही क्या?

इससे यह उपदेश मिलता है कि प्रत्येक अभीष्ट कार्यकी सिद्धि और संकट-निवारणार्थ महावीर हनुमान्की उपासना अवश्य करनी चाहिये। उन्हींके बलसे दशमुख-सा महाविघ्न शान्त होकर साक्षात् जगदीश्वर राम और जगज्जननी सीतामाताका अभीष्ट सिद्ध हुआ। वीर हनुमान्की शरण गहनेपर अष्टयाम उनके उपास्य सीता-रामकी युगल जोड़ी अनायास आपके हाथ लग जाती है। वे भी आपपर वरदहस्त बनाये रखते हैं। कथान्तर्गत प्रयुक्त पूरी ऋचा इस प्रकार है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ (ऋग्वेद १।१।१)

अर्थ (पहली कथानुसार)—हम यज्ञके देव (जिनके बिना यज्ञ सम्पन्न ही नहीं हो पाता) उन अग्निदेवकी स्तुति कर उनसे अभीष्ट-याचना करते हैं। वे देवताओंका उसी प्रकार अभीष्ट सिद्ध करते हैं, जिस प्रकार पुरोहित राजाका। ये अग्निदेव समस्त देवोंके आह्वाता 'होता' नामक ऋत्विक् और विविध रत्नोंके प्रदाता हैं।

(दूसरी कथानुसार)—अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न श्रीकृष्ण स्वयंको निगल जानेवाले बकासुर दैत्यके तालुमूलके अग्निवत् दाहक बने। पाण्डवोंद्वारा दूत बनाकर सन्धि-

प्रस्तावार्थ भेजे गये। उन्होंने असुरराज कंसद्वारा छल-छद्मसे आयोजित धनुर्याग भंग कर उसे जीता। भक्तगण वसन्तादि ऋतुओंके वैशाखादि मासोंमें उनकी विधिवत् पूजा करते हैं। उन्होंने रासलीलाके लिये वंशी बजाकर गोप-बालाओंको बुलाया। समुद्र-मन्थनके समय देवगणद्वारा उपहारस्वरूप प्राप्त कौस्तुभमणिको वे वक्षःस्थलपर सतत धारण करते हैं।

(तीसरी कथानुसार)—अग्निदेव अपने उपासकोंको रत्नवत् बहुमूल्य रथ, गाण्डीव, तूणीर, आयुधादि दिया करते हैं (शेष अर्थ पहली कथानुसार)।

(चौथी कथानुसार)—यहाँ अग्निका अर्थ 'वायुपुत्र' है, कारण सृष्टिक्रमबोधक इस श्रुतिके अनुसार '**आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः**……' अर्थात् 'आत्मासे आकाश बना, आकाशसे वायु और वायुसे अग्नि……'। अग्निका वायुपुत्र होना श्रुतिसिद्ध है। उस श्लिष्ट 'वायुपुत्र' शब्दसे यहाँ रामदूत हनुमान्‌जी भी लिये जा सकते हैं। वेद कहता है कि मैं उन वायुपुत्र हनुमान्‌जीकी स्तुति करता हूँ, जिन्हें कपिराज सुग्रीवने संगति या मैत्री करनेके लिये सर्वप्रथम रामचन्द्रजीके पास भेजा। वे सर्वत्र विद्योतित होते रहते हैं, अथवा सदा-सर्वदा विजयकी इच्छा रखते हैं। समुद्रको लाँघ लंकामें पहुँचकर राक्षसोंको कँपाते हैं। राक्षसोंका युद्धार्थ आह्वान करते हैं। भगवान् रामद्वारा अभिज्ञानार्थ प्रदत्त रत्नमय अङ्गुलीयक (अँगूठी) स्वयं ग्रहण करते और पश्चात् सीतामाताको प्रदान करते हैं।

उपर्युक्त चारों कथाओंका मूलस्रोत ऋग्वेद-संहिताकी १।१।१ ऋचा है, जिससे ये ४ अर्थ निकाले जा सकते हैं। जो '**सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति**' (सब कुछ वेदसे निकलता है)-को पुष्ट करता है। वैसे दूसरी कथाका विस्तार श्रीमद्भागवत (१०।११।४७—५१)-में है। तीसरी कथाका विस्तार महाभारतके आदिपर्वमें तो चौथी कथाका विस्तार वाल्मीकीय रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें मिलेगा।

विशेष विवरणके लिये ये स्थल द्रष्टव्य हैं।

वैदिक उपासनाका मूलाधार

(श्रीबेचूजी मिश्र शास्त्री, एम्० ए०, एल्०-एल्० बी०)

किसी कामनाकी सिद्धिके लिये मनुष्यको ज्ञान, बल तथा क्रियाशक्तिकी आवश्यकता पड़ती है और बुद्धिमान् मनुष्य पूर्वोक्त शक्तियोंको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं तथा अपनी-अपनी रुचि, क्षमता और सुविधाके अनुसार भिन्न-भिन्न शक्तियोंको प्राप्त करते हैं। अतः शक्ति-संचयकी चेष्टा अथवा शक्ति-उपासना मनुष्यमात्रकी सहज प्रकृति तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति है। प्रश्न है कि किस प्रकारसे शक्ति-उपासना करनी चाहिये, जिससे जीवनमें सफलता मिले?

'उपासना' शब्द 'उप' अर्थात् समीप तथा 'आसना' अर्थात् स्थितिनिष्ठाके योगसे बनता है। अब विचारणीय है कि किसके समीप स्थितिकी निष्ठा अथवा संयुक्त रहनेकी वासना प्राणिमात्रमें स्वभावतः प्रबल होती है? इस प्रश्नका केवल तथा प्रायः सर्वसम्मत उत्तर यही मिलेगा कि माताकी समीपस्थिति-निष्ठा प्रथमतः अत्यन्त प्रबल प्राणिमात्रमें पायी जाती है। यह बिलकुल स्वाभाविक भी है; क्योंकि प्राणिमात्रका शरीर माताके शरीरसे बनता है तथा प्राणिमात्रकी सर्वप्रथम और सर्वोत्कृष्ट कामना क्षुधाशान्तिकी पूर्ति प्रथमतः मातासे ही होती है। इन कारणोंसे मानवकी मातामें सहज निष्ठा, श्रद्धा-भक्ति इतनी प्रगाढ़ होती है कि शैशवावस्थामें माता अपने पुत्रको जिस पुरुषका सम्बोधन पितारूपसे बताती है, शिशु उसी पुरुषको अपना पिता मानता तथा जानता है और उसी पुरुषमें आजन्म श्रद्धा-भक्तिके साथ एकनिष्ठ आदरणीय भाव रखता है; क्योंकि पिताके परिचयसे ही मनुष्यको अपने यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है। मानव-देहका निर्माण माताके शरीरसे ही प्रथमतः होता है, इसी कारण मनुष्य ललनाओंके

सौन्दर्य-माधुर्य, स्वर-माधुर्य तथा व्यवहार-माधुर्यसे आजन्म आकर्षित, मनोरञ्जित तथा प्रभावित होता है। इन्हीं तथ्योंको ध्यानस्थ रखकर सृष्टिकालके आरम्भसे ही मनीषी लोग शक्ति-उपासना मातारूपमें ही करते आये हैं; क्योंकि व्यक्ति-विशेषकी तरह समस्त चराचरमय ब्रह्माण्डका भी जन्म माता या शक्तिके ही गर्भसे होता है, जो शक्ति अपनी गोदमें ब्रह्माण्डको धारण करती है तथा अपनेमें ही ब्रह्माण्डको विलीन भी कर लेती है। इसीलिये वेदमें विधान है कि '**अहरहः संध्यामुपासीत**' नित्य, प्रतिदिन संध्योपासना करनी चाहिये। यह विधान द्विजोंके लिये अनिवार्य रखा गया है।

संध्योपासनाकी उपयोगिता, उपादेयता तथा अनिवार्यता हृदयंगम करनेके लिये हमें इस बातपर ध्यान देना पड़ेगा कि प्राकृत मनुष्यकी बुद्धि स्वभावतः भ्रान्तिपूर्ण एवं विषयगोचर होती है और मन कामनाभिभूत होता है, जिसके कारण मनुष्यका मन रात-दिन विषयोंके दर्शन, अन्वेषण, स्मरण, चिन्तन तथा आलोचनमें ही लगा रहता है। फलतः उसकी बुद्धि धीरे-धीरे संकुचित होकर उसको पूर्णतः स्वार्थान्ध बना देती है। जिससे देश, काल, परिस्थिति तथा अपनी वैयक्तिक स्थितिको ध्यानमें रखकर धर्म, कर्म और व्यवहार करनेकी धीरता, क्षमता एवं समझ मनुष्यमें नहीं रह जाती तथा जीवनपर्यन्त उसका मन चञ्चल, अशान्त, व्यग्र और दुखी बना रहता है। फलतः मनुष्यके बल-वीर्य तथा आयुकी हानि होती है। इतना ही नहीं, उक्त मानसिक परिस्थितिमें मनुष्य प्रत्येक पदार्थका मूल्याङ्कन अपने विशिष्ट स्वार्थ और संकुचित दृष्टिसे करता है। स्वार्थ तथा दृष्टिकोणमें विभिन्नता होनेके कारण मनुष्योंमें एक ही पदार्थके विषयमें अनेक मत हो जाते हैं, जिनके कारण मनुष्योंमें पारस्परिक कलह, दुराव, फूट, वैर, वैमनस्य, विद्वेष, प्रतिस्पर्धा आदि अनेक तथा अनन्त अनर्थकारी समाज-विरोधी दोषोंका प्रादुर्भाव एवं प्राबल्य हो जाता है और मानव-समाज विघटित होकर नरक या क्षुद्र मनुष्योंका समूह हो जाता है। जिनके जीवनमें कलहप्रियता पशुओंकी तरह स्वच्छन्द रूपसे क्रीडन करती है। सुचित्त विवेचनसे ज्ञात होगा कि विविध कामनाओंके कारण मनकी अनेकरसता ही मानसिक चञ्चलताका मूल है तथा मानसिक चञ्चलता ही दुःखभावनाका मूल है। इसीलिये प्राकृत मनुष्य साधारणतः निद्रितावस्थामें ही जब मन पूर्णतः शान्त तथा निष्क्रिय रहता है, पूर्ण सुखानुभूति पाता है। इस विषम परिस्थितिसे समाज तथा मनुष्यके रक्षणके लिये कामनाभिभूत मानव-मनकी अनेकरसताको दबाकर मनको एकरसमें लीन करनेके लिये ही संध्योपासनाका अनिवार्य विधान है।

आचमन, प्राणायाम, मार्जन, सूर्योपस्थान तथा गायत्री-जप संध्योपासनाके प्रधान अङ्ग हैं। संसार नश्वर है—इस बातका सतत स्मरण हमें तभी रह सकता है जबकि हमारा शरीर तथा मन पवित्र हो। इस गूढ़ विषयको हृदयंगम करानेके लिये आचमनका विधान है। इस शरीरका संचालक प्राण है। प्राणोंकी चञ्चलता तथा उद्विग्नतासे श्वास-प्रश्वासकी गति तीव्र हो जाती है, मन अशान्त हो जाता है, जिससे मनुष्यकी आयु क्षीण होती है। किंतु विधिपूर्वक प्राणायाम करनेसे प्राण गम्भीर होने लगता है, मन शान्त तथा स्थिर होने लगता है, श्वास-प्रश्वासकी गति संतुलित हो जाती है, जिससे मनुष्य दीर्घायु होता है—इसलिये प्राणायामका विधान है। जल जीवनाधार तथा तृष्णा-शामक है—आत्मशक्ति अथवा नारायणका प्रत्यक्ष स्वरूप है, शुद्धिका सर्वप्रधान साधन है। जलकी पवित्रताकी तारतम्यताके अनुसार मनुष्यके बल, बुद्धि, वीर्य, स्वास्थ्य तथा आयुमें वृद्धि या ह्रास हो सकता है। अतः जलकी पवित्रताके महत्त्वको हृदयंगम करानेके लिये मार्जनका विधान है। सूर्यदेव ही सब जीवोंके पोषक, व्यवहारके संचालक तथा आत्मशक्तिके द्योतक हैं, इनमें श्रद्धा रखकर इनका नमस्कार करनेसे मनुष्य कालचक्रके भँवरसे भी पूर्णतः शान्त और स्वस्थ रह सकता है, इसलिये सूर्योपस्थानका विधान है।

संध्योपासना मुख्यतः पराजननी संध्यामाता एवं आत्मशक्तिकी उपासना है। आत्मशक्तिके स्वरूप तथा

प्रकृष्ट विकासका प्रत्यक्ष दर्शन सूर्यमण्डलमें होता है, अतः गायत्री-जपके समय आत्मशक्तिका ध्यान हृदयस्थ सूर्यमण्डलमें करते हुए यह प्रार्थना की जाती है कि समस्त विश्वकी नियामक, प्रेरक, संचालक तथा नियन्त्रणकर्त्री आत्मशक्तिके प्रेरणानुसार मेरी बुद्धि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-सम्बन्धी कार्योंमें लगी रहे। अर्थात् मेरी बुद्धि '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**'-में परिनिष्ठित हो। ऐसा चिन्तन करते-करते ज्यों-ज्यों मनुष्यकी बुद्धि आत्मनिष्ठ होती जाती है, त्यों-त्यों बुद्धिकी भ्रान्ति, जडता, संकोच, विवेकहीनता धीरे-धीरे नष्ट होती जाती है और मनुष्यमें सद्‌विचार तथा विवेकका उदय होता है। तब मनुष्यको सूझने लगता है कि यथार्थ सुखकी केन्द्र तथा जननी आत्मशक्ति ही है, जो समस्त चराचर विश्व और सब मनुष्योंमें एक ही है, जिसके आश्रयसे मनुष्य अपने प्रारब्ध एवं भाग्यको भी देशकालानुसार बदल सकता है। वह करुणामृतसागर है। सबके हृदयमें चेतना, आनन्द, ज्योति, वाणी, तुष्टि, धैर्य, पुष्टि आदि रूपोंमें वर्तमान है। अपने ज्ञान, ध्यान तथा सम्मानसे प्रसन्न होकर वह मनुष्यमें बुद्धिरूपसे प्रतिष्ठित होकर मनुष्यको सांसारिक सुखके साथ आत्मसाक्षात्कार कराकर जीवन सफल बना सकती है, अतः बुद्धिमान् मनुष्यको आत्मशक्तिको ध्यानमें रखकर सब काम करना चाहिये। यही बुद्धियोग या व्यवसायात्मिका बुद्धि है, जो मनुष्यको अपनी क्रियाकी प्रतिक्रियापर ध्यान रखते हुए सब काम करनेको प्रेरित करती है, जिससे मनुष्य इस विचारके साथ अपनी जीवन-यात्रा करता है कि उसके जीवनसे किसी सज्जनके जीवनमें बाधा न हो, उसकी सुख-प्रवृत्ति तथा सुख-साधनसे किसी दूसरे सज्जनको दुःख न हो, उसके ज्ञानसे किसी सज्जनकी हानि न हो, उसकी स्वतन्त्रतासे किसी सज्जनकी स्वतन्त्रताका अपहरण न हो और उसकी प्रभुता तथा प्रभुत्वाकाङ्क्षासे किसी सज्जनको कष्ट न हो। यही मानव-धर्म है। और '**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**'—जो अपनेको अप्रिय हो वह दूसरेको भी अप्रिय होगा—इस बुद्धिसे सब काम करना ही वैदिक संस्कृति, कर्मयोग तथा धर्मका मौलिक तत्त्व है।

अतः वैदिक संस्कृति, धर्म तथा कर्मयोगके मुख्य आधार बुद्धियोगकी धात्री संध्योपासना है, जो सब वैदिक धर्म-कर्म, तीर्थ-व्रत, जप-तप, भोग-मोक्ष, पूजा-पाठ और सेवा-उपासनाका मूलाधार है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको संध्यामाताकी गोदमें बैठकर कम-से-कम सायं-प्रातः तो अवश्य विधिपूर्वक आचमन, प्राणायाम, मार्जन तथा सूर्योपस्थान करके आत्मशक्तिका चिन्तन अपने हृदयस्थ सूर्यमण्डलमें अधिक-से-अधिक कालतक करके कल्याण-कामना करनी चाहिये।

इस चिन्तनका फल यह होगा कि मनुष्यकी बुद्धि धीरे-धीरे इस भावनासे ओतप्रोत हो जायगी कि मेरे (सबके) हृदयमें आत्मशक्ति या ईश्वरका वास है और अपने कर्ममात्रसे हृदयमें स्थित आत्मशक्ति या ईश्वरकी पूजा करनेमें मनुष्य-जीवनकी सफलता है। इसके अतिरिक्त आत्मशक्ति अथवा सत्यकी शाश्वतता तथा देह और सांसारिक पदार्थोंकी नश्वरताका विवेक, ज्ञान, ध्यान और विश्वास मनुष्यके अन्तःकरणमें मनकी शुद्धि या बुद्धिकी आत्मनिष्ठताके तारतम्यतानुसार बढ़ता जायगा। श्रद्धा तथा विश्वासकी प्रगाढ़ताके साथ-साथ मनुष्यको योगस्थ रहकर शुचितापूर्वक इन्द्रियनिग्रहके साथ सत्य, अहिंसा और अस्तेयका पालन करते हुए कर्म करनेमें प्रोत्साहन एवं आनन्द मिलेगा। तब मनुष्यका जीवन सफल होगा तथा मनुष्य सुखी और दीघार्यु होगा।

सारांश यह कि जबतक मनुष्य पशुओंकी तरह अपनी आत्मशक्तिको भूलकर देहको ही सब कुछ समझता है, तबतक वह भ्रान्तिरूपा शक्तिसे संचालित होता है और उसके सब काम, विचार, बुद्धि, बल तथा योजनाएँ अनर्थकारी एवं समाज-विघटनकारी होती हैं। किंतु संध्योपासनाद्वारा ज्यों-ज्यों मनुष्य आत्मशक्तिके अभिमुख होता जाता है, त्यों-त्यों वह अपने भाव, विश्वास, श्रद्धा, भक्ति तथा उपासनाके प्रौढतानुसार बुद्धिरूप शक्तिसे संचालित होने लगता है और तब उसके कर्ममात्रसे अपना तथा मानवमात्रका कल्याण होता है। उपासनाका सनातन और लाखोंका अनुभूत तत्त्व, महत्त्व तथा माहात्म्य यही है। जिसके प्रचार एवं

रक्षणके लिये भारतमें जन्मना वर्णव्यवस्थाका दैवी विधान है, जिसके अनुसार ब्राह्मणको तपरूपसे विद्याध्ययन तथा विद्यादान, क्षत्रियको तपरूपसे विद्याध्ययन तथा अभयदान, वैश्यको तपरूपसे विद्याध्ययन तथा सर्वपोषणके लिये अर्थसंग्रह करना चाहिये और शूद्रको तपरूपसे सार्वजनीन सेवा करके राष्ट्रकी रक्षा करनी चाहिये। शास्त्रोंके पठन एवं अनुशीलनसे यह स्पष्ट है कि जबतक हिंदू-जनता पूर्वोक्त वैदिक सदाचारका पालन शुद्ध भावसे करती है, तबतक भारत सुख-समृद्धिपूर्ण तथा विश्ववन्द्य रहता है, अन्यथा भारतका पतन होता है।

विकासप्रेरक अथर्ववेदकी प्रासंगिकता

(डॉ० श्रीगोपीवल्लभजी नेमा एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

जब व्यक्ति अपनी सुप्तप्राय शक्तियोंको प्रयत्नपूर्वक जगा लेता है तो उसके विभिन्न गुण कार्यरूपमें दीखने लगते हैं। उसकी विविध ज्ञानशीलता और परिष्कृत व्यवहार तथा बहुमुखी प्रतिभा उसे सुविकसित व्यक्तित्वसे सुशोभित करती है। उसकी रचनात्मकता कई धरातलोंपर अपना योगदान देती है, जैसे—शैक्षिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक धरातलोंपर। पवित्र 'अथर्ववेद' हमें ऐसे ही बहुमुखी विकास-हेतु संकल्पबद्ध होनेकी प्रेरणा देता है। एक उदाहरण लीजिये—

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥

(अथर्व० ६।४१।१)

परम देवके प्रति श्रद्धावनत हो मनसे, बुद्धिसे, संकल्पसे और उत्साहसे हम ऐसा जीवन जियें, जिससे (सात्त्विक प्रसंगोंमें) अच्छा देखने, अच्छा सुनने और विवेक करनेके अवसर प्राप्त होते रहें।

उक्त मन्त्र सहजात वृत्तियोंके सुसंस्कारकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकारसे ही मनोबल बढ़ता है और परमात्म-अनुभूतिका लक्ष्य निकट-से-निकटतर आता है। इसके लिये विकासकी आधारभूत बातोंकी ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है, जिनमेंसे मुख्य इस प्रकार हैं—

विकासप्रेरक आधारभूत बातें—

(१) शरीर एवं मनकी स्वस्थता—अन्य तीन पवित्र वेदोंसे इस ग्रन्थकी तुलना करनेपर यह ज्ञात होता है कि इसमें भारतीय जड़ी-बूटियोंका अधिक उल्लेख है। इनके द्वारा सरल, सहज और सात्म्य उपचारकी प्रारम्भिक किंतु महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत की गयी है। इसके उचित उपयोगके द्वारा हमें स्वस्थ और सुखमय जीवनकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा मिलती है। आयुर्वेद इसी ग्रन्थका उपवेद माना जाता है। ग्रन्थके स्वस्ति-पाठ तथा अन्य मन्त्रोंमें पर्यावरण-शुद्धि और मनोत्साह-वर्धनकी दृष्टि स्पष्ट है। रोगवाही कीटों और कृमियोंको नष्ट करनेका विधान भी दिया गया है। पिप्पली, अपामार्ग, अर्जुनादि औषधियोंके रोगहारी लक्षण देकर मानो एक रक्षा-कवच ही दे दिया है। वात-पित्त-कफको सम रखनेकी प्रेरणा दी है। प्राण-अपानकी गतिको भी सम रखनेकी शिक्षा दी गयी है। इन सब सावधानियों और व्यवस्थाओंसे साधकको प्राणशक्ति विकसित करनेमें अपार सहायता प्राप्त होती है।

(२) समत्त्वयुक्त दृष्टिकोण अपनाना—साधकको कहा गया है कि वह विद्वानोंके समीप जाकर श्रद्धा-भावसे कर्म, उपासना और तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी प्रश्नोंको पूछे और अपना समाधान करे। तभी विकासकी निरन्तरता बनी रहेगी। नयी पीढ़ी इससे ज्ञान और अनुभवमें वृद्ध अपनी पुरानी पीढ़ीके निकट आ सकेगी। समाजमें भी पीढ़ीगत सामञ्जस्य बना रह सकेगा। यही नहीं, स्वच्छन्द या मनोन्मुखी विचारों और कार्योंसे उत्पन्न हो जानेवाले द्वन्द्व और संघर्ष इससे कम हो जायँगे। सुमति और तेजस्विताको विकसित होनेका अवसर मिलेगा। तभी विचार और व्यवहारमें समत्वका विकास हो सकेगा। ऐसे विकासकी कामनाओंसे पूर्ण यह मन्त्र देखिये—

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम्।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन॥

(४।९।५)

इस मन्त्रमें यह शुभ संकल्प किया गया है कि न तो हम क्रोधपूर्ण वचन बोलें, न हिंसा करें और न ही किसी भी दुःखमें डूबें। परमात्माकी कृपाकी अनुभूति हृदयमें धारण किये हुए हम विघ्नोंको पारकर आगे बढ़ते चलें।

एक मन्त्रमें एकान्त स्वभाववाली नारीको प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि तुम्हारा सहयोग करनेवाली कितनी ही सन्नारियाँ यहाँ हैं। हे शक्तिमती-संतानवती नारी! उठकर खड़ी हो जाओ। समाजमें प्रेमपूर्ण व्यवहारका शक्तिभर आदान-प्रदान करो (११।१।१४)। 'अथर्ववेद' के ऋषि सद्गुणोंको परमात्माकी प्रकाशमयतासे परिपूर्ण मानकर सत्य, तप, परिश्रम, धर्म, वीरता और कर्मनिष्ठा अपनानेकी प्रेरणा देते हैं, क्योंकि ये ही समत्व ऐश्वर्यकी कुञ्जियाँ हैं। ज्ञान और ऐश्वर्य कभी-कभी बोझ बनकर सत्-शास्त्रके स्वाध्याय, राज्यके प्रति कर्तव्य और भावी समाजके प्रति उत्तरदायित्वके प्रति सावधान रहकर उचित योग देते रहनेकी प्रेरणा देते हैं (११।७।१७)। उनका विश्वास है कि पृथ्वीपुत्र मानवमें अकूत सम्भावनाएँ छिपी हैं। अतः उसे अपने कृतित्वको अधिकाधिक समृद्ध करते रहना चाहिये—'**एतदारोह वयं उन्मृजानः....।**'

(३) सोचके क्षितिजका विस्तार—यह विकासकी तीसरी किंतु सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, जो बार-बार मनन-चिन्तनसे व्यक्तित्त्वका विशिष्ट अंग बन जाती है। स्मरण रहे कि भोजन-वस्त्रका सोच कदापि उपेक्षणीय नहीं है, पर है वह सीमित ही; उससे आगे है भूखे भाइयोंके भोजनका विचार और उससे आगे आत्मकल्याणका विचार। तदनन्तर सर्वके आत्मिक कल्याणका विचार। ऐसे विस्तृत सोचवाले सभापति और विद्वान्की वेदमें भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। एक उदाहरण लीजिये—

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः॥

(२।३४।३)

जो महाविद्वान् बन्धनग्रस्त मनुष्यपर कृपादृष्टि रखकर मनःशक्तिके साथ उसे ज्ञानका प्रकाश प्रदान करते हैं, उन उपकारकार्यमें निरत अग्रकर्मियोंको व्यापक प्रकाशस्वरूप आदि स्रष्टा परमेश्वर उसके उपदिष्ट जनसहित उसे अविद्यासे मुक्त कर आनन्द प्रदान करता है। यह अत्यन्त श्रेयमय स्थिति है, जो सांसारिक सीमामें सीमित भोगों और प्रेयोंसे उच्चतर है। इस स्थितिमें मनुष्य विराटताकी अनुभूति करनेमें समर्थ होता है। यहीं चरम आनन्द है। कहा भी है—

स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः
सु मधु मधुनाभि योधीः॥

(२०।१०७।६)

यहाँ समझाते हुए कहा गया कि वह सांसारिक आनन्दका भी मूल आनन्द है। इसीलिये उसे मधुनामधु कहते हैं।

विकास-प्रेरणाओंकी प्रासंगिकता—

हमारे विकासकी उक्त आधारभूत बातें आज भी प्रासंगिक और प्रेरणापूर्ण हैं। वर्तमान जीवनकी संघर्षमयता और एकाकी-से जीवनमें अथर्ववेद बहुत-सी और प्रेरणाएँ देता है। ये हमारे राष्ट्रिय जीवनकी समृद्धिके लक्ष्यको लेकर हैं। इनमें हमारी वर्तमान समस्याओंके समाधानके लिये संकेत भी है। कुछ प्रमुख संकेत इस प्रकार हैं—

(क) राष्ट्रव्यापी अशिक्षा, कुपोषण, रोग और निर्धनता दूर करना—अथर्ववेदकालमें कोई शाला ऐसी नहीं थी जिसमें कृषि योग्य भूमि न हो। सभी विद्यार्थियोंके आवास भी वहीं होते थे। थोड़ी ही दूरपर ग्रामवासियोंके भी घर बसे रहते थे। छात्रगण अकाल-बाढ़ आदि कठिन स्थितियोंमें ग्रामवासियोंकी सहायता करते—अन्नादि उपलब्ध कराते। स्वर्गीय डाँगेजीने तो वैदिक समाजको विश्वका प्राथमिक ग्राम कम्यून समाज कहा और अपनी पुस्तकमें सिद्ध किया है। वर्तमानमें नवगठित ग्राम-पंचायतोंको अनुभवी और तकनीकी लोगोंकी सलाह और सहायता लेकर अन्न-जल-शिक्षा-स्वास्थ्य और रोजगारकी समस्याओंको पूर्ण

संगठित हो हल करनेका प्रयास करना होगा। तभी कुपोषण, रोग, अशिक्षा आदि समस्याओंको हल किया जा सकेगा।

शहरोंमें राष्ट्रिय और राज्यीय स्तरकी विज्ञानशालाओंका जाल फैला हो, ताकि अनुसन्धानद्वारा रहस्योंकी खोज कर राष्ट्रकी-उन्नतिमें विज्ञानको सहायक बनाया जाता रहे। 'अथर्ववेद'-के एक मन्त्रमें ज्ञान-विज्ञानके आचार्य (बृहस्पति)-का वन्दन करते हुए कहा गया है कि वे अपने बुद्धि-कौशलसे ढँके हुए ज्ञानको समाजके सामने लायें (२०।१६।१८)।

(ख) सीमाओं तथा नागरिकोंकी रक्षाका कार्य— ससम्मान विकासके लिये स्वाधीनता और राष्ट्रकी सार्वभौमताकी रक्षा भी अनिवार्य है। इसलिये 'अथर्ववेद'-का आदेश है कि जो पुरुष श्रेष्ठ नेतृत्व एवं रक्षा-कार्यमें पूर्ण समर्थ हो, उसे राष्ट्रनायक (इन्द्र) बनाया जाय। उसमें लोहेके बने विविध शस्त्रोंकी मारक क्षमता भी बतायी गयी है। मूल उद्देश्य यह है कि ऐसी पक्की व्यवस्था हो ताकि शत्रुको आक्रमण करनेका साहस न हो और सीमान्त ग्रामोंके नागरिक निर्भय होकर अपना कार्य कर सकें। मन्त्रोंमें राष्ट्रनायकको ही नहीं, अपितु प्रजागणको भी प्रेरणा दी गयी है कि वे राष्ट्रनायककी भाँति '**समानवर्चसा**' हों—समान तेज और समान राष्ट्रनिष्ठावाले हों। साथ ही यह भी कहा गया है कि वे छिपे शत्रुओंको भी खोज कर नष्ट करनेमें अमूल्य सहायता प्रदान करें—'***गणेन बले रुरोज फलिगं रवेण।***'

(ग) ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मतेजका प्रसार— यह सर्वसम्मत तथ्य है कि हमारी संस्कृतिका मूलभूत आधार एवं पहचानका सूचक तत्त्व आध्यात्मिकता है, किंतु वर्तमानमें इसकी ओर दुर्लक्ष्य हो रहा है। इससे हमारी संस्कृतिके लिये एक संकट उत्पन्न हो गया है। वेदद्वारा यह भलीभाँति स्पष्ट किया गया है कि परमात्म-चिन्तन ही हमें युद्ध और शान्तिमें शक्ति, सौहार्द और आत्मप्रकाश प्रदान करनेमें समर्थ है। कहा भी गया है—

पवित्रवन्तो अक्षरन्देवान्गच्छन्तु वो मदाः॥

(२०।१३७।४)

हम इसी ब्रह्मास्त्रके द्वारा अपने चारित्रिक ह्रास और व्यक्ति-व्यक्ति तथा समाज-समाजके द्वन्द्वों और संघर्षोंको भी रोक सकेंगे।

अतः 'अथर्ववेद' वर्तमान परिस्थितियोंमें प्रेरक और प्रासंगिक है। उसका प्रतिपाद्य यही है कि भारतके जन-जन भौतिक, बौद्धिक, भावात्मक, चारित्रिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे परिपुष्ट तथा विकासशील हों। दृढ़ता, शक्ति और पुरुषार्थमें अन्य देशोंके नागरिकोंसे आगे रहें—

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥

(२।११।५)

अतः विकासके लिये हमारा स्वर्णसूत्र यही हो—'**ममेद वर्धस्व सुष्टतः**'—हे प्रभो! (आप) हमारा सर्वांगीण विकास करें।

ऐतरेय आरण्यकमें प्राणविद्या

(पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य)

उपक्रम

भारतीय दर्शनमें प्राणविद्याका विशेष महत्त्व है। इस विद्याका जितना चिन्तन तथा अध्ययन हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने किया था, उतना शायद ही किसी अन्य देशके विद्वानोंने किया होगा। सच तो यह है कि प्राणोपासनाकी विद्या हमारी अपनी सम्पत्ति है। प्राणके वास्तविक महत्त्वको समझना, इस शरीर तथा बाह्य जगत्में उसके सच्चे कार्य तथा व्यापक प्रभावको परखना और किसी देवताका आरोप कर उसकी उपासना करना—ये सब सिद्धान्त इस भारत-भूमिपर ही हमारे पूर्वजोंकी सात्त्विक बुद्धि तथा उर्वर मस्तिष्कके कारण ही प्राचीन कालमें उत्पन्न हुए और अब भी हममें किसी-न-किसी रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं। यह विद्या कबसे चली, कहना बिलकुल असम्भव है, परंतु जब

हमारे साहित्य तथा धर्मका प्रथम प्रभात हुआ, तभीसे इस विद्याका उदय हुआ होगा, यह हम बिना रोक-टोक कह सकते हैं, क्योंकि हमारी वैदिक संहिताओंमें, विशेषतः ऋक् तथा अथर्ववेदकी संहिताओंमें, इस विद्याका समुल्लेख सबसे पहले किया गया मिलता है। विद्वानोंसे यह अपरिचित नहीं कि उपनिषदोंमें प्राणविद्या भरी पड़ी है, उपनिषदोंमें ही नहीं, प्रत्युत आरण्यक तथा संहितामें भी इस विद्याका यथेष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। बहुत-से विद्वानोंको यह सिद्धान्त नवीन-सा प्रतीत होगा, परंतु यह बात है बिलकुल ठीक। इस महत्त्वपूर्ण प्राणविद्याके प्रथम निर्देश तथा संकेत उपनिषदोंसे पूर्व वैदिक संहिताओं तथा आरण्यकोंमें भी मिलते हैं, इसका निश्चय इन कतिपय पृष्ठोंके पढ़नेवालेको अवश्य हो जायगा।

आरण्यकोंका विषय

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। '**मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः**' मन्त्रोंके संग्रहोंको 'संहिता' कहते हैं। ऐसी संहिताएँ हमारे यहाँ बहुत हैं, ऋक्संहिता, सामसंहिता आदि। ब्राह्मणोंके तीन भेद हैं—ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। उपनिषद्में ब्रह्मविद्याका वर्णन है, यह ज्ञानकाण्ड हुआ। ब्राह्मणोंमें यज्ञ-यागादिका सर्वत्र वर्णन है। इसका प्रधान विषय कर्मकाण्ड हुआ। यह गृहस्थोंके लिये है जो घर-द्वार बनाकर वेदविहित यज्ञोंका अनुष्ठान अपने कल्याणके लिये किया करते हैं। आरण्यकोंका स्थान ब्राह्मणों तथा उपनिषदोंके बीचमें आता है। 'आरण्यक' नाम पड़नेके दो कारण बतलाये जाते हैं। एक तो यह हुआ कि ये ग्रन्थ अरण्यमें ही पढ़ने योग्य हैं, इनका अध्ययन तथा मनन अरण्य (जंगल)-में ही करना चाहिये। अतः अरण्यमें पाठ होनेके कारण इन ग्रन्थोंका नाम आरण्यक पड़ा।* दूसरा कारण यह है कि ये उन लोगोंके लिये है जो गृहस्थाश्रमको छोड़कर वानप्रस्थ-आश्रममें हैं। अतः जो लोग घर-द्वार छोड़कर जंगलमें कुटिया बनाकर अधिकतर निवास किया करते हैं, उन्हीं तृतीय आश्रममें रहनेवालोंके लिये 'आरण्यक' ग्रन्थ दृष्ट हुए। इन ग्रन्थोंके विषय-विवेचनसे भी पूर्वोक्त नामकरणके हेतुकी सत्यताका अनुमान किया जा सकता है। इन आरण्यक ग्रन्थोंमें कर्मकाण्डकी दार्शनिक भित्तिका ही विवेचन नहीं है, प्रत्युत अन्य भी अनेक दार्शनिक सिद्धान्तोंके उद्गम यहाँ दिखायी पड़ते हैं, जिनका प्रचुर विकास उपनिषदोंमें हमारे सामने आता है। इस प्रकार आरण्यकमें वर्णित दार्शनिक सिद्धान्तोंका अध्ययन करना भारतीय दर्शनके इतिहासकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व रखता है। इनके मनन करनेसे हमें पता चलेगा कि वैदिक संहिताओंसे आरम्भ होकर उपनिषदोंमें विकसित रूप प्राप्त होनेके पहले भारतीय दार्शनिक वादों तथा सिद्धान्तोंके कौन-कौनसे रूप थे। संक्षेपमें औपनिषद सिद्धान्तोंके पूर्वरूपसे अवगत हो जानेके लिये आरण्यकोंका अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है।

ऐतरेय आरण्यक

अथर्ववेदको छोड़कर प्रत्येक वेदके एक या अनेक आरण्यक हैं। ऋग्वेदके दो आरण्यक हैं—ऐतरेय तथा शांखायन। यह ऐतरेय आरण्यक अपने विषयमें विशेष महत्त्वका है। इसके पाँच खण्ड हैं। उन्हें भी आरण्यक ही कहते हैं। प्रत्येक आरण्यकमें कई अध्याय हैं। पहले आरण्यकमें पाँच अध्याय, दूसरेमें सात, तीसरेमें दो, चौथेमें एक और पाँचवेंमें तीन। इस प्रकार पूरे ग्रन्थमें अठारह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्यायमें कई खण्ड हैं। इनमें दूसरे आरण्यकको छोड़कर अन्य भागोंमें ऐसे विषय हैं जिनसे इस समय हमारा मतलब नहीं। द्वितीय आरण्यकके भी सात अध्यायोंमेंसे अन्तिम चार अध्याय मिलकर ऐतरेय उपनिषद् है। आदिके तीन अध्यायोंमें प्राणविद्याका विवेचन किया गया है। इस लेखमें इन्हीं अध्यायोंमें वर्णित प्राणविद्याका सार जिज्ञासु पाठकोंके उपकारार्थ प्रस्तुत किया जायगा। इस अध्यायोंमें प्रमाणके लिये—वर्णित विषयकी पुष्टि करनेके लिये ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंका निर्देश किया गया है। अतः मुख्य विषयपर आनेसे पहले एक-दो मन्त्र ऋग्वेदसे दिये

* अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यताम्। (सायणभाष्य ऐतरेय आरण्यक पृ० २)

जायँगे, जिससे प्राणविद्याके ऋग्वेदीय स्वरूपका स्वल्प परिचय प्राप्त हो जाय।

ऋग्वेदमें प्राण-स्वरूप-वर्णन

ऐतरेय आरण्यकके प्राणविद्या-विषयक अध्यायोंमें ऋग्वेदके लगभग आठ या दस मन्त्रोंको प्रमाणके लिये उद्धृत किया गया है। यहाँपर केवल दो मन्त्रोंको उद्धृत करनेका विचार है। इन मन्त्रोंका अर्थ भी श्रीसायणाचार्यके भाष्यके अनुसार कर दिया गया है। प्राण समस्त विश्वको व्याप्त किये हुए है, इस विषयमें यह मन्त्र '**तदुक्तमृषिणा**' कहकर दिया गया है[1]—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥[2]

इस मन्त्रके द्रष्टा दीर्घतमा ऋषि कह रहे हैं कि मैंने प्राणको देखा है—साक्षात्कार किया है। यह प्राण सब इन्द्रियोंका गोपा (रक्षक) है। यह कभी नष्ट नहीं होनेवाला है। यह भिन्न-भिन्न मार्गों अर्थात् नाड़ियोंके द्वारा आता और जाता है। मुख तथा नासिकाके द्वारा क्षण-क्षणमें इस शरीरमें आता है तथा फिर बाहर चला जाता है। यह प्राण शरीरमें—अध्यात्मरूपमें—वायुके रूपमें है, परंतु अधिदैवरूपमें सूर्य है। अन्य श्रुति कहती है—

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः।

(प्रश्नोपनिषद् ३।८)

यह प्राण आदित्यरूपसे मुख्य तथा अवान्तर दिशाओंको व्याप्तकर वर्तमान है और सब भुवनोंके मध्यमें बारंबार आकर निवास करता है। इस मन्त्रसे यही सारांश निकलता है—**सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्**[3]। इस समस्त विश्वके देव, मनुष्य तथा पशु आदि समग्र प्राणी प्राणवायुके द्वारा व्याप्त हैं।

प्राण अमृतरूप है। जबतक उसका इस देहमें वास है, यह शरीर मृत्युको प्राप्त नहीं होता। इस सिद्धान्तकी पुष्टि करनेके लिये ऋग्वेदका यह मन्त्र दिया गया है—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥

(१।१६४।३८)

यह प्राण इस शरीरमें स्वधा-अन्नके द्वारा ही स्थित है। यह मलमूत्रादिके निकालनेके लिये अधोभागमें जाया करता है तथा श्वासके लिये मुख आदि ऊर्ध्वभागमें संसरण किया करता है अर्थात् वह अपान तथा प्राणके रूपमें शरीरमें सर्वदा संचार किया करता है। प्राण अमर्त्य है—अर्थात् मृत्युरहित है, परंतु यह मरणधर्मवाले शरीरके साथ सदा एक स्थानपर निवास करता है। ये शरीर और प्राण विविधव्यापारसम्पन्न हैं तथा आपसमें विरुद्ध हैं, क्योंकि मृत हो जानेपर शरीर पृथ्वीपर गिर जाता है, परंतु प्राण ऊपर किसी लोकान्तरमें चला जाता है। इन दोनोंमेंसे देहको मनुष्य अन्नपानके द्वारा बढ़ा सकता है, परंतु प्राणको अन्न और पानसे कोई भी नहीं बढ़ा सकता।

इसी प्रकार अन्य अनेक मन्त्रोंमें प्राणके स्वरूपका यथार्थ वर्णन हमें उपलब्ध होता है। इन सब मन्त्रोंका निर्देश करनेके लिये यहाँ न तो उचित अवसर है, न स्थान ही। इन दो मन्त्रोंको यहाँ उद्धृत करनेसे हमारा यही अभिप्राय है कि प्राणकी महत्ताको ऋग्वेदकी संहितामें भी स्वीकार किया गया है। यहीं हमें प्राणविद्याका वह मूल दृष्टिगोचर होता है जिसका विकास आरण्यकोंसे होता हुआ उपनिषदोंमें उपलब्ध होता है।

प्राणकी श्रेष्ठता

सब इन्द्रियोंमें कौन श्रेष्ठ है? इसका उत्तर उपनिषदोंमें एक अतीव हृदयग्राहिणी आख्यायिकाके द्वारा दिया गया है। इस विषयका वर्णन छान्दोग्य (५।१), कौषीतकि (२।१४) तथा प्रश्नोपनिषद् (२।१—१३)-में आया

१. ऐतरेय आरण्यक (आनन्दाश्रम संस्करण पृ० १०६)।
२. ऋग्वेद (१।१६४।३१; १०।१७७।३)।
३. ऐतरेय आरण्यक (पृ० १०८)।

हुआ है। छान्दोग्य (५।१।६—१५)-का वर्णन पूर्ण ही नहीं, प्रत्युत सबसे प्राचीन भी माना जाता है। परंतु बात ऐसी नहीं है। आरण्यकमें भी यह कथानक ज्यों-का-त्यों मिलता है। ऐतरेय आरण्यकके दूसरे आरण्यकके पहले अध्यायके चतुर्थ खण्डमें यह इन्द्रिय-प्राणसंवाद बड़ी ही सुन्दर रीतिसे दिया गया मिलता है।

चक्षु, श्रवण आदि इन्द्रियोंमें आपसमें यह स्पर्धा चली कि उक्थ कौन है? सब झगड़ने लगे कि 'मैं ही उक्थ हूँ', 'मैं ही उक्थ हूँ।' अंतमें उन्होंने कहा कि हमलोग इस शरीरसे निकल चलें; जिसके निकल जानेपर यह शरीर नष्ट हो जाय तथा गिर पड़े, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाय। पहले वागिन्द्रिय निकल गयी। परंतु यह शरीर बिना बोले खाते-पीते टिका रहा। अनन्तर चक्षु निकल गया; यह देह बिना देखे खाते-पीते टिकी रही। श्रवण निकल गया, यह शरीर बिना सुने खाते-पीते टिका रहा। मनके निकल जानेपर भी यह शरीर मूँदे हुएकी तरह खाते-पीते बना रहा; परंतु प्राणके बाहर निकलते ही यह शरीर गिर पड़ा। इसपर भी प्राणकी श्रेष्ठताके विषयमें इन्द्रियोंको निश्चय नहीं हुआ। अब भी वे आपसमें झगड़ा करती ही रहीं। अब यह स्थिर हुआ कि जिसके प्रवेश करनेपर यह शरीर उठ खड़ा हो, वही उक्थ है—वही हममें श्रेष्ठ है। वागिन्द्रिय पहले घुसी, परंतु यह शरीर सोया ही रहा। चक्षु, श्रवण, मन बारी-बारी प्रवेश करते गये, परंतु कोई परिणाम नहीं हुआ। यह शरीर पहलेकी भाँति ही सोया-सा रहा—पृथ्वीपरसे उठ नहीं सका। अन्तमें प्राणने प्रवेश किया, उसके प्रवेश करते ही यह शरीर उठ खड़ा हुआ। अत: प्रतिज्ञाके अनुसार प्राण ही उक्थ माना गया। वही सब इन्द्रियोंमें श्रेष्ठ माना गया।[1]

आरण्यकका यह वर्णन उपनिषद्के वर्णनसे कई अंशोंमें भिन्न-सा है। उपनिषद्में तो प्राण निकलते समय शरीरकी अन्य इन्द्रियोंके खिन्न तथा निर्जीव होनेकी घटनाका वर्णन है, परंतु इस आरण्यकमें प्रवेशसे पतित शरीरको खड़ा करा देनेकी योग्यताका एक नवीन उल्लेख प्राणके विषयमें किया गया है। प्राणकी श्रेष्ठता इस प्रकार उत्क्रमणसे ही नहीं, बल्कि प्रवेशसे भी सिद्ध की गयी है। इस आरण्यकके अध्ययनसे यह भी पता चलता है कि यह विषय ऋग्वेदकी संहितामें भी निर्दिष्ट किया गया है। इन्द्रियोंने **'त्वमस्माकं तव स्मसि'** (तुम हमारे स्वामी हो और हम तुम्हारे भृत्य हैं) कहकर प्राणकी श्रेष्ठता स्वयं मानी है। यह इस मन्त्रसे स्पष्ट प्रतीत होता है।[2]

प्राणकी उपासना

प्राणकी सब इन्द्रियोंमें श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेके अनन्तर उसकी उपासनाके प्रकारका विस्तृत वर्णन इस आरण्यकमें किया गया है। इस प्राणके अनेक गुणोंका विशद विवेचन किया गया है। अनन्तर उसमें भिन्न-भिन्न देवता तथा ऋषियोंकी दृष्टि कर प्राणोपासनाके ढंग तथा उसके फलका उल्लेख किया गया है। इस लेखमें इस वर्णनका थोड़ा-सा सारांश प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया गया है।

हमारे शास्त्रोंमें इस पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्डकी एकतापर सर्वत्र जोर दिया गया मिलता है। बाहर जो यह विशाल ब्रह्माण्ड नानाकारोंसे हमारे सामने उपस्थित है, उसका एक छोटा-सा प्रतिनिधि है यह हमारा लघु शरीर। अत: भीतर तथा बाहर सब जगह भिन्न-भिन्न आकारसे एक ही तत्त्व इस मानव-शरीर तथा विश्वरूपमें समभावसे व्याप्त दृष्टिगोचर हो रहा है। बाह्य जगत्में जो विश्वका पोषक आदित्य है, इस शरीरमें सब इन्द्रियोंकी स्थितिका कारण वही प्राण है। श्रुतिमें प्राण तथा आदित्यकी एकता सर्वत्र प्रतिपादित की गयी है। प्रश्नोपनिषद्में कहा गया है—**'आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः।'** (प्रश्न० ३।८) आरण्यकोंमें भी इसी एकताका प्रतिपादन स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। अत: जिस प्रकार आदित्य हमारी उपासनाका विषय है, उसी प्रकार इस शरीरमें

१. ऐतरेय आरण्यक (पृ० १००-१०१)।
२. ऐतरेय आरण्यक (पृ० १०२)।

प्राण भी हमारी उपासनाका विषय है। हमारा यह सतत ध्येय होना चाहिये कि हम इस प्राणकी उपासना सदा किया करें।

प्राणकी महिमा

सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।

(ऐतरेय आरण्यक २।१।६)

अर्थात् प्राण इस विश्वका धारक है। 'प्राणकी ही शक्तिसे जैसे यह आकाश अपने स्थानपर स्थित है, उसी तरह सबसे बड़े प्राणीसे लेकर चींटीतक समस्त जीव इस प्राणके द्वारा ही विधृत हैं।' यदि प्राण न होता, तो इस विश्वका जो यह महान् संस्थान हमारे नेत्रोंके सामने सतत आश्चर्य पैदा किया करता है, वह कहीं भी नहीं रहता।

प्राण सर्वत्र व्याप्त है। **'सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्'** (प्राणसे यह सारा जगत् आवृत है)। वह विश्वका धारक है, अतः वह उसका रक्षक है। मन्त्रमें इसीलिये प्राणको 'गोपा' कहा गया है। प्राण ही आयुका कारण है। कौषीतकि उपनिषद्में प्राणके आयुष्यकारक होनेकी बात स्पष्ट ही कही गयी है—

यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसीत तावदायुः।

(१।२)

जबतक इस शरीरमें प्राण रहता है तभीतक आयु है। अतः श्रुतिमन्त्रोंमें प्राणके लिये 'गोपा' शब्दका व्यवहार उचित ही है।

प्राणके द्वारा अन्तरिक्ष तथा वायुकी सृष्टि हुई है। प्राण पिता है तथा अन्तरिक्ष और वायु उसकी संतान हैं। जिस प्रकार कृतज्ञ पुत्र अपने सत्कर्मोंसे पिताकी सेवा किया करता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और वायुरूप पुत्र भी प्राणकी सेवामें लगे रहते हैं। अन्तरिक्षका अनुसरण करके ही प्राणिमात्रका संचरण होता है और अन्तरिक्षकी सहायतासे ही आदमी दूर स्थानपर कहे गये शब्दोंको सुन लिया करता है। इस प्रकार अन्तरिक्ष प्राणकी परिचर्या करता है। वायु भी शोभनगन्ध ले आकर प्राणको तृप्त कर देता है तथा इस प्रकार अपने पिता प्राणकी सेवा किया करता है। ऐतरेय आरण्यकमें प्राणके स्रष्टा तथा पिता होनेकी बात इस प्रकार कही गयी है—

प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति; अन्तरिक्षमनुशृण्वन्ति। वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति। एवमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च।

अर्थात् 'प्राणसे अन्तरिक्ष और वायुकी सृष्टि हुई। अन्तरिक्षका अनुसरण करके प्राणी चलते हैं और अन्तरिक्षका अनुसरण करके सुनते हैं। वायु इसके पास पुण्यगन्ध ले आता है। इस प्रकार ये अन्तरिक्ष और वायु अपने पिता प्राणकी परिचर्या करते हैं।'

प्राणकी ध्यानविधि

ध्यान करनेके लिये प्राणके भिन्न-भिन्न गुणोंका उल्लेख विस्तृतरूपसे किया गया है। तत्तद्रूपसे प्राणका ध्यान करना चाहिये। उन-उन रूपोंसे उपासना करनेसे फल भी तदनुरूप ही उपासकको प्राप्त होंगे। उस ध्यानके कतिपय प्रकारोंका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

प्राण ही अहोरात्रके रूपमें कालात्मक है। दिन प्राणरूप है तथा रात्रि अपानरूप। सबेरे प्राण सब इन्द्रियोंको इस शरीरमें अच्छी तरहसे फैला देता है। इस 'प्रतनन' को देखकर मनुष्य लोग कहते हैं—**'प्राताथि'** अर्थात् प्रकर्षरूपसे प्राण विस्तृत हुआ। इसी कारण दिनका आरम्भ-काल जिसमें प्राणका प्रसरण दृष्टिगोचर होता है 'प्रातः' (सबेरा) कहलाता है। दिनका अन्त होनेपर इन्द्रियोंमें संकोच दीख पड़ता है। उस समय कहते हैं **'समागात्'**। इसी कारण उस कालको 'सायं' कहते हैं। विकासके कारण दिन प्राणरूप है और संकोचके हेतु रात्रि अपान है। प्राणका ध्यान इस प्रकार अहोरात्रके रूपमें करना चाहिये।

प्राण ही देवतात्मक है। वाग्में अग्नि देवताका निवास है; चक्षु सूर्य है; मन चन्द्रमा है; श्रोत्र दिशाएँ हैं। प्राणमें इन सब देवताओंकी भावना करनी चाहिये। 'हिरण्यदन् वैद' नामक एक ऋषिने प्राणके इस रूपको जाना था तथा प्राणकी देवतारूपसे उपासना की थी। इस उपासनाका जो विपुल फल उन्हें प्राप्त हुआ,

उसका वर्णन ऐतरेय आरण्यकमें स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। (ऐतरेय आरण्यक पृ० १०३-१०४)

प्राण ही ऋषिरूप है। ऋग्वेदके मन्त्रोंके द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं। इन सब ऋषियोंकी भावना प्राणमें करनी चाहिये; क्योंकि प्राण ही इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके आकारमें विद्यमान है। प्राण ही शयनके समयमें वाग्, चक्षु आदि इन्द्रियोंके निगरण करनेके कारण 'गृत्स' कहलाता है और रतिके समयमें वीर्यके विसर्गजन्य मद उत्पन्न करनेके कारण अपान ही 'मद' हुआ। अतः प्राण और अपानके संयोगको ही गृत्समद कहते हैं, प्राण ही विश्वामित्र है क्योंकि इस प्राण-देवताका यह समस्त विश्व भोग्य होनेके कारण मित्र है (**विश्वं मित्रं यस्य असौ विश्वामित्रः**)। प्राणको देखकर वागाद्यभिमानी देवताओंने कहा, 'यही हममें वाम'—वननीय, भजनीय, सेवनीय है, क्योंकि यह हममें श्रेष्ठ है। इसी हेतु देवोंमें 'वाम' होनेसे प्राण ही वामदेव है। प्राण ही अत्रि है, क्योंकि इस प्राणने ही समस्त विश्वको पापसे बचाया है। (**सर्वं पाप्मनोऽत्रायत इति अत्रिः**)। प्राण ही भरद्वाज है। गतिसम्पन्न होनेसे मनुष्यके देहको 'वाज' कहते हैं। प्राण इस शरीरमें प्रवेश कर सतत उसकी रक्षा किया करता है। अतः वह प्राण 'विभ्रद्वाज' है। इसी कारण वह भरद्वाज है। देवताओंने प्राणको देखकर कहा था कि तुम 'वसिष्ठ' हो, क्योंकि इस शरीरमें इन्द्रियोंके निवास करनेका कारण प्राण ही है। प्राण ही सबसे बढ़कर वास या निवासका हेतु है। अतः वह वसिष्ठ हुआ। इन निर्वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि प्राण ही ऋषिरूप है। अतः प्राणमें इन ऋषियोंकी भावना करनी चाहिये तथा तद्रूप उपासना करनी चाहिये। अन्य ऋषियोंकी भी भावना इसी प्रकार बतलायी गयी है।

इस आरण्यकमें यहाँतक प्राणके विषयमें कहा गया है कि—

सर्वा ऋचः, सर्वे वेदाः, सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्।

(ऐत० २।२।१०)

जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राणको ही इन रूपोंमें समझना चाहिये तथा उसकी उपासना करनी चाहिये।

प्राणके इन भिन्न-भिन्न रूपों तथा गुणोंको जानकर तत्तद्रूपसे उसकी उपासना करनी चाहिये।

ऊपर प्राणविद्याका जो एक स्वल्प परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट प्रतीत हो गया होगा कि प्राणकी उपासना हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन कालसे चली आती है। उपनिषदोंमें तो उसके विपुल वर्णन उपलब्ध होते ही हैं। आरण्यकोंमें भी प्राणविद्याका प्रचुर वर्णन है, परंतु सच तो यह है कि संहिताके मन्त्रोंमें भी इनके बहुत-से निर्देश मिलते हैं। अतः इस विद्याके मूलरूपके ज्ञानके लिये ऋग्वेदस्थ मन्त्रोंका इस दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये तथा इस विद्याके उद्गम एवं विकासको ठीक-ठीक समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। **इति शम्।**

काशीस्मरणमात्रेण

काशीस्मरणमात्रेण किञ्चित्रं यदघं व्रजेत्। गर्भवासोऽपि नश्येत विश्वेशानुग्रहात्परात्॥
गच्छता तिष्ठता वापि स्वपता जाग्रताथवा। काशीत्येष महामन्त्रो येन जप्तः स निर्भयः॥

(स्क० पु० का० खं० ५०। १२८, ६४। ३६)

विष्णुभगवान् गरुड़जीसे कहते हैं—काशीके स्मरण करनेमात्रसे ही पाप नष्ट हो जाते हैं, विश्वेश्वरकी प्रसन्नतासे प्राणियोंके गर्भवासका असह्य कष्ट भी नष्ट हो जाता है, अर्थात् प्राणिमात्रको जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है। स्कन्दजी अगस्त ऋषिको सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि जो प्राणी चलते, खड़े, सोते और जागते हुए हर समय 'काशी' इन दो अक्षरोंके महामन्त्रको जपते रहते हैं, वे इस कराल संसारमें निर्भय रहते हैं, अर्थात् इस संसारके भवबन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं।

योजनानां शतस्थोऽपि विमुक्तः स्यात् स्मरेद्यदि । बहुपातकपूर्णोऽपि पदं गच्छत्यनामयम्॥

(नारदपुराण ६। ३७)

सौ योजनपर स्थित रहकर भी यदि श्रीकाशीजीका स्मरण करे तो बहुत पाप-कर्मसे पूर्ण होनेपर भी वह प्राणी पापरहित होकर परमपदको प्राप्त होता है।

वेदोंमें राष्ट्रिय एकताका संदेश

(वेद-दर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर पूज्य स्वामी श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी महाराज)

'**संघे शक्तिः कलौ युगे**'—यह वचन सुप्रसिद्ध है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी संघशक्ति दृढ़ रखनेका प्रयत्न करता रहता है। इस लोकतन्त्रके मूलभूत आदर्शका दर्शन हमें वेदोंमें मिलता है। ऋग्वेदसे लेकर अथर्ववेदके संहिताग्रन्थों-तकमें राष्ट्रके उत्कर्षके कतिपय नीतिसूत्रोंका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद (१२।१)-का यह पूरा '**पृथ्वी-सूक्त**' ही हमारा राष्ट्रगीत है, जिसमें विविध प्रकारके वर्ग, जाति, धर्म, जनपदसे सम्बद्ध मानवोंको एक सूत्रमें संग्रथित रहनेका उपाय बताया गया है। जिसका '**माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः**' यह सुभाषित नीतिवाक्य तो विशेष प्रसिद्ध है।

ऋग्वेदका यह अन्तिम सूक्त है। उसका ऋषि संवनन है। इस सूक्तमें अर्थसंगतिके रूपमें दो विभाग बनते हैं। प्रथम मन्त्रके द्वारा ऋषि स्तुति करता है—'हे अग्नि, आप सभी मानवोंको चारों ओरसे सम्मिलित करते हैं। आप स्वयं वैश्वानरके रूपमें सभी प्राणियोंको व्याप्त किये हुए हैं। आप पृथ्वीके वेदिस्वरूप स्थानमें ऋत्विजोंके साथ चमकते रहते हैं। आप हमें धन-रत्नादि सुलभ करायें।'

ऋग्वेद (१०।१९१)-के सूक्त—'**विश्वानि वसूनि**' इस मन्त्रके द्वारा आठ रत्नोंकी प्राप्तिकी सूचना मिलती है। ये आठ रत्न—बन्धु, मेधा, यश, ब्रह्म, वेदचतुष्टयी (मन्त्र), रत्न, भग-ऐश्वर्य और वृत हैं। आठ रत्नोंकी प्राप्ति हो गयी, परंतु राष्ट्रका संगठन न हुआ तो क्या लाभ? इस सूक्तके द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ मन्त्रमें राष्ट्रके संविधानका निर्देश है। उपक्रमके रूपमें '**सं गच्छध्वम्**' वाक्य संघका सूचक है तथा उपसंहारके रूपमें '**यथा वः सुसहासति**' के द्वारा संघके ऐकमत्यका प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय मन्त्रमें संगठनके तीन साधन बताये हैं। यह भगवती वेदमाता अपने मानव पुत्रोंको उपदेशके रूपमें सुनाती है, '**सं गच्छध्वम्**' हे मेरे पुत्र मानव, आप सब एक सूत्रमें बँध जायँ, संगठित हो जायँ। विश्वहितके लिये अपना सुदृढ़ संगठन शीघ्र ही साथ लें। संगठनके ये तीन साधन हैं—

१—'**सं वदध्वम्**।' आप लोग साथ-साथ बोलें अर्थात् परस्परका विरोध त्यागकर एक ही भाषा बोलनेका यत्न करें।

२—'**सं वो मनांसि जानताम्**।' आप लोगोंकी संवादयुक्त वाणी एक हो। इतना ही नहीं, आपके अन्तःकरण भी एक विषयको जानें। अर्थात् एकविध (राष्ट्रके हितकारी) अर्थको आप सब जानें।

३—'**देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते**॥' जैसे विश्वराज्यके अधिकारी सूर्य आदि देव अथवा ब्रह्माण्डके रूपमें पिण्डराज्यके अधिकारी चक्षु आदि इन्द्रियोंमें अधिष्ठित सूर्य आदि देव समस्त साधन-सम्पत्तिके प्राप्त्यर्थ अपने विभागोंका बिना प्रमादके संचालन करते हैं, ठीक वैसे ही आप सब मानव एकमत होकर, परस्परके विरोध या वैमनस्यको छोड़कर समाज, राज्य या प्रजातन्त्रका शासन सफलतासे करते रहें।

वास्तवमें यह विश्व एक महान् राज्य है, जिसमें भिन्न-भिन्न विभागोंके अधिकारी, मन्त्रीगण अपने-अपने विभागोंको कुशलतासे चलाते रहते हैं।

जैसे आजके प्रजातन्त्र शासनमें राष्ट्रपति, लोकसभाके अध्यक्ष, प्रधान मन्त्री, अन्य मन्त्रीगण अपने-अपने शिक्षा, रक्षा, स्वास्थ्य, खाद्य, उद्योग आदि सम्बन्धित विभागोंको चलाते हैं, विश्वराज्यमें भी वही व्यवस्था है। द्वितीय मन्त्रमें तो वेदमाताने संवनन ऋषिके द्वारा उपदेश दिया है। उसके तीसरे मन्त्रमें विश्वराज्यके राष्ट्रपतिने संविधान बनानेका प्रस्ताव रखा है, उसका रूप मिलता है। द्वितीय मन्त्रके तीन साधन (१) एक प्रकारका संवाद, (२) परस्परके मनका ऐकमत्यसे अवबोध तथा (३) अन्य विभागोंमें हस्तक्षेप न करते हुए अपने विभागोंके हितोंका संरक्षण। इन तीन साधनोंके साथ तीसरे मन्त्रमें निर्दिष्ट छः साधन जोड़नेसे राष्ट्रके संविधानके नौ साधन प्राप्त होते हैं। इस विश्वराज्यका राष्ट्रपति प्रस्ताव रखता हुआ कहता है—'**समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः**' मैं राष्ट्रपतिकी तरह विश्वपति समान मन्त्रणाद्वारा पारित (निर्णीत) आपके प्रस्तावको अनुमति देता हूँ अर्थात्

सर्वसम्मत प्रस्तावपर राष्ट्रपतिद्वारा अपने हस्ताक्षरपूर्वक सादर स्वीकृति प्रदान संगठनका एक मुख्य साधन है। यह प्रस्ताव सर्वसम्मत होना चाहिये, उसका निर्देश करते हैं—

(१) '**समानो मन्त्रः**'—मन्त्रणा, राष्ट्रहितार्थ गुप्त मन्त्रणा एक ही प्रकारकी हो, उसमें ऐकमत्य बना रहे। मत-विभेद या विघटन न हो।

(२) '**समितिः समानी**'—कार्यकारिणी या विषय-विचारिणी सभा एकविध हो। अर्थात् सदस्योंके बीच वैमनस्य न हो।

(३) '**समानं मनः**'—सदस्योंके मन भी एक समान—सदृश हों। परस्परके मनमें विपरीत भाव न हों।

(४) '**सह चित्तमेषाम्**'—इन सदस्योंके चित्त भी एक निश्चयके साथ समान—सुदृढ़ हों। इस प्रकारके समितिके सदस्योंके वार्तालाप, समितिके मत, सदस्योंके मन और निश्चय चारों साधन समान होंगे, तभी राष्ट्रपतिके सामने सर्वसम्मत प्रस्तावको रखा जायगा।

(५) '**समानं मन्त्रम्**'—प्रस्तावको वह सभापति स्वीकृत करेंगे तथा—

(६) '**समानेन वो हविषा जुहोमि**'—'**हूयते दीयते इति हविः**' इस व्युत्पत्तिसे हविका अर्थ है पुरस्कार। समान-सदृश अर्थात् जिसने जैसा राष्ट्रका हित किया, उसके अनुरूप राष्ट्रिय पुरस्कारद्वारा सभी राष्ट्रसेवकोंको राष्ट्रपतिके रूपमें मैं प्रसन्न करता हूँ। महाभाष्यकारोंने '**जुहोमि**' का अर्थ प्रसादन अर्थात् प्रसन्न करना भी बताया है और वही अर्थ यहाँ विवक्षित है।

इस प्रकार सर्वसम्मत प्रस्तावको रखकर एवं राष्ट्रके सेवकोंको प्रसन्न कर चतुर्थ मन्त्रके द्वारा राष्ट्रपति सभी सदस्योंके सहकार और निष्कपट धैर्यपूर्ण व्यवहार रखनेको कहते हैं।

(१) '**समानी व आकूतिः**'—

आपके अभिप्राय, प्रतिक्रिया, संकल्प या निश्चय समान हों।

(२) '**समाना हृदयानि वः।**'

आप लोगोंके हृदय समानरूपसे सरल-निष्कपट हों।

(३) '**समानमस्तु को मनः।**'

आप लोगोंका मन एक समान हो, अर्थात् आप जो कार्य करें, उसमें मनका अनुराग एक समान बना रहे।

इस मन्त्रमें आकूतिसे अभिप्राय या संकल्प, हृदयसे भाव तथा मनसे कार्यतत्परता—इन तीनोंमें समरूपता बताकर मन, वचन, कर्मकी एकवाक्यताका निर्देश किया। अर्थात् ये भी तीन साधन हैं।

प्रस्तुत तीनों मन्त्रोंके द्वारा उपक्रम और उपसंहारके रूपमें राष्ट्र-संविधानका आदर्श उपलब्ध होता है। द्वितीय मन्त्रके तीन, पहले मन्त्रके छः तथा चतुर्थ मन्त्रके तीन साधनोंको जोड़नेसे राष्ट्रकी सुरक्षामें बारह साधन अत्यन्त उपयुक्त और हितकारी हैं।

[प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

तुलसी-साहित्य और वेद

(डॉ० श्रीशुकदेवजी राय, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न)

तुलसीदासजीकी रचनाएँ समन्वय-स्वरूप हैं। जिस प्रकार इनके व्यक्तित्वमें भक्त और कविका मणिकाञ्चन योग है, उसी प्रकार इनके साहित्यमें विभिन्न तत्त्वोंका समन्वय भी। इनका 'श्रीरामचरितमानस' समन्वयकी एक विराट् चेष्टा है और उसी प्रकार इनकी अन्य रचनाएँ भी समन्वय-गुण सापेक्ष हैं—इस बातकी स्वीकारोक्ति स्वयं कविकी इस पंक्तिसे हो जाती है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।

सम्भवतः यही कारण है कि रचनाएँ कविके शब्दोंमें '**स्वान्तःसुखाय**' होते हुए भी '**बहुजन-हिताय**' हैं और इसीलिये उच्चकोटिके साहित्यमें मान्य है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

(रा० च० मा० १। १४। ९)

अर्थात् 'कीर्ति, कविता और सम्पत्ति वही उत्तम है, जो गङ्गाजीकी तरह सबका हित करनेवाली हो।' यही सर्वहितकी भावना 'सहित' शब्दके अपत्यरूप साहित्य-शब्दके यथार्थका द्योतन करती है।

मानसमें लोक और धर्मके क्षेत्रमें, ज्ञान और कर्मके क्षेत्रमें, नाम और रूपके क्षेत्रमें, साकार और निराकारके क्षेत्रमें, काव्यके क्षेत्रमें, कथा और काव्यकी परिधिमें तथा अन्य अनेक क्षेत्रोंमें समन्वयका सफल प्रयास स्पष्टतः परिलक्षित है। उसी क्रममें लोक और वेदका समन्वय सर्वथा परिदर्शनीय है।

वेद क्या है? इसका परिशीलन इस प्रसंगमें आवश्यक-सा प्रतीत होता है।

'**विद्**' धातुसे '**घञ्**' प्रत्यय लगाकर बननेवाला '**वेद**' शब्द ज्ञानका प्रतीक है। ईश्वर ज्ञानका सम्पूर्ण रूप है। जीवका लक्ष्य मोक्षकी प्राप्ति है। इसके तीन साधन माने गये हैं—(१) ज्ञान, (२) कर्म और (३) आराधना। ज्ञानका अन्तिम लक्ष्य ईश्वरके स्वरूपको जानना है। ईश्वर जीवको इस विश्वमें कर्मका क्षेत्र देता है, कर्म करनेके लिये प्रेरित करता है। जिस प्रकार ज्ञानका अन्तिम ध्येय ईश्वरको जान लेता है, उसी प्रकार कर्मयात्राका चरम लक्ष्य ईश्वरका साक्षात् करना अथवा उसकी प्राप्ति है।

हमारी इच्छाकी पूर्ति भोग है। ज्ञान और कर्मकी मीमांसा तो हम केवल मनुष्य-शरीरमें ही कर सकते हैं, परंतु योगके सिद्धान्तोंको चेतन जगत्के स्वाध्यायसे समझ सकते हैं। मनुष्य-जीवनका लक्ष्य मोक्ष है और वहाँतक पहुँचनेके लिये ज्ञान, कर्म और उपासना साधना-त्रयी है। वेदत्रयीमें इनका वर्णन है। ईश्वरके साक्षात्कारके सम्बन्धमें जो मान्य धारणाएँ हैं, उससे तुलसीदासजी पूर्णतः सहमत नहीं लगते। इनके '**श्रीराम**' परम ब्रह्म परमेश्वर हैं। वे साधन-साध्य नहीं हैं, अपितु कृपा-साध्य हैं—

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥
यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥

(रा० च० मा० ४।२१।६)

प्रभुके गुणोंका गान करनेवाले वेदोंने उनके कर्मको समझ पानेके सम्बन्धमें केवल 'नेति-नेति' कहा है—

सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥

(रा० च० मा० १।१२)

तुलसीदासजीके काव्यमें लोक-मङ्गलकी भावना है—लोकाचार और वेदाचारको साथ-साथ लेकर चलनेका स्तुत्य प्रयास है। वेद-वर्णित मार्गके अनुगमनको ही इन्होंने इस कामके लिये श्रेय माना है, पर कहीं भी लोकाचारकी उपेक्षा नहीं है। अतः इनकी रचनाओंमें लोकाचार और वेदाचार एक-दूसरेके अनुगामी-जैसे लगते हैं। पता ही नहीं चलता कि लोकाचारका अनुगमन वेद कर रहा है या वेदका अनुगमन लोकाचार। पुरोहित वेद-मन्त्र भले भूल जायँ, क्रियामें व्यतिक्रम भले ही हो जाय, पर लोकाचारमें प्रवीण नारियाँ अपने मङ्गलगीतोंके माध्यमसे सही मार्गका दिग्दर्शन अवश्य करा देती हैं।

वेदको तुलसीदासजीने अपने काव्यमें बहुत विस्तृत अर्थमें लिया है। उसके अन्तर्गत 'वेदत्रयी' के अतिरिक्त 'गृह्यसूत्र'-तक समाहित किये गये हैं। तुलसी-काव्यमें 'वर्णाश्रम-धर्म' और जीवनको परिवर्धित और परिष्कृत करके मानव-मूल्योंके साथ जोड़नेवाले संस्कारोंका यथास्थान सटीक वर्णन मिलता है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्तके लगभग सारे संस्कार तुलसीकाव्यमें उल्लिखित हैं।

रामजन्मके समय जातकर्मका वर्णन इस प्रकार है—***'नंदीमुख सराध करि जातकरम सब कीन्ह'*** (रा० च० मा० १।१९३)। कुछ बड़े होनेपर फिर रामके यज्ञोपवीतका वर्णन मानसमें मिलता है। ***'भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता॥'*** (रा० च० मा० १।२०४।३)। इसके बाद वेदारम्भ होता है—***'गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई॥'*** (रा० च० मा० १।२०४।४)।

विवाहकी भी चर्चा इसी प्रसंगमें मिलती है। जनकपुर धनुष-यज्ञशालामें रामके विजयके उपरान्त जो क्रिया होती है, उसमें वेदके योगका वर्णन इस प्रकार है—

जहँ तहँ बिप्र बेदधुनि करहीं। बंदी बिरिदावलि उच्चरहीं॥

(रा० च० मा० १।२६५।४)

धनुषभंगके उपरान्त मुनिने जो आदेश दिया है, उसमें वेदाचार और लोकाचारको मिलाकर चलनेकी कैसी अनुपम योजना है—

तदपि जाइ तुम्ह करहु अब जथा बंस ब्यवहारु।
बूझि बिप्र कुलबृद्ध गुर बेद बिदित आचारु॥

(रा० च० मा० १।२८६)

ग्रामीण गीत और वेद-मन्त्रके साथ-साथ चलनेका उपक्रम कितना मनोहर है—

(क) 'सुभग सुआसिनि गावहिं गीता। करहिं बेद धुनि बिप्र पुनीता॥'

(रा० च० मा० १।३१३।४)

(ख) बेद बिहित अरु कुल आचारू। कीन्ह भली बिधि सब ब्यवहारू॥

(रा० च० मा० १।३१९।२)

विवाहकी विधियोंमें वैदिक रीति और मन्त्रोंकी प्रधानताको इन शब्दोंमें स्वीकारा गया है—

बिप्र बेष धरि बेद सब कहि बिबाह बिधि देहिं॥

(रा० च० मा० १।३२३)

विवाहके समय स्वस्तिवाचनका कितना सुन्दर वैदिक विधान है—

पढ़हिं बेद मुनि मंगल बानी। गगन सुमन झरि अवसरु जानी॥

(रा० च० मा० १।३२४।७)

विवाहकी सारी प्रक्रियाको पूरी करनेमें लोक और वेद दोनों रीतियोंका कैसा मिलान है—

जो बसिष्ट अनुसासन दीन्ही। लोक बेद बिधि सादर कीन्ही॥

(रा० च० मा० १।३५२।१)

तुलसीके श्रीराम स्वयं 'श्रुति सेतु पालक हैं।' वे लोकमें आकर भी वेदको कैसे भुला सकते हैं? *'श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस०।'* राज्याभिषेकके समय भी लोक और वेदके निर्देशनको कविने ध्यानमें रखा है—

लोक बेद संमत सबु कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई॥

(रा० च० मा० २।२०७।३)

भरतके परितोषके लिये जो कुछ कहा गया है, उसमें लोक और वेदके सम्मिलित गतिका आभास है—

बेद बिदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥

(रा० च० मा० २।१७५।३)

संस्कारोंमें अन्त्येष्टि अन्तिम संस्कार है। यह वेद-विहित है। उसका वर्णन भी महाराज दशरथकी अन्त्येष्टि-क्रियाके समय मिलता है—

(क) सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्हीं। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥

(रा० च० मा० २।१७०।४-५)

(ख) नृपतनु बेद बिदित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमानु बनावा॥

(ग) सोधि सुमृति सब बेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥

(रा० च० मा० २।१७०।१, ६)

वेदकी अत्यधिक महत्ताको कविने लोक-मङ्गलके लिये स्वीकारा है और उसकी उपेक्षाको अहितकारी कहा है—

गुर श्रुति संमत धरम फलु पाइअ बिनहिं कलेस।
हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस॥

(रा० च० मा० २।६१)

श्रीरामचरितमानसकी भाँति ही तुलसीकी अन्य छोटी-बड़ी रचनाएँ इस मधु-मङ्गल योगसे खाली नहीं हैं। विनय-पत्रिकामें भी वेदकी चर्चा है—*'बेद-पुरान प्रगट जस जागै। तुलसी राम-भगति बर माँगै॥'* (पद २) शिवके प्रार्थनामें वेद-चर्चा इस प्रकार है—

बेद-पुरान कहत उदार हर। हमरि बेर कस भयेहु कृपिनतर॥

(पद ७)

लोक और वेदका समन्वय श्रीरघुनाथके चरित्रमें दर्शाया गया है—*'लोक बेद बिदित बड़ो न रघुनाथ सों।'*

इसी प्रकार आत्म-निवेदनमें वर्णित ये पंक्तियाँ उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण हैं—

श्रुति पुरान सबको मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये।

(वि० पद १८६)

ग्यान बिराग भगति साधन कछु सपनेहुँ नाथ! न मेरें॥

(विनय-पत्रिका, पद १८७)

अपनी छोटी रचना 'वैराग्य-संदीपनी' में भी कविने एक स्थानपर वेदको इसी क्रममें जोड़ा है—

तुलसी बेद-पुरान-मत पूरब सास्त्र बिचार।

(वै० स०, पद० ७)

तुलसीदासजीकी सबसे छोटी दो रचनाएँ हैं—'जानकी-मङ्गल एवं पार्वतीमङ्गल।' इनमें लोकाचार और वेदाचारका संघटन दिखाया गया है। इन रचनाओंकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आर्षवाक्योंको—वेदवाक्योंको नारीकण्ठसे ध्वनित करनेका प्रयास किया गया है। जो आजतक अनवरतरूपसे जीवित है। एक प्रकारसे ये लोकगीतोंमें उतर आये हैं, जिन्हें नारीकण्ठने अपनेमें

समाहित कर लिया है। जैसे—*'लोक बेद बिधि कीन्ह लीन्ह जल कुस कर।'* (पा० म० १३०)

कुल बिबहार बेद बिधि चाहिय जहँ जस।

(जा० म० १३९)

'कवितावली' में भी वेद और लोकके इस महायोगको घटित करनेका प्रयास मिलता है—

निगमागम-ग्यान, पुरान पढ़ै, तपसानलमें जुगपुंज जरै।

(उत्तर० ५५)

'दोहावली' का यह दोहा इस प्रसंगमें कितना मार्मिक लगता है—

श्रुति संमत हरि भगति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पंथ अनेक॥

(५५५)

'गीतावली' में तुलसीदासजीने लोकमें वैदिक क्रियाओंका मेल स्थान-स्थानपर दिखाया है, जिनका अपना महत्त्व है—

क—कीन्हि बेदबिधि लोकरीति नृप, मंदिर परम हुलास।

(पद बाल० २)

ख—बैदिक बिधान अनेक लौकिक आचरत सुनि जानिकै।

(पद बाल० ५)

ग—लोक-बेद-सनेह पालत पल कृपालहि जाहिं॥

(पद उत्तर० २६)

इस प्रकार तुलसीदासजीने अपनी छोटी-बड़ी रचनाओंमें लोक और वेद सम्मिलित स्वरूपको उपस्थापित करनेका और उसकी उपादेयता सिद्ध करनेका प्रयास किया है। सचमुच तुलसीका काव्य लोकमें वेद और वेदमें लोकका प्रतिबिम्ब है। उपसंहार-स्वरूप तुलसीका साहित्य इसीका उद्घोष करता है कि चारों वेद भगवान् श्रीरामके विशद यशका वर्णन करते हुए स्वप्नमें भी तृप्त नहीं होते—

बंदउँ चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहुँ खेद बरनत रघुबर बिसद जसु॥

वेदोंमें राजनीतिके कुछ सूत्र

(श्रीनाथूरामजी गुप्त)

त्वं ह त्यदिन्द्र सप्त युध्यन् पुरो वज्रिन् पुरुकुत्साय दर्दः।
बर्हिर्न यत् सुदासे वृथा वर्गंहो राजन् वरिवः पूरवे कः॥

(ऋग्वेद १।६३।७)

हे उत्तम शास्त्रोंसे युक्त राजन्! प्रकाशवान् विजय देनेवाले सभाके अधिपते! जो आप सभा, सभासद्, सभापति, सेना, सेनापति, भृत्य और प्रजा—इन सातोंके साथ प्रेमपूर्ण बर्ताव करते हैं, इसीलिये युद्धमें आप उन शत्रुओंके नगरोंका विदारण (या विजित) करते हैं। जो आप प्राप्त होने योग्य, राज्यके मनुष्योंको पूर्ण सुखी करनेके लिये उपयोगकी वस्तुएँ या सेवन करने योग्य पदार्थोंके दान करनेवाले मनुष्योंको अन्तरिक्षके समान सभी स्थानोंपर फैला देते हैं तथा व्यर्थ काम करने-वाले (जिन कार्योंका राष्ट्रके लिये कोई उपयोग न हो) मनुष्योंको वर्जित करते हैं (वैसा करनेसे रोकते हो), इस कारण आप हम सब लोगोंके सत्कार करने योग्य हैं।

तमप्सन्त शवस उत्सवेषु नरो नरमवसे तं धनाय।
सो अन्धे चित् तमसि ज्योतिर्विदन् मरुत्वान् नो भवत्विन्द्र ऊती॥

(ऋग्वेद १।१००।८)

हे मनुष्यो! तुममें जो व्यक्ति सब कार्योंको व्यवस्थित रूपसे संचालनकी निपुणता, विद्याबल तथा धनादि अनेक बलोंवाला हो, वह भी उत्सव तथा आनन्दके अन्य अवसरोंपर प्रबल युद्ध करनेवाले शत्रुसे युद्ध करनेवाले सेनापतिको सत्कार दे—सम्मानित करे। वह उत्तम वीरोंको रखनेवाले सेनापतिसे हमें रक्षा तथा प्रकाश उसी प्रकार प्राप्त कराये, जैसे अन्धकारको नष्ट करके सूर्य प्रकाश देता है। इस मन्त्रमें बल दिया गया है कि धनवान्, विद्वान् तथा अन्य प्रकारसे सम्पन्न व्यक्ति भी अपने अभिमानमें न रहकर राष्ट्ररक्षक सेनापतिका तथा सेनाका सार्वजनिक स्थलोंपर सम्मान करे, उन्हें

अभिनन्दित करे।

युवं तमिन्द्रपर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तंतमिद्धतं वज्रेण तंतमिद्धतम्। दूरे चत्ताय च्छन्त्सद् गहनं यदिनक्षत्। अस्माकं शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः॥

(ऋग्वेद १।१३२।६)

हे पहले भी युद्ध किये हुए सूर्य और मेघके समान वर्तमान सभा एवं सेनाधीशो! जो (शत्रु) हम लोगोंकी सेनापर आक्रमण करे, सबसे आगे जाकर तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रोंसे तुम दोनों उसको मारो, दण्ड दो। यदि वह शत्रु वनमें या संकटमें चला जाय तो दूर चले गये शत्रुको भी पकड़ो। हे शूरवीर! हमारे शत्रुओंको सब तरफसे बेधता हुआ छिन्न-भिन्न कर डालो। युद्धका निमन्त्रण देनेवालेको सम्यक् उत्तर दो। जो शत्रुओंकी सेनामें (जासूसी-हेतु) व्याप्त हो उसकी तुम निरन्तर रक्षा करो।

ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत्क्षितिं स्वर्वतीमा सचेते दिवेदिवे जागृवांसा दिवेदिवे। ज्योतिष्मत् क्षत्रमाशाते आदित्या दानुनस्पती। मित्रस्तयोर्वरुणो यातयज्जनो ऽर्यमा यातयज्जनः॥

(ऋग्वेद १।१३६।३)

जैसे सूर्य और वायु सम्पूर्ण द्युलोकमें अपनी आकर्षण-शक्तिद्वारा पृथ्वीको धारण करते हैं, उसी प्रकार शुभ प्रयत्न करनेवाले मनुष्य, श्रेष्ठ न्यायाधीश, पुरुषार्थवान् सेनाधीश तथा दानकी पालना करनेवाले सभाध्यक्षके प्रभावसे समस्त प्रजाजन न्याययुक्त अत्यन्त सुखको प्राप्त होते हैं।

सरस्वति त्वमस्माँ अविड्ढि मरुत्वती धृषती जेषि शत्रून्। त्यं चिच्छर्धन्तं तविषीयमाणमिन्द्रो हन्ति वृषभं शण्डिकानाम्॥

(ऋग्वेद २।३०।८)

जिस प्रकार विद्युत् या वायु बरसनेवाले मेघपर आघात करता है, हे प्रशंसित रूपवान् विज्ञानयुक्त विदुषी रानी! हे प्रगल्भ उत्साहनी! आप-जैसी सेनानायिका जिस प्रकार सेना शत्रुसैन्यके बली वीरोंको मारती है, उसी प्रकार हमारे सुखको नष्ट करनेवाले शत्रुओंको जीतती हो। इससे हम सबके सम्मान करने योग्य हो।

इमे भोजा अङ्गिरसो विरूपा दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः। विश्वामित्राय ददतो मघानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः॥

(ऋग्वेद ३।५३।७)

हे राजन्! जैसे प्राणवायु शरीरका पालन करती है, उसी प्रकार जो जनताके पालनेमें तत्पर, युद्ध-विद्यामें पूर्ण निपुण, वायुके समान शक्तिशाली असुरों, शत्रुओंके हननकर्ता, असंख्य धनैश्वर्यके उत्पन्नकर्ता, सम्पूर्ण संसारके मित्र हैं, जो अतिश्रेष्ठ धनोंको समाज-हितके लिये देते हुए मनुष्यके सामान्य स्वभाव (केवल परिवारतक ही अपनत्व रखनेवाला स्वभाव)-का उल्लंघन करते हैं, वे ही लोग आपसे सत्कारपूर्वक रक्षा पाने योग्य हैं।

त्वा युजा नि खिदत् सूर्यस्येन्द्रश्चक्रं सहसा सद्य इन्दो। अधि ष्णुना बृहता वर्तमानं महो द्रुहो अप विश्वायुधायि॥

(ऋग्वेद ४।२८।२)

हे चन्द्रके समान कान्तियुक्त प्रजाजन! विद्युत् जिस भाँति जलकी सहायतासे सूर्यके ज्योतिमण्डलको तेजोहीन बना देता है, उसी प्रकार आपका राजा आप प्रजाजनकी सहायतासे सूर्यके तुल्य शत्रु राजाके राज्यचक्रको कान्तिहीन करता है। शत्रुओंको नाश करनेवाला आपका राजा शत्रुओंको वृक्षोंकी भाँति कँपाता हुआ अपने शत्रु-विजयी सैन्य-बलसे अतिशीघ्र बिलकुल दीन-हीन कर सकता है तथा द्रोही शत्रुके कार्यकारीके रूपमें उपस्थित बड़े जीवन सामर्थ्ययुक्त, सर्वत्रगामी बलके भी निराकरणमें समर्थ होता है।

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य ग्नाय्यश्विनी राट्। आ रोदसी वरुणानी शृणोतु वयन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥

(ऋग्वेद ५।४६।८)

देवसमान विद्वानोंकी विदुषी स्त्रियाँ न्याय करने-हेतु अत्यन्त धनैश्वर्यवान् पुरुषों तथा अग्निके सदृश तेजस्वी वीर पुरुषोंकी स्त्रियोंकी बात सुनें तथा विचारकर न्याय करें। उपदेशक श्रेष्ठजनोंकी स्त्रियाँ तथा अन्य विद्यायुक्त स्त्रियाँ ऋतु-ऋतुमें उत्पन्न करने (अर्थात् ऋतु-अनुसार उत्पादनहेतु कृषि-कार्यमें लगी)-वाली स्त्रियोंकी बात सुन न्याय करें।

अद्या चिन्नू चित् तदपो नदीनां यदाभ्यो अरदो गातुमिन्द्र।

नि पर्वता अद्मसदो न सेदुस्त्वया दृळ्हानि सुक्रतो रजांसि॥

(ऋग्वेद ६।३०।३)

हे श्रेष्ठ कर्मोंको उत्तम प्रकार जाननेवाले सूर्यके समान तेजस्वी राजन्! जैसे सूर्य भूमिका आकर्षण करता, आकर्षणद्वारा नदियोंसे प्राप्त जलको बरसाता है, इसी प्रकार प्रजाद्वारा प्राप्त धनको आप उसीके हितार्थ बरसावें (उपयोग करें), जैसे सूर्य अपनी परिधिके लोकोंको धारण करता है, आपके धारण सामर्थ्यमें रक्षक, प्रजा तथा राजाजन स्थित होते हैं।

उत त्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुर्दुरेवासः समुद्रे।
निरीं पर्षदरावा यो युवाकुः॥

(ऋग्वेद ७।६८।७)

हे राज्यपुरुषो! तुम उस भोक्ता सम्राट्को मित्रताकी दृष्टिसे देखो, जो एक स्थानमें रहनेरूपी दुःखरूप वासको त्यागकर समुद्रके मध्यमें गमन करता है (अर्थात् जो समुद्रादिकी यात्रा कर दूसरे देशोंसे धनैश्वर्य तथा अन्यान्य सामग्री जनताके हितार्थ अर्जित कर जनताको सुखी-सम्पन्न करता है) और जो तुम लोगोंके निरन्तर उत्तम आचरणकी शिक्षा दे, तुम्हारी बाधाओंको दूरकर तुम्हारी रक्षा करता है।

शश्वन्तं हि प्रचेतसः प्रतियन्तं चिदेनसः।
देवाः कृणुथ जीवसे॥

(ऋग्वेद ८।६७।१७)

हे ज्ञानेश्वर! हे उदारचेता! हे सुयोद्धा विद्वानो! उन पुरुषोंकी जो अपराध और पाप करनेके सदा अभ्यासी हो गये हैं, परंतु उन पापोंको करके पश्चात्तापपूर्वक आपकी शरणमें आ रहे हैं, उन्हें वास्तविक मानव-जीवन प्राप्त करानेहेतु सुशिक्षित और सदाचारी बनानेका प्रयत्न कीजिये, ऐसी आपसे प्रार्थना है।

वरेथे अग्निमातपो वदते वल्ग्वत्रये।
अन्ति षद्भूतु वामवः॥

(ऋग्वेद ८।७३।८)

हे अश्विद्वय राजा और अमात्य! आप दोनों मनोहर सुवचन बोलते मातृपितृभ्रातृविहीन (अनाथ) शिशु-समुदायको तपानेवाले भूख, प्यास आदि अग्निज्वालाका निवारण कीजिये। आपके राज्यमें यह महान् कार्य साधनीय (करणीय) है।

अस्मिन्त्स्वेतच्छकपूत एनो हिते मित्रे निगतान् हन्ति वीरान्।
अवोर्वा यद्धात् तनूष्ववः प्रियासु यज्ञियास्वर्वा॥

(ऋग्वेद १०।१३२।५)

इस शक्तिमान् पुरुष, हितकारक मित्र तथा सर्वप्रिय राजाका लघु पाप (दुर्गुण या बुराई) भी नीचे विद्यमान वीरों, मित्रों तथा प्रजाओंको प्राप्त होता है, उनमें भी व्याप्त हो जाता है और उनका नाश करता है। इसी भाँति इनके जो रक्षण, सहयोग, प्रेम-पालन तथा ज्ञानादि गुण होते हैं, वे सत्संग करनेवाले मित्रों तथा प्रिय प्रजाओंमें भी चले जाते हैं, उन्हें भी प्राप्त होते हैं।

उक्थं च न शस्यमानं नागो रयिरा चिकेत।
न गायत्रं गीयमानम्॥

(सामवेद पूर्वार्चिक २०।१२।३)

ज्ञानी राजाको योग्य है कि स्पष्टवक्ता (आलोचक)-के कथनको समझे, उसे अवश्य समझे (अर्थात् उसके कथनपर अवश्य विचार करे)। आलोचनासे क्षुब्ध न होकर शान्त-चित्तसे उसपर विचार करके हितकारी आलोचनाका क्रियान्वयन करे।

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वीच्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन।
वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे॥

(अथर्ववेद ८।४।१८)

हे शत्रुमारक वीरो! सब समाजमें फैल जाओ, उन राक्षसोंकी खोज करो, पकड़ो, पीस डालो—जो पक्षीके समान रात्रिमें विमानसे विचरण करके हमारे राष्ट्रकी गुप्तचरी करते हैं तथा वह जिन्होंने दिव्य गुणयुक्त यज्ञादि तथा अन्य शुभ व्यवहारोंमें हिंसाएँ धरी हैं, अर्थात् उन सद्व्यवहारोंमें हिंसाका प्रवेश कराया है।

वैदिक ऋचाओंमें विराट्-दर्शन

(आचार्य श्रीजगमोहनलालजी दीक्षित)

जगन्नियन्ताके इच्छानुसार जगत्के क्रिया-कलाप चल रहे हैं। प्रकृति उसका अनुसरण करती हुई अहर्निश अपने व्यापारोंमें संलग्न है। मनुष्यको अपनी आकांक्षापूर्ति-हेतु प्रकृतिकी कृपाका आश्रय ग्रहण करनेके लिये प्रतीक्षारत रहना पड़ता है। विश्वका प्रत्येक प्राणी जागरूक रहकर कुछ पानेको प्रयत्नशील है। चींटीसे लेकर हाथीतक सभी जीव अनवरत कार्यसंलग्न हैं; भले ही इन जीवोंमें केवल बुद्धिके अभावमें भरण-पोषणकी क्रियाका ही प्राधान्य हो, किंतु मानव बुद्धि-प्राप्त प्राणी है, अतः वह अन्य प्राणियोंसे ऊँचा उठकर इस विश्वके नियामकके सम्बन्धमें जाननेके लिये अनेक मार्गोंका आश्रय ग्रहण कर रहा है। महिम्नमें कहा है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(शिवमहिम्नःस्तोत्र ७)

'ऋक्, यजुः, साम—ये वेद, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र पाशुपतमत, वैष्णवमत आदि विभिन्न मत-मतान्तर हैं। इनमें (सभी लोग हमारा) यह मत उत्तम है, हमारा मत लाभप्रद है (दूसरोंका नहीं;)—इस प्रकारकी रुचियोंकी विचित्रतासे सीधे-टेढ़े नाना मार्गोंसे चलनेवाले साधकोंके लिये एकमात्र प्राप्तव्य (गन्तव्य) आप ही हैं। जैसे सीधे-टेढ़े मार्गोंसे बहती हुई सभी नदियाँ अन्तमें समुद्रमें ही पहुँचती हैं, उसी प्रकार सभी मतानुयायी आपके ही पास पहुँचते हैं।'

इस आधारपर कोई मनुष्य वैदिक आश्रय ग्रहण किया हुआ है, कोई सांख्यशास्त्रके सिद्धांतोंको लेकर चल रहा है। कोई योग-क्रियाके आधारको खोजनेमें संलग्न है। कोई शैवागम-सिद्धान्त एवं कोई वैष्णव-मतका आश्रय ले भक्ति-मार्गमें संलग्न है। अपनी रुचिकी भिन्नताके आधारपर अनेकविध टेढ़े-सीधे मार्गोंका आश्रय लेकर सभी उस अदृष्टको पानेके लिये उसी प्रकार प्रयत्नशील हैं, जिस प्रकार एक नदीकी धारा टेढ़ी-सीधी चलकर अन्तमें समुद्रको प्राप्त कर लेती है।

'मत अनेक ईश्वर एक' के आधारपर निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण विष्णु, शिव, राम एवं कृष्णमें कोई भिन्नता नहीं। शिव एवं शक्ति भी अभिन्न हैं। अतः प्रभुको प्राप्त करनेके लिये ज्ञानयोग एवं भक्तिके आधारपर प्रत्येकका मार्ग भिन्न है। कल्याणकारी होनेसे उनका नाम शिव एवं शङ्कर है। वही शक्तितत्त्वसे युक्त होकर जगत्स्रष्टा एवं जगन्नियन्ता हैं—'**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' के आधारपर वे अणु एवं परमाणुमें सर्वत्र व्याप्त हैं एवं महान्से भी महत्तम हैं। विश्वमें सर्वत्र और सब रूपोंमें उस परम प्रभुकी स्थिति है। अतः वे विराट् हैं। श्रुतिने जो उनके विराट्स्वरूपका वर्णन किया है, वह अपनेमें अद्वितीय और विश्व-साहित्यमें बेजोड़ है। पाश्चात्त्य दार्शनिकों एवं तत्त्वदर्शी चिन्तकोंकी सृजनात्मक बुद्धि उस विराट् पुरुषकी महत्ताका प्रतिपादन करनेमें उतनी सामर्थ्यवान् नहीं हो सकी जितनी सृष्टिके समग्ररूपोंमें भारतीय देवर्षियोंने विश्वरूप (विराट्)-का दर्शन किया है। उस विराट्का वर्णन करते हुए वेद कहता है—

'**नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः॥**' (यजु० १६।१७)

मैं सोनेके आभूषणोंसे अलंकृत हाथवाले शङ्करको नमस्कार करता हूँ। सेनापतिके रूपमें, दिशाओंके स्वामीके रूपमें, हरे वृक्षोंके रूपमें, पशु-रक्षकके रूपमें, हरे घासके रंगवालेके रूपमें, यज्ञोपवीतधारीके रूपमें, मार्गके रक्षक एवं गुणज्ञ तथा सबके स्वामीके रूपमें भगवान् शङ्करको नमस्कार करता हूँ।

नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमो नमः॥

(यजु० १६।१९)

इस ऋचामें उसी विराट्के विश्वकर्मा-रूपमें शिल्पकार,

वृक्षोंके पालक एवं रक्षक, पृथ्वीके विस्तारक एवं स्वामिरूपमें, धनदाता कुबेरके रूपमें, औषधियोंके स्वामी चन्द्रस्वरूपमें, परिष्कृत विचारोंवाले मन्त्रीके रूपमें तथा कुशल व्यापारकर्तारूपमें, भयानक शब्दकर्ता-रूपमें, शत्रुओंको क्रन्दन कराकर प्रसन्नता प्राप्तकर्ताके रूपमें तथा प्रधान सेनाधिकारीके रूपमें भगवान् शङ्करको नमस्कार है।

वेदोंने उस विराट्‌को विश्वके प्रत्येक प्राणीके रूपमें देखा है—

नमो निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानां पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नमः॥

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिण इषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघाꣳसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तञ्चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः॥

(यजु० १६। २०-२१)

—भाव यह कि वे जगत्स्रष्टा महाभयंकर हाथमें तलवार धारण-कर्ताके रूपमें, इधर-उधर विचरण करनेवाले चोरोंके रूपमें, वन-प्रान्तके अधिपति-रूपमें, सर्ववस्तुमें व्याप्त हैं। वे ही वंचकके रूपमें, चोरके रूपमें, पक्षीरूपमें, खड्ग तथा बाण धारण-कर्ताके रूपमें, चोरोंके स्वामीके रूपमें, वज्र धारण करनेवाले इन्द्र-रूपमें, शत्रुओंके नाशक, खेतमें धान्योंकी चोरी करनेवालोंके अधिपति-रूपमें, रात्रिमें शस्त्र-धारणकर विचरण करनेवाले राक्षसोंके वधकर्ताके रूपमें, सबके मृत्युदायक एवं धन-हरण-कर्ता स्वामीके रूपमें भगवान् शङ्करको नमस्कार है। उन्हीं विराट्-रूप परम प्रभुको **'विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः'** (यजु० १६। २५) कहकर विकृत रूपवाले तथा अनेक रूपोंवाले (विराट्)-के रूपमें वन्दना की गयी है। वे ही विश्वाधार प्रभु **'नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमः०'** (यजु० १६। २७)-के आधारपर शिल्पकार (विश्वकर्मा)-रूपमें, रथकार-रूपमें, बर्तन बनानेवाले कुम्हार-रूपमें, लोहार-रूपमें, निषाद (मल्लाह)-रूपमें, पक्षी-मारनेवाले व्याध-रूपमें, कसाई अर्थात् पशुवधकर्ता-रूपमें, शिकारी मृग आदि वन्य पशुओंको मारनेवालेके रूपमें विद्यमान हैं। यही नहीं **'नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च'** (यजु० १६। ३०)-में लघुसे अतिलघु वामनरूपमें, दीर्घरूपमें, विराट्-स्वरूप वृद्ध तथा बृहत्-रूपमें, सर्वकर्ता, प्रथम उत्पन्न तथा सर्वप्रथम पूजनीयके रूपमें वन्दित हैं।

'नम आशवे चाजिराय च' (यजु० १६। ३१)—इस वेदमन्त्रके अनुसार वे विश्वके गति-दाता, विकासकर्ता एवं शीघ्रगामी हैं। जलमें हिलोरें उत्पन्न करनेवाले, जलप्रवाहके अवरोधक, शक्तिरूप, नदीमें बाढ़ उत्पन्न करनेवाले तथा निर्जल प्रदेशमें रूक्षता देनेवाले हैं। वे कूप, झरने, नदी, तालाब, गर्मी, मेघ, विद्युत्, वर्षा, सूखा आदि सभी पदार्थ-रूप हैं। प्रलयकारी तूफानरूप, घास-तृणरूप, फेनरूप, सिकता (बालू)-रूप, शुष्क काष्ठ, हरित वृक्ष, धूल, पुष्प, पराग, शत्रु-संहारक पापनाशक-रूपमें, सूर्य, वायु एवं अग्निरूपमें उन्हीं विराट् पुरुषकी वैदिक मन्त्रोंमें वन्दना की गयी है।

यही कारण है कि वे सर्वशक्तिमान् विराट् पुरुष सर्वदा वन्दनीय हैं। हम सभीको विष्णु, शिव, शक्ति अथवा ब्रह्मरूपमें उसकी उपासना, ध्यान, नाम-स्मरण आदिमें तन्मय रहकर कर्तव्यों एवं कुलाचारोंका परिपालन करते हुए जीवन व्यतीत करना चाहिये। कुलार्णव-तन्त्रमें **'आचाररहिता येऽत्र निन्दितास्ते'** कहकर आचाररहित व्यक्तियोंकी निन्दा की गयी है।

यह मानव-शरीर तीर्थरूप होनेसे हमारे प्राचीन महर्षियोंद्वारा वन्दित रहा है। ऋषियोंने उसे देवालयकी संज्ञा दी है। यथा—

देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो नाम सदाशिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत्॥

इस शरीररूपी देवालयमें वे विराट् पुरुष सदाशिव जीवरूपसे विराज रहे हैं। अतः अज्ञानरूप निर्माल्यका त्याग करके **'सोऽहम्'** भावसे पूजन करना चाहिये। **'सोऽहम्'**का अर्थ है 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' ऐसा मानकर स्वयंमें ही समाहित उस शक्तिका साक्षात्कार करना है, यही विराट्-दर्शन है। विश्वके अग्रणी साहित्य भी यह चिन्तन देनेमें सक्षम नहीं हो सके, जो हमें वेदोंने दिया है। स्वयं उन विराट् पुरुषकी ही वाणी है—'मैं ही सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञेयतत्त्व हूँ'—**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।**

वेदकी अपौरुषेयताका मर्म

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

अपौरुषेयताका अर्थ—

'पौरुषेय' उस ग्रन्थको कहा जाता है, जो किसी पुरुषके द्वारा बनाया गया हो, क्योंकि इस शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यही होता है।[१] इसके विपरीत अपौरुषेय उस ग्रन्थको कहा जाता है जो किसी पुरुषके द्वारा बनाया न गया हो। जो लोग वेदको अपौरुषेय कहते हैं, वे इसी अभिप्रायसे। अर्थात् हमारे बीचमें विद्यमान जो वेद ग्रन्थ है, वह किसी पुरुषके द्वारा निर्मित नहीं है, अतः अपौरुषेय है और इसी कारण नित्य भी है। महाप्रलयमें सबका विनाश हो जाता है, किंतु वेद ठीक इसी आनुपूर्वी[२], इसी उच्चारण और इसी अर्थके साथ विद्यमान रहता है। इसका विनाश न कभी हुआ है और न कभी होगा। यह है वेदको अपौरुषेय कहनेका तात्पर्य।

असम्भवताका प्रश्न—

किंतु अपौरुषेयताका यह अर्थ सुनते ही असंस्कृत बुद्धि इसे असम्भव समझने लग जाती है। कहती है कि विश्वमें एक-दो पन्नेकी भी कोई ऐसी पुस्तक नहीं है, जो किसी पुरुषके द्वारा बनाये बिना बन गयी हो। फिर एक हजार एक सौ एकतीस शाखाओंमें विस्तृत यह वेद बिना किसी पुरुषके बनाये कैसे बन जायगा? अतः वेदको अपौरुषेय ठहराना बिलकुल हास्यास्पद प्रयास है।

संशयका होना स्वाभाविक—

वेदकी अपौरुषेयताके सम्बन्धमें इस तरहका जो संदेह उत्पन्न होता है, यह स्वाभाविक है। सचमुच विश्वमें वेदके अतिरिक्त ऐसी और कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है, जो बिना किसी पुरुषके बनाये बन गयी हो। इसलिये विश्वमें वेदका सादृश्य मिलना सचमुच असम्भव है। अतः वेदकी अपौरुषेयताके सम्बन्धमें संदेहका उठना अस्वाभाविक नहीं है।

संदेहका निराकरण आवश्यक—

संदेह होनेपर उसका मिटाना भी आवश्यक कर्तव्य है, क्योंकि जो संदेह नहीं मिटता वह मनुष्यके लिये घातक बन बैठता है—**'संशयात्मा विनश्यति'** (श्रीमद्भगवद्गीता)। कारण यह कि संदेहमें कुछ इस तरहकी विषैली ज्वाला होती है, जो बुद्धिको झुलसा देती है और कुण्ठित भी कर देती है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य उस संदेहको ही सिद्धान्त मान बैठता है। इस भूलने आज वेदके 'अङ्ग-प्रत्यङ्ग' को घायल कर रखा है। इसलिये प्राचीन विचारकोंने विश्वको चेतावनी दे रखी है कि संदेह होनेपर उसके निराकरणका प्रयास अवश्य करना चाहिये। इसके लिये आवश्यक यह है कि उस विषयके जानकार लोगोंसे मिलकर उनके विचारोंसे अवगत होना चाहिये। यह अनुचित है कि संदेह होने-मात्रसे किसी विचारको अननुष्ठापक मान लिया जाय—

व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः, नहि संदेहादलक्षणम्।

(महाभाष्य)

संदेहके निराकरणमें इतिहासका अद्भुत योग—

किसी संदेहके निवारणमें इतिहास बहुत ही सहायक होता है, क्योंकि इतिहासके द्वारा सरलतासे और जड़से संदेह नष्ट हो जाता है। कार्ल मार्क्स-जैसे अनीश्वरवादी भी इतिहासको प्रमाण मानते हैं। भारतीय साहित्यमें तो तथ्यकी उपलब्धिके लिये पद-पदपर इतिहासको प्रस्तुत किया जाता रहा है।

एक उदाहरण है—

(क) शौनक आदि ऋषियोंने भगवत्-प्राप्तिकी इच्छासे सूतजीसे भगवान्‌की लीलाओंको सुनना चाहा था। भगवान्‌की लीलामें उनको उत्तरोत्तर नया-नया रस मिला करता था।

१.(क) सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ (पा० सू० ५।१।१०)।

(ख) पुरुषाद्वध-विकार-समूह तेन कृतेषु।

पुरुषेण कृतम् (पुरुषके द्वारा बनाया गया इस अर्थमें 'ढञ्' प्रत्यय करके पौरुषेय शब्द बनता है)। न पौरुषेय इति—अपौरुषेयः।

२. नियतरचनावतो विद्यमानस्यैव वेदस्य (बृ० उ० २।४।१० शां० भा०)।

इसलिये इससे उन्हें कभी तृप्ति नहीं होती थी—

वयं तु न वितृप्याम। (श्रीमद्भागवत १।१।१९)

भगवान्‌की लीला सुनानेके लिये वक्ताओंको आवश्यक हो जाता है कि वे सृष्टि-लीलाका वर्णन अवश्य सुनायें; क्योंकि यदि रंगमंच नहीं रहेगा तो लीला होगी कहाँ? और लीलामें भाग लेनेवाले यदि न रहेंगे तो लीला चलेगी कैसे? शौनक आदि ऋषियोंके प्रश्नका उत्तर देनेके अवसरपर महाभाग सूतके लिये आवश्यक हो गया कि अवतार आदि लीलाओंके वर्णनके पहले सृष्टिका वर्णन अवश्य करें। सृष्टि अनोखी वस्तु है। उसके वर्णनमें प्रामाणिकताकी अबाधित आवश्यकता होती है। यदि प्रामाणिकतामें संदेह हो जाय तो सारा आनन्द ही किरकिरा हो जाय। अतः सूतजीको जब उत्तर देनेका अवसर आया तो झट उन्होंने इतिहासका उपयोग किया और कहा—'महर्षियो! आप जो प्रश्न पूछ रहे हैं, इस प्रश्नको राजा परीक्षित्‌ने महामुनि शुकदेवसे पूछा था'—

पप्रच्छ चेममेवार्थं यन्मां पृच्छथ सत्तमाः।

(श्रीमद्भागवत २।४।३)

(ख) जब सूतजीकी बतायी बातको परखनेके लिये हम इतिहासके पिछले पन्नेको उलटते हैं, तब देखते हैं कि सचमुच राजा परीक्षित् भी इसी जिज्ञासाको महामुनि शुकदेवके आगे रख रहे हैं (श्रीमद्भागवत २।४।६)। यह भी देखते हैं कि जब उत्तर देनेका अवसर आया, तब महामुनि शुकदेवजी भी इतिहासका सहारा ले रहे हैं—

एवदेवात्मभू राजन् नारदाय विपृच्छते।

(श्रीमद्भागवत २।४।२५)

अर्थात् हे राजन्! तुम जो कुछ पूछ रहे हो, इसे देवर्षि नारदने ब्रह्मासे पूछा था। ब्रह्माने जो उत्तर दिया था, वही मैं तुम्हें सुना रहा हूँ।

(ग) जब हम महामुनिकी बातकी पुष्टिके लिये इतिहासके पन्नोंको उलटते हैं, तब फिर यही दृश्य देखते हैं कि नारदकी जिज्ञासाके समाधानके लिये ब्रह्मा भी इतिहासका ही सहारा ले रहे हैं। कह रहे हैं—'वत्स नारद! अबतक जो कुछ मैंने तुमको सुनाया है, उसको मैंने सृष्टिके आरम्भमें भगवान्‌से सुना था'—

ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्रह्मकल्प उपागते।

(श्रीमद्भागवत २।८।२८)

इस तरह हम देखते हैं कि इतिहासके द्वारा प्रस्तुत किया गया समाधान बुद्धिको पूर्णतया आश्वस्त कर देता है। हाँ, इतिहासको इतिहास (इति=ऐसा, ह=निश्चय ही, आस=हुआ) होना चाहिये, इतिहासाभास नहीं।

अपौरुषेयताका इतिहास—

आइये हम भी इतिहासके द्वारा अपौरुषेयताके ऊपर उठते हुए प्रश्नोंका समाधान ढूँढ़ें। प्रलयका अवसान हो रहा था। जैसे शान्त समुद्रमें तरंगें, बर्फ, फेन और बुलबुले समरस होकर एक हो जाते हैं, वैसे उस प्रलयवेलामें जीव आदि भगवान्‌की सारी शक्तियाँ उनमें समरस हो गयी थीं। न तो क्रीडास्थली रह गयी थी और न खेलनेवाले ही रह गये थे। भगवान् प्रेमरूप हैं।[1] अतः प्रेमास्पदों (जीवों)-के बिना उनका मन लग नहीं रहा था। एकाकीपन उन्हें खलने लगा था।[2] जैसे समुद्र जब खेलनेकी इच्छा करता है, तब अपनेको तरंगों, बुदबुदों और वर्षाके रूपमें परिणत कर लेता है। फिर उन आभासित द्वैतोंके साथ खेल प्रारम्भ कर देता है, वैसे भगवान्‌ने भी अपनेको प्रेमास्पद आदि द्वैताभासोंके रूपमें विवृत करना चाहा। इसलिये भगवान्‌ने अपनी मायासे अपने स्वरूपमें स्वयं प्राप्त काल, कर्म और स्वभावको स्वीकार कर लिया[3]।

भगवान्‌की दृष्टि पड़ते ही माया महत्तत्त्वसे प्रारम्भ कर पञ्चमहाभूततक तेईस तत्त्वोंके रूपमें परिणत होती चली गयी। इस तरह चौबीस तत्त्व बन तो गये, किंतु ये क्रीडास्थली (ब्रह्माण्ड)-को न बना सके; क्योंकि ये

---

१. तस्मात् प्रेमानन्दात् (सामरहस्योपनिषद्)।

२. प्रजापतिर्वा एषोऽग्रेऽतिष्ठत् स नारमतैकः (मैत्र० उप० २।६)।

३. (क) कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया। आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे॥ (श्रीमद्भागवत २।५।२१)

(ख) स एष दाद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः। आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति च पाति च॥ (श्रीमद्भागवत २।६।३८)

सब-के-सब जड़ थे और जड़ गणित नहीं कर सकता। तब महान् गणितज्ञने पञ्चीकरणकी पद्धतिसे सब तत्त्वोंको परस्पर मिला दिया। तब जाकर ब्रह्माण्ड बन सका (श्रीमद्भागवत २।५।३२)।

ब्रह्माण्ड-स्फोट—

यह ब्रह्माण्ड एक हजार दिव्य वर्षतक यों ही पड़ा रहा। इसके बाद भगवान्ने इसमें प्रवेशकर इसे सजीव कर दिया और स्वयं इसे फोड़कर विराट्पुरुषके रूपमें निकले। 'पुरुषसूक्त' में इन्हींका वर्णन है। इनके अनन्त चरण, भुजाएँ, मुख, नेत्र, नाभि आदि हैं[1]। ये ही 'विराट्पुरुष' भगवान् नारायणका पहला अवतार हैं—**आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य** (श्रीमद्भागवत २।६।४१)।

क्षुद्र ब्रह्माण्डसे ब्रह्माकी उत्पत्ति—

इस तरह सृष्टिके निर्माणके उपयोगी तत्त्वोंकी सृष्टि कर दी गयी। इनके द्वारा भौतिक सृष्टि करना बाकी था। इस कार्यके लिये विराट्पुरुष (भगवान् नारायण)-ने अपने नाभिकमलसे ब्रह्माको उत्पन्न किया और साथ ही उनके हृदयमें सृष्टि करनेकी इच्छा जगा दी।[2] यही नाभिकमल हम पृथ्वीवासियोंका ब्रह्माण्ड है। ऐसे-ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड विराट्-ब्रह्माण्डके भीतर हैं।

सृष्टि-रचनामें ब्रह्माको कठिनाई—

भगवान्की इसी प्रेरणाके कारण प्रकट होनेके साथ ही ब्रह्माको सृष्टि-रचनाकी इच्छा उत्पन्न हो गयी। उन्होंने चारों तरफ दृष्टियाँ दौड़ायीं—**सिसृक्षयैक्षत** (श्रीमद्भागवत २।९।५)। वे देखना चाहते थे कि सृष्टि बनानेके लिये कौन-कौन साधन विद्यमान हैं। उन्हें केवल पाँच वस्तुएँ दीख पड़ीं—कमल, जल, आकाश, वायु और अपना शरीर (श्रीमद्भागवत ३।८।३२)। इनके अतिरिक्त उन्हें और कुछ न दीख पड़ा। फिर सृष्टि किससे करें और कैसे करें? कोई उपाय उन्हें सूझ नहीं रहा था। वे किंकर्तव्यविमूढ हो रहे थे। इस चिन्तनीय परिस्थितिमें भगवान्ने जलकी तरंगोंके द्वारा 'तपस्तप' दो बार कहकर तप करनेके लिये उन्हें आदेश दिया। इस आदेशको सुनकर ब्रह्माने फिर चारों तरफ दृष्टियाँ दौड़ायीं। इस बार वे देखना चाहते थे कि आदेश देनेवाला कौन है? किंतु कोई दीख न पड़ा। तब ब्रह्मा आदेशको शिरोधार्य कर तप[3] करने लगे।

भगवान्का दर्शन और उनकी स्तुति—

एक दिव्य हजार वर्षके बाद शेषशायी नारायण भगवान्ने ब्रह्माजीको दर्शन दिया। आह्लादक दर्शन पाकर ब्रह्माजी गद्गद हो गये। उन्होंने भगवान्की मार्मिक स्तुति की।

रहस्यका खुलना प्रारम्भ (पढ़ानेकी प्रार्थना)—

यहाँ इस स्तुतिके एक अंशका विश्लेषण आवश्यक है, क्योंकि इससे अपौरुषेयताका रहस्य खुलना प्रारम्भ हो जाता है। इस स्तुतिमें भी हम पाते हैं कि ब्रह्मा सृष्टि करना चाहते हैं और इसके लिये अथक प्रयास भी करते हैं, किंतु कुछ हाथ नहीं लगता। वे निराश हो जाते हैं और हाथ-पर-हाथ रखकर वैसे बैठ जाते हैं, जैसे कोई योद्धा संग्राममें बुरी तरह हारकर बैठ जाता है। इस तथ्यको स्वयं ब्रह्माने स्वीकार किया है। उन्होंने प्रार्थनामें **'विश्वविजयाय'**[4] (श्रीमद्भागवत ३।९।२५) कहकर इस तथ्यको ध्वनित कर दिया है। ब्रह्मा प्रार्थनामें कह रहे हैं कि हे भगवन्! विश्वके निर्माणमें जो मेरी बुरी तरह हार हुई है, इसमें मुझे विजय दिला दें। इसके लिये आवश्यक हो गया है कि आप गुरुकी तरह सृष्टि-प्रक्रियाकी प्रत्येक गुत्थीको खोल-खोलकर समझा दें—

माध्व्या गिरापनयतात् पुरुषः पुराणः॥

(श्रीमद्भा० ३।९।२५)

---

१. स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः। सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान्॥ (श्रीमद्भागवत २।५।३५)

२. सृजामि तन्नियुक्तोऽहम् (श्रीमद्भागवत २।६।३१)।

३. (क) मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करना उत्कृष्ट तप माना जाता है—

मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते॥ (महा० भा० शां० प० २५०।४)

(ख) भगवान् भाष्यकारने कहा है कि तप सब साधनोंसे श्रेष्ठ है—तपोविशेषप्रतिपत्तिस्तु सर्वसाधकतमत्वात्।

(तैत्ति० उप० ३।१ शां० भा०)

४. विजयाय=उद्भवाय (श्रीधरी)—इसका स्पष्टीकरण करते हुए वंशीधरीने लिखा है—सृष्ट्यादिषु पराभवाभावाय।

क्या भगवान्‌ने पढ़ाया ?

इस तरह जब हम सृष्टिके निर्माणमें ब्रह्माकी किंकर्तव्यविमूढता और निर्माणके लिये पढ़ानेकी माँगको जान जाते हैं, तब स्वभावतः जिज्ञासा उठती है कि क्या भगवान्‌ने ब्रह्माकी माँगकी पूर्ति की? क्या उन्हें गुरुकी तरह सृष्टिके निर्माणकी प्रक्रियाको खोल-खोलकर पढ़ाया?

एक अक्षर भी नहीं पढ़ाया—

इस जिज्ञासाकी शान्तिके लिये जब हम इतिहासका अगला अंश पढ़ते हैं, तब पाते हैं कि भगवान्‌ने ब्रह्माकी अध्यापनवाली माँगकी पूर्ति नहीं की। एक अक्षर भी उन्हें नहीं पढ़ाया। उत्तरमें कहा कि 'ब्रह्मा! तुम सृष्टिकी उन प्रक्रियाओंको जाननेके लिये फिरसे तप करो'—

भूयस्त्वं तप आतिष्ठ।

(श्रीमद्भागवत ३।९।३०)

एक प्रश्नका उठना (माँगको ठुकराया क्यों ?)—

यहाँ विचारणीय यह है कि 'जब भगवान् प्रेमास्पदोंके साथ प्रेमास्वाद पानेके लिये सृष्टि बनाते हैं, तब सृष्टिमें सबसे प्रथम उत्पन्न, अतः एकमात्र उपलब्ध प्रेमास्पदको उन्हें भरपूर प्यार देना चाहिये था; उनकी माँगको ठुकराना नहीं।'

यह तो कहा नहीं जा सकता कि ब्रह्माका भगवान्‌में प्रेम न था, इसलिये भगवान्‌ने उनकी माँग ठुकरा दी; क्योंकि इतिहास बताता है कि ब्रह्मा भगवान्‌के प्रेममें डूबे रहते थे। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि वे भगवान्‌के प्रेमसे एक क्षणके लिये भी वंचित नहीं होना चाहते थे। इसलिये उन्होंने भगवान्‌को अपने हृदयमें कैद कर रखा है—

हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः।

(श्रीमद्भागवत २।६।३३)

भगवान् व्यासदेवने भी ब्रह्माके प्रेमका बहुत ही सरस चित्र खींचा है। उन्होंने लिखा है कि जब ब्रह्माको भगवान्‌के दर्शन हुए, तब तत्काल उनमें प्रेमका वेगसे संचार हो गया। हृदयमें आनन्दकी अल्हड़ बाढ़ उफनने लगी, सारा शरीर रोमाञ्चसे भर गया और नेत्रोंसे प्रेमाश्रुकी झड़ी लग गयी (श्रीमद्भागवत २।९।१७)। इधर प्रेमरूप सरकार भी असीम प्रेमसे सराबोर हो गये। झट ब्रह्माका हाथ अपने हाथमें ले लिया और अपना भरपूर प्यार उड़ेल दिया (श्रीमद्भागवत २।९।१८)। इस 'ब्रह्मसंस्पर्श' को ब्रह्मा कभी भूल न सके (श्रीमद्भागवत २।९।२९)। अतः यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है कि प्रेमरूप भगवान्‌ने अपने प्रेमास्पद ब्रह्माकी माँग ठुकरायी क्यों?

समाधानसे रहस्यका परदा उठने लगा

अस्वीकारमें असीम प्रेम—

सृष्टिकी प्रक्रियाके पाठको भगवान्‌ने श्रीमुखसे जो नहीं पढ़ाया, वह इसलिये कि ब्रह्मा ब्रह्मा बन सकें। यदि पढ़ा देते तो ब्रह्मा अर्जुन और उद्धवकी तरह शिष्य बनकर रह जाते। तब न तो 'महान् स्मर्ता' बनते, न 'महान् द्रष्टा' ही।

उस असीम प्रेमको भगवान्‌ने व्यक्त कर दिया था—

माँगके ठुकरानेके जिस संदेहने हम लोगोंको संतप्त कर रखा है, इसका आभास भी प्रभुने अपने प्रेमास्पद (ब्रह्मा)-को न होने दिया था, क्योंकि उन्होंने बार-बार अनुगुण (उपयुक्त) शब्दोंका प्रयोग कर ब्रह्माको आश्वस्त कर रखा था।

(क) तभी तो ब्रह्माको 'आद्य ऋषि'[1] कहा—इससे ध्वनित किया कि तुम शिष्य नहीं, अपितु ऋषियोंमें पहला ऋषि (द्रष्टा) बननेवाले हो। यह ऋषित्व पढ़नेसे नहीं प्राप्त होता, अपितु तपःपूत प्रज्ञासे प्राप्त होता है; अतः तपस्या करो। अभी तो तुम केवल पाँच पदार्थोंको ही देख पाते हो। जब तपसे पूतता आ जायगी, तब तुम पहले कल्पके सम्पूर्ण पदार्थोंको देख सकोगे। किसी पदार्थको देखनेके बाद ही उसकी रचना की जा सकती है। जिसने घड़ा देखा ही नहीं है, वह घड़ा कैसे बना सकेगा? इसी तरह जब तुम पूर्व कल्पके एक-एक पदार्थको अन्तःकरणमें देख पाओगे तभी उनकी रचनाकी बात उठेगी। अतः तपस्या करो।

(ख) ब्रह्माको भगवान्‌ने 'वेदगर्भ'[2] और 'वेदमय'[3] कहकर ध्वनित कर दिया कि सृष्टिकी रचना वेदके शब्दोंसे[4] होगी। वेदको मैं तुम्हारे पास भेजता जा रहा

---

१. ऋषिमाद्यं न बध्नाति (श्रीमद्भागवत ३।९।३५)। २. मा वेदगर्भ गास्तन्द्रीं सर्ग उद्यममावह (श्रीमद्भागवत ३।९।२९)।
३. सर्ववेदमयेनेदमात्मनाऽऽत्माऽऽत्मयोनिना (श्रीमद्भागवत ३।९।४३)। ४. वेदशब्देभ्य एवादौ······(मनुस्मृति १।२१)।

हूँ।[1] वह तुम्हारे हृदय (गर्भ)-में गूँज भी रहा है। अभी तुम्हारे हृदयमें वह शक्ति नहीं आयी है, जो तुम्हारे भीतर गूँजते उस वेदको प्रतिफलित कर मुखसे विनिर्गत कर सके। इसलिये तपको बढ़ाओ। तुम 'वेदमय' तो हो ही, शीघ्र सफलता मिलेगी।

भगवान्ने अभिधया भी कहा है कि तुम्हारी माँग तो मैंने पहलेसे ही पूरी कर रखी है—

तन्मयाऽऽपादितं ह्यग्रे यन्मां प्रार्थयते भवान्।

(श्रीमद्भागवत ३।९।२९)

वह परदा उठा

समाहित होकर ब्रह्मा फिरसे तप करने बैठ गये। तपस्या जब पूर्णतापर पहुँचने लगी, तब उनकी स्मृति-शक्ति जाग उठी। उन्हें सर्ग[2], विसर्ग[3], प्रतिसर्ग[4], वंश, मन्वन्तर आदि पदार्थ याद आने लगे। धीरे-धीरे सृष्टिका नित्य-नूतन समग्र इतिहास क्रमबद्ध याद आ गया, जिसे उन्होंने अपने शब्दोंमें ग्रथित कर लिया। इसी ग्रन्थका नाम पुराण है—**पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।**

(मत्स्यपु० ३।२)

इतिहासके इस पृष्ठसे अपौरुषेयताके ऊपर पड़े हुए परदोंमेंसे एक परदा हट गया। इतना तो दीख ही गया कि कोई अर्थ अपौरुषेय भी होता है, जिसे तपसे कोई अधिकारी पुरुष स्मरण कर अपने शब्दोंमें ग्रथित कर लेता है। अत्रि आदि सारी स्मृतियाँ इसी कोटिके ग्रन्थ हैं। स्मरण और स्मृति दोनों समानार्थक शब्द हैं। अतः जिस ग्रन्थमें स्मृत अर्थको शब्दोंमें ग्रथित किया गया है, उसे ही 'स्मृति' कहा जाता है। इस तरहके 'स्मृति ग्रन्थ', 'कृत ग्रन्थ' से बिलकुल भिन्न होते हैं। 'कृत ग्रन्थ' में जिस तरह शब्द ग्रन्थ-कर्ताके द्वारा कृत रहता है, उस तरह उसका अर्थ भी कृत रहता है। किंतु स्मृत ग्रन्थमें अर्थ ग्रन्थकर्ताके द्वारा कृत नहीं रहता। केवल शब्द उसके द्वारा कृत होते हैं। इसलिये ऐसे ग्रन्थोंके लेखकको अनुवादक माना जाता है, कारक नहीं। एक उदाहरण ले लिया जाय—मान लीजिये, बीस वर्ष पहले मालती-माधव (नाटक)-को समझ-बूझकर पढ़ा था। बादमें परिस्थितिवश उसकी चर्चा छूट गयी। आज हम उसे याद करना चाह रहे हैं। यदि स्मरण-शक्तिने ठीक-ठीक साथ दिया तो उसका पूरा-का-पूरा अर्थ याद हो आता है। शब्दोंकी आनुपूर्वी पहले भी याद न थी। अतः उसका स्मरण न हो पाया। अब याद आये हुए अर्थको यदि हम अपने शब्दोंमें बाँध लेते हैं, तो मालती-माधव नामका नाटक तैयार हो गया। यह ग्रन्थ मेरे द्वारा 'स्मृत' कहा जायगा, न कि 'कृत'। क्योंकि इस ग्रन्थके अर्थको हमने नहीं बनाया है। इसके बनानेवाले तो भवभूति हैं। हमने शब्दोंमें बाँधा है, इसलिये इस अंशमें हमारा कृतित्व अवश्य है, किंतु इतनेसे हम मालती-माधवके कर्ता नहीं हो सकते। केवल अनुवादक हो सकते हैं।

स्मृत मालती-माधवमें जैसे स्मर्ताका कृतित्व नहीं होता, वैसे ब्रह्मा या वेदव्यासद्वारा स्मृत पुराणादि शास्त्रोंमें भी इनका कर्तृत्व सम्भव नहीं है। वे केवल स्मर्ता कहे जाते हैं। इस तरह देखते हैं कि पुराण अर्थतः नित्य-नूतन है। अतः अर्थतः अपौरुषेय हैं। उद्धृत पुराणवचनमें पठित '**स्मृतम्**' पद इसी अर्थका द्योतक है।

पुराण अपौरुषेय नहीं कहाता—

अर्थात् अपौरुषेय होनेपर भी हम पुराणको अपौरुषेय नहीं कहते; क्योंकि अपौरुषेय वह ग्रन्थ कहाता है, जिसके शब्द, अर्थ, उच्चारण तीनों ही अकर्तृक होते हैं। पुराणमें भले ही अर्थ कृत न हो, किंतु इसके शब्द सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माके बनाये हुए थे और आज व्यासके बनाये हुए मिलते हैं। फिर भी अर्थको अपौरुषेय कहा ही जाना चाहिये, क्योंकि यही यथार्थ है।

---

१. यो वै वेदांश्च प्रहिणोति (श्वेताश्व० उप० ६।१८)।

२. प्रकृतिके गुण-वैषम्यसे जो विराट् सृष्टि होती है, उसे सर्ग कहते हैं। पहले ईश्वरकी दृष्टि पड़ते ही प्रकृतिके गुणोंमें विक्षोभ होता है। उसी गुण-वैषम्यसे महत्तत्त्वसे लेकर पञ्चभूततक जो भगवान्‌के द्वारा सृष्टि होती है, उसको सर्ग कहते हैं—वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥ भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः (श्रीमद्भागवत २।१०।२-३)।

३. ब्रह्माके द्वारा की गयी सृष्टिको विसर्ग कहते हैं—विसर्गः पौरुषः स्मृतः (श्रीमद्भागवत २।१०।३)।

४. ब्रह्माकी सृष्टिके बाद दक्ष आदिके द्वारा जो सृष्टि की जाती है, उसे प्रतिसर्ग कहते हैं—प्रतिसर्गः स्मृतः सो वै दक्षाद्यैर्यः कृतः पृथक्। (कालिकापुराण अ० २६)

तीन तरहके सत्य—

सत्य तीन प्रकारका होता है।[१] (१) प्रातिभासिक सत्य, (२) व्यावहारिक सत्य[२] (३) पारमार्थिक सत्य। इन तीन प्रकारके सत्योंमें पुराणको किस कोटिमें बैठाया जाय, इसका विचार अत्यन्त आवश्यक है। नहीं तो 'कृत ग्रन्थ' और पुराणोक्त 'स्मृत ग्रन्थ' में जो पार्थक्य है, इसका विवेक कठिन हो जायगा।

(१) प्रातिभासिक सत्य—

इन्द्रजाल, स्वप्न आदिके पदार्थ प्रातिभासिक सत्य होते हैं। ये पदार्थ व्यवहारमें भी सत्य नहीं ठहरते हैं। 'आईने जहाँगीर' में एक ऐन्द्रजालिकने आकाशमें रस्सी फेंककर जितने पदार्थ दिखाये थे, व्यवहारमें उनका उपयोग नहीं हो सकता था। जो जल दिखायी दिया था, उसे पीया नहीं जा सकता था। फिर भी उसे सत्य इसलिये माना जाता है कि जब-जब ऐन्द्रजालिक इन्द्रजाल दिखाता है, तब-तब सब पदार्थ पहलेकी तरह सत्य ही भासित होते हैं। आदिसे अन्ततक वही कथा क्रमबद्ध भासित होती है।

(२) व्यावहारिक सत्य—

भगवान्‌ने अपनी मायासे जो पदार्थ उत्पन्न किये हैं, वे सभी व्यवहारकालमें सत्य प्रतीत होते हैं। प्यासका लगना सत्य है और जल पीनेसे उसका मिटना भी सत्य है। लोहा गलाकर पीनेसे वह प्यास नहीं बुझती, अपितु मृत्यु हो जाती है। व्यवहार-कालमें भी सत्यके आपेक्षिक दो भेद हो जाते हैं—(क) नित्य और (ख) अनित्य।

(क) व्यक्तिकी अपेक्षा जाति सत्य है। कोई भैंस मर जाती है तो उसकी जाति नहीं मरती; अपितु बनी रहती है। यह है जातिगत सत्य।[३]

(ख) किसी शासन-विधानमें जो पद[४] (पोस्ट) होते हैं, वे नित्य होते हैं, पर उस पदपर आसीन व्यक्ति अनित्य होता है। भारतके प्रधान मन्त्री-पदपर आसीन कई व्यक्तियोंका देहावसान हो गया, किंतु यह पद आज भी सत्य है। इसी तरह पुराणमें जितनी कथाएँ हैं, सब पदों (पोस्टों)-की हैं। दशरथ भी एक पद है और रावण भी एक पद है। इसीलिये दशरथ-कौशल्या-पदपर कभी मनु-शतरूपा आते हैं तो कभी कश्यप-अदिति। इसी तरह रावण-कुम्भकर्णके पदपर कभी जय-विजय आते हैं तो कभी हरके दो गण आते हैं और कभी सम्राट् भानुप्रताप। इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि पुराणमें आयी कथाएँ पदकी कथाएँ हैं, किसी व्यक्तिकी नहीं। प्रधान मन्त्री बननेके जो नियम हैं, वे पूर्वकालिक व्यक्तियोंके लिये लागू थे, वे आज भी लागू हैं। इसी तरह पूर्व कल्पके सभी नियम वर्तमान कल्पमें भी लागू होते हैं। छोटी-छोटी घटनाओंमें व्यत्यास सम्भव है।

(३) पारमार्थिक सत्य—

पारमार्थिक सत्य एकमात्र ब्रह्म होता है। पुराण और वेद ब्रह्मके स्वरूप होनेसे पारमार्थिक सत्य हैं। अतः नित्य हैं। यह बात वेदके आविर्भावके इतिहाससे पुष्ट होती है।

---

१. यद्वा त्रिविधं सत्त्वम्। पारमार्थिकसत्त्वं ब्रह्मणः, व्यावहारिकं सत्त्वमाकाशादेः, प्रातिभासिकं सत्त्वं शुक्ति-रजतादेः (वेदान्त-परिभाषा पृ० १९४)।

२. इह पुनर्व्यवहारविषयमापेक्षिकं सत्यम्, मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षयोदकादि सत्यमुच्यते (तै० उ० ब्र० व० २ शां० भा०)।

३. गवादिशब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वदर्शनात्। न हि गवादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्त्वे तदाकृतीनामप्युत्पत्तिमत्त्वं स्यात्। द्रव्यगुणकर्मणां हि व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते, नाकृतयः। आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः। व्यक्तीनामानन्त्यात् सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः। व्यक्तिषूत्पद्यमानास्वप्याकृतीनां नित्यत्वान्न गवादिशब्देषु कश्चिद्विरोधो दृश्यते।

गो आदि शब्दों और इनके अर्थोंका सम्बन्ध नित्य माना जाता है। गो आदि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति होनेपर उनकी जातिकी उत्पत्ति नहीं होती। द्रव्य, गुण, कर्म—इन तीनों पदार्थोंमें उत्पत्ति व्यक्तियोंकी होती है, किंतु जातिकी उत्पत्ति नहीं होती। शब्दोंका सम्बन्ध जातियोंके साथ होता है, व्यक्तियोंके साथ नहीं। व्यक्तियाँ अनन्त होती हैं। अतः उनके साथ शब्दोंका सम्बन्ध असम्भव है। व्यक्ति भले ही उत्पन्न हों, किंतु जातियोंके नित्य होनेसे गो आदि शब्दोंसे कोई विरोध नहीं देखा जाता (ब्रह्मसूत्र शां० भा० १।३।२८)।

४. स्थानविशेषसम्बन्धनिमित्ताश्चेन्द्रादिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवत्। ततश्च यो यस्तत्तत्स्थानमधिरोहति स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इति न दोषो भवति (ब्र० सू० शां० भा० १।३।२८)।

अर्थात् जिस तरह सेनापति शब्द स्थान (पोस्ट)-विशेषका बोधक होता है, उस तरह इन्द्र आदि शब्द भी पदके वाची हैं। इसलिये जो-जो उस-उस पदपर आसीन होता है, वह इन्द्र आदि शब्दोंसे कहा जाता है।

दूसरा भी परदा उठा

ऊपर यह बात आ गयी है कि ब्रह्माको पुराणके स्मरण हो जानेपर सृष्टिके एक-एक पदार्थका ज्ञान हो गया; किंतु उनका निर्माण कैसे हो, यह बात वे नहीं जान पा रहे थे। तप अभी चल ही रहा था, जब वह पूर्ण हो गया, तब जो वेद भगवान्‌के द्वारा प्रसारित होकर ब्रह्माके हृदयमें[१] गूँज रहे थे, वे चारों मुखोंसे विनिर्गत होने लगे—

(क) अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।

(मत्स्यपु० ३।४)

(ख) चत्वारो निर्गता वेदास्तव वक्त्रचतुष्टयात्।

(श्रीमद्भा० २।४।२२) (पदरत्नावली टीकामें उद्धृत)

(ग) श्रीमद्भागवतने एक ही श्लोकमें स्मृति और श्रुतिके आविर्भावका सुन्दर वर्णन किया है—

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्॥

(श्रीमद्भागवत २।४।२२)

'वीर राघव' टीकाके अनुसार इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌ने पहले तो ब्रह्माके हृदयमें सृष्टिविषयक पुराणरूप[२] सच्ची स्मृतिका विस्तार किया। उसके बाद भगवान्‌के द्वारा प्रसारित वेदरूपा वाणी उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरोंके साथ ब्रह्माके मुखोंसे उच्चरित होने लगी। जैसे रेडियो-स्टेशन विद्युत्-तरंगोंमें जिन शब्दोंका प्रसारण करता है; वे शब्द एक क्षणमें पृथ्वीकी सात परिक्रमा लगा लेते हैं, फिर भी हमारे कान उन्हें सुन नहीं पाते। इसलिये कि प्रकृतिने हमारे कानोंको ऐसा बनाया है कि ये वायुकी तरंगोंमें आते हुए शब्दोंकी ही पकड़ पायें। रेडियोका काम यह है कि विद्युत्‌के तरंगोंमें प्रसारित शब्दोंको वायुकी तरंगोंमें प्रतिफलित कर दे। इस तरह जैसे रेडियोके माध्यमसे स्टेशनोंसे प्रसारित शब्दोंको हम सुन पाते हैं, वैसे भगवान्‌के द्वारा प्रसारित शब्दोंको ब्रह्माका हृदय रेडियोकी तरह प्रतिफलित कर उनके मुखोंसे प्रकट करने लगा।

इस तरह ब्रह्माने उदात्तादि स्वरोंसे उच्चरित वेदके शब्दोंको सुनकर याद कर लिया।

वेदसे सृष्टिका निर्माण—

इस तरह ईश्वरके द्वारा प्रसारित वेद सुन लेनेके बाद जब ब्रह्माको उपलब्ध हो गया, तब सृष्टि रचनेकी उनकी सारी उलझनें ही समाप्त हो गयीं, क्योंकि ब्रह्मा वेदके शब्दोंका उच्चारण कर उन-उन अर्थोंको बनाते चले गये। पुराणने स्मरणके द्वारा सब अर्थोंको प्रत्यक्षकी तरह स्मरण करा ही दिया था। अब वेदके शब्दोंने उनका रूप प्रदान कर दिया। इस तथ्यको स्वयं वेदने बताया है। भाष्यकारने एक श्रुति उद्धृत[३] की है, उसका अर्थ यह है कि ब्रह्माने पहले तो देवोंका स्मरण किया, फिर वेदके '**एते**' इस पदको बोलकर देवताओंकी सृष्टि की। इसी तरह मनुष्योंका स्मरणकर '**असृग्रम्**' वेदके इस पदको बोलकर मनुष्योंकी सृष्टि की। इसके बाद पितरोंका स्मरण कर वेदके '**इन्दवः**' इस पदसे पितरोंका और ग्रहोंका स्मरण कर '**तिरः पवित्रम्**' इस वेदके पदसे ग्रहोंकी उत्पत्ति की। भाष्यकारने बृहदारण्यक उपनिषद्‌का एक और प्रमाण उपस्थित किया है—

स मनसा वाचं मिथुनꣳ समभवद्।

(बृ० उ० १।२।४)

अर्थात् हिरण्यगर्भने वेदके द्वारा सृष्टिके क्रमको मनसे विचार किया—

त्रयीविहितं सृष्टिक्रमं मनसालोचयत्।

(बृ० उ० १।२।४)

श्रुतिके बाद भाष्यकारने स्मृतिको प्रमाणरूपसे उपस्थित किया है—

---

१. तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये (श्रीमद्भागवत १।१।१)।

२. स्मृत होनेसे पुराणको भी 'स्मृति' कहा जाता है। आचार्य शंकरने अनेक स्थलोंपर पुराणको स्मृति कहा है। एक उदाहरण है—
ननु समुद्राः सरितः सरांसि वाप्यः कूपा यज्ञा वेदा मन्त्रादयश्च मूर्तिमन्तो ब्रह्माणमुपतिष्ठन्ते इति विरुद्ध्येत पुराणस्मृतिः।

३-एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितृंस्तिरः पवित्रमिति ग्रहान् (ब्र० सू० शां० भा० १।३।२८)।

नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्॥
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।

(महा० भा० शां० प० २३२।२५-२६)

अर्थात् परमेश्वरने वेदके शब्दोंसे ही सृष्टिका निर्माण किया। अन्तमें स्पष्ट शब्दोंमें बतला दिया है कि वेदके शब्दका उच्चारण कर सृष्टि बनायी—

(क) **तत्र तत्र शब्दपूर्विका सृष्टिः श्राव्यते।**

(ब्र० सू० शां० भा० १।३।२८)

(ख) **ते हि शब्दपूर्वां सृष्टिं दर्शयतः।**

(शां० भा० १।३।२८)

अर्थात् श्रुति और स्मृति दोनों ही शब्दपूर्वक सृष्टि हुई है, इस तथ्यको दरसाती हैं।

लीलाका आरम्भ—

इस तरह भगवान्ने 'सर्ग' से लीलास्थली बनायी और ब्रह्माके द्वारा 'विसर्ग' से लीलामें भाग लेने-वालोंकी और साज-सज्जाका भी आयोजन करा दिया। लीला चल पड़ी और आज भी चलती चली जा रही है। हम लोग भी इस लीलामें अपनी-अपनी भूमिका निभा रहे हैं। इस भूमिकामें हमें पग-पगपर वेदका सहारा लेना पड़ता है। क्योंकि लीलाकी बहुत-सी उपयोगी वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनको न प्रत्यक्ष प्रमाण बता सकता है और न अनुमान।* उन्हें तो केवल वेद ही बता सकता है। अतः ब्रह्माने इस लीला-विधानको सुरक्षित और सुगम बनानेके लिये गुरु-परम्पराकी स्थापना की।

परम्पराकी स्थापना—

ब्रह्माने इस वेदको वशिष्ठ आदि अपने दस मानस पुत्रोंको पढ़ाया और वशिष्ठ आदि महर्षियोंने अपने पुत्रों एवं शिष्योंको—

पुत्रानध्यापयत् तांस्तु ब्रह्मर्षीन् ब्रह्मकोविदान्।
ते तु धर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः समादिशन्॥
ते परम्परया प्राप्ता तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः।

(श्रीमद्भा० १२।६।४५-४६)

पूर्वमीमांसक इस गुरु-परम्पराको बहुत सम्मान देते हैं। कुमारिल भट्टने 'श्लोकवार्तिक' में इस परम्पराका उल्लेख करते हुए लिखा है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाऽध्ययनं यथा॥

(श्लोकवार्तिक, वाक्याधिकरण)

दो परम्पराएँ—

ब्रह्माद्वारा प्रवर्तित अध्यापनकी जो परम्परा अबतक चलती चली आ रही है, इस परम्पराको 'ब्रह्मसम्प्रदाय' कहते हैं। वेदकी एक और परम्परा है, जिसका नाम है—'आदित्यसम्प्रदाय।' ब्रह्माने वेदके दो भाग किये थे। दूसरे भागको सूर्यमें स्थापित कर दिया था। यह परम्परा याज्ञवल्क्य ऋषिसे प्रारम्भ हुई। याज्ञवल्क्यने घोर तपस्याके बाद सूर्यसे पढ़कर शुक्लयजुर्वेदको प्राप्त किया था। कण्वसंहिताकी भाष्यभूमिकामें सायणने इस परम्पराका उल्लेख करते हुए लिखा है—

अयं वेदः स्वयम्भूपरमेष्ठ्यादिपरम्परया प्राप्त आदित्यशिष्येण याज्ञवल्क्येन बहुभ्यः शिष्येभ्य उपदिष्टः।

श्रुति नामकी अन्वर्थता—

वेदके दोनों सम्प्रदाय आज भी प्रचलित हैं। इन दोनों सम्प्रदायोंमें सुन करके ही वेदोंको प्राप्त किया जाता है। ब्रह्माने ईश्वरसे प्रेषित शब्दोंको तपस्याके बलसे सुनकर प्राप्त किया था और आजके लोग गुरुसे सुनकर वेदको प्राप्त कर रहे हैं। बिना सुने वेदको नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसलिये वेदका एक नाम 'श्रुति' भी है, **श्रूयते इति श्रुतिः।** पुराण आदि ग्रन्थको कोई प्रतिभावान् व्यक्ति बिना गुरुसे सुने भी पढ़ सकता है; किंतु अच्छी-से-अच्छी प्रतिभावाला व्यक्ति भी वेदको बिना सुने नहीं प्राप्त कर सकता। बिना गुरुसे पढ़े उदात्त, अनुदात्त, स्वरितके साथ वेदका उच्चारण कोई नहीं कर सकता, जिसे ब्रह्माने उसे प्रसारणसे सुना था। बिना गुरुसे सुने कोई १-जटा, २-माला, ३-शिखा, ४-रेखा, ५-ध्वज, ६-दण्ड, ७-रथ और ८-घनका पाठ कैसे कर सकता है? यह तो परम्पराका ही सुन्दर परिणाम है कि जिस उच्चारणके साथ ब्रह्माको वेद सुन पड़ा था, उसी

* प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

उच्चारणके साथ वह आज भी सुना जा सकता है। इस तरह इतिहास हमको बताता है कि वेदको किसी पुरुषने निर्माण नहीं किया, इसलिये यह अपौरुषेय है। इसी तरह वेद पृथ्वीके सभी ग्रन्थोंसे भिन्न है, यह बात भी इतिहाससे बुद्धिगम्य हो जाती है।

यह इतिहास वेदमें भी उपलब्ध—

पुराणद्वारा प्रतिपादित इतिहाससे यह बात तो समझमें आ जाती है कि वेद किसी पुरुषका बनाया हुआ नहीं है, अपितु ईश्वरसे प्रसारित और रेडियोकी तरह ब्रह्माके हृदयसे प्रतिफलित होकर विश्वको प्राप्त हुआ है। किंतु कुछ शताब्दियोंसे उपनिवेशवादियोंके द्वारा पुराणके विरुद्ध घोर घृणास्पद प्रचार किया गया है। उन्होंने प्रलोभन देकर ऐसे दल बनवा दिये, जो पुराणके विरुद्ध घोर घृणाका वातावरण उत्पन्न करनेमें सफल हो गये हैं। 'कथासरित्सागर' के निर्माता महान् त्यागी और तपस्वी हरदत्तको जैसे रातों-रात कुप्रचारके बलसे 'आदमखोर' बना दिया गया था, वैसे ही ईश्वरस्वरूप पुराणको भी हत्यारा ग्रन्थ ठहराया गया। कुप्रचारका परिणाम यह हुआ कि लोग आज पुराणका नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ने लगे हैं। ऐसे लोगोंके लिये आवश्यक हो जाता है कि उन्हें इस इतिहासका मूल वेदमें दिखला दिया जाय।

नारायणसे तत्त्वोंकी उत्पत्ति

वह अकेलापन—

विश्रामलीला (प्रलय)-की वेला थी। उस समय एकमात्र नारायण थे।[1] उस समय सृष्टि-लीलाकी आयोजिका प्रकृति और लीलामें भाग लेनेवाले जीव—ये दोनों ही भगवान्‌में लीन थे। अतः भगवान्‌को छोड़कर उस समय कहीं कुछ नहीं था। न ब्रह्मा थे, न शंकर थे, न जल था, न अग्निदेवता थे और न सोम थे, न भूलोक था, न पृथ्वीलोक; न नक्षत्र थे और न चन्द्रमा ही थे।[2] बस, सब शक्तियोंको समेटे केवल भगवान् नारायण थे।

प्रेमास्पदकी चाह—

यह अकेलापन भगवान्‌को खटकने लगा। प्रेमास्पदके बिना प्रेमी अनमना हो ही जाता है—

(क) **स एकाकी न रमते।** (महोप० १)

(ख) **स नारमतैकः, स आत्मानमभिध्यायद् बह्वीः प्रजा असृजत्।** (मैत्रा० उप० २।६)

अर्थात् (प्रेमास्पदोंके बिना) अकेले उनका मन न लगा। उन्हें (प्रेमास्पद) याद आने लगे। बस, उन्होंने इन्हें प्रकट कर लिया।

लीलास्थलीका आयोजन—

किंतु क्रीडास्थलीके बिना लीला हो कैसे? अतः भगवान् नारायणने अपनी बहिरंगा शक्ति (प्रकृति)-पर एक दृष्टि डाल दी।

आदिनारायणस्य स्वेच्छानुसारेणोन्मेषो जायते।

(त्रिपाद्वि० ना० उप० २)

भगवान्‌के पलक (उन्मेष) उठाते ही प्रकृति प्रकट हो गयी और झट लीलास्थली (ब्रह्माण्ड) बनानेमें जुट गयी। प्रकृतिने पहले अपनेसे महत्-तत्त्वको उत्पन्न किया। फिर महत्-तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे पञ्चतन्मात्राएँ (परमाणु) और पञ्चतन्मात्राओंसे पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए—

ततो महत्। महतोऽहङ्कारः। अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि।

(त्रिपाद्वि० ना० उप० २)

विराट् ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति—

इन तत्त्वोंसे विराट् ब्रह्माण्ड बन गया—

पञ्चमहाभूतेभ्य……एकमविद्याण्डं जायते।

(त्रिपाद्वि० ना० उप०२)

यद्यपि विराट् ब्रह्माण्ड जड है, किंतु है यह भगवान्‌का ही मायोपाधिक स्वरूप। नारायणने ही लीलाके लिये निरतिशय आनन्दरूप मायोपाधिक विराट् ब्रह्माण्डका यह रूप धारण कर लिया है—

लीलागृहीतनिरतिशयानन्दलक्षणो मायोपाधिको नारायण असीत्। (त्रिपाद्वि० ना० उप० २)

महोपनिषद्‌ने भी इस विराट् ब्रह्माण्डको भगवान्‌का मायोपाधिक विग्रह माना है—

१-एको ह वै नारायण आसीत्। (महोप० १)

२-न ब्रह्मा नेशानो नापो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः। (महोप० १)

स एकः पञ्चविंशतिः पुरुषः। (महोप० १)

अर्थात् वह पचीसवाँ पुरुष, जो चौबीस तत्त्वोंसे मिलकर बना है।

विराट् ब्रह्माण्डमें नारायणका प्रवेश—

जड होनेसे यह विराट् ब्रह्माण्ड कोई क्रिया नहीं कर पाता था। तब भगवान् नारायण 'पुरुष' का अवतार धारण कर इसमें प्रवेश[1] कर गये—

तत्पुरुषं पुरुषो निवेश्य। (महोप० १)

नारायणका यह पुरुषावतार अनन्त मस्तकों, नेत्रों, हाथों और पैरोंसे युक्त है और कण-कणको व्याप्त करके स्थित है—

स चानन्तशीर्षा पुरुष अनन्ताक्षिपाणिपादो भवति। अनन्तश्रवणः सर्वमावृत्य तिष्ठति। (त्रिपाद्वि० ना० उप० २)

ध्यान देनेकी बात यह है कि विराट् ब्रह्माण्ड तो मायिक है, किंतु अवतीर्ण विराट् पुरुष मायातीत है, तुरीय तत्त्व है, परमेश्वर ही है—

महामायातीतस्तुरीयः परमेश्वरो जयति।

(त्रिपाद्वि० ना० उप० २)

क्षुद्र ब्रह्माण्डों और ब्रह्माओंकी उत्पत्ति—

विराट् पुरुषने अनन्त लीला-स्थलियाँ बनानेके लिये अनेक ब्रह्माण्ड बनाना चाहा, ताकि प्रत्येक ब्रह्माण्डसे ब्रह्मा उत्पन्न होकर भौतिक सृष्टिमें हाथ बटायें।

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसाध्यायत।

(महोप० १)

इस चिन्तनसे उनके ललाटसे पसीना टपका, जो फैलकर विपुल जल बन गया। उस जलसे हिरण्मय ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ।

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसाध्यायत। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्स्वेदोऽपतत्। ता इमाः प्रतता आपः। ततस्तेजो हिरण्मयमण्डम्। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत।

(महोप० १)

अनन्त लीला-स्थलियाँ—

यह तो अपने इस ब्रह्माण्डकी बात हुई, जिसमें चार मुखवाले ब्रह्मा हैं। इससे भिन्न, इससे बड़े-बड़े ऐसे भी ब्रह्माण्ड हैं, जिनमें पाँच मुखवाले, छः मुखवाले इस प्रकार संख्या-क्रमसे हजार मुखवाले भी ब्रह्मा होते हैं—

चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखसप्तमुखाष्टमुखादिसङ्ख्या-क्रमेण सहस्रावधिमुखान्तैर्नारायणांशै रजोगुण-प्रधानैरेकैकसृष्टि…संहारकर्तृभिः।

(त्रिपाद्वि० ना० उप० ६)

उन ब्रह्माण्डोंमें सूर्य आदि तारे अपने ब्रह्माण्डसे बड़े-बड़े होते हैं।

जैसे रहटमें लगे बीसों घड़े चक्कर लगाया करते हैं, वैसे विराट् पुरुषके एक रोम-कूपमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड चक्कर लगाया करते हैं।

जलयन्त्रस्थघटमालिकाजालवन्महाविष्णोरेकैकरोम-कूपान्तरेष्वनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि भ्रमन्ति।

(त्रिपाद्वि० ना० उप० ६)

इस तरह इतनी लीला-स्थलियाँ बन गयीं, जिनकी कोई गिनती नहीं है।

ब्रह्माका ध्यान-रूप तप—

अपने ब्रह्माण्डके ब्रह्मा उत्पन्न होते ही अपनी लीला-स्थलीके सँजोनेके लिये चिन्तित हो उठे। किंतु उस वेलामें न कोई चर था और न कोई अचर। फिर ब्रह्मा सँजोये किसको? ब्रह्माण्डमें जीवन उत्पन्न करनेके लिये ब्रह्माने भगवान् नारायण (विराट् पुरुष)-ध्यान किया—

सोऽध्यायत। (महोप० १)

भगवान् नारायणके दर्शन—

ध्यानमें ब्रह्माने भगवान् नारायणके विराट् रूपके दर्शन किये। उनके हजारों मस्तक, नेत्र आदि थे। वे समुद्रमें (स्थित) थे—**सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं…नारायणं हरिम्…समुद्रे…।**[2]

जीवनके उपयोगी साधनोंकी प्राप्ति—

ब्रह्माण्डमें जीवन कैसे उत्पन्न करें इस समस्यासे ब्रह्मा व्यग्र थे। इसके लिये भी उन्होंने विराट् पुरुषका

१-इस अनुप्रवेशका उद्देश्य है—आनन्दका बोध।
अनुप्रवेशस्य तदर्थत्वात्। (तै० उप०)

२-सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं विश्वशम्भुवम्। विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम्।
विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति। पतिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे विश्वरूपिणम्। (महोपनिषद् १)

आश्रयण किया—**पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति**[1]। (महोप० १)

विराट् पुरुषने सृष्टिकी उत्पत्तिके लिये ब्रह्माके पास वेदको भेजकर '**उपजीवति**' शब्दको सार्थक किया।

श्वेताश्वतरोपनिषद्ने लिखा है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(६।१८)

अर्थात् परमेश्वर सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न करते हैं और उनके पास वेदोंको भेजते हैं।

प्रश्न उठता है कि सृष्टिमें एकमात्र प्राणी ब्रह्मा थे। उस समय कोई दूसरा प्राणी न था। फिर किसके हाथों परमेश्वरने वेदोंको ब्रह्माके पास भेजा? इस प्रश्नके साथ यह भी प्रश्न उठता है कि उस समय जब सृष्टिमें कुछ नहीं था तो कागज भी तो नहीं था? तब वेद-ग्रन्थोंको भेजा कैसे?

इसका स्पष्ट उत्तर है कि जैसे रेडियो-स्टेशन शब्दोंको विद्युत् तरंगोंके रूपमें भेजता है; इस प्रेषणमें न किसी मनुष्यकी जरूरत पड़ती है और न ग्रन्थकी। उसी तरह ईश्वरीय स्वरूपभूत वेदके शब्दको जो निरन्तर उच्चरित होते रहते हैं, उसको पकड़ पाना अधिकारियोंका काम है। ब्रह्मा ही पहले कहाँ सुन सके थे। ब्रह्मामें जब यह योग्यता आयी, तब नित्य प्रसारित होनेवाला वेद उनको सुन पड़ा। इसके बाद इन्हीं वेदके शब्दोंके आधारपर सृष्टिकी रचना हुई[2]। सृष्टिके जीवनोपयोगी अन्य साधन भी ब्रह्माको ईश्वरसे प्राप्त हुए।

इस तरह हम पाते हैं कि सृष्टि-प्रक्रियाका जो इतिहास पुराणने प्रस्तुत किया है, वह इतिहास वेदमें भी समुपलब्ध है। इन दोनों इतिहासोंसे सिद्ध हो जाता है कि वेद अपौरुषेय है। अर्थात् जिस आनुपूर्वीसे वेद आज उपलब्ध है, उसी आनुपूर्वीसे कल भी उपलब्ध था और आगे भी उपलब्ध रहेगा। ईश्वर भी इसकी आनुपूर्वी नहीं बदल पाते; क्योंकि वेद उन्हींका रूप है।

भगवान्‌को सिद्ध करनेके लिये जिन्होंने प्राणोंकी बाजी लगा दी थी, उन कुमारिल भट्टने भी स्वीकार किया है कि भगवान् भी वेदके एक अक्षरको इधर-उधर करनेमें स्वतन्त्र नहीं हैं—

यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता।

(श्लोकवार्तिक, शब्दनित्यत्वाधिकरण)

भगवान् भाष्यकारने भी वेदकी आनुपूर्वीको नियत माना है—

नियतरचनावतो विद्यमानस्यैव वेदस्य।

(बृ० उ० २।४।१०। शां० भा०)

परम्पराकी[3] स्थापना

पुराणकी तरह ब्रह्माके द्वारा प्रवर्तित परम्परा (सम्प्रदाय)-का वेदमें भी उल्लेख है। अथर्ववेदकी शौनकीय शाखावाले मुण्डकोपनिषद्की परम्पराका उल्लेख यह है कि सम्पूर्ण विश्वके स्रष्टा और रक्षक ब्रह्मा सब देवताओंमें पहले उत्पन्न हुए। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वाको इस ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया। अथर्वाने अङ्गी ऋषिको और अङ्गीने सत्यवह ऋषिको यह विद्या पढ़ायी। भारद्वाजने परम्परासे चली आती हुई इस ब्रह्मविद्याका उपदेश अङ्गिराको दिया।

१-'उपजीवति' पदमें गम्भीर अर्थ भरे हुए हैं। 'उप' उपसृष्ट 'जीव' धातुका 'जीवनोपयोगी सामग्री जुटाना' अर्थ होता है। इन सामग्रियोंको जो जुटाता है, उसे 'उपजीव्य' कहा जाता है। जैसे—महाभारतको 'उपजीव्य' ग्रन्थ कहा गया है—

तदेतद् भारतं नाम कविभिस्तूपजीव्यते। उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः॥ (महा० आदि० २।३८)

महर्षि वेदव्यासका अभिप्राय यह है कि महाभारत कवियोंके लिये उपजीव्य ग्रन्थ है। अर्थात् कविलोग महाभारतके आधारपर किसी-न-किसी कथाका जन्म देंगे और इससे उपयोगी बहुत-सी सामग्री उसमें जुटायेंगे। महाकवि कालिदासने महाभारतसे ही लेकर अभिज्ञानशाकुन्तलका जन्म दिया और इसके आधारपर कलापक्षकी सामग्री जुटायी।

२-इसके लिये वेदके प्रमाण पहले अंशमें दे दिये गये हैं। अतः उनका उद्धरण यहाँ नहीं दिया गया है।

३-ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥ (मुण्डकोपनिषद् १।१।१-२)

इसी तरह बृहदारण्यकोपनिषद्ने प्रवचनकी इस परम्पराका उल्लेख किया है। पौतिमाषीने किस गुरुसे पढ़ा और उनके गुरुने किस गुरुसे पढ़ा, इस तरहकी लंबी गुरु-परम्पराका उल्लेख करते हुए स्वयम्भू ब्रह्मातकके शिष्य-गुरुकी परम्पराका उल्लेख किया है। विस्तारके भयसे इस लंबी परम्पराका उद्धरण नहीं किया जा रहा है। इसे बृहदारण्यकोपनिषद्के छठे अध्यायके पञ्चम ब्राह्मणमें देखा जा सकता है।

इस तरह ब्रह्मसम्प्रदाय और आदित्यसम्प्रदाय इन दोनों परम्पराओंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है।

फलितार्थ—(१) प्रेमका स्वभाव होता है लीलाका विस्तार। इस लीलाके विस्तारके लिये भगवान्ने क्रीडास्थलीके रूपमें विराट् ब्रह्माण्ड बनाया।

(२) उस विराट् ब्रह्माण्डके भीतर छोटे-छोटे असंख्य ब्रह्माण्ड भी बनाये। इन ब्रह्माण्डोंको सँजोनेके लिये प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक-एक ब्रह्माका भी निर्माण किया।

(३) उत्पन्न होकर ब्रह्माने अपनेको एकाकी पाया। न कोई चर था, न अचर। इनके बनानेकी सामग्री भी उन्हें नहीं दीख रही थी। ब्रह्मा किंकर्तव्यविमूढ थे।

(४) भगवान्ने संकेतसे उन्हें तपस्याका आदेश दिया।

(५) तपस्याके प्रभावसे उन्हें पुराणका स्मरण हो आया। जैसे पुनर्जन्मकी बात याद आनेपर पहले जन्मके प्रत्येक पदार्थके स्वरूप, नाम और सम्बन्ध भी याद आ जाते हैं, वैसे ब्रह्माको पुराकल्पके इतिहासके साथ-साथ उन-उन ऐतिहासिक पदार्थोंके स्वरूप, नाम और सम्बन्ध भी याद हो आये। इस स्मृत पुराणसे किस-किस वस्तुको बनाना है, उसका स्वरूप क्या है और उसका नाम क्या है, इस समस्याको सुलझा दिया।

(६) तपस्या जब पूर्णताको प्राप्त हो गयी, तब भगवान्के द्वारा प्रसारित वेद नित्य स्वर, नित्य शब्द और नित्य अर्थोंके साथ सुनायी पड़ा। ब्रह्मा श्रुतधर* थे, इसलिये आनुपूर्वी और उच्चारणके साथ वेद उन्हें याद हो गया।

(७) बहुत-से ऐसे तथ्य हैं जिन्हें न तो प्रत्यक्ष प्रमाण बता सकता है और न अनुमान। उनका ज्ञान केवल वेदमें हो सकता है, अतः ब्रह्माने पीढ़ी-दर-पीढ़ीतक विश्वको इसका आलोक मिलता रहे, समुदाय रूपको प्रदान किया, जिसके कारण आज भी वेद अमर हैं।

वेद और पुराण ब्रह्मरूप

अपौरुषेयताके तथ्यको समझनेके लिये एक साधन यह भी है कि हम वेदके स्वरूपसे परिचित हो लें। देखा जाय कि स्वयं वेद और पुराण अपने स्वरूपके सम्बन्धमें क्या कहते हैं?

यहाँ पहले वेदके मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भागका

---

* श्रुतधर व्यक्तिको सुनते ही सब कुछ याद हो जाता है, यह बात भी साधारणतया अविश्वसनीय लगती है, क्योंकि आजकी दुनियामें ऐसे श्रुतधर शायद ही कहीं मिलते हैं। अतः इस संदेहका निराकरण भी अपेक्षित है। इसके लिये एक स्वानुभूत घटना प्रस्तुत की जाती है—

एक दूधनाथ त्रिपाठी थे। वे न्याय और वेदान्तके आचार्य थे। वाराणसीके लाहौरी टोलामें स्थित निर्मल महाविद्यालयमें वे इन ग्रन्थोंको पढ़ाया करते थे। सब ग्रन्थ कण्ठस्थ थे। इसलिये पढ़नेवालोंकी बड़ी भीड़ इकट्ठी होती थी।

उन्हीं दिनों एक शरणार्थी अध्यापिका मुझसे एम्० ए० का कोर्स पढ़ रही थी। सरकारने बचपनसे ही उसे सहायता देकर बी० ए० करा दिया था और मुगलसराय रेलवे इण्टर कॉलेजमें शिक्षिकाके पदपर नियुक्त भी कर दिया था। इसीसे उसका और उसके पिताका योग-क्षेम चलता था। यदि वह एम्०ए० कर लेती, तब उसका पारिश्रमिक बढ़ सकता था। चार वर्षोंसे वह इस प्रयासमें लगी हुई थी, किंतु उत्तीर्ण नहीं हो रही थी। उसने मुझसे सहायता माँगी और मैं उसे सहयोग देने लगा था। पुस्तकें अधिक थीं। इसलिये मैंने दूधनाथजीसे कहा कि 'ध्वन्यालोक' इसको आप पढ़ा दीजिये। उन्होंने कहा कि 'ध्वन्यालोक' तो मैंने पढ़ा नहीं है। मैंने कहा कि आप मुझसे सुन लीजिये और धीरे-धीरे उस अध्यापिकाको समझा दीजियेगा। उन्होंने स्वीकार कर लिया। विद्यादानमें एक घंटेका सहयोग वे पहलेसे ही करते आ रहे थे। परीक्षामें ध्वन्यालोकका पहला आनन निर्धारित था। दूधनाथजीको सुनानेमें मुझे दो घंटे लगे। दूसरे दिन वे मेरे पास आये और कहने लगे कि आप ध्वन्यालोक सुन लीजिये। कोई पंक्ति छूट तो नहीं गयी है। इसके बाद उन्होंने आनुपूर्वीके साथ पूरा-का-पूरा आनन सुना दिया। सुनकर मुझे कम आश्चर्य नहीं हुआ। वह आश्चर्य आज भी विद्यमान है; क्योंकि आज भी आनुपूर्वीके साथ दो पन्ने भी मैं ध्वन्यालोक नहीं सुना सकता, जबकि पचीसों बार उसे पढ़ा चुका हूँ। दूधनाथ तो व्यष्टि थे, जबकि ब्रह्मा समष्टि आत्मा हैं। फिर उनकी श्रुतधरतापर प्रश्न ही समाप्त हो जाता है।

एक-एक वचन उद्धृत किया जा रहा है, इसके बाद स्मृति-ग्रन्थोंके भी वचन उद्धृत किये जा रहे हैं?

१. मन्त्र-भागका वचन—

ऋग्वेदमें आया है—

वाचा विरूप नित्यया

अर्थात् (विरूप) हे विरूप महोदय! आप (नित्यया वाचा) नित्य वेदरूपी वाणीसे स्तुति करें।

यहाँ वेदने अपने लिये 'नित्यवाक्' कहकर स्पष्ट कर दिया है कि मैं नित्य हूँ, संसारकी तरह अनित्य नहीं हूँ। अतः प्रलयमें सबका नाश हो जायगा, किंतु मैं बना रहूँगा। यदि वेद (पौरुषेय) किसीके द्वारा कृत होता तो निश्चित ही नश्वर संसारकी तरह नाशको प्राप्त होता। इससे वेदकी अपौरुषेयता व्यक्त हो जाती है।

२. ब्राह्मण-भागका वचन—तैत्तिरीय ब्राह्मणने वेदके लिये 'ब्रह्म' शब्द और 'स्वयम्भू' शब्दका प्रयोग किया है—

ब्रह्म स्वयम्भूः (तै० आ०)

(क) ब्रह्म शब्दका प्रयोग कर तैत्तिरीयने व्यक्त कर दिया है कि वेद ब्रह्मका स्वरूपभूत है। ब्रह्म जब परमार्थ सत्य है तो उसका स्वरूपभूत वेद भी परमार्थ सत्य ही है। ब्रह्म जब पौरुषेय नहीं है, अर्थात् पुरुषकृत नहीं है, तब उसका स्वरूप वेद भी पौरुषेय नहीं है। इस तरह वेदकी अपौरुषेयता व्यक्त हुई।

(ख) 'स्वयम्भू'[1] शब्दसे तैत्तिरीयने व्यक्त कर दिया है कि परमार्थ सत्य भगवान् जैसे लीलाके लिये भिन्न-भिन्न अवतार धारण करते हैं, वैसे वेद और पुराणका भी विग्रह धारण करते हैं। अभी पीछे आ चुका है कि भगवान्ने लीला-स्थली बनानेके लिये विराट् पुरुषका अवतार धारण किया है। द्रौपदीके लिये वस्त्रका रूप धारण किया था और देवताओंको सन्मार्गपर लानेके लिये यक्षका विग्रह धारण किया था। वे ही परमात्मा सृष्टिके संचालनके लिये नित्य विधानके रूपमें वेद और पुराणका विग्रह धारण करते हैं। जैसे राम, कृष्ण आदि अवतार-विग्रह अपौरुषेय (स्वयम्भू) होते हैं, वैसे वेद-पुराण आदि भी अपौरुषेय होते हैं; क्योंकि ये दोनों भी अवतार-विग्रह ही हैं।

३. स्मृति-ग्रन्थके वचन—

(क) शाण्डिल-स्मृतिने वेदके 'स्वयम्भू' शब्दका उपबृंहण करते हुए लिखा है—

अवतीर्णो जगन्नाथः शास्त्ररूपी जनार्दनः।

(शा० स्मृ० ४। १९३)

अर्थात् भगवान् विश्वनाथ ही वेद आदि शास्त्रके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं।

(ख) पद्मपुराणने भी बताया है कि विश्वके कल्याणके लिये भगवान् भिन्न-भिन्न रूपमें अवतीर्ण होते हैं। उनका एक रूप पुराण भी है—

एकं पुराणं रूपं वै। (पद्मपु०, स्व० ख० ६२। २)

(ग) नारदपुराणने लिखा है—

वेदो नारायणः स्वयम्। (बृ० ना० पु० ४। १७)

(घ) इसी तथ्यको पराशरने स्पष्ट किया है—

वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम।

(ङ) महाभारतका एक श्लोक है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

इस वचनसे वेदसम्बन्धी बहुत-सी जानकारियाँ मिलती हैं। जैसे—

(अ) वेदके लिये अनादि और अनिधन शब्दोंका प्रयोग कर सूचित किया है कि अन्य ग्रन्थोंकी तरह वेद किसीसे नहीं बना है, इसलिये 'अनादि' है। इसीलिये नाशवान् भी नहीं है।

(ब) वेदका आविर्भाव 'दिव्य' है। भगवान्का कृष्ण आदिके रूपमें जो आविर्भाव होता है, वह आविर्भाव जैसे दिव्य होता है, वैसे वेदका आविर्भाव भी दिव्य होता है। अर्थात् कृष्णका जन्म जैसे अन्य पुरुषोंकी तरह नहीं होता, वैसे वेद-ग्रन्थका आविर्भाव अन्य ग्रन्थोंकी तरह नहीं है। क्योंकि वेद ब्रह्माके मुखसे विनिर्गत हुए हैं—

वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।

(स) '**यतः सर्वाः प्रवृत्तयः**' से बताया कि वेदके

१. स्वयं-भू=जो स्वयं आविर्भूत हो।

शब्दोंसे ही सृष्टिकी सारी वस्तुओंका निर्माण हुआ है।

मनन

ऊपर वेद और पुराणके वचन उद्धृत कर बताया गया है कि वेद और पुराण ईश्वरके ही रूप हैं। अब उपपत्तियोंसे इसका मनन अपेक्षित है।[१] तीन तथ्य मानने पड़ते हैं—

(क) सत्-स्वरूप—

प्रत्येक ईश्वरवादी मानता है कि ईश्वर सदा विद्यमान रहता है; यह नहीं मानता कि ईश्वरका नाश होता है। आस्तिकोंकी यह मान्यता ठीक ही है, क्योंकि जो मरनेवाला होगा, वह भला ईश्वर कैसे हो सकता है?

इस तरह प्रत्येक ईश्वरवादीको ईश्वरको 'सत्'-स्वरूप मानना ही पड़ता है।

(ख) आनन्द-स्वरूप—

प्रत्येक ईश्वरवादी ईश्वरको 'आनन्दमय' मानता है। यह नहीं मानता कि ईश्वर प्राकृतिक सुख-दुःखके घेरेमें कैद है। आनन्दमयताकी यह मान्यता भी उचित ही है, क्योंकि जो दुखी होगा, वह ईश्वर कैसे हो सकता है? इस तरह प्रत्येक ईश्वरवादी ईश्वरका 'आनन्द'-स्वरूप भी मान लेता है।

(ग) चित्-स्वरूप—

प्रत्येक ईश्वरवादी ईश्वरको ज्ञानसे भरपूर मानता है। यह नहीं मानता कि ईश्वर मूर्ख है। इसकी यह मान्यता भी उचित ही है। क्योंकि जो 'मूर्ख' होगा, वह भला ईश्वर कैसे हो सकता है?

सृष्टिका कण-कण गणितसे भरा है। विराट् ब्रह्माण्डके विशाल-से-विशाल ग्रह-नक्षत्रोंमें गणित है और छोटे-से-छोटे परमाणुओंमें भी गणित है। उस गणितको समझनेके लिये विश्वके सारे राष्ट्र चौबीसों घंटे श्रम कर रहे हैं। विज्ञान कुछ-कुछ समझ पाया है और उसके आधारपर बुद्धिको चकरानेवाले आविष्कार भी कर चुका है। न्यूटनने कहा था कि बालूके अनन्त कणोंमें कुछ कण ही हम लोग ढूँढ़ पाये हैं। आजका विज्ञान भी कहता है कि प्रकृति इतने रहस्योंसे भरी है कि इसके एक-एक सूत्रको समझनेमें हजारों वर्ष लग जाते हैं। इस तरह सृष्टिका कण-कण गणितसे भरा हुआ है। इस सृष्टिको बनानेवाला क्या मूर्ख हो सकता है? प्रत्येक ईश्वरवादी ईश्वरको ही सृष्टिकर्ता मानता है। ऐसी स्थितिमें आस्तिकोंको ईश्वरको ज्ञानस्वरूप मानना ही पड़ता है। इस प्रत्यक्ष गणितको भला कोई कैसे अस्वीकार कर सकता है?

इस तरह प्रत्येक ईश्वरवादीके लिये आवश्यक हो जाता है कि वह ईश्वरको 'सत्'-स्वरूप, 'चित्'-स्वरूप तथा 'आनन्द'-स्वरूप माने।

नित्य ज्ञानस्वरूप

अब विचारणीय प्रश्न है कि ईश्वरका ज्ञान[२] नित्य है या अनित्य? इसके उत्तरमें प्रत्येक ईश्वरवादीको कहना पड़ेगा कि उसका ज्ञान नित्य है। क्योंकि यदि ईश्वरके ज्ञानको अनित्य माना जाय तो उसमें आंशिक मूर्खता आ जायगी। क्योंकि जिस समय ईश्वरमें ज्ञान नहीं रहेगा, उस समय वह मूर्ख ही ठहरेगा। इसलिये प्रत्येक ईश्वरवादीको मानना पड़ता है कि ईश्वर नित्य ज्ञानस्वरूप है।

ज्ञानमें शब्दका अनुबेध

प्रत्येक ज्ञानमें शब्द अनुबिद्ध रहता है। वाक्यपदीयकारने कहा है—

अनुबिद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।

नित्य ज्ञानके लिये नित्य शब्दका अनुबेध तो होना ही चाहिये। इस तरह उपपत्तिसे भी सिद्ध हो जाता है कि नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्धवाला[३] वेद ब्रह्मरूप है।

इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि नित्य होनेके कारण जैसे ईश्वर अपौरुषेय है, वैसे ही तद्रूप वेद भी अपौरुषेय है।

१-श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।

२-'राहोः शिरः' अथवा 'आत्मनश्चैतन्यं' की तरह अभेदमें षष्ठी।

३-सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे। (महाभाष्य पस्पशा० १)

इतिहासाभास नहीं

अबतक पुराण और वेदके आधारपर वेदकी अपौरुषेयताको बुद्धिगम्य करनेका प्रयास किया गया है। किंतु दुरभिसंधिग्रस्त पाश्चात्त्य विद्वानोंने इस इतिहासको 'इतिहासाभास' समझानेके लिये घोर प्रयास किया है। पुराणकी तरह वेदसे आस्था हटानेके लिये इसे 'दकियानूसी' और 'निरर्थक' कहा है। इस तरह वेदके प्रति भी घोर घृणाका भाव फैलाया गया है।

प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलरने अपनी 'आत्मकथा' के द्वितीय भागमें लिखा है—'वेदमन्त्र केवल अतिप्राचीन ही नहीं, 'दकियानूसी और 'निरर्थक' हैं। जिस वातावरणमें हम रह रहे हैं, उसमें उन्हें मँडराते रहनेका कोई अधिकार नहीं है। हम कभी इनके द्वारा अपने जीवनको प्रभावित नहीं होने दे सकते।' (ओल्ड लैगसीन, पृष्ठ ८१)

अतः स्थालीपुलाकन्यायसे यहाँ दो-चार ऐसे तथ्योंपर तुलनात्मक विचार प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे स्पष्ट हो जायगा कि वेद-पुराणका ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है और उससे इससे टकरानेवाले सभी मत तथ्य नहीं हैं। तब यह स्पष्ट हो जायगा कि वातावरणमें किस विचारको मँडरानेका अधिकार है और किस विचारसे हम अपने जीवनको प्रभावित होने दें।

विचारणीय विषय

(१) चेतनाका अस्तित्व

चेतना (आत्मा, जीव)-का अस्तित्व कहाँ-कहाँ है?

वेद-शास्त्रका मत

(क) वेद-शास्त्रका मत यह है कि ढील-लीख आदि स्वेदजों, सर्प-पक्षी आदि अण्डजों, पशु-मनुष्य आदि जरायुजोंमें तो आत्मा होती ही है, वनस्पति आदि उद्भिज्जोंमें भी होती है—

जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते॥

(महाभा० शां० प० १८४। १७)

अर्थात् मैं वृक्षोंमें आत्माको प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ। अतः वृक्ष चेतनाहीन कतई नहीं हैं।

वेदने इस तथ्यको हेतु देकर विस्तारसे समझाया है, सबोंको उद्धृत करनेसे कलेवर बढ़ेगा। अतः यहाँ उसका केवल छोटा-सा ऐसा उद्धरण दिया जा रहा है, जिस तथ्यको आजके विद्वान्ने प्रत्यक्ष कर लिया है, और इससे विश्वको लाभ भी पहुँचा है—

स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति॥

(छा० उ० ६। ११। १)

पेपीयमानः=अत्यर्थं पिबन्नुदकं भौमांश्च रसान् मूलैर्गृह्णन् मोदमानो हर्षं प्राप्नुवंस्तिष्ठति। (वही शा० भा०)

अर्थात् वृक्ष जीवात्मासे ओतप्रोत है। खनिज द्रव्योंके रसोंको अपनी जड़ोंसे चूसकर खाता है और भरपूर जलोंको पीकर प्रसन्नतासे लहराता रहता है।

(ख) सेमिटिक मत (यहूदी, ईसाई, मुसलमान-मत)—सेमिटिक मत यह है कि आत्मा केवल मनुष्यमें होती है*। इसके अतिरिक्त ढील, लीख, पक्षी, पशु आदिमें आत्मा नहीं होती। जो मत पशु-पक्षी आदिमें भी आत्माका होना नहीं मानता, वह भला वनस्पतियोंमें आत्माका होना कैसे स्वीकार कर सकता है?

(ग) कलके विज्ञानका मत—

उन्नीसवीं सदीके प्रारम्भतक विज्ञान वनस्पतियोंमें आत्माका होना स्वीकार नहीं करता था। जब डॉ० जगदीशचन्द्र वसुने रिजोनेन्स रिकार्डर आदि यन्त्रोंकी सहायतासे वनस्पतियोंमें चेतना होनेका प्रयोग कर दिखाया, तब लगभग १८८७ ई० में विज्ञानने इसे स्वीकार कर लिया।

(घ) आजके विज्ञानका मत—

आज तो विज्ञानने इस दिशामें गहरी प्रगति कर ली है। रूसने ऐसे-ऐसे यन्त्र आविष्कृत कर लिये हैं, जिनसे जाना जा सकता है कि वनस्पतियाँ आनेवाले शत्रुको समझ लेती हैं और काँप उठती हैं, तथा यदि आनेवाला व्यक्ति हितैषी है तो उसको देखकर वे प्रसन्नतासे झूम उठती हैं।

---

* ईसाइयोंका यह विश्वास है कि मनुष्यके ही आत्मा है, दूसरे किसीके नहीं। (महात्मा गांधीकी आत्मकथा, पृष्ठ ११८) महात्मा गांधीको ईसाई भाइयोंने अपने सिद्धान्तोंको अवगत करानेके लिये 'बाइबिल' आदि सभी ग्रन्थोंको पढ़वाया था। सप्ताहमें एक बार उन पुस्तकोंपर सामूहिक चर्चा कर उन्हें हस्तामलकवत् करा दिया था। (आत्मकथा भाग १, पृष्ठ १०६—१०८)

आजका विज्ञान ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वेदके इस तथ्यको भी जान सका है कि किस-किस जातिका वृक्ष किस-किस खनिज पदार्थको चूसता है। जैसे—

(१) डगलस फर, डार्फ, जूनियर फिलेपाइन आदि वृक्ष जलके साथ स्वर्णके सूक्ष्म कणोंको चूसते हैं।

(२) न्यू मैक्सिकोमें प्रिंस, लूम, मस्टर्ड आदि पेड़-पौधे गन्धकके सूक्ष्मतम कणोंको जलके साथ चूसते हैं।

जब विज्ञानको पता चल गया कि किस जातिका पौधा किस भौम-रसको चूसता है, तब सोने आदिके खानोंको पता लगानेमें बहुत सुविधा हो गयी। अब विज्ञान हेलीकाप्टर आदिके द्वारा लिये गये छायाचित्रोंके माध्यमसे सरलतासे पता लगा लेता है कि किस खनिजका भण्डार कहाँ है। जब छायाचित्र बता देते हैं कि यहाँ डगलसके पौधे अधिक हैं, वहाँ सोनेका भण्डार होगा ही।

इस तरह '**भौमान् रसान् मूलैर्गृह्णन् मोदमानश्च तिष्ठति**' यह वेदका कथन आज पूरा-पूरा सत्य समझमें आ गया है। संसारके समस्त वातावरणमें मँडरानेवाला वह मत आज सत्य साबित नहीं हुआ कि 'आत्मा केवल मनुष्यमें होता है।' कलका विज्ञान भी इसी असत्य मतको माननेके लिये बाध्य था, क्योंकि तबतक यह इस तथ्यको ढूँढ़ नहीं पाया था। विज्ञानकी अच्छाई यही है कि यह सत्यको पाकर इसे अपना लेता है और असत्यको छोड़ देता है।

अब विश्वके प्रत्येक व्यक्तिको विचारना चाहिये कि जिस वातावरणमें हम रह रहे हैं, उसमें वेदके विचारोंको मँडराते रहनेका अधिकार है या नहीं। साथ-साथ यह भी विचारना चाहिये कि मैक्समूलरका वह मत कि 'आजके वातावरणमें वेद-विचारोंको मँडराते रहनेका कोई अधिकार नहीं है', कहाँतक संगत है! यह भी विचारना होगा कि हम अपने जीवनको वेदके विचारोंसे प्रभावित होने दें या अन्य मतोंसे!

(२) पृथ्वीकी आयु

जिस पृथ्वीपर हम रह रहे हैं, इसकी आयु कितनी हुई, यह विचारणीय विषय है। यहाँ भी तुलनात्मक दृष्टिसे विचार प्रस्तुत किया जाता है।

(क) सेमिटिक मत

सेमिटिक मत यह है कि पृथ्वीकी आयु लगभग छः हजार वर्षोंकी हुई। अरमाघके आर्क बिशप उशरने बताया है कि संसारकी सृष्टि ईसासे चार हजार वर्ष पहले हुई है।* यह मत आज विश्वभरमें फैला हुआ है। यही कारण है कि किसी पाश्चात्त्य विद्वान्ने भारतकी किसी पुस्तकको पाँच हजार वर्षसे पहलेकी नहीं ठहराया। पुस्तकालयोंमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है, किंतु मैक्समूलरने इसका काल केवल १२०० ई० पूर्व माना है।

(ख) वैदिक मत—

वेदानुगत शास्त्रका मत है कि पृथ्वीकी ऊपरी सतहकी आयु १ अरब ९७ करोड़ ४९ हजार १०४ वर्षकी हुई और मूल पृथ्वीकी आयु १५ नील ५५ खरब २१ अरब ९७ करोड़ २९ लाख १०४ वर्ष (१९९९ में) हुई।

(१) पृथ्वीकी सतहकी आयुके सम्बन्धमें आर्यभट्टने लिखा है—

ब्रह्मदिवसेन भूमेरुपरिष्टाद् भवति योजनं वृद्धिः।
दिनतुल्यैकरात्र्या मृद उपचिताया भवति हानिः॥

(आर्यभट्टीय गोलपाद ८)

अर्थात् ब्रह्माका दिन जब आरम्भ होता है, तब (पहले-से विद्यमान) पृथ्वीकी ऊपरी सतहका चारों ओरसे उत्तरोत्तर विकास होने लगता है और शाम आते-आते एक योजनतक वह सतह बढ़ जाती है। ब्रह्माकी रात आनेपर एक योजन जो सतह बढ़ी थी, उसका विनाश हो जाता है। (मूल पृथ्वी बची रह जाती है।) आर्यभट्टके इस सिद्धान्तको स्पष्ट करते हुए भास्कराचार्यने कहा है कि ब्रह्माके दिनमें पृथ्वीपर मिट्टीकी परतें पड़ती जाती हैं और संध्यातक बढ़कर वह एक योजनकी हो जाती है—

वृद्धिर्विधेरह्नि भुवः समन्तात् स्याद् योजनं भूर्भुवभूतपूर्वैः।

जब ब्रह्माकी रात्रिका आरम्भ होता है, तब जो एक

* पैट्रिक मूरने ग्रह और उपग्रह (THEPLAATS) ग्रन्थके पृष्ठ ७ पर लिखा है 'अरमाघके आर्क बिशप उशरने प्रामाणिकरूपसे कहा था कि इस संसारकी सृष्टि ४००४ ईसापूर्व २६ अक्टूबरको सुबह ९ बजे हुई थी'।

योजन पृथ्वीकी सतह बढ़ी थी, उसका नाश हो जाता है। अर्थात् अवान्तर प्रलयमें जलप्लावनसे बढ़ी हुई मिट्टी बह जाती है—

ब्राह्मे लये योजनमात्रवृद्धेर्नाशो भुवः।

—सम्पूर्ण पृथ्वीका नाश तो महाप्रलयमें होता है, जबकि ब्रह्माकी पूरी आयु समाप्त हो जाती है—

प्राकृतिकेऽखिलायाः।

(सिद्धान्त-शिरोमणि, गोलाध्याय ६२)

इस तरह पृथ्वीकी ऊपरी सतहकी आयु (अबतक सन् १९९९ तक) १ अरब ९७ करोड़ २९ लाख ४९ हजार १०४ वर्षोंकी हुई। पञ्चाङ्गोंमें पृथ्वीके इस ऊपरी भागकी ही आयु लिखी रहती है।

(२) मूल पृथ्वी तो ब्रह्माके जन्मसे पहले बन चुकी थी। क्योंकि इसकी गणना २४ तत्त्वोंमें है और तत्त्वोंकी सृष्टि भगवान् अपनी बहिरङ्गा शक्ति प्रकृतिके द्वारा करते हैं। जिसको विज्ञानने ऊर्जा कहा है। इन तत्त्वोंकी सृष्टि किसी जीवके द्वारा नहीं होती। इस तथ्यको ब्रह्माने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—

पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिस्तथैव च। एते मत्तः पूर्वतराः****॥** (ब्रह्मपुराण १६१।४)

(ग) विज्ञान-मत

प्रारम्भमें विज्ञानने पृथ्वीकी आयु कुछ करोड़ वर्षकी मानी। जैसे-जैसे उन्नत साधन मिलते गये, वैसे-वैसे पृथ्वीकी आयुका काल बढ़ता गया। क्योंकि विज्ञानकी बड़ी विशेषता है कि वह सत्यकी खोजमें निरन्तर लगा रहता है। किसी साधनसे जब किसी सत्यका अंश पा लेता है तो पहली मान्यताको ठुकरानेमें वह देर नहीं करता। यही कारण है कि आजका विज्ञान करोड़से उठकर अरबपर चला आया है। यह बात नीचेकी संक्षिप्त तालिकासे स्पष्ट हो जायगी—

१-लार्ड केल्विन—२ से ४ करोड़ वर्ष।

२-जाली—१० करोड़ वर्ष।

३-गुड चाइल्ड—७०.४ करोड़ वर्ष।

४-जैविक विधियोंद्वारा—३ अरब वर्ष।

५-खगोलीय विधियोंद्वारा—३ अरब १० करोड़ वर्ष।

६-रासायनिक विधियोंद्वारा—३ अरब ५० करोड़ वर्ष।

७-उल्का पिण्डोंद्वारा—४ अरब ५० करोड़ वर्ष।

८-रेडियो—एक्टिवताद्वारा ४ अरब ५० करोड़ वर्ष।

उपर्युक्त साधनोंमें रेडियो एक्टिवता अधिक विश्वसनीय साधन है। बीसवीं शताब्दीमें रेडियम, यूरेनियम आदि कुछ ऐसे तत्त्वोंका पता चला, जो स्वाभाविक रीतिसे ऊर्जाका विकिरण करते हुए अन्तमें सीसाके रूपमें परिणत हो जाते हैं। इन किरण-सक्रिय तत्त्वोंकी विशेषता यह है कि इनका विघटन सुनिश्चित गतिसे होता है। ऊँचे-से-ऊँचे ताप-दबावमें भी इनके विघटनकी सुनिश्चिततामें कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं आता। रासायनिक द्रवोंका भी इसके विघटनके सुनिश्चिततामें कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इन किरण-सक्रिय तत्त्वोंकी निश्चित गतिकी सहायतासे समयकी सीमा विश्वसनीय ढंगसे बतायी जा सकती है। यहाँ सावधानी यह बरतनी पड़ती है कि किरण-सक्रिय विघटनसे बने सीसेमें दूसरे सीसे मिले रहते हैं। इस सावधानीके बरतनेके बाद इन तत्त्वोंकी निश्चित गतिकी सहायतासे समयकी सीमा-निर्धारणमें गलतीकी सम्भावना नहीं रहती है। मारो-गोरोके पिचब्लेंड खनिजमें जो सीसे प्राप्त हुए हैं, वैज्ञानिकोंका अनुमान है कि इसके बननेमें १ अरब ५० करोड़ वर्ष लगे होंगे।

संगमन

ऊपर एक मत ऐसा बताया गया है जो आज विश्वके सम्पूर्ण वातावरणमें मँडरा रहा है, उसके अनुसार पृथ्वीकी आयु ६ हजारसे लेकर ८ हजार वर्षतक ही आँकी गयी है। दूसरा मत वेदका बताया गया है, जो मूल पृथ्वीकी आयु नीलतक बताती है और इसके सतहकी आयु १ अरब ९७ करोड़ और कुछ वर्ष बताती है। तीसरा मत विज्ञानका बताया गया है। विज्ञानने पृथ्वीकी आयु हजार तो कभी नहीं मानी। करोड़से खोजते-खोजते आजके विज्ञानने इसकी न्यूनतम आयु चार अरब वर्ष और अधिकतम आयु छः अरब वर्ष मानी है।

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययनसे कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति कह सकता है कि सच्चाई किस मतमें है

और किस मतको आजके वातावरणमें मँडरानेका अधिकार है।

(३) अहोरात्रके भेद

(क) वेदानुगत शास्त्र—

वेदानुगत शास्त्रने कालगणनाके प्रसंगमें चार प्रकारके अहोरात्र (दिन-रात) बताये हैं—

(१) मानवोंका अहोरात्र।

(२) पितरोंका अहोरात्र।

(३) देवताओंका अहोरात्र।

(४) ब्रह्माका अहोरात्र।

(१) मानवोंका अहोरात्र—मानवोंका अहोरात्र (दिन-रात) चौबीस घंटोंका होता है।

(२) पितरोंका अहोरात्र—पितरोंका अहोरात्र मानव-मानसे एक मासका होता है। एक मासमें दो पक्ष होते हैं—कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष। इनमें कृष्णपक्ष तो पितरोंका दिन होता है और शुक्लपक्ष रात्रि—

पित्र्ये रात्र्यहनी पासः प्रविभागस्तु पक्षयोः।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी॥

(मनुस्मृति १।६६)

अर्थात् मानवका पंद्रह अहोरात्र पितरोंका एक दिन और मानवका पंद्रह अहोरात्र पितरोंकी एक रात्रि होती है। इस तरह मानवमानसे एक मास पितरोंका एक दिन होता है।

(३) देवताओंका अहोरात्र—मानवोंका एक वर्ष देवताओंका एक अहोरात्र होता है, इसमें उत्तरायण देवताओंका दिन एवं दक्षिणायन उनकी रात्रि होती है।

(४) ब्रह्माका अहोरात्र—मानवोंका चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष ब्रह्माका एक दिन होता है अर्थात् आठ अरब चौंसठ करोड़ वर्षका एक अहोरात्र होता है।

(ख) सेमेटिक मत—

सेमेटिक मतमें इन अहोरात्रोंकी चर्चा नहीं है।

(ग) कलका विज्ञान—

कलका विज्ञान इतना तो जान गया था कि पृथ्वीका परिक्रमण चाँद २७.३२१ दिनोंमें करता है। किंतु चन्द्रमामें मानवमानसे पंद्रह अहोरात्रोंका एक दिन होता है और पंद्रह अहोरात्रोंकी एक रात होती है, यह नहीं जान पाया था।

(घ) आजका विज्ञान—

किंतु आजके विज्ञानने सिद्ध कर दिया है कि चन्द्रमामें मानवमानसे लगभग चौदह दिनोंका एक दिन और लगभग चौदह रातोंकी एक रात होती है। १९७० ई० में सोवियत रूसके वैज्ञानिकोंने एक विस्मयजनक शोध किया। उन्होंने ल्यूना-१७ के साथ चन्द्रबग्घी ल्यूनाखोदको चन्द्रतलपर उतारा। पृथ्वीपरसे ही इसके यन्त्रोंकी परीक्षा की गयी। 'सब ठीक' का सिग्नल पाकर इस यानसे सीढ़ीद्वारा ल्यूनाखोद एक चन्द्रमापर उतारी गयी। उतरकर वह चलने भी लगी। यह बैटरियोंके द्वारा चलती थी और ये बैटरियाँ सूर्यसे ऊर्जा प्राप्त करती थीं। आगे 'नवनीत' (सितम्बर १९७१)-के शब्दोंमें अपेक्षित विवरण दिया जाता है—चन्द्रमाका एक दिन हमारे चौदह दिनोंके बराबर होता है। रात भी इतनी ही बड़ी होती है। मतलब यह कि लगातार चौदह दिन यहाँ सूर्यकी गर्मी मिलती है और अगले चौदह दिन बर्फीली ठंड पड़ती है। चन्द्ररात्रिमें ल्यूनाखोदकी बैटरियोंको सूर्यकी गर्मी नहीं मिलती तो यह बग्घी निष्क्रिय हो जाती है। इसलिये चन्द्ररात्रिके पूर्व इसे किसी नियत स्थानपर खड़ा कर दिया जाता है, जहाँपर वह दूसरा दिन होनेकी प्रतीक्षामें पुनः ठहरी रहती है, सक्रिय होनेके लिये।

संगमन

वेदानुगत शास्त्र नीलों वर्षोंसे इस तथ्यको कहते आ रहे हैं कि चन्द्रलोकमें मानवके पंद्रह दिनोंका एक दिन और पंद्रह रात्रियोंकी एक रात्रि होती है।

कलका विज्ञान भी २० वीं सदीके आधे शतकतक मौन था।

आजका विज्ञान घोर तप करते हुए जान पाया है कि नीलों वर्ष पुराना वैदिक मत आज सोलहों आने सही है।

इस तरह हम देखते हैं कि वेदके तथ्य ही तथ्य ठहरते हैं। जैसे-जैसे विज्ञान आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वेदके तथ्योंको प्रकट करने

लगता है।

(४) विराट् ब्रह्माण्ड

इस लेखके पहले और दूसरे अंशमें ब्रह्माण्डकी चर्चा हुई है। अतः इस विषयपर भी तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित हो जाता है।

(क) वैदिक मत—

वेद ईश्वरको ब्रह्माण्डका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानता है। जैसे घटरूप कार्यके कण-कणमें मिट्टी व्याप्त है, वैसे ब्रह्माण्डके कण-कणमें ईश्वरकी तरह उनकी बहिरङ्गा शक्ति (ऊर्जा) व्याप्त है।

(ख) सेमेटिक मत—

यह सात आसमानों और स्वर्ग-नरकका होना तो मानता है। किंतु विराट् ब्रह्माण्ड और असंख्य क्षुद्र ब्रह्माण्डोंपर कोई प्रकाश नहीं डालता।

(ग) कलका विज्ञान—

विराट् ब्रह्माण्डको मानता है और इसके रहस्योंको प्रत्यक्ष कर उनपर प्रकाश भी डालता है। किंतु क्षुद्र ब्रह्माण्डोंपर अभी इसकी दृष्टि ठीकसे नहीं पड़ी।

वैज्ञानिक युगका आविर्भाव दूरबीनके आविष्कारसे हुआ। जैसे-जैसे दूरबीनकी शक्तियाँ बढ़ती गयीं, वैसे-वैसे ब्रह्माण्डके रहस्य भी खुलते गये।

ब्रह्माण्डके सम्बन्धमें वैज्ञानिकोंने अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की हैं। इन कल्पनाओंकी संख्या कम नहीं है। किंतु कल्पना, कल्पना ही होती है। उनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। अतः उनपर कोई विचार न प्रस्तुत कर विज्ञानने जो-जो अंश प्रत्यक्ष किये हैं, उनमेंसे कुछपर ही यहाँ विचार करना अपेक्षित है।

(घ) आजका विज्ञान—

आजका विज्ञान खोजते-खोजते इस तथ्यतक पहुँच गया है कि ऊर्जा (शक्ति) कण-कणमें व्याप्त है। जितने भी दृश्य या अदृश्य पदार्थ हैं, वे ऊर्जाके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। आज विज्ञानका यह सूत्र कहा जा सकता है कि ऊर्जा ही कारण है और ऊर्जा ही कार्य है। ऊर्जाका न आदि है, न अन्त है, इसलिये ऊर्जा सनातन है अर्थात् ऊर्जा सदासे है और सदा रहेगी। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ऊर्जाके द्वारा बना है और ऊर्जामें ही स्थित है।

(ङ) वैदिक मतकी स्थिति—

विज्ञानका यह मत वैदिक मत है। पहले लिखा जा चुका है कि भगवान्ने अपनी बहिरङ्गा शक्ति (प्रकृति) (जिसे आजका विज्ञान ऊर्जा कह रहा है।)-के द्वारा ही ब्रह्माण्ड बनाया है और भगवान्की यह शक्ति (प्रकृति) ब्रह्माण्डके कण-कणमें अनुस्यूत है। जिस तरह मिट्टी घट, शराव आदिके रूपमें परिणत होती चली जाती है तथा इन सभी कार्योंमें अनुस्यूत रहती है, उसी तरह प्रकृति भी तत्त्वोंके रूपमें और फिर ब्रह्माण्डके रूपमें परिणत होती आयी है। इसलिये जितने दृश्य और अदृश्य पदार्थ हैं, सब प्रकृतिके ही कार्य हैं। भगवान्की इस शक्तिका न आदि है, न अन्त* है। यह सनातन है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान्की इसी शक्तिसे बना है और इसीमें स्थित है।

भौतिकीसे न सिद्ध होनेवाला तथ्य

यहाँ एक विषयपर प्रकाश डालना अपेक्षित है। वह यह है कि विज्ञान अधिभूतको ही परख सकता है, अध्यात्मको नहीं। जो ब्रह्माण्डमें है, वही इस पिण्डमें भी है। दोनों जड़ हैं, भौतिक हैं। अतः विज्ञान इन दोनोंको अपनी प्रयोगशालामें परख सकता है। यही कारण है कि निरन्तर तपमें लगा हुआ विज्ञान आज ब्रह्माण्ड और उससे अधिक अपने शरीरके सम्बन्धमें बहुत कुछ प्रत्यक्ष कर चुका है। किंतु इसी शरीरमें रहनेवाले आत्माके सम्बन्धमें भौतिकी जो कुछ नहीं जानती। इससे भौतिक-विज्ञानकी कोई अवहेलना नहीं होती, क्योंकि आत्मा इसकी सीमासे परे है। यही कारण है कि आजका विज्ञान भगवान्की बहिरङ्गा शक्तिके सम्बन्धमें बहुत कुछ जान चुका है। किंतु इस शक्तिका आश्रय जो परमात्मा है, उसे वह नहीं जान पाया। फिर भी विज्ञानको अपनी दूसरी शाखा परामनोविज्ञानके अनुसन्धानसे भी लाभ उठाना चाहिये, क्योंकि विज्ञान सत्यका पुजारी है।

* जीवकी दृष्टिसे यह अनादि है और सान्त है, किंतु ईश्वरीय शक्तिकी दृष्टिसे यह अनादि है और अनन्त है।

परामनोविज्ञान सत्य घटनाओंके माध्यमसे किसी तथ्यका पता चलाता है। एम० डी० वर्जिनिया युनिवर्सिटीके परामनोविज्ञान-विभागके प्रोफेसर डॉ० इयान स्टीवेंशनने पुनर्जन्म-सम्बन्धी दो हजार घटनाओंका पता बहुत श्रम और धन व्यय करके चलाया है और इस घटनाओंकी जाँचकर वे इस नतीजेपर पहुँचे कि मृत्युके बाद व्यक्तिका जन्म फिर होता है।

इन घटनाओंको भले ही भौतिक-प्रयोगशालामें न परखा जा सके, क्योंकि यह अंश उसकी परिधिके बाहर है; फिर भी किसी सच्चाईका भौतिक-विज्ञान अपलाप कैसे कर सकता है?

आजका विज्ञान भी जिन तथ्योंको मानता है, वे सभी तथ्य इसकी प्रयोगशालामें सिद्ध नहीं किये जा सके हैं। जैसे—आजका विज्ञान मानता है कि मैटरको ऊर्जामें बदला जा सकता है और ऊर्जाको भी मैटरमें बदला जा सकता है*। ऊर्जा-विज्ञान मैटरको ऊर्जाके रूपमें परिणत करके दिखा चुका है। किंतु आजके विज्ञानके पास वह शक्ति नहीं है, जिसके द्वारा यह ऊर्जाको मैटरके रूपमें बदल दे। विज्ञानको सर्वांगीण सत्य मानना चाहिये।

विज्ञानका आदर इसलिये किया जाता है कि यह सत्यका साक्षात्कार कर लेनेके बाद अपनी पुरानी मान्यताओंको छोड़नेमें हिचकता नहीं। किंतु इसका एक हठ उचित नहीं है कि विज्ञानकी प्रयोगशालामें जो सत्य सिद्ध हो वही सत्य है। क्योंकि सत्यकी सीमा व्यापक है। अधिभूत ही सत्य नहीं है, अधिदैव और अध्यात्म भी सत्य है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीनने नेचरमें एक लेख लिखा था। उन्होंने अणुसे लेकर विराट् ब्रह्माण्डमें सर्वत्र गणित-ही-गणित देखा। जिसने इस गणितको बनाया है, उसके प्रति उनका हृदय श्रद्धासे अभिभूत हो गया। उन्होंने लिखा था—'जिसने अपने प्रयोगोंमें इसे अनुभूत किया है, उसके हृदयमें सृष्टिक्रममें व्यक्त विवेकके प्रति अत्यन्त आदर और श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता।'

धीरे-धीरे कण-कणमें व्याप्त गणितने उन्हें ईश्वर 'विश्वव्यापी अखण्ड चेतना' के रूपमें और 'सृष्टिके मूल स्रोत' के रूपमें साफ-साफ दीख गया। फिर तो उस अखण्ड चेतनाको पानेके लिये उनके भीतर ललक उत्पन्न हो गयी। उनके शब्द हैं—'सृष्टिका मूल स्रोत एवं विश्वव्यापी अखण्ड चेतना-जैसे गूढ़ सत्य, यदि मुझे किञ्चिन्मात्र भी उपलब्ध हो तो मैं जीवनको सफल मानूँगा।' (मेरा जीवन-दर्शन)

ऊर्जाकी कारणता चेतनके अधिष्ठानसे

सचमुच जड़ गणितकी गुत्थियोंको नहीं सुलझा सकता। ऊर्जा चेतनसे अधिष्ठित होकर ही गणितका कार्य कर सकता है। गोपाल कृष्णका मोहक चित्र हमारे सामने है। इसमें प्रेमियोंको लुभानेवाली चितवन है। इससे सुन्दरताका सारा सौरभ उत्सर्जित हो रहा है। यह चित्र क्या बिना गणितसे बन गया है? इस प्रसङ्गमें सर्वदर्शनसंग्रहके लेखकने कुण्डलका दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। एक सुन्दर कुण्डल हमारे सामने है। उसकी गोलाई बिलकुल सही है, टेढ़ी-मेढ़ी नहीं है। हथौड़ीकी चोट हिसाबसे लगी है। प्रश्न है यह कुण्डल क्या बिना हिसाबसे बन गया है? इसका स्पष्ट उत्तर है कि चेतनकी सहायताके बिना सोनेकी डली कुण्डलके रूपमें परिणत नहीं हो सकती—

न ह्यचेतनं प्रधानं चेतनानामधिष्ठितं प्रवर्तते।

(सर्वदर्शनसंग्रह, वेदान्त-दर्शन)

विज्ञान सत्यका पुजारी है, इसलिये मेरी प्रार्थना है कि अपने दायरेसे बाहरके सत्यको भी वह खुले मनसे स्वीकार कर ले। जैसा कि आइन्स्टीनने किया था और जैसा कि आज परामनोविज्ञान सचको स्वीकार करनेमें उदारता दिखा रहा है।

(५) क्षुद्र ब्रह्माण्ड

पीछे क्षुद्र ब्रह्माण्डोंकी बात की गयी है। वैदिक

* सन् १९०८ में अलबर्ट आइन्स्टीनने प्रतिपादित किया है कि द्रव्यमान और ऊर्जा एक-दूसरेमें परिवर्तनीय है। यह भी प्रतिपादित किया कि पदार्थके पूर्णतः ऊर्जामें बदल जानेपर $E=MC^2$ अनुसार हमें विपुल ऊर्जा प्राप्त होगी। यहाँ E ऊर्जा, M द्रव्यमान और C प्रकाशके वेगको सूचित करता है।

मतमें बताया गया है कि विराट् ब्रह्माण्डमें असंख्य छोटे-छोटे ब्रह्माण्ड मौजूद हैं। विराट् ब्रह्माण्ड शब्दमें जो 'ब्रह्मन्' शब्द है, वह परमेश्वरका वाची है। ब्रह्मने लीलाके लिये प्रथम पादमें विराट् गोलाकार रंगमंच बनाया। फिर उसमें पुरुषके रूपमें प्रवेशकर उसका स्फोट करके बाहर आये। इसलिये वह गोला परमेश्वरका अण्ड माना जाता है।

क्षुद्र ब्रह्माण्डमें जो 'ब्रह्मन्' शब्द है, वह चतुर्मुख, पञ्चमुख आदि ब्रह्माका वाची है। वेद उस विराट् ब्रह्माण्डमें असंख्य क्षुद्र ब्रह्माण्डोंका होना मानता है। एक ब्रह्माण्डमें चौदह भुवन होते हैं। उसमें मर्त्यलोक (मनुष्यलोक) एक ही होता है। इसलिये आजका जो विज्ञान चन्द्रमा, मंगल, शुक्रलोकमें मनुष्योंकी खोज कर रहा है, वह निष्फल होगा। दूसरे ब्रह्माण्डमें मर्त्यलोक हैं। (क) सेमेटिक मत (ख) कलका विज्ञान और (ग) समीपप्राय अतीतका विज्ञान भी इस तथ्यको पा नहीं सका था। किंतु आजसे कुछ महीने पहले आजके विज्ञानको इसका आभास-सा मिल गया है। नासाने दूरबीनकी सहायतासे देखा था कि एक नया सूर्य है और उसके परिवारमें बुध, पृथ्वी आदि बन रहे हैं। यदि यह प्रमाणित हो सका तो आजका विज्ञान भी क्षुद्र ब्रह्माण्डके बारेमें सोच सकेगा। प्रत्यक्ष तो नहीं कर सकेगा, क्योंकि जिन ग्रहोंका नूतन निर्माण हो रहा है वे दूर और बहुत दूर हैं। प्रकाशकी गतिसे चलनेवाले कहीं यान हों तब भी उनके पास पहुँचनेमें कई प्रकाश-वर्ष लग सकते हैं।

यहाँ पूछा जा सकता है कि क्या वैदिक शास्त्र मानते हैं कि नये-नये ब्रह्माण्ड भी बना करते हैं? इसका उत्तर है 'हाँ'। काशी-केदार-माहात्म्यसे पता चलता है कि पराशक्तिने ब्रह्मा, विष्णु तथा महेशके पदपर आये जीवोंके लिये नया ब्रह्माण्ड बना दिया था—

नूतनांस्तान्.......सृष्ट्वाण्डं नूतनं पृथक्। सम्प्रेक्ष्य तत्र जीवानां सृष्टिस्थितिलयाय हि॥

(६।११४।१५)

ऊपर दो-चार चावलोंके टटोलनेसे स्पष्ट हो जाता है कि वेदशास्त्र ज्ञानरूप ईश्वरका ही अवतार हैं। क्योंकि जिस तरह ईश्वर सत्य है, उसी तरह वैदिक मत अक्षर-अक्षर सत्य है। विज्ञान तो मान ही लेगा कि वातावरणमें सचको ही मँडरानेकी आवश्यकता है और उसीसे अपने जीवनको प्रभावित होने देना चाहिये।

ईश्वरप्राप्तिके लिये वैदिक साधन

(महामहोपाध्याय पण्डित श्रीसकलनारायणजी शर्मा)

ईश्वरकी प्राप्ति महान् धर्म है; क्योंकि उससे अवश्य ही सुख-शान्तिका लाभ होता है और वह सर्वदा एकरस एवं नित्य होता है। धर्मकी तीन शाखाएँ हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। छान्दोग्योपनिषद् (२।२३।१)-में कहा है—

'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानम्.....।'

भक्ति और तपस्या यज्ञ हैं, दान कर्म है और अध्ययन ज्ञान है। ज्ञानके बिना कोई काम नहीं होता। जो ज्ञान भक्ति और कर्मका सहायक है, वह कारण है। जो इन दोनोंके बलसे उत्पन्न होता है, वह कार्य है। दोनों प्रकारके ज्ञान धर्म हैं। ज्ञानका पर्यायवाची शब्द 'वेद' है। वेदका मुख्य तत्त्व 'ॐ' है। शास्त्रोंमें ज्ञानके अर्थमें 'विवेक' और 'विद्या' शब्दका भी व्यवहार हुआ है। ज्ञानसे मुक्ति निश्चितरूपसे सम्पन्न होती है।

उद्गीथ-विद्या

ज्ञान उपासनासे होता है। वह उपासना कैसे की जाय? 'ॐ' के द्वारा परमात्माका ध्यान करना—यह भी एक उपासना है। 'हे ॐ स्वरूप परमात्मन्! मुझे स्मरण रखो, कहीं मुझे भूल न जाना'—'**ॐ क्रतो स्मर**'। प्रणव अर्थात् 'ॐ' परमात्माका सर्वश्रेष्ठ नाम है; क्योंकि इसके द्वारा उन्नतभावपूर्वक परमात्माका गायन होता है। इसीसे 'प्रणव' को 'उद्गीथ' कहते हैं। बहुत-सी उपनिषदों और

योगदर्शनमें कहा गया है कि प्रणवका जप करनेसे आत्मज्ञानकी उपलब्धि एवं विघ्नोंका नाश हो जाता है। आचार्य लोग इसे अक्षर—अविनाशी मानते हैं। पृथ्वी सब प्राणियोंको धारण करती है। वही प्राणियोंका आश्रय है; उसका सार है जल। जलने ही ओषधियोंमें सार-तत्त्वका दान किया है। उसीसे पुरुष परिपुष्ट होते हैं। पुरुषमें सार वस्तु है—वाक् (बोली)। उसमें ऋक् और साम यथार्थ तत्त्व हैं। उनका सार 'ॐ' है। शक्ति अथवा अर्थकी दृष्टिसे इससे बढ़कर ईश्वरका दूसरा नाम नहीं है—'**स एष रसानाᳲरसतमः०**' (छान्दोग्य० १।१।३)। इसके उच्चारणके समय वाक् और प्राणमें एकता सम्पन्न होती है, इससे जप करनेवालोंके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं—

'**आपयिता ह वै कामानां भवति**……' (छान्दोग्य० १।१।७)

'प्रणव' शब्दका एक अर्थ 'स्वीकार' अर्थात् 'हाँ' भी होता है। जो इसे धारण करनेमें तत्पर है, उसके सब कार्य और इच्छाएँ स्वीकृत हो जाती हैं अर्थात् उसे सर्वत्र 'हाँ', 'हाँ' ही दिखायी देता है।

संवर्ग-विद्या

'संवर्ग' शब्दका अर्थ है—ग्रहण कर लेना अथवा ग्रास कर लेना। अग्नि बुझनेपर कहाँ जाती है? सूर्य, चन्द्रमा अस्त होनेपर कहाँ रहते हैं? इसका उत्तर है कि ये तीनों वायुसे ग्रस्त हो जाते हैं। इनपर वायुका आवरण पड़ जाता है; क्योंकि इनकी उत्पत्ति वायुसे है और ये तीनों ही अग्निरूप हैं। प्रकाशमय होनेके कारण सूर्य और चन्द्रके अग्नित्वमें भी संदेह नहीं हो सकता। वेदने इनका आविर्भाव अग्निसे माना है। जल भी वायुमें लीन हो जाता है। सुषुप्तिके समय वाणी, आँखें, कान तथा मन—ये प्राणमें व्याप्त रहते हैं। उस समय केवल श्वास—प्राणवायु चलता रहता है। दूसरी इन्द्रियोंकी क्रियाएँ भी लुप्त हो जाती हैं। यह प्राणमें इन्द्रियोंका संवर्ग हुआ। प्राण और वायुका संवर्ग कहाँ होता है? इनका संवर्ग परमात्मा है। यह ज्ञान जिसे होता है, वह परमात्माका भक्त बन जाता है।

एक समय शौनक और काक्षसेनि भोजन कर रहे थे। उसी समय एक ब्रह्मचारीने आकर उनसे भोजनकी भिक्षा माँगी। उन लोगोंके अस्वीकार करनेपर ब्रह्मचारीने कहा—'जो सबका पालन करनेवाला है, जिसमें सबका संवर्ग होता है, उसे तुम लोग नहीं देखते; इसीसे अन्न नहीं दे रहे हो।' इसपर दोनों महर्षियोंने उसे अन्न देकर कहा—'हम जानते हैं कि तुम्हारे वचनका तात्पर्य 'ब्रह्म' है। जो सबको खाता है, जिसे कोई नहीं खा सकता, जिसमें सब लीन हो जाते हैं और जो किसीमें लीन नहीं होता, वह महामहिमशाली मेधावी ब्रह्म है, जो सबको उत्पन्न करता है'—

'……**आत्मा देवानां जनिता प्रजानाᳲहिरण्यदᳲष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानः**……'

(छान्दोग्य० ४।३।७)

मधु-विद्या

ब्रह्माण्डमें कौन ऐसा मनुष्य है, जो माधुर्य नहीं पसंद करता? मधु-विद्यामें जो 'मधु' शब्द है, वह मीठे पदार्थका बोधक है। मनुष्यजातिका स्वाभाविक खाद्य मीठा दूध है। परमात्मा उससे भी माधुर्यशाली हैं। उस माधुर्यकी प्राप्ति सूर्यके द्वारा हो सकती है; क्योंकि सूर्य खट्टे फलोंको पकाकर मीठा बना देता है। इसीसे उपनिषद् कहती है कि सूर्य देवताओंके मधु हैं। मधुका छाता किसी लकड़ी आदिमें लगता है। सबसे ऊपरका द्युलोक इसके लिये आश्रय है, अन्तरिक्ष छाता है और सूर्यरश्मियाँ भ्रमरोंकी पंक्तियाँ हैं। चारों वेदोंके अनुसार किये हुए कर्म पुष्प-पराग हैं। उनसे अमृतस्वरूप मोक्ष, जो कि मधु है, उत्पन्न होता है। कर्मप्रवर्तक सूर्य ही मुख्यरूपसे मधु है। यदि उसकी उपासना करें तो परम मधु—ब्रह्मकी प्राप्ति सहज हो जाती है।

'**ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु**…,' '…**वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि**॥' (छान्दोग्य० ३।१।१, ३।५।४)

पञ्चाग्नि-विद्या

जो लोग उत्तरायण सूर्यमें शरीर-त्याग करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। उन्हें फिर लौटना नहीं पड़ता। जो दक्षिणायनमें प्राण-त्याग करते हैं, वे संसारमें फिर जन्म ग्रहण करते हैं। उत्तरायणका अर्थ 'ज्ञानमार्ग' है और

दक्षिणायनका 'कर्ममार्ग'। ज्ञानमार्गके पथिकको पञ्चाग्नि-विद्याका पूर्ण परिचय होना चाहिये। श्वेतकेतु पाञ्चालोंकी राजसभामें गया। वहाँ उससे पाँच प्रश्न पूछे गये। परंतु श्वेतकेतु किसीका उत्तर न दे सका। उसने वहाँसे लौटकर अपने पिता गौतम आरुणिसे कहा—'पिताजी! आपने मुझे सब विद्याएँ नहीं सिखायीं। मैं पाञ्चाल-नरपति प्रवाहणके प्रश्नोंका उत्तर नहीं दे सका। आप मुझे उन विद्याओंका उपदेश कीजिये।' इसपर आरुणिने उन विद्याओंके सम्बन्धमें अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। श्वेतकेतुने पुनः प्रवाहणके पास जाकर उन विद्याओंका उपदेश प्राप्त किया। राजाने पञ्चाग्नि-विद्याका उपदेश किया।

'यह लोक अग्नि है। इसको प्रज्वलित करनेके लिये सूर्य लकड़ी है। उसकी किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गार हैं तथा अवान्तर दिशाएँ स्फुलिङ्ग हैं। इस अग्निमें देवता लोग श्रद्धारूपी हविका हवन करते हैं। इस हवनसे सोमकी उत्पत्ति होती है। श्रुति कहती है कि यहाँ श्रद्धा जलस्वरूप है। अतएव देवता जलसमूह मेघरूप अग्निमें सोम चन्द्रमाको, लोकरूप अग्निमें वृष्टिको और वृष्टिसे उत्पन्न अन्नको पुरुषरूप अग्निमें जलाते हैं। उससे वीर्य उत्पन्न होता है। उसका हवन स्त्रीरूप अग्निमें होता है। मनुष्योंकी उत्पत्तिमें लोक, मेघ, पुरुष और स्त्री कारण हैं। पुरुष और स्त्रीको चिताकी आग भस्म करती है। यही पाँच अग्नियाँ हैं। इन पाँचोंमें परमात्मा व्याप्त हैं। इनके द्वारा जो परमात्माको जानता है, वह नित्यमुक्त हो जाता है। वेदान्तमें इस पञ्चाग्नि-विद्याका बड़ा विस्तार है; संक्षेपमें यहाँ उसका उल्लेख किया गया है। इसका ज्ञाता पुनरावृत्तिहीन मुक्तिको प्राप्त होता है'—

'**····पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः**'॥

(बृहदारण्यक० ६।२।१५)

उपकोसलकी आत्मविद्या

उपकोसल जाबालि सत्यकामके पास बहुत दिनोंतक शिष्यभावसे रहा, परंतु महर्षिने उसे ब्रह्मतत्त्वका उपदेश नहीं किया। उनके बाहर चले जानेपर मानसिक व्याधिसे पीड़ित होकर उपकोसलने भोजन और भाषणका परित्याग कर दिया। इसपर सत्यकामकी अग्नियोंने करुणापरवश होकर उपदेश किया कि '**प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म**।' इसपर यह संदेह होता है कि प्राणवायु जो कि अचेतन है, 'क' अर्थात् सुख जो कि परिमित है और 'ख' अर्थात् आकाश जो कि शून्य है—ये भला ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? उस वचनका यह अभिप्राय नहीं है। जिस परमात्माके बलसे प्राण अपना कर्म करते हैं, वही प्राण है। वह आकाशके समान व्यापक और आनन्दस्वरूप है। इस विद्यामें लौकिक प्राण, सुख और आकाशका वर्णन नहीं है। इसके पश्चात् अग्नियोंने पृथक्-पृथक् उपदेश किया तथा जाबालि सत्यकामने लौटकर और भी उपदेश किया। इन्हीं सब विद्याओंका नाम 'उपकोसल-विद्या' है। जो ईश्वरको विद्योक्तरूपमें समझता है, वह उसकी उपासना करता है। यह उपासना मननसे दृढ़ होती है—'**····प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति**॥'

(छान्दोग्य० ४।१०।४)

शाण्डिल्य-विद्या

महर्षि शाण्डिल्य भक्तिशास्त्रके आचार्य थे। उनका बनाया हुआ 'शाण्डिल्यसूत्र' संस्कृत-साहित्यका आदरणीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमें भक्तिका वर्णन करते हुए कहा गया है कि परमात्माका मुख्य गुण करुणा है—'**मुख्यं हि तस्य कारुण्यम्**।' (शाण्डिल्यसूत्र) महर्षिका कथन है कि सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म है, उपासनामें यह भावना रखनी चाहिये। इसका कारण यह है कि परमात्मा '**तज्जलान्**' है अर्थात् यह संसार उसीसे उत्पन्न होता है, उसीमें लीन होता और उसीसे प्रतिपालित होता है। पुरुष अध्यवसायमय अर्थात् भावनामय है। उसकी जैसी भावना होगी, वैसी ही उसे गति मिलेगी। परमात्मा इच्छामय, प्रज्ञाचैतन्यस्वरूप, सत्यसंकल्प, सर्वगत, सर्वकर्ता तथा रस-गन्धोंका आदिस्थान है। जितनी अच्छी अभिलाषाएँ हैं, सब उसीकी प्रेरणासे होती हैं। इन्द्रियोंके बिना जो सब कुछ करता है, जो सबसे महान् तथा सबसे सूक्ष्म है, वह दयालु हम लोगोंके हृदयमें ही विराजमान है। यदि हम लोग उसका आश्रय लें तो उसे अवश्य प्राप्त कर सकते हैं, इसमें

संदेह नहीं—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।'

'...एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति'...॥'

(छान्दोग्य० ३।१४।१,४)

दहर-विद्या

जैसे इस लोकमें पुरुषकारसे पैदा की हुई सम्पत्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही पुण्यबलसे उत्पन्न उत्तमोत्तम पारलौकिक सुख भी नष्ट हो जाता है। जिसे परमात्माका ज्ञान हो गया है, उसके सुख नित्य होते हैं। वे कभी नष्ट नहीं होते। परमात्माका ज्ञान उपासनाके बिना नहीं होता। उपासनाका अर्थ है—समीप रहना। जिसका कोई पता-ठिकाना ही नहीं, उसके समीप कोई कैसे रहे? श्रुति कहती है कि 'मनुष्यका शरीर ही ब्रह्मपुर है। उसका दहर—हृदय-कमल भगवान्‌का निवासस्थान है। उसीमें परमात्माको खोजो। वहीं उसका साक्षात्कार करो। यह मत सोचो कि सबसे बड़े भगवान् इतने छोटे-से स्थानमें कैसे रहेंगे। जितना बड़ा यह बाहरका आकाश है, उतना ही बड़ा—बल्कि उससे भी बड़ा हृदयाकाश है। उसमें अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु आदि सभी हैं। उसमें रहनेवाले परमेश्वर शरीरके धर्मोंका स्पर्श नहीं करते। जरा-मृत्यु, क्षुधा-पिपासा उनका स्पर्श नहीं कर सकतीं। बाहरकी अभिलाषाएँ वहाँ पूर्ण रहती हैं। कोई दुःख-शोक वहाँ नहीं सताता'—

'यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्'...॥'

(छान्दोग्य० ८।१।१)

भूम-विद्या

जगत्‌के प्राणी जो कुछ करते हैं, उसका उद्देश्य सुख है। सुखकी जानकारीके बिना सुख नहीं हो सकता। यह सभी जानते हैं कि क्षणस्थायी अल्प वस्तुमें सुख नहीं होता। जितने पदार्थ नाशवान् हैं, अल्प हैं, वे किसी-न-किसी रूपमें दुःखमय हैं। सबसे महान्—सबसे बड़ी वस्तु ईश्वर है, वही सुख है। उसका स्वरूप आनन्दमय है—'**आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्।**' यहाँ एक बात विचार करने योग्य है कि हम जगत्‌में बहुत कुछ खाते-पीते, देखते-सुनते हैं; परंतु तृप्ति नहीं होती। इसका कारण क्या है? जगत्‌की वस्तुएँ परिमित हैं, अल्प हैं। परमात्मा सबसे बड़े—असीम हैं। उनके मिल जानेपर दूसरे किसी पदार्थकी इच्छा नहीं होती और पूर्णता आ जाती है; क्योंकि सब वस्तुओंकी स्थिति परमात्माके सहारेसे ही है। सब वस्तुएँ विनाशशील हैं और परमात्मा अमृतस्वरूप भूमा (अनन्त) है—

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।' (छान्दोग्य० ७।२३।१)

दीर्घायुष्य-विद्या

जो मनुष्य चौबीस, चौवालीस अथवा अड़तालीस वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन करके यज्ञादि करते हैं, वे नीरोग रहते हुए सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहते हैं। जो ब्रह्मज्ञानी उपासक हैं, उनकी मृत्यु उनकी इच्छाके अधीन होती है। महिदास नामके एक ज्ञानी उपासक हो गये हैं, वे एक सौ सोलह वर्षतक जीवित रहे—

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः'...स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्र'...॥ (छान्दोग्य० ३।१६।७)

जो बहुत दिनोंतक जीवित रहना चाहते हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञानरूप उपासना करनी चाहिये।

मन्थ-विद्या

सिद्ध अथवा शरण—प्रपन्न हो जानेपर धनकी आवश्यकता नहीं होती। परंतु साधनावस्थामें उसकी आवश्यकता होती है। तदर्थ मन्थाख्य कर्म किया जाता है। इससे धनकी प्राप्ति होती है। उस कर्ममें ईश्वरसे प्रार्थना की जाती है—'हे अग्निस्वरूप देव, भगवन्! सब देवता विपरीत होकर मेरे अभिजयों (सफलताओं)-को नष्ट कर देते हैं। मैं उनकी तृप्तिके लिये आहुति देता हूँ।' किसी अच्छे मुहूर्तमें दुग्धपायी रहकर कुशकण्डिका करे और ओषधियों तथा फलोंसे हवन करे। बृहदारण्यकोपनिषद् (६।३।२)-के **'ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा'** इत्यादि मन्त्रोंसे आहुति देनी चाहिये।

जिसको मोक्षप्राप्तिकी इच्छा है, उसको किसी कामनासे ईश्वरकी उपासना नहीं करनी चाहिये। सकाम उपासना तो मोक्षमें विघ्नकारक है। भगवान् निष्काम

कर्मसे प्रसन्न होते हैं। जबतक हृदयमें कामनाएँ भरी हुई हैं, तबतक परमात्माके लिये स्थान कहाँ है? कामनादूषित हृदयके सिंहासनपर परम पवित्र परमात्मा कैसे विराजमान होंगे? इसीसे बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।६)-में कहा गया है—

'.....योऽकामो निष्काम आप्तकाम.....।।'

'जो अकाम है, निष्काम है, आप्तकाम है, वही भगवत्प्राप्तिका अधिकारी है।'

प्राचीन भारतका धनुर्वेद-विज्ञान

(डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूडामणि)

अति प्राचीन कालसे शारीरिकी शिक्षाका चरमोत्कर्ष धनुर्वेद-विज्ञानमें अन्तर्निहित है। यहाँ विज्ञानसे तात्पर्य प्रयोग-विज्ञान अथवा विशिष्ट ज्ञानसे है। धनुर्वेदका इतिहास (परम्परा-प्राप्त शिक्षण) उतना ही प्राचीन है, जितना वेदोंका प्राचीनत्व प्रमाणित है। अतएव सब वेदोंमें इस विज्ञानकी चर्चा है। इसका एकमात्र कारण राष्ट्र-रक्षा ही है। राष्ट्रकी रक्षा बिना धनुर्वेद (-के)-से सम्भव नहीं है। विशेष क्या कहा जाय—राष्ट्र-रक्षा तो दूर रही, अपनी सुरक्षा भी समुपार्जित बल और धनुर्वेद-विज्ञानसे ही हुई है और होगी।

धनुर्वेदका प्रयोजन—प्राचीन कालमें विशेष रूपसे क्षत्रियोंके ऊपर ही सबकी रक्षाका भार था। 'क्षत्र' शब्दका व्युत्पत्तिजनक अर्थ होता है—नाश होनेसे बचाना। महाकवि कालिदासजीने रघुवंशमें कहा है कि क्षत्रिय अपनी सुरक्षा स्वयं ही करते थे, वे दूसरोंके द्वारा रक्षित नहीं होते थे। अतः अपनी एवं दूसरोंकी रक्षाके लिये धनुर्वेदका प्रयोजन नितान्त आवश्यक होता था। महर्षि वसिष्ठ-प्रणीत धनुर्वेद-संहितामें कहा गया है कि दुष्टों, डाकुओं तथा चोरोंसे सज्जनोंका संरक्षण करना एवं प्रजाका पालन करना धनुर्वेदका मुख्य प्रयोजन है। यदि किसी गाँवमें एक भी अच्छा धनुर्धर होता था तो उससे समस्त ग्रामकी रक्षा होती थी, शत्रु उसे देखकर भाग जाते थे।

महाकवि भवभूतिने भी उत्तररामचरितमें धनुर्वेदके रक्षात्मक स्वरूपका चित्रण किया है। शुक्रनीतिके अनुसार धनुर्वेद केवल धनुष-संचालन प्रक्रियाका ही ज्ञान नहीं कराता था। अपितु युद्धोपयोगी समग्र अस्त्र-शस्त्रोंके निर्माण-सम्बन्धी प्रयोगात्मक विवरण भी उपस्थित करता था। उसका स्वरूप रौद्रात्मक माना जाता था।

वैदिक कालमें वीरता और सैन्य बलका प्रतीक (चिह्न) 'धनुष' था। वस्तुतः सैन्य शक्तिका पर्याय धनुष ही था। यजुर्वेदके एक मन्त्रके[१] अनुसार धनुषसे सब दिशाएँ जीती जा सकती थीं। ऐसे ही ऋग्वेदमें[२] ब्रह्मणस्पतिको लक्ष्य करके कहा गया है कि वे बाण-संचालन (प्रक्षेपण)-में कुशल थे। साथ ही अपने अभीष्टकी प्राप्ति धनुषके बलसे ही करते थे। उनके फेंके हुए बाण कार्यसाधनमें सर्वथा समर्थ थे, अथर्ववेदके एक सूक्तमें[३] धनुषसे प्रार्थना की गयी है कि तुम्हें धारण करके मैं क्षात्र-तेज एवं बलसे युक्त होऊँ। यहीं धनकी भी कामना की गयी है। इसी प्रकार यजुर्वेदके एक मन्त्रमें[४] वीर पुरुषके लक्षणमें सशस्त्र रूपका प्रतिपादन किया गया है। वहाँ आशय यह है कि वीर पुरुषोंके धनुष कभी प्रत्यञ्चारहित नहीं रहते तथा तरकश बाणसे खाली नहीं रहते थे। कहनेका अभिप्राय यह है कि वीर

१-धन्वना गा धन्वनाऽऽजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम। धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥ (यजुर्वेद २९।३९, ऋग्वेद ६।७५।२)

२-ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिर्यत्र वष्टि प्रतदश्नोति धन्वना। तस्य साध्वीरिषवो याभिरस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनयः॥

३-धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन। समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम्॥ (अथर्व० १८।२।६०)

४-विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ उत। अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः॥ (यजुर्वेद १६।१०)

पुरुष सर्वदा धनुषसे सुसज्जित रहते थे।

इसी प्रकार सामवेदमें जहाँ[1] वज्रधारी सैनिकोंकी रक्षाके लिये इन्द्रसे अनुरोध किया गया है। वहीं युद्धमें प्रयुक्त बाण विजयी हो, ऐसा वर्णन मिलता है।

धनुर्वेदका प्रयोग—प्रायः यह सर्वविदित है कि उपवेद विशेषतः प्रायोगिक होते हैं। प्रयोगोंके अभावमें वे अधिक दिनोंतक प्रचलित नहीं रहते हैं। जैसे आयुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा स्थापत्य कलाका केवल पुस्तकोंके अध्ययन-आलोचनसे यथार्थ लाभ नहीं होता, जबतक उनका प्रायोगिक शिक्षण प्राप्त न हो तथा अभ्यास नहीं किया जाय।

कालचक्रके प्रवाहमें गिरे हुए दूसरे उपवेद तो किसी प्रकार अब भी जीवित हैं, किंतु धनुर्वेदकी स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी है। केवल वन्य क्षेत्रोंमें इसका कुछ व्यवहार देखा जाता है। जिस भारतमें धनुर्वेदके समान अपूर्व सैन्य विज्ञान हो, वह क्या कभी परतन्त्र हो सकता था? यह सब कुछ हम लोगोंकी असावधानीसे हुआ। इस प्रमादको इस समय स्वतन्त्र भारतमें परिमार्जित करना चाहिये।

धनुर्वेदका प्राचीन कालमें इतना महान् प्रचार था कि पुराण, रामायण, महाभारत एवं काव्य-ग्रन्थोंमें सर्वत्र इसकी चर्चा और व्यवहार भी मिलते हैं। फिर भी बौद्ध-साहित्यके ललितविस्तर[2]ग्रन्थमें बोधिसत्त्वको अन्य कलाओंकी निपुणताके साथ-साथ धनुर्वेदमें निपुण कहा गया है। रामायण-कालके समान इस समयमें भी कुशल धनुर्धारीको श्रेष्ठ कन्या दी जाती थी। यह डिण्डिम-घोष था कि शिल्पज्ञके लिये कन्या दी जाय[3]। मिलिन्दप्रश्नमें जिन शिल्पोंकी गणना की गयी है, उनमें धनुर्वेद भी था। इसी प्रकार जैनागम समवायांग सूत्र तथा रायपसेणि सूत्रमें ७२ कलाओंके मध्य धनुर्वेद भी था।

आशय यह है कि प्राचीन ग्रन्थोंमें सर्वत्र धनुर्वेदकी चर्चा होनेके कारण अन्य उपवेदके समान यह सुव्यवस्थित शास्त्र था। जिसका पठन-पाठन सर्वत्र अतिशय व्याप्त था।

धनुर्वेदके प्रवक्ता—धनुर्वेदके मूल प्रवक्ता भगवान् सदाशिव हैं। सदाशिवसे परशुरामजीने प्राप्त किया। महर्षि वसिष्ठ उनके सतीर्थ्य ही थे। वसिष्ठसे विश्वामित्रने प्राप्त किया, अतएव वसिष्ठ-प्रोक्त धनुर्वेदमें मूलतः समानता है।

प्रस्थानभेद[4]में पाद चतुष्टयात्मक धनुर्वेद विश्वामित्रप्रणीत ही चर्चित है। व्यायामज्ञानकोशमें यह कहा गया है कि वसिष्ठोक्त धनुर्वेदमें तन्त्र-युद्धकी ही प्रधानता है। इसमें मल्लयुद्ध-पापविमोचनादिका विशेष ग्रहण है। विश्वामित्रने धनुर्वेद-शास्त्रका संशोधन करके शास्त्रीय रूप देकर प्रधानाचार्यका पद ग्रहण किया था।

'हिन्दुत्व' नामक ग्रन्थमें रामदास गौड़ने लिखा है कि प्रस्थानभेदके रचयिता मधुसूदन सरस्वतीको विश्वामित्र-प्रणीत धनुर्वेदकी उपलब्धि थी जो अभी अप्राप्य है। किंतु विचारणीय विषय यह है कि प्रस्थानभेदमें तथा हिन्दुत्वमें वसिष्ठोक्त धनुर्वेदकी चर्चा ही नहीं है।

धनुर्वेदके चार पाद—दीक्षा, संग्रह, सिद्धिप्रयोग और प्रयोग-विज्ञान धनुर्वेदके ये चार पाद कहे गये हैं[5]। महाभारतकी नीलकण्ठी टीकामें दीक्षा, शिक्षा, आत्मरक्षा और उनके साधन—ये चार पाद कथित हैं। अग्निपुराण[6]में भी चतुष्पाद धनुर्वेद कहा गया है, वहाँ प्रथम दीक्षा-पादमें धनुषका लक्षण तथा अधिकारीका निरूपण किया गया है। 'धनुष्' शब्दसे तात्पर्य धनुर्विद्यामें प्रयुक्त आयुधसे है।

धनुर्वेदका अधिकारी—धनुर्वेद-संहिता[7]में विप्र (ब्राह्मण) दो वर्णों (ब्राह्मण-क्षत्रिय, किंवा क्षत्रिय-वैश्य)-का गुरु होना माना गया है। यदि प्रथम पक्ष ब्राह्मण-क्षत्रिय मान लिया जाय तो अनुकर्षसे वैश्यका (द्विजत्व होनेसे) ग्रहण हो जायगा। ग्रहण-संस्कार-प्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य है जो कि द्विजमात्रमें है—श्रीकृष्ण तथा बलरामने द्विजत्वका संस्कार प्राप्त करके ही सरहस्य धनुर्वेदको ग्रहण किया था। संस्कार-विहीन होनेके कारण ही धनुर्वेदमें शूद्रोंका अनधिकार कहीं कहा गया है। तथापि उनके

१-अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु। (सामवेद २१। २, यजुर्वेद १७। ४३)
२-ललित विस्तर, शिल्पसंदर्शन परिवर्त द्वादश, पृ० १०८ (मि० वि० द०) ३-वही, पृ० १००-१०१
४-प्रस्थान भेद पृ० १५ ५-महाभारत शल्य० ६। १४ ६-अग्निपुराण २४९। १
७-धनुर्वेद-संहिता श्लोक ३, अग्निपुराण २४९। ७८

लिये आपद्धर्मके अनुसार अथवा परोक्ष शिक्षासे धनुर्वेदका अधिकार कहा गया है। महाभारतमें एकलव्यकी धनुर्वेद-शिक्षणकी कथा सुप्रसिद्ध है।

धनुर्वेद-शिक्षा—चतुष्पाद धनुर्वेदके अनुसार धनुर्वेद-शिक्षासे यहाँ सैनिक शिक्षाका ग्रहण है। सैन्य प्रशिक्षणका अत्यधिक वर्णन वेदोंमें न हो, किंतु इस शिक्षाको लक्ष्य करके अनेक सूक्तोंमें चर्चा आयी है। ऋग्वेद और सामवेदके एक सूक्तमें इन्द्रको सम्बोधित करके कहा गया है कि शस्त्रधारी वीरोंके उत्साहको बढ़ाओ, बलवान् सैनिकोंके मानसिक उत्साहको बढ़ाओ तथा शीघ्रगामी घोड़ोंसे युक्त रथोंका जयघोष हो। यह सूक्त इस प्रकारसे है—

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत् सत्वनां मामकानां मनांसि। उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥[1]

इसी प्रकार यजुर्वेदके एक मन्त्रमें सैनिक शिक्षाको सम्बोधित करके कहा गया है कि तुम (शिक्षा) शत्रुओंका नाश करनेवाली तथा विजय करनेवाली होओ तथा तुम देवताओंके समस्त कण्टकोंको दूर करो। यथा—

सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व॥[2]

इस प्रकार अनेकत्र वेदों, स्मृतियों, गृह्यसूत्रों, रामायणों, इतिहास-पुराणों, महाकाव्योंमें धनुर्वेदके व्यापक स्वरूप तथा शिक्षाका उल्लेख मिलता है। राष्ट्ररक्षा-हेतु नवीन परिवेशमें धनुर्वेदका उपयोग होना चाहिये।

वेदोंका रचनाकाल

मैक्समूलरमत-समीक्षा

[मूल संस्कृतका हिन्दी-रूपान्तर]

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् वेदभाष्यकार स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

डॉ० मैक्समूलर साहबने अपने बनाये 'संस्कृत-साहित्य' ग्रन्थमें ऐसा लिखा है कि आर्य लोगोंको ईश्वरका ज्ञान क्रमसे अर्थात् बहुत कालके पीछे हुआ था। वेदोंके प्राचीन होनेमें एक भी प्रमाण नहीं मिलता, किंतु उनके नवीन होनेमें तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। इनमेंसे एक तो 'हिरण्यगर्भ' शब्दका प्रमाण दिया है, छन्दोभागसे मन्त्रभाग दो सौ वर्ष पीछे बना है और दूसरा यह कि वेदोंमें दो भाग है—पहला छन्द और दूसरा मन्त्र। उनमेंसे छन्दोभाग ऐसा है जो सामान्य अर्थके साथ सम्बन्ध रखता है। उसमें कथन इस प्रकारका है कि जैसे अज्ञानीके मुखसे अकस्मात् वचन निकला हो। उसकी उत्पत्तिमें इकतीस सौ वर्ष व्यतीत हुए हैं और मन्त्रभागकी उत्पत्तिमें उनतीस सौ वर्ष हुए हैं। इसमें '**अग्निः पूर्वेभिः**' इस मन्त्रका भी प्रमाण दिया है।

सो उनका कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उन्होंने 'हिरण्यगर्भ' और '**अग्निः पूर्वेभिः**'—इन दोनों मन्त्रोंका अर्थ यथावत् नहीं जाना है। मालूम होता है कि उनको 'हिरण्यगर्भ' शब्द नवीन जान पड़ा होगा। इस विचारसे कि 'हिरण्य' नाम है सोनेका, यह सृष्टिसे बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है अर्थात् मनुष्योंकी उन्नति—राजा और प्रजाके प्रबन्ध होनेके उपरान्त पृथिवीमेंसे निकाला गया है। सो यह बात भी उनकी ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि '**ज्योतिर्वै०**' इत्यादि श्रुतियोंके प्रमाणपर इस शब्दका अर्थ यह है कि 'हिरण्य' नाम है ज्योतिका, ज्योति कहते हैं विज्ञानको, सो जिसके गर्भ अर्थात् सामर्थ्यमें है। ज्योति—अमृत अर्थात् मोक्ष जिसके सामर्थ्यमें है और ज्योति जो प्रकाशस्वरूप सूर्यादिलोक जिसके गर्भमें हैं तथा ज्योति जो जीवात्मा जिसके गर्भ अर्थात् सामर्थ्यमें है एवं यश—सत्कीर्ति अर्थात् धन्यवाद जिसके स्वरूपमें है, इसी तरह ज्योति—इन्द्र अर्थात् सूर्य, वायु और अग्नि—ये सब जिसके गर्भ अर्थात् सामर्थ्यमें हैं, ऐसा जो एक परमेश्वर है, उसीको 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं।

इस 'हिरण्यगर्भ' शब्दके प्रयोगसे वेदोंका उत्तमपन और सनातनपन तो यथावत् सिद्ध होता है, परंतु उससे उनका नवीनपन कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इससे

१-ऋग्वेद १०।१०३।१०, साम० उत्तरार्चिक २१।१; २-यजुर्वेद ५।१०

डॉ० मैक्समूलर साहबका कहना जो वेदोंके नवीन होनेके विषयमें है, सो सत्य नहीं है। जो उन्होंने '**अग्निः पूर्वेभिः**' इसका प्रमाण वेदोंके नवीन होनेमें दिया है, सो भी अन्यथा है, क्योंकि इसमें वेदोंके कर्ता त्रिकालदर्शी ईश्वरने भूत-भविष्यत्-वर्तमान—तीनों कालोंके व्यवहारोंको यथावत् जानकर कहा है कि वेदोंको पढ़कर जो विद्वान् हो चुके हैं या जो पढ़ते हैं वे प्राचीन और नवीन ऋषि लोग मेरी स्तुति करें तथा ऋषि नाम मन्त्रद्रष्टा पुरुष, मन्त्र, प्राण और तर्कका भी नाम है। इनसे ही मेरी स्तुति करने योग्य है। इसी अपेक्षासे ईश्वरने इस मन्त्रका प्रयोग किया है। इनसे वेदोंका सनातनपन और उत्तमपन तो सिद्ध होता है, किंतु उन हेतुओंसे वेदोंका नवीन होना किसी प्रकारसे सिद्ध नहीं हो सकता। इसी हेतुसे डॉ० मैक्समूलर साहबका कहना ठीक नहीं।

सामान्यतः वाक्योंके मिथ्यात्वको देखकर समान न्यायसे वेद-वाक्यमें भी मिथ्यात्वकी शंका करना तो अपने अज्ञानको ही प्रकट करना है, क्योंकि वाक्यत्व-हेतु अप्रामाण्यका प्रयोजक नहीं है। पौरुषेय वाक्योंका अप्रामाण्य पुरुषाश्रित दोषोंके कारण होता है, उसमें वाक्यत्वकी कारणता नहीं बनती। वेद-वाक्योंमें तो संशय-विपर्यय आदिकी जनकता अविद्यमान है, ये किसी-न-किसी अर्थके बोधक हैं, इनका कोई बाधक ज्ञान नहीं है और ये अनधिगत, असंदिग्ध, अबाधित अर्थके ज्ञानको उत्पन्न करते हैं, अतः अप्रामाण्यके प्रवर्तक किसी भी कारणकी यहाँ प्रवृत्ति न होनेके कारण इनका स्वाभाविक प्रामाण्य माना जाता है।

यह कहना कि 'वेद' पौरुषेय हैं, यह वाक्य कदम्बरूप होनेसे महाभारत आदि ग्रन्थोंके समान है। इस तरहके अनुमानोंसे वेदोंको पौरुषेय ही मानना पड़ेगा। इसलिये गलत है कि उक्त अनुमानमें स्मर्यमाणकर्तृकता उपाधि है। महाभारत प्रभृति ग्रन्थ पौरुषेय है तो इनके कर्ताकी स्मृति भी विद्यमान है। वेदमें इस प्रकारका कर्ता तो किसीकी भी स्मृतिमें नहीं है, अतः उक्त सोपाधिक अनुमान* वेदकी पौरुषेयताको सिद्ध नहीं कर सकता।

'वाक्य किसी-न-किसीके बनाये हुए हो सकते हैं, इसी तरहसे शब्दोंके साथ अर्थोंका सम्बन्ध भी किसीके द्वारा स्थापित मानना पड़ेगा'—यह कथन भी इसलिये गलत है कि वेदमें कोई कर्ता उपलब्ध नहीं है। यदि कोई कर्ता होता तो उसकी प्रत्यक्ष प्रभृति प्रमाणोंमेंसे किसी-न-किसीसे उपलब्धि होती। जिसकी किसी-न-किसी प्रमाणसे उपलब्धि हो सकती है, उसकी यदि पूरी सामग्रीकी विद्यमानतामें भी उपलब्धि नहीं होती तो समझ लेना चाहिये कि उस वस्तुकी सत्ता नहीं है, जैसा कि खरगोशकी सींग।

'बहुत समय बीत जानेके कारण वेदका कोई कर्ता स्मृतिमें नहीं रह गया है, इसका मतलब यह नहीं है कि उसका कोई रचयिता ही नहीं है;' आपकी यह

---

* जो साध्यका व्यापक हो और हेतुका अव्यापक हो, उसे उपाधि कहते हैं। जैसे कोई अनुमान करे कि इस अंगीठीमें धुआँ है, क्योंकि यहाँ अग्नि है, जहाँ अग्नि होती है, वहाँ धुआँ होता है, किंतु यह अनुमान गलत है, क्योंकि इस अनुमानमें—आर्द्रेन्धनसंयोग (गीले ईंधनका संयोग) उपाधि है। अग्निसे धुआँकी सिद्ध करनेमें धुआँ होगा साध्य और अग्नि होगा साधन। पर अग्निरूप साधनसे धुआँरूप साध्यकी सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि लग जायगी। जहाँ-जहाँ धुआँ रहता है, वहाँ-वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग अवश्य रहता है, इसलिये आर्द्रेन्धनसंयोग साध्य धुआँका व्यापक हुआ और जहाँ-जहाँ अग्नि रहती है, वहाँ-वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग रह भी सकता है और नहीं भी। गीली लकड़ियाँ, गीले कंडे या कोयले आदिका अग्निके साथ तो आर्द्रेन्धनसंयोग रह जायगा, किंतु सूखी लकड़ी, सूखे कोयले या कंडोंके साथ अथवा प्राइमस, गैस आदिकी अग्निके साथ आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं रहता, अतः आर्द्रेन्धनसंयोग धुआँरूपी साध्यको सिद्ध करनेवाले अनुमानके साधनरूप हेतुका अव्यापक हो गया अर्थात् अग्निके साथ सब जगह नहीं रहा। इसलिये अग्निसे धुआँकी सिद्धि करनेवाला अनुमान सोपाधिक हो गया। वेदके पौरुषेयत्वको सिद्ध करनेवाले अनुमानमें वाक्यत्व हेतु है और पौरुषेयत्व साध्य है। इसलिये यह अनुमान गलत है, क्योंकि इस अनुमानमें भी स्मर्यमाणकर्तृकत्व अर्थात् कर्ताका स्मरणगोचर होना उपाधि लग जायगी। जहाँ-जहाँ पौरुषेयत्व (पुरुषकर्तृकता) रूप-साध्य रहता है, वहाँ-वहाँ स्मर्यमाणकर्तृकत्व है, जैसे रामायण, महाभारत आदिमें पुरुष-निर्मितत्व भी है और वाल्मीकि, व्यास आदि कर्ताका स्मरण भी है। इसलिये यह साध्य पौरुषेयत्वका व्यापक हो गया और साधन वाक्यत्वरूप हेतुका अव्यापक हो गया, क्योंकि रामायणादिमें कर्ताका स्मरण होनेपर भी वेदमें कर्ताका स्मरण नहीं है। अतः सोपाधिक अग्नि-साधनसे साध्य धुआँकी जैसे सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसे ही सोपाधिक वाक्यत्व-हेतुसे वेदमें पुरुषकर्तारूप साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती।

उक्ति भी इसलिये उचित नहीं है कि यदि ऐसा होता तो उसकी स्मृति अवश्य बनी रहती। समय अधिक बीत गया है तो इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि उसकी स्मृति भी नहीं रहेगी। अतः यही मानना उचित है कि कर्ताके रूपमें किसीके नामकी स्मृति विद्यमान नहीं है, अतः वेदका कोई कर्ता है ही नहीं।

यह कहना भी सारहीन है कि 'जैसे किसी घने जंगलमें किसीके बनाये कुँए अथवा उपवनका तथा मुक्तक, श्लोकोंका कोई कर्ता रहते हुए भी उसकी स्मृति नहीं रह जाती, उसी तरहसे वेदके सम्बन्धमें भी समय और व्यवहारमें कर्ताकी स्मृतिका न रहना बन सकता है; क्योंकि कूप, उपवन, मुक्तक, श्लोक आदिमें देश, कुल, सम्प्रदाय आदिके विनष्ट हो जानेसे कर्ताकी स्मृति नष्ट हो जाती है।' किंतु वेदमें तो ऐसा नहीं है। यहाँपर तो अध्ययन-अध्यापनकी परम्परा, वैदिक यागादिके अनुष्ठानकी परम्परा और शब्द तथा अर्थके व्यवहारकी परम्परा समाप्त नहीं हुई है तो फिर कर्ताकी स्मृति कैसे नष्ट हो सकती है? इसके समर्थनमें यह अनुमान दिया जा सकता है—'वेद अपौरुषेय है, इसके सम्प्रदायका विच्छेद न होनेपर भी इसके कर्ताकी कोई स्मृति विद्यमान न होनेसे, आत्माकी तरह यह अन्वयका उदाहरण हुआ। इसका व्यतिरेकमें उदाहरण महाभारत होगा। वेदके विपरीत महाभारतका कर्ता स्मृतिपथमें विद्यमान है, अतः वह पौरुषेय माना जायगा। आत्मा सम्प्रदाय-विच्छेद न होनेपर भी कर्ताके स्मरणसे रहित है, इसीलिये वह किसी पुरुषका बनाया हुआ नहीं है। इसी तरह वेद भी किसी पुरुषका बनाया हुआ नहीं है।'

प्रश्न उठता है कि जैसे घट प्रभृतिसे व्यवहार चलानेवाले व्यक्तिके लिये इस घड़ेका बनानेवाला कुम्हार कौन है? यह जानना व्यर्थ है, उसी तरह वेदके पद-पदार्थका कर्ता कौन है? इसको भी जाननेका कोई प्रयोजन न होनेसे कर्ताकी विस्मृति हो सकती है तो इसका उत्तर यह है कि उक्त दोनों बातोंमें कुछ अन्तर है। कोई प्रयोजन न होनेसे कुम्हारके नामकी विस्मृति तो हो सकती है, किंतु वेदके कर्ताका विस्मरण निष्प्रयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि लौकिक और वैदिक सारे व्यवहार उसीके अधीन हैं। पाणिनिका विस्मरण हो जानेपर '**आत्**' और '**ऐच्**' वर्णोंकी वृद्धि-संज्ञाका व्यवहार सम्भव नहीं है। इसी प्रकार जो पद-पदार्थके सम्बन्धका विधान करता है और जो वेदकी रचना करके उसके अध्ययन-अध्यापन तथा उसके द्वारा सम्पादित होनेवाले याग, उपासना आदि व्यवहारोंको प्रचलित करता है; उसका विस्मरण हो जानेपर ये सब व्यवहार भी नहीं चल सकते।

वाक्यसे अर्थका ज्ञान और तदनुसार प्रयोजनका अनुष्ठान तबतक सम्भव नहीं हो सकता, जबतक कि उसके कर्ताकी और उसकी आप्तताकी स्मृति न हो, अनाप्त-वाक्यसे अर्थकी यथार्थ अवगति और तदनुसार प्रयोजनकी निष्पत्ति नहीं होती। यागादिकी, स्वर्गादिकी साधनता अन्य प्रमाणोंसे नहीं जानी जा सकती। कर्तामें विश्वास होनेपर ही वेदार्थ-प्रतिपादित यागादिमें सभीकी प्रवृत्ति हो सकती है, ऐसी अवस्थामें कर्ताका विस्मरण कैसे हो सकता है? इस प्रकार जिसका स्मरण अवश्य बना रहना चाहिये, उसकी स्मृतिके अभावमें यही मानना उचित है कि इसका कोई कर्ता है नहीं।

पाणिनिसे भिन्न अथवा पाणिनिके मतका अनुसरण न करनेवाले व्यक्तिके व्यवहारसे कोई व्यक्ति '**वृद्धि**' शब्दके व्यवहारसे '**आत्**' और '**ऐच्**' को नहीं जानते, जैसे कि पिंगलसे भिन्न अथवा पिंगलके मतका अनुसरण न करनेवाले व्यक्तिके व्यवहारसे कोई भी '**म**' कारसे सभी गुरु अक्षरोंवाला गण गृहीत होता है, इसको नहीं जान सकता। किंतु '**वृद्धिरादैच्**'—इस सूत्रसे वृद्धि-संज्ञा करनेवाले पाणिनिके '**वृद्धिर्यस्याचा-मादिस्तद् वृद्धम्**'—इस सूत्रमें वृद्धि-पदसे '**आत्**' और '**ऐच्**' का ग्रहण होता है, यह जान लेना है और '**सर्वगुरुर्मः**'—इस सूत्रसे मगणका स्वरूप बनाने-वाले पिंगलाचार्यके व्यवहारसे तीन अक्षरोंके गुरु होनेपर मगणकी स्थिति मान लेना है, उसी तरहसे वेद-वाक्यसे जिनको अर्थकी प्रतिपत्ति होती है, उनको अवश्य ही पद-पदार्थके सम्बन्धका कर्ता और इस प्रकारके पद-समूहात्मक वेद-वाक्योंका कर्ता एक ही है तथा वह आप्त है, इस प्रकारकी स्मृति अवश्य होनी चाहिये, किंतु वेदके सम्बन्धमें वह होती नहीं। अतः वेद अपौरुषेय अर्थात् किसी पुरुषका रचा हुआ नहीं है, ऐसा ही मानना पड़ेगा।

'समय' (पारिभाषिक शब्दके अर्थका ज्ञान करानेवाली शक्ति) और व्यवहारका एक ही कर्ता है, इसका जब विस्मरण हो जाता है तो अर्थका निश्चय नहीं होता। प्रकृत (वेद)-में बिना कर्ताकी विस्मृतिके भी वेद-वाक्यसे अर्थका निश्चय होता है, अतः यह सिद्ध होता है कि वेदका कोई कर्ता नहीं है। यदि किसी प्रकारसे कर्ताकी विस्मृति उपपन्न हो भी सकती हो तो बिना प्रमाणके कर्ताका निश्चय नहीं किया जा सकता। केवल अनुपलम्भ वस्तुके अभावका साधक भले ही न हो, किंतु जब उसमें प्रमाणाभाव सहायक हो जाता है तो खरगोशके सींगके समान वह वस्तुके अभावका साधक हो ही जाता है। उसमें कोई बाधा नहीं पड़ती। जो वेदकी पौरुषेयताका समर्थन करते हैं, वे भी परम्परासे किसी विशेष कर्ताकी स्मृति उनको हो, ऐसा नहीं बता सकते। सामान्यतोदृष्ट अनुमानसे कर्ताका अनुमान करके वे स्वाभिमत किसी कर्ताको सिद्ध करते हैं। कुछ लोग ईश्वरको, दूसरे 'हिरण्यगर्भ' को कोई प्रजापतिको और अन्य लोग अग्नि प्रभृति देवताओंको वेदका कर्ता मानते हैं। किंतु निश्चित रूपसे मनु, वाल्मीकि, व्यास आदि मनुष्य-रचित मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंके कर्ताओंके सम्बन्धमें ऐसा मतभेद नहीं है।

कर्ताकी स्मृति अवश्य रहनी चाहिये, किंतु है नहीं, इससे यही निश्चय करना उचित है कि वेदोंका कोई कर्ता नहीं है। श्रुति-स्मृति और ब्रह्मसूत्रोंके प्रमाणके आधारपर वेदोंकी नित्यता अवगत होती है, इससे यह निश्चित होता है कि वेदोंका कोई कर्ता नहीं है, इसीलिये 'उस यज्ञसे ऋक्, सामकी उत्पत्ति हुई', 'अग्निसे ऋग्वेद हुआ' इस तरहके वचन केवल सम्प्रदायकी प्रवृत्तिका बोध कराते हैं, इनमें वेदोंके कर्ताका निर्देश नहीं है। 'जो पहले ब्रह्माकी रचना करता है और बादमें उसको वेदका उपदेश देता है'। इस श्रुतिके अनुसार चतुर्मुख ब्रह्माके विधाता ईश्वर भी वेदकी रचना नहीं करते, किंतु विद्यमान वेदोंको ही ब्रह्माके हृदयमें भेजते हैं।

दूसरी बात—आप यह बताइये कि वेदका कर्ता कौन है? कोई मनुष्य है, योगी है अथवा ईश्वर? मनुष्य वेदका कर्ता हो नहीं सकता, क्योंकि मनुष्योंको धर्मादिका ज्ञान वेदसे ही होता है, अतः वह उसका कर्ता कैसे हो सकता है? योगीको धर्म-अधर्म आदिका ज्ञान बाह्य इन्द्रियोंसे होगा या मनसे? यह बाह्य इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म-अधर्म आदिका ज्ञान बाह्य इन्द्रियोंसे सम्भव नहीं हो सकता। मनसे भी इनका ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि आत्माके योग्य गुणोंसे अतिरिक्त अन्य विषयोंमें ज्ञान उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य मनमें नहीं है। धर्म और अधर्म यद्यपि आत्माके गुण हैं, तो भी वे अयोग्य* होनेसे मनके विषय नहीं हो सकते। दूसरी बात यह भी है कि योगीका योगज सामर्थ्य निर्हेतुक है या सहेतुक? वह निर्हेतुक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर तो यह किसीको भी हो सकता है। सहेतुक भी नहीं हो सकता, क्योंकि योगादि लक्षण धर्मके हेतु होनेपर उससे पहले उसका ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान वेदसे भी सम्भव है, यह स्वभावतः मानना पड़ेगा।

ईश्वर भी वेदका कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वेदसे ईश्वरकी सिद्धि होगी और ईश्वर वेदोंका प्रणेता होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा। बौद्ध प्रभृति तो बुद्ध आदिकी सर्वज्ञता सिद्ध करके उनके अभिप्रायका अनुसरण करनेवाले बौद्धादि आगमोंके वाक्योंको ही धर्मका मूल मानते हैं।

इस प्रकार मैक्समूलरके मतका यत्किंचित् खण्डन किया गया।

मैक्समूलरके कथनमें आगे दिये गये विकल्पका कोई उत्तर नहीं है। तदनुसार ही उसका खण्डन किया जाता है। हमारा पूछना है कि इस श्रुतियोंकी व्याख्याके द्वारा आप अपना अभिप्राय बताना चाहते हैं? क्या आपका यह अभिप्राय है कि सृष्टि होनेके बहुत समय पश्चात् सुवर्ण (हिरण्य) उत्पन्न हुआ, जिसकी चर्चा इस मन्त्रमें है; जिससे '**हिरण्यगर्भ**' इस नामकी नवीनताका परिज्ञान होता है? अथवा '**समवर्तत अग्रे**'—इन दो शब्दोंमें भूतकालका निर्देश होनेसे यह मालूम होता है

* तात्पर्य यह है कि बाहरकी अथवा अंदर इन्द्रियोंसे प्रत्यक्षके योग्य वस्तुका प्रत्यक्ष होता है। चक्षुरिन्द्रियसे रूपका ही प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वही प्रत्यक्षके योग्य है। इसी तरह अन्तःकरण मनसे भी सुख-दुःखका प्रत्यक्ष भले ही हो जाय, क्योंकि वे प्रत्यक्षके योग्य हैं। किंतु धर्म-अधर्म-आत्मा आदिका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि वे प्रत्यक्षके योग्य हैं ही नहीं।

कि यह मन्त्र हिरण्यगर्भकी उत्पत्तिके समयमें नहीं था? यदि होता तो यहाँपर भूतकालका निर्देश उचित नहीं। अतः यहाँपर सुवर्णका वर्णन समझना गलत है। इसलिये 'सायण', 'उव्वट' और 'महीधर' आदिकी पद्धतिसे इस मन्त्रका अर्थ यह है कि हिरण्मय ब्रह्माण्डमें गर्भरूपसे अवस्थित प्रजापति ही हिरण्यगर्भ है। वह प्राणियोंकी सृष्टिके पहले विद्यमान था। वह सृष्टि आदिमें हुआ। आगे उत्पन्न होनेवाले सारे जगत्का वह स्वामी था। उसीने इस पृथ्वी और इस आकाशको धारण किया। उस प्रजापतिकी हम हवि प्रदान करके सेवा करते हैं।

'मनुस्मृति' के प्रथम अध्यायमें भी यही प्रतिपादित है। 'यह जो अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय अचिन्त्य परमात्मा है, वह स्वयं उत्पन्न हुआ। उसने ध्यान करके विविध प्रजाकी सृष्टि करनेके अभिप्रायसे अपने शरीरसे सबसे पहले जलकी सृष्टि की और उसमें अपना वीर्य स्थापित किया, वह वीर्य सूर्यके समान तेजोमय हेम-अण्डके रूपमें परिणत हो गया। उस अण्डमें सारे जगत्का पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुआ।'

इस तरहसे प्रजापतिकी उत्पत्तिके पहले ही यदि हिरण्मय अण्ड विद्यमान था, तब यह कहना एकदम व्यर्थ है कि सृष्टिके बहुत समय बाद सुवर्णकी उत्पत्ति हुई। आपके संतोषके लिये हम हिरण्यकी उत्पत्ति बादमें मान लेते हैं, तब भी वैदिक शब्दोंका अर्थ अनित्य व्यक्तियोंसे सम्बन्ध न रखकर जातिसे सम्बद्ध माना जाता है। '**आकृतिस्तु क्रियार्थो**' इस जैमिनिसूत्रमें बताया गया है कि क्रियाका प्रयोजन आकृतिमें सिद्ध होता है, अतः जाति ही शब्दका अर्थ माना जाता है। यदि व्यक्तिको पदार्थ माना जाय तो '**श्येनचितं चिन्वीत**' इस विधि-वाक्यका श्येन (बाज) पक्षीके सदृश आकारवाली वेदीका चयन करे, यह अर्थ न होकर सभी श्येन पक्षियोंके सदृश वेदोंका चयन करे अथवा किसी एक श्येन पक्षी-सदृश? इस विकल्पको पैदा करेगा।

इनमें पहला पक्ष नहीं बनेगा, क्योंकि एक ही वेदी सभी बाज पक्षियोंके तुल्य नहीं बन सकती। दूसरा पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि उस श्येन पक्षीके मर जानेपर श्येन-यागके भी नष्ट हो जानेकी आपत्ति आयेगी। इसलिये श्येन-जातिवाली व्यक्तियोंकी आकृतिके तुल्य वेदोंका निर्माण सम्भव हो सकेगा। इस तरह श्येनत्व जाति ही 'श्येन' पदका अर्थ हुआ। तदनुसार सर्वत्र पदोंकी जातिमें ही शक्ति मानी जायगी।

इसी प्रसंगमें भट्ट कुमारिलने भी '**विशेषं नाभिधागच्छेत्**' इत्यादि प्रसिद्ध वचन कहा है। इसका यह अभिप्राय है कि जब विशेषण भूत-जातिका बोध कराकर पद-चरितार्थ हो गये, तब इस कार्यमें भी उनकी शक्तिके क्षीण हो जानेसे पुनः वे विशेष्य भूत व्यक्तिको अवगत करानेमें असमर्थ हो जाते हैं। जातिका बोध हो जानेपर अगत्या व्यक्तिका बोध अपने-आप हो जाता है। इस तरह हिरण्य व्यक्तिके कदाचित् उत्पन्न होनेपर भी हिरण्य जातिके नित्य होनेसे तद्बोधक वैदिक पदोंमें अनित्यता दोष नहीं आयेगा और न वेदोंकी ही अनित्यता तथा कदाचित्कता सम्भव होगी।

'**समवर्तत अग्रे**'—इन दो शब्दोंके माध्यमसे उठाया गया दूसरा पक्ष भी नहीं बनेगा, क्योंकि विधिवाक्यके सहारे अधिकृत पुरुष यज्ञमें द्रव्य और देवताके स्मरणके लिये मन्त्रोंका पाठ करते हैं। यही मन्त्रोंका मुख्य प्रयोजन है। वाक्योंमें उनका मुख्य तात्पर्य नहीं होता। संस्कृत व्याकरणके अनुसार भूत, भविष्यत् और वर्तमान-कालकी व्यवस्था इस प्रकार है—जिस समय शब्दका उच्चारण हो रहा है, वह वर्तमानकाल है। यह काल लट् लकारके 'ति' 'ते' इत्यादि प्रत्ययोंसे अवगत होता है।

वर्तमानकालसे पहलेका समय भूतकाल है इसका बोध 'लुङ्', 'त्वङ्' आदि लकारके 'त्' 'त' आदि प्रत्ययोंसे होता है। भूतकालके तीन भेद हैं। 'त्' आदि प्रत्ययांश उतना ही भूतकालका बोध करता है जितना कि समय उच्चारणसे पहले दिनके भागका बीत चुका हो, जैसे कि '**अगमत्**'। इसीको अद्यतनभूत कहते हैं। क्रियाके उच्चारण-दिनसे पहलेका काल अनद्यतनकाल है, उसमें 'लङ्' लकार होता है, जैसे कि '**अगच्छत्**'। यदि उच्चारण-दिनके पूर्वकालकी क्रिया हो और उस क्रियाको उच्चारयिताने प्रत्यक्ष न देखा हो, तब लिट्-प्रकृतिक प्रत्यय होता है, जैसे कि '**जगाम**'। उच्चारण-कालसे आगे आनेवाला समय भविष्यत्-काल है। इसके दो भेद हैं—लृट-प्रकृतिक 'ष्य', 'ति'—इन प्रत्ययोंसे उच्चारणके दिनका उत्तर-काल बोधित होता

है। उच्चारण-दिनसे आगेका काल अनद्यतन भविष्यत्-काल कहलाता है। इसका बोध लुट्-प्रकृतिक 'ता' प्रत्ययसे होता है, जैसे कि '**गन्ता**'। इस पद्धतिसे '**हिरण्यगर्भः समवर्तत**' यहाँपर यह अर्थ होगा कि जिस दिन इस मन्त्रका उच्चारण किया गया था, उससे पहले हिरण्यगर्भका प्रादुर्भाव हुआ।

यदि मन्त्र पौरुषेय अर्थात् किसी व्यक्तिका बनाया गया होता, तब तो प्रथम उच्चारणकी अपेक्षासे पूर्वकालमें हिरण्यगर्भका प्रादुर्भाव सिद्ध हो सकता है, क्योंकि रचना-पदका अर्थ प्रथम उच्चारण है। हमारे मतमें तो मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद अपौरुषेय है, ईश्वर भी पूर्व-पूर्व कल्पमें विद्यमान वेदकी आनुपूर्वीका स्मृतिके आधारपर उत्तरकल्पमें उपदेश देता है। इसलिये उच्चारणकी परम्पराके अनादि होनेसे यहाँपर उच्चारणका प्राथम्य बनता ही नहीं है। अतः किसीके उच्चारणसे पूर्वकालमें हिरण्यगर्भके प्रादुर्भावको माननेपर भी मन्त्रकी नवीनता नहीं होगी।

वेद ईश्वर-रचित हैं, इस पक्षमें मैक्समूलरका आक्षेप गलत है। जिस-जिस दिन जो-जो व्यक्ति इस मन्त्रका उच्चारण करे, वह उससे पूर्वकालमें हिरण्यगर्भके प्रादुर्भावका स्मरण करे, इसी तात्पर्यसे ईश्वरने इस मन्त्रकी रचना की है। यद्यपि ईश्वरद्वारा की गयी मन्त्रकी रचनाके समयमें हिरण्यगर्भ नहीं था, किंतु मन्त्रोंके उच्चारण करनेवाले व्यक्तियोंके द्वारा किये गये उच्चारण-कालके पहले हिरण्यगर्भका प्रादुर्भाव हो ही चुका था। परमेश्वर तो सर्वज्ञ होनेसे भविष्यकी बात भी जान सकता है, अतः इस प्रकारका ज्ञान दुर्लभ नहीं है। वह स्वयं ही यज्ञोंमें मन्त्रोंके उच्चारणके लिये तथा गुरु-परम्परासे वेदोंके अध्ययनके लिये वेदोंकी रचना नहीं करता, क्योंकि निष्काम होनेसे वह समस्त कामनाओंको प्राप्त कर चुका है, किंतु यजमान तथा ऋत्विजोंके उच्चारण और अध्ययनके लिये वह वेदोंकी रचना करता है; जैसे शिक्षक यजमान अथवा ऋत्विजोंको उच्चारणकी शिक्षा देनेके लिये जब मन्त्रका उच्चारण स्वयं करता है, तब उसका यह तात्पर्य रहता है कि यजमान और ऋत्विक् भी इसी प्रकार उच्चारण करें, वैसे ही ईश्वर भी इसी अभिप्रायसे मन्त्रोंका उच्चारण और विरचन करता है कि कर्मठ उपासक उच्चारण-कालसे पूर्वकालमें प्रादुर्भाव हिरण्यगर्भका ध्यान करें।

अतः यहाँपर परमेश्वरकृत उच्चारणके पूर्वकालमें हिरण्यगर्भ आविर्भूत हुआ था, यह विवक्षित नहीं है। लौकिक 'लुङ्' आदिकी अपेक्षासे वैदिक 'लुङ्' आदिका अर्थ विलक्षण ही होता है। वेद अनादि है, अतः यहाँपर 'लुङ्' आदिका ऐसा अर्थ कभी नहीं होगा कि वे भगवान् द्वारा किये गये वेदके उच्चारणके पूर्वकालके बोधक हों। इसलिये शिक्षणीय पुरुषकी अपेक्षासे उसके उच्चारणका पूर्वकाल ही 'लुङ्' आदिका अर्थ होगा। लोकमें भी शिक्षा-वाक्योंसे अन्यत्र ही उच्चारणकी अपेक्षासे पूर्वकाल 'लुङ्' आदिका अर्थ माना गया है। हिरण्यगर्भ सूक्ष्म शरीरोंकी समष्टिसे युक्त चेतन-स्वरूप ईश्वर ही है। सूक्ष्म शरीरमें बुद्धिकी प्रधानता है, अतः हिरण्य अर्थात् ज्योतिरूप बुद्धि जिसके गर्भमें है, वह हिरण्यगर्भ है। अथवा 'हिरण्य' शब्दसे ज्योतिर्मय नित्य-ज्ञानका ग्रहण होगा, यह जिसके गर्भमें है, वह हिरण्यगर्भ कहलायेगा। यह ईश्वर ईश्वरकृत मन्त्रोच्चारणसे पहले भी था। गर्भपदका स्वरूप अथवा सामर्थ्य अर्थ करना बिना प्रमाणके सम्भव नहीं।

वास्तवमें जिन कालोंमें 'लट्' आदि लकारोंका प्रयोग होता है, उनकी अवस्थिति उनके प्रयोगमें कारण नहीं होती, किंतु वक्ताके तात्पर्यके अनुसार 'लट्' आदिका प्रयोग होता है। इसीलिये यद्यपि परोक्ष अनद्यतन भूतकालमें 'लिट्' लकारका विधान है, तथापि वक्ताके तात्पर्यके अनुसार 'लुङ्' का भी प्रयोग होता है। जैसे कि '**अभून्नृपो विबुधसखः**' इस भट्टिकाव्यके पदमें '**बभूव**' पदका प्रयोग होना चाहिये था, किंतु उसके स्थानमें विवक्षाके अनुसार 'लुङ्' लकार प्रयुक्त हुआ है। अन्यथा '**जज्वाल लोकस्थितये स राजा**' इसके समान उक्त दोनों स्थलोंमें भी 'लिट्' लकारका ही प्रयोग होता। इसी तरह '**व्यातेने किरणावलीमुदयनः**' यहाँपर 'किरणावली' ग्रन्थके निर्माणके कालमें ही उदायनाचार्यने अनद्यतन भूतार्थक 'लिट्' लकारका प्रयोग विवक्षाधीन ही किया है। यहाँपर ग्रन्थकी रचना बिना आयासके हुई, यह बतानेके लिये भूतकालकी और शीघ्र पूरी हो गयी, इस भावकी अभिव्यक्तिके लिये अनद्यतनकी विवक्षा है।

इसीलिये दर्पणकारने कहा है कि परोक्षादि काल 'लिट्' आदि लकारोंके वास्तविक नियामक नहीं हैं,

क्योंकि ऐसा माननेपर '**अध्यास्त सर्वर्तुसुखामयोध्याम्**' यहाँपर 'लङ्' लकारका प्रयोग गलत हो जायगा। इसी तरह '**रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति**' यहाँ महर्षि वाल्मीकिने अनद्यतनकी अविवक्षाके कारण '**प्रयाता**' इस 'लुट्' लकारका प्रयोग नहीं किया, किंतु राज्य करनेके उत्तरकाल मात्रकी विवक्षामें 'लृट्' लकारका प्रयोग किया। इसी तरह '**वारिदस्तृप्तिमाप्नोति**' यहाँपर केवल तृप्ति और जलदानकी कार्यकारणता मात्रकी विवक्षासे 'लट्' लकारका प्रयोग है, वर्तमानकालके अवबोधके लिये नहीं। अथवा काल-सामान्यके लिये 'लट्' लकारका प्रयोग हुआ है, उसी तरह '**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**' यहाँपर भी हिरण्यगर्भके अस्तित्व, पृथिव्यादि-धारणकर्तृत्व आदिकी विवक्षासे ही 'लङ्' लकारका प्रयोग हुआ है। यहाँपर 'लङ्' लकारका अर्थ भूतकाल नहीं है। इसीलिये वेदमें 'लङ्' आदिका काल सामान्य ही अर्थ है, भूतकाल नहीं।

'**छन्दसि लुङ्लङ्लिटः**' इस पाणिनि-सूत्रमें यह बताया गया है कि जिन-जिन अर्थोंमें लोकमें 'लुङ्' आदिका विधान हुआ है, उससे भिन्न काल-सामान्यमें भी वेदमें इनका प्रयोग होता है। इनमें '**देवो देवेभिरागमत्**', '**इदं तेभ्योऽकरं नमः**' इत्यादि 'लुङ्' के उदाहरण हैं। '**होतारमवृणीत्**' यह 'लुङ्' लकारका उदाहरण है। '**अद्यममार**' यह 'लिट्' लकारका उदाहरण है।

वेदके अपौरुषेय होनेसे ही पाणिनिने वेदमें 'लुङ्' आदिका काल-सामान्य अर्थ बताया है। भूतादिका बोधक माननेपर कदाचित् वेदके असत्त्वकी आपत्तिके कारण वेदकी अनादिता नष्ट हो सकती है। इसी तरह निष्ठा प्रत्ययकी तथा आगे पुरा, पूर्व आदि शब्दोंकी वेदमें भी वेदके पूर्ववर्ती अर्थकी बोधकता नहीं मानी जाती, किंतु अन्योन्यकी अपेक्षा पूर्वकालता मात्रकी बोधकता है। इसी पद्धतिसे '**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**' यहाँपर भी '**अग्रे**' पदका अर्थ प्रतिसर्गमें सृष्टिके पूर्वकालमें हिरण्यगर्भ ब्रह्म उत्पन्न होते हैं, यही किया जाता है।

इस सिद्धान्तको जाननेके लिये ही कारण चार्वाक प्रभृति नास्तिकोंने वैदिक शब्दोंसे वेदोंकी अर्वाचीनता सिद्ध करनेका प्रयत्न नहीं किया। ये पाश्चात्य विद्वान्, उनके अनुयायी दयानन्द और उनके शिष्य इन नास्तिकोंसे भी अधिक मन्द-बुद्धिके हैं कि ये लोग 'लुङ्' आदि लकारोंके प्रयोग मात्रसे मन्त्र और ब्राह्मण-भागकी सदिता और पौरुषेयता सिद्ध करना चाहते हैं।

प्रश्न उठता है कि यदि वेदमें 'लुङ्' आदिकी भूतार्थता नहीं मानी जायगी तो भूतार्थवादकी कैसे संगति बैठेगी? भूत अर्थके बोधक होनेसे ही अर्थवाद विशेषका नाम भूतार्थवाद पड़ता है। इसका उत्तर यह है कि स्वार्थमें अवान्तर तात्पर्यके कारण गुणवाद और अनुवादसे भिन्न अर्थवादको भूतार्थवाद कहा जाता है। इसीलिये प्रातिशख्यमें कात्यायनने '**लौकिकानामर्थपूर्वकत्वात्**' इस उक्तिके द्वारा लौकिक वाक्योंके प्रयोगको उस अर्थके परिज्ञानके साथ जोड़ दिया है, जिसका कि प्रतिपादन अभीष्ट है। वैदिक वाक्योंकी नित्यताके कारण वहाँ यह सम्भव नहीं है। इसलिये वैदिक वाक्योंसे सर्वथा भूतकालका बोध अभिमत नहीं है। पूर्वोक्त सूत्र, प्रातिशाख्य आदिसे अनभिज्ञ जन ही वेदोंमें लौकिक इतिहास देखते हैं और उसमें पौरुषेयता सिद्ध करना चाहते हैं। जिन कुतर्कोंकी उत्थापना सामाजिकगण ब्राह्मणोंके लिये करते हैं, वे सब मन्त्रोंमें भी लागू होते हैं। ऐसी अवस्थामें मन्त्रोंके लिये जो समाधान दिया जाता है, वह ब्राह्मणोंके लिये भी लागू होता है।

मैक्समूलरका बताया हुआ छन्द और मन्त्रका विभाग भी निःसार है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वैदिकोंने व्यवहारमें तो '**छन्दः**' शब्दसे मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदका ग्रहण होता है। इसी तरह '**छन्द**' और मन्त्रके कालकी कल्पना भी निराधार ही है, क्योंकि छन्दःपदाभिधेय पूरे वेद और मन्त्रपदसे अभिहित होनेवाले वेदके एक भागकी अनादिता समानरूपसे मान्य है। '**अग्निः पूर्वेभिः**' इत्यादि पूर्व शब्दसे मन्त्रगत पूर्वापरभावका बोध न होकर केवल ऋषियोंकी प्राचीनता और नवीनताका बोध होता है। यह भी वेदकी अपेक्षासे न होकर ऋषियोंकी ही परस्पर प्राचीनता और नवीनताको लेकर होता है। वेद तो नित्य है, वहाँ प्राचीनता और नवीनताकी कल्पना नहीं हो सकती। [समाप्त]

[प्रेषक—श्रीबिहारीलालजी टांटिया]

वैदिक कहानियाँ—

ब्रह्मविद्याका मूल्य

(श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)

राजा जनश्रुतके पुत्र जानश्रुति—पौत्रायणने अपने विख्यात वंशकी प्रतिष्ठाके अनुरूप प्रजाराधनके अनेक प्रशंसनीय कार्य किये थे। वह सम्राट् चाहता था कि प्रजाजन अधिकाधिक संख्यामें उसीका अन्न खायें और उसीके बनाये आवासमें रहें। इसके लिये उसने सहस्राधिक अन्नक्षेत्र संचालित किये तथा संख्यातीत* जनावास (धर्मशालाएँ) निर्माण करवाये। जानश्रुतिकी दानशीलताकी चर्चाएँ दिग्दिगन्ततक फैली हुई थीं। किंतु अपने अन्तस्में किसी विलक्षण अपूर्णता किंवा रिक्तताका आभास सम्राट्को प्रतिपल रहा करता था। उससे भी अधिक संताप इस बातका था कि सम्राट् अपने हृदयके इस रीतेपनका प्रयास करनेपर भी कारण जान नहीं पाता था।

शरद्-ऋतुकी ज्योत्स्नाधवल रात्रिमें मणिखचित पर्यंकपर लेटे जानश्रुति आकाशमें मुस्कुराते नक्षत्रोंको निर्निमेष निहार रहे थे और सोच रहे थे कि मेरे वंशमें मेरे समान तेजस्वी, यशस्वी नरेश कोई न हुआ है और न होगा। गुणलुब्ध प्रजा मेरा यशोगान करते नहीं अघाती। जन-जनकी श्रद्धा एवं आदरका मैं ही एकमात्र पात्र हूँ। क्या मैं स्वयंको धन्य, कृतकृत्य मानूँ? फिर मेरा अन्तस्तल इतना रिक्त, इतना शून्य क्यों····?

इस कटु यथार्थने जानश्रुतिको मर्माहत कर डाला। चिन्ता उसके हृदयको मथने लगी। तभी राजहंसोंका एक युगल आकाशमें उड़ता हुआ आया। उनमेंसे एक बोला—'अरे भल्लाक्ष! सावधान! यह जानश्रुति—पौत्रायणका प्रदेश है। देख नहीं रहे हो धवल ज्योत्स्नाके रूपमें उसका तेज द्युलोकतक फैला हुआ है। जरा शीघ्रतासे उड़ चलो, कहीं ऐसा न हो यह तेज हमें भस्म कर डाले।'

दूसरा हंस उपहासके-से स्वरमें बोला—'अरे, तू किस तेजके महत्त्वकी बात कर रहा है? क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि भीतरसे खोखले जानश्रुतिके तेजको तो उस वीतराग परम ज्ञानी गाड़ीवाले रैक्वकी ब्रह्मविद्याके तेजने फीका कर दिया है? इसलिये अब यहाँ भयकी कोई बात नहीं है।'

हंसोंका संवाद सुनकर जानश्रुति उद्विग्न हो उठे। अपने हृदयके रीतेपनका कारण जो अभीतक एक विकट प्रश्न बना हुआ था, अब समाहित हो गया। ब्रह्मविद्याका अभाव ही उनकी अपूर्णताका कारण था। गाड़ीवान रैक्वसे ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेके अतिरिक्त अपने चित्तके उद्वेगको शान्त करनेका अन्य कोई उपाय जानश्रुति—पौत्रायणके पास नहीं था। उसने सुयोग्य दूतोंको रैक्वकी खोजके लिये चारों ओर दौड़ाया। कई दिनोंके अथक प्रयासके बाद दूतोंने अवटोदा नदीके तटपर आम्रकुञ्जमें परम ज्ञानी रैक्वको देखा। वे अपनी पीठ गाड़ीसे रगड़-रगड़कर खुजला रहे थे। ब्रह्मविद्याके आलोकसे मण्डित उनके मुखमण्डलपर शान्तिका अपूर्व साम्राज्य विराजमान था।

दूतोंने प्रणाम करनेके अनन्तर विनयपूर्वक पूछा—'महानुभाव! क्या आप ही गाड़ीवाले रैक्व हैं?'

रैक्वने स्वीकृतिमें धीरेसे सिर हिलाया तो उत्कण्ठित दूतोंने निवेदन किया—'भगवन्! आप हमारे साथ चलनेकी अनुकम्पा करें। सम्राट् जानश्रुति—पौत्रायण आपके दर्शनोंके अभिलाषी हैं।'

महाज्ञानी रैक्वने अविचल-भावसे उत्तर दिया—'सम्राट्से मिलनेमें मेरी कोई अभिरुचि नहीं है। सम्राट् चाहें तो मुझसे यहीं आकर मिलें।'

दूतोंके मुखसे रैक्वका रूखा उत्तर सुनकर भी जानश्रुतिने अपने रजोगुणपर नियन्त्रण रखा। सम्राट्के निमन्त्रणको ठुकरानेका दुस्साहस, वह भी एक सामान्य

* संख्यातीत—जिनकी गणना न हो सके।

गाड़ीवालेद्वारा। आवेशकी ऊष्मा क्षणभरके लिये जानश्रुतिके कपालपर चढ़ी। मन हुआ, रैक्कको बलपूर्वक सैनिकोंद्वारा बंदी बनवाकर राजसभामें उपस्थित करवाऊँ। परंतु नहीं, राजाने धैर्य रखा और स्वयमेव रैक्कके पास जानेका निर्णय किया। जलाशयतक प्यासेको ही तो जाना पड़ता है। ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेकी बलवती प्यास, जो सम्राट्के अन्तस्तलमें जाग्रत् थी, रैक्कके पास गये बिना कैसे उसे शान्त किया जा सकता था?

ज्ञानी रैक्कके अभिनन्दनमें दुग्धवती छ: सौ सुपुष्ट गौएँ, स्वर्णखचित मणिमाला एवं आठ अश्वोंसे जुता हुआ आकर्षक रथ लेकर जानश्रुति—पौत्रायण अवटोदा नदीके तटपर रैक्कके पास पहुँचे। श्रद्धाके साथ मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया और अञ्जलि बाँधकर प्रार्थनासे भीगे स्वरमें याचना की—'प्रभो! मेरी ओरसे इन उपहारोंको स्वीकार कीजिये और मुझे उन परम दैवत किंवा ब्रह्मविद्याके स्रोत तत्त्वकी उपासनाकी प्रणालीका उपदेश दीजिये, जिसकी आराधनाने आपको इतना तेजस्वी बना दिया है।'

रैक्कने उपहारोंपर दृष्टिपाततक नहीं किया। क्षुब्ध स्वरमें तिरस्कारपूर्वक बोला—मूर्ख, तू ब्रह्मविद्याका पात्र नहीं है, फिर दीक्षा कैसी? जा, इन सब वस्तुओंसे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है।'

एक अर्धविक्षिप्त*, दरिद्र गाड़ीवालेकी झिड़की सुनकर सम्राट् तिलमिला गया। मन्त्रियों और परिचारकोंकी विद्यमानतामें सम्राट्के साथ ऐसा दुर्व्यवहार! परंतु जानश्रुति अपमानके इस घूँटको पीकर राजधानी लौट आये। राजप्रासादमें आकर रैक्कके दुर्व्यवहारकी मीमांसा करने लगे। उन्होंने सोचा कि रैक्क दुस्साहसी है, किंतु उन्मत्त नहीं है। ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेके लिये मेरे द्वारा दिये गये उपहार सम्भवत: पर्याप्त नहीं थे, स्वल्प थे। उस ब्रह्मज्ञानीने इसी कारणसे उन्हें ठुकरा दिया। मुझे एक बार और प्रयास करना चाहिये। ब्रह्मविद्या-जैसी बहुमूल्य वस्तुको प्राप्त करनेके लिये उपहार भी उसकी प्रतिष्ठाके अनुरूप बहुमूल्य ही होने चाहिये।

दूसरी बार जानश्रुति एक सहस्र दुग्धवती गौएँ, स्वर्णखचित मणिमाला, आठ अश्वोंवाला रथ, पाँच सहस्र दण्ड-परिमाणवाला भूप्रदेश और अपनी अनिन्द्य सुन्दरी कन्याको उपहारके रूपमें लेकर रैक्कके पास पहुँचे। प्रणाम करके जानश्रुतिने विनयपूर्वक कहा—'भगवन्! मेरे पूर्व अपराधको आप क्षमा करें। मेरे इन उपहारोंको कृपापूर्वक अङ्गीकार करें। यह पाँच सहस्र दण्ड-परिमाणवाला विस्तृत भूप्रदेश आजसे आपका स्थायी आवास होगा। इस क्षेत्रको लोग आजसे 'रैक्कपर्ण' नामसे स्मरण किया करेंगे। मेरी यह रूपवती कन्या आजसे आपकी पत्नीके रूपमें रहेगी। मुने! अब तो आप मुझे उस परम देवताकी उपासनाका रहस्य समझाइये····।'

जानश्रुतिका वाक्य पूरा भी नहीं हो पाया था कि रैक्कका रोम-रोम क्रोधाग्निसे उत्तप्त हो उठा। उसके लाल-लाल नेत्रोंसे मानो स्फुलिंग निकलने लगे। ब्रह्मविद्याके मूल्यके रूपमें परमसुन्दरी कुमारी कन्या और अपार राजसी वैभवको अपने सम्मुख प्रस्तुत देखकर रैक्कके मानसिक संतापकी सीमा न रही। उन्होंने तीखे स्वरमें मानो वाणीसे विष उगलते हुए जानश्रुतिको फटकारा—'नीच! शूद्रीपुत्र! तू अपने वैभव और विलासके उपकरणोंके बदले मेरा ज्ञान खरीदने आया है? तुच्छ और विनाशशील चीजोंका प्रलोभन देकर तू मेरे अन्त:करणको छलने आया है? जा, चला जा। धिक्कार है तुझे! फिर अपना मुँह कभी मत दिखाना····।'

रैक्कके अकल्पित व्यवहारने जानश्रुतिको दिङ्मूढ कर डाला। वह हताश और ग्लानिसे भर गया। उसकी वाणी मानो कीलित हो गयी। अवसादसे घिरा हुआ वह मुँह झुकाये चुपचाप खड़ा रहा। मुनिके तिरस्कार एवं अपमानभरे शब्दोंने राजकन्याका हृदय विदीर्ण कर डाला, उसके खंजन-नयनोंसे आँसू झरने लगे। अपमान एवं लज्जासे पराभूत राजकुमारीने अपना मुख अपनी हथेलियोंसे ढाँप लिया।

राजकन्याके नि:शब्द रुदन और म्लान होते उसके

१-अर्धविक्षिप्त—आधा पागल।

निर्दोष सौन्दर्यको देखकर रैक्वका अन्तःकरण सहसा करुणार्द्र हो गया। उन्होंने ब्रह्मविद्याके पिपासु जानश्रुतिको प्रबोधित करते हुए कहा—'जानश्रुति—पौत्रायण! तू वैभव और विलासका तुच्छ कीट है। प्रत्येक वस्तुको इन्हींके माध्यमसे खरीदी जाने योग्य समझता है। यही तेरी दुर्बुद्धि है। ब्रह्मविद्याके मार्गमें कामिनी और काञ्चन तो प्रबल अवरोध हैं, तू उन्हींका उपहार लेकर मेरे पास आया है। चकित हूँ मैं तेरी इस मूढ़तापर।'

जानश्रुतिने श्रद्धावनत होकर रैक्वके चरण पकड़ लिये और पश्चात्तापभरे शब्दोंमें कहा—'भगवन्! मेरा प्रमाद क्षमा करें। अपने मूढ़ आचरणपर मैं लज्जित हूँ। प्रभो! मुझ अकिंचनको ब्रह्मविद्या प्रसाद अवश्य प्रदान कीजिये। यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है, सेवकको निराश न करें।'

जानश्रुतिके विनयपूर्ण शीतल शब्दोंने रैक्वके क्रोधानलको शान्त कर दिया। कुछ ही क्षणोंमें प्रकृतिस्थ होकर उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—'राजन्! अन्तःकरण जब विशुद्ध सत्त्वसे भर जाता है, तब बाह्य जागतिक प्रपञ्च वहाँ प्रवेश नहीं कर पाता। जगत्‌को छोड़ना नहीं पड़ता, अपितु जगत् स्वयमेव छूटने लगता है। रज और तम—ये दोनों ही सत्त्वके अवरोधक हैं। तितिक्षा तथा सहिष्णुता— इन दो सद्‌गुणोंके द्वारा रज और तमको प्रभावशून्य बनाया जा सकता है। जानश्रुति, मुझे हर्ष है कि तितिक्षा एवं सहिष्णुताकी सम्पदा तुम्हारे पास अक्षय-रूपमें विद्यमान है। तुमने मेरे कटु व्यवहारको, एक सम्राट् होते हुए भी, दो बार अत्यन्त धैर्यके साथ सहन किया है। अतः तुम्हारे भीतर ब्रह्मविद्या धारण करनेकी तो पात्रता अवश्य है, किंतु पात्रके सम्मार्जनकी आवश्यकता भी है।'

रैक्वके मुखसे अपनी पात्रताकी बात सुनकर जानश्रुति गद्‌गद हो गया और कहा—'भगवन्! पात्रकी शुद्धिका मार्ग भी तो आप ही बतलायें तथा उस परम दैवतकी उपासनाका रहस्य भी यदि मैं अधिकारी होऊँ तो अवश्यमेव प्रकट करें।'

रैक्व अब सुप्रसन्न तथा पूर्णतया आत्मालोकसे विकसित-मुख हो गया था। उसने मन्दस्मितके साथ सम्राट्‌की ओर निहारा और ब्रह्मविद्याके निगूढ़ रहस्यकी परतें खोलने लगा—'राजन्! संवर्ग* दो हैं—देवताओंमें वायु और इन्द्रियोंमें प्राण। अर्थात् पृथ्वी, जल और अग्नि—ये तीनों भूततत्त्व वायुमें ही विलीन होते हैं, समयानुसार उसीसे स्फुरित भी होते हैं। अतः वायु अधिदैवत संवर्ग है। इसी प्रकार जब मनुष्य सोता है तब उसकी वाक्, श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियाँ, यहाँतक कि मन भी प्राणको प्राप्त हो जाते हैं अथवा यूँ कहें कि प्राण ही इन सबको अपनेमें विलीन कर लेता है। इस प्रकार अध्यात्म-दर्शनमें प्राण ही संवर्ग हैं। इन दोनों संवर्गोंको नियन्त्रणमें कर लेनेके अनन्तर उस परम दैवतकी सत्ता आभासित होने लगती है। जानश्रुति! यह मार्ग दुर्गम अवश्य है, पर दुस्साध्य नहीं है। परम दैवतकी उपासनाके लिये निष्कलुष-पात्रता अर्जित करनेका यही एकमात्र उपाय है—संवर्ग विजय।'

एक क्षण रुककर रैक्वने निष्कर्ष सुनाया—'पौत्रायण! सावधानीसे सुनो और धारण करो। जो देवताओंकी आत्मा, प्रजाओंका उत्पत्तिकर्ता, हिरण्यदंष्ट्र, मेधावी किंवा ब्रह्माण्डका निगरणशील महामहिम तत्त्व है वही परम दैवत है। जो स्वयं किसीके भी द्वारा न खाया जानेवाला परंतु स्वयं अखिल ब्रह्माण्डको अपने उदरमें समेट लेनेकी कल्पनातीत सामर्थ्य रखनेवाला है, वही विराट् परम दैवत हमारा उपास्य है। ब्रह्मविद्या हमें उसी सर्वाधिष्ठानतक ले जाती है। अतः राजन्! ब्रह्मविद्याका कोई मूल्य नहीं है। वह अमूल्य है। न उसकी दीक्षा किसीको दी जा सकती है और न किसीसे ली जा सकती है। उसे तो अपने श्रमसे—साधनासे स्वयमेव अर्जित करना पड़ता है। जाओ नरेश, अपने अन्तःकरणमें सत्त्वगुणका विमल आलोक उत्पन्न करो।'

—इतना कहकर रैक्व खड़े हो गये। जानश्रुति ब्रह्मविद्याके रहस्योद्घाटनको सुनकर कृतकृत्य हो गया। उसके ज्ञानचक्षु खुल गये। उसने अत्यन्त श्रद्धालु-भावसे

* संवर्ग—किसी वस्तुको पूरी तरह संवरण करनेकी क्षमता रखनेवाला विराट् तथा व्यापक तत्त्व।

रैक्वमुनिके चरणोंमें प्रणाम किया।

कथासार—

जो शक्ति इस संसार-जैसे अनन्त संसारोंका संचालन करनेवाली है, कोई मूल्यवान्-से-मूल्यवान् सांसारिक वस्तु भी उसका मूल्य नहीं हो सकती। मूल्यातीतका मूल्य आँकना ज्ञानशून्यताका ही लक्ष्य है।

वेदोंमें जल-इंजीनियरी

(डॉ० श्रीरमाशंकरजी वार्ष्णेय)

वेद ज्ञानके अथाह समुद्र हैं। आध्यात्मिक ज्ञानके अतिरिक्त समाज, शासन, विविध कलाओं एवं आयुर्विज्ञानके असीम ज्ञानकोष हैं। इनमें जल-विज्ञान, मौसम-विज्ञान, सिंचाई एवं नौ-संचालन-सम्बन्धी विस्तृत जानकारी है। वेद जलको अत्यन्त महत्त्व देते हैं। प्रात:काल प्रार्थना करते समय तथा संध्या-वन्दन आदि करते समय हम जलके प्रति प्रणति निवेदन करते हैं—

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः॥ (अथर्व० १।६।१)

अर्थात् दिव्य जल हमें सुख दे और इष्ट-प्राप्तिके लिये तथा पीनेके लिये हो। हमपर शान्तिका स्रोत चलावे। वेद जलकी महत्ता विभिन्न स्थलोंपर निरन्तर प्रतिपादित करते हैं और दोनों प्रकारके अपवाह अर्थात् सतही एवं भौमजलका वर्णन करते हैं।

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम् (अथर्व० १।४।४)

अर्थात् जलमें अमृत है, जलमें औषधि-गुण है।

अन्तर्विश्वानि भेजषा (अथर्व० १।६।२)

जलमें सब औषधियाँ हैं।

शं नः खनित्रिमा आपः (अथर्व० १।६।४)

खोदकर निकाला जल अर्थात् भौमजल हमें सुख देवे।

शिवा नः सन्तु वार्षिकीः (अथर्व० १।६।४)

वृष्टिसे प्राप्त जल हमें कल्याण करनेवाला हो।

जल-विज्ञान

जिस जल-वैज्ञानीय चक्रपर हमारा पूरा जल-विज्ञान निर्भर है, उसका वर्णन वेदोंमें कई स्थानोंपर आया है।

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। अधाना नाम यज्ञियम्॥ (ऋक्० १।६।४)

तात्पर्य यह कि जल जो सूर्यके तापसे छोटे-छोटे कणोंमें विभक्त हो जाता है, वह वायुद्वारा ऊपर बादलोंमें परिवर्तित होकर फिर बार-बार वर्षा-रूपमें गिरता है।

ऋग्वेदकी एक ऋचा—**इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयत् दिवि। वि गोभिरद्रिमैरयत्।** (१।७।३) कहती है कि प्रभुने सूर्य उत्पन्न किया, जिससे पूरा संसार प्रकाशमान हो। इसी प्रकार सूर्यके तापसे जल वाष्प बनकर ऊपर मेघोंमें परिवर्तित होकर फिर पृथ्वीपर वर्षाके रूपमें आता है।

वेदोंमें अन्य स्थानोंपर भी इसी बातको दोहराया गया है कि सूर्य एवं वायुद्वारा जल वाष्पके रूपमें आकाशमें मेघ बनता है और फिर वर्षा-रूपमें पृथ्वीपर आता है।

समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यस्पृणन्ति।
तम् शुचिः शुचयो दीदिवाः समपान्नपातमुप पन्त्यायः॥

(साम० पूर्वार्चिक ६।६०७)

यजुर्वेदमें समुद्रसे मेघ, मेघसे पृथ्वी और फिर विभिन्न सरिताओंमें जलके बहाव और फिर समुद्रमें उसके संचयन एवं वाष्पनका वर्णन है।

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच इयानाः।
ता आऽववृत्रन्नधरागुदक्ता अहिं बुध्न्यमनु रीयमाणाः।
विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि॥

(यजु० १०।१९)

अथर्ववेदके (१।५।२; १।३२।४)—इन मन्त्रोंमें भी इसीका प्रतिपादन किया गया है।

वर्षके विभिन्न काल, गर्मी, वर्षा, शीत आदि ऋतुओंका सूर्यसे सम्बन्ध वेदोंमें विभिन्न मन्त्रोंमें दर्शाया गया है (ऋक् १।२३।१५; १।९५।३; १।१६१।११; १।१६४।४७)। मेघोंके निर्माण एवं वृष्टिके बारेमें अनेक मन्त्र हैं (ऋक्० १।२७।६; १।३२।८;

१।३२।१४; १।३७।११; ५।५५।३; ६।२०।२)। मेघ, वर्षा, विद्युत् आदिका सजीव एवं वैज्ञानिक चित्रण वेदोंमें मिलता है। (ऋक्० १।७९।२; ५।५४।२; ५।५५।५; १।१९।३-४; १।१९।८; ५।५३।६; ५।५३।७; ५।५३।१७)।

मानसूनका स्पष्ट वर्णन ऋग्वेदमें नहीं है, परंतु मारुति-सम्बन्धी मन्त्र इस विषयमें जानकारी देते हैं और बादमें यजुर्वेद-संहितामें मानसूनका वर्णन 'सलिलवात' के रूपमें हुआ है—

वर्च इदं क्षत्त सलिलवातमुग्रं धर्त्री दिशां क्षत्रमिदं दाधारोपस्थाशानां मित्रवदस्त्वोजः। (तैत्तिरीय)

ऋग्वेदमें दक्षिण-पूर्व एवं दक्षिण-पश्चिम मानसूनका भी वर्णन है (१०।१३७।२; १।१९।७)।

वेदोंमें कई स्थानोंपर अच्छी वर्षाके लिये अनेक प्रार्थना-मन्त्र हैं—

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु॥
(अथर्व० ४।१५।५)

हे वायुओ! सूर्यकी उष्णतासे बादलोंको समुद्रसे ऊपर ले जाओ और ऊपर उड़ाओ। बड़े बलवान् और शब्द करनेवाले बादलयुक्त आकाशसे वेगवान् जलधाराएँ पृथिवीको तृप्त करें।

विभिन्न प्रकारके जलोंका वेदोंमें बड़ा ही कल्याणकारी वर्णन है—

शं न आपो धन्वन्याः शमु सन्त्वनूप्याः। शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः॥
(अथर्व० १।६।४)

हमारे लिये मरुदेशका जल सुखकारक हो, जलपूर्ण प्रदेशका जल सुखकारक हो, खोदे हुए कुएँ आदिका जल सुखदायक हो, घड़ेमें भरा जल सुखदायक हो, वृष्टिका जल सुखदायक हो।

वेदोंमें जलकी गुणवत्ताको रखनेके लिये, वातावरणको शुद्ध रखनेके लिये एवं पर्यावरणको ठीक रखनेके विभिन्न उपाय—जैसे पेड़ लगाना, वनोंकी रक्षा और यज्ञोंका विधान है—

प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः। इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत् पर्जन्यः पृथिवी रेतसावति॥
(ऋक् ० ५।८३।४)

सिंचाई

पृथिवीपर सृष्टिक्रमसे प्राकृतिक रूपसे वर्षाद्वारा सिंचाईका कार्य होता आ रहा है। अतः वेदमें कहा गया है—

निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु० (यजु० २२।२२)

अर्थात् हम जब-जब इच्छा करें, मेघ जलकी वर्षा करें। अब जो इस विद्यामें (सिंचाई करानेमें) कुशल हों, उन्हें देश एवं राष्ट्रका सम्मान करना चाहिये। वेदने इसीलिये कहा—

नमो मीढुष्टमाय—अत्यन्त वर्षा करनेवालों (अर्थात् सिंचाईके लिये जल देनेवालों)-के लिये आदर हो (यजु० १६।२९)।

नमो वीध्र्याय च—अभ्र-विज्ञान (मेघ-विज्ञान)-में कुशलके लिये नमस्कार हो।

अतप्याय च—आतप (उष्णता)-विज्ञानमें कुशलके लिये नमस्कार हो।

नमो मेघ्याय च—मेघ-विज्ञानमें कुशलके लिये नमस्कार हो।

विद्युत्याय च—विद्युत्-विज्ञानमें कुशलके लिये नमस्कार हो।

नमो वर्ष्याय च—वर्षा-विज्ञानमें कुशलके लिये नमस्कार हो। (यजु० १६।३८)

इन वेद-वाक्योंमें बताया गया है कि वर्षा-विज्ञानको जानो और वर्षा यथेच्छ समयसे कराओ।

इन सब विज्ञानोंका प्रयोग जब वर्षाके लिये करते हैं, तब जो प्रणाली निर्धारित करके प्रयोग किया जाता है, वह वेदकी परिभाषामें 'वृष्टि-यज्ञ' होता है। इसलिये वेदने कहा है—

वृष्टिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् (यजु० १८।९)

मेरी वृष्टि यज्ञके द्वारा सुसम्पन्न एवं समर्थ हो। इस प्रकारके यज्ञ (प्रयत्न, योजना)-से वृष्टिके द्वारा सर्वत्र आवश्यकतानुसार पृथ्वीपर जलकी पूर्ति एवं सिंचाईकी व्यवस्था हो सकती है।

इसी प्रकार (ऋक्० १।२३।१८, ५।३२।२) मन्त्रोंमें कहा गया है कि सिंचाई कुएँ और तालाबोंके

जलसे हो सकती है। ऋग्वेदके मन्त्र (८। ३। १०)-में नहरोंद्वारा मरुस्थलको सींचनेकी व्यवस्था है, जो कुशल व्यक्ति (इंजीनियर)-द्वारा सम्भव है—

येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे॥

(ऋक्० ८। ३। १०)

यजुर्वेदमें इस प्रकारके अनेक संदर्भ हैं कि मनुष्य वर्षा एवं नदीके जलको कुआँ, तालाब एवं बाँध बनाकर प्रयोग करे और जहाँ कृषिके अतिरिक्त अन्य कार्योंके लिये जलकी आवश्यकता हो वहाँ भी ले जाय।

अथर्ववेदके मन्त्र (१२। १। ३१)-में बताया गया है कि जो वर्षाका जल नदी, कुएँ और नहर आदिमें नौ-संचालन, जलक्रीडा और कृषि आदिके लिये प्रयोग करते हैं, वे सदैव उन्नति करते हैं। अथर्ववेदके मन्त्र (१९। २। १)-में बताया गया है कि पर्वत, कूप, नदी और वर्षाके जलका उचित प्रबन्ध जल पीने, कृषि एवं उद्योगोंके लिये करना चाहिये—

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥

(अथर्व० १२। १। ३)

शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः।
शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः॥

(अथर्व० १९। २। १)

(२०। २२। ८) मन्त्रमें वेद राजाको निर्देश देते हैं कि वे पहाड़ोंमें उचित नहर (जलमार्ग) बनायें ताकि उनकी प्रजाको पीने, सिंचाई एवं उद्योगोंके लिये जल मिल सके।

अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत्सरमा पूर्व्यं ते।
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः॥

(अथर्व० २०। ७७। ८)

यजुर्वेद (१६। ३७)-में सिंचाईके प्रमुख स्रोतोंके निम्न प्रयोग वर्णित हैं—

नमः सुत्याय—जो क्षुद्र नालियाँ केवल एक दिन बहनेवाली हैं।

पथ्याय च—नौ-संचालन-मार्ग।

नमः काट्याय च—कूपादि बनानेवालोंके लिये आदर है।

नीप्याय च—झरने आदि बनानेमें कुशलके लिये आदर हो।

नमः कुल्याय च—कृत्रिम नदी, बड़ी नहरें बनानेके कार्यमें कुशलके लिये आदर हो।

सरस्याय च—बड़े तालाब आदि बनानेमें कुशलके लिये आदर हो।

नमो नादेयाय च—नदियोंकी व्यवस्था करनेमें कुशलके लिये आदर हो।

वैशन्ताय च—छोटे तालाब, बाँध आदि बनानेमें कुशलके लिये आदर हो।

नौ-संचालन

वेद-कालके आर्योंको नदियोंकी सहायतासे क्षेत्रोंके ढालोंका ज्ञान था।

एते सोमा अति वाराण्यव्या दिव्या न कोशासो अभ्रवर्षाः।
वृथा समुद्रं सिन्धवो न नीचीः सुतासो अभि कलशाँ असृग्रन्॥

(ऋक्० ९। ८८। ६)

विभिन्न अवस्थाओंमें नदीके स्तर एवं गतिका ज्ञान वेदमें है। अथर्ववेदमें कहा गया है कि यदि नदीका उद्गम पर्वतमें हो तो नदी बारहमासी होगी और जलकी गति तीव्र होगी।

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः।

(१। १५। ३)

जलमें चलनेवाली नावोंका वर्णन वेदमें है—

सुनावमा रुहेयमस्रवन्तीमनागसम्।
शतारित्राꣳ स्वस्तये॥ (यजु० २१। ७)

सुन्दर, उत्तम एवं श्रेष्ठ नावपर मैं कल्याणके लिये आरूढ़ होता हूँ, जो कि कहींसे भी स्रवित नहीं होनेवाली है और दोषरहित है। उस नावमें शताधिक चप्पे लगे हुए हैं। ऐसी बहुत चप्पोंवाली बड़ी नावका वेदमें वर्णन है—

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसꣳ सुशर्माणमदितिꣳ सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावꣳ स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥

(यजु० २१। ६)

आर्यलोग समुद्रपर बड़ी-बड़ी नाव चलाते थे, यह उनके द्वारा जलनाथ (समुद्र-देवता)-की स्तुतिसे स्पष्ट है। वेदोंमें पनडुब्बी नावोंका भी वर्णन है—

यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृत श्रव इच्छमानः॥

हे पूषन्! जो तेरी नावें समुद्रके गर्भमें भीतर चलती हैं और अन्तरिक्षमें भी चलती हैं, उनके द्वारा दूत-कर्म प्राप्त होता है।

वेद जल एवं अन्तरिक्ष दोनोंमें चलनेवाली नौकाओं (यानों)-के यन्त्रादि बनानेकी प्रेरणा देता है—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः॥

(ऋक्० १।२५।७)

वेदोंमें वरुणदेवताको समुद्रके जलमार्गों और उनपर चलनेवाले समुद्रके यानोंकी जानकारी रखनेवाला माना गया है। यह भी वर्णन है कि व्यापारी विदेशोंको सामान भेजते थे। अथर्ववेदमें भी बड़ी नावोंका वर्णन है।

वेद प्रत्येक प्रकारके यान एवं गमनागमनके लिये इंगित करते हैं—

समुद्रं गच्छ स्वाहा ऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा'''' द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा'''' दिव्यं नभो गच्छ स्वाहा (यजु० ६।२१)।

समुद्रं गच्छ—समुद्रमें जानेवाली नौका—बोट, पोत, जहाज आदि।

अन्तरिक्षं गच्छ—अन्तरिक्षमें चलनेवाले विमानादि।

द्यावापृथिवीं गच्छ—भूमियान, आकाश-मार्गके विमान आदि।

दिव्यं नभो गच्छ—दिव्य यान (सम्भवतः अन्तरिक्ष यान, सैटेलाइट)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदोंमें जल, जल-विज्ञान एवं जल-इंजीनियरी-जैसे सिंचाई एवं नौ-संचालनका ज्ञान भरा पड़ा है।

संध्योपासना और ब्रह्मविद्या

(पं० श्रीश्यामसुन्दरजी झा, न्याय-वेदान्ताचार्य)

यह विषय तो है अति गहन किंतु है उपयोगी। आर्योंके सर्वश्रेष्ठ मन्त्रात्मक कर्मका नाम संध्योपासना है। इसकी भावना, अर्थ और शब्दशक्तिका भी विचार करना महत्त्वपूर्ण है। प्रकारान्तरसे राजविद्या, अध्यात्मविद्या आदि नामसे व्यवहृत ब्रह्मविद्या सर्वविद्याओंकी माता महाविद्या है। अतएव इसके क्षेत्रकी विशालताके विषयमें कहनेकी आवश्यकता नहीं है। जो सत्कर्म सर्वभावनाओंके बीजभूत संस्कारोंके प्रेरकरूपसे आज भी सकल शिष्टजनोंद्वारा उपासित है और उपनिषद्गम्य विद्याभ्याससे तथा ईश्वर, गुरु एवं शास्त्रके प्रसादसे मुमुक्षुजन जिसके परम ज्ञेय तत्त्वको जानकर अपने जीवनको सर्वथा कृतकृत्य कर लेते हैं, उस पुण्यकर्म और महाविद्याकी महाकक्षामें क्या नहीं हो सकता। यहाँ विहङ्गावलोकन-न्यायसे इन दोनोंका दिग्दर्शनमात्र करके दोनोंका परस्पर सम्बन्ध दिखानेका यत्किंचित् प्रयत्न किया जाता है।

उपनयन-संस्कारके अनन्तर द्विजमात्रका अत्यावश्यक कर्म संध्योपासना है और मुमुक्षुजनोंके लिये परमार्थसिद्धिका ऐकान्तिक साधन ब्रह्मविद्या है। '**अहरहः संध्यामुपासीत**' के रूपमें इन दोनोंकी उपयोगिता प्रसिद्ध है। श्रुति भगवतीका यह पुण्य विधान है। इस अध्यात्मविद्या-तत्त्वके न जाननेवालेको उपनिषद् 'कृपण' शब्दसे अभिहित करती है—

य एतदविदित्वा प्रयाति स कृपणः।

अध्यात्मविद्या परम शान्ति एवं परम पुरुषार्थरूप मोक्षका ऐकान्तिक साधन है; तथापि अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना वेदान्त-ग्रन्थाध्ययन केवल वाग्विलासार्थ ही सिद्ध होनेसे मोक्षसाधक नहीं हो सकता। संध्योपासना वेदमूलक नित्यकर्म है। यह अन्तःकरणशुद्धिका मुख्य साधन है। अतः परमपुरुषार्थावलम्बी सभी सम्प्रदायोंमें सामान्यरूपसे मान्य है। वेदके शाखाभेदसे मन्त्रादि-प्रक्रियामें कुछ भेद अवश्य है तथापि यह पुण्य कर्म सबको सुसम्मत है। विप्रके स्नान, संध्या, जप, होम,

देवपूजन, आतिथ्य तथा वैश्वदेव—इन नित्य-षट्कर्मोंमें संध्या-वन्दन सबसे मुख्य है। प्रात:कालसे अहोरात्रपर्यन्त जीवनतन्त्रको नियमबद्ध करनेकी भावना इसमें भरी है। जिनका उपनयन-संस्कार नहीं हुआ है, उनको नियत समयपर ईश्वर-स्मरणादि-विहित क्रिया करनेसे संध्योपासना-का फल मिलता है।

वर्तमान समयमें ब्रह्मविद्याकी ओर तो साधारण उत्सुकता देखी जाती है, किंतु संध्योपासनामें अधिकांश लोग शिथिलता दिखलाते हैं। इसके अनेक कारणोंमें एक यह भी है कि आजकल प्राचीन प्रणालीके विरुद्ध कॉलेजोंमें इतिहासाध्ययनके सदृश ही वेदान्ताध्ययन भी सबके लिये साधारण बन गया है। दूसरा कारण यह भी सम्भव है कि विद्या बुद्धिका विषय है और कर्मकाण्डमें कर्मकी आवश्यकता है। ज्ञानका विशेष सम्बन्ध अर्न्तजगत्के साथ है और क्रियाका बाह्य जगत्के साथ। ज्ञान पुरुषपर और क्रिया प्रकृतिपर मुख्यत: अवलम्बित है। ज्ञान स्वयं-वेद्य और क्रिया प्रत्यक्ष-दृश्य है। नूतन शिक्षणसे उत्पन्न वातावरणमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी ओर विशेष झुकाव है। अतएव आज्ञापूर्वक विहित क्रिया यदि नित्य हो तथा इसमें आत्मसंयमकी विशेष आवश्यकता हो तो इस ओर कुछ उपेक्षावृत्ति हो ही जाती है। तथापि अन्तर्जगत् तथा बाह्य जगत्में साक्षीरूप आत्मा ओतप्रोत है। नि:श्रेयस-प्राप्तिमें आत्मज्ञानका प्राधान्य है तो अभ्युदय और लोकसंग्रहार्थ सत्क्रियाकी आवश्यकता है। बाह्य जगत्का चित्तवृत्तिमें लय होनेपर क्रियाकी अपेक्षा नहीं रहती; परंतु इससे पूर्व क्रियाकी अपेक्षा है। इतना ही नहीं, संध्योपासनादिरूप सात्त्विक क्रिया तो ज्ञानप्राप्तिके अधिकारी होनेमें अत्यन्त उपयोगी और चित्तशुद्धिद्वारा जीवनशुद्धि-साधनमें भी परम सहायक है।

संध्योपासनामें सावित्रीद्वारा सवितादेवकी उपासना है। '**जगत्सूते यः स इति सविता**' अर्थात् जगत्की सृष्टि आदिका जो कारण है, वह सविता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म॥

(तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१)

ऐसे जगत्कारणादि ईश्वरकी प्रत्यक्ष विभूति सवितादेव हैं। ये भौतिक शक्तिके महासागर, चरमोत्कर्ष हैं। तेज:-पुञ्जके भण्डार हैं। चैतन्यशक्तिके मानो स्रोतोवाही समुच्चय और दिव्यताकी प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। संध्योपासनामें मूर्तद्वारा अमूर्त सूर्यमण्डलका प्रत्यक्षानुभव करके व्यष्टिमें व्यापक सवितानारायणकी उपासना सिद्ध की जाती है।

प्रतिदिन कालसंधिके समयमें ही संध्या करनेका ऋषि-मुनियोंका विधान है। रात्रि-पूर्वाह्णके, पूर्वाह्ण-पराह्णके, पराह्ण-पूर्वरात्रिके और पूर्वरात्रि-पररात्रिके—ये चार मुख्य संधिकाल माने जाते हैं। इन चार संध्याओंमें मध्यरात्रिकी संध्याकी उपासना तो योगी तथा मन्त्रसाधक करते हैं। साधारणतया द्विजोंके लिये प्रात:, मध्याह्न और सायंकालकी संध्या विहित है। प्रात:संध्यामें रक्तवर्णा, चतुरानना, बाला, ब्रह्मदैवत्या, हंसारूढा सावित्रीदेवीकी भावना है। मध्याह्नसंध्यामें श्वेतवर्णा, युवती, वृषभासना, रुद्रदैवत्या गायत्रीदेवीकी भावना है। एवं सायं-संध्यामें कृष्णवर्णा, वृद्धा, गरुडवाहना, विष्णुदैवत्या सरस्वतीदेवीकी भावना है। इन तीनों संध्याओंमें अनुक्रमसे भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदकी भी भावना है। संध्या-वन्दनमें देवपरायणताद्वारा कालसंधि कर्म-सम्पादनका संकेत है। इन कालसंधियोंमें सम्यक् प्रकारसे सविता, सावित्री, संध्या, सगुणब्रह्म अथवा अहंग्रहके उपासकोंकी सर्वशक्तियाँ स्वभावत: पुष्ट होती हैं और इससे अपूर्व मनोबल प्राप्त होता है। इस विषयमें महाभारतमें जरत्कारुमुनिद्वारा शील-सौन्दर्यवती पतिव्रता पत्नीके त्यागका प्रसंग जैसे लोकोत्तर है, वैसे कमनीय भी है। ईश्वर अपने नैष्ठिक तथा दृढ भक्तोंके लिये क्या नहीं कर सकते? संध्योपासनामें कालकी प्रधानता तो है ही। परंतु यह नित्यकर्म इतना आवश्यक और उपकारक है कि कदाचित् काल-लोप भी हो जाय, तो भी कर्मलोप नहीं होना चाहिये, ऐसा श्रुतिका विधान है—

अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः।

संध्योपासना नित्यकर्म है। कामनारहित केवल परमेश्वरप्रीत्यर्थ इसका विनियोग किया जाता है; किंतु इससे पापका नाश और पुण्यकी प्राप्ति भी होती है—

दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत्।

भावशक्ति, गायत्री-जप तथा अर्घ्यप्रदान आदिमें मन्त्रशक्ति, आचमन और भस्मधारण आदिमें द्रव्यशक्ति एवं प्राणायाम आदिमें क्रियाशक्तिका विनियोग करके साध्यको सिद्ध करनेकी योजना इस पुण्य-कर्ममें स्पष्ट व्यक्त होती है। इससे अपूर्व शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इसके नित्य-नियमसे एक प्रकारकी आत्म-श्रद्धाके साथ मनमें प्रभु-श्रद्धा जाग्रत् होती है। वर्तमान समयमें धार्मिक क्रियाकी ओर उपेक्षा तथा आक्षेप साधारण बात हो गयी है; इसमें प्रतिकूलता प्रतीत होती है। तथापि उपनीत द्विजमात्रको शिखासूत्र-संध्या और द्विजेतरको शिखा-ईश्वरस्मरणादिरूप उपासनाका रहस्य जानकर अपने-अपने परम हितमें तत्पर होना सर्वथा उचित है। भारतके लिये यह संध्याका समय है, अतएव इस समय सबके लिये यथाशक्ति ईश्वरोपासना करना परम आवश्यक है। आदर्श भारतीय देशका दैवत है। यह आदर्श महान् है। इसमें विलासिता, मान-सम्मानकी गवेषणता तथा अर्थलोलुपता आदिको अवकाश नहीं है। इस पुण्य कर्मका नित्य-नियमित सेवन करनेसे कुल, धर्म तथा देशके लौकिक अभ्युदयके साथ ही दुर्लभ ब्रह्मविद्याकी भी प्राप्ति होती है। शिष्ट पुरुषोंका अनुभव इसमें साक्षी है।

कृष्णभक्तोंकी भावुकता

ऋग्वेदकी '**कृष्णं नियानम्**' यह श्रुति बतलाती है कि कृष्णके भक्त अत्यन्त भावुक हुआ करते हैं। नीतिश्लोकमें इसी श्रुतिका भावानुवाद प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि भगवान्‌का संयोग रहनेपर तो वे आसमानमें उड़ने लगते हैं, पर उनका वियोग होनेपर चेतनाशून्य हो जमीनपर गिरने और लोटने लगते हैं—

उद्यतां दिवि संयोगे वियोगे पतनं भुवि।
कृष्णानुरक्तभक्तानां ब्रूते कृष्णमिति श्रुतिः॥

तात्पर्य यह कि भक्तोंके लिये भगवान्‌का संयोग बहुत बड़ा आधारस्तम्भ है। इसीलिये तो वे अधर आकाशमें बिना पंख उड़ने लगते हैं, पर जब उनका वियोग होता है तो स्थिर आधार पृथ्वी भी उन्हें खड़ा रखनेकी सामर्थ्य नहीं रख पाती। वे पृथ्वीपर लोटने लगते हैं। सचमुच उनकी भावुकता अद्भुत है!

श्रीमद्भागवत (दशम स्कन्ध अ० ३९)-में नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके वृन्दावनसे मथुरा चले जानेपर उनके प्रिय भक्त व्रजवासियोंकी विरह-दशाका विस्तारके साथ बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया गया है। अतः वह प्रसिद्ध कथा पुनः यहाँ न देकर श्रुतिने व्रजवासियोंका जो तत्कालीन चित्र खींचा है, वही देना पर्याप्त होगा, जो निम्न ऋचासे स्पष्ट है—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन् त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥

(ऋक्० १।१६४।४७)

अर्थात् जब श्रीकृष्णने वृन्दावनसे मथुराके लिये प्रस्थान किया और व्रजवासी उन्हें विदा देकर लौटे तो उनकी आँखोंसे अविरल अश्रुधाराएँ बहने लगीं, जिससे सारी व्रजभूमि क्षणमात्रमें न केवल सिक्त, प्रत्युत पंकिल भी हो उठी। जो व्रजवासी नन्दनन्दनमें त्रिलोकीपति श्रीकृष्णके साथ भोजन, वार्तालाप, हास-परिहास, क्रीडा-लीला आदि करते हुए हर्षित हो आकाशमें दो-दो हाथ उछलते, आज वे ही चेतनाशून्य हो राजमार्गपर लोट रहे हैं। उनका परम प्रिय श्रीकृष्ण आज उन्हें छोड़ मथुरा चला जा रहा है। वे उसका विरह सह नहीं पा रहे हैं। उनका हृदय टूक-टूक हुआ जा रहा है।

इस आख्यानका उल्लेख ऋग्वेदके अतिरिक्त अथर्ववेद (६।२२।१, ९।१०।२२, १३।३।९), तैत्तिरीयसंहिता (३।१।११।४) एवं निरुक्त (७।२४)-में भी प्राप्त होता है।